

# माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालायाः

३६. एकोनचत्वारिंशत्तमो ग्रन्थः ।

स्वविवृतियुतलघीयस्त्रयस्य अलङ्कारभूतः

## ॥ न्या य कु मु द च न्द्रः ॥

[ द्वितीयो भागः ]



स्व० सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्द्र जे० पी०

सम्पादकः—

न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारः  
स्या० वि० काशी.



प्रकाशकः—

पं० नाथूरामप्रेमी  
मन्त्री ग्रन्थमाला बम्बई.

[ मूल्यं ८॥ ) रूप्यकाणि. ]

# माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला

जेनदर्शन-साहित्य-पुराण आगमादिप्राचीनसाहित्योद्धारिका प्राकृत-सप्त-  
अपभ्रंशादिभाषागुण्णिकता जैनग्रन्थावलि ।

इयञ्च

साधुचरित-सदाशय-दानवीर स्व० सेठ श्री माणिकचन्द्र-हीराचन्द्र जे. पी  
महाशयाना स्मरणकृते दि० जैनसमाजेन सस्थापिता ।

—»•«—

अथै० मन्त्री— { श्री पं० नाथूरामः प्रेमी, बंबई ।  
श्री प्रो० हीरालालः M A L L B अमरावती ।  
कोषाध्यक्ष — श्री ठाकुरदास-भगवान्दासः जवेरी बंबई ।

ग्रन्थांकः—३९.

प्राप्तिस्थानम्—

मन्त्री—श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला  
हीराबाग

पो० गिरगाँव, बंबई नं० ४

—»•«—

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितस्य

# स्वविवृतिसहितलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

## न्यायकुमुदचन्द्रः

[ द्वितीयो भागः ]

(न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारलिखितटिप्पणादिसहितः)

स चायम्

काशीस्थ-श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालयस्य न्यायाध्यापकपदप्रतिष्ठितेन  
'प्रमेयकमलमार्चण्ड-अकलङ्कग्रन्थत्रया'दिग्रन्थानां सम्पादकेन  
न्यायाचार्य-न्यायदिवाकर-जैन-प्राचीनन्यायतीर्थाद्युपाधिभूषितेन  
पं० म हेन्द्र कु मार शा स्त्रि णा  
प्रस्तावना-पाठान्तर-तुलनार्थबोधकटिप्पणी-अवतरणनिर्देश-परिशिष्टादिभिः  
संस्कृत्य संशोधितः, सम्पादितश्च ।

प्रकाशक :-

मन्त्री-श्री पं० नाथूराम प्रेमी,  
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला  
हीराबाग, गिरगाँव, बंबई नं० ४ ।

मुद्रक -बानू रामहृष्यादास बनारस टिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ।

धीरनिर्वाणबदा २४६७

प्रथमावृत्ति ६०० प्रति.

विक्रमाब्दा १९६८ ]

[ क्रिस्ताब्दा १९४९.

# MÂNIK CHANDRA DIG. JAIN GRANTHMÂLÂ,

A SERIES PUBLISHING CRITICAL EDITIONS OF CANONICAL PHILOSOPHICAL,  
HISTORICAL LITERARY NARRATIVE ETC WORKS OF JAIN LITERATURE  
IN PRAKITA SANSKRIT AND APABHRANSA

FOUNDED

BY

THE DIG. JAIN SAMÂJA

IN MEMORY OF

LATE, DÂNVÎR, SÊTH MÂNIK CHANDRA HIRA CHANDRA

JUSTICE OF PEACE BOMBAY.

NUMBER 39

HONY SECRETARIES

Pandit Nathu Ram Premi, *Bombay.*

Prof. Hiralal, M.A., LL.B. *Amraoti*

CASHIER —

Seth Thakur Das, Bhagwan Das Javery, *Bombay*

TO BE HAD FROM—

Secy. MANIK CH. DIG. JAIN SERIES

HIRABAG,

Post Girgaon, BOMBAY, 4.

5490

# NYÂYA KUMUD CHANDRA

OF

## ŚRĪMAT PRABHÂCHANDRÂCHÂRYA

[ VOL II ]

*A commentary on Bhattakalankadēva's Laghiyastraya.*

EDITED WITH —INTRODUCTION EXHAUSTIVE ANNOTATIONS COMPARATIVE  
STUDY OF JAIN BUDDHIST AND VEDIC—PHILOSOPHIES AND THE  
VARIANT READINGS INDEXES ETC

BY

### PT. MAHENDRA KUMAR NYAYACHARYA

NYAYA DIVAKAR, JAIN & PRACHIN NYAYATĪRTHA

EDITOR OF AKAJANA GRANTHATRAJ PRAMEYA KAVAL MARTAND ETC

JAIN DARSANĀDHYĀPAK

ŚRĪ SYĀDVĀD DIG JAIN MAHAVIDYĀLAYA

BHADAINI, KASHI

PUBLISHED BY

### SECY. PANDIT NATHU RAM PREMI

MĀNIK CHANDRA DIG JAIN SERIES

HIRABAG, GIRGAON,

BOMBAY 4

PRINTED BY—RAMA KRISHNA DAS AT THE BENARES HINDU UNIVERSITY PRESS BENARES

V. E. 1998 ]

First Edition, 600 Copies.

[ 1941 A D.

SAINJ  
PRAJMAH

## न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका अनुक्रम



१	प्रकाशक की ओरसे—प० नाथूरामजी प्रेमी	
	7-8	
२	आदि वचन—डॉ० महलदेवजी शास्त्री	9-11
३	प्राक्वचन—प० सुखलालजी	12-20
४	सम्पादकीयम्	१-४
५	प्रस्तावना	५-६७
	अकलङ्कका समय	५
	आ० प्रभाचन्द्र	६-६७
	प्रभाचन्द्रकी इतर आचार्योंसे तुलना	६-४६
	[ (वैदिक दर्शन)—वेद, उपनिषत्, स्मृति-कार, पुराण, व्यास, पतञ्जलि, भर्तृहरि, व्यास, ईश्वरकृष्ण, माठर, प्रद्यस्तपाद, ध्योमशिव, [ ध्योमशिवका समय ] श्रीधर, वात्सायन, उद्योतकर, जयन्त, [ जयन्तका समय ] वाचस्पति, शबर, कुमारिल, मण्डनमिथ्र, प्रभाकर, शालिकरनाथ, शङ्कराचार्य, भामह, वाण, माध, ( अवैदिक-दर्शन )—भागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकर्मोमि, शान्तरक्षित, जमलशील, अचंटे, धर्मोत्तर, ज्ञानश्री, जयसिहराशिभट्ट, कुम्भकुन्द, समन्तभद्र, धून्यपाद, धनञ्जय, [ धनञ्जयका समय ] रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, चाकटायन, अभयनन्दि, मूलाचारकार, नैमिष-सिद्धान्तचक्रवर्ती, प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य, देवसेन, श्रुतकीर्ति, श्वे० आगमसाहित्य, तरवार्यभाष्यकार, सिद्धसेन, धर्मदासगण, हरिभद्र, सिद्धपिंअभयदेव, वादिदेवमूरि, हेमचन्द्र, मलयगिरि, देवभद्र, मल्लिषेण, गुणरत्न, यशाविजय आदिसे प्रभाचन्द्रकी तुलना ]	

प्रभाचन्द्रका	आपूर्वज्ञान	४६
प्रभाचन्द्रकी	कल्पनागवित	४६
उदार	विचार	४७
प्रभाचन्द्रका	समय	४८-५८
कार्यक्षेत्र	श्रीर गृहकुल	
समय	विचार	
प्रभाचन्द्रके	ग्रन्थ	५६-६७
शाकटायनन्यासके	कर्तृत्वपर	विचार
शब्दाभ्योक्तभाम्भर		
प्रवचनसारसरोजभास्कर		
गद्यकथाकोश		

६	मूलग्रन्थका विषयानुक्रम	६८-६२
७	मूलग्रन्थ	४०४-८८१
८	परिशिष्ट	८८५-६२६

- १ लघीयस्वयकारिकार्थका अकारानुक्रम
- २ लघीयस्वयगत अवतरण
- ३ लघीयस्वयके लाक्षणिक श्रीर विशिष्ट दार्शनिकशब्द
- ४ जिन आचार्योंने लघीयस्वयके वाक्योंको उद्धृत किया है उन आचार्योंकी सूची
- ५ न्यायकुमुदचन्द्रगत अवतरण
- ६ न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्ट न्याय
- ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत ऐतिहासिक श्रीर भौगोलिक शब्द
- ८ न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्ट ग्रन्थ-ग्रन्थकार
- ९ न्यायकुमुदचन्द्रगत लाक्षणिकशब्द
- १० न्यायकुमुदचन्द्रगत विशिष्टशब्द
- ११ न्यायकुमुदचन्द्रके दार्शनिकशब्द
- १२ मूलटिप्पण्युपयुक्त ग्रन्थसङ्केतविवरण

६ शुद्धिपत्र ६२६



## समर्पणम्—

“श्रीजैनसिद्धान्तमहोदाधिमे ममग्रसिद्धान्तगुरुश्वकास्ति ।  
बन्धीधरो जैनकुलागतसी हसीयति न्यायनये जनोऽयम् ॥ १ ॥

म न्यायालङ्कारश्चन्त्याद्वादशरिधिर्धामान् ।  
वाग्देवीनर्मज्ञो मर्मव फर्मकाण्डभ्य ॥ २ ॥

तस्याद्य चरिवभ्यायामुपहारविया मया ।  
मम्पाद्य न्यायमुदोत्तराधमिदमर्प्यते ॥ ३ ॥”

तद यतमशिष्येण  
न्यायाचार्यमहेन्द्रकुमारेण

नरुण्यपि सनिकर्षीत्याप्रमाड  
 विनामनात्रिप्रमाणानीककतसः ।  
 उकारकत्तैतत्राद्यमतवावत्सम्यतितवहिर  
 ननुनडात्रिबिमजानववाग्वासायशिक्ष्यलयाः  
 नर्वत्रावर्तनडन्यत्रिप्रसगातीतत्सजावावदकचप्रमाणय  
 क्षीयातर्हिथतहितमयिकिनयज्ञीयावविवाधोकि  
 तशज्ञाडियुभासत्रिडाडिर्षेफत्सुतादयतिकारक  
 त्साधन्यद्विद्वियतारवपितकैल्पतामविवाधोवासे  
 मवाय सागवाय समवतसमवाय संडक्तसमवायुणकर्मवतसमवाय  
 संडक्तसमवतसमवाय संडक्तसमवायसर्ववविवाधोनातु  
 चाद्वेनसमवतसमवाय घराद्यनावनसमवायतवसवहविवाधोनातु  
 डराद्यतातवाधेरुपादोचु सनिकर्षीदवप्रत्युत्सुत्यद्यता  
 उरावाडोडवैय सनिकर्षीदवतत्रजराधियापारावातेआत्मनित्रयारिना

नदीवापिन  
 वदितो  
 वाहास्यद्विदश  
 विद्वियकारककारु

इय  
 इय

नफलधुत्तवायप्रसवति  
 द्वियद्विद्यवघ्रापकारित्तिमुसाडान  
 तत्रमवातेडिणकर्मभाभायि  
 सत्याग सडक्तस  
 सवद्विनसमवाय  
 सनिकर्षीदवप्रकोरासवति  
 सत्याग सडक्तस  
 सनिकर्षीदवप्रकोरासवति  
 सत्याग सडक्तस  
 सनिकर्षीदवप्रकोरासवति

उचयधमरुड

११

आ० सङ्कर, ईडरभाण्डारीय उदित प्रति का ११ वॉ पत्र, द्वितीय पार्श्व.



## प्रकाशककी ओरसे



लगभग दो वर्षके बाद न्यायमुदचन्द्रना यह दूसरा भाग भी पाठकोंके सामने उपस्थित किया जा रहा है और इस तरह कोई बीस वर्षके बाद इस महान् ग्रन्थको प्रकाशित करनेको मेरी इच्छा पूरी हो रही है। पूर्वाधिके समान इस उत्तरार्धका भी सर्वाङ्ग सुन्दर पद्धतिसे सम्पादन और संशोधन किया गया है और इसके लिए सम्पादक महाशय धन्यजाद के पात्र हैं। उनका यह परिश्रम और अध्यवसाय दूसरे विद्वानोंके लिए ग्रन्थ-सम्पादन कार्यमें मार्गदर्शनका काम देगा। हमें आशा करना चाहिए कि प्रागे जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो वे इसी सावधानी और ऐसे ही परिश्रमसे हो।

इन दो वर्षोंमें इस ग्रन्थमालाकी ओर से महापुराणका दूसरा खण्ड और 'जयसिंहनन्दिका वरागचरित्र, ये दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हो चुके हैं। महापुराणका तीसरा खण्ड प्रेसमें है, और आशा है कि वह भी इस सालके अन्त तक समाप्त हो जायगा।

ग्रन्थमालाके आर्थिक सङ्कटकी बात में पहले लिख चुका हूँ वह अभी चल ही रहा है। ग्रन्थमालाके बोपाध्यक्ष सेठ ठाकुरदास भगवानदासजी जौहरीने अपने हाथकी अन्य सस्याओंसे कुछ रकम कर्जके तौर पर ले ली है और इस तरह किलहान अथवा ग्रन्थोंको पूरा करनेकी समस्याको हल कर लिया गया है। आगे क्या होगा, यह भविष्य ही बतलायगा अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह बात ग्रन्थमालाके मन्त्रीके अधिकारकी सीमाके भीतर नहीं आती कि वह ग्रन्थकर्ताके समय आदिके विषयमें भी कुछ लिखे और उसकी ऐसी कोई जहरत भी नहीं मालूम होती। परन्तु सम्पादन महाशयका आग्रह है कि मुझे कुछ लिखना ही चाहिए अत एव विमर्श हूँ।

पहले भागकी भूमिकामें पं० कैलासचन्द्रजीने और इस भागकी भूमिकामें पं० महेंद्रनुरमार्जुनजीने आचार्य प्रभाचन्द्रके समयदिके विषयमें खूब विस्तारके साथ उद्घोषा किया है। यद्यपि दोनों विद्वानोंमें अनेक बातोंमें मतभेद है, फिर भी उससे इस ग्रन्थके पाठकोंके समक्ष आचार्य प्रभाचन्द्रके समयकी शताब्दी तो कमसे कम निर्णान्तरूपसे स्पष्ट हो जाती है और यह बहुत बड़ी बात है।

मेरी समझमें प्रभाचन्द्राचार्य, जैसा कि उनके ग्रन्थोंको प्रकाशितियोंमें ही लिखा है धारानरेश भोज-देव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवने समयके विद्वान् हैं और अब इस विषयमें जग भी सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।

अभी तर्क उनके समय-निर्णयमें सबसे बड़ा वाधन भगवजिनसेनके अदिपुराणका वह चन्द्रासुगुध-यशस' आदि श्लोक\* था, जिसने विद्वानोंको एक ऐसा दिग्भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि वे जिनसेनके बाद प्रभाचन्द्रके होनेकी बात सोच ही नहीं सकते थे। क्योंकि उसमें 'प्रभाचन्द्रकवि' और 'कृत्वा चद्रोदय' पद इतने स्पष्ट थे कि उनके कारण प्रभाचन्द्राचार्य और न्यायमुदचन्द्रके सिवाय दूसरी ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती थी। जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पं० कैलासचन्द्रजीने उक्त श्लोकके माने हुए अर्थमें शङ्का उठाई और अनुमान किया कि जिनसेन स्वामीने किसी और ही प्रभाचन्द्रकी स्तुतिकी होगी और उनका बनाया हुआ कोई 'चन्द्रोदय' नामका ग्रन्थ भी होगा।

उन्होंने द्वितीय जिनसेनके हरिचंशपुराणके आक्षुपार यशो लोके' आदि श्लोक† से यह भी अनुमान

\* चन्द्रासुगुधयशस प्रभाचन्द्रकवि स्तुति । कृत्वा चन्द्रोदय येन शम्भुदाह्लासिन जनम् ॥

† आक्षुपार यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोञ्ज्वलम् । सुतो कुमारसेनस्य विचरयजितामनम् ॥

किया कि वे प्रभाचन्द्र कुमारसेन गुरुके शिष्य थे जब कि न्यायकुमुदचन्द्रकर्ताके गुरु पयनन्दि थे। अत एव दोनों जुदा जुदा समयके जुदा जुदा विद्वान् हैं।

इस उलझनके मुलक जानेपर प्रभाचन्द्रके समय-निर्णयका मार्ग सुगम हो गया और अब तो पं० महेन्द्रकुमारजीने उनके ग्रन्थोंके अन्तरंग प्रमाणों तथा बहि प्रमाणोंसे बिल्कुल निश्चित ही कर दिया है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदके अतिरिक्त उनके और कौन कौन ग्रन्थ हैं, इसका पता लगानेकी और यह सप्रमाण सिद्ध करनेकी कि वे उन्हींके हैं दूसरे प्रभाचन्द्र नामधारियोंके नहीं हे, अभी और जरूरत है।

मेरी सम्झमें प्रभाचन्द्रने टीका-टिप्पण ग्रन्थ बहुत लिखे हैं और अभी तक जिनमें दूसरे प्रभाचन्द्रोंका सम्झा जाता था उनमेंसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थ तो उनके ही हैं यह प्राय निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। भूमिकामें इनमेंसे कुछकी चर्चा भी की जा चुकी है—

- |   |                                   |
|---|-----------------------------------|
| १ तत्त्वार्थतत्तिपद विवरण ( सर्गार्थसिद्धि-टिप्पण ) । |                                   |
| २ प्रश्नचनसरोजभास्कर ।                                | ६ समाधितन्त्र-टीका ।              |
| ३ शब्दाभोजभास्कर ।                                    | ७ आभानुशासन-तिलक ।                |
| ४ रत्नकरण्ड-टीका ।                                    | ८ महापुराण ( पुष्पदन्त )-टिप्पण । |
| ५ त्रियाकलाप-टीका ।                                   | ९ द्रव्यसमूह-पत्रिका ।            |

पिछले ग्रन्थकी सूचना अभी हाल ही मुझे रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे प्राच्यके हस्तलिखित ग्रन्थोंके वैटलॉगमें मिली। उक्त ग्रन्थकी प्रति सं० १८२२ की लिखी हुई है। उसका मद्रलाचरण यह है—

“नत्वा विनाकर्मपहस्तिरतसर्वदोष लोकनयाधिपतिसस्तुतपादपद्मम् ।

ज्ञानप्रभाप्रकटितारिणवस्तुसाधे पेड्द्रव्यनिर्णयमहं-प्रफट प्रवक्ष्ये ॥”

मद्रलाचरणकी यह शैली प्रभाचन्द्रकी ही है और उनके अन्य मद्रलाचरणोंके साथ इसका शब्दसाम्य भा है।

आराधनाकथाकोश (गद्य) भी इन्हींका बनाया हुआ है।

अन्य ग्रन्थमूचियोंमें प्रभाचन्द्रके नामसे नीचे लिखे टीका ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं। मेरा अनुमान है कि इनमेंमें अधिकतर इन्हीं प्रभाचन्द्रके होंगे—

- |                       |                          |
|-----------------------|--------------------------|
| १ अष्टपादुड-पत्रिका   | ५ पञ्चालिकावटीका         |
| २ स्वपभूगोत्र-पत्रिका | ६ मूलाचारटीका            |
| ३ देवागम पत्रिका      | ७ आराधना-टीका            |
| ४ समयसार टीका         | ८ पयनन्दिपञ्चाशितिकाटीका |

इन टीका-ग्रन्थोंको ज्ञान-वीन होने पर समयारिके सम्बन्धमें और भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सके। मैं मदनमण्ड सम्पूत फालेजके प्रिन्सिपल डॉ० मदनदेवजी शास्त्री और हिन्दू विश्वविद्यालयके जैनदर्शन-ध्यापक पं० सुभक्तारजीका आभार मानता हूँ जिन्होंने शादिरचन और प्राकथनके रूपमें बहुतमूल्य विचार उपस्थित किए हैं।

बम्बई  
२० ३-४१

—नाथूराम प्रेमी  
मन्थी मन्थमाला ।

## । आ दि व च न ॥

भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भिन्न भिन्न समयमें अधिकारिभेदसे अनेक दर्शनोंका उत्थान इस देशमें हुआ। दृश्य जगत्के सम्पर्कसे विभिन्न परिस्थितियोंके कारण मनुष्यके हृदयमें जो अनेक प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है उनका समाधान करना ही किन्हीं दर्शनका मुख्य लक्ष्य होता है। जिज्ञासाभेदसे दर्शनोंका भेद स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझमें एक मुख्य ग्रंथिष्ठ यह है कि इसके आचार्योंने प्रचलित परम्परागत विचार और रूढ़ियोंसे अपनेको पृथक् करके स्वतन्त्र दृष्टिसे दार्शनिक प्रमेयोंके विश्लेषणकी चेष्टा की है। हम यहां विश्लेषण शब्दका प्रयोग जान-बूझकर कर रहे हैं। वस्तुस्थितिमें एक दार्शनिकका कार्य—जिस प्रकार एक वैयाकरण शब्दका व्याकरण अर्थात् विश्लेषण, न कि निर्माण, करता है—इसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले हमारे विचारों और उनके सम्बन्धोंके रहस्यका उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थोंकी सत्ता हमारे विचारोंसे निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्तको प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैनदर्शनका अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता है, उपर्युक्त मूलसिद्धान्तको लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

अनेकान्तवादका मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्वके विषयमें आप्रह न

होते हुए भी उसके विषयमें तत्तदवस्थाभेदके कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्तकी मौलिकतामें किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम

“श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।” [महाभारत],

“यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम् ॥” [केनोपनिषत् २।३] इत्यादि वचनोंमें मूलमें अनेकान्तवादका ही प्रतिपादक नहीं रह सकते? दर्शन शब्द ही स्वतः दृष्टिभेदके अर्थको प्रकट करता है। इस अभिप्रायसे जेनाचार्योंने अनेकान्तवादके द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनोंमें विरोध भावनाको हटाने परस्पर समन्वय स्थापित करनेका एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अयस्थाओंसे उद्भूत, सदैव विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थोंको देखनेका अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थके अरण्य सकल-स्वरूपको कैसे जान सकता है? उस अरण्य मूल-स्वरूपको हम सबे अर्थमें “गुहाहितं गह्वरेण पुराणम्” कह सकते हैं। “पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” [यजुर्वेद पुनपसूक्त] इस वेदिकश्रुतिका भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शनमें प्रतिपादित अनेकान्तवादके इस मौलिक अभिप्रायको समझनेसे दार्शनिक जगत्में परस्पर विरोध तथा कलहकी भावनाओंके नाशसे परस्पर सौमनस्य और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्मकी भारतीय सस्कृतिको उड़ी भारी देन अहिंसावाद है। जो कि वास्तवमें दार्शनिक-भित्तिपर स्थापित अनेकान्तवादका ही नैतिकशास्त्रकी दृष्टिसे अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिकदृष्टिसे यदि अहिंसावादको ही जैनधर्ममें सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवादको ही उसका दार्शनिकदृष्टिसे अनुवाद कह सकते हैं। अहिंसा शब्दका अर्थ भी मानवीय सभ्यताके उत्कर्षानुत्कर्षकी दृष्टिसे भिन्न भिन्न किया जा सकता है। एक माधारण मनुष्यके स्थूल विचारोंकी दृष्टिसे हिंसा किसीकी जान लेनेमें ही हो सकती है। किसीके भावोंको आघात पहुँचानेको वह हिंसा नहीं कहेगा। परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारोंकी अमहिष्णुताकी भी हिंसा ही कहेगा। उसका सिद्धान्त तो यही होता है कि—

“अभ्यासहति कल्याणं विविधं वाक सुभाषिता ।

मैत्र दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते ॥

वाग्मापसा उदनाग्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रायहानि ।

परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नासृजेत् परेभ्यः ॥”

[ विदुरनीति २।७७, ८० ]

सभ्य उगतका आदर्श विचारस्वातन्त्र्य है। इस आदर्शकी रक्षा अहिंसावाद (हिंसा-अमहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारोंकी मङ्गीणता या अमहिष्णुता

ईर्ष्या-द्वेषकी जननी है। इस असहिष्णुताको हम किसी अन्धकारसे कम नहीं समझते। आज हमारे देशमें जो अशान्ति है उसका एक मुख्य कारण यही विचारोंकी सङ्कीर्णता है। प्राचीन संस्कृत साहित्यमें पाया जानेवाला 'आनृशंस्य' शब्द भी इसी अहिंसावादका द्योतक है। इस प्रकारके, अहिंसावादकी आवश्यकता सारे संसारको है। जैनधर्मके द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टिसे जैनदर्शन भारतीय दर्शनमें अपना एक विशिष्ट स्थान रगता है।

चिरकालसे ही हमारी यह हार्दिक इच्छा रही है कि हमारे देशमें दार्शनिक अध्ययन साम्प्रदायिक सङ्कीर्णतासे निकलकर विशुद्ध दार्शनिकदृष्टिसे किया जावे। और उसमें दार्शनिक समस्याओंको सामने रखकर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टिका यथासंभव अधिकाधिक उपयोग हो। इसी पद्धतिके अवलम्बनसे भारतीय दर्शनका क्रमिक विकास समझा जा सकता है, और दार्शनिक अध्ययनमें एक प्रकारकी सजीवता आ सकती है।

यह प्रसन्नताकी बात है कि कुछ विद्वानोंने बहुत कुछ इसी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थोंका सम्पादन प्रारम्भ कर दिया है। प्रज्ञाचलु प्रसिद्ध विद्वान् पं० मुखलालजीका नाम इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। दार्शनिक विद्वान् पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्रीने भी इसी पद्धतिका अवलम्बन कर जैनदर्शनके साहित्यका सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक आप न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग, अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके विद्वत्तापूर्ण संस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। न्यायकुमुदचन्द्रका यह द्वितीय भाग भी उसी प्रकार बड़े परिश्रमसे सम्पादन करके प्रकाशित किया जा रहा है। आपकी प्रस्तावनाओं और टिप्पणियोंसे पगपग पर यह स्पष्ट है कि आपने अनेकानेक अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करके यथासंभव इस बातकी चेष्टा की है कि प्रकृतग्रन्थका उनके साथ जो कुछ भी सम्बन्ध हो वह स्पष्ट हो जावे। इसके लिए संस्कृत विद्वन्मण्डली सम्पादक महाशयकी अवश्य आभारी होगी। हम अपनी ओरसे उनको हृदयसे इस सफलता पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थ सम्पादक महाशय उनकी पद्धतिका अवलम्बन करेंगे।

-मङ्गलदेव शास्त्री,

M A, D Phil, (oxon)

सरस्वती भवन, }  
२८।३।४१ }

[ प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज, बनारस  
रजिस्ट्रार, गवर्नमेण्ट सस्कृत कांटेज इजाजिनेशन,  
यू० पी०, बनारस ]

# ॥ प्राक्कथन ॥



न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागमें मैं अपना प्राक्कथन लिख चुका हूँ । फिर भी इस दूसरे भागकी प्रस्तावना जब मैं सुन गया तब प्राक्कथन रूपसे कुछ भी लिखनेके संपादकीय अनुरोधको टाल न सका । इसीलिए कुछ लिखने को प्रवृत्त हुआ हूँ । न्यायकुमुदचन्द्र यह दर्शनका ग्रन्थ है सो भी संप्रदायविशेषना, अतएव सर्गोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनना मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए । इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि संप्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ-दर्शन का सम्बन्ध कैसा रहा है तथा उस सांप्रदायिक सम्बन्धके फल स्वरूप दर्शनमें क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि ।

सब कोई सामान्यरूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्वसाक्षात्कार । सभी दार्शनिक अपने अपने सांप्रदायिक दर्शनको साक्षात्काररूप ही मानते आए हैं । यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना ? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सदेहको अवन्यास न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो । अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा भ्रम यह होता है कि अनेक संप्रदायाश्रित विविध दर्शनोंमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे ? और उनमें असमाधेय समझा जानेवाला परस्पर विरोध कैसा ? इस शकका जवाब देने के लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें । उसना जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समग्र दर्शनों द्वारा निर्विवाद और असादिधर्मरूपसे सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोंमें ही घट सकता है—

१—पुनर्जन्म, २—उसका कारण, ३—पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४—साधनविशेषद्वारा पुनर्जन्मके कारणोंका उच्छेद ।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं । कभी न कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओंको उक्त तत्त्वोंका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि आज तक किसी आध्यात्मिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है । पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोंके विशेष विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके न्यारेगार विचारमें सभी प्रधान प्रधान दर्शनोंका, और कभी कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तत्त्व समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी संप्रदायके न्यारेगार मत-य साक्षात्कारके विषय हुए हों । अगर वे मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो जिन संप्रदायके ? किसी एक

संप्रदायको व्यौरके बारेमें साक्षात्कर्ता—द्रष्टा सावित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त गूल प्रमेयोमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद व्यौरके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेसे जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबलप्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओंमें यह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं—'वाचकश्रीने साफ कहा है कि प्रमेयोभी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कमीन भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने है बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको संप्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका-विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो संप्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्वचिन्तनकी श्राव्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक संप्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्वचिन्तकोंके संप्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देशके संप्रदाय मूलमें धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी संप्रदायोंने तत्त्वचिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तार में भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्त्वचिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिकप्रदेश जुदे जुदे संप्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक संप्रदाय अपने जिन मन्तव्यों पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योंको दूसरा विरोधी संप्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य सांप्रदायिक विश्वास या सांप्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत संप्रदायोंकी भूमि पर व्यौरके विशेष प्रमाहोंमें विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी संप्रदायोंको कल्पनाओंका—दलीलोंका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तक अपने अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा संप्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सब्य असब्य और अर्धसब्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एकतरफसे जहाँ संप्रदायने मूलदर्शन यानी साक्षात्कारकी रक्षाकी और जहाँ उसे स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँकी, यहाँ दूसरी तरफसे संप्रदायकी बाड़ पर बढ़ने तथा फलने फलनेवाली तत्त्वचिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे संप्रदायोंके सिवाय दूसरा कोई सहारा ही न रहा। फलतः पदंबन्द पश्चिनियोंकी तरह तत्त्वचिन्तनकी बेल भी कोमल और सकुचितदृष्टिवाली बन गई।

हम सांप्रदायिक चिन्तकोंका यह झुंकाव रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तनमें तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितनाही लचरपन क्यों न हो उसे प्रायः देख नहीं पाते । और दूसरे विरोधी संप्रदायके तत्त्वचिन्तनोंमें कितना ही साद्गुण्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं । सांप्रदायिक तत्त्वचिन्तकोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे संप्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपनाकर भी मुक्तरूपसे उसके प्रति कृतज्ञता दर्शानेमें हमेशा हिचकिचाते हैं । दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लँघकर विरनासनी भूमिका पर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन सांप्रदायिक संकुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोंका पुञ्ज भी बन गया । अब तो यह पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है ? हर एक संप्रदायका अनुयायी चाहे वह अपठ हो, या पढ़ा लिखा, विद्यार्थी एवं पंडित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचितक ग्रन्थोंको सुनता है या पढ़ता पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थमें जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या सदेहको अवकाश ही नहीं है । तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी संप्रदायके ग्रन्थमें नहीं है । और अगर है तो भी वह हमारे संप्रदायसे ही उभर गया है । इस प्रकारकी प्रत्येक संप्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बलवती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्य-जातिका उपकार करनेके लिए प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही घातक सिद्ध होगा ।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषको दूर करनेके अनेक उपायोंमें से एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तार्किकदृष्टिसे किया जाय वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाय । जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके प्रमेयोंके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है । वह जानकारी अधूरी या विपर्यस्त नहीं । पूरी और यथासंभव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है । ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिसे संकुचितता तथा तज्ज्वय भय आदि दोषोंको उभी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तम को । हम असर्वज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिकसे अधिक सत्यके निरन्तर पहुँचना चाहते हैं । अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधि-पाधिक मूल या तत्त्वदर्शनके अधिकांश धनना चाहते हैं तो हमारे धाम्ने साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथा संभव सर्वांगीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे ही पढ़ें ।

न्यायकुमुदचन्द्रके समाप्त पृ० महेंद्रकुमारजी न्यायचार्मने मूल ग्रन्थके नीचे एक एक छोटे बड़े गुरुरर जो बहुधुनार्पूर्ण टिप्पण दिए हैं और प्रस्तावनामें जो अनेक संप्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेमें लेनदेनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी मार्थयना उपसृंग इष्टिमें अध्ययन करने करानेमें ही है । सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रस्तावनाका



मर्मांश अगर कार्यसाधक है तो सर्वप्रथम अध्यापकोंके लिए । जन् हो या जैनेतर, सचा जिज्ञासु इसमें से बहुत कुछ पा सकता है । अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अचलोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुनास विद्यार्थियोंमें तथा अपद अनुयायियोंमें भी अपने आप फैलने लगती है । इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाय तो मुक्तको यह कहनेमें लेश भी सकोच नहीं होता कि सपादकका टिप्पण तथा प्रस्तावनाविषयक श्रम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें साप्रदायिकताकी सजुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा ।

भारतवर्षको दर्शनकी जन्मस्थलीऔर क्रीडाभूमि माना जाता है । यहाँका अपद जन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंको पद पद पर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दर्शनिक पौरुषशून्य क्यों हो गया है ? इसका विचार करना जम्बरी है । हम देखते हैं कि दर्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए । पहली बात दर्शनोंके पठन सम्बन्धी उद्देश्यकी है । जिसे दूसरा कोई क्षेत्र न मिले और बुद्धि प्रधान आजीविका करनी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर झुकता है । मानो दार्शनिक अध्यास का उद्देश्य या तो प्रधानतया आजाविका हो गया है या वादविजय एव बुद्धिविलास । इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील । इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिर्वाप्य प्रतिक्षण मृत्युकी गाथा सिखाकर अभयका संकेत करता है वहाँ उसके अध्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं । जहाँ दर्शन हमें सत्य-असत्यका त्रिवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी अससर्ध हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं । दर्शन जहाँ दिन रात आत्मैक्य या आत्मोपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रभेदोंको और भी विशेषरूपसे पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं । यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है । इसका कारण एक ही है, और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक ठीक न समझना । दर्शन पढनेका अधिकारी वही हो सकता है और उसेही पढना चाहिए कि जो सत्य असत्यके त्रिवेकना सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो । सक्षेपमें दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि । इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उसका पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है ।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेशमें नये सशोधनोंकी । अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक सप्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रुढ़ हो गई हैं उन्हींको उस सप्रदायमें सर्वज्ञप्रणीत माना जाता है । ओर आवश्यक नये विचार प्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता । पूर्व-पूर्व पुरखोंके द्वारा किए गए और उत्तराधिकारमें दिए गए चिन्तनो तथा आरणोंका प्रवाह ही सप्रदाय है । हर एक सप्रदायका माननेवाला अपने मत-योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकों प्रतिष्ठाया उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वह वहाँ तक

ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और सशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डीग हॉकता है। इसलिए भारतका दार्शनिक पीछे पड़ गया है। जहाँ जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमें सशोधन करनेकी गुजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जायगा तो यह सनातन दार्शनिकविद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जायगी। अत एव दार्शनिक क्षेत्रमें सशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।

दर्शन सम्बन्धी इतनी सामा य चर्चा कर लेनेके बाद कुछ ऐतिहासिक प्रश्नों पर भी लिखना आवश्यक है। पहला प्रश्न है अकलकके समयका। प० महेन्द्रकुमारजीने "अरुलङ्कप्रन्थत्रय" की प्रस्तावनामें धर्मकीर्ति और उसके शिष्यो आदिके प्रयोगोंकी तुलनाके आधार पर अरुलङ्कका समय निश्चित करते समय जो विक्रमार्थ्य शरुसयत् का अर्थ विक्रमीयसयत् न लेकर श क सयत् लेनेकी ओर सकेत किया है वह मुझको भी विशेष साधार मालूम पड़ता है। इस विषयमें पंडितजीने जो धनलाटीकागत उल्लेख तथा प्रो० हीरालालजीके रूपनका उल्लेख प्रस्तावना (पृ० ५ ) में किया है वह उनकी अरुलङ्कप्रन्थयमें स्थापित विचारसरणीका ही पोषक है। इस बारेमें सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प० जयचन्द्र मिशालङ्कारजीका§ विचार भी प० महेन्द्रकुमारजीनी धारणाका ही पोषक है। मैं तो पहिलेमे ही मानता थाया हूँ कि अकलकका समय विक्रमकी आठवीं

शताब्दीका उत्तरार्ध और नववीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही हो सकता है जैसा कि याफ़िनीसूनु हरि-भद्रका है। मेरी रायमें अकलक, हरिभद्र, तत्त्वार्थभाष्यटीकाकार सिद्धसेनगणि, ये सभी थोड़े बहुत प्रमाणमे समसामयिक अग्र्य हैं। आगे जो स्वामी समन्तभद्रके समयके बारेमें कुछ कहना है उससे भी इसी समयकी पुष्टि होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें पुरानी नववीं सदीकी मान्यताका तो निरास पं० कैलाशचन्द्रजीने कर ही दिया है। अब उसके सम्बन्धमें इस समय दो मत है, जिनका आधार 'भोजदेशराज्ये' और 'अपसिंहदेशराज्ये' वाली प्रशस्तिओंका प्रक्षिप्तत्व या प्रभाचन्द्रकर्तृत्वकी कल्पना है। अगर उक्त प्रशस्तिपत्रों प्रभाचन्द्रकर्तृक नहीं हैं तो समयकी उत्तरावधि ई० स० १०२०, और अगर प्रभाचन्द्रकर्तृक मानी जाय तो उत्तरावधि ई० स० १०६५ है। यही दो पक्षोंका सार है। पं० महेन्द्रकुमारजीने प्रस्तावनामे उक्त प्रशस्तिओंको प्राभाषिक सिद्ध करनेके लिए जो निवारक्रम उपस्थित किया है वह मुझको ठीक मालूम होता है। मेरी रायमें भी उक्त प्रशस्तिओंको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेकी कोई बलवत्तर दलील नहीं है। ऐसी दशमें प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं सदीके उत्तरार्धसे ऋहवीं सदीके प्रथम पाद तक स्वीकार कर लेना सब दृष्टिसे समुचित है।

मैंने 'अकलङ्क ग्रन्थत्रय'के प्राक्थनमे ये शब्द लिखे हैं—“अधिक सभ्य तो यह है कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध रहा है, क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके उपर सर्वप्रथम अकलङ्ककी ही व्याख्या है।” इत्यादि। आगेके कथनसे जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्रकी कृतिके उपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलङ्ककी है, तब इतना मानना होगा कि अगर समन्तभद्र और अकलङ्कमें साक्षात् गुरु-शिष्य भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीचमें समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समन्तभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अमुक भाग हो सकता है।

मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रयके ही प्राक्थनमे विद्यानन्दकी आसपरीक्षा\* एवं अष्टसहस्रीके स्पष्ट

\* श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतमल्लिनधि' वाला जो श्लोक आसपरीक्षामें है उसमें 'इन्द्ररत्नोद्भवस्य' एसा सामासिक पद है। शब्दका अर्थ या अनुवाद करते समय उस सामासिक पदको 'अम्बुनिधि' का समानाधिकरण विशेषण मानकर विचार करना चाहिए। चाहे उसमें समास इन्द्ररत्नोका उद्भव प्रभवस्या' ऐसा तत्पुरुष किया जाय, चाहे 'इन्द्ररत्नो का उद्भव उत्पत्ति हुमा है जिमसे' एसा बहुव्रीहि किया जाय। उभय दशमें वह अम्बुनिधिका समानाधिकरण विशेषण ही है। ऐसा करनेसे प्रोत्थानारम्भकाले' यह पद ठीक अम्बुनिधिके साथ अपुनरुक्त रूपम मवद्ध हो जाता है। और फलितार्थ यह निकलता है कि तत्त्वार्थशास्त्ररूप समुद्रकी प्रोत्थान भूमिका वांधते समय जो स्तोत्र किया गया है। इस वाक्यार्थमें ध्यान देनेकी मुख्य वस्तु यह है कि तत्त्वार्थका प्रोथान वाधनेवाला अर्थात् उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाला श्रीर स्तोत्रका रचयिता ये दोनो एक है। जिमने तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाया उसीने उस निमित्तको बतलानेके पहिले 'मोक्षमार्गस्य नेगारम' यह स्तोत्र भी रचा। इस विचारके प्रकाशमें सर्वसिद्धिकी भूमिका जो पडेगा उमे यह सन्देह ही नहीं हो सकता कि वह स्तोत्र खुद पूज्यपाद का ही या नहीं।

उल्लेखोके आधार पर यह निःशक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आस-स्तोत्रके मीमासाकार हैं अथ एव उनके उत्तरवर्ती ही हैं। मेरा यह विचार तो बहुत दिनोके पहिले स्थिर हुआ था, पर प्रसंग आनेपर उसे सक्षेपमें अकलंकरग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें निविष्ट किया था। पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे सक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अभ्रान्तरूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। अलवत्ता उन्होंने मेरी सप्तभगीशाली दलीलको निर्णायक न मानकर विचारणीय कहा है। पर इस विषयमें पंडितजी तथा अन्य सज्जनोंसे मेरा इतना ही कहना है कि मेरी वह दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधार पर किए गए निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे पेश नहीं किया है। यद्यपि मेरे मनमें तो वह दलील एक स्वतन्त्र प्रमाणरूपसे भी रही है। पर मैंने उसका उपयोग उस तरहसे वहाँ नहीं किया। जो जैन परम्परामें संस्कृत भाषाके प्रवेश, तर्कशास्त्रके अध्ययन और पूर्ववर्ती आचार्योंकी छोटीसी भी महत्त्वपूर्ण कृतिका उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा उपयोग किया जाना इत्यादि जैन मानसको जानता है उसे तो कभी सदेह हो ही नहीं सकता कि पूज्यपाद, दिग्गगके पद्यको तो निर्दिष्ट करें पर अपने पूर्ववर्ती या समकालीन समन्तभद्रकी आसाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी न करें। क्या ब्रह्म है कि उमास्यातीके भाष्यकी तरह सर्गार्थसिद्धिमें भी सप्तभगीका विशद निरूपण न हो ? जो कि समन्तभद्रकी जैन-परंपराको उस समयकी नई देन रही। अस्तु। इसके सिवाय मैं और भी कुछ बातें विचारार्थ उपस्थित करता हूँ जो मुझे स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके समकालीन माननेकी ओर झुकाती हैं—

मुझेकी बात यह है कि अभीतक ऐसा कोई जैन आचार्य या उनका ग्रन्थ नहीं देखा गया जिसका अनुकरण ब्राह्मणों या बौद्धोंने किया हो। इसके विपरीत १३०० वर्षका तो जैन संस्कृत एव तर्कशास्त्रका ऐसा इतिहास है जिसमें ब्राह्मण एव बौद्ध परम्पराकी कृतिओंका प्रतिविम्ब ही नहीं, कभी कभी तो अक्षरशः अनुकरण है। ऐसी सामान्य व्याप्ति बौध्दनेके जो कारण हैं उनकी चर्चा यहाँ अग्रस्तुत है। पर अग्रर यह सामान्यव्याप्तिकी धारणा भ्रान्त नहीं हैं तो धर्मकीर्ति तथा समन्तभद्रके बीच जो कुछ महत्त्वका साम्य है उस पर ऐतिहासिकोंको विचार करना ही पड़ेगा। न्यायानुसारमें धर्मकीर्तिके द्वारा प्रयुक्त एक मात्र अभ्रान्त पदके बलपर सूक्ष्मदर्शी प्रो० याज्ञोबीने सिद्धसेन दिगारकरके समयके बारेमें सूचन किया था, उस पर विचार करनेवाले हम लोगों को समन्तभद्रकी कृतिमें पाये जाने वाले धर्मकीर्तिके साम्य पर भी विचार करना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि दिग्गगके प्रमाणसमुच्चयगत मंगलश्लोकके उपर ही उसके व्याख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक का प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे सुगनको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरह से समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगल पद्यको लेकर उसके ऊपर आसमीमासा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आस-प्रमाण स्थापित किया है। अमल बात यह है कि कुमारिलने श्लोकवार्तिकमें चोदना-वेद कोई अतिम प्रमाण स्थापित किया, और 'प्रमाणभूताय जगद्वितैपिणे'

इस मंगलपद्यके द्वारा दिग्गप्रतिपादित बुद्धप्रामाण्यको सण्डित किया । इसके जगत् में धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें बुद्धका प्रामाण्य अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे अपने दगसे सन्तिष्ठर स्थापित किया । जान पड़ता है इसी सरणीका अनुसरण प्रबलप्रज्ञ समन्तभद्रने किया । पूज्यपादका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हें मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी । प्रमाणवार्तिकके सुगतप्रामाण्यके स्थानमें समन्तभद्रने अपनी नई सप्तमगी सरणीके द्वारा अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे ही अर्हत्-जिन को ही आसप्रमाण स्थापित किया । यह तो विचारसरणीका साम्य हुआ । पर शब्दका सादृश्य भी बड़े मार्के का है । धर्मकीर्तिने सुगतको- 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' ( प्रमाणवा० १।१३५ ) "वैफल्याद् वक्ति नानृतम्" ( प्र० वा० १।१४७ ) कह कर अतिरुद्धभाषी कहा है । समन्तभद्रने भी "युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्" ( आसमी० का० ६ ) कह कर जैन तीर्थंकर को सर्वज्ञ स्थापित किया है ।

धर्मकीर्तिने चतुरार्यसत्यके उपदेशरूपसे ही बुद्धको सुगत-यथार्थरूप साधित किया है, स्वामी समन्तभद्रने चतुरार्यसत्यके स्थानमें स्याद्वाद-याय या अनेकान्तके उपदेशरूपसे ही जैन तीर्थंकरको यथार्थरूप सिद्ध किया है । समन्तभद्रने स्याद्वाद-यायकी यथार्थता स्थापित करनेकी दृष्टिसे उसके विषयरूपसे अनेक दार्शनिक मुद्दोंको लेकर चर्चा की है, सिद्धसेनने भी सम्मतिके तीसरे काण्डमें अनेकान्तके विषयरूपसे उन्हीं मुद्दों पर चर्चा की है । सिद्धसेन और समन्तभद्रकी चर्चामें मुख्य अन्तर यह है कि सिद्धसेन प्रत्येक मुद्देकी चर्चामें जब केवल अनेकान्त-दृष्टिकी स्थापना करते हैं तब स्वामी समन्तभद्र प्रत्येक मुद्दे पर सयुक्ति सप्तमगी प्रणालीके द्वारा अनेकान्त दृष्टिका स्थापन करते हैं । इस तरह धर्मकीर्ति, समन्तभद्र और सिद्धसेनके बीचका साम्य वैषम्य एक खास अभ्यासकी वस्तु है ।

स्वामी समन्तभद्रको धर्मकीर्ति समकालीन या उनसे अनन्तरोत्तरकालीन होनेकी जो मेरी धारणा हुई है, उसकी पोषक एक और भी दलील विचारार्थ उपस्थित करता हूँ । समन्तभद्रके "द्रव्यपर्याययोरैक्यम्" तथा "संज्ञासख्याविशेषाच्च" (आसमी० ७१, ७२) इन दो पद्योंके और प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है, जिसे प० महेन्द्रकुमारजीने नववीं शताब्दीका लिखा है । अर्चटने हेतुविन्दु टीकामें प्रथम समन्तभद्रके कारिकाके अशोकको लेकर गद्यमें खण्डन किया है और फिर 'आह च' कहकर खण्डनपर ४५ कारिकाएँ दी हैं । पंडित महेन्द्रकुमारजीने अपनी सुनिश्चित प्रस्तावनामें ( पृ० २७ ) यह समावना की है कि अर्चटोद्धृत हेतुविन्दुटीकागत कारिकाएँ धर्मकीर्तिकृत होगी । पण्डितजीका अभिप्राय यह है कि धर्मकीर्तिने ही अपने किसी ग्रंथमें समन्तभद्रकी कारिकाओंका खण्डन पद्यमें किया होगा जिसका अवतरण धर्मकीर्तिका टीकाकार अर्चट कर रहा है । पर इस विषयमें निर्णायक प्रकाश डालनेवाला एक ग्रंथ और प्राप्त हुआ है जो अर्चटीय हेतुविन्दु टीकाकी अनुटीका है । इस अनुटीकाका प्रणेता है दुर्गेक मिश्र, जो ११ वीं शताब्दीके आसपासका ब्राह्मण विद्वान् है । दुर्गेकमिश्र बौद्ध शास्त्रों का, खासकर धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका, तथा उसके टीकाकारोंका गहरा अभ्यासी था । उसने अनेक

बौद्ध ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। जान पड़ता है कि वह उस समय किसी विद्यासम्पन्न बौद्ध विहारम अध्यापक रहा होगा। वह बौद्ध शास्त्रोंके बारेमें बहुत मार्मिकतासे और प्रमाणरूपसे लिखने वाला है। उसकी उक्त अनुटीका नेपालके ब्रथसप्रहमेंसे कॉपी होकर भिदु राहुलजीके द्वारा मुम्बई मिली है। उसमें दुर्गेक मिश्रने स्पष्ट रूपसे उक्त ४५ कारिकाओंके बारेमें लिखा है कि—ये कारिकाएँ अर्चटकी है। अब विचारना यह है कि समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओका शब्दश खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अगर धर्मकीर्तिके सामने समन्तभद्रकी कोई कृति होती तो उसकी उसके द्वारा समालोचना होनेकी विशेष संभावना थी। परऐसा हुआ जान पड़ता है कि जब समन्तभद्रने प्रमाणार्तिकमें स्थापित सुगतप्रामाण्यके विरुद्ध आत्ममीमासामें जैनतीर्थंकरका प्रामाण्य स्थापित किया और बौद्धमतका जोरोंसे निरास किया तब इसका जवाब धर्मकीर्तिके शिष्योंने देना शुरू किया। कर्णजगोमीने भी जो धर्मकीर्तिके टीकाकार है, समन्तभद्रकी कारिका लेकर जैनमतका खण्डन किया है। ठीक इसी तरह अर्चटने भी समन्तभद्रकी उक्त दो कारिकाओका सविस्तर खण्डन किया है। ऐसी अस्थामें मैं अभी तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।

ऐसी हालतमें विद्वान्दकी आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीवाली उक्तियोंकी ऐतिहासिकताम किसी भी प्रकारके सन्देहका अवकाश ही नहीं है।

पंडितजीने प्रस्तावना (पृ० ३७) में तत्त्वार्थभाष्यके उमास्वातीप्रणीत होनेके बारेमें भी अयदीय सदेहका उल्लेख किया है। मैं समझता हूँ कि सदेहका कोई भी आधार नहीं है। ऐतिहासिक सत्यकी गवेषणामें सांप्रदायिक सत्कारके बश होकर अगर सदेह प्रकट करना हो तो शायद निर्णय किसी भी वस्तुका कभी भी नहीं हो सकेगा, चाहे उसके बलवत्तर कितने ही प्रमाण क्यों न हों। अस्तु।

अ तमें मैं पंडितजीकी प्रस्तुत गवेषणापूर्ण और श्रमसाधित सकृतिना सच्चे हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ, और साथ ही जैन समाज, खासकर दिग्गजर समाजके विद्वानों और श्रीमानोंसे भी अभिनन्दन करनेका अनुरोध करता हूँ। विद्वान् तो पंडितजीकी सभी कृतियोंका उदारभावसे अध्ययन-अध्यापन करके अभिनन्दन कर सकते हैं और श्रीमान्, पंडितजीकी साहित्यप्रणय शक्तियाना अपने साहित्यो ज्य तथा भण्डारोद्धार आदि कार्योंमें विनियोग कराने अभिनन्दन कर सकते हैं।

मैं पंडितजीसे भी एक श्रवणा नम्र विचार कहे देना हूँ। वह यह कि आगे अत्र वे दार्शनिक प्रमेयोंको, खासकर जन प्रमेयोंको केन्द्रमें रखकर उनपर तारिख दृष्टिसे ऐसा विवेचन करें जो प्रमेय या मुख्य मुख्य प्रमेयके स्वरूपना निरूपण करनके साथ ही साथ उसके सम्बन्धमें सब दृष्टिओंमें प्रकाश डाल सके।

—सुगलाल सक्ती

हिन्दू विश्वविद्यालय  
काशी।  
२५।२।२१

[प्रथम जनदशनायपर श्रियेण्डल कानध  
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी,  
मूलपूर्व दशनायपर मुम्बई विश्वविद्यालय अन्तर्गत]

## ॥ सम्पादकीयम् ॥

सितम्बर सन् १९३८ में न्यायकुमुदचन्द्र का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। करीब २॥ वर्ष बाद उसका अत्रशिष्टांश दूसरे भाग के रूप में सम्पादित करके चित्त आनन्द से किसी अनिर्वचनीय उल्लासता का अनुभव कर रहा है, सो इसलिए कि—इस भाग के सम्पादन का पूरा भार मुझे ही ढोना पड़ा है। इस भाग को प्रथम भाग से भी अधिक परिष्कृत तथा सामग्री-समृद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथमभाग के रसिक विद्वन्मण्डल को ही दिया जाना चाहिए। उर्हीं के सदभिप्रायो में इसके प्रेरणावीज निहित हैं।

इस भाग का सम्पादन सशोधन व०, आ० तथा श्र० प्रति के आधार से किया गया है। इनका परिचय प्रथम भाग के सम्पादकीय स्तम्भ में दिया जा चुका है। ओरियण्टल बुक् एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने कृपा करके न्यायकुमुदचन्द्र की एक अधूरी प्रति हमारे पास भेजी थी, उसका भी यथासंभव उपयोग किया है। इस भाग के टिप्पणों में प्रथम भाग में उपयुक्त ग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिकखवृत्ति, प्रमाणवार्तिकखवृत्तिटीका, प्रमाणवार्तिक मनोरथनिन्दनीवृत्ति जैसे दुर्लभ ग्रन्थों के प्रूफ तथा हेतुविडम्बनोपाय, हेतुविन्दुटीका, सिद्धिविनिश्चयटीका, सत्यशासनपरीक्षा, न्यायविनिश्चयनिवरण जैसे अलभ्य लिखित ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अर्थोद्घाटन करने वाले टिप्पण भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये हैं।

टिप्पणों में समस्त दर्शनशास्त्रों के प्रमुख ग्रन्थों से की गयी बहुमुखी तुलना से जिज्ञासु पाठकों को न केवल ग्रन्थ के हार्द को ही समझने में सहायता मिलेगी किन्तु प्रत्येक दार्शनिक मुद्दे के क्रमविकास का सारा इतिवृत्त दृष्टिपट पर अङ्कित हो सकेगा। वीरहिमाचल से निराली हुई अर्धभागवीमय स्याद्वाद-वाणी की धारा कितने उच्चाग्रच दर्शनस्थानों से बहकर उन्हें सम बनाती है तथा कितनेच समतभद्र सिद्धसेन पूज्यपाद मञ्जवादि अकलक जिनभद्र हरिभद्र विद्यानन्द जैसे तीर्थों पर मिलने वाले सहायकनदीकरूप दार्शनिकनादों के खच्छ युक्तिसलिल-सभार से समृद्ध बनती है। आज वह इस विक्रमित दार्शनिक रूप में एकान्तवाद के कदाग्रह से सन्तत जिज्ञासुओं को शीतल, समन्वयकारक, मानसअहिंसा के प्रतिरूप, अनेकान्तवाद-रूप जीवन से अन्वय आप्यायक सुपमा का सहज भाव से अनुभव कराती है। वीर हिमाचल की वह वाग्म्या प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र की पूर्ण विस्तृत ज्योत्स्ना में आज काशी की गंगा की तरह धीर और उदात्तभावा से बह रही है। उसके उदर में कितनी ऐतिहासिक घटनाएँ द्रव्य में पर्याय या उद्दाम ज्वानी में लोल बालभावा की तरह छिपी पड़ी हैं। उसमें कितने उच्चाग्रच शिलाखण्डकल्प दार्शनिकवाद आज रेत बनकर तदाम हो रहे हैं। इस सन क्रमविकास की धारा का यत्किञ्चित् आभास इन टिप्पणों में की गयी बहुमुखी तुलना से

हो सकेगा। इन उदात्त आचार्यों ने अपनी अहिंसारूपा अनेकान्तदृष्टि से निरोधी दर्शनों की सुयुक्तियों को भी उचित स्थान देकर उनका समन्वय किया है। दार्शनिक क्षेत्र में एकात्मक चौका न लगाकर अनेकान्त का प्रकाश सर्वत्र फैलाया है और उसमें अहिंसा की जान स्याद्वाददृष्टि से सभी एकान्तों का उचित आदर किया है। और इस तरह उन्होंने दार्शनिक वादविवादों का समन्वय कर अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया है तथा उन वादों का उचित फैसला करने का प्रयत्न किया है। आज तक कितनेक वाद उदित हुए, अस्त हुए, तथा कितने ध्यान भी अन्तिम आसं ले रहे हैं और वे किस पर अपना कितना और कैसा प्रभाव छोड़ गए हैं, यह सब कहानी इन टिप्पणों के परिशीलन से मानस पटल पर चित्रित होगी।

दर्शनशास्त्र स्थूलरूप से यदि मानसिक व्यायाम का प्रदर्शन है तो इसका दूसरा रूप अनेकों वादों के उत्थान पतनों का अजायबघर भी है। इसके परिशीलन से उन उन युगों की विद्वन्मनोवृत्ति के साथ ही साथ अनेक सामाजिक प्रवृत्तियों का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। दर्शन ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके क्रमविकास की कहानी का तटस्थ-भाव से अवलोकन, हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि खण्डन मण्डन में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण एक वादी दूसरे वादी का सहकार प्राप्त करने में, उसकी युक्तियों का अपने ढंग से अनुसरण करने में कभी नहीं हिचकता था। प्रत्युत ऐसी विनियमपरम्परा के कारण ही आज दर्शनशास्त्र इस विकास को पा सका है। उदाहरणार्थ—नैयायिनाभिमत सृष्टिकर्तृत्व के खण्डन में जहाँ जैन और बौद्धों के साथ मीमांसक भी अपना कन्धा लगाता है वहाँ मीमांसकाभिमत वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में नैयायिक, जैन और बौद्धों का साथ देता है। इसी तरह वैशेषिक आदि के खण्डन में साथ साथ चलने वाले बौद्ध और जैन भी, जहाँ क्षणिकत्व का विचार होता है, वहाँ वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं। उस समय वैशेषिक आदि यथासमय जैन का खण्डन करने में बौद्धों का तथा बौद्धों का खण्डन करने में जैन का साथ देते हैं। पर जहाँ चार्वाक का खण्डन करने का प्रसंग है वहाँ वैदिक दर्शनों के साथ ही साथ बौद्ध और जैन भी पूरी तरह मैदान में डट जाते हैं। सर्वज्ञत्व के विचार में जैन बौद्ध तथा वैशेषिक आदि मिलकर मीमांसक का मुकाबिला करते हैं। पर जहाँ ब्राम्हणत्वजाति का विचार आता है वहाँ केवल बौद्ध और जैन ही एक ओर रह जाते हैं। इस तरह इस दार्शनिक महाभारत में सिद्धान्तों की समता और विषमता के कारण परस्पर निरोधी वादी भी वही समानतन्त्रीय बनकर किसी तीसरे वादी का खण्डन करते हुये देये जाते हैं तो कहीं एक दूसरे का खण्डन करने में ही अपना सुदिकौशल दिखाते हैं। अतः विभिन्न वादों की समालोचना के समय एक ग्रन्थकार का दूसरे ग्रन्थकार की युक्तियों का शब्द अर्थ और भाव की दृष्टि से अनुसरण करना सिद्धान्तों के साम्य-वैयर्थ्य का ही फल है। दार्शनिक क्षेत्र में यह कोई अनहोनी या अनुचित बात नहीं है क्योंकि यह विचार विनियम ही तो दर्शन शास्त्र के विकास का आधार होता है और इसी में उसकी प्राणप्रतिष्ठा है।



दर्शनशास्त्र का चरम उद्देश तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप का यथावत् परिज्ञान करके शान्तिलाभ करना है। स्वदर्शनप्रभावना, लाभ पूजा ह्याति आदि तो वादियों के चित्त की विजिगीषा के परिणाम हैं। सच्चा दार्शनिक इस स्तरके ऊपर रहता है और वस्तुतत्त्व की समीक्षा में ताटस्थ्य रखने में ही अपनी बुद्धि का सदुपयोग मानता है।

**संस्करणपरिचय**—इस भाग का मुद्रण भी प्रथम भाग की तरह ही कराया गया है। विशेषता यह है कि टिप्पणों में ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में दे दिये हैं। जिस ग्रन्थ का पाठ लिया है उस ग्रन्थ का (—) ऐसे ढेश के साथ पाठ के बाद सर्वप्रथम निर्देश किया है। अन्य जिन ग्रन्थों के मात्र पृष्ठसंख्या दिये हैं उन ग्रन्थों में वैसी ही आनुपूर्वी से पाठ का होना आवश्यक नहीं है। उन ग्रन्थों के नाम तो अर्थसादर्य, भावसादर्य और कहीं शब्दसादर्य मूलक तुलना के लिए दिये हैं। जो अर्थबोधक टिप्पण आ० प्रति के हॉसिए में लिखे थे उनके आगे 'आ० टि०' ऐसा विभाजक निर्देश किया गया है। बाकी टिप्पण स्वयं सम्पादक द्वारा ही लिखे गये हैं। टिप्पण या मूल ग्रन्थ में जो शब्द त्रुटित थे या नहीं थे उनकी जगह सम्पादक ने जिन शब्दों को अपनी ओर से रखा है वे [ ] ऐसे ब्रेकिट में मुद्रित हैं। तथा जिन अशुद्ध शब्दों को सुधारने का प्रसङ्ग आया है वहाँ सम्पादक द्वारा कल्पित शुद्ध पाठ ( ) ऐसे ब्रेकिट में दिया गया है।

**भूमिका** में जो निषय प्रथम भाग की प्रस्तावना में चर्चित हो चुके हैं उनकी चरचा यहाँ नहीं की है। आ० प्रभाचन्द्र के समय के निषय में ही कुछ विशिष्ट सामग्री के साथ ऊहापोह किया है। मैं अकलङ्कदेव के समय विषयक अपने निचार सिंघी सीरीज से प्रकाशित "अकलङ्कग्रन्थत्रय" की प्रस्तावना में लिख आया हूँ। अतः यहाँ आवश्यक होने पर भी पुनरुक्ति नहीं कर रहा हूँ।

**परिशिष्ट**—इस भाग में निम्नलिखित १२ परिशिष्ट लगाए गए हैं। जिनसे ऐतिहासिक या तात्त्विकदृष्टिवाले जिज्ञासु, ग्रन्थ के निषयो को अपनी दृष्टि से सहज ही खोज सकेंगे। १ लघीपञ्चय के कारिकार्थ का अकाराधनुक्रम। २ लघीपञ्चय और उसकी स्वविवृति में आए हुए अन्तरगत वाक्यों की सूची। ३ लघीपञ्चय और स्वविवृति के विशेष शब्दों की सूची, इसमें लाक्षणिक शब्द काले टाइप में दिए हैं। ४ लघीपञ्चय की कारिकाएँ तथा विवृति के अंश जिन दि० श्रे० आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किए हैं या उन्हें अपने ग्रन्थों में शामिल किया है उन आचार्यों के उन ग्रन्थों की सूची। ५ न्यायकुमुदचन्द्र में आए हुए ग्रन्थान्तरो के उद्धरणों की सूची। ६ न्यायकुमुदचन्द्र में उपयुक्त न्यायों की सूची। ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम तथा भौगोलिक शब्दों की सूची। ८ न्यायकुमुदचन्द्र में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची। ९ न्यायकुमुदचन्द्र में जिन शब्दों के लक्षण या निरुक्तियाँ की गई हैं उन लाक्षणिक शब्दों की सूची। १० न्यायकुमुदचन्द्र के कुछ विशिष्ट शब्द। ११ न्यायकुमुदचन्द्र के दार्शनिक शब्दों की सूची। १२ टिप्पणी में तथा मूलग्रन्थ

में आए हुए अवतरणों के मूलस्थल निर्दिष्ट करने में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है उन ग्रन्थों के संस्करण आदि का परिचय, संकेत विवरण तथा न्यायकुमुद के जिन पृष्ठों पर उनका उपयोग किया है उन पृष्ठों की सूची।

शुद्धिपत्र—मूक देखने में पर्याप्त सावधानी रखने पर भी दृष्टिदोष, यन्त्रपरिचालन आदि के कारण होने वाली स्थूल अशुद्धियों का निर्देश ही इस पत्रक में किया है।

आभार—आदरणीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी ने अपनी सहज विद्यारसिकता से यथावसर सपरामर्श दिये हैं तथा सिद्धिनिश्चयटीका, हेतुविन्दुटीका एवं तत्त्वोपसंहारसिंह आदि लिखित ग्रन्थों के उपयोग करने की पूरी पूरी सुविधा दी है। ग्रन्थमाला के प्राण, निर्व्याज साहियोपासक यथार्थोपनामक पं० नाथूराम जी प्रेमी ने प्रभाचन्द्र के समय में उपयुक्त होने वाली प्रशस्तियाँ, श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र नामक लेख की कच्ची नकल तथा अन्य आवश्यक सामग्री को बड़ी तत्परता एवं निरुत्सेक सहज भाव से जुटाया है। सच पूंछे तो प्रेमीजी जैसे सद्बुद्ध मन्त्री की सदाशयता से ही इस ग्रन्थ का इस रूप में सम्पादन, मुद्रण आदि हो सका है। त्रिपिटिकाचार्य महापंडित राहुलसाकृत्यायन ने प्रमाणनार्तिकसूचि, स्वयं चिटीका के दुर्लभ मूक तथा प्रमाणनार्तिकालङ्कार की सर्वथा अलभ्य प्रेस कापी से यथेष्ट नोट्स लेने दिये हैं। सुहृद्दर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के सहयोग से ही प्रथम भाग की प्रेस कापी के समय इस भाग में मुद्रित अंश का प्रथमपाठन हुआ था और व० प्रति के पाठान्तर लिए गये थे।

प० परमानन्दजी वीर सेना मन्दिर सरसावा ने प्राकृतपंचसंग्रह की गाथाओं के स्थल खोज कर भेजे। ओरियटल बुक एजेन्सी पूना के अध्यक्ष श्री देसाई ने न्यायकुमुदचन्द्र की एक त्रुटित प्रति भेजी। माण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर के अध्यक्ष ने हेतुविन्दुनोपाय तथा जैनसिद्धान्तभवन आरा के पुस्तकाध्यक्ष श्री के० भुजबली शास्त्री ने सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ के उपयोग करने का अमसर दिया तथा पत्रोत्तर दिए। श्रीमान् प्रो० हीरालाल जी, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प० जुगलकिशोर जी मुत्तार, पं० चैनसुखदास जी, पं० लोकरनाथ जी शास्त्री, प० वर्षभानु शास्त्री, सा० र० पं० हीरालाल शास्त्री, पं० नारायण जी आदि विद्वन्मण्डल ने यथासमय प्रशस्ति आदि के मान्य ज्ञान्य प्रयोगों के उच्च दिये। पञ्चाचार्य पं० भूपनारायण जी महा ने प्रशस्ति श्लोकों की रचना करके सहायता की। श्री विजयवर्ति जी एम० ए०, शास्त्री ने पाठान्तर लेने में तथा विपशिष्य गुलामचन्द्र जी न्याय-सांख्यीय और उदयचन्द्रजी ने परिशिष्ट बनाने में पूरी पूरी मदद की है। मैं उक्त सभी महाशयों का हार्दिक आभार मानता हूँ।

श्री ५५३ गुणिमा  
मन्तरसचालि  
४० वि० २६९७

सम्पादन—  
न्यायाचार्य महेंद्रकुमार  
स्था० वि० काशी।

## ॥ प्रस्तावना ॥

इस सस्करणमें मुद्रित मूलग्रन्थ लघीयख्य और उसकी व्याख्या न्यायकुमुदचन्द्रका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थकारोंके विषय में ही कुछ लिखना इष्ट है। प्रस्तुतग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। यह न्यायकुमुदचन्द्र अकलङ्कदेवके खनिवृत्तियुक्त लघीयख्य प्रकरणकी विस्तृत व्याख्या है। अतः मूलकार अकलङ्कदेव और व्याख्याकार प्रभाचन्द्रके विषयमें लिखना ही यहाँ प्रस्तुत है। न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावनामें सुद्धर ५० केशवचन्द्रजी शास्त्रीने इन दोनों आचार्योंके समय आदिके विषयमें यथेष्ट उद्घोष किया है। मैं अकलङ्कदेवके समयविषयक अपने विचार “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। जिस—

“विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।

कालेऽकलङ्कयतिनो यौद्धैर्वादो महानभूत् ॥”

कारिकाके ‘विक्रमार्कशक’ शब्द पर विद्वानों का मतभेद है कि ‘अकलङ्कदेव का शास्त्रार्थ विक्रमसत् ७०० में हुआ है, या शक सत् ७०० में’ उसके विषयमें इतना और विशेष वक्तव्य है कि—‘विक्रमार्कशक’ शब्दका प्रयोग अनेक प्राचीन आचार्योंने ‘शकसत्’ के अर्थमें किया है। उदाहरणार्थ धवलाटीकाकी अन्तिम प्रशस्तिकी यह गाथा ही पर्याप्त है—

“अठतीसम्भिः सतस्रैः विक्रमरायंक्रिए सु-सगणामे ।

चासे सुतेरसीए भाणुविलग्गे धवलपक्खे ॥”

पट्टखडागम प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० २५-४५) में प्रो० हीरालालजीने बहुमुख उद्घोषके अनन्तर यह सिद्ध किया है कि उक्त गाथा में वर्णित ‘विक्रमरायंक्रिए सुसगणामे’ पदसे ‘शकसत्’ ही ग्राह्य हो सकता है। इसी प्रस्तावना (पृ० ४०) में प्रो० सा० ने अपने मतके समर्थनकेलिए त्रिलोकसारके (भा० ८५०) टीकाकार श्रीमाधवचन्द्रत्रैविधिका यह अन्तरण दिया है—“श्रीवीरनाथनिवृत्तेः सकाशात् पंचोत्तरपद्शतवर्षाणि ( ६०५ ) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् ‘विक्रमाङ्कशकराजो’ जायते ...” इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि शकराजको भी ‘विक्रमाङ्कशक’ लिखने की प्राचीन परम्परा रही है और इसीलिए ‘शकसत्’ का उल्लेख भी ‘विक्रमाङ्कशकसत्’ पदसे किया जाता था। मैंने “अकलङ्क-ग्रन्थत्रय” की प्रस्तावनामें अन्य प्रमाणोंके आधारसे विक्रमार्कशकाब्दका शक सत् ७०० अर्थ करके अकलङ्कदेवका समय ई० ७२० से ७८० सिद्ध किया है। अस्तु ।

## आ० प्रभाचन्द्र

आ० प्रभाचन्द्रके समयविषयक इस निबन्धको वर्गीकरणके ध्यानसे तीन स्थूल भागों में बाँट दिया है—१ प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना, २ समयविचार, ३ प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ ।

### १. प्रभाचन्द्र की इतर आचार्यों से तुलना—

इस तुलना मरु भागको प्रत्येक परम्पराके अपने क्रमविज्ञासक्तो लक्ष्यमें रखकर निम्नलिखित उपभागोंमें क्रमशः विभाजित कर दिया है । १ वैदिक दर्शन—वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, वेदाङ्ग, साङ्ख्ययोग, वैशेषिक न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा । २ श्रौतिक दर्शन—बौद्ध, जैन-दिगम्बर, श्वेताम्बर ।

### ( वैदिकदर्शन )

वेद और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें पुरातनवेद ऋग्वेदसे “पुरुष एवेदं यद्भूत” “हिरण्यगर्भः समवर्ततामे” आदि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं । कुछ अन्य वेदवाक्य भी न्यायकुमुदचन्द्र ( पृष्ठ ७२६ ) में उद्धृत हैं—“प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्, ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त” “रुद्रं वेदकर्तारम्” आदि । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ७७० ) में “आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मणं ससर्ज, बाहुभ्यां क्षत्रियसुरूभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रम्” यह वाक्य उद्धृत है । यह ऋग्वेद के “ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्” आदि सूक्तकी छाया रूप ही है ।

उपनिषद् और प्रभाचन्द्र—आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों न्यायग्रन्थोंमें ब्रह्माद्वैतवाद तथा अन्य प्रकरणोंमें अनेकों उपनिषदों के वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं । इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिर्युपनिषद्, ब्रह्मविन्दु-पनिषद्, रामतापिन्युपनिषद्, जाबालोपनिषद् आदि उपनिषद् मुख्य हैं । इनके अवतरण अवतरणसूची में देखना चाहिये ।

स्मृतिकार और प्रभाचन्द्र—महर्षि मनुकी मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यकी याज्ञवल्क्यस्मृति प्रसिद्ध हैं । आ० प्रभाचन्द्रने कारकसाकल्यवादके पूर्वपक्ष ( प्रमेयक० पृ० ८ ) में याज्ञवल्क्य-स्मृति ( २।२२ ) का “लिखित साक्षिणो भुक्तिः” वाक्य कुछ शाब्दिक परिवर्तनके साथ उद्धृत किया है । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ५७५ ) में मनुस्मृतिका “अकुर्वन् विहितं कर्म” श्लोक उद्धृत है । न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में मनुस्मृतिके “यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः” श्लोकका “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इस कर्मपुराणके वाक्यसे निरोध दिखाया गया है ।

पुराण और प्रभाचन्द्र—प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें मस्य-पुराणका “प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुतिरन्या विधीयते ।” यह श्लोकाश उद्धृत मिलता है । न्याय-कुमुदचन्द्र ( पृ० ६३४ ) में कर्मपुराण ( अ० १६ ) का “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है ।

व्यास और प्रभाचन्द्र—महाभारत तथा गीताके प्रणेता महर्षि व्यास माने जाते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ५८०) में महाभारत वनपर्व (अ० ३०।२८) से “अज्ञो जन्तुरनीशो-  
ऽयमात्मनः सुरदुःखयो. ...” श्लोक उद्धृत किया है। प्रमेयरूपलमार्तण्ड (पृ० ३६८ तथा ३०६) में भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोक ‘व्यासवचन’ के नामसे उद्धृत हैं—“यथैधासि  
समिद्धोऽग्निः ” [गीता ४।३७] “द्वाविमौ पुरुषौ लोके, उत्तमपुरुषस्त्वन्यः . ” [गीता  
१५।१६, १७] इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३५८) में गीता (२।१६) का “नाभावो  
विद्यते सतः” अश प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है।

पतञ्जलि और प्रभाचन्द्र—पाणिनिसूत्रके ऊपर महाभाष्य लिखनेवाले ऋषि पतञ्जलिका  
समय इतिसाहकारोने ईसवी सन्से पहिले माना है। आ० प्रभाचन्द्रने जैनेन्द्रव्याकरणके साथ  
ही पाणिनिव्याकरण और उसके महाभाष्यका गभीर परिशीलन और अध्ययन किया था। वे  
शब्दाम्भोजभास्करके प्रारम्भमें स्वयं ही लिखते हैं कि—

“शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताऽहर्निशम्”

आ० प्रभाचन्द्रका पातञ्जलमहाभाष्यका तलस्पर्शी अध्ययन उनके शब्दाम्भोजभास्कर-  
में पद पद पर अनुभूत होता है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७५) में वैयाकरणोंके मतसे गुण  
शब्दका अर्थ बताते हुये पातञ्जलमहाभाष्य (५।१।१६) से “यस्य हि गुणस्य भावात् शब्दे  
द्रव्यविनिवेशः” इत्यादि वाक्य उद्धृत किया है। शब्दोंके साधुत्वासाधुत्व-विचारमें व्याकरणकी  
उपयोगिताका समर्थन भी महाभाष्यकी ही शैलीमें किया है।

भर्तृहरि और प्रभाचन्द्र—ईसाकी ७ वीं शताब्दीमें भर्तृहरि नामके प्रसिद्ध वैयाकरण  
हुए हैं। इनका वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ये शब्दाद्वैतदर्शनके प्रतिष्ठाता माने जाते हैं।  
आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षको वाक्यपदीय  
की अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके ही परिपुष्ट किया है। शब्दोंके साधुत्व असाधुत्व विचार  
में पूर्वपक्षका खुलासा करनेके लिए वाक्यपदीयकी सरणीका पर्याप्त सहारा लिया है। वाक्य-  
पदीयके द्वितीयकाण्डमें आए हुए “आख्यातशब्दः” आदि दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका  
मनिस्तर खण्डन किया है। इसी तरह प्रभाचन्द्रकी कृति जैनेन्द्रव्यासके अनेक प्रकरणोंमें वाक्य-  
पदीयके अनेक श्लोक उद्धृत मिलते हैं। शब्दाद्वैतवादके पूर्वपक्षमें बैखरी आदि चतुर्विधवाणीके  
स्वरूपका निरूपण करते समय प्रभाचन्द्रने जो “स्थानेषु विवृते वायौ” आदि तीन श्लोक  
उद्धृत किये हैं वे मुद्रित वाक्यपदीयमें नहीं हैं। टीकामें उद्धृत हैं।

व्यासभाष्यकार और प्रभाचन्द्र—योगसूत्र पर व्यास-ऋषि का व्यासभाष्य प्रसिद्ध है।  
इनका समय ईसाकी पञ्चम शताब्दी तक समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र  
(पृ० १०६) में योगदर्शनके आधारसे ईश्वरवादका पूर्वपक्ष करते समय योगसूत्रोंके अनेक उद्धरण  
दिए हैं। इसके विवेचनमें व्यासभाष्यकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अधिमादि अष्टविध

ऐश्वर्यका वर्णन योगभाष्यसे मिलता जुलता है। न्यायकुमुदचन्द्रमें योगभाष्यसे “चेतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्” “चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा” आदि वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

**ईश्वरकृष्ण और प्रभाचन्द्र**—ईश्वरकृष्णकी साख्यसप्तति या साख्यकारिका प्रसिद्ध है। इनका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी समझा जाता है। साख्यदर्शनके मूलसिद्धान्तोंका साख्यकारिकामें सक्षिप्त और स्पष्ट विवेचन है। आ० प्रभाचन्द्रने साख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें सर्ग साख्यकारिकाओंका ही विशेष उपयोग किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें साख्योंके कुछ वाक्य ऐसे भी उद्धृत हैं जो उपलब्ध साख्यग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। यथा—“बुद्धयध्वजसितमथं पुरुषश्चेतयते” “आसर्गप्रलयदेका बुद्धिः” “प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्येत” “प्रकृतिपरिणाम शुभल कृष्णश्च कर्म” आदि। इससे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंके सिवाय कोई अन्य प्राचीन साख्य ग्रन्थ प्रभाचन्द्रके सामने था जिससे ये वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

**माठराचार्य और प्रभाचन्द्र**—साख्यकारिकाकी पुरातन टीका माठरवृत्ति है। इसके रचयिता माठराचार्य ईसाकी चौथी शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं। प्रभाचन्द्रने साख्यदर्शनके पूर्वपक्षमें साख्यकारिकाओंके साथ ही साथ माठरवृत्तिको भी उद्धृत किया है। जहाँ वहाँ साख्यकारिकाओं की व्याख्याका प्रसङ्ग आया है, माठरवृत्तिके ही आधारसे व्याख्या की गई है।

**प्रशस्तपाद और प्रभाचन्द्र**—अणादसूत्र पर प्रशस्तपाद आचार्यका प्रशस्तपादभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रशस्तपादभाष्यकी “एवं धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः” इस पक्तिको प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० ५३१) में ‘पदार्थपवेशकग्रन्थ’ के नामसे उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्चण्ड दोनोंकी पदपदार्थपरीक्षाका यात्र पूर्वपक्ष प्रशस्तपादभाष्य और उसको पुरातनटीका व्योमवतीसे ही स्पष्ट किया गया है। प्रमेयकमलमार्चण्ड (पृ० २७०)के ईश्वरवादके पूर्वपक्षमें ‘प्रशस्तमतिना च’ लिखकर “सर्गादौ पुरुषाणा व्यवहारो” इत्यादि अनुमान उद्धृत है। यह अनुमान प्रशस्तपादभाष्यमें नहीं है। तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका (पृ० ४३) में भी यह अनुमान प्रशस्तमतिके नामसे उद्धृत है। ये प्रशस्तमति, प्रशस्तपादभाष्यकारसे भिन्न मालूम होते हैं, पर इनका कोई ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

**व्योमशिव और प्रभाचन्द्र**—प्रशस्तपादभाष्यके पुरातन टीकाकार आ० व्योमशिवकी व्योमवती टीका उपलब्ध है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने दोनों ग्रन्थोंमें, न केवल वैशेषिकमतके पूर्वपक्षमें ही व्योमवतीने अपनाया है किन्तु अनेक मतोंके खडनमें भी इसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यह टीका उनके विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु थी। इस टीकाके तुलनात्मक अशोंको न्यायकुमुदचन्द्रकी टिप्पणीमें देखना चाहिए। आ० व्योमशिवके समयके विषयमें विद्वानोंका मतभेद चला आ रहा है। डॉ० कीथ इ.हें नवमशताब्दी का कहते हैं तो डॉ० दासगुप्ता इन्हें छठवीं शताब्दीका। मैं इनके समयका कुछ विस्तार से विचार करता हूँ—

राजशेखरने प्रशस्तपादभाष्यकी 'कन्दली' टीकाकी 'पञ्जिका' में प्रशस्तपादभाष्यकी चार टीका-श्लोका इस क्रमसे निर्देश किया है—सर्वप्रथम 'व्योमवती' (व्योमशिवाचार्यं), तत्पश्चात् 'न्यायकन्दली' (श्रीधर), तदनन्तर 'किरणावली' (उदयन) और उसके बाद 'लीलावती' (श्रीवज्जाचार्यं)। ऐतिहासपर्यालोचनासे भी राजशेखरका यह निर्देशक्रम सगत जान पड़ता है। यहाँ हम व्योमवतीके रचयिता व्योमशिवाचार्यके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

व्योमशिवाचार्य शैव थे। अपनी गुरु-परम्परा तथा व्यक्तित्वके विषयमें स्वयं उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। पर रणिपद्रपुर रानोद, वर्त्तमान नारोदग्राम की एक बापी प्रशस्ति ॐ से इनकी गुरुपरम्परा तथा व्यक्तित्व-विषयक बहुतसी बातें मालूम होती हैं, जिनका कुछ सार इस प्रकार है—

“कदम्बगृहाधिवासी मूनीन्द्रके शल्लमठिकाधिपति नामक शिष्य थे, उनके तेग्म्बिपाल, तेरम्बिपालके आमदंक्तीर्थनाथ और आमदंक्तीर्थनाथके पुरन्दरगुरु नामके अतिशय प्रतिभाशाली ताकि शिष्य हुए। पुरन्दरगुरुने कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा है; क्योंकि उसी प्रशस्ति-शिलालेखमें अत्यन्त स्पष्टतासे यह उल्लेख है कि—“इनके वचनोका खण्डन आज भी बड़े बड़े नैयायिक नहीं कर सकते।”† स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें पुरन्दरके नामसे कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, सम्भव है वे पुरन्दर थे ही हो। वन पुरन्दरगुरुको अबन्तिवर्मा उपेन्द्रपुरसे अपने देशको ले गया। अबन्तिवर्माने इन्हें अपना राज्यभार सौंप कर शैवदीक्षा धारण की और इस तरह अपना जन्म सफल किया। पुरन्दरगुरुने मत्समयूरमें एक बड़ा मठ स्थापित किया। दूसरा मठ रणिपद्रपुरमें भी इन्हींने स्थापित किया था। पुरन्दरगुरुका कवचशिव और वचचशिवका सदाशिव नामक शिष्य हुआ, जो कि रणिपद्रपुरके तापसाश्रम में तप साधन करता था। सदाशिवका शिष्य हृदयेश और हृदयेशका शिष्य व्योमशिव हुआ, जोकि अच्छा प्रभावशाली, उक्तप्रतिभासम्पन्न और समर्थ विद्वान् था।” व्योमशिवाचार्यके प्रभावशाली होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनके नामसे ही व्योममन्त्र प्रचलित हुए थे।‡ ‘ये सदनुष्ठानपरायण, मृदु मितभाषी, विनय नय-सयमके अद्भुत स्थान तथा अप्रतिम प्रतापशाली थे। इन्होंने रणिपद्रपुरका तथा रणिपद्रमठका उद्धार एवं सुधार किया था और वही एक शिवमन्दिर तथा बापीका भी निर्माण कराया था। इसी बापीपर उक्त प्रशस्ति खुदी है।

इनकी विद्वत्ताके विषयमें शिलालेखके ये श्लोक पर्याप्त हैं—

“सिद्धान्तेषु महेश एष नियतो न्यायेऽक्षपादो मुनिः । गम्भीरे च कणाशिनस्तु कणभुक्शास्त्रे श्रुतो जैमिनि ॥ सांख्येऽनल्पमतिं स्वयं स कपिलो लोकायते सद्गुरुः । बुद्धो बुद्धमते जिनोवितपु जिन को गथ नाय कृती ॥ यद्भूतं यदनागतं यदधुना किञ्चित्त्वचिद्वधं (तं) ते । सम्यग्दर्शनसम्पदा तदखिलं पश्यन् प्रमेयं महत् ॥ सर्वज्ञं स्फुटमेव कौपि भगवानन्यं क्षिती स(श)कर । धत्ते किन्तु न ज्ञानधीविषमदुर्ग्रीडं वपु केवलम् ॥”

इन श्लोकोंमें बतलाया है कि 'व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धान्तमें स्वयं शिव, न्यायमें अक्षपाद, वैशेषिक शास्त्रमें कणाद, मीमांसामें जैमिनि, सांख्यमें कपिल, चार्वाकशास्त्रमें बृहस्पति, बुद्धमतमें बुद्ध तथा जिनमतमें स्वयं जिनके समान थे। अधिक क्या; अतीतानागतवर्तमानवर्ती यावत् प्रमेयोकी अपनी सम्यग्दर्शनसम्पत्तिसे स्पष्ट देखने जानने वाले सर्वज्ञ थे। और ऐसा मालूम होता था कि मात्र विषमनेत्र (तृतीयनेत्र) तथा रौद्रशरीर को धारण किए बिना वे पृथ्वी पर दूसरे शकर भगवान् ही अवतरे थे। इनके गगनेश, व्योमशम्भु व्योमेश, गगनशशिमौल आदि भी नाम थे।

शिलालेखके आधारसे समय-व्योमशिवके पूर्ववर्ती चतुर्थगुरु पुरन्दरके अबन्तिवर्मा राजा अपने नगरमें ने गया था। अबन्तिवर्माके चाँदीके सिक्के पर “विजितावनिरवनिपति. श्री अबन्तिवर्मा दिव

ॐ प्राचीन लेखमाला द्वि० भाग, शिलालेख न० १०८।

† “यस्त्राधुनापि विद्मधैरिनिवृत्त्यशसि व्याहृत्यते न वचनं नयमार्गं विद्मि ॥”

‡ “अस्य व्योमपदादिमन्त्ररचनाख्याताभिधानस्य च।”—बापीप्रशस्ति

जयति" लिखा रहना है तथा सवत् २५० पडा गया है ॥ यह सवत् सभवन गुप्त सवत् है। डॉ० फ्लीट्के मतानुसार गुप्तसवत् ई० सन् ३२० की २६ फरवरी को प्रारम्भ होता है †। अत ५७० ई० में अवन्तिवर्माका अपनी मुद्राको प्रचलित करना इतिहाससिद्ध है। इस समय अवन्तिवर्मा राज्य कर रहे होंगे। तथा ५७० ई० के आसपास ही वे पुरन्दरगुरको अपने राज्यमे लाए होंगे। ये अवन्तिवर्मा मोहरी-वसोय राजा थे। संभव होने के कारण शिवोपासक पुरन्दरगुरको अपने यहाँ लाना भी इनका ठीक ही था। इनके समयके सम्बन्धमे दूसरा प्रमाण यह है कि—वैसवसोय राजा हर्षवर्द्धनकी छोटी बहिन राज्यश्री अवन्तिवर्माके पुत्र ग्रहवर्माका विवाही गई थी। हर्षका जन्म ई० ५९० मे हुआ था। राज्यश्री उससे १ या २ वर्ष छोटी थी। ग्रहवर्मा हर्षसे ५-६ वर्ष बडा जरूर होगा। अत उमका जन्म ५८४ ई० के करीब मानना चाहिए। इसका राज्यकाल ई० ६०० से ६०६ तक रहा है। अवन्तिवर्माका यह इकलोता लडवा था। अत. मालूम होता है कि ई० ५८४ में अर्थात् अवन्तिवर्माकी डलती अवस्थामे यह पैदा हुआ होगा। अस्तु; यहाँ तो इतना ही प्रयोजन है कि ५७० ई० के आसपास ही अवन्तिवर्मा पुरन्दरको अपने यहाँ ले गए थे।

यद्यपि सन्यासियोंकी शिष्य परम्पराके लिए प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि कभी कभी २० वर्षमें ही शिष्य प्रशिक्षणों की परम्परा चल जाती है। फिर भी यदि प्रत्येक पीढीका समय २५ वर्ष ही मान लिया जाय तो पुरन्दरसे तीन पीढी के बाद हुए व्योमशिवका समय सन् ६७० के आसपास सिद्ध होता है।

दार्शनिकग्रन्थोंके आधारसे समय—व्योमशिव स्वयं ही अपनी व्योमवती टीका (पृ० ३९२) में श्रीहर्षका एक महत्त्वपूर्ण ढंगसे उल्लेख करते हैं। यथा—

"अत एव मदीय शरीरमित्यादिप्रत्ययेच्चात्मानुरागसद्भावेऽपि आत्मनोऽवच्छेदकत्वम्। श्रृंहर्षं देव कुलमिति ज्ञाने श्रीहर्षस्यैव उभयत्रापि बाधकसद्भावात्, यत्र ह्यनुरागसद्भावेऽपि विशेषणत्वे बाधकमस्ति तत्रावच्छेदकत्वमेव कल्प्यते इति। अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्। आत्मनि कर्तृत्वकरणत्वयोरसम्भव इति बाधकम्।"

यद्यपि इस सन्दर्भका पाठ कुछ छूटा हुआ मालूम होता है फिर भी 'अस्ति च श्रीहर्षस्य विद्यमानत्वम्' यह वाक्य खास तीरसे ध्यान देने योग्य है। इससे साफ मालूम होता है कि श्रीहर्ष (606-647 A.D) राज्य व्योमशिवके समयमें विद्यमान थे। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्योमशिव श्रीहर्षके बहुत बाद होकर भी ऐसा उल्लेख कर सकते हैं, परन्तु जब शिलालेखस उनका समय ई० सन् ६७० के आसपास है तथा श्रीहर्षकी विद्यमानताका वे इस तरह जोर दकर उल्लेख करते हैं तब उभय कल्पनाको स्थान ही नहीं मिलता।

व्योमवतीका अन्तः रीक्षण—व्योमवती (पृ० ३०६, ३०७, ६८०) में धर्मकीर्तिके प्रमाणवातिके (२-११, १२ तथा १-६८, ७२) से कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। इसी तरह व्योमवती (पृ० ६१७) में धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दु प्रथमपरिच्छेदके "द्विण्डिकराग परित्यज्य अक्षिणी निर्मोत्य" इस वाक्यका प्रयोग पाया जाता है। इससे अतिरिक्त प्रमाणवातिककी श्रौर भी बहुतसी कारिकाएँ उद्धृत देखी जाती हैं।

व्योमवती (पृ० ५९१, ५९२) में कुमारिलके मीमांसा-श्लोकवार्तिककी अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं। व्योमवती (पृ० १२९) में उद्योतकरका नाम लिया है, भर्तृहरिके शब्दाद्वैतदर्शनका (पृ० २० व) खण्डन किया है श्रौर प्रभाकरके स्मृतिप्रमोदवादका भी (पृ० ५४०) खंडन किया गया है।

इनमे भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, कुमारिल तथा प्रभाकर ये सब प्रायः समसामयिक श्रौर ईसाकी सानवी शताब्दीके विद्वान् हैं। उद्योतकर छठी शताब्दीके विद्वान् हैं। अत व्योमशिवके द्वारा इन समसामयिक एवं किञ्चित्पूर्ववर्ती विद्वानोंका उल्लेख तथा समालोचनका होना सगन ही है। व्योमवती (पृ० १५) में बाणकी कादम्बरीका उल्लेख है। बाण हर्षकी सभाके विद्वान् थे, अत इसका उल्लेख भी होना ठीक ही है।

॥ देवी, भारतके प्राचीन राजवत्, द्वि० भाग पृ० ३७५।

† देवी, भारतके प्राचीन राजवत्, द्वितीय भाग पृ० २२९।



व्योमवती टीकाका उल्लेख करनेवाले परवर्ती ग्रन्थकारोंमें शान्तरक्षित, विद्यानन्द, जयन्त, वाचस्पति, सिद्धादि, श्रीधर, उदयन, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा गुणरत्न, विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

शान्तरक्षितने वैशेषिक सम्मत पदपदार्थोंकी परीक्षा की है। उसमें वे प्रशस्तपादके साथ ही साथ शकरस्वामी नामक नैयायिकका मत भी पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करते हैं। परन्तु जब हम ध्यानसे देखते हैं तो उनके पूर्वपक्षमें प्रशस्तपादव्योमवतीके शब्द स्पष्टतया अपनी छाप मारते हुए नजर आते हैं। (तुलना-तत्त्वसंग्रह पृ० २०६ तथा व्योमवती पृ० ३४३) तत्त्वसंग्रहकी पंजिका (पृ० २०६) में व्योमवती (पृ० १२९) के स्वकारणसमवाय तथा सत्तासमवायरूप उत्पत्तिके लक्षणका उल्लेख है। शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशीलका समय ई० की आठवीं शताब्दिका पूर्वार्द्ध है। (देखो, तत्त्वसंग्रहकी भूमिका पृ० १०११)

विद्यानन्द आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा (पृ० २६) में व्योमवती टीका (पृ० १०७) से समवायके लक्षणकी समस्त पदवृत्त उद्धृत की है। 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यका लक्षण है' व्योमवती (पृ० १४९) के इस मन्तव्यकी समालोचना भी आप्तपरीक्षा (पृ० ६) में की गई है। विद्यानन्द ईसाकी नवम शताब्दीके पूर्वार्द्धवर्ती है।

जयन्तकी न्यायमजरी (पृ० २३) में व्योमवती (पृ० ६२१) के अनर्थजत्वात् स्मृतिको अप्रमाण माननेके सिद्धान्तका समर्थन किया है, साथही पृ० ६५ पर व्योमवती (पृ० ५५६) के फलविशेषणपक्षको स्वीकारकर कारकसामग्रीको प्रमाणमाननेके सिद्धान्तका अनुसरण किया है। जयन्तका समय हम आगे ईसाकी ९ वीं शताब्दीका पूर्वभाग सिद्ध करेंगे।

वाचस्पति मिश्र अपनी तात्पर्यटीकामें (पृ० १०८) प्रत्यक्षलक्षणसूत्रमें 'यत्' पदका अध्याहार करते हैं तथा (पृ० १०२) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं। व्योमवतीटीकामें (पृ० ५५६) 'यत्' पदका प्रयोग प्रत्यक्षलक्षणमें किया है तथा (पृ० ५६१) लिंगपरामर्श ज्ञानको उपादानबुद्धि भी कहा है। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ A D है।

प्रभाचन्द्र आचार्यने भोक्षनिरूपण ( प्रमेयकमलभारतपंड पृ० ३०७ ) आत्मस्वरूपनिरूपण (न्याय-कुमुदचन्द्र पृ० ३४९, प्रमेयकमलमा० पृ० ११०) समवायलक्षण (न्यायकुमु० पृ० २९५, प्रमेयकमलमा० पृ० ६०४) आदिमें व्योमवती ( पृ० २०, ३९३, १०७ ) का पर्याप्त सहारा लिया है। स्वसवेदनसिद्धिमें व्योमवतीके ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादका खडन भी किया है।

श्रीधर तथा उदयनाचार्यने अपनी कन्दली (पृ० ४) तथा किरणावलीमें व्योमवती (पृ० २० क) के 'नवानामात्मविशेषणुणाना सत्तानोऽप्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात् यथा प्रदीपसन्तान ।' इस अनुमानको 'ताविका' तथा आचार्या' शब्दके साथ उद्धृत किया है। कन्दली (पृ० २०) में व्योमवती (पृ० १४९) के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवाय द्रव्यत्वेन योग' इस मतकी आलोचना की गई है। इसी तरह कन्दली (पृ० १८) में व्योमवती (पृ० १२९) के अनित्यत्व तु प्रागभावप्रध्वत्ताभावोपलक्षिता वस्तुसत्ता ।' इस अनित्यत्वके लक्षणका खण्डन किया है। कन्दली (पृ० २००) में व्योमवती (पृ० ५९३) के 'अनुमान लक्षणमें विद्याके सामान्यलक्षणकी अनुवृत्ति करके सशयादिका व्यवच्छेद करना तथा स्मरणके व्यवच्छेदके लिये 'ब्रह्मादिपु उत्पद्यते' इस पदका अनुवर्तन करना' इन दो मतोंका समालोचन किया है। कन्दलीकार श्रीधरका समय कन्दलीके अन्तमें दिए गए "अधिकदशोत्तरनवशतशकाब्दे" पदके अनुसार ९१३ शक अर्थात् ९९१ ई० है। और उदयनाचार्यका समय ९८४ ई० है।

वादिराज अपने न्यायविनिश्चय विवरण (लिखित पृ० १११ B. तथा १११ A.) में व्योमवतीसे पूर्वपक्ष करते हैं। वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ३१८ तथा ४१८) में पूर्वपक्षरूपसे व्योमवतीका उद्धरण देते हैं।

सिद्धादि न्यायावतारवृत्ति (पृ० ९) में, हेमचन्द्र प्रमाणमीमांसा (पृ० ७) में तथा गुणरत्न अपनी पद्धांसमुच्चयकी वृत्ति (पृ० ११४ A.) में व्योमवतीके प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम रूप

प्रमाणत्रित्वकी वैशेषिकपरम्पराका पूर्वपक्ष करते हैं। इस तरह व्योमवतीकी सक्षिप्त तुलनासे ज्ञात हो सकता है कि व्योमवतीका जैनग्रन्थोसे विदिष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम व्योमशिवका समय दिला लेख तथा उनके ग्रन्थके उल्लेखोंके आधारे ईस्वी सातवीं शताब्दीका उत्तर भाग अनुमान करते हैं। यदि ये आठवीं या नवमीं शताब्दीके विद्वान् होते तो अपने समसामयिक शकराचार्य और शान्तरक्षित जैसे विद्वानोंका उल्लेख अवश्य करते। हम देखते हैं कि व्योमशिव शाकरवेदान्तका उल्लेख भी नहीं करते तथा विपर्यय ज्ञानके विषयमें बलौकिक वक्ष्याति, स्मृतिप्रमोप आदिका खण्डन करने पर भी शकरके अनिवर्धनीयार्थस्थातिवादका नाम भी नहीं लेते। व्योमशिव जैसे बहुश्रुत एक संकडा मतमनान्तरोंका उल्लेख करनेवाले आचार्योंके द्वारा किसी भी अष्टम शताब्दी या नवम शताब्दीवर्ती आचार्योंके मतका उल्लेख न किया जाना ही उनके सप्तम शताब्दीवर्ती होनेका प्रमाण है।

अतः डॉ० कीयका इन्हे नवमीं शताब्दीका विद्वान् लिखना तथा डॉ० ए० ए० दासगुप्ताका इन्हे छठीं शताब्दीका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं जैचता।

**श्रीधर और प्रभाचन्द्र**—प्रशस्तपाद भाष्यकी टीकाओंमें न्यायकन्दली टीकाका भी अपना अछ्छा स्थान है। इसकी रचना श्रीधरने शक ६१३ ( ई० ६६१ ) में की थी। श्रीधराचार्य अपने पूर्व टीकाकार व्योमशिवका शब्दानुसरण करते हुए भी उनसे मतभेद प्रदर्शित करनेमें नहीं चूकते। व्योमशिव बुद्धादि विशेष गुणोंकी सन्ततिके अत्यन्तोच्छेदको मोक्ष कहते हैं और उसकी सिद्धिके लिए 'सन्तानत्वात्' हेतुका प्रयोग करते हैं (प्रश० व्यो० पृ० २० क)। श्रीधर आत्वान्तिक अहितनिवृत्तिको मोक्ष मानकर भी उसकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त होनेवाले 'सन्तानत्वात्' हेतुको पार्थिवपरमाणुकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताते हैं (कन्दली पृ० ४)। आ० प्रभाचन्द्रने भी वैशेषिकोकी मुक्तिका खण्डन करते समय न्यायकुमुद० (पृ० ८२६) और प्रमेयकमल० (पृ० ३१८) में 'सन्तानत्वात्' हेतुको पाकजपरमाणुओंकी रूपादिसन्तानसे व्यभिचारी बताया है। इसी तरह और भी एकाधिकस्थलोंमें हम कन्दलीकी आभा प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर देखते हैं।

**वात्सायन और प्रभाचन्द्र**—न्यायसूत्रके ऊपर वात्सायनकृत न्यायभाष्य उपलब्ध है। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी समझा जाता है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें इनके न्यायभाष्यका कहीं न्यायभाष्य और कहीं भाष्य शब्दसे उल्लेख किया है। वात्सायनका नाम न लेकर सर्वत्र न्यायभाष्यकार और भाष्यकार शब्दोंमें ही इनका निर्देश किया गया है।

**उद्योतकर और प्रभाचन्द्र**—न्यायसूत्रके ऊपर न्यायवार्तिक ग्रन्थके रचयिता आ० उद्योतकर ई० ६ वीं सदी, अन्ततः सातवीं सदीके पूर्वपादके विद्वान् हैं। इन्होंने दिब्बागके प्रमाण-समुच्चयके खंडनके लिए न्यायवार्तिक बनाया था। इनके न्यायवार्तिकका खंडन धर्मकीर्ति ( ई० ६३५ के बाद ) ने अपने प्रमाणवार्तिकमें किया है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सृष्टिकर्त्तृच प्रकरणके पूर्वपक्षमें (पृ० २६८) उद्योतकरके अनुमानोंको 'वार्तिकारेणापि' शब्दके साथ उद्धृत किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें एकाधिकस्थानोंमें 'उद्योतकर' का नामोल्लेख करके न्यायवार्तिकसे पूर्वपक्ष किए गए हैं। न्यायकुमुदचन्द्रके षोडशपदार्थवादका पूर्वपक्ष भी उद्योतकरके न्यायवार्तिकसे पर्याप्त पुष्टि पाया है। "पूर्ववच्छेषवत्" आदि अनुमानसूत्रकी वार्तिकारकृत

विविध व्याख्याएँ भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खंडित हुई हैं। वार्तिककारकृत साधकतमत्वका “भावाभावयोस्तद्वत्ता” यह लक्षण प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें प्रमाणरूपसे उद्धृत है।

भट्ट जयन्त और प्रभाचन्द्र—भट्टजयन्त जरन्नेयायिकके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्यायसूत्रोंके आधारसे न्यायकलिका, और न्यायमञ्जरी ग्रन्थ लिखे हैं। न्यायमञ्जरी तो कतिपय न्यायसूत्रोंकी विशद व्याख्या है। अब हम भट्टजयन्तके समयका विचार करते हैं—

जयन्तकी न्यायमञ्जरीका प्रथम संस्करण विजयनगर सीरीजमें सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ है। इसके सपादक म० म० गंगाधर शास्त्री मानवल्ली हैं। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि—“जयन्तभट्टका गणेशोपाध्यायने उपमानचिन्तामणि (पृ० ६१) में जरन्नेयायिक शब्दसे उल्लेख किया है, तथा जयन्तभट्टने न्यायमञ्जरी (पृ० ३१२) में वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्य टीकासे “जात च सम्बद्ध चेत्येकः कालः” यह वाक्य ‘आचार्य’ करके उद्धृत किया है। अतः जयन्तका समय वाचस्पति (841 A. D.) से उत्तर तथा गणेश (1175 A. D.) से पूर्व होना चाहिये।” इन्हींका अनुसरण करके न्यायमञ्जरीके द्वितीय संस्करणके संपादक प० सूर्यनारायणजी शुक्लने, तथा ‘संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास’के लेखकोंने भी जयन्तको वाचस्पतिका परवर्ती लिखा है। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण भी उक्त वाक्यके आधार पर इनका समय ९ वीसे ११ वीं शताब्दी तक मानते थे। अतः जयन्तकी वाचस्पतिका उत्तरकालीन माननेकी परम्पराका आधार म० म० गंगाधर शास्त्री द्वारा ‘जात च सम्बद्ध चेत्येकः कालः’ इस वाक्यको वाचस्पति मिश्रका लिख देना ही मालूम होता है। वाचस्पति मिश्रने अपना समय ‘न्यायसूचीनिबन्ध’ के अंतमें स्वयं दिया है। यथा—

“न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि सुधियां मुदे । श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वकवसुवत्सरे ।”

इस श्लोकमें ८९८ वत्सर लिखा है।

म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसादजीने ‘वत्सर’ शब्दसे शकसंवत् लिया है। डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण विग्रहम वत्स लेते हैं। म० म० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि ‘तात्पर्यटीकाकी परिशुद्धिटीका बनानेवाले आचार्य उदयनने अपनी ‘लक्षणवाली’ शक स० ९०६ (984 A. D.) में समाप्तकी है। यदि वाचस्पतिका समय शक स० ८९८ माना जाता है तो इतनी जल्दी उस पर परिशुद्धि जैसी टीका बन जाना संभव मालूम नहीं होता।

अतः वाचस्पति मिश्रका समय विक्रम संवत् ८९८ (841 A. D.) प्रायः सर्वसम्मत है। वाचस्पति मिश्रने वैशेषिक दर्शनको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। सर्वप्रथम इन्होंने मडनमिश्रके विधिबिबेक पर ‘न्यायदर्शनिका’ नामकी टीका लिखी है, क्योंकि इसके दूसरे अन्धोंमें प्रायः इसका निर्देश है। उसके बाद मडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिकी व्याख्या ‘ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा’ तथा तत्त्वविन्दु; इन दोनों ग्रन्थोंका निर्देश तात्पर्य-टीकामें मिलता है, अतः उनके बाद ‘तात्पर्य टीका’ लिखी गई। तात्पर्य टीकाके साथही ‘न्यायसूची-निबन्ध’ लिखा होगा, क्योंकि न्यायसूत्रोंका निर्णय तात्पर्य-टीकामें अत्यन्त अपेक्षित है। ‘साध्यतत्त्वकौमुदी’ में तात्पर्य टीका उद्धृत है, अतः तात्पर्य टीकाके बाद ‘साध्यतत्त्वकौमुदी’ की रचना हुई। योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीकामें ‘साध्यतत्त्वकौमुदी’ का निर्देश है, अतः निर्दिष्ट कौमुदीके बाद ‘तत्त्ववैशारदी’ रची गई। और इन सभी ग्रन्थोंका ‘भामती’ टीकामें निर्देश होनेसे ‘भामती’ टीका सबके अन्तमें लिखी गई है।

ॐ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १४६।

† न्यायवार्तिक भूमिका, पृ० १४५।

‡ हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन लाजिक, पृ० १३३।

§ हिस्ट्री एंड विन्लोप्राफी ऑफ दि न्याय-वैशेषिक Vol. III, पृ० १०१।

जयन्त वाचस्पति मिश्रके समकालीन वृद्ध हैं—वाचस्पति मिश्र अपनी आद्यकृति 'न्याय-कणिका' के मङ्गलाचरणमें न्यायमञ्जरीकारको बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। यथा:—

'अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यामञ्जरीं रुचिराम् । प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे ॥'

अर्थात्—जिनने अज्ञानतिमिरका नाश करनेवालो, प्रतिवादियोका दमन करनेवाली, रुचिर न्यायमञ्जरीको जन्म दिया उन समर्थ विद्यातरु गुरुको नमस्कार हो ।

इस श्लोकमें स्मृत 'न्यायमञ्जरी' भट्ट जयन्तकृत न्यायमञ्जरी जैसी प्रसिद्ध 'न्यायमञ्जरी' ही होनी चाहिये। अभी तक कोई दूसरी न्यायमञ्जरी तो सुनने में भी नहीं आई। जब वाचस्पति जयन्तको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब जयन्त वाचस्पति के उत्तरवाचीन कैसे हो सकते हैं। यद्यपि वाचस्पतिने तात्पर्य-टीकामें 'त्रिलोचनगुरुनीत' इत्यादि पद देकर अपन गुरुरूपसे 'त्रिलोचन' का उल्लेख किया है, फिर भी जयन्तको उनके गुरु अथवा गुरुसम होने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि एक व्यक्तिके अनेक गुरु भी हो सकते हैं।

अभी तक 'जातञ्च सम्बद्ध चेत्येकः काल' इस वचनके आधार पर ही जयन्तको वाचस्पतिको उत्तरकालीन माना जाता है। पर, यह वचन वाचस्पतिकी तात्पर्य-टीकाका नहीं है, किन्तु न्यायवातिककार श्री उद्योतकरका है (न्यायवातिक पृ० २३६), जिस न्यायवातिक पर वाचस्पतिकी तात्पर्यटीका है। इनका समय धर्मकीर्तिसे पूर्व होना निविवाद है।

म० म० गोपीनाथ कविराज अपनी 'हिस्त्री एण्ड बिन्डोप्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर' में लिखते हैं कि—'वाचस्पति और जयन्त समकालीन होने चाहिए, क्योंकि जयन्तके ग्रन्थों पर वाचस्पतिकी कोई असर देखने में नहीं आता।' 'जातञ्च' इत्यादि वाक्यके विषय में भी उन्होंने सन्देह प्रकट करते हुए लिखा है कि—'यह वाक्य किसी पूर्वार्च्य का होना चाहिये।' वाचस्पतिके पहले भी शंकरस्वामी आदि नैयायिक हुए हैं, जिनका उल्लेख तत्त्वसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने जयन्तको वाचस्पतिको उत्तरकालीन मानकर न्यायञ्जरी (पृ० १२०) में उद्धृत 'यत्नेनानुमितोऽव्ययं' इस पद्यको टिप्पणीमें 'भामती' टीकाका लिल दिया है। पर वस्तुतः यह पद्य वाक्यपदीय (१-३४) का है और न्यायमञ्जरी की तरह भामती टीकामें भी उद्धृत ही है, मूलका नहीं है।

न्यायमूलके प्रत्यक्ष-लक्षणसूत्र (१-१-४) की व्याख्यामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—'व्यवसायात्मक' पदसे सविकल्पक प्रत्यक्षका ग्रहण करना चाहिये तथा 'अव्यपदेश्य' पदसे निविकल्पक ज्ञानका। संशयज्ञानका निराकरण तो 'अव्यभिचारी' पदसे ही ही जाता है, इसलिये संशयज्ञानका निराकरण करना 'व्यवसायात्मक' पदका मुख्य कार्य नहीं है। यह बात में 'गुरुनीत मार्ग' का अनुगमन करके कह रहा हूँ। इसी तरह कोई व्याख्याकार 'अयमन्व' इत्यादि शब्दससूत्र ज्ञानको उभयजज्ञान कहकर उसकी प्रत्यक्षताका निराकरण करनेके लिये अव्यपदेश्य पदकी सार्थकता बताते हैं। वाचस्पति 'अयमन्व' इस ज्ञानको उभयजज्ञान न मानकर ऐन्द्रियक कहते हैं। और वह भी अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट इस भाषाके आधार पर—

शब्दजत्वेन शब्दञ्चेत् प्रत्यक्ष चाक्षजत्वतः । स्पष्टग्रहरूपत्वात् युक्तमैन्द्रियकं हि तत् ॥

इसलिये वे 'अव्यपदेश्य' पदका प्रयोजन निविकल्पका संग्रह करना ही बतलाते हैं।

न्यायमञ्जरी (पृ० ७८) में 'उभयजज्ञानका व्यवच्छेद करना अव्यपदेश्यपदका कार्य है' इस मतका 'आचार्याः' इस शब्दके साथ उल्लेख किया गया है। उसपर व्याख्याकारकी अनुपपत्ति दिखाकर न्यायमञ्जरीकारने उभयजज्ञानका खंडन किया है।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने इस 'आचार्या' पदके नीचे 'तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रा' यह टिप्पणी की है। यहाँ यह विचारणीय है कि—यह मत वाचस्पति मिश्र का है या अन्य किसी पूर्वोक्तार्थका। तात्पर्य टीका (पृ० १४८) में तो स्पष्ट ही उभयजज्ञान नहीं मानकर उसे ऐन्द्रियक कहा है। इसलिये वह मत वाचस्पतिका तो नहीं है। व्योमवती\* टीका (पृ० ५५५) में उभयजज्ञानका स्पष्ट समर्थन है, अतः यह मत व्योमशिवाचार्यका हो सकता है। व्योमवतीमें न केवल उभयजज्ञानका समर्थन ही है किन्तु उसका व्यवच्छेद भी अव्यपदेश्य पदसे किया है। हाँ, उसपर जो व्याख्याकार की अनुपपत्ति है वह कदाचित् वाचस्पतिकी तरफ लगे सकती है, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि वाचस्पतिन अपने गुरुकी जिस गाथाके अनुसार उभयजज्ञानको ऐन्द्रियक माना है, उससे साफ मालूम होता है कि वाचस्पतिके गुरुके सामने उभयजज्ञानको माननेवाले आचार्य (संभवतः व्योमशिवाचार्य) की परम्परा थी, जिसका खण्डन वाचस्पतिके गुरुने किया। और जिस खण्डनको वाचस्पतिने अपने गुरुकी गाथाका प्रमाण देकर तात्पर्य टीकामें स्थान दिया है।

इसी तरह तात्पर्य टीकाम (पृ० १०२) 'यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाद्बुद्धयः फलम्' इस भाष्यका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्रन उपादेयताज्ञानको 'उपादान' पदसे लिया है और उसका क्रम भी 'तीयालोचन, तोयविकल्प, द्रष्टतज्जातीयसंस्कारोद्बोध, स्मरण, 'तज्जातीयञ्चेदम्' इत्याकारपरामर्श, इत्यादि बताया है।

न्यायमजरी (पृ० ६६) म इसी प्रकारमें शङ्का की है कि—प्रथम आलोचन ज्ञानका फल उपादानादिबुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें कई क्षणोंका व्यवधान पड़ जाता है? इसका उत्तर देते हुए मजरीकारने 'आचार्या' शब्द लिखकर उपादेयताज्ञानको उपादानबुद्धि कहते हैं? इस मतका उल्लेख किया है। इस 'आचार्या' पद पर भी म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने 'न्यायवार्तिक तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रा' ऐसा टिप्पण किया है। न्यायमजरीके द्वितीय संस्करणके सपादक प० सूर्यनारायणजी न्यायाचार्यने भी उन्हींका अनुसरण करके उसे बड़े टाइपमें हेडिंग देकर छपाया है। मजरीकारने इस मतके बाद भी एक व्याख्याताका मत दिया है जो इस परामर्शात्मक उपादेयता ज्ञानको नहीं मानता। यहाँ भी यह विचारणीय है कि—यह मत स्वयं वाचस्पतिका है या उनके पूर्ववर्ती उनके गुरुका? यद्यपि यहाँ उन्होंने अपने गुरुका नाम नहीं लिया है, तथापि जब व्योमवती† जैसे प्रगल्भपदकी प्राचीन टीका (पृ० ५६१) में इसका स्पष्ट समर्थन है, तब इस मतकी परम्परा भी प्राचीन ही मानना होगी। और 'आचार्या' पदसे वाचस्पति न लिए जाकर व्योमशिव जैसे कोई प्राचीन आचार्य लेना होगा। मालूम होता है म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने "जातञ्च सम्बद्धञ्चेत्येक काल" इस वचनको वाचस्पतिका माननेके कारण ही उक्त दो स्थलों में 'आचार्या' पद पर 'वाचस्पतिमिश्रा' ऐसी टिप्पणी कर दी है, जिसकी परम्परा चलती रही। हाँ, म० म० गोपीनाथ कविराजने अवश्य ही उसे सन्देह कोटिमें रखा है।

भट्ट जयन्तक्री समयावधि—जयन्त मजरीमें धर्मकीतिके मतकी समालोचनाके साथ ही साथ उनके टीकाकार धर्मोत्तरकी आदिवाक्यकी चर्चाको स्थान देते हैं। तथा प्रज्ञाकरगुप्तके 'एकमेवेद ह्यविद्याद-

\* 'न, इन्द्रियसहकारिणा शब्देन यज्जन्यते तस्य व्यवच्छेदाद्यैवात, तथा हाङ्कृतसमयो रूप पश्यन्नपि चक्षुषा रूपमिति न जानीते रूपमितिशब्दोच्चारणानन्तर प्रतिपद्यत इत्युभयज ज्ञानम्, ननु च शब्देन्द्रिययोरेकस्मिन् काले व्यापाराजसम्भवाद्युक्तमेतत् । तथाहि मनसाधिष्ठितं न श्रोत्र शब्द ग्लूणाति पुन क्रिया क्रमेण चक्षुषा सम्बन्धे सति रूपग्रहणम् । न च शब्दज्ञानस्यैनादकालमवस्थान सम्भवतीति कथमुभयज ज्ञानम् ? अत्रैवा श्रोत्रसम्बद्धे मनसि क्रियोन्मत्ता विभागमारभते तत स्वज्ञानसहायशब्दसहकारिणा चक्षुषा रूपज्ञानमुत्पद्यते इत्युभयज ज्ञानम् । यदि वा भवत्येवोभयज ज्ञानम् "—प्रश० व्यो० पृ० ५५५ ।

† "द्रव्यादिजातीयस्य पूर्वं मुखदुःखसाधनत्वोपलब्धं तज्ज्ञानानन्तरं यद्यत् द्रव्यादिजातीयं तत्तत्-मुखसाधनमित्यविनाभावस्मरणम्, तथा चेद द्रव्यादिजातीयमिति परामर्शज्ञानम्, तस्मात् मुखसाधनमिति विनिश्चयं तत उपादेयज्ञानम्" —प्रश० व्यो० पृ० ५६१ ।

घनेकाकारविबर्त्सं पश्याम तत्र पयेष्ट सता क्रियन्ताम् ( भिक्षु राहुलजीवी वातिकालकारकी प्रेसकापी पृ० ४२९ ) इस वचनका खडन करते हैं, ( न्यायमजरी पृ० ७४ ) ।

भिक्षु राहुलजीन टिबेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार धर्मकीतिवा समय ई० ६२५, प्रहाकरगुप्तका ७००, धर्मोत्तर और रविगुप्तका ७२५ ईस्वी लिखा है । जयन्तन एव जगह रविगुप्तका भी नाम लिया है । अत जयन्तकी पूर्वावधि ७६० A D तथा उत्तरावधि ८४० \ D होनी चाहिए । क्योंकि वाचस्पतिका न्यायसूचीनिबन्ध ८४१ A D में बनाया गया है इसके पहिले भी वे ब्रह्मसिद्धि, तत्त्वविदु और ता पर्यटीका लिखचुके हैं । सभव है कि वाचस्पतिने अपनी आद्यकृति न्यायकणिका ८१५ ई० के आसपास लिखी हो । इस न्यायकणिका में जयन्तकी न्यायमजरीका उल्लेख होनसे जयन्तकी उत्तरावधि ८४० A D ही मानना समुचित ज्ञात होता है । यह समय जयन्तके पुत्र अभिनन्द द्वारा दी गई जयन्तकी पूर्वजावलीसे भी सगत बैठता है । अभिनन्द अपने कादम्बरी कथासारमें लिखते हैं कि—

“भारद्वाज कुलमें शक्ति नामका गौड ब्राह्मण था । उसका पुत्र मित्र, मित्रका पुत्र शक्तिस्वामी हुआ । यह शक्तिस्वामी कर्कोटवशके राजा मुक्तापीड ललितादित्यके मंत्री थे । शक्तिस्वामीके पुत्र कल्याणस्वामी कल्याणस्वामीके पुत्र चन्द्र तथा चन्द्रके पुत्र जय त हुए जो नववृत्तिकारके नामसे मशहूर थे । जयन्तके अभिनन्द नामका पुत्र हुआ ।

कासमीरके कर्कोट वशीय राजा मुक्तापीड ललितादित्यका राज्य काल ७३३ से ७६८ A D तक रहा है। शक्तिस्वामी के, जो अपनी प्रौढ अवस्थामें मंत्री होंगे अपन मन्त्रित्वकालके पहिले ही ई० ७२० में कल्याणस्वामी उत्पन्न हो चुके होंगे । इसके अनन्तर यदि प्रत्येक पीढीका समय २० वर्ष भी मान लिया जाय तो कल्याण स्वामीके ईस्वी सन ७४० में चन्द्र, चन्द्रके ई० ७६० में जयन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने ईस्वी ८०० तकमें अपनी न्यायमजरी बनाई होगी । इसलिय वाचस्पतिके समयमें जयन्त वृद्ध होंगे और वाचस्पति इन्हे आदर की दृष्टिसे देखते होंगे । यही कारण है कि उन्होंने अपनी आद्यकृतिमें न्यायमजरीकारका स्मरण किया है ।

जयन्तके इस समयका समर्थक एक प्रबल प्रमाण यह है कि—हरिभद्रमूर्तिन अपन पददर्शनसमुच्चय (श्लो० २०) में न्यायमजरी ( विजयानगर स० पृ० १२९ ) के

“गम्भीरगजितारम्भनिभिन्नगिरिगृह्वरा । रोलम्बगवलघ्यालतमालमलिनदिवष ॥

स्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गविशङ्कोत्तुङ्गविषहा । वृष्टि व्यभिचरन्तोह नैवप्राया पयोमुच ॥”

इन दो श्लोकाके द्वितीय पादोको जैसाका तैसा शामिल कर लिया है । प्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ मुनि जिन विजयजीन जैन साहित्यसंशोधक (भाग १ भव १) में अनेक प्रमाणोंसे सासकर उद्योतनमूर्तिकी कुचलय माला कथामें हरिभद्रका गुरुरूपमें उल्लेख होनेके कारण हरिभद्रका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है । कुचलयमाला कथाकी समाप्ति शक ७०० (ई० ७७८) में हुई थी । भेरा इस विषयमें इतना संशोधन है कि उस समयकी आयु स्थिति देखते हुए हरिभद्रकी निर्धारित आयु स्वल्प मालूम होती है । उनके समयकी उत्तरावधि ई० ८१० तक माननेसे वे न्यायमजरीको देख सकेंगे । हरिभद्र जैसे संकडों प्रकरणोंके रचयिता विद्वानके लिए १०० वष जीना अस्वाभाविक नहीं हो सकता । अत ई० ७१० से ८१० तक समयवाले हरिभद्रमूर्तिके द्वारा न्यायमजरीके श्लोकोका अपन ग्रन्थमें शामिल किया जाना जयन्तके ७६० से ८४० ई० तकके समयका प्रबल साधक प्रमाण है ।

आ० प्रभाचन्द्रने वात्सायनभाष्य एव न्यायवार्तिककी अपेक्षा जयन्तकी न्यायमजरी एव न्यायकणिकाका ही अधिक परिशीलन एव समुचित उपयोग किया है । षोडशपदार्थके निरूपणमें जयन्तकी न्यायमजरीके ही शब्द अपनी आमा दिखाते हैं । प्रभाचन्द्रको न्यायमजरी स्वभ्यस्त

थी। वे कहीं कहीं मंजरीके ही शब्दोंको 'तथा चाह भाष्यकारः' लिखकर उद्धृत करते हैं। भूतचैतन्य-वादके पूर्वपक्षमें न्यायमञ्जरी मे 'अपि च' करके उद्धृत की गई १७ कारिकाएँ न्यायकुमुदचन्द्रमें भी ज्योकी त्यों उद्धृत की गई हैं। जयन्तके कारकसाकल्यका सर्वप्रथम खण्डन प्रभाचन्द्रने ही किया है। न्यायमञ्जरीकी निम्नलिखित तीन कारिकाएँ भी न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत की गई हैं। (न्यायकुमुद० पृ० ३३६) "त्रातं सम्यगसम्यग्ना यन्मोक्षाय भवाय वा।

तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमाप्रकम् ॥" [न्यायमं० पृ० ४४७]

(न्यायकुमुद० पृ० ४६१) "भूयोऽवयवसमान्वययोगो यद्यपि मन्यते।

सादृश्यं तस्य तु ज्ञप्तिः गृहीते प्रतियोगिनि ॥" [न्यायमं० पृ० १४६]

(न्यायकुमुद० पृ० ५११) "तन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिनः संगतिग्रहः।

भावेनाभावसिद्धौ तु कथमेतद्भविष्यति ॥" [न्यायमं० पृ० ३८]

इस तरह न्यायकुमुदचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें न्यायमञ्जरीका नाम लिखा जा सकता है।

**वाचस्पति और प्रभाचन्द्र**—पण्डितदर्शनटीकाकार वाचस्पतिने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ई० ८४१ मे समाप्त किया था। इनने अपनी तात्पर्यटीका (पृ० १६५) में साख्यो के अनुमान के मात्रामात्रिक आदि सात भेद गिनाए हैं और उनका खण्डन किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४६२) में भी साख्योके अनुमानके इन्हीं सात भेदोके नाम निर्दिष्ट है। वाचस्पतिने शाकरभाष्यकी भामती टीकामें अत्रिद्यासे अत्रिद्याके उच्छेद करने के लिए "यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति..." इत्यादि दृष्टान्त दिए हैं। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ६६) में इन्हीं दृष्टान्तों को पूर्वपक्ष मे उपस्थित किया है। न्यायकुमुदचन्द्रके विधिवादके पूर्वपक्षमे त्रिधिविके के साथही साथ उसकी वाचस्पतिकृत न्यायकारिका टीकाका भी पर्याप्त सादृश्य पाया जाता है। वाचस्पतिने उक्त ई० ८४१ समयका साधक एक प्रमाण यह भी है कि इन्होंने तात्पर्यटीका (पृ० २१७) में शान्तरक्षितके तरंगसंग्रह (श्लो० २००) से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है— "नर्त्तकीभ्रूलताक्षेपो न हेरुः पारमार्थिकः। अनेकाणुसमूहत्वात् एकत्वं तस्य कल्पितम् ॥" शान्तरक्षितका समय ई० ७६२ है।

**शबर ऋषि और प्रभाचन्द्र**—जेमिनिसूत्र पर शबरभाष्य लिखने वाले महर्षि शबरका समय ईसाकी तीसरी सदी तक समझा जाता है। शबरभाष्यके ऊपर ही कुमारिल और प्रभाकर ने व्याख्याएँ लिखी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने शब्दनिवृत्तवाद, वेदापौरुषेयत्ववाद आदिमें कुमारिल के श्लोकार्तिरुके साथ ही साथ शबरभाष्य की दलीलो को भी पूर्वपक्षमे रखा है। शबरभाष्य से ही "गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" यह उपवर्ष ऋषि का मत प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६४) में उद्धृत किया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २७६) मे शब्दको वायवीय माननेवाले शिक्षाकार मीमांसकोका मत भी शबरभाष्यसे ही

उद्धृत हुआ है। इसके सिवाय न्यायकुमुदचन्द्र में शाबरभाष्यके कई वाक्य प्रमाणरूपमें और पूर्णपक्ष में उद्धृत किए गए हैं।

**कुमारिल और प्रभाचन्द्र**—भट्टकुमारिलने शाबरभाष्य पर मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका नामकी व्याख्या लिखी है। कुमारिलने अपने तन्त्रवार्तिक ( पृ० २५१-२५३ ) में वाक्यपदीयके निम्नलिखित श्लोककी समालोचना की है—

“अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् ।

अपूर्वदेयतास्वर्गः सममाहुर्गवादिषु ॥” [वाक्यप० २।१२१]

इसी तरह तन्त्रवार्तिक ( पृ० २०६-१० ) में वाक्यपदीय ( १।७ ) के “तत्त्वावबोध शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते” अश उद्धृत होकर खंडित हुआ है। मीमांसाश्लोकवार्तिक ( वाक्याधिकरण श्लो० ५१ ) में वाक्यपदीय ( २।१-२ ) में निर्दिष्ट दशविध या अष्टविध वाक्यलक्षणोंका समालोचन किया गया है। भर्तृहरिके स्फोटवादकी आलोचना भी कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकके स्फोटवादमें बड़ी प्रखरतासे की है। चीनी यात्री ईत्सिंगने अपने यात्रा-विवरणमें भर्तृहरिका मृत्युसमय ई० ६५० बताया है। अतः भर्तृहरिके समालोचक कुमारिलका समय ईस्वी ७ वीं शताब्दी का उत्तर भाग मानना समुचित है। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्गवाद, शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, आगमादि-प्रमाणोंका विचार, प्रामाण्यवाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकसे पचासों कारिकाएँ उद्धृत कीं हैं। शब्दनित्यत्ववाद आदि प्रकरणोंमें कुमारिलकी युक्तियोंका सिलसिलेवार सप्रमाण उत्तर दिया गया है। कुमारिलने आत्माको व्यावृत्त्यनुगमात्मक या नित्यानित्यात्मक माना है। प्रभाचन्द्रने आत्माकी नित्यानित्यात्मकताका समर्थन करते समय कुमारिलकी “तस्मादुभय-हानेन व्यवृत्त्यनुगमात्मकः” आदि कारिकाएँ अपने पक्षके समर्थनमें भी उद्धृत कीं हैं। इसी तरह सृष्टिकर्तृत्वखंडन, ब्रह्मवादखंडन, आदिमें प्रभाचन्द्र कुमारिलके साथ साथ चलते हैं। साराश यह है कि प्रभाचन्द्रके सामने कुमारिलका मीमांसाश्लोकवार्तिक एक विशिष्ट ग्रन्थके रूप में रहा है। इसीलिए इसकी आलोचना भी जमकर की गई है। श्लोकवार्तिक की भट्ट उम्बेक-कृत तात्पर्यटीका अभी ही प्रकाशित हुई है। इस टीकाका आलोचन भी प्रभाचन्द्रने खूब किया है। सर्गवादमें कुछ कारिकाएँ ऐसी भी उद्धृत हैं जो कुमारिलके मौजूदा श्लोकवार्तिकमें नहीं पाई जाती। संभव है ये कारिकाएँ कुमारिलकी बृहद्गीका या अन्य किसी ग्रन्थ की हो।

**मंडनमिश्र और प्रभाचन्द्र**—आ० मंडनमिश्रके मीमांसानुक्रमणी, विधिविवेक, भावना-विवेक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका पूर्वभाग है। आचार्य विद्यानन्दने ( ई० ६ वीं शताब्दी का पूर्वभाग ) अपनी अष्टसहस्रीमें मण्डनमिश्र का नाम लिया है। यत मण्डनमिश्र अपने ग्रंथोंमें सप्तमशताब्दीकी कुमारिलका नामोल्लेख करते हैं। अतः इनका समय ई० की सप्तमशताब्दीका अन्तिमभाग तथा



८ वीं सदी का पूर्वार्ध सुनिश्चित होता है। आ० प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० १४६) में मडनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं” श्लोक उद्धृत किया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५७२) में विधिवादके पूर्वपक्ष में मडनमिश्रके विधिविवेकमें वर्णित अनेक विधिवादियोंका निर्देश किया गया है। उनके मतनिरूपण तथा समालोचन में विधिविवेक ही आधारभूत मालूम होता है।

**प्रभाकर और प्रभाचन्द्र**—शाबरभाष्यकी बृहती टीकाके रचयिता प्रभाकर करीब करीब कुमारिलके समकालीन थे। भट्टकुमारिलका शिष्य परिवार भाट्टके नामसे ख्यात हुआ तथा प्रभाकर के शिष्य प्राभाकर या गुरुमतानुयायी कहलाए। प्रभाकर विपर्ययज्ञानको स्मृतिप्रमोप या विवेकाख्याति रूप मानते हैं। ये अभावको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। वेदवाक्योका अर्थ नियोगपरक करते हैं। प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रभाकरके स्मृतिप्रमोप, नियोगवाद आदि सभी सिद्धान्तों का निस्तृत खंडन किया है।

**शालिकनाथ और प्रभाचन्द्र**—प्रभाकरके शिष्योंमें शालिकनाथना अपना विशिष्ट स्थान है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने बृहतीके ऊपर श्रुतिमाला नाम की पञ्जिका लिखी है। प्रभाकरगुरुके सिद्धान्तोंका विवेचन करनेके लिए इन्होंने प्रकरणपञ्चिका नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है। ये अन्धकारको स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते किन्तु ज्ञानानुत्पत्तिको ही अन्धकार कहते हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० २३८) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६६) में शालिकनाथके इस मतकी विस्तृत समीक्षा की है।

**शङ्कराचार्य और प्रभाचन्द्र**—आद्य शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य आदि अनेकों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय ई० ७८८ से ८२० तक माना जाता है। शाङ्करभाष्यमें धर्मकीर्तिके ‘सहोपलम्भनियमात्’ हेतुका खण्डन होनेसे यह समय समर्थित होता है। आ० प्रभाचन्द्रने शङ्करके अनिर्वचनीयार्थख्यातिवादकी समालोचना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें की है। न्यायकुमुदचन्द्रके परमब्रह्मवादके पूर्वपक्षमें शाङ्करभाष्यके आधार से ही वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोषोंका परिहार किया गया है।

**सुरेश्वर और प्रभाचन्द्र**—शङ्कराचार्यके शिष्योंमें सुरेश्वराचार्यका नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम विश्वरूप भी था। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्तिक, काशीमृतिमोक्षनिचार, नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थ बनाए हैं। आ० विद्यानन्द (ईसाकी ६ वीं शताब्दी) ने अष्टसहस्री (पृ० १६२) में बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकसे “ब्रह्माविद्यावदिष्टञ्चेन्ननु” इत्यादि वारिकाएँ उद्धृत की हैं। अतः इनका समय भी ईसाकी ६ वीं शताब्दीका पूर्वभाग होना चाहिए। ये शङ्कराचार्य (ई० ७८८ से ८२०) के साक्षात् शिष्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४४-४५)

तथा न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १४१ ) में ब्रह्मनादके पूर्वपक्षमें इनके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक (३।५।४३-४४) से “यथा विशुद्धमाकाशं” आदि दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

**भामह और प्रभाचन्द्र**—भामहका काव्यालङ्कार ग्रन्थ उपलब्ध है। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रह ( पृ० २६१ ) में भामहके काव्यालङ्कारकी अपोहखण्डन वाली “यदि गौरित्यय शब्द.” आदि तीन कारिकाओंकी समालोचनाकी है। ये कारिकाएँ काव्यलङ्कारके ६ वें परिच्छेद ( श्लो० १७-१९ ) में पाई जाती हैं। तत्त्वसंग्रहकारका समय ई० ७०५-७६२ तक सुनिर्णीत है। बौद्धसम्मत प्रत्यक्षके लक्षणका खण्डन करते समय भामहने ( काव्यालङ्कार ५।६ ) दिङ्नागके मात्र ‘कल्पनापोढ’ पदवाले लक्षणका खण्डन किया है, धर्मकीर्तिके ‘कल्पनापोढ और अभ्रान्त’ उभयविशेषणवाले लक्षणका नहीं। इससे ज्ञात होता है कि भामह दिङ्नागके उत्तरवर्ती तथा धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। अन्ततः इनका समय ईसाकी ७ वीं शताब्दी का पूर्वभाग है। आ० प्रभाचन्द्रने अपोहवादका खण्डन करते समय भामहकी अपोहखण्डन-विषयक “यदि गौरित्यय” आदि तीनों कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ४३२ ) में उद्धृत की हैं। यह भी संभव है कि ये कारिकाएँ सीधे भामहके ग्रन्थसे उद्धृत न होकर तत्त्वसंग्रहके द्वारा उद्धृत हुई हों।

**बाण और प्रभाचन्द्र**—प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरीके रचयिता बाणभट्ट, सम्राट् हर्षवर्धन ( राज्य ६०६ से ६४८ ई० ) की सभाके वरिष्ठ थे। इन्होंने हर्षचरितकी भी रचना की थी। बाण, कादम्बरी और हर्षचरित दोनों ही ग्रन्थोंको पूर्ण नहीं कर सके। इनकी कादम्बरीका आचरलोक “रजोजुपे जन्मनि सत्त्ववृत्तये” प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० २६८ ) में उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने वेदापौरुषेयत्वप्रकरणमें ( प्रमेयक० पृ० ३६३ ) कादम्बरीके कर्तृत्वके विषयमें सन्देहात्मक उल्लेख किया है—“कादम्बर्यादीना कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः”—अर्थात् कादम्बरी आदिके कर्त्ताके विषयमें विवाद है। इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रके समयमें कादम्बरी आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता विवादग्रस्त थे। हम प्रभाचन्द्रका समय आगे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध करेंगे।

**माघ और प्रभाचन्द्र**—शिशुपालबध काव्यके रचयिता माघ कविके समय ई० ६६०-६७५ के लगभग है। माघकविके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलातके मन्त्री थे। राजा वर्मलात का उल्लेख ई० ६२५ के एक शिलालेखमें विद्यमान है अतः इनके नाती माघ कविके समय ई० ६७५ तक मानना समुचित है। प्रभाचन्द्रने माघकाव्य ( १।२३ ) का “युगान्तकाल-प्रतिसहृतात्मनो...” श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ( पृ० ६८८ ) में उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्रने माघकाव्यको देखा था।

## ( अवैदिकदर्शन )

अश्वघोष और प्रभाचन्द्र—अश्वघोषका समय ईसाका द्वितीय शतक माना जाता है । इनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द दो महाकाव्य प्रसिद्ध हैं । सौन्दरनन्दमें अश्वघोषने प्रसङ्गत-बौद्धदर्शनके कुछ पदार्थोंका भी सारगर्भ विवेचन किया है । आ० प्रभाचन्द्रने शून्यनिर्वाणवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें ( प्रमेयक० पृ० ६८७ ) सौन्दरनन्दकाव्यसे निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

“दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावर्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिश न काञ्चिद्विदिश न काञ्चित्क्षेयक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥”

[ सौन्दरनन्द १६।२८, २९ ]

नागार्जुन और प्रभाचन्द्र—नागार्जुन की माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावतिनी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । ये ईसाकी तीसरी शताब्दीके विद्वान् हैं । इन्हें शून्यवादके प्रस्थापक होनेका श्रेय प्राप्त है । माध्यमिककारिकामें इन्होंने निस्तुत परीक्षाएँ लिखकर शून्यवादको दार्शनिक रूप दिया है । विग्रहव्यावतिनी भी इसी तरह शून्यवादका समर्थन करनेवाला छोटा प्रकरण है । प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० १३२ ) में माध्यमिकके शून्यवादका खडन करते समय पूर्वपक्षमें प्रमाणवार्तिककी कारिकाओंके साथ ही साथ माध्यमिककारिकासे भी ‘न स्वतो नापि परतः’ और ‘यथा मया यथा स्वप्नो’ ये दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं ।

वसुबन्धु और प्रभाचन्द्र—वसुबन्धुका अभिधर्मकोश ग्रन्थ प्रसिद्ध है । इनका समय ई० ४०० के करीब माना जाता है । अभिधर्मकोश बहुत अशोंमें बौद्धदर्शनके सूत्रग्रन्थका कार्य करता है । प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३२० ) में वैभाषिक सम्मत द्वादशज्ञ प्रतीत्यसमुत्पादका खडन करते समय प्रतीत्यसमुत्पादका पूर्वपक्ष वसुबन्धुके अभिधर्मकोशके आधारसे ही लिखा है । उसमें यथावसर अभिधर्मकोशसे २।३ कारिकाएँ भी उद्धृत कीं हैं । देखो-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३९५ ।

दिग्नाग और प्रभाचन्द्र—आ० दिग्नागका स्थान बौद्धदर्शनके विशिष्ट सस्थापकोंमें है । इनके न्यायप्रवेश, और प्रमाणसमुच्चय प्रकरण मुद्रित हैं । इनका समय ई० ४२५ के आसपास माना जाता है । प्रमाणसमुच्चयमें प्रत्यक्षका कल्पनापोड लक्षण किया है । इसमें अभ्रान्तपद धर्मकीर्तिने जोड़ा है । इन्हींके प्रमाणसमुच्चय पर धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक रचा है । भिक्षु राहुलजीने दिग्नाग के आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, और हेतुक्रकडमरु आदि ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है । आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड ( पृ० ८० ) में

‘स्तुतश्च अद्वैतादिप्रकरणानामादौ दिग्नागादिभिः सद्भिः’ लिखकर प्रमाणसमुच्चयका ‘प्रमाणभूताय’ इत्यादि मगलरलोकाश उद्धृत किया है। इसी तरह अपोहवादके पूर्वपक्ष ( प्रमेयक० पृ० ४३६ ) में दिग्नागके नामसे निम्नलिखित गद्यांश भी उद्धृत किया है—  
 “दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् ‘नीलोत्पलादिशब्दा अर्धान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः’ इत्युक्तम् ।”

**धर्मकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—बौद्धदर्शनके युगपधान आचार्य धर्मकीर्ति इसाकी ७ वीं शताब्दीमें नालन्दाके बौद्धनिघापीठके आचार्य थे। इनकी लेखनीने भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। धर्मकीर्तिने वैदिकसंस्कृति पर दृढ़ प्रहार किए हैं। यद्यपि इनका उद्धार करनेके लिए व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, उदयन आदि आचार्योंने कुछ उठा नहीं रखा। पर बौद्धोंके खडनमें जितनी कुशलता तथा सतर्कतासे जैनाचार्योंने लक्ष्य दिया है उतना अन्यने नहीं। यही कारण है कि अकलङ्क, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरी आदिके जैनन्यायशास्त्रके ग्रन्थोंका बहुभाग बौद्धोंके खडनने ही रोक रखा है। धर्मकीर्तिके विषयमें मैं विशेष ऊहापोह “अकलङ्कग्रन्थत्रय” की प्रस्तावना (पृ० १८-) में कर आया हूँ। इनके प्रमाणवार्तिक, हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाचन्द्रको गहरा अभ्यास था। इन ग्रन्थों की अनेकों कारिकाएँ, खासकर प्रमाणवार्तिक की कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें उद्धृत हैं। मालूम होता है कि सम्बन्धपरीक्षाकी अथ से इति तरु २३ कारिकाएँ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके सम्बन्धवादके पूर्वपक्ष में ज्यों की ल्यों रखी गई हैं, और खण्डित हुई हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थरलोकवार्तिक में इसकी कुछ कारिकाएँ ही उद्धृत हैं। वादन्यायका “हसति हसति स्वाभिनि” आदि श्लोक प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत है। सवेदनद्वैतके पूर्वपक्षमें धर्मकीर्तिके ‘सहोपलम्भनियमात्’ आदि हेतुओंका निर्देश कर बहुविध विकल्पजालोंसे खण्डन किया गया है। वादन्यायकी “असाधनाद्भवचनमदो पोद्गावन द्वयोः” कारिकाका और इसके निविध व्याख्यानोंका समुक्तिक उत्तर प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दिया गया है। इन सब ग्रन्थोंके अवतरण और उनसे की गई तुलना न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें देखनी चाहिए।

**प्रज्ञाकरगुप्त और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके व्याख्याकारोंमें प्रज्ञाकरगुप्तका अपना खास स्थान है। उन्होंने प्रमाणवार्तिक पर प्रमाणवार्तिकालङ्कार नामकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इनका समय भी ईसाकी ७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग और आठवींका प्रारम्भिक भाग है। इनकी प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका वार्तिकालङ्कार और अलङ्कारके नामसे भी प्रख्यात रही है। इन्हींके वार्तिकालङ्कारसे भावना विधि नियोगकी विस्तृत चर्चा विद्यानन्दके ग्रन्थों द्वारा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें अनतीर्ण हुई है। इतना विशेष है कि—विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने प्रज्ञाकरगुप्तकृत भावना विधि आदिके खडनका भी स्थान स्थान पर विशेष समालोचन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३८०) में प्रज्ञाकरके भाविकारणवाद और भूतकारणवादका उल्लेख तथा

प्रज्ञाकरका नाम देकर किया गया है। प्रज्ञाकरगुप्तने अपने इस मतका प्रतिपादन प्रमाणवार्तिककालङ्कार में ही किया है<sup>१</sup>। भिक्षु राहुलसाकृत्यायनके पास इसकी हस्तलिखित कापी है। प्रभाचन्द्रने धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह उनके शिष्य प्रज्ञाकरके वार्तिककालङ्कारका भी आलोचन किया है।

प्रभाचन्द्रने जो ब्राह्मणत्वजातिका खण्डन लिखा है, उसमें शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रहके साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिककालङ्कारका भी प्रभाव मालूम होता है। ये बौद्धाचार्य अपनी संस्कृतिके अनुसार सदैव जातिवाद पर खड्गहस्त रहते थे। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके निम्नलिखित श्लोकमें जातिवादके मद्को जडताका चिह्न बताया है—

“वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।

सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये ॥”

उत्तराध्ययनसूत्रमें ‘कम्मुणा बहणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ’ लिखकर कर्मणा जातिका स्पष्ट समर्थन किया गया है।

दि० जैनाचार्योंमें बराह्मचरित्रके कर्ता जटासिंहनन्दिने बराह्मचरित्रके २५ वें अध्यायमें ब्राह्मणत्वजातिका निरास किया है। और भी रणियेण, अमितगति आदिने जातिवादके खिलाफ थोड़ा बहुत लिखा है पर तर्कग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हम प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थोंमें जन्मना जातिका समुक्तिखण्डन यथेष्ट विस्तारके साथ पाते हैं।

**कर्णकगोमि और प्रभाचन्द्र**—प्रमाणवार्तिकके तृतीयपरिच्छेद पर धर्मकीर्तिकी खोपज्ञवृत्तिमी उपलब्ध है। इस वृत्तिपर कर्णकगोमिनी निस्तृत टीका है। इस टीकामें प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिककालङ्कारका ‘अलङ्कार’ शब्दसे उल्लेख है। इसमें मण्डनमिश्रकी ब्रह्मसिद्धिका ‘आहुर्निधातृ’ श्लोक उद्धृत है। अतः इनका समय ई० = वीं सदीका पूर्वार्ध संभव है। न्यायकुमुदचन्द्रके शब्दनित्यत्ववाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, स्फोटवाद आदि प्रकरणों पर कर्णकगोमिनी खवृत्तिटीका अपना पूरा असर रखती है। इसके अवतरण इन प्रकरणोंके टिप्पणोंमें देखना चाहिये।

**शान्तरक्षित, कमलशील और प्रभाचन्द्र**—तत्त्वसग्रहकार शान्तरक्षित तथा तत्त्वसग्रहपञ्जिकाके रचयिता कमलशील नालन्दाविश्वविद्यालयके आचार्य थे। शान्तरक्षितका समय ई० ७०५ से ७६२ तथा कमलशीलका समय ई० ७१३ से ७६३ है। शान्तरक्षितकी अपेक्षा कमलशीलकी प्रामाणिक प्रसादगुणमयी भाषाने प्रभाचन्द्रको अत्यधिक आकृष्ट किया है। यों तो प्रभाचन्द्रके प्रायः प्रत्येक प्रकरणपर कमलशीलकी पञ्जिका अपना उन्मुक्त प्रभाव रखती है पर इसके लिए पट्टपदार्थपरीक्षा, शब्दब्रह्मपरीक्षा, ईश्वरपरीक्षा, प्रकृतिपरीक्षा, शब्दनित्यत्वपरीक्षा आदि परीक्षाएँ खासतौरसे द्रष्टव्य हैं। तत्त्वसग्रहकी सर्वाङ्गपरीक्षामें कुमारिलकी पचासो कारिकाएँ उद्धृत कर पूर्णपक्ष किया गया है। इनमेंसे अनेकों कारिकाएँ ऐसी हैं जो कुमारिलके श्लोक-

१ इसके अवतरण अक्षरक ग्रन्थवृत्तिकी प्रस्तावना पृ० २७ में देलना चाहिए।

२ इन आचार्योंके ग्रन्थोंके अवतरणके लिए देखो न्यायकुमुदचक्र पृ० ७७८ टि० ९।

३ देखो तत्त्वसग्रहकी प्रस्तावना पृ० Xcvi

वार्तिकमें नहीं पाई जाती। कुछ ऐसी ही कारिकाएँ प्रभाचन्द्रके प्रमेयफलमार्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें भी उद्धृत हैं। सभ्य है कि ये कारिकाएँ कुमारिलके ग्रन्थसे न लेकर तत्प्रसंगसे ही ली गई हों। तात्पर्य यह कि प्रभाचन्द्रके आधारभूत ग्रन्थोंमें तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका अग्रस्थान पानेके योग्य है।

**अर्चट और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके हेतुविन्दु पर अर्चटकृत टीका उपलब्ध है। इसका उल्लेख अनन्तरीर्षने अपनी सिद्धिनिश्चयटीकामें अनेकों स्थलोंमें किया है। 'हेतु-लक्षणसिद्धि' में तो धर्मकीर्तिके हेतुविन्दुके साथी साथ अर्चटकृत निररणा भी खण्डन है। अर्चटका समय भी करीब ईसाकी १ वीं शताब्दी होना चाहिये। अर्चटने अपने हेतुविन्दु-विवरणमें सहकारित्व दो प्रकारका बताया है—१ एकार्थकारित्व, २ परस्परतिशयाधायकत्व। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयफलमार्तण्ड (पृ० १०) में कारकमाकल्पनादकी समीक्षा करते समय सहकारित्वके यही दो निरूपण किये हैं।

**धर्मोत्तर और प्रभाचन्द्र**—धर्मकीर्तिके न्यायविन्दु पर आ० धर्मोत्तरने टीका रची है। मित्र राहुलजी द्वारा लिखित टिवेटियन गुरुपरम्पराके अनुसार इनका समय ई० ७२५ के आसपास है। आ० प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयफलमार्तण्ड (पृ० ७) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २०) में सम्बन्ध, अभिधेय, शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनरूप अनुबन्धत्रयकी चर्चामें, जो उन्मत्तनाक्य, काकदन्तपरीक्षा, मातृनिगहोपदेश तथा सूर्यग्रहरतक्षकचूड़ारत्नालङ्कारोपदेशके उदाहरण दिए हैं वे धर्मोत्तरकी न्यायविन्दुटीका (पृ० २) के प्रभाससे अछूते नहीं हैं। इनकी शब्दरचना करीब करीब एक जैसी है। इसी तरह न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २६) में प्रत्यक्ष शब्दकी व्याख्या करते समय अक्षाश्रितवको प्रत्यक्षशब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त बताया है और अक्षाश्रितवोपलक्षित अर्थसाक्षात्कारित्व को प्रवृत्तिनिमित्त। ये प्रकार भी न्यायविन्दुटीका (पृ० ११) से अक्षरशः मिलते हैं।

**ज्ञानश्री और प्रभाचन्द्र**—ज्ञानश्रीने क्षणभगाध्याय आदि अनेक प्रकरण लिखे हैं। उदयानाचार्य ने अपने आत्मतत्त्वविवेकमें ज्ञानश्रीके क्षणभगाध्यायका नामोल्लेखपूर्वक अनुपूर्वी से खण्डन किया है। उदयनाचार्यने अपनी लक्षणात्रयी तर्काम्बराक (१०६) शक, ई० १८४ में समाप्तकी थी। अतः ज्ञानश्रीका समय ई० १८४ से पहिले तो होना ही चाहिए। मिश्र राहुल साकल्यानजीके नोट्स देखनेसे ज्ञात हुआ है कि—ज्ञानश्रीके क्षणभगाध्याय या अपोह-सिद्धिके प्रारम्भमें यह कारिका है—

“अपोहः शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु विधिनोच्यते।”

विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें भी यह कारिका उद्धृत है। आ० प्रभाचन्द्रने भी अपोहवाद के पूर्वपक्षमें “अपोहः शब्दलिङ्गाभ्या” कारिका उद्धृत की है। वाचस्पतिमिश्र (ई० ८४१) के ग्रन्थों में ज्ञानश्रीकी समालोचना नहीं है पर उदयनाचार्य (ई० १८४) के ग्रन्थोंमें है, इसलिए भी ज्ञानश्रीका समय ईसाकी १० वीं शताब्दीके बाद तो नहीं जा सकता।

**जयसिंहराशिभट्ट और प्रभाचन्द्र**—भट्ट श्री जयसिंहराशिका तत्त्वोपसंहारसिंह नामक ग्रन्थ गायकवाड सीरीजमें प्रकाशित हुआ है। इनका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दी है। तत्त्वोपसंहारग्रन्थ में प्रमाण प्रमेय आदि सभी तत्त्वोक्त बहुविध विकल्पजालसे खडन किया गया है। आ० विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपसंहारवादीका पूर्वपक्ष देखा जाता है। प्रभाचन्द्रने संशयज्ञानका पूर्वपक्ष तथा बाधकज्ञानका पूर्वपक्ष तत्त्वोपसंहार ग्रन्थसे ही किया है और उसका उतने ही विकल्पों द्वारा खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ६४८) में 'तत्त्वोपसंहारवादि' का दृष्टान्त भी दिया गया है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३३६) में भी तत्त्वोपसंहारवादीका दृष्टान्त पाया जाता है। तात्पर्य यह कि परमतके खडनमें क्वचित् तत्त्वोपसंहारवादीकृत विकल्पोंका उपयोग कर लेने पर भी प्रभाचन्द्रने स्थान स्थान पर तत्त्वोपसंहारवादीके विकल्पोंकी भी समीक्षा की है।

**कुन्दकुन्द और प्रभाचन्द्र**—दिगम्बर आचार्यों में आ० कुन्दकुन्दका विशिष्ट स्थान है। इनके सारत्रय—प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसमयसार और समयमार—के सिवाय वारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रो० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें इनका समय ईसाकी प्रथमशताब्दी सिद्ध किया है। कुन्दकुन्दाचार्यने बोधपाहुड (गा० ३७) में देवलीको आहार और निहारसे रहित बताकर कणलाहारका निषेध किया है। सूत्रप्राभृत (गा० २३-३६) में स्त्रीको प्रव्रज्याका निषेध करके स्त्रीमुक्तिका निरास किया है। कुन्दकुन्दके इस मूलमार्गका दार्शनिकरूप हम प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें केवलिनवलाहारवाद तथा स्त्रीमुक्तिवादके रूपमें पाते हैं। यद्यपि शाकटायनने अपने केवलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंमें दिगम्बरोंकी मान्यताका निस्तृत खडन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके सामने दिगम्बराचार्योंका उक्त सिद्धान्तद्वयका समर्थक विकसित साहित्य रहा है। पर आज हमारे सामने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थ ही इन दोनों मान्यताओंके समर्थकरूपमें समुपस्थित हैं। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रवचनसारकी 'जियदु य मरदु य' गाथा, भावपाहुडकी 'एगो मे सस्सदो' गाथा, तथा प्रा० सिद्धमत्तिकी 'पुवेदं वेदन्ता' गाथा उद्धृत की है। प्राकृत दशमक्तियों भी कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं।

**समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र**—आद्यस्तुतिकार स्वामी समन्तभद्राचार्यके बृहत्सव्यम्भूस्तोत्र, आत्ममीमासा, युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि इनका समय विक्रमकी पाचवीं या छठवीं शताब्दी होना चाहिए। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रमें बृहत्सव्यम्भूस्तोत्रसे "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" "मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्" "तदेव च स्यान्न तदेव" इत्यादि श्लोक उद्धृत किए हैं।

आ० विद्यानन्दने आपत्परीक्षाका उपसंहार करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखा है कि—

“श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरबोद्धवस्य  
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं पृथितपृथुपथं स्वामिमीमांसित तद्

विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यत्राक्यार्थसिद्धयै ॥१२३॥”

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रसे दीप्तरत्नोंके उद्भवके प्रोत्थानारम्भकाल-प्रारम्भिक समयमें, शास्त्रकारने, पापोका नाश करनेके लिए, मोक्षके पथको बतानेवाला तीर्थस्वरूप जो स्तन किया था और जिस स्तनकी स्वामीने मीमासा की है, उसीका विद्यानन्दने अपनी स्वल्पशक्तिके अनुसार सत्यत्राक्य और सत्यार्थकी सिद्धिके लिए विवेचन किया है ।

वे इस श्लोकमें स्पष्ट सूचित करते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ मगलश्लोकमें वर्णित जिस आत्मकी मीमासा की है उसी आत्मकी मैंने परीक्षा की है । वह मगलस्तोत्र तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रसे दीप्त रत्नोंके उद्भवके प्रारम्भिक समयमें शास्त्रकारने बनाया था । यह तत्त्वार्थशास्त्र यदि तत्त्वार्थसूत्र है तो उसका मथन करके रत्नोंके निकालनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं । यह ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोक स्वयं सूत्रकारका तो नहीं मालूम होता, क्योंकि भद्र-कलङ्कदेव और विद्यानन्दने अपने राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसका व्याख्यान नहीं किया है । यदि विद्यानन्द इसे सूत्रकारकृत ही मानते होते तो वे अग्रय ही श्लोकवार्तिकमें उसका व्याख्यान करते । इस श्लोकमें विद्यानन्दने ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोकको उस शास्त्रकारका बताया है, जिसने तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका मथन करके दीप्त रत्न निकाले थे । वे इस श्लोकको मूलसूत्रकारका नहीं मानते । परन्तु यही विद्यानन्द आत्मपरीक्षा ( पृ० ३ ) के प्रारम्भमें इसी श्लोकको सूत्रकारकृत भी लिखते हैं । यथा—

“किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—मोक्षमार्गस्य नेतारं ”

इस पक्तिमें यही श्लोक सूत्रकारकृत कहा गया है । किन्तु विद्यानन्दकी शैलीका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है कि वे अपने ग्रन्थोंमें किसी भी पूर्वाचार्यको सूत्रकार और किसी भी पूर्वग्रन्थको सूत्र लिखते हैं । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( पृ० १८४ ) में वे अकलङ्क-देवका सूत्रकार शब्दसे तथा राजवार्तिकका सूत्र शब्दसे उल्लेख करते हैं—“तेन ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचार साकारग्रहणम्’ इत्येतत्सूत्रोपात्तमुक्तं भवति । ततः, प्रत्यक्षलक्षण प्राहुः स्पष्ट साकारमञ्जसा । द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थोत्पत्तेरनुमत् ॥ ४ ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कवबोधने ।” इस अवतरणमें ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष’ वाक्य राजवार्तिक पृ० ३८ का है तथा ‘प्रत्यक्षलक्षण’ श्लोक-न्यायविनिश्चय ( श्लो० ३ ) का है । अतः मात्र सूत्रकारके नामसे ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोकको उद्धृत करनेके कारण हम ‘विद्यानन्दका झुकाव इसे मूल सूत्रकारकृत माननेकी ओर है’ यह नहीं समझ सकते । अन्यथा वे इसका व्याख्यान श्लोकवार्तिकमें अवश्य करते । अतः इस पक्तिमें सूत्रकार शब्दसे भी इन्द्ररत्नोंके उद्भवकर्ता आचार्यका ही ग्रहण करना चाहिए । ‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’ श्लोक वस्तुतः सर्वार्थसिद्धिका ही मगलश्लोक है । और यदि सम-तभद्रने इसी श्लोकके ऊपर अपनी आत्ममीमासा बनाई है, जैसा कि विद्यानन्दका उल्लेख है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं । प० मुखलालजी का यह तर्क कि—“यदि समन्तभद्र



पूज्यपादके प्राकालीन होते तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आत्ममीमासा जैसी अनूठी कृति-का उल्लेख किए बिना नहीं रहते” विचारणीय है। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाणों से किसी आचार्यके समय-का स्वतन्त्र भावसे साधन बाधन नहीं होता फिर भी विचार की एक स्पष्ट कोटि तो उपस्थित हो ही जाती है। समन्तभद्रकी आत्ममीमासाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित “विरूपकार्यारम्भाय” आदि कारिकाओके पूर्वपक्षों की समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने समस्त दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्धदर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।

हेतुविन्दुके अर्चटकृत विवरणमें समन्तभद्रकी आत्ममीमासाकी “द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः” कारिकाके खडन करनेवाले ३०-३५ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। ये श्लोक समस्त धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थके हों। अर्चटका समय ६ वीं सदी है। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें समन्तभद्रकी “घटमौलिसुवर्णार्थी” कारिकाके प्रतिच्छायाभूत निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

“वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा । तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्भस्तु त्रयात्मकम् । न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥

स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥” [ मी० श्लो० पृ० ६१६ ]

कुमारिलका समय ईसाकी ७ वीं सदी है। अतः समन्तभद्रकी उत्तरावधि तो सातवीं सदी सुनिश्चित है। पूर्वनिधिका नियामक प्रमाण दिग्नागका समय होना चाहिए। इस तरह समन्तभद्रका समय इसाकी ५ वीं और सातवीं शताब्दीका मध्यभाग अधिक संभव है। यदि विद्यानन्दके उल्लेखमें ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो इनका समय पूज्यपादके बाद होना चाहिए। अन्यथा दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और पूज्यपादसे कुछ पहिले।

**पूज्यपाद और प्रभाचन्द्र**—आ० देवनन्दिका अपर नाम पूज्यपाद था। ये विक्रम की पाचवीं और छठी सदीके ख्यात आचार्य थे। आ० प्रभाचन्द्रने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि पर तर्कार्थवृत्तिपदनिरण नामकी लघुवृत्ति लिखी है। इसके सिवाय इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण पर शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास लिखा है। पूज्यपादकी संस्कृत सिद्धमक्तिसे ‘सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः’ पद मी न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है। प्रमेयकमलमार्चयड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें जहा कहीं मी व्याकरणके सूत्रोके उद्धरण देनेकी आवश्यकता हुई है वहां प्रायः जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

**धनञ्जय और प्रभाचन्द्र**—‘संस्कृतसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास’ के लेखकद्वयने धनञ्जयका समय ई० १२ वें शतकका मध्य निर्धारित किया है (पृ० १७३)। और अपने इस मतकी पुष्टिके लिए के० वी० पाठक महाशयका यह मत भी उद्धृत किया है कि—“धनञ्जयने द्विसन्धान महाकाव्यकी रचना ई० ११२३ और ११४० के मध्यमे की है।” डॉ० पाठक और उक्त

१ देखो अनेकान्त वष १ पृ० १९७। प्रेमी जी सूचित करते हैं कि इसकी प्रति बर्बरके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें मौजूद है।

इतिहास के लेखकद्वय अन्य कई जैन कवियोंके समय निर्धारणकी भाति धनञ्जयके समयमें भी बड़ी भारी भ्रान्ति कर बैठे हैं। क्योंकि विचार करनेसे धनञ्जयका समय ईसाकी ८ वीं सदीका अन्त और नवींका प्रारम्भिक भाग सिद्ध होता है—

१ जल्हण ( ई० द्वादशशतक ) विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरके नामसे धनञ्जयकी प्रशंसामें निम्न लिखित पद्य उद्धृत है—

“द्विसन्धाने निपुणता सतां चक्रे धनञ्जयः । यया जात फल तस्य स तां चक्रे धनञ्जयः ॥”

इस पद्यमें राजशेखरने धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका मनोमुग्धकर सरणिसे निर्देश किया है। संस्कृत साहित्यके इतिहासके लेखकद्वय लिखते हैं कि—“यह राजशेखर प्रबन्धकोशका कर्ता जैन राजशेखर है। यह राजशेखर ई० १३४८ में विद्यमान था।” आश्चर्य है कि १२ वीं शताब्दीके विद्वान् जल्हणके द्वारा विरचित ग्रन्थमें उल्लिखित होने वाले राजशेखरको लेखकद्वय १४ वीं शताब्दीका जैन राजशेखर बताते हैं। यह तो मोटी बात है कि १२ वीं शताब्दीके जल्हणने १४ वीं शताब्दीके जैन राजशेखरका उल्लेख न करके १० वीं शताब्दीके प्रसिद्ध काव्यमीमासाकार राजशेखरका ही उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे धनञ्जयका समय २ वीं शताब्दीके अन्तिम भागके बाद तो किसी भी तरह नहीं जाता। ई० २६० में विरचित सोमदेवके यशस्तिलकचम्पूमें राजशेखरका उल्लेख होनेसे इनका समय करीब ई० २१० ठहरता है।

२ वादिराजसूरि अपने पार्श्वनाथचरित (पृ० ४) में धनञ्जयकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—  
“अनेकभेदसन्धानाः सनन्तो हृदये मुहुः । वाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥”  
इस छिष्ट श्लोकमें ‘अनेकभेदसन्धानाः’ पदसे धनञ्जयके ‘द्विसन्धानकाव्य’ का उल्लेख बड़ी कुशलतासे किया गया है। वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरित २४७ शक (ई० १०२५) में समाप्त किया था। अतः धनञ्जयका समय ई० १० वीं शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नहीं जा सकता।

३ आ० वीरसेनने अपनी धवलाटीका (अमरावतीकी प्रति पृ० ३८७) में धनञ्जयकी अनेकार्थनाममालाका निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

“हेतावेव प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये । प्रादुर्भावे समाप्तौ च इतिशब्दं विदुर्बुधाः ॥”

आ० वीरसेनने धवलाटीकाकी समाप्ति शक ७३८ (ई० ८१६) में की थी। अतः धनञ्जयका समय ८ वीं शताब्दीका उत्तरभाग और नवीं शताब्दीका पूर्वभाग सुनिश्चित होता है। धनञ्जयने अपनी नाममालाके—

“प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनञ्जयकथैः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥”

इस श्लोकमें अकलङ्कदेवका नाम लिया है। अकलङ्कदेव ईसाकी ८ वीं सदीके आचार्य हैं अतः धनञ्जयका समय ८ वीं सदीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सुसंगत है। आचार्य प्रभावचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४०२) में धनञ्जयके द्विसन्धानकाव्यका उल्लेख किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें इसी स्थल पर द्विसन्धानकी जगह त्रिसन्धान नाम लिया गया है।

रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्याचार्यकी सिद्धिनिश्चयटीका समुपलब्ध है। ये अकलङ्कके प्रकरणोंके तलद्रष्टा, निवेचयिता, व्याख्याता और मर्मज्ञ थे। प्रभाचन्द्रने इनकी उक्तियोसे ही दुरवगाह अकलङ्कवाच्यका सुष्ठु अभ्यास और निवेचन किया था। प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्यके प्रति अपनी कृतज्ञताका भाव न्यायकुमुदचन्द्रमें एकाविकवार प्रदर्शित करते हैं। इनकी सिद्धिनिश्चयटीका अकलङ्कवाच्यके टीकासाहित्यका शिरोरत्न है। उसमें सैकड़ों मतमतान्तरोंका उल्लेख करके उनका सविस्तर निरास किया गया है। इस टीकामें धर्मकीर्ति, अर्घट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकरगुप्त, आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मकीर्तिसाहित्यके व्याख्याकारोंके मत उनके ग्रन्थोंके लम्बे लम्बे अवतरण देकर उद्धृत किए गए हैं। यह टीका प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर अपना विचित्र प्रभाव रखती है। शान्तिसूरिने अपनी जैनतर्कवा-  
र्तिकवृत्ति ( पृ० ६८ ) में 'एके अनन्तवीर्यादयः' पदसे सभन्त. इन्हीं अनन्तवीर्यके मतका उल्लेख किया है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र—आ० विद्यानन्दका जैनतार्किकोंमें अपना विशिष्ट स्थान है। इनकी श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आत्मपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्तयनुशासनटीका आदि तार्किककृतियाँ इनके अतुल्य तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख अध्ययन का पदे पदे अनुभूत कराती हैं। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय आदि नहीं दिया है। आ० प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र दोनो ही प्रमुखग्रन्थों पर विद्यानन्दकी कृतियोंकी सुनिश्चित अमिट छाप है। प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका अन्तः अभ्यास था। उनकी शब्दरचना भी विद्यानन्दकी शब्दभंगीसे पूरी तरह प्रभावित है। प्रभा-  
चन्द्रने प्रमेयकमलमार्चण्डके प्रथमपरिच्छेदके अन्तमें—

“विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्”

इस श्लोकाशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नाम लिया है। प्रमेयकमलमार्चण्डमें पत्रपरीक्षासे पत्रका लक्षण तथा अथ एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः विद्यानन्दके ग्रन्थ प्रभा-  
चन्द्रके लिए उपजीव्य निर्विवादरूपसे सिद्ध हो जाते हैं।

आ० विद्यानन्द अपने आत्मपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्यार्थसिद्धयै' 'सत्यवाक्याधिपा.' विशेषणसे तत्कालीन राजाका नाम भी प्रकारान्तरसे सूचित करते हैं। बाबू कामताप्रसादजी ( जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ किरण ३ पृ० ८७ ) लिखते हैं कि—“बहुत सभन्त है कि उन्होंने गगनाडि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गगनाडि प्रदेशके राजा राजमल्लने भी गगनाडि प्रदेशमें होने वाले राजाओंमें सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपरनाम धारण किया था। उपर्युक्त श्लोकोंमें यह सभन्त है कि विद्यानन्दजीने अपने समयके इस राजाके 'सत्यवाक्याधिप' नामको ध्वनित किया हो। युक्तयनुशासनालंकारमें उपर्युक्त श्लोक प्रशस्ति रूप है और उसमें रचयिता द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिए। समयके लिए तत्कालीन राजाका नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल्ल सत्यवाक्य विजयादित्यका लड़का था और वह सन् ८१६

के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। उनका समय भी विद्यानन्दके अनुकूल है। युक्त्यनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकके “प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः श्रीसत्यवाक्याधिपैः” इस अंशमें सत्यवाक्याधिप और विजय दोनो शब्द हैं, जिनसे गगराज सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्यका नाम ध्वनित होता है।” इस अन्तरणसे यह सुनिश्चित हो जाता है कि विद्यानन्दने अपनी कृतियाँ राजमल सत्यवाक्य ( ८१६ ई० ) के राज्यकालमें बनाई हैं। आ० विद्यानन्दने सर्वप्रथम अपना तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ बनाया है, तदुपरान्त अष्टसहस्री और विद्यानन्द-महोदय, इसके अनन्तर अपने आतपरीक्षा आदि परीक्षान्तनामवाले लघु प्रकरण तथा युक्त्यनुशासनटीका; क्योंकि अष्टसहस्रीमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका, तथा आतपरीक्षा आदिमें अष्टसहस्री और विद्यानन्दमहोदयका उल्लेख पाया जाता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें, जो उनकी आद्य रचनाएँ हैं, ‘सत्यवाक्य’ नाम नहीं लिया है, पर आतपरीक्षा आदिमें ‘सत्यवाक्य’ नाम लिया है। अतः मालूम होता है कि विद्यानन्द श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीको सत्यवाक्यके राज्यसिंहासनासीन होनेके पहिले ही बना चुके होंगे। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मडनमिश्रके मतका खडन है और अष्टसहस्रीमें सुरेश्वरके सम्बन्धवार्तिकसे ३४ कारिकाएँ भी उद्धृतकी गई हैं। मडनमिश्र और सुरेश्वरका समय ईसाकी ८वीं शताब्दीका पूर्वभाग माना जाता है। अतः विद्यानन्दका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और नवींका पूर्वार्ध मानना सयुक्तिक मालूम होता है। प्रभाचन्द्रके सामने इनकी समस्त रचनाएँ रही हैं। तत्त्वोपसंहारका खडन तो विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें ही विस्तारसे मिलता है, जिसे प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। इसी तरह अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकमें पाई जानेवाली भावना विधि नियोगके विचारकी दुरवगाह चरचा प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रसन्नरूपसे अवतीर्ण हुई है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ( पृ० २०६ ) में न्यायदर्शनके ‘पूर्ववत्’ आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्ष रूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्वपक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समयकी पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्दका ग्रन्थ रचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीका उल्लेख किये बिना न रहते।

**अनन्तकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—लघीयखयादि सग्रहमें अनन्तकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण मुद्रित हैं। लघीयखयादिसग्रहकी ही प्रस्तावनामें ५० नाथूरामजी प्रेमीने इन अनन्तकीर्तिके समयकी उत्तरावधि विक्रम संवत् १०८२ के पहिले निर्धारित की है, और इस समयके समर्थनमें बदिराजके पार्श्वनाथचरितका यह श्लोक उद्धृत किया है—

“आत्मनैवाद्द्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता। अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमासैव लक्ष्यते ॥”

बदिराजने पार्श्वनाथचरित की रचना विक्रम संवत् १०८२ में की थी। संभव तो यह है कि इन्हीं अनन्तकीर्तिने जीवसिद्धिकी तरह लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थ बनाये

हो। सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्यने भी एक अनन्तकीर्तिका उल्लेख किया है। यदि पार्श्वनाथ चरितमें स्मृत अनन्तकीर्ति और सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित अनन्तकीर्ति एक ही व्यक्ति है तो मानना होगा कि इनका समय प्रभाचन्द्रके समयसे पहिले है, क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें सिद्धिविनिश्चयटीकाकार अनन्तवीर्यना सबहुमान स्मरण किया है। अस्तु। अनन्तकीर्तिके लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ग्रन्थोका और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणोंका आभ्यन्तर परीक्षण यह स्पष्ट बताता है कि इन ग्रन्थोंमें एकका दूसरेके ऊपर पूरा पूरा प्रभाव है।

बृहत्सर्वज्ञसिद्धि—(पृ० १-१ से २०४ तक) के अन्तिम पृष्ठ तो कुछ थोड़ेसे हेरफेरसे न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८३-८ से ८४७) के मुक्तिवाद प्रकरणके साथ अपूर्व सादृश्य रखते हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी साधारण व्यक्ति कह सकता है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेका पुस्तक सामने रखकर अनुसरण किया है। मेरा तो यह विश्वास है कि अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धिका ही न्यायकुमुदचन्द्र पर प्रभाव है। उदाहरणार्थ—

“किन्तु अज्ञो जन दुःखानुपक्तसुखसाधनमपरयन् आत्मस्नेहात् सासारिकेषु दुःखानुपक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधन स्यादिक परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधन व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्तते। उक्तञ्च—तदात्वसुखसाधनेषु भावेऽज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षका॥”—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ८४२।

“किन्त्वतज्ञो जनो दुःखानुपक्तसुखसाधनमपरयन् आत्मस्नेहात् ससारान्त पतितेषु दुःखानुपक्तसुखसाधनेषु प्रवर्तते। हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधन स्यादिक परित्यज्य आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते। यथा पथ्यापथ्यविवेकमजानन्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवेकज्ञस्तु आनुरस्तादात्विकसुखसाधनं दध्यादिक परित्यज्य पेयादावारोग्यसाधने प्रवर्तते। तथा च कस्यचिद्बिदुषः सुभाषितम्—तदात्वसुखसाधनेषु भावेऽज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥”—बृहत्सर्वज्ञसिद्धि पृ० १-१।

इस तरह यह समूचा ही प्रकरण इसी प्रकारके शब्दानुसरणसे ओतप्रोत है।

शाकटायन और प्रभाचन्द्र—राष्ट्रकूटवंशी राजा अमोघवर्षके राज्यकाल ( ईस्वी ८१४-८७७ ) में शाकटायन नामके प्रसिद्ध वैद्याकरण हो गए हैं। ये यापनीय सघके आचार्य थे। यापनीयसघका बाह्य आचार बहुत कुछ दिग्म्बरोसे मिलता जुलता था। ये नग्न रहते थे। श्वेताम्बर आगमोंको आदरकी दृष्टिमें देखते थे। आ० शाकटायनने अमोघवर्षके नामसे अपने

१ देखो—प० नाथूरामप्रमीका यापनीय साहित्यकी खोज (अनकात वर्ष ३ क्रि.पू १) तथा प्रो० ए० उपाध्यायका 'यापनीयसघ' (जैनदर्शन वष ४ अंक ७) लेख।

शाकटायनव्याकरण पर 'अमोघवृत्ति' नामकी टीका बनाई थी। अतः इनका समय भी लगभग ई० ८०० से ८७५ तक समझना चाहिए। यापनीयसधके अनुयायी दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी कुछ बुद्ध बातोंको स्वीकार करते थे। एक तरहसे यह सध दोनों सम्प्रदायोंके जोड़नेके लिए शृङ्खलाका कार्य करता था। आचार्य मलयगिरिने अपनी नन्दीसूत्रकी टीका (पृ० १५) में शाकटायनको 'यापनीययतिप्रामाप्रणी' लिखा है—“शाकटायनोऽपि यापनीययतिप्रामाप्रणीः स्वोपदशन्दानुशासनवृत्तौ”। शाकटायन आचार्यने अपनी अमोघवृत्तिमें छेदसूत्र नियुक्ति कालिकसूत्र आदि श्रे० ग्रन्थोंका बड़े आदरसे उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायनने केवलिकनलाहार तथा स्त्रीमुक्तिके समर्थनके लिए स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामके दो प्रकार बनाए हैं। दिग्म्बर और श्वेताम्बरोंके परस्पर त्रिलगाममें ये दोनों सिद्धान्त ही मुख्य माने जाते हैं। यों तो दिग्म्बर ग्रन्थोंमें बुन्दबुन्दाचार्य पूज्यपाद आदिके ग्रन्थोंमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका सूत्ररूपसे निरसन किया गया है, परन्तु इन्हीं नियमोंके पूर्वोत्तरपक्ष स्थापित करके शास्त्रार्थका रूप आ० प्रभाचन्द्रने ही अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिया है। श्वेताम्बरोंके तर्कसाहित्यमें हम सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिकी ललितविस्तरामें स्त्रीमुक्तिका सक्षित समर्थन देखते हैं, परन्तु इन नियमोंको शास्त्रार्थका रूप सन्मतिटीकाकार अभयदेव, उत्तराध्ययन पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरि, तथा स्याद्वाद्वाकरकार वादि देवसूरिने ही दिया है। पीछे तो यशोविजय उपाध्याय, तथा मेघविजयगणि आदिने पर्याप्त साम्प्रदायिक रूपसे इनका विस्तार किया है। इन निवादप्रस्तुत नियमोंपर लिखे गए उभयपक्षीय साहित्यका ऐतिहासिक तथा तारिकदृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति विषयोंके समर्थनका प्रारम्भ श्वेताम्बर आचार्योंकी अपेक्षा यापनीयसध वालोंने ही पहिले तथा दिलचस्पीके साथ किया है। इन विषयोंको शास्त्रार्थका रूप देनेवाले प्रभाचन्द्र, अभयदेव, तथा शान्तिसूरि करीब करीब समकालीन तथा समदेशीय थे। परन्तु इन आचार्योंने अपने पक्षके समर्थनमें एक दूसरेका उल्लेख या एक दूसरेकी दलीलोंका साक्षात् खडन नहीं किया। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिका जो विस्तृत पूर्वपक्ष लिखा गया है वह किसी श्वेताम्बर आचार्यके ग्रन्थका न होकर यापनीयाग्रणी शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंसे ही लिया गया है। इन ग्रन्थोंके उत्तरपक्षमें शाकटायनके उक्त दोनो प्रकरणोंकी एक एक दलीलका शब्दशः पूर्वपक्ष करके सयुक्तिक निरास किया गया है। इसी तरह अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, और शान्तिसूरिकी उत्तराध्ययन पाइयटीका और जेनतर्कनार्तिकमें शाकटायनके इन्हीं प्रकरणोंके आधारसे ही उक्त बातोंका समर्थन किया गया है। हाँ, वादिदेवसूरिके रत्नाकरमें इन मतभेदोंमें दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों सामने सामने आते हैं। रत्नाकरमें प्रभाचन्द्रकी दलीलें पूर्वपक्ष रूपमें पाई जाती हैं। तात्पर्य यह कि—प्रभाचन्द्रने स्त्रीमुक्तिवाद तथा केवलिकनलाहारवादमें श्वेताम्बर आचार्याकी वजाय शाकटायनके केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरणोंको ही अपने

खडनका प्रधान लक्ष्य बनाया है। न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८६६ ) के पूर्वपक्षमें शाकटायनके क्षीमुक्ति प्रकरणकी यह कारिका भी प्रमाण रूपसे उद्धृत की गई है—

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याताः शीलवत्तया जगति ।

सीताद्वयः कथं तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥” [ क्षीमु० ख० ३१ ]

अभयनन्दि और प्रभाचन्द्र—जैनेन्द्रव्याकरणपर आ० अभयनन्दिद्वृत महावृत्ति उपलब्ध है। इसी महावृत्तिके आधारसे प्रभाचन्द्रने ‘शब्दाग्भोजभास्करं’ नामका जैनेन्द्रव्याकरणका महान्यास बनाया है। ५० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी’ नामक लेखमें जैनेन्द्रव्याकरणके प्रचलित दो सूत्र पाठोंमेंसे अभयनन्दिस्मृत सूत्रपाठको ही प्राचीन और पूज्यपादकृत सिद्ध किया है। इसी पुरातनसूत्रपाठ पर प्रभाचन्द्रने अपना न्यास बनाया है। प्रेमीजीने अपने उक्त गवेषणापूर्ण लेखमें महावृत्तिकार अभयनन्दिको चन्द्रप्रमचरित्रकार वीरनन्दिका गुरु बताया है और उनका समय क्रि.पू.की ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वभाग निर्धारित किया है। आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु भी यही अभयनन्दि थे। गोम्मतसार कर्मकाण्ड ( गा० ४३६ ) की निम्नलिखित गाथासे भी यही बात पुष्ट होती है—

“जस्स य पायपसाएणणंतससारजलहिमुत्तिण्णो ।

वीरिंदणदिबन्धो णमामि तं अभयणदिगुरुं ॥”

इस गाथासे तथा कर्मकाण्डकी गाथा न० ७८४, ८१६ तथा लब्धिसार गा० ६४८ से यह सुनिश्चित हो जाता है<sup>३</sup> कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु थे। आ० नेमिचन्द्रने तो वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि तकका गुरुरूपसे स्मरण किया है। इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अभयनन्दि, उनके शिष्य वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, तथा इन्द्रनन्दिके शिष्य कनकनन्दि सभी प्रायः नेमिचन्द्रके समकालीन वृद्ध थे।

वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें चन्द्रप्रमचरित्रकार वीरनन्दिका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शकसंवत् ९४७, ई० १०२५ में पूर्ण हुआ था। अतः वीरनन्दिकी उत्तरावधि ई० १०२५ तो सुनिश्चित है। नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिने गोम्मतसार ग्रन्थ चामुण्डरायके सम्बोधनार्थ बनाया था। चामुण्डराय गगवशीयमहाराज मारसिंह द्वितीय ( १७५ ई० ) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। चामुण्डरायने श्रवणबेलगुलस्थ बाहुबलि गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा ई० ९८१ में कराई थी, तथा अपना चामुण्डपुराण ई० ९७८ में समाप्त किया था। अतः आ० नेमिचन्द्र सिद्धा तचक्रवर्तिके समय ई० ९८० के आसपास सुनिश्चित किया जा सकता है। और लगभग यही समय आचार्य अभयनन्दि आदिका होना

१ इसका परिचय ‘प्रभाचन्द्रके प्रायः शीर्षक स्तम्भमें’ देkhना चाहिए।

२ जैन साहित्यसंशोधन भाग १ अंक २।

३ देखो त्रिलोकसार की प्रस्तावना।

चाहिए। इन्होंने अपनी महावृत्ति (लिखित पृ० २२१) में भर्तृहरि (ई० ६५०) की वाक्यपदीयका उल्लेख किया है। पृ० ३६३ में माघ (ई० ७ वीं सदी) काव्यसे 'सटाच्छटाभिल' श्लोक उद्धृत किया है। तथा ३२।५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते' प्रयोगसे अकलङ्कदेव (ई० = वीं सदी) के तत्त्वार्थराजवार्तिकका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६ वीं शताब्दीसे पहिले तो नहीं ही है। यदि यही अभयनन्दि जेनेन्द्र महावृत्तिके रचयिता हैं तो कहना होगा कि उन्होंने ई० ६६० के लगभग अपनी महावृत्ति बनाई होगी। इसी महावृत्ति पर ई० १०६० के लगभग आ० प्रभाचन्द्रने अपना शब्दाभोजभास्कर न्यास बनाया है, क्योंकि इसकी रचना न्यायकुमुदचन्द्रके बाद की गई है और न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेव (राज्य १०५६ से) के राज्य के प्रारम्भकाल में बनाया गया है।

**मूलाचारकार और प्रभाचन्द्र**—मूलाचार ग्रन्थके कर्त्तिके प्रियमें विद्वान् मतभेद रखते हैं। कोई इसे कुन्दकुन्दकृत कहते हैं तो कोई बट्टकेरिकृत। जो हो, पर इतना निश्चित है कि मूलाचारकी सभी गाथाएँ स्वयं उसके कर्त्ताने नहीं रची हैं। उसमें अनेकों ऐसी प्राचीन गाथाएँ हैं, जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें, भगवती आराधनामें तथा आवरणवर्णनिर्युक्ति, पिएडनिर्युक्ति और सम्मतितर्क आदि में भी पाई जाती हैं। समझ है कि गोम्मतसार की तरह यह भी एक संग्रह ग्रन्थ हो। ऐसे संग्रहग्रन्थोंमें प्राचीनगाथाओंके साथ कुछ संग्रहकाररचित गाथाएँ भी होती हैं। गोम्मतसारमें बहुभागं स्वरचित है जब कि मूलाचारमें स्वरचित गाथाओंका बहुभाग नहीं मालूम होता। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८४५) में "एगो मे सस्सदो" "संजोगमूल जीवने" ये दो गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये गाथाएँ मूलाचारमें (२।४८, ४९) दर्ज हैं। इनमें पहिली गाथा कुन्दकुन्दके भागपाहुड तथा नियमसारमें भी पाई जाती है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ३३१) में "आचेलकुदेसिय" आदि गाथाश दशविध स्थितिकल्पका निर्देश करने के लिए उद्धृत है। यह गाथा मूलाचार (गाथा न० ६०६) में तथा भगवती आराधनामें (गा० ४२१) विद्यमान है। यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि प्रभाचन्द्रने इस गाथाको श्वेताम्बर आगममें आचेलकल्पके समर्थनका प्रमाण बताने के लिए श्वेताम्बरआगमके रूपमें उद्धृत किया है। यह गाथा जीतकल्पभाष्य (गा० १६७२) में पाई जाती है। गाथाओ की इस सक्रान्त स्थितिको देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि—कुछ प्राचीन गाथाएँ परम्परासे चली आई हैं, जिन्हे दिग० श्वेता० दोनों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है।

**नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती और प्रभाचन्द्र**—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती वीरसेनापति श्री चामुण्डरायके समकालीन थे। चामुण्डराय गगवरीय महाराज मारसिंह द्वितीय (६७५ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी राजमल्ल द्वितीयके मन्त्री थे। इन्हींके राज्यकालमें चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा (सन् ६८१) कराई थी। आ० नेमिचन्द्रने इन्हीं चामुण्डरायको सिद्धान्त परिज्ञान करानेके लिए गोम्मतसार ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ प्राचीन सिद्धान्तग्रन्थोंका सक्षिप्त सस्करण है। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० २५४) में 'लोयायासपयसे'



गाथा उद्धृत है। यह गाथा जीवकांड तथा द्रव्यसमूह में पाई जाती है। अतः श्यापातत यही निष्कर्ष निकल सकता है कि यह गाथा प्रभाचन्द्रने जीवकांड या द्रव्यसमूहसे उद्धृत की होगी, परन्तु अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि यह गाथा बहुत प्राचीन है और सर्वार्थसिद्धि (५।३९) तथा श्लोकरावर्तिक (पृ० ३९९) में भी यह उद्धृत की गई है। इसी तरह प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३००) में 'विग्गहगइमावण्णा' गाथा उद्धृत की गई है। यह गाथा भी जीवकांड में है। परन्तु यह गाथा भी वस्तुतः प्राचीन है और धवलाटीका तथा उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिसंमौख्य है।

प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र—रत्नभद्रके शिष्य अनन्तवीर्य आचार्य अरुलरुके प्रकरणोंके ह्यात टीकाकार विद्वान् थे। प्रमेयरत्नमालाके टीकाकार अनन्तवीर्य उनसे पृथक् व्यक्ति हैं; क्योंकि प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रथम अनन्तवीर्यका स्मरण किया है, और द्वितीय अनन्तवीर्य अपनी प्रमेयरत्नमालामें इन्हीं प्रभाचन्द्र का स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं कि प्रभाचन्द्रके वचनोंको ही सक्षिप्त करके यह प्रमेयरत्नमाला बनाई जा रही है। प्रो० ए० एन० उपाध्यायने<sup>३</sup> प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यके समयका अनुमान ग्यारहवीं सदी किया है, जो उपयुक्त है। क्योंकि आ० हेमचन्द्र ( १०८८-११७३ ई० ) की प्रमाणमीमासा पर शब्द और अर्थ दोनों दृष्टिसे प्रमेयरत्नमालाका पूरा पूरा प्रभाव है। तथा प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका प्रभाव प्रमेयरत्नमाला पर है। आ० हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमासाने प्रायः प्रमेयरत्नमालाके द्वारा ही प्रमेयकमलमार्तण्ड को पाया है।

देवसेन और प्रभाचन्द्र—देवसेन श्रीविमलसेन गण्ठीके शिष्य थे। इन्होंने धारानगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमें माघ सुदी दशमी त्रिकमसवत् ९९० ( ई० ९३३ ) में अपना दर्शनसार ग्रन्थ बनाया था। दर्शनसारके बाद इन्होंने भावसमूह ग्रन्थकी रचना की थी, क्योंकि उसमें दर्शनसारकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं। इनके श्राधनासार, तत्त्वसार, नयचक्रसमूह तथा आलापपद्धति ग्रन्थ भी हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड ( पृ० ३०० ) तथा न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८५६ ) के कवलाहारवादमें देवसेनके भावसमूह ( गा० ११० ) की यह गाथा उद्धृत की है—

“णोकम्मक्म्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।

ओज मणोवि य कम्मसो आहारो छव्विहो णेयो ॥”

यद्यपि देवसेनसुरिने दर्शनसार ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि—

“पुञ्जायरियकयाइ गाहाइ सच्चिऊण एयत्थ । सिरिदेवसेणगणिणा धाराए सवसत्तेण ॥

१ प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथम संस्करणके संपादक प० बशीधरजी शास्त्री सोलापुरने प्रमेयक० की प्रस्तावनामें यही निष्कर्ष निकाला भी है।

२ “प्रभदुवचनोदारचाद्रकाप्रसरे सति । मादसा क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभा ॥  
तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनाएविरं सताम् । चेतोहर भूत यद्वदद्या नवघट जलम् ॥

३ देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ९ ।

४ नयचक्रकी प्रस्तावना पृ० ११- ।

रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए । सिरिपासणाहगेहे सुविमुद्धं माहसुद्धदसमीणा।”  
अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओंका संचय करके यह दर्शनसार ग्रन्थ बनाया गया है।  
तथापि बहुत खोज करने पर भी यह गाथा किसी प्राचीन ग्रंथमें नहीं मिल सकी है। देवसेन  
धारानगरीमें ही रहते थे, अतः धारानिवासी प्रभाचन्द्रके द्वारा भावसंग्रहसे भी उक्त गाथाका  
उद्धृत किया जाना असंभव नहीं है। चूँकि दर्शनसारके बाद भावसंग्रह बनाया गया है, अतः  
इसका रचनाकाल संभवतः विक्रम संवत् ६६७ ( ई० ६४० ) के आसपास ही होगा।

**श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र**—जैनेन्द्रके प्राचीन सूत्रपाठपर आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पचवस्तु-  
प्रक्रिया उपलब्ध है। श्रुतकीर्तिने अपनी प्रक्रियाके अन्तमें श्रीमद्वृत्तिशब्दसे अमयनन्दिकृत  
महावृत्ति और न्यासशब्दसे संभवतः प्रभाचन्द्रकृत न्यास, दोनोंका ही उल्लेख किया है। यदि  
न्यासशब्द पूज्यपादके जैनेन्द्रन्यासका निर्देशक हो तो ‘टीकामाल’ शब्दसे तो प्रभाचन्द्रकी  
टीकाका उल्लेख किया ही गया है। यथा—

“सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन्न्यासोरुरन्नक्षिति,  
श्रीमद्वृत्तिपाटसंपुटयुतं भाष्यौघशय्यातलम् ।  
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमम्,  
प्रासादं पृथुपञ्चवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥”

कनडी भाषाके चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता अगलकविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बताया है—  
“इति परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्धृतप्रवचनसरित्सरिन्नाथश्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधा-  
नदीपवर्तिश्रीमद्गालदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते ” । यह चरित्र शक संवत् १०११, ई०  
१०८६ में बनकर समाप्त हुआ था। अतः श्रुतकीर्तिका समय लगभग १०८० ई० मानना  
युक्तिसंगत है। इन श्रुतकीर्तिने न्यासको जैनेन्द्र व्याकरण रूपी प्रासादकी रत्नभूमिकी उपमा  
दी है। इससे शब्दान्भोजभास्करका रचनासमय लगभग ई० १०६० समर्थित होता है।

**श्वे० आगमसाहित्य और प्रभाचन्द्र**—भ० महावीरकी अर्धभागधी दिव्यध्वनिको गणधरों  
ने द्वादशागी रूपमें रूँथा था। उस समय उन अर्धभागधी भाषामय द्वादशाग आगमोंकी परम्परा  
श्रुत और स्मृत रूपमें रही, लिपिबद्ध नहीं थी। इन आगमोंका आखरी संरक्षण वीर स० ६८०  
( वि० ५१० ) में श्वेताम्बराचार्य देवद्विगणि क्षमाश्रमणने किया था। अग्रग्रन्थोंके सिवाय कुल्ल  
अगवाह्य या अनगात्मक श्रुत भी है। छेदसूत्र अनंगश्रतमें शामिल है। आ० प्रभाचन्द्रने  
न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ८६८ ) के अस्तिवादके पूर्वपक्षमें कल्पसूत्र ( ५।२० ) से “नो कल्पइ  
णिगंभीए अचेलाए होत्तए” यह सूत्राक्य उद्धृत किया है।

**तत्त्वार्थभाष्यकार और प्रभाचन्द्र**—तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं। एक तो  
वह, जिस पर स्वयं वाचक उमास्वातिका श्लोपब्रह्मभाष्य प्रसिद्ध है, और दूसरा वह जिस पर पूज्य-  
पादकृत सर्वार्थसिद्धि है। दिगम्बर परम्परामें पूज्यपादसम्मत सूत्रपाठ और श्वेताम्बरपरम्परामें भाष्य-

सम्मत सूत्रपाठ प्रचलित है। उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यके कर्तृत्वके विषयमें आज कल विवाद चल रहा है। मुल्तारसा० आदि कुछ विद्वान् भाष्यकी उमास्वातिकर्तृकताके विषयमें सन्दिग्ध हैं। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें दिगम्बरसूत्रपाठसे ही सूत्र उद्धृत किए हैं। उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ८५२) के स्त्रीमुक्तिवादके पूर्वपक्षमें तत्त्वार्थभाष्यकी सम्बन्धकारिकाओंमेंसे “श्रूयन्ते चानन्ता सामायिकमात्रसिद्धाः” कारिकाश उद्धृत किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० १०) में भी “अनन्ताः सामायिकमात्रसिद्धाः” वाक्य उद्धृत मिलता है। इसी तरह तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जाने गली ३२ कारिकाएँ राजवार्तिकके अन्तमें ‘उक्तञ्च’ लिखकर उद्धृत हैं। पृ० ३६१ में भाष्यकी ‘दग्धे वीजे’ कारिका उद्धृतकी गई है। इत्यादि प्रमाणोंके आधारसे यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य अरुलङ्कदेवके सामने भी था। उनसे इसके कुछ मन्तव्योंकी समीक्षा भी की है।

**सिद्धसेन और प्रभाचन्द्र**—आ० सिद्धसेनके सम्मतितर्क, न्यायान्तर, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके सम्मतितर्क पर अभयदेवसूरिने निस्तृत व्याख्या लिखी है। डॉ० जैमिनी न्यायवतारके प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद देखकर इनको धर्मकीर्तिका समझलीन, अर्थात् ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं। प० सुखलाल जी इन्हें विक्रमकी पाचवीं सदीका विद्वान् सिद्ध करते थे। पर अब उनका विश्वास है कि “सिद्धसेन ईसाकी छठी या सातवीं सदीमें हुए हों और उन्होंने समस्त धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंको देखा हो<sup>१</sup>।” न्यायवतारकी रचनामें न्यायप्रवेशके साथ ही साथ न्यायविन्दु भी अपना यत्किञ्चित् स्थान रखता ही है। आ० प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३७) में पक्षप्रयोगका समर्थन करते समय ‘धानुष्क’ का दृष्टान्त दिया है। इसकी तुलना न्यायवतारके श्लोक १४-१६ से भलीभांति की जा सकती है। न केवल मूलश्लोकसे ही, किन्तु इन श्लोकोंकी सिद्धार्थिकृत व्याख्या भी न्यायकुमुदचन्द्रकी शब्दरचनासे तुलनीय है।

**धर्मदासगणि और प्रभाचन्द्र**—श्रे० आचार्य धर्मदासगणिका उपदेशमाला ग्रन्थ प्राकृतगापानिबद्ध है। प्रसिद्धि तो यह रही है कि ये महावीरस्वामीके दीक्षित शिष्य थे। पर यह इतिहासविरुद्ध है, क्योंकि इन्होंने अपनी उपदेशमालामें वज्रसूरि आदिके नाम लिए हैं। अस्तु। उपदेशमाला पर सिद्धार्थिसूरिकृत प्राचीन टीका उपलब्ध है<sup>२</sup>। सिद्धार्थिने उपमितिभयप्रपञ्चाकथा पि स० २६२ उषेष्ठ श्रुद्ध पचमीके दिन समाप्त की थी। अतः धर्मदासगणिकी उत्तरावधि विक्रम की २ वीं शताब्दी माननेमें कोई बाधा नहीं है। प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ३३०) में उपदेशमाला (गा० १५) की ‘वरिससयदिकल्पयाए अज्जाए अज्ज दिक्खओ साहू’ इत्यादि गाथा प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

१ देखो गुजराती सम्मतितर्क पृ० ४०।

२ इतिहास सम्मतितर्क की प्रस्तावना।

३ जैनसाहित्यको इतिहास पृ० १८६।

युक्तियोंमें परस्पर कोई पूर्वोत्तरपक्षता नहीं देखी जाती। अभयदेव, शान्तिसूरि, और प्रभाचन्द्र करीब करीब समकालीन और समदेशीय थे। इसलिए यह अधिक संभव था कि खीमुक्ति और केवलमुक्ति जैसे साम्प्रदायिक प्रकरणोंमें एक दूसरेका खंडन करते। पर हम इनके ग्रन्थोंमें परस्पर खंडन नहीं देखते। इसका कारण मेरी समझमें तो यही आता है कि उस समय दिगम्बर आचार्य यापनीयोंके साथ ही इस विषयकी चर्चा करते होंगे। यही कारण है कि जब प्रभाचन्द्रने शाकटायनके खीमुक्ति और केवलमुक्ति प्रकरणोंका ही शब्दशः खंडन किया है तब श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और शान्तिसूरिने शाकटायनकी दलीलोंके आधारसे ही अपने ग्रन्थोंके उक्त प्रकरण पुष्ट किए हैं। वादिदेवसूरिने अथर्व ही प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंके उक्त प्रकरणोंको पूर्वपक्षमें प्रभाचन्द्रका नाम लेकर उपस्थित किया है।

सन्मतितर्कके सम्पादक श्रीमान् प० सुखलालजी और वेचरदासजीने सन्मतितर्क प्रथम भाग ( पृ० १३ ) की गुजराती प्रस्तावनामें लिखा है कि—“जो के आ टीकामा सैकड़ो दार्शनिक-ग्रन्थों नु दोहन जणाय छे, छुता सामान्यरीते मीमांसककुमारिलभट्टनु श्लोकरवार्तिक, नालन्दा-विश्वविद्यालय ना आचार्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसग्रह ऊपरनी कमलशीलकृत पञ्जिका अने दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड अने न्यायकुमुदचन्द्रोदय निगेरे ग्रंथों नु प्रतिबिम्ब मुख्यपणे आ टीकामा छे।” अर्थात् सन्मतितर्कटीका पर मीमांसाश्लोकरवार्तिक, तत्त्वसग्रहपञ्जिका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ा है। सन्मतितर्कके विद्रूप सम्पादकोंकी उक्त बातसे सहमति रखते हुए भी मैं उसमें इतना परिवर्धन और कर देना चाहता हू कि—“प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका सन्मतितर्कसे शब्दसादृश्य मात्र साक्षात् निम्ब-प्रतिबिम्बभाव होनेके कारण ही नहीं हैं, किन्तु तीनों ग्रंथोंके बहुभागमें जो अकल्पित सादृश्य पाया जाता है वह तृतीयराशिमूलक भी है। ये तृतीय राशिके ग्रंथ हैं—भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमञ्जरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसग्रह और उसकी पञ्जिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकरवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, आत्मपरीक्षा आदि प्रकरण। इन्हीं तृतीयराशिके ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब सन्मतिटीका और प्रमेय-कमलमार्त्तण्डमें आया है।” सन्मतितर्कटीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि सन्मतितर्कका प्रमेयकमलमार्त्तण्डके साथ ही अधिक शब्दसादृश्य है। न्यायकुमुदचन्द्रमें जहाँ भी यत्किञ्चित् सादृश्य देखा जाता है वह प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रयुक्त ही है साक्षात् नहीं। अर्थात् प्रमेयकमलमार्त्तण्डके जिन प्रकरणों के जिस सन्दर्भसे सन्मतितर्कका सादृश्य है उन्हीं प्रकरणोंमें न्यायकुमुदचन्द्रसे भी शब्दसादृश्य पाया जाता है। इससे यह तर्कणा की जा सकती है कि—सन्मतितर्ककी रचनाके समय न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना नहीं हो सकी थी। न्यायकुमुदचन्द्र जयसिंहदेवके राज्यमें सन् १०५७ के आसपास रचा गया था जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे विदित है। सन्मति-

तर्कटीका, प्रमेयकमलमार्चण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रकी तुलनाके लिए देखो—प्रमेयकमलमार्चण्ड प्रथम अध्यायके टिप्पण तथा न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंमें दिए गए सन्मतिटीका के अन्तरण ।

वादि देवसूरि और प्रभाचन्द्र—देवसूरि श्रीमुनिचन्द्रसूरिके शिष्य थे । प्रभाचक्र चरित्रके लेखानुसार मुनिचन्द्रने शान्तिसूरिसे प्रमाणविद्याका अध्ययन किया था । ये प्राग्याटनशके रत्न थे । इन्होंने वि० स० ११४३ में गुर्जर देशको अपने जन्मसे पूत किया था । ये भड़ोच नगरमें ६ वर्षकी अल्पवयमें वि० स० ११५२ में दीक्षित हुए थे तथा वि० स० ११७४ में इन्होंने आचार्यपद पाया था । राजर्षि कुमारपालके राज्यकालमें वि० स० १२२६ में इनका स्वर्गास हुआ । प्रसिद्ध है कि—वि० स० ११८१ वैशाख शुद्ध पूर्णिमाके दिन सिद्धराजकी सभामें इनका दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्रसे वाद हुआ था और इसी वादमें विजय पानेके कारण देवसूरि वादि देवसूरि कहे जाने लगे थे । इन्होंने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार नामक सूत्र ग्रन्थ तथा इसी सूत्रकी स्याद्वादादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या लिखी है । इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखसूत्रका अपने ढंगसे किया गया दूसरा संस्करण ही है । इन्होंने परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंका विषय ठीक उसी क्रमसे अपने सूत्रके आद्य ६ परिच्छेदोंमें यत्किञ्चित् शब्दभेद तथा अर्थभेदके साथ प्रथित किया है । परीक्षामुखसे अतिरिक्त इसमें नयपरिच्छेद और वादपरिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड़े गए हैं । माणिक्यनन्दिके सूत्रोंके सिवाय अकलङ्कके स्ववितृतियुक्त लघीपत्रय, न्यायविनिश्चय तथा विद्यानन्दके तत्त्वार्थरत्नोक्त-नार्तिकका भी पर्याप्त साहाय्य इस सूत्रग्रन्थमें लिया गया है । इस तरह मिला मिला ग्रन्थोंमें विशकलित जैनपदार्थोंका शब्द एवं अर्थदृष्टिसे सुन्दर संकलन इस सूत्रग्रन्थमें हुआ है ।

परीक्षामुखसूत्रपर प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्चण्ड नामकी विस्तृत व्याख्या है तथा अकलङ्कदेवके लघीपत्रयपर इन्हीं प्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्र नामका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है । प्रभाचक्रने इन मूल ग्रन्थोंकी व्याख्याके साथही साथ मूलग्रन्थसे सम्बद्ध निषयोपर विस्तृत लेख भी लिखे हैं । इन लेखोंमें विविध निकल्पजालोंसे परपक्षका खंडन किया गया है । प्रमेयकमल-मार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके तीक्ष्ण एवं आह्लादक प्रकाशमें जब हम स्याद्वादादरत्नाकरको तुलनात्मक दृष्टिसे देखते हैं तब वादिदेवसूरिकी गुणग्राहिणी सप्रहृष्टिकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते । इनकी संप्राहक वीजबुद्धि प्रमेयकमलमार्चण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रसे अर्थ शब्द और भावोंको इतने चेतश्चम कारक ढंगसे चुन लेती है कि अकेले स्याद्वादादरत्नाकरके पढ़ लेनेसे न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्चण्डका यावद्विषय निशद रीतिसे अवगत हो जाता है । वस्तुतः यह रत्नाकर उक्त दोनों ग्रन्थोंके शब्द-अर्थरत्नोक्त सुन्दर आकर ही है । यह रत्नाकर मार्चण्डकी अपेक्षा चन्द्र (न्यायकुमुदचन्द्र) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है । प्रकरणोंके क्रम और पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके जमानेकी पद्धतिमें कहीं कहीं तो न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादर्य है कि दोनों ग्रन्थोंकी पाठशुद्धिमें एक दूसरेका मूलप्रतिकी तरह उपयोग किया जा सकता है ।

हरिभद्र और प्रभाचन्द्र—आ० हरिभद्र श्वे० सम्प्रदायके युगप्रधान आचार्योंमेंसे हैं। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० के करीब ग्रन्थोंकी रचना की थी। मुनि श्री जिनविजय जीने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे इनका समय ई० ७०० से ७७० तक निर्धारित किया है। मेरा इसमें इतना संशोधन है—कि इनके समयकी उत्तराग्रि ई० ८१० तक होनी चाहिए; क्योंकि जयन्त भट्टकी न्यायमजरीका 'गम्भीरगार्जितारम्भ' श्लोक पद्धर्शनसमुच्चयमें शामिल हुआ है। मैं निस्तारसे लिख चुका हूँ कि जयन्तने अपनी मजरी ई० ८०० के करीब बनाई है अतः हरिभद्रके समयकी उत्तराग्रि कुछ और लम्बानी चाहिए। उस युगमें १०० वर्षकी आयु तो साधारणतया अनेक आचार्यों की देखी गई है। हरिभद्रसूरिके दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'पद्धर्शनसमुच्चय' एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका—

“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पट्प्रमाणानि जैमिनेः ॥ ७२ ॥”

यह श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५०५) में उद्धृत है। यद्यपि इसी भारतका एक श्लोक—  
“प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पडेते साध्यसाधकाः ॥”  
इस शब्दावलीके साथ कमलशीलकी तत्त्वसप्रहपञ्जिका (पृ० ४५०) में मिलता है और उससे समावना की जा सकती है कि जैमिनिकी पट्प्रमाणसख्याका निदर्शक यह श्लोक किसी जैमिनिमतानुयायी आचार्यके ग्रन्थसे लिया गया होगा। यह सभावना हृदयको लगती भी है। परन्तु जबतक इसका प्रसाधक कोई समर्थ प्रमाण नहीं मिलता तबतक उसे हरिभद्रकृत माननेमें ही लाघव है। और बहुत कुछ संभव है कि प्रभाचन्द्रने इसे पद्धर्शनसमुच्चयसे ही उद्धृत किया हो। हरिभद्रने अपने ग्रन्थमें पूर्वपक्षके पल्लवन और उत्तरपक्षके पोषणके लिए अन्यग्रन्थकारोंकी कारिकाएँ, पर्याप्त मात्रामें, कहीं उन आचार्योंके नामके साथ और कहीं बिना नाम लिए ही शामिल की हैं। अतः कारिकाओंके विषयमें यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि ये कारिकाएँ हरिभद्रकी स्वरचित हैं या अन्यरचित होकर सगृहीत हैं? इसका एक और उदाहरण यह है कि—

“विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च । समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ॥  
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स सम्मतः । क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ॥  
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते । पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ॥  
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च...”

ये चार श्लोक पद्धर्शनसमुच्चयके बौद्धदर्शनमें मौजूद हैं। इसी आनुपूर्वीसे ये ही श्लोक किञ्चित् शब्दभेदके साथ जिनसेनके आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२-४५) में भी विद्यमान हैं। रचनासे तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्यने बनाए होंगे, और उसी बौद्धग्रन्थसे पद्धर्शनसमुच्चय और आदिपुराणमें पहुँचे हों। हरिभद्र और जिनसेन प्रायः समकालीन हैं, अतः यदि ये श्लोक हरिभद्रके होकर आदिपुराणमें आए हैं तो इसे उससमयके असांप्रदायिक भावकी महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए। हरिभद्रने तो शाखवार्ता-समुच्चयमें समन्तभद्रकी आसमीमासाके श्लोक उद्धृत कर अपनी पद्धर्शनसमुच्चयक बुद्धिके प्रेरणा

बीजको ही मूर्तरूपमें अङ्कुरित किया है। यदि न्यायप्रवेशवृत्तिकार हरिभद्र ये ही हरिभद्र हैं तो उस वृत्ति (पृ० १३) में पाई जाने वाली पक्षशब्दकी 'पच्यते व्यक्तीक्रियते योऽर्थः सः पक्षः' इस व्युत्पत्तिकी अस्पष्ट छाया न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३८) में की गई पक्षनी व्युत्पत्ति पर आभासित होती है।

**सिद्धिर्षि और प्रभाचन्द्र**—श्रीसिद्धिर्षिगणि श्रे० आचार्य दुर्गाशामीके शिष्य थे। इन्होंने ज्येष्ठ शुक्ला पचमी, विक्रम समत् १६२ ( १ मई १०६ ई० ) के दिन उपमितिभवप्रपञ्चा कथाकी समाप्ति की थी। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी इनकी एक टीका उपलब्ध है। न्यायानतार ( श्लो० १६ ) में पक्षप्रयोगके समर्थनके प्रसंगमें लिखा है कि—“जिस तरह लक्ष्यनिर्देशके विना अपनी धनुर्निर्घाका प्रदर्शन करने वाले धनुर्चारीके गुण-दोषोंका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता, गुण भी दोषरूपसे तथा दोष भी गुणरूपसे प्रतिभासित हो सकते हैं, उसी तरह पक्षका प्रयोग किए विना साधनवादीके साधन सम्बन्धी गुण-दोष भी निपरीत रूपमें प्रतिभासित हो सकते हैं, प्राश्रिक तथा प्रतिगदी आदिको उनका यथावत् निर्णय नहीं हो सकता।” न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४३०) के 'पक्षप्रयोगविचार' प्रकरणमें भी पक्षप्रयोगके समर्थनमें धनुर्चारीका दृष्टान्त दिया गया है। उसकी शब्दरचना तथा भावव्यञ्जनामें न्यायानतारके मूलश्लोकके साथ ही साथ सिद्धिर्षिकृत व्याख्याका भी पर्याप्त शब्दमादृश्य पाया जाता है। अन्तरणोंके लिए देखो—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ४३७ टि० १।

**अभयदेव और प्रभाचन्द्र**—चन्द्रगच्छमें प्रद्युम्नसूरि बड़े ख्यात आचार्य थे। अभयदेव सूरि इन्हीं प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। न्यायनसिंह और तर्कपञ्चानन इनके विरुद्ध थे। सन्मतिनर्ककी गुजराती प्रस्तानना (पृ० ८३) में श्रीमान् प० सुखलालजी और प० वेचरदासजीने इनका समय विक्रमकी दशवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है। उत्तराध्ययनकी पाइयटीकाके रचयिता शान्तिसूरिने उत्तराध्ययनटीकाकी प्रशस्तिकमें एक अभयदेव को प्रमाणविद्याका गुरु लिखा है। प० सुखलालजीने शान्तिसूरिके गुरुरूपमें इन्हीं अभयदेवसूरिकी सभानना की है। प्रभाकरचरित्रके उल्लेखानुसार शान्तिसूरिका स्वर्गनास वि० सं० १०१६ में हुआ था। इन्हीं शान्तिसूरिने धनपालकविमी तिलकमञ्जरीआख्यायिका का सशोधन किया था, और उस पर एक टिप्पण लिखा था। धनपाल कवि मुञ्ज तथा भोज दोनोंकी राजसभाओं में सम्मानित हुए थे। इन सब घटनाओंको मद्दे नजर रखते हुए अभयदेव सूरिका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक मान लेने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। अभयदेव सूरिकी प्रामाणिक-प्रकाण्डताका जीवन्त रूप उनकी सन्मतिटीका में पद पद पर मिलता है। इस सुविस्तृत टीका की 'धादमहार्णव' के नामसे भी प्रसिद्धि रही है।

प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रकी अपेक्षा प्रमेयकमलमार्तण्डका अकल्पित सादृश्य इस टीका में पाया जाता है। अभयदेवसूरिने सन्मतिटीका में स्त्रीमुक्ति और केवलिकमलाहारका समर्थन किया है। इसमें दी गई दलीलोंमें तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा किए गए उक्त वादोंके खण्डन की

प्रतिबिम्बवाद नामक प्रकरणमें वादि देवसूरिने अपने रत्नाकर (पृ० ८६५) में न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ४५५) में निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडन करनेका प्रयास किया है। प्रभाचन्द्रका मत है कि—प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें जल आदि द्रव्य उपादान कारण हैं तथा चन्द्र आदि बिम्ब निमित्तकारण। चन्द्रादि बिम्बोंका निमित्त पाकर जल आदिके परमाणु प्रतिबिम्बाकारसे परिणत हो जाते हैं।

वादि देवसूरि कहते हैं कि—मुखादिबिम्बोंसे छायापुद्गल निकलते हैं और वे जाकर दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। यहाँ छायापुद्गलोंका मुखादि बिम्बोंसे निकलनेका सिद्धान्त देवसूरिने अपने पूर्वाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिके धर्मसारप्रकरणका अनुसरण करके लिखा है। वे इस समय यह भूल जाते हैं कि हम अपनेही ग्रन्थमें नैयायिकोंके चतुसे रश्मियोंके निकलनेके सिद्धान्तका खडन कर चुके हैं। जब हम भासुररूपवाली आखसे भी रश्मियोंका निकलना युक्ति एव अनुभवसे विरुद्ध बताते हैं तब मुख आदि मलिन बिम्बोंसे छाया पुद्गलके निकलनेका समर्थन किस तरह किया जा सकता है? मजेदार बात तो यह है कि इस प्रकरणमें भी वादि देवसूरि न्यायकुमुदचन्द्रके साथही साथ प्रमेयकमलमार्त्तण्डका भी शब्दश अनुसरण करते हैं। और न्यायकुमुदचन्द्रमें निर्दिष्ट प्रभाचन्द्रके मतके खडनकी धुनमें स्वयं ही प्रमेयकमलमार्त्तण्डके उसी आशयके शब्दोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वे रत्नाकरमें (पृ० ६९८) ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का शब्दानुसरण करते हुए लिख जाते हैं कि—“स्वच्छताधिशोपाद्धि जलदर्पणादयो मुखादिरयादिप्रतिबिम्बाकारविकारधारिणः सम्पद्यन्ते।”—अर्थात् विशेष स्वच्छताके कारण जल और दर्पण आदि ही मुख और सूर्य आदि बिम्बोंके आकारवाली पर्यायो को धारण करते हैं। कबलाहारके प्रकरणमें इन्होंने प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें दी गई दलीलोंका नामोल्लेख पूर्वक पूर्वपक्षमें निर्देश किया है और उनका अपनी दृष्टिसे खडन भी किया है। इस तरह वादि देवसूरिने जब रत्नाकर लिखना प्रारम्भ किया होगा तब उनकी आखोके सामने प्रभाचन्द्रके ये दोनों ग्रन्थ बराबर नाचते रहे हैं।

**हेमचन्द्र और प्रभाचन्द्र**—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें आ० हेमचन्द्रसे जैनसाहित्यके हेमयुगका प्रारम्भ होता है। हेमचन्द्रने व्याकरण, काव्य, छन्द, योग, न्याय आदि साहित्यके सभी विभागोंपर अपनी प्रौढ सम्राहक लेखनी चलाकर भारतीय साहित्यके भंडारको खूब समृद्ध किया है। अपने बहुमुख पाण्डित्यके कारण ये ‘कलिजाल सर्वज्ञ’ के नामसे भी ख्यात हैं। इनका जन्म समय कार्तिकी पूर्णिमा विक्रमसंवत् ११४५ है। वि० सं० ११५४ (ई० सन् १०९७) में ८ वर्षकी लघुयुवमें इन्होंने दीक्षा धारण की थी। विक्रमसंवत् ११६६ (ई० सन् १११०) में २१ वर्षकी अवस्थामें ये स्मृतिपद पर प्रतिष्ठत हुए। ये महाराज जयसिंह मिदराज तथा राजर्षि कुमारपालकी राजसभाओंमें सबहुमान लब्धप्रतिष्ठ थे। वि० सं० १२२९ (ई० ११७३) में ८४ वर्षकी आयुमें ये दिवंगत हुए। इनकी न्यायविषयक रचना-प्रमाणमीमासा जैनन्यायके ग्रंथोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमाणमीमासाके निग्रह-



स्थानके निरूपण और खडनके समूचे प्रकरणमें तथा अनेकान्तमें दिए गए आठ दोषोंके परिहारके प्रसंगमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका शब्दशः अनुसरण किया गया है। प्रमाणमीमासाके अन्य स्थलोंमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी छाप साक्षात् न पड़कर प्रमेयरत्नमालाके द्वारा पड़ी है। प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्यने प्रमेयकमलमार्त्तण्डको ही सक्षिप्त कर प्रमेयरत्नमालाकी रचना की है। अतः मध्यकदवाली प्रमाणमीमासामें बृहत्काय प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सीधा अनुसरण न होकर अपने समान परिमाणवाली प्रमेयरत्नमालाका अनुसरण होना ही अधिक समत मालूम होता है। प्रमाणमीमासाके प्रायः प्रत्येक प्रकरण पर प्रमेयरत्नमालाकी शब्दरचनाने अपनी स्पष्ट छाप लगाई है। इस तरह आ० हेमचन्द्रने कहीं साक्षात् और कहीं परम्परया प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डको अपनी प्रमाणमीमासा बनाते समय मद्देनजर रखा है। प्रमेयरत्नमाला और प्रमाणमीमासाके स्थलोंकी तुलनाके लिए सिंधी सीरिजसे प्रकाशित प्रमाणमीमासाके भाषा टिप्पण देखना चाहिए।

**मलयगिरि और प्रभाचन्द्र**—विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा तेरहवीं शताब्दीका प्रारम्भ जैनसाहित्यका हेमयुग कहा जाता है। इस युगमें आ० हेमचन्द्रके सहनिहारी, प्रख्यात टीकाकार आचार्य मलयगिरि हुए थे। मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र आदि अनेकों आगमिकग्रंथों पर सस्कृत टीकाएँ लिखीं हैं। आवश्यकनिर्युक्तिकी टीका (पृ० ३७१ A) में वे अकलङ्कदेवके 'नयनाक्यमें भी स्यात्पदका प्रयोग करना चाहिए' इस मतसे असहमति जाहिर करते हैं। इसी प्रसंगमें वे पूर्वपक्षरूपसे लघीयल्लयस्त्रिवृति (का० ६२) का 'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्' यह वाक्य उद्धृत करते हैं। और इस वाक्यके साथ ही साथ प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६१) से उक्त वाक्यकी व्याख्या भी उद्धृत करते हैं। व्याख्याका उद्धरण इस प्रकारसे लिया गया है—“अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाण्याकात्मित्यपिशब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोग-प्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति।”—इस अवतरणसे यह निश्चित हो जाता है कि मलयगिरिके सामने लघीयल्लयकी न्यायकुमुदचन्द्र नामकी व्याख्या थी।

अकलङ्कदेवने प्रमाण, नय और दुर्नयकी निम्नलिखित परिभाषाएँ की हैं—अनन्तधर्मात्मक वस्तुको अखडभाससे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। एकधर्मको मुख्य तथा अन्यधर्मोंको गौण करनेवाला, उनकी अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नय है। एकधर्मको ही ग्रहण करके जो अन्य धर्मोंका निषेध करता है—उनकी अपेक्षा नहीं रखता वह दुर्नय कहलाता है। अकलङ्कने प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें भी नयान्तरसापेक्षता दिखानेके लिए 'स्यात्' पदके प्रयोगका विधान किया है।

आ० मलयगिरि कहते हैं कि—जब नयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब 'स्यात्' शब्दसे सूचित होनेवाले अन्य अशेषधर्मोंको भी विषय करनेके कारण नयवाक्य नयरूप न होकर प्रमाणरूप ही हो जायगा। इनके मतसे जो नय एक धर्मको अवधारणपूर्वक विषय

करके इतरनयसे निरपेक्ष रहता है वही नय कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने सभी नयोंको मिथ्यावाद कहा है। मलयगिरिके कोषमें सुनय नामका कोई शब्दही नहीं है। जब स्यात्पदका प्रयोग किया जाता है तब वह प्रमाणकोटिमें पहुँचेगा तथा जब नयान्तरनिरपेक्ष रहेगा तब वह नयकोटिमें जाकर मिथ्यावाद हो जायगा। इन्होंने अकलकदेवके इस तत्त्वको मदेनजर नहीं रखा कि—नयवाक्यमें स्यात् शब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्मोंका मात्र सद्भाव ही जाना जाता है, सो भी इसलिए कि कोई वादी उनका ऐकान्तिक निषेध न समझ ले। प्रमाणवाक्यकी तरह नयवाक्यमें स्याच्छब्दसे सूचित होनेवाले अशेषधर्म प्रधानभाससे विषय नहीं होते। यही तो प्रमाण और नयमें भेद है कि—जहाँ प्रमाणमें अशेष ही धर्म एकरूपसे—अखण्डभावसे विषय होते हैं वहाँ नयमें एकधर्म मुख्य होकर अन्य अशेषधर्म गौण हो जाते हैं, 'स्यात्' शब्दसे मात्र उनका सद्भाव सूचित होता रहता है। दुर्नयमें एकधर्म ही विषय होकर अन्य अशेषधर्मोंका तिरस्कार हो जाता है। अतः दुर्नयसे सुनयका पार्यस्य करनेके लिए सुनयवाक्यमें स्यात्पदका प्रयोग आवश्यक है। मलयगिरिके द्वारा की गई अकलककी यह समालोचना उन्हीं तक सीमित रही। हेमचन्द्र आदि सभी आचार्य अकलकके उक्त प्रमाण, नय और दुर्नयके विभागको निर्विवादरूपसे मानते आए हैं। इतना ही नहीं, उपाध्याय यशोमिजयने मलयगिरिकी इस समालोचनाका सयुक्तिक उत्तर गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ B) में दे ही दिया है। उपाध्यायजी लिखते हैं कि यदि नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमें अन्तर्भाव किया जायगा तो व्यग्रहारनय तथा शब्दनय भी प्रमाण ही हो जायेंगे। नयवाक्यमें होनेवाला स्यात्पदका प्रयोग तो अनेक धर्मोंका मात्र घोतन करता है, वह उन्हें निश्चितधर्मकी तरह नयवाक्यका विषय नहीं बनाता। इसलिए नयवाक्यमें मात्र स्यात्पदका प्रयोग होनेसे वह प्रमाणकोटिमें नहीं पहुँच सकता।

देवभद्र और प्रभाचन्द्र—देवभद्रसूरि मलधारिगच्छुके श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इन्होंने न्यायान्तारटीका पर एक टिप्पण लिखा है। श्रीचन्द्रसूरिने वि० सवत् ११६३ (सन् ११३६) के दिवालीके दिन 'मुनिमुव्रत चरित्र' पूर्ण किया था। अतः इनके साक्षात् शिष्य देवभद्रका समय भी करीब सन् ११५० से १२०० तक सुनिश्चित होता है। देवभद्रने अपने न्यायान्तर टिप्पणमें प्रभाचन्द्रवृत्त न्यायकुमुदचन्द्रके निम्नलिखित दो अवतरण लिए हैं—

१—"परिमण्डलाः परमाणवः तेषा भाव धारिमण्डल्य वर्तुलत्वम्, न्यायकुमुदचन्द्रे प्रभाचन्द्रेणाप्येव व्याख्यातत्वान् ।" (पृ० २५)

२—"प्रभाचन्द्रस्तु न्यायकुमुदचन्द्रे विभाषा सद्धर्मप्रतिपादको प्रत्यविशेषः ता निवन्ति अभीपते वा वैभाषिनाः इत्युवाच ।" (पृ० ७६)

ये दोनों अवतरण न्यायकुमुदचन्द्रमें क्रमशः पृ० ४३=५० १३ तथा पृ० ३६० ५० १ में पाए जाते हैं। इनके सिवाय न्यायान्तरटिप्पणमें अनेक स्थानोंपर न्यायकुमुदचन्द्रका प्रतिविम्ब एतद्व्यपसे भ्रमकला है।

**मल्लिपेण और प्रभाचन्द्र**—आ० हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर मल्लिपेण की स्याद्वादमजरी नामकी सुन्दर टीका मुद्रित है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके नागेन्द्रगच्छीय श्रीउदयप्रभसूरिके शिष्य थे। स्याद्वादमजरीके अन्तमें दी हुई प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि—इन्होंने शक सवत् १२१४ ( ई० १२६३ ) में दीपमालिना शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी सहायतासे स्याद्वादमजरी पूर्ण की थी। स्याद्वादमजरीकी शब्द रचनापर न्यायकुमुदचन्द्रका एक विलक्षण प्रभाव है। मल्लिपेणने का० १४ की व्याख्यामें विधिवादकी चर्चा की है। इसमें उन्होंने विधिवादियोंके आठ मतोंका निर्देश किया है। साथही साथ अपनी ग्रन्थमर्यादाके विचारसे इन मतोंके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षोंके विशेष परिज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ देखनेका अनुरोध निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—“एतेषा निराकरण सपूर्वोत्तरपक्ष न्यायकुमुदचन्द्रादयसेषम्।” इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है कि मल्लिपेण न केवल न्यायकुमुदचन्द्रके विशिष्ट अभ्यासी ही थे किन्तु वे स्याद्वादमजरीमें अर्चचित या अल्पचर्चित विषयोंके ज्ञानके लिए न्यायकुमुदचन्द्रको प्रमाणभूत आकर ग्रन्थ मानते थे। न्यायकुमुदचन्द्रमें विधिवादकी निस्तृत चरचा पृ० ५७३ से ५६८ तक है।

**गुणरत्न और प्रभाचन्द्र**—विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें तपाग-छ्में श्रीदेव-सुन्दरसूरि एक प्रभावक आचार्य हुए थे। इनके पट्टशिष्य गुणरत्नसूरिने हरिभद्रकृत ‘पड्दर्शनसमुच्चय’ पर तर्करहस्यदीपिका नामकी बृहद्बृत्ति लिखी है। गुणरत्नसूरिने अपने क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थकी प्रतियोका लेखनकाल विक्रम सवत् १४६८ दिया है। अतः इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं सदीका उत्तरार्ध सुनिश्चित है। गुणरत्नसूरिने पड्दर्शनसमुच्चय टीकाके जैनमत निरूपणमें मोक्षतत्त्वका सनिस्तर निशद विवेचन किया है। इस प्रकरणमें इन्होंने स्वामिमत मोक्षस्वरूपके समर्थनके साथही साथ वैशेषिक, साह्य, वेदाती तथा बौद्धोंके द्वारा माने गए मोक्षस्वरूपका बड़े निस्तारसे निराकरण भी किया है। इस परखडनके भागमें न्यायकुमुदचन्द्रका मात्र अर्थ और भावकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु शब्दरचना तथा युक्तियोंके कोटिक्रमकी दृष्टिसे भी पर्याप्त अनुसरण किया गया है। इस प्रकरणमें न्यायकुमुदचन्द्रका इतना अधिक शब्दसादृश्य है कि इससे न्यायकुमुदचन्द्रके पाठकी शब्दशुद्धि करनेमें भी पर्याप्त सहायता मिली है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्य स्थलोंपर खासकर परपक्षखडनके भागोंपर न्यायकुमुदचन्द्रकी शुभ्रज्योत्सना जहाँ तहाँ छिटक रही है।

**यशोविजय और प्रभाचन्द्र**—उपाध्याय यशोविजयजी विक्रमकी १८ वीं सदीके युग प्रवर्तक विद्वान् थे। इन्होंने विक्रम सवत् १६८८ ( ईस्वी १६३१ ) में प० नयविजयजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने काशीमें नव्यन्यायका अध्ययन कर बादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेसे ‘न्यायविशारद’ पद प्राप्त किया था। श्रीविजयप्रभसूरिने वि० स० १७१८ में इन्हे ‘वाचक-उपाध्याय’ का सम्मानित पद दिया था। उपाध्याय यशोविजय वि० स० १७४३

(सन् १६८६) में अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए थे। दशवीं शताब्दीसे ही नव्यन्यायके विकासने भारतीय दर्शनशास्त्रमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यद्यपि दसवीं सदीके बाद अनेकों बुद्धिशाली जैनाचार्य हुए पर कोई भी उस नव्यन्यायके शब्दजालके जटिल अध्ययनमें नहीं पड़ा। उपाध्याय यशोविजय ही एकमात्र जैनाचार्य हैं जिन्होंने नव्यन्यायका समग्र अध्ययन कर उसी नव्यपद्धतिसे जैनपदार्थोंका निरूपण किया है। इन्होंने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए हैं। इनका अध्ययन अत्यन्त तलस्पर्शी तथा बहुमुख था। सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके ग्रन्थोंका इन्होंने विधिवत् पारायण किया था। इनकी तीक्ष्ण दृष्टिसे धर्मभूषणयतिकी छोटीसी पर सुविशद रचनावाली न्यायदीपिका भी नहीं छूटी। जैनतर्कभाषामें अनेक जगह न्याय-दीपिकाके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं। इनके शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका आदि बृहद्ग्रन्थोंके परपक्ष खंडनवाले अंशोंमें प्रभाचन्द्रके विविध विरूपजाल स्फुरूपसे प्रतिबिम्बित हैं। इन्होंने प्रभाचन्द्रका केवल अनुसरण ही नहीं किया है किन्तु साम्प्रदायिक खीमुक्ति और कवलाहार जैसे प्रकरणोंमें प्रभाचन्द्रके मन्तव्योंकी समालोचना भी की है।

उपरिलिखित वैदिक अवैदिकदर्शनोकी तुलनासे प्रभाचन्द्रके अगाध, तलस्पर्शी, सूक्ष्म दार्शनिक अध्ययनका यत्किञ्चिन् आभास हो जाता है। बिना इस प्रकारके बहुश्रुत अवलोकनके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे जैनदर्शनके प्रतिनिधि ग्रन्थोंके प्रणयनका उल्लास ही नहीं हो सकता था। जैनदर्शनके मध्ययुगीन ग्रन्थोंमें प्रभाचन्द्रके ये ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये पूर्वयुगीन ग्रन्थोंका प्रतिबिम्ब लेकर भी पारदर्शी दर्पणकी तरह उत्तर-कालीन ग्रन्थोंके लिए आधारभूत हुए हैं, और यही इनकी अपनी विशेषता है। बिना इस आदान-प्रदानके दार्शनिक साहित्यका विकास इस रूपमें तो हो ही नहीं सकता था।

प्रभाचन्द्रका आयुर्वेदज्ञान—प्रभाचन्द्र शुष्क तार्किक ही नहीं थे; किन्तु उन्हें जीमनी-पयोगी आयुर्वेदका भी परिज्ञान था। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२४) में वे बधिरता तथा अन्य कर्णरोगोंके लिए बलातैलका उल्लेख करते हैं। न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ६६१) में छाया आदिको पौद्रलिक सिद्ध करते समय उनमें गुणोंका सद्गान दिखानेके लिए उनने वैद्यकशास्त्रका निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

“आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।

कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं (करं) तमः ॥”

यह श्लोक राजनिघण्टु आदिमें कुछ पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसी तरह वैशेषिकोंके गुणपदार्थका सङ्गन करते समय (न्यायकु० पृ० २७५) वैद्यकतन्त्रमें प्रसिद्ध विशद, भिर, गर, पिच्छलत्व आदि गुणोंके नाम लिए हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ८) में नड्ड-छोदक—तृणपिगेरके जलसे पादरोगनी उत्पत्ति बताई है।

प्रभाचन्द्रकी कल्पनाशक्ति—सामान्यतः वस्तुकी अन्तःत्वरता या अनेकधर्मधारताकी सिद्धिके लिए अकृत्रु आदि आचार्योंने चित्रज्ञान, सामान्यनिरोध, मेचकज्ञान और नरसिंह

आदिके दृष्टान्त दिए हैं। पर प्रभाचन्द्रने एक ही वस्तुकी अनेकरूपताके समर्थनके लिए न्याय-कुमुदचन्द्र (पृ० ३६६) में 'उमेश्वर' का दृष्टान्त भी दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे एक ही शिव वामाङ्गमें उमा पार्वतीरूप होकर भी दक्षिणाङ्गमें विरोधी शिवरूपको धारण करते हैं और अपने अर्धनारीश्वररूपको दिखाते हुए अखंड बने रहते हैं उसी तरह एक ही वस्तु विरोधी दो या अनेक आकारोंको धारण कर सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए।

**उदारचिन्तार—**आ० प्रभाचन्द्र सच्चे तार्किक थे। उनकी तर्कणा शक्ति और उदार विचारोका स्पष्ट परिचय ब्राह्मणत्व जातिके खण्डनके प्रसङ्गमें मिलता है। इस प्रकारमें उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके नित्यत्व और एवमका खण्डन करके उसे सदृशपरिणमन रूप ही सिद्ध किया है। वे जन्मना जातिका खण्डन बहुविध विकल्पोंसे करते हैं और स्पष्ट शब्दोंमें उसे गुण-कर्मानुसारिणी मानते हैं। वे ब्राह्मणत्व जाति निमित्तक वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदिके व्यवहारको भी क्रियाविशेष और यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंसे उपलक्षित व्यक्ति विशेषमें ही करनेकी सलाह देते हैं—

“ननु ब्राह्मणत्वादिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवता वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम्, क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्ति-विशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः । तत्र भवत्कल्पित नित्यादिस्वभाव ब्राह्मण्य कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्धवतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवाय ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः ।”

[ न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७७८ । प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४८६ ]

“प्रश्न—यदि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ नहीं हैं तब जैनमतमें वर्णाश्रमव्यवस्था और ब्राह्मणत्व आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तप दान आदि व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर—जो व्यक्ति यज्ञोपवीत आदि चिह्नोंको धारण करे तथा ब्राह्मणोक्त योग्य विशिष्ट क्रियाओंका आचरण करे उनमें ब्राह्मणत्व जातिसे सम्बन्ध रखने वाली वर्णाश्रमव्यवस्था और तप दान आदि व्यवहार भली भाँति किये जा सकते हैं। अतः आपके द्वारा माना गया नित्य आदि स्वभाववाला ब्राह्मणत्व किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्राह्मण आदि व्यवहारोंको क्रियानुसार ही मानना युक्तिसंगत है।”

वे प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४८७) में और भी स्पष्टतासे लिखते हैं कि—“तत्र सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनेवेय ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था—इसलिये यह समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय आदि व्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश परिणाम आदिके निमित्तसे होती ही है।”

बौद्धोंके धम्मपद और श्वे० आगम उत्तराध्ययनसूत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें ब्राह्मणत्व जातिको गुण और कर्मके अनुसार बताकर उसको जन्मना माननेके सिद्धान्तका खण्डन किया है—

“न जटाहिं न गोत्तेहिं न जच्चया होति ब्राह्मणो ।

जम्हि सच्च च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

न चाह ब्राह्मण ब्रूमि योनिं मत्तिसभव ।” [ धम्मपद गा० ३१३ ]

“कम्मुणा वंभणो होइ कम्मुणा होइ यत्तिओ ।

वइसो कम्मुणा होइ सुशे हवइ कम्मुणा ॥” [ उत्तरा० २५।३३ ]

दिग्म्बर आचार्योमं वराङ्गचरित्रके कर्ता श्री जटासिंहनिदि कितने स्पष्ट शब्दोंमें जातिकी क्रियानिमित्तक लिखते हैं—

“क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृपिशिल्पभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णाश्रुतुरो वदन्ति न चायथा वर्णचतुष्टय स्यात् ॥” [वराङ्गचरित २५।११]

“शिष्टजन इन ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंको ‘अहिंसा आदि व्रतोंका पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना, तथा शिल्पवृत्ति’ इन चार प्रकारकी क्रियाओंसे ही मानते हैं । यह सब वर्णव्यवस्था व्यवहार मात्र है । क्रियाके सिवाय और कोई वर्णव्यवस्थाका हेतु नहीं है ।”

ऐसे ही विचार तथा उद्धार पद्मपुराणकार रविण, आदि पुराणकार जिनसेन, तथा धर्म परीक्षाकार अमितगति आदि आचार्योंके पाए जाते हैं । आ० प्रभाचन्द्रने, इन्हीं वैदिक सस्कृति द्वारा अनभिभूत, परम्परागत जैनसस्कृतिके निश्चिद्ध विचारोंका, अपनी प्रखर तर्कधारासे परि सिद्ध कर पोषण किया है । यद्यपि ब्राह्मणत्वजातिके खण्डन करते समय प्रभाचन्द्रने प्रधान तथा उसके नित्यत्व और ब्रह्मप्रभवश्च आदि अशोकें खण्डनके लिए इस प्रकारको लिखा है और इसके लिरनमें प्रज्ञानर गुप्तके प्रमाणार्तिकालङ्कार तथा शांतरक्षितके तत्त्वप्रहने पर्याप्त प्रेरणा दी है परन्तु इससे प्रभाचन्द्रकी अपनी जातिविवेक स्वतन्त्र चिन्तनवृत्तिमें कोई कमी नहीं आती । उन्होंने उसके हर एक पहलू पर विचार करके ही अपने उक्त विचार स्थिर किए ।

## § २. प्रभाचन्द्रका समय—

कार्यक्षेत्र और गुरुकुल—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तपेड, न्यायकुमुदचन्द्र आदिकी प्रशस्तिमें ‘पद्मनिदि सेद्धान्त को अपनी गुरु लिखा है । श्रैणवेल्लोलाके शिलालेख (न० ४०) में गोज्ञाचार्यने शिष्य पद्मनिदि सेद्धान्तकका उल्लेख है । और इसी शिलालेखमें आगे चलकर प्रतिनवर्कप्रत्यकार, शब्दाभोरुहमास्तर प्रभाचन्द्रका शिष्यरूपमें वर्णन किया गया है । प्रभाचन्द्रके प्रतिनवर्कप्रत्यकार और शब्दाभोरुहमास्तर ये दोनों त्रिणेरण यह स्पष्ट मतला रहे हैं कि ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तपेड जैसे प्रथित तर्कप्रयोग रचयिता थे तथा शब्दाभोरुहमास्तरनामक जैनन्द्रन्यासके कर्ता भी थे । इसी शिलालेखमें पद्मनिदि सेद्धान्तिके अरिद्वर्गादिक और कौमारदेववती लिखा है । इन विवरणोंमें ज्ञात होता है कि—पद्मनिदि सेद्धान्तिकका कालेख होनेक पहिले ही दीक्षा धारण की होगी और इसीलिए ये कौमारदेववती कहे जाते थे । य ग्त्वमागतम निदिगणके प्रमेयकमलमार्त्तपेडके श्रीगोज्ञाचार्यने शिष्य थे ।

प्रभाचन्द्रके सधर्मा श्रीकुलभूषण मुनि थे । कुलभूषण मुनि भी सिद्धान्तशास्त्रोंके पारगामी और चारित्रसागर थे । इस शिलालेखमें कुलभूषणमुनिकी शिष्यपरम्पराका वर्णन है, जो दक्षिणदेशमें हुई थी । तात्पर्य यह कि आ० प्रभाचन्द्र मूलसघान्तगत नन्दिगणकी आचार्यपरम्परामें हुए थे । इनके गुरु पद्मनन्दिसैद्धान्त थे और सधर्मा थे कुलभूषणमुनि । मालूम होता है कि प्रभाचन्द्र पद्मनन्दिसे शिक्षा-दीक्षा लेकर धारानगरीमें चले आए, और यहीं उन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की । ये धारापीशभोजके मान्य विद्वान् थे । प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी “श्रीभोज-देवराज्ये धारानियासिना” आदि अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि—यह ग्रन्थ धारानगरीमें भोज-देवके राज्यमें बनाया गया है । न्यायकुमुदचन्द्र, आराधनागद्यकथाकोश और महापुराण-टिप्पणकी अन्तिम प्रशस्तिवर्णके “श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना” शब्दोंसे इन ग्रन्थोंकी रचना भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवके राज्यमें हुई ज्ञात होती है । इसलिए प्रभाचन्द्रका कार्यक्षेत्र धारानगरी ही मालूम होता है । सभ्य है कि इनकी शिक्षा-दीक्षा दक्षिणमें हुई हो ।

श्रवणवेल्लोलाके शिलालेख न० ५५ में मूलसघके देशीगणके देवेन्द्रसैद्धान्तदेवका उल्लेख है । इनके शिष्य चतुर्मुखदेव और चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि थे । इसी शिलालेखमें इन गोपनन्दिके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“अवर सधर्मरु-

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरदिमच्छटा-

च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्रचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः ।

न्यायात्त्रजाकरमण्डने दिनमणिरशब्दान्जरोदोमणिः,

स्थेयात्पण्डितपुण्डरीशतरणि श्रीमान् प्रभाचन्द्रमा ॥१७॥

श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः ।

पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुशः ॥१८॥”

इन श्लोकोंमें वर्णित प्रभाचन्द्र भी धारापीश भोजराजके द्वारा पूज्य थे, न्यायरूप कमल-समूह ( प्रमेयकमल ) के दिनमणि ( मार्त्तण्ड ) थे, शब्दरूप अञ्ज ( शब्दाम्भोज ) के विकास करनेको रोदोमणि ( भास्कर ) के समान थे । पण्डित रूपी कमलके प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे, रुद्रवादि गजोंको वश करनेके लिए अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे । क्या इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र और पद्मनन्दि सेद्धान्तके शिष्य, प्रयितर्कग्रन्थकार एव शब्दाम्भोजभास्कर प्रभाचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं ? इस प्रश्न का उत्तर ‘हाँ’ में दिया जा सकता है, पर इसमें एकाही बात नहीं है । वह है—गुरुरूपसे चतुर्मुखदेवके उल्लेख होनेकी । मैं समझता हूँ कि—यदि प्रभाचन्द्र धारामें आनेके बाद अपनेही देशीयगणके श्री चतुर्मुखदेवको आदर और गुरुकी दृष्टिसे देखते हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । पर यह सुनिश्चित है कि प्रभाचन्द्रके आद्य और परमादरणीय उपास्य गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्त ही थे । चतुर्मुखदेव द्वितीय गुरु या गुरुसम हो सकते हैं । यदि इस शिलालेखके प्रभाचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि

के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र धारा-  
घीश भोजके समकालीन थे। इस शिलालेखमें प्रभाचन्द्रको गोपनन्दिका सधर्मा कहा गया है।  
हलेबेलगोलके एक शिलालेख ( नं० ४६२, जैनशिलालेखसंग्रह ) में होयसलनरेश एरेयङ्ग  
द्वारा गोपनन्दि पण्डितदेवको दिए गए दानका उल्लेख है। यह दान पौष शुद्ध १३, संवत्  
१०१५ में दिया गया था। इस तरह सन् १०६४ मे प्रभाचन्द्रके सधर्मा गोपनन्दिकी स्थिति  
होनेसे प्रभाचन्द्रका समय सन् १०६५ तक माननेका पूर्ण समर्थन होता है।

**समयविचार**—आचार्य प्रभाचन्द्रके समयके विषयमें डॉ० पाठक, प्रेमीजी § तथा मुस्तार  
सा० आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके  
उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत  
आदिपुराण का यह श्लोक—

“चन्द्रांशुशुभ्रयज्ञसं प्रभाचन्द्रकवि स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥”

अर्थात्—‘जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति  
करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत् को आह्लादित किया है।’ इस श्लोकमें  
चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझ गया है। आ० जिनसेनने  
अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५६ (ईसवी ८३७) की फाल्गुन  
शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी  
समाप्तिके अनन्तर ही आ० जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी  
अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने  
पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ईसवी ८४० के लगभग आदिपुराणकी  
रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचन्द्र तथा उनके न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक  
आदिने निर्निभारूपसे प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवीं का  
पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुद्वंद्वर प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग की प्रस्तावना (पृ० १२३)  
में डॉ० पाठक आदिके मतना निरास ङ्क करते हुए प्रभाचन्द्रका समय ई० ६५० से १०२० तक

§ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने “श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र” लेख (अनेकान्त  
वर्ष ४ सं० १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमातं०६ और गद्यकथाकोश आदिके  
कर्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि—“हम  
समझते हैं कि प्रमेयकमलमातं०६ और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्ता हैं।  
और नन्दापर्वस्तारद (सर्वायं गिद्धिने पदोका प्रकटीकरण), समाहितनटीका, आत्मानुशासननिलक, त्रिया-  
कनारटीका, प्रवचनमारमरोजभास्वर (प्रवचनमारकी टीका) आदिके कर्ता, और सायद रत्नचण्डीकाके  
कर्ता भी वही हैं।”

‡ प० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके ‘चन्द्रांशुशुभ्रयज्ञसं’ इतिमें चन्द्रोदयकार किमी अन्य प्रभा-  
चन्द्रविधा उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनने द्वारा न्यायकुमुदचन्द्रकार  
प्रभाचन्द्रके समूह होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवन् नही मालूम होते। यतः (१) आदि-



निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अन्तर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अशान्त नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचन्द्रके ग्रन्थोंमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीकाका प्रभाव देखकर प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि १५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचन्द्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं 'व्योमशिव और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय (पृ० ८) व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० १५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुरिथिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचन्द्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचन्द्र आचार्यका भी। बलात्कारणके श्रीचन्द्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है—

पुराणकार इसके लिए बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचन्द्रके द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य और विद्यानन्दका स्मरण करना ही चाहिए। विद्यानन्द और अनन्तवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिए वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचन्द्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानन्द आदि आचार्योंका स्मरण करके भी आदिपुराणकार द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचन्द्र' की तुलना करते समय मैं जयन्तका समय ई० ७५० से ८५० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीनबूढ़ जयन्त से प्रभावित होकर भी प्रभाचन्द्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासन से 'अन्धावय महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचन्द्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेकी बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेन स्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योंकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँघता है। अतः आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचन्द्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है— "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धे सम्बोधनव्याजेन सर्वसम्बोधकारक सन्नागंमुपवर्षयितुकामो गुणभद्रदेवः" अर्थात्—गुणभद्र स्वामीने विषयोकी ओर चञ्चल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रन्थ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अविक्लवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया क्योंकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामुग्धबुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एव अविक्लवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तरपुराणकी रचनाके पहिले ही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। प० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्वलमाला (पृ० ७५) में यही सभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेन की मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आन्तरिक जाँच करने से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—आत्मानुशासनका ३२ वाँ पद्य 'नेता यस्य बृहस्पति' भवुं हरिकेनीतिशतकका ८८वाँ श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'अदेतत्त्वच्छब्द' वंरायशतकका ५० वाँ श्लोक है। ऐसी स्थितिमें 'अन्धावयं महानन्ध' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिकाव्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रके ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२—यापनीयसघाप्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिन्धुय केवलिभुक्ति और स्त्रीभुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्य काल ( ई० ८१४ से ८७७ ) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीभुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३—सिद्धसेनदिवाकरके न्यायातारपर सिद्धविगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धवि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धविने ई० ९०६ में अपनी उपमितिमत्रप्रश्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायातारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४—भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० २८२ ) में भासर्वज्ञके इस मतका खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र विद्याभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बादही होना चाहिए।

५—आ० देवसेनने अपने दर्शनतार प्रथ ( रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई० ) के बाद भावसप्रह प्रथ बनाया है। इसकी रचना समवत सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोत्रम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शान्दान्मोजमास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहाशुक्तिके बाद इसीने आधारसे बनाया गया है। मैं 'धमयनिदि और प्रभाचन्द्र' की तुलना ( पृ० ३३ ) करते हुए लिख आया हूँ कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानतः १६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७-पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नरुण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् १६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्ता हैं। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० १६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिरत्नकोका एव पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुकरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८-श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् १११ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ११० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९-श्रृणुवेङ्गोलाके लेख न० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्होंने शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दान्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है-

“अविद्वकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।

कौमारदेवव्रतितानप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥ १५ ॥

तच्छिष्यः कुलभूषणाख्यतिपश्चारित्रवारानिधिः,

सिद्धान्तान्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।

शब्दान्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-

चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः ॥ १६ ॥”

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दान्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दान्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही है। धनलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिर ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है-“उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्य परम्परा इस प्रकार है-कुलभूषणके सिद्धान्तगारानिधि सद्बुद्ध कुलचन्द्र नामके शिष्य

जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्यकाल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिनाम्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होनेवाले व्यक्तिकी करतत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्री भोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंह-देवराज्ये' प्रशस्तियाँ सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रने ही बनाई हैं। और जिन जिन ग्रन्थोंमें ये प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के ही ग्रन्थ होने चाहिए।

२—यापनीयसघाप्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलमुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघरपके राज्य-काल ( ई० ८१४ से ८७७ ) में रची थी। आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३—सिद्धसेनदिगाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचन्द्र' की तुलना में बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभयप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचन्द्रका समय सन् ९१० के पहिले नहीं माना जा सकता।

४—भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे<sup>१</sup> ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोग रूप मानते थे। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० २८२ ) में भासर्वज्ञके इस मतका खडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्यायमें जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डॉ० शतीशचन्द्र त्रिपाठ्यभूषण इनका समय ई० ९०० के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाचन्द्रका समय भी ई० ९०० के बादही होना चाहिए।

५—आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रन्थ ( रचनासमय ९९० वि० ९३३ ई० ) के बाद भायसप्तद्वय ग्रन्थ बनाया है। इसकी रचना समवत सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोरम्मकम्मद्वारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा सत्य देखनेकी है तो प्रभाचन्द्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६—आ० प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमल<sup>२</sup> और न्यायकुमुद<sup>३</sup> बनानेके बाद शब्दाभोजमास्कर नामका जनेन्द्रयास रचा

वे 'धमपनी'

<sup>१</sup>—द्रमशावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है।

<sup>२</sup>—करते हुए सिद्ध थाया हैं कि नेमिचन्द्रसिद्धान्त-

चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचना काल अनुमानत १६० ई० होना चाहिए। अतः प्रभाचन्द्रका समय ई० १६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७-पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नरुण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् १६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही इस टिप्पणके कर्त्ता है। यदि यही प्रभाचन्द्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचन्द्रका समय ई० १६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण इन्होंने न्यायकुमुदचन्द्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयम्भलमार्चण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके प्रशस्तिश्लोकोंका एव पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुसरण किया गया है, प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्य कालतक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८-श्रीधर और प्रभाचन्द्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं कि प्रभाचन्द्रके ग्रन्थों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् १११ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचन्द्रकी पूर्वावधि ई० ११० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना सगत मालूम होता है।

९-अत्रणवेलगोलाके लेख न० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है-

“अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दिसैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके ।

कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीर ॥ १५ ॥

तच्छिष्य कुलभूषणाख्ययतिपञ्चारित्रवारानिधि ,

सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतयिनेयस्तत्सधर्मो महान् ।

शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभा

चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवर श्रीकुण्डकुन्दान्वय ॥ १६ ॥”

इस लेखमें वर्णित प्रभाचन्द्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके वलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जनेन्द्रन्यास और प्रमेयम्भलमार्चण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धनलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिक्रा इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालालजीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचन्द्रके समय पर सयुक्तिरूपेतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है-“उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी परम्परा इस प्रकार है-कुलभूषणके सिद्धान्तवारानिधि सहच कुलचन्द्र नामके शिष्य

हुए, कुलचन्द्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे—सामन्तकेदार नाकरस, सामन्त निम्बदेव और सामन्त कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए—गण्डविमुक्तदेव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके अधीन केळगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारी हिरिय भडागी, अभिनवगद्गडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निपट्टा निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्ष्मणन्दि, माघन और त्रिसुवनदेवने महादान व पूजाभियंता करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख न० ३६ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गासना समय शक १०८५ सुभानु सत्रसर आपाड शुक्ल ६ बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्ष्मणन्दि माघनचन्द्र और त्रिसुवनमन्त्रने गुरु भक्तिसे उनकी निपट्टाकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढ़ी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००—१२५ वर्ष अर्थात् शक ६५० (ई० १०२८)के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तना उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गडरादित्यदेवके उल्लेख शक स० १०३० से १०५८ तक के लेखों में पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वाक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।”

यह विवेचन शक स० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करने पर यह प्रश्न होता है कि जिस तरह प्रभाचन्द्रके सर्वा कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका सभाव्य कारण यही मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रातमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अक्षरगणनासे निर्वाह सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयमिह्र दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् ६६० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०—सादिराजमूर्ति अपने पार्श्ववर्तितमें अपने पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्ववर्ति शक स० ६४७ (ई० १०२५) में बाबर समाप्त हुआ था। इन्होंने अजलकदेवके व्यापनिधिष्य परम्परा पर व्यापनिधिष्यपरिवरण या व्यापनिधिष्यवतापर्यायपोतनी व्यापयानरत्नमाता नामकी विग्रह टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके प्रयोगोंसे

प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण खतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक संभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका ( पृ० १६ ) में प्रमेयकमलमार्त्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ ( ई० १३८५ ) में बनाई थी\*। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिपेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी ( रचना समय ई० १२६३ ) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आ० मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका ( पृ० ३७१ A ) में लघीय-ख्यकी एक कारिकाका व्याख्यान करते हुए 'टीकाकारके' नामसे न्यायकुमुदचन्द्रके की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृतकी है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायान्तर-टीकाटिप्पण ( पृ० २१, ७६ ) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचन्द्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानों के उल्लेखों के आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बाद के विद्वान् नहीं है।

२—रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्र पर प्रभाचन्द्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। प० जुगलकिशोर जी मुख्तार †ने इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचन्द्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न हैं। रत्नकरण्ड-टीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनगारधर्माभूत टीका ( अ० ८ छो० ६३ ) में किये जाने के कारण इस टीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया गया है; क्योंकि अनगारधर्माभूत टीका वि० सं० १३०० में बनकर समाप्त हुई थी। अन्ततः मुख्तारसा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तारसा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० ( ई० ११६३ ) ही मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार ( पृ० ६ ) में केवलिकवलाहारके खडनमें न्यायकुमुदचन्द्रगत शब्दावलीका पूरा पूरा अनुसरण करके लिखा है कि—“तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।” इसी तरह समाधितन्त्र टीका ( पृ० १५ ) में लिखा है कि—“यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्पुन्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।” इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और

\* स्वामी समन्तभद्र पृ० २२७। † रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ मे।

न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचन्द्र ईसा की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

३-वादिदेवसूरिका जन्म वि० स० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० स० १२२२ में हुआ था। ये वि० स० ११७४ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। समभव है इन्होंने वि० स० ११७५ ( ई० १११८ ) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थस्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किंतु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिविम्ब चर्चामें प्रभाचन्द्र और प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डका नामोल्लेख करके खडन भी किया गया है। अतः प्रभाचन्द्रके समयकी उत्तरावधि अतत ई० ११०० सुनिश्चित हो जाती है।

४-जैनेन्द्रयाचरणके अभयनदिसम्मत सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्तिने पचवस्तुप्रक्रिया बनाई है<sup>१</sup>। श्रुतकीर्ति कनडीचन्द्रप्रभचरित्रके कर्त्ता अगलकविके गुरु थे। अगलकविने शक १०११, ई० १०८२ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिके समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक न्यास ग्रन्थका उल्लेख किया है। समभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है। शिमोगा जिलेके शिलालेख न० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्रयासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामान' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचन्द्रका समय सन् १८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्री भोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचन्द्रके 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्ति लेखको देखने हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हें किसी टीकाटिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी वरत्त बहकर नहीं टाला जा सकता।

उपर्युक्त निवेदनसे प्रभाचन्द्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि बरीब बरीब भोजदेव और जयसिंह इनके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें पाए जाने वाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचन्द्रकर्तृतामें सन्देहको कोई स्थान नहीं रहता। इसलिये प्रभाचन्द्रका समय ई० १८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है\*।

१ देखो-इमा प्रस्तावनाका श्रुतकीर्ति और प्रभाचन्द्र' भाग प० ३६।

\* प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रमेयकमलरूपके मण्डलक प० बगीचरजी गान्धी सोलापुरन उक्त सस्तरण के उल्लेखानमें श्रीभोजदेवराज्ये' प्रामाणिक अनन्तर प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी प्यारहवीं शताब्दी सूचित किया है। और आपन इसके समर्थन के लिए नमिचन्द्रमिडान्तचरित्रकी गाथायात्रा प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आरका यह प्रमाण अमान्य नही है प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें विगहनप्रमाणों का और लोपायासणम गाथाएँ उद्धृत है। पर य गाथाएँ नमिचन्द्रकृत नहीं है। पहिनी



### § ३. प्रभाचन्द्र के ग्रन्थ—

आ० प्रभाचन्द्रके जितने ग्रन्थोका अभी तक अन्वेषण किया गया है उनमें कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा कुछ व्याख्यात्मक । उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखव्याख्या), न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयसूत्र व्याख्या), तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या), और शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरणव्याख्या) इन चार ग्रन्थोका परिचय इसी ग्रन्थके प्रथमभागकी प्रस्तावनामें दिया जा चुका है । यहाँ उनके शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण महान्यास) और प्रचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारटीका) का परिचय दिया जाता है । गद्यकथाकोश, महापुराणटिप्पण आदि भी इन्हींके ग्रन्थ हैं । इस परिचयके पहिले हम 'शाकटायनन्यास' के कर्तृत्व पर विचार करते हैं—

भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने शिलालेख तथा किन्दन्तियोंके आधारसे शाकटायनन्यासको प्रभाचन्द्रकृत लिखा है§ । शिमोगा जिलेके नगरतालुककेके शिलालेख न० ४६ (एपि० कर्ना० पु० ८ भा० २ पृ० २६६-२७३) में प्रभाचन्द्रकी प्रशसापरक ये दो श्लोक हैं—

“माणिक्यनन्दिजिनराजयाणीप्राणाधिनाथ. परवादिमर्दी ।

चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्त्तण्डवृद्धौ नितरा व्यदीपित ॥

\*सुखि न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।

शाकटायनकृतसूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥”

जैनसिद्धान्तभवन आरामें वर्धमानमुनिकृत दशमत्तयादिमहाशास्त्र है । उसमें भी ये श्लोक हैं । उनमें 'सुखि' की जगह 'सुखीशे' तथा 'व्रतीन्दवे' के स्थानमें 'प्रमेन्दवे' पाठ है ।

गाथा धवलटीका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है श्री० उमास्वानिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिये भी पाई जाती है । दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वी) कृत सर्वार्थसिद्धिये उद्धृत है । अतः इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता । अवश्य ही इन्हे नेमिचन्द्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें सगृहीत किया है । अतः इन गाथाओंका उद्धृत होना ही प्रभाचन्द्रके समयको ११ वीं सदी नहीं साध सकता ।

§ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना पृ० १२५ ।

\* इस शिलालेखके अनुवादमें राइस सा० ने आ० पूज्यपादको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय और शाकटायनन्यासका कर्ता लिख दिया है । यह गलती आपसे बसलिय हुई कि इस श्लोकके बाद ही पूज्यपादको प्रशसा करनेवाला एक श्लोक है, उसका अन्वय आपने भूलसे “सुखि” इत्यादि श्लोकके साथ कर दिया है । वह श्लोक यह है—

“न्यासं जैनेन्द्रसत्त सवलद्वधनुतं पाणिनीयस्य भूयो-

न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वंछशास्त्र च कृत्वा ।

यस्तत्त्वार्थस्य टीका ध्यरचयदिह ता भात्यसो पूज्यपाद-

स्वामी भूपालवन्द्य. स्वपरहितवच. पूर्णद्वग्बोधवत् ॥”

थोड़ी सी सावधानीसे विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम होता जाता है कि 'सुखि' इत्यादि श्लोकके चतुर्थ्यन्त पदोका 'न्यास' वाले लोकसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है । ब० शीतलप्रसादजीने 'मद्रास और मेमूरप्रान्तके स्मारक' में तथा प्रो० हीरालालजीने 'जैनशिलालेख संग्रह' की भूमिका (पृ० १४१) में भी राइस सा० का अनुसरण करके इसी गलतीको दुहराया है ।

यह शिलालेख १६ वीं शताब्दीका है और वर्धमानमुनिका समय भी १६ वीं शताब्दी ही है। शाकटायनन्यासके प्रथम दो अध्यायोकी प्रतिलिपि स्याद्वादविद्यालयके सरस्वतीभवनमें मौजूद है। उसको सरसरी तौर से पलटने पर मुझे इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें निम्नलिखित कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ है—

१—इस ग्रन्थमें मंगलश्लोक नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरण नियमित रूपसे करते हैं।

२—सन्धिके अन्तमें तथा ग्रन्थमें कहीं भी प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख नहीं है जब कि प्रभाचन्द्र अपने प्रत्येक ग्रन्थमें 'इति प्रभाचन्द्रविरचिते' आदि पुष्पिकालेख या 'प्रमेन्दुर्जित्' आदि रूप से अपना नामोल्लेख करनेमें नहीं चूकते।

३—प्रभाचन्द्र अपनी टीकाओंके प्रमेयकमलमार्चण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाम्भोजभास्कर आदि नाम रखते हैं जब कि इस ग्रन्थके इन श्लोकोंमें इसका कोई खास नाम सूचित नहीं होता—

“शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः ।

प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः ॥

सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च ययामति ।

ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति ( ? ) क्रियते नामनामतः ॥”

४—शाकटायन यापनीयसघके आचार्य थे और प्रभाचन्द्र थे कष्टर दिग्म्बर। इन्होंने शाकटायनके स्त्रीभुक्ति और केरलिभुक्तिप्रकरणोंका खडन भी किया है। अतः शाकटायनके व्याकरणपर प्रभाचन्द्रके द्वारा न्यास लिखा जाना कुछ समझमें नहीं आता।

५—इस न्यासमें शाकटायनके लिए प्रयुक्त 'संघाधिपति, महाश्रमणसघप' आदि विशेषणों का समर्थन है। यापनीय आचार्यके इन विशेषणोंके समर्थनकी आशा प्रभाचन्द्र द्वारा नहीं की जा सकती। यथा—

“एवभूतमिदं शास्त्रं चतुरध्यायरूपतः, संघाधिपतिः श्रीमानाचार्यः शाकटायनः ॥

महतारभते तत्र महाश्रमणसघपः, श्रमेण शब्दतत्त्वं च विशदं च विशेषतः ॥

महाश्रमणसंघाधिपतिरित्यनेन मन समाधानमाख्यायते । विषयेषु विक्षिप्तचेतसो न मनः-समाधिः ॥ असमाहितचेतसश्च किं नाम शास्त्रकरणम्, आचार्य इति तु शब्दविद्याया गुरुत्वं शाकटायन इति अन्ययद्युद्धिप्रकर्षः, विशुद्धान्वयो हि शिष्टैरुपलीयते । महाश्रमणसंघाधिपतेः सन्मार्गानुशासन युक्तमेव ॥”

१ मैत्रय युनि० में न्यायग्रन्थकी दूसरे अध्यायके चौथे पादके १२४ सूत्र तक की वाणी है ( नं० A 605 ) । उममें निम्नलिखित मंगलश्लोक है—

‘प्रणम्य ज्विनं प्राक्तविश्वध्याकरणाधियं । शब्दानुशासनस्ययं वृत्तेर्विवरणोद्यमः ॥

अस्मिन् भाष्याणि भाष्यन्ते वृत्तयो वृत्तिमाधिता । न्यासा ग्यस्ता कृता टीका पारं पारायणान्यम् ॥ तत्र वृत्ता ( रवा ) शब्दयं मंगलश्लोक धीवीरममूननिरवादि ।

परन्तु इन श्लोकोंकी रचनातीक्ष्ण प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्र आदि के मंगलश्लोकोंसे अत्यन्त विपरीत है ।

६-प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैनेन्द्रव्याकरणसे ही सूत्रोंके उद्धरण दिए हैं जिसपर उनका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास है। यदि शाकटायनपर भी उनका न्यास होता तो वे एकाध स्थानपर तो शाकटायनव्याकरणके सूत्र उद्धृत करते।

७-प्रभाचन्द्र अपने पूर्वग्रन्थोंका उत्तरग्रन्थोंमें प्रायः उल्लेख करते हैं। यथा न्याय-कुमुदचन्द्रमें तत्पूर्वकालीन प्रमेयकमलमार्त्तण्डका तथा शब्दाम्भोजभास्करमें न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड दोनोंका उल्लेख पाया जाता है। यदि शाकटायनन्यास उन्होंने प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड आदिके पहिले बनाया होता तो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिमें शाकटायनव्याकरणके सूत्रोंके उद्धरण होते और इस न्यासका उल्लेख भी होता। यदि यह उत्तरकालीन रचना है तो इसमें प्रमेयकमल आदिका उल्लेख होना चाहिये था जैसा कि शब्दाम्भोजभास्करमें देखा जाता है।

८-शब्दाम्भोजभास्करमें प्रभाचन्द्रकी भाषाकी जो प्रसन्नता तथा प्रावाहिकता है वह इस दुरूह न्यासमें नहीं देखी जाती। इस शैलीवैचित्र्यसे भी इसके प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह होता है। प्रभाचन्द्रने शब्दाम्भोजभास्कर नामका न्यास बनाया था और इसलिए उनकी न्यासकारके रूपसे भी प्रसिद्धि रही है। मालूम होता कि वर्धमानमुनिने प्रभाचन्द्रकी इसी प्रसिद्धिके आधार से इन्हे शाकटायनन्यासका कर्त्ता लिख दिया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह न्यास स्वयं शाकटायनने ही बनाया होगा। अनेक वैयाकरणोंने अपने ही व्याकरण पर न्यास लिखे हैं।

शब्दाम्भोजभास्कर-श्रवणवेलगोलके शिलालेख न० ४० ( ६४ ) में प्रभाचन्द्रके लिये 'शब्दाम्भोजदिवाकरः' विशेषण भी दिया गया है। इस अर्थगर्भ विशेषणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे प्रथिततर्क ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रथिततर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रही शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रव्याकरण महान्यासके रचयिता हैं। ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनकी अधूरी प्रतिके आधारसे इसका टुक परिचय यहाँ दिया जाता है। यह प्रति सवत् १९८० में देहलीकी प्रतिसे लिखाई गई है। इसमें जैनेन्द्रव्याकरणके मात्र तीन अध्यायका ही न्यास है सो भी बीचमें जगह जगह त्रुटित है। ३९ से ६७ न० के पत्र इस प्रतिमें नहीं हैं। प्रारम्भके २८ पत्र किसी दूसरे लेखकने लिखे हैं। पत्रसंख्या २२८ है। एक पत्रमें १३ से १५ तक पक्तियाँ और एक पक्तिमें ३९ से ४३ तक अक्षर हैं। पत्र बड़ी साइजके हैं। मगलाचरण-

“श्रीपूज्यपादमकलङ्कमनन्तवोधम्, शब्दार्थसंशयहर निखिलेषु बोधम्।

सच्छब्दलक्षणमशेषमतः प्रसिद्धं वक्ष्ये परिस्फुटमलं प्रणिपत्य सिद्धम् ॥ १ ॥

सविस्तर यद् गुरुभिः प्रकाशितं महामतीनामभिधानलक्षणम्।

मनोहरैः स्वल्पदैः प्रकाश्यते महद्भिरुपदिष्टि याति सर्वापिमार्गे ( ? )

\*\*\*तदुक्तं कृतशिक्ष ( ? ) श्लाघ्यते तद्धि तस्य।

किमुक्तमपिलक्षैर्भाषमाणे गणेन्द्रो विविक्षमपिलार्थं श्लाघ्यतेऽतो मुनीन्द्रैः ॥३॥

शब्दानामनुशासनानि निखिलान्याध्यायताहर्निशम्,

यो यः सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणाशो गतः।

तं स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषां चेतश्चमत्कारकः,  
सुव्यक्तैरसमैः प्रसन्नवचनैर्न्यासः समारभ्यते ॥ ४ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामि (मी) विनेयानां शब्दसाधुत्वासाधुत्वविवेकप्रतिपत्त्यर्थं शब्दलक्षणप्रणयनं कुर्वाणो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकमभिलषन्निष्टदेवतास्तुतिविषयं नमस्कुर्वन्नाह—लक्ष्मी-  
रासन्तिकी यस्य...”

यह न्यास अभयनन्दिकृत जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है। इसमें महावृत्तिके शब्द आनुपूर्वीसे ले लिए गए हैं और कहीं उनका व्याख्यान भी किया है। यथा—

“सिद्धिरनेकान्तात्—प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रप्राह्यतया परमार्थतोषेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिरनेकान्ताद् भवतीत्यर्थाधिकार आशास्त्रपरिसमा-  
प्तेर्वेदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः  
अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः”—महावृत्ति पृ० २।

“द्विविधा च शब्दानां सिद्धिः व्यवहाररूपा परमार्थरूपा चेति। तत्र प्रकृतीत्य ( ? )  
विकारगमादिविभागेन रूपा तत्सिद्धिः तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्। श्रोत्रप्राह्यौ ( ह्याः ) परमार्थतोये  
प्रकृत्यादिविभागाः प्रमाणनयादिभिरभिगमोपायैः शब्दानां तत्त्वप्रतिपत्तिः परमार्थरूपा सिद्धिः  
तद्भेदस्यात्र प्राधान्यात्, सामयितेषां सिद्धिरनेकान्ताद्भवतीत्येपोऽधिकारः आशास्त्रपरिसमा-  
प्तेर्वेदितव्यः। अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्य-  
सामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्ता-  
त्मक इत्यर्थः।”—शब्दान्भोजभास्कर पृ० २ A।

इस तुलनासे तथा तृतीयाध्यायके अन्तमें लिखे गए इस श्लोकसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद बनाया गया है—

“नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने। प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥”

इस श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया गया है। प्रत्येक पादकी समाप्तिमें “इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दान्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः” इसी प्रकारके पुष्पिकालेख हैं।

तृतीय अध्यायके अन्तमें निम्नलिखित पुष्पिका तथा श्लोक हैं—

“इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दान्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्या-  
ध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ श्रीवर्धमानाय नमः ॥

सन्मार्गप्रतिबोधको बुधजनैः संस्तूयमानो दृष्टात्।

अज्ञानान्धतमोपहः चितितले श्रीपूज्यपादो महान् ॥

सार्धैः सन्ततसत्रिमन्धिनिषतः पूर्यापरातुक्रमः।

शब्दान्भोजदियाकरोऽस्तु महसा नः श्रेयसे यं च वै ॥

नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने ।

प्रभाचन्द्राय गुरुवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥ छ ॥

श्री वासुपूज्याय नमः । श्री नृपतिविक्रमादित्यराज्येन संवत् १९८० मासोत्तममासे चित्रशुक्ल-  
पक्षे एकादश्यां ११ श्री महावीरसंवत् २४४९ । हस्ताक्षर छाजूराम जैन विजेश्वरी लेखक  
पालम ( सूवा देहली )”

जैन-द्रव्याकरणके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं—एक तो वह जिस पर अभयनन्दिने महा-  
वृत्ति, तथा श्रुतकीर्तिने पञ्चनस्तु नामकी प्रक्रिया बनाई है; और दूसरा वह जिस पर सोमदेव-  
सूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका है । प० नाथूराम प्रेमीने<sup>१</sup> अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे अभयनन्दिनसम्मत  
सूत्रपाठको ही प्राचीन तथा पूज्यपादकृत मूलसूत्रपाठ सिद्ध किया है । प्रभाचन्द्रने इसी अभय-  
नन्दिनसम्मत प्राचीन सूत्रपाठ पर ही अपना यह शब्दाभोजभास्कर<sup>२</sup> नामका महान्यास बनाया है ।

आ० प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रकी रचनाके बाद  
बनाया है जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यसे सूचित होता है—

“तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेय-  
कमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् ।”

प्रभाचन्द्र अपने न्यायकुमुदचन्द्र ( पृ० ३२९ ) में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ देखनेका  
अनुरोध इसी तरहके शब्दोंमें करते हैं—“ एतच्च प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपञ्च प्रपञ्चितमिह  
द्रष्टव्यम् ।”

व्याकरण जैसे शुष्क शब्दविषयक इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रकी प्रसन्न लेखनीसे प्रसूत  
दर्शनशास्त्रकी क्वचित् अर्थप्रधान चर्चा इस ग्रन्थके गौरवको असाधारणतया बढ़ा रही है ।  
इसमें विविचिचार, कारकविचार, लिंगविचार जैसे अनूठे प्रकारण हैं जो इस ग्रन्थको किसी  
भी दर्शनग्रन्थकी कोटिमें रख सकते हैं । इसमें समन्तभद्रके युक्तयनुशासन तथा अन्य अनेक  
आचार्योंके पद्योंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है । पृ० ९१ में ‘त्रिभ्रह्मसाऽस्य पुत्रो जनिता’  
प्रयोगका हृदयप्राही व्याख्यान किया है । इस तरह क्या भाषा, क्या नियम और क्या प्रसन्नशैली,  
हर एक दृष्टिसे प्रभाचन्द्रका निर्मल और प्रौढ़ पाण्डित्य इस ग्रन्थमें उदात्तभासे निहित है ।

प्रवचनसारसरोजभास्कर—यदि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलको विवसित करनेके लिए  
मार्त्तण्ड बनानेके पहिले प्रवचनसारसरोजके विकासार्थ भारकरका निर्माण किया हो तो कोई

१ देखो—‘जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी’ लेख, जैनसाहित्य सशोधक भाग १ अंक २ ।

२ पंडित नाथूलाल शास्त्री इन्दौर सूचित करते हैं कि तुकोगज इन्दौरके ग्रन्थभण्डारमें भी शब्दा-  
भोजभास्करके तीन ही अध्याय हैं । उसका मंगलाचरण तथा अन्तिम प्रशस्ति-लेख बम्बईकी प्रतिके ही  
समान हैं । प० भुजन्जीजी शास्त्रीके पत्रसे ज्ञात हुआ है कि कारवलके मठमें भी इसकी प्रति है । इस प्रति  
में भी तीन ही अध्यायका न्यास है । प्रेमीजी सूचित करते हैं कि बंबईके भवनमें इसकी एक प्राचीन प्रति है  
उसमें चतुर्थ अध्यायके तीसरे पादके २११ वें सूत्र तकका न्यास है, आगे नहीं । हो सकता है कि यह प्रभा-  
चन्द्रकी अन्तिमकृति ही हो और इसलिए पूर्ण न हो सकी हो ।

अनहोनी बात न होकर अधिक संभव और निश्चित बात मालूम होती है। ( प्रमेय ) कमल-मार्गण्ड, (न्याय) कुमुदचन्द्र, (शब्द) अम्भोजभास्कर जैसे सुन्दर नामोंकी कल्पिका प्रभाचन्द्रीय बुद्धिने ही ( प्रवचनसार ) सरोजभास्करका उदय किया है। इस ग्रन्थकी सवत् १५५५ की लिखी हुई जीर्णप्रति हमारे सामने है। यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है। इसका परिचय सक्षेपमें इस प्रकार है—

पत्रसख्या ५३, श्लोकसख्या १७४६, साङ्ग १३×६। एक पत्रमें १२ पंक्तिया तथा एक पक्तिमें ४२-४३ अक्षर हैं। लिखावट अच्छी और शुद्धप्राय है। प्रारम्भ—

“ओं नमः सर्वज्ञाय शिष्याशयः।

वीर प्रवचनसारं निखिलार्थं निर्मलजनानन्दम्।

वक्ष्ये सुखावगोधं निर्माणपदं प्रणम्यात्मम्॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सखल्लोकपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिचिनेयाशयवशेनोपदर्शयितुनामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह ॥ छ ॥ एस मुरामुर १”

अन्त—“इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुभोपयोगाधिकार समाप्तः ॥४॥ संवत् १५५५ वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पून्यमाया तिथौ गुरुवासरे गिरिपुरे व्या० पुरुपोत्तम लि० ग्रन्थसख्या पट्टचत्वारिंशदधिकानि सप्तदशशतानि ॥१७४६॥”

मध्यकी सन्धिधोक्ता पुष्पिकालेख—“इति श्री प्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रवचनसारसरोज-भास्करे...” है।

इस टीका में जगह जगह उद्धृत दार्शनिक अवतरण, दार्शनिक व्याख्यापद्धति एवं सरल प्रसन्नशैली इसे न्यायकुमुदचन्द्रादिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी कृति सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है। अवतरण—( गा० २।१० ) “नाशोत्पादौ समं यद्ब्रह्मामोत्रामौ तुलान्तयो।” ( गा० २।२८ ) “द्वेषोपात्तकर्मवशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः ससार ” इनमें दूसरा अवतरण राजवार्तिक का तथा प्रथम किसी बौद्ध ग्रन्थका है। ये दोनों अवतरण प्रमेयकमल० और न्यायकुमुद० में भी पाए जाते हैं। इस व्याख्याकी दार्शनिक शैलीके नमूने—

( गा० २।१३ ) “यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मक मत्तात् पृथग्या ? तत्रायः पत्रो न भवति, यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुवं निश्चयेन न त तन् भवति । कथं केन प्रकारेण द्रव्यं ग्रविषाणयत् । ह्यदि पुणो अणं वा । अय मत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूत द्रव्यं भवति तदा अतः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे मत्तात्त्वना व्यर्था । मत्तामन्वधात्मत्त्वे चान्योन्याश्रयः—मिद्धे हि तत्त्वत्त्वे मत्तासम्बन्धसिद्धि तस्याच्च सम्बन्ध-मिद्धौ मत्या तत्त्वत्त्वमिद्धिरिति । तत्त्वत्त्वमिद्धिमन्तरेणापि मत्तामन्वन्धे र्गपुष्पादेरपि तत्त्वमद्गः । तस्मान् द्रव्यं स्वयं मत्ता स्वयमेव मदभ्युपगन्तव्यम् ।” ( गा० २।१६ )

“...तथादि—द्रव्यति द्रोप्य यदुद्रवत्तास्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्या द्रोप्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति।

गम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुण । द्रव्य वा द्रव्यातरान् येन विशिष्यते सः गुण । इत्ये-  
तस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवन एसो एष हि अतद्भाव ।”  
इन गाथाओंकी अमृतचन्द्रीय और जयसेनीय टीकाओंसे इस टीकाकी तुलना करने पर इसकी  
दार्शनिकप्रसूतता अपने आप झलक मारती है । इस टीकाका जयसेनीयटीका पर प्रभाव है  
और जयसेनीयटीकासे यह निश्चय ही पूर्वकालीन है ।

अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी जिन ३६ गाथाओंकी व्याख्या नहीं की है प्राय वे गाथाएँ  
प्रवचनसारसरोजभास्करमें यथास्थान व्याख्यात हैं । जयसेनीयटीकामें प्रभाचन्द्रका अनुसरण  
करते हुए इन गाथाओंकी व्याख्या की गई है । हाँ जयसेनीयटीकामें दो तीन गाथाएँ अतिरिक्त  
भी हैं । इन टीकाका लक्ष्य है गाथाओंका सक्षेपसे खुलासा करना । परन्तु प्रभाचन्द्र प्रारम्भसे  
ही दशनशास्त्रके विशिष्ट अम्हासी रहे हैं इसलिए जहाँ खास अरसर आया वहाँ उन्होने  
सक्षेपसे दार्शनिक मुद्दोंका भी निर्देश किया है ।

प्र० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी भूमिकामें भावत्रिभगीकार श्रुतमुनिके ‘सारत्रय  
निपुण प्रभाचन्द्र’के उल्लेखसे प्रवचनसारसरोजभास्करके कर्त्तृका समय १४वीं सदीका प्रारम्भिक  
भाग सूचित किया है । परन्तु यह सभानना किसी दृढ़ आधार से नहीं की गई है ।

जयसेनीय टीकापर इसका प्रभाव होनेसे ये उनसे प्राक्कालीन तो हैं ही । आ० जयसेन  
अपनी टीका में (पृ० २१) केवलिकरलाहारके खडनका उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि—  
“अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषा ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्या अत्र चाध्यात्म-  
ग्रन्थरत्नोच्यन्ते ।” सम्भव है यहाँ तर्कशास्त्रसे प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिकी विवक्षा  
हो । अस्तु, मुझे तो यह सक्षिप्त पर निशदटीका प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रारम्भिककृति मालूम होती है ।

गद्यकथाकोश—यह ग्रन्थ भी इहीं प्रभाचन्द्रका मालूम होता है । इसकी प्रतिमें  
८१ वीं कथाके बाद “श्रीजयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति है । इसके प्रशस्ति श्लोकोंका प्रभाचन्द्रकृत  
न्यायकुमुदचन्द्र आदिके प्रशस्ति श्लोकोंसे पूरा पूरा सादर्य है । इसका मंगलश्लोक यह है—

“प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोप प्रकृष्टपु यप्रभव त्तिनेन्द्रम् ।

वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमारार्थनासत्सुकथाप्रबन्ध ॥”

८१ वीं कथाके अनन्तर “जयसिंहदेवराज्ये” प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया  
है । इसके अनन्तर भी कुछ कथाएँ लिखी हैं । और अतमें “सुकोमलै सर्वसुखानवोधै” श्लोक

१ गद्यकुमुदचन्द्र प्रथमभागकी प्रस्तावना प० १२२—

यराराध्य चतुर्विधामनुपमामाराधना निमलाम् । प्राप्तं सवमुखास्पद निरुपम स्वर्गापवगप्रदा (?) ।

तेषां धमकथाप्रपञ्चरचनास्वाराधना सस्यता । स्यात् कमविशद्विहेतुरमला चद्राकर्तारावधि ॥१॥

सुकोमल सवमुखावबोध पद प्रभाचन्द्रकृत प्रबन्ध ।

कल्याणकालऽय जिनस्वराणां सुरेन्द्रन्तीय विराजतेऽसौ ॥२॥

श्रीजयसिंहदेवराज्य श्रीमद्भारतनिवासिना परापरपञ्चपरमेष्ठिप्रणामोपाजितामलपुष्पनिराकृतनिखिलमलकल  
ङ्घन श्यामप्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधनासत्त्व्याप्रबन्ध कृत ।’

तथा " इति भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतः कथाकोशः समाप्तः " यह पुष्पिकालेख है। इस तरह इसमें दो स्थलों पर ग्रन्थ समाप्तिकी सूचना है जो खासतौरसे विचारणीय है। हो सकता है कि प्रभाचन्द्रने प्रारम्भकी ८६ कथाएँ ही बनाई हों और बादकी कथाएँ किसी दूसरे भट्टारकप्रभाचन्द्रने। अथवा लेखकने भूलसे ८६ वीं कथाके बाद ही ग्रन्थ समाप्तिसूचक पुष्पिकालेख लिख दिया हो। इसको खासतौरसे जाँचे बिना अभी विशेष कुछ कहना शक्य नहीं है।

मेरे विचारसे प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण और प्रवचनसारसरोजभास्कर भोजदेवके राज्यसे पहिले अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें बनाए होंगे। यही कारण है कि उनमें 'भोजदेवराज्ये' या 'जयसिंहदेवराज्ये' कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती और न उन ग्रन्थोंमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिका उल्लेख ही पाया जाता है। इस तरह हम प्रभाचन्द्रकी ग्रन्थरचनाका क्रम इस प्रकार समझते हैं—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, प्रवचनसारसरोजभास्कर, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दाभोजभास्कर, महापुराणटिप्पण और गद्यकथाकोश। श्रीमान् प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-

१ योगसूत्रपर भोजदेवकी राजमार्त्तण्ड नामक टीका पाई जाती है। संभव है प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और राजमार्त्तण्ड नाम परस्पर प्रभावित हों।

२. १० जुगलकिशोर जी मुन्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका और समाधितन्त्रटीकाको एकही प्रभाचन्द्र द्वारा रचित मिथ किया है, जो ठीक है। पर आपने इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रसे भिन्न सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः दृढ़ प्रमाणों पर अवलम्बित नहीं है। आपके मुख्य प्रमाण है कि—“प्रभाचन्द्रका आदिपुराणकारने स्मरण किया है इस लिए ये ईसाकी दशमशताब्दीके विद्वान् हैं, और इस टीकामें यशस्तिलकचम्पू (ई० १५९) वसुनन्दिश्रावकाचार (अनुमानत वि० की १३ वीं शताब्दीका पूर्व भाग) तथा पद्मनन्दि उपासकाचार (अनुमानत वि० स० ११८०) के श्लोक उद्धृत पाए जाते हैं, इसलिए यह टीका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रकी नहीं हो सकती।” इनके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—जब प्रभाचन्द्र का समय अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणोंसे ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध होता है तब यदि ये टीकाएँ भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी ही हों तो भी इनमें यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृतके वाक्योका उद्धृत होना अस्वाभाविक एवं अनैतिहासिक नहीं है। वसुनन्दि और पद्मनन्दिका समय भी विभक्तकी १२ वीं और तेरहवीं सदी अनुमानमात्र है, कोई दृढ़ प्रमाण इसके साधक नहीं दिए गए हैं। पद्मनन्दि शुभचन्द्रके शिष्य थे यह बात पद्मनन्दिने ग्रन्थमें तो नहीं मारूम होनी। वसुनन्दिकी 'पडिगहमुच्चट्टाण' गाथा स्वयं उन्हीं की बनाई है या अन्य किसी आचार्यकी यह भी अभी निश्चित नहीं है। पद्मनन्दिश्रावकाचारके 'अधुवाशरणे' आदि श्लोक भी रत्नकरण्डटीकामें पद्मनन्दिवाचनसे उद्धृत नहीं हैं और न इन श्लोकोंके पहिले 'उक्त च, तथा चोक्तम्' आदि कोई पद ही दिया गया है जिनसे इन्हें उद्धृत ही माना जाय। तात्पर्य यह कि मुन्तार सा० ने इन टीकाओंके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होने में जो प्रमाण दिए हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्डटीका तथा समाधितन्त्रटीकामें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विनिश्चितनीलमें उल्लेख होना इसकी गूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए। वे उत्पन्न इस प्रकार हैं—  
“तत्त्वार्थप्रमार्त्तण्डे प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रवचन-प्रवृत्तयाम्”—रत्नक० टी० १० ६।  
“यं पुनर्वीणमालवेर्मुक्ती तत्रभ्युत्थितामनोभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च भोजविद्यारे विरतरतः प्रवृत्तयाम्।”—समाधितन्त्रटी० १० १५।

इन दोनों अवतरणों प्रभाचन्द्रकृत महाभोजभास्करने विनिश्चित अवतरणगे तुलना करने पर स्पष्ट मारूम हो जाता है कि महाभोजभास्करने कृताने ही उक्त टीकाओंको बनाया है—



टीका, समाधितन्त्रटीका, क्रियाकलापटीका\*, आत्मानुशासनतिलका आदि ग्रन्थोंकी मी प्रभाचन्द्र-कृत होनेकी संभावना की है, वह खास तौरसे विचारणीय है। यथावसर इन ग्रन्थोंके विषयमें विशेष प्रकाश डाला जायगा। अन्तमें मैं उन सब ग्रन्थकार विद्वानोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थोंसे इस प्रस्तावनामें सहायता मिली है।

पाल्गुनशुक्ल द्वादशी  
आष्टाह्निकार्थ  
वीर नि० म० २४६७

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.  
स्याद्वाद विद्यालय काशी.

“तदात्मस्त्वञ्चार्यस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितनिह द्रष्टव्यम् ।”-शब्दाभोजभास्कर ।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पाई जानेवाली अञ्जनचोर आदिकी कथाओंमें रत्नचरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है। इति ।

\* त्रियाकलापटीकाकी एक लिखित प्रति बम्बईके सरस्वती भवनमें है। उसके मगल और प्रशस्ति श्लोक निम्नलिखित हैं—

मगल— “जिनेन्द्रमुमूलितकर्मवन्ध प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम् ।  
अनन्तबोधदिभर्त्रं गुणौघ क्रियाकलाप प्रकट प्रवक्ष्ये ॥”

प्रशस्ति—“बन्धे मोहतमोविनाशनपटुस्त्रैलोक्यदीपप्रभु, ससृष्टतिसमन्वितस्य निखिलस्नेहस्य सशोषक ।  
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रकिरण श्री पदमनन्दिप्रभु तच्छिष्यात्प्रकटार्थता स्तुतिपद प्राप्त प्रभाचन्द्रत ॥१॥  
यो रात्रौ दिवसे पृथि प्रयतां (?) दोषा यतीना कुतो प्योषाता (?) प्रलये तु रमलस्तेषा महादासित ।  
श्रीमद्गीतमनाभिभिर्गणपरैर्लोकत्रयोद्द्योतकं, सव्यङ्ग (१) सकलोऽप्यसौ यतिपतेर्जात प्रभाचन्द्रत ॥२॥  
य (यत्) सर्वात्महित न वर्णसहित न स्पन्वितौष्ठद्वयम्,  
नो वाञ्छाकलितघ्न दोषमलिन न श्वासतुद्र (रुद्ध) क्रमम् ।  
शान्तामर्थविषयं (मर्थविधे) सम पशु (पशु) गणैरार्काणित कर्णत,  
तद्वत् सबविद प्रणष्टविषय पायादपूर्वं वच ॥ ३ ॥”

इन प्रशस्तिश्लोकोंसे ज्ञात होता है कि जिन प्रभाचन्द्रन क्रियाकलापटीका रची है वे पद्मनन्दि-संद्धान्तिकके शिष्य थे। न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्ता प्रभाचन्द्र भी पद्मनन्दि संद्धान्तिकके ही शिष्य थे, अतः क्रियाकलापटीका और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। प्रशस्तिश्लोकोंकी रचनाशैली भी प्रमेयकमल० आदिकी प्रशस्तियोंसे मिलती जुलती है।

† आत्मानुशासनतिलकाकी प्रति श्री प्रेमीजीने भेजी है। उसका मगल और प्रशस्ति इस प्रकार है—

मगल— “वीर प्रणम्य भवकारिनिधिप्रपोतमुद्द्योतितखिलपदार्थमनल्पपुण्यम् ।  
निर्वाणमार्गमनत्रयगुणप्रबन्धमात्मानुशासनमह प्रवर प्रवक्ष्ये ॥”

प्रशस्ति—“मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोद्यय निर्मलम् । भव्यार्थं परम प्रभेदुकृतिना व्यक्तं प्रसन्नं पदं ।  
ध्याह्वयान वरमात्मशासनमिदं ध्यामोहविच्छेदत । सूक्तार्थेषु कृतावरैरहरहश्चेतस्यल चिन्त्यताम् ॥१॥

इति श्री आत्मानुशासन (नं) सतिलक (कं) प्रभाचन्द्राचार्यविरचित (त) सम्पूर्णम् ॥”

## न्यायकुमुदचन्द्रद्वितीयभागस्य विषयानुक्रमः

विषय	पृ०	विषय	पृ०
१० कारिकाव्याख्यानम्	४०४	समारोपव्यवच्छेदकत्वात् प्रमाण स्मृतिः	४१०
श्रुतस्य स्वरूपम्	४०४	अनुमानलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वाच्च प्रमाण	४१०
स्मृतिप्रामाण्यवादः	४०५-४११	स्मृति	४१०
( बौद्धादीना पूर्वपक्ष ) स्मृते स्वरूप ज्ञाता		साध्यसाधनसम्बन्धो हि सत्तामात्रेण अनुमाना-	
ज्ञान वा ?	४०५	ज्ञम्, परिज्ञानो वा, स्मृतित्रोडोक्तो वा ?	४१०
ज्ञानमपि ज्ञानमात्रमनुभूतविषय वा ज्ञानम् ?	४०५	प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यवादः	४११-४१८
अनुभूते जायमाना स्मृतिरिति अनुभवेन		( बौद्धस्य पूर्वपक्ष ) विरुद्धधर्माध्यासात्,	
प्रतीकते स्मृत्या उभाभ्या वा ?	४०५	कारणाभावात्, विषयाभावाच्च न प्रमाण	
यदि अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात्तदैव स्मृति-		प्रत्यभिज्ञा	४११
रपि तामनुभूतता ज्ञातुं शक्त्वा	४०६	सोऽप्यमित्यत्र प्रत्यक्ष स्मरणयो स्पष्टास्पष्ट	
स्मृतेर्विषयोऽर्थमान स्यात् अनुभूतताविशिष्टो		लक्षणविरुद्धधर्माध्यास एव	४१२
वार्थ ?	४०६	'स एवायम्' इत्यत्र आकारद्वय परस्परानु	
अनुभूतार्थविषयत्वे स्मृतेर्न प्रमाणता अविद्य-		प्रवेशन प्रतिभासते अननुप्रवेशेन वा ?	४१२
मानविषयत्वात्	४०६	प्रत्यभिज्ञानस्य हि कारणमिन्द्रिय स्यात्, पूर्वा-	
अमदर्थविषयत्वेन स्मृतौ अर्थत्रियाऽपि न		नुभवजनित सत्त्वार तदुभय वा ?	४१२
सम्भवति	४०६	प्रत्यभिज्ञानविषयो हि पूर्वज्ञानगृहीतमेव वस्तु	
( उत्तरपक्ष ) सत्त्वारप्रभव तदित्याचारे		स्यात्, तदतिरिक्त वा ?	४१३
ज्ञानविशेष स्मृति	४०६	अतिरिक्त्वपक्षे कि स्वरूपभेददृष्ट त अतिरेक,	
कारणभेदान् स्वरूपभेदान् विषयभेदान्च		काल्पसम्बन्धकृत, तत्सम्बन्धे ऐक्य-	
प्रयथादिभ्यो भिन्ना स्मृति	४०७	प्रतिपत्तिः कृते वा ?	४१३
'अनुभूते स्मृति' इति त्रिकालानुयायिना		ऐक्यप्रतिपत्तिपक्षे एकत्वसंख्या स्यादित्थ वा	
प्रमाणा प्रमोयने	४०७	विवक्षितम् ?	४१३
स्मृतिर्हि गृहीतग्राहित्वादप्रमाणम्, परिच्छि-		स्यादित्थमपि वस्तुनो भिन्नमभिन्न वा ?	४१३
त्तिविशेषाभावात्, असत्यतीनार्थे प्रयत्नं		भेदपक्षे कि तत् पूर्वमप्युत्पन्नम्, प्रत्यभिज्ञान-	
मानवान्, अर्थादनुत्पत्तमानत्वात्, विम-		समय एव बोध्यते ?	४१३
वादवत्त्वात् समारोपाव्यवच्छेदवत्त्वात्,		( उत्तरपक्ष ) कि धर्माणा धर्मिणा सह	
प्रयत्नप्रसाधकत्वाद्वा ?	४०८	विरोध परस्पर वा ?	४१४
गृहीतग्राहिभेद इत्य गृहीतार्थस्य गृहणम्-ज्ञानस्य,		विरुद्धधर्माध्यासन कारणभूताभ्या दर्शनस्म-	
शयस्य, ज्ञानविशिष्टस्य शयस्य, तद्विनि		रणकारणाभ्या प्रत्यभिज्ञानस्य भेद साध्येन	
ष्टस्य वा ज्ञानस्य ?	४०८	स्वभावभूताभ्या वा ?	४१४
अस्य ज्ञानविशिष्टत्व हि तत्र संबोध,		परस्परानुप्रवेशो हि परस्परस्वरूपमा द्युर्गम्,	
गमत्वात्, विगतगीमाधो वा ?	४०९	एकरिमप्रापारे वृत्तिर्वा ?	४१४
रमान्तरस्यवृत्ति दृग् तार्थान्तिवृत्तान्च		दर्शनस्मरणयो चिदज्ञानवत् कण्ठिचन्द्रानुप्रवे-	
द्वयसम्बन्धविषयवादवत् स्मृतावस्येव	४१०	धोऽन्युत्पन्नस्ये	४१५

दर्शनस्मरणलक्षणकारणस्य सद्भावात्	
कारणाभावात् प्रत्यभिज्ञानाभाव	४१५
विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, बाध्यमान- त्वाद्वा प्रत्यभिज्ञानस्याप्रामाण्यं स्यात् ?	४१६
प्रत्यभिज्ञानविषयो हि प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मर- णेन, प्रमाणान्तरेण वा ?	४१६
प्रत्यक्षस्मरणयो' द्रव्याविषयत्वेऽपि द्रव्यविषय- कप्रत्यभिज्ञानजनकत्वमस्त्येव	४१७
प्रत्यभिज्ञानविषयस्य हि बाधक प्रत्यक्षम् अनुमान वा स्यात् ?	४१७
लूनपुनर्जातिलक्षणादी एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य बाध्यमानत्वेऽपि न सर्वत्र तस्याप्रामाण्यम्	४१८
नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्य बाध्यमान- नत्वम्, अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्	४१८
तर्कस्य लक्षणम्	४१८
व्याप्तिलक्षणम्	४१९
तर्कप्रामाण्यवादः	४२०-४२४
(आर्वाकस्य पूर्वपक्ष ) व्याप्तिस्वरूपस्यैवा- सभवात् कथं तर्कस्य प्रामाण्यम् ?	४२०
व्याप्तिर्हि देशतः कालतो वा स्यात् ?	४२०
किं सामान्यस्य सामान्येन अविनाभावः, किं वा सामान्यस्य विशेषे, उत विशयाणां विशेषे ?	४२०
द्वितीयपक्षे देशकालानवच्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभाव तदवच्छिन्ने वा ?	४२०
विशयाणां विशेषैरविनाभावो हि दृष्टानां दृष्टं स्यात्, अदृष्टानामदृष्टं, दृष्टानां वाऽदृष्टैरिति ?	४२१
न सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहं सुकरं	४२१
अविनाभावशब्दो हि व्यतिरेकमात्रवचनं	४२१
'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इत्यत्र अग्न्यभाव पारमाथिकं सन् विशेषणम्, अपार- माथिकं एव वा ?	४२१
एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा ?	४२१
धूमसद्भावविरोधस्य च धूमाभाव एव उपाधिर्न अग्न्यभाव	४२२
अविनाभावे सत्यपि धूमाद् बह्निरेवानुमीयते नतु तद्गतं पञ्जल्पम्	४२२

(उत्तरपक्ष ) स्वरूपप्रयुक्ताऽव्यभिचार एव हि व्याप्ति	४२२
यस्य येन अव्यभिचार तस्य तेन व्याप्ति	४२३
अविनाभावशब्दो हि तथोपपत्त्य-यथानुपप- तिरूपनियमे पर्यवसित	४२३
व्याप्ति सर्वोपसंहारेण प्रतीयते नतु एकैक- धर्ममुल्लेखेन	४२४
धूमाभावे अन्यभावस्य निमित्तात्ता	४२४
अग्निधूमयोर्हि अग्नित्वधूमत्वद्वारेणैव व्या- प्तिर्नतु पञ्जल्प्यादिना	४२५
व्याप्तिज्ञानस्य कारणभूतौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ प्रथमदर्शनकाले न स्त अतो न प्रथम- समये एव व्याप्तिग्रहणम्	४२६
अन्वयव्यतिरेकवशात् व्याप्तिप्रतिभासे किं सा ताभ्यां जन्यते ज्ञाप्यते वा ?	४२६
<b>११ कारिकाव्याख्यानम्</b>	<b>४२७</b>
अस्मादासिम्बन्धिना योगिसम्बन्धिना वा प्रत्यक्षज्ञानं व्याप्तिप्रतिपत्ति	४२७
न स्वसवेदनेन्द्रियमानसप्रत्यक्षे व्याप्तिपरि- ज्ञानम्	४२७
(योगानां पूर्वपक्ष ) प्रत्यक्षेणैव अविनाभाव प्रतीयते	४२७
भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रिय- प्रभव वा प्रत्यक्ष व्याप्तिग्राहकम्	४२८
अनुसन्धानेन व्याप्तिहासिलरूपते अतो न प्रथम प्रत्यक्षेणैव तद्ग्रहणम्	४२९
अन्वयव्यतिरेको च प्रयोजकसन्देहव्युदासायी	४२९
(उत्तरपक्ष ) किमैन्द्रिय मानस वा प्रत्यक्ष व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ?	४२९
प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायकम्, अन्वयव्य- तिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्ष व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ?	४२९
पुरोदृश्यमाने हि नियताग्निसम्बन्धित्वेन धूम प्रतिभासेत, अनियताग्निसम्बन्धि- त्वेन वा ?	४३०
प्रत्यक्षस्य अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वं हि स्वविषय- मातिरुमेण अर्थान्तरे वृत्ति, स्वविषये प्रवर्तमानस्य अतिशयाधानं वा ?	४३०
इन्द्रियविषये विद्यमानत्वात्तत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्ति. प्रतीयते, स्वविषयत्वाद्वा ?	४३०

किं नामान्यस्य सामान्येन व्याप्तिः, उक्त तदु- पलक्षितविशेषाणां तदुपलक्षितविशेषे ?	४३१
व्याप्तिज्ञाने हि तत्कारणकारणत्वादिन्द्रिया- पेक्षा न तु साक्षात्	४३१
न मानस प्रत्यक्ष बहिरर्थे इन्द्रियनिरपेक्ष प्रवर्तते सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनसः सद्भिरेव अर्थे.	४३१
नानीनानागनादिभि	४३२
नापि योगप्रत्यक्षाद् व्याप्तिग्रह	४३२
योगी हि व्याप्ति प्रतिपद्य स्वार्थमनुमान विद- ध्यात् परार्थं वा ?	४३३
योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकमगृही- तव्याप्तिक वा पर प्रतिपादयेत् ?	४३३
कारिकाविवृत्योऽर्थाख्यानम्	४३३
अनुमानस्य लक्षणम्	४३४
<b>१२ कारिकाव्याख्यानम्</b>	<b>४३५</b>
प्रतिज्ञाप्रयोगसमर्थनम्	४३५-८
(बोद्धव्य पूर्वपक्ष) पक्षस्य प्रयोजनाभावत प्रयोगानुपपत्ते	४३५
साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजनमपि न पक्ष प्रयोगेण सिद्धमिति	४३६
स हि केवल साध्यमर्थं प्रतिपादयेत् हेतुन्यास- ममन्विनो वा ?	४३६
(उत्तरपक्ष) पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धि- त्वादप्रयोग, प्रक्रमात्तस्मिन्ने, प्रयोजना- प्रमाधकत्वान्, हेतुन्यासापेक्षस्य तत्प्रसा- धनसाक्षात् ?	४३६
हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनेकान्तिव त्वादिदोषानुपपन्न	४३७
हेतुप्रयोगापेक्षस्यैव पक्षस्य साध्यमाधकत्वम्	४३७
पक्षाभावात् कथं सारत्वादिप्राप्त्यवस्था ?	४३८
प्रतिज्ञाया प्रयोगानर्हत्वे साक्षात्साक्षात्किं मा नाभिधीयेत	४३८
शैल्यनिरासम्	४३८-४४१
(बोद्धव्य पूर्वपक्ष) हेतारत्वेण हि अगिद- विद्वान्नास्ति च दोषस्य च्छेदार्थं भूतगम्यते	४३८
(उत्तरपक्ष) न शैल्यं हेतोर्दोषात् हेत्वाभा वस्यैव वर्तमानत्वात्	४३९
गुरुधारो हेत्वाभावेऽपि शैल्यं समस्ति	४४०

न हि कृत्तिकोदयात् शकटोदयानुमाने पक्ष- घर्मता सम्भवति	४४०
नापि कृत्तिकोदयादौ कालाकाशादीना पक्षत्वम्	४४०
शब्दान्तित्यत्वे श्रावणत्वस्य, सर्वस्य क्षणिकत्वे साध्ये सत्त्वस्य च सपक्षसत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीते	४४०
विपक्षेऽसत्त्व तु अविनाभावात्मकमेव	४४१
सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि अन्तर्ध्यात्तिलक्षणो- न्वय समस्यैव	४४१
अन्ययानुपपत्तिलक्षणत्वादेव हेतो दोषत्रयपरि- हारोपपत्ते	४४१
अविनाभावप्रपञ्चार्थं शैल्यस्याभिधाने निश्चि- तत्वस्य अबाधितविपयत्वादेश्च अभि- धानप्रसङ्ग	४४१
पाञ्चरूप्यनिरासः	४४२-४४२
साध्याविनाभावव्यतिरेकेणापरस्य अबाधित- विपयत्वादेरसम्भवात्	४४२
वाधिनविपयत्व-अविनाभावयोर्विरोधान्	४४२
अबाधितविपयत्व निश्चितमनिश्चित वा हेतो रूप स्यात् ?	४४२
निश्चयनिवन्धनञ्च अनुपलम्भ संवादो वा ?	४४२
अन्यदपि तद्विषय प्रमाणात्तन्म अविनाभावा- वगमो वा अबाधितविपयत्वनिश्चय- निवन्धन स्यात् ?	४४३
प्रतिपक्षो हि अतुल्यत्वं तु यवलो वा प्रतिपिष्येत् ?	४४३
अतुल्यत्वञ्च तयो पक्षघर्मत्वादिभावाभाव- कृत्तमनुमान गद्याजनिन वा ?	४४३
हानादिवृद्धयोर्जुमानस्य पठम्	४४४
अविनाभावविचारः	४४४-४४८
(बोद्धव्य पूर्वपक्ष) अविनाभावो हि तादा- त्म्य-तदुत्पत्तिभ्यामेव नियत	४४४
तादात्म्येन स्वभावहेतोरविनाभाव तदुत्पत्त्या च कार्यहेतो, अनुपलब्धिश्च स्वभाव- हेत्वन्मर्तव	४४४
कार्यहेतोरविनाभावस्य प्रत्ययानुपलम्भप्रपञ्च- केन प्रतिपत्ते	४४४
स्वभावहेतोऽनु विपक्षे बाधकप्रमाणेन अविना- भावावगति यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन	४४५
अनुपलब्धिश्च सर्वं स्वभावानुपलम्भो अन्- भंरति अत्र तादात्म्यमेव सम्बन्ध	४४६

(उत्तरपक्ष) तादात्म्ये सति भेदाभावात् तस्य अविनाभावनियमनिमित्तत्वम्	४४६
तादात्म्येन गमकत्वे च हेतुग्रहणवेलायामेव साध्यस्य प्रतिपन्नत्वात् व्यर्थमनुमानम्	४४६
विपरीतारोपव्यवच्छेदार्यमपि नानुमानस्य साफल्य मतो हि तत्स्वरूपे प्रतिपन्ने अप्रतिपन्ने वा विपरीत आरोप स्यात् ?	४४७
साध्यसाधनयोरव्यतिरेके च शिक्षापात्यवत् वृक्षत्वमपि हेतु स्यात्	४४७
बह्व्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेषु क्यामत्वादिषु अविनाभावस्यानुपलब्धे न तदुत्पत्त्यापि अविनाभावनियम	४४७
तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव अविनाभावनियमे कथं कृत्तिकोदयशकटोदययो चन्द्रोदयसमुद्बद्धचोश्च गम्यगमकभाव ?	४४८
प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकस्य अनुपलम्भस्य च अर्थान्तररोपलम्भरूपस्य न व्याप्तिग्रहणे सामर्थ्यम्	४४८
निवृत्तिव्याख्यानम्	४४९
तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि चन्द्रात् जलचन्द्रप्रतिपत्ति भवति	४५०
<b>१३ कारिकाव्याख्यानम्</b>	<b>४५०</b>
प्रतिबिम्बव्याद.	४५१-४५८
(कुमारिलस्य पूर्वपक्ष) बिम्बसन्निधाने हि प्रतिबिम्ब गुणम्पं द्रव्यरूप वा समुत्पद्यते ?	४५१
द्रव्यरूपमपि निरवयवद्रव्यरूप सावयवद्रव्यरूप वा तदुत्पद्यते ?	४५१
प्रतिबिम्बस्य जलादिपरमाणव एव आरम्भका अग्ये वा ?	४५१
नापि बिम्बरूपस्य प्रतिबिम्बारम्भकत्वम्	४५१
बिम्बसन्निधाने च आश्रयस्य आदशदि परिमाणगौरवयोरत्कर्षं स्यात्	४५१
जले सूर्यादिदर्शना चक्षुररिमविनिर्गमनप्रक्रिया यदि प्रतिबिम्बमर्थान्तर तदा कथं बिम्बे चलति तदपि चलेत् तिष्ठति च तिष्ठेत् ?	४५३
यदि च प्रतिबिम्बमर्थान्तर तदा विनष्टेऽपि बिम्बे दृश्येत	४५३
अत जलादे प्रतिहता रश्मय व्यावृत्त्य बिम्बमेव दर्शयन्ति न तु तत्र प्रतिबिम्बोत्पत्ति	४५४

(उत्तरपक्ष) प्रतिबिम्बासम्भवो हि ग्राहकप्रमाणाभावात् उत्पादककारणाभावाद्वाऽभिधीयते ?	४५४
चन्द्रादिप्रतिबिम्ब पश्यामीति प्रत्यक्षमेव तद्ग्राहकम्	४५४
न चैय प्रतीतिभ्रान्ता बाधक-कारणदोषाभावात्	४५४
आश्रयबिम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिग्राह्यत्वादर्थान्तर प्रतिबिम्बम्	४५५
प्रतिबिम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारण चन्द्रादिक तु निमित्तकारणमिति	४५५
द्रव्यरूपमेव प्रतिबिम्बमुत्पद्यते	४५६
सावयवमेव प्रतिबिम्बमस्मदादीन्द्रियग्राह्यत्वात् घटादिवत्	४५६
जलादिकमेव प्रतिबिम्बाकारतया परिणमते अतो न पृथक् तत्सर्वाद्युपलम्भः	४५६
जलादिपरमाणव एव प्रतिबिम्बारम्भका न चात्र सावयवद्रव्यद्वय किन्तु जलादीनामेव प्रतिबिम्बाकारपरिणाम	४५६
समानाकाशदेशत्वञ्च सावयवयोरपि वातातपयोरवाविरुद्धम्	४५७
सावयवयो जलकनकादिसयुक्तानलादेरिव परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोपि नास्ति	४५७
रश्मिरूपस्य चक्षुषोऽप्रसिद्धे अस्सूर्यदर्शनामित्याद्यसङ्गतम्	४५७
स्वसामग्रीत प्रतिबिम्ब सव्यदक्षिणविषयं येषोत्पद्यते	४५७
प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बत्व हि सव्यदक्षिणविषयसिद्धैव, स च गुण एव	४५७
यदि प्रादर्शादिना प्रतिहता रश्मय मुखमेव प्रकाशयन्ति तदा कुड्यादिप्रतिहता अपि ते मुख प्रकाशयेयुः	४५८
यदि च प्रतिहता रश्मय बिम्बमेव प्रकाशयन्ति तदा हस्त्यादीना स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीति स्यात् लघुतया	४५८
निमित्तकारणभूतबिम्बक्रियानुकारितया प्रतिबिम्बे क्रिया प्रतीयते छत्रछायावत्	४५८
प्रदीपछत्रादेरपाये प्रकाशछाययोरपायवत् बिम्बापाये प्रतिबिम्बमप्यपैति	४५८
प्रदीपविनाशेऽपि यथा न तस्य पृथगवयवा	

उपलभ्यन्ते तथैव प्रतिविम्बविनाशोऽपि न तत्पृथगवयवोपलब्धि	४५९	प्रागभावादिभेदवत्त्वात्प्रावस्तु प्रभावः	४६७
पूर्वोत्तरचरहेत्वो समर्थनम्	४५९	प्रभावस्यावस्तुत्वे हि अर्थानां साक्ष्यं स्यात्	४६७
१४ कारिकाव्याख्यानम्	४६०	प्रागभावादीना लक्षणानि	४६७
वैशेषिकसूत्रोक्तानां कारणादिपञ्चहेतूनां निरास	४६०-६१	अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वाद्भावो वस्तु (उत्तरपक्ष.) प्रभावस्य प्रत्यक्षादिभिः परि- च्छिद्यमानत्वान्न भावादतिरिक्तत्वम्	४६७ ४६८
(वैशेषिकस्य पूर्वपक्ष) कारण-कार्यं सयोगि- ममवापि विरोधिभेदेन पञ्चानुमानम्	४६०	अविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः प्रत्यक्षेणैव परि- च्छिद्यते	४६८
(उत्तरपक्ष) उक्तपञ्चहेतुनिरिक्ताना कृत्ति- कादिहेतूना प्रतीतेः न लिङ्गस्य पञ्च- मस्थानियम	४६१	प्रभावस्याप्रत्यक्षत्व हि इन्द्रियेणासम्बद्धत्वात्, ग्रहणित्वात् असद्रूपत्वाद्वा ?	४६८ ४६८
अविनाभाववशाद्दि गमकत्व न कारणादि- रूपनामात्रेण, अव्यापकत्वादिप्रसङ्गाच्च	४६१	रूपित्वस्य-प्रत्यक्षेणा प्रत्यनङ्गत्वात् त्वादभावस्याप्रत्यक्षता	४६९
सांख्यपरिकल्पितमात्रामात्रिकादिसप्त- विधहेतुनिरासः	४६२	चक्षुरादिभावाभावानुविधापित्वादभावस्य प्रत्यक्षविषयत्वम्	४६९
अदृश्यानुपलब्धेरपि गमकत्वप्रदर्शनम्	४६२	प्रभावस्याप्रत्यक्षत्वे हि आलोकापेक्षान स्यात्	४६९
१५ कारिकाव्याख्यानम्	४६३	इह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानस्य भेदासिद्धेः न चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानमन्यथा- सिद्धम्	४७०
अभावप्रमाणविचारः	४६३-४८२	प्रतिबोधिस्मरणानन्तरभावितादभावस्य अप्रत्यक्षत्वे सविकल्पकज्ञानस्य प्रत्यक्षत्व न स्यात्	४७०
(सोपानकस्य पूर्वपक्ष) अभावप्रमाण प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्न भिन्नसामग्री- प्रभवत्वात्, भिन्नप्रकृतसाधकत्वाच्च	४६३	देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावश्च अनुमाना- दिपरिच्छेद	४७१
अभावप्रमाण हि नेन्द्रियादिमापद्यीत प्रादु- र्भवति, किन्तु प्रतिषेध्यानुपलब्धि-आश्र- योनिलब्धि प्रतिबोधिस्मरणरूपसामग्रीत	४६४	'नासीदपवरके देवदत्त' इति प्रतीते स्मरण- रूपत्वान्	४७१
अनुपलब्धिर्नाहि गृहीतव्यापित्वा अगृहीतव्या- पित्वा वाऽभावमनुमापयेत् ?	४६५	न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणम्	४७२
व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च आभावाख्यधर्मग्रहण किमत एव, अनुमानान्तरादा ?	४६५	आश्रयस्य ग्रहण हि किं निषेध्याभावसहि- तस्य कंचलस्य वा ?	४७२
अनुपलब्धिपरिण उपलब्ध्यभावरूपा, अन- स्तप्रतिपत्तावपि अयमेव दोष	४६५	प्रतिबोधिनेऽपि स्मरण किमभावान्तरात्स्य तद्विपरीतस्य वा ?	४७२
इह भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययस्य हि किं घटो विषय स्यात्, भूतत्वम्, गमर्गो वा ?	४६५	परात्मना प्रतीयमानोऽपि नञपर्यं घटादेरेव स्वरूपम्	४७३
घटविविक्तभूतत्वस्य तद्विषयत्वे तद्विकल्प किं भूतत्वम्बरूपाय तद्व्यतिरिक्त वा ?	४६५	घटविविक्तत्व हि भूतत्वधर्मतया कथञ्चित् भिन्न पृच्छघते पदार्थान्तरतया वा ?	४७३
न हि प्रत्यक्षपरिच्छेदोऽभाव इन्द्रियेणा- गप्रिकृष्टस्य ग्रहणान्	४६६	पदार्था हि परस्परन स्त्रीर्णां समुत्पन्नाः तद्वि- परीता वा ?	४७३
नास्त्यनुमानादभावावगति	४६६	अभावातामन्योन्य भावान्तराच्च विवेकी यद्यथाभावात्तदानवस्था	४७४
ऽनामेन परिच्छिद्यमानत्वाभावावस्य	४६७	घटस्य इत्येतराभावात् व्यावृत्ति इत्येतरा- भावात्, अभावात्तरादा ?	४७४

अभावस्य वस्तुत्वे हि किं स प्रमाणान्तरेण गृह्यते अभावप्रमाणेन वा ?	४७५	१६ कारिकाव्याख्यानम्	४८३
प्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिर्हि किं निषेध्यविषय-ज्ञानउपनया धात्मनोऽपरिणाम अन्य-वस्तुविज्ञान वा ?	४७५	सविकल्पकप्रत्यक्षेण न सर्वात्मना वस्तु प्रती-यते अत अगृहीताशग्रहणाय अनुमानस्य साफल्यम्	४८३
आत्मनोऽपरिणामस्य हि अभावरूपत्वात् कथं प्रामाण्यम् ?	४७६	१७ कारिकाव्याख्यानम्	४८५
अन्यस्मिन् वस्तुमात्रे विज्ञानम् घटाभावाश्रये वा विज्ञानमभावपरिच्छेदकम् ?	४७६	क्षणिकत्वसिद्धये न स्वभावहेतोः सम्भावना	४८५
(सौगतस्य पूर्वपक्ष) न भावस्वरूपानिर्विकृत-कश्चिदभाव प्रत्यक्षानुमानग्राह्य	४७६	१८ कारिकाव्याख्या	४८७
अभावाकारस्य ज्ञानेऽनुश्रवेषु ज्ञानस्याप्य-सत्त्वापत्ति	४७७	सविकल्पबुद्धे न स्वतः सिद्धि नापि परत	४८७
अविनाभावविलिङ्गाभावादानुमानादपि अभावग्रहणम्	४७७	१९ कारिकाव्याख्या	४८९
( उत्तरपक्ष ) प्रतीतिभेदात् स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भावा-भावयोर्भेद	४७७	उपमानस्य न प्रमाणान्तरत्वम्	४८९
प्रतिनिवृत्तप्रतियोगिस्मरणान्यथानुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्ति प्रत्यक्षतएव प्रतिपत्त्या	४७८	उपमानप्रमाणाविचार	४८९-५००
इह भूतले घटो नास्तीति विशिष्टप्रतीतेः किं निषिध्यमानो घटादिरेव निबन्धनम्, तदाश्रयो भूतलादिर्वा ?	४७८	(सौमासिकस्य पूर्वपक्ष) उपमानस्य लक्षणम्	४८९
यदि भाव एवाभाव तर्हि भावकाले भावदेशे च अभावप्रतीति रयात्	४७९	अनधिगताप्यगन्तुत्वादुपमानस्य प्रामाण्यम्	४९०
भूतलमान घटाभावप्रतीतेर्निबन्धन विशिष्ट वा ?	४७९	न प्रत्यक्षानुमानयोश्चोपमानस्य अन्तर्भाव	४९०
विशिष्टत्वपक्ष च किं स्वरूपकृत वैशिष्ट्य घट-ससर्गारहितरश्कृत वा ?	४७९	लिङ्गादनुत्पद्यमानत्वात् पक्षधर्मत्वादिग्रहणा-भावाच्च नानुमानत्वम्	४९१
नापि सद्यव्यवहाराणुदये एव अभावव्यवहार यतोऽभावस्य आभिमानिकत्वम्	४७९	नाप्यर्थापत्त्यादिषु उपमानस्यान्तर्भाव ( उत्तरपक्ष ) प्रत्यभिज्ञान एव उपमानस्य अन्तर्भाव	४९१
सद्यव्यवहारानुदयस्य च नास्तीति व्यवहार-निबन्धनत्वे सुपुप्तावस्थावामपि नास्तीति व्यवहार स्यात्	४८०	पूर्वं कस्यानुभावाभाव -गवयावच्छेदस्य सादृश्य वा ?	४९२
न च मुद्गरादिसामग्रया कपालोत्पाद एको पयाग , तथा घटाविनाशास्यापि करणात्	४८०	सादृश्य हि असिन्निहितत्वानुभूयते, प्रतिव-न्धकसदभावाद्वा ?	४९२
प्रमाणतः प्रतीयमानत्वादिसाधनं अभावस्य वस्तुत्वसिद्धि	४८२	सादृश्यस्य एकैकत्र परिसमाप्तितः प्रतियोगि-न्यदुत्पद्युपलब्धि	४९३
अर्थक्रियाकारित्वात् प्रागभावादिभेदवत्त्वाच्च अभावो वस्तु	४८२	सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न तु स्वरूपम्	४९३
१०		स्मरणापेक्ष गवयप्रत्यक्ष सादृश्यज्ञानमुपजन-यति अनपेक्ष वा ?	४९४
		गोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे च किं गोपिण्डस्मृति मात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्ष वा ?	४९४
		सन्निकृष्टसादृश्यस्य हि करणत्व किं तदनुमाप-कत्वम् तस्मात्कत्वम्, तदुपमापकत्व वा ?	४९५
		उपमानस्य अनुमाने वाज्जन्तर्भाव	४९६
		(नैदायिकस्य पूर्वपक्ष) सज्ञासन्निसम्बन्धज्ञान-मुपमानम्	४९६
		न हीद सज्ञासन्निसम्बन्धज्ञान प्रत्यक्षाद्यन्यतम-प्रमाणफलम्	४९७

वृद्धनैयायिकास्तु सारूप्यप्रतिपादकमतिदेश- वाक्यमेव उपमान स्वीकुर्वन्ति	४९७
(उत्तरपक्ष) साक्षात् सज्ञासन्निभसम्बन्धप्रति- पत्त्यङ्गस्य उपमानना परम्परया वा ?	४९७
सारूप्यज्ञान हि केवल तदङ्ग स्यात् सज्ञासन्नि- भसम्बन्धस्मृतिसहाय वा ?	४९७
घट्यादनृत्युपचमानत्वादस्य आगमाफलत्वम्, तत्प्रतीनादुपायस्यापरस्यापेक्षणात्, वाच्य- सवित्यपेक्षणाद्वा ?	४९८
अतिदेशवाच्यस्य आगमरूपतया उपमानत्वा- योगात्	५००
प्रसिद्धार्थसाधर्म्यमन्यधानुपपत्तत्वेन निर्णीत चेत्तदानुमानेऽन्तर्भाव	५००
वृद्धोऽयमिति ज्ञानञ्च किन्नाम प्रमाणम् ?	५०१
<b>२० कारिकाव्याख्या</b>	<b>५०२</b>
एतस्मात् पूर्वं पश्चिममूत्तर दक्षिण वा एत- न्नामक ग्रामघानकमिति वाक्यश्रावित्वा तद्दृशित तन्नामप्रतिपत्ति किन्नाम प्रमाणम् ?	५०२
<b>२१ कारिकाव्याख्यानम्</b>	<b>५०३</b>
इदमल्प महद्दूरमित्वाद्यापेक्षिकज्ञानस्य क्व प्रमाणे घन्तर्भाव ?	५०४
द्वित्वादिसंख्याज्ञानस्य च प्रमाणान्तरत्वप्रसक्ति अर्थोपपत्तिप्रमाणनिरासः	५०५-५२०
(मीमांसकस्य ध्रुवपक्ष) प्रत्यक्षादिभ्य विभिन्न- स्वरूपत्वादर्थोपपत्ति प्रमाणान्तरम्	५०५
प्रत्यक्षादिपदप्रमाणेभ्यो जायमानत्वात् पट्ट- प्रकारा अर्थोपपत्ति	५०६
अतीतिन्द्रियशक्तिविषयत्वादर्थोपपत्तय प्रमाणान्तरम्	५०६
न हि दक्षिण प्रदक्षपरिच्छेदा	५०६
नारि दक्षिणरनुमानद्वारा	५०६
नारि गन्धोरमानाम्या दक्षिण गृह्यते	५०७
वाचकशक्यमन्यधानुपपत्त्या घटश्रित्यन्वमिदि अर्थोपपत्तिपूर्विकाऽर्थोपपत्ति	५०७
'यानो दिवा न भूदक्ते' इति वाक्यश्रवणात् रात्रिभोजनप्रतिपत्ति श्रुतार्थोपपत्ति	५०७
जीवतो देवस्तस्य गृह्यन्नात्र श्रावण बहिर्भाव- प्रतिपत्ति अभावाद्यर्थोपपत्ति	५०९
पक्षपक्षार्थादिनामपरभावात्पार्थोपपत्ति अनुमा- नेऽनुपपत्ति	५०९

बहिर्भावविशिष्टे चेत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहि- भवि साध्ये गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावविशिष्टस्य गृहस्य, गृहे चैत्रा- दर्शनस्य वा हेतुत्वम् ?	५०९
प्रमेयानुप्रवेत्तप्रसङ्गाच्च नैयमनुमानम्	५०९
सम्बन्धग्रहणाभावादपि नैयमनुमानम्	५१०
गृहद्वारवर्तितो गृहेऽभावस्य बहिःसद्भावेन सम्बन्धग्रहेऽपि गृहे सद्भावस्य बहिर- भावेन कथ सम्बन्धग्रह ?	५११
(उत्तरपक्षः) दृष्ट श्रुतो वार्ध साध्येन सम्बद्ध सन त कल्पयति असम्बद्धो वा ?	५१२
सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञात- न्नज्ञातो वा तत्कल्पनानिमित्त स्यात् ?	५१३
ज्ञातोऽपि साध्यप्रतिपत्तिकालेपूर्वं वाऽज्ञो ज्ञात ?	५१३
साध्यप्रतिपत्तिकालेऽपि प्रमाणान्तराज्ञान तत एव वा ?	५१३
अर्थोपपत्तिरनुमानमेव प्रमाणान्तरावगतसाध्य- सम्बन्धाद्धेतोः पञ्चायमानत्वान्	५१३
पूर्वं साध्यमवबद्धनयाऽज्ञो साध्यमिति ज्ञान दृष्टान्तार्थमिति वा ?	५१३
दृष्टान्तार्थमिति साध्यसम्बद्धनयाऽज्ञो भूयो- दर्शनात् विषयैः अनुपलम्भात् अर्थोपपत्त्यन्त- राद्वा प्रतीयते ?	५१३
प्रत्यक्षपूर्वार्थोपपत्ति किं दाहाशक्त्या विना स्फोटो- देरभावोऽनुपपत्त, प्रमाणविरोधो वा ?	५१४
प्रमाणविरोधपक्षेऽपि कारणभावात् निश्चित सन् कार्यभावावनिश्चायक अनिश्चितो वा ?	५१४
श्रुतार्थोपपत्ति हि कार्येन कारणप्रतिपत्तिर्भ- वन्ती अनुमानमेव	५१५
रात्रिभुक्तिमान् देवदत्त रसायनाद्युपयोगाभावे दिवामुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वान्	५१५
जीवनसर्वत्रस्य गृह्यन्नात्र बहिर्भावपूर्वक जीव- न्मनुष्यगृहाभावत्वात् इत्यनुमानस्वरूपेव अभावाद्यर्थोपपत्ति	५१६
प्रमेयानुप्रवेत्तपक्षे हि किं सत्तामात्र प्रमेयमिष्ट बहिर्भावविशिष्टत्वं वा सत्त्वम् ?	५१६
न हि जीवविशिष्टगृहाभावप्रतीतिरेव बहिर्भावप्रतीति	५१७
अन्यधानुपपत्त्य गमकविशेषणमस्तु गम्यवि- शेषण वा नैतावता अर्थोपपत्त्यनुमानयो- र्भेदाभावात्	५१८



अर्थापत्तौ भ्रविनाभावस्य गम्यविशेषणत्वञ्च असिद्धम्	५१९
उपमानादीना परोक्षेऽन्तर्भावान्न ज्ञानाना प्रमाणसत्त्वाव्याघात	
<b>इति तृतीय परोक्षपरिच्छेद</b>	
<b>२२ कारिकाव्याख्या</b>	<b>५२३</b>
प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धमपि विज्ञान कथञ्चि देव प्रमाणाभास न सर्वथा	५२३
ज्ञान हि यस्मिन्नशो भ्रविसवादि तत्र प्रमाण मितरत्र तदाभासम्	५२३
विवृतिविवरणम्	५२४
<b>२३ कारिकार्थः</b>	<b>५२५</b>
विकल्पज्ञान न प्रत्यक्षाभ किन्तु प्रमाणमेव	५२५
निविकल्पकमेव प्रत्यक्षाभ भवितुमर्हति	५२५
विवृतिव्याख्या	५२६
<b>२४ कारिकार्थः</b>	<b>५२८</b>
प्रतिनिहारकान्तस्य लक्षणम्	५२८
प्रत्यक्षादीना व्यवहाराविसवादात् प्रामाण्यम्	५२९
<b>२५ कारिकार्थः</b>	<b>५२६</b>
श्रुतज्ञानमतीन्द्रियार्थं प्रमाणम्	५३०
<b>२६ कारिकार्थः</b>	<b>५३०</b>
श्रुतस्य प्रमाणात्त्वसमर्थनम्	५३१-५३६
(वैशेषिकबौद्धयो पूर्वपक्ष ) शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते अभिन्नसामग्री विषयवत्त्वात्, सम्बन्धाद्यप्रतिपत्तिहेतुत्वात्, अन्वयव्यति- रेकवत्त्वात्, पक्षधर्मोपेतत्वाच्च	५३१
शब्दो विवक्षायामेव प्रमाण न बाह्यार्थं	५३१
(उत्तरपक्ष ) अभिन्नविषयत्वस्यासिद्धे, अर्थ मात्र हि शब्दस्य विषय अनुमानस्य तु धर्मविशिष्टो धर्मोऽस्ति	५३२
अनयोविषयामेदा हि सामान्यमात्रविषयतया, तद्वन्मात्रविषयतया, सम्बन्धार्थप्रति- पत्तिहेतुतया वा स्यात् ?	५३२
अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमप्यसिद्धम्	५३२
नह्यत्र पक्षधर्मता, धर्मिणोऽसिद्धे	५३३
अत्र धर्मो शब्द, अर्था वा स्यात् ?	५३३
शब्दत्वाद्धेतो किं शब्दस्य अर्थविशिष्टत्व साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तिमुक्तत्वम्,	

अर्थप्रतीतिविशिष्टत्व वा ?	५३३
नाप्यर्थस्य धर्मित्वम्, शब्दार्थयो सम्बन्धा- भावादेव	५३४
नापि शब्दार्थयो अन्वयव्यतिरेको स्त	५३४
सम्बन्धस्मृत्यपेक्षित्वञ्च अननुमानभूते सश- योपमानादावप्यस्ति	५३५
तत शब्दो नानुमान विभिन्नविषय सामग्री- समन्वितत्वात्, पुरुषैर्व्येष्ट नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्	५३५
शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनेव अव्यभि- चारिज्ञानजनकत्वात्	५३६
शब्दस्य अर्थवाचकत्वम्	५३६-५४३
( बौद्धस्य पूर्वपक्ष ) शब्दोऽप्रमाणम् वस्तव- सम्बद्धत्वात्	५३६
शब्दार्थयोर्हि तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वा सम्बन्ध स्यात् ?	५३६
अर्थासत्पत्तिन शब्दा विकल्पमात्रजनमान तिरस्कृतबाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति	५३६
नचात्र पुरुषदोषाणामपराध	५३७
वाचकप्रत्ययोत्परावपि शब्दो मिथ्याज्ञान जनयति अत्रो नासौ अर्थसत्पत्ती	५३७
(उत्तरपक्ष ) शब्द सम्बन्धमेवार्थं प्रकाशयति प्रतिनियतप्रत्ययहेतुत्वात्	५३८
योग्यतालक्षणश्च सम्बन्धोऽभ्युपेयते	५३८
सङ्केतसचिवा योग्यता अर्थबोधनिमित्तम्	५३९
सङ्केतस्य लक्षणम्	५३९
सङ्केतोऽपि सहजयोग्यतानिबन्धन एव प्रव- र्तते अतो न वाच्यवाचकव्यत्यय	५३९
सर्वशब्दाना सर्वशब्दार्थप्रत्यायनशक्तिरूपेयते, सङ्केताच्च प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिर्भवति	५४०
शब्दो हि शापक अत सङ्केतापेक्ष एवार्थबोधक.	५४१
आप्तप्रणीतस्य शब्दस्वार्थासत्पत्तित्व प्रसा- ध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ?	५४१
शब्देऽपि सवादिमवादी पुरुषगुणदोषनिबन्धनो	५४२
शब्दस्यहि स्वरूपमर्थमात्रप्रकाशकत्व न तु यथावार्थवार्थप्रकाशकत्वम्, तस्य वक्तृ गुणदोषनिबन्धनत्वात् चक्षुर्वत्	५४२
प्रमाण शब्द अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् स्वपर- पक्षसाधनद्रूपणसमर्थत्वात् सकलत्ववि- प्रतिपत्तिनिमित्तत्वाच्च	५४३

स्यात्, शब्द एव भावना वा ? ५८०  
 प्रचलन च शब्द प्रयोजनानुसन्धानाभावात्  
 प्रेरकत्वम् ५८०  
 शब्दभावनाया सद्भावे किं लिङादिश्रवणा-  
 नन्तरभाविनी प्रवृत्ति प्रमाण किं वा  
 शब्द एव ? ५८१  
 शब्द स्वव्यापार विधित्तानसव्यपेक्षो जनयति  
 अनपक्षो वा ? ५८१  
 यदि शब्द स्वव्यापार वरोपनिषत्ते च, तदा  
 उत्पन्न परचातमभिषत्ते, युगपद्वोत्पाद-  
 यति अभिषत्ते च ? ५८१  
 ( प्रभाकरस्य नियोगवादिनः पूर्वपक्ष )  
 नियोग एव प्रवृत्तिहेतुत्वादिति ५८२  
 गुण कार्यं नियोग ५८३  
 प्रेरणैव नियोग ५८३  
 प्रेरणासहितं कार्यं नियोग ५८३  
 कार्यं गहिता प्रेरणा नियोग ५८३  
 कार्यं स्वैव उपचारत प्रवर्तकत्वम् ५८४  
 कार्यंप्ररणयो सम्बन्धो नियोग ५८४  
 कार्यंप्ररणासमुदायो नियोग ५८४  
 यन्त्राद्धो नियोग ५८४  
 भाव्यरूपा नियोग ५८४  
 पुरुष एव नियोग ५८४  
 ( उत्तरपक्ष ) नियोग्यप्रेरणानिरपेक्षस्य  
 कार्यस्य नियोगरूपतारगम्यते तस्यापे-  
 क्षस्य वा ? ५८५  
 प्रेरणादिनिर्वाणवादानां प्रतिविधानम् ५८५  
 किं त्रिपटुषु इति नियोग किं का त्रिपुत्रिण, ५८५  
 त्रिपुत्रिण इति वा नियोग स्यात् ? ५८५  
 नियोग एव व्यापाररूप, पुरुषव्यापाररूप, ५८५  
 उपररूप, अनुसन्धानो वा ? ५८५  
 अनुसन्धान विषयगर्भात् पल्लवभाव ५८५  
 नि स्वभावा वा स्यात् ? ५८५  
 व्यापारविषय किं नियोग्यव्यापाररूपेण ५८५  
 न वा ? ५८५  
 नियोग प्ररणकत्वस्य प्ररणकत्वभावो वा ? ५८७  
 प्रेरणाद्वयानुसन्धानस्य पुरुषस्य- ५८७  
 स्यात् किं पुरुषस्य अनुसन्धान, अनोपपत्त ५८७  
 पुरुषस्यैव प्ररणाद्वयानुसन्धानस्य ५८८  
 प्ररणाद्वयानुसन्धानस्यैव ५८८

प्रेषादिविशेषनिरपेक्षस्य प्रवर्तनासामान्य-  
 स्यापि विधित्वमनुपपन्नम्, विशेषनिर-  
 पक्षस्य सामान्यस्यासम्भवात् ५८८  
 फलस्यापि प्रवर्तकत्वमनुपपन्नम्; अथिता  
 विना फलमात्रस्य अप्रवर्तकत्वात् ५८९  
 नियतकर्मसाध्यताया फलसमवेताया प्रवृत्ति-  
 हेतुत्वदर्शनात् फलस्य प्रवर्तकत्वे किं  
 तत्साध्यता फलस्य स्वरूपम्, शक्तिभेदो  
 वा स्यात् ? ५९०  
 फल विद्यमान सत् पुरुष प्रेरयति अविद्य-  
 मान वा ? ५९०  
 फल सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतु साध्यतावि-  
 शिष्ट वा ? ५९१  
 फलाभिलाषस्य च बालकप्रवृत्त्यादिषु अभावा-  
 पकत्वात् प्रवर्तकत्वम् ५९१  
 कर्मणस्तु विधिविषयतया विधित्वभावताऽ-  
 नुपपन्ना ५९१  
 उत्पन्न कर्म आत्ममिदृशं पुरुष प्रवर्तयति  
 धन्यत्वं वा ? ५९२  
 अप्रामादित्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरपि न अभि-  
 लाषमन्तरेण प्रवर्तिका ५९२  
 श्रेयःसाधनतायाः विधित्ववाच्यतयाऽप्र-  
 मिद्वे, न तस्या विधित्वम् ५९३  
 वस्यं श्रेय साधनता-भावनाया, धात्वर्थस्य वा ? ५९३  
 उपदेशस्य विधित्वे ट्वकारोपदेशस्यापि  
 विधित्वं स्यात् ५९४  
 वेदस्वातन्त्र्येणैव तत्र उपदेशस्य सम्भवनं च  
 नास्ति ५९४  
 कर्तव्यताप्रतिपत्तिरपि किं निर्विगिष्टा प्रवृत्ति-  
 हेतु श्रेय साधनताविशिष्टा वा ? ५९५  
 प्रतिभास्वरूपस्य च अविद्यत्वात् तस्या  
 विधिरूपता ५९५  
 प्रतिभामात्राकारनिर्णयरूपतामात्रस्य प्रति-  
 भावे तद्विद्यमानस्य प्रतिभास्वरूपस्य  
 स्यात् ५९६  
 साधनविषय विद्याविषयस्यैव किं पूर्वा-  
 हितमकारणताया, प्ररणादिविद्यमाना  
 वाऽनुसन्धान, शोचान, एवो वा व्याप-  
 णादिवत् सन्नामात्रो वा स्यात् ? ५९६  
 अतिरिक्तं उत्पन्ना मदी प्रवृत्तिमित्यम्, उत्प-

तिश्चास्या किं शब्दान्, निग्रहानुग्रह- समर्थं पुरुषविशेषाद्वा ?	५९७
विषयफलनिरपेक्षानाम इच्छाप्रयत्नादीना- मपि प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्धित्वमनु- पपन्नम्	५९८
२७ कारिकाव्याख्या	५९९
श्रुतस्य प्रमाणत्वसमर्थनम्	५९९
२८ कारिकाव्याख्या	५००
आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थं विनिश्चयाभावे सत्येतरव्यवस्थाऽभावः स्यात्	६००
सुगतेतरयो आप्तानाप्तव्यवस्था नवचित् साधनासाधनाङ्गत्वव्यवस्था वाऽभ्युपग- च्छना सौगतेन वाच बाह्यार्थविषयता स्वीकरणीया	६०१
२९ कारिकाव्याख्या	६०२
पुस अभिप्रायवैचित्र्यात् शब्दानामविसर्पण अर्थव्यभिचारे कार्यकारणभावादीनामपि व्यभिचारदर्शनादनुमानमपि प्रमाण न स्यात्	६०२
इति चतुर्थ आगमपरिच्छेद —ॐ—	
३० कारिकाव्याख्या	६०५-६०७
नयदुर्नययो स्वरूपम्	६०५
३१ कारिकाव्याख्या	६०६
३२ कारिकायां संग्रहनयस्वरूपम्	६०६
३३-३४ कारिकयोः प्रत्यक्षस्यापि द्रव्यग्राहकत्वनिरूपणम्	६११
३५-३६ कारिकयोः क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियाभावप्रदर्शनम्	६१४
३७ कारिकायां चित्रज्ञानवत् द्रव्य- स्यापि पूर्वापरपर्यायव्यापित्व- प्रदर्शनम्	६१८
३८ कारिकायां परसंग्रहस्य स्वरूपम्	६२१
३९ कारिकायां नैगमतदाभासयोः निरूपणम्	६२२
४० कारिकायां सत्तातद्वृत्तां भेदै- कान्तप्रतिक्षेपः	६२४

४१-४२ कारिकयोः व्यवहारनय- निरूपणम्	६३८-६३९
व्यवहाराभामस्य स्वरूपकथनम्	६३९
४३ कारिकायां ऋजुसूत्रनयस्वरूपम्	६३५
४४ कारिकायां शब्दसमभिरूढेत्य- म्भूतनयलक्षणानि	६३७
४५ कारिकायाम् अक्षबुद्धिस्मृत्योर- भिन्नार्थविषयत्वप्रदर्शनम्	६४०
४६ कारिकायां शब्दज्ञानस्यापि अविसंवादित्वात् प्रमाणत्वम्	६४४
४७ कारिकायां कालादीनां स्वरूप- कथनम्	६४६
४८ कारिकायाम् अनेकान्तात्मनोऽ- र्थस्य पट्टकारकात्मकत्वप्रदर्शनम्	६५०
४९-५० कारिकयोर्व्याख्या	६५२-५४
पञ्चम नयपरिच्छेद —ॐ—	
५१ कारिकायां मंगलाचरणम्	६५५
५२ कारिकायां प्रमाणन्यासनयानां लक्षणानि	६५६
५३ कारिकायाम् अर्थकारणतायाः निरासः	६५८
५४ कारिकायाम् अर्थस्य ज्ञानकार- णत्वे संशयादिज्ञानानुत्पत्तिप्र- सङ्गापादनम्	६६१
५५ कारिकाव्याख्या	६६४
५६ कारिकायाम् आलोककारणतायाः निरामः	६६५
तमोद्रव्यवादः	६६६-६७२
(शालिकनाथ योग्यो पूर्वपक्ष) ज्ञानानुत्पत्ति- व्यतिरेकेण नास्त्यन्यत्तम	६६६
ज्ञानसो द्रव्यान्तरत्वे हि तत्प्रकाशने आलोका नपेक्षा न स्यात्	६६६

आलोकाभावरूप एव हि छाया	६६७
छायाया द्रव्यान्तरत्वे हि छायाद्यथायेऽपि आलो	
केन सहावस्थान स्यात्	६६७
आवारकद्रव्यगनकर्मारोगात् 'छाया गच्छति'	
इति प्रतीयते न वस्तुन	६६८
देशान्तरप्राप्तिर्हि छायायाः देशान्तरेण सयोग	
समवायो वा ?	६६८
(उत्तरपक्ष) आलोकतमसो स्वरूपवैदक्ष्य्य	
प्रतीयते	६६८
तमसो रूपादिमत्त्वादभावरूपनाविरोध	६६८
छायातमसो कृष्णरूप शीतश्च स्पष्टं प्रसिद्ध	६६९
द्रव्य तम गुणवत्त्वात्	६६९
वैद्यकशास्त्रेऽपि तमसो गुणवत्त्व प्रसिद्धम्	६६९
छायातमसो गुणानामोपचारिकत्वे ज्योत्स्ना-	
तयोरपि मुख्यतो गुणसिद्धिर्न स्यात्	६७०
सर्वथा ज्ञानानुत्पत्ति तम प्रतीतिहेतु	
कथञ्चिद्वा ?	६७०
तमसो ज्ञानानुत्पत्तिरूपत्वे आलोकस्यापि	
विशदज्ञानोत्पत्तिरूपत्वं स्यात्	६७१
छायाद्यन्वकारः द्रव्य घटाद्यावारवत्त्वात्,	
गतिमत्त्वाच्च	६७१
देशान्तरप्राप्तिश्च सयोगरूपव	६७१
छायाया असत्त्वे हि आवारकद्रव्यगतकर्माणस्तत्र	
आरोपविरोध	६७२
छाया परमार्थमनी अध्यारोप्यमाणगतित्वान्	६७२
५७ कारिकायाम् प्रतिनियतावरण-	
विगमवशादात्मनः प्रतिनिय-	
तार्थप्रकाशकत्वनिरूपणम्	६७३
५८ कारिकायां तद्वज्जन्मताद्रूप्यतद-	
ध्यवसायानां प्रामाण्यहेतुता-	
निरामः	६७५
५९ कारिकायां स्वहेतुजनितयोः	
ज्ञानज्ञेययोः परिच्छेद्यपरिच्छे-	
दकभावप्रदर्शनम्	६७८
६० कारिकायां प्रमाणस्य व्यवसा-	
यान्मरुत्वमभयनम्	६७९
६१ कारिकायां प्रमाणभेदनिरूपणम्	६८२

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादीनामनि-	
न्द्रियप्रत्यक्षता	६८२
६२ कारिकायां श्रुतस्य स्याद्वाद-	
नयात्मकयोः द्वयोः उपयोगयोः	
निरूपणम्	६८६
सकलादेगविकलादेशयोः स्वरूपम्	६८६
६३ कारिकायां स्यात्कारप्रयोगस्य	
विचारः	६८९
अयोग-अन्ययोग अत्यन्तायोगभेदेन विधा	
एवकार	६९३
स्यात्कारमन्त्रेण इष्टानिष्टयोर्विधिप्रतिषेधा-	
नुपपत्ते	६९४
स्याद्वादाभ्युपगम एव एवकारस्य अयोगान्य-	
योगात्यन्तायोगप्रकारा सङ्गच्छन्ते	६९५
६४-६५ कारिकयोः शब्दानां बहि-	
र्थविषयत्वप्रदर्शनम्	६९६
शब्दनित्यत्ववाद	६९७-७००
(मीमांसकस्य पूर्वपक्ष) प्रत्यभिज्ञाया शब्दस्य	
नित्यत्व निश्चीयते	६९७
प्रत्यभिज्ञाया प्रत्यक्षत्वम् इन्द्रियान्वयव्यतिरे-	
कानुविधायित्वात्	६९८
उच्चारण हि शब्दस्य अभिव्यञ्जकम्	६९९
'कालो गादिसम्बद्ध कालत्वात्' इत्यनुमान-	
तोऽपि शब्दस्य श्रावणत्वम्	६९९
नित्यः शब्द श्रावणत्वात्	६९९
'देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धय एक-	
गोशब्दविषया गौरित्युत्पद्यमानत्वात्'	
इत्यनुमानतोऽपि शब्दनित्यत्वसिद्धि	७००
ह्यस्तनो गोशब्द अद्याप्यनुवर्तने गौरिति	
ज्ञायमानत्वात् इत्यनुमानेनापि नित्यत्वम्	७००
अद्यनो गोशब्द ह्योऽपि आमोन् गौरिति	
ज्ञायमानत्वात् इत्यनुमानादपि नित्यत्वम्	७००
सम्बन्धश्चेत् अर्थमनिर्जनकत्वादिपि नित्यत्वम्	७००
अर्थप्रतिपक्ष्ययथानुपपन्न्या शब्दस्य नित्यत्वम्	७०१
मादुरस्य रिचार्थमाणस्यानुपपत्ते न तत्रि-	
मित्त्वमर्थप्रतिपत्ते	७०२
(उत्तरपक्ष) 'स एवाय गकार' इति प्रत्यभि-	
ज्ञानस्य भ्रान्ता, सादृश्यनिवन्धनत्वादस्य	७०३

न च प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षम् अविशदरूपत्वात्	७०४	अनेकान्तिकम्	७१६
'उत्पन्न' शब्द विनष्ट. शब्द ' इति शब्दोत्पा-		सम्बन्धबलेनार्थमतिजनवञ्च चेष्टया अनेका-	
दविनाशप्राहकप्रत्यक्षबाधित्वात् न प्रत्य-		न्तिकम्	७१७
भिज्ञा शब्दनित्यत्वसाधिका	७०४	कञ्चित्कालावस्थायित्वञ्च विमुपलम्भकाला-	
शब्दाभावप्रतीती च शब्दान्तरमेव एकज्ञान-		वस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्तमान-	
ससमि भवति	७०५	कालावस्थायित्व वा ?	७१८
नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भ		धूमवदनित्यस्यापि शब्दस्य सादृश्यतोऽप्रति-	
किम् इन्द्रियाभावात्, शब्दस्यासन्निहि-		पादकत्वोपपत्ते	७१८
तत्वात्, आवृत्तत्वाद्वा स्यात् ?	७०५	शब्देऽपि उदात्तादिभेदतो नानात्वस्य प्रसिद्धे	
व्यञ्जकन्यापारात्पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित्प्रमाणा-		अस्ति तेषु शब्दत्वं सामान्य सद्दृशपरि-	
त्प्रसिद्धौ आवरणकल्पना युक्ता	७०७	णामात्मकम्	७१९
आवरणमपि दृश्यमदृश्यं नित्यमनित्य व्यापक-		सादृश्यस्य प्रमाणसिद्धत्वात् न सत्र बाधा	७१९
मव्यापक एकमनेक वा स्यात् ?	७०७	अनित्य शब्द कृतवत्त्वात्	७१९
शब्दा प्रतिनियतावरणावार्थी प्रतिनियतव्य-		कृतक शब्द कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्	७१९
ञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवति अभिन्न-		वैदिकानामपि शब्दानाम् अपौरुषेयप्रसाधक-	
देशत्वे सति एकेन्द्रियप्राह्यत्वात्	७०९	प्रमाणाभावादनित्यत्वमेव	७२०
तात्वादीना ध्वनीना वा व्यञ्जकत्वे तद्वधा-		वेदापौरुषेयत्ववादः	७२१-३७
पारे शब्दाना नियमेनोपलब्धिनं स्यात्	७०९	(भ्रीमासकस्य पूर्वपक्ष ) अपौरुषेयो वेदः कर्तुं	
न सर्वगत शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति-		स्मरणयोग्यत्वे सत्यपि अस्मर्यमाणकर्तृ-	
बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्	७१०	कत्वात्	७२१
ध्वनयश्च कि प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते अनुमानन		छिन्नमूलत्वाच्च वेदे कर्तृस्मरणाभाव	७२२
अर्थापत्त्या वा ?	७१०	वैदिकी रचना अपौरुषेयी दृष्टकर्तृकरचना-	
प्रत्यक्षेण चेत्, श्रोत्रेण स्पर्शनेन वा ?	७१०	विलक्षणत्वात्	७२२
विशिष्टसंस्कृत्यन्धानुपपत्त्या ध्वनिप्रतिपत्ती		वेदाध्ययनवाच्यत्वात् कालत्वाच्च वेदस्मा-	
ससृष्टिनि शब्दनस्काररूपा स्यात्, श्रोत्र-		पौरुषेयत्वम्	७२२
संस्काररूपा, उभयसंस्काररूपा वा ?	७११	नहि आप्तगुणसक्रान्त्या शब्दस्य प्रामाण्यम्	
शब्दनस्कार कि शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूत		आप्तस्य शब्दोच्चारणमात्रे व्यापारात्	७२३
कश्चिदतिशय, अनतिशयव्यावृत्ति,		वेदानुपूर्व्याः स्वसामर्थ्यनेन प्रामाण्यम्	७२४
स्वरूपपरिपोष, व्यक्तिममवाय, तद्ग्रह		(उत्तरपक्ष ) अस्मर्यमाणकर्तृकत्व कि कर्तृ-	
णापेक्षग्रहणता, व्यञ्जकसन्निधिमात्रम्,		स्मरणाभाव अकर्तृकत्व वा ?	७२४
आवरणविगमो वा स्यात् ?	७१२	अभावप्रमाणमपि कर्तृस्मरणाभाव निराश्रय	
श्रोत्रप्रदेश एव शब्दस्य ध्वनिभि संस्कार.		प्रमाधयेत् साश्रय वा ?	७२४
क्रियते सर्वत्र वा ?	७१२	प्राथयोऽपि स्वात्मना स्यात्, सर्वप्रमानारो वा ?	७२५
इन्द्रियसंस्कारपक्षे सर्वशब्दाना युगपच्छ्रवण		न चाभाव कर्त्रभावावेदक वेदस्य स्वय	
स्यात्	७१३	स्वकर्तृप्रतिपादकत्वान्	७२६
अत. तात्वादिध्यापारानन्तरभाविन्वात् तज्ज-		स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किता ऋण्व-	
न्यत्वमेवोपपन्न शब्दस्य	७१४	माध्यन्दिनादय शालाभेदाः वयमस्मर्य-	
कालत्वाद्देतो शब्दस्थैर्यसाधने विद्युदादीना-		माणकर्तृका ?	७२६
मपि नित्यत्वप्रसङ्ग. स्यात्	७१६	एता. तत्कृतत्वारात्रामभिराङ्किता तद्दृष्ट-	
गौरित्युत्पन्नमानत्वञ्च गोशब्दलिपिवृद्ध्या		त्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ?	७२६

यदि यौगादीना कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ति  
 तदा कर्तृविशेषस्मरणमत्र अप्रमाण स्यात्  
 तु कर्तृसामान्यस्मरणमपि ७२७  
 कार्यमेव हि स्मर्यमाणकर्तृकमस्मर्यमाण-  
 कर्तृक वा प्रतीयते, अतः कृतको वेद  
 अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् ७२७  
 कर्तुरस्मरण हि वादिन, प्रतिवादिन, सर्वस्य  
 वा स्यात् ? ७२८  
 कर्मभावसिद्धिश्च प्रामाणान्तरात्, अत एव वा ? ७२८  
 अध्यक्षेण वेदकर्तुरनुभवाभावात् स्मरण छिन्न  
 मूलम प्रमाणान्तरेणानुभवाभावाद्वा ? ७२९  
 अध्यक्षेण चत, भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्ब-  
 धिना वा ? ७२९  
 पीरूपयो वेद रचनावत्त्वात्, पदवाक्यात्म  
 यत्वाच्च ७२९  
 प्रमाणान्तरत्रिपयभाञ्चि वैदिकानि वाक्यानि  
 आप्तोक्तानि वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात् ७३०  
 वेदरचनाया कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्व हि  
 किं दुर्भणत्वम्, दुःश्रवणत्वम्, लोक-  
 व्याकरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्येन शब्द  
 विनिवेश, अपूर्वञ्च दोषवद्वैलक्षण्यम्, अती  
 न्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेत  
 मन्त्रयुक्तत्व वा ? ७३०  
 अध्ययनवाच्यत्व किं निर्विशेषण सद् वेदस्य  
 अपौरुषेयत्व प्रतिपादयेत् सविशेषण वा ? ७३१  
 वेदाध्ययन हि किं तावन्मार्गेण हेतु अपर-  
 विगमणविसिष्टत्वेन ? ७३१  
 अतीन्द्रियार्थप्रतिपादने वेदस्य प्रामाण्याभावात्  
 गुणवद्भवभावात् ७३३  
 अपरविगमणमने किं कर्मस्मरण विद्याय-  
 नमभिन्नं सम्प्रदायाध्यवच्छेदो वा ? ७३३  
 सम्प्रदायाध्यवच्छेदोऽपि घातमग्न सर्वलोक  
 गतो वा ? ७३३  
 सम्प्रदायाध्यवच्छेदश्च किं स्वयन्त्र प्रमाणम  
 प्रथमाद्यनमन तदन्तर्भूत वा ? ७३३  
 बाल्यवहेतोः प्रतिक्रियानम  
 वेद आध्यायन अध्यायनातो या स्वार्थ-  
 प्रतीतिं कुर्यात् ? ७३४  
 आध्यायनमपि स्वयन्, पुत्राणां स्यात् ? ७३४  
 आध्यायनात् अतीन्द्रियार्थेऽपि, तद्विपरीता

वा स्यात् ? ७३५  
 मन्वादीना प्रज्ञातिशयश्च वेदापर्याय्यासात्,  
 अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? ७३६  
 अभ्यासोऽपि ज्ञातस्य वेदस्य स्यादज्ञातस्य वा ? ७३६  
 ज्ञातस्य चेत, तज्जन्ति स्वत, अग्न्यतो वा ? ७३६  
 वेदापरिनुष्ठानाच्चेत्, ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा  
 वेदापर्यस्य अनष्टाता स्यात् ? ७३६  
 अत पीरूपयो वेदो नररचितरचना-  
 वशिष्टत्वात् ७३७  
 वाक्ये लक्षणविचारः ७३५-४५  
 पदवाक्ययोर्लक्षणे ७३८  
 आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुधर्म, सा च वाक्ये-  
 ष्वध्यारोप्यते ७३८  
 आरधानशब्दो हि पदान्तरनिरपेक्ष सापेक्षो  
 वा वाक्य स्यात् ? ७३९  
 सापेक्षपक्षे क्वचिन्निरपेक्षोऽसौ न वा ? ७३९  
 सघातस्य वाक्यत्वे किं वर्णानां पदानां वा  
 सघातो वाक्यत्व प्रतिपद्यते ? ७४०  
 देशङ्गन कालकृतो वा पदसघात वाक्य स्यात् ? ७४०  
 कालकृतोऽपि सघात पदेभ्यो भिन्न  
 अभिन्नो वा ? ७४०  
 अभिन्नश्चेत्, सर्वथा न चञ्चिद्वा ? ७४१  
 पदसघातमर्तिन्या सदुपपरिणामलक्षणाया  
 पदसघातात्कथञ्चिदभिप्राया ज्ञाते.  
 वाक्यत्वमभ्युपगम्यत एव ७४१  
 बुद्धिर्य भाववाक्य द्रव्यवाक्य वा स्यात् ? ७४१  
 अनुमहतेर्भाववाक्यरूपता स्वीक्रियते  
 पदानामेव वाक्यार्थबोधविधायकत्वे किं  
 परस्परसापेक्षाणां पदानां तद्विधायकत्व  
 निरपेक्षाणां वा ? ७४३  
 वाच्यार्थं पदार्थादय अग्न्यो वा ? ७४३  
 अथ अयं क्रियाकारकससर्गरूप, तदा  
 असौ नित्य अनित्यो वा स्यात् ? ७४३  
 अनित्यश्चेत्, किं विवक्षितपदार्थजनयने पदा-  
 र्थांतरं वा ? ७४३  
 विवक्षितपदार्थजनयने त एकोऽप्यदात्ता ते एव  
 च ज्ञापका तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति,  
 पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वंमुत्पाद-  
 यन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ? ७४३  
 अतः क्रियाकारकससर्गरूप कर्तृभ्यनया प्रति-


पादने कि कर्तव्यता भावरूपा स्यादभाव- रूपा वा उभयरूपा वा अनुभयरूपा वा ?	७४३	अदृष्टवशात् अविनष्टा एव पूर्ववर्णसंविद तत्संस्काराश्च अन्त्यवर्णसंस्कार विदधति	७५१
पदञ्च वर्णभ्यो भिन्नमभिन वा स्यात् ?	७४४	तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्णं पदार्थप्रतिपत्तिहेतु	७५१
भेदपक्षेऽपि किं तद् दृश्यमदृश्य वा ?	७४४	यदि वर्णा व्यस्ता समस्ता वा नार्थप्रतिपत्ति विदधति तदा स्फोटस्याभिव्यक्तावपि न	७५२
पद वाक्य वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते वर्णद्वारेण वा ?	७४४	तेषां सामर्थ्यं स्यात्	७५२
वर्णद्वारेणापि सावयवस्य निरवयवस्य वा प्रतीति स्यात् ?	७४४	एकनैव वर्णेन वा स्फोटस्याभिव्यक्तौ द्वितीया- दिवर्णाच्चारणवैयर्थ्यम्	७५३
निरवयवञ्च किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्य प्रतीयते व्यस्तेभ्यो वा ?	७४४	नापि पूर्ववर्णो स्फोटस्य संस्कारे अन्त्यवर्णस्य व्यञ्जकत्वम्	७५३
सकलवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यया वर्णबुद्ध्या वाक्यावधारणे सा बुद्धि किं स्मरणम् उत अध्यक्ष वा स्यात् ?	७४५	संस्कारो हि स्फोट एव तद्धर्मो वा स्यात् ?	७५३
पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रहणाभ्यां समुत्पन्नस्य विकल्पज्ञानस्य वाक्यावधारणकर्मत्वे सद्दि- कल्पज्ञान प्रमाणं न वा ?	७४५	किञ्च असौ संस्कार किमेकदेशेन क्रियते सर्वस्मिन्ना वा ?	७५३
प्रमाणञ्चेत्, किं प्रत्यक्षाद्यन्तमत्, प्रमा- णान्तरं वा ?	७४५	स्फोटसंस्कारो हि स्फोटविषयसवेदनम् आव- रणापनयनं वा ?	७५३
स्फोटपाद	७४५-५६	चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य अर्थप्रकाशन- सामर्थ्यासम्भवात् चिदात्मैव स्फोटोऽस्तु	७५४
(बंधाकरणानां पूर्वपक्ष) स्फोट एव अर्थप्रति- पादकं न तु वर्णा	७४५	वायुनामपि न स्फोटाभिव्यञ्जकत्वम्	७५४
वर्णा हि समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादका स्यु ?	७४५	स्फोटस्वरूपावेदकप्रमाणाभावान्नास्य अभि- व्यक्तिरूपेण युक्ता	७५५
पूर्ववर्णानाम् अत्यवर्णानुग्राहकत्वे किं अन्त्य- वर्णजनकत्वमनुग्राहकत्वमभिप्रेतम्, अर्थ ज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ?	७४६	यदि वर्णं तद्बुद्धिभिर्वा व्यञ्ज्यो शब्दस्फोटोऽ- भ्युपगम्यते तदा प्रदीपादिस्फोटोऽप्यभ्यु- पगन्तव्य	७५६
सवेदनप्रभवसंस्काराश्च केवल स्वविषयस्मृति हेतवो भवन्ति न त्वर्षान्तरे ज्ञानोत्पादका	७४७	एव गन्धादिस्फोटोऽपि स्वीकार्यं	७५६
अन्त्यवर्णस्य च अर्थप्रतिपादकत्वे पूर्ववर्णोच्चा रणवैयर्थ्यम्	७४७	तथा हस्त-पाद करणं मातृकास्फोटा अपि अभ्युपेया स्यु	७५६
अर्थप्रतीत्यस्यथानुपपत्त्या स्फोट अर्थप्रतीति- हेतु स्वीकरणीय	७४७	अपभ्रशादीनां वाचकत्वनिवारः	७५७-६७
प्रत्यक्षत अभिन्न स्फोट समनुभूयते	७४८	(मीमांसकवैयकारणादीनां पूर्वपक्ष) संस्कृत- शब्दानामेव वाचकत्वं साधुत्वात् तु प्राक् तानां गार्वादीनाम्	७५७
नित्यश्चासौ स्फोट	७४८	अनन्यथासिद्धान्तव्यतिरेकाभ्यां हि वाचकत्व संस्कृतशब्द एव निश्चीयते	७५८
स्फोटो हि अन्तरालप्रत्ययव्यञ्ज्यते	७४९	गार्वादिप्राकृतशब्देषु वाचकगोशब्दस्मृतिद्वारेण अर्थबोधकत्वमतस्तत्र गोशब्दस्मृत्या अन्वयव्यतिरेकी अन्यथासिद्धौ	७५८
(उत्तरपक्ष) पूर्णवर्णध्वसविशिष्टादन्त्यवर्णौ दर्थप्रतिपत्त्युपपत्ते स्फोटकल्पना व्यर्था	७५०	नहि गार्वादिशब्देषु संकेतोऽपि शक्यक्रिय	७५९
पूर्णवर्णावज्ञानाभावविशिष्टं तज्ज्ञानजनित संस्कारसव्यपेक्षो वाऽत्यो वर्णं अर्थप्रती- त्युत्पादक	७५०	सकलशब्दानां सामान्यद्वारेण संकेतसौकर्याय व्याकरणस्य उपयोगिता	७५९
पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारस्य अन्त्यवर्णसहा- यताप्रणाली	७५१	व्याकरणस्याप्रामाण्ये हि लोकशास्त्रविरोध	७६०

शब्दसाधुत्वस्य च प्रत्यक्षतः एव प्रतीतिः ७६१  
 व्याकरणसंस्कारापेक्षमेव श्रोत्र साधुत्वग्राहक  
 भवति ७६१  
 व्याकरणानुशिष्टत्वात् अदृश्यमानप्रयोगाणा-  
 मपि शब्दानां साधुत्व ज्ञायते ७६१  
 आगमार्थापत्त्यादिभिरपि साधुत्वप्रतीतिर्भवत्येव ७६१  
 (उत्तरपक्ष) लोकव्यवहारे हि गाव्यादिशब्दा  
 नामेव साधुत्वमतस्तेषामेव वाचकत्वम् ७६२  
 न हि प्राकृतशब्देभ्य प्रथम मस्कृतशब्दस्मरण  
 ततोऽर्धबोध इति व्यवहिता प्रतीतिर्भवति ७६२  
 यैश्च सस्कृतशब्दानां न श्रुता तेषां कथं सस्कृत-  
 शब्दस्मरणम् ? ७६२  
 गाव्यादिशब्दानामपश्चात्त्वञ्च पुरुषार्थाप्रसा-  
 धकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्व-  
 दानवच्छिन्नस्य एकत्वेन प्रतीत्यभावात्,  
 सङ्केतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात् ? ७६३  
 साधुत्वञ्च किं वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता,  
 धर्मसाधनत्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्,  
 विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, वाधारहितत्वम्,  
 प्रमाणांतरानुगृहीतत्वम्, अनुपहृतेन्द्रिय-  
 ग्राह्यत्वम्, अनावृतत्वम्, व्याकरणसिद्ध-  
 स्वरूपत्व वा स्यात् ? ७६३  
 अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया नित्यत्वा  
 पेक्षया बोध्यते ? ७६४  
 प्रकृतिरेव हि प्राकृत न तु प्रकृतेर्भवम् ७६४  
 प्रकृतिश्च किं स्वभावः, धातुगण, सस्कृत-  
 शब्दस्वरूप वा ? ७६४  
 गुणान्तराधानं हि संस्कार, अतः कथं सस्कृत  
 प्रकृति स्यात् ? ७६४  
 न हि अविचलितरूपतयावस्थापनमेव शब्दानां  
 संस्कार, अप्रतीति ७६४  
 अविचलितरूपतयावस्थापनञ्च शब्दानां सादृ-  
 श्यापेक्षया, नित्यैकरूपापेक्षया वा स्यात् ? ७६५  
 धर्मसाधनत्वमपि साक्षात् परम्परया वा ? ७६५  
 व्याकरणसिद्धस्वरूपता च प्राकृतशब्दस्याप्यस्ति ७६६  
 सस्कृता वाक् कदा कदापि कर्मकाले अध्य-  
 यनकाले वा ? ७६६  
 अध्ययनकाले चेत्, नस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य  
 सस्कृतस्य वा ? ७६६  
 गाव्यादिशब्दानामपश्चात्त्वञ्च किं स्वरूप-

मानात् व्याकरणादिन्यत्तैर्वा ? ७६६  
 प्राकृतस्य अधर्महेतुत्वमपि सर्वदा यागादि-  
 कर्मकाले वा ? ७६७  
 सस्कृतशब्दोच्चारणस्य धर्महेतुत्वे चान्येषां  
 पुण्यानुष्ठानानां वैयर्थ्यम् ७६७  
 ब्राह्मणत्वजातिविचारः ७६७-७६९  
 (मीमांसकादीनां पूर्वपक्ष) प्रत्यक्षेणैव हि ब्राह्म-  
 णोऽयं ब्राह्मणोऽयमिति ब्राह्मण्य प्रतीयते ७६७  
 मातापितृब्राह्मण्यज्ञानसहायं हि प्रत्यक्षं ब्राह्म-  
 णत्वजातिग्राहकम् ७६८  
 अथवा ब्राह्मणोऽयमित्युपदेशसहकृतेन इन्द्रि-  
 येण ब्राह्मणत्वजातिग्राही प्रत्ययो जन्यते ७६८  
 मातापित्रो अविप्लुतत्वञ्च प्रवादाभावादि-  
 श्चोद्यते ७६८  
 अनुमानतोऽपि ब्राह्मणत्वजातिः प्रतीयते ७६९  
 ब्राह्मणपद व्यक्तित्वव्यक्तिर्कनिमित्ताभिधेय-  
 सम्बद्ध पदत्वात् इत्यनुमानादपि ब्राह्मण-  
 त्वसिद्धि ७६९  
 वर्णविशेषयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तानि -  
 वन्धनं ब्राह्मण इति ज्ञानम् ७६९  
 आगमादपि ब्राह्मणत्वजातिसिद्धि ७७०  
 (उत्तरपक्ष) किं केवलेन्द्रियजनितेन प्रत्य-  
 क्षेण ब्राह्मणत्व प्रतीयते अन्यसहकृतेन्द्रि-  
 यजनितेन वा ? ७७०  
 प्रथमपक्षे निर्विकल्पकेन सविकल्पकेन वा तेन  
 तत्प्रतीयते ? ७७०  
 इन्द्रियाणां सहकारि हि किं ब्राह्मणभूतपितृ-  
 जन्यत्व स्यात्, पित्रोरविप्लुतत्वोपदेश,  
 आचारविशेष, संस्कारविशेष, वेदा-  
 ध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्म-  
 प्रभवत्व वा ? ७७१  
 पित्रो ब्राह्मणत्वमपि ब्राह्मणभूतपितृजन्य-  
 त्वात् सिद्धयेत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ? ७७१  
 पित्रोरविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपितृपेक्षया,  
 अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वाऽभिप्रेतम् ? ७७२  
 प्रथमपक्षे तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्,  
 अनादिकाले वा ? ७७२  
 तज्जन्मनि चेत्, केन प्रतीयेन-पुत्रेण अन्यैर्वा ? ७७२  
 अन्यैरपि प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, आगमाद्वा  
 तत्प्रतीयते ? ७७२



पिप्रोरविप्लुतत्वे हि किं सावृताकारविशेष अपत्येत्त्वविलक्षणता वा लिङ्ग स्यात् ?	७७३
अगमतोऽपि अपौरुषेयात् पौरुषेयाद्वा तत्प्र- तीतिः स्यात् ?	७७३
अबलानां प्रायणं कामातुराणामविप्लुतत्वम- शक्यनिश्चयम्	७७३
आचारविशेषसंस्कारयोश्च अव्याप्त्यतिव्या- प्तिसद्भावात् ब्राह्मणत्वनिश्चयकत्वम्	७७४
ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति न वा ?	७७४
अस्ति चेत्; किं सर्वत्र मुखप्रदेश एव वा ?	७७४
ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेव वाऽऽी जायते ?	७७५
'ब्राह्मणपदम्' इत्यनुमानञ्च प्रत्यक्षवाधितम्	७७५
सत्ताकाशकालादिपदरत्नकान्तिकश्च पदत्व हेतु	७७५
नगरादिभिरनैकान्तिकश्च पदत्वहेतु	७७६
नगरादिषु अनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं हि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात् ?	७७६
सत्तापि गृहादिविशेषिता नगरप्रत्ययमु- त्पादयेत् केवला वा ?	७७६
प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि गृहादीनां गृहाद्यन्तरे समवायसंयोगो वा अभिप्रेत ?	७७६
अप्रतिपक्षे च ब्राह्मण्ये लिङ्गस्य अविनाभा वावगमो न भवति	७७६
अगमतोऽपि अपौरुषेयात् पौरुषेयाद्वा तत्प्र- तिपत्तिः स्यात् ?	७७७
अर्थापर्युपमानाभ्यामपि न ब्राह्मणत्वप्रतीति जनानाञ्च क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नो पलक्षिते व्यक्तविशेषे वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निमित्तकश्च तपोदानादिव्यवहार घटते	७७८
जाते पवित्रताहेतुत्वे वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां कथं निन्दा स्यात् ?	७७९
क्रियाभ्रंशान्निवृत्ताया सिद्ध क्रियानिमिराक ब्राह्मणत्वम्	७७९
विधृतिनिवरणम्	७७९
विवक्षामात्रसूचकत्वे हि शब्दानां कथं बहिरर्थे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः स्युः ?	७८०
विवक्षा च किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देनाममर्थं प्रतिपादयामीत्यभि- प्रायो वा स्यात् ?	७८०
समयानपेक्षं शब्दं तादृशमभिप्रायं गमयेत्	

तत्सापेक्षो वा ?	७८१
६६-६७ कारिकयोः सप्तनयनिर्देशः	७८२
श्रुतभेदा नया नतु मतिभेदा	७८३
स्पर्शवत्त्वात् जलादीनामपि गन्धादिमत्ता सिद्धपति	७८७
६८ कारिकायां नैगम-नैगमाभास- निरूपणम्	७८८
६९ कारिकायां संग्रहतदाभासयोः लक्षणम्	७९०
७० कारिकायां व्यवहारतदाभास- स्वरूपम्	७९०
७१ कारिकायां प्रजुष्टत्रतदाभास- लक्षणम्	७९२
७२ कारिकायां नैगमादीनां चतुर्णां- मर्थनयत्वस्य शब्दादित्रयाणां शब्दनयत्वस्य च समर्थनम्	७९३
शब्दादीनां नयानां लक्षणानि	७९४
अनेकान्तनिराकृते नयानां निरपेक्षत्वम् इति षष्ठं प्रवचनपरिच्छेद	७९४
	
७३-७६ कारिकासु निक्षेपस्वरूप- निरूपणम्	७९८
नामादिनिक्षेपाणां लक्षणानि	७९९
निर्देशाद्यनुयोगानां स्वरूपम्	८०२
सदाद्यनुयोगानां लक्षणानि	८०२
अर्थात्मको निक्षेपो द्रव्यभावो, वागारमक नामरूप, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूप	८०३
एकजीवानेकजीवादिनामभेदेन अनेकधा नामनिक्षेप	८०४
सद्भावासद्भावभेदेन द्विधा स्थापना	८०५
आगमनोआगमादिभेदेन द्रव्यनिक्षेपस्य भेदा	८०६
भावनिक्षेपस्य भेदा	८०७
आवरणस्वरूपनिचारः	८०८-८१२
(वेदान्तिनां पूर्वपक्षः) न चावरणस्य स्वरूप किञ्चित् प्रसिद्धम्, तद्विद्यं शरीरम्, रागादि, देशकालादिकं वा स्यात् ?	८०८

अविद्यैव आवरण स्यात् न पौद्गलिक कर्म	८०९	णमेत् अनपेक्ष्य वा ?	८१६
पौद्गलिकत्वेऽपि वा अनादिसन्तानत्वात् न		यद्यपेक्ष्य; तदा किमपेक्ष्यम्-विवेकानुपलम्भः	
निर्जैरामभव	८०९	अदृष्ट वा ?	८१७
( उत्तरपक्षः ) कर्ममात्रसद्भावे विवाद		अमुक्तात्मनि प्रवृत्ताधिकारत्वञ्च किं तत्र	
• ज्ञानावरणादिकर्मविशेषे वा ?	८०९	सम्बद्धत्वम्, शरीरसुखादिसम्पादकत्व वा ?	८१७
हीनस्थानादिषु विशिष्टाभिरतिदर्शनात्		शरीरादिना आत्मनः कश्चिदुपकारः क्रियते	
कर्मसद्भावसिद्धिः	८०९	न वा ?	८१७
ज्ञानं सावरण स्वविषयेऽस्पष्टत्वात् इत्यनुमा-		क्रियते चेत्; भिन्नः अभिन्नो वा ?	८१८
नात् ज्ञानावरणसिद्धिः	८१०	पुरुषो न वस्तु सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्	८१८
अविद्याया अमूर्तत्वादावरणत्वासाभव	८१०	अकर्तृत्वे चात्मनः भोक्तृत्वविरोधः, भुजि-	
मूर्त्तं मदिरादिना अमूर्त्तस्याप्यात्मन आवरण		त्रियायाः कर्त्तव्यं हि भोक्ता	८१८
भवति	८१०	कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्यत्वे भोक्तृत्वादि-	
मिथ्याज्ञानाद् पद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धन		धर्माणामपि वस्तुशून्यत्व स्यात्	८१९
तत्स्वरूपान्यथाभावस्वभावत्वात् इत्यनु-		अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाकृता-	
मानात् कर्मसिद्धि	८१०	भ्यागमप्रसङ्गः	८१९
कर्मणामात्मगुणत्वे हि आत्मपारतन्त्र्यनिमित्ता-		बुद्धिचैतन्ययोर्हि भेदाभावः	८१९
त्व न स्यात्	८१०	अपरिणामिन्याश्चित्ताशक्तेः वस्तुत्वमेव अनु-	
हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् पारतन्त्र्यमात्मनः		पपन्नम्	८२०
सुप्रगिद्धम्	८१०	जैनास्तु मुक्तात्मानमपि परिणामिन स्वीकुर्वन्ति	८२०
*शरीर हीनस्थानमात्मनो दुःखहेतुत्वात्	८११	यदा बुद्ध्या चित्ताशक्त्ये विषयः प्रदर्श्यते तदाऽ-	
पौद्गलिक कर्म आत्मन पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्	८११	गौ प्राचीनमदर्शितस्वरूप त्यजति न वा ?	८२०
विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे कर्मणामनादित्वेऽपि		शुद्धत्वादनन्तत्वाद्वा न चित्तेरपरिणामित्वसिद्धि	८२१
प्रक्षयेपपत्तेः	८११	किम् अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ?	८२१
प्रकृष्यमाणत्वाद्धेतो ज्ञानादीना परमप्रकर्ष-		विवेकस्यातिश्च किं प्रकृतेर्भवति पुरुषस्य	
गतितः सभाव्यते	८११	तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ?	८२२
आवरणहानिः प्रकृष्यमाणा आवरणहानित्वात्	८१२	विवेकस्यातिश्च बुद्धिधर्मत्वात् भवन्मते पुरुषे	
ज्ञानावरणादि आमूल प्रक्षीयते समप्रक्षयहेतु-		न सभवति, सभवे वा सा ततो भिन्ना,	
पेतत्वात्	८१२	अभिन्ना वा ?	८२२
कर्मप्रक्षयहेतु च स्वरनिर्जरे	८१२	भिन्ना चेत्; नित्या अनित्या वा ?	८२२
अदृष्टस्य प्रकृतियिष्यतेत्यनिरास	८१३-२३	नित्यापि सम्बद्धा असम्बद्धा वा ?	८२२
( साक्ष्यस्य पूर्वपक्ष ) नात्मगुणोऽदृष्ट प्रकृति-		अनित्यापि जन्मा अजन्मा वा ?	८२२
विवर्तत्वात्साक्ष्य	८१३	जन्त्यत्वेऽपि आत्मना प्रकृत्या तद्व्यतिरिक्तेन	
पुरुषो हि साक्षित्वादित्यरूपः	८१३	वा केनचिदसौ जन्येत ?	८२२
तृत्व हि प्रकृतेरेव	८१४	आत्मनापि प्रकृतियिष्यतेन तत्साहितेन वासो	
कृतिसर्गात् अकर्त्ताऽपि पुरुष कर्त्तव्य भाति	८१४	जन्येत ?	८२२
कृतिसर्गपरि मुसादिकमज्ञानतमश्छन्नतया		प्रकृतेर्जडतया 'विज्ञाताविरूपाऽहम्' इति	
आत्मस्य मन्यमानस्य तदुपभोक्त्वा भवति	८१५	ज्ञानानुत्पत्ते	८२३
( उत्तरपक्ष ) न हि प्रकृतिः प्रमाणसिद्धा यत्-		विज्ञानापि मोक्षावस्थायामपि भोगसम्पादनाय	
स्तद्विचर्त्तव्यं कर्मणा स्यात्	८१६	वाप्यवत् प्रवर्त्तनाम्	८२३
प्रकृतिर्हि पुरुषस्य निमित्तामपेक्ष्य तथा परि-		भूत. मोक्षेऽप्यात्मा विषुद्धज्ञानादिरूपः स्वीकार्यः	८२३

मुक्तिस्वरूपविचारः (योगानां पूर्वपक्ष.) नवानामात्मविशेषगुणा- नामत्यन्तोच्छेदात् आत्मस्वरूपेण अवस्थानं मोक्षः	८२३-४७
सन्तानत्वाद्धेतो. विशेषगुणोच्छेदसिद्धि.	८२४
तत्त्वज्ञानाच्च मुक्ति	८२४
सञ्चितकर्मणाञ्च फलोपभोगात् प्रक्षयः	८२४
अभिलाषाभावेऽपि तत्त्वज्ञानिन कर्मक्षयाधितया कर्मफलोपभोगे प्रवृत्ति	८२५
शरीरादिनिवृत्तौ चात्मा सर्ववैपयिकसुखदुःख- ज्ञान्यः समस्तधर्माधर्मरहितत्वात्	८२५
'न ह वै सशरीरस्य' इत्याद्यागमादपि मुक्तौ विशेषगुणशून्य आत्मा प्रतीयते	८२५
(उत्तरपक्ष) आत्मन सर्वथा भिन्नाना बुद्ध्यादि- विशेषगुणाना सन्तानस्य उच्छेद प्रसाध्यते, अभिन्नानाम्, कथञ्चिदभिन्नाना वा ?	८२५
सन्तानत्वञ्च साधन सामान्यरूप विशेषरूप वा ?	८२६
सामान्यरूपत्वेऽपि परसासामान्यरूपम्, अपर- सामान्यरूप वा स्यात् ?	८२६
विशेषरूपत्वेऽपि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादि- क्षणविशेषरूपम्, पूर्वपरसमानजातीयक्षण- प्रवाहमात्ररूप वा ?	८२६
कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्या- नित्यैकान्तयोरसम्भवात् विरुद्धोऽयं हेतु.	८२७
सन्तानत्वाद्धेतो इन्द्रियजाना बुद्ध्यादिगुणा- नामुच्छेद साध्यते अतीन्द्रियाणा वा ?	८२७
नहि निसल्लगुणोच्छेदरूपे पापाणकल्पे वैशेषि- काभिमतो मोक्षे प्रेक्षाकारिणा प्रवृत्ति	८२८
मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभाव कारणा- भावात्, निष्प्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा स्यात् ?	८२८
आद्यपक्षे कस्य कारणस्याभाव -चक्षुरादे, प्रति- बन्धकपापस्य वा ?	८२८
भवता मते सप्तरस्वरूप हि विशेषगुणानुच्छेद भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात् ?	८२६
अत्यन्त बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे भवतः प्रदीपनिर्वाणवादिन को विशेषः ?	८२९
उपभोगाच्च कर्मणामात्यन्तिकप्रक्षयानुपपत्ते. उपभोगसमये अपररागादीनामवश्य-	

म्भावित्वात्	८२९
आतुरस्यापि नीरुग्भावाभिलाषेणैव प्रवृत्तिः	८३०
सप्तराकारण हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकमत मोक्षकारणेनापि नितयात्मकेनैव भवि- तव्यम्	८३०
(वेदान्तिनां पूर्वपक्ष) परमप्रकर्षप्राप्तसुखस्व- भावतैव आत्मनो मोक्ष न तु ज्ञानादि- स्वभावता	८३१
आत्मा सुखस्वभावः अत्यन्त प्रियवृद्धिविषयत्वात्, मुख्यप्रेयोवृद्धिविषयत्वात्, निरूपचरित- प्रेय शब्दवाच्यत्वाच्च	८३१
इष्टार्थो मुमुक्षुप्रयत्न प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्	८३१
तारतम्यदर्शनात् सुखस्य पराकाष्ठाप्राप्ति	८३१
'आनन्द ब्रह्मणो रूपम्' इत्यादि श्रुतेश्च आनन्दरूपताप्रसिद्धि	८३१
अविद्यावशाच्च सप्तरावस्थाया नित्यानन्द- स्थानमित्यक्तिः	८३२
(उत्तरपक्ष) सुखस्वभावत्व किं सुखत्वजाति- सम्बन्धित्व सुखाधिकरणत्व वा विवक्षितम् ?	८३२
सुखञ्च नित्यमनित्यं वा ?	८३२
नित्यमपि कथञ्चित् सर्वथा वा ?	८३२
आत्मन. प्रतिबन्धकपापोपेतस्य मुक्तौ अप- रापरसुखोत्पत्ते कारणत्वात्	८३२
नित्यसुखप्राप्ति प्रमाणञ्च प्रत्यक्षम् अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ?	८३२
प्रत्यक्षञ्च ऐन्द्रियम्, मानमम्, स्वसवेदन वा ?	८३३
यस्यात्प्रभाषात्तत्सुखरूपप्रतीति तत्रमाण नित्यमनित्य वा ?	८३३
सप्तरावस्थाया हि प्रतिबन्धत्व किं शरीरेण अविद्यया वैपयिकसुखाद्यनुभवेन बाह्य- विषयव्यासङ्गेन वा ?	८३४
यदि नित्य सुख मुक्तावभ्युपगम्यते तदा नित्य देहादिकमपि स्वीकर्तव्यम्	८३५
नित्यसुखान्भ्युपगमे तत्सवेदनाभ्युपगमे च दर्श- नस्य शक्तेश्च सामर्थ्यसिद्धत्वादनन्तचतु- ष्टयरूपतैव आयाता	८३६
अत्यन्तप्रियवृद्धिविषयत्वमन्यपरतयोपादीय- मानत्वञ्च दुःखाभावेन अर्नवान्तिकम्	८३६
प्रेयोवृद्धिविषयत्व निरूपचरितप्रेयः शब्दवाच्य-	

त्वञ्चामिदम्, दु खितायामप्रियवृद्धे- रपि भावात्	८३६
अनिष्टोपरमार्थमपि प्रेक्षावत्प्रयत्नो भवति इष्टशब्देन च किं सुखमभिधीयते, अभिप्रेत- प्रयोजनमात्रं वा ?	८३६
तारतम्यशब्दवाच्यत्वञ्च साधन परत्वादिना अनेकान्तिकम् दु खपरमप्रवर्षेण व्यभि- चारि च	८३७
आगमस्य तु अपीक्ष्यस्य प्रामाण्यमेव नास्ति आगमश्च आनन्दरूपतासदभाववत् सुखाभा- मपि सूचयति	८३७
अविद्याया आवरणरूपतानुपपत्ति ( बौद्धस्य पूर्वपक्ष. ) कार्यकारणभूतज्ञानप्रवाह- व्यतिरेकेण अन्यस्य आत्मनोऽभावात् न कस्य आनन्दादिरूपता प्रसाध्यते ?	८३८
आत्मदर्शनश्च मुक्तिं दूरोत्सारिता आमदर्शनं हि रागादिनिमित्तम्	८३८
मुमुक्षुणा स्वरूप पुत्रकलत्रादिकञ्च अनित्या- नात्मकाशुचिदु खरूपेण श्रुतमय्या चिन्ता मय्या च भावनाया भावनीयम्	८३९
नैरात्म्याभ्यामान्मुक्ति इन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु स्वत्वधी नैरात्म्यभावनयैव निर्वापते	८४०
कायकलेः शरपतस्य नारकादिकायास-नापवत् कर्मकालत्वात् तपस्तानुपपत्ते	८४१
नापि कर्मणा शक्तिसङ्करद्वारा तप कर्म- क्षयकारि	८४१
( उदारपक्ष ) रागादिनिवृत्तौ मुक्ति इति तु स्वीक्रियते एव	८४२
कालान्तरन्याय्यकालव्यतिरेकेण भावनपि न सङ्गच्छते	८४२
क्षणिकरूपे हि बन्धमोक्षयोरैकाधिकरण्यमेव नोरपद्यते	८४२
इष्टानुसंधानं हि प्रक्षाव प्रवृत्तिर्भवति, भवत्यथ च क अनुसन्धाना स्थान क्षण सत्तानो वा ?	८४२
आत्मनोऽभ्युपगमे च एकत्वाच्चारोपस्था- पानुपपत्त	८४३
सत्काराणा निरन्वयजिनस्वरत्वं हि मोक्षार्थं प्रयानो ध्यर्थं एव	८४३

तेन हि प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाश क्रियते भावनो वाऽनुत्पाद, तदनुत्पादकशक्तेर्वा क्षय, सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निरा- स्यचित्तसन्तत्युत्पादो वा ?	८४३
अन्त्यज्ञानञ्च सत्, तदुत्पादने शक्यञ्च तत्क थ न ज्ञानान्तरक्षणमुत्पादयति ?	८४३
सहकारिणा हि भावस्योत्पत्ते प्रतिबन्ध त्रियते उत्पादकत्वस्य वा ?	८४३
अन्त्यचित्तक्षणस्य अर्थत्रियाकारित्वाभावे सकल- सन्तानस्यावस्तुत्व स्यात्	८४४
निरास्यचित्तसन्तत्युत्पत्तिपक्षे सा चित्तसन्तति सन्वया निरन्वया वा ?	८४४
'बद्धमेव आत्मान मोचयिष्यामि' इति दृढतरै- कत्वाध्यवसाये कथं नैरात्म्यदर्शनम् ?	८४५
हिताहितनस्त्वज्ञो हि आत्स्यतिकमुखसाधनमेव उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादा- त्विकसुखसाधनम्	८४५
न हि आत्मनि साहचर्यादिदर्शनात्नेहो भवति किन्तु उपभोगाश्रयत्वात्पुण्यदर्शनात्	८४५
व्रताविरोधी हि कायबलेन निर्जराहेतुत्वात् तप इत्यभिधीयते	८४७
क्षीणमोहा त्यसमय अयोगिचरमसमये च स्व- ल्पेनैव परमगुणध्यानरूपनपसा बहुतरकर्म प्रक्षयोऽभ्युपगम्यत एव	८४७
मुमुक्षुणादिषु ज्ञानसद्भावसिद्धि. ८४७-५१ ( वैशेषिकादीना पूर्वपक्ष ) किञ्चिदध्यपरि- च्छिन्दनेव हि सुपुत्र इत्यभिधीयते	८४७
अतस्तत्र नास्ति ज्ञानसद्भाव ज्ञानसदभावे हि जाग्रत्सुषुप्त्यवस्थयोर्भेदा- भाव स्यात्	८४७
निद्रयाऽभिभवो हि ज्ञानस्य नाश तिरोभावो वा स्यात् ?	८४८
( उदारपक्ष ) गुप्तावस्थाया स्वापादिसव- दनस्य तत्सुखसवेदनस्य च सदभावान	८४८
ज्ञानान्ध्युपगमय 'सुखमहमस्वापम इत्युत्तर- काल स्मरण न स्यात्	८४८
मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि 'न किञ्चि- यानुभूतम्' इति स्मरणसद्भावादास्ति ज्ञानम्	८४८
न च मुपुत्रादिषु ज्ञानस्य इदमित्यमिति निरूप-	

गाभावादभावः; बालमुखेनानेकान्तात्	८४९
मुपुप्तावस्थाया ज्ञानमद्भावेऽपि अनभिभूतज्ञानवती जाग्रदवस्था अभिभूतज्ञानवती च मुपुप्तावस्थेति तयोर्भेदः	८४९
ज्ञानस्य निद्रादिना अभिभवोऽपि बाह्याध्यात्मिकाश्चिन्तारविधुरूपेणावस्थानमेव	८४९
मुपुप्तावस्थाया ज्ञानाभाव म एवात्मा प्रतिपद्यते पार्वस्थो वा ?	८४९
यदि स एव, किं तत एव, ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञानान्तराद्वा ?	८४९
अनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविनः अग्न्यकालभाविनो वा तदभावप्रतिपत्तिः ?	८५०
ननु द्विविध प्राणादि-चैतन्यप्रभव प्राणादि-प्रभवश्च, चैतन्यप्रभवो जाग्रदवस्थाया प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्त्यादिषु; इत्यप्यसत्; सुषुप्तेतरावस्थयो. प्राणादेर्विशेषाप्रतीतिः	८५१
मुपुप्त्यादौ च प्रथम प्राणादि कुतो जायताम् ?	८५१
केवलिकवललाहारविचार (शाकटायनस्य श्वेताम्बराणाञ्च पूर्वपक्षः) अवि- कलकारणत्वादस्ति केवलनि भुक्ति	८५२
क्षुदभावे हि प्रमाणम् आगमः अन्यद्वा ?	८५२
प्रमाणान्तरञ्च स्वभावानुपलम्भ- अन्यद्वा ?	८५२
अन्यतोऽपि विधीयमानात् निषिध्यमानाद्वा केवलनि क्षुन्निषेधः ?	८५२
ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः, तद्विशेषस्य वा ?	८५२
निषिध्यमानश्च भावः क्षुध कार्यं कारण व्यापको वा स्यात् ?	८५३
प्रतिपक्षभावनाऽनिवर्त्यत्वेन च न मोहस्वभावा क्षुत्	८५३
शीतोष्णवाधातुल्यत्वाच्च न क्षुधो मोहस्वभावता	८५३
न च क्षुदभ्युपगमे अशेषशक्त्यविरोधः	८५४
भ्रूत्स्थभावे देशानपूर्वकोटि विहरतः केवलिनः कायस्थिति न घटते	८५४
प्रदीपज्वालाजलधारासमान शरीरं क्व भुक्त्यभावे स्थितिमाप्तिघ्नते	८५४
भक्तिर्नहि दोषः तदा निषेधा गमनञ्च केवलिन न स्यात्	८५४
मासादिदर्शनतोऽन्तरायसभावना तु अवधि-	

ज्ञानिनामपि अस्ति	८५५
नापि केवलिनो जिह्वारसप्राप्तेः मतिज्ञानित्वम्, अन्यथा गणधरदेवादिदर्शनदिव्यतूर्णरवादिश्रवणाभ्यामपि तत्स्यात्	८५५
केवली देवच्छन्दकाभिधाने स्थाने गणधरदेवैरानीतमाहार शुद्धेदशोदये गृह्णाति	८५५
सर्वज्ञाहारनिहारयो मनुष्यतिरदचामगोचरत्वात्	८५५
(उत्तरपक्षः) वेद्यादिकर्मोदयात् केवलनि आहारमान प्रसाध्येत कवलाहारो वा ?	८५५
पट्टविपाहारमध्ये कवलाहाराभावेऽपि कर्मनो- कर्मादानलक्षण आहार स्वीक्रियत एव	८५६
न च कवलाहारेणैव आहारित्व जीवानाम्	८५६
वेद्योदयः कवलाहारसाधक इति अभ्युपगममात्रान् स्वीक्रियते, प्रमाणतो वा ?	८५७
प्रमाणमपि किं प्रत्यक्षम्, अनुमानम् आगमो वा ?	८५७
प्रत्यक्षञ्चेत्, किमिन्द्रियम्, अतीन्द्रिय वा ?	८५७
अनुमाने च किं वेद्योदय एव लिङ्ग स्यात् मनुष्यत्व वा देहस्थितित्व वा ?	८५७
देहस्थितित्वाच्च हेतोः किमाहारमात्रपूर्वकत्व प्रसाध्येत कवलाहारपूर्वकत्वं वा ?	८५७
केदादिबिबृद्धचमनवत् केवलनि भुक्त्यभावोऽपि अविरुद्ध.	८५७
न च केशादिबृद्धचमनो देवोपनीत भुक्त्याभ्युपगमे च अक्षिपक्षमनिमेव नरकेश- बृद्धघादिश्चाम्भ्युपगन्तव्य	८५७
तपोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादिब्रह्मास्य अभुक्तिपूर्वकत्वे को विद्वेषः ?	८५७
आमुःकर्मैव हि प्रधान शरीरस्थितेनिमित्त भुक्त्यादिक तु सहायमात्रम्	८५५
आकाल शरीरस्थितेर्भुक्त्यभावेऽप्रतीति. किं प्रत्यक्षात् अनुमानाद्वा ?	८५८
'अभुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षं क्वचित्पर- मकाष्ठमापद्यते प्रकृष्यमाणत्वात्' इत्यनु- मानात्तत्सिद्धिः	८५८
अत्रिकलकारणत्वञ्च भुक्तेः असिद्धम्; मोहनीयामावात्	८५९
नास्ति भगवति बुभुक्षा तत्कारणमोहाभावात्	८५९
यदि कर्मणामुदय अनोक्ष. कार्यकारी स्यात्	

तदो प्रमत्तादिषु त्रिवेदोदयात् मैथुना- दिक स्यात्	८५९	वस्थानार्थम्, रहस्यकार्योन्मुष्टानार्थं वा ?	८६४
नामादीना शुभप्रकृतीना केवलिन स्वकार्य- कारिता यप्रतिबद्धत्वात्	८५९	रहस्यकार्यञ्च निन्द्यमनिन्द्य वा ?	८६४
प्रतिबद्धसामर्थ्यमपि वदनीय यदि केवलिन क्षुभमुत्पादयेत् तदा दण्डकवाटादिरूप- समुद्धानक्रिया व्यर्था	८५९	अनिन्द्यञ्च कार्यं भोजनम्, कर्मक्षपण वा ?	८६४
न हि बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम्	८६०	यस्माद्गौ एकान्ते भुङ्क्ते-दृष्टिदोषभयात्, याचकभयात् अनुचितानुष्ठानाद्वा ?	८६४
बुभुक्षापि प्रतिपक्षभावनातो निवर्तते उच्छा- त्वात् रिरसावत्	८६०	कर्मणा क्षपणमपि पूर्वोपाजिताना भुक्तिवा- लोपाजिताना वा ग्रहता तत्र विधीयते ?	८६४
न बुभुक्षावान् केवली तद्विरोधिनिर्मोहस्व- भावोपेतत्वात्	८६०	पूर्वोपाजितानामपि धातिनामधातिना वा क्षयं नियते ?	८६४
पिण्डपणोपदेशोऽपि चेतस प्रतिपक्षभावना- मयन्वोत्पत्ते प्रागवस्थायामेव	८६०	भुक्तिकालोपाजिताना कर्मणा क्षयो यदि प्रतिक्रमणतो विधीयते तदा कथं निर्दो- षता केवलिन स्यात् ?	८६४
दुस्वरूपत्वाच्च क्षुधो न अनन्तमुखे केवलिन सम्भव	८६०	'भोजनकुर्वाण केवली गणधरदेवेरपि न दृश्यते' इत्यत्र किं तददर्शनकारणम्- बहुलतमपटलाच्छादितत्वम्, काण्डपटा- द्यावृत्तत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य निरो- धानम्, अन्यजनातिशायी माहात्म्यवि- शेषो वा ?	८६५
क्षुदुःखविरोधिनः बलवतोऽनन्तमुखस्य सद्- भावे हि नाभ्युदितकारणापि क्षुत्तु केव लिन सभाव्या	८६१	<b>स्त्रीमुक्तिवादः</b> (शाकटायनस्य सितपटानाञ्च पूर्वपक्ष ) अविकलकारणात्वादस्ति द्रव्यस्त्रीणा निर्वाणम्	८६५
सर्वज्ञत्वाच्च भगवत क्षुदभाष	८६१	स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयस्याभाव प्रत्यक्षत- यनुमानात्, आगमाद्वा प्रतीयते ?	८६६
'एकादशजिने' इत्यागमोऽपि क्षुधाद्येकादश- परीपहृप्रतिपेधपर प्रतिपत्तव्य 'एकेन अधिका न दण्ड' इति व्युत्पत्ते	८६२	'सप्तमपृथिवीगमनाभावात्' इति हेतोरपि न स्त्रीणा निर्वाणभावः ; तद्गमनाभावस्य निर्वाणभावनं ध्याप्यभावात्	८६६
वचनानीना तीर्थकरस्वयमोदियापाहितत्वात् दोषरूपत्वासम्भावाच्च	८६२	न हि सप्तमपृथिवीगमन निर्वाणस्य कारण व्यापकं वा ?	८६६
नहि अष्टादशदोषेषु क्षुधादिवत् वचनान्तरपि पठ्यते	८६२	चरमदेहे व्यभिचारि च	८६७
अथविज्ञानिना ज्ञानस्य सोपयोगतया उपयोग- काटे एव अन्तरायसम्भावना, केवल ज्ञानस्य तु सदीपयुक्तात्वात् सर्वदाऽज्ज- राय स्यात्	८६३	धिपभगनवोऽप्यथस्नात् उपरिष्ठात्तुल्यमासह- नार गच्छन्ति तद्विपमगल्यूनताऽहेतु	८६७
किमर्थञ्चासौ भुङ्क्ते-सारीरोपचयार्थम् ज्ञानदर्शनवीर्यादिशयनिवृत्त्यर्थम्, क्षुदे- नाप्रतीकारार्थम्, प्राद्युपोऽस्माधिनभुक्ति वस्थापवर्तननिवृत्त्यर्थम्, रसगृह्यपुपसा मार्थम्, लोचानुग्रहार्थं वा ?	८६३	नापि धादादिलब्ध्यभावात् स्त्रीणा मोक्षाभाव स्त्रीणा वस्त्रलक्षणपरिग्रहसद्भावोऽपि न निर्वाणभावप्रसाधक, नहि वस्त्रादि परिग्रह धर्मसाधनत्वात्	८६८
गमनारण विहाय केवली किमर्थं देवच्छन्दके गच्छन्ति-मनोविशेषपरिहारेण ध्यानमि- द्वयर्थम् निरोधाक्षमत्वतो यथामुसम-		ममत्वमेव हि परिग्रह	८६८
		प्रमादो हि हिंसा नतु जन्तूत्पनिस्थानवस्त्र- परिधारणमात्रम्	८६८
		गणधरादयोऽपि तीर्थकरादिभिरवस्था अत.	

पुरुषैरव-द्यत्त्वादिपि न स्त्रीणा मोक्षाभाव	
प्रतिपादयितुं शक्य	८६९
नापि हीनसत्त्वा स्त्रिय	८६९
सत्त्व हि तप शीलसाधारणम्, तच्च स्त्रीषु	
विद्यत एष	८६९
'अद्भुतसयमेगसमये' इत्यागमोऽपि स्त्रीनिर्वाणे	
प्रमाणम्	८७०
यथा स्त्रीवेदेन वृसा सिद्धि तथा स्त्रीणामपि	
स्यात्	८७०
न च सिद्धघतो वेद सभवति	८७०
( उत्तरपक्ष ) रत्नत्रय हि परमप्रकर्षप्राप्त	
सत मुक्तिकारण तन्मात्र वा ?	८७०
नास्ति निर्वाणकारणरत्नत्रयप्रत्ययं स्त्रीषु	
परमप्रवर्षत्वात् सप्तमपृथिवीकारणापु	
ष्यपरमप्रकर्षवत्	८७०
अधिनाभावयसाद्धि सप्तमपृथिवीगमनाभावात्	
हेतो निर्वाणभाव प्रसाध्यते	८७०
चरमशरीरिणामपि भरतादीना दिग्विजयया	
त्राया सप्तमपृथिवीगमनयोग्याशुभकर्मा-	
र्जनम्, देवाचनसमये च सर्वार्थसिद्धि-	
गमनकारणशुभकर्माजनं भवति	८७०
यस्य उपरिष्ठात् प्रकृष्टाशुभगतिप्रसाधने	
सामर्थ्यं तस्य अधस्तात् प्रकृष्टाशुभगति-	
प्रसाधनेऽपि, न च स्त्रीणा प्रकृष्टाशुभ-	
गतिसमुपार्जनसामर्थ्यमभ्युपेयते अत	
उत्कृष्टाशुभोपार्जनसामर्थ्यमपि नास्ति	८७२
यदा स्त्रीषु लौकिकवादादिलब्धिहेतु सयमोपि	
नास्ति तदा मोक्षहेतुरसौ कथं भविष्यतीति?	८७२
आगमे सयमविशेषनिषेधादेव मोक्षाभाव	
उक्त एव	८७२
स्त्रीणामाचेलक्यसयमनिषेध आगमे कृत एव	८७२
प्रतिनिर्लेखन हि सयमरक्षां वदन् तु किमर्थम् ?	८७३
'धर्मसाधनानां परिग्रहत्वे' इत्यत्र कोऽयं धर्म	
य वस्त्रान् स्यात्-पुण्यविशेष, सयम-	
विशेषो वा ?	८७३
आगमविहितविधिना उपादीयमाना पिण्डोप-	
ध्यादय मोक्षहेतोस्पकर्त्तार	८७३
बुद्धिपूर्वं हि पणित वस्त्रमादाय परिदधानस्य	
मूर्च्छारहितत्वानुपपत्ते	८७३
उपसर्गाद्यासक्ने वस्त्रे पतिते बुद्धिपूर्वं ग्रहणा-	

संभवात्	८७४
स्त्रीणा शीलपालनार्थं वस्त्रमस्तु, नात्र विवादः,	
मोक्षे एव विवाद	८७४
नहि सचेल गृहस्थशील मोक्षहेतु	८७४
वस्त्रग्रहणे लोभकपापपरिणती अप्रमत्त-	
त्वानुपपत्ते	८७४
लज्जापनीदार्थं वस्त्रस्वीकारे च कामपीडाप-	
नयनाय वामुक्तादिस्वीकारोपि कर्त्तव्य	८७४
न हि वीतरागस्य लज्जापि सभवति	८७४
यदि पुतामचेल सयम स्त्रीणाञ्च सचेल	
मोक्षहेतु स्यात्तदा कारणभेदात् मुक्तेरपि	
भेद स्यात्	८७५
सचेलसयमस्य मुक्तिहेतुत्वे वस्त्रादित्याग	
किमर्थमुपदिष्ट ?	८७५
न वस्त्र मुक्तेरङ्ग तस्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदि-	
श्यमानत्वान्	८७५
स्त्रीणा न निर्वाणपदप्राप्ति यतिगृहिदेववन्द्य-	
पदानर्हत्वात्	८७५
परापरभेदेन यनिवन्द्य पदं द्विविधम	८७५
गृहि देववन्द्यमपि पद परापरभेदात् द्विविधम	८७५
प्रतिगृहञ्च प्रभुत्व पुरुषाणामेव ध्युयते न	
स्त्रीणाम्	८७५
नत स्त्रीणा न मोक्ष पुरुषेभ्यो हीनत्वात्	८७६
सारणवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणा पुरुषा	
कुर्वन्ति न तु पुरुषाणा स्त्रिय	८७६
तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा एव	८७६
नहि पुरुषवत् महात्मत्वा स्त्रिय	८७६
स्त्रीवगपिक्षयैव सीतादीना प्रकृष्टत्वमुक्त न तु	
पुरुषापेक्षयापि	८७६
न स्त्रीशरीर रत्नत्रयोपत्तात्माश्रितम् महता	
पापेन निर्वातितत्वात्	८७६
न स्त्रीशरीर मकलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतु मह-	
ता पापेन मिथ्यात्वसहाय्येनोपाजितत्वात्	८७७
यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिकदेवपदप्राप्तिरपि	
नास्ति तासा कथं मोक्षपदप्राप्ति ?	८७७
'अद्भुतसयमेगसमये' इत्याद्यागमो नास्माक	
प्रमाणम्	८७७
'पु वेद वेदन्ता जे पुरिसा' इत्यागमे द्रव्यपुरु-	
पाणामेव पु वेदोदयवत् इतरवेदोदयेनापि	
मुक्तिं प्ररूपिता	८७८

न द्रव्यस्त्री भावतः पुरुषो भूत्वा सिद्धयति,  
द्रव्यस्त्रीवेदस्य मोक्षप्रसाधनसामर्थ्याऽ-  
भावात्

८७८

ग्रन्थकृतप्रशस्तिः

इति सप्तमं निक्षेपपरिच्छेदः

अतः नास्ति द्रव्यस्त्रीणां मोक्ष

८७८

प्रशस्ति

७७-७८ कारिकयोः शास्त्राध्ययनस्य

प्रयोजननिरूपणम्

८७८-७९

सम्पादकप्रशस्तिः

८८

८९

९०







श्रीमद्भद्राकलङ्कदेवविरचितस्ववृत्तियुतलघीयस्त्रयस्य

अलङ्कारभूतः

श्रीपद्मानन्दिप्रभुशिष्य-श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥

( द्वितीयो विभागः )

[पाठान्तर-अवतरणनिर्देश-ऐतिह्यतुलनार्थबोधरूढिप्पणी-परिशिष्टाद्यशुभी राजितः]



“श्रीमद्भद्राकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।

अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥”

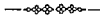
—शुभचन्द्रः

श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यनिरचितः

# ॥ न्यायकुमुदचन्द्रः ॥



[ द्वितीयो भागः ]



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्ष प्रतिपाद्य लक्षणफलस्वार्थान्वित तत्त्वतः ,  
स्पष्टार्थप्रतिपत्तिशून्यमधुना व्याख्यायते तच्छ्रुतम् ।  
प्रामाण्य पुनरस्यैवैस्तु कुंमतध्वान्ताभिभूतेक्षणे ,  
नेष्ट तैर्ननु विप्रकृष्टविषयज्ञानाय दत्त जलम् ॥१॥

अथेदानीं परोक्षस्वरूपप्ररूपणायाह-

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाऽऽभिनिबोधिकम् ॥१०॥  
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

नमता विद्यानन्दिनमैतिहायर्भिभूष्य सस्क्रियते ।

न्यायकुमुदचन्द्रोत्तरभागः सम्यङ् महन्द्रेण ॥१॥

( १ ) अस्पष्टम् । ( २ ) श्रुतस्य । ( ३ ) निश्चयन । ( ४ ) अतीन्द्रियज्ञानाय । ( ५ ) अनया कारिकया मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् [ तत्त्वाद्यसू० १।१३ ] इति सूत्राद्य समन्वितम् । तुलना- मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनात्तरेण न भवतीत्येकान्तो न यतस्तत्र सकीर्येन । तदेकान्ते पुनत्र क्वचित् स्मृतेः तन्नामस्मृतेरयोगात् अनवस्थानात् । -सिद्धिवि० पृ० १०० A । अनतवीयविद्यानदाभयदेवाद्याचार्याभिप्रायण शब्दयोजनात् प्राक्कालभाविना मतिस्मृतादीना मतिज्ञानेऽन्तर्भाव तदुत्तरकालभाविना तु तेषां श्रुतेऽन्तर्भाव इति । तथा च तेषां ग्रन्था - ननु मत्यादिकं सर्वमभिधानपुरस्सरमेव स्वार्थं प्रत्यति इति शब्दत्रय एवान्तर्भावोऽस्य तथा च तच्चिन्तन एवास्य चिन्ता भविष्यतीति पृथगिह चिन्तनमनर्थकमिति चेदत्राह- शब्दयोजनात् इत्यादि । मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनात्तरेण न भवन्ति किन्तु तदयोजनात् सति भवन्ति इत्येकान्तो न यत एव एका तात तत्र अन्तर्भाव्यरन् इत्ययम् । यत इति वा आक्षेपे नव सकीर्येन । विपक्ष वाचकमाह-तदेवात्त इत्यादि । स चासी एकान्तश्च तस्मिन् अङ्गीक्रियमाणः पुन न क्वचित् बहिरन्तर्वा स्मृतेः मतिस्मृत्यादयः । कुत एतदित्यत्राह-तन्नाम इत्यादि । यस्य नाम्नो योजनात् मतिस्मृत्यादयः तत् तन्नाम च युच्यते तस्य स्मृतेरयोगात् । -सिद्धिवि० टी० पृ० १०० A । सप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलकत्रयमनुवादपुरस्सर

1 कुमति-आ०, ब० । 2 वाभिनि-ब० । 3-धोषकम् व०, थ० -धोषनम् म० उघी० ।

विवृतिः—अविसवादस्मृते फलस्य हेतुत्वात् प्रमाण धारणा, स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यक्षमर्शस्य, सज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य, चिन्ताऽभिनिबोधस्यानुमानादेः । प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम् ।

यत् प्रथमकारिकाया शेषम् अविशद ज्ञानमित्युक्तम्, तत् किम् ? § श्रुतम् अवि-  
 5 स्मृत्तर्कणम् § “श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्” [ ] इत्यभिधानात् । किं  
 कारिकायास्त्वयानम्—  
 यत् नामयोजनाज्ज्यैतेऽविशद ज्ञान तदेव श्रुतम्, उतान्यदपि ? इत्याह—  
 प्राङ् नामयोजनात् । नाम अभिधानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते यदस्पष्ट ज्ञान  
 तच्छ्रुतम् नामयोर्नाजनिताऽस्पष्टज्ञानसाधर्म्यादित्यभिप्राय । ‘चिन्ता च’ इत्यत्र  
 10 चज्ञादो भिन्नप्रक्रम ‘शब्दानुयोजनात्’ इत्यस्थानन्तरं द्रष्टव्यम् । तेन न केवल  
 नामयोजनात् पूर्वं यदस्पष्ट ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु ‘शब्दानुयोजनाच्च यदुप-

विचारयति—अत्र प्रचयते केचिच्छ्रुतं शब्दानुयोजनात् । तत्पूर्वनियमाशुक्तं नायथष्टविरोधतः ॥ शब्दा  
 नुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते । तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यात्प्रायमतो भवम् ॥ यद्यप्यक्षयवस्तेषां  
 श्रुतं साध्यवहारिकम् । स्वेष्टस्य वाधनं न स्यादिति सप्रतिपद्यते ॥ ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य  
 ग्दानुगमादृत । इत्यकान्त निराकृतं तथोक्तं तैरिहेति वा ॥ ज्ञानमात्रं स्मृतिं सज्ञा चिन्ता चाभिनि  
 बोधिकम् । प्राणामममृतं शयं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ अत्राकलङ्कदेवा प्राहुः—ज्ञानमात्रं स्मृति  
 तत्रदं विचारयत—मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधकपयन्ताच्छ्रुतं शब्दानुयोजनादेवत्यवधारणम् श्रुतमेव  
 शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमं तदा न कश्चिद्विरोधः, शब्द  
 मनुष्टज्ञानस्य अश्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात् । अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमं तदा श्रोत्रमति  
 पूर्वकमव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धात्तविरोधः स्यात् । साव्यवहारिकं चाब्दं ज्ञानं श्रुतमि  
 त्यपक्षया तथानियमे तु गच्छेत्तस्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमायतो भ्युपगमात् स्वसमय  
 प्रतिपत्तः । अथवा ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य ग्दानुगमादृत । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठ  
 तम् ॥’ इत्यकान्त निराकर्तुं प्राणामयोजनात्तस्मिन् न तु तन्नामममृत्तमिति व्याख्यानमाकल्लमनु  
 सत्तव्यम् । (पृ० २३९ ४०) ग्दानुयोजनात्स्वया श्रुतमस्त्वक्षयवित्तवत् । सभवाभावमवित्तरयोर्वित्तर  
 यानुमा ॥ नामासमृष्ट्या हि मतिरेवा प्रकीर्तिता । नातः कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादापृतभोगिनाम् ॥  
 -तस्वाप्यलो० पृ० २४३ । अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसवादिव्यवहारनिवृत्त  
 न्नामं प्रवृत्तं तस्मिन्, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सव श्रुतमिति विभागः । -समति० टी० पृ०  
 ५५३ । पृ० २४० पृ० ८४ B ।

(१) तुलना— धारणास्वरूपा च मतिः अविमवात्स्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वान् प्रमाणम्, स्मृति  
 रपि तथाभूतप्रत्यक्षमविसवाभावगतात्पञ्जनकत्वान् मनापि तथाभूतत्वरूपमावचित्तात्पञ्जनकत्वान्,  
 विन्नापि अनुमानलक्षणमभिनिबोधकत्वनान्, मोक्षपि हानादिबुद्धिजनकत्वात् । -समति० टी०  
 पृ० ५५३ । पृ० २४० पृ० ८४ B । (२) तुलना— ‘प्राक् शब्दयोजनात् मतिज्ञानमततं दायमने  
 कप्रभेदं शब्दयोजनादुपजायमानमविसवात् ज्ञानं श्रुतमिति क्वचित् । -समति० टी० पृ० ५५३ । पृ० २४०  
 पृ० ८४ B (३) उदयप्रमाणम्—सिद्धिबि० टी० पृ० १०१ B तुलना— ‘मतिपूर्वं ततो ज्ञयं श्रुतमस्य  
 पञ्जनकम् । -तस्वाप्यलो० पृ० २३७। न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B ।

१-पञ्जनक-य० । § एतन्नियमं पागे नाम्नि धा०, ध० । २-तैवि-आ०, व०, ध० ।  
 ३-धोत्रनात्प्रति-ध० ।

जायते तदपि श्रुतम्' इति संगृहीतं भवति । किं तद् ? इत्याह—'संज्ञा' इत्यादि । 'चिन्ता च' इत्ययं चेशब्दः पुनर्भिन्नप्रक्रमः 'मतिः' इत्यस्यानन्तरं स्मृतिसमुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । तेन स्मृत्याद्यविशदं ज्ञानं श्रुतमित्युक्तं भवति । इन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं तु देसतो वैशद्यसभवात् सांब्यवहारिकं प्रत्यक्षमित्युक्तम् । तस्य श्रुतस्य किं कारणम् ? इत्याह—ज्ञानमाद्यं कारणम् । किन्नाम ? इत्याह—'मतिः' इति । नचागमविरोधः; 5  
 "मतिपूर्वं श्रुतम्" [ तत्त्वार्थसू० १२० ] इत्यभिधानान् । 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' [ लघी० का० ७ ] इत्यनेन अधिकां कारिकां कृत्वा व्याचष्टे—  
 'अविसंवाद' इत्यादिना । न विद्यते विसंवादो यस्याः सा चासौ स्मृतिश्च तस्याः । कथम्भूतायाः ? फलस्य फलभूतायाः हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा सस्कारः ।

ननु स्मृतेः स्वरूपतो विषयतश्च विचार्यमाणाया अनुपपत्तेः कस्याऽविसंवादः 10

स्मरणस्य अप्रामा- प्राथ्येत, तथाहि—स्मृतिशब्दवाच्यस्यार्थस्य स्वरूपं ज्ञाता, ज्ञानं वा ?  
 यथादिना बौद्धादीना तत्राद्यपक्षेऽनुपपन्नं, पूर्वोक्तज्ञानव्यतिरिक्तस्य ज्ञानु, कस्यचिदप्य-  
 पूर्वपक्ष - संभवात् । द्वितीयपक्षेऽपि ज्ञानमात्रम्, अनुभूताविषयं वा ज्ञानं  
 तैच्छब्दवाच्यं स्यात् ? प्रथमविकल्पे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिरूपताप्रसङ्गात् तैव्यतिरिक्त-  
 प्रत्यक्षादिप्रमाणभेदवाचोच्छेदः स्यात् । द्वितीयविकल्पेऽपि देवदत्तानुभूतेऽर्थे यद्भेद- 15  
 त्तप्रत्यक्षादिज्ञानस्य स्मृतित्वप्रसक्तिः । अथ येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे  
 तस्यैव तत्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिरित्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, धारावाहिकप्रत्यक्षस्यापि  
 स्मृतित्वप्रसङ्गात्, उक्तप्रक्रियायास्तत्राप्यधिकलत्वात् ।

किञ्च, 'अनुभूते' जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयते—अनुभवेन, स्मृत्या,  
 उभाभ्यां वा ? न तावदनुभवेन; तत्काले स्मृतेरेवासंभवात् । नचाऽसती विषयीकृतं 20  
 शक्या, अतिप्रसङ्गात् । यद् असन्नं तत् विषयीकृतं शक्यं यथा खरविषाणम्, असती च  
 अनुभवकाले स्मृतिरिति । नचाऽविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इति प्रत्येतुं शक्याऽतिप्र-  
 सक्तेरेव । यद् यत्र येन न विषयीक्रियते न तस्य 'तत्रोपजायते' इति प्रतीतिर्युक्ता  
 यथा सुप्रेनाऽविषयीकृते नीलसुरादिविषये जाप्रत्युरूपप्रत्यये, अनुभवेनाऽविषयीकृता  
 च अतीतार्थे स्मृतिरिति । तन्न अनुभवात्तथाप्रतीतिः । नापि स्मृतेः, अनुभवाऽर्थयोर- 25

(१) योग प्राह—आ० टि० । (२) तुलना—“ननु कोऽयं स्मृतिशब्दवाच्योऽयं ज्ञानमात्रम्, अनु-  
 भूतार्थविषयं वा विज्ञानम् ?”—प्रमेयक० पृ० ३३६ । (३) स्मृतिशब्द—आ० टि० । (४) स्मृति—आ०  
 टि० । (५) अनुभूतेऽर्थे—आ० टि० । (६) धारावाहिकप्रत्यक्षेऽपि । (७) तुलना—“ननु अनुभूते जाय-  
 मानमित्येतत् केन प्रतीयताम् ? न तावदनुभवेन, तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात् ...”—प्रमेयक० पृ०  
 ३३६ । (८) प्रत्यक्षेण—आ० टि० । (९) तुलना—“अतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्य-  
 योगात् ।”—प्रमेयक० पृ० ३३६ ।

१ 'च' नास्ति आ०, थ० । २-शदज्ञान आ०, थ० । ३-प्रभवमति-व० । ४-वाच्यार्थ-व० ।  
 ५ तत्रो-व०, थ० ।

विपयीकरणे 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इत्यनया प्रत्येतुमशक्यत्वात् । यदि च अनुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात् तदा स्मृतिरपि जानीयात् 'अनुभूतेऽहमुत्पन्ना' इति, अनुभवानुसारित्वात्तस्याः । नचासौ प्रत्यक्षगम्या; अनुभूयमानतामात्र एव अस्य पर्यवसानात् । तन्न स्मृत्यापि तत्रतीतिः । नाप्युभाभ्याम्; उभयपक्षनिक्षिप्तदूर्पणप्रसङ्गात् । तन्न स्मृतिः स्वरूपतो विचार्यमाणाऽवतिष्ठते ।

५

नापि विपयतः; तस्या हि विपयः अर्थमात्रम्, अनुभूतताविशिष्टो वाऽर्थः ? न तावदर्थमात्रम्; सकलप्रमाणानां स्मृतित्वप्रसङ्गात् । नाप्यनुभूतताविशिष्टः; देवदत्तानुभूतेऽर्थे यद्दत्तज्ञानस्य धारावाहिविज्ञानस्य च स्मृतित्वप्रसङ्गापादनात् । अनुभूतार्थविपयत्वे चास्याः प्रामाण्यन्न स्यात् अविद्यमानविपयत्वात् । यदविद्यमानविपयं न तत् प्रमाणम् यथा खे केशपाशज्ञानम्, अविद्यमानविपयञ्च अनुभूतार्थविपयतयाऽभिप्रेतं स्मरणज्ञानमिति । तैथाविधस्याप्यस्य प्रामाण्ये अतिप्रसङ्गः ।

10

किञ्च, अर्थक्रियार्थिनामर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकं प्रमाणं प्रसिद्धम् । न च स्मृतौ असदर्थविपयत्वेन एतत्संभवति, अतः कथमसौ प्रमाणमिति ?

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'ज्ञाता ज्ञानं वा' इत्यादि; तदसमीचीनम्; तन्नानिविधानपुरस्सर स्मरणस्य प्रयक् स्मृतित्वमनुपज्यते; स्मृतित्वस्य ज्ञानमात्रप्रयुक्तत्वाभावात् । ज्ञानविशेष प्रामाण्यवस्थापनम्— एव हि संस्कारविशेषप्रभवः तदित्याकारोऽनुभूतार्थविपयः स्मृतिरित्युच्यते । स च इतरज्ञानेभ्यः कारणस्वरूपविपयभेदाद् भिद्यते । तत्र कारणभेदः—

15

(१) स्मृत्या । (२) अनुभूतता—आ० टि० । (३) प्रत्यक्षस्य । (४) 'अनुभूते जायमानम्'

इति प्रतीति । (५) स्मृतिप्रत्यक्षाभ्याम् । (६) अविद्यमानविपयस्यापि स्मरणस्य । (७) तुलना—'लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते, तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत्संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वं नान्यत् । तथाहि— न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति अपि त्वर्थे पुष्ट्य प्रवर्तयत्प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविपयप्रदर्शकत्वमेव, न हि पुष्ट्यं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् । अर्थक्रियार्थिभिरुपार्थक्रियासमर्थार्थप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृश्यते । यच्च तैर्भूयते तदेव तेन शास्त्रे विचार्यते । ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम् ।'—न्यायविन्दुटी० पृ० ५-६ । (८) अर्थक्रियासमर्थार्थप्रापकत्वम् (९) पृ० ४०५ प० ११ । (१०) तुलना—'आत्मनः संयोगविरोपात् संस्काराच्च स्मृतिः ।'—वैशे० सू० १।२।६ । "अनुभूतविपयाऽसाम्प्रमोदः स्मृतिः ।"—योगसू० १।११। सांख्यतत्त्वबालो० पृ० १६ । "निर्गदगंनेच्छानुस्मरणायपेशादात्ममनसो. संयोगविरोपान् पद्व्यभ्यासादरप्रत्ययंजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वप्येषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीनविपया स्मृतिरिति ।"—प्रश० भा० पृ० २५६ । "प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुमन्धानविपयः प्रत्ययः स्मृतिः ।"—न्यायवा० पृ० ३६६, ४३१ । "स्मृतिरिति दृच्छावन् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं पूर्वविज्ञानविपयं वा स्मृतिरित्युच्यते ।"—शाबरभा० पृ० ६५ । "स्मृतिः पुनः पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रं ज्ञानमुच्यते ।"—प्रकरणं पं० पृ० ४२ । तत्ररह० पृ० २ । "स्मृतिश्च संस्कारमात्रं ज्ञानमभिधीयते ।"—शास्त्रदी० पृ० १५३ । "स्मरणं स्मृतिः"—सर्वा-

स्मृतेः पटुतरसंस्कारकारणकत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च चक्षुरादिहेतुकत्वात् । स्वरूपभेदः—  
स्मृतेः तदित्युल्लेखितत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च ईदमित्याद्युल्लेखितत्वात् । विषयभेदोऽपि—  
स्मृतेः अनुभूतार्थगोचरत्वात्, प्रत्यक्षादीनाञ्च वर्चमानाद्यर्थविषयत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘अनुभूते स्मृतिरित्येतन्नानुभवेन स्मृत्योभाभ्यां वा प्रतीयते’ इत्यादि,  
तदप्यनल्पतमोविलसितम्; त्रिकालानुयायिना प्रमात्रा तत्प्रतीते. कर्तुं शक्यत्वात् । 5  
पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तो न कश्चित् प्रमाता, इत्यप्ययुक्तम्, तद्व्यतिरिक्तस्यास्य सन्तान-  
निषेधावसरे<sup>१</sup> प्रपञ्चतः प्रसाधितत्वात् । नैन्वेवं प्रमातुः प्रत्यक्षेण अर्थेऽनुभूयमानतानुभवे  
अनुभूतताऽनुभवोऽपि स्यात् तत्सद्भावाऽविशेषात्, तथाच गृहीतग्राहित्वात् स्मृतेर्न  
प्रामाण्यम्, इत्यप्यसत्, अतीतकालनिबन्धनतया अनुभूयमानताकाले अनुभूततायाः  
संभवाभावात्, प्रमातृसद्भावमात्रस्य तत्प्रतिपत्तिं प्रत्यनङ्गत्वाच्च । स्मृतिसहायो हि प्रमाता 10  
अर्थेऽनुभूततां प्रतिपद्यते, प्रत्यक्षसहायस्तु अनुभूयमानतामिति ।

एव कारण-स्वरूप-विषयभेदेन अध्यक्षादिभ्यः स्मृतेर्भेदसंभवेऽपि अप्रामाण्ये  
कारणं वक्तव्यम्— तच्च गृहीतग्राहित्वम्, परिच्छिन्तिविशेषाभावं; असंस्त्यतीतार्थे प्रवर्त्त-

र्थसि० १।१३। ‘तैरेवेन्द्रियं परिच्छिन्नो विषयो रूपादिस्तं यत् कालान्तरेण विनष्टमपि स्मरति तत्  
स्मृतिज्ञानम् । अतीतवस्त्वाम्बनमककर्तृकं चैतन्यपरिणतित्वभाव मनोज्ञानमिति यावत् ।’—तत्रार्थं  
भाष्यव्या० १।१३। ‘संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिरिति’—परीक्षामु० ३।३ । प्रमाणमी०  
१।२।३। ‘तदित्याकाराऽनुभूतार्थविषया स्मृति’—प्रमाणप० पृ० ६९। ‘स्मृतिश्च वितर्कलक्षणा ।’—जैन-  
तर्कवा० वृ० पृ० ९९। ‘तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषय तदित्याकार संबन्ध स्मरणम् ।’—प्रमा-  
णनय० ३।१। षड्व० बृह० पृ० ८४ B । ‘अनुभवमात्रजन्य ज्ञान स्मरणम् ।’—जैनतर्कभा० पृ० ८ ।

(१) तुलना—‘प्रणिधाननिबन्धाभ्यासाङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोग-  
ककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तभ्यः ।’—वायसू०  
३।२।४३ । (२) पृ० ४०५ प० १९ । (३) पूर्वोत्तरज्ञानव्यतिरिक्तस्य प्रमातुः । (४) पृ० ९-।  
(५) तुलना—‘न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे’—प्रमेयक० पृ० ३३६ । (६) प्रमातृसद्भावः ।  
(७) अनुभूतताप्रतिपत्तिम् । (८) तुलना—‘अमुष्याप्रामाण्यं बुतोज्यमाविष्कृर्वीन-किं गृहीतार्थग्रा-  
हित्वात्, परिच्छिन्तिविशेषाभावात्, असत्यतीतेऽर्थे प्रवर्त्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसर्वा-  
दकत्वात्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वात्, प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद्वा ?’—स्या० २० पृ० ४८६ । (९) ‘पार-  
तन्त्र्यास्त्वतो नैया प्रमाणत्वावधारणा । अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रष्टिर्नैव विहन्यते । पूर्वज्ञानविषय  
विज्ञान स्मृतिरुच्यते । पूर्वज्ञानाद्विना तस्या प्रामाण्यं नावधार्यते ॥’—तन्त्रवा० १।३।१। ‘तत्र यत्पूर्व-  
विज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते । तदुत्पत्त्यापनमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता ॥’—मी० श्लो० पृ०  
३९६ । ‘प्रमिते च प्रवृत्तत्वात्स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता ।’—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० १०४। ‘गृहीत-  
ग्रहणानेष्टं सावृतं’—प्रमाणवा० १।५। ‘यद् गृहीतग्राहि न तत्प्रमाणं यया स्मृतिः’—तत्त्वस०  
प० पृ० ३८८ । ‘न प्रमाणं स्मृतिं पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात् । स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राची

मानत्वम्, अर्थादिनुत्पद्यमानत्वम्, विसवादकत्वम्, समारोपाव्यवच्छेदकत्वम्, प्रयोजनं प्रसाधकत्र वा स्यात् १ प्रथमपक्षे कस्य गृहीतस्यार्थस्य स्मृत्या ग्रहणम्—ज्ञानस्य, ज्ञेयस्य, ज्ञानप्रशिष्टस्य ज्ञेयस्य, तद्विशिष्टस्य वा ज्ञानस्य २ न तावज्ज्ञानस्य, तद्व्यतिरिक्तज्ञेयस्य स्मृतौ प्रतिभासनात् । अथ ज्ञेयस्य, अस्तु नामैतत्, तथापि अधिगतार्थाधिगममात्रेण स्मृतेर्नाऽप्रामाण्यम्, अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ तदुत्तरकालभाविनोऽध्यक्षस्याप्यप्रामाण्य-प्रसङ्गात्, प्रत्यभिज्ञानाऽनुमानयोरपि केनचिद्दशेन अधिगतार्थाधिगमसम्भवेन अप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । अथ अधिगतार्थाधिगमेऽर्थत्र अपूर्वस्याप्यर्थाश्रयाऽधिगमसम्भवात् प्रामाण्यम्, पक्षमेव स्मृतेरप्रामाण्यं तत्रापि हि वर्तमानकालावच्छेदेनाऽधिगतस्यार्थस्य अतीतकालावच्छेदेनाऽधिगतेरपूर्वार्थाधिगमोपपत्तेः ? प्रयोग स्मृति प्रमाणम्, प्रमाणान्तरप्रति

प्रतीतिमनुबद्धयमाना न स्वातन्त्र्येण परिच्छिनतीति न प्रमाणम् । —प्रकरण० पृ० ४२ । तत्ररह० पृ० २ । 'न च स्मृति प्रमा लोकाधीनावधारणो हि शब्दायसम्भव । लोकश्च सत्कारमात्रजमन स्मृतरन्यामुपलब्धिभयान्निवृत्तिरिति प्रमाणावच्छेदः ।'—न्यायवा० ता० पृ० २१ । न्यायकुमु० ४११ । 'अत एव न प्रमाणं तस्या पूर्वानुभवविषयबोधदर्शनार्थं निश्चितत्वात् अथपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात् ।'—प्रश० क० पृ० २५७ । (१०) 'एतदुक्तं भवति—सर्वे प्रमाणादयोजयित्वा ननु सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृति पुनः पूर्वानुभवमर्यादाभित्तिरिति तद्विषया वा तद्विषयव्याप्या वा ननु तद्विषयविषयम् ।—योगसू० तत्त्ववै० १।११ ।

(१) जैनकवार्तिककारा हि अवाविनाभावाभावात्स्मरणस्याप्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति तथाहि—एवमयं कवार्तिककार—अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतं अथमन्तरेणापि तस्याभावात् । प्रत्यक्षास्तु अव्यभिचारनिमित्ताभिधानात् कस्यचित् व्यभिचारेऽपि न दोषः, नत्वव स्मृतव्यभिचारनिमित्तमस्ति । अमूर्तस्मृतस्तु पूर्वप्रत्यक्षपल्लवान् पृथक् प्रामाण्यम् ।—अनन्तरं वा० पृ० १९१ । (२) नार्थान् भावस्तदाभावात् ।—प्रमाणवा० २।३७५ । अनुभवाद्गुण्यमाना स्मृतिरथमन्तरेण भवन्तीत्येव नीलाचार्याः ।—प्रमाणवार्तिककाल० मनोरथ० २।३७५ । 'अथायत्नमेव स्मृतं कस्मान्नप्यत ? अर्थाविनागप्युत्पत्त्यात् । न च यद्गणकालालिङ्गितं नुभवज्ञानमूत्रत्र तन्मूलम्भनमेव न्याय्यम् । स्मृतिश्च तस्याविद्यमानतया विषयत्वाभावात् । बाह्यद्विधाया च स्मृतिर्जमनि प्रत्यक्षं व्यभिचारादन्तरेणस्य व्यापारो निदर्शयति । न च तस्य स्वान्त्र्येण बहिर्विषयव्यापार सम्पत्तित्पत्त्यवयवत्वमेव न्याय्यं नस्मान्निविषयत्वमेव ।—प्र० पृ० ६२१ । न स्मृतरप्रमाणस्य गृहीतघातिनाहृतम् । अपि त्वयत्रत्यत्वं त्वप्रामाण्यकारणम् ॥ ननु कथमनप्यज्ञा स्मृति ? तदाह—वस्तुनस्त्वानीमसत्त्वात् ।—न्यायव० पृ० २३१ । (३) 'कस्मान् स्मरणानमप्रमाणमिति च ? रज्जुसर्पाभिपानवन् भ्रान्त्यानि निद्रम् ।—न्यायसारटी० पृ० ६८ । (४) तुलना— गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतत्वं प्रमाणता । घातवाद्यधिपानस्य लभ्यं केन सा ॥ विगिष्टस्योपयोगस्याभाव मापि चमत्ता । तन्भाव स्मरणोपपत्तानवमानत्वात् नः ॥ स्मृत्या स्वाय परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यत । यत्र प्रमाणा तस्या प्रवृत्तिरिति च ।—तत्त्ववा० पृ० १८९ । (५) नपविगिष्टस्य—आ० टि० । (६) ज्ञानव्यतिरिक्त । (७) तुलना— अनुमानेनाधिगतं बहो तदुत्तरकालभाविन प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।—स्वा० पृ० ४८९ । प्रमेयक० पृ० ३३७८ । (८) प्रत्यभिज्ञानानुमानयो । (९) प्रत्यगादि ।

१ अर्थादिनुत्पद्यमानत्वम्—४० । २—नासाय—४० । ३—रिक्तस्य ज्ञेयस्य—४० । ४—धिगमसम्भवेन—आ०, ४० । ५—न्यायानुपपत्त्याच्च—४० । ६ अथ अर्थाधिगमे—आ०, ४० । ७—पूर्वाधिगमे—४० ।



पन्नेऽप्यर्थे केनचिद्देशेनाऽपूर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यद्यत्तथाविध तत्तत्रमाणम् यथा अनुमानाधिगतार्थे प्रत्यक्षादि, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति ।

एतेन ज्ञानविशिष्टज्ञेयपक्षोप्यपास्तः, अशत प्रामाण्यस्य अत्राप्युपपत्तेः । किञ्चेदज्ञेयस्य ज्ञानविशिष्टत्व नाम-तत्र सयोग, समवार्थ, विशेषणीभावो वा ? तत्र आद्यपक्षद्वयमनुपपन्नम्, ज्ञेये ज्ञानस्याऽद्रव्यतया संयोगाऽसभवात्, आत्मनि समवेततया च समवार्थस्याप्यनुपपत्तेः । तदभावे विशेषणीभावोऽपि दुर्घट, तस्य तत्पूर्वकत्वात् । न खलु दण्डपुरुपादो सयोगादिसम्बन्धानपेक्षस्तर्द्धावो दृष्ट । ज्ञेयविशिष्टज्ञानपक्षस्तु न युक्त, तत्प्रतिभासस्य स्मृतौ स्वप्नेऽप्यसभवात् । नहि ज्ञान निर्विशेषण संविशेषण वा स्मृतौ प्रतिभासमान केनचिदिष्टम्, वहिर्धस्तु न एव तत्र प्रतिप्राणि प्रतिभासप्रतीते । तन्न गृहीतप्राहित्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम् ।

नापि परिच्छित्तिविशेषाभावात्, निहितमन्त्रिताधीतादो तस्यास्तद्विशेषसद्भावात् । नाप्यसंत्यतीतार्थे प्रवर्तमानत्वात्, यतोऽतीतस्याऽर्थस्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ? न तावत् स्वकाले, तदा तस्य विद्यमानत्वात् । स्मृतिकाले तु तद्ग्राह्यस्याऽसत्त्वनाऽप्रामाण्य प्रत्यङ्गम्, प्रत्यक्षस्यापि अप्रामाण्यप्रसक्ते, तत्काले तद्ग्राह्यस्याप्यसत्त्वाऽविशेषात् । नहि प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थ प्रत्यक्षकाले सोगतै सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते ।

“भिन्नकाल कथं ग्राह्यमिति चेद ग्राह्यता विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥” [ प्रमाणवा० २।२४७ ]

इत्यस्य विरोधाऽनुपपन्नात् । अतः प्रत्यक्षस्याप्यसति प्रवर्तनादप्रामाण्यं स्यात् ।

(१) ज्ञयपक्षनिरकरणम् । (२) सयोगसमवायाद्यभावः । (३) सम्बन्धः । (४) विशपणीभावः । (५) ज्ञयविशिष्टज्ञानप्रतिभासस्य । (६) तुलना-“निहितमन्त्रिताधीतादो हानोपादानहेतोः परिच्छित्तिविशेषस्य स्मरणं सदभावात् ।”-स्या० २० पृ० ४८७ । (७) परिच्छित्तिविशेषः । (८) तुलना-“यतोऽतीतस्यास्य स्वकालेऽसत्त्वम्, स्मृतिकाले वा ?”-स्या० २० पृ० ४८७ । (९) अतीतकाले । (१०) स्मृतिग्राह्यस्य । (११) प्रत्यक्षकाले प्रत्यक्षग्राह्यस्यापि । (१२) व्याख्या-“युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् = प्राग्भावित्वाद् भिन्नकालं वस्तु कथं ग्राह्यमिति चेत् ? हेतुत्वमेव ज्ञानाकारस्य स्वानुरूपस्य अपगम्यता ग्राह्यता युक्तिज्ञा विदुः । न हि सदायोगोल्लयोरिव ज्ञानपदायवो ग्राह्यग्राहकभावः । कथं तर्हि ? यदाकारमनुकरोति तत ग्राह्यस्य ग्राहकमित्युच्यते । -प्रमाणवा० मन्तोरथ० २।२४७ । निम्नग्रन्थपु समुद्रवृत्तयम्-“हेतुत्वमेव तद्युक्तं ज्ञानं न्यायवा० ता० पृ० १५३ । विधिवि० टी० पृ० १९८ । स्फोटसि० टी० पृ० २३३ । हेतुत्वमेव च व्यक्तज्ञानाका सवद० पृ० ३६ । ज्ञानाकारार्पणक्षमम्-अद्वयवज्जस० पृ० १७ । प्रमाणमी० पृ० २० । प्रकृतपाठ-न्यायवि० वि० पृ० १३५ B । स्या० २० पृ० ४८७ । प्रमेयर० २।७ ।

१ प्रमाणस्य आ०, थ० । २-वायो वा विशेष-थ० । ३-योगाभावात् व०, थ० । ४ आत्मसमवे-थ० । ५-वायस्यानुप-व० । ६ ‘संविशेषण’ नास्ति व० । ७ स्मृतिभासमा-थ० । ८-सत्यतीताद्यप्र-आ० । ९-सत्त्व वा ना-थ० । १०-गणक्षम् थ० ।

अर्थादनुत्पद्यमानत्वञ्च अध्यक्षेऽप्यविशिष्टम्, ज्ञान प्रति अर्थे कारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् ।

विसवाद्कत्वञ्च स्मृतेरसिद्धम् स्वप्रतिपन्नेऽर्थे अविस्वाद्कत्वात्तरया । यद्यत्राऽविसवाद्क तत्त्र प्रमाणम् यथा प्रत्यक्षाद्यर्थे प्रत्यक्षादि, अविस्वादि का च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति । अविस्वाद्दो हि गृहीतेऽर्थे प्राप्ति, प्रमाणात्तरवृत्तिर्वा स्यात् । स द्विविधोऽपि स्मृतिप्रतिपन्ने स्वयधृतद्रव्याद्यर्थेऽस्त्येव । यत्र तु विसवाद सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाद्याभासवत् ।

समारोपाव्यवच्छेदकत्वान्न स्मृति प्रमाणम् इत्यप्यममीचीनम्, तद्गृहीतेऽर्थे विपरीतारोपाननुप्रवेशत तैर्ब्यवच्छेदसभवात् । यत् समारोपव्यवच्छेदक तत् प्रमाणम् यथा अनुमानम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्वप्रतिपन्नेऽर्थे स्मृतिरिति ।

प्रयोजनाप्रसाधकत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यम् इत्यप्यसुन्दरम् अनुमानप्रवृत्तिलक्षणस्य तैत्साध्यप्रयोजनस्य सद्भावात् । तद्धि साध्यप्रतिबद्धाद्धेतो प्रवर्तते । साध्यैप्रविन्धश्च सत्तामात्रेण तैत्प्रवृत्तेरङ्गम्, परिज्ञात सन्, स्मृतिकोडीकृतो वा ? प्रथमपक्षे नालिकेरद्वीपायातस्य अप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्ति स्यात् । द्वितीयपक्षे तु

(१) तुलना- अर्थानुत्पद्यमानत्वञ्च स्मरणस्यासिद्धम् स्वविषयभूतादर्थादनुत्पद्यमानत्वात् । -स्या० २० पृ० ४८७। (२) तुलना- प्रमाणमविस्वादात् मिथ्या तद्धिपद्ययात् । गृहीतग्रहणा नो चेन्न प्रयोजनभदत् ॥ प्रपक्षस्यापि प्रामाण्यमविस्वादात् न पुनरर्थानुकारितयाऽतिप्रसगात् । स पुनरनुभूतस्मृतयदि स्यात् प्रामाण्य लक्षयति । सविकल्पेऽनधिगताथव्यवसायाभावादयुक्तमिति चेन्न प्रयोजनविशेषात् क्वचित्तादृशाकारभङ्गना तथैव प्रामाण्याविरोधात् । अथवा कालादिभदन अनधिगताथाधिगतरपि अयत् प्रमाणताऽनभ्युपगमात् । साकल्पनात्तितो व्याप्ति पूव चलिङ्गलिङ्गितो । अनुमेयस्मृति सिद्धा न प्रमाणविशेषवत् ॥"-सिद्धिवि० टी० पृ० १४६ B प्रमाणम पृ० ९९ । सा च प्रमाणमविस्वाद्कत्वात् प्रत्यक्षवत् । -प्रमाणप० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३३७ । समति० टी० पृ० ५५३ । स्या० २० पृ० ४८७ । प्रमेय० पृ० ३१ । प्रमाणमी० पृ० ३३ । वायदी० पृ० १७ । जनतकभा० पृ० ९ । (३) अक्रियास्थितिरविस्वादानम -प्रमाणवा० १।३ । अविस्वादश्च अथादुत्पत्त अर्थाव्यभिचारत् । -प्रमाणवार्तिकाल० प० २७३ । स चाविमवादोऽथक्रियालक्षण एव । -तत्त्वस प० पृ० ७७८ । अविस्वात्त्वञ्च अभिमताथक्रियाममर्थाथप्रापणक्रिकत्व न तु प्रापणमेव प्रतिबन्धादिसम्भवात् । -तत्त्वस० प० पृ० ३९२ । (४) तुलना तस्याश्च प्रामाण्य युक्तम् न हि तयाऽथ परिच्छिद्य प्रवत्मानोऽथक्रियाया विसवाद्यने । -सिद्धिवि० टी० पृ० ३४ A प्रमेयक० पृ० ३३७ । स्या० २० पृ० ४८७ । (५) समारोपव्यवच्छेदक म स्मयनमानत । स्वाथ प्रमाणता तेन नवत्रापि निवायते ॥ -तत्त्वस्यदलो० पृ० १८९ । प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० २० पृ० ४८७ । (६) स्मृतिसाध्य । (७) अनुमानं हि । (८) साध्याविनाभाविन । (९) अविनाभावसम्बन्ध । तुलना- लिङ्गलिङ्गसम्बन्धसत्तामात्रानुमानप्रवर्तितेनु तद्गानान तस्मरणान्ना -प्रमेयक० पृ० ३३८ । साध्यप्रतिबन्धश्च हेतोः सत्तामात्रेण अनुमानप्रवृत्तेरङ्गम् परिगतो वा स्मृतिकोडीकृतो वा ? -स्या० २० पृ० ४८८ । (१०) अनुमानप्रवृत्ते । (११) स्मृतिविषयीकृत । (१२) एतन्दीपशामिनो हि नालिवे ररुमत्वा तज्जलञ्च निरीय जीवनं यापयन्ति अतस्त्वं पात्रायमुपयुक्तो अग्निधूमो न दृष्टचरी ।

वालानस्थाया प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धावरथाया विस्मृततैत्तस्मिन्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्ग । तृतीयपक्षे तु कथं स्मृते प्रामाण्यप्रतिषेध अनुमानप्रवृत्तोरङ्गत्वात् ? यदनुमानप्रवृत्तोरङ्ग तत्प्रमाण यथा प्रत्यक्षम्, तथा च स्मरणम्, तस्मात् प्रमाणमिति । तदेव स्मृते कारणस्वरूपविषयभेदात् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे, स्वविपर्येऽविसवादाप्रसिद्धेश्च सूक्तम् — 'अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा' इति । तथा स्मृति प्रमाणम् अविस्वादासंज्ञाया हेतुत्वात् । अस्या पर्यायमाह—प्रत्यवमर्शस्य 'स एवायम्, तेन सदृशोऽयम्' इति वा एकत्वसादृश्याभ्या पदार्थानां सङ्कलन प्रत्यवमर्श ।

नैनु प्रमाणप्ररूपणावसरे प्रत्यभिज्ञाया प्ररूपणमयुक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासत् कारणाभावाच्च अस्या स्वरूपस्यैवाऽसभवात्, विपर्याभावत प्रामाण्यानुपपत्तेश्च । तथाहि—पूर्वं ज्ञातस्य पुन कालान्तरे 'स एवायम्' इत्यादिज्ञान प्रत्यभिज्ञा । न चास्या एकत्व युक्तम्, विरुद्धधर्माध्यासात्, यत्र विरुद्धधर्माध्यास न तत्रैक्यम् यथा जलानलादो, विरुद्धधर्माध्यासश्च प्रत्यभिज्ञायामिति । न चायमसिद्ध स्पष्टेतररूपाक्रान्ततया

(१) अग्निधूमसम्बन्ध । (२) तुलना को हि स्मृतिपूर्वकमनमानमभ्युपगम्य पुनस्ता निराकुर्यात् अनुमानस्यापि निरावरणानुपपन्नत् । —प्रमेयक० पृ० ३३८ । स्या० २० पृ० ४८८ । प्रमेयर० पृ० ३२ । प्रमाणमी० प० ३४ । स्या० म० प० २०८ । रत्नाकरा० ३।४। (३) तुलना—पुवमनासिपमथ तमिम जानामीति ज्ञानयो समानेऽथ प्रतिसिद्धिज्ञान प्रत्यभिज्ञानम् । —न्यायभा० ३।२।२। प्रत्यभिज्ञान हि नाम जाद्यप्रयथानिरोध द्वितीयदशने प्रागाहितसस्काराभिव्यक्तौ स्मृतिपूर्व ततीय दशनम् । —न्यायबा० पृ० ४०० । प्रत्यभिज्ञा नाम स्मयमाणानुभूयमानसामानाधि करण्यग्राहिणी सस्कारसचिवेन्द्रियजया प्रतीतिरिति केचित् । अय मयन्ते स्मयमाणपुवज्ञान विपणितायग्राहिवात तद्विपणस्य चायस्य बाह्यद्रियग्राह्यत्वानुपपत्त स्तम्भान्नावपि मानसी प्रय भिज्ञेति । —न्यायम० प० २२४। एत मतद्वयमभिमतं मञ्जरीकारस्य दृष्टव्यम्—प्रायमं० पृ० ४६१। प्रत्यभिज्ञा प्रति आभिमुख्येन ज्ञानम् । लोके हि स एवायं चत्र इति प्रतिसाधनेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञान प्रत्यभिज्ञेति व्यवहियते । —सवद० पृ० १९३ । सञ्ज्ञान सजा —सर्वाधिति० १।१३ सज्ञाज्ञान नाम यत्तरेवेन्द्रियरनुभूतमथ प्राक् पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्ष पूर्वाह्ल इति सज्ञाज्ञानमेतत् । —तत्त्वाधंभा० व्या० १।१३। दगनस्मरणकारणक सङ्कलन प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेद तत्पदृश तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादि । —परीक्षामु० ३।५। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणमी० १।२।४। अनुभवस्मृतिहेतुक तियगृध्वतासामायादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञान प्रत्यभिज्ञानम् । —प्रमाणनय० ३।३। जनतकभा० पृ० ९। (४) बोध प्राह—आ० टि० । (५) स एवायमिति प्रत्यय उत्पन्नमानोनकचे प्रमाणम् एकत्वस्याग्रहणात् दृष्टस्यैव तस्य प्रतिपत्त । एकत्व हि पूवण सह गृह्यमाणमेकता विवादाविषयता स्वीकरोति । वत मानतामात्रस्यैवत्वे सिद्धसाधनमेव । तच्च पूव पूवप्रत्ययन गृहीतत्वात्पारम् । पूवप्रत्ययन चात्तो ऋधदवस्य एव पूवतया च गृह्यते । तत् पुनरनुसंधीयमान यथाभूत गृहीत तथाभूतमेव वाऽनुसंधा तव्यम् । गृहीतत्वेन च ग्रहण स्मरणमेतदिनि गृहीतग्राहित्वात्प्रमाणमपरस्मरणवत् । सवादेस्त्वथ क्रियाकर्णात् । न चकत्वसायाथक्रिया वस्तुसामर्थ्यात्प्रादुत्पत्त । तस्मान् स एवायम् इति

१ यज्ञानमनुमान व० । २-पथे वाऽविस-थ० । ३-वाद्वास्या थ० । ४ पूवज्ञानस्य थ० । ५-भिज्ञान मचा-व० ।

तत्र तत्रसिद्धे । तथाहि—‘स’ इत्याकार स्मरणरूपतया प्रत्यभिज्ञायामस्पष्टः, ‘अयम्’ इति चाध्यक्षरूपत्वात् स्पष्टः । न चार्थे स्पष्टैरलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेप्यभेदो युक्तः ; प्रत्यक्षानुमानयोरप्यभेदप्रसक्तेः ।

किञ्च, ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयं किं तत्र परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननु-  
 5 प्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षे अन्यतराकारस्यैव प्रतिभासः स्यात्, द्वितीयाकारस्य ततोऽपि वि-  
 क्स्वरूपत्वात्, यद् यतोऽविविक्तरूपं न तत्ततो भेदेन प्रतिभासते यथा तस्यैव स्वरूपम्,  
 एकस्मादाकारादविविक्तरूपञ्च द्वितीयाकारस्वरूपमिति । द्वितीयपक्षे तु परस्परविभिन्न-  
 प्रतिभासद्वयप्रसङ्गः, अन्योन्याननुप्रवेशेन आकारद्वयस्थावस्थानात्, ययो अन्योन्याननु-  
 10 ऽवस्थानञ्च ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयस्य इति । न च ‘प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमेतत्’  
 इत्यभिधातव्यम्, परोक्षापरोक्षानारयो प्रतिभासयोरेकाधिकरणत्वा अनुपपत्तेः, अन्यथा सर्वं  
 सविदामेकाधिकरणत्वप्रसक्तेः पुरुषाद्वैतसिद्धिः स्यात् । ततो विरुद्धधर्माध्यासानैकमिदं  
 ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । अतः कथं प्रत्यभिज्ञानसंभवः ?

कारणाभावाच्च, तथाहि—तत्कारणम् इन्द्रियम्, पूर्वानुभवजनित संस्कारः, तदुभय  
 15 वा! न तावदिन्द्रियम्, तस्य वर्त्तमानार्थावभासजनकत्वात् । नापि संस्कारः, तस्य स्मरण-  
 कारणत्वात् । नाप्युभयम्, उभयदोषानुपपन्नात् । न च कारणान्तरमुपलभ्यते । तन्न प्रत्य-  
 भिज्ञानसंभवः ।

प्रत्ययद्वयमत्र ।—प्रमाणवार्तिककाल० पृ० ५१। ‘स’ इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते ।  
 अयमित्यनेन च वर्त्तमानकालसम्बन्धी । अनयोश्च भेदो न कथञ्चिदभेदो वर्त्तमानकालभाविस्वरूपस्व-  
 भावत्वाद्भस्तुन । तस्माद् भेद एव प्रत्यभिज्ञानं सति भासते इति कथमनेन क्षणिकत्वानुमानवाधा ?  
 यद्वा वस्तुन पूर्वकालसम्बन्धित्वमिदानीमसदव पूर्वकालाभावात् । सत्त्वं वास्य वर्त्तमानकालसम्बन्धित्व-  
 मव स्यात् पूर्वकालसम्बन्धित्वं विरोधादित्युक्तम् । तस्मात्पूर्वकालसम्बन्धित्वस्यासतो ग्राह्यं स इति  
 ज्ञानासो भ्रान्तः अन्यथा वस्तुन स्पष्टबालाद्यवस्थाग्राह्यं स्यात्, न च भवति । तस्मात् भ्रान्तान्  
 पूर्वदृष्टरूपारोपणं स एवायम्’ इति ज्ञानात् कथमनुमानवाधा ? विस्तरस्तत्त्वयं प्रत्यभिज्ञाभङ्ग-  
 विचारो नैरात्म्यसिद्धौ दृष्ट इति तत्रैवावधाय ।—प्रमाणवा० स्वयं० टी० पृ० ७८ । तथाहि—घट-  
 स एवायमिति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते । सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्, एकमव वा विज्ञानमसौ स्मृतिरसौ  
 चानुभवः उत स्मृतिरेव, आहोस्विदनुभव एव ?—खड्गखड० पृ० १५६ । (६) ‘प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो  
 भान्त एव निविषयत्वान् । प्रयागरचैवं यं प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययं स तत्त्वतो नैकालम्बनं यथा लूनपुनर्जात-  
 तुर्गादिषु, प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययश्चायं तदवदं नीत्रादीनि प्रत्ययं इति विरुद्धव्याप्तोपपत्त्यै ।—तत्रभा०  
 सो० पृ० २९ ।

(१) प्रत्यभिज्ञायाम् । (२) विरुद्धधर्माध्यासप्रसिद्धः । (३) प्रत्यभिज्ञायाम् । (४) प्रत्यभिज्ञा-  
 याम् । (५) ‘स’ इत्याकारस्य अपमं इत्याकारस्य वा । (६) किन्तु ज्ञानद्वयमेतन्न—न इत्याकारस्य  
 स्मरणरूपत्वान् इदमस्य च प्रत्यक्षात्पत्तत्वादिति भावः ।

१—सिद्धे त इत्या—आ०, थ० । २—तरविलक्षण—थ० । ३—यथा स्थानुपुश्ययो व०, थ० ।

४—कामिनोर्द्वि—थ० । ५—ज्ञानमस्यम थ० ।

अस्तु वा; तथापि न तत् प्रमाणम्, विषयाभावात् । तस्य हि विषयः—पूर्वज्ञाने प्रतिभातमेव वस्तु, तदतिरिक्तं वा ? तत्राद्यविकल्पे न तत् प्रमाणं गृहीतमाहित्वात् धारा-  
वाहिज्ञानवत् । द्वितीयविकल्पेऽपि किंकृतस्तस्य अतिरेकः—स्वरूपभेदकृतः, कालद्वयस-  
म्बन्धकृतः, तत्सम्बन्धे ऐक्यप्रतिपत्तिकृतो वा ? यदि स्वरूपभेदकृतः, तदा ज्ञानवत् ज्ञेय-  
स्यापि प्रतिक्षण स्वरूपभेदप्रसिद्धे सौगतमंतप्रसङ्गः ।

अथ कालद्वयसम्बन्धकृतः, तदप्ययुक्तम्, तत्सम्बन्धस्य अर्थभेदेऽप्युपपद्यमानत्वात् ।  
न हि लूनपुनर्जातनलकेशाद्यर्थभेदे कालद्वयसम्बन्धोऽसिद्धः । अथ कालद्वयसम्बन्धे देव-  
दत्तस्य ऐक्यं प्रतीयते, अतः पूर्वज्ञाने प्रतिभातस्य वस्तुनः प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यग्रहणात्  
गृहीतमाहित्वेन अप्रामाण्यमित्यभिधीयते; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः किमिदमैक्यं नाम—  
एकत्वसख्या, स्थायित्वं वा ? यदि एकत्वसख्या, तदास्थाः पूर्वमेव प्रतिपन्नत्वात् कथमा-  
धिक्यपरिच्छेदः प्रत्यभिज्ञायाः ? अथ स्थायित्वम्, तत् किं देवदत्तस्वरूपाद् भिन्नम्,  
अभिन्नं वा ? यद्यभिन्नम्; तदा तत्स्वरूपवत् तदपि पूर्वज्ञानेनैव प्रतिपन्नम् । यद्यतोऽभिन्न-  
तस्मिन् प्रतीयमाने तदपि प्रतीयते यथा तस्यैव स्वरूपम्, अभिन्नञ्च प्रत्यभिज्ञाविषय-  
त्वेनाऽभिप्रेतं वस्तुनः स्थायित्वमिति । अथ भिन्नम्; तत् किं पूर्वमप्युत्पन्नम्, अथ  
प्रत्यभिज्ञानसमय एवोत्पद्यते ? यदि पूर्वमप्युत्पन्नम्, तदा पूर्वज्ञानेनैव अर्थं परिच्छेदात्  
कथं प्रत्यभिज्ञानेन आधिक्यपरिच्छेदः ? केनचिदशेन आधिक्यपरिच्छेदाभ्युपगमे वा  
अनैवस्थातो न प्रकृतैतत्त्वसिद्धिः । अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एव उत्पद्यते, तर्हि तस्य पूर्व-  
मप्रतिपन्नत्वात् कथं प्रत्यभिज्ञाविषयत्वम् ? पूर्वप्रतिपन्नस्यार्थस्य पुनः कालान्तरे गृह्यमाणस्य  
प्रत्यभिज्ञाविषयत्वाभ्युपगमात् । पूर्वज्ञानप्रतिपन्नार्थान्तरावबोधकज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञात्वे च  
घटज्ञानानन्तरमाविर्भूतपटज्ञानस्यापि तत्पूर्वप्रसङ्गः । तत्समये स्थायित्वस्य उत्पत्तौ च  
क्षणिकत्वानुपपन्नात् कथं द्विशिष्टार्थानामक्षणिकत्वं स्यादिति ॥४॥

(१) प्रत्यभिज्ञान । (२) 'निष्पादितक्रिये चायं वृत्ते प्रस्मरणादिवत् । न प्रमाणमिदं युक्त  
करणार्थं विहायित ॥—यदेव हि प्रमितिक्रियासिद्धौ प्रकृतमुपकरणं तदेव साधकतमं कारकं प्रमाणमुच्यते ।  
यदि च प्रत्यभिज्ञा पूर्वप्रमाणमुद्गीतार्थविषया स्यात् तदा निष्पन्नप्रमितिक्रियार्थं प्रवृत्त्याऽसाध्यं कृतमत्वात्  
व्यभिचयं प्रमाणनामस्तुवीत ? अन्यथा हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यात् ॥—तत्त्वस० प० पृ० १५९ । (३)  
विषयस्य । (४) अतीतवर्तमानकालद्वयसम्बन्धस्य । (५) प्रत्यक्षकाल एव । (६) देवदत्तस्वरूपवत् ।  
(७) स्थायित्वमपि । (८) स्थायित्वस्य । (९) स अथ वस्तुस्वरूपाद् भिन्नोऽभिन्नो वा ? अनेदे  
वस्तुस्वरूपवत् पूर्वमेव प्रतिपत्तिः । भेदे किमतीतपूर्वमेवोत्पन्नं, अथ प्रत्यभिज्ञानसमय एवोत्पद्यते ?  
इत्यादिरूपेण ग्रन्थावर्तनरूपाऽनवस्था । (१०) प्रत्यभिज्ञाने आधिक्यपरिच्छेदसिद्धिः । (११)  
प्रत्यभिज्ञानत्वप्रसङ्गः । (१२) प्रत्यभिज्ञानसमये । (१३) तत्कालोत्पन्नस्यायित्वविशिष्टार्थानाम् ।  
विकालानुयायिस्थायित्वविशिष्टस्यैव अक्षणिकत्वादिति भावः ।

1—मतप्रवेशे व० । 2—सम्बन्धिवेव—व० । 3—यमित्यभिधानमा—व० । 4—भिप्रेतवस्तुन आ०,  
थ० । 5—गमेऽनवस्था—आ०, व० । 6—कृतत्व—आ० । 7—ज्ञानवि—व०, थ० । 8—तिपन्नानन्तरावबोधक  
—आ० । 9—ज्ञानत्वे थ० । 10—तत्प्रसङ्गं थ० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘विरुद्धधर्माध्यासतः’ इत्यादि । तत्र किं धर्माणां

तत्रप्रतिविधानपुरस्सर धर्मिणा सह विरोधः, परस्परं वा ? न तावत् धर्मिणा; तत्र तेषां प्रती-  
प्रत्यभिज्ञानस्य प्रवर् यमानत्वात्, यद्यत्र प्रतीयते न तत्र विरुद्धम् यथा चित्रज्ञाने नीला-  
प्राकारप्रसाधनम्— धाकाराः, प्रतीयते च प्रत्यभिज्ञाने ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयम्, तस्मान्न

5 तत्रात्र विरुद्धमिति । यत् पुनर्यत्र विरुद्धं न तत्र कदाचिदप्युलभ्यते, यथा तुरङ्गमोचामाह्ने  
शृङ्गम्, उपलभ्यते च प्रत्यभिज्ञाने प्रागुक्तमाकारद्वयमिति । तत्र धर्मिणा सह धर्माणां  
विरोधो युक्तः । परस्परविरोधे तु धर्मिणः किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदः  
प्राच्येत ? धर्माणां हि परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधसंभवे तेषामेव अन्योन्यं भेदो युक्तः।

किञ्च, विरुद्धधर्माध्यासतः कारणभूताभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां प्रत्यभिज्ञानस्य  
10 भेदः साध्येत, स्वभावभूताभ्यां वा ? तत्राद्यपक्षे मिद्वैसाधनम् । न सल्लु ‘कारणस्वरूपमेव  
सर्वथा कार्यस्वरूपम्’ इति स्याद्वादिनो मन्यन्ते । द्वितीयपक्षेऽपि कथञ्चित्तद्भेदः साध्येत,  
सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्; तदा सिद्धसाधनमेव, आकारतद्गतोः कथञ्चिद्भेदाभ्युप-  
गमात् । सर्वथा भेदस्त्वनुपपन्नः; तयोः तत्त्वभावत्वाभावप्रसङ्गात् । यो यत्स्वभावः  
न तस्य तद्वतः सर्वथा भेदः यथा चित्रज्ञानात् नीलाद्याकारस्य, स्वभावंश्च प्रत्यभिज्ञानस्य  
15 ‘स एवायम्’ इत्याकारद्वयमिति । तद्धि प्रत्यक्ष-स्मरणसामग्रीतः समुपजायमानं  
श्रीडीकृताऽऽकारद्वयमेवोपजायते चित्रपट्यादिसामग्रीतः चित्राकारैकज्ञानवत्, प्रत्यक्षा-  
दिसामग्रीतो निर्विकल्पेतराकारैकैविकल्पवद्वा ।

यदप्युक्तम्—‘आकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते’ इत्यादि; तत्र कोऽय-  
मस्य अनुप्रवेशो नाम—परस्परस्वरूपसाङ्कर्यम्, एकस्मिन्नाधारे वृत्तिर्वा ? प्रथमविकल्पोऽ-

(१) पृ० ४११ पं० ८ । (२) धर्मिणि । (३) तुलना—‘तत्र यदि नाम दर्शनस्मरणलक्षण-  
योराकारयोर्विरोध, तथापि धर्मिण प्रत्यभिज्ञानस्य किमायातं येनास्य विरुद्धधर्माध्यासाद् भेद  
प्राच्येत ।’—स्या० १० पृ० ४९२ । (४) तुलना—‘विरुद्धाभ्यां दर्शनस्मरणाकाराभ्यां कारणभूताभ्यां  
स्वभावभूताभ्यां वा प्रत्यभिज्ञानस्य भेदः साध्येत ?’—स्या० १० पृ० ४९३ । (५) कार्यकारणयो-  
र्भेदमप्युक्तवान्—आ० टि० । (६) प्रत्यभिज्ञानभेद—आ० टि० । (७) दर्शनस्मरणाकारयो-  
स्वभावयोः । (८) प्रत्यभिज्ञान । (९) आदिपदेन विरुद्धत्वमनागतदृष्टवनेनस्मरणसामग्री  
प्राप्त्या । (१०) एकज्ञानस्वरूपवत्—आ० टि० । तुलना—‘यदि पारोक्ष्यापारोक्ष्यधर्मभेदान् पूर्वोप-  
रागम्यापरागम्यज्ञानं भिद्येत्, ह्यन मो, तदित्यपि विरुद्धो भिद्येत् । मोक्षि हि परोक्षदृष्ट्यापरोक्षदृष्ट-  
विरुद्धोऽविरुद्धदृष्ट । अयं परोक्षो विरुद्धदृष्ट इवात्मनि स्वविरुद्धोऽपरोक्षदृष्ट । तस्माद्विषयभेदाद्विरोध  
इति चेत्, तद्विहाय तदेवैवं विज्ञानं तद्वैवैक्यस्य वस्तुन पूर्वोदगात्तन्मन्त्रत्वे परोक्षम्, अपरोक्षमन्त्रा-  
परदगात्तन्मन्त्रत्वे इति को विरोध ?’—यावत्ता० ता० पृ० १४० । विरुद्धो हि स्वल्पे निर्विकल्प-  
कमर्थक्ये च तद्विरुद्धत्वमिति मीमांसनम् । (११) पृ० ४१२ पं० ४ । (१२) तुलना—‘परस्परस्वरूप-  
माह्वयंमेवस्मिन्नाधारे धृतिर्वा ।’—स्या० १० पृ० ४९३ ।

१—स्याम ४—आ० । २—विदुषः—आ०, थ० । ३—स्परं विरो—व० । ४ प्राच्येते थ० । ५ तेषा-  
मयोयं व०, थ० । ६—न्यभेदो थ० । ७—वस्य प्र—व० । ८—भामनेरवा—व० । ९—स्परं स्व—व० ।

नुपपन्न , प्रतीतिविरोधात् । नहि यथोक्तमाकारद्वयमन्योन्यसङ्कीर्णस्वरूप स्वप्नेऽपि प्रतीयते । द्वितीयविकल्पे तु नेहि किञ्चिदनिष्टम्, एकस्मिन् प्रत्यभिज्ञारये ज्ञाने तदाकारद्वयस्य निर्वाधप्रतीतो प्रतिभासमानत्वात् । यद्यथा निर्वाधाया प्रतीतो प्रतिभासते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम् यथा नील नीलतया, प्रतिभासते च तथाविधाया प्रतीतौ आकारद्वयान्वित्वेनैकज्ञानमिति । न च प्रमाणप्रसिद्धे वस्तुस्वरूपे मिथ्याविकल्पसदृशि किञ्चित्कुं समर्था सकलशून्यतादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । कथञ्चैववादिन चित्रज्ञानादे सिद्धि १ नीलादि-प्रतिभासाना हि परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपताप्रसङ्गात् कुतश्चित्रता एवनीलाकारज्ञानवत् २ तेषां तदननुप्रवेशे भिन्नसन्ततिनीलादिप्रतिभासानामिव अत्यन्तभेदसिद्धे नितरामचित्रता । एकज्ञानाधिकरणतया तेषां प्रत्यक्षत प्रतीते प्रतिपादितदोषानवकाश प्रत्यभिज्ञानेऽप्यविशिष्ट । तन्न विरुद्धधर्माध्यासत प्रत्यभिज्ञानस्याभावो युक्त । 10

नापि कारणाभावेत्, दर्शन स्मरणलक्षणस्य तत्कारणस्य सद्भावात् । कथं विभिन्नविषययो विभिन्नाकारयोश्चानयो तत्कारणतति चेत् ? तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत्कारणकम् यथा वीजाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी अङ्कुर तत्कारणक , दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी च प्रथमिज्ञेति । न खलु वीजादे अङ्कुरकारणताया चित्रप्रपञ्चदे चित्रज्ञानकारणताया वा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादन्यन्नैवन्धनमस्ति । तन्नास्य कारणाभावादप्यभावो युक्त । 15

किञ्च, इदं प्रत्यभिज्ञान कार्यम्, कार्यञ्च प्रतीयमान कारणसद्भावमवबोधयति, अतः कथमस्य कारणाभावो ज्यायान् ? तथाहि—यत् कार्यं तत् कारणपूर्वकम् यथा घटादि, कार्यश्चेद प्रत्यभिज्ञानमिति ।

यदप्युक्तम्—‘सतोऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रामाण्यम्’ इत्यादि, तदप्यसमीक्षिता 20

(१) दृग्गणस्मरणरूपम् । (२) दृग्गणस्मरणरूपमाकारद्वय परस्परमनुप्रवेशानुप्रवेशान वा प्रतिभासते इत्यववादिन सौगतस्य । तुलना— कथञ्चव वादिनश्चित्रज्ञानसिद्धि प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० १० पृ० ४९३ । (३) नीलादिप्रतिभासानाम (४) ददत्तस्य नीलज्ञान यद्दत्तस्य पतिज्ञान इद्दत्तस्य च रक्त्तज्ञान यथा परस्परतोऽत्यन्तभिन्न सत चित्रकरूपता न प्रतिपद्यते तथैव । (५) नीलादिप्रतिभासानाम । (६) तुलना— नापि कारणाभावत —स्या० १० पृ० ४९४ । यपुनरुक्तं सामग्रीभदान विरुद्धधर्मसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञानज्ञानस्य एकत्वानुपपत्तिरिति, तदयुक्तम् सम्प्रयोगसंस्कारयो सम्भूयसामग्रीत्वात् । न तान्यन सम्प्रयोगसंस्कारयो प्रत्यक्मन्योय निरपेक्षयो कारणत्वादेवज्ञानकारणतानुपपत्ति यस्मात् अयत्र लिङ्गद्वययोरेकयोयनिरपेक्षयो दष्टसम्भूयकारित्वे विगिष्टानुमिति प्रति । तस्मात् प्रथमिज्ञानज्ञानस्य एकत्वेन प्रामाण्यमभवात् । — वित्तु० पृ० २१४ । (७) दृग्गणस्मरणकारणक सत्त्वत्त प्रथमिज्ञानम् [ परोक्षामु ३१५ ] इत्यभिधानात् । (८) दत्तमानपर्यायविषय हि दर्शनम् अतीतविवतगोचरञ्च स्मरणम् । (९) इदमाकारोत्प्रेक्षि हि दर्शनम् तदाकारोत्प्रेक्षि च स्मरणम् । (१०) पृ० ४१३ पृ० १ ।

1 न किञ्चि व० । 2 सलिलतया थ० । 3-तत्त्वेनैव ज्ञान-आ० थ० । 4-णतत्का-आ० थ० । 5-चित्रपटादे व०, थ० । 6-काय प्रती-थ० । 7-स्य प्रामा-व० ।

भिधानम्, यतो विषयाभावात्, गृहीतग्राहित्वात्, वाध्यमानत्वाद्वाऽस्यै अप्रामाण्य  
 स्यात् ? न तावद्विषयाभावात्, पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्त्यैकद्रव्यस्य तद्विषयस्य सद्भावात् ।  
 प्रत्यक्षादित् प्रत्यभिज्ञानस्य स्वरूपवैलक्षण्यसमवाच्च विषयवैलक्षण्यमर्थश्याभ्युपगन्त  
 व्यम् । यस्य यत् स्वरूपवैलक्षण्य तस्य ततो विषयवैलक्षण्यमप्यस्ति यथा प्रत्यक्षात्  
 5 स्मरणस्य, अस्ति च स्वरूपवैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञानस्येति । सुप्रसिद्धं हि प्रत्यक्षस्मरणयो  
 स्पष्टेतररूपतया अतीतवर्त्तमानविषयपरामर्शरूपतया च स्वरूपवैलक्षण्याद् अतीतवर्त्त  
 मानकालावच्छेदेन विषयवैलक्षण्यम्, एवमत्रापि । प्रत्यक्षस्य हि वर्त्तमानकाला  
 वच्छिन्नो विषय, स्मरणस्य तु अतीतकालावच्छिन्न, प्रत्यभिज्ञानस्य तु उभयकाला  
 वच्छिन्नो द्रव्यविशेषो विषय । न चाऽशेषार्थानां प्रतिक्षण क्षणिकत्वात् द्रव्यविशे  
 10 पस्य कस्यचिदप्यसमवात् कस्य तद्विषयता प्राथ्यते इत्यभिधातव्यम् । क्षणभङ्गप्रतिषेधेन  
 द्रव्यसिद्धे प्रागेवं प्रपञ्चतो विहितत्वात् । तत्र विपर्ययाभावात् तदप्रामाण्यम् ।

नापि गृहीतग्राहित्वात् तद्विषयस्य प्रमाणान्तरेण गृहीतुमशक्यत्वात् । स हि  
 प्रत्यक्षेण गृह्येत, स्मरणेन, प्रमाणांतरेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्य वर्त्तमानविवर्त्त-  
 मात्रगोचरचारितया अतीतवर्त्तमानविवर्त्तवर्त्तिनो द्रव्यस्य ग्रहणे सामर्थ्याऽसमवात् ।  
 15 नापि स्मरणेन, तस्य अतीतपर्यायविषयतया तद्ग्रहणेऽसमर्थत्वात् । नापि प्रमाणांतरेण,  
 उभयविवर्त्तवर्त्तिद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानतोऽन्यप्रमाणस्याऽसमवात् । तदुभयसंस्कार-  
 जनित कल्पनाज्ञानमस्तीति चेत् न तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

(१) तुलना- तदप्रामाण्यं हि गृहीतग्राहित्वात् स्मरणान्तरभावित्वात् गन्तकारधारिवाडा  
 वाध्यमानवाडा स्यात् - प्रमेयक० पृ० ३४३ । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) प्रयास स्मरणं च  
 प्रयत्नमिह तु युगपत्ति विषय-आ० टि० । (४) प्रत्यभिज्ञानेऽपि । (५) प० ३५७-३८९ ।  
 (६) तुलना- आचारखान्प्रतिषेध पूर्वानुभवजनितसंस्कारस्मरणमहृकाराद्वयणं स एवापि  
 त्पुमपोऽस्ति ज्ञानं जपने । तस्य च अर्थावयव्यनिरैकानविधानात् तद्विषयत्वमप्युक्तम् । -  
 प्रा० ध्यो० प० ३९७ । अतीतकालविशिष्टो वनमानकालावच्छिन्नश्चाथ एतस्यापवभामने । -  
 प्रा० प० प० ४५९ । प्रतीकने तावत्तस्मादिज्ञानात् पूर्वोत्तराणावच्छिन्नमेक वस्तुतत्त्वम  
 तन्मय्य विषयो न भवतीति सिद्धिरिदम् । ग्रहणस्मरणं च नर्कं विषयमात्मन्येते तस्मात्कमेवे  
 विज्ञानं प्रतीतिनामप्यर्थादुभयविषयमास्त्वयम् । - प्रा० क० प० ८० । (७) तुलना-  
 न हि तद्विषयभूतमेव द्रव्यं स्मृतिप्रयोगग्राह्यं यत् तत्र प्रवक्तव्यं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मयत्  
 तद्गृहीतानातीतवर्त्तमानविवर्त्तनानागम्यात् द्रव्यस्य कथञ्चि पूर्वार्थवेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य  
 नाप्रमाणत्वं लुगित्वात्प्रमाणवत्प्रतीकत्वं तस्यापि स्वयत्पूर्वार्थवामिदं । - प्रमाणप० प० ७० ।  
 प्रमेयक० प० ३४३ । स्मा० र० पृ० ४९५ । प्रमेयक० प० ३३ । प्रमाणमो० प० ३५ । ( ८ )  
 अतीतवर्त्तमानमायानुयायिद्रव्यग्रहणं । (९) अतीतवर्त्तमानं । (१०) स्मरणप्रपञ्च । तुलना-  
 प्रत्यक्षस्मरणजनितकल्पनाज्ञानमस्तीति चेत् न तस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वनाम्नाभिरभ्युपगमानं ।  
 -प्रा० र० प० ४९५ । (११) उभयसंस्कारजनितविकल्पस्यैव ।

[ -विषयवर्त्त्यै-आ० । १-वचनपद-पृ० । २-क्षणवर्त्तनो द्र-व० । ३-विषयगोच-प्रा०  
 पृ० । ४-विषयिद्रव्यस्य पृ०, -विषयिज्ञानो द्रव्यस्य व० । ]



ननु यदि प्रत्यक्षस्मरणयोः द्रव्यमविषयः तर्हि कथं ताभ्यां तत्र तज्जन्येत ? यद् यस्य विषयो न भवति न तत्र ज्ञानमुत्पादयति यथा चक्षु रसे, अविषयश्च एकत्वं प्रत्यक्षस्मरणयोरिति; तदप्यसुन्दरम्; विकल्पोत्पादकाऽविकल्पकाध्यक्षेण अनेकान्तात्, तस्य सामान्यागोचरस्यापि सामान्ये विकल्पोत्पादकत्वप्रतीतेः । 'विकल्पवासनासहायं स्वाविषयेऽपि तत्र तैत् तमुत्पादयति' इत्युत्तरम् अन्यत्रापि तुल्यम्, प्रत्यक्षस्यापि स्मरण- 5 सहायस्य एकत्वे प्रत्यभिज्ञानजनकत्वप्रतीतेः, सहकारिणामचिन्त्यशक्तित्वात् । कथमन्यथा असर्वज्ञज्ञानम् अभ्यासविशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत् ? एकत्वविषयत्वञ्च प्रत्यक्षस्यापि अक्षणिकत्वसिद्धौ समर्थितम् । अन्यथा निर्विषयत्वमेव अस्य स्यात्, एकान्तेन अनित्यत्वम्य कदाचानाप्यप्रतीतेः । केवलं तेन एकत्वं प्रतिनियतवर्त्तमानपर्यायाधारतया अर्थे प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षप्रभवप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्यमाणाऽनुभूयमा- 10 नपर्यायाधारतयेति विशेषः । अतः कथञ्चिदपूर्वार्थत्वसिद्धेः न गृहीतमाहित्वमस्य यतोऽप्रामाण्यं स्यात्, अन्यथा अनुमानादेरपि अप्रामाण्यप्रसङ्गः सर्वथाऽपूर्वार्थविषयत्वाऽसंभवात्, तद्विषयस्य देशादिविशिष्टपावकादिव्यक्तिविशेषस्य सम्बन्धमहिज्ञानविषयात् साध्यसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्य कथञ्चित् पूर्वार्थत्वप्रसिद्धेः ।

वैध्व्यमानत्वात्तर्ह्यप्रमाण प्रत्यभिज्ञा; इत्यप्युक्तम्; तद्बाधकस्य कस्यचिदप्य- 15 संभवात् । तस्य हि बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्; तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यभावात् । यद् यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्रास्य बाधकम् यथा रूपज्ञानस्य

(१) द्रव्ये । (२) प्रत्यभिज्ञानम् । (३) सौगतमते हि निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सविकल्पकमुत्पद्यते । निर्विकल्पकं च परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यत्वात् वस्तुविषयं सविकल्पकं तु बुद्धिकल्पितसामान्यगोचरत्वाद्वावस्तुविषयकं प्रसिद्धम् । ततो यथा निर्विकल्पक सामान्यमजानदपि सामान्यविषय विकल्पमुत्पादयति तथैव अतीतवर्तमानोभयविवर्तवर्तिनमेवत्वमजानत्यपि प्रत्यक्षस्मरणे तद्विषयक प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतामिति भावः । तुलना—“विकल्पोत्पादकाध्यक्षेणानेकान्तात् ।”—स्या० १० पृ० ४९५ । (४) सामान्ये । (५) निर्विकल्पकम् । (६) विकल्पम् । (७) प्रत्यक्षस्मरणाभ्याम् एकत्वे प्रत्यभिज्ञानसमुत्पादनस्थलेऽपि । (८) अभ्यासविशेषादय सहकारिण—आ० टि० । (९) पृ० ३८१ । (१०) प्रत्यक्षेण । (११) अनुमानविषयस्य—आ० टि० । (१२) पर्वतादिदेशस्यपावकस्य—आ० टि० । (१३) तर्क—आ० टि० । तुलना—“सम्बन्धमहिज्ञानविषयात् साध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुभेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् ।”—प्रमाणप० पृ० ७० । प्रमेयक० पृ० ३४३ । (१४) तुलना—“संवादे बाधवैध्व्यनिदन्धयत्वेत् स विद्यते । सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवाञ्जसा ॥ प्रत्यक्षबाधकं तावन्न संज्ञानस्य जातुचित् । तदभिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९२ । “बाधकप्रमाणान्न प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्, तद्बाधकस्यासम्भवात् । न हि प्रत्यक्षं तद्बाधकं तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसम्भवात्, साधकत्ववद् बाधकत्वविरोधात् ।”—प्रमाणप० पृ० ७० । अष्टसह० पृ० २८० । प्रमेयक० पृ० ३४४ । स्या० १० पृ० ४९६ । प्रमेयर० पृ० ३६ ।

1 न तत्र आ०, थ० । 2—कत्वं प्रती—थ० । 3—भिज्ञाने तु आ०, थ० । 4 इति चायुक्तम् थ० ।

रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञाविषये प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानम्; तद्विषये तस्याध्यप्रवृत्तोः, प्रवृत्तौ वा सवादकत्वाच्च तद्वाधकत्वम् । नैतु लूनपुनर्जातनखशेसादौ वाध्यमानं तर्त्तं प्रतीतमेव अतः कथं तत् प्रमाणमिति चेत् ? यदि नाम तत्रै तर्त्तथा प्रतीतम्, अन्यत्रै किमायातम् ? अन्यथा शुक्तिशकले रजताभासप्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वोप-  
 5 लम्भात् सत्यरजतेष्यस्यै भ्रान्तत्वप्रसङ्ग । तन्न एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापह्नवो युक्तः ।

नापि सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्यै, अनुमानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्—येनैव हि पूर्वं धूमसहितोऽ-  
 ग्निर्दृष्टः तस्यैव उचरकाल पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनात् अग्न्यनुमानोत्पत्तिर्युक्ता, नान्यस्यै  
 अन्यदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेद् सदृशम्' इति प्रतिपत्तिर्घटते, पूर्व-  
 प्रत्यक्षेण तस्यै प्रत्यक्षेण च पूर्वस्य धूमादिवस्तुनोऽप्रतिपत्तेः । नै च द्वयाऽप्रति-  
 10 पत्तौ द्विष्टं सादृश्यं प्रतिपत्तुं शक्यमितिप्रसङ्गात् । यद् द्विष्ट तद् द्वयप्रतिपत्तावेव प्रतीयते  
 यथा सम्बन्धः, द्विष्टञ्च सादृश्यमिति । ततः सिद्धा एकत्वोत्पत्तेः सिद्धिर्ना सादृश्योत्पत्तेः सिद्धिर्ना  
 च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणम् ।

एतदेवाह—संज्ञा प्रमाण चिन्तायाः 'फलस्य हेतुत्वात्' इति सम्बन्धः । अस्या-  
 पर्यायमाह—तर्त्तस्य इति । क पुनरयं तर्त्तौ नाम इति चेत् ? व्याप्तिज्ञानम् । व्याप्तिर्हि

( १ ) प्रत्यभिज्ञाविषये । ( २ ) अनुमानस्यापि । ( ३ ) तुलना—“न च लूनपुनर्जातनख-  
 शेसादिवत् सर्वत्र निविषया प्रत्यभिज्ञा ”—प्रमेयक० पृ० ३४२ । स्या० २० पृ० ४९४ । ( ४ )  
 स एवायं नखादिरिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । ( ५ ) लूनपुनर्जातनखशेसादौ । ( ६ ) स एवायं नख-  
 शेसादिरिति प्रत्यभिज्ञान वाध्यमानम् । ( ७ ) तस्मिन्नेव नखे केचो वा स एवायं नखादिरिति प्रत्यभि-  
 ज्ञानं वयं वाध्यमानमिति भावः । ( ८ ) एकत्र वाध्यमानत्वोपलम्भात् सर्वत्र वाध्यमानत्वस्वीकारे ।  
 ( ९ ) रजताभासप्रत्यक्षस्य । ( १० ) अपह्नवा युक्त इति गतेन सम्बन्धः । ( ११ ) तुलना—“सादृश्य-  
 प्रत्यभिज्ञानमेनेनैव विचारितम् । प्रमाणं स्वायम्वादादप्रमाणं ततोऽन्यथा ॥” —तत्त्वापेक्षो० पृ० १९३ ।  
 “कथञ्च प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्तिर्येनैव हि ”—प्रमेयक० पृ० ३४३ । “अनुमानानुत्पत्तिप्र-  
 मज्ञानं, येनैव हि पूर्वं धूमोऽग्ने ” —स्या० २० पृ० ४९६ । ( १२ ) प्रतिपत्ता । ( १३ ) प्रतिपत्तु ।  
 ( १४ ) जनस्य । ( १५ ) घटादिदर्शनात् । ( १६ ) धूमस्य । ( १७ ) उत्तरकालीनधूमप्रत्यक्षेण । ( १८ )  
 तुलना—“न च द्वयाप्रतिपत्तौ ”—स्या० २० पृ० ४९६ । ( १९ ) “चिन्ताज्ञानमागामिनो वस्तुन एवं  
 निष्पत्तिर्भवति अन्यथा नति, यथैव ज्ञानादित्रयसमाचिते तत्रैव परममुखावातिरन्यथा तेत्येतच्चिन्ताज्ञानं  
 मनोज्ञानमेव ।” —तत्त्वापेक्षो० पृ० ७८ । “सम्बन्धं व्याप्तिनोऽर्थाणां विनिश्चयं प्रवर्त्तते । येन  
 तर्त्तं स सवादानु प्रमाणं तत्र गम्यते ।” —तत्त्वापेक्षो० पृ० १९४ । प्रमाणप० पृ० ७० । “उपलम्भानुप-  
 लम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूढ । इदमस्मिन् सयेव भवत्यभिज्ञानं तु न भवत्येवै च ।” —परीक्षामु० ३११,  
 १२ । प्रमाणमी० ११२।५ । “उपलम्भानुपलम्भमभवत्त्रिचारीचलिनामाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्भनिमित्त-  
 मस्मिन् सयेव भवतीत्यादाकारं संविदनमूहापरनामा तर्त्तं ।” —प्रमाणप० ३।५ । ज्ञेतत्त्वां० पृ०  
 १० । “व्याप्तिज्ञानं तर्त्तं ।” —न्यायदी० पृ० १९१ । “अवयव्यतिरेकाभ्यां व्यञ्जितानं दानेनस्मरणाभ्या-  
 मपूहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धनं तर्त्तं चिन्ता ।” —रुषी० अ० पृ० २९ । “अभिज्ञानतत्त्वस्यै कारणोप-  
 पत्तिनस्मरवज्ञानार्थमूहत्वनं ।” —न्यायमू० १।१।४० । “अभिज्ञानतत्त्व सामान्यता ज्ञाने धमिति

१-भिज्ञाने विषये ध०,-भिज्ञानविषये व० । २ धूमोऽग्निर्दृष्ट व० । ३ 'यत्' नास्ति ध० ।

साध्यसाधनयोरविनाभावः । तद्ब्राहि ज्ञानं तर्कोऽभिधीयते, तत्र तस्यैव प्रामाण्यात्, ज्ञानान्तराणां तद्ग्रहणे सामर्थ्याऽसंभवतः तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः ।

एकपक्षानुबलकारणदर्शनात् तस्मिन् सभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभासः तदितरपक्षशीयित्वापादने तद्ब्राह्मकप्रमाणमनुग्रहं तान् मुखं प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कं ।”-न्यायमं० पृ० ५८६ । न्यायकलि० पृ० १३ । “एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूपं तर्कं”-न्यायली० पृ० ५४ । “व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णयति व्याप्यस्याह्यारोपाद्यो व्यापकस्याह्यारोपः स तर्कः । यथा निर्वह्नि-त्वारोपाग्निर्धूमत्वारोपः । यदि निर्वह्नि स्याग्निर्धूम स्यादिति ।”-न्यायसूत्रवृ० १।१।४० । “तर्कश्चा-पाद्यापादकयोर्व्याप्तिमूलः ।”-महावि० पृ० १३१ । “जैमिनीयास्तु भुवते-युक्त्या प्रयोगनिरूप-णमूहः । स च त्रिविधः मन्त्रसामसंस्कारविषयः । [ शावरभा० १।१।१ ]-”न्यायमं० पृ० ५०८ । “अदृष्टसम्बन्धात् परोक्षप्रतीतिं तर्कं इति लक्षणम् ।”-प्रमाणवाचिकाल० पृ० ३०० ।

(१) “सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिता”-मी० श्लो० अनु० श्लो० ४ । “नियमरूपं भीमासका”-न्याय० भा० पृ० ५६ । प्रकरणपं० पृ० ६८ । “व्याप्तिरविनाभाव इति”-प्रज्ञ० ध्यो० पृ० ५७० । “स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः ।”-न्यायसा० पृ० ५ । “साहचर्यं तु सम्बन्ध इति नो हृदयङ्गमम् । तस्मिन् सत्येव भवने न विना भवनं ततः ॥ अयमेवाविनाभावो नियमः सहचारिता ।”-न्यायमं० पृ० १२१ । न्यायकलि० पृ० २ । “तस्माद् यो वा स वाऽस्तु सम्बन्धः, केवलं यस्यामी स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेत्तर सम्बन्धीति युज्यते ।”-न्यायवा० ता० पृ० १६५ । “स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थः ।”-ता० पं० पृ० ६९१ । न्यायली० पृ० ५४ । “अनीपाधिक सम्बन्धः”-प्रज्ञ० किर० पृ० २१७ । “अनीपाधिक सम्बन्धो व्याप्तिः । यद्वा साध्यसामानाधिकरणात्सन्ताभावप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ।”-वंशे० उप० ३।१।१४ । तत्त्वचि० व्या० । “उपाधिविधुर सम्बन्धः”-सर्वद० पृ० ७ । “साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम् । यद्योक्तम्-‘व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य च तत्रैव भावः’ [ प्रमाणवा० स्ववृ० ३।१ ] इति ।”-न्यायविन्दुटी० पृ० ६४ । “द्विविधा चैव व्याप्तिः व्यापकव्याप्यधर्मतया । तत्र व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावस्तस्य व्याप्तिः, व्याप्यस्य च व्यापक एव सति भावो नाम तस्य व्याप्तिः । आभ्या यथाक्रममन्वयव्यतिरेकावुवर्ती । व्याप्यसद्भावे व्यापकस्य सत्वनियमस्य अन्वयरूपत्वान् । व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य च व्यतिरेकरूपत्वात् ।”-प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१ । “तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिर्यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते व्याप्यव्यापकधर्मतया प्रतीतेः । यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य भाव एवेति सम्बन्धः । तत्रेति सप्त-म्यर्थप्रधानमेतन्न्याधारार्थप्रधानम् धर्माणां धर्मान्तरत्वाभावात् । तेनायमर्थः-यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र व्यापकस्य भाव एवेति व्यापकधर्मो व्याप्तिः । नत्वेवमवधार्यते व्यापकस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात्, अव्यापकस्यापि मूर्तत्वादेस्तत्र भावात् । नापि तत्रैवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरीयक-त्वादेरहेतुत्वापत्तेः । साधारणश्च हेतुः स्यान्नित्यत्वस्य प्रमेयेष्वेव भावात् । यदा तु व्याप्यधर्मता व्याप्ते-विवक्षिता तदा यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव व्याप्यस्य भावो नान्यत्र । अत्रापि व्याप्यस्यैव तत्र भाव इत्यवधारणम् हेत्वभावनप्रसङ्गत्वेरेव नाश्रितम् अव्याप्यस्यापि तत्र भावात् । नापि व्याप्यस्य तत्र भाव एवेत्यवधार्यते; सपक्षदेशवृत्तेरहेतुत्वप्राप्तेः, साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात् प्रमेयत्वस्य नित्येष्व-वश्यम्भावादिति । व्यापकस्य तत्र भाव इत्यनेन चान्वय आक्षिप्तो व्याप्यस्य वा तत्रैव भाव इत्यनेन व्यतिरेक आक्षिप्तः ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१ । हेतुचि० टी० पृ० १८० । प्रमाणमी० पृ० ३८ । “सहकृतभावानियमोऽविनाभावः”-परीक्षामु० ३।१६ । प्रमाणमी० १।२।१० । (२) व्याप्तिग्रहणे तर्कस्यैव । (३) प्रत्यक्षादीनाम् । (४) व्याप्तिग्रहणे ।

ननु व्याप्तिस्वरूपस्यैवाऽसमवात् कथं तत्र तर्कं प्रमाणम् ? तथाहि—व्यति

माप्तिस्वरूपस्यैवा-  
समवात्तास्ति तर्कस्य  
प्रमाणात्मिकीति चार्वा-  
कस्य पूर्वपक्ष —  
सम्बन्धोऽर्थानाम्, सा च देशतः कालतो वा केस्यचित् केनचित्-  
स्यात् ? न तावद् देशतः, यतो व्योम्नि धूमः, भूमौ अग्निः, उपरि  
देशे वृष्टिः, अधोदेशे नदीपूरः । नापि कैलसः, न हि वृष्टिकाले नदीपूर-  
कृतिकोदयकाले रोहिण्युदयो वाऽस्ति ।

किञ्च, कस्य केनायमविनाभावः—किं सामान्यस्य सामान्येन, किं वा सामान्यस्य  
विशेषैः, उत विशेषाणां विशेषैः ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यत्वविभुत्वाभ्यां सकल  
देशकालसम्बन्धितया अग्नित्वधूमत्वयोः सुप्रसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽपि दशकालानव-  
च्छिन्ने विशेषमात्रे सामान्यस्याविनाभावः, तदवच्छिन्ने वा ? यद्यनवच्छिन्ने, तदा सिद्ध-

साधनमेव । अथ देशकालावच्छिन्ने, तदा अनुगमाभावः । नहि महानसस्यधूमसामा-

(१) तुलना— किञ्च साध्यसाधनयोः व्याप्तिः किं यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति देय-  
रूपा निरूप्यत किं वा यदा यदा साधनं तदा तदा साध्यमिति कालरूपा युगपदुभयस्वभावा वा ? —  
हेतुबिड० पृ० ४ B (२) साधनस्य साध्यस्य वा । (३) साध्यन साधनन वा । (४) तुलना—  
दग्ग्याप्तिमात्राङ्गीकारे समप्रज्ञात्रामाणिकमाय धूमगनुमानेऽपि सत्यतभिमानाऽभिमानशालिना  
क्य पृषापथमानोयते, तत्र च दशोप्याप्ते स्वप्नशायापि विभावनाभावात् । तथाहि—गगनमण्डलत-  
लावलम्बी धूमः पर्वताखवनितम्बसम्बन्धी च धूमध्वज इति क्व दग्ग्याप्तिरिति । —हेतुबिड० पृ० ४ B ।  
(५) उपरि वृष्टौ मघ अधोनदीपूरदगनावित्यनुमानः । (६) तुलना उदगतो नभश्च द्रो जलच द्रो  
दयदगनात् आसीत्पूर्वमस्मिन् दश वृष्टि उत्तरत्र तथाविधवारिपूरविलोकनात् भविष्यति वा वारि-  
वाहवृष्टिः साद्गवारिवाहविभावात् उच्यति रोहिणी कृतिकोऽप्यात्, उच्यति श्वः सविता अथत-  
नादित्योदयदगनात् उदयः मुहूर्त्तात्पूर्वपूर्वाफाल्गुनी उत्तरफाल्गुनीनामुदयोपलब्ध इत्यादि मानानाम-  
नकेषां दग्गालोभयभ्यो विप्रवृष्टानां वायुकारणपूर्वचरोत्तरचरहेतुविशेषाणां देशकालोभयं क्वापि  
व्याप्यनुपपत्तरेहेतुवप्राप्तेः । —हेतुबिड० पृ० ४ B (७) तुलना— इतोऽपि अविनाभावसम्बन्ध-  
ग्रहणानुपपत्तिः—किं सामान्ययोः सम्बन्धवधारणम आहो स्वलक्षणयोः सामान्यस्वलक्षणयोर्वा ? —  
तत्त्वोप० पृ० ६५ ८३ । तथाहि—व्याप्तिभवन्ती किं साधनसाध्यव्यक्तयोर्वाभौति उताहो साधनत्वसाध्य-  
त्वजायोर्वा आहोस्वित् साधनवत्साध्यत्वतो, किं वा साधनत्ववत्साध्यत्ववतो उत साधनवत्त्वसाध्य-  
त्वयो इति पक्षपञ्चतयी —हेतुबिड० पृ० ४ A । तथाहि—किं व्यक्तयोरथवा जाल्योस्तद्वतोर्वा  
विशेषयोः । व्याप्तिस्त्वव्यक्तं किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः । सा न व्यक्तयोस्तदानन्त्यात् जायोस्त-  
समवायः । न तद्वतोऽकनदोषान् चतुर्थोऽग्निरूपान् । —चित्तु० पृ० २३३ । (८) पर्वत-महानसादिदग्ग-  
मतीनवनमानान्कालज्ञानपक्षे अग्नादिविशेषमात्रः । तुलना— यद्यनवच्छिन्नः, तदा सिद्धसाध्यत्व-  
दशकालानवच्छिन्नानां बहुषाणिविशेषाणामतिप्रतीतत्वात् । —स्वप्न० पृ० ५०५ । (९) तुलना—  
किं चानुमानं प्रमाणमुपेत्योक्तं वस्तुतस्तु न तमानमिवाह—विशेष इति । विशेषानुगमाभावः सामान्य-  
गिद्धसाध्यता । इयान्तिोपदुत्त्वात्तत्र च नोऽनुमितिः प्रमा ॥—व्यक्तयोर्वा व्याप्तिः जात्योवा  
तदानान्तिविशेषयोर्वा धूमवत्त्वबह्निमत्त्वयोर्वा ? नाथ सर्वोपसहारासिद्धः । न द्वितीयः, तयो स्वरूप-  
भदान् धमिभन्नाच्च । न तृतीयः उक्तदोषान् । न चतुर्थः, शोषाधिकधमस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानि-  
रूपतात् । —बह्नि० वा० पृ० १४० । ग्यायस्त्रु० पृ० ६९ टि० ५ ।

1—स्वरूपासम्बन्धः । 2—व्याप्तिसम्बन्धः । 3—‘उत विशेषाणां विशेषः’ नास्ति व० ।

4—नित्यविभुत्वात्—व० । 5—पक्षे देय-जा० ।

न्यस्य पर्वतस्थेन अग्निविशेषेणाऽनुगमोऽस्ति, पर्वतस्थस्य वा महानसस्थेन । नापि विशेष-  
पाणां विशेषैर्नियमः; स हि दृष्टानां दृष्टैः, अदृष्टानामदृष्टैः, दृष्टानां वा अदृष्टैः स्यात् ?  
यदि दृष्टानां दृष्टैः; तदा सिद्धसाधनम्, अपूर्वव्यक्तिदर्शने च अनुमानानुपपत्तिः । अथ  
अदृष्टानामदृष्टैः; तत्रापि सम्बन्धग्रहणाभावादनुगमाभावाच्च कथमनुमानम् ? नापि दृष्टा-  
नामदृष्टैः; पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् ।

किञ्च, अविनाभावः सम्बन्धः, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वकः, सम्बन्धिनौ च द्वौ द्वौ  
विशेषौ, अतः कथं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिर्गृहीतुं शक्यो ?

किञ्च, अयमविनाभावशब्दः साध्याभावे साधनाभावं वदतीति व्यतिरेकमात्रवचनः,  
न सम्बन्धवचनः ।

किञ्च, 'अग्न्यभावे धूमो नोपपद्यते' इति धूमानुपपत्तेः अग्न्यभावो विशेषणम् ।  
सः पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वा स्यात् । पारमार्थिकत्वे अविद्यमानत्वात् धूमस्य  
न र्त्तदाश्रिता व्याप्तिर्गृहीतुं शक्या, नहि अगृह्यमाणे आश्रये<sup>१</sup> तदाश्रितं गृहीतुं शक्यमति-  
प्रसङ्गात् । अपारमार्थिकत्वे तु उपाधेः<sup>२</sup> तदुपहितार्थं धूमानुपपत्तेरपि अपारमार्थिकत्वं  
स्यात्, तथा चाऽनुमानस्यापि अपारमार्थिकत्वमेव आयातम् । अथैवमुच्यते-अग्न्य-  
भावश्चेद् धूमसद्भावस्यानुपपत्तिः, अग्न्यभावस्य धूमाभावेन व्याप्तत्वात्; तदप्यनुप-  
पन्नम्; विद्यमाना गृहीता च व्याप्तिः अनुमानाङ्गम् न प्रसज्यमाना, तस्याः सत्त्वे-  
नाप्यनिश्चितत्वात् । संभावनाज्ञानं चैतर्त्तं, न च तद् वस्तुपरिच्छेदकम् यथा 'भूमिश्चे-  
न्नाभविष्यद् अपतिष्यन् पर्वताः' इति ।

किञ्च, एकस्य कस्यचिदग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते, सर्वस्य वा ? न तावदेकस्य;  
अस्याभावेऽपि अग्न्यन्तरे धूमसद्भावस्योपपद्यमानत्वात् । नापि सर्वस्य; उपहितग्रहणस्य  
उपाधिग्रहणमन्तरेणाऽसंभवात् । धूमानुपपत्तेश्च अशेषान्यभाव एवोपाधिः, न चासौ

(१) प्रत्यक्षसिद्धे प्रत्यक्षमिदस्य अविनाभावे सिद्धेऽपि न किञ्चित्फलम्, साध्य-साधनयो  
प्रत्यक्षत्वात्, तथा च नानुमानप्रामाण्यमिति भाव । (२) अपूर्वव्यक्ती अविनाभावग्रहणाभावात् नानु-  
माप्रवृत्ति । (३) अप्रत्यक्षेण सह अविनाभावग्रहणासंभवात्, संभवेऽपि अनुगमाभाव । (४) अपि तु  
यो द्वौ सम्बन्धिनौ महानसीयधूमानी प्रत्यक्षविषयो स्याताम् तयोरेव सम्बन्धो गृहीत स्यात् न सकलसा-  
ध्यसाधनव्यक्तीनाम् । (५) अग्न्यभावस्येति शेष-आ० टि० । (६) धूमाश्रिता । (७) धूमलक्षणं ।  
(८) व्याप्तिस्वरूपम् । (९) अग्न्यभावरूपविशेषणस्य । (१०) अग्न्यभावविशिष्टाया । (११) संभा-  
व्यमाना । (१२) संभाव्यमानाया व्याप्ते सत्त्वमपि अनिश्चितमेव । (१३) 'अग्न्यभावश्चेत् स्यात्  
धूमसद्भावस्यानुपपत्ति स्यात्' इत्याकारक पूर्वोक्तं ज्ञानम् । (१४) कस्यचिदेकस्य अग्नेरभावेऽपि  
'अशेषान्यभावविशिष्टो धूमाभाव' इत्याकारकविशिष्टग्रहणस्य अनुपपत्तेरिति भाव । (१५) विशिष्ट-  
आ० टि० । (१६) अशेषान्यभावरूपविशेषण ।

१-पत्तेः श्र० । २ 'अय' नास्ति आ० । ३ स्वाश्रये श्र० । ४ उपाधिः श्र०, व० । ५-हित-  
त्वात् घू-व० । § एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । ६-माधिकत्वं स्यात् श्र० । ७-पत्तेः श्र० ।

सर्वाग्निष्वगृहीतेषु प्रहीतुं शक्यते, अभावग्रहणस्य प्रतियोग्याश्रयग्रहणसद्व्यपेक्षत्वात् ।

अपि<sup>१</sup> च क्वचिद्गन्धैर्भावाभावेऽपि<sup>२</sup> धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः, अतो नाग्न्यभावे धूमभावविरोधस्य उपाधिः, किन्तु धूमाभाव एव । अतो न व्याप्ति-  
विचार्यमाणा घटते, तत्कथं तद्ग्राहिणः तर्कस्य तद्व्यभवानुमानस्य वा प्रामाण्यम् ? अस्तु  
चा व्याप्तिः; तथापि अविनाभावे सत्यपि<sup>३</sup> न धूमाद् वह्निपैङ्गल्यमनुमीयते वह्नेरेव धूमेन  
अनुमीयमानत्वात् । तथा नियतत्वाविशेषेऽपि धूम एव गमको न तद्गताः श्या-  
मत्वादय इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘व्याप्तिस्वरूपस्य’ इत्यादि; तदसमीचनम्;

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं यतः स्वरूपप्रयुक्तस्याऽऽद्यभिचारस्य व्याप्तिव्यतिज्ञानात् कथं तस्याः  
१० तर्कस्य पृथक् प्रामाण्य- स्वरूपासंभवः ? स्वरूपं हि साध्यसाधनयोः स्वधर्मकलापकलितम्  
व्यवस्थापनम्— अग्नित्वं धूमत्वञ्च, तद्धि अन्यतो देशकालाकारादेर्व्यावर्त्यं प्रकर्षेण  
सम्बन्धम् आत्मन्येव योजयति । ‘मंदधीनामेव व्याप्तिं बुद्ध्यस्व बुद्ध्यस्व’ इत्यात्म-  
सम्बन्धित्वेनैव व्याप्तिं व्यवस्थापयत् स्वप्रयुक्तामेव व्याप्तिं बोद्धारं बोधयति ।

यदुक्तम्—देशतः कालतो वाऽविनाभावो न संभवति’ इति; तदप्येतेन प्रत्युक्तम्;

१२ तद्वतः तद्वता अविनाभावस्य निर्वाधयोधाधिरूढप्रतिभासत्वात् । अव्यभिचारिणा हि

(१) यस्याभाव त्रियते स प्रतियोगी यथा अरोपाग्न्यभावे कर्तव्ये अरोपाग्निं प्रतियोगी,  
यस्मिन् अभाव त्रियते स आश्रय, यथा त्रिकले त्रिलोके च अरोपाग्न्यभावे प्रस्तुते कालत्रय त्रिलो-  
कश्च आश्रय । “गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानस नास्तिताज्ञानं जायतेऽज्ञानपे-  
क्षया”—[ मी० श्लो० अभा० श्लो० २७ ] इत्यभिधानात् । ( २ ) तुलना—“अपि च यत्सद्भाव  
एव यस्य निवृत्ति तेनैव तस्य विरोध, तदिह धूमाभाव एव सति धूमस्य निवृत्तिर्दृश्यत इति धूमाभा-  
वेनैव अस्य विरोधो नत्वग्न्यभावेन । केवलाङ्गाराद्यवस्थायाम् अग्न्यभावाभावेऽपि धूमनिवृत्ते प्रतीय-  
मानत्वात् ।”—स्या० १० पृ० ५०५ । ( ३ ) अङ्गारावस्थापनाग्निमन्त्रिर्धूमप्रदेशे अग्न्यभावाभावेऽपि-  
अग्निसद्भावे सत्यपि । ( ४ ) यदि हि अग्न्यभाव धूमाभावस्य उपाधि स्यात् तदा ‘उपाध्यपाये  
उपाधिमनोऽभावात्’ इति न्यायेन अङ्गारावस्थाग्निमत्प्रदेशे अग्न्यभावस्य अभावो विद्यते अतस्तत्र  
धूमाभावस्यापि अभाव प्राप्नोति, न च तत्र धूमाभावस्याभाव धूमसद्भावरूप समस्ति । अन  
नाग्न्यभाव धूमाभावस्य विनोपणम् अपि तु धूमनिवृत्तिरेव । ( ५ ) तर्कगृहीनव्याप्तिवन्नोद्भूत ।  
( ६ ) तथा तेन अविनाभावप्रकारेण सम्बद्धत्वे समानेऽपि । ( ७ ) पृ० ४२० प० १ । ( ८ ) तुलना—  
“अविनाभावस्य साध्याव्यभिचारित्वस्य”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३११ । “स्वरूपप्रयुक्तास्याव्यभिचारस्य  
व्याप्तिव्यतिज्ञानात्”—स्या० १० पृ० ५०६ । जंतकंभा० पृ० १० । ( ९ ) धूमत्वमग्नित्वञ्च ।  
( १० ) अग्नित्वधूमत्वप्रयुक्तमेव । ( ११ ) पृ० ४२० प० २ । ( १२ ) सामान्यविनोपवतो धूमादे—आ० टि० ।  
( १३ ) सामान्यविनोपवता अग्न्यादिना—आ० टि० । तुलना—“धूमो हि यत्र यत्रेति सामान्येनैव गृह्यते ।  
न पुन पत्रैरेऽस्ये गृहे वेत्तेवमिष्यते ।”—न्यायमं० पृ० १११ । “दिग्गताः परिपत्य स्वरूपमात्रेणैव  
धूमादरग्न्यादिना महर्गाविनाभावस्य निर्वाधयोधाधिरूढत्वात् ।”—स्या० १० पृ० ५०६ ।

व्याप्ति । न च §देशकालयोरव्यभिचारित्वम्, विवक्षितः देशकालयोरभावेऽपि धूमादे-  
रुपलम्भात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘कस्य केन व्याप्ति’ इति, तत्र यस्य येन अव्यभिचार तस्य  
तेन व्याप्ति, सामान्यविशेषवतश्च धूमादे सामान्यविशेषवताऽग्न्यादिनाऽव्यभिचारात्  
तस्य तेनैव व्याप्ति, अतश्च उक्तदोषानवकाश । गम्य हि व्यापकम्, गमक व्याप्यम् । 6  
न च केवलौ सामान्यविशेषो गम्यगमकरूपतया अनुभूयेते, जात्यन्तररूपस्वैर्धै  
उभयात्मन तैर्द्रूपतयाऽवभासनात् ।

यदप्यभिहितम्—‘अविनाभाव सम्बन्ध, स च सम्बन्धिग्रहणपूर्वक’  
इत्यादि, तदप्यनेनैव प्रत्याख्यतम्, सामान्योपलक्षितविशेषयोर्व्याप्ते सर्वोपसहारेणैव  
सम्भवात् । नहि तत्र आनन्त्यादिदोषोऽवकाश लभते । 10

यच्चोच्यते—‘अविनाभावशब्दो व्यतिरेकमात्रवचनो न सम्बन्धवचन,  
तदप्युक्तिमात्रम्, यतोऽविनाभावशब्दो न व्यतिरेकमात्रे पर्यवस्यति घटाद्यभावेऽपि  
तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु नियमे । स च नियमं तैर्द्रूपोपपत्ति-अन्यथानुपपत्तिप्रकाराभ्या  
व्यवस्थित, अत तावुभावपि अविनाभावशब्देन उच्येते, ‘यत्र यत्र धूम तत्र तत्राग्नि,  
यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति’ इति । ननु ‘यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति’ 15  
इत्येतत् कुतोऽवगम्यते इति चेत् ? अग्न्यभावे धूमस्य नियमेन अप्रतीयमानत्वात्  
तैर्द्रव्यावनियत एवाऽसौ, अन्यथा यथा धूमाभावेऽपि क्वचिर्द्विग्निरुपलभ्यते तथा

(१) तुलना—‘यो यथा नियतो यन यादशन यथाविध । स तथा तादृगस्यैव तादृशोऽन्यत्र  
बोधक ॥’—याव० मा० पृ० ५७ । (२) पृ० ४२० प० ६ । (३) तुलना— व्याप्यस्य गमकत्वञ्च  
व्यापक गम्यमिष्यत । यो यस्य दशकालाभ्या समो यूनोऽपि वा भवेत् ॥ स व्याप्यो व्यापकस्तस्य  
समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा । तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते ॥ न ह्ययथा भवत्यपा व्याप्य  
व्यापकता तयो ।’—मी० श्लो० अनु० श्लो० ४-६ । (४) गवया सामान्यविशेषाभ्या विलक्षणजा  
तिकस्य कचञ्चिदुभयरूपस्य । इत्यथ । (५) गम्यगमकरूपतया । (६) पृ० ४२१ प० ६ । (७)  
धूमत्वानित्वविशिष्टधूमाम्निव्यक्तयो । तुलना— सामान्यवत्तोरविनाभावग्रहणान्युपगमात् । यद्यपि  
अग्निविशेषा धूमविशेषानन्त्यनावस्थिता तथापि तेष्ववस्थितमग्नित्व धूमत्वञ्च सामान्यमुपग्राह  
कमस्तीति तदुपग्राहकवसान भूयोदशनबलादग्निधूमयोर्देशादिव्यभिचारेऽप्यव्यभिचारग्रहणम्—प्रश०  
व्यो० पृ० ५७० । प्रश० ब० ६० प० २१० । (८) यावान् कश्चिद्धूम स कालातरे दशातरे च  
अग्निज मेव अनग्निजमा कदापि न भवतीत्यव प्रकारेण । तुलना— सर्वोपमहारवती व्याप्ति—सकभा०  
मी० पृ० १९ । (९) अननुगमदेशादिव्यभिचारादय । (१०) पृ० ४२१ प० ८ । (११) अभाव  
सामान्य । (१२) तुलना— अविनाभाव एव हि नियम साध्य विना न भवतीति कृत्वा ।—  
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७० । (१३) तुलना— हनोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।  
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिभवेदिति ।—न्यायाव० श्लो० १७ । पगीसामु० २।९५ । प्रमाणनय०  
३।२८ । प्रमाणमी० २।१।४ । (१४) अग्निसदभाव । (१५) धूमस्य अग्निसदभावनियतत्वाभावे,  
अग्नेर्वा धूमसदभावनियतत्वे । (१६) तप्तायोगोलकादी ।

§ एतदतगत पाठो नास्ति आ० । 1 जात्यन्तररूपैव व० ।

अग्न्यभावे धूमोऽपि क्वचिदुपलभ्येत । यस्य येन विना नानुपपत्तिर्न स तेन नियतः यथा धूमाभावेऽप्युपपद्यमानोऽग्निर्न धूमेन नियतः, अग्निना विनाऽनुपपत्तिश्च धूमस्य, तस्मादसौ तन्नियत इति ।

यदप्युक्तम्—‘अग्न्यभावस्य पारमार्थिकत्वे धूमस्याविद्यमानत्वान्न तदाश्रिता व्याप्ति-  
५ प्रहीतु शक्या’ इति, तदप्यसमीचीनम्; यतो यत्रैव देशे काले वा वास्तवोऽग्न्यभावः तत्रैव धूमस्य अविद्यमानत्वं न सर्वत्रेति कथं तदाश्रिता व्याप्तिः प्रत्येतुमशक्या ?

यदपि—‘एकस्याग्नेरभावे धूमो नोपपद्यते सर्वस्य वा’ इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; येतो व्याप्तिः सर्वाक्षेपेण प्रतीयते ‘यः कश्चिद् धूमः स सर्वोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः’ इति, न पुनः एकैर्धर्म्युल्लेखेन ‘पर्वते गृहे अरण्ये वा धूमोऽग्न्यभावेऽनुपपन्नः’ इति । तथा  
१० तत्प्रतिपत्तौ अनन्तेनापि कालेन व्याप्तिप्रतिपर्चने स्यात् धर्मिणामानन्त्यात् । अनुमान-  
वैफल्यप्रसङ्गाच्च, अग्निधूमवतामशेषाणां धर्मिणां व्याप्तिग्रहणकाल एव गृहीतत्वात् ।

न च सर्वाग्निध्वगृहीतेषु धूमानुपपत्तोर्विशेषणभूतः तदभावो प्रहीतुमशक्य इत्यभिधातव्यम्, यत तदभावः तदन्यदेशादिस्वभावः, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य,  
१५ तुच्छस्वभावाऽभावस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । स चाग्निलग्निविविक्तो देशादि. प्रत्य-  
क्षत एव प्रतीयते । व्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणसव्यपेक्षः न स्वरूपप्रतिपत्तिः,  
कथमन्वैथा घटादेरपि प्रतिपत्ति स्यात् तैस्वरूपस्यापि त्रैलोक्यविलक्षणतया त्रैलोक्या-  
प्रतिपत्तावप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ?

यच्च—‘अग्न्यभावाभावेऽपि क्वचिद् धूमाभावे धूमसद्भावस्य विरोधो दृष्टः’ इत्याद्य-  
भिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; अग्न्यभावे सति धूमसद्भावस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वात्  
२० तद्विरोधे<sup>१</sup> स्वाभावस्येव अग्न्यभावस्यापि निमित्तात्वोपपत्तेः । यद्वै यस्मिन् सति नियमेन  
निवर्त्तते तत्तद्विरोधनिमित्तम् यथा उष्णस्पर्शसद्भावे शीतस्पर्शः, नियमेन निवर्त्तते  
चाग्न्यभावे धूमसद्भावः, तस्माद् धूमविरोधस्यासौ<sup>२</sup> निमित्तमिति । ननु अग्न्यभावे

(१) श्रु० ४२१ व० ११ । (२) महाह्वदादी । (३) धूमाश्रिता । (४) श्रु० ४२१ व० १९ ।  
(५) तुलना—‘तत्र सर्वस्यनि धूम, यतो धूमानुपपत्ति सर्वाक्षेपेण प्रतीयते यावान् कश्चिद् धूम स  
सर्वं सर्वस्याग्नेरभावेऽनुपपन्नः’—स्या० १० पृ० ५०६ । (६) प्रतिनियतधर्मव्यक्तिनिर्देशेन व्याप्ति-  
प्रतीको आनन्त्य बाधकम् तदाह तथेति । (७) अग्न्यभाव—आ० टि० । (८) अग्न्यभाव—आ० टि० ।  
तुलना—‘यतोऽग्न्यभाव तदन्यदेशादिस्वभाव भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य ।’—स्या० १० पृ० ५०७ ।  
(९) तस्माद्विषयितवस्तुनो वल्लेख्यवशा पर्वतादिस्तद्ग्रहणस्वभाव इति—आ० टि० । (१०) महाह्व  
दादि । (११) अत्र घटाभाव अत्र अग्न्यभाव इति व्यवहारः । (१२) स्वरूपप्रतिपत्तिरपि यदि  
प्रतियोगिग्रहणापक्षा स्यात्तदा । (१३) घटस्वरूपस्यापि । (१४) श्रु० ४२२ प० २ । (१५) धूमविरोधे ।  
(१६) धूमाभावस्येव । (१७) तुलना—‘तस्मात् यत्सद्भावे यस्य नियमेन निवृत्ति तेन तद्विरुद्धमेव,  
अग्न्यभावे च सति धूमस्य नियमेन निवर्त्तमानत्वान् धूमाभावेनेव तेनापि तस्य विरोधः । तथाहि  
यस्मिन् सति यन्नियमेन निवर्त्तते’—स्या० १० पृ० ५०७ । (१८) अग्न्यभाव—आ० टि० ।

१-धर्मोत्तरे-व० । २-ग्रहीतु दास्य-व० । ३-क्ष एव व० । ४-तद्विरोधित्वभावस्येव अग्न्य-  
सभावस्या-श्रु० । ५-द्वयैव व० ।



तत्काले तद्ब्राह्मकाभावश्च तत्कारणाभावात् सिद्ध । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणम् प्रैत्यक्षानु-  
पलम्भौ । न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्त । न च प्राहकाभावात् तदा व्याप्तेरप्यभावः ,  
तदा प्राहकाभावस्य अन्यथासिद्धत्वात्, अन्यथा दूरे रूपदर्शनकाले रसस्याप्यभाव  
स्याद्विशेषात् । तदा व्याप्तेरभावे च कथं पश्येत् प्रतिभासेत खपुष्पवत् ?

अथ अन्यव्यतिरेकज्ञानं प्रतिभासेत, ननु अन्यव्यतिरेकाभ्यां सां किं जन्यते,  
ज्ञाप्यते वा ? न तावज्जन्यते, 'तौ हि प्रमाणम्, न च प्रमाणं प्रमेयमुत्पादयति । अथ  
ज्ञाप्यते, तत्रापि किं तत्काले सती सा ज्ञाप्यते, प्रागपि वा ? तत्काले चेत्, न, अन्यव्य-  
व्यतिरेकज्ञानं एव व्याप्ते सत्त्वे कारणाभावान् । अथ प्रागपि सती ज्ञाप्यते, सिद्धं तर्हि  
प्रथमदर्शनकालेऽपि व्याप्ते सत्त्वमिति कथं सा तद्ब्राह्मकतर्कश्च अपहूयेत ? प्रतीयमा-  
नस्याप्यपहूवे रूपादे तद्ब्राह्मकज्ञानस्य वाऽपहव स्यात् । तत् सिद्धं तर्कं प्रमाणम् ।

एतदेवाह—चिन्ता प्रमाणम् अभिनिर्मोघस्य फलस्य हेतुत्वान् । अस्य पर्यायमाह—  
अनुमानादेरिति । किन्नाम इदमुक्तलक्षणं प्रमाणम् ? इत्यत्राह—श्रुतज्ञानम् इति । कुत एतत् ?  
शेषम् अस्पष्टयत्, 'शब्दानुयोजनात्' इत्येतन्मध्ये करणात् अनेन च संस्र्धयते ।  
तद्योचनान् यत् पूर्वम् अर्वाग् अस्पष्टम् तद्योचनान् च यन्त्रेपमस्पष्टं तत् सर्वं श्रुतज्ञानमिति ।  
तच्च अनेकप्रमेदम् शब्दयोचनान्वितेतराऽस्पष्टज्ञानव्यक्तिभेदानामानन्त्यादिति ।

ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः, प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा  
तस्या प्रतीतिमिद्वे इत्याशङ्का निराकुर्वाह—

अधिकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् मस्मप्रतीयते ॥ ११ ॥

नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणांतरमाज्ञसंम् ।

(१) प्रथमं घुमानिदर्शनवात् । (२) तत्कस्य । 'तुलना—व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणमुपलम्भानु-  
पलम्भौ न च प्रथमदर्शनकाले तौ स्त ।'—स्या० १० पृ० १०८ । (३) साध्यमाधनमद्भावविषयकं  
ज्ञानं प्रत्यक्षमा साध्याभावमाधनाभावगोचरस्य ज्ञानमनुपलम्भम् । (४) प्रथमदर्शनकाले । (५)  
अप्रयोक्तव्यत्वात् । (६) यदि ब्राह्मकाभावाद् वस्तुनोभावः स्यात्तदा । (७) रसप्राहकस्य रासन  
प्रत्यक्षं अभावात् । (८) प्रथमदर्शनसमय । (९) भूयोर्ज्ञानान्तरम् । (१०) उपलम्भा  
नुपलम्भाभ्याम् । (११) व्याप्ति । (१२) अव्यतिरेकप्राप्तिगो उपलम्भानुपलम्भादेव अथ  
अव्यतिरेकप्राप्तेन विवक्षितो विषयविषयस्य विषयव्युत्पत्तारान् । (१३) अव्यतिरेकज्ञानं ।  
(१४) शानुयान्प्रत्यक्षात् । (१५) एतन्त्रेण । (१६) निविकल्पकप्रत्यक्षम् । (१७) अविनाभाव (१८)  
व्याप्तिपहूनात् पूर्वमन्वयमाध्यात्मज्ञानम् । (१९) तर्कान्यम् । (२०) लिङ्गं साध्यमाधनपारविनाभावः ।  
विचिन्तयति । न मस्मप्रतीयते न सामान्येन ज्ञाप्यते । कथं ? अधिकल्पधिया निविकल्पकप्रत्यक्षम्  
मोक्षाभिप्रायं मायान् विचिन्तयति म सर्वोयत्निर्जमेव अतन्निर्जमा वा न भवतीत्यतश्चिन्तयति  
मन्वयस्य अथवा मविकल्पकप्रत्यक्षम् । नानुमानान् नवयैवागिडरान् व्याप्तिपहूनात्पूर्वमन्वयानुमा  
नाप्यतस्य । अनुमानान्त्वगतमन्वयविनाभावनिर्जमं ज्ञानवस्थाप्रगङ्गान् । प्रथमानुमानान् द्वितीयानुमान

१-भावे तदा प० । २-भावे प०, द० । ३-हस्तप-प० प० । ४ अथवा भा० ।

५ तन्वयस्य प० ।

विद्युतिः—नहि प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावक-  
स्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्ते-  
रविचारकत्वात् । नाप्यनुमानान्तरम्; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य  
लिङ्गिना व्योम्नेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम । "तन्न अप्रत्यक्षम् अनुमानव्य-  
तिरिक्तं प्रमाणम्" [ ] इत्ययुक्तम्; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् ।

लिङ्गं हि साध्येन साधनस्य अविनाभावोऽभिधीयते, तस्मिन् सत्येव लिङ्गस्य  
लिङ्गत्वोपपत्तेः । तस्य प्रतिपत्तिं किं प्रत्यक्षात्, अनुमानतो वा स्यात् ? प्रत्यक्षाच्चेत्,  
किम् अस्मदादिसम्बन्धिन, योगिसम्बन्धिनो वा ? प्रथमपक्षे किं स्वसंवेदनात्, इन्द्रि-  
यजात्, मानसाद्वा ततोऽसौ प्रतीयेत ? न तावत् स्वसंवेदनात्, तस्य स्वरूपमात्रविष-  
यतया वहिरर्थवार्त्तानभिज्ञत्वात् । इन्द्रियमन प्रभवादिपि प्रत्यक्षात् सविकल्पात्, 10  
निर्विकल्पाद्वा अविनाभाव प्रतीयेत ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्न, सविकल्पकप्रत्यक्षस्य  
सौगतैः प्रामाण्यानभ्युपगमात् । तदभ्युपगमेऽपि न तत्र समर्थम्, इत्याह—'न प्रत्यक्षम्'  
इत्यादि । प्रत्यक्षं सौगतयौगकल्पितं मानसेन्द्रियलक्षणम् तन्न 'यावान् कश्चिद् धूमः  
कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति इयतो व्यापारान्  
कर्तुं समर्थम् । कुत एतत् ? सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः । सन्निहितं अविप्रकृष्ट- 15  
देशकालो यो विषय अग्निधूमादि साध्यसाधनव्यक्तिलक्षण तस्य बल सामर्थ्यं तेन  
उत्पत्तेः । एतेन निर्विकल्पकमपि न तत्र तत्र समर्थमिति प्रतिपत्तव्यम् । अत्रैव  
हेत्वन्तरमाह—अविचारकत्वात् इति । न विद्यते विचार 'यावान् कश्चिद् धूमः स  
सर्वोऽग्नेरेव कार्यं नार्थान्तरस्य' इति परामर्शो यस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य तस्य भावात्  
तर्त्वान् । चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । कथमस्याऽविचारकत्वमिति चेत् ? 20

व्याप्तिनिषेध इति चेत् सोय परस्पराश्रयदोषः । तत्रानुमानमपि व्याप्तिग्राहकमिति तदग्राहकं प्रमा-  
णान्तरं तर्काल्प्यम् आञ्जसं पारमार्थिकं न मिथ्याविकल्पात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अयथा अनुमानप्रामा-  
ण्यायोगात् ।"—लघी० ता० पृ० ३० ।

(१) तुलना— यदाह नहीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थमिति ।—प्रमाणवा० स्ववृ० टी०  
१।४१ । 'न हि वस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षं क्वचित् कदाचिद् भवितुमर्हति सन्निहितवि-  
षयबलोत्पत्तरविचारकत्वात् ।'—सिद्धिवि०, टी०पृ० १५६। अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११९ । यथाहु-  
न हीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।—शा० भा० भासती  
पृ० ७६६। न्यायवा० ता० पृ० १३७ । (२) उद्धृतमिदम्—प्रमाणस० पृ० १०१ । (३) तुलना—'सन्निहित-  
विप्रकृष्टयोः साकल्यनदत्तया नेदत्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य तत्र पर धारणम् ।'—सिद्धिवि० टी०  
पृ० २९३ A (४) अविनाभावे । (५) अविनाभावः । (६) सविकल्पकप्रत्यक्षम् अविनाभावग्रहणं । (७)  
प्रत्यक्षम्—आ० टि० । (८) सन्निहितविषयबलोत्पत्तेः—आ० टि० । (९) व्याप्तिग्रहणे—आ० टि० ।

1 इति पत्तो ज० वि० । 2—नुमात्त—ई० वि० । 3 व्यतिरसि—ज० वि० । 4 प्रतीयेते  
थ० । 5 तत्वाच्च चशब्दो आ०, व० ।

कस्यचिन् परोक्षत्वात्, अपरस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेन अनवस्थानात्, अन्यस्य क्षणिकत्व-  
घदकिञ्चित्करत्वान् ।

अत्र यौगा ब्रुवते— साध्यसाधनयोरविनाभावः प्रत्यक्षेणैव प्रतीयते । प्रथमप्रत्य-

प्रत्यक्षेणैव अविना-  
5 भावस्यावगतिरिति प्रतिभासत एव । न च तत्राप्यन्यतोऽपि, अन्यत एव वेति संशयवि-  
यौगाना पूर्वपक्ष — पर्ययौ स्तः; 'अग्नेरेव अयम्' इति तत्सम्बन्धित्वेनैव अर्थोऽवसायान् ।  
इत्थं प्रथमप्रत्यक्षेण व्याप्तौ प्रतिपन्नायाम् अन्वयव्यतिरेकौ भूयोपलभ्यमानौ तस्यैव  
ज्ञानस्य दाढ्यमुत्पादयत । भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसद्वृत्तेन्द्रियप्रभवं वा प्रत्यक्षं  
व्याप्तिं प्रतिपद्यते । ननु यदि प्रथमप्रत्यक्षेणैव व्याप्तिः प्रतीयते तर्हि किमित्यमनेन नियत  
10 इत्येवंरूपा तदानीमेव व्याप्तिप्रतीतिर्नोत्पद्यते इति चेत् ? सामर्थ्यभावान् । अनुसन्धानेन

(१) मीमांसकस्य, ऐन्द्रियस्य मानसस्य — आ० टि० । (२) नैयायिकस्य । (३) सौगतमते,  
स्वलक्षणस्य—आ० टि० । (४) यथा हि क्षणिकादौ निर्विकल्पक सञ्जातमपि न तन्निश्चिनोति अत  
क्षणिकादौ अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक तथैव नीलाद्यशेषेऽपि । (५) "लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्य प्रत्य-  
क्षम्"—न्यायवा० पृ० ४४ । (६) धूमैऽपि । (७) अथ धूम किमग्नेर्जात उत अन्यस्मादपि करणान् इति  
सहाय । (८) धूमोऽथम् अग्निव्यतिरिक्तादन्यस्मादेव वस्माच्चित् कारणाज्जात इति विपर्यय । (९)  
अग्निस्मन्धित्वेनैव । (१०) धूमस्य । (११) "भूयोदर्शनगम्या च व्याप्ति सामान्यधर्मयो । जायते  
भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयो ॥"—मी० श्लो० अनु० श्लो० १२ । "न ह्यन्यथापपत्ति प्रत्यक्षम-  
मधिगम्या । वार्याव्यभिचारसमाधिगम्या हि सा । अव्यभिचारश्च असकृद्दर्शनपूर्वक ।"—बृहती० पृ०  
१११ । बृह० पं० पृ० ९६ । प्रक० पं० पृ० ७० । ग्याय० मा० पृ० ७२ । ' भूयोदर्शनबलादग्निधूम-  
योर्दत्तादिव्यभिचारोऽप्यव्यभिचारग्रहणम्"—प्रश० ध्यो० पृ० ५७० । "तस्मादभिज्ञानमधिभेदतत्त्ववत्  
भूयोदर्शनजनितमस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीना वल्लभादिभि स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पा-  
दयाम । एवं मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तगण्येव यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्ब-  
न्धग्रहणे प्रमाणानुधेयव्यानि ।"—न्यायवा० ता० पृ० १६७ । ता० पृ० ५० ६९७ । ' तदनेन अन्वय-  
व्यतिरिक्तादेव भूयोदर्शनसहचारिणी तदग्रहणोपाय इति दर्शितम् । भूयोदर्शनं हि तज्ज्ञानजनितसंस्कार-  
सहितमिन्द्रियमभ्युत्थे । मणिभेदतत्त्वञ्चाय इच्छुटमुदाहरणम् । तथाहि—मणिपर्येषैविपर्ययस्तत्प्रवृत्तार-  
विपर्ययो भवति धारयितु तत्तत्फलसम्पादवत्त्वोद्योयते ते मूढमविशेषा परीक्षकेण भूयोभिरेव दर्शनैर-  
धीयन्ते तथात्रापि । प्रथमं हि वाक्यतान्त्रियश्रुदामाद्य तत सातत्योर्ध्वगमनविशेषनिश्चयाय तदवचो-  
पाधिनिरासाय ।"—प्रश० किर० पृ० २९५ । "सहभावदर्शनजसंस्कारसहकारिणा निरस्तप्रतिपक्षगत्वेन  
चरमप्रत्यक्षेण धूमवामान्यस्य अग्निमामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभाव निश्चित्य इदमनेन नियतमिति  
नियमं निदिचनोति । यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीत तथापि न नियमग्रहणम् । न हि सहभाव-  
मात्राश्रियम् अपि तु निरुपाधिकसहभावात् । निरुपाधिकत्वञ्च तस्य भूयोदर्शनाभ्यामावज्ञेयमित्येतेन  
भूय महभावघट्टणबलमुवा मविषयवत्प्रत्यक्षेण सौज्यवमीपते ।"—प्रश० कन्द० पृ० २०९ । "व्यभि-  
चारज्ञानविरहमहृत्त्वं सहचारदर्शनं व्याप्तिप्राप्तकम् । ज्ञानं निश्चय, रक्षा च । सा च क्वाचिदुपाधि-  
मन्देशान्, क्वचिद्विशेषादर्शनमहितसाधारणधर्मदर्शनात् । तद्विरहश्च क्वचिद्विषयवाचकतन्त् क्वचिन्  
स्वत मिद एव ।"—तत्त्ववि० अनु० पृ० २१० ।

1—भासमानान् व० । 2 न तत्रा—अ० । 3 तत्राप्यतोऽप्यन्य एवेति आ०, तत्राप्यन्यत एवेति व० ।

हि व्याप्तिरुल्लिख्यते । अनुसन्धानञ्च सकृदेवेन सहितस्यैव ग्रहणे अनु पश्चाद् अपरेण सहितस्यैव ग्रहणम् । एतच्च भूयोदर्शनाऽदर्शनैरेव उत्पद्यते । अन्वयव्यतिरेकौ च प्रयोजकसन्देहव्युदासार्थौ युक्तौवेव । अनेकसहचारिदर्शने हि प्रयोजके सन्देह—'किं धूमत्वप्रयुक्तोऽयं नियमः, किं वा तार्णत्वश्यामत्वादिप्रयुक्तः ?' इति । तत्र तार्णत्वादयः सम्बन्धिनो व्यभिचारिणः, श्यामत्वादयस्तु धूमापेक्षाः, इति धूमस्य अग्निसम्बन्धित्वे धूमत्वमेव प्रयोजकम् । तस्मिन् सति न कदाचिदग्नित्वं व्यभिचरतीति भूयोदृष्टान्त्रय-व्यतिरेकवतो निस्फारिताक्षस्य अनुपरतेन्द्रियव्यापारस्य अपरोक्षाकारतया उपनायमानत्वान् विंशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययवत् प्रत्यक्षमेवेदं व्याप्तिज्ञानमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्षेणैव अविनाशान् प्रतीयते' इत्यादि,

तत्र किम् ऐन्द्रियम्, मानसं वा प्रत्यक्षं तद्ग्रहणे प्रवर्तते ? न तावद् 10  
व्यप्तिग्रहणार्थं तत्र ऐन्द्रियम्, तद्धि येनार्थेन प्रतिनियतदेशकालादिना इन्द्रियं सम्बन्ध्यते  
सैव प्रत्यक्षं प्रामाण्यं तमेव अवभासयति न तु व्याप्तिम्, तस्याः सकलदेशकालकला-  
समयानम्— परिगतार्थान्नेपेण अवस्थितत्वात् । सा हि गृह्यमाणा त्रैलोक्योदरव-

र्त्तिनाम् अतीतानागतवर्तमानाऽशेषार्थानामुपसहारेण गृह्यते । यतो व्यापनं व्याप्तिः,  
सर्वासा व्याप्यव्यक्तीनां व्यापकव्यक्तीनाञ्च व्याप्यरूपतया व्यापकरूपतया च त्रौडी- 15  
करणम् । न च तत्र इन्द्रियस्य सम्बन्धो ग्रहणसामाख्यं वा सम्भवति, वर्तमाने नियत-  
पदार्थे तत्सम्भवात् । न च विश्वोदरवर्त्तिन्यो व्यक्तयः सर्वाः तेन सम्बद्धा वर्तमाना वा,  
तत्तत्र प्रत्यक्षतस्तत्र व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?

किञ्च, प्रत्यक्षमात्रम्, भूयोदर्शनसहायम्, अन्वयव्यतिरेकसहकृतं वा प्रत्यक्षं  
व्याप्तिग्रहणे प्रभवेत् ? न तावत् प्रत्यक्षमात्रम्, भूभववर्द्धितोत्थितमात्रस्य प्रथमाऽग्निधू- 20  
मव्यक्तिदर्शनेऽपि व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

यद्युक्तम्—'प्रथमप्रत्यक्षेऽपि अग्निसम्बन्धित्वेनैव धूमस्य प्रतिभासनात् तद्गतो निय-  
मोऽपि प्रतिभासते' इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यत् पुरोदृश्यमाने नियताग्नि-

(१) महानसाग्निना—आ० टि० । (२) धूमस्य । (३) चत्वरामिना । (४) अनुसन्धानम् । (५) अवयव—आ० टि० । (६) व्यतिरेक—आ० टि० । (७) तुणनिर्मितकटादिष्वपि भावात् । (८) पृ० ४२८ पृ० ३ । (९) तुलना— तत्र किमैतद्वयं मानसं वा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्रहणं प्रवर्तते ।—स्वा० २० पृ० ५१० । (१०) तुलना— नतावत्प्रत्यक्षम्, सन्निहितदेशवतमानकालवस्तुविषयनियमात् । यत्र हि प्रमाणं सर्व-  
देशेषु च घूमादीनामप्यदिग्बन्धो-वगम्यते तेन तेषां सम्बन्धनियमोऽवगम्यते । न च प्रत्यक्षं तत्र  
सम्यक् ।—प्रक० पृ० ५० पृ० ६८ । अष्टसह० पृ० ४३ । प्रमेयक० पृ० ३४६ । स्वा० २० पृ० ५१० ।  
चित्तसु० पृ० २३८ । (११) सर्वोपसहारेण । (१२) व्याप्तिः । (१३) सर्वव्याप्यव्यापकव्यक्तिपु ।  
(१४) सम्बन्धो ग्रहणसामख्यो सम्भवात् । (१५) इन्द्रियण । (१६) विश्ववर्त्तितु व्याप्यव्यापकव्यक्तिपु ।  
(१७) भूमिगृह—आ० टि० । (१८) पृ० ४२८ पृ० ३ । (१९) समक्षीभूते महानसादी ।

सम्बन्धित्वेन धूमस्तत्र प्रतिभासेत्, अनियताखिलाग्निसम्बन्धित्वेन वा ? प्रथमपक्षे कथं प्रथमदर्शने व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? प्रतिनियतव्यक्तौ व्याप्तेरेवाऽसम्भवान्, तस्यै सर्वाक्षेपेण पर्यवसानात् । द्वितीयपक्षे तु आस्ता प्रथमप्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षज्ञतैरपि न व्याप्तिः प्रत्येतु शक्या, तेषां सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरचारितया 'यावान् कश्चिद् धूम स सर्वोऽग्नौ एव' इति सर्वाक्षेपेण अविनाभावप्रतिपत्तावसमर्थत्वात् ।

एतेन 'भूयोदर्शनसहायमाद्यप्रत्यक्ष व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इत्ययमपि पक्षे प्रत्युक्त ।

नाप्यन्वयव्यतिरेकसहकृतं तन्न ता प्रतिपत्तु समर्थम्, यत् तत्सहकृतस्याप्यस्य यत्रैव सस्य प्रवृत्ति तत्रैव तत्प्रतिपत्तिर्घटते न पुन 'यत्र यत्र धूम तत्र तत्र अग्नि, यत्र अग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' इति सर्वाक्षेपेण, तत्र च व्याप्तिप्रतिपत्तौ वैयर्थ्यम् ।

अनुमानार्थं हिं सं इष्यते, प्रत्यक्षेण च प्रतिपत्ते साध्यसाधनव्यक्तिविशेषे किमनुमानेन ? अन्वयव्यतिरेकसहकृतत्वञ्चास्य स्वविषयातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्ति, स्वविषये प्रवर्तमानस्य अतिशयाधान वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोध, स्वार्थातिक्रमेण अर्थान्तरे प्रवृत्तिलक्षणसहकारित्वस्य कचिदप्यप्रतीते । न सल्लु प्रदीपसहकृत चक्षु रसादौ प्रवर्तमान प्रतीयते । स्वविषये प्रवर्तमानस्यातिशयाधानञ्च अध्यक्षस्य व्याप्तिविषयत्वे

मिद्वे सिद्धेन । तच्च असिद्धम्, सम्बद्धवर्तमानार्थविषयत्वात्तस्य । न च तैत्सहकृतस्यापीन्द्रियनाप्यक्षस्य कश्चनोत्कर्षो जायते, येन स्वविषयातिक्रमेणान्यार्थान् गृहीयात् । एतेन 'भूयोदर्शनावगताऽन्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रियप्रभव प्रत्यक्ष व्याप्तिं प्रतिपद्यते' इति प्रत्युक्तम् । किञ्च, इन्द्रियविषये विद्यमानत्वान् तैत्प्रभवप्रत्यक्षेण व्याप्तिं प्रतीयते स्वविषयत्वाद्वा ? न तावद् विद्यमानत्वान्, रसादेरपि चाप्नुपत्वानुपद्धान्, व्याप्तिवद् धूमादौ तैत्स्वस्याप्यतिशेषान् । नापि स्वविषयत्वान्, तस्या तैद्विषयत्वानुपपत्ते । अनियतविषया हि व्याप्ति, [ ता ] कथं नियतविषयमिन्द्रियप्रभव प्रत्यक्ष प्रतिपद्यते ?

(१) तुलना- यत् पुराणद्वयमानाग्निसम्बन्धित्वेन धूम प्रथमप्रथम प्रतिभासेत् सत्त्वान्निगन्धिचित्तवत् वा ? -स्या० १० ५० ५१० । (२) व्याप्त । (३) प्रत्यक्षानाम् । (४) सायव भवति अन्वयभाव तु क्वचित्पि न भवतीत्यथाहायम् । (५) ५० ४२८ ५० ७ । (६) प्रथमम् । (७) महत्त्वा अवयव्यतिरेकमहत्त्वंस्यापि प्रथमम् । (८) व्याप्ति । (९) प्रथमविषयीभूत धूमान्निगन्धिचित्तवत् । (१०) व्याप्तिप्रतिपत्ति । (११) तुलना- अवयव्यतिरेकमहत्त्वं हि प्रथमम् स्वविषयान्निगन्धि अर्थान्तरे प्रवृत्ति स्वविषय प्रवर्तमानस्य अवयव्यतिरेकान्निगन्धि गत्याधानं वा ? -स्या० १० ५० ५११ । (१२) अप्यन्वय व्याप्तिविषयत्वम् । (१३) अवयव्यतिरेकमहत्त्वम् । (१४) ५० ४२८ ५० ८ । (१५) तुलना- विच्छेद इन्द्रियविषय विद्यमानवान् तत्रभवत्त्वान् व्याप्तिं प्रतीयत स्वविषयत्वाद्वा ? -स्या० १० ५० ५११ । (१६) इन्द्रियप्रभव । (१७) यथा धूमान्निगन्धि व्याप्तिरस्ति एवमाग्नी रमान्निगन्धि-आ० टि० । (१८) व्याप्त । (१९) प्रथमविषयानुपपत्ति । (२०) तुलना- अनियतविषया हि व्याप्तिरिति कथं नियत विषय इन्द्रियप्रभवत्त्वान् प्रतिपत्तु -स्या० १० ५० ५११ ।

यदप्यभिहितम्—‘अनुसन्धानेन हि व्याप्तिरुल्लिख्यते, तच्च भूयोदर्शनादर्शनैरेव उल्पद्यते’ इत्यादि, तदुपपन्नमेव, उपलम्भानुपलम्भप्रभवस्यैव ज्ञानस्य अस्माभिर्व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यस्य समर्थयितुमुपक्रान्तत्वात् । प्रत्यक्षरूपता तु तस्यै अनुपपन्ना, विभिन्नसामग्रीविषयत्वान् । तद्वि इन्द्रियादिसामग्रीक सम्बद्धवर्तमानार्थविषयञ्च प्रसिद्धम्, नचेद<sup>१</sup> तथा इति कथं प्रत्यक्षरूपता प्रतिपद्येत ?

ननु सामान्यस्य व्याप्तिप्रतिपत्तौ प्रयोजकत्वात्, तस्य च इन्द्रियेण संबद्धत्वात् वर्तमानत्वाच्च कथं व्याप्तिज्ञानं प्रत्यक्षम् ? इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यत् किं सामान्यस्य सामान्येन व्याप्ति, उत तदुपलक्षितविशेषाणां तदुपलक्षितविशेषै ? तत्र आद्यपक्षे न किञ्चिद् व्याप्तिप्रतिपत्तिप्रयोजनम् सामान्ये सिद्धसाधनतोऽनुमानवैफल्यप्रसङ्गात् । तदुपलक्षितविशेषाणां तु आनन्त्यात् कथं सम्बद्धवर्तमानता यतो व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यात् ?

एतेन ‘भूयोदृष्टान्वय’ इत्यादि<sup>३</sup> प्रत्युक्तम्, विशिष्टदण्ड्यादिप्रत्ययस्य हि सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरचारितया प्रत्यक्षता युक्ता, न तु व्याप्तिज्ञानस्य तद्विपर्ययात् इत्यसकृदावेदितम् । अथ अस्य अप्रत्यक्षत्वे कथं ‘इन्द्रियापेक्षा’ इत्युच्यते ? ‘तत्कारणकारणत्वात्’ इति द्रूम । व्याप्तिज्ञानस्य हि कारणं प्रत्यक्षानुपलम्भौ तयोश्च इन्द्रियमिति । तत्र इन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थम् ।

नापि मानसम्, मनसो बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरर्थं प्रवृत्त्यभावात् । “अस्वतन्त्र

(१) पृ० ४२८ प० १० । (२) अनुसन्धानम् । (३) तर्कालयस्य—आ० टि० । (४) जनै । (५) उपलम्भानुपलम्भजस्य तत्कस्य । (६) प्रत्यक्षम् । (७) तर्कित्य ज्ञानम् । (८) धूमत्वस्य अग्नित्वस्य च । (९) सयुक्तसमवायसम्बन्धसदभावात् चक्षुःसयुक्ते अग्नी धूमे च अग्नित्वस्य धूमत्वस्य च समवायात् । (१०) सामान्योपलक्षितम् । (११) अग्निधूमसामाययो महानसादावेव प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । (१२) विश्वस्यैव साधनीयत्वान्—आ० टि० । (१३) पृ० ४२९ प० ६ । (१४) सकलसाध्यसाधनव्यक्तिविषयतया सम्बद्धवर्तमानार्थगोचरत्वाभावात् । (१५) व्याप्तिज्ञानस्य—आ० टि० । (१६) तत्र केचिदाचक्षते मानसं प्रत्यक्षं प्रतिबध्नाहीति । प्रत्यक्षानुपलम्भभ्यामनलसहचरितमनसो इव व्यावर्तमानं धूममुपलभ्य विभावसो नियतो धूम इति मनसा प्रतिपद्यते । मनसश्च सर्वविषयकेन वा नाभ्युपेयते असनिहितमप्ययमवधारयितुं क्षमम् । भावाभावसाहचर्यमवधारय मानसा नियमज्ञानसिद्धरित्यलं निबन्धनम् । —यावत्प० पृ० १२१, १२३ । तस्य ग्रहणं प्रत्यक्षानुपलम्भसहायमानसत् प्रत्यभात् । धूममग्निसहचरितमिन्द्रियणोपलम्भानग्नश्च जलादव्यवितमानमनुपलम्भेन ज्ञात्वा मनसा निदिशन्तीति धूमोऽग्निश्च व्यभिचरतीति । —न्यायकालि० पृ० ३ । (१७) तुलना— प्रत्यक्षमानसं यथा सम्बन्धं लिङ्गालिङ्गिनो । व्याख्या जानाति तेष्यैऽनीन्द्रियं किमु बुधते ॥ यथाशाधिं प्रवतन्ते मानसं तत्र वतते । नोऽयत्राक्षादिवधुयप्रसगात् सवदहिनाम् ॥ —तत्कारणस्यो० पृ० १७९ । न चातीतानागतानां व्यक्तीनां मनसा सङ्कलनमिति याव्यम् । मनसो बहिरर्थं स्वात्तथ्यं अथबधिराद्यभावप्रसङ्गात् । —प्रश० क० पृ० २१० । मनश्चेद्विषयकारणान्तरनिरपेक्षं प्रवर्तते तदा सव सर्वदर्शी स्यादविनापात् । —प्रक० प० पृ० ६९ । बृह० प० पृ० ९५ । यावत्प० मा० पृ० ५८ । प्रमेयक० पृ० ३५१ । स्या० र० पृ० ५११ ।

वैहिर्मन" [ ] इत्यभिधानात् । व्याप्तिश्च वहिरर्थधर्मत्वाद् वहिरर्थ, यो वहिरर्थधर्म म वहिरर्थ यथा रूपाणि, वहिरर्थधर्मश्च व्याप्तिरिति । भवत्कल्पितस्य मनस पट्पदार्थपरीक्षाया प्रतिषेधतोऽसत्त्वाच्च कथ तद्वद्व<sup>१</sup> प्रत्यक्षता प्रतीयात् । सत्त्वे वा न अणुस्वभावस्यास्य अशेषार्थे सकृन् सम्बन्धसम्भवः, यदणुस्वभाव न तत् सकृदशेषार्थे सम्बन्धयते यथा परमाणु, अणुस्वभावश्च भवत्कल्पितमन इति । अथ माक्षात् मनसोऽशेषार्थे सम्बन्धाभावेऽपि परम्परयाऽसौ<sup>२</sup> भविष्यति, तथाहि—मनसा साक्षात् मयुज्यते आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वेऽग्न्यादयो धूमादयश्च साध्यसाधनव्यक्तिविरोधा इति, तदप्यपेशलम्, एवं सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसङ्गात्, साध्यसाधनव्यक्तिवत् सर्वार्थाना मनसा सैम्बद्धसव ( सैम्बन्धसम्बन्धस ) भवात् ।

10 किञ्च, असौ सम्बन्धसम्बन्धोऽपि मनस सद्भिरेव अर्थे स्यात् नाऽसद्भिः, तत्कथ तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति ? न चात्मनो व्यापित्वं सिद्धम्, तस्यै पट्पदार्थपरीक्षाया प्रपञ्चत प्रतिषेधात्, तत्कथ सैम्बन्धसम्बन्धधोऽपि स्यात् ? अतो दृष्टान्त एव साध्यसाधनयो भवता व्याप्ति प्रतिपत्तव्या, तथा च अनुमानानुत्थान साध्यधर्मिणि साध्यधर्मेण हेतोर्व्याप्यनिश्चयात् । तन्न सोगतमते यौगमते वा ऐन्द्रिय मानस वा प्रत्यक्ष व्याप्ति

15 प्रतिपत्तोऽङ्गमिति स्थितम् ।

एतेन योगिप्रत्यक्षस्यापि अविनाभावप्रतिपत्त्यङ्गत्व प्रत्याख्यातम्, तस्याप्यविचार कतया कारणभूतप्रतिनियतसन्निहितार्थगोचरचारितया चैतार्थतो व्यापारान् कर्तुम समर्थत्वाविशेषात् । अस्तु वा तत् तत्प्रतिपत्ति, तथापि—योगी<sup>३</sup> प्रत्यक्षतो व्याप्तिं

(१) तुलना— परतत्र वहिर्मन । विधिवि० पृ० ११४ । लौकिक्या० तृ० पृ० ८२ । उद्धतमिन्म—स्या० २० पृ० ५११ । (२) योगपरिकल्पितस्य । (३) पृ० २६९ । (४) मनोभव ज्ञानम । (५) मनस । (६) सम्बन्ध । (७) आत्मव्यापकत्वप्रयत्नसयुक्तमयोगवशात् अशेषधूमाग्नि व्यक्तीना मनसा सम्बन्धकपन । (८) परम्परयासम्बन्ध मनसयुक्ता आत्मा तेन च सयुक्ता सर्वज्ञा इति । (९) तुलना— किञ्चामो सम्बद्धसम्बन्धोऽपि सदभिरेवार्थे नासदभिरेतीतानागत तत्कथ तत्र व्याप्तिप्रतिपत्ति ? — स्या० २० पृ० ५१२ । (१०) अतीतानागतदेशकालभाविरिति—आ० टि० । (११) आत्मनो व्यापित्वस्य । (१२) पृ० २६१ । (१३) तुलना— अन्त्य तु व्याप्तिप्रहणकाल प्रतिपत्तयोर्भिन्न इवाण्यव्यप्य यन्निज्ञानमस्तीति ब्रुवते । अथवा हि सर्वो धूमोऽग्नि विना न भवतीति व्याप्तिस्मरण न स्यात् । विवेकेन चाप्रतिभास समानाभिख्याहागात् यथा धारयाशिक्षिण्याया धाय व्यवनेरिति । —प्रश्न० व्यो० पृ० ५७० । यस्तु भवत प्रज्ञाकरमुप्त योगिज्ञान व्यक्तिगानमिति । — सिद्धिवि० टी० पृ० १०५ B (१४) योगिप्रत्यक्षस्यापि । (१५) यावान कश्चिद्भूत म सर्वोऽप्यग्नि जग्मा अनग्निजगम वा न भवतीत्यतवत् (१६) तुलना— योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुषटम । सब्रानानिनिज्ञानाभावात् सकलयोगिन ॥ परार्थानुमितो तस्य व्यापारोऽपि न युज्यते । अयोगिन स्वय व्याप्तिमज्ञानान जनान प्रति ॥ योगिनोऽपि प्रति ॥ यथ स्वस्वार्थानुमितविव । समारोपविशेष स्याभावात् सवत्र याग्निनाम ॥ —तत्त्वाप इलो० पृ० १७९ । प्रमेयक० पृ० ३५१ ।

1 तत्प्रभव व० । 2 सम्बन्धसम्भवान व० । 3 सम्बद्धसम्ब—आ० । 4 सम्बद्धसम्ब—आ० । 5 यता—व० ।

प्रतिपद्य स्वार्थमनुमान विदध्यात्, परार्थं वा ? न तावत् स्वार्थम्, सकलसाध्यसाधन-  
व्यक्तिविशेषाणां प्रत्यक्षत परिस्फुटतया प्रतिपन्नत्वेन अस्य अफलत्वात् । यत् प्रत्यक्षत  
परिस्फुटतया प्रतिपन्नम् न तत्र अनुमान फलवत् यथा प्रत्यक्षस्वरूपे, प्रत्यक्षत परि-  
स्फुटतया प्रतिपन्नाश्च योगिनो निग्निला साध्यसाधनव्यक्तिविशेषा इति । न च तथै  
तत्प्रतिपन्नेऽप्येतेषु समारोपव्यवच्छेदार्थं सफलमेवानुमानमित्यभिधातव्यम्, योगिनो 5  
विधूतकल्पनाजालतया समारोपस्यैवाऽसम्भवात् । अथ परार्थं योगिनोऽनुमानम्, ननु  
गृहीतव्याप्तिरुम्, अगृहीतव्याप्तिरु वा पर परार्थानुमानेन योगी प्रतिपादयेत् ? यदि गृहीत-  
व्याप्तिरुम्; कुतस्तेन गृहीता व्याप्ति ? न तावत् स्वसवेदनेन्द्रियमनोविज्ञानै; तेपा  
तद्विषयत्वप्रतिपादनात् । नापि योगिप्रत्यक्षेण, अनुमानानर्थक्यानुपपन्नात् । अगृहीत-  
व्याप्तिरुस्य च प्रतिपादनानुपपत्ति अतिप्रसङ्गात् । तत्र कुतश्चिदपि प्रत्यक्षात् साध्य- 10  
साधनयोर्व्याप्ति प्रतिपत्तुं शक्या ।

अत. सूक्ष्म-‘अविकल्पधिया’ इत्यादि । न विद्यते विकल्प स्वपरव्यव-

कारिका विवृत्त्याया  
स्यात्—

सायो यस्या सा चासौ धीश्च तथा परोक्ष्या ज्ञानान्तरानुभवनिश्चया-

त्मिक्या च न किञ्चित् स्वभावविषय कार्यादिविषय वा लिङ्गम्

अविनाभावः सम्प्रतीयत इति । तर्हि अनुमानात् तत्सम्प्रतीयते 15

इत्यत्राह—न अनुमानात् ‘लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानम्’ इत्येव लक्षणात् तत्सम्प्रतीयते,

तथाहि—प्रथमानुमानं हेतोः अविनाभावावसाये समर्थम्, अनुमानान्तरं वा ? तत्राद्य-

पक्षोऽनुपपन्न, तदनुमानस्य असिद्धत्वात् । अत एव तत्सिद्धौ अन्योन्याश्रय —

सिद्धे हि हेतोरविनाभावे ततस्तेदुत्पत्तिसिद्धि, तत्सिद्धौ च हेतोरविनाभावसिद्धिरिति ।

नाप्यनुमानान्तरम्; यत् तदपि प्रतिपन्नाऽविनाभावान् हेतोरुत्पद्यते, तत्प्रतिपत्तिश्च 20

तत्र प्रत्यक्षत, अनुमानाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे दूषणमाह—‘सर्वत्र’ इत्यादि । सर्वत्र

प्रथमानुमानवत् द्वितीयेऽप्यनुमाने अनिशेषात्, ‘न प्रत्यक्षम्’ इत्यादेर्दोषस्य अभेदान् ।

अनुमानतोऽपि तत एव, अन्यतो वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? यदि तत एव, अन्योन्याश्रयं ।

(१) अनुमानस्य । (२) परिस्फुटतया । (३) योगिप्रत्यक्षज्ञानेऽपि साध्यसाधनव्यक्ति  
विशेषम् । (४) प्रागुक्तं योगिनां तेषां तदभावनामयम् । विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥’—  
प्रमाणवा० २।२८१ । सत्यस्वरूपविषयत्वेन विधूतकल्पनाजालम् अविकल्पकरत्वाच्च स्पष्टं विशदज्ञया  
कारमेवावभासते ॥’—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८१ । (५) तुलना— तर्हि योगी परायानुमानेन  
गृहीतव्याप्तिरुम् गृहीतव्याप्तिरु वा पर प्रतिपादयेत् ।—प्रमेयक० पृ० ३५१ । (६) परेण प्रतिपत्तौ ।  
(७) साध्यविषयत्व । (८) सकलसाध्यसाधनयोः स्पष्ट प्रतिभातवान् । (९) भीमासकमते ।  
(१०) नैयायिकमते । (११) लिङ्गम्—अविनाभावः । (१२) प्रकृतानुमानस्य व्याप्तिप्रहात्यात्पूर्वमलब्ध  
स्वरूपत्वात् । (१३) अनुमानसिद्धौ । (१४) अनुमानोत्पत्तिः । (१५) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च अनुमा  
नान्तरे । (१६) समानत्वात् । (१७) सिद्धाया हि व्याप्तिप्रतिपत्तौ अनुमानोत्पत्तयाम्, सति च अनु  
मानात्मलाभ व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति ।

1—नयक्यप्रसङ्गात् अ० । 2 एतदनन्तरं व० प्रती अविकल्पधिया’ इति कारिकाऽपि लिखिता  
नमस्ति । 3 स्वरूपव्य—अ० । 4 ‘कार्यादिविषय’ नास्ति व० । 5 सिद्धे हेतो—अ० ।



- अथाऽन्यत्, तदा अनवस्था—तदुत्थापकहेतावप्यनुमानांतरात्तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । तन्न कुतश्चित् परस्य प्रतिबन्धसिद्धिः । मा भूत्, किं तथा ? इत्यत्राह—‘नहि’ इत्यादि । न खलु सामान्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचिद् अनित्यत्वादौ बह्वधादौ वा साध्ये व्यवहारे परमार्थे वा किञ्चित् स्वभावलिङ्गज कार्यादिलिङ्गज वा अनुमाननाम ।
- ६ इदमत्र तात्पर्यम्—यथा अनुमानमन्तरेण न किञ्चित् साध्य सिद्धयति इति तदर्थमनुमानमिष्यते तथा तल्लिङ्गलिङ्गिव्याप्तिसिद्धिमन्तरेण तैदपि न सिद्धयति इति तदर्थं सांपि इष्यतामविशेषात् । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘तन्न’ इत्यादि । यत् प्व तत् तस्मात् न अप्रत्यक्षं परोक्षम् अनुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणमस्ति किन्तु अनुमानमेव’ ईत्ययुक्तम्, लिङ्गप्रतिपत्तेः अविनाभावप्रतिपत्तेः तर्काख्याया प्रमाणान्तरत्वाद् अलिङ्गजाऽ-
- १० विशदस्वभावतया प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात् । तत सूक्तम्—‘चिन्ता प्रमाणम् अनुमानादेहेतुत्वात्’ इति । वीदृश तदनुमानम् ? इत्याह—

लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणत्वात् ॥ १२ ॥

लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हेतूनादियुद्धयः ।

(१) अयानुमानोत्थापक । (२) व्याप्तिप्रतिपत्ति । (३) अनुमानमपि । (४) अनुमानसिद्धयर्थः । (५) व्याप्तिसिद्धिरपि । तुलना— तत्रसंवादसं देहे नि शङ्कानुमति क्व त ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९५ । (६) तनाप्रथम इत्यादि बौद्धोक्त वाक्यम् । (७) अनुमानप्रत्यग्रूप । (८) व्याप्त्या— अनुमान प्रमाण भवति । किम् ? लिङ्गिधी लिङ्गिन साध्यस्य धीर्ज्ञानमित्यर्थः । लिङ्गमविनाभावसम्बन्धोऽस्यास्तीति लिङ्गितीति विग्रहात् । तस्योत्पत्तिकारणमाह लिङ्गात् साधनात् । साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणत्वात् साध्येन इष्टावाधितासिद्धरूपेण सह अविनाभावोऽयथानुपपत्तिनियमस्य अभितो दशकालान्तरव्याप्त्या निबोधो नियम स एक प्रधान लक्षण स्वरूप यस्य तत्तद्योक्त तस्मात्लिङ्गादुत्पद्यमाना लिङ्गिधीरनुमानमिष्यते । नवस्य तर्कफलत्वात्कथं प्रमाणत्वमित्यागक्याह— तत्फलं हेतूनादियुद्धयं हान परिहार आदिगन्धन उपादानमपेक्षा च गृह्यते । तासां बुद्धयो विकल्पास्य अनुमानस्य फलं भवन्ति तत फलहेतुत्वादनुमान प्रमाण प्रत्यक्षवदित्यभिप्रायः ।”—लघी० ता० पृ० ३१ । (९) अनुमेयन सम्बद्ध प्रसिद्ध च तदविते । तदभावे च नास्त्यव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥”—प्रश० भा० पृ० २०० । उदाहरणसाधर्म्यान् साध्यसाधन हेतु । तथा बंधर्म्यानि ।”—न्यायसू० १।१ । ३४ ३५ । ‘हेतुस्वरूप’—न्यायप्र० पृ० १ । ‘पक्षमस्तदशन व्याप्तो हेतुस्त्वंधेव स । अविनाभावनियमात् हेत्वाभासास्तनोपरे ॥”—हेतुवि० प्र० परि०। प्रमाणवा० ३।१ । तत्त्वस० का० १३६२ । विरूपो हेतु ।”—साध्यका० माठ० पृ० १२ । साधनत्वरयापक लिङ्गवचन हेतु ।—न्यायशा० पृ० ५ । ‘अयथानुपपत्त्यं हनोलमणमीरितम् ।”—न्यायात्र० श्लो० २२ । ‘साधनप्रकृताभावेऽनुपपन्नम्’—प्रमाणस० पृ० १०२ । न्यायवि० का० २६९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४ । परोक्षाम् ३।१५ । ‘तथा चाम्यथापि कुमारनन्दिभट्टारकं—अयथानुपपत्त्यं कलक्षणं लिङ्गमभ्यते ॥”—प्रमाणप० पृ० ७२ । ‘निश्चिन्ताव्यथानुपपत्त्यैकलक्षणो हेतु ।’—प्रमाणनय० ३।९ । ‘साधनत्वाभि व्यञ्जकविभक्त्यन्तं साधनवचन हेतु ।’—प्रमाणमी० २।१।१२ । (१०) लिङ्गदशनात्सजायमानलिङ्गकम् ।—प्रश० भा० पृ० २०० । अनुमान ज्ञानसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादकदशान्तरेऽतत्रिकृष्टेऽप्ये बुद्धिः ।—आचरभा० १।१।५ । प्रतिबन्धपृष्ठ प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ।—साध्यसू० १।१०० । अनुमानं पितेन लिङ्गन अनु पश्चा मानम् ।—न्यायवा० पृ० २८ । तत्र स्वार्थं विरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेय

विद्युतिः—नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण ताभ्यां विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।

लिङ्गात् हेतोः । किंविशिष्टात् ? इत्याह—‘साध्य’ इत्यादि । साध्येन इष्टाऽवाधिताऽसिद्धविशेषणविशिष्टेन अविनाभावो व्याप्तिः, 6  
कारिकाव्याख्यानम्—  
तस्य अभि समन्तात् निबोधो निश्चयः एकं प्रधानं लक्षणं यस्य तस्मात् सुनिश्चिताऽन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणात् इत्यर्थः । लिङ्गिनि साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रयुज्यमाने गम्यमाने वा धीः ज्ञानम् अनुमानम् ।

ननु ‘प्रयुज्यमाने साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि’ इत्युक्तम्; पक्षस्य प्रयोजनाभावतः

प्रतिज्ञाप्रयोगमनभ्यु- प्रयोगानुपपत्तेः, सर्वत्र गम्यमान एवास्मिन् साधनात् साध्यसम्प्रति- 10  
पणच्छतो बौद्धस्य पच्युपपत्तेः । अथ तत्प्रयोगस्य साध्यार्थप्रतिपादनलक्षणप्रयोजन-  
प्रतिविधानम्— संभवात् तदसंभवोऽसिद्धः; तन्न; तस्य तत्प्रतिपादनासंभवात् । स

ज्ञानं तदनुमानम् ।”-न्यायवि० २।३ । “सम्यगविनाभावेन परीक्षानुभवसाधनमनुमानम् ।”-न्यायसा० पृ० ५ । “साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदध्वान्तं प्रमाणत्वात् समक्ष-  
वत् ॥”-न्यायाव० श्लो० ५ । “साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्”-न्यायवि० का० १६७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७। प्रमाणप० पृ० ७०। परीक्षामु० ३।१४ । प्रमाणनय० ३।८। प्रमाणमी० १।२।७। न्यायदी० पृ० २०। जनतर्कभा० पृ० १२ । (११) तुलना—“तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं प्रमितिरग्निज्ञानम् । अथवा अग्निज्ञानमेव प्रमाणम्, प्रमितिरग्नी गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ।”-प्रश० भा० पृ० २०६ ।

(१) तुलना—“पक्ष प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सित, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यभेदः ।”-न्यायप्रवे० पृ० १ । “स्वरूपेणैव स्वयमित्येऽनिराकृत पक्ष इति ।”-न्यायवि० पृ० ७९ । “न्यायमुखप्रकरणे तु स्वयं साध्यत्वेनेप्सित पक्षो विरुद्धार्थोऽनिराकृत इति पाठात्”-प्रमाणवार्तिककालं परि० ४ । “साध्याभ्युपगमः पक्ष प्रत्यक्षाद्यनिराकृत ।”-न्यायाव० श्लो० १४ । “साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्”-न्यायवि० श्लो० १७२ । “इष्टमवाधितमसिद्धं साध्यम्”-परीक्षामु० ३।१५ । “अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्”-प्रमाणनय० ३।१२ । “सिंसा-  
धयिपितमवाध्यं साध्यं पक्षः ।”-प्रमाणमी० १।२।१३ । (२) उपनयवाक्यसामर्थ्यात् हेतो पक्षधर्म-  
त्वसमर्थनाद्वा अर्थादापत्तेः । (३) “तत्पक्षवचनं धक्नुरभिप्रायनिवेदने । प्रमाणं संशयोत्पत्तस्तत् साक्षात् साधनम् । साध्यस्यैवाभिधानेन पारम्पर्येण नाप्यलम्” ननु- अत्यापिते हि विषये हेतुवृत्तेर-  
संभवात् । विषयव्यापनादेव सिद्धी चेत्तस्य शक्यता ॥ उक्तमत्र विनाप्यस्मात् कृतक शब्द ईदृशा । सर्वेऽन्तिया इति प्रोक्तेष्वर्थान्तरासाधीभवेत् । अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिबन्धतः । त्रिष्वन्यतस-  
रूपस्यैवानुक्तिर्नूतनीदृश्या ॥”-प्रमाणवा० ४ । १६-२३ । हेतुवि० प्र० परि० । “अथवा तस्यैव साधनस्य यस्मात् प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानात् । ननु च विषयोपदर्शनाय प्रतिज्ञावचनमसाधनाङ्गमप्युपादेयमेव; न; वैयर्थ्यात् असत्यपि प्रतिज्ञावचने यथोक्तात् साधनवाक्याद् भवत्येवेष्टार्थसिद्धिरित्यपार्थक्यं तस्योपादानम् ।”-वादन्याय पृ० ६१-६५ । “द्वयोरप्यनयो प्रयोगे नावस्यं पक्षनिर्देशः । यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदु-  
त्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयो तस्मात् पक्षोऽपश्यमेव न निर्देश्य । अथ यदि पक्षो न निर्देश्य

हि केवल साध्यमर्थं प्रतिपादयेत्, हेतूपन्याससमन्वितो वा ? यदि केवल, हेतूपन्यासो व्यर्थ, प्रतिज्ञाप्रयोगमात्रादेव तत्र प्रतिपत्ते संज्ञातत्वात् । अथ हेतूपन्याससमन्वित, तर्हि हेतोरेव तत्र सामर्थ्योपपत्ते किं तत्र योगेनेति ?

अत्रोच्यते—पक्षस्य साध्यसिद्धिप्रतिबन्धित्वाद्प्रयोग, प्रकृतात् तैत्ससिद्धे,

६. प्रयोजनाऽप्रसाधकत्वात्, हेतूपन्यासापेक्षस्य तत्र प्रसाधकत्वाद्वा ? न तावत् तत्सिद्धि-  
प्रतिबन्धित्वात्, वादिना सम्यक् साधनात् स्वपक्षसिद्धिलक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विप-  
क्षाप्रसाधकत्वत, तत्रयोगस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वानुपपत्ते । यत् यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे  
तद्विपक्षाप्रसाधकम् न तत्तस्य प्रतिबन्धकम् यथा धूमे काष्ठादिकम्, सम्यक् साधनत.  
रत्रपक्षसिद्धिरक्षणे कार्ये क्रियमाणे तद्विपक्षाप्रसाधकश्च प्रतिज्ञाप्रयोग इति ।

१० प्रकृतात्तत्सिद्धिश्च प्रतिज्ञावत् हेत्वादावप्यदिशिष्टा, तैत्स्तस्याप्यप्रयोगप्रसङ्ग ।  
नहि शब्दस्य अनित्यत्वप्रतिज्ञाने कृतकत्वादिहेतु घटादिदृष्टान्तश्च प्रकृतार्थे सिद्धयति ।  
तत्राविधस्याप्यस्याभिधाने पक्षेण कोऽपराव कृत येनास्य तथाविधस्याभिधाने नेष्यते ?

प्रयोजनाप्रसाधकत्वञ्च असिद्धम्, प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य तत्र साध्यप्रयोजनस्य  
सद्भावात् । प्रतिपाद्यो हि कश्चिन् मन्दमतिः कश्चित्तीव्रमति । तत्र यो मन्दमति न

१० तस्य प्रकृतार्थप्रतिपत्तिविशेष प्रतिज्ञाप्रयोगमन्तरेणोपपद्यते, नापि नैयायिकादे  
पञ्चावयवप्रयोगे प्रतिपन्नसङ्कतस्यामन्दमतेरपि । तत्र प्रयोगे तेन निग्रहस्थानाभिधानात् ।  
“हानमन्वतमनापि न्यूनम्” [ न्यायसू० ५।२।१२ ] इति वचनात् । तीव्रमतेस्तु तत्र योग-  
मन्तरेणापि हेतुप्रयोगमात्रात् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिप्रतीतेरैतस्य वैयर्थ्यं हेतुप्रयोगस्यापि वैयर्थ्यं  
स्वात्, “निश्चिन्ताऽविप्रतारकपुरपवचनाद् अग्निरत्र” इत्यादिप्रतिज्ञाप्रयोगमात्ररूपादेव  
५. वैयर्थ्ये चित् प्रकृतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात् ।

वचननिर्देशस्य लक्षणमुक्तम् ? न साधनवाक्यान्वयव वादस्य लक्षणमुक्तमपि तु असाध्य कश्चित् साध्य  
साध्य चासाध्य प्रतिपत्ता, तदाध्यामाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पञ्चलक्षणमुक्तम् ।” —न्यायवि० टी०  
१० ७७-७९ । असाधनाङ्गमूलत्वात् प्रतिज्ञानुपयोगिनी । —तत्रवस० १० ४१८ ।

(१) साध्यार्थप्रतिपत्त । (२) साध्याप्यप्रतिपत्तौ । (३) तुलना— तस्यावचन साध्यसिद्धि  
प्रतिपत्तत्वात् प्रयात्रनाभावात् । —प्रमेयक० पृ० ३७३ । वचन पुनरस्या साधनाङ्गत्व किं सर्वथैव  
वचनस्वतन्त्रतायां असाध्यस्यैव परिग्रहात् ? —प्रस० वि० पृ० ३३५ । (४) प्रवरणान् ।  
(५) पञ्चप्रयोगमिदः । (६) प्रयोजन । (७) रत्रपक्षविद्वेदासाधकत्वात् । (८) साध्यसिद्धि । (९)  
यत्र हेत्वादीनामपि प्रवरणात्त्वमिदं स्तन । (१०) प्रवरणान् मिदस्यापि (११) तुलना— तत्रयोग  
प्रतिपत्तप्रतिपत्तिविषय्य प्रयात्रनस्य सत्त्वात् । —प्रमेयक० पृ० ३७३ । १०।२० पृ० ५५० । (१२)  
प्रतिपाद्या अप्रयोग । (१३) नयाविवन । (१४) प्रतिज्ञाप्रयोग । (१५) प्रतिज्ञाप्रयोगस्य (१६) तुलना—  
“अविप्रतारकनानिश्चिनपुरपवचनमात्रादपि अग्निरत्र इत्यादिरूपान् क्वचित् प्रमथोय मिदपनीति  
हानस्यसाधननामङ्गान् तद्विग्रहानपि साध्यमिदं ।” —न्यायवि० टी० पृ० ५७ । (१७) तीव्रमते श्रद्धात् ।

१ सामर्थ्यं प्र-प्र० । २ सत्तात्त्वात् व० । ३ पक्षमात्रसिद्धे प्र० । ४-प्र प्रति-व० ।

५ न्यायकारेः व० ।

एतेन हेतूपन्यासापेक्षस्य प्रयोजनप्रसाधकत्वात्' इत्यपि प्रत्याख्यातम्, नियमा-  
भावात् । कश्चिद् हेतुप्रयोगमन्तरेणापि केवलस्यैव पक्षप्रयोगस्य प्रतिपाद्यस्य प्रतिपत्ति-  
विशेषलक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रतीतेः ।

किञ्च, हेतुगोचरस्य पक्षस्यानिर्देशे हेतोरनैरान्तिक्त्वादिदोषानुपपन्नः, तमन्तरेण  
तत्र वास्तवगुणदोषविवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यथैव हि लक्ष्यनिर्देशं विना धानु- 5  
ष्कस्य इष्टं प्रतिक्षिपतो गुणोऽपि दोषतया दोषोऽपि गुणतया तत्प्रेक्षकजनानां व्यामोहात्  
प्रतिभाति, तन्निर्देशे तु तद्गुणो लक्ष्यवेधप्राचीप्यलक्षणः तद्विपरीतत्वलक्षणश्च दोषः  
तेर्षा यथावत् प्रतिभाति, एवं पक्षाऽनिर्देशे व्यामोहात् सम्यग्हेतावपि 'किमयं हेतुः  
साध्ये एव वर्तते तदभावे वा' इत्याशङ्काकलङ्कितत्वादनैकान्तिकः, 'विपक्ष एव वर्त्तिष्यते'  
इति विपरीताशङ्काऽनिवृत्ते विरुद्धो वा स्यात् । पक्षनिर्देशे तु लक्ष्यनिर्देशे वानुष्कवत् 10  
यथावत्तद्गुणदोषयोः प्रतिपत्त्युपपत्तेः न कश्चिद् दोषः ।

यदप्यभिहितम्—'केवलस्यैव पक्षस्य साध्यप्रतिपादनसामर्थ्ये हेतूपन्यासो व्यर्थः'  
इति, तदप्यभिधानमात्रम्, एनाकिन कारणस्य कार्यकारित्वाप्रतीतेः । न खलु वीजादेः  
केवलस्यैव अङ्कुरादिकार्यकरणे सामर्थ्यं दृष्टम् । नाप्येकस्य तत्र सामर्थ्ये अन्येषां वैय-  
र्थ्यम् । केवञ्चैवं हेतोः केवलस्यैव साध्यसिद्धौ सामर्थ्ये तत्समर्थनस्य उपनयादेश्च वैय- 15  
र्थ्यञ्च स्यात् । पक्षस्य अर्थसिद्धौ हेत्वपेक्षणान्न तत्सिद्धिनिवन्धनत्वम्, इत्यप्यसुन्दरम्,  
भैवत्कल्पिताऽविकल्पकाप्यक्षस्याप्यर्थसिद्धिनिवन्धनत्वाभावप्रसङ्गात् तत्सिद्धौ तस्य  
विकल्पापेक्षणात् । अथ 'तत्प्रतिपन्नमेवार्थं विकल्पो व्यवस्थापयति' इत्युच्यते, तर्हि

(१) तुलना—'तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतुगोचरदीपकः ॥ अन्यथा वाच्यभिप्रेतत्रतुगोचरभोगिनः ।  
प्रत्याव्यस्य भवेद्वस्तुविरुद्धारोकितो यथा ॥ धानुष्कगुणसप्रेक्षजनस्य परिविध्यत । धानुष्कस्य विना  
लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरी ॥ ततश्च सम्यग्हेतावपि विपक्ष एवाय वर्तते इति व्यामोहाद् विरुद्धदूषणम-  
भिदधीत, पक्षोपन्यासात् निर्णीतहेतुगोचरस्य नैप दोष स्यादित्यभिप्रायः यथा लक्ष्यनिर्देशं विना  
धानुष्कस्येयुः प्रक्षिपतो यो गुणदोषो तो तद्दृष्टिजनस्य विपर्यस्तावपि प्रतिभात—गुणोपि दोषतया, दोषोऽ-  
पि वा गुणतया, तथा पक्षनिर्देशं विना हेतुमुपन्यस्यतो वादिनो यो स्वभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वा  
समर्थत्वलक्षणो गुणदोषो तो प्राशिकप्रतिवाद्यादीना विपरीतावपि प्रतिभात इति भावार्थः ।"—न्याया-  
व० श्लो० १४-१६, टी० पृ० ४८-४९ । (२) लक्ष्यनिर्देशे । (३) धानुष्कस्य कौशल्यम् । (४)  
प्रेक्षकजनानाम् । (५) वादिनः स्वाभिप्रेतसाध्यसाधनसमर्थत्वासमर्थत्वलक्षणयोः गुणदोषयोः । (६)  
पृ० ४३६ प० १ । (७) बीजस्य हेतोर्वी । (८) अङ्कुरोत्पादने साध्यप्रतिपादने वा । (९) क्षितिस-  
ल्लिदीनाम् पक्षप्रयोगादीना वा । (१०) तुलना— तत्र च यद्दूषणमुक्तम्—तर्हि हेतोरेव तत्र साम-  
र्थ्यापपत्ते किं पक्षवचनेनेति, तदयुक्तम्, एव हि हेतोः समर्थनापेक्षस्य साध्यसिद्धिनिवन्धनत्वोपपत्ते  
तद्वचनमपि न स्यात् ।'—स्वा० र० पृ० ५५० । न्यायाव० टी० पृ० ६७ । (११) साध्यसिद्धिः ।  
(१२) सौगतः । (१३) अर्थसिद्धौ । (१४) अविकल्पकाप्यक्षस्य । (१५) निविकल्पप्रतिपन्नः ।

१ इत्यत्रापि थ० । २ केवलस्यस्यैव व० । ३ यथावद्गुण—आ० । ४—कार्यकारणे आ० ।  
५—निवन्धनम् व० ।

पक्षप्रतिपादितमेवार्थं हेतु प्रतिपादयति, तत्रप्रतिपादितञ्च प्रमाणांतर समर्थयत इत्यप्युच्यतामविशेषात् । इदमेव च पक्षस्य स्वरूपम्—यद् हेत्वपेक्षस्य अर्थप्रतिपादकत्व नाम । 'पैच्यते क्रोमलीक्रियते हेतुना मुकुमारप्रज्ञाना साध्यधर्मान्वितत्वेन व्यक्ततामापाद्यते इति पक्ष' इति व्युत्पत्तेः ।

यदि च पक्षो नेष्यते कथं तर्हि सपक्षविषयव्यवस्था स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्याः ? तदभावे च त्रिरूपस्य हेतोरप्यनुपपत्तेरनुमानोच्छेद स्यात् ।

किञ्च, प्रतिज्ञाया प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत अविशेषात् । न चैवम्, तत्र तत्रयोगदर्शनात् । नहि शास्त्रेऽनियतकथाया वा प्रतिज्ञा नाभिधीयते 'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽय शिशापात्वात्' इत्याद्यभिधानाना तत्रोपलम्भात् । 'परानुग्रहप्रवृत्ताना शास्त्रकाराणा प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्य' इत्यभ्युपगमे वादेऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तद्वदशत्वादिति<sup>१०</sup> ।

ननु लिङ्गस्य साध्याविनाभावैकलक्षणत्वमयुक्तम्, तस्यै पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रया पक्षधर्मवदिरूपस्य लिङ्गलक्षणवदुदासपुरस्सरतस्य अविनाभावैकलक्षणत्वमयनम्— न्वितत्वेन एकलक्षणत्वायोगात् । तदनन्वितत्वे हेतो असिद्धत्वादिदोषानुपपन्नात् । नहि पक्षधर्मत्वाभावे अस्य असिद्धत्वव्यवच्छेद, सपक्षे सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदास, विपक्षेऽसत्त्वाभावे च अनैकान्तिरुत्वनिषेध कर्तुं शक्य इति । उक्तञ्च—

(१) हेतुप्रतिपादितञ्च । (२) समथनरूपम् । (३) तुलना— पच्यते इति पक्ष । पक्षव्यक्तीकरण । पच्यते व्यक्तीक्रियते याव स पक्ष । —न्यायप्र० वृ० पृ० १३ । न्यायसाटी० पृ० १०१ । (४) पक्षपूर्वव वात । (५) सपक्षविषयव्यवस्थाया । (६) सपक्षविषयव्यवस्थाया अभावे । (७) तुटना— प्रतिनानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयत विषयाभावात् । 'नहि शास्त्र प्रतिज्ञा नाभिधीयत एव अनियतकथाया वा अग्निरत्र धूमात् वृक्षोऽय शिशापात्वात् इत्यादिवचनाना शास्त्र दग्नात् विरुद्धोऽय हेतुरसिद्धोऽयम्' इत्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथाया प्रयोगात् । —अष्टसह० पृ० ८३ । प्रमेयक० पृ० ३७३ । ह्या० २० पृ० ५५१ । (८) प्रयोगानर्हत्वाविशेषात् । (९) शास्त्रादौ । (१०) मुगोष्ठपाम । (११) शास्त्र मुगोष्ठया वा । (१२) तुटना— परानुग्रहप्रवृत्ताना शास्त्रकाराणा प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधिया शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव उपयोगित्वात्तस्यति चेत् वादेऽपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तादृशत्वात्, वादेऽपि विजिगीषुप्रतिपादनाय आचार्याणां प्रवृत्त । —अष्टसह० पृ० ८३ । प्रमेयक० पृ० ३७३ । ह्या० २० पृ० ५५१ । (१३) प्रतिज्ञाप्रयोगोऽस्तु । (१४) वादेऽपि । (१५) शास्त्रकाराणाम् । (१६) परानुग्रहप्रवृत्तिसत्त्वात् । (१७) प्रकारान्तरेण पक्षप्रयोगसमयन निम्नपक्षपु इत्यव्ययम्—प्र० ४०० पृ० ६०१ । न्यायप्र० पृ० ५७१ । न्यायवा० ता० टी० पृ० २७५ । प्र० ४२० पृ० २३५ । प्र० किर० पृ० ३३५ । प्रमाणमी० पृ० ५१ । (१८) 'हितुस्त्रिरूप । किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम् सपक्षे सत्त्वम् विषय चासत्त्वमिति । —न्यायप्रवे० पृ० १ । ईरूप्यं पुन लिङ्गस्यानुमेय सत्त्वमेव अनुमेय वक्ष्यमाणलक्षणम् तस्मिन्निगस्य सत्त्वमेव निश्चिनमं' रूपम् तत्र सत्त्ववचनन अमिद्ध चाभ्युपवादि निरस्तम् । एवकारेण पक्षव्येगा

१ इत्यभ्युपगमाविशेषात् व० २ इदमेव पक्ष—आ थ० । ३ इतिपक्ष नास्ति व० । ४ शास्त्रनिय-  
था० । ५ वादे सो—वादे सा—थ० । ६ पच्यते इति व० ।

“हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतैः ॥” [प्रमाणवा० ३।१४] इति ।

अत्रोच्यते—न पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं हेतोलक्षणम्, विपक्षेऽप्यस्य वर्त्तमानत्वात्, यद् विपक्षेऽपि वर्त्तते न तत् लक्षणम् यथा सत्त्वम् अग्नेः, विपक्षेऽपि हेत्वाभासलक्षणे वर्त्तते च पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमिति । यदेवै हि विपक्षासाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रसिद्धम्, यथा भासुरूपोष्णस्पर्शवत्त्वम् अग्नेः । न चेदं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं

सिद्धो निरस्तो हेतु, यथा चेतनास्तरव स्वापात् इति । पक्षीकृतेपुतरपु पत्रसकोचलक्षण स्वा प एकदेशेन सिद्ध । न हि सर्वे वृक्षा राशौ पत्रसकोचभाग, किन्तु केचिदेव । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेन एवकारेण असाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि हि अनुम्ये एव सत्त्वमिति कुर्यात् थावणत्वमेव हेतु स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्ध सर्वो निरस्त । सपक्षएव सत्त्वम्. सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण, तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चित द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्त, स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिक, अनित्य शब्द प्रमेयत्वात्, स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तुभयत्रापि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वावधारणवचनेन सपक्षव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीयवक्ष्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थं स्यात्—सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकं न हेतु स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोजनैकान्तिको निरस्त, यथा सर्वज्ञः कश्चिद् धक्नुत्वात्, घक्तुत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम्, असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षण, तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरास, विरुद्धो हि विपक्षोऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेनिरास, नित्य शब्द कृतकत्वान् खवत् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये हि अनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादावस्ति आकाशादौ नाम्नि ततो नियमेनास्य निरास । असत्त्ववचनान् पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमर्थः स्यात्— विपक्षे एव यो नास्ति स हेतु । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति ततो न हेतु स्यात्, तत् पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको नैकान्तिको निरस्त ।” —न्यायबि०, टी० पृ० ३१-३३ । वादन्याय पृ० ६० । तत्त्वस० पृ० ४०४ ।

( १ ) ‘निश्चय’—प्रमाणवा० । ( २ ) अभावादित्यर्थ—आ० टि० । ( ३ ) अस्य व्याख्या—“यत एव तेन कारणेन हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु पक्षधर्मव्यव्यतिरेकेषु निश्चयो वर्णित आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु ‘असिद्धस्तु द्वयोरपि साधनम्’ इत्यादिना । कस्य निरामेनेत्याह—असिद्धेत्यादि । आद्यादित्वान् तृतीयार्थे तमि विपक्षेण इत्यर्थः । तत्र असिद्धविपक्षेण पक्षधर्मत्वनिश्चयो वर्णित । विपरीतार्थो विरुद्ध, तस्य विपक्षेण अन्वयनिश्चय । व्यभिचार्यनैकान्तिक, तस्य विपक्षेण व्यतिरेकनिश्चय ।” —प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० । स्या० २० पृ० ५१८ । “तेन—प्रतिबन्धस्यावस्थाभ्युपगन्तव्यत्वेन हेतो त्रिष्वपि . . .” —प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३ । प्रमाणप० पृ० ७२ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । ‘निश्चयस्तेन’—बृहदा० भा० वा० पृ० १५२१ । स्या० २० पृ० ५१८ । ( ४ ) हेत्वाभासेऽपि । तुलना—“निश्चित पक्षधर्मत्व विपक्षेऽसत्त्वमेव च । सपक्ष एव जन्यत्वं तत्रयं हेतुलक्षणम् ॥ केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेऽपि सम्भवात् । असाधारणतापायाल्लक्षणत्वाविरोधत ॥ असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारिदाग्नेरीण्यवत्, न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता तद्धेतो तदाभासेऽपि तस्य समुद्भवत् ।” —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९८ । ( ५ ) तुलना—“यदेव हि लक्ष्यमाधारणं स्वरूपं तदेव लक्षणतया लोके प्रतीतमव्यभिचारित्वात्, यथा भासुरूपोष्णस्पर्शवत्त्वमग्नेः ।” —स्या० २० पृ० ५१८ ।

तथाविध तत्पुत्रत्वात् तदाभासेऽपि गतत्वात् पञ्चरूपत्वादिवत् । अथ अन्यथानुपत्ति  
नियमत्रैरूप्य तल्लक्षण न त्रैरूप्यमात्रम्, तथाविधञ्च तत् तदाभासे नास्तीति, तदप्य  
सङ्गतम्, एव सति त्रैरूप्यकल्पनाऽनर्थक्यप्रसङ्गान् तन्निरर्थमादेवास्य गमकत्वोपपत्ते ।

न खलु कृतिकोदयात् शकनेदयाद्यनुमाने पक्षधर्मता सभवति । अथ 'कौला

काशादि भिष्यच्छकटोदयादिमान् कृतिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलक्षकालादिवत्' इती  
त्यमत्रै पक्षधर्मताऽभिधीयते, तर्हि न कश्चिदर्पक्षधर्मको हेतु स्यात्, काककाष्ण्यदेरपि  
प्रासादधावत्ये साध्ये नगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितुं मुशकत्वात्, तथाहि—  
जगन् प्रासादधावत्ययोगि कारुकाष्ण्ययोगित्वात् । तथा महोदध्याधाराऽग्नियोगि तत्  
महानसधूमयोगित्वात् पूर्वोपलक्षजगत्त्वदिति । लोकविरोध अन्यत्राप्यविशिष्ट । तन्न  
पक्षधर्मत्व हेतोर्गमकत्वाद्गम् ।

नैपि सपक्षे सत्वम्, 'अनित्य शब्द श्रावणत्वात्, सर्वं क्षणिक सत्त्वात्'

(१) विपश्चासाधारणम् । (२) तुलना— न च सपक्ष सत्त्व पक्षधर्मत्व विपक्ष चासत्त्वमात्र  
साधनलक्षणम् स इयाम् तत्पत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदियन् साधनाभागे तत्सदभावसिद्ध । सप ३ हीतरत्न  
तत्पुत्र तत्पत्रत्वस्य साधनस्य इयाम् व्याप्तस्य सत्त्व प्रसिद्धम् विवादाध्यामिने च तत्पुत्र पक्षीकृते  
तत्पुत्रत्वस्य सदभावात् पक्षधर्मत्वम् विपक्ष वाऽयामे क्वचिदप्युत्र तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्ष सत्त्व  
मात्र च । न च तावता साध्यसाधनत्व साधनस्य । —प्रमाणप० प० ७० । सप्तमि० टी० प० ५९०।  
स्या० २० प० ५१८ । प्रमेय० ३।१५ । प्रमाणमी० प० ४० । यावदी० प० २६ । (३) अवि  
नाभावनियमवत्रत्यम् । (४) अन्यथानुपत्तिनियमात् । (५) तुलना— न हि गवट धमिणि  
उत्प्रेष्यताया माप्याया कृतिकाया उदयोऽस्ति तस्य कृतिकायमत्त्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम् । —  
प्रमाणप० पृ० ७१ । प्रमेयक० पृ० ३५४ । स्या० २० प० ५१९ । प्रमेय० ३।१५ । प्रमाणमी०  
पृ० ४० । न च वमपि इव उदप्यति सक्ता अद्यतनादियत्त्वात् जाना समुद्रवृद्धि गताङ्को  
दप्यगाना इत्यादिप्रयोगेषु हेतो पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेर्न पक्षधर्मत्व लक्षणम् ।  
—स मति० टी० पृ० ५९१ । (६) तथा न च द्रोण्यात् समुद्रवृद्धयनुमान च द्रोण्यात् (पूव  
पश्चात्पि) तन्नुमानप्रमङ्गलम् । च द्रोण्यात् एव तन्नुमान तत्त्व व्याप्तगृहीतवादिदिति चेत् यद्यत्  
तत्रात्रमर्वा यत्वेव साध्यसाधनयो तदा च स एव कारणे धर्मा तत्र च साध्यानुमान च द्रोण्यात्  
न तद्वधीति वपयन्पक्षधर्मत्वम् ? —प्रमाणवा० स्वव० टी० १।३ । (७) कृतिकोदयात् । (८)  
तुलना— कालान्धमिष्यतायाभिप्रमङ्गलम् । —प्रमाणप० पृ० १०४ । यन् पुनराकाग बालो वा  
धर्मा तस्योप्युत्पन्नत्व माध्य कृतिकोदयसाधन पक्षधर्म एवेति मतम् तदा परिचीरमिणि महोद  
ध्याधारानिमत्त्वं साध्य महानसधूमवत्त्व साधन पक्षधर्मोऽस्मिन् तथा च महानसधूमो महोदधी अग्नि  
गमयन्ति न कश्चित्पत्रमा हेतु स्यात् । प्रमाणप० पृ० ७१ । तत्त्वायल्लो० पृ० २०० ।  
सप्तमि० टी० पृ० ५९१ । स्या० २० पृ० ५१९ । जननका० पृ० १२ । कृतिकोदयपुरात् काल  
ान्धमिष्यतात् । यन् स्यात्पक्षधर्मत्वं चागुप्य न किञ्चि (किं घनी) जननका० प० पृ०  
१४० । ग्यादाव० टी० पृ० ३५ । (९) जगन् । (१०) तुलना नि गप सामक जीवच्छदगर परिणा  
मिना । युगा प्राणान्धमत्वस्य व्ययानुपगतम् ॥ मत्पक्षधर्मत्ववत्त्वे हेतोरस्य समथनात् । नून निचायते  
सन्निर्गमयो हनुत्पन्नम् ॥ क्षणिकत्वेन न व्याप्त सत्वमर्त्वं प्रसिद्धमिति । यदिदप्यनित्यत्वे ततो-

इत्यादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीतेः । विपक्षे वाधकप्रमाणबलात् अन्तर्व्याप्ति-  
सिद्धेरस्यै गमकत्वे बहिर्व्याप्तिकल्पनाऽनर्थक्यम्, अतै एव सर्वत्र गमकत्वोपपत्तेः । तत्र  
पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम् ।

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याऽविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव, अतस्त-  
देयै प्रधानं हेतोः लक्षणमस्तु अल लक्षणान्तरेण । न च सपक्षे सत्त्वाभावे हेतोरनन्व- 5  
यत्वानुपपन्नः; अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्य अन्वयस्य सद्भावात् अन्यथानुपपत्ति-  
रूपव्यतिरेकवत् । नहि 'दृष्टान्तधर्मिण्येव अन्वयो व्यतिरेकश्च प्रतिपत्तव्य इति नियमो  
युक्तः; सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । नहि निरन्वयं क्षणिकत्वं  
क्वचिदपि प्रसिद्धम्, शब्द-विद्युत्-प्रदीपाद्यावपि विप्रतिपत्तेः ।

यदप्युक्तम्—'पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयासम्भवे हेतोरसिद्धत्वादिदोषानुपपन्नः' इत्यादि; 10  
तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; अन्यथानुपपत्तिनिश्चयलक्षणत्वादेव अस्य असिद्धत्वादिदोषप-  
रिहारसिद्धेः । स्वयमसिद्धस्य अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासम्भवो विरुद्धाऽनैकान्तिकवत् ।  
तथापि अविनाभावप्रपञ्चत्वात् पक्षधर्मत्वादेः असिद्धादि (द्वत्वादि) व्यवच्छेदार्थमभिधाने  
निश्चित्यस्यापि रूपान्तरस्य अज्ञातासिद्धताव्यवच्छेदार्थम्, अवाधितविषयत्वादेश्च वाधित-  
विषयत्वादिव्यवच्छिन्नतये अभिधानप्रसङ्गः । तत्र सौगतपरिकल्पितं पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयं 15  
हेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

सिद्धि क्षणक्षये ॥"—तत्त्वार्थश्लो० ४० २०१-२०२ । "सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादे शब्दा-  
नित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीते ।" —प्रमेयक० पृ० ३५५। स्या० २० पृ० ५१९ ।

(१) "पक्षीवृत्त एव साधनस्य साधनेन व्याप्तिरन्तर्व्याप्ति, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्ति । यथा  
अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः, अग्निमानयं देशो धूमवत्वात्, य एवं स एवं यथा पाकस्या-  
नम् ।"—प्रमाणनय० ३।३६। (२) सत्त्वस्य श्रावणत्वस्य वा । (३) अन्तर्व्याप्तिरेव । (४) तुलना-  
"माध्याभावे विपक्षे तु योऽसत्त्वस्यैव निश्चयः । सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तथाह च ॥"—तत्त्वार्थ-  
श्लो० ५० २०३। प्रमेयक० ४० ३५६। स्या० २० पृ० ५२१। (५) विपक्षासत्त्वमेव । (६) तुलना-  
"अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादान्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् ।"—प्रमेयक० ५०  
३५६। स्या० २० पृ० ५२०। (७) तथा साध्ये सत्येव उपपत्तिः साधनस्य । (८) अन्यथा साध्याभावे  
अनुपपत्तिः अभावः साधनस्य । (९) शब्दादीनामपि द्रव्यार्थतया नित्यत्वाम्बुपगमात् । (१०) ४३८  
पं० १२ । (११) तुलना—"हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारसिद्धे, स्वयमसिद्धस्य  
अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासम्भवात् अनैकान्तिकविपरीतार्थवत् । तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयरूप-  
त्वात् । तस्य च असिद्धे व्यभिचारिणि विरुद्धे च हेतावसंभावनीयत्वात् ।"—प्रमाणप० ४० ७२। तत्त्वार्थ-  
श्लो० ४० २०३ । प्रमेयक० ४० ३५४। स्या० २० पृ० ५२१ । प्रमेय० ३।१५। प्रमाणमी० ४० ४० ।  
(१२) हेतो—आ० टि० (१३) असिद्धादीनाम् अविनाभावशून्यत्वे सत्यपि । तुलना—"रूपत्रय-  
स्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि । निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम् ॥ त्रिपु रूपेषु चेद्रूपं  
निश्चितत्वं न साधने । नाज्ञातासिद्धता हेतो रूप स्यात्तद्विषयम् ॥"—तत्त्वार्थश्लो० ४० २०३ ।  
प्रमाणप० ४० ७२ । स्या० २० पृ० ५२१। (१४) अज्ञात सन्नसिद्ध तद्भावस्तत्ता—आ० टि० ।



नापि यौगोर्पकल्पित पञ्चरूपत्वम्, पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात्,

साध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अवाधितविषयत्वादेरप्यसम्भवात्,  
यागपरिकल्पितस्य साध्याऽविनाभावव्यतिरेकेणाऽपरस्य अवाधितविषयत्वादेरप्यसम्भवात्,  
पाञ्चरूपस्य प्रतिवि अतस्तदेव प्रधान हेतोर्लक्षणमस्तु किं पञ्चरूपकल्पनया ? नहि  
धानम्— 'अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् जलत्वं' इत्यादावपि अविनाभावाभावादन्यद्

5 वाधितविषयत्व नाम प्रतीयते, वैधितविषयत्व अविनाभावयो विरोधात् । साध्यसद्भाव  
एव हेतो धर्मिणि सद्भाव अविनाभाव, तदभावे एव च तत्र तत्सम्भयो विषयवाधेति ।

किञ्च, अवाधितविषयत्व निश्चितम्, अनिश्चित वा हेतोर्लक्षण स्यात् ? न  
साधदनिश्चितम्, अतिप्रसङ्गात्, अज्ञायमानस्य ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वाच्च । नापि निश्चितम्,  
तन्निश्चयनिबन्धनाऽसम्भवात् । तन्निबन्धनं हि अनुपलम्भ, सवाद, अन्यद्वा किञ्चित् ?  
10 तत्राद्यधिकल्पोऽयुक्त, सर्वोत्सम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वात् ।

(१) 'तत्र परोक्षोऽर्थो लिङ्गचते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम तच्च पञ्चलक्षणम् । कानि पुन पञ्च  
लक्षणानि ? पक्षधर्मत्व सपक्षधर्मत्व विपक्षाद्वावृत्तिरवाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति । सिद्धाद्यधि  
वितधमविशिष्टो धर्मो पक्ष, तद्धर्मत्व तदाधितत्वमित्यथ । साध्यधमयोगेन निज्ञातं धम्यन्तर सपक्ष तत्रा  
स्तित्वम् । साध्यधमसस्यगदूयो धर्मो विपक्ष ततो व्यावृत्ति । अनुमेयस्याधस्य प्रत्यक्षणागमन वाज्जपह  
रणमवाधितविषयत्वम् । सशयबीजभूतेनार्थेन प्रत्यनुमानतया प्रयुज्यमाननानुपहृतत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम् ।  
एत पञ्चभिलक्षणैरूपपन्न लिङ्गमनुमापक भवति । 'न्यायम० पृ० १७० । न्यायकलि० पृ० २ । न्याय  
सा० पृ० ६ । पञ्चसु वा चतुर्षु वा रूपेषु हतोरविनाभाव परिसमाप्यते तस्मादाधितत्वात्सत्प्रतिपक्षित  
त्वरूपद्वयसमूचनाया निगमनमिति —न्यायवा० ता० पृ० ३०२ । अतश्चानयो (कालात्ययापदिष्टप्रक  
रणसमयो) व्यवच्छेदाधमवाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्व च समानत त्रगनमभ्युह्यम्, चान्दस्यानुक्तसमु  
च्चयापत्वात् ।'—प्रदा० व्यो० पृ० ५६५ । (२) तुलना— साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्य अवा  
धितविषयत्वादेरसम्भवात्—प्रमेयक० पृ० ३५७ । (३) अविनाभावित्वमेव । (४) तुलना— अयथानु  
पपनत्व रूपं कि पञ्चभि कृतम् । नान्यथानुपपन्नत्व रूपं कि पञ्चभि कृतम् ॥'—प्रमाणप० पृ०  
७२ । स्या० १० पृ० ५२७ । (५) तुलना— बाधाया अविनाभावस्य च विरोधादिति । तथाहि—सत्यप्य  
विनाभावे यथोक्ते बाधासम्भव मन्यमानैरवाधितविषयत्व रूपान्तरमुच्यते सा चय तत्सम्भावना न सम्भ  
वति बाधाया अविनाभावेन विरोधात् सहानवस्थानलक्षणत्वात् । तमव विरोध साध्ययन्नाह—अविनाभावो  
हि इत्यादि । सत्यप्य हि साध्यधर्म भावो हतोरविनाभाव उच्यते, प्रमाणबाधा तु तस्मिन्सति । यदि  
हि सत्यप्य तस्मिन्सदाभावविषय प्रमाण प्रवर्तेत तदास्य भान्तत्वात्प्रमाणतैव स्यादिति कुतो बाधा ?  
तत स हेतुस्तल्लक्षण साध्याविनाभावी धर्मिणि स्यात् अत्र च साध्यधम कथन्न भवेत् यतो बाधाव  
काग स्यात् । तस्मान्विनाभावस्य प्रमाणबाधायाञ्च सहानवस्थानम्, अविनाभावैवोपस्थापितस्य  
च तदभावस्य परस्परपरिहारेऽस्मिन्निर्लक्षणतया विराघन एवत्र धर्मिण्यसम्भवान्ति ।'—हेतुबि० टी०  
पृ० १९५ B । बाध्यापटी० पृ० १३८ । न्यायम० पृ० ४४८ । प्रमेयक० पृ० ३५७ । प्रमाणमी०  
पृ० ४१ । (६) साध्याभाव एव । (७) धर्मिणि विषयम् । (८) हेतुमभवेव । (९) तुलना—  
'किञ्चावाधितविषयत्व निश्चयमनिश्चितं वा हेतोरक्षण स्यात् ?'—प्रमेयक० पृ० ३५८ ।  
(१०) अवाधितविषयवनिश्चय । (११) तुलना—'तन्निबन्धन ह्यनुपलम्भ मवादो वा स्यात् ।  
—प्रमेयक० पृ० ३५८ । (१२) तुलना— सर्वोत्सम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य असिद्धाऽनैकान्तिकत्वात् ।  
विध्यादिरयदुक्तैरदुष्काराणि मत्वन ॥ —सत्त्वस० पृ० ६५ । स्वसयानुपलम्भयो । अरेवा

1 —बाधविनाभाववादयद् आ०, —बाधविनाभावभावावायद् थ० ।

द्वितीयविकल्पोप्यनुपपन्नः; प्रागनुमानप्रवृत्तेः संवादस्याऽसिद्धत्वात् । तदुत्तरकालं तस्सिद्धयभ्युपगमे त्वन्योन्याश्रयः; तथाहि—अनुमानात् प्रवृत्तौ संवादसिद्धिः; ततश्च अबाधितविषयत्वसिद्धेरनुमानप्रवृत्तिरिति । अथान्यत् किञ्चित्; तत् किं तद्विषयं प्रमाणान्तरम्, अविनाभावावगमो वा ? तत्र प्रमाणान्तरात् कुतश्चिदबाधितविषय- 6  
त्वावगमे हेतोरकिञ्चित्करत्वं साध्यस्यापि अत एवावगमात् । न ह्यसति साध्यसद्भावा-  
वगमे तद्भावाविरहो निश्चेतुं शक्यः । अथाविनाभावावगमात् तदवगमः; तन्न; पञ्च-  
रूपयोगिनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तिवादिनाम् अबाधितविषयत्वस्याऽनवगमे अवि-  
नाभावाऽवगमस्यैवाऽसंभवात् । ततोऽबाधितविषयत्वस्याऽसिद्धेः न तद्वेतोर्लक्षणं युक्तम् ।

नाप्यसत्प्रतिपक्षत्वम्; यतः प्रतिपक्षः तुल्यबलः, अतुल्यबलो वा सत्त्वेन प्रति-  
पिध्येत ? तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावानुपपत्तिः । ययोस्तुल्यबलत्वं न तयोर्बाध्यबा- 10  
धकभावः यथा राज्ञोः, तुल्यबलत्वञ्च पक्षप्रतिपक्षयोरिति । अतुल्यबलत्व तु अनयोः  
किञ्चित्—पक्षधर्मत्वादिभावाभावाकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ? न तावत् प्रथमपक्षो  
युक्तः; पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यविशेषात् । नहि मूर्खत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वादेः पक्षधर्म-  
त्वादिकं न संभवति, शौखव्याख्यानलिङ्गस्यैव वा संभवति । द्वितीयपक्षोऽप्यसंभाव्यः;  
अनुमानबाधाया अद्याप्यसिद्धेः । नहि द्वयोः पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वम् 15  
अपरस्य च बाधकत्वं युक्तम्, अविशेषेणैव तत्प्रमद्भात् । अन्योन्याश्रयश्च;

सिद्धते "न्यायवि० का० ४०६ । तत्त्वायंश्लो० पृ० १३ । सप्तमि० टी० पृ० १८ । आत्मतत्त्ववि०  
पृ० ९४ । तर्कभा० मो० लि० पृ० २२ । न्यायली० पृ० २२ । सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सर्वस-  
त्वमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वादिसिद्धत्वम्, आत्मसम्बन्धिनोऽप्यलम्भस्तु परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारी ।

(१) अनुमानप्रवृत्त्यनन्तरम् । (२) संवादसिद्धिस्वीकारे । (३) अर्थत्रियाया सत्याम् अर्थ-  
त्रियास्यतिलक्षण संवाद सिद्धयति । (४) तुलना—“तद्भावाभावनिर्णीति सिद्धा चेत्साधनेन किम् ।  
यथैव हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये ॥”—तत्त्वायंश्लो० पृ० २०५ । “तदाप्यकिञ्चित्करत्वं हेतो ,  
यथैव हि हेतोर्विषयस्य बाधासद्भावनिश्चये तत्साधनासमर्थत्वादिकिञ्चित्करत्वं तथैव बाधाविरह-  
निश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावासिद्धेस्तत्साधनाय प्रवर्तमानस्य सिद्धसाधनादपि इति ।”—स्या० २० पृ०  
५२६ । (५) प्रमाणान्तरादेव । (६) अबाधितविषयत्वावगम-आ० टि० । (७) योगानाम्—आ०  
टि० । “एतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभाव समाप्यते”—न्यायकलि० पृ० ३ । (८) तुलना—“यत्  
प्रतिपक्षस्तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा सन् स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ३५९ । स्या० २० पृ० ५२७ । “अत आह  
तुल्ये लक्षणे हि इत्यादि । शङ्क्यमानप्रतिहेतुना तुल्य लक्षण दर्शनादर्शनमात्रनिमित्ताविनाभावरूप यस्य  
तस्मिन्, दृष्ट प्रतियोगिन प्रतिहेतोर्बाधकस्य संभव स मेपामपि तत्तुल्यलक्षणाना प्रतियोगी न दृश्यते  
तेष्वपि शका प्रतिहेतुसम्भवविषयामुत्पादयति । किं कारणम् ? अदृष्टप्रतियोगिनो दृष्टप्रतियोगिनो विशे-  
पाभावात् । न हि तस्यैतरेण कश्चिद्विशेषोऽस्ति यतस्तत्संभवो न शक्येत । अथ विशेष. प्रतिबन्ध-  
लक्षणोऽविनाभावनिश्चायको दृष्टप्रतिहेतोरदृष्टप्रतियोगिन इत्यते, यत् प्रतियोगिसंभवाशकाऽस्तमुपैति  
तदा सति वा विशेषे स विशेषो हेतौर्लक्षणम् ।”—हेतुवि० टी० पृ० २०४ A. । (९) अमूर्खोऽप्य  
शास्त्रव्याख्यानादित्यस्यापि संभवात्—आ० टि० । (१०) बाध्यत्वस्य बाधकत्वस्य वा ।

तथाहि—अतुल्यबलत्वे अनुमानबाधा, तस्याञ्च अतुल्यबलत्वमिति । ततः सूक्तम्—  
यथोक्ताल्लिङ्गात् लिङ्गिधीः अनुमानमिति ।

ननु चास्य निष्फलत्वात् किं तत्स्वरूपनिरूपणप्रयासेन ? फलवता हि प्रमाणेन  
भवितव्यम् नान्येन अतिप्रसङ्गात्, इत्याशङ्कानुपनोदार्थं 'तत्फलम्' इत्याद्याह । तस्य

- ५ अनुमानस्य फलं हानम् आदिर्दिस्य उपादानानादेः तस्य बुद्धयः । ननु न किञ्चिद्  
वास्तव प्रमाणमस्ति नापि तत्फलम् अन्यत्राऽविद्यावासनाविशेषात्, इत्यप्यविचारित-  
रमणीयम्; तदुभयसद्भावस्य वास्तवस्य 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरो-  
त्तरम्' [ लघी० का० ७ ] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्ररूपितत्वात् ।

अत्र सौगतः प्राह—यदुक्तं 'साध्याविनाभाव' इत्यादि, तत्सूक्तम्; अविनाभा-

- १० अविनाभावस्य तादा  
त्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव  
नियतत्वात् कार्यस्व  
भावहेतावेव तत्समा-  
वन्ति नैदस्य पूर्वपक्ष  
वधलेनैव सर्वत्र हेतोः गमकत्वप्रतीतेः, स त्वविनाभावः तादात्म्यतदु-  
त्पत्तिनियतत्वात् कार्यस्वभावहेतावेव अवतिष्ठते । तदात्म्येन हि  
स्वभावहेतोः अविनाभावः परिसमाप्यते, तदुत्पत्त्या तु कार्यहेतोः ।  
न च अन्यलिङ्गमस्ति, अनुपलब्धेरपि स्वभावहेतौ अन्तर्भावात् ।  
घटाद्यर्भावो हि घटादिविविक्तभूतलादिस्वभावः, तदनुपलब्धिश्च

- १५ तद्विविक्तभूतलादिस्वभावोपलब्धिः ।

तैत्प्रतिपत्तिश्च उद्धानात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, कार्यहेतोरविनाभावस्य प्रत्यक्षा-

(१) अनुमानस्य । (२) काकदन्तादीनामपि निरूपणप्रसङ्गात् । (३) प्र० २०८ । (४)

'त च प्रतिबन्ध साध्यर्थे लिङ्गस्य वस्तुनस्तान्तादात्म्यात् साध्यादर्थादुत्पत्तेरच । अतस्त्वभावस्यातदुत्पत्तेरच  
तत्राप्रीतिबद्धस्वभावत्वात् । त च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।'

न्यायवि० पृ० ४०-४२ । । कार्यकारणाभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकान् । अविनाभावानियमो दर्शनात्ता-  
दर्शनत् ॥ यत् एव प्रतिबन्धवशाद् गमकत्वात्तस्मान् कार्यकारणाभावाद्वा नियामकान् साध्यसाधनयो-

रव्यभिचारसाधकात् स्वभावाद्वा तादात्म्यउत्पत्तिनियामकान् कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गभ्याविनाभाव  
साध्यधर्मं विना न भाव इत्यथ —प्रमाणत्वा० स्वव० टी० ११३३ । हेतुवि० टी० पृ० ६ B । यत्तादा-

त्म्यतदुत्पत्त्या सम्बन्ध परिनिश्चितम् । तदव साधनं प्राहुः सिद्धय न्यायवादिनः ॥ —तत्त्वम० पृ० ४२९ ।  
(५) "इम सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगा स्वभावानुपलब्धी मग्रहमुपयान्ति" —न्याय-

वि० पृ० ५५ । "अनुपलब्धेस्तु स्वभावेऽन्तर्भावः ।" —तत्त्वम० पृ० ५३१ । 'स्वभावानुपलब्धिस्तु  
स्वभावहेतावन्तर्भावनिति तस्या तादात्म्यउत्पत्ति एव प्रतिबन्धः । व्यापककारणानुपलब्धी तु तादा-

त्म्यतदुत्पत्तिउत्पत्तिप्रतिबन्धवशादेव व्याप्यव्यापकयानिर्वाति साधयत ।' —हेतुवि० टी० पृ० ७ A. । (६)  
यस्मादन्तर्ज्ञानगमनिर्गो प्रत्यक्षेण एवस्य ग्रहणमेव अन्यस्याग्रहणम्, तदग्रहणमेव च तस्याभावग्रहणम्,

भाव हि तस्याग्रहणयोगात् । यदाह—अग्रहणुमाकन्य तदव्यभिचाराच्चोपलम्भ मत्ता, तदभावेऽनुपलब्धि-  
रमता, अन्यात्प्रतिबन्धानुपलब्धिर्गतिः । —प्रमाण वा० स्वव० टी० ११५ । (७) घटानुपलब्धिः । (८)  
घटादिनि । (९) अविनाभावप्रतिपत्तिश्च । (१०) तुलना—गोपक० पृ० १२ टि० ३ । "वस्तु

अग्निधूमव्यतिरिक्ततया प्रथमं धूमस्यानुपलम्भ एव, तदनन्तरमग्नरुपलम्भ तत्रा धूमस्यत्युपलम्भद्वयम्,  
परवादनन्तरानुपलम्भात्तन्तर धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भातिरिति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चवाद् व्या-

१-प्ररूपण-व० । २ साध्याविनाभावहेतेनैव आ० । ३ तदमुक्तम् अ० । ४ कार्यहेतोः स्वभाव-  
ध०, कार्यतत्त्वाद्वाहे-व० । ५-एवा वा-व० । ६-सस्ये आ० । ७ इत्यादिपि व० ।

नुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः । तथाहि—अग्निधूमव्यतिरिक्तेषु उपलभ्यमानेष्वपि भूत-  
लाद्यर्थेषु प्रथमम् अग्निधूमयोरनुपलम्भः एकः, अनन्तरम् अग्नेरुपलम्भः ततो धूमस्य  
इत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भः इति द्वावनुप-  
लम्भौ, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन एकस्यामपि व्यक्तां कार्यकारणभावावगमो भवति  
अग्नेः कार्यं धूमः । यैश्च यत्कार्यः स तेन नियतः । यदि तेन नियतो न स्यात् तर्हि  
निरपेक्षत्वात् नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । यैश्च नियतः स नियामकवान्, तदभावे  
स्वातन्त्र्यात् नित्यं सत्त्वासत्त्वयोः पुनः प्रसङ्गः स्यात् । ततश्चायमर्थः सम्पन्नः—यो  
यस्मादुत्पद्यमानः सकृदप्युपलब्धः स तस्मादेव नान्यस्मात्, अहेतोस्तदुत्पत्तौ सर्वस्मात्  
सर्वस्योत्पत्तिः, इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन स्वभावहेतुद्वयेन च कार्यहेतोः सार्वत्रिकी  
व्याप्तिः प्रतीयते ।

स्वभावहेतोस्तु विपक्षे बाधकप्रमाणेन, यथा सत्त्वस्य क्षणिकत्वेन । तथाहि—  
अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वम्, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, तै चाऽक्ष-  
णिकान्निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादाय निवर्त्तेते, सां च सत्त्वम् । कस्मात् पुनः  
अक्षणिकान् क्रमयौगपद्योर्व्यावृत्तिरिति चेत् ? नानारूपत्वात् । कालतः पौर्वापर्यं हि  
क्रमः तद्विपरीतं यौगपद्यम्, इत्थञ्च ते नानारूपे, अक्षणिकत्वञ्च एकरूपता, एकरूपता-  
नानारूपते च एकाधिते विरुद्धे, अतः अक्षणिकान्निवर्त्तमानं सत्त्व क्षणिक एव अद्यतिष्ठते  
प्रकारान्तरासंभवात् । नहि क्षणिकाऽक्षणिकव्यतिरिक्तस्तृतीयः प्रकारोऽस्ति यतस्तत्रै  
अस्य वृत्तिराशङ्क्येत ।

प्रिग्रह इत्येषा सिद्धान्तः । तदुक्तम्—“धूमाधीर्बह्विजान धूमज्ञानमधीस्तास्यो । प्रत्यक्षानुपलम्भा  
भ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥”—जैनतर्कभा० पृ० ११ । “प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन कार्यकारणभावः ।”  
—हेतुबि० पृ० ५३ B. ।

(१) उपलम्भ इति शेषः । (२) धूमोऽग्निनियत तत्कार्यत्वात् इति । (३) अग्निना । (४)  
“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोर्न्यायनपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावना कादाचित्कत्वसंभवः ॥”—प्रमाणवा०  
१।३६ । (५) धूमोऽग्निनियामक अग्निकार्यत्वेन तन्नियतत्वात् । (६) उत्पद्यते इति शेषः ।  
(७) आसन्नोक्तं नियतत्वनियामकत्वरूपेण—आ० टि० । पूर्वोक्तं नियतत्वनियामकत्वलक्षण हेतुद्वयम् ।  
(८) “सन् शब्द कृतको वा, यच्चैत्र य सर्वोऽनित्यं यथा घटादिरिति । अत्र व्यतिप्तिसाधन विपर्यये  
बाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि न सर्वं सन् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य त्रमयौगपद्या-  
भ्यामर्थक्रियाज्योगादर्थक्रियासाधनत्वलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् । सर्वसाधनोपात्त्यादिरहलक्षण  
हि निरुपाख्यमिति ।”—वादन्याय पृ० ७ । तत्त्वसं० पृ० १४३ । हेतुबि० टी० पृ० १४३ A । क्षणभग-  
सि० पृ० २० । न्यायक० पृ० ८ टि० १ । (९) त्रमयौगपद्ये । (१०) अर्थक्रिया । (११) “त्रमो  
नाम परिपाटि कार्यान्तरासाहित्य कंबन्धमङ्कुरादे । यौगपद्यमपि तस्यापरिबीजादिकार्यं साहित्य  
प्रकारान्तरञ्चाङ्कुरादे, तदुभयावस्थाविरहेऽन्यथाभवनम् ”—हेतुबि० टी० पृ० १४३ B । (१२)  
तृतीये क्षणिकाक्षणिकवर्तिभूते प्रकारान्तरे । (१३) सत्त्वस्य ।

१—पलम्भाऽनन्त—आ०, थ० । २—यौगपद्यव्या—व० । ३—कृता चक—व० । ४ ‘एकरूपता’ नास्ति  
आ०, थ० ।

अनुपलब्धिः पुनः सर्वा स्वभावानुपलब्धौ अन्तर्भवति । स्वभावानुपलब्धिश्च स्वभावहेतुः, तस्य च तादात्म्यमेव प्रतिबन्धः । अतोऽस्या न पृथक् प्रतिबन्धचिन्ता इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अविनाभावस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां नियतः’

इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्; नहि तादात्म्यम् अविनाभावनिय-

मनिमित्तम्; तस्मिन् सति भेदाभावेन सम्बन्धाभावे अविनाभावानुप-

पत्तेः, भेदाधिष्ठानत्वात् सम्बन्धस्य । न चानिर्देशार्थवादिनैः तादात्म्य-

भेदौ मनागपि उपपद्य (द्ये) ते । तादात्म्यं हि तत्स्वभावता, तेन साध्येन

साधनस्यैक्यम्, न चैक्ये भेदः संभवति, भेदे वा नैक्यम्, अतः

कथं तदात्मतया शिक्षाया वृक्षं गमयेत् ? तादात्म्येन च गमकत्वे

० तत्रप्रतिविधानपुरस्सरं तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि अविनाभावसम्भावनात् इति-बोदयदिह तुना गमकत्वप्रदर्शनम्—

१० हेतुग्रहणवेलायामेव तद्व्यतिरेकितया साध्यस्य प्रतिपत्तत्वात् नानुमानस्य साफल्यम् ।

न ह्यगृहीतं लिङ्गं लिङ्गविषयां धियमाधत्ते । गृहीतौ च यदि लिङ्गप्रतीतौ न लिङ्गी

प्रतिभासेत् तदा कथं तद्योस्तादात्म्यम् ? प्रतिभासे तु सिद्धमनुमानस्य वफल्यम्, प्रति-

ज्ञार्थैकदेशता च हेतोः । विपरीतसमारोपव्यवच्छेदार्थत्वात्तस्यै साफल्यञ्चेत्; ननु तत्स्व-

(१) पृ० ४४४ पृ० १० । (२) तुलना—‘तया वृक्षत्वविज्ञातात्वाद्योर्न तादात्म्यप्रतिबन्ध

साध्यसाधनभावानुपपत्तिप्रसगात् । तथाहि—धर्मिण्युपलब्धे तत्तादात्म्यादुभयोरप्युपलम्भे कथं साध्यसाध-

नभावः ।’—प्रश्न० ध्यो० पृ० ५७१ । ‘अपि च तादात्म्ये कथं गम्यगमकभावः, न हि तदेव कर्म कर्तुं

चेति युक्तम्, तस्य भेदाश्रयत्वात् ।’—न्यायवा० ता० पृ० १६३ । ‘न च तादात्म्ये गम्यगमकता घटते

एकस्य सङ्गजातत्वाजातत्वायोगात् ।’—बृह० पृ० १५ । ‘तादात्म्ये च यदनुमानं तदपि न साधीय,

सिद्धं हि लिङ्गं साध्यं लिङ्गकम्, न सिद्धस्य साध्यस्य च तादात्म्यमुपपद्यते ।’—प्रक० पृ० ५० पृ० ६७ ।

‘न च तादात्म्ये गम्यगमकभावव्यवस्था युक्ता, तस्या भेदाश्रयत्वात् । यदि शिक्षापात्वे गृह्यमाणे वृक्षमगृ-

हीतं न च तादात्म्यम् ? गृहीतं चेत् क्वानुमानम् ?’—प्रश्न० कन्ध० पृ० २०७ । ‘अपि च यदि तादात्म्य

गमकत्वागमिप्यते तदा साध्यसाधनयोर्भेदाभावेन सम्बन्धाभावादाविनाभावानुपपत्तिः’—स्या० २० पृ०

५३३ । (३) रोगतस्य । (४) तुलना—‘तादात्म्ये तावद् गमकत्वाङ्गे हेतुसाध्ययोरव्यतिरेके गम्यगम-

कभाव एव दुरपपादः । न खन्वगृहीतं लिङ्गं लिङ्गप्रतीतिमाधातुमर्हति । तत्र लिङ्गबुद्धौ लिङ्ग

( लिङ्गी ) प्रतिभासे न वा ? अप्रतिभासे तद्बुद्ध्या तदग्रहणात् कथं तस्य तदात्मकत्वम् । प्रतिभासे

तु लिङ्गवत् प्रत्यक्ष एव मोक्षं इति किमनुमानेन ?’—न्यायमं० पृ० ११३ । ‘तादात्म्येन च गमकत्वे

हेतुप्रतिपत्तिवेलायामेव साध्यस्यापि प्रतिपत्तत्वाद्भानुमानस्य साफल्यम् ।’—स्या० २० पृ० ३५३ । (५)

हेतुनातादात्म्येन अभिप्रत्तत्वात् । (६) गृहीतनिरावृत्तस्य सप्तम्येकवचनम् । लिङ्गग्रहणे सत्यपि, चरावृत्तस्य

अप्यर्थकत्वात् । (७) लिङ्गलिङ्गिनो । (८) लिङ्गप्रतीतो साध्यस्य प्रतिभासे । (९) साध्यसाध-

नयो वृक्षत्वविज्ञातात्वाद्योर्न तादात्म्यं हि प्रतिज्ञैरदेगमूनं यद् वृक्षत्व साध्यं तत्तादात्म्यात्प्रति शिक्षापात्त-

मेव च हेतु इति साध्यस्य अभिप्रत्तत्वात् हेतोरप्यभिप्रत्तत्वमिति भावः । (१०) तुलना—‘विपरीतसमा-

रोपव्यवच्छेदादाधेयानुमानमिति चेत्, न, तत्स्वरूपग्रहणे विपरीतारोपणावगाराभावात् । न हि गिर-पाण्या-

दिशिगोपदन्तं मतिं स्यान्ममारोपं प्रवर्तते, न च तद्भेदादुपपद्येतापि, न हि गिर-पाण्यादय एव पुराप

इति, तद्ग्रहणेऽप्युपपारोपं कामं प्रवेत्, इह वृक्षत्वविज्ञातात्वाद्योरभेदान् विज्ञातात्वात्प्रहणे मतिं वा कथा

वृक्षोपपत्तिसाम्यम् ।’—न्यायमं० पृ० ११३ । स्या० २० पृ० ५३५ । (११) शिक्षापात्तत्वादेहेतो

—आ० टि० । (१२) हेतुस्वरूपे ।

रूपे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वा विपरीतसमारोपः स्यात् ? तत्र प्रतिपन्ने कोऽवसरो विपरीत-  
समारोपस्य ? न हि शिरःपाण्यादिविशेषोपलम्भे स्थाणुसमारोपः समाविशति । तत्स्व-  
रूपेऽप्रतिपन्ने तु का कथा विपरीतसमारोपस्य ?

किञ्च, वृक्षत्वग्रहणे सति सामान्यग्रहणाद् विशेषाग्रहणात् स्यात् कदाचिदशिर-  
पात्वसमारोपः, नतु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपः । शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षं ५  
वृक्षत्वं न तस्याऽप्रत्यक्षम् ।

किञ्च, सौध्यसाधनयोरव्यतिरेके यथा शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते, तथा वृक्ष-  
त्वेनापि किञ्च शिंशपात्वं तादात्म्याऽविशेषात् ? अथ शिंशपात्वमेव वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न  
वृक्षत्वं शिंशपात्वे; न तर्हि तादात्म्याद् गमकत्वम्, अपितु अविनाभावादेव । तत्र तादात्म्ये  
अविनाभावस्य नियतत्वम् । 10

नापि तदुत्पत्तौ; वैह्युत्पन्नेष्वपि धूमधर्मेण श्यामत्वादिषु अविनाभावस्याऽनुप-  
लब्धेः । न च सामान्ययोः कार्यकारणभावः किन्तु विशेषोः, ययोश्चाऽन्यैर्महानसादौ  
कार्यकारणभावोऽवगतः न तयोर्गम्यगमकभावः, ययोस्तु पर्वतस्थयोः गम्यगमकभावः न  
तयोः कार्यकारणभावोऽवगतः । न चानवगते तस्मिन् तयोरविनाभावो ग्रहीतुं शक्यः ।

(१) शिंशपात्वलक्षणे हेतुस्वरूपे प्रतिपन्ने हि तदभेदाद् वृक्षत्वमपि प्रतीतमेवेति विपरीतस्य  
वृक्षत्वेतरत्वस्य आरोप कथं स्यात् ? (२) "तुलना—अपि च वृक्षस्य ग्रहणे सति सामान्यधर्मग्रहणाद्वि-  
शेषानध्यवसायात् कदाचिदशिरपासमारोप स्यान्न तु शिंशपात्वग्रहणे सति अवृक्षत्वसमारोपो युक्तः ।  
प्रमातुः शिंशपात्वं हि यस्य प्रत्यक्षगोचरः । परोक्ष तस्य वृक्षत्वमिति नातीव लौकिकम् ॥"—न्यायमं०  
पृ० ११४ । (३) तुलना—"तयोभयोस्तादात्म्याद्विशेषेऽपि शिंशपात्वेन वृक्षस्य प्रतिपत्तिवत् वृक्षत्वेन  
शिंशपात्वप्रतिपत्तिरपि स्यात्"—प्रश० ध्यो० पृ० ५७१ । "किञ्च साधसाधनयोरव्यतिरेकाद् यथा  
शिंशपात्वेन वृक्षत्वमनुमीयते तथा वृक्षत्वेनापि शिंशपात्वमनुमीयते तादात्म्याद्विशेषात् । ततश्च सपक्ष-  
व्याप्त्यव्याप्तिभ्यां वृत्तकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोर्भेद उक्तः स हीयते । ननु चान्य सम्बन्ध अन्यश्च  
प्रतिबन्ध, द्विष्ट सम्बन्ध, प्रतिबन्धस्तु परायत्तत्वलक्षणः । तत्र शिंशपात्वं वृक्षत्वे प्रतिबद्धं न वृक्षत्व  
शिंशपात्वे, प्रयत्नानन्तरीयकत्वमपि अनित्यत्वे नियत न त्वनित्यत्व तत्रेति, तथा धूमस्याग्नी प्रतिबन्ध  
न त्वन्नेधूमे, सत्यमेवम्, किन्त्वेवमुच्यमाने नियम एवाङ्गीकृतो भवेत् तादात्म्यम् । तादात्म्ये हि यथा  
शिंशपा शिंशपा विना न दृश्यते तथा वृक्षत्वमपि शिंशपारहितं न दृश्यते, दृश्यते च खदिरादौ शिंशपा-  
रहितं वृक्षत्वम्, विद्युदादौ च प्रयत्नानन्तरीयकत्वरहितमनित्यत्वमुपलभ्यत इति कथमभेदः ? विना साधन-  
धर्मेण साध्यधर्माऽप्यस्ति हि । दृष्टस्तद्व्यतिरेकेण तादात्मा चेति कतवम् ॥"—न्यायमं० पृ० ११४ ।  
प्रक० पं० पृ० ६७ । स्या० २० पृ० ५३५ । (४) तुलना—"कार्यहेतुरपि न सम्भवति, भवता हि  
क्षणयोर्वा कार्यकारणभावो भवेत्, सन्तानयोर्वा ? यदि धूम कार्यत्वादनलग्नमापयेत् कटुमलिन-  
गगनमामित्वादिधर्मैरपि तस्य गमको भवेत् । न च कथञ्चित्तत्कार्यत्व कथञ्चिदतत्कार्यत्वञ्च धूमस्योप-  
पन्नम्, सर्वात्मकस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रभवत्वात् ॥"—न्यायमं० पृ० ११६ । स्या० २० पृ०  
५३५ । (५) कार्यकारणभूतयो धूमान्यो । (६) कार्यकारणभावे । (७) पर्वतस्थधूमान्यो ।

न च अगृहीतोऽसौ अनुमानाङ्गम् । तदानीं ग्रहणे तु हेतुप्रतिपत्तिसमय एव साध्यप्रति-  
पत्तेर्जातत्वात् किमनुमानेन ?

तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभावप्रतिनियमे च कथं कृत्तिकोदय शकटोदययो  
चन्द्रोदय-समुद्रवृद्धयोश्च गम्यगमकभावस्तरं तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् ।

५ यदप्युक्तम्—‘अविनाभावस्य प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन प्रतिपत्तेः’ इत्यादि, तदप्य-  
साम्प्रतम्, प्रत्यक्षस्य अविकल्पकतया अनुपलम्भस्यापि अर्थान्तरोपलम्भस्वभावस्य  
तर्थाभूततया शतशोऽपि प्रवृत्तस्य व्याप्तिग्रहणे मामर्ध्यासभवान् । नहि निर्विकल्पकम्  
‘इदमस्मिन् सत्येव भवति अतोऽन्यथा न भवत्येव’ इत्येतावतो व्यापारान् कर्तुं  
ममर्थं सन्निहितत्रिपयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च इत्युक्तमनन्तरमेव । नापि तत्रभवो  
१० विकल्प, तस्य भवतीं प्रामाण्यानभ्युपगमान् ।

“व्यावृत्त्योर्लिङ्गलिङ्गित्व प्रतिपत्तस्तु वस्तुनो ।

विकल्पेर्ग्रहण तस्यै को भूयात् सांगतात् पर ॥” [ न्यायम० पृ० ११७ ]

यदपि—‘स्वभावहेतोर्विपक्षे चाधकप्रमाणेन व्याप्ति प्रतीयते’ इत्याहुक्तम्, तदप्यु-

(१) अविनाभाव । (२) अनुमानप्रयोगकाले तु कायकारणयो अविनाभावग्रहण स्वीक्रिय  
माण । (३) तुलना— एव सवत्र देनाकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम शास्त्र कार्यादिग्रहण निदानाय  
वृत्त नावधारणाधम । कस्मात् ? व्यतिरेकत्वात् । तद्यथा अध्वयुरोधावयन व्यवहितस्य होनु  
लिङ्गम चन्द्रोदय समुद्रवृद्ध कुमुदविवाहस्य च गरदि जल्पसादोऽगस्त्योदयस्यति । एवमादि  
तत्त्वमस्यदमिति वचनान् सिद्धम् । —प्रश्न० भा० पृ० ५६२ । न्यायम० पृ० ११७ । न च तादा  
त्म्यतदुत्पत्तिप्रतिपत्तिव्याप्त्याभ्युपगम रूपदानान् स्वर्णानुमानम् उदयादन्तमयप्रतिपत्ति कृत्तिको  
दयाच्च रोहिष्यनुमान न स्यात् तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावात् । —प्रश्न० ध्यो० पृ० ५७१ । अपि च  
रसादयद्रूप रसममानवात्मनुमितेऽनुमातार न चानयोरस्ति कायकारणभावान्तादात्म्य वा ।  
अपि चाचननस्य भवितुरदयस्य ह्यन्तन भवितुरदयन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्धया  
मध्यतद्वृद्धया चाष्टमास्तमयोदयस्य न कायकारणभावान्तादात्म्य वा अथ च दृष्टा गम्यगमकभाव ।  
—न्यायवा० ता० पृ० १९१-१९३ । प्रक० प० पृ० ६७ । प्रश्न० क० पृ० २०९ । तत्रवाप्यश्लो० पृ०  
१९९ । समति० टी० पृ० ५९३ । स्वा० र० पृ० ५३६ । (४) कृत्तिकोदयादिहेतौ । (५) पृ०  
४४४ प० १६ । (६) अविकल्पकतया—आ० टि० । (७) साध्याभावे । (८) पृ० ४२७ पं० २ ।  
(९) निर्विकल्पकतया विकल्प । (१०) सौमनेन । (११) तुलना— अपि च—व्यावृत्त्योर्लिङ्गलि  
ङ्गित्व प्रतिपत्तेश्च वस्तुनो । विकल्पग्रहण तस्य कथं मन्त्रच्छनामिदम् ॥ —न्यायम० पृ० ११७ ।  
यो हि तादात्म्यतदुत्पत्तिस्वभाव प्रतिपत्तेश्च इत्यन स किं वस्तुधर्मो विकल्पारापितान्तरधर्मो वा ? तत्र  
नायमारपितधर्मो भवितुमर्हति वस्तु वस्तुना जयत वस्तु च वस्तुस्वभाव भवेत् तस्माद्वस्तुधर्म  
प्रतिपत्तेश्च । विकल्पश्च वस्तु न स्तुत तन्प्रतिपत्तेश्च निश्चीयत इति चित्रम् । इदञ्च स्वभाषितम्  
वस्तुना प्रतिपत्तेश्चाप्यापि गम्यगमकत्वञ्च विकल्पारोपितयोरप्योह्या । तत्त्वमस्यप्र प्रतिपत्तेश्च  
अथ ननुशाशाप अथ प्रवति अथ प्रवृत्तिप्राप्ती इति सव कतवम् । —न्यायम० पृ० ३४ ।  
(१२) प्रतिपत्तेश्च अविनाभावस्य । (१३) पृ० ४४५ प० ११ ।

किमात्रम्; यतो विपक्षे बाधकं प्रमाणं क्रमयौगपद्यानुपलम्भलक्षणमनुमानम् । अनुमानञ्च सिद्धव्याप्तिकमेव स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । व्याप्तिश्च तत्राप्यनुमानान्तरेण प्रतीयते, प्रथमानुमानेन वा ? अनुमानान्तरेण चेत्; अन्वस्था । प्रथमानुमानेन चेद्; अन्योन्याश्रयः । अतोऽनुमानमिच्छता भवता व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणान्तरं प्रतिपत्तव्यः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तद्ग्रहणानुपपत्तेः इति ।

एतदेवाह—‘नहि’ इत्यादि । तत् साध्यम् आत्मा यस्य तस्य भावः तादात्म्यम्, तस्मात् साध्याद् आत्मलाभः तदुत्पत्तिः, पुनरनयोः इतरेतरयोग-विवृतिव्याख्यानम्—  
लक्षणो द्वन्द्वः । ननु स्वन्तत्वात् तदुत्पत्तिशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति; तन्न; अस्य लक्षणस्य “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः” [ जैनेन्द्रव्या० २।२।१०४ ] इत्यनेन अनैकान्तिकत्वात् । ते तादात्म्यतदुत्पत्ती नहि नैव ज्ञातुं शक्येते । कथमित्याह—‘विना’ इत्यादि । साध्याभावप्रकारेण अन्यथा या अनुपपत्तिः अघटना साधनस्य तस्याः सम्बन्धी ग्राहकत्वेन तर्कः तेन विना । तदेवं वृत्तत्वशिक्षापात्वाद्वा तादात्म्यादेः सद्भावेऽपि अविनाभाववलेनैव शिक्षापात्वादेरेव वृक्षादिकं प्रति गमकत्वम् न वृक्षत्वादेः शिक्षापादिकं प्रति इति प्रतिपाद्य, इदानीं तदभावेऽपि तद्वलेनैव गमकत्व प्रतिपादयन्नाह—‘ताभ्याम्’ इत्यादि । ताभ्यां तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनैव एकलक्षणस्य अविनाभावस्य सिद्धिः निष्पत्तिः निर्णीतिर्वा । एतदेव समर्थयमानः प्राह—‘नहि’ इत्यादि । ‘हिर्यस्मात् न वृक्षादिः आदि-शब्देन रसादिपरिग्रहः । छायादेः अत्रापि आदिशब्देन रूपादिस्वीकारः, स्वभावः वृक्षादिछायायोः देशादिविभेदात्, कार्यं वा सहभावात् इत्यभिप्रायः ।

ननु च आस्वाद्यमानात् रसात् वृक्षाच्च सामग्री अनुमीयते ततो रूपस्य छायायाश्चा-

(१) अनुमीयतेऽनेनेति अनुमान हेतु । (२) नित्यमर्थक्रियासून्य क्रमयौगपद्यानुपलम्भात् इत्यत्र । (३) व्याप्तिग्रहणानुपपत्ते । (४) ‘सु’ इति सजा जैनेन्द्रव्याकरणे पाणिनिव्याकरणस्य ‘घि’ सजाया स्थाने प्रयुज्यते । “द्वन्द्वे सु ।” १ । ३ । ९७ । द्वन्द्वे से स्वन्त पूर्व प्रयोक्तव्यम् ।” —जैनेन्द्रव्या० । (५) ‘द्वन्द्वे सु’ इति व्याकरणमूत्रस्य । (६) अत्र हि हेतुशब्द स्वन्तस्तथापि नास्य पूर्वनिपात । (७) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि । (८) अविनाभाववलेनैव । (९) वृक्षादि छायादेर्न स्वभाव देशादिभेदात्, न च कार्यं सहभावात्—आ० टि० । (१०) “एकसामग्र्याधीनस्य रूपादे रमतो गति । हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥ या च रसतो मधुरादिकात् रूपादे, आदिशब्दात् गन्धस्य स्पर्शस्य च एकसामग्र्याधीनस्य रसादिना सह एकसामग्र्यायत्तस्य गति, मा कथमित्याह हेतुधर्मानुमानेन रसकारणस्य धर्मो रगादिसहचररूपजनकत्व तदनुमानेन रसाद् रूपादिगति । न हि कार्यं रस कारणमन्तरेण, कारणञ्चास्य रमसहचारिरूपजनक पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्ते । अतस्तमित्यनुमितेऽनुमितमेव रूपम् धूमेन्धनविकारवत् । धूमाद् हेतुधर्मानुमानेन इन्धनविकारस्य अङ्गारादेर्धूमसहचरस्यैव धानुमानम् ।” —प्रमाणवा० मनोरथ० ३।८ । “तेनायमर्थो रसात् सकाशात् तद्धेतो रमसमानकालभारिरूपजनकत्वनिश्चीयते, एव हि तस्य रमसमानकालभारिरूपजनकत्व निश्चीयते । यदि समानकालभाविनो रूपस्यापि निश्चय स्यात् तेनातीतकालानामेकैव गति कार्यल्लिङ्गात् ।” —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।८ । हेतुवि० टी० पृ० ५४ A. ।

1—लक्षणमनुमानञ्च सि—ब० । 2 इच्छन्तत्वात् थ०, स्वल्पात्तरत्वात् व० । 3—मित्याद्याह व० । 4 वृक्षादेः व० । 5 हि य—ब० । 6 देशादिभे—थ०, व० । 7 सामास्यानु—ब०, सामास्यानु—थ० ।



नुमानम् अनुमितानुमानान्; इत्यप्यसत्; तथा व्यवहाराभावात् । नहि आस्वाद्यमानाद् रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति; वर्त्तमानरूपादेरप्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा च 'इदमा-  
न्नफलम् एवंविधरूपम् एवंविधरसत्वात्' इत्यनुमानम्, पावकरूपदर्शनात् तत्समकालो-  
प्यस्पर्शानुमानम्, तदर्थिनः तत्रै प्रवृत्तिश्च न प्राप्नोति । व्यवहारानुसारेण च भवेत्ता प्रमा-  
णचिन्ता प्रतन्यते "प्रमाणयं व्यवहारेण" [ प्रमाणवा० २।५ ] इत्यभिधानात् । सामग्रीतो  
रूपानुमाने च कारणात् कार्यानुमानप्रसङ्गात् लिङ्गसंख्याव्याघातः स्यात् । ततः सिद्धम्-  
अकार्यादस्वभावाच्च वृक्षादेः छायाद्यनुमानम् । तर्हि व्यभिचारोऽत्र भविष्यति इत्यत्राह-  
'नच' इत्यादि । नच नैव वृक्षादेः छायाद्यनुमाने विसंवादो व्यभिचारोऽस्ति तत्राप्रि-  
प्रतीतेः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह-

10 चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथाऽनुमा ॥ १३ ॥

विवृतिः-न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ।

चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेः स तथोक्तः, तस्मात्, जलचन्द्र आदिर्यस्य

कारिणिविवृत्योः जलादित्यादेः सोऽपि तथोक्तः तस्य प्रतिपत्तिः तथा [अन्यथाऽ] नुपैफ-

व्याख्यानम्- च्चिप्रकारेण अनुमा अनुमानम् । जलचन्द्रादिना प्रतिपत्तिः चन्द्रादेरिति

15 वा व्याख्यातव्यम् । एतदेव व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना । 'नहि' नैव जलचन्द्रादेः

(१) तुलना-"समानक्षणयोग्यमगमकभावोपलब्धे, तथाहि-रूपक्षणात् समानकाल. स्वर्गोऽनु-  
मीयते न पूर्वं, तत्र एकसामग्र्यधीनत्वासम्भवं एव । न च रूपस्पर्शयो परस्परोत्पत्तौ कारणत्वे प्रमाणमस्ति  
इतरान्वयस्मेतरचानुपलब्धे ।"-प्रश० ध्यो० पृ० ५७१ । "लौकिकानाञ्चैवद्रसाद् रूपानुमानम् । न चैते  
पिहितवक्षुष क्षणानामन्योन्यभेदमध्यवसपन्ति । न चानध्यवस्यन्त प्रवृत्तरूपोपादानसामर्थ्यं रसहेतुमनु-  
मातुमुत्सहन्ते ।"-न्यायवा० ता० पृ० १६३ । "लोकस्थैत्यमप्रतीते, रूपमेव रमाल्लोक प्रतिपद्यते ।  
लौकिकी च प्रतीति परीक्षकरूप्यनुसरणीया ।"-प्रक० पं० पृ० ६७ । बृह० पं० पृ० ९४ । (२) न  
प्राप्नोतीत्यर्थं किन्तु इदमामूलमेवविधिसामग्रीकमिति प्राप्ति -आ० टि० । (३) रूप-उप्यस्पर्शादित ।  
(४) रूपादौ न प्रवृत्ति प्राप्नोति किन्तु सामग्र्याम् -आ० टि० (५) सोगतेन । (६) तुलना-"तथा  
च रसात् कार्यात्कारण रूपमनुमानन् ततश्चानुमिताद्रूपात् कारणात् तत्कार्यं रससमानकाल रूपमनु-  
मातव्य तथा च कारणात् कार्यानुमान तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामन्यदिति नाभ्यामेव प्रतिबन्धसिद्धि ।"  
-न्यायवा० ता० पृ० १६२ । प्रक० पं० पृ० ६७ । बृह० पं० पृ० ९४ । "रसादेकसामग्र्यनुमानेन  
रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारण हेतुयंत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैक्ये ।"-परीक्षामु०  
३।६० । सन्मति० टी० पृ० ५९३ । प्रमाणनव० ३।६६ । प्रमाणमी० पृ० ४३ । (७) यदि सामग्री  
कारण रूपादयन्तु कार्यं तदा स्वभावलिङ्ग कार्यलिङ्ग कारणलिङ्गमिति नयप्रसक्ते -आ० टि० । (८)  
"बोधैव च लिङ्गानि । अनुपलब्धि स्वभावकार्ये चेति ।"-न्यायवि० पृ० ३५ । (९) कारणहेतुसमर्थ-  
नार्थम् । (१०) "चन्द्र आदिर्यस्य आदित्यादेरसौ चन्द्रादि तस्मात् कारणभूतात्, जले स्वच्छाम्प्रति  
चन्द्रादे चन्द्रादिप्रतिबिम्बस्य प्रतिपत्तिरवबोधोऽनुमा अनुमानमनुमन्तव्यमध्यभिचारान् । किन्तु ? तथा  
कार्यात्कारणप्रतिपत्तिवत् ।"-रुघो० ता० पृ० ३२ । तुलना-"चन्द्रादी जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविध ।  
छायादिपादादौ च सोऽपि तत्र कदाचन ॥"-तत्त्वार्थदली० पृ० २०१ । (११) जलप्रतिबिम्बितस्य  
चन्द्रादे । (१२) तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावेऽपि-आ० टि० ।

1 अनुमित्यनुमा-आ०, व० । 2 प्रतिपत्तिश्च व० ।

चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा, अथ च अतः तत्रै अद्यमिचारिणी प्रतिपत्तिः प्रतीयते इति ।

ननु जलादौ न प्रतिविम्बं नाम वस्त्वन्तरं संभवति, तत्संभवे विम्बसन्निधानात् जलादां न आदित्यादे प्रागपि तत्रै तदुपलम्भप्रसङ्गात् । अथ विम्बसन्निधान एव तदुत्पद्यते प्रतिविम्बं किन्तु स्वदेशस्य एव आदित्यादि अतो न प्रागपि तत्प्रसङ्गः ; ननु तैसन्निधाने गुणरूपम्, द्रव्यरूपं वा तत्र प्रमासते इति प्रति तदुत्पद्यते ? न तावद् गुणरूपम् ; द्रव्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । अथ 5 विम्बभाववादेन कुमारिलभट्टस्य पूर्वपक्ष - द्रव्यरूपम् ; तर्हि निरवयवद्रव्यरूपम्, सावयवद्रव्यरूपं वा ? तत्रायं पक्षोऽनुपपन्नः ; तत्रै अवयवप्रतिभासनात् । नापि सावयवम् ; जलादिस्पर्शात् पृथक् तैस्पर्शोपलम्भासम्भवात् ।

स्पर्शवन्तश्च परमाणवः स्पर्शवद्द्रव्यस्यारम्भका भवन्ति, तत्र चार्थं किं जलादिपरमाणव एव आरम्भकाः, अन्ये वा ? न तावदन्ये, स्पर्शवदवयविदेशे तेषां तदारम्भ- 10 कत्वासंभवात् । अथ जलादिपरमाणव एव तदारम्भकाः, तत्र, जलमयत्वेन अस्याऽप्रतिभासनात् । जलरूपवैलक्षण्यप्रतीतिश्च, शुक्ल हि रूपं जलस्य, न च मुखादिप्रतिविम्बे तदैस्ति । न च विम्बरूपमेव तदारम्भकमित्यभिधातव्यम्, निमित्तकारणगतस्य पृथग्देशावस्थितस्य रूपस्य कार्यद्रव्यरूपानारम्भकत्वात् । द्वयोश्च सावयवयोः समानाकाशदेशत्वानुपपत्तिः । आश्रयद्रव्यस्य च आदर्शादेः परिमाणगौरवयोरुत्कर्षः स्यात्, नचैतदस्ति । 15 अतो न प्रतिविम्बं किञ्चिद् वस्त्वन्तरं युक्तम् । ननु यदि तैनास्ति कथं जलादौ सूर्यादिप्रतिविम्बप्रतिभासः ? इत्यप्युक्तम् ; तत्रै तैप्रतिभासाऽसंभवात्, स्वदेशस्थस्यैव आदित्यादेः तत्रै प्रतिभासनात् ।

अत्रैके प्रतिविम्बोदयवादिर्नः पर्यनुयुञ्जते—यदि स्वप्रदेशस्थ एव सविता उपलभ्यते न प्रतिविम्बानि, कस्मात्तर्हि नोपरि एव दृश्यते ? नहि अन्यत्रैस्थः अन्यत्रै द्रष्टुं 20

(१) जलचन्द्रादे । (२) चन्द्रादौ । (३) जले—आ० टि० (४) प्रतिविम्बोपलम्भ । (५) प्रतिविम्बम् । (६) विम्बसन्निधाने । (७) प्रतिविम्बे—आ० टि० । (८) हस्तपावादीनाम्—आ० टि० । (९) यदि सावयव प्रतिविम्बमर्थान्तरभूत जले समुत्पन्नं तदा तस्य स्पर्शादिभिः पृथग्भूतैर्भवितव्यम्, न चैतन्भवति, जलीयस्पर्शाद्यात्मनत्वात् प्रतिविम्बस्पर्शादीनाम् । (१०) प्रतिविम्बस्य । (११) उत्पादका । (१२) अन्येषाम्—आ० टि० । (१३) शुक्ल रूपम् । (१४) कार्यद्रव्यरूपारम्भकं हि समवायिकारणगत रूपं भवति । (१५) अथ निमित्तकारण तत्रागत्य निष्पादयतीत्याह—आ० टि० । निमित्तसमवायिकारणयोः “सहैकत्र द्वयासत्त्वान्न वस्तु प्रतिविम्बकम् । तत्कथं कार्यता तस्य युक्ता चेत्पारमाथिकी ॥ अवस्तुत्वे हेतु सहैकत्र द्वयासत्त्वादिति । यत्रैव प्रदेशे आदर्शरूपं दृश्यते प्रतिविम्बकञ्च तत्रैव । न चैकत्र प्रदेशे रूपद्वयस्यास्ति सहभावः सप्रतिपत्त्वात्, अतः सहैकत्र द्वयो रूपयोः सत्त्वं न प्राप्नोति । तस्माद् भ्रान्तिरियम् । अतो नाम्नेव किञ्चिद्द्रव्यभूत प्रतिविम्बकं नाम ।” —तत्त्वस० प० पृ० ४९८, ६९७ । (१६) प्रतिविम्बम् । (१७) जलादौ । (१८) सूर्यादिप्रतिविम्ब । (१९) जलादौ । (२०) जनादयः । (२१) नभोदेशस्य । (२२) जलादौ ।

1 जलादेर्न व० । 2 नावयवम् थ० । 3 स्पर्शद्रव्य—थ० । 4—स्थितस्य कार्यं—व० । 5—रूपारम्भक—थ० । 6 वा व० । 7—स्यादे प्रति—व०, थ० । 8 अत्र केचित् प्र— थ० ।

पार्यते सर्वदा तैश्चादर्शनप्रसङ्गात् । न च प्रतिबिम्बमन्तरेण कूपादिषु अधस्तात्तद्दीक्षणम् । प्राङ्मुखश्चैव दर्पणं पश्यन् प्रत्यङ्मुखश्च कथं स्यात् ? यदि च बहिर्निष्क्रान्तमिन्द्रियं तत्रैव बोधयेदर्थं तत एतदेवं भवेत्, शरीरे तु तद्बोधकमिति । उक्तञ्च—

“अत्रैव तु बोधयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैपिणः । स एव चेत् प्रतीयेत कस्माच्चोपरि दृश्यते ? ॥

६ कूपादिषु कुतोऽधस्तात् प्रतिबिम्बाद्विनेक्षणम् । प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम् ? ॥ तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्यातिं यदीन्द्रियम् । तत एतद्भवेदेवं शरीरे तत्तु बोधकम् ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८३-१८६ । ] इति<sup>११</sup> ।

अत्रोच्यते—जले सूर्यादिदर्शितां द्वेषा चक्षुः सर्वदा प्रवर्तते, एकमूर्ध्वम्, अपरञ्च अधस्तात् । तत्र नोर्ध्वांशप्रकाशितं सूर्यम् आत्मा प्रतिपद्यते अधिष्ठानाऽञ्जु-  
 10 त्वात्, अवागवृत्त्या तु तं बुध्यते पारम्पर्यार्पितं सन्तम् अधिष्ठानजुत्वात्, अवागिव च मन्यते । ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात्, तेन कारणेन अधस्तादेव आदित्यः सान्तरालः प्रतीयते । एवं दर्पणादौ नायनो रश्मिः प्रतिहृतो व्यावृत्त्य स्वकीयमेव मुखं प्राङ्मुखरश्मेः समर्पयति, ततश्च प्राग्गतया नायनरश्मिवृत्त्या मुखं बुद्ध्यमानः प्रतिपत्ता प्रत्यक् तद्वृ-  
 15 त्तिसमर्पितं ‘प्रत्यग्’ इत्यवगच्छति । तदुक्तम्—

“अर्धसूर्यदर्शितां नित्यं द्वेषीं चक्षुः प्रवर्तते । एकमूर्ध्वमधस्ताच्च तत्रोर्ध्वांशप्रकाशितम् ॥

(१) जलादावेव सूर्यदर्शनं म्यात् । (२) सूर्यादि । (३) पुरुषः । (४) अर्थदेत्ते गत्वा । (५) स्वदे-  
 दास्य एव आदित्यादिस्तत्र प्रतिभासत इति—आ० टि० । (६) इन्द्रिय चक्षुः । (७) व्याख्या—“जलादिषु  
 यदेकोऽपि नानात्मा सवितेयपते—इत्यस्य हेतुव्यभिचारविपयत्वेनोक्तस्यासिद्धिं मन्यमाना प्रतिबिम्बमर्था-  
 न्तरमिच्छन्तरश्चोदयन्ति । यदि स एव एवादित्यो दृश्यते न प्रतिबिम्ब तत्त्विति उपरिष्टादस्य दर्शनं न  
 भवति ? एव हि तस्य दर्शनं भवेत् यदि देशावस्थितस्वरूपं गृहणीयात् नान्यथा, अन्यथा हि अतिप्रसङ्गः ।  
 निञ्च, कूपादिषु च दूराद्यं गविष्टस्याकांक्षे, कथं ग्रहणं भवेत् यदि तत्र प्रतिबिम्बं नोत्पन्नं स्यात् ? न हि  
 तत्र तथाचार्दिबिम्बिनिति । अपि च प्राङ्मुखो दर्पणमवलीकयन् कथमिव प्रत्यङ्मुखो भवति ? न हि  
 तस्य तदा पृष्ठाभिमुखं मुखमुपजातं दृश्यते । एव मन्यते यदि बहिर्निग्नमिन्द्रियमादित्यं बोधयेत्तत  
 एतत्स्यात् उपरिस्थितमेव पश्येन्नापलादिति । यावता धर्माधर्मवशीकृते शरीरे एव तदिन्द्रियं प्राह्वमि-  
 प्यते नोरिस्थम् ।”—तत्त्वस० प० पृ० ६१४ । (८) ‘प्रतिबिम्बेक्षणं भवेत्’-मी० श्लो० । (९) ‘स्याच्चेत्य’  
 -मी० श्लो० । (१०) ‘यदिन्द्रिय’ -मी० श्लो० । (११) उद्धृता एते—तत्त्वस० पृ० ६१४ । प्रमेयक०  
 पृ० ४०८ । (१२) प्रतिबिम्बनिषेधमि—आ० टि० । (१३) ऊर्ध्वाधोरश्मिनामेकत्वात्—आ० टि० ।  
 (१४) व्याख्या—“एवमेव चक्षुःप्लगिष्ठलम्बमानमपेवत् द्वेषा वर्तते अधस्तादूर्ध्वञ्च । तत्रोर्ध्ववृत्तिप्र-  
 काशितं देशानां वाप्रात्मा बुद्ध्यत इति । कस्मात्तद्दि बुद्ध्यत अत्र आह—पारम्पर्येति । ऊर्ध्ववृत्तिरधोवृत्त्यै  
 समर्पयति ना च आत्मन इति । च पुनर्ऊर्ध्ववृत्तेरधोवृत्त्या सम्बन्धो येन समर्पयति अत्र आह ऊर्ध्वेति ।  
 एवमेव हि तावन्तो तेनाद्योर्ध्ववृत्तेनया वृत्त्या घमिष्णोणैस्त्वमिति अधोवृत्त्याज्वबुध्यमानान्नदानुगृह्याद-  
 र्शागिव मूर्धं मन्यत इति । यत्तु प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् कथं प्रत्यङ्मुखो दृश्यन् इत्युक्तं तत्राह—  
 एवमिति । तत्राति प्रत्यङ्मुखिरर्थागितं मृगम् अधिष्ठानानां वाप्रात्मा प्रतिपद्यत इति, विन्तु प्रत्यङ्मुखि-  
 प्राङ्मुख्ये समर्पयति तथा च समर्पितं प्राङ्मुख्या बुद्ध्यमानं तदानुगृह्येन प्रत्यङ्गिति बुद्ध्यते । नन्यत्र दर्पणस्यमेव

अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते । पारम्पर्यार्पितं सन्तमवाग्भृश्या नु बुध्यते ॥  
 ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वात् अवागिन च मन्यते । अथस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥  
 एवं प्रोक्तैया वृश्या प्रत्यवृत्तिसमर्पितम् । बुध्यमानो मुसंभ्रान्तः प्रत्यगित्यवगच्छति ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१९० । ] ईति ।

किञ्च, यदि प्रतिविम्बमर्थान्तरं विम्बादुत्पन्नं तदा कथं विम्बे चलति नियमेन 5  
 तदपि चलेत्, तिष्ठति च तिष्ठेत्? नहि दण्डे चलति तिष्ठति च ततोऽर्थान्तरभूतो घटः  
 नियमेन चलति तिष्ठति चेति प्रतीयते । प्रतीयते च विम्बस्य चलाचलत्वे नियमेन  
 प्रतिविम्बस्य चलाचलत्वम्, अतो न तत् ततोऽर्थान्तरम् । § यदि च ततोऽर्थान्तरं §  
 स्यात् तदा दर्पणादौ विम्बापाये कुतो नोपलभ्यते ? विनष्टत्वाच्चेत्; न; निमित्तकारणा-  
 पाये कार्यस्य अपायाऽप्रतीतिः । न खलु दण्डादेर्निमित्तकारणस्यापाये घटादेः कार्यस्य 10  
 विनाशः स्वप्नेऽपि प्रतीयते । अस्तु वा तदपाये तद्विनाशः; तथापि प्रतिविम्बविनाशे  
 पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः घटविनाशे कपालोपलम्भवत्, नैव चैवमस्ति । ततो न

मुखं गृह्यते न जलपात्रेष्विव अथ सान्तराल तत्कस्य हेतो ? अत्रापि सान्तरालमेव प्रत्यवृत्त्या प्रकाशित  
 प्राग्वृत्त्यै समर्पितं तथैव ग्रहीतव्यम्, उच्यते-वस्तुस्वभावस्यापर्यनुयोग्यत्वादयोप । तंज्ञसेषु हि दर्पणादिषु  
 तद्गतमेव मुखं गृह्यते जले तु सान्तरालमिति किमत्र पृच्छयते इति ।”-मी० श्लो० न्यायप्र० पृ० ७७६-७७७।  
 “ये हि जलपात्रे जलं सूर्यञ्च पश्यन्ति तेषामभ्यूर्ध्वदिशिनामेवमेव चक्षुर्ध्वमधश्च द्विधा भागसा प्रवर्तते ।  
 तत्रोर्ध्वभागप्रकाशितमादित्यमात्मा पुरुषो न गृह्णाति । कुत ? अधिष्ठानानृजुस्यत्वात्-चक्षुरिन्द्रिया-  
 धिष्ठानस्याजंवेन तदानवस्थितत्वात् । पारम्पर्येण तु सीरेण तेजसा वृत्तेरपिमादित्यमवाग्भृश्या कार-  
 णभूतया बुध्यते । तथाहि-किल सीरं तेजस्तजस्विन वृत्तेरप्यमिति वृत्तिरचक्षुषश्चक्षुरात्मन इत्येतेत्  
 पारम्पर्यापेण सूर्यस्य तेजस्विन इति । आदित्यमूर्ध्ववृत्तिम् उपरिस्थञ्च तमादित्यमवागिव अथ स्थि-  
 तमिव मन्यते । क ? आत्मा । न पुनरघस्तादन्य एवादित्य । कुत ? तदेकत्वात् तस्यादित्यस्य  
 अभिन्नत्वात् । चक्षुष इत्यपरे । तस्मादनन्तरोदितेनैव चक्षुषो वृत्तिबन्धेन सान्तरालोऽभ्यस्तात्पूपादिषु  
 सूर्यो दृश्यते जलादिपात्रभेदाच्च । अन्यथा कथमभेदेन ग्रहणं स्यात् ? प्रथमं किल चक्षुरश्मयो मुखमा-  
 दाय निर्गच्छन्ति यावदादर्शादिदेशम्, सा प्राङ्गता वृत्तिरुच्यते । ते च तनादर्शादौ प्रतिहता निवर्तमाना  
 स्वमुखमेव मया दृश्यतामगच्छन्ति । सा च प्रत्यवृत्तिः । तत्र प्राङ्गता वृत्तिर्मुखं प्रत्यवृत्तेरपरि-  
 प्रत्यवृत्तिश्चात्मन, तत आत्मा प्रत्यवृत्तिसमर्पितमवगच्छन् मुखं भ्रान्त्या प्रत्यङ्मुखं यास्यामीति  
 मन्यते । चक्षुर्वृत्तेर्विचिन्त्यमेव भ्रान्तिर्बीजमिति भावः ।”-तत्त्वस० पं० पृ० ६१५ । (१५) ‘चक्षुर्द्वेषा’  
 -मी० श्लो० । (१६) ‘तत्रोर्ध्वानुप्र’-तत्त्वस० ।

(१) ‘अधिष्ठानानृजुस्यत्वात्मा’ -मी० श्लो०, तत्त्वस० (२) ‘वृत्त्याऽवबु’-तत्त्वस० ।  
 ‘वृत्त्या तु बु’-मी० श्लो० । (३) ‘ऊर्ध्ववृत्तेस्तदे’-मी० श्लो०, ‘ऊर्ध्ववृत्तितदे’-तत्त्वस० । ऊर्ध्ववृ-  
 त्तिरश्मीनामधोवृत्तिभि रश्मिभि समनेकत्वात् -आ० टि० । (४) ‘प्राग्भूतया’ -मी० श्लो० । (५)  
 ‘भ्रान्त्या’ -मी० श्लो०, तत्त्वस० । ‘भ्रान्ते’-प्रमेयक० । (६) उद्धृता इमे -तत्त्वस० पृ० ६१४ ।  
 प्रमेयक० पृ० ४०८ । (७) प्रतिविम्बमपि । (८) दण्डात् । (९) प्रतिविम्बम् । (१०) विम्बात् ।  
 (११) प्रतिविम्बम् । (१२) निमित्तकारणस्य विम्बस्याभावे । (१३) कार्यभूतस्य प्रतिविम्बस्यापायः ।  
 (१४) प्रतिविम्बावयव । (१५) न खलु प्रतिविम्बनाशे पश्चात्पुटिता अवयवा समुपलभ्यन्ते ।

वास्तवं जलादौ प्रतिबिम्बमभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु तेन प्रतिहता रश्मयो व्यावृत्य मुस्तादि-  
विम्बमेव जलादौ दर्शयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘जलादौ न प्रतिबिम्ब नाम घस्त्वन्तर सभवति’

तत्तिरसनपुरस्सर इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्, यतोऽस्य असभव ग्राहकप्रमाणा-  
प्रतिबिम्बस्य परमा- संभवात्, उत्पादककारणाभावाद्वा स्यात् ? तत्राद्य पक्षोऽनुपपन्नः,  
यत् पुत्रलामन्त्र निरिलेप्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव तत्र तत्सद्भावावेदकस्य सभ-  
प्रसापनम्— वात् । ‘निर्मले हि जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्ब पश्यामि’ इति प्रतीति

प्रतिप्राणि प्रसिद्धा । नहि ईय ‘चन्द्र पश्यामि’ इत्येव रूपोपजायते, नापि जलम् । किं  
तर्हि ? चन्द्रादेः प्रतिबिम्बमिति । न चेय प्रतीतिभ्रान्ता, सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशे-  
नैव रूपेण उपजायमानत्वात् । यत् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामेकादृशेनैव रूपेण उपजायते न  
तद् भ्रान्तम् यथा घटादिसवेदनम्, तथाभूता चेय प्रतिबिम्बप्रतीति, तस्मान्न भ्रान्ता  
इति । भ्रातसवेदनस्य तथाविधैस्वरूपेणोत्पत्त्यनुपपत्ते । नहि भ्रान्त शुक्तिकादौ  
रजतादिसवेदन सर्वत्र सर्वदा सर्वेषाम् एकादृशेनैव रूपेण उपजायते, दुष्टेन्द्रिययोगिनामेव  
पुसा तदुत्पत्तिप्रतीते, अदुष्टेन्द्रिययोगिना तेषां तदनुपपत्ते ।

विद्म, यत्र ज्ञाने समुत्पन्ने वाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञान वा प्रादुर्भवति तद्  
भ्रान्तं भवति, यथा शुक्तिकाया रजतादिज्ञानम् । न च आदर्शादौ प्रतिबिम्बप्रतीतौ  
‘नैतदेवम्’ इत्येतरूपो वाधकप्रत्ययः कदाचिदप्याधिर्भवति । न च वाधकाभावेऽप्यस्य  
भ्रान्तत्व वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात् । कारणदोषाऽप्रतीतिश्च न तत्प्रतीतिभ्रान्ता । प्रतिबिम्ब-  
प्रतीते सल्लु कारणम् आत्ममनश्चक्षुरादिलक्षणम्, न च तत्र दोषा प्रतीयन्ते । नहि  
क्षुदादिरात्मनो दोष निद्रादिर्मनस काचकामलादिश्चक्षुष तैःप्रतीत्युत्पत्तौ प्रतीयते,  
मन्त्रप्रस्य निद्रानुपपत्तयेतसो निर्मलनेत्रस्यापि प्रतिपत्तु प्रतिबिम्बप्रतिपत्ते प्रतीयमान-  
त्वात् । तदेव सिद्धमभ्रान्तमिदं प्रत्यक्ष विम्यात् प्रतिबिम्बस्य अर्थान्तरत्नप्रसाधनम् ।

तथा अनुमानमप्यस्य औश्रय विम्बार्थान्तरत्वप्रसाधकमस्त्येव । तथाहि—

(१) जलदण्डादिना । (२) ४५१ पं० २ । (३) तुलना— न हि दृष्टाज्येष्ठ  
गरिष्ठमिष्टम्—अष्टश०, अष्टसह० ४० ८० । न हि दृष्टाद् गरिष्ठ प्रमाणमस्ति—नयव० वृ०  
४० १८ । न च प्रत्यक्षाद् गरिष्ठ प्रमाणमस्ति ।—हेतुबि०टी० ४० ८७ A । (४) जलादौ ।  
(५) प्रतिबिम्ब । (६) प्रतीति । (७) पश्यामीत्येव रूपोपजायत इति शेष । (८) एकादृश-आ०  
दि० । (९) पुण्याणाम् । (१०) तुलना—‘तस्मान् यस्य च दुष्ट कारणम्, यत्र च मिथ्यति प्रत्यय स  
एवामपीवान् प्रत्यय नाप इति ।—गावरभा० १ । १।५। (११) प्रतिबिम्बज्ञानस्य । (१२)  
आत्ममनश्चक्षुर्गान् । (१३) प्रतिबिम्बप्रतीति । (१४) प्रतिबिम्बस्य । (१५) जलादि ।

१ घनो घस्त्वामभ-थ० । २-घरतो-थ० । ३ इति प्रतिप्रा-थ० । ४ न तेन तद् व० । ५  
-विपरपेणो-थ० । -विपरपेणो-थ० । ६-दुर्गेनैव रूपेण थ० । ७ न हि क्षुपरादि-थ०, व० ।  
८-एवमनसो व० । ९ प्रतिबिम्बप्रति-थ० ।

यद् यतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्यं तत् ततो भिन्नम् यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा, जल-चन्द्रादि-  
विम्बाभ्यां विलक्षणप्रतीतिप्राह्यश्च चन्द्रादिप्रतिविम्बमिति । न चैतदसिद्धम्; विम्बा-  
कारानुकारितया हि विम्बं प्रति आभिमुख्येन यद् वर्त्तते तत् प्रतिविम्बम्, यथा मुद्रा-  
कारानुकारिणी प्रतिमुद्रा । तत्रप्रतीतौ च कथं तैतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्यत्वमस्यै असिद्धम् ।  
न चैतद् विम्बस्यैव ग्रहणमित्यभिधातव्यम्; जलादौ दृक्पातानन्तरमेव चन्द्रादिविम्बम-  
पश्यतः तत्रप्रतीतिदर्शनात् । न चात्र विलक्षणा प्रतीतिः प्रतीयमानापि अस्य तैतो भेदं  
न प्रसाधयतीति वाच्यम्; सर्वत्र भेदवार्त्तोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्र असंख्याः प्रतीतिभेदनि-  
बन्धनत्वात् । अतः विम्बात् प्रतिविम्बमन्यद्भ्युपगन्तव्यम् । कथमन्यथा यद्वस्तु कदा-  
चिदपि न प्रतीतं तस्मिन्नपरिदृश्यमाने व्यवहितेऽपि तद्विम्बावारकाभावे<sup>१३</sup> तत्रप्रतिविम्ब-  
प्रतीतिः स्यात् ? तद्विम्बे दर्शनस्य स्मरणस्य प्रत्यभिज्ञानस्य वा सर्वथाऽसंभवात् । तन्न  
ग्राहकप्रमाणासंभवात् प्रतिविम्बासंभवः ।

नाप्युत्पादककारणाभावात्; तदुत्पादककारणस्य उपादानरूपस्य निमित्तभूतस्य  
चात्र संभवात् । प्रतिविम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणम्, चन्द्रादिकं तु निमित्त-

(१) प्रतिविम्ब जलाद्याध्यात् चन्द्रादिविम्बाच्च भिन्न तद्विलक्षणप्रतीतिप्राह्यत्वात् । तुलना-  
“तया यद्यतो विलक्षणप्रतीतिप्राह्यं तत्ततो भिन्नं यथा मुद्रातः प्रतिमुद्रा ”-स्या० २० पृ० ८६३ ।  
(२) विम्बाकारानुकारितया प्रतीतौ च । (३) चन्द्रादिविम्बादाध्यायभूतदपणादिश्च । (४) प्रतिविम्बस्य ।  
(५) जलादौ चन्द्रादिप्रतिविम्बदर्शनं । (६) पुरुषस्य । (७) प्रतिविम्ब । (८) प्रतिविम्बस्य । (९)  
आश्रयाद् विम्बाच्च । (१०) भेदवार्ताया । (११) प्रतीतिभेदो निबन्धनमस्या इति । (१२) वस्तुनि  
विम्बाव्ये । (१३) विम्बस्य आवरणं यदि स्यात् नदा प्रतिविम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात् अत आह तद्विम्बा-  
वारकाभावे । (१४) प्रत्यक्षमूलकत्वात् स्मरणप्रत्यभिज्ञानयो, अव्यवहितत्वनिबन्धनत्वाच्च प्रत्यक्षस्य ।  
(१५) स्याद्ग्राहकत्वाकरे । (पृ० ८६५) अस्य सोढरणं खण्डनमित्यम्-“यदपि प्रभाचन्द्रं ग्राह-प्रति-  
विम्बोत्पत्तौ हि जलादिकमुपादानकारणं चन्द्रादिकं च निमित्तकारणं गगनतलावलम्बिनं चन्द्रं निमित्ती-  
कृत्य जलादेस्तथा परिणामात् इति, तदस्यात्यन्तार्जवविजृम्भितम्, यथा हि तेजोऽभावमपेक्ष्य ते पत्रादे-  
श्छायापुद्गलाः पृथिव्यादावाश्रये छायाद्रव्यरूपतया परिणमन्ते तथात्रापि यदि वदनादिविम्बस्य छाया-  
पुद्गला दर्पणादिप्रसन्नद्रव्यसामग्रीमपेक्ष्य प्रतिविम्बरूपतया परिणमन्ते तदा किञ्चाम क्षूणं स्यात् अस्यापि  
छायाविशेषस्वभावत्वात् । तथा चागम-सामा उदिया छायाऽभामुरगया निसिम्भि कालाभा । सा च्चेह  
भामुरगया सदेहवप्रा मुणेष्यन् ॥ आदिरसस्ततो देहावयवा ह्वेति सकता । तैसि तत्युबलद्धी पगसजोगा  
न इयरेसि ॥ प्रकरणचनुदंशशतीकारोपि धर्मसारप्रकरणे ग्राह-न ह्यङ्गानवदनछायानुसकृमातिरेकेणा-  
दर्शके तत्रप्रतिविम्बसंभव इत्यादि ।”-स्या० २० पृ० ८६५ । तच्च चिन्त्यम्-आ० वादिदेवमूरिमतेन हि  
मुखादिविम्बस्य छायापुद्गला मुखाद्विनिर्गच्छन्त दर्पणादौ स्वच्छतादिसमाग्रीवशात् प्रतिविम्बमारभन्ते  
'अस्मन्मते तु स्वच्छ एवादर्शादौ विम्बसन्निधाने तद्गतछायापुद्गलसत्रमात् प्रतिविम्बमुत्पद्यते' (स्या०  
२० पृ० ८६४) इति स्वयमभिधानात् । तत्रेदं विचारणीयं यत्-मुखादिभ्यं छायापुद्गलविनिर्गमनं  
किञ्चिन्वन्तम् ? यदि तेषां स्वभावो यत् सदैव विनिर्यान्ति तदा चक्षुषो रदिमविनिर्गमनं नैयायिकादि-  
भि उक्तं कथं प्रतिक्षिप्यते । यदि हि अभास्वरान्मुखात् घटादेवा छायापुद्गलविनिर्गमनं युक्तिपथप्रस्था-  
पिन्यभिमत्यते तदा भास्वररूपशालिचक्षुषो रदिमविनिर्यान्तु न्यायानुभवसङ्गतं सुतरामेव स्यात् । अत-

कारणम्, गगनतलावलम्बिन चन्द्रं निमिच्छीकृत्य जलादेस्तथापरिणामात् ।

यदप्युक्तम्—‘तत्सन्निधाने गुणरूपम् द्रव्यरूपं वा तदुत्पद्येत’ इत्यादि, तदप्युक्तम्; द्रव्यरूपस्यैवास्यै तत्सन्निधाने तत्रोत्पादाभ्युपगमात् ।

यदपि—‘निरवयवद्रव्यरूपं सावयवद्रव्यरूपं वा तत् स्यात्’ इत्याद्युक्तम्, तदप्युक्तमात्रम्; अस्मदादीन्द्रियग्राह्यद्रव्यस्य निरवयवत्वाऽसिद्धेः ।

यत्पुनरुक्तम्—‘नापि सावयव जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भाऽसम्भवात्’ इति, तदप्यसाम्प्रतम्; यतो जलादिस्पर्शात् पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्तदा स्यात् यदा जलादेः तत्प्रतिनिम्नमर्थान्तरभूतं द्रव्यं स्यात्, यदा तु जलादिकमेव तथा परिणमते तदास्य ततोऽर्थान्तरत्वासम्भवात् कथं पृथक् तत्स्पर्शोपलम्भस्याशङ्काऽपि स्यात् ?

एतेन ‘जलादिपरमाणव एवास्य आरम्भना अन्ये वा’ इत्यादि प्रत्युक्तम्; जलपरमाणूनामेव वैकल्पकारेण तदारम्भरूपप्रतिज्ञानात् । प्रतिनिम्बे जलरूपाद् विलक्षणरूपप्रतीतेः कथं ते तदारम्भना ? इत्यप्यनुपपन्नम्, पुद्गलानां विचित्ररूपादिपरिणामसामग्रीसन्निधाने विचित्ररूपादिपरिणत्युपपत्तेः दृश्यते हि मुखादिविम्बेऽपि तत्सन्निधाने विचित्रा रूपपरिणति, कोपाद् रक्ततया लज्जात् कृष्णतया हर्षात् मुकान्तिमत्तया मुखादेः परिणामप्रतीतेः । अतो मुखचन्द्रादिनिम्नसन्निधाने जलादेर्विचित्रो रूपादिपरिणामो न विरोधमध्यास्ते ।

एतेन इदमपि प्रतिव्यूढम्—‘द्वयो सावयवयो समानाकाशदेशत्वानुपपत्ति, आश्रयद्रव्यस्य चादर्शादे परिमाणगौरवयोरत्वर्यः स्यात्’ इति, द्वयो सावयवद्रव्ययो र्जाऽसम्भवात्, एतस्यैव जलादिद्रव्यस्य स्वसामग्रीविशेषवशात् तैवापरिणामात् । न च समानाकाशदेशत्व मावयवयोः विन्दुम्; जलभस्मनो वातातपयोर्वा सावयवयोरपि

स्वपुगा रश्मिनिर्गमन प्रतिभाति मूलादिविम्बात् छायापुद्गलविनि मृति स्वीक्रियमाणा स्ववधाय कृत्वा यानमव प्रतिभाति । एषा० रत्नाकरस्य ६९८ पृष्ठे तु एभिरेव प्रमेयकल्पमानेऽनुमत्तमि सप्तमूत्रम् यत्र— स्वच्छताविगपादि जलद्रवणादयो मूलादियादिप्रतिविम्बाकारविकारधारिण मन्त यन् इति अत्रैव च चणुगो रश्मिनिर्गमनस्य प्रतिपत्तात् ज्ञायते यत्प्रकरणं तु वादिदेवगूरय प्रभावद्रव्यं यत्र गन्तव्यं अनुगमति अत्र तु तत्प्रगटनाभिलाषेण पूर्वोपरिविरोधमपि न पश्यन्तीति चित्रमेतत् ।

(१) प्रतिविम्बाकारतया । (२) पृ० ४५१ प० ४ । (३) प्रतिविम्बस्य । (४) विम्ब । (५) जगदी । (६) ४५१ प० ६ । (७) एतन्नादाद्यवयव सावयवमव तन्प्रतिविम्बमभ्युपगम्यत । (८) ४५१ प० ७ । (९) प्रतिविम्बस्य । (१०) जगदी । (११) प्रतिविम्ब । (१२) ४५१ प० ९ । (१३) विम्बनिर्गमनेन जगदीना प्रतिविम्बाकारतया परिणमनप्रकारेण । (१४) इयामप्य प्रतिविम्बे जगदी मुक्ता इत्यम् । (१५) जगदीय । (१६) विचित्ररूपाद्युद्भवकामधीनप्रियात् । (१७) ४५१ प० १४ । (१८) प्रतिविम्बाकारमित्यम् । (१९) प्रतिविम्बाकारतया । (२०) मुक्ता- इति समानेऽन्वयगमिगतात्तस्या ध्वनिचारि- इत्या० १० पृ० ८६१ ।

तत्प्रतीतेः । परिमाणगौरवोत्कर्षनियमोपि सावयवयोर्नास्ति; जलकनकादिसंयुक्ताऽनलादौ तदप्रतीतेः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेषा चक्षुः प्रवर्त्ते’ इत्यादि; तदप्य-  
विचारितरमणीयम्; रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चिदपि प्रमाणादप्रसिद्धेः । ततस्तदप्रसिद्धिः  
चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसिद्धौ प्रपञ्चतः प्ररूपिता ।

ननु प्रतिबिम्बोदयवादिनां मते विम्बानुकारिणा प्रतिबिम्बेन भवितव्यम् तत्कथं  
सव्यदक्षिणविपर्ययेण प्रतिबिम्बस्य प्रतीतिः; इत्यप्यचोद्यम्; स्वसामग्रीतः तस्य सव्य-  
दक्षिणस्वभावतयैव उत्पत्तेः । विम्बाभिमुखेन हि प्रतिबिम्बेन भवितव्यम्, आभि-  
मुख्यञ्च सव्यदक्षिणविपर्यासव्यतिरेकेण अस्य नोपपद्यते इति तथैव अस्योत्पत्तिरुपपन्ना,  
अन्यथा ‘प्रतिबिम्बम्’ इति व्यपदेशोऽस्य अनुपपन्नः स्यात् ।

किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्यै सव्यदक्षिणविपर्यासो गुण एव, यत एव

(१) तुलना—“करम्बितकनकपारदाभ्यामनैकान्तिकत्वात् ”—स्या० २० पृ० ८६१ । (२)

उष्णजले हि जलान्म्यो द्वयो सावयवयो समानदेशता जाता न च परिमाणगौरवोत्कर्षं, तथा तप्तसुवर्णं

सुवर्णान्म्यो सावयवयो सम्बन्धेऽपि न तयोत्कर्षं सन्दृश्यते इति भाव । (३) परिमाणगौरवयोरप्रतीते —

आ० टि० । (४) पृ० ४५२ प० १५ । (५) तुलना—“स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणामिद्वे चाक्षुष

तेज प्रतिश्वोन प्रवर्त्तितमिति चातीवासगत प्रमाणाभावात् ।”—प्रमेयक० पृ० ४२५ । चाक्षुष तेज

प्रतिश्वोन प्रवर्त्तितमिति चातीवासज्ज्ञतम्, प्रमाणाभावात् । न हि चक्षुस्तैर्जासि जलेनाभिसम्बन्धेन पुन

सविनार प्रति प्रवृत्तानि प्रत्यक्षादिप्रमाणत प्रतीयन्ते । यथा च नायनरश्मिना विषय प्रति प्रवृत्ति-

र्नास्ति तथा चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।”—स्या० २० पृ० ६९८ । (६)

पृ० ७५-८२ । (७) सव्यदक्षिणविपर्ययेणैव । (८) तुलना—“तदपि प्रतिबिम्बवद्वनिरुक्तव्यैव इत्येतरम्,

पर मित्याभिनवेशात् चेतयते भवान् । प्रत्याभिम्बि प्रतियिम्बमुच्यते । प्रत्याधिता चास्य सकलतदीया-

लकनित्र भूभङ्ग भ्रुकुट्यादिविशेषस्वीकरणेनाभिमुखतया पुर म्याधित्वम् । तच्च सव्यदक्षिणपार्श्वविपर्या-

सव्यतिरेकेणास्य नोपपद्यते इति नथैवोत्पत्तिरुपपन्ना, अन्यथा तु प्रतिबिम्बमिति व्यपदेश एवास्यानुपपन्न

स्यात् ।”—स्या० २० पृ० ८६२ । (९) तुलना—‘किञ्च, यन्मते प्रतिबिम्बमर्थान्तरं तस्य सव्यदक्षिण-

पार्श्वयोर्विपर्यासो गुण एव । यत एव विम्बविपरीतधर्मयोगेण एवातोऽस्यान्यत्वमिति ।”—स्या० २० पृ०

६८२ । “आदर्शनलादिषु प्रमत्तव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणतोपलभ्यते इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव ।

अनाह-विपरीतग्रहणं कुत प्राङ्मुखस्य प्रत्यङ्मुखा छाया दृश्यते इति ? प्रमत्तव्यपरिणामविशेषात्

भवति । अत्र चोद्यते नादर्शनलादिच्छायामद्भावः । किं तर्हि ? नयननिर्गतेन रश्मिना घनद्रव्यात् प्रति-

हानिवृत्तेन स्वमुखस्यैव ग्रहणमिति, तदयुक्तम्, विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गात् कुड्यादिषु अतिप्रसङ्गात्

ग्रहणवक्तव्यभावाच्च । विपर्यासग्रहणाभावप्रसङ्गस्तावत् यदि प्रतिनिवृत्तेन नयनरश्मिना स्वशरीरस्यैव

ग्रहणं प्राङ्मुखस्य प्राङ्मुखमेव ग्रहणं स्यात् विपर्यासहेत्वभावात् । कुड्यादिषु वाऽतिप्रसङ्गं स्यात्,

नयनरश्मे प्रतिघातस्य तत्रापि सद्भावान् ।”—राजवा० पृ० २३३ । न्यायवि० वि० पृ० ५६७ B ।

“कथं पुनर्दपणतलादिषु प्रतिबिम्बं मुखादीना सम्मुखमेव छायाकारेण परिणमते न पराङ्मुखम् ? कथं

वा कठिनमादर्शनमण्डलं प्रतिभिद्यं मुखतो विनिर्गता पुद्गला प्रतिबिम्बमाजिहत् इति ? यस्तावदुच्यते

सम्मुखमेव प्रतिबिम्बमुद्देशेन नाप्यतो मुखमिति, तत्र परिणामं स तादृशं पुद्गलानाम्, नहि तद्विषय

पर्यनुयोगं कर्त्तुं शक्यं”—तत्त्वार्थभा० ध्या० पृ० ३६४ । (१०) मम-आ० टि० । जैनस्य ।

१ परिणाम-ब० । २ तदप्रतिपत्ते. ब० । ३-वसिष्ठश्च चक्षु-ब० । ४-विपर्ययो गुण ब० ।



विश्वधर्मविपरीतधर्मयोगोऽत एव अस्य अतोऽन्यत्वम् । यदि च प्रतिविम्बमन्यन  
 स्यात्, आदर्शादिना प्रतिहतैर्नानरश्मिभिर्व्यावृत्त्य देशविपर्यासेन मुखादेरेव आदर्शादौ  
 प्रकाशान्, तदा कुड्यादिनाऽपि प्रतिहतास्ते व्यावृत्त्य किमिति कुड्यादौ मुखेन प्रका-  
 शयन्ति विशेषाभावात् ? नचात्र स्वच्छता उपयोगिनी, रश्मिप्रतीघातमात्रस्यैव तत्रो-  
 5 पयोगात्, तच्च उभयत्राप्यविशिष्टम्, प्रत्युत कुड्यादिनां घनद्रव्येण अतिशयवान्  
 प्रतीघातो विधीयते, अत तत्र अतिशयवता तैःप्रतिभासेन भाव्यम् । कारणातिशयाद्धि  
 कार्यातिशयो दृष्ट, यथा पिप्तातिशयात् शङ्खादिषु पीतत्वावभासातिशयः । अस्मन्मते  
 तु निर्मले स्वच्छ एव आदर्शादौ विश्वसन्निधाने प्रतिविम्बमुत्पद्यते न पुन कुड्यादौ  
 तद्विपरीते, अतस्तत्र तैःप्रतिभासाभावः ।

10 किञ्च, आदर्शादिना प्रतिहता रश्मय व्यावृत्त्य यदि विश्वमेव प्रकाशयन्ति, तर्हि  
 महतो ह्यस्यादे स्वपरिमाणानतिक्रमेणैव प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात् । नचै-  
 वम् । अत प्रतिविम्बमेव तत्रै तर्थाभूतमुत्पन्न प्रतिभासते इत्यभ्युपगन्तव्यम् । स्वप-  
 रिमाणानुसारितया हि दर्पणादिना प्रतिविम्बमारभ्यते, अतो महतो लघुत्वप्रतिपत्ति-  
 रविरुद्धा । यदि च कृपाणादौ काँचादौ चाश्रये प्रतिहताँस्ते व्यावृत्त्य विश्वमेव प्रका-  
 15 शयन्ति, तदा आयत-श्याममुखप्रतीतिर्न स्यात् । अस्मन्मते तु आश्रयस्य आयतत्वात्  
 श्यामत्वान्च तदारब्धस्य प्रतिविम्बस्यापि आयतत्व श्यामत्वञ्चोपपन्नम् । जलादेस्तु  
 अतिस्वच्छत्वान् विम्बाकारानुकारेणैव तत्र प्रतिविम्बोत्पत्तिः ।

यदप्युक्तम्—'यदि प्रतिविम्बमर्थान्तरमुत्पन्नम्' इत्यादि; तदप्यर्चिर्चिताभिधानम्,  
 अर्धान्तरस्यास्योत्पत्तात्रपि नियमेन निमित्तैरारणक्रियानुसारितया तैस्त्रियाया नियमेन  
 20 त्रियानुरूपपत्ते प्रदीपप्रकाशान्, द्यत्रायावद्धा । यथैव हि प्रदीपे छत्रे च चलति  
 प्रकाशश्छाया च नियमेन चलति स्थिरे तु स्थिरा भवति, एव विम्बे चलति नियमेन

(१) प्रतिविम्बस्य । (२) विम्बान् । (३) तुलना— यदि चादशादिप्रतिहता रश्मय मुख

प्रकाशयन्ति तदा त्रियानुरूपप्रतिहता अपि ते तत्प्रकाशयन् विम्बाभावात्—स्या० १० पृ० ८६४ ।

(४) व्यावृत्त्य विश्वप्रकाशनः । (५) प्रतिघातमात्रम् । (६) दर्पणादौ कुड्यादौ च । (७) विश्व

प्रतिभासनः । (८) जैनमतः । (९) अस्वच्छपारदर्शिनः । (१०) कुड्यादौ । (११) विश्वः ।

(१२) तुलना— तदा महतो ह्यस्यादे स्वपरिमाणानतिक्रमणवत् प्रतीतिप्रसङ्गात् लघुत्वप्रतीतिर्न स्यात् ।

—स्या० १० पृ० ८६४ । (१३) दर्पणादौ । (१४) लघ्वाकारेणम् । (१५) तुलना— अपि च

परि कृपाणादीनां प्रतिहताम् व्यावृत्त्य विश्वमेव प्रकाशयन्ति तदा तत्रायतश्याममुखप्रतीतिर्न

स्यात् ।—स्या० १० पृ० ८६४ । (१६) श्यामकाचादौ । (१७) रश्मयः । (१८) कृपाणस्य

काचात्त्वः । (१९) पृ० ४५३ पं० ५ । (२०) तुलना—अर्धान्तरस्योत्पत्तावापि नियमेन परिणामकार

णक्रियानुसारितया तस्मिन्चलति च तत्रान्यं त्रियं त्रियान्मन्त्रं च तत्रायतम् ।—स्या० १० पृ० ८६२ ।

(२१) मुग्गादिविम्बः । (२२) मुग्गादौ त्रियाया गत्याम् ।

१—एतन्नाशे व० । २—दृष्टं पदकुड्या—व० । ३—ना इष्यन् व० । ४—हस्तादे आ० ।

६ लघुप्रति—व० ।

प्रतिबिम्बं चलति तिष्ठति तु तिष्ठति । न खलु घटे नियमेन निमित्तकारणक्रियानुविधानं न दृष्टम् इत्येतावता सर्वत्र तैन्निषेद्बुमुचितम्, प्रदीपप्रकाशादावपि तैन्निषेधप्रसङ्गात् । घटे च तैद्बद् भासुररूपादिकमपि नोपलब्धम् अतः प्रदीपप्रकाशादावपि तैन्निषिद्धतामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्राप्यविशिष्टः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘निमित्तकारणापाये कार्यस्यापायाप्रतीतेः’ इत्यादि; तदप्यनल्प- 5  
तमोविलसितम्; प्रदीपलत्रादेर्निमित्तकारणस्याऽपाये प्रकाशद्वययोरपायप्रतीतेः ।

एतेन ‘प्रतिबिम्बविनाशे पृथक् तदवयवोपलम्भप्रसङ्गः’ इत्यादि प्रत्युक्तम्; प्रदीपादेर्विनाशेऽपि तैर्दप्रतीतेः । न खलु प्रदीपविद्युदादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक् तदवयवाः क्वचित् कदाचित् कस्यचित् प्रतीतिपथप्रस्थायिनो भवन्तीति ।

साम्प्रतम् ‘अतीतैर्कालानां गतिः नाऽनागतानां व्यभिचारात्’ [प्रमाणवा० 10  
स्व० १।१२] इत्येतन्निराकुर्वन्नपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति—

भविष्यत् प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।

श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥ १४ ॥

(१) दण्डादि-आ० टि० । (२) प्रतिबिम्बेऽपि । (३) निमित्तकारणक्रियानुविधानम् ।  
(४) निमित्तकारणत्रयानुविधान । (५) निमित्तकारणभूतदण्डादिवच्छुक्लरूपादिकमपि । (६)  
निमित्तकारणभूतप्रदीपवत् भासुररूपादिक तत्प्रकाशे निषिद्धताम् । (७) पृ० ४५३ प० १० । (८)  
तुलना—“न खलु मृदाद्यपाये कलशादावपायो नोपलब्ध इति ।”—स्वा० २० पृ० ८६३ । (९)  
पृ० ४५३ प० ११ । (१०) तुलना—“सौदामिनीप्रदीपादिद्रव्याणां विनाशेऽपि पृथक् तदवयवानामनु-  
पलम्भात् ।”—स्वा० २० पृ० ८६३ । (११) अवयवोपलम्भ-आ० टि० । (१२) ‘अतीतानामेककालानाम्’  
—प्रमाणवा० स्व० । व्याख्या—“तत्रापि रमादे रूपाद्यनुमाने अतीतानामेककालानाम् च गति रसोपादा-  
नसमानकालभाविनोऽतीता लिङ्गभूतरससहभाविन एककाला तेषाङ्गानि नानागणनानाम् वर्तमानेन  
लिङ्गानुमान व्यभिचारात्, अनागन् हि कारणान्तरप्रतिबद्धं तत्र प्रतिबन्धवैकल्पसंभवात् भवेदपि ।  
यच्चाद्योदयात् श्व सूर्योदयाद्यनुमानत्र तदनुमान नियामकलिङ्गाभावात्, अद्य गर्दभदर्शनात् श्व  
सूर्योदयानुमानवत् ।”—प्रमाणवा० स्ववृत्तिटी० १।१२ । उद्धृतमिदम्—सिद्धिवि० टी० पृ० ३११A ।  
प्रमेप्रक० पृ० ३८१ । स्वा० २० पृ० ५९० । (१३) रोहिणीनक्षत्रम् । (१४) “शकट रोहिणी  
धर्मी मूहूर्तान्ते भविष्यदुदेष्यदिति साध्यधर्मं, कुत ? कृत्तिकोदयादिति साधनम् । न खलु कृत्तिकोदय  
शकटोदयस्य कार्यं स्वभावो वा, केवलमविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरमिति प्रतिपद्येत अनुमन्येत  
सर्वोऽपि जन इति । तथा श्व प्रात आदित्य सूर्यं उदेता उदेष्यति अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्येत । तथा  
श्वो ग्रहण राहुस्पर्शो भवष्यति एवविधफलकाङ्क्षादिति वा प्रतिपद्येत सर्वत्राप्यव्यभिचारात् ”—लघी०  
ता० पृ० ३३ । तुलना—“कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यामत्तिकृत्तिकोदयात् ।”—मी० श्लो० पृ० ३५१ ।  
प्रश० व्यो० पृ० ५७१ । प्रमाणप० पृ० ७१ । परीक्षापु० ३।७१ । सम्मति० टी० पृ० ५९१ ।  
प्रमाणनय० ३।८० । प्रमाणमी० पृ० ४१ । जनतर्कभा० पृ० १६ । “प्रतिबन्धपरिमल्यायाम् उदेष्यति  
शकट कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम् ?”—सिद्धिवि० पृ० ३१७ B ।

1-क्रियानुमानं व०, -क्रियानुविधानं आ० । 2-प्रदीपादावपि व० । 3-विशेष्य आ० ।

4-बिम्बप्रकाशे व० । 5-सत्प्रतीतेः श्र० । 6-प्रतीते-आ० ।

निवृत्तिः—तदेतद् भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसंख्यां प्रमाण-  
संख्याञ्च प्रतिरुणद्धि ।

भविष्यद् भावि, प्रतिपद्येन जन । किम् ? शकटम् । कुतः ?

कारिकाथ —

कृत्तिकोदयात् । तथा इवः प्रात आदित्य उदेता इति  
प्रतिपद्येत अद्य आदित्योदयात् इति गम्यते । 'ग्रहण वा भविष्यति'

इति प्रतिपद्येत, कुतश्चित् फलकाङ्क्षादे ।

करिकाया तात्पर्यार्थमुपदर्शयन्नाह—'तद्' इत्यादि । तस्माद् एकलक्षणान्विता-

निवृत्तिव्याख्यानम्—

द्धेतो एतद् भविष्यद्विषयं भाविशकटोदयादिगोचरम् अविसंवादकं  
ज्ञानं सिद्धम् । तन् किं करोति ? इत्याह—प्रतिबन्धसंख्यां प्रतिरुणद्धि

10 तादात्म्यतदुत्पत्त्योरत्रौऽसम्भवात् । अर्थं कृत्तिकोदयादे, शकटोदयादिकार्यत्राद्यमदोष,  
तन्न, अतीतकृत्तिकोदयादेः शकटोदयात् प्रतीत्यभासप्रसङ्गात् । अन्योन्यकार्यत्वे अन्यो-

न्यार्थप्रसक्ति । अन्यच्च तन् किं करोति ? इत्याह—प्रमाणसंख्याञ्च प्रतिरुणद्धि परंपरि-  
कल्पितस्य प्रतिबन्धस्य पक्षधर्मत्वाद्देश्वाऽभावेऽपि कृत्तिकोदयाद्यनुमानस्य भावात् ।

15 तन्न कार्यस्वभावानुपलब्धिलिङ्गप्रभय त्रिविधमेव अनुमानम् इत्यनुमानप्रमाणसङ्ख्या  
नियमः मौगताना व्यवतिष्ठते प्रांगुललिङ्गप्रभवानुमानाना सतोऽर्थान्तरत्वप्रसिद्धेः ।

एतेन नैयायिकोपकल्पित पञ्चवैवानुमानमित्यनुमानसङ्ख्यानियम प्रत्याख्यातः,

पूर्वोक्तानुमानाना पञ्चसंनुमानेषु अनन्तर्भावात् ।

ननु "अस्येद कारण कार्यं सयोगि समगामि विरोधि चेति लैङ्गि त्म्" [बंशे० सू० १।२।२]

कारणादय पञ्च हतव इति सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिनाहम अविनाभावस्य अत्रैव

20 एव गमना इति वग परिसमाप्तेः, तद्वदय नैयायिकानामनुमानसंख्यानियमो न व्यव-  
पितस्य पूर्वपक्ष - 'तिष्ठेत ? अत्र कारणान् कार्यानुमानम्, यथा ज्वलदिन्धनदर्शनात्

(१) फलके पन्टकं त्र्यङ्गुलगणनाया (सटिकादिलिखिताङ्गुलगणनाया) —आ० टि० । (२)  
अविनाभावेक । (३) कृत्तिकोदय-शकटोदययो । तुलना— न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वा  
कालव्यवधान तदनुपलब्ध । 'परोक्षामु० ३६१ । प्रमाणनय० ३।६७ । (४) भाविकारणवादी प्रज्ञा  
करगुण प्राह । प्रज्ञाकरगुणस्य भाविकारणानुपपन्नमतमित्यम्—'भावेन च भावो भाविनाप्रपि लक्ष्यत  
एव मृत्युप्रयुक्तमरिष्टमिति श्लोके व्यवहार । यदि मृत्युन भविष्यत भवदेवम्भूतमरिष्टमिति  
तस्मादनागतस्यापि कारणत्वमव्यभिचारदिनि युक्तमनत् । —प्रमाणवार्तिककाल० पृ० १७७ । (५)  
भवत्ववमपि प्रयोग—आग कृत्तिकोदय शकटोदयान—आ० टि० । (६) कृत्तिकोदयानुमान सिद्ध  
सति तत शकटोदयानुमानम् तस्माच्च कृत्तिकोदयानुमानमिति । (७) सीगत । (८) तादात्म्या  
दिमम्ब प्रस्य । (९) हलो रूपत्रयस्य । (१०) कृत्तिकोदयादिहनुजन्यानुमानानाम् । (११)  
तादात्म्यननुत्पत्तिमम्ब चनिव घनानुमानान । (१२) कार्यं कारणपूर्वकत्वेनोपलम्भाद्युपलभ्यमान सद्

1—पद्येत वा० । 2—अप्यवप्रस—व० । 3 प्रतिबिम्बस्य व० । 4 पञ्चतन्वा—श्र० ।

5—तिष्ठेत् वा० ।

भविष्यति भस्म इति । कार्यात् कारणानुमानम् ; यथा नदीपूरोपलम्भात् वृष्टेः । संयोगि-  
दर्शनात् संयोगिनोऽनुमानम् ; यथा धूमदर्शनाद् वह्नेः । समवायिदर्शनात् समवायिनो-  
ऽनुमानम् ; यथा शब्दाद् आकाशस्य । एकार्थसमवायिदर्शनात् एकार्थसमवायिनो-  
ऽनुमानम् ; यथा रूपाद् रसस्य । विरोधिदर्शनाद् विरोध्यन्तरानुमानम् ; यथा विस्फु-  
र्जितनकुलदर्शनात् मग्निहितमर्पज्ञानमिति ।

6

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘सूत्रोपात्ता एव पञ्च हेतवो लैङ्गिकाङ्गम्’ इत्यादि ;

तन्प्रतिविधानपुरम्पर  
श्रुतिकेदयदीना पूर्व-  
चरार्दिहेतूनामपि पृथक्  
रूपेण गमकत्वप्रदर्श-  
नम्—

तदसमीक्षिताभिधानम् ; तदतिरिक्तानां कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदङ्गत्व-  
प्रतिपादनात् । अविनाभाववशाद्धि हेतोरनुमानाङ्गत्व न कारणादि-  
रूपतामात्रेण अस्याऽव्यापकत्वादतिप्रसङ्गाच्च । अविनाभावस्य तु सकल-  
हेतुकलापव्यापित्वात् तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्ग्रादेव हेतोर्गम-  
कत्वं प्रतिपत्तव्यम् । नहि तद्व्यतिरेकेण कचिदपि हेतोर्गमकत्व

10

प्रतीयते ; सर्वत्र गमकत्वस्य अविनाभावे सत्येव उपपत्तेः । कार्यकारणभावस्य च पद-  
पदार्थपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्रतिपिद्धत्वात् परमते कार्यकारणलिङ्गयोरसिद्धिः । संयोगसम-  
वाययोरपि तत्रैव निषेधात् संयोगिसमवायिलिङ्गयोरपि असिद्धिः । विरोधिनोप्यविना-  
भावादेव विरोध्यन्तरानुमापकत्वम्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् ।

15

गमकम्, यथाहि—विशिष्टनदीपूरोपलम्भादुपरिष्ठाद् वृष्टो देव इति । तथा च बहुलस्वरूपेनकेनिलपर्ण-  
काष्ठादिवहनविशिष्टस्य नदीपूरस्य वृष्टिकार्यत्वेन पूर्वमुपलम्भात् पुनस्तदुपलम्भे सति युक्तगनुमानम्—  
अथ नदीपूरो वृष्टिकार्यो विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धनदीपूरवदिनि । पूरस्तु उभयतदव्यापकोदक-  
सयोग । स पारम्पर्येण वृष्टिकार्य इति । कारणमिति कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेऽप्यलभ्यमान तल्लय  
यथा च विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मण । तथा धूमोज्जने सयोगी समवायी च उष्णस्पर्शो वारिभ्य  
तेजो गमयतीति । विरोधी च यथाहिविस्फूर्जनविशिष्टो नकुलादेर्लिङ्गमिति ।—प्रश० ध्यो० पृ० ५७२ ।  
प्रश० किर० पृ० ३०२ ।

(१) पृ० ४६० प० १९ । (२) तुलना—‘समुद्रवृद्ध्यादौ यथोदितसम्बन्धाभावेऽप्यनुमानदर्शनात् ।  
सयोगसमवायैकार्यसमवायास्तु नानुमानोत्पत्ती कारणम् । नहि कमण्डलुना छात्रानुमानम्, नापि रूपादे  
पृथिव्याद्यनुमानम्, नापि रूपाद्रसानुमानमिति । यच्च विरुद्धस्यानुमानस्योदाहरण भूत वर्षणकर्म  
अभूतस्य वाय्वभूतसयोगस्यानुमापक तथाऽभूत वर्षणकर्म भूतस्य वाय्वभूतसयोगस्यानुमापकमिति, तदनु-  
पपन्नम्, भावाभावयोर्द्वय गम्यममकता, न च तयोर्विरोधोऽस्ति तस्मात् कार्यकारणभावादय एव  
सम्बन्धा यस्य येन नियता अव्यभिचारिण स हेतुरिति ’—प्रक० पं० पृ० ६८ । न्यायवा०  
ता० पृ० १६४ । स्या० र० पृ० ५३२ । लघी० ता० पृ० ३४ । (३) कारणादिरूपतामात्रस्य  
कृत्तिकोदयादिहेतुपु अव्याप्ति, धूमादिसाध्य प्रति व्यभिचारित्वाद्धत्वाभासभूतेषु अग्न्यादिषु सद्-  
भावाच्चातिप्रसंग । (४) अविनाभाव विना । (५) पृ० २२० । (६) वैशेषिकमते । (७) पद-  
पदार्थपरीक्षायाम् पृ० २९७ ।

यदपि सांख्यैरभिहितम्—मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि-वध्य-  
घाताद्यैः सप्तधाऽनुमितिः । तत्र मात्रामात्रिकानुमानम्; यथा चक्षुषो  
विज्ञानानुमानम् । कार्यात् कारणानुमानम्; यथा विद्युर्दृशनात् कारण-  
विज्ञानम् । प्रकृतिविरोधिर्दर्शनात् नद्विरोध्यन्तरानुमानम्; यथा न  
वर्षिष्यति बलाहकः प्रत्यनीकपवनयोगित्वात् । सहचराऽनुमानम्; यथा  
चक्रवाकयोरन्यतरदर्शनात् द्वितीयज्ञानम् । स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनु-  
मानम्; यथा छत्रविशेषदर्शनात् राज्ञोऽनुमानम् । वध्यघातानुमानम्;  
यथा सहर्षनकुलदर्शनात् 'घातितोऽनेन सर्पः' इति ज्ञानम् । आदिग्रहणात् संयोग्यनु-  
मानम्; यथा समुदायवर्तिनि परिव्राजके 'कः परिव्राजकः' इति संशये त्रिदण्डदर्शनात्  
10 'परिव्राजकोऽयम्' इति ज्ञानमिति । तदप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्; कृत्तिकोदयादिहेतूनां  
नेयाधिकोपकल्पितहेतुभ्य इव अतोप्यैर्धान्तरभावाऽविशेषात् ।

अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका, नान्या मंशयहेतुत्वात्' इति नियमं  
निराकुर्वन्नाह—

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।

तदाकारविकारादेरन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १५ ॥

विद्वृतिः—अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचित्ताभावो न सिद्धयति  
अपि तु स्वचित्तभावश्च, तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः

(१) आदिग्रहणात् संयोग्यनुमान सप्तमम्—आ० टि० । (२) विद्युत् कादाचित्कत्वेन कार्य-  
त्वात् केनापि कारणेन भवितव्यमिति—आ० टि० । (३) तुलना—“एतेन मन्विद्य सम्बन्ध इति प्रत्यु-  
क्तम्”—न्यायवा० पृ० ५७ । “एतेनैव—मात्रानिमित्तसयोगिविरोधिमहचारिभि । स्वस्वामिवध्यघाताद्यै  
मान्याना सप्तधानुमा ।”—न्यायवा० ता० पृ० १६५ । नयचक्रवृ० पृ० ४२४ A. । लघी० ता० पृ०  
३४ । (४) सांख्यकल्पितहेतोरपि । (५) “प्रतिषेधनिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धे, सति  
वस्तुनि तस्या अमभवात्, अन्यथा चानुपलब्धिविलक्षणप्राप्तेषु देगकालस्वभावविप्रकृष्टेषु आत्मप्रत्यक्ष-  
निवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् । (पृ० ४२) विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा सदाय-  
हनु प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धिरिति ।”—न्यायवि० पृ० ५९ । वादन्याय पृ० १८ । “अनु-  
पलब्धिविलक्षणप्राप्तानुपलब्धे सदायहेतुनयागमकत्वादिति भाव ।”—वादन्यायटी० पृ० १९ । हेतुवि०  
टी० पृ० १६२ A. । (६) “विदुर्जानन्ति, के ? लौकिका । अपिसद्योऽत्र द्रष्टव्य, तेन लौकिका  
गोपयन्त्याद्योऽपि किं पुन परीक्षका इत्यर्थ । वम् ? अभावम् असत्ताम्, कस्य ? अदृश्यपरचित्तादे  
परोपमानुराणा चित्त चैतन्यमादिर्यस्यामी परचित्तादि, अदृश्यश्चामी परिचित्तादिश्च स तथोक्तस्तस्य ।  
आदिग्रहणेन भूतग्रहव्याधिप्रभृतिर्गुह्येन यस्य सूक्ष्मस्वभाव । कुत ? तदित्यादि, तस्य परचित्तादे  
कार्यभूतोऽवनामावी आकार उष्णत्वगोदिलक्षण तस्य विकारोऽन्यथाभाव आदिर्यस्य वचनविशेषा-  
राग्यादे तस्यानुपपत्तित असभवात् ।”—लघी० ता० पृ० ३४ । (७) “अदृश्यानुपलब्धभावात्सिद्धि-  
रित्युक्तम्, परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्ते सक्तन्तूणा पतिवित्त्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगा-  
दविनिवृत्तिनिर्णयान् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२ । लघी० ता० पृ० ३५ ।

परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अभेदलक्षणस्यैव स्यात् ।

अदृश्यश्चासौ परचित्तादिश्च, आदिशब्देन भूतप्रहव्याधिपरिग्रह,

वार्तिनाथ — तस्याऽभावं लौकिका विदुः । कुत इत्यत्राह—‘तदाकार’

इत्यादि । तेन अदृश्यपरचित्तादिना सहभावी शरीरगत उष्णस्पर्शा

दिलक्षण आकार तदाकारः तस्य विकारः अन्यथाभाव आदिर्यस्य वचनधि 5  
शेषस्य तस्य अन्यथानुपपत्तितः ।

ननु सर्वत्र अभावपरिच्छेदे अभावप्रमाणस्यैव व्यापार, परचित्ताभावश्च अभाव

तस्माद् अभावस्यैव परिच्छेद । तच्च अभावप्रमाणम् प्रत्यक्षादि

अभावपरिच्छेद अभाव  
प्रमाणस्यैव व्यापार  
न भावस्पाणा प्रयत्ना  
दीनामिति अभावस्य  
प्रयत्न प्रामाण्यवर्तिना  
मीमांसकस्य पूर्वपक्ष

भ्यो भिन्नम्, तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वात् भिन्नविषयत्वात् भिन्नफल  
साधकत्वाच्च, यद् यतो भिन्नासामग्रीप्रभवत्वादिविशेषणविशिष्ट 10

तत् ततो भिन्नम् यथा प्रत्यक्षादनुमानादि, तथाभूतश्चेदम्, तस्मा

त् प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नमिति । न चास्य तद्विन्नसामग्रीप्रभवत्वम

सिद्धम् तथाहि—इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपाया प्रत्यक्षादिसामग्रीत

तावदाभावप्रमाण नोत्पत्तुमर्हति, अभावेन सह इन्द्रियाणा सन्निकर्षाभावात् । न हि तत्र

तेषा सयोगलक्षण सन्निकर्ष समवति<sup>१</sup> अभासस्य अद्रव्यत्वात् । नापि समवायलक्षण, 15

द्रव्य गुण कर्म सामान्य-विशेषेभ्योऽन्यत्वात् । तैयोरभाव च तत्प्रभेद सयुक्तसमजा

यादि दूरादपास्त । सयुक्तविशेषणभाजोप्यसमाव्य ; घटाभावस्य भूतदशविशेषणत्वा

भावात् । विशेषण हि सयुक्त समवेत वा भवति यथा दण्डो गुणादिश्च, न चाभाव

कचित् संयुक्त समवेतो वा इत्युक्तम् । उक्तञ्च—

“नै तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मति ।

20

भावाशनेन संस्रधो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥” [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८ ]

(१) अभावोऽपि प्रमाणाभाव नास्तीत्यथस्यासन्निकृष्टस्य —शाबरभा० १।१।५। (२)

अभावशब्दाच्च्यत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते । प्रमाणामभावो हि प्रमेयाणामभाववत् ॥ —मी० श्लो०

अभाव० श्लो० ५४ । (३) द्रव्यद्रव्ययोश्च सयोगात् । (४) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविभाषाणामेव

च समवायित्वम् । (५) सयोगसमवाययो । (६) चक्षु मयुक्त भूल तद्विशेषणत्वाभाव इति ।

मा भूतसयोगन मयुक्तविशेषणत्वाद् गह्यतामिति चेत् न असति सम्बन्ध विशेषणत्वायोगात् ।

अस्त्येव सम्बन्ध इति चेत् कोऽमी ? न तावत्सयोग अद्रव्यत्वात् । न समवाय तदनभ्यपगमात् ।

अभ्युपगमे वा सयुक्तनमवायात्वेव ग्रहणात् तद्विशेषणत्वमवबन्धव्य स्यात् । तत्र तावत् भवतामस्ति

सन्निकृष्ट अस्माक तु अस्ति मयुक्तसमवाय । तथापि तु न द्वियवत्वमित्यत्रैव वक्ष्याम । —मी० श्लो०

यापर० पृ० ४७९ (७) न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मति —मी० श्लो० । (८)

सयोगो—मी० श्लो० । समति० टी० पृ० ५८० । प्रमाणमी० पृ० ९ । (९) उद्धृतोऽयम्—

1—सिद्धिपरी—ज० वि० । 2 भिन्नविषयत्वात् नास्ति व० । 3 प्रत्यक्षस्तत्ताम—व० ।

4—विशेषणीभावो श्र० । 5—भाव्यो यथा घटा—व० ।

यदि नेन्द्रियादिसामग्रीतस्तदुत्पद्यते, कुतस्तर्हि तदुत्पद्येत इति चेन् ? उप-  
लब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिषेधार्थानुपलब्धि भूतलाद्याश्रयोपलब्धि-प्रतिषेध्यघटादिस्मरणलक्षण-  
सामग्रीविशेषात् ।

“गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृतौ च प्रैतियोगिनम् ।

मानस नास्तितान्नान जायतेऽज्ञानपेक्षयो ॥” [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७ ]

“प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभावात् उच्यते ।

सौत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञान वाऽन्यत्रैतुनि ॥” [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० ११ ]

इति तल्लक्षणसामग्रीतर्तुत्पत्तिश्च तदन्यतमस्याप्यपाये तदनुपपत्तेः सुप्रसिद्धा ।  
यदि हि उपलब्धिलक्षणप्राप्तार्थानुपलब्धिर्न स्यात् तदा भूतलाद्याश्रयोपलब्ध्यावपि अभाव-  
प्रतीतिर्न स्यात् । यदि च भूतलाद्याश्रयप्रतीतिर्न स्यात् तदा भूतलाद्यवच्छेदेन घटाद्यभाव-  
प्रतीतिर्न स्यात् । नहि अज्ञातस्य विशेषणत्व युक्तमतिप्रसङ्गात् । न च मामान्येन  
घटाद्यभावप्रतीतिरूपजायते, किन्तु भूतले । तथा, यदि प्रतियोगिस्मरण न स्यात् तर्हि  
'नास्ति' इत्येवरूपा प्रतीति स्यात् नतु 'घटो नास्ति' इति । अतः सिद्ध प्रत्यक्षसामग्री-  
तो भिन्नसामग्रीप्रभवत्वमभावात्प्रमाणस्य ।

15 तथा अनुमानसामग्रीतोऽपि, तस्य हि सामग्री लिङ्गादिलक्षणा, न च अभावेना-

सिद्धिवि० गी० पृ० १७९ B । प्रमेक० पृ० १८९ । सन्मति० टी० पृ० ५८० । जैनतकवा० पृ०  
७८ । न्यायाव० टी० पृ० २२ । स्या० र० पृ० २८० । प्रमाणमी० पृ० ९ ।

(१) भूतलाद्याश्रयलक्षणम् । (२) यस्याभाव प्रियते न प्रतियोगी यथा घटाभावे घट ।

(३) उदघृनोऽयम-प्रश्न० व्यो० पृ० ५९२ । न्यायम० पृ० ५० । बृहदा० वा० पृ० ८८५ ।

सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ B । प्रमेयक० पृ० १८९ । सन्मति० टी० पृ० २३, २७६ । न्यायाव० टी०

पृ० २२ । न्यायवि० वि० पृ० ४८८ A । स्या० र० पृ० २८० । प्रमेयर० पृ० ६९ । रत्नाकराव०

२।१ । विद्वत्तत्त्वप्र० पृ० १३ । प्रमाणमी० पृ० ९ । जैनतकवा० वृ० पृ० ९२ । प्रभाकरवि० पृ० ५८ ।

प्रमेयरत्नको० पृ० ५८ । (४) सात्मन परिणाम-मी० श्लो० । 'तामेव द्विषा विभजते सेति ।

योऽयमात्मनो घटादिविषय प्रत्यक्षादिज्ञानस्वरूप परिणाम तदभावमात्रमेवानुत्पत्तिरभाव इति

बोध्यते । तच्च घटाद्यभावविषय नास्ति बुद्धिजनकतया इन्द्रियादिवक्त प्रमाण नास्ति इति । -मी० श्लो०

न्यायर० पृ० ४७५ । सा प्रत्यक्षादेरनुत्पत्ति निषध्याभिमतघटादिपदाथज्ञानरूपेणापरिणत साम्या

वस्थमात्मद्रव्यमुच्यते घटादिविद्विक्तभूतलज्ञान वा -तत्त्वस० पृ० ५० पृ० ४७१ । आत्मन स्वरूपस्या

परिणाम इति प्रमज्य इति प्रतिषेध -आ० टि० । (५) पयुदास-आ० टि० । भूतलादिवस्तुन्या

श्रयभूत । उदघृनोऽयम-प्रश्न० व्यो० पृ० ५९२ । इष्यते -तत्त्वस० का० १६४९ । प्रमेयक० पृ०

१८९ । सन्मति० टी० पृ० ५८० । स्या० र० पृ० २७८ । षड्व० बृह० पृ० १२० A । रत्नाक

राव० २।१ । बृहत्सव० पृ० १५२ । (६) आभावोत्पत्तिश्च । (७) प्रतिषध्यानुपलब्धि-आश्रयो

पलब्धि प्रतियोगिस्मरणत्वव्यतमस्य । (८) इह भूतल घटाभाव इति प्रतिनियतवसानया । (९)

भूतलस्य (१०) न चाप्यज्ञानुमानन्य लिङ्गाभावात् प्रतीयते । भावागो ननु लिङ्ग स्यात्तदानी नाजि

पृक्षणात् ॥ -मी० श्लो० पृ० ४८४ ।

1-लब्धिप्रतिषेध्यभूतला-श्र० । 2-त्वा तत्प्रति-आ०, व० ।

ऽविनाभूतं किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । अनुपलब्धिरस्तीति चेत् ; नन्वसौ गृहीतव्याप्तिका, अगृहीत-  
व्याप्तिका वा अभावमनुमापयेत् ? न तावद्गृहीतव्याप्तिका; अतिप्रसङ्गात् । नापि गृहीत-  
व्याप्तिका; यतो व्याप्तिग्रहणं धूमाग्निवद् उभयधर्मग्रहणपूर्वकम् । व्याप्तिग्रहणवेलायाञ्च  
कुतः अभावाख्यधर्मग्रहणम्—अत एव अनुमानात्, तदन्तराद्वा ? यदि अत एव; अन्यो-  
न्याश्रयः; तथाहि—अतोऽनुमानाद्भावसिद्धौ अनुपलब्धेरभावेन अविनाभावित्वसिद्धिः;  
तत्सिद्धौ चाऽतोऽनुमानाद्भावसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात् तत्सिद्धौ चाऽनवस्था ।

किञ्च, अनुपलब्ध्याख्यं लिङ्गमपि उपलब्ध्यभावस्वभावम्, अतः तत्स्वरूपप्रति-  
पत्तावपि उक्तदोषानुपपन्नः । अनुपलब्धेरग्रहणे च अभावाऽनुपलब्ध्योः अविनाभाव-  
प्रतिपत्तिरतिदुर्घटा । अतो नाभावप्रमाणस्य अनुमानसामग्रीप्रभवता ।

नापि अर्थापत्त्युपमानागमसामग्रीसमुत्थता; प्राक् प्रतिपादिताया अभावप्रमाण-  
सामग्र्याः अर्थापत्त्यादिसामग्रीतोऽन्यथानुपपद्यमानार्थ-उपमानोपमेयगतसादृश्यग्रहण-  
शब्दाद्विलक्षणायाः सर्वथा भिन्नत्वात् । तन्न अभावप्रमाणस्य अध्यक्षादिभ्यो भिन्न-  
सामग्रीप्रभवत्वमसिद्धम् ।

नापि भिन्नविषयत्वम्; तथाहि—‘इह भूतले घटो नास्ति’ इति प्रत्ययः न तावद्  
भावविषयः; तद्वैलक्षणेन प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । भावविषयत्वे चास्य घटो विषयः;  
भूतलम्, तत्संसर्गो वा ? प्रथमपक्षे सति घटे घटसत्ताप्रत्ययवत् अभावप्रत्ययोऽपि  
स्याद् ‘आलम्बनस्य विद्यमानत्वात् । द्वितीयपक्षे तु सघटेऽपि भूतले अभावप्रत्ययप्रसङ्गः  
विषयभूतस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात् । नापि तत्संसर्गः; घटसंयुक्तेऽपि भूतले  
‘घटो नास्ति’ इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ घटविविक्तं भूतलम् अस्य विषयः; ननु तद्वै-  
विकृत्यं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, †तद्व्यतिरिक्तं वा ? यदि भूतलस्वरूपमात्रम्; † तर्हि  
विद्यमानेऽपि घटे तत्प्रत्ययप्रसङ्गः । अथ ‘तद्व्यतिरिक्तम् ; तर्हि नाममात्रं भिद्यते नार्थः;  
विंविक्तताशब्देन अभावस्यैव अभिधानात् । अतः सिद्धो भावादर्थान्तरम् अभावप्रमाण-  
स्यैव परिच्छेदोऽभावः; प्रत्यक्षादीनां भावविषयतया अभावगोचरचारित्वाभावात् ।

(१) “प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिंग भविष्यति । न चानवगत लिङ्ग गृह्यते चेदसावपि ।  
अभावत्वादभावेन गृह्येतान्येन हेतुना ॥ स चान्येन गृहीतव्यो गृहीते हि लिङ्गता । तद्गृहीतिहि  
लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता ॥ लिङ्गाभावे तथैव स्यादनवस्थेयमित्यत । क्वाप्यस्य स्यात्प्रमाणत्व  
लिङ्गत्वेन विना ध्रुवम् ॥” —मी० श्लो० पृ० ४८६-८८ । शास्त्रदी० पृ० ३३५ । (२) साध्य-  
साधनरूपोभयधर्म—आ० टि० । (३) असिद्धम्—आ० टि० । (४) भावप्रत्ययविलक्षणतया । (५)  
विषयभूतस्य घटस्य । (६) “न भूतलम्, सत्यपि घटे प्रसङ्गात्” —शास्त्रदी० पृ० ३२५ । (७)  
घटो नास्तीतिप्रत्ययस्य । (८) “कोऽयं घटविवेक ? यदि भूतलरूपमेव, घटवत्यपि प्रसङ्ग ।  
घटमयोगाभावश्चेत्, अङ्गीकृतस्तर्हि अभाव ।” —शास्त्रदी० पृ० ३२७ । (९) नास्तीतिप्रत्यय ।

1—हि अनुमा—आ० । 2 वाज्जो आ० । 3 वाज्ज—आ० । 4—स्यलि—आ०, य० । 5 विषयभूतलस्य  
व० । विषयभूतस्य भूतस्य थ० । †एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ० । 6 विविकृतशब्देन आ० ।



यदि चाभाव प्रत्यक्षपरिच्छेद्य स्यात्, कथमिन्द्रियेणाऽसन्निकृष्ट परिच्छिद्येत ? यदा हि केनचिद् अपवरक स्वरूपेण गृहीत विज्ञानाऽभावाद् 'देवदत्तोऽत्र नास्ति' इति न निश्चितम्, पश्चाद् दूरदेशममौ गत, यदा केनचित्पृष्ठ 'किं तत्र देवदत्त आसीन्न वा' इति ? प्रतिवेचनञ्चासौ तदैव तद्देशमनुस्मृत्य देवत्ताभाव प्रतिपद्य प्रयच्छति 'नासीत्' इति । नहि तत्र इन्द्रियमन्निकर्षोऽस्ति इति कथं तत्र प्रत्यक्षसमय ? ततो न प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽभावः ।

नाप्यनुमानादिपरिच्छेद्य, तद्विनाभाविनो लिङ्गादेरसंभवात् । अनुपलब्ध्यादेश्च तल्लिङ्गादेरनन्तरमेव कृतोच्चारत्वात् । अतः पारिशेष्याद् अभावप्रमाणगोचर एव अभाव इति नासिद्ध भिन्नविषयत्वम् । उक्तञ्च—

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपं न जायते ।

वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणात् ॥” [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० १ ]

नापि भिन्नफलसाधकत्वम्, अभावावगतिलक्षणफलस्य अभावप्रमाणप्रसादादेव प्रसिद्धे । अतः प्रत्यक्षादिभ्यो विलक्षणस्य प्रतिषेध्याधारग्रहणादिसामग्रीप्रभवस्य नवर्थाविषयस्य नवर्थासवित्तिफलस्य अभावप्रमाणस्य प्रमाणान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) स्वरूपमात्र दृष्ट्वाऽपि पश्चात्किञ्चित्स्मरणपि । तत्रान्यनास्तित्वा पृष्टस्तदव प्रतिपद्यते ॥ यदा हि कश्चित् प्रातः काले कञ्चिद्दृग्गम्यामीनस्तत्र व्याघादिकमदृष्ट्वा तदस्मरणान्च तदभावमप्यगृहीत्वा देशमात्र दृष्ट्वा देशान्तरगतो मध्यन्दिन पच्छयते कश्चित्स्मिन्देशे प्रातः काले व्याघात गजं मिह पाशिवो वा समागत ? इति । स तदा तद् देशमवगतवात्स्मरणपि तत्र देशज्यया व्याघादीनामभाव प्राग्गृहीत तदव गच्छति । न च मध्यन्दिन समय प्रातः कालिकस्याभावस्यानिर्द्रवसन्निकृष्टस्य मभवति प्रयश्च ग्रहणं तस्यिन्द्रियसन्निकृष्टवतमानविषयत्वात् । —मी० श्लो० 'यावर० पृ० ४८३ । शास्त्रदी० पृ० ३३९ । (२) उत्तरम् । (३) देवदत्ताभावे । (४) 'नाप्यनुमेय अज्ञातेन तेन कस्यचिन्निकृष्टस्य सम्बन्धग्रहणासंभवात् । —शास्त्रदी० पृ० ३४० । (५) मेयो यदभावो हि मानमप्यवमिष्यताम् । भावात्मके यथा मय नाभावस्य प्रमाणात् । तथाऽभावप्रमेयऽपि न भावस्य प्रमाणात् ॥ अभावो वा प्रमाणन स्वानरूपेण मीयते । प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्मात् भावात्मकात् पृथक् ॥ —मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५ ४६ ५५ । (६) व्याख्या— ओचव ( उम्बव ) त्वेव व्याख्यानवान् यत्र घण्टास्य वस्तुनि प्रयक्षादि सन्भावग्राहकं नोपजायते तस्य नास्तित्वा भूषणैर्नाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया'—स्या० र० पृ० २७९ । तत्र सदसद्रूपेणोभयात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते यस्मिन् वस्तुरूप वस्त्वगमद्रपाल्य प्रमाणपञ्चकमर्थापत्तिपयन् न जायते । किमयम् ? वस्तुन सत्ताभावबोधायम् । तत्र अभावात् प्रमेय अभावस्य प्रमाणात् । —तत्त्वस० पृ० ५७० । उदपृतोऽयम्—प्रग० व्यो० पृ० ५९२ । हेतुवि० टी० पृ० १९० । तत्त्वस० का० १६४८ । षडद० श्लो० ७६ । प्रमेयक० पृ० १८९ । समति० टी० पृ० ५८० । नदि० मलय० पृ० २५ । स्या० र० पृ० २७९ । वस्त्वमत्तावबोधाय—षट्-० श्लो० ५० बह० पृ० १२० । प्रमेयर० पृ० १३९ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १३ । चित्तु० पृ० २६८ । बृहत्सव० पृ० १६५ । नदि० मलय० पृ० २५ । (७) असिद्धमित्यत्रापि योग्यम—जा० टि० । (८) प्रतिपद्यो घट तस्याघातो भूतलात् (९) प्रतियोगिस्मरणम् प्रतियोग्यनुपलब्धिश्च ग्राह्या ।

1 —च हि तदे —श्र० । 2 —देव सिद्धे श्र० ।

न च अवस्तुविषयत्वादस्य अप्रामाण्यम्; अभावस्य प्रमाणेन परिच्छिद्यमानतया अवस्तुत्वानुपपत्तेः । यत् प्रमाणेन परिच्छिद्यते न तदवस्तु यथा भावः, प्रमाणेन परिच्छिद्यते च अभाव इति । अवस्तुत्वे चास्य भेदो दुर्घटः, यदवस्तु न तस्य भेदः यथा खपुष्पादेः, अस्ति च प्रागभावादिभेदोऽभावस्थ इति । तदवस्तुत्वे च अर्थानां साङ्ख्यं स्यात्, दध्यादेः क्षीराद्यवस्थायां प्रागभावादेरवस्तुतयाऽसाङ्ख्योऽहेतुत्वात्, तथा च प्रतिनियतव्यवहारवात्तोच्छेदः स्यादिति । तदुक्तम्—

“न च स्याद्ब्रह्महारादस्य कौरणादिविभागतः । प्रागभावादिभेदेन नामावो यदि भिद्यते ॥  
 धृष्टान्तुवृत्तिर्व्यावृत्तिबुद्धिप्राप्तौ यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिबद्धस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥  
 नै चावस्तुन एते स्युः भेदाः तेनास्य वस्तुता । कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादितः (ना) ॥  
 वस्तुसङ्करसिद्धिश्च तत्रामाण्यं समाश्रिता । क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥  
 नास्तिता पयसो दधि प्रध्वंसाभावलक्षणम् । गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥

(१) अभावस्य । (२) अभावस्य । (३) परस्परतामत्वम् । (४) व्याख्या—“यत्

खलु दधिरूप प्रागभूत्वा भवति तदुपादेय वार्यम्, यच्च प्रागवस्थित क्षीररूप पश्चात् भवति तदुपादानकारणम्, सोऽयं वार्यकारणविभाग । तथा गोरश्वो न भवति, अश्वो न भवति गौ, विषाणसून्य शय इत्यादि व्यवहारोऽस्त्यभावस्य प्रागभावादिरूपभेदे नोपपद्यत इति ।”—मी० श्लो० न्याय० पृ० ४७४ । (५) कार्यस्य प्रागभाव कारणम्—आ० टि० । (६) व्याख्या—“अस्ति ह्यभावस्य प्रागभावादिरूपेण व्यावृत्तिरभावरूपेण चानुवृत्तिरिति । तत्रैव हेतवन्तरमाह प्रमेयेति”—मी० श्लो० न्याय० पृ० ४७५ । “अभावो वस्तु इति पक्ष, अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिप्राप्तत्वात् प्रमेयत्वाच्चेति हेतुद्वयं गवादिबदिति दृष्टान्त ।”—तत्त्वसं० पृ० ४७३ । (७) अभाव इति—आ० टि० । (८) प्रागभावादि—आ० टि० । (९) व्याख्या—“न ह्यवस्तुनो भेदो युक्त वस्तुवधिष्ठानत्वात्तस्य तस्मादभावो वस्तु । कीदृशं पुनरस्य वस्तुत्वमित्याह—कार्यादीनामिति । क्षीरादे कारणस्य यो भाव स एव दध्यादे कार्यस्याभाव, कार्यस्य दध्यादेर्यो भाव स एव क्षीरादे कारणस्याभाव इत्येतदभाववस्तुत्वम् ।”—तत्त्वसं० पृ० ४७३ । (१०) भेदवत्त्वेन । (११) ‘को योऽभाव कारणादिन’—मी० श्लो० । ‘स यो भाव कारणादिना’—तत्त्वसं० । ‘को भावो यः कारणादिन’—सम्मतं टी० । ‘को भावो यः कारणादिन’—स्या० र० । ‘को भावो यः कारणादिना’—यद्द० बृह० । (१२) व्याख्या—“प्रत्यक्षादिभिः सद्रूपेण प्रतीयमाणमपि घटादिकमसद्रूपेण अभावस्य प्रमेयम्, अमकरोऽसद्रूपमभाव इति यावत् ।”—मी० श्लो० न्याय० पृ० ४७३ । (१३) ‘तत्रामाण्यसमाश्रया’—मी० श्लो० । (१४) व्याख्या—“क्षीरमुदाहो कारणे दधिभेदादिलक्षणं कार्यं नास्तीत्येव यत्प्रतीयते लोके स प्रागभाव उच्यते । यदि तु प्रागभावो न भवेत् क्षीरादौ दध्यादि कार्यं भवेदेव । एव दधि क्षीराद्यस्य यन्नास्तित्वमयं प्रध्वंसाभाव, अन्यथा दधि क्षीर भवेदेव । गवादौ अश्वदेरभावोऽन्योन्याभाव उच्यते । यस्मात्तस्य गवादे पररूपमश्वदेरभावो नास्ति तस्मात्तयोरन्योन्याभाव उच्यते । अन्यथा गवादौ भवेदश्वेदयि यद्यन्योन्याभावो न भवेत् । शशशिरसोऽजयवा निम्ना ( अनुस्रता. ) बुद्धिवाङ्मन्याभ्यां रहिता विषाणादिरूपेण अत्यन्तममन्त. अत्यन्ताभाव उच्यते । यदि त्वत्यन्ताभावो न भवेत् शशे शृङ्ग भवेदेव ।”—तत्त्वसं० पृ० ४७२ । उद्धृतोऽयम्—न्यायपं० पृ० ६५ । हेतुबि० टी० पृ० ८१ B. ।

शिरसोऽन्यत्रो निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता । शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥  
 क्षीर दधि भवेदेव दधि क्षीर घट पट । शशे शृङ्ग पृथिव्यादौ चैतन्य मूर्तिरात्मनि ॥  
 अध्मु गन्धो रसस्वान्धौ वायो रूपेण तौ सह । व्योम्नि ससैपश(शि)ताते तौ च न चेदस्यै प्रमाणाता ॥  
 [मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७, ९, ८, २, ६।] इति ।

- ६ अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अभावप्रमाण प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नम्’ इत्यादि,  
 तत्प्रतिविधानपुरस्स तदसमीक्षिताभिधानम्, तद्विषयस्य प्रत्यक्षादिभि परिच्छिद्यमानतया  
 रम श्रमावस्स प्रत्य तस्य ततो भेदानुपपत्ते । द्विषिधो हि अभावः—विप्रकृष्टार्थसम्बन्धी,  
 साधन्यतमप्राहृत्य अत्रिप्रकृष्टार्थसम्बन्धी चेति । तत्र यो देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्ध्यभाव  
 ममर्थनम— स प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यते, इन्द्रियैर्व्यापारादनन्तरम् ‘अघट भूतलम्’  
 10 इत्यादिप्रत्ययप्रतीते । अप्रत्यक्षत्वञ्च अभावस्य इन्द्रियेणाऽसम्बद्धत्वात्, अरूपित्वात्,  
 असद्रूपत्वाद्वा ? न तावदसम्बद्धत्वात्, रूपस्याप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, अप्राप्यकारिणा हि

(१) उक्तता अथ च वृद्धिमन्त कठिना अवयवा विषाणत्वेन व्यपदिश्यन्ते यदा च शशशिर-  
 सोऽन्यत्रा निम्ना अनन्यता अथ च वृद्धिकाठिन्यविरहिता तदा त एव शृङ्गाभावरूपेण व्यपदेशार्हा ।  
 (२) रमगघौ । (३) मय्यशिशो भाव सस्यशिता स्पश इत्यर्थ । सस्यशकस्ते च—तत्त्वसं०,  
 स्या० र० । सस्यशता ते च—सम्मति० टी० । (४) रूपरमगघा—आ० टि० । (५) अभावस्य ।  
 (६) गन्धेऽप्यवि श्लोका निम्नश्रयपु उद्धृता—तत्त्वसं०, तत्त्वसं० ५० पृ० ४७१—४७३ ।  
 प्रमेयक० पृ० १९० । सम्मति० टी० पृ० ५८०—८१ । षड्व० बृह० पृ० १२० B । न च स्याद्व्य  
 इति श्लोक विना मत्त श्लोका—स्या० र० पृ० २८१—८३ । (७) पृ० ४६३ प० ८ । अभावोऽप्यनु  
 मानमेव यथाप्यत्र काय कारणसद्भावे लिङ्गम एवमनुत्पन्न काय कारणामद्भावे लिङ्गम ।—प्रश०  
 भा० पृ० ५७७ । (८) तुलना—प्रत्यक्षाग्निवाभावस्य प्रतीते तथा चाक्षण्यापारादिह भूतले घटा  
 नाम्नीनि ज्ञानमपगोक्षमुत्पद्यमान दृष्टम—प्रश० व्यो० पृ० ५९२ । प्रश० कन्द० पृ० २२६ । शब्द  
 एतिह्यानर्थान्तरभावाद अनुमानस्यापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिपक्ष ।—न्यायसू० २।२।२ ।  
 अभावोऽप्यनुमानमेव—यावत्प० पृ० २७६ । सत्यमभाव प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवमीयमान  
 स्वरूपवान् प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छिन्नय मृगयते । अदूरमेदिनीदेशवर्तिनस्तस्य चक्षुषा । परिच्छेद  
 परोक्षस्य श्वधि मानान्तरररणि ॥—यावत्प० पृ० ५१ । अन्यस्य घटादिविद्विक्त्वस्य भूतलस्योपलब्ध्या  
 घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धि । एतदुक्तमभवति—घटप्राहृक्त्वस्य भूतलप्राहृक्त्वस्य चैकज्ञा  
 नमसिद्धान्तं यत्र भूतलप्राहृक्त्वमेव तज्ज्ञान भवति तदा घटप्राहृक्त्वभावात् निश्चाययतीति प्रतीतिप्रय  
 क्षमिद्वैव घटानुपलब्धि ।—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।६ । यदि वस्तु प्रमाभाव मेयाभावस्तथैव च ।  
 प्रत्यक्षतगतो भाव तथा सति कथत्र ते ॥—तत्त्वसं० पृ० ४७५ । भावादावदितरस्यापि प्रत्यक्ष एव  
 —सिद्धिवि० टी० पृ० १७९ A । एवञ्चाभावप्रमाणवयध्यम असदशम्यापि प्रत्यक्षादिसमधिगम्य  
 त्वमिद ।—तत्त्ववायश्लो० पृ० १८२ । अभावप्रमाण तु प्रत्यक्षादावेवान्तभवति—स्या० र० पृ०  
 ३१० । न्यायवा० टी० टि० पृ० २१ । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षादे—आ० टि० ।  
 (११) न चाभावस्यामत्त्व प्रत्यक्षादिप्रमाणोपवमीयमानत्वात् तथाहि—इह भूतले घटो नाम्नीनि  
 ज्ञानमिन्द्रियभावव्यतिरेकानुविधानादिद्वयजम् ।—प्रश० व्यो० पृ० ४०० ।

1—सामेव न व० । १—दत्त्वप्र—व० । ३ विप्रकृष्टोऽर्थसम्बन्धी चेति व० । 4—सम्बन्धाभाव  
 आ० । 5—सम्बन्धत्वात् आ० ।

चक्षुषा यथा रूपस्य असम्बद्धस्य ग्रहणं तथा अभावस्यापि । ननु चासम्बद्धस्याप्यभावस्य चक्षुषा ग्रहणे देशान्तरवर्त्तिनोऽपि ग्रहणप्रसङ्गः अविशेषात्; इत्यपि रूपेण कृतोत्तरम् । नहि तस्य असम्बद्धस्य ग्रहणेऽपि सकलदेशकालवर्त्तिनो ग्रहणं दृष्टम् । अथ रूपे चक्षुषः संयुक्तसमवायसम्बन्धसद्भावादसम्बद्धत्वमसिद्धम्; तन्न; चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात् । तस्मिन्वात् तस्य तेन ग्रहणे च रसादेरपि ग्रहणप्रसक्तिः तदविशेषात् । 5 अयोग्यत्वात्तद्ग्रहणे देशान्तरादिस्थस्य अभावस्याप्यत एवाग्रहणमस्तु अविशेषात् ।

किञ्च, आश्रयग्रहणसापेक्षम् अभावग्रहणम्, आश्रयश्च सन्निहित एव गृह्यते, तत्कथं देशान्तरादिस्थस्य अभावस्य ग्रहणमभावनाऽपि ? तन्नेन्द्रियेणासम्बद्धत्वादस्य अप्रत्यक्षता युक्ता ।

नाप्यरूपित्वात्; तस्य प्रत्यक्षतां प्रत्यनङ्गत्वात्, नहि रूपित्वं प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम्, 10 परमाणूनां रूपित्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वात् । गुण-कर्म-सामान्येन अनेकान्ताच्च; न खलु रूपादिगुणस्य गमनादिकर्मणः गोत्वादिसामान्यस्य च रूपित्वमस्ति, अथ च प्रत्यक्षत्वं तत्र विद्यते ।

असद्रूपत्वमपि न प्रत्यक्षतां प्रतिहन्ति; असद्रूपस्य हि सद्वृत्ततया प्रत्यक्षत्वमनु- 15 पपन्नं न पुनरसद्रूपतया, स्वस्वभावेन अर्थानां प्रत्यक्षत्वाऽविरोधात् । नहि घटस्य पटात्मना प्रत्यक्षत्वविरोधे स्वात्मनापि तद्विरोधो युक्तः; सर्वत्र प्रत्यक्षव्यवहारोच्छेद- प्रसङ्गात् । ततस्तैमिच्छता भाववद् अभावस्यापि स्वस्वभावेन प्रत्यक्षत्वमभ्युपगन्त- व्यम् । ननु तथापि अभावस्य कथं प्रत्यक्षता विरोधादिति चेत् ? भावस्य कथम् ? प्रत्यक्ष- 20 प्राह्यत्वाच्चेत्; इतरत्र समानम् । तथाहि—उन्मीलिते चक्षुषि भूतलं घटाभावश्च प्रतिभामते, न निमीलिते । अतः समाने तद्भावभावित्वे कथं भूतलज्ञानमेव प्रत्यक्षं न घटाभाव- ज्ञानमिति नियमविभागो युक्तः ? प्रयोगः—यच्चक्षुर्भावाऽभावाणुविधायि तत् प्रत्यक्षम् यथा भूतलादिज्ञानम्, तदनुविधायि च घटाद्यभावज्ञानमिति । अप्रत्यक्षत्वे चास्य आलोकापेक्षापि अतिदुर्घटा, आलोको हि चक्षुष एव उपकारकत्वेन प्रसिद्धः । तदुपकृत- 25 चक्षुःप्रभवत्वानभ्युपगमे च घटाद्यभावज्ञानस्य, अन्धस्यापि तदुत्पत्तिः स्यात् ।

(१) अभावस्य । (२) असम्बद्धत्वस्य समानत्वात् । (३) पृ० ७७ । (४) संयुक्त- समवायसम्बन्धात् । (५) रूपस्य—आ० टि० । (६) इन्द्रियेण—आ० टि० । (७) संयुक्तसमवाया- विशेषात् 'चक्षुः संयुक्तमामादिकं तत्र च रसस्य समवायात् । (८) रसस्याग्रहणे । (९) अयोग्य- स्वादेव । (१०) तुलना—'नचासम्बद्धत्वाविशेषाद्देशान्तरादिषु सर्वाभावग्रहणमाशङ्कनीयम्, आश्रय- ग्रहणसापेक्षत्वाद्भावप्रतीते, आश्रयस्य च सन्निहितस्यैव प्रत्यक्षत्वात् ।'—न्यायम० पृ० ५२ । (११) आश्रयो भूतलादि । (१२) अभावस्य । (१३) रूपित्वस्य । (१४) प्रत्यक्षत्वविरोधः । (१५) प्रत्यक्षव्यवहारम् । (१६) प्रत्यक्षत्वेत् कथमभाव, अभावश्चेत् कथं प्रत्यक्ष इति विरोधः । (१७) अभावेऽपि । (१८) चक्षु—आ० टि० । (१९) घटाद्यभावज्ञानस्य । (२०) आलोकमहकृत ।

1 तस्य तत्र प्र-थ० । 2 रूपत्वं थ० । 3 घटाभाव-व० । 4 प्रतिसिद्धः व० ।

ननु घटाभावज्ञाने लोचनान्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथाभिद्धम् रूपज्ञानान्तरभाविस्पर्शमवेन्नवन्, यथैव हि दूरदेशस्थितज्वलज्जलनज्जालारूपोपलम्भान्तरभाविनि तद्गतोष्णस्पर्शसवेदने लोचनान्वयव्यतिरेकानुविधानम् अन्यथासिद्धं तथा भूतलोपलम्भान्तरभाविनि घटाभावज्ञानेऽपि, इत्यप्यमाप्रतम्, 'इह भूतले घटो नास्ति इति ज्ञानस्य भेदाऽसिद्धे । सिद्धे हि ज्ञानभेदे तन्न्यवयव्यतिरेकानुविधानस्य अन्यथा सिद्धत्वं यक्तुं युक्तम् रूपस्पर्शज्ञानवन् । न चात्रै तद्भेदोऽस्ति, 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिज्ञानवन् 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिज्ञानस्यापि एकस्य उभयाशयत्वम्विन अनुपरतनयनव्यापारे प्रतिपत्तिरि प्रतीते । अस्तु या तद्भेद, तथापि इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधावित्वेन उभयस्योपलम्भाऽविशेषे कथमेतस्य प्रत्यक्षत्वमन्यस्याऽप्रत्यक्षत्वं यक्तुं युक्तं स्वेच्छाकारित्वप्रसङ्गान् ?

प्रतियोगिस्मरणान्तरभावितात् घटाभावप्रतीतेरप्रत्यक्षत्वे सैधिकल्पकप्रत्यक्षाय दत्तो जलाञ्जलि । तद्वि निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तर शब्दार्थसम्बन्धस्मरणे सति 'घटोयम्' इत्यादाकारमुपनायते । तथाविधस्याप्यस्य इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायितया प्रत्यक्षत्वे घटाभावप्रत्यक्षस्यापि तदस्तु अविशेषात् । न चैव रूपोपलम्भान्तरभाविस्पर्शसवेदनेऽपि चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इत्यभिधातव्यम्, स्पर्शग्रहणयोग्यताशून्यत्वाच्चक्षुष स्पर्शनस्यैव तद्ग्रहणयोग्यतामद्भावात्, अन्यथा उपर्युक्तत्वगिन्द्रियस्यापि

(१) अनुमया—आ० टि० । अवयवकृत्पनिपतपूर्ववृत्तिर एव कायसभवे तद्भिन्नमन्यथाभिद्धम्—मुक्ता० का० १९-२० । तुलना—न च दूरव्यवस्थितवृत्तवहृत्स्पर्शनपूर्ववस्पर्शानुमानवन्निर्दिष्टयासिद्ध तद्भावभावित्वम् तत्र हि बहुधा स्वर्गद्वन्द्वकौशलानुयत्त्वमधारित चक्षुष म्पारिच्छिदि च कारणान्तर त्वगिन्द्रियमवगतम् । अविनाभाविता च पुरा तथाविधयो रूपस्यायोग्यत्वव्यत्यनुमेय एवास्तीत्यन इति युक्तं तत्रावयवामिद्धत्वं चक्षुर्ध्यापारस्य प्रकृते तु नैदृग प्रकार समस्ति ।—व्यावर्म० पृ० ५१ । यत्तु भूप्रेतग्रहणजं यव अक्षानामुपयोगित्वादक्षापेक्षित्वमप्यासिद्धमभावज्ञानस्येत्युक्तम्; तदनुपपत्तम् न खलु ज्ञानद्वय क्रमेणोत्पद्यमानमिदमनुभूयते प्रथममिन्द्रियज भूप्रेतज्ञानं तत्र प्रतियोगिस्मरणे सति मानसमिन्द्रियानपेक्ष्य नाम्निनाज्ञानं च । एकस्यैव कुम्भादिविभक्तभूप्रेतग्राहिणो ज्ञानस्याभावग्राहित्वेनाप्यनुभूयमानत्वात् तस्य चैन्द्रियजत्वेन त्वदापि प्रतिपन्नत्वानान्यथासिद्धमक्षापेक्षित्वमभावज्ञानस्य ।—स्या० १० पृ० ३१० । (२) इन्द्रियः । (३) इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र । तुलना—तथा चेह घटो नास्तीति ज्ञानमेकमेवेदमिह कुण्डे दधीति ज्ञानवन् उभयालम्भनमनुपरतनयनव्यापारस्य भवति तत्र भूप्रदेशमात्र एव नयनज ज्ञानितरत्र प्रमाणान्तरजमिति कुतस्त्योऽयं विभागः ।—व्यावर्म० पृ० ५१ । (४) भूतलघटाभावी उभयम् । (५) ज्ञानभेद । (६) भूतलघटाभावी उभयम् । (७) भूतलस्य । (८) घटाभावस्य । (९) घटस्मरण । (१०) वशपिकाशभिमतया—आ० टि० । (११) सविकल्पकम्—आ० टि० । (१२) स्मरणान्तरभावितोपि सविकल्पकस्य । (१३) प्रत्यक्षत्वम् । (१४) इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानस्य समानत्वात् । (१५) स्वशग्रहण । (१६) चक्षुषा स्वशग्रहण सति—आ० टि० । (१७) अधिरत्नरागवत्त्वगिन्द्रियस्यापि—आ० टि० । पक्षापातादिना शून्यस्पर्शनेन्द्रियस्य युम् ।

१-न्यपत्वातिरेका-ब० । २ तदा थ० । ३ ज्ञानस्यास्य भ-थ० । ४ ज्ञानस्य भे-थ० । ५ प्रतिपत्ति प्र-आ० थ० । ६-प्रत्यक्षस्यापि थ० ।

स्पर्शसवित्तिः स्यात् । तस्मादानुमानिकमेव ईदं विज्ञानं 'यद् रूपवत् तत् स्पर्शवत्, यदि घा, यदेवंविधरूपवत् तदेवंविधस्पर्शवत्' इति सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाऽविनाभावहेतुसामर्थ्येन उत्पत्तेः, यदित्थमुत्पद्यते तदनुमानमेव यथा 'यद् धूमवत् तदग्निमत्, यद्वा यदेवंविधधूमवत् तदेवंविधाग्निमत्' इत्याद्यवगताविनाभावहेतुप्रभवं विज्ञानम्, प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यते च रूपोपलम्भानन्तर- 5 भाविस्पर्शविज्ञानमिति । ततः स्थितमेतत्-देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः प्रत्यक्षत एव परिच्छिद्यत इति ।

यस्तु देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभावः सोऽनुमानादेः; तत्र देशविप्रकृष्टस्य कमलाकरकमलादेः सम्बन्धी विकासाद्यभावः दिनकरोदयाद्यभावादवसीयते । कालविप्रकृष्टस्य च शर्कटादेः भ्रूहूर्चान्ते उदयाभावः अश्विन्युदयात् प्रतीयते । स्वभावविप्र- 10 कृष्टस्य च चैतन्यस्य शवशरीरे सत्त्वाभावः व्यापारव्याहाराकारविशेषाभावादनुमीयते । न खलु एवंविधाभावः एवंविधलिङ्गादन्यतः कुतश्चित् प्रतिपत्तुं शक्यः ।

एतेन यदुक्तम्—'यद्यभावः प्रत्यक्षपरिच्छेद्यः स्यात् कथमपवरकादौ इन्द्रियेणाऽसन्निकृष्टो देवदत्ताद्यभावः परिच्छिद्येत' इत्यादि; तदपि प्रतिव्यूढम्; 'नासीदपवरके देवदत्तः' इत्यादिप्रतीतेः स्मृतिर्वात् 'आसीत् तत्र घटः' इत्यादिप्रतीतिवत् । अपवरक- 15 प्राहिणा हि प्रत्यक्षेण तत्राऽसन्निकृष्टादित्यर्थानामभावा युगपत्प्रतिपन्नाः तत्र सन्निकृष्टार्थसद्भाववत् । तदुत्तरकालश्च संस्कारप्रबोधवशात् तद्भावाभावविषया प्रतीतिः उदयमासादयन्ती स्मृतिवत् जहातीति । न चैतद् वक्तव्यम्—'सकृदनुभूतेषु सकलपदार्थाभावेषु

(१) रूपदर्शनान्तरभावि स्पर्शज्ञानम् अनुमानात्मकम् सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपन्नाविनाभावहेतुसामर्थ्येनोत्पद्यमानत्वात् । (२) इय सामान्येन व्याप्ति । (३) एषा विशेषतो व्याप्ति । (४) सामान्यतो विशेषतश्च । (५) तुलना—'कश्चित्पुनरसन्निकृष्टदेगवृत्तिग्न्युत्पत्तेः भवत्यभाव यथा सन्तममे सलिलधाराविरसिक्तसस्यमूलमभिवर्षति देवे घनपवनसयोगाभावोऽनुमीयते, यथा वाऽर्धापत्तावुदाहृत गृहभावेन चैत्रस्य बहिरभावकल्पनमिति । आगमादप्यभावस्य क्वचिद् भवति निश्चय । चौरादिनास्तिताज्ञानमध्वगानामिवाप्तत ॥"—अध्याय० पृ० ५४ । (६) रोहिण्यादिनक्षत्रस्य । (७) पृ० ४६६ पृ० १ । (८) तुलना—'अस्य स्मरणत्वात् । यद्यपि पूर्वं हस्ती नास्तीत्यादि सविकल्पक ज्ञान नोत्पन्न तथापि हस्त्याद्यभावविशिष्टे देवकुले निबिकल्पक ज्ञानमुत्पन्नम् । अन्यथा हि यदाह देवकुलमद्राक्ष न तदा त समीपवतिन हस्तिनमिति प्रश्नानन्तर स्मरण न स्यात् । तत्तु दृष्टम् । यस्य वस्तुन पूर्वं नाभाव परिच्छिन्नस्तत्र परप्रश्नानन्तर सतेते 'न निरोक्षिन मया किं तत्र देवदत्तोऽस्त्युत् न हस्ती' इति । न चेदानीमभाव निश्चिनोति अत पूर्वमेव हस्त्याद्यभावस्य प्रतीत्युक्तमेतत् स्मरणं 'न मया तत्र हस्ती दृष्ट' इत्यादि ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० ५९३ । ग्याममं० पृ० ५३ । प्रश्न० कन्द० पृ० २२७ । (९) देवदत्तादीनाम् । (१०) अपवरके । (११) येषामर्थाना मद्भाव तेषा सद्भावतया येषाञ्च देवदत्तादीनामभावस्तेषामभावरूपेण । (१२) तुलना—'ननु मेचकबुद्ध्या सखलाभावग्रहणे महामैव सखलाभावस्मृतिरूप-

१ मूर्त्तान्ते थ० । २-स्य च-थ० । ३ परिच्छिद्यते थ०, परिच्छेद्यते आ० । ४-हिणा प्र-आ०, थ० । ५-नामभावो युगपत्प्रतिपत्तेः तत्र थ० ।

सहसैव स्मृतिः स्यात्' इति, अनुभूतत्वमात्रस्य स्मृत्यनारणत्वात्, अनुभूतेऽपि हि भावाभावस्वभावेपु निरिखिलार्थेषु यस्य यस्य मरुमारोद्धोधनिमित्ता प्ररनादिसामग्री सम्पद्यते तस्य तस्य रूपस्य स्मृतिः प्रादुर्भवति 'इदं तत्रासीत्, इदं नामीत्' इति ।

- यद्यपि—'अभावप्रमाणोत्पत्तौ भूतलाद्याश्रयग्रहणरूपा मामग्री' इत्याद्युक्तम्, तद-  
 5 प्यसारम्, आश्रयग्रहणस्य प्रत्यक्षेऽप्यविशिष्टत्वात् । न खलु 'भूतले घटोऽस्ति' इति प्रत्यक्षं भूतलग्रहणादृते घटते । न चाश्रयग्रहणपूर्वकमेव अभावग्रहणमिति नियमोऽस्ति, अन्धकारे प्रदीपाभात्रप्रतिपत्तेराश्रयाऽग्रहणेष्वुत्पत्ते । न चान्धकार एव आश्रय इत्य-  
 मिधातव्यम्, प्रकाशाभावमात्रतया भवता तस्य इष्टे, न एव च प्रदीपाभाव इति नाश्रयस्य तैर्वातिरिक्तस्य कस्यचित्त्रं ग्रहणम् । तथा 'गन्धो नास्ति' इत्यपि प्रतीतिः ।  
 10 आश्रयग्रहणनिरपेक्षवैतोत्पद्यते, निमीलिताक्षर्यापि हि घ्राणेन्द्रियव्यापारादनन्तरं गन्धाभावप्रतीति उत्पद्यते । न च तत्र घ्राणेन्द्रियेण आश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहणं सम्भवति, दर्शन-स्पर्शनाभ्यामेव द्रव्यस्य ग्रहणसम्भवात् । तथा 'नास्ति शब्दः' इति श्रोत्रव्यापारादेव आश्रयग्रहणनिरपेक्षाद्भवति अभावप्रतीतिः । न हि श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दस्य आश्रयो ग्रीहीतुं शक्यः, तस्य अत्यन्तपरोक्षस्य अनुमानेनैवावसायात् । तत्राश्रयग्रहणमभावप्रमाण-  
 15 सामग्र्यामनुप्रविशति ।

- अनुप्रविशतु वा, तथापि आश्रयस्य ग्रहणं किं ? "निषेध्याभावसहितस्य, केवलस्य वा ? "प्रतियोगिनोऽपि स्मरणम्—किम् अभावाक्रान्तस्य, तद्विपरीतस्य वा ? तत्र अभावविरोधितयो आश्रयप्रतियोगिनो ग्रहणस्मरणपथप्राप्तयो तैर्कारणत्वाभ्युपगमे 'अभावज्ञानादेव अभावज्ञानम्' इत्युक्तं स्यात् । न च र्वैत्माश्रयस्य कस्यचित् सिद्धि-  
 20 र्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । चक्रनप्रज्ञञ्च—अभावप्रमाणोत्पत्तौ हि प्रतियोग्यभावप्रतिपत्तिः, तद्विपत्तौ च तद्विरोधितयो आश्रयप्रतियोगिनो प्रतिपत्तिः, तस्याञ्च सत्याम् अभाव

जायत मवम यत्रव प्रश्नादि स्मरणकारणस्य भवति तदव स्मरति न सवम अविद्यमानस्मरण निमित्तम् । अत्र तु युगपदुपलब्धव्यपि वषणु युगपदन्त्यवगणानुभवसमनन्तरं स्मरणम् । अन्यत्र तु युगपदुपलब्धव्यपि त्रमण स्मरण भविष्यतीति न मेचकबुद्धावय दोषः । —यायम० पृ० ५३ ।

(१) पृ० ४६४ प० २ (२) वगपिकेण (३) अघकारस्य । द्रव्यगुणकमनिष्पत्तिवधम्यात् भावस्तम् । —वश० सू० ५।२।१९। (४) प्रकाशाभाव एव । (५) प्रदीपाभावमित्यस्य । (६) प्रदीपाभावप्रतिपत्तौ । (७) आवाशम् । (८) तुलना— तत्र निषेध्याघारो वस्तुवन्तरं प्रतियोगिसमूहं वा प्रतीयते असमूहं वा ? प्रतियोगिनोऽपि स्मरणं वस्तुवन्तरसमूहस्य असमूहस्य वा ? —प्रमेयक० पृ० २०३ । स मति० टी० पृ० २४ । जनतकथा० व० पृ० ९३ । स्या० २० पृ० ३११ । (९) भूतलस्य (१०) घटाभावसहितस्य । (११) घटस्य । (१२) भूतलघटयो (१३) अभावप्रतीतिहेतुत्वे । (१४) स्वस्य स्वापेक्षया प्रतीतिं स्वात्माश्रयत्वम् । (१५) अग्नेरेव अग्निमिद्धिप्रगङ्गान् । तथा च सव सवस्य सिद्धघट (१६) अभावविशिष्टयो ।

1—ग्रहणत्वारूपा श्र० । 2—प्युपपत्त श्र० । 3—वि घृ—आ०, श्र० । 4—स्त भवतिन श्र० । 5—त्तौ तद्वि—आ० व० ।

प्रमाणोत्पत्तिरिति । अभावनिरपेक्षतया च आश्रये प्रतियोगिनि च गृह्यमाणे यद्यभाव-  
प्रतीतिः स्यात् तदा सघटेऽपि भूतले 'घटो नास्ति' इति प्रतीतिः स्याद् विशेषाभावात् ।  
ततो यथोक्तसामग्र्या विचार्यमाणायानुपपत्तेः चक्षुरादिसामग्रीत एव अभावप्रमाणस्य  
उत्पत्तिः स्वपरात्मना सदसद्रूपघटाद्यर्थविषयता चाभ्युपगन्तव्या । ननु परात्मना घटादेर-  
सत्त्वं प्रतीयमानं न स्वात्मतया प्रतिपन्नं स्यात्, यच्च स्वात्मतया न प्रतीयते कथं तत्तस्य  
रूपम् अतिप्रसङ्गात् ? इत्यप्यसुन्दरम् ; यतः परात्मनाऽपि प्रतीयमानमसत्त्वं घटादेरेव  
प्रतीयते ननु परस्य, 'घटो हि पटो न भवति' इत्येवं नञर्थः प्रतीयते, नतु 'पटः पटो न  
भवति' इत्येवम् । अतः परात्मना प्रतीयमानोऽपि नञर्थः घटादेरेव प्रतीयते इति  
तस्यैव तद्रूपेण असत्त्वमिति व्यपदिश्यते ।

यच्चान्यदुक्तम्—'घटविविक्तत्वं किं भूतलस्वरूपमात्रम्, तद्व्यतिरिक्तं वा' इत्यादि,  
तदप्ययुक्तम् ; यतः तद्विविक्तत्वं तद्गर्भतया तैतः कथञ्चिद् व्यतिरिक्तं पृच्छयते, पदार्था-  
न्तरतया र्था ? तत्र तद्गर्भतयैव तत् कथञ्चिद्भिन्नमुपपन्नं न पुनः पदार्थान्तरतया ।  
स्वहेतुतो हि भावाः परस्परसङ्कीर्णस्वभावविशिष्टाः समुत्पन्नाः, तद्विपरीता वा ? प्रथम-  
विकल्पे सिद्धमेपां स्वकारणकलापादेव अन्याऽसंसृष्टस्वभावत्वम्, अतो वैयर्थ्यम-  
र्थान्तरभूताभावपरिकल्पनायाः । यत् स्वरूपतो विविक्तस्वभाव न तत्र अर्थान्तर-  
भूताऽभावपरिकल्पना फलवती यथा प्रागभावादौ, स्वरूपतो विविक्तस्वभावाश्च भावाः  
स्वहेतुतः समुत्पन्ना इति । द्वितीयविकल्पस्वरूपपन्नः, स्वरूपतोऽविविक्तानामर्थानां  
व्यतिरिक्ताभावेन वैविक्त्यर्थं कर्तुमशक्यत्वात् । यत् स्वभावंतोऽविविक्तस्वरूपम्  
न तत्र अर्थान्तरभूताभावेन विवेकः कर्तुं शक्यः यथा एकव्यक्तौ, स्वभावंतोऽविविक्त-  
स्वरूपाश्च परमते पदार्था इति ।

(१) घटस्यैव । (२) पटरूपेण । (३) पृ० ४६५ पृ० २० । (४) घटगर्भतया । (५) घटान् ।  
(६) द्विविक्तं हि विविक्तता-धर्मधर्मरूपेण कथञ्चिद्विविक्तता यथा ज्ञानरूपेण, पदार्थान्तररूपेण  
संबन्धा यथा घटपटयो । (७) तुलना—'सर्वं हि भावा स्वस्वरूपस्थितयो नात्मान परेण मिथयन्ति  
तस्यापरत्वप्रसङ्गात् "—प्रमाणवा० स्ववृ० १४२ । "नाप्येषा परस्परभिन्नानामभावेन भेद शक्यते  
कर्तुम्, तस्य भिन्नाभिन्नभेदकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । न चाभिन्नानामन्योन्याभाव सम्भवति । नापि  
परस्परभिन्नानामभावेन भेद त्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामुत्पत्ते । नापि भेदव्यवहार क्रियते, यतो  
भावानामात्मात्म्यरूपेणोत्पत्तिरेव स्वतो भेद, स च प्रत्यक्षप्रतिभासनादेव भेदव्यवहारहेतु ।"—प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० ११६ । "यत् स्वकारणकलापात् स्वस्वभावव्यवस्थितयो भावा समुत्पन्ना नात्मान परेण  
मिथयन्ति तस्यापरत्वप्रसङ्गात् "—प्रमेयक० पृ० २०८ । सम्मति० टी० पृ० ५८८ । स्या० २० पृ०  
५८१ । (८) अन्योन्यमभिन्नित्वस्वरूपा भिन्ना इत्यर्थे । (९) भिन्नस्वभावत्वम् । (१०) प्रागभावे  
नास्ति प्रध्वसादिरित्यत्र । (११) भिन्नताया ।

१ इति स्या-ब० । २-मानं स्वा-ध० । ३ न तु पटो न ब० । ४-स्वमित्येवं च्य-ब० ।  
५-भूतभावाश्च ध० । ६ विविक्तस्य ब० । ७-तो विधि-ब० ।



किञ्च, अर्भाव विना भावाना विवेकौऽसभवे कथमभावानामन्योन्य भावोन्तरान्च विवेक स्यात् ? तत्रापि तद्वैतोरभावान्तरस्याऽभ्युपगमे अनवरथाप्रसङ्ग । अथ अभावान्तरमन्तरेणापि अस्य विलक्षणस्वभावत्वादेव अन्यतो विवेक, तर्हि वैयर्थ्यम् अर्थान्तराभावापरिकल्पनाया, घटादेरपि विलक्षणस्वभावतयैव अन्यतो व्यावृत्तिप्रसिद्धे ।  
 ६ तथाहि—घटादे अन्यतो व्यावृत्ति विलक्षणस्वभावनिर्गन्धनैव, अन्यतो व्यावृत्तित्वान्, या अन्यतो व्यावृत्ति सा विलक्षणस्वभावनिर्गन्धनैव यथा अभावस्य, अन्यतो व्यावृत्तिश्च घटादेरिति ।

किञ्च, आश्रयभेदेन इतरेतराभाव तावन्न भिगते सर्वत्रैव अस्यै एकत्वेनाऽभ्युपगमात् । ततश्च घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्नाऽर्भावनिर्गन्धना । तत्रै हि इतरेतराभाव, अभावान्तर वा निर्वन्धन स्यात् ? इतरेतराभावश्चेत्, किं स एव, अन्यो वा ? न तावत् स एव, अर्भावो घटादेर्व्यावृत्तमानत्वान् । यैत् यतो व्यावृत्तते न तस्मादेव तस्य व्यावृत्ति यथा पटाद् व्यावृत्तमानस्य घटस्य न पटादेव व्यावृत्ति, व्यावृत्तते च इतरेतराभावाद् घट इति । इतरेतराभावात्तराभ्युपगमे च अस्यै एकत्वज्ञति अनवस्था च स्यात् । अथ अर्भावान्तरमस्यै ततो<sup>१३</sup> व्यावृत्तेर्निर्गन्धनम्, तत्र,  
 १० इतरेतरव्यावृत्ते अभावान्तरनिर्वन्धनत्वानुपपत्ते, उपपत्तौ वा अभावचतुष्टयकल्पनाऽनर्थक्यम्, एकस्मादेव अभावात् 'इदमेत प्राड् नासीत्, इतरद् इतरत्र नास्ति' इत्यादि प्रतीतेरुपपत्ते । अथ घटस्य इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिरेव नेष्यते तत्कथमयं दोष ?

(१) तुलना— किञ्च भावाभावयोर्भेदो नाभावनिव घनोऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अयं स्वरूपेण भेद तथा भावानामपि स स्यादिति किमभावेन कल्पितम् । —प्रमाणवा० स्व० टी० १।६ । यदि चेतरेतराभाववत्तात् घट पटादिभ्यो व्यावृत्तै तर्हि इतरेतराभावोऽपि भावात्भावान्तराच्च प्रागभावाद किं स्वतो व्यावृत्तै अन्यतो वा ? —प्रमेयक० पृ० २०८ । त्या० २० पृ० ५८१ । (२) भवाभाव । (३) प्रागभाव प्रवृत्तात् भिन्न । (४) प्रागभाव घटात्भिन्न इति । (५) अभावेऽपि । (६) भदहेतो इतरेतराभावस्य । (७) अभावस्य । (८) भावात् घटादे अभावान्तराच्च प्रागभावादे । (९) भिन्नाभाव । (१०) पटात् । (११) घटो भूतल न भवति भूतलञ्च घटो न भवतीति चतरेतराभावादेव ( विलक्षणस्वभावत्वेन ) घटस्य भूतलाद् व्यावृत्तिन पुनरभावान्ति भाव—आ० टि० । (१२) तस्माद्विलक्षणस्वभावनिव घनैव नाभावनिव घनव—आ० टि० । (१३) चतरेतराभावस्य । (१४) द्वितीयाभाव । (१५) अभावनिव घनत्वे—आ० टि० । (१६) अस्मात् प्रथमादितरेतराभावात् । (१७) घट इतरेतराभावयो व्यावृत्तिन तन्तिरेतराभावनिव घना तस्मादेव तस्य व्यावृत्तमानत्वात् (१८) किन्तु त्रिभुवनादेव—आ० टि० । (१९) इतरेतराभावस्य । गव्यस्वाभावोऽप्ये च गोरभाव इतरेतराभाव स च सर्वत्रैवो नित्य एव विण्डविनागर्षि सामान्यत्वात् विण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात् । यथा सामान्यमदष्टवर्णाद्रुपजायमानवत् विण्डन मह सम्बद्धघनं नित्यत्वञ्च स्वभावसिद्धम् तथचतरेतराभावोऽपि । —प्रश० क० पृ० २३० । (२०) द्वितीयचतरेतराभावस्य व्यावृत्त्ययम् तृतीय इतरेतराभाव कल्पनीय तद्व्यावृत्त्ययञ्च चतुर्थ इति । (२१) इतरेतराभावात् भिन्न कश्चित् प्रागभावादिरूपभाव अभावान्तरम् । (२२) घटस्य । (२३) इतरेतर—आ० टि० । (२४) प्रागभाव ।

तर्हि इतरेतराभावोऽपि घटः स्यात् । यस्य यतो व्यावृत्तिर्नास्ति न तस्य ततो भेदः यथा घटस्वरूपाद् घटस्य, नास्ति च इतरेतराभावाद् व्यावृत्तिर्घटस्य इति ।

यदपि—अभावस्य वस्तुत्वमभिहितम्<sup>१</sup>; तदपि वस्तुधर्मस्यैवोपपन्नं न पुनः सर्वथा तुच्छस्वभावस्य, तथाविधस्यार्थं वस्तुत्वानुपपत्तेः । यत् सर्वथा तुच्छस्वभावं न तद्वस्तु यथा गगनेन्दीवरम्, सर्वथा तुच्छस्वभावश्च परैरभ्युपगतोऽभाव इति । अस्तु वा अस्य 5 वस्तुत्वम्; तथापि तत् केन गृह्यताम्—किमभावात्त्वेन प्रमाणेन, प्रमाणान्तरेण वा ? प्रथमपक्षे किं तद्वस्तुत्वं भावः, अभावो वा ? यदि भावः; कथमभावप्राह्यः तस्य तद्विषयत्वाऽनभ्युपगमात् ? तुच्छस्यभावाभावस्य भावस्वरूपवस्तुत्वाश्रयत्वविरोधाच्च । यत् तुच्छस्वभावं न तद् भावस्वभाववस्तुत्वाश्रयः यथा शशविपाणम्, तुच्छस्वभावश्च परैः परिकल्पितोऽभाव इति । अथ अभावः, तन्न, वस्तुत्वस्य अभावरूपत्वे नीलादावपि 10 तस्य अभावरूपत्वप्रसङ्गाद् भाववार्तोच्छेदः स्यात् । अथ प्रमाणान्तरेण गृह्यते तत्; तन्न, प्रमाणान्तराणामभावप्राहकत्वानभ्युपगमे तद् वस्तुत्वप्राहकत्वाभ्युपगमविरोधात् । तन्न अभावप्रमाणस्य सामग्रीवद् विषयोऽपि विचार्यमाणो व्ययतिष्ठते ।

नापि फलम्; अभावावगतिलक्षणफलस्य प्रत्यक्षादितोऽपि सद्भावप्रतिपादनात् । किञ्च, सिद्धे स्वरूपे कारणविषयफलव्यवस्था वक्तुं युक्ता । न च अस्य तत्सिद्धम् । 15 ननु सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिलक्षणम् अभावप्रमाणस्वरूपं प्रतिप्राणि प्रसिद्धत्वात् कथमपहोतुं शक्यम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतः केयं तदनुत्पत्तिः—किं निषेधैर्विपर्ययज्ञानरूपतया आत्मनोऽपरिणामः, अन्यवस्तुविज्ञानं वा ? तत्र अपरिणामस्य अभावस्वभावत्वात् कथं तैर्थाविधज्ञानजनने सामर्थ्यं स्यात् ? कथं वा प्रामाण्यम् ? प्रमेयपरिच्छेदकस्य हि प्रामाण्यं प्रसिद्धम्, यच्च स्वरूपेण न किञ्चित् तत्कथं कस्यचित्परिच्छेद- 20 दकमतिप्रसङ्गात् ? यत् स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपम् न तत् कस्यचित्परिच्छेदकं यथा

(१) इतरेतराभाव घटात्मक तन्मादव्यावर्तमानत्वात् । (२) घृ० ४६७ पं० १ । (३) वस्तुत्वम् । (४) अभावस्य । (५) अभावो न वस्तु सर्वथा तुच्छस्वरूपत्वात् । (६) वस्तुत्वम् । (७) भावस्वरूपस्य वस्तुत्वस्य । (८) अभावविषयत्व । (९) अभावो न वस्तुत्वाश्रय तुच्छस्वभावत्वात् । (१०) वस्तुत्वस्य । (११) वस्तुत्वम् । (१२) अभावगत । (१३) अभावस्य । (१४) प्रमाणपञ्चकानुत्पत्ति । (१५) निषेधो घटादि । (१६) भूतलाद्याश्रयात्मकमन्यवस्तु । (१७) तुलना—“नीहस्य हि विज्ञानरूपहानौ प्रमाणात् । न युज्यते प्रमेयस्य सा हि सवित्तिलक्षणा ॥ यत्प्रमेयाधिगतित्त्वं न भवति न तत्प्रमाणं यथा घटादि, प्रमेयाधिगतित्त्वं सत्त्वाभाव इति व्यापकानुपलब्धि ।”—तत्त्वसं० पं० घृ० ४७८ । “यत् प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपायत्वात् कथं प्रमेयाभाव परिच्छिन्नात् परिच्छिन्नेर्ज्ञानधर्मत्वात् ।”—प्रमेयकं घृ० २०५ । सम्मति० टी० घृ० ५७८ । स्या० २० घृ० ३१० । (१८) ‘अथ घटो नास्ति’ इत्याकारकज्ञानोत्पादने । (१९) खरविपाणादेरपि परिच्छेदकत्वप्रसक्ति । (२०) आत्मनोऽपरिणामरूपोऽभाव न प्रमेयपरिच्छेदक स्वरूपेणाऽकिञ्चिद्रूपत्वात् ।

1 पटः व० । 2-इच परि-व० । 3 अभावस्वरूप-थ० । 4-ते तन्न थ० । 5 सिद्धस्वरूपे व० । 6 पुस्तकं व० । 7-विषयज्ञानतया व० । 8 अभावस्य भावत्वात् आ० । 9-विधस्य ज्ञान-थ० ।

वन्ध्यास्तनन्वयः, स्वरूपेणाक्रिञ्चिद्रूपञ्च परपरिकल्पितमभावप्रमाणमिति । परिच्छेद-  
कत्वं हि ज्ञानधर्मः, सोऽश्वविपाणप्रत्ययस्य अध्यक्ष्याद्यभावस्यानिदुर्घटः । ततश्च 'प्रमा-  
णाभावः प्रमाणञ्च' इति प्रतिज्ञा-पदयोः विरोधः, यथा 'इदञ्च, नास्ति च' इति ।

अन्यवस्तुविज्ञानपक्षेऽपि किमन्यस्मिन् वस्तुमात्रे, घटाभावाश्रये वै ज्ञानमभाव-  
परिच्छेदकं स्यात् ? तत्रापि यत्र कुत्रचिद् यैस्य कस्यचिद् अभावस्य ज्ञानं स्यात् ।  
अथ घटाभावाश्रयस्य; नन्वेतत् घटाभावे सिद्धे सिद्धयेत्, न चामौ भवत्पक्षे सिद्धः ।

प्रतियोगितापि एतेन प्रत्याख्याता; सिद्धे हि घटाभावे 'अयमस्य आश्रयः, अयञ्च  
प्रतियोगी' इति सिद्धयेत् । ततोऽभावप्रमाणस्य यथाभ्युपगतस्वरूपसामग्रीविषयफलाना-  
मन्यवस्थितेः वस्तुधर्म एवाभावः । प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धश्च भाववदभ्युपगन्तव्य इति ।

अत्र सुगतमतावलम्बिनः प्राहुः— नं भावस्वरूपव्यतिरिक्तः कश्चिदभावः

प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते । प्रत्यक्षस्य हि स विषयो भवति यो  
जनकत्वे सति आजारसमर्पकः, अभावस्य च जनकत्वमाकारसमर्प-  
कत्वञ्चातिदुर्घटम् । यैद् अभावरूपं न तत् कस्यचिज्जनक स्वाकार-  
समर्पकञ्च यथा सपुष्पम्, अभावरूपश्चाभावो भवद्विरिष्ट इति ।

स्वाकारमर्पयतो ज्ञानजनकत्वे चास्य भावरूपतैव स्यात् । यत् स्वाकारमर्पयत् ज्ञान

(१) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरूपतया अभावप्रमाण प्रमाणाभावात्मकम्, अथ च अभावपरिच्छेदकत्वेन  
परिच्छेदकत्वधर्माधारभूत प्रमाणात्मकञ्चेति विरोधः । (२) प्रमाणाभावरूपस्वीकरण प्रतिज्ञा, परिच्छे-  
दकत्वेन प्रमाणरूपतोऽवर्णनं पदम् । (३) भूलादी वा । (४) 'एवमन्यत-अभावो नाम नामपेव  
केवलं मूढस्य भावविषयमेव प्रत्यक्षमन्याभाव व्यवहारयति ।"—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११६ ।  
'एकज्ञानसमागिवस्त्वन्तरं नदुपलब्धिदवानुपलब्धिद्विवक्षिताना उपलब्धेरन्यत्वादभक्ष्याऽस्पर्शनीयवत्, स  
एवाभावः, तदतिरिक्तस्य विग्रहवतोऽभावस्याभावात् ।"—प्रमाणवा० मनोरथ० २१३ । "तस्मादुपल-  
ब्धिद्विज्ञानानादन्या वस्त्वन्तरविषया उपलब्धि जानात्मिकाऽनुपलब्धि । कथं पुनरुपलब्धिरेवानुपलब्धिरेच्यते  
इत्याह विवक्षितेत्यादि । यथा भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे विवक्षितानाद् भक्ष्यादन्यत्वादभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटो  
भक्ष्योऽपि सन् तदन्यस्योच्यते, यथा च स्पर्शनीयाऽस्पर्शनीयाधिकारे विवक्षितानात् स्पर्शनीयादन्यत्वादस्य  
स्पर्शनीयस्पर्शाङ्गालादिस्तदन्यस्य स्पर्शनीयोऽपि सन्नुच्यते तद्वदुपलब्धिरेवानुपलब्धिर्नन्यथा तस्मात्  
प्रतिपत्त्याद् घटाद स्वविषयविज्ञानजननयोग्याद् योज्य उपलम्भजननयोग्य एव न तद्विपरीत स्वभावो  
घटादिविक्रमप्रदरूप स एव चात्र अनुपलब्धिदशब्दोच्यते ।"—हेतुवि० टी० पृ० १६३ A ।  
'तस्यान्यस्य प्रदेशस्य केवलस्य यत् तत् कैवलयम् एकाकित्वमसहायता तदेवापरस्य प्रतियोगिनो घटादेर्व-  
कल्यमभाव इति । तस्मादन्यभाव एव भावात् एव त्वदभिमतस्त्वभाव प्रतियोग्यभावात् न तत्  
पृथग्भूत धर्मान्तरमित्युच्यते सुगतमुतं ।"—हेतुवि० टी० पृ० १७९ B । "न ह्यभाव कश्चिद्विग्रहवान्  
य साक्षात्कृत्य अपि तु ध्यवहृत्य ।"—क्षणभङ्गसि० पृ० ६५ । (५) अभाव कस्यचिज्जनक  
स्वाकारसमर्पकत्वं न भवति अभावस्वरूपत्वात् । (६) अभावस्य ।

1 स्वहरेणास्वहरेणा-श्र० । 2 'स्य कस्यचित्' नास्ति आ० । 3 अभावज्ञान श्र० ।

4-द्वे घ-आ० । ०-सिद्धभावच-आ० । 6 न तावत्स्व-व० । , , ,

जनयति तद् भावस्वभावमेव यथा घटादि, स्वाकारमर्पयन् ज्ञानं जनयति च अभाव इति । यत् खलु कुतश्चिदुत्पन्नं केनचिद्रूपेण प्रतिभासमानं काश्चिदर्थक्रियां करोति तद् भावस्वरूपमुच्यते ।

किञ्च, अभावाकारस्थे ज्ञानेऽनुप्रवेशे तस्यापि असत्त्वप्रसङ्गात् कुतः किं प्रतीयताम् ? न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्येवं प्रत्यक्षं तत्सद्भावे प्रमाणमित्यभिधा- 5 तव्यम्; शब्दसंसर्गेणोपजायमानस्यास्य विकल्परूपतया प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । विकल्पानाञ्च अर्थे प्रामाण्यानुपपत्तिः अर्थाऽसंस्पर्शित्वात्तेषाम् । तत्र प्रत्यक्षतोऽभावसिद्धिः । नाप्यनुमानतः; तद्धि साध्यप्रतिबद्धलिङ्गवलादुदयमासादयति । प्रतिबन्धश्च साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षतः, अनुमाननो वा प्रतीयते ? न तावत् प्रत्यक्षतः; अभावस्य उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षाऽगोचरत्वे ततोऽस्य केनचित् लिङ्गेन सह प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । 10 अनुमानतः तद्व्यतीतौ अनवस्था, तत्रापि अनुमानान्तरात् तत्रैव प्रतीतिप्रसङ्गात् । तत्र कुतश्चित् प्रतिबन्धसिद्धिः । नचासिद्धप्रतिबन्धं लिङ्गं साध्यसाधनाय प्रभवति अतिप्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'न भावस्वरूपव्यतिरिक्तोऽभावः' इत्यादि, तदसमीक्षिताभिधानम्; भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात् 15 तदसमीक्षिताभिधानम्; भावस्वरूपाऽतिरिक्तस्याऽभावस्य प्रतीतिभेदात् स्वरूपभेदात् सामग्रीभेदात् अर्थक्रियाभेदाच्च भेदसिद्धिः । रसस्य रूपस्य वस्तुस्त यतः प्रतीत्यादिभेदः तस्य ततो भेदः यथा घटात् पटस्य, प्रतीत्यादि-समर्थनम्— भेदश्च भावादभावस्य इति । न चायमसिद्धः; तथाहि—भौवाऽ- भावयोस्तावत् प्रतीतिभेदः सुप्रसिद्ध एव 'इदमत्रास्ति, इदं नास्ति' इति । नहि 20 प्रतीयमानापीत्यं भेदेन अभावप्रतीतिरपह्नोतुं युक्ता; भावप्रतीतेरप्यपह्नवप्रसङ्गात् । ननु निर्विकल्पकसामर्थ्येन 'इदमिहास्ति, नास्ति' इति विकल्पद्वयमुत्पद्यते, न च तद्वैशादर्थव्यवस्था, विकल्पानामर्थे प्रामाण्याऽभावात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; सविकल्पकसिद्धौ निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यप्रतिषेधतः सविकल्पकस्यैव अन्तर्बहिर्वा वस्तुव्यव-

- (१) अभावो भावस्वरूप एव स्वाकारार्पकत्वे सति ज्ञानजनकत्वात् । (२) ज्ञानस्यापि । (३) "एकोपलम्भानुभवादिदं नोपलभे इति । बुद्धेरुपलभे वेति कल्पिकाया समुद्भव ॥"—प्रमाणवा० ४१२७० । (४) प्रत्यक्षस्य—आ० टि० । (५) विकल्पानाम्—आ० टि० । (६) अनुमानं हि । (७) अविनाभाव । (८) प्रत्यक्षात्—आ० टि० । (९) अभावस्य—आ० टि० । (१०) द्वितीयानुमानेऽपि । (११) अविनाभावप्रतीति । (१२) पृ० ४७६ प० १० । (१३) अभावो भावस्वरूपातिरिक्त प्रतीतिस्वरूपसामर्थ्याक्रियाभेदात् । (१४) तुलना—“इदं तावत्सकलप्राणिशाक्षिकं संवेदनद्वयमुपजायमानं वृष्टम् इह घटोऽस्ति इह नास्तीति ॥”—न्यायमं० पृ० ५८ । (१५) विकल्पवशात्—आ० टि० । (१६) अन्तश्चेतनात्मकस्य बहिर्वाचेतनस्वरूपस्य वस्तुनः ।

1—स्यात्ताने व० । 2—संसादिणोप—व० । 3—तीयेत् आ० । 4—प्रतिबन्धलिङ्गं व० । 5—प्रामाण्यादित्यपि थ० ।

स्थापकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः प्रतिपादितत्वात् । तत्सामर्थ्येनोत्पन्नाऽभावविकल्पाद्  
 अभावाऽसिद्धौ भावसिद्धिरपि अतोऽतिदुर्लभा । अथ प्रत्यक्षादेव भावसिद्धिः; अभाव-  
 सिद्धौ तत् किं काकैर्भक्षितम् ? प्रथमं हि इन्द्रियादिसामग्रीतः समुत्पन्नं प्रत्यक्षम्  
 अनेकेभावभावोपाधिरचितमुपाधिमन्तं प्रतिपद्यते, ततः शब्दार्थयोः प्रतिपन्नप्रतिबन्धः  
 5 प्रतिपत्ता अर्थदर्शानोत्तरकालं यस्य यस्य विवक्षा भवति तत्तद्वाचकं शब्दं स्मृत्वा 'इदमि-  
 हास्ति, इदं नास्ति' इति विकल्पव्यापारं दर्शयति । यदि च तेऽभावविशेषाः प्रत्यक्षतो न  
 प्रतिपन्नाः तदा प्रतियोगिस्मरणमपि अनुपपन्नमेव स्यात् । नहि अप्रतिपन्ने घटाभावे  
 घटस्य प्रतियोगितया स्मृतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । अतः प्रतिनियतप्रतियोगिस्मरणाऽन्यथा-  
 नुपपत्त्या प्रतिनियताभावप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षे प्रतिपत्तव्या इति ।

10 न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशिष्टायाः प्रतीतेः विशेषणमन्तरेणोपप-  
 त्तिर्युक्ता । या विशिष्टा प्रतीतिः नासौ विशेषणमन्तरेण उपपद्यते यथा दण्डीत्यादिप्रतीतिः,  
 विशिष्टा च 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतिरिति । अथ भाव अभावप्रतीतेर्नि-  
 बन्धनम् अतः से एवास्मां विशेषणं भविष्यति, एवञ्च भवतो न किञ्चिदपि सिद्धयेत्;  
 इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः किं निषिध्यमानो घटादिर्भावः अस्या निबन्धनमभ्युपगम्यते,  
 15 नैदाश्रयो भूतलादिर्वा ? प्रक्षमपशोऽयुक्तः; भावाऽभावप्रतीत्योर्निर्वाधतया प्रतीयमानयो-  
 र्वैलक्षण्यस्य विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण अनुपपत्तेः । यैर्निर्वाधतया प्रतीयमानयोः  
 प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं तद् विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् यथा रूपादिप्रतीतिवैलक्षण्यम्, वैलक्षण्यञ्च  
 निर्वाधतया प्रतीयमानयोः भावाऽभावप्रतीत्योरिति । न च तत्प्रतीत्योर्निर्वाधता वैलक्ष-  
 ण्येन प्रतीयमानत्वञ्चाऽसिद्धम्; तद्वाधकस्य कस्यचिदप्यभावात्, परस्परं चाऽसङ्कीर्णस्व-  
 20 भावतयाऽनुभूयमानत्वाच्च । नहि कश्चिदवाल्लिङ्गो भावमेव अभावतया प्रतिपद्यते, अन्या  
 हि भावप्रतीतिः अन्या चाभावप्रतीतिरिति । यद्दि च भाव एव अभावः स्यात्; तर्हि  
 तस्मात्तच्छरणे तदेवो चाऽभावप्रतीतिः स्यात् । न चैवम्, नहि स्वदेशकालनियतां भावसत्तामेव

(१) ४७ । (२) निर्विकल्पक-आ० टि० । गुणना- 'तत्र विकल्पमात्रसवेदनमनाल-

म्बनमात्मज्ञानम्बन वेत्यादि यदभिलष्यते तत्रास्तिनाज्ञान इव अस्तित्वज्ञानेऽपि समानमतो द्वयोरपि  
 प्रामाण्यं भवतु द्वयोरपि वा मा भूत् ।'-न्यायम० ४० ५८ । (३) भावविकल्पान् । (४) निर्विक-  
 ल्पकप्रत्यक्षम्-आ० टि० । (५) अनेके भावा अभावात्च उपाधय विवेषणानि तं सचिन दबलित  
 चित्रितम् उपाधिमन्तं विवेष्यभूतमर्थम् । (६) गृहीतमङ्कृतं । (७) यस्याऽभाव स प्रतियोगी ।  
 (८) इह भूतले घटो नास्तीति प्रतीति विवेषणग्रहणपूर्विका विशिष्टप्रतीतिरित्यात् । (९) भाव एव ।  
 (१०) अभावप्रतीति-आ० टि० । (११) इह भूतले नास्ति घट इत्यभावप्रतीतिः । (१२) घटा-  
 भावाश्रयो । (१३) भावाभावप्रतीत्योर्वैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वकम् निर्वाधप्रतीतिवैलक्षण्यात् ।  
 गुणना- "नहि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विवक्षणाया बुद्धेरस्त्युदय, नापि व्यवहारभेदस्य सभव ।"-प्रस०  
 ४० २२९ । (१४) अन्योन्य भिन्नत्वभावतया । (१५) भावमत्ताश्रणे । (१६) भावदेगे ।

1-प्राक्काभाव-थ० । 2-अभावति-व० । 3 अनेकमभावा-व० । 4 प्रदत्तं-थ० । 5 घटा-  
 विभाव-व० । 6-विधवा-व० । 7-शोऽभावमेव भावतया आ०, थ० । 8 यदि भाव व० ।

अभावतया कश्चित् प्रतिपत्तुमर्हति ।

अथ निषिध्यमानघटाद्याश्रयतयाऽभिप्रेतः भूतलादिभावः तदभावप्रतीतेर्निवन्धनम्; तत्रापि किं भूतलमात्रं घटाभावप्रतीतेर्निवन्धनम्, विशिष्टं वा ? प्रथमविकल्पे सघटेऽपि भूतले घटाभावव्यवहारः स्यात् तद्विशेषात् । द्वितीयपक्षेऽपि किङ्कृतमस्य वैशिष्ट्यम्—स्वरूपकृतम्, घटसंसर्गरहितत्वकृतं वा ? न तावत् स्वरूपकृतम्; सघटेऽपि भूतले अभावप्रतीतिप्रसङ्गात् स्वरूपसत्त्वस्य तत्राप्यविशिष्टत्वात् । घटसंसर्गरहितत्वनिवन्धनत्वे तु नाग्नि विवादः घटाभावस्य घटसंसर्गरहितत्वशब्देन अभिधानात् ।

नचैतद्वक्तव्यम्—अभिमानमात्रमेवायं 'नास्ति' इति व्यवहारः, सद्यश्चकारानुदय एव तत्संभवादिति; यतः प्रतीयमानस्य बाधारहितस्यास्याभिर्मानिकत्वे 'अस्ति' इत्यादिव्यवहारस्याप्याभिमानिकत्वप्रसङ्गः । यदि च सद्यश्चकारानुदय एव नास्तीतिव्यवहारस्य

(१) तुलना—“न इदं प्रष्टव्या नास्तीति सविद किमालम्बनम् ? यदि न किञ्चित्, दत्त स्वहस्तो निरालम्बन विज्ञानमिच्छता महाभानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्, कण्टकादिमत्स्यपि भूतले कण्टको नास्तीति मविति नत्पूर्वकश्च नि गक गमनागमनलक्षणो व्यापारो दुर्निवार । केवल-भूतलविषयं नास्तीति सवेदनम्, कण्टकसद्भावे च केवल्यं निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्तोरभाव इति चेत्, ननु किं केवल्य भूतलस्य स्वरूपमेव, किमुत धर्मान्तरम् ? तत्स्वरूप तावत् कण्टकादिवेदेनेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्तोरविरामो दोषः । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरसिद्धिः ।”—प्रश० कण्ड० पृ० २२९ । प्रश० किर० पृ० ३२९ । (२) भूतलमात्रस्य तत्रापि सद्भावात् । (३) भूतलस्य । (४) सघटेऽपि भूतले । (५) प्राभाकरं । “अप्रमीयमाणत्वमेव हि नास्तित्व नाज्जरम् न चाप्रमीयमाणतैव प्रमेयम्, यस्मात्सदर्थमितृष्टानुभवयुक्ततैवात्मन तस्यार्थस्याप्रमीयमाणता, सा चावस्था आत्मन स्वमन्वितैव । अतः प्रमेयं नावशिष्यते ।”—बृह० प० पृ० ११९-२० । “तस्माद् भाव-ग्राहकप्रमाणानुवृत्तिरेवाग्भावावगमं प्रमूते (पृ० ११९) अभावस्य तु स्वरूपावगतिर्नास्ति इति न प्रमाणाभावादव्य प्रमेयाभाव, प्रमाणाभावोऽपि च स्वरूपान्तरानवगमादेव न भावान्तरप्रमितेभ्यते, भावान्तरप्रमितेश्च स्वयप्रकाशरूपा न प्रमेयतामनुभवतीति प्रमेयभावाव्यस्य प्रमाणस्य नोपपद्यते । प्रमेयासद्भावाच्च न प्रमाणान्तरमवकल्पत इति स्थितम् । (पृ० १२४) नास्तित्वञ्च प्रमाणानामनुत्पत्त्यैव गम्यते । नास्तित्वप्रतिपत्तिर्हि ता विना नास्ति कुञ्चित् ॥ योग्यप्रमाणानुत्पत्ते कारणत्व परिग्रहात् । अतिप्रसङ्गदोषोऽपि नावकाशमुपाश्रुते ॥”—प्रकरणप० पृ० १२९ । नदवि० पृ० १६२ । तन्त्ररह० पृ० १७ । प्रभाकरवि० पृ० ५७ । (६) कल्पनिकत्वे । (७) तुलना—“ज्ञानाभावे ज्ञान-भूम व्यवहाराभावे व्यवहारभूम आलोकादर्शने अन्धकारभूमवत्, न, सुपुण्याद्यवस्थामु प्रसङ्गात् । अप्रमिते च भूमाऽशोभात् सुपुण्यादिवत् ।—अथापि चैयत्यादुष्यते न च तत्त्वतो नास्तीति बुद्धिव्यव-हारो स्त, किन्तु चैत्रदशनाभावे चैत्रो नास्तीति ज्ञानं भूम चैत्रोचितव्यवहाराभावे च तदभावे व्यवहारभूमः । अत्रैव निदर्शनमाह—आलोकादर्शनेऽन्धकारभूमवत् तदेतन्निराकरोति—न; सुपुण्याद्यव-स्थामु प्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञानव्यवहारयोरभावे तद्विभूम सुपुण्याद्यवस्थास्वपि तथाप्रसङ्गः । नहि तदा ज्ञान नापि व्यवहार, समस्तविज्ञानोपसंहृतिलक्षणत्वात्सुपुण्याद्यवस्थायाः । हेत्वन्तरमाह—अप्रमिते च भ्रान्त्ययोगात् सुपुण्यादिवत् । प्रमितस्य हि भावस्य प्रमित एव भावे समारोपभ्रान्तिर्न पुनरसतो ज्ञानाकारस्य नाप्यग्रह इत्युपपादित विभ्रमविवेके, अत्रापि सूचयिष्यति । न च ज्ञानव्यवहाराभावा

1-घटाद्याश्रयः तथाऽभि-आ० । 2 किहूतमस्य व० । 3-हूतम् व० । 4-हूतम् व० ।

अङ्गम्, तदा सुपुत्रावस्थायामपि नास्तीतिव्यवहारः स्यात् सञ्चयद्वाराणुदर्थस्य तत्राप्यविशेषात् । ततो निर्वाधयोर्भावाऽभावाप्रतीत्योर्वैलक्षण्यमिद्वे सिद्धो भावाऽभावयोर्वास्तयो भेदः ।

स्वरूपभेदाच्च, अभावस्य हि भावप्रतिषेधकत्व स्वरूपं नेतरस्य । स्वरूपभेदेऽपि अनयोरेभेदे भेदवाचोन्नेदप्रसङ्गः, परस्परतो भेदस्य सर्वत्र घटपटादौ स्वरूपभेदा-  
६ दन्यतोऽप्रसिद्धे ।

सामग्रीभेदाच्च अनयोर्भेदः, सुप्रसिद्धश्च तद्वेदे । तथाहि—घटादिभावमुत्पादयितुकामः तदुत्पादनानुकूलामेव मृत्पिण्डादिसामग्रीमुपादत्ते, विनाशयितुकामस्तु तैद्विलक्षणा मुद्रारादिसामग्रीमिति ।

ननु मुद्रारादिसामग्री परस्परऽससृष्टकपालोत्पाद एव व्याप्रियते नाऽभावे, न  
१० च तदुत्पादवत् तदभावावोर्यत एव भविष्यतीत्यभिधातव्यम्, यत सर्वोऽपि कार्यभेद कारणभेदेन व्याप्तः । न च अभावात्कपाललक्षणकार्यभेदे कारणभेदोऽस्ति, मुद्रारलक्षणस्यैकस्यैव कारणस्य प्रतीतिः । न च तस्यैकस्यैव अन्योन्यनिरुद्धकार्यद्वयजनकत्व युक्त निरोधात्, इत्यप्यसमीचीनम्, प्रतीतिविरोधानुपह्नात् । तथाहि—मुद्रारादिव्यापारानन्तर लौकिकेतरयो 'अनेन विनाशितो घट' इति प्रतीतिः, न पुन 'कपालानि

उपलब्धपूर्वा । तदुपलम्भ वा कृतमत्र भूमौपन्यासेन । तस्मादप्रमिते भान्यनुपपत्तरयुक्नमेतन्नित्यम् ।'  
-विधिबि०, न्यायकृति० पृ० ७३-७४ ।

(१) तुलना—स्वरूपभेदस्योपपत्त यथाहि कारणानुत्पद्यमाना रूपादय परस्पर स्वरूपभेदात् भिद्यन्ते तथाऽभावोऽपि भावादिति । अस्ति च द्वय्यादियङ्गलक्षणा लक्षितत्व भावपरतत्रण गृह्यमाणत्वमभावस्य रूपमिति ।—प्रश्न० श्लो० पृ० ४०० । (२) भावस्य । (३) भावाभावयो । (४) सामग्रीभत् । (५) उत्पान्त्सामग्रीभिनाम । (६) तस्मात् स्वरसतो निवतते काष्ठादि अग्यादिभ्यस्तु अङ्गारादिज म इत्यव भद्रकम ।—हेतुबि० टी० पृ० ८३ A । तदयमत्र समुदायाय—मुदगरव्यापारानन्तर द्वय प्रतीयते घटनिवृत्ति कपालञ्च । तथैते विनागरूपतया प्रतीयते । तत्र घटनिवृत्तर्नीरूपत्वेनाकायत्वादिति वक्ष्यति । तत्त्वायत्वेन तु तत्प्रतीतिभ्रान्तिरेव कायत्व वास्या न घटनिवृत्तिरूपत्व स्मात् घटसम्बन्धित्वेन कृत्कत्वान् विनाशरूपतया च न प्रतीति स्यात् घटस्य सत्त्वात् । निहंतुके तु विनाग स्वरसतो निवनमान एव घटो मुदगरादिसहकारी कपालजनकत्वन सदशक्षणानारम्भकत्वान् मुदगरव्यापारानन्तर घटनिवृत्त कपालस्य च सदभावात् तथोविनाशरूपतया विनाशस्य च सहेतुकत्वेन मदमतीनामवसायो युज्यत एव । प्रयोगस्तु य यदभावं प्रत्यनपेक्षास्ते तदभावनियता तद्यथाऽसम्भवत्प्रतिबन्धा कारणसामग्री कार्योत्पादन अयानपेक्षश्च कृतवो भावो विनाश इति स्वभावहेतुः ।—प्रमाणवा० स्वव० टी० १।१९६-९७ । प्रमाणवा० भनोरव० ३।२६९-७० । तत्त्वस० पृ० १३२ । (७) घटविनाशोऽपि । (८) मुदगरादिव्यापारादेव । (९) मुदगरादिव्यापारस्य । (१०) घटविनाग-कपालोत्पादलक्षण । (११) तुलना—'तस्मात्कारणकारणयोस्तादविनागी न सहेतुका हेतुको सहभावाद्द्रासन्निवत् । मुदगरादिव्यापारानन्तर कार्योत्पादवत् कारणविनागस्यापि प्रतीते विनाशो घट उत्पत्तानि कपालानि इति व्यवहारद्वयसम्भवात् ।—अष्टश० अष्टसह० पृ० २०० ।

१-दयस्य च त-व० । २ तत्रानिर्वा-थ० । ३-भदाद्वाभा-व० । ४ एतयो-व० ।

५-भेदाद्वाज-व० । ६-इच तथा तद्भव व० । ७ प्रतीते व० ।

उत्पादितानि' इति । नापि घटविनाशकस्य 'कपालान्युत्पादयामि' इत्यनुसन्धानं स्वप्नेऽ-  
प्यनुभूयते । न खलु विपादिना शत्रुवधे बह्वधादिना च पटदाहे प्रवृत्तस्य शत्रुपट-  
विनाशाद्यते 'अन्यत् किञ्चित्तत्र उत्पादयामि' इति हन्तु पटविनाशकस्यैवा अनुसन्धान-  
मस्ति । नापि पार्श्वस्थानांम् 'अन्यत् किञ्चिदनेनोत्पादितम्' इति प्रतीति, किन्तु  
'तद्विनाश एव अनेन कृत' इत्यग्निलज्जना प्रतीति । तद्विनाशे एव चासौ परितुष्यति । ६  
नहि अवयवनिष्पत्त्या तस्य किञ्चित् प्रयोजनम् । ननु भावना स्वभागतो विनाशस्वभा-  
नियततया विनाशस्य अहेतुकत्वान्न मुद्गरादे तद्धेतुत्वम्, इत्यप्यपेशलम्, तेषा र्त्स्वभा-  
नियतत्वस्य अक्षणिकत्वसिद्धौ निराकृतत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'कार्यभेद कारणभेदेन व्याप्त' इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, एककारणस्य  
एककार्योत्पादकत्वेन अविनाभावोऽभावात्, प्रदीपादेरेकस्यापि अनेककार्योत्पादकत्व- 10  
प्रतीते । अत सिद्ध सहेतुको विनाश । तथा च घटाभायोत्पादकसामग्रीतो भायोत्पादक-  
सामग्र्या भेदसिद्धे सिद्धो भावोऽभावयोर्भेदः ।

अर्थक्रियाभेदाच्च, सुप्रसिद्धो हि भावोऽभावयो प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणोऽर्थक्रियाभेद,  
जलाद्यर्थिन तत्सद्भावस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्, तदभावस्य च निवृत्तिहेतुत्वात् । प्रमोदाद्यर्थ-  
क्रियाकारित्वाच्च अनयोर्भेद, तथा हि शत्रुविनाश कृत श्रुतो वा पर प्रमोदमाधत्ते, तत्स- 1.0  
द्भावस्तु विपादम् । न ह्यत्र भावभावोभ्यामन्यस्य प्रमोद निपादहेतुत्व प्रतीयते ।

यदप्युक्तम्—'अभावोऽपि यदि कुतश्चिदुत्पद्येत काञ्चिदर्थक्रिया कुर्यात् तदा भाव एव  
स स्यात्' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतो भावप्रतीतिविषयत्व भावत्वम्, न पुन अर्थक्रिया-  
कारित्वादि । अभावो हि स्वकारणकलापाद् भावत्रिलक्षणतयोत्पन्न अर्थक्रियाञ्च कुर्याण  
पदार्थतया प्रतीयते न पुनर्भावतया । 20

यच्चान्यदुक्तम्—'यदि अभाव स्वाकार ज्ञाने समर्पयेत् तदा ज्ञानस्याप्यभावरू-  
पता स्यात्' इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, अर्थाकारतया ज्ञानस्य अर्थप्रकाशकत्वप्रतिज्ञेयात् ।  
निराकारमेव हि ज्ञान योग्यतया योग्यदेशस्थ योग्यञ्चार्थं प्रकाशयति इत्युक्त प्रत्यक्ष-  
प्ररूपणप्रस्तावे ।

(१) पुरुषस्य । (२) प्रधकजनानाम् । (३) विपदादिना पटविनाशकेन वा पुरुषेण ।  
(४) विनाशास्वभावनिमित्तत्वस्य । (५) पृ० ३८६ । (६) पृ० ४८० प० १० । (७) वतिकामुखदाह-तैल  
शोष-वज्र-श्रीत्यादन-अ-घकारविनाशादि । (८) मुद्गराद्यभिधातादिरूपाया । (९) घटोत्पादक-मृत्पिण्ड-  
दिरूपाया । (१०) तुङ्गना—'सुखदुःखसमुत्पत्तिरभावे सन्नमित्रयो । कष्टकाभावमालक्ष्य पद पथि  
निधीयते ॥ 'यस्यप्रभाव को नाम निह्नुवीत सचेतन । —न्यायम० पृ० ५९ । (११) पृ० ४७७  
प० २ । (१२) तुलना—'सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव इत्यते असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति । —न्यायम०  
पृ० ५९ । (१३) पृ० ४७७ प० ४ । (१४) स्वावरणक्षयोपनामलक्षणया । (१५) पृ० १७१ ।

१ प्रवृत्त श-आ० । २-स्य चानुस-थ० । ३ पटादिभावो-व० । ४ कृत परं व० ।  
५-दुत्पद्यते आ० । ६ भाव एव स्यात् थ०, व० । ७-या प्रवेशस्य व० ।



न चाऽवस्तुत्वादभावस्य किं प्रसाधनप्रयासेनेत्यभिधातव्यम्; प्रमाणतः प्रतीयमानत्वादिसाधनात् तस्य वस्तुत्वप्रसिद्धेः । तथाहि—अभावो वस्तु, प्रमाणतः प्रतीयमानत्वान्, यत् प्रमाणतः प्रतीयमानं तद् वस्तु यथा भावः, प्रमाणतः प्रतीयमानश्चाऽभाव इति । तथा, यत् कारणादुत्पद्यते तद्वस्तु यथा घटादि, कारणादुत्पद्यते चाऽभाव इति । तथा, यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु तथा प्रदीपः, अर्थक्रियाकारी चाऽभाव इति । तथा, यद् अयान्तरभेदेन भिद्यते तद्वस्तु यथा रूपरसादि, प्रौढभावाद्यवान्तरभेदेन भिद्यते चाऽभाव इति । ततः सिद्धो भाववद् अभावो वास्तवो वस्तुधर्मः प्रमेय इति । प्रमाणं तु तत्परिच्छेदकम् अभावाख्यं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं वास्तवं न प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादितोऽपि तत्परिच्छेदसिद्धेः । यैत् प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते न तत्र प्रमाणनियमः यथा बह्वयादौ, प्रमाणान्तरादपि परिच्छिद्यते चाऽभाव इति । यत् पुनः यत्प्रकारप्रमाणान्तरान्न परिच्छिद्यते तत्र तत्प्रकारप्रमाणनियमो यथा रूपरसादाविति ।

ततः सूक्तम्—‘अदृश्यस्यापि परिचित्तविशेषस्य अभावः तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः’ इति । सर्वत्र हि गमकत्वं अन्यथानुपपत्तिप्रसादादेव, सा च अदृश्यानुपलब्धभावप्यस्ति इति कथं नास्या गमकत्वम् ?

‘अदृश्य’ इत्यादिना व्यतिरेकमुखेन कारिकां व्याचष्टे—अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात् संशयैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे न केवलं परिचित्ताभावो न सिद्ध्यति सौगतस्य अपि तु स्वचित्तभावश्च न सिद्ध्यति । कुत एतद् ? इत्यत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य स्वचित्तस्य यद् अनशं तत्त्वं संजातीयवजातीयव्यावृत्तं मध्यक्षणस्वरूपं तस्य अदृश्यात्मकत्वात् । ततः किं जातम् ? इत्यत्राह ‘तथा च’ इत्यादि । तथा च तेन च स्वचित्तभावाऽसिद्धिप्रकारेण कुतः न कुतश्चित् परमार्थसंती मानाद् भावस्य क्षणभङ्गसिद्धिः धर्मिहेतुदृष्टान्तादेरसिद्धेः । न खलु बहिरन्तर्वा अनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मतर्वाऽसिद्धौ धर्म्यादेः सिद्धिर्युक्ता, तदसिद्धौ च कुतः क्षणभङ्गदेः

(१) अभावस्य । (२) ‘स च द्विविध प्रागभाव प्रध्वमाभावश्चेति । चतुर्विध इत्यन्ये इतरेतराभाव, अत्यन्ताभावश्च तौ च द्वौ । पदप्रकार इत्यन्ये—अपेक्षाभाव सामर्थ्याभावश्च ते च चत्वार इति ।’—न्यायम० पृ० ६३ । ‘अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदेन । प्रागभावस्तथा ध्वसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ एव त्रैविध्यमापन्न संसर्गभाव इत्यते ।’—मुक्ता० का० १२-१३ । (३) अभावपरिच्छेदकं पृथग्भावाख्यं प्रमाणं नास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरादपि तस्य परिच्छिद्यमानत्वात् । (४) रसो यथा रूपग्राहिवाक्षुपप्रत्यक्षान्न परिच्छिद्यते अन् तद्ग्रहणाय रासनप्रत्यक्षस्य नियमो भवति, नर्चवमभावे प्रत्यक्षादिभिः परिच्छिद्यमाने प्रमाणान्तरत्वनियमः । (५) स्वचित्तमद्भावः । (६) अदृश्यात्मकत्वादसिद्धौ सत्याम् ।

१ प्रतीयमान-व० । २ प्रदीपादि अर्थ-व० । ३-नियमोऽपि यथा व० । ४ तत्प्रका-आ० । ५ तत्प्रमाणनि-आ० । ६-रुन्धावस्तीति आ० । ७ ‘तदित्यादि’ नास्ति आ०, व० । ८ संजातीयव्या-व० । ९ तेन स्वचि-आ० । १०-सतो भावस्य अनुमानात् क्ष-ध० ।

सिद्धिः स्यात् ? कस्य तर्हि क्षणभङ्गसिद्धिः स्यात् ? इत्याह—‘तद्’ इत्यादि । तस्माद् अनंशतत्त्वाद् विपरीतं साशं तत्त्वं तस्य । कथम्भूतस्य ? अभेदलक्षणस्य युगपत् क्रमेण वा अनेकस्वभावात्मकस्य स्याद् भवेत् क्षणभङ्गसिद्धिः नान्यस्य इति एवकारार्थः ।

ननु चाभेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम् ।

स्वसंचिद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥ १६ ॥

विवृतिः—स्थूलस्यैकस्य दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभाव-  
सिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारभेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेः  
विज्ञानानंशतत्त्वत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेः अविभागज्ञानतत्त्वस्य वा 10  
जातुचित् स्वयमुपलब्धिः तथैवाप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्स्वभावप्रतिभासे  
अनेकान्तसिद्धिः ।

वीक्ष्यम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्तं स्थूलमेकं ग्राह्यम्, तस्य ये अणवः अतिसूक्ष्मा  
कारिकार्थः—  
भागाः तेषां पारिमाण्डल्यं वर्तुलत्वं यच्च क्षणभङ्गादि आदिशब्देन  
कार्यकारणसामर्थ्यादिपरिग्रहः तस्याऽवीक्षणम् अग्रहणम् । अत्र दृष्टा- 16  
न्तमाह ‘स्व’ इत्यादि । स्वसंचिदो बौद्धैकल्पितनिरंशबुद्धेर्यः विषयाकारस्य  
स्थूलाद्याकारस्य विवेकः निवृत्तिः तस्य अनुपलम्भवत् । नहि तस्यै प्रतिभासमानायां

(१) अनेकपर्यायेषु अनुगताकारतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य द्रव्यस्येति यावत्, अथवा  
अनेकावयवेषु कथञ्चित्तादात्म्यतया व्यापिन अभेदलक्षणस्य स्कन्धस्येति । (२) “वीक्ष्यमुपलब्धि-  
लक्षणप्राप्तं स्थूल तस्याणव सूक्ष्मा भागा अवयवास्तेषां पारिमाण्डल्यं वर्तुलत्वम् अन्योन्यविवेक क्षणे  
क्षणे भङ्गः क्षणभङ्गः समय प्रति नाश इत्यर्थः । स आदिर्यस्य कार्यकारणसामर्थ्यदिरसौ तयोक्त,  
वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यं च क्षणभगादिश्च तत्तथोक्तम्, तस्याऽवीक्षणं प्रत्यक्षेणानुपलम्भोऽशक्तिः । न  
खलु साव्यवहारिकप्रत्यक्षेण क्षणभङ्गादिर्वीक्ष्यते तेन स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्यैव वीक्षणात्, योगि-  
प्रत्यक्षस्यैव तद्वीक्षणसामर्थ्यादित्यर्थं, सत्त्वात्प्रमेयत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतुना कथञ्चिदनेका-  
नित्यादिघर्मव्याप्यत्वात्तदविनाभावप्रसिद्धे । प्रकृतार्थे दृष्टान्तमाह—स्वसंचिदित्यादि । स्वसंचि-  
स्वसंचेदनं तस्या विषयाकारो घटाद्याकारस्तस्माद्विवेको व्यावृत्तस्तस्यानुपलम्भः प्रत्यक्षेणाग्रहणं तद्वत् ।  
यथा ज्ञानस्य स्वरूपप्रतिभासने बहिरर्थाकारनिवृत्तिविद्यमानेनापि न प्रतिभासते सौगताना तस्य  
तादृक् सामर्थ्याभावात् तथा बहिरन्तश्चाणुपारिमाण्डल्यदि प्रत्यक्षेण न प्रतिभासते तथाद्यक्त्यभावात् ।  
ततोऽनुमानमनेकान्तमते सफलमित्यर्थं ।”—सूची० ता० पृ० ३६ । (३) घटपटादि । (४) “नित्य  
परमाणुमन सु तत्तु पारिमाण्डल्यम्, परिमाण्डल्यमिति तस्य नाम, तथाहि—परिमण्डलानि परमाणुमनासि  
तेषां भाव पारिमाण्डल्यं तत्परिमाणमेव ।”—प्रश० भा०, व्यो० पृ० ४७३ । “पारिमाण्डल्यमिति  
सर्वाधिकृत परिमाणम् ।”—प्रश० क० ६० पृ० १३३ । “पारिमाण्डल्यं परमाणुपरिमाणम्”—सप्तप० टी०  
पृ० ४९ । मुन्ता० का० १५ । (५) स्वर्गप्रापणादौ—आ० टि० । (६) सचिदि—आ० टि० ।

विपर्याकारविवेकः प्रतिभासते स्थूलाद्याकारभ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् । यत्र यदा यास्तयो यदाकारः प्रतीयते न तत्र तदा तद्विपरीताकारस्य प्रतीतिरस्ति यथा नीले प्रतीयमाने न पीतस्य, प्रतीयते च विपर्याकारविवेकः सौगतकल्पितायां संविधि इति ।

- कारिकार्थं विवृण्वन्नाह—‘स्थूलस्य’ इत्यादि । स्थूलस्य महतः एकस्य क्रमाऽ-  
 क्रमानेकधिवर्त्तव्यापिर्नैः प्रतिपादितप्रकारेण दृश्यात्मन एव उपलभ्य-  
 6 विवृतिव्याख्यानम्—  
 स्वभावस्यैव अनित्यत्वं सिद्धयति ‘नान्यस्यै’ इति सम्बन्धः । कुत  
 एतत् ? अनुपलम्भात् हेतोः तस्यैव पूर्वापराकारकोट्योः अभावसिद्धेः । तथा च  
 यदुक्तं परेण—“यद् यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तत् तत्र नास्ति यथा क्वचित्  
 प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यते च उपलब्धिलक्षणप्राप्तो मध्यक्षणः पूर्वापरकोट्योः” [ ]  
 10 इति; तदयुक्तम्, यतः कथञ्चित् तत्र तदभावसाधने सिद्धसाधनम् । सर्वथा तत्साधने  
 पक्षस्य प्रत्यक्षसाधनं हेतोश्चाऽसिद्धिः, तथा तत्र तदनुपलम्भाऽसिद्धेरिति । ननु चास्तु  
 स्थूलादिस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं न तु परमार्थसत्त्वम् मरीचिकाजलादिवदसत्त्वात्,  
 इत्यादाङ्क्याह—‘बुद्धेः’ इत्यादि । यथोक्तस्यैवार्थस्य परमार्थसत्त्वं बुद्धेर्वेद्यवेदकाकार-  
 प्रभेदस्य इव । प्रयोगः—यद् अनेकस्वभावं तदेव परमार्थसत् यथा वेद्यवेदकाद्यनेकस्व-  
 15 भावा संवित्, अनेकस्वभावश्च अन्तर्वहिर्वा जैनाभ्युपगतं वस्तु इति । तथापि मरी-  
 चिकातोयनिर्दशनेन अस्याऽसत्त्वे बुद्धेरर्थतोऽसत्त्वप्रसङ्गः विशेषामाधात् । ननु नाऽने-  
 कस्वभावस्यार्थस्य अनित्यत्वं परमार्थसत्त्वं वा अपि तु परमाण्वादेः; इत्यत्राह—‘नपुनः’  
 इत्यादि । न पुनः नैव परिमण्डलसम्बन्धात् परिमण्डलः परमाणुः आदिर्यस्य  
 यौगकल्पिताऽवयव्यादेः स तथोक्तः तस्याऽनित्यत्वं परमार्थसत्त्वश्च । निर्दशनाह—

(१) ग्राह्याकाररहितत्वम् । (२) यदि हि सविधि ग्राह्याद्याकारा प्रतिभासेरन्, तदैव तस्या प्रतिभासमानस्य स्थूलाद्याकारस्य भ्रान्तत्वं शक्येन कल्पयितुम्, यदा च सविति ग्राह्याद्याकारस्यून्य-  
 वास्ति तदा न च तत्र भ्रान्तत्वेनापि स्थूलाद्याकारः प्रतिभासेत ? (३) सविधि न भ्रान्ततयाऽपि  
 स्थूलाद्याकारप्रतिभास, वास्तवस्य ग्राह्याद्याकाररहितत्वस्य तत्र प्रतिभासमानत्वात् । (४)  
 स्वन्धस्य । (५) निरसपरमाणुरूपस्वलक्षणस्य । (६) सौगतेन । (७) पूर्वापरक्षणयो—आ० टि० ।  
 (८) मध्यक्षणाभाव—आ० टि० । (९) सर्वथा । (१०) पूर्वापरक्षणयो । (११) मध्यक्षण । (१२)  
 बोद्धमते—आ० टि० । (१३) स्थूलादिस्वभाव एवार्थः परमार्थसन् अनेकस्वभावत्वात् । (१४) ‘यथोक्तम्  
 यार्धरतनावयवाम्—मरीचिकतोयमित्येतदिति मत्वा गतोऽज सन् । यदि नास्तीति तत्तोय गृह्णीयान् मूढ एव  
 स ॥ मारीचिप्रतिमं लोकमेवमस्तीति गृह्णत । नास्तीति चापि मोहोऽयं सति मोहे न मुच्यते ॥ अज्ञान-  
 कल्पिनं पूर्वं पश्चात्तत्त्वावर्निर्णये । यदा न लभते भावमेवाभावस्तदा कुह ॥ इति । तदेव नि स्वभावाना  
 सर्वभावाना कुतो यथोक्तप्रकारमिडि । तस्माल्लौकिक विपर्यासमभ्युपेत्य सावृताना पदार्थाना मरीचिका-  
 जलवत्पानामिदं प्रत्ययनामात्राभ्युपगमेनैव प्रसिद्धिर्नान्येन ।”—माध्यमिकवृ० पृ० १८८ । (१५) स्थूला-  
 द्यनेकस्वभावस्य वस्तुन । (१६) मरीचिकातोयदृष्टान्तात् । (१७) परिमण्डल. वर्तुलाकार ।

1—ति विवृ—व० । 2 पूर्वापरकोट्योर—श्र०, व० । 3 तदनुपलम्भासिद्धिरिति व० । 4 नानैक-  
 व० । 5—स्यादिः व० । 6—स्त्वं निव—व० ।

‘विज्ञान’ इत्यादि । विज्ञानस्य यद् अनंशं तत्त्वं स्वरूपं तस्य इव तद्वदिति । ननु बहिरन्तरश्च अनंशस्यैव तत्त्वस्य उपलम्भः अतस्तस्यैव परमार्थसत्त्वम्, अनुपलम्भाच्च पूर्वापरकोट्योरसत्त्वं सिद्धयति इति यौगै-सौगताः; तत्राह—‘नापि’ इत्यादि । नापि नैव क्षणिकाः परिमण्डलाः परमाणवः आदयो यस्य अवयव्यादेः स तथोक्तः तस्य अविभागविज्ञानतत्त्वस्य वा जातुचित् कदाचिदपि स्वयम् आत्मना उपलब्धिः । कुत एतदित्यत्राह—‘तथैव’ इत्यादि । तथैव परपरिकल्पितप्रकारेणैव अप्रतिभासनात् । अथ बहिरन्तस्तत्त्वस्य क्षणिकाऽनंशादिस्वभावतया अप्रतिभासनेऽपि सच्चेतनादिरूपतया प्रतिभासनादयमदोषः; अत्राह—‘तत्कथञ्चिद्’ इत्यादि । तस्य बहिरन्तस्तत्त्वस्य कथञ्चित् न सर्वात्मना तत्स्वभावप्रतिभासे सच्चेतनादिस्वरूपप्रतिभासने अद्वीक्रियमाणे अनेकान्तसिद्धिः एकस्य दृश्येतरस्वभावसिद्धेः ।

एवं परस्य अनुपलब्धिं निराकृत्य अधुना स्वभावादिहेतुं निराकुर्वन्नाह—

अनंशं बहिरन्तश्चाप्रत्यक्षं तदभासनात् ।

कस्तत्स्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥ १७ ॥

विवृतिः—साक्षात् स्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसंभवः स्वभावविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः; कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः । तदङ्गीकरणं प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वञ्चानुपलब्धेः कृतकत्वादनित्यत्वं सिद्धयेत् नान्यथा ।

यौगसौगतकल्पितं यद् अनंशं तत्त्वम्, क ? बहिरन्तश्च । तत्किम् ?

अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्राह्यं न भवति । कुत एतद् ? इत्यत्राह—तदप्रकारिकार्यं—

तिभासनात् तस्य अनंशतत्त्वस्य अप्रतीतेः । ततः किं जातम् ?

इत्यत्राह—‘कस्तद्’ इत्यादि । कः, न कश्चित् तस्य अनंशस्य स्वभावो हेतुः

(१) योगान्ता मते अन्तः अनंशस्य निरवयवस्य व्यापिन आत्मन उपलम्भ, बहिश्च निरवयवव्यपिनः । सौगतमते च स्वलक्षणस्य पूर्वापरक्षणयोरनुपलम्भात् अभावः, मध्यमक्षण एव च स्थायिता ।

(२) “यत् सौगतैः परिकल्पितं बहिरचेतनम् अन्तर्चेतनम्, निरंशम्, अशा द्रव्यक्षेत्रकालभावविभागाः तेषु निष्क्रान्तं निरंशं तदप्रत्यक्षं प्रत्यक्षाविषयः । कुत ? तदभासनात् तस्य निरंशतत्त्वस्याभासनादननुभवात् । न खलु द्रव्यादिविभागरहितं चिदचिदा तत्त्वं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासते, तत्र नित्यानित्याद्यनेकाशब्धापित्वेन वस्तुन प्रतीतेः । ततस्तस्य निरंशस्य प्रत्यक्षतोऽसिद्धस्य स्वभावो धर्मो को हेतुलिङ्गं स्यात्, न कोऽपि इत्यर्थः । प्रमाणतोऽसिद्धस्याहेतुत्वात् । तस्य कार्यञ्च किन् हेतुः स्यात्, सर्वथा निरंशस्यापरिणामिनः कार्यकारणायोगात् यतोऽनुमा भवेदित्याक्षेपवचनं न कुतोऽपीत्यर्थः । तन्न सौगतमतेऽनुमानं प्रामाण्यमास्कन्दत्यनुपपत्तेः ।”—सूची० ता० पृ० ३७ । (३) “प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।”—हेतुवि० टी० पृ० ७३ । “भावे भाविनि तद्भावः भाव एव च भाविता । प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥” (सम्बन्धप०)—प्रमेयक० पृ० ५१० । स्या० १० पृ० ८१८ ।

स्यात् । किं न किञ्चित् तस्य अनशस्य कार्यं हेतु । कार्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन साध्याद् भिन्नाना सयोगिसमवाग्यादीना निरास सिद्धो भवति, अतो न परमते किञ्चित् लिङ्ग घटते यतोऽनुमां स्यात् ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘साक्षात्’ इत्यादि । साक्षात् स्वभावं स्वरूपम् अप्रदर्शयतो भावस्य यत् निरशं तत्र स्वरूप तस्य अनुमितौ त्रियमा-  
 5 विवृति-यारयानम-  
 णाया स्वभावहेतोरसभवः । कुत इत्याह—‘स्वभाव’ इत्यादि । स्वभावस्य स्वरूपस्य विप्रकर्षाद् अदृश्यत्वात् । तत एव तद्विप्रकर्षादेव कार्यहेतोर-  
 प्रतिपत्ति । कुत एतत् ? इत्याह—‘कार्य’ इत्यादि । कार्यकारणयोः सर्वत्र बहिरन्तर्वा  
 अनुपलब्धेः अदर्शनात् । किञ्च, सिद्धे कार्यकारणभावे कार्यहेतो प्रतिपत्तिर्युक्ता, न चात्र  
 10 सोऽस्ति इत्याह—‘नच’ इत्यादि । नच नैव अत्र यौगसौगतकल्पिते एकान्ते प्रत्य  
 क्षानुपलम्भौ साधन यस्य स तथोक्त । क ? प्रभवः, कार्यकारणभाव ‘प्रभवति’  
 ‘प्रभवति अस्मात्’ इति च व्युत्पत्ते । यथा च तत्कल्पितैकान्ते प्रभवो न घटते तथा  
 विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चितम् । ननु न सर्वत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन प्रभव, किन्तु फचित्  
 इन्द्रियशक्तिवत् कार्यव्यतिरेकसाधनोऽपि, सोऽत्र स्यात्, इत्याशङ्क्य आह—‘कार्य’  
 15 इत्यादि । कार्यस्य व्यतिरेकः चिबक्षितकारणव्यतिरेककारणसाकल्येऽपि अनुत्पाद  
 तेन उपलक्षिता वा । पक्षान्तरसूचको वाशब्द । कारणशक्तिः ‘न चात्र’ इति सम्बन्धः ।  
 निरशयो कार्यकारणयो मूलतोऽप्यदर्शने कारणव्यतिरेकत कार्यव्यतिरेकाऽसिद्धि  
 इत्यभिप्राय । नच प्रमाणान्तरमन्तरेण कारणशक्त्यङ्गीकरण युक्तम् इत्याह—‘तदङ्गीकर-  
 णम्’ इत्यादि । तस्याः कारणशक्तेः अङ्गीकरणम् कार्यव्यतिरेकत सद्भावस्वीकरण  
 20 प्रमाणान्तरमन्तरेण उहात्यप्रमाण विना अनुपपन्नम् । प्रसिद्धे हि कार्यकारणभावे  
 कार्यव्यतिरेकत कारणशक्तिपरिकल्पना स्यात् । नच प्रत्यक्षानुमानयो कार्यकारणभा  
 वादिसम्बन्धप्रतिपत्तौ सामर्थ्यमित्युक्तम्—‘अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्  
 सम्प्रतीयते’ [ लघी० का० ११ ] इत्यत्र । कुत पुनस्तदङ्गीकरण तदन्तरेणाऽनुपपन्नम् ?  
 इत्याह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयम् आत्मना उपलब्धस्य मध्यदशाया दृष्टस्य प्रागू-  
 25 र्ध्वञ्च या तस्यैव अनुपलब्धिः स्वयमेव अदर्शन तस्या यत् सिद्ध कृतकत्व कार्यत्व  
 तस्माद् अनित्यत्वज्ञादा सिद्धयेत् नान्यथा न प्रकारा तरेण । नच प्रत्यक्षमनुमान

(१) अनुमानम् । (२) प्रभवति यत्कायमिति कायव्युत्पत्ति प्रभवति काय यस्मात् कारणात्  
 इति कारणव्युत्पत्ति—आ० टि० । (३) प० २२० पृ० ३८४ । (४) कारणशक्तिरस्ति कार्योत्प  
 त्त्य यथानुपपत्त । (५) कारणशक्तिस्वीकार । (६) उहप्रमाणमन्तरेण ।

1 कायहेतु थ० । 2-नुमान स्यात् आ० थ० । 3 स्वरूप वचन-व० । 4 एतद्व्याह-व०  
 एतदित्यत्राह थ० । 5 प्रभवति अस्मात् इति व्यु-व० थ० । 6 प्रपञ्चित- व० । 7-क्षितो  
 वा व० । 8-ञ्च तथा व० ।

वा तथा प्रत्येतुं समर्थमित्यूहस्यैव अत्र व्यापार इति मन्यते । कृतकत्वानित्यत्व-  
ग्रहणमुपलक्षणं सकलहेतुसाध्यानाम् ।

ननु सर्वोऽयं कार्यकारणभावोऽनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पिकल्पितो न पार-  
मार्थिकः तत्कथं प्रमाणान्तरप्रसक्तिः? इत्यप्यनुपपन्नम्; यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धायां तत्कल्पि-  
तोऽसिलोऽयं व्यवहारः स्यात् । न च तैस्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति—

धीर्विकल्पाऽविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।

निश्चयात्मा स्वतः सिद्धयेत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

विवृतिः—सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि, निश्चयस्यापि  
कस्यचित् स्वत एव अनिश्चयात्, निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात्  
कुतस्तत्संव्यवहारसिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदभिलापसंसर्गयोग्यायोग्य-  
विनिर्भासैकज्ञानं प्रतिपत्तव्यं स्वरूपवत् ।

धीः बुद्धिः, कथम्भूता ? निश्चयात्मा विकल्पबुद्धिः इत्यर्थः । पुनरपि कथ-  
म्भूता ? इत्याह—‘विकल्प’ इत्यादि । विकल्पो व्यवसायः,  
अविकल्पो निर्विकल्पकः, तौ आत्मानौ यस्याः सा तथोक्ता ।  
क ? बहिरन्तश्च; बहिर्विकल्पात्मा अन्तश्च अविकल्पात्मा इति । सा किम् ? इत्यत्राह—

(१) “तया चानुमानानुमेयव्यवहारोऽयं सर्वो हि बुद्धिपरिक्ल्पितो बुद्धघाहृदेन धर्मधर्मभेदेने-  
त्युक्तम् ।—आचार्यदिग्नागेनाप्येतदुक्तमित्याह तथा चेत्यादि । सर्व एवेति यत्रापि साध्यसाधनयोरग्निधू-  
मयोर्वास्तवो भेद तत्रापि स्वलक्षणं व्यवहारायोगात् । अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमान लिङ्गम् अनुमेय साध्य-  
धर्मो साध्यधर्मश्च तेषां व्यवहारो नानात्वप्रतिरूप, बुद्धघाहृदेन धर्मधर्मिणोर्भेदरतेन बुद्धिप्रतिभासगतेन  
भिन्नेन रूपेण भेदव्यवहार इति यावत् ।”—प्रमाणवा० स्व० टी० १।४ । (२) विकल्पसिद्धि । (३)  
“किं पुन सिद्धयेत् ? न सिद्धयेदित्यर्थं । का ? धी बुद्धि । किं विनिष्टा ? निश्चयात्मा अनुमानबुद्धि-  
रित्यर्थं । पुनरपि कथम्भूता ? विकल्पाविकल्पात्मा, विकल्पो व्यवसाय अविकल्पोऽव्यवसाय तावा-  
त्मानौ यस्या सा तथोक्ता । क्व ? बहिरन्तश्च, अत्र यथासत्यमभिसम्बन्ध कर्तव्य, बहिर्घटादिविषये  
विकल्पात्मा, अन्त स्वरूपे निविकल्पात्मा चेति । कृतो न सिद्धयेत् ? स्वत स्वमवेदनात्, तस्य निविक-  
ल्पकत्वेन विकल्पाधिपयत्वात् । सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदन स्वसंवेदनमिति घचनात् । न केवल स्वत,  
अपि तु परतोऽपि । किं पुन सिद्धयति ? परस्माद्विकल्पान्तरादपि न सिद्धयतीत्यर्थं । कुत ? अनव-  
स्थितेः । तदपि विकल्पान्तरतः, स्वतो न सिद्धयति अगोचरत्वात् तत्रापि तत्सिद्धयर्थं विकल्पान्तरं  
कल्पनीयमिति क्वचिदप्यनुपपन्नात् । ततोऽनुमानस्यामिद्धे कथं बौद्धकल्पित प्रमाणसत्यानियमो घटत  
इति भावः ।”—लघी० ता० पृ० ३८ । (४) “सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनम् । चित्तमर्थमात्रग्राहि, चैता  
विशेषावस्माशाहिणं मुग्धादय । सर्वं च ते चित्तचैतश्च सर्वचित्तचैता । मुखादय एव स्फुटानुभवत्वात्  
स्वसंविदिता नान्या चित्तावस्थेत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम् । नास्ति सा काचिच्चित्तावस्था  
यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात् । येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् ।”—न्यायवि०  
टी० पृ० १९ । (५) तुलना—“स्वत एव विकल्पसंविदा निर्णये स्वलक्षणविषयोऽपि विकल्प स्यात्,  
परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्तिः ।”—अष्टश०, अष्टश० पृ० १७० ।

किं पुनः सिद्धयेत् ? नैव सिद्धयेत् । कुतः ? स्वतः स्वसवेदनात् निर्विकल्पकात् ।  
यत् निर्विकल्पकेन गृह्यते न तत्सिद्धयति यथा क्षेत्रक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि, निर्विकल्पेन  
गृह्यते च विकल्पस्वरूपमिति । तर्हि विकल्पान्तरात् तत् सेत्स्यति; इत्यत्राह—‘परतः’  
इत्यादि । न केवल स्वतः अपि तु परतः विकल्पान्तरादपि किं पुनः सिद्धयेत् इति  
६ ‘नो सिद्धयेत्’ इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्याह—अनवस्थितेः अनवस्थानात्  
विकल्पान्तरस्यापि तदन्तरात् सिद्धिमसद्भात् ।

कारिकां विवृण्वशाह—‘सर्व’ इत्यादि । सर्वविज्ञानानां विकल्पेतरक्षानानां  
स्वसंवेदनम् आत्मग्रहणं प्रत्यक्षम् अविकल्पकं निर्विकल्पकं यदि  
विवृतिव्याख्यानम्—  
चेत् इष्यते । अत्र दूषणम् ‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयस्यापि न  
१० केवलम् अनिश्चयस्य कस्यचिद् अगुमानानुमेयव्यवहारहेतोः स्वत एव स्वसवेदनादेव  
‘अनिश्चयात्’ निश्चयाभावात् । अथ अन्यतो निश्चयः स्यादत्राह—‘निश्चय’  
इत्यादि । प्रकृतान्निश्चयाद् अन्यो निश्चयः तदन्तरम् तस्य कल्पनायाम् अनवस्थानात् ।  
कुतः, न कुतश्चित्, तस्मात् संव्यवहारस्य कार्यकारणभावादिलक्षणस्य सिद्धिः ।  
तस्यैव असिद्धेः इत्यभिप्रायः । अस्तु तर्हि धीः निश्चयात्मा बहिरिव अन्तरपि  
१५ इत्यत्राह—‘ततः’ इत्यादि । ततः तस्माद् उक्तदोषात् स्वार्थेऽपि स्वस्य बुद्धेः अयो माह  
बहिःस्वलक्षण तत्रापि न केवलं सामान्ये कथञ्चित् न सर्वात्मना, ‘अभिलप्यते अनेनै’  
‘अभिलप्यते’ इति च अभिलाषौ शब्दजात्यादी तयोः संसर्गः ‘अस्येदं वाचकम्,  
अस्येदं वाच्यम्’ इति योजन तस्य योग्ययोग्यौ निर्भासौ तयोरेकं साधारणं ज्ञानं  
प्रतिपत्तव्यम् सौगतैः । अत्र दृष्टान्तमाह—‘स्वरूपवत्’ इति । स्वरूप इव तद्वदिति ।  
२० एवं परं प्रति तर्कादिकं प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्त-  
रत्वनियमं विधुरयत्राह—

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञितिवत्तदन्तम् ? ॥१९॥

(१) विकल्पस्वरूपमसिद्ध निर्विकल्पेन गृह्यमाणत्वात् । (२) नीलादी क्षणक्षय, अहिंसाक्षणे  
च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम् । (३) इति अभिलाष शब्द । (४) इति अभिलाष अभिलप्यमानो जात्यादि ।  
(५) ‘अत्र यदित्येतदध्याह्रियते । प्रसिद्धप्रमाणेन निश्चितोऽर्थो गोरूपस्तेन साधर्म्यात् सादृश्यात् उप-  
जायमान साध्यस्य ज्ञेयस्य तत्सादृश्यविसिष्टस्य नवयलक्षणस्य साधन गोसदृशो गवय इति ज्ञान यद्युप-  
मान प्रमाणान्तरमभ्युपगम्यते तदा तद्वैधर्म्यात् प्रसिद्धार्थवत्सादृश्यादुपजायमान साध्यसाधन गोविलक्षणो  
महिष इति ज्ञान किं प्रमाण स्यात् ? तस्य किन्नामेत्याक्षेप । नहि तदुपमानमेव तत्लक्षणाभावात् ।  
नापि प्रत्यक्षादि, भिन्नविषयत्वाद् भिन्नसामग्रीप्रभवत्वाच्च । तथा सज्जिनो वाच्यस्य प्रतिपादन च

१ कुत स्वस-आ०, थ० । २-त सवेद-ब० । ३-कल्परूपमिति थ० । ४ अपि विक-आ० ।  
५ ‘नो सिद्धयेदिति’ नास्ति आ०, थ० । ६-ल्पनि-ब० । ७ यदीष्यते ब० । ८-वेदनानिश्च-आ०,  
थ० । ९ ‘अयं’ नास्ति आ० । १० अनवस्थाभावात् ब० । ११ अन्तरेऽपि ब० । १२ बाभि-ब० ।  
१३ ‘स्वरूपवदिति’ नास्ति आ०, ब० ।

विवृतिः—प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम् अन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतञ्चेत् लिङ्गमेव ततः प्रतिपत्तिः अन्यथा न युज्यते । प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे 'वृक्षोऽयम्' इति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम्, 'गवयोऽयम्' इति यथा गवयदर्शिनः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् । 'गौरिव गवयः' इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् प्रत्यक्षेषु ईतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः 5 किन्नाम प्रमाणम् ? हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ।

प्रसिद्धोऽर्थो गौः तेन साधर्म्यं सादृश्यं यद् गवयस्य तस्मात् साध्यस्य

सादृश्यविशिष्टस्य विशेषस्य तेन वा विशिष्टस्य सादृश्यस्य साधनं

करिणार्थं -

सिद्धिः उपमानं प्रमाणम् । 'यदि'शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्र दूषण-

माह—'तद्' इत्यादि । तेन प्रसिद्धार्थेन वैधर्म्यं वैसादृश्यं यन्महिष्यादेः तस्मात् 10 साध्यसाधनं 'गोविलक्षणा एते महिष्यादयः' इति प्रतीतिः, तत् किं प्रमाणम् किमभिधानं तत्प्रमाणम् ? तस्य किञ्चिन्नाम कर्त्तव्यं यत् प्रत्यक्षादिषु न संभवति । तथा च सप्तम-प्रमाणप्रसङ्गात् 'पडेव प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः ।

ननु उपमानप्रमाणानभ्युपगमे कुतो गवयदर्शनाद् असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धेरुत्पत्तिः ?

उपमान पृथक् प्रमा- येन हि प्रतिपत्ता गौरुपलब्धा न गवयः, न च अतिदेशवाक्यं श्रुतं 'गौरिव 15 णामिति मीमांसकस्य गवयः' इति, तस्य अरण्ये पर्यटतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अनेन सादृशो पूर्वपक्ष— गौः' इत्येवमाकारं परोक्षे गवि यत् सादृश्यज्ञानमुत्पद्यते तदुपमानम् ।

विवक्षितसज्ञावियरत्वेन सकलन यथा वृक्षोऽयमिति । तदपि किन्नाम प्रमाणं स्यादित्याक्षिप्यते । न खलु सज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमप्रमाणम् आगमप्रामाण्यविलोपापत्तेः, उपमानाप्रामाण्यापत्तेश्च ।—लघी० ता० पृ० ३९ । "प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।"—न्यायसू० १११६ । (६) तुलना—'गवयस्योपलम्भे च तुरङ्गादौ भवतीति । तदसादृश्यविज्ञानं यत्तदस्या प्रमाणं किम् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ४५० । "साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेव प्रसज्यते ।"—न्यायकुमु० ३१९ । "सादृश्यञ्चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यस्य किं तथा ।"—अनतकंवा० पृ० ७६ । उद्धृतोऽयम्—स्या० २० पृ० ४९८ । रत्नाकराव० ३४ । प्रमेयर० ३५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

(१) "एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्ध अतिदेश"—व्युत्पत्तिवा० ग० । "इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेश"—वाचस्पत्यम् । "ताद्वदिदं कर्त्तव्यमित्यतिदेश ।"—शास्त्रदी० पृ० २७७ । (२) "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोरुमरणस्य ।"—शाबरभा० १११५ । "सादृश्यदर्शनेत्येव ज्ञानं सादृश्यविषयकमुपमानम्, दृष्टगो पुरुषस्य गवयं तत्सदृशं पश्यतो यद् गोविषयकं गवयसदृशज्ञानं तदुपमानम् ।"—प्रक० पृ० पृ० ११० । "सादृश्याद् दृश्यमानाद्यत्प्रतियोगिनि जायते । सादृश्यविषयं ज्ञानमुपमानं तदुच्यते ॥"—बृह० पृ० पृ० १०९ । "पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थं दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्, यासावस्माभिर्नगरे दृष्ट्या गौ साऽनेन सदृशीति ।"—शास्त्रदी० पृ० २५८ । नयवि० पृ० १४६ । तन्त्रग्रह० पृ० १३ ।

1 युज्यते ज० वि० । 2 इतरेषु तस्यैव ई० वि० । 3-त्ति प्रमा-ई० वि० । 4 प्रसिद्धार्थो थ० । 5-र्णं किञ्चि-व० । 6 प्रतिपत्ता आ०, व० । 7 न वातिदे-व० ।



अत्र च विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ सन्निकृष्टे सादृश्यं करणम् । उक्तञ्च-

“दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते ।

सादृश्योपाधितस्तज्जैरुपमानमिति स्मृतम् ॥” [ ]

अस्य च अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम् । यद्यपि गौरनेर्न प्रागेव उपलब्धः,

5 सादृश्यञ्चेदानीं प्रत्यक्षत एव गवये दृश्यते, तथापि ‘गवयसद्गोः’ इति प्रागप्रतिपत्तेः  
अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वम् । तर्हि इदानीमेव गोः स्मृत्या सादृश्यस्य च अध्यक्षतोऽधि-  
गमात् अधिकप्रमेयाभावाच्च अधिगतार्थाधिगन्तृत्वमर्थः; इत्यप्ययुक्तम्; तद्विशिष्टत्वस्य  
तत्रैतत्तार्थ्यमनधिगतेः । यद्यपि प्रत्यक्षेण सादृश्यं प्रतिपन्नं गौश्च स्मृत्या, तथापि  
सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य स्मृत्या प्रत्यक्षेण उभाभ्यां वाऽप्रतीतेः तद्विषयत्वेन उपमा-  
10 नस्य अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वात् प्रामाण्यम् । नहि अनुमानेऽपि अतोऽन्यत् प्रामाण्य-  
निबन्धनम् । प्रत्यक्षेऽपि हि प्रदेशादौ धर्मिणि स्मृत्या चात्रौ प्रतिपन्नेऽपि अत्रिविशिष्ट-  
प्रदेशादिविषयत्वेन अनुमानस्य प्रामाण्यं तद्वदुपमानस्यापि । तदुक्तम्-

“तस्माद्दत्तमर्थं तत्स्यात् सादृश्येन विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥

प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते । विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणात् ॥

15 प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यामाणे च पावके । विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाऽप्रमाणात् ॥”

[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३९ ] इति ।

ननु अस्तु उपमानं प्रमाणम्, नतु प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं तदन्यतमस्वभावत्वात्तस्य;  
इत्यप्यनुपपन्नम्; तदन्यतमस्वभावत्वस्य तत्राऽसंभवात् । तथाहि-न तत्रैव प्रत्यक्षरूपं  
तत्, परोक्षे गवि इन्द्रियार्थसम्प्रयोगाभावेऽपि उत्पद्यमानत्वात् । नापि स्मरणमेवेदमि-

(१) विप्रकृष्टो गो । (२) सन्निकृष्ट-गवयनिष्ठ सादृश्यम् । (३) साधकतम करणम्-  
आ० टि० । (४) गवयात् । (५) गवि । (६) उद्भूतोऽयम्-आप्तव० पृ० ५३ । प्रमेयक० पृ० १८५ ।  
'तत्त्वज्ञ'-सम्मतौ टी० पृ० ५७५ । (७) उपमानस्य । (८) पुरुषेण । (९) स्मृतिवत्-आ० टि० ।  
(१०) उपमानस्य । (११) सादृश्य-आ० टि० । (१२) गवि । (१३) स्मरणप्रत्यक्षाभ्याम् ।  
(१४) विशिष्टविषयत्वेन । (१५) विशिष्टविषयत्वात् । (१६) पर्वतादौ-आ० टि० । (१७) गो ।  
'तस्माद् दृश्यते'-न्यायाव० टी० पृ० १९ । (१८) इति सादृश्यावधारणम्-आ० टि० । (१९) तयो  
गोगवययोरन्वितम् । 'तदाधित'-सत्त्वस० । व्याख्या-'यस्मादेव प्रत्यक्षे गवये न किञ्चिदुपमानस्य  
प्रमेयमस्ति तस्मात्समर्थमाणैव गौर्गवयसादृश्यविशिष्टा तद्विशिष्ट वा सादृश्यमुपमानस्य प्रमेयमिति । ननु  
गवये सादृश्य प्रत्यक्ष गृहीत गौ स्मर्यते किमन्यदुपमेयमत आह-प्रत्यक्षेणेति । तत्रैव दृष्टान्तमाह प्रत्यक्षे  
इति ।'-मी० श्लो० न्याय० पृ० ४४५ । (२०) 'विशिष्टस्यान्यत् सिद्धे'-प्रमेयक० पृ० ३४५ ।  
(२१) उद्भूता इमे-सत्त्वस० पृ० ४४५ । प्रमेयक० पृ० ३४५ । सम्मतौ टी० पृ० ५७६ । ज्ञाद्यौ  
द्वौ-स्या० र० पृ० ४९७ । ज्ञानतर्कमा० पृ० १० । (२२) प्रत्यक्षाद्यन्यतम् । (२३) उपमाने । (२४)  
“तद्विदमुपमानं न प्रत्यक्षम्, तिरोहितं गवि चक्षुःसन्निकर्षातिवर्तिनं जायमानत्वात् । न च स्मृतिः ;  
गोदुर्गन्तसमयेऽप्रतीतगवस्य तत्सादृश्यानुभवाभावात् ।”-प्रक० प० पृ० १११ ।

त्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षप्रतिपन्ने एव अर्थे स्मरणस्य आविर्भावात् । न च गोप्रत्यक्षकाले तत्रप्रत्यक्षेण गवयाप्रतिपत्तौ तैत्सादृश्यं प्रत्येतुं शक्यम् ।

“भूयोऽवयवसामान्ययोगो यद्यपि मन्यते । सादृश्यं तस्यैव (तु) ज्ञप्तिः गृहीते प्रैतियोगिनि ॥”

[ न्यायमं० पृ० १४६ ] इत्यभिधानात् ।

नाप्यनुमानरूपताऽस्य; लिङ्गादनुत्पत्तेः । अत्र हि लिङ्गम्—सादृश्यं परिकल्प्येत, 5  
परिदृश्यमानो गवयो वा? यदि सादृश्यम्; तर्हि गोगतम्, गवयगतं वा लिङ्गं स्यात्? न तावद् गोगतम्; गवयदर्शनात् प्राक् तस्य असिद्धत्वात् । नचाऽसिद्धस्य लिङ्गत्वम्; अतिप्रसङ्गात् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गाच्च, गोगतत्वेन हि सादृश्यं प्रमेयम् तदेव च लिङ्गमिति । गवयगतं तर्तर्हि लिङ्गमस्तु उक्तदोषद्वयासंभवादिति चेत्; न; अत्रापि 10  
व्यधिकरणासिद्धत्वप्रसङ्गेः । न च व्यधिकरणासिद्धस्य गमकत्वं कौककाण्योदिवत् ।

एतेन गवयस्यापि लिङ्गता प्रत्याख्याता; व्यधिकरणत्वाविशेषात् । उक्तञ्च—

“न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसंभवात् । प्रैक् प्रमेयस्य सादृश्यं धर्मत्वेन न गृह्यते ॥

(१) तुलना—“न च स्मरणमेवेद प्रमेयाधिक्यसम्भवात् । गवयेन हि सादृश्यं न पूर्वमवधारितम् ॥” न्यायमं० पृ० १४६ । (२) गोप्रत्यक्षेण । (३) गवयसादृश्यम् । (४) गवयसादृश्यस्य प्रतियोगी गवयः । (५) “ननु च ज्ञातसम्बन्धिता तुल्या, सा चात्र लक्षणम्, तत्र वान्यत्र वेति क्वेदमुपयुज्यते? वादमुपयुज्यते, एकदेशदर्शनादिति हि तत्र लक्षणम्, ज्ञातसम्बन्धस्येति विशेषणम् । अतो न गवयस्य सादृश्यं सद्गुणवगतेरेकदेश । किञ्च असकृद् दृष्टसम्बन्धो ह्यनुमानस्य हेतु असर्वातीत्यव्यावृत्तिसव्यपेक्षश्च, द्वयमत्र नास्तीति प्रमाणान्तरम् ॥” बृह० पृ० १०८ । प्रक० पं० पृ० १११ । शास्त्रदी० पृ० २८७ । (६) गोसादृश्यस्य । (७) साध्यम् । (८) सादृश्यम् । (९) साध्यं हि गविगतं सादृश्यं लिङ्गञ्च गवयगतं सादृश्यमिति व्यधिकरणासिद्ध—आ० टि० । (१०) ‘धवलः प्रासादं वाकस्य काण्योदिवत्’ इतिवत् । (११) गवयो हि वनवती सादृश्यञ्च गवि साध्यमिति व्यधिकरणासिद्धता । (१२) व्याख्या—“ये तु शाक्याः प्रमाणद्वयवादिनः साख्या वा प्रमाणत्रयवादिनोऽस्यानुमानान्तर्भावं मन्यन्ते तानु प्रत्याह न चेति । असम्भवमेव दर्शयति—प्रागिति । प्रमेयो गो तद्गतं तावत्सादृश्यं न लिङ्गं तस्य प्रागुपमानात्तद्धर्मत्वेनाऽग्रहणादिति । गवयगतमपि सादृश्यं गवि प्रमेये न पक्षधर्म इत्याह गवये इति । गोगतस्य च प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादपि न लिङ्गता, तदेव हि गोगतं प्रमेयमित्याह—प्रतिज्ञेति । सादृश्यविशिष्टो गवयोऽपि पक्षधर्मत्वाभावादेव न लिङ्गमित्याह गवये इति । ननु तत्सम्बन्धितामात्रमेव तद्धर्मत्वं न सद्योगसमवायिवेव, अस्ति गवयस्य गोसम्बन्धं तस्यासौ सद्गुणः, तत्र कथमपक्षधर्मत्वमत आह—सादृश्यमिति । भवतु कथञ्चित्पक्षधर्मता, न त्वन्वयोऽस्ति । नहि गवयगतं गोसादृश्यं गोगतेन गवयसादृश्येनान्वितं दृष्टम्, इदानीमेव गवयसादृश्यं गृह्यते । ननु युगपद् गवयं गच्छन् पश्यतोऽप्यद्राव्यद्वयं परस्परसद्गुणं येन यत्सद्गुणं तदपि तेन सद्गुणमिति शक्यमेवान्वयग्रहणं कर्तुम् अत उक्तं सर्वेणेति । सर्वं दृष्टं न तु सर्वेण गवयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यं गृह्यतवमन्वयो गृहीतो भवतीति । अस्ति चादुष्टसद्गुणद्वयस्याप्येवमेव गा दृष्ट्वा वने द्वितीयं गवयं पश्यतस्तदेव सादृश्यविशिष्टे प्रत्यय इत्याह—एकस्मिन्निति ॥” —मी० श्लो० न्यायप्र० पृ० ४४७ । (१३) गवयदर्शनात् प्राक्—आ० टि० ।

1 तस्य तन्नाप्तिः श्र०, व० । 2 प्रतियोगिनि व० । 3 परिकल्पत आ० । 4—प्रसंगाद् गोग—व० ।

5 न च तस्यानु—थ० । 6 न दृश्यते व० ।

गवये गृयमाणश्च न गवैर्धानुमापयम् । प्रतिज्ञार्थेऽंगताद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥  
 गवयभाष्यसम्बन्धात् गोलिङ्गत्वमुच्छति । तादृश्ये न च गौर्ग पूर्वं दृष्टं तदेव्यपि ॥  
 एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं परपतो पने । गादृश्येन तैर्ह्योस्मिन्तदेषोत्पत्ते मतिः ॥”

[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ४३-४६ ] इति ।

5 नाप्येतन् शीलदम् ; अधुनाऽनिदेशावाक्यस्य प्रतिपत्ताः तन्मंभयान् । नाप्यर्थावसिः ;  
 अन्यथानुपपद्यमानदृष्ट-धुतार्थानिपेक्षणात् । नाप्यभाष्यः ; प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्यनपेक्षणादिनि ।

अत्र प्रतिविधीयते । यथावदुक्तम्—‘अनेन सदृशो गौः’ इत्यादि, तदसमीक्षि-

तस्मिन्पुरस्सरम् ताभिधानम् ; तथाविधायाः प्रतितेरेयाऽमंभयान् । तथाहि—अधुनाति-  
 उपमानस्य तादृश्य- देशवाक्यो नागरकः कानने पर्यटन् अदृष्टपूर्वं गोमदृशं पशुं पश्यन्  
 10 प्रयतिशत पन्त- एवं बुद्धयते मर्षीति च—‘गवा सदृश एव कश्चित् पशुः’ इति, ननु  
 भंशप्रदर्शन- ‘अनेन सदृशो गौः’ इत्येवविधित्वात्प्रतिविधानं वा पश्यचित्तादानीम-  
 स्तीनि । अस्तु वा, तथापि अर्थे प्रत्यभिज्ञारूपत्वान्न प्रमाणान्तरत्वम् । ननु अनुभू-  
 तेऽर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रयच्छति दर्शनस्मरणनिवन्धनंत्यात्तस्थीः, न च पुरोर्त्तिगवयैव्यच्छिन्न-  
 मादृश्योपाधितया पूर्वं गोपिण्डोऽनुभूतः, गवयाग्रहणे तदवच्छिन्नप्रमादृश्यविशेषितस्य  
 15 गोपिण्डस्य प्रहीनुमशक्तेरिति, तदुच्यते ; यतः यस्य अनुभवाभावः—गवयावच्छेदस्य,

(१) ‘गवामनुमापयम्—मी० श्लो० । (२) व्यधिकरणत्वात्, सम्बन्धे हि गमको गम्य गमयति  
 —आ० टि० । (३) न च तदव्ययि गवयगर्ग सादृश्यं पूर्वं दृष्टं किन्तु गवयगर्गनवात्र एव सर्वस्यापि  
 प्रमानुसृष्टीयते, अननानधिगतापार्थाधिगन्तुत्वं प्रामाण्यबोधनमुरमानस्य ज्ञानिन्मा—आ० टि० । (४)  
 ‘सहैकस्मिन्—सम्पत्ति० टी० पृ० ५७७ । (५) उद्गा इम—प्रमेयक० पृ० १८७ । सम्पत्ति० टी० पृ० ५७७ ।  
 तुलना—‘त्रैहयानुपपत्तेरन च तस्यानुमानता । पशुपार्थानि नैवात्र कथञ्चिदवबन्धते ॥ ( प्राग्गोर्ग  
 हि सादृश्ये न ) धर्मस्वत गृह्णते । गवये गृह्यमाणश्च न गवामनुमापयम् ॥ प्रतिज्ञार्थेकदेवात्वाद् गोपतस्य  
 न लिङ्गता । गवयदचाप्यसम्बन्धात् गोलिङ्गत्वमुच्छति ॥ —तत्त्वसं० भा० १५३९-४१ । (६) “धुना-  
 निदेशावाक्यत्वप्र चातीवोपवृत्त्येते । येऽपि ह्यधुनादवाक्यास्तेषामपि भवत्ययम् ॥”—मी० श्लो० उपमान०  
 श्लो० १० । (७) तुलना—“अपयानुपपद्यमानदृष्टधुतार्थानिपेक्षत्वात्पार्थावसिः । प्रमाणप्रमेयनिवृत्त्य-  
 नपक्षणात्प्राभावाः ॥”—तत्त्वसं० पृ० पृ० ४५० । (८) पृ० ४८९ पृ० १६ । (९) तुलना—“एवविधप्रतीत्य-  
 नावात् । प्रसिद्धेन हि सादृश्यप्रसिद्धस्य गम्यते । गवा गवयपिण्डस्य न तु मुक्तो विपर्ययः ॥ तथाहि  
 —अधुनातिदेशावो नागरक कानने परिभूमद्रदृष्टपूर्वं गोसदृश प्राणिनमुपलभमान एव बुद्धयते वृत्ति  
 च, अहो नु गवा सदृश एव बन्धन प्राणीति । नत्वनेन सदृशो गौरिति ज्ञानमभिधानं वा तदानीं वस्यचिद-  
 स्तीनि अत प्रतितेरेवाभावात् किं प्रमाणविल्लया ।”—न्यायम० पृ० १४६ । (१०) तुलना—“एवत्वसा-  
 दृश्यप्रतीत्योः सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानाननिवृत्त्यात् ॥”—प्रमेयक० पृ० ३४५ । न्यायाव० टी०  
 पृ० १९ । स्या० २० पृ० ४९७ । प्रमाणमी० पृ० ३५ । जैननकंभा० पृ० १० । (११) प्रत्यभिज्ञायाः ।  
 (१२) गवयनिष्ठसादृश्यविशेषणविसिष्टतया । (१३) इदं सादृश्यं गवयनिष्ठमित्याकारस्य ।

1 सहैकस्मिन्—व० । 2 शब्दम् व० । 3-तिरन्यथापत्ते अन्यथानुप-आ० । 4 प्रमाण प्रमेय-  
 व०, श० । 5 नागरिक व० । 6 पश्यन्मव व० । 7-नत्वात् न च व०, आ० ।

सादृश्यस्य वा ? प्रथमपक्षे 'स एवायम्' इत्यादि प्रतीतिरपि प्रत्यभिज्ञानता न स्यात् उत्तरपर्यायावच्छेदस्य पूर्वमननुभवात् । अथार्थं अवच्छेदकस्य उत्तरपर्यायस्य पूर्वमननुभवेऽपि अवच्छेदस्य अन्वितद्रव्यस्य अनुभवात् प्रत्यभिज्ञानता; तदन्यत्रापि समानम्—अवच्छेदकस्य गवयस्य तदानधिगमेऽपि सादृश्यस्य अवच्छेदस्य अधिगमात् । कथमप्रतीतस्य गवयस्य सादृश्यविशेषणतेति चेत् ? कदा तदप्रतीतिः—गोदर्शनसमये, उत्तरकालं वा ? प्रथमविकल्पे उत्तरपर्यायस्यापि द्रव्यविशेषणत्वाभावप्रसङ्गः, पूर्वपर्यायप्रतीतिसमये तस्याप्यप्रतीतिः । अथ उत्तरप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य तस्य तद्विशेषणता; तदेतदन्यत्राप्यविशिष्टम् । तत्र गवयावच्छेदस्य अनुभवाभावात् ।

नापि सादृश्यस्य; तद्धि असन्निहितत्वान्नानुभूयते, प्रतिबन्धकसद्भावाद्वा ? न तावदसन्निहितत्वात्, सन्निहितपदार्थवृत्तित्वेन असन्निहितत्वाऽसिद्धेः । नापि प्रतिबन्धकसद्भावात् तस्यानुपलम्भः; गोपिण्डोपलम्भवत् सादृश्योपलम्भेऽपि प्रतिबन्धकस्य कस्यचिदप्यनुपलम्भात् । ननु उभयवृत्तित्वात् सादृश्यस्य कथमेकपिण्डोपलम्भसमये प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणोपलम्भः स्यात् ? इत्यप्यसुन्दरम्; एकैकत्र अर्थस्य समाप्ततया प्रतियोगिग्रहणमन्तरेणापि उपलम्भोपपत्तेः । कथमन्यथेदं शोभेत—

“सामान्यत्र सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि तत्तस्मादुपलभ्यते ॥”

[ मो० श्लो० उपमान० श्लो० ३५ ] इति ।

‘इदमनेन सदृशम्’ इति सादृश्यव्यवहार एव हि प्रतियोगिग्रहणापेक्षो न पुनः तत्त्व-

(१) उत्तरपर्यायनिष्ठमिदमेकत्वमित्याकारस्य । (२) एकत्वप्रत्यभिज्ञाने । मीमांसकाभिमतोपमानस्य प्रचास्तनादभाष्यादिषु आगमस्मरणयोरप्यन्तर्भावः प्रादर्शितः, तथाहि—“आत्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादानादुपमानमाप्तवचनमेव ।”—प्रश० भा० पृ० ५७६ । “किञ्च स्मृतिस्वभावत्वाद्वा न प्रमाणमुपमानं स्मृत्यन्तरवत् । एव तु युज्यते तत्र गोरूपावयवै सह । गवयावयवा केचित्तुल्यप्रत्ययहेतवः ॥ तत्रास्य गवये दृष्टे स्मृति समुपजायते ।”—तत्त्वसं० पृ० ४४८ । “भवतु चंपा बुद्धिरनेन सदृशो गौ तथापि स्मृतिवत्प्रमाणफलम् ।”—न्यायसं० पृ० १४६ । ‘तस्माद् गवयग्रहणे सति असन्निहितगोपिण्डावलम्बिनी सादृश्यप्रतीति सादृशदर्शनाभिव्यक्तसंस्कारजन्या स्मृतिरेव न प्रमाणात्तरम् ।’—प्रश० कन्द० पृ० २२१ । “सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयं त्रय—पूर्वं तावत् गोगवययोर्विपाणित्वादिसादृश्य गवि प्रत्यक्षत प्रतिपद्यते, पश्चाद् गवयदर्शनानन्तरं यदेतद् विपाणित्वादिसादृश्य पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तद् गव्यप्युपलब्धम्” इति स्मरति तदनन्तरं विपाणित्वादिसादृश्यप्रतिसम्पानं जायते ‘अनेन पिण्डेन सदृशो गौ’ इति । एवञ्च स्मार्त्तमेतद् ज्ञानं कथं प्रमाणान्तरं भवेत् ?—सम्मतं० टी० पृ० ५८२ । (३) सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेऽपि । (४) स एवायमिति एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्थले । (५) उत्तरपर्यायस्यापि । (६) उत्तरपर्यायस्य—आ० टि० । (७) अन्वितद्रव्यस्थानीयमत्र गोगवयगत सादृश्यं विवक्षितम्, अत्रापि गवयप्रत्यक्षेण प्रतीतस्य सादृश्यस्य गोविशेषणत्वोपपत्तेरिति तात्पर्यम्—आ० टि० । (८) सादृश्यस्य । (९) ‘तस्मात्तदुपपद्यते’—मी० श्लो० । ‘तस्मात्तदुपलभ्यते’—न्यायसं० पृ० १४७ । उद्धृतोऽयम्—न्यायसं० पृ० १४७ । प्रमेयक० पृ० ३४६ । प्रश० कन्द० पृ० २२१ । तुलना—“सामान्यवद्धि सादृश्यप्रत्येव च समाप्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते ॥”—तत्त्वसं० पृ० ४४५ ।

रूपप्रतिपत्तिः । प्रतिपत्ता हि गवयमुपलभ्य पूर्वानुभूतं गोपिण्डसंस्थानविशेषम् अवहित्वेतसा परिभाष्य तयोः सादृश्यव्यवहारं प्रवर्त्तयति सङ्कलयति चैवम्—‘मया पूर्वमेव गौः अनेन प्राणिना तुल्यसंस्थानः प्रतिपत्ताः, ततस्तां तुल्यसंस्थानतां स्मृत्या सादृश्यं व्यवहरामि’ इति । ततो र्यः सङ्कलनात्मकः प्रत्ययः स प्रत्यभिज्ञानमेव यथा ‘स एवायम्’ इति प्रत्ययः, सङ्कलनात्मकश्च ‘अनेन सदृशो गौः’ इति प्रत्यय इति । सङ्कलनं हि पूर्वोत्तरसमयसमाधिगतयोः वस्तुरूपयोः एकधर्मयोगितया सदृशादिधर्मयोगितया वा प्रत्यवमर्शनम् । तदात्मकत्वञ्च अत्रास्ति, गोगवययोः सादृशधर्मान्वितत्वेन प्रत्यवमर्शसम्भवात् ।

ननु चास्य प्रत्यभिज्ञानत्वे स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वप्रसङ्गः तत्सामग्रीत एवास्य आविर्भावात्, न चात्र सास्ति, गवयप्रत्यक्षादिसामग्रीमात्रात्तदुत्पत्तेः । न च विलक्षणसामग्रीप्रभवं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं युक्तमतिप्रसङ्गात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; अत्रापि तत्सामग्र्या विद्यमानत्वात् । तथाहि—स्मरणापेक्षं गवयप्रत्यक्षम् एवंविधं ज्ञानमुपजनयति, अनपेक्षं वा ? तत्र अनपेक्षस्य जनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्यापि एतत् स्यात् । अथ स्मरणापेक्षं जनकत्वम्; तत्रापि किं स्मरणमात्रापेक्षम्, गोपिण्डस्मरणापेक्षं वा तैत्तज्जनयेत् ? यदि स्मरणमात्रापेक्षम्; तदा अश्वादिस्मरणेऽपि तत् तज्जनयेत् । अथ गोपिण्डस्मरणापेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डस्मृतिमात्रापेक्षम्, सादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षं वा ? प्रथमपक्षे महिष्यादिस्मरणेऽपि तस्य तज्जनकत्वप्रसङ्गः, सादृश्याप्रतिपत्तेः उभयत्राप्यविशेषात् । गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे तु सिद्धः पूर्वमेव सादृश्यानुभवं; तदसिद्धौ संस्कारविशेषाभावतः तैत्स्मरणस्यैवाऽनुपपत्तेः । पूर्वं तदननुभवे च

(१) अनेन सदृशो गौरिति प्रत्यय प्रत्यभिज्ञानात्मक सङ्कलनात्मकत्वात् । (२) स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाने—आ० टि० । (३) तुलना—‘तत्र किं स्मरणापेक्षमिन्द्रियमेव ज्ञानं जनयति अनपेक्ष वेति ? अनपेक्षस्य ज्ञानजनकत्वे अप्रसिद्धगोपिण्डस्य स्मरणेऽप्यतत् स्यात् । अथ पिण्डमात्रस्मरणे, अस्वादिपिण्डस्मरणे स्यात् । अथ गवयसादृश्यावच्छिन्नस्मरणापेक्षं जनकम्, तत्रापि यदि स्मरणमात्रमपेक्षेत, गजादिस्मरणेऽपि स्यात् । अथ गोपिण्डस्मरणपेक्षम्, तत्रापि किं गोपिण्डमात्रस्मरणमपेक्षते, गवयसादृश्यावच्छिन्न गोपिण्डस्मरणं वेति ? गोपिण्डमात्रस्मरणे अस्वादिपिण्डस्मरणेऽपि स्यात् । गवयादिसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डस्मरणापेक्षित्वे पूर्वमेवानुभवो वाच्य, तदन्तरेण सस्कारानुत्पत्ते स्मरणस्यैवाभावात् । अतः सविकल्पज्ञानाभावेऽपि गवयसादृश्यावच्छिन्ने गोपिण्डे पूर्वमनुभवोऽभ्युपगन्तव्य । यन हि सस्कारोत्पत्तौ स्मरणानन्तरीयया गवा सदृशोऽयं गवय इति ज्ञानं स्यात् । पूर्वं च गवयसादृश्यावच्छिन्नगोपिण्डेऽनुभवप्रसिद्धौ गवयपोलम्भात् ‘मदीया गौरनेन सदृशो’ इति कथमेतत् स्मरणं न स्यात् ? तथा पुष्टो भवीति एतत्सदृशी मयोपलब्धा न तु प्रमाणान्तरं निर्दिशति ।’—प्रश० व्यो० पृ० ५८८ । (४) अनेन सदृशो गौरिति—आ० टि० । (५) गवयप्रत्यक्षम् । (६) गवयप्रत्यक्षस्य । (७) यथा हि महिष्यादिस्मरणे न गोसादृश्यं प्रतीयते तथा गोपिण्डस्य स्मरणमात्रेऽपि न सादृश्यस्य प्रतिपत्तिः । (८) सादृश्यस्मरणस्यैव ।

1 सत्त्वयति व० । † एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ० । ३ एकधर्मयोगितया वा प्र- व० । ३-विद्यमान-व०, -विधयितान-थ० । 4-नापेक्षत्वे व० ।

गोपिण्डसस्थानविशेषविषय निपुणनिरूपणमनर्थकमेव स्यात् । पिण्डमात्रस्मरणेऽपि सन्निकृष्टसादृश्यदर्शनबलेन विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतेरुत्पादप्रसङ्गात् । न च पिण्डमात्रामनुस्मरत सस्थानविशेषमनिरूपयत सादृश्यप्रतीतिरूपयते । अतो मन्यामहे—गवयसादृश्याच्छिन्नगोपिण्डानुभवेभावितेयं स्मृतिरिति । तथाविधस्मृतिसहायश्च गवयप्रत्यक्षम् 'अनेन सदृशो गौ' इति ज्ञानमुत्पादयतीति सिद्धमस्य स्मृतिप्रत्यक्षप्रभवत्वम् । अत 5 नोपमान प्रत्यभिज्ञानाद् भिद्यते, अभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, यदाभिन्नसामग्रीप्रभव तदाभिन्नम् यथा अविनाभावलक्षणलक्षितहेतुत समुपनायमान कार्यस्वभावाद्यनुमानम्, स्मृतिप्रत्यक्षलक्षणाऽभिन्नसामग्रीप्रभवश्च प्रत्यभिज्ञानोपमानलक्षण ज्ञानद्वयमिति ।

यदप्युक्तम्—विप्रकृष्टसादृश्यप्रतीतौ मन्निर्कृष्ट सादृश्य करणम्' इत्यादि, तत्र किमिदं सन्निकृष्टसादृश्यस्य करणत्वम्—तदनुमापकत्वम्, तत्स्मारकत्वम्, तदुपमापकत्व 10 वा ? प्रथमपक्षे पूर्वापरविरोध—पूर्वं तस्य तदनुमापकत्वप्रतिषेधात् इह चाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु सन्निकृष्टसादृश्यस्य विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिहेतुत्वात् उपमानहेतुत्वानुपपत्ति, स्मृते उपमानत्वाऽसभवात् । तैस्स्मृतिमहाय तु तैर् तदेद्वर्तु स्यात् न केवलम्, तथा च 'दृश्यमानाद् यदन्यत्र' इत्यादि दुर्घटम् । एतेन तृतीयपक्षोऽपि प्रत्याख्यात, केवलस्य तत्सादृश्यस्य तदुपमापकत्वासंभवात् । न च सादृश्यस्य ज्ञानजनकत्व 15 सभवति, अर्थे ज्ञानजनकत्वस्य अप्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । अत सदृशस्तुविषयाभ्या दर्शनस्मरणाभ्या गो गवययो सादृश्यपरामर्शि प्रत्यभिज्ञानाऽपरपर्यायमुपमान जन्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम् । तस्मात् उपमानस्य प्रत्यभिज्ञास्वभावत्वान्न प्रमाणान्तरत्व युक्तम् । अनुमानस्वभावत्वाद्वा । कथमस्यानुमानत्वमिति चेत् ? उच्यते स्मर्यमाणो गोपिण्डो विवक्षितगवयावच्छिन्नसारूप्यमान्, तेन अवच्छिद्यमानत्वात्, यद् यदेवम् तत्तत्तथा 20

(१) प्रतीति । (२) पृ० ४९० प० १ । (३) गवयगतसादृश्यस्य । (४) विप्रकृष्ट स्मृति-आ० टि० । (५) सन्निकृष्टसादृश्यम्-आ० टि० । (६) उपमान-आ० टि० । (७) विप्रकृष्टसादृश्यस्मृतिनिरपेक्षस्य । (८) न प्रमाणान्तरत्वं युक्तमिति सम्बन्ध । तुङ्गा- तेषां तदगो चरत्त्वोऽपि भवत्यवानुमेव हि । त्रिरूपलिङ्गजन्यत्वमस्य चैव प्रतीयते ॥ यो गवा सदृशोऽसौ हि गवयश्चु तिगोचर । सकेतप्रहणावस्थो बुद्धिस्थो गवयो यथा ॥ गोसदृशत्व हेतु, गवय्युतिगोचरत्वं साध्यधम संकेतप्रहणकाल विवक्षितप्रतिभासी बुद्धिस्थो गवयो दृष्टात दृश्यमानो गवयो धर्मी ॥ -तत्रयस० प० पृ० ४५३ ५४ । तथाप्यनुमानजन्यत्वान्न प्रमाणांतरमाविर्गति । स्मर्यमाणो गौ धर्मी एतत्सदृश इति साध्यो धम एतदवयवसामाययोगित्वात् सन्निकृष्टद्वितीयगवयपिण्डवत् । तदसन्निधाने सामान्यन व्याप्तिदशयितव्या । यत्र यदवयवसामान्ययोगित्वं तत्र तत्सादृश्यं यदा यमयोरिति । -न्यायम० पृ० १४८ । 'यदा च प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नपि गवाश्वादी भूयोऽवयवसामाययोगं तद्विषयं वा व्यामूढ सदृशासदृशव्यवहारं न प्रवर्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनात् प्रकृत्यसदभावादानु मानप्रमाणात् समस्त्येव । तथाहि—गवाश्वादी विषाणाद्यवयवसामाययोगं तद्विषयो वा प्रागुपलब्ध इदानीं स्मर्यमाण इति नासिद्धता हेतो 'समिति० टी० पृ० ५८३ ।

यथा सन्निहितो गवयपिण्डः, तथा चायम्, तस्मात्तथेति । यदि वा, अविलक्षणविषाणा-  
शयवययोगित्वादिति हेतुः, साध्य-दृष्टान्तौ तौ एव ।

ननु माभूत् मीमांसकाभ्युपगतमुपमानं प्रत्यभिज्ञानादेः प्रमाणान्तरम्, नैयायिकै-

रभ्युपगतं तु भविष्यति । ते हि "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुप-

5 सजासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञान-  
फलम् उपमानस्य  
पृथक् प्रामाण्यवर्ण-  
यतो नैयायिकस्य  
पूर्वपक्ष -

मानम्" [ न्यायसू० १।१।६ ] इत्युपमानलक्षणं वर्णयन्ति । तत्र

प्रसिद्धञ्च तत्साधर्म्यञ्च, प्रसिद्धेन वा गवा साधर्म्यं गवयस्य, प्रसिद्धं

वा साधर्म्यं यस्य स प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयः तस्मात्, तमाश्रित्य

साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य साधनं बोधनम् उपमानम् । श्रुताति-

देशवाक्यस्य हि प्रमालुः अप्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानं यद् इन्द्रियजं

10 संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलं तदुपमानं प्रतिपत्तव्यम् । तद्धि इन्द्रियजनितमपि धूम-

ज्ञानमिव तद्गोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नाग-

रकः कानने परिभ्रमन् गोसदृशप्राणिदर्शनानन्तरम् आटविकवचः 'यादृशो गौस्तादृशो

(१) "प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति । यथा गौरेवं गवय इति । किं

पुनरत्र उपमानेन त्रियते ? यदा हत्वय गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते, तदा प्रत्यक्षतस्मयं प्रतिपद्यते इति

समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थं इत्याह । यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम्

इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयस्य सज्जेति संज्ञामञ्जिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति । यथा मुद्गस्तथा

मुद्गपण्णो यथा मापस्तथा मापपण्णो इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तान्-

मोपधो भेषज्यायाहुरिति ।" न्यायभा० १।१।६ । (२) "प्रसिद्धसाधर्म्यादिति-प्रसिद्ध साधर्म्यं यस्य,

प्रसिद्धेन वा साधर्म्यं यस्य सोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यो गवयस्तस्मात् साध्यसाधनमिति समाख्यासम्बन्धप्रति-

पत्तिरुपमानार्थं । किमुक्तम्भवति ? आगमाहितसम्कारस्मृत्यपेक्ष सारूप्यज्ञानमुपमानम् । यदा ह्यनेन

श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति, प्रसिद्धे गोगवयसाधर्म्यं पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवति अयं

गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्ति ।" न्यायवा० पृ० ५७ । "प्रसिद्धसाधर्म्यात् इत्यत्र प्रसिद्धिरुभयी

श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च । श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति । प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽ-

यमीदृश पिण्ड इति । तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिहेतु ।"

तस्मादागमप्रत्यक्षाभ्यामन्यदेवेदमागमस्मृतिरहित सादृश्यज्ञानमुपमानाख्य प्रमाणमास्थेयम् ।" न्यायवा०

ता० पृ० १९८ । (३) "अद्यतनास्तु व्याचक्षते-श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुरसिद्धे पिण्डे प्रसिद्ध-

पिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं सजासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम् । तद्वीन्द्रियजनितमपि धूमज्ञानमिव

तद्गोचरप्रमेयप्रमितिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरम् । श्रुतातिदेशवाक्यो हि नागरकः कानने परिभ्रमन् गोस-

दृश प्राणिमवगच्छति, ततो धनेचरपुरुषकथितं यथा गौस्तथा गवय इति वचनमनुस्मरति, स्मृत्वा

च प्रतिपद्यते अयं गवयसदृशवाच्य इति । तदेतत्सजासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानं तज्जन्यमित्युपमानफलमित्युच्यते ।"

न्यायभा० पृ० १४२ । न्यायकलि० पृ० ३ । "सम्बन्धस्य परिच्छेदे सजाया मज्जिना सह । प्रत्यक्षादेर-

साध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥" न्यायकुसु० ३।१० । -"प्राणीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम् । सादृ-

श्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम् ॥ वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिव्यापार उच्यते । गवयादिपदानां

तु शक्तिधीरपमाफलम् ॥" मुक्ता० का० ७९-८० । तर्कसं० उपमानपरि० । (४) सारूप्यज्ञानम् ।

(५) इन्द्रियागोचर ।

गवय' इति स्मृत्या प्रतिपद्यते 'अयं स गवयश्चद्वान्य' इति । तदेतत् सज्ञासञ्चि-  
सम्बन्धज्ञान प्रत्यक्षाद्यजन्यत्वात् उपमानफलम् । नहि प्रत्यक्षस्य तत्फलम्, वनस्य  
गवयाकारमात्रपरिच्छेदफलत्वात्तस्य । नाप्यनुमानस्य, पञ्चधर्म अन्वय व्यतिरेकादि-  
सामग्रीमन्तरेणापि सज्ञासञ्चिसम्बन्धप्रतिपत्तेरुत्पादप्रतीते । नाप्यागमस्य तत्फलम्,  
न खलु नागरक प्रतिपत्ता आरण्यकवाक्यादेव अरण्यस्थमाणि गवयश्चद्वान्यतया 5  
प्रतिपद्यते, किन्तु सारूप्य प्रसिद्धेन गवा तस्य पश्यन् । नहि गवयादर्शने 'अयं स  
गवयश्चद्वान्य' इति सज्ञासञ्चिसम्बन्धप्रतीतिर्युक्ता अतिप्रसङ्गात् । तदर्थे तु तदेव  
'श्रुतातिदेशवाक्यस्य हि' इत्याद्युक्तप्रकारेण तत्प्रतीतिफलमुपमानमुच्यते इति ।

वृद्धनैयायिकास्तु प्रसिद्धेतरयो सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेव उपमान  
वर्णयन्ति । गवयार्थी हि नागरक अनवगतगवयस्वरूप तदभिज्ञमारण्यक पृच्छति 10  
'कीदृशो गवय' इति ? स त प्रत्याह—'यादृशो गौ तादृशो गवय' इति । तदेतद्वा-  
क्यम् अप्रसिद्धस्य गवयस्य प्रसिद्धेन गवा सारूप्यमभिदधत् तद्द्वारकम् अप्रसिद्धस्य पशो  
गवयसज्ञाभिधेयत्व ज्ञापयति इत्युपमानमुच्यते इति ॥ छ ॥

अत्रोच्यते । यत्तादृग्भिनवनैयायिकैरभिहितम्—'श्रुतातिदेशवाक्यस्य' इत्यादि,  
तत्र किं साक्षात् सज्ञासञ्चिसम्बन्धप्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता उच्येत, 15  
तत्रनिविधनपुरस्सरम् उपमानस्य सादृश्य परम्परया वा ? प्रथमपक्षे न भीमासकोपवर्णितोपमानादस्य कश्चि-  
प्रलभितान् एवान्त द्विशेष, अतस्तत्पक्षोक्तदूषणगणप्रसङ्गोऽत्राप्यनिवारितप्रसर प्रति  
मौलिसम्बन्धम्— पत्तन्य । न खलु भवत्कल्पितम् अप्रसिद्धपिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्य-  
ज्ञानमिन्द्रियप्रभव साक्षात् तैत्प्रतिपत्तोरङ्ग भवितुमर्हति । तद्धि केवल तदङ्ग भवेत्,  
सज्ञासञ्चिसम्बन्धस्मृतिसहाय वा ? यदि केवलम्, तदा अश्रुतातिदेशवाक्यस्यापि दृष्टगो 20

(१) प्रत्यक्ष तावद्वैतद्विषय न कृतश्रमम् । वनस्यगवयाकारपरिच्छेदफल हि तत् ॥ अनुमान  
पुनर्नात्र गङ्गामप्यधिरोहति । क्व लिङ्गलिङ्गसम्बन्ध क्व सज्ञासञ्चितामिति ॥ आगमादपि तत्सिद्धि  
वनचरभाषितात् । तत्काल सञ्चिनो नास्ति गवयस्य हि दर्शनम् ॥ —'वायम० प० १४२ । सेष न  
तावद्वाक्यमात्रफलम् अनुपलब्धपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षफलम् अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् ।  
नापि समाहारफलम् वाक्यप्रत्यक्षयोर्भिन्नकालत्वात् । वाक्यतदर्थयो स्मृतिद्वारोपनीतावपि गवयपिण्ड  
सम्बन्धनापीन्द्रियण तद्गतसादृश्यानुपलम्भे समयपरिच्छेदासिद्ध । —'वायम० प० ३१० । (२)  
गवयस्य । (३) अत्र वृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते—सज्ञासञ्चिसम्बन्धप्रतीतिफल प्रसि  
द्धेतरयो सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम् । गवयार्थी हि नागरको'नवगतगवयस्वरूप तदभि  
ज्ञमारण्यक' पृच्छति कीदृग्गवय इति स तमाह यादृ'गो गौस्तादृशो गवय इति । तदेतद्वाक्यमप्रसिद्धस्य  
प्रसिद्धेन गवा सादृश्यमभिदधत् तद्द्वारकमप्रसिद्धस्य गवयसज्ञाभिधेयत्व ज्ञापयतीत्युपमानमुच्यते । —  
'वायम० प० १४१ । (४) प० ४९६ प० ८ । (५) सज्ञासञ्चिसम्बन्ध ।

1-सदृश्य व० । 2-स्य प्राणिनं व० । 3-वाक्यो हि आ० व० । 4 अतिद्वय, आ० ।  
5 अत्र प्रतिविधोपपत्ते व०, थ० । 6 अतिद्व-व० । 7 सज्ञासम्बन्ध-आ० ।



नागरकस्य अटव्या गवय पश्यत प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञान तत्सम्बन्धप्रतिपत्तिं विद-  
ध्यात् । अथ तैद्वाक्यश्रवणसहायस्यैवास्यै तत्प्रतिपत्तिचनेने सामर्थ्यं न केवलस्य, तेना  
यमदोष, तर्हि श्रुतविस्मृतातिदेशवाक्यस्यापि प्रतिपत्तु तत् तत्प्रतिपत्तिं विदध्यात् ।  
अथ तैत्स्मृतिसहाय सत् तत् तत्प्रतिपत्तोरङ्गम्, तर्हि प्रत्यभिज्ञानप्रसादादेव साक्षात्  
5 तत्प्रतिपत्तिरङ्गीकृता स्यात्, तस्यैव गोगवययो सादृश्यपरामर्शद्वारेण सज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्ध  
प्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्ते । तत्स्मृतिसहायेन हि गवयप्रत्यक्षेण उपलब्धोपलभ्यमानयो  
गोगवययो सारूप्यपरामर्शप्रत्यभिज्ञारय नान जन्यते अन्यैतत्स्मृतिपरामर्शयोगात् ।  
नहि गवयप्रत्यक्ष गोस्मरणमुभय वा तत्परामर्शु समर्थमित्युक्तं मीमांसकोपकल्पितोपमान  
विचारावसरे । तेन च तत्परामर्शं कुर्यता सज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिर्विधीयते इति ।

1) एतेन 'परम्परया तत्प्रतिपत्त्यङ्गस्य उपमानता' इत्यपि प्रत्युक्तम्, साक्षात् तत्सम्बन्ध  
प्रतिपत्त्यङ्गप्रत्यभिज्ञानचनकत्वेन प्रसिद्धसारूप्यज्ञानादेरपि उपचारेण उपमानताभ्यु  
पगमे सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात् । चक्षुरादिना अतिप्रसङ्गाच्च, तस्यापि परम्परया तज्जनकत्व  
सम्भवात् । तत 'तद्धि इन्द्रियननितमपि' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, प्रत्यभिज्ञानस्यैव इन्द्रि  
यागोचरसज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिप्रसाधनात् प्रमाणान्तरत्वोपपत्ते ।

2) यदप्युक्तम्—'नाप्यागमस्य तत्फलम्' इत्यादि तत्र सिद्धसाधनमेव, तत्सम्बन्ध-  
ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानफलत्वात् । किञ्च, शब्दादनुत्पद्यमानत्वाद्वास्य आगमाऽफलत्वम्,  
तत्प्रतीताबुपायस्य अपरस्योपदेशात्, वाच्यसविचर्यपेक्षणाद्वा ? तत्राप्यपत्ते किं सामान्य  
तोऽतिदेशवाक्यात् सज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानानुपत्ति, विशेषतो वा ? यदि सामान्यत,  
तदा 'अयममौ गवय यस्य मया पूर्वं सत्ता श्रुता' इत्येवमाकारा प्रतिपत्तिरतिदुर्घटा स्यात्,

(१) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानस्य । (२) अतिदेशवाक्य । (३) प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानम् ।  
(४) गवयप्रत्यक्षान-आ० टि० । (५) प० ४९४ प० १२ । (६) प्रत्यभिज्ञानम् । (७) साक्षात्सम्बन्ध-  
प्रबोधकारण यत् प्रत्यभिज्ञान तस्य जनकत्वेन कारण कार्योपचारादित्यर्थ । (८) प० ४९६ प० १० ।  
(९) प० ४९७ प० ४ । (१०) तलना- यादगो गोस्तादगो गवय इति अतातिदेशवाक्यस्य वन गवय  
मुपलभमानस्याय गवय इति प्रतीतिरपमानफलमुच्यते । तत्र तावद् गोसङ्गो गवय इति प्रथमावगति  
पुरुषवाक्यमात्रप्रभवा नोपमान भवति । यदपि वनगतस्य गवय तदगते च गोसादस्य ज्ञान तदपि  
प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षम् । या त्वेनस्य गवयगत्याच्यतावगति सापि गवयगत्याच्यतावगतिमानिकी । यस्य  
गत्वस्य यत्र प्रयोग तस्य तद्वाच्यनया सम्बन्धनियमो वगत । वन च सञ्ज्ञानमुपलभ्यतस्यैव सा मया  
सञ्ज्ञाप्रवृत्तेति तज्ज्ञान स्मरणमेवेति नोपमानस्यावकाशः । प्रक० प० पृ० ११२ । प्र० प० २२१  
२२ । 'तया गोसङ्गो गवय इति सङ्गतकाले गोसदग-गवयाभिधानयो वाच्यवाक्यसम्बन्ध प्रतिपद्य  
पुनर्गवयगत्याच्यतावगतिप्रतिपत्तिं प्रत्यभिज्ञति किन्प्यते प्रमेयक० प० ३४७ । स्या० २० प० ४९८ ।  
(११) न निराकारप्रतावद्विस्तृतीमुपजायते । तदुत्पादनपर्यन्तं शब्दव्यापारं प्यते ॥ न चाली  
निवह यत्र वाच्यमवित्यपेक्षणात् । गत्वेन तदनिर्वाहान् स्वकाय कृत भवेत् ॥ न्यायम० पृ० १४४ ।

1 तद्वाक्यात् शब्द-व० । २-यत्तत्प्रति-य० । 3-यत्तत्प्रति-व० । 4-जनकमपि व० ।

5-तिरितिदुष-व० ।

अतिदेशवाक्योच्चारणवैयर्थ्यञ्च । यत् यत्प्रतिपत्त्यर्थिनः तद्विषयां प्रतिपत्तिं मनागपि नोत्पादयति न तत्तं प्रति प्रेक्षावद्भिः प्रयुज्यते यथा जलप्रतिपत्त्यर्थिनोऽनलवाक्यम्, नोत्पादयति च गवयप्रतिपत्त्यर्थिनः तत्प्रतिपत्तिं मनागपि अतिदेशवाक्यमिति । अथ विशेषतः; तदा आगमप्रमाणाय दत्तो जलाञ्जलिः, तस्य प्रत्यक्षवत् देशकालाकार- विशेषतः क्वचिदपि विषये विज्ञानजनकत्वासंभवात्, सामान्यत एवागमात् सर्वत्र संवित्तिसंभवात् ।

अथ तैत्प्रतीत्युपायस्य अपरस्योपदेशान्नास्य आगमफलत्वम्, यत्र हि शब्दप्रत्य- यादेव अर्थतथात्वम् उपायान्तरनिरपेक्षमवधार्यते स आगमः, यत्र तु पुरुषः अर्थ- प्रतीतौ उपायान्तरमपरमुपदिशति तत्र तत् एवोपायात् प्रसिद्धसाधर्म्यादिलक्षणात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धाद्यवधारणम्, उपायमात्रावगम एव तु शब्दव्यापार इति; तदसाम्प्रतम्; शब्दव्यापारप्रभवस्याप्यस्य एतावता विशेषेण यद्यागमात् प्रमाणान्तरत्वमिष्यते, तदा प्रमाणानामानन्त्यप्रसङ्गात् नैयायिकस्य 'यैत्वारि प्रमाणानि' इति संख्याव्याघातः स्यात् । तैथाहि—'यः सिंहासनाधिरूढः स राजा, पयोऽम्बुभेदी हंसः, पट्पादैः मधुपः,

(१) गवयप्रतिपत्त्यर्थिनोऽतिदेशवाक्योच्चारण व्यर्थम् तत्प्रतिपत्त्यजनकत्वात् । (२) "ननु

शब्दस्वभावत्वादस्याप्तोपदेशः शब्दः इत्यनेन गतायंत्वान्नेदं प्रमाणान्तरं भवेत् . . . . . उच्यते—यत्र शब्दप्रत्ययादेव तत्प्रणेतुपुरुषप्रत्ययादेव वा अर्थतथात्वमुपायान्तरानपेक्षमवगम्यते स आगम एव ततस्तदर्थप्रतीतेः । यत्र तु पुरुषः प्रतीत्युपायमपरमुपदिशति तत्र तत् एवोपायात्तदर्थविधारणम् । उपायमात्रावगमे तु शब्दव्यापारः, यथा परार्थानुमाने अग्निमानय पर्वतो धूमवत्त्वान्महानसर्वदिति । अत्र हि न पुरुषोपदेशविश्वासादेव शैलस्य कृशानुमत्ता प्रतिपत्ता निमित्तान्तरनिरपेक्ष प्रतिपद्यते अपि तु तदवबोधकधूमस्त्वलङ्गसामर्थ्यादेव । तदिह यद्याटविको नागरकाय गवयार्थिने तदवगमोपाय प्रसिद्धसाधर्म्यं नाम्यथास्यत्तर्हि तदुपदेश आगम एव अन्तरमिविष्यत् । तदुपदेशात् तत् एव तदर्थविगम इति सत्यपि शब्दस्वभावत्वे प्रमाणान्तरमेवेदम् ।"—न्यायसं० पृ० १४२ । (३) उपायान्तरनिर्देशमा- त्रादेव । (४) "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।"—न्यायसू० १।१।३। (५) तुलना—'अनन्तो- पायजन्याश्च समाख्यायोगसविदः । साधर्म्यमनपेक्षयापि जायन्ते नरपादिषु ॥ सितातपनपिहितबुध्नपादो नराधिपः । तेषां मध्य इति प्रोक्त उपदेशविशेषतः ॥ कालान्तरेण तद्दुष्टौ तन्नामास्येति या मतिः । सा तदाज्या प्रमा प्राप्ता साधर्म्याद्यनपेक्षणात् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ४५५ । "ननु चाप्तोपदेशात् प्रतिपा- द्यस्य तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरागमफलमेव ततोऽप्रमाणान्तरमिति चेत्; तर्हि आप्तोपदिष्टोपमान- वाक्यादपि तत्प्रतिपत्तिरागमज्ञानमेवेति नोपमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरम् । सिंहासनस्थो राजा, मन्त्रके महादेवी, भुवर्णपीठे सचिवः, एतस्मात्पूर्वं एतस्मादुत्तरत एतस्माद्दक्षिणत एतन्नामाणवय (ग्रामकमिद) ग्रामवानक (ग्रामधानक) मित्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य पुनस्तथैव दर्शनात् सोऽयं राजैत्यादि संज्ञा- संज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः, पडाननो गुहश्चतुर्मुखो ब्रह्मा तुङ्गनासो भागवतः क्षीराम्भोविवेचनतुण्डो हंसः सप्तच्छद इत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य तथाप्रतिपत्तिर्वा यद्यागमज्ञानं तदा तद्वदेवोपमानमवसेय विशेषा- भावात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ । "पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात् पट्पादैर्भूमरः स्मृतः । सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञेयो विषमच्छदः ॥ पञ्चवर्णं भवेद्दत्तं मेचकार्यं पृथुस्तनी । युवतिर्वर्कमुज्जोपि गण्डकः परि- कीर्तितः ॥ शरभोऽप्यष्टभिः पादैः सिंहश्चारुसटाङ्कितः । इत्येवमादिशब्दत्रयणात्तथाविधानेव मराला-

सप्तपणैर्विपमच्छदः' इत्येवमादिवाक्यैर्जनितसंस्कारस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टं राजादिकं पश्यतः 'अयमसौ राजा' इत्येवमादिर्या संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुत्पद्यते सा भयन्मते प्रमाणचतुष्टयानन्तर्भूतत्वात् प्रमाणान्तरं स्यात् । न ह्यसौ उपमानम्; प्रसिद्धसाधर्म्यान-  
पेक्षणात् । नाप्यागमः; तत्प्रतीतौ' सिंहासनाधिरूढत्वादेरुपायान्तरस्योपदेशात् । तथा-  
प्यस्य आगमेऽन्तर्भावो उपमानस्यापि तत्रान्तर्भावोऽस्तु अविशेषात् ।

एतेन 'वाच्यसंविच्यपेक्षणात्' इत्यपि प्रतिव्यूढम्; उक्तप्रतीतेस्तदपेक्षणेऽपि आगमे अन्तर्भावाऽभ्युपगमात् । ननु उपायान्तरादर्धप्रतीतावपि उपमानस्य आगमेऽ-  
न्तर्भावाभ्युपगमे 'अग्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् महानसवत्' इत्यादेः परार्थानुमानस्य  
कुतस्तत्रान्तर्भावो न स्यादिति चेत् ? 'अनुमानकारणकार्यत्वात्' इति ब्रूमः । तथाहि—प्रति-  
पादकस्वार्थानुमानकार्यत्वात् प्रतिपाद्यस्वार्थानुमानकारणत्वाच्च वचनरूपस्यापि परार्थानु-  
मानस्य अनुमानता न विरुध्यते । नचैतद् भयत्कल्पितोपमाने संभवति । न खलु  
उपदिष्टप्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणोपायादर्धप्रतीति विहाय अन्यदुपमानं किञ्चिद् भवतः  
प्रसिद्धमस्ति यत्कारणकार्यतया अर्थं उपदेशप्रभवस्याप्युपमानता स्यादिति ।

एतेन वृद्धनैयायिकैर्यदुक्तमुपमानलक्षणम्—'प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकम-  
तिदेशवाक्यमेव उपमानम्' इति; तदपि प्रत्याख्यातम्; अतिदेशवाक्यात्मनोऽस्य आगम-  
स्वभावतया उपमानत्वायोगात् । किञ्चिद्विशेषमादाय अस्य अनागमस्वभावत्वाभ्युपगमे  
प्राक्प्रतिपादिताशेषदोषानुपह्नः स्यात् । ततो गोगवययोः सारूप्यपरामर्शात्मकं ज्ञानमेव  
प्रत्यभिज्ञाख्यं मुख्यतः उपमानं युक्तं नान्यदिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्, अत्र उक्तदोषाणां  
लेशतोप्यवकाशासंभवात् ॥ छ ॥

कारिकायामनुक्तमपि दूषणं 'प्रसिद्ध' इत्यादिना दर्शयन्नाह—प्रसिद्धार्थसाधर्म्यम्  
विवृत्तिव्याख्यानम्— अन्यथानुपपन्नत्वेन साध्याभावप्रकारेण निर्णीतं चेत् यदि तर्हि

दीनबलोप्य तथा सत्पापयति यदा तदा तत्तुलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्त दर्शनस्मरणवारणत्वाविशेषात् ।  
परेषा तु तत्प्रमाणान्तरमवोपपद्यत उपमानादी तस्यान्तर्भावाभावात् ।—प्रमेयर० पृ० ८४ । स्या० २०  
पृ० ४९८ । प्रमाणमी० पृ० ३४ । जन्तकभा० पृ० १० ।

(१) नैयायिकमते । (२) तुलना—'वाक्यादेव सङ्केतस्य प्रतीतत्वात् । तथाहि—सादृश्यवाक्य-  
स्यापमर्थो यो गोमदृश स गवय इत्येव व्यवहर्तव्य । स च वाक्यादुपलब्धसङ्केत सादृश्यावच्छिन्न  
पिण्डमुपलभमान पर व्यवहरति अयं गवय इति ।—प्रश्न० व्यो० पृ० ५८९ । "उपमान तावत् यथा  
गोत्तया गवय इति वाक्यम्, तज्जनिना घोराम एव ।"—सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ३९ । वंशे० उप० पृ०  
३३७ । (३) अनिदेशवाक्यावगतेप्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानात् । (४) आगमे—आ० टि० । (५) "तद्व-  
चनमपि तद्वेतुत्वात्"—परीक्षामु० ३।५६ । (६) सज्ञामज्ञिसम्बन्धस्य—आ० टि० । (७) अतोऽप्याग-  
मेऽन्तर्भावो युक्त इति तात्पर्यम्—आ० टि० । (८) पृ० ४९७ पं० ९ ।

१—विशेषविशि—श्र० । २—मादिकाया स—ब०,—मादित्यास—श्र० । ३—सौ तु उप—श्र० ।  
४—सौ हि सिंहा—श्र० । ५—त. प्रमाणं युक्तं व० । ६—वादिति व० ।

लिङ्गमेव तल्लक्षणत्वात् लिङ्गस्य । अथ तथात्वेन तदनिर्णीतं तत्र दूषणमाह—‘ततः’  
 इत्यादि । ततः प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् प्रतिपत्तिः साध्यसंवित्तिः अन्यथा अन्यथा-  
 नुपपन्नत्वनिर्णयाभावप्रकारेण न युज्यते । ‘प्रत्यक्ष’ इत्यादिना प्रथमं कारिकाद्वं  
 व्याचष्टे—प्रत्यक्षे दर्शनेन विपरीकृते अर्थे गवयलक्षणे ‘गवयः’ इति संज्ञा तस्या  
 गवयलक्षणोऽर्थः संज्ञी तयोर्वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तेः  
 ‘गवयोऽयम्’ इति संवित्तेः प्रमाणान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे दूषणमाह—‘वृक्ष’ इत्यादि ।  
 अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः इति यत्ज्ञानं तत् ‘प्रमाणान्तरं स्यात्’ इत्यध्याहारः ।  
 कस्य तज्ज्ञानम् ? इत्याह—वृक्षदर्शिनः । अत्र निदर्शनमाह—‘गवय’ इत्यादि ।  
 ‘अयं गवयः’ इति ज्ञानं यथा गवयदर्शिनः उपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तथा प्रकृतमपि  
 तदन्तरं स्यात् । उपमान कस्मात् तन्न भवतीति चेत् ? अत्राह—‘प्रसिद्ध’ इत्यादि ।  
 प्रसिद्धार्थसाधर्म्याद् या साध्यसिद्धिः तस्या अभावात् तत्प्रमाणान्तरम् । कथं तज्ज्ञान-  
 नमुत्पद्यत इति चेत् ? उच्यते वृक्षानभिज्ञो यदा कश्चित् कञ्चित् पृच्छति ‘कीदृशो वृक्षः’ इति ?  
 स तं प्रत्याह—‘शाखादिमान् वृक्षः’ इति । तद्वाक्याच्चाहितसंस्कारः प्रष्टा पुनः  
 शाखादिमन्तं पदार्थं पश्यन् ‘अयं वृक्षः’ इति प्रतिपद्यते । अनेन च तद्वैधर्म्यात्  
 तत्प्रतिपत्तिवैर्लक्षण्यात् इत्ययमर्थो व्याख्यातः ।

तथाऽपरमपि प्रमाणान्तरं परस्य आपादयितुं ‘गौरिव’ इत्याद्याह । अस्यायमर्थः-  
 यदा कश्चिदाटविक्रः नगरस्थेन ‘कीदृशो गवयः’ इति पृष्टः इदमाह—‘गौरिव गवयः’  
 इति । तदा तस्य नागरकस्य ‘गौरिव गवयः’ इत्येवं वाक्यं श्रुत्वा पर्यटतो गवयद-  
 र्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् । तच्छब्देन दृष्टो गवयः परामृश्यते, तस्य ‘गवयः’ इति  
 नाम तस्य प्रतिपत्तिः सेव तद्वदिति । प्रत्यक्षेषु दर्शनविपरीकृतेषु इतरेषु प्रसिद्धार्थ-  
 विसदृशेषु तिर्यञ्च महिष्यादिषु तस्यैव ‘गौरिव गवयः’ इति वाक्यं श्रुतवतः पुनः  
 पश्चाद् ‘अगवयोऽयम्’ इति निश्चयः किन्नाम किमभिधानं प्रमाणं स्यात् ? सामान्येन

(१) तुलना—‘योऽयम् गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः’ इति प्रत्यय सोऽप्यनुमानमेव ।  
 यो हि शब्दो यत्र वृद्धे प्रयुज्यते सोऽस्ति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचक यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैव  
 गवयशब्दो गोसदृशे इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव ।—सांख्यतत्त्वकौ० पृ० ४० । न्यायली०  
 पृ० ५६ । बंशे० उप० पृ० ३३७ । (२) अन्ययानुपपत्तिलक्षणत्वात् । (३) तुलना—‘वृक्षोऽयमित्यादि’—  
 परीक्षामु० ३।१० । प्रमेयक० पृ० ३४७ । (४) प्रमाणान्तरम्—आ० टि० । (५) न पुनरुपमानरूपम्—  
 आ० टि० । (६) महिष्यादिषु वैधर्म्यात् प्रमाणान्तरत्वापात्त—आ० टि० । (७) ग्रहणवाक्यम्—आ०  
 टि० । (८) यथा तन्नामप्रतिपत्तिर्भवत प्रमाणान्तरं तथा गवये दृष्टेऽर्थप्रतिपत्ति प्रमाणान्तरं  
 प्राप्नोति इति भाव—आ० टि० ।

1 अथातथा—आ० । 2 तत्प्रसिद्धा—व० । 3 प्रत्यक्षत इत्या—थ० । 4 वृक्षोऽयमित्या—थ० ।  
 5 गवयोऽयमित्या—थ०, व० । 6 वृक्षात्तो आ०, वृक्षायतो व० । 7 तेन च आ० । 8 ध्याख्यायते व० ।  
 9 गवय इति बर्तितः थ० ।

निश्चयवचनम् अंशाद्दर्शय मीमांसकसम्बन्धिनः शाब्दस्यै च नैयायिकसम्बन्धिनो  
निश्चयस्य सङ्ग्रहार्थम्, तेन मीमांसकं प्रति यद् व्याख्यानं तदपि सङ्गृहीतम्, इतरथा  
'अगवयनामनिश्चयः' इति ज्ञेयात् । अथ अगवयज्ञानं प्रमाणं न भवतीत्युच्यते;  
अत्रोत्तरमाह—'हानोपादान' इत्यादि । हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिः फलं यस्य अगव-  
यज्ञानस्य तन्न अप्रमाणं भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणमेव तदिति प्रमाणेयत्ताव्याघातः ।

तथाऽपरमपि परस्याऽनिष्टं प्रमाणं दर्शयन्नाह—

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।

तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ? ॥ २० ॥

विवृतिः—आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन  
प्रमाणमप्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव । यथा एतस्मात् पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं  
या ग्रामार्थानकमेतन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तद्दर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः ।  
कश्चायं निश्चयः संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षे प्रमाणान्तरं न पुनः  
संख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति ?

प्रत्यक्षश्च तदर्थान्तरश्च तस्य अपेक्षा यस्यां सा तथोक्ता । कासौ ? इत्याह—

सम्बन्धप्रतिपत्त्वाच्यवाचकयोः यः सम्बन्धः तस्य प्रतिपत्तिः  
कारिकार्थं—

यतः यस्मात् 'जायते' इत्यध्याहारः, तत्प्रमाणम् । तदनभ्युपगमे  
दूषणमाह—'न चेत्' इत्यादि । न चेत् प्रमाणं सर्वं मीमांसक-नैयायिककल्पितम्  
उपमानम् कुतः ? न कुतश्चित् प्रमाणमिति सम्बन्धः तथा तेन तदप्रामाण्यप्रकारेण ।

(१) मीमांसका हि सादृश्यज्ञानमुपमानकथयन्ति अतस्तेषामुपमानं न शब्दान्मकम् । (२)

नैयायिकान् तु सज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमानं वर्णयन्ति अतस्तेषामभिप्रायेण तच्छाब्दबोधोपात्मकं भवति ।  
(३) सूत्रकार—आ० टि० । अकलङ्कदेव । (४) "यतो यस्माज्ज्ञानाद् भवति । का ? सम्बन्धप्रतिपत्तु  
सम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य प्रतिपत्तु ज्ञप्ति । किं विधिपिप्ता ? प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा, प्रकृतात् शब्दल  
क्षपादार्थान्वयोऽर्थोऽर्थान्तरं प्रत्यक्षं च तदर्थान्तरञ्च प्रत्यक्षार्थान्तरं वृक्षादि तत्तथोक्तम्, तस्यापेक्षा यस्या  
सा प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा । तज्ज्ञानं चेद् यदि न प्रमाणं स्यात्तदा तर्हि सर्वं नैयायिकमीमांसकादिकल्पितमुप-  
मानं कुतः प्रमाणं स्यादविशेषात् । न हि सादृश्यसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं न पुनर्वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञानमिति  
विशेषोऽस्ति । तत् सज्ञासंज्ञिसङ्कलनमपि प्रमाणान्तरमेव भविष्यतीति कुतः प्रमाणसंख्यानियमः ?"—  
लघो० ता० पृ० ४० । (५) तुलना—"तथा अस्मात्पूर्वमिदं पश्चाद्दीर्घं ह्रस्वमिदं महत् । इत्येवमा-  
दिविज्ञाने प्रमाऽनिष्टा प्रमज्यते ॥"—तत्त्वस० प० पृ० ४५० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४२ । (६) उप  
मानम्—आ० टि० ।

1 असादृश्यमीमां—व० । 2 सादृश्यं च व० । 3 इतरथा गव—आ०, व० । 4—हानोपेक्षा  
फल आ०, व० । 5—धानकं ये तन्ना—ई० वि० । 6 सज्ञानम्—ज० वि० । 7 यस्या सा व० ।  
8—स्माज्ज्ञायते व० । 9—ल्पितं कुतः व०, आ० ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘आगम’ इत्यादि । यो यस्य अविस्वादाकः पुरुषः स तस्य  
 आप्तः तस्य वचनम् आगमः तेन आहितः संस्कारो यस्य तदर्थदर्शिन  
 विवृतिव्याख्यानम्—  
 आगमार्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः आगमार्थाभिधानप्रतिपत्तिः साक-  
 ल्येन अनवयवेन या काचित् तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः सा प्रमाणमप्रमाणं वा ?  
 ‘स्यात्’ इत्यध्याहारः । यदि प्रमाणम् ; प्रमाणसंख्याव्याघातः । अथ अप्रमाणम्, 5  
 तर्हि उपमानमप्यप्रमाणं स्यादविशेषात्, अतः स एव तत्संख्याव्याघातः । ननु तस्य  
 तत्रतिपत्तिरूपमात्रमेव तर्षं प्रमाणमिष्टमेव इत्युक्तदोषानवकाश इत्याशाङ्क्याह—‘न पुनः’  
 इत्यादि । न पुनः नैव उपमानमेव तत्रतिपत्तिरित्यनुवर्तते । किन्तु ततोऽन्यापि विद्यते  
 इत्यभिप्रायः । अत्रोदाहरणमाह—‘यथा’ इत्यादि । ‘यथा’ इत्युदाहरणप्रदर्शने, एतस्मा-  
 द्भगरादेः पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकं ग्रामविशेषस्येयं सज्ञा एतन्ना- 10  
 मकं एतदनिर्दिष्टं नाम यस्य तत्तथोक्तम् इत्येवमाहितसंस्कारस्य पुनः पुनस्तद्दर्शिनो  
 यत् तत् ‘एतस्मात्’ इत्यनेन ‘ग्रामधानकम्’ इत्यनेन चोक्तम् तत्पश्यतीत्येवशीलस्य  
 तन्नामप्रतिपत्तिः ग्रामधानरूनामप्रतिपत्तिः । चशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । ‘एतस्मात्’ इत्यनेन  
 अपेक्षं प्रत्यक्षार्थान्तैरमुक्तम् ‘पूर्वम्’ इत्यादीनां तु तदपेक्षं ग्रामधानकम् । अत एवाऽस्य  
 विशेषः । भवतु ईयं प्रमाणं को दोषः इति चेत् ? अत्राह—‘कश्च’ इत्यादि । कश्च ? 15  
 न कश्चिद् अयम् परेणोच्यमानो निश्चयोऽवश्यभावः । कोऽसौ ? इत्याह—संज्ञासंज्ञि-  
 समप्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः संख्यादिप्रतिपत्तिसाधनमिति  
 किन्तु तदपि स्यादिति भावः । एतदेव दर्शयन्नाह—

इदमल्पं महद्हरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।

व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ २१ ॥

(१) तुलना—“रजस्तमोभ्या निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये । येषां विनालममल ज्ञानमव्याहृतं  
 सदा ॥ आप्ता निष्ठा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसशयम् । सत्यं बक्ष्यन्ति ते, कस्मादसत्यं नीरजस्तामा ॥”  
 —चरक० सू० ११।१८-१९ । “आप्तं खलु साक्षात्तत्तर्षां ययादृष्टस्यार्थस्य चिन्त्यापयिषया प्रयुक्तं उप-  
 देष्टा ॥” —व्यायभा० १।१।७। सांख्यका० माठर० का० ५ । युक्तिदी० पृ० ४६ । “आप्तेनोच्छिन्नदोषेण  
 सर्वज्ञेनागमेशिना । भविन्व्य ”—रत्नक० श्लो० ५ । “यो यत्राविस्वादाकः स तत्राप्तः ततोऽपरो-  
 ज्ञाप्तः ॥” —अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६ । (२) आगमार्थदर्शिनः । (३) तन्नामप्रतिपत्तिः । (४)  
 उपमानम् । (५) नगरादि—आ० टि० । (६) प्रसिद्धसाधर्म्याद्यभावात्—आ० टि० । (७) नामप्रति-  
 पत्तिः—आ० टि० । (८) द्वित्वादिसंख्याया अपि अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वान् प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिरिति भावः  
 —आ० टि० । (९) “साधनान्तरं प्रमाणान्तरं स्यात् । किम् ? विकल्पो निश्चयः । तस्योन्मेषमाह—  
 इदमस्मादल्पम्, इदमस्मान्महत्, इदमस्मादासन्नम्, इदमस्मात्प्रांशु दीर्घञ्च, इदमस्मात् प्राशु इति ।  
 वासब्दं परस्परसमुच्चये । कस्मिन् ? समक्षे प्रत्यक्षे पदार्थे । कुत ? व्यपेक्षातः, विरुद्धस्य प्रतिपक्ष-  
 त्यापेक्षा कथञ्चिदजहद्बुद्धिं तत इति । एवम् अल्पमहत्त्वादिसंङ्कलनमपि परप्रमाणसंख्यानियमं विघट-

विद्युतिः—दृष्टेष्वर्थेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् अल्पमहत्त्वादिज्ञानमधरोत्तरादि-  
ज्ञानं द्वित्वादिसंख्याज्ञानमन्यच्च प्रमाणमविसंवाकत्वादुपमानवत् । अर्थापत्तिः  
'अनुमानात् + प्रमाणान्तरं न वा' इति किन्नरिचिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् ।  
तत्समजसं प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्संख्यानवस्थानात् ।

विकल्पशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इदमल्पमिति विकल्पः, इदं  
महदिति विकल्पः, इदं दूरमिति विकल्पः, इदमासन्नमिति  
कारिसार्थं - विकल्पः, इदं प्रांशु इति विकल्पः, तथा अल्पं नेति विकल्पः

महन्नेति, दूरं नेति, आसन्नं नेति, प्रांशु नेति । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः ।  
कुतोऽसौ विकल्पो जायते ? इत्याह—'व्यपेक्षातः' इति । आमलकापेक्षया वित्त्वं  
महत् देवदत्तसमीपकूपापेक्षया पर्वतादिक दूरम्, एवमन्यत्रापि योज्यम् । इदमल्प-  
मित्यादिग्रहणमुपलक्षणम्, तेन अधरोत्तरादिविकल्पस्य द्वित्वादिविकल्पस्य च ग्रहणम् ।  
कासौ जायते ? इत्याह—समक्षेऽर्थे । स किम् ? इत्याह—साधनान्तरं प्रमाणान्तरम् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'दृष्टेषु' इत्यादि । दृष्टेषु प्रत्यक्षेषु अर्थेषु परस्परम् अन्योन्यं  
व्यपेक्षालक्षणं यस्य तत्तथोक्तम् । किं तत् ? अल्पमहत्त्वादिज्ञानम्,  
आदिशब्देन दूरादि गृह्यते । तथा अधरोत्तरादिज्ञानम् अत्रापि  
आदिशब्देन मध्यादिज्ञानपरिग्रहः । द्वित्वादिसंख्याज्ञानम्, इहापि आदिशब्देन  
त्रित्वादिसंख्याज्ञानपरिग्रहः । अन्यच्च पूर्वापरादिज्ञानम् । तत्किम् ? इत्याह—प्रमाणम् ।

यतीत्यर्थं ।—लघी० ता० पृ० ४० । तुलना—'एकविषाणी खड्ग मत्तपर्णो विपमच्छद इत्याहित-  
सस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शानामभिज्ञानं किञ्चाम प्रमाणं स्यात् ? तथा स्यादिलक्षणश्रवणात् तथादर्शिन-  
समभिज्ञानं सख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात् पश्यताञ्च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्त-  
रम् ।'—सिद्धि वि०, टी० पृ० १५० B । परोक्षामु० ३५—१० । प्रमाणनय० ३५—६ । प्रमाणमी० १ । २ । ४ ।  
उद्धृतोऽयं श्लोक—'समक्षार्थं'—स्या० २० पृ० ४९८ । प्रमेयर० ३५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

(१) तुलना—'तेषां द्वयादिसंख्याज्ञानं प्रमाणान्तरम्, गणितज्ञसख्याधातयाहितसस्कारस्य  
प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्वयादिषु सख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्वयादीनि तानीति सन्नार्थसम्बन्धप्रतिपत्ति-  
द्वयादिसंख्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यम् । तद्योत्तराधर्वज्ञानं सोपानादियु स्थविष्टज्ञानं पर्वादियु  
महत्त्वज्ञानं स्ववशादियु, सस्यानज्ञानं त्र्यसादियु, वक्रज्वादिज्ञानञ्च क्वचित्प्रमाणान्तरभाषातम् ।'  
—सर्वार्थश्लो० पृ० २४२ । (२) तुलना—'अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावान्वयि प्रमाणातीति  
केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिनि ? अत्रोच्यते—सर्वाण्येनानि मतिभ्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थमन्निकर्षनिमि-  
त्तत्वात् ।'—सर्वार्थार्थि० भा० १ । १२ । "उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्"—सर्वार्थसि० १ । ११ ।  
'अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेन्तर्भावात् ।'—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २८१ । (३) तुलना—  
'तरुणं कृत्वादिमन्दुष्टौ एकपादपदार्थनात् । द्वितीयशास्त्रिजिज्ञानावाद्योसाविति निश्चयः ॥ प्रमाणा-  
न्तरमासक्तं सादृश्याद्यनपेक्षणात् ।'—सत्त्वस० पृ० ४५० ।

1 परस्पर व्य-ई० वि० । 2 अल्पमहत्त्वादि-ई० वि० । † एतद्वत्तर्गतः पाठो नास्ति ई०  
वि० । 3 जात व० । 4 दृष्टेत्वादि व० । 5 इत्यत्राह व०, थ० ।

कुत ? अविसंवादकत्वात् । किमिव ? इत्याह—उपमानादिति । एव नैयायिकमीमा-  
सकयो प्रमाणान्तरसम्प्लव तदभिमतप्रमाणसख्यानिर्यमनाशक निरूप्य इदानीं मीमासका-  
भिताऽर्थापत्तिं निचिन्तयन्नाह—‘अर्थापत्तिः’ इत्यादि । याऽसौ—

“प्रमाणपट्टविज्ञातो यत्रार्थोऽनन्यवामवन् ।

ग्रहण कल्पयेदन्य सार्थापत्तिरुदाहृतौ ॥” [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १] ६

इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमासकैः परिकल्पितार्थापत्तिं सा ‘अनुमानात् प्रमाणान्तरं  
नवा’ इति किञ्चिच्चिन्तया ? अयमभिप्रायः—अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्यै सांभ्याभावे नियमे-  
नाऽनुपपद्यमानस्य अविनाभासखभावलिङ्गलक्षणलक्षितत्वात् लिङ्गत्वमेवोपपन्नम् ।  
तत्रभरश्च ज्ञानमनुमानमेवेति । अत—

“प्रत्यक्षमनुमानश्च शाब्दञ्चोपमया सह ।

10

अर्थापत्तिरभावश्च पट्टप्रमाणाणि जैमिनि ॥” [षडद०समु०श्लो०७२ (?) ]

इति कुमारिलस्य वदतः प्रमाणमर्थव्याघात , प्रभाकरस्य च अभाव प्रत्यक्षविशेषं वदत  
‘पञ्च प्रमाणानि’ इति<sup>१</sup> ।

ननु चार्थापत्ते स्वरूपादिभेदान् प्रत्यक्षादिभ्यो भेदप्रसिद्धे कथं प्रमाणसख्याव्या-

अर्थापत्तिं अनुमा-  
नादतिरिक्तं प्रमाणमि-  
ति वदता मीमासक  
स्य पूर्वपक्ष -

घात ? तथा च प्रयोग—अर्थापत्तिं प्रत्यक्षादिभ्यः प्रमाणान्तरम्,  
विभिन्नस्वरूपत्वात्, यद्यतो विभिन्नस्वरूपं तत्तत् प्रमाणान्तरं यथा  
प्रत्यक्षादनुमानम्, प्रत्यक्षादिभ्यो विभिन्नस्वरूपा चार्थापत्तिरिति । नच  
विभिन्नस्वरूपत्वमसिद्धम्, तथाहि—तस्या स्वरूपभेद—दृष्टं श्रुतो वाऽ

15

(१) एकत्र प्रमेयं बहूनां प्रमाणाणां प्रवृत्तिः सम्प्लव । (२) व्याख्या—‘एव देवाकालादौ प्रत्य-  
क्षानुमानोपमानशाब्दाद्युत्थापत्त्यभावलक्षणं पट्टमि प्रमाणं परिच्छिद्योर्थोऽन्यथा नोपपद्यते यद्यवम्भूतोऽर्थो  
न भवेदित्येव या परोक्षाधविषया कथना साऽर्थापत्तिः प्रमाणमदाहृता गबरस्वामिना ।’—तत्त्वसं०  
पृ० ४५६ । (३) उदतोऽयम—नायथा भवेत्—मी० श्लो० । प्रशं० व्यो० पृ० ५९० । तत्त्वाप-  
श्लो० पृ० २१६ । स मति० टी० पृ० ५७८ । कल्पयत्यय—तत्त्वम० पृ० ४५६ । स मति० टी०  
पृ० ५७८ । प्रकृतपाठ—प्रमेयक० पृ० १८७ । स्या० र० पृ० २७६ । रत्नाकराव० २।१ । (४)  
पीनत्वस्य—आ० टि० । (५) रात्रिभोजनाभावे—आ० टि० । (६) लिङ्गप्रभवञ्च । (७) तुलना—  
प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च पट्टे साध्यसाधका ।—तत्त्वसं० पृ०  
पृ० ४५० । (८) अथापत्तरनुमानान्तर्भावत्वात् पञ्चमस्यापत्त—आ० टि० । (९) तत्र पञ्चविध  
मान प्रत्यक्षमनुमा तथा । शास्त्रं तथोपमानार्थापत्तीति गुरोमतम् ॥—प्रक० पृ० पृ० १२७ । (१०)  
प्रमाणमख्याव्याघात इति सम्बन्ध तस्य चत्वारि [ एव स्यु ]—आ० टि० । (११) अर्थापत्तिरपि  
दृष्टं श्रुतो वार्था—यथा नोपपद्यते इत्ययवल्पना यथा जीवनि देवदत्त गृहभाषदानीन वहिर्भाषस्या  
दृष्टस्य कल्पना ।—शाबरभा० १।१।५ । विना कथनयाऽर्थेन दृष्टेनानुपपत्तात् । नयना दृष्टमर्थं  
सार्थापत्तिस्तु कल्पना ॥ दृष्टनार्थेन दृष्टस्यावस्यार्थान्तरकल्पनायामसत्यामनुपपत्तिमापादयता साऽर्थापत्ति

१ इत्यत्राह व० थ० । २—निगमविना—थ० । ३—सकपरिकल्प—व० । ४ न चेदिति व० न

वेति थ० । ५ प्रत्यक्षादिविशेषं व०, थ० ।



र्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना । तत्र दृष्टं प्रत्यक्षादिभिः पञ्चभिः प्रमाणैरुपलब्धं, श्रुतं लौकिकाद् वैदिकाद्वा चान्यान्वगतं तस्मादनुपपद्यमानाद् या अर्थान्तरकल्पना सा अर्थापत्तिः । सा च पट्प्रकारा भवति प्रत्यक्षादिनिमित्तभेदात् । तत्र प्रत्यक्षप्रतिपन्नद्वैतद्वारायकार्यान्यथानुपपत्त्या वहेदाहंशक्तिरूपना प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्तिः ।  
 ५. देशान्तरप्राप्तेर्लिङ्गादनुमिताऽऽदित्यगत्यन्यथानुपपत्त्या आदित्ये गमनशक्तिरूपना अनुमानपूर्विका । तथा उपमानज्ञानावगतगवयसैरूप्यविशिष्टगोपिण्डायधानुपपत्त्या तस्यै तैश्चैतानप्राह्यशक्तिरूपना उपमानपूर्विका ।

ता एता अर्थापत्तयः प्रमाणान्तरम् अतीन्द्रियशक्तिविषयत्वात् । न यत्तु शक्तयः प्रत्यक्षपरिच्छेद्या अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानपरिच्छेद्या, प्रत्यक्षाविषये अनुमानस्याऽप्रवृत्ते तत्पूर्वकत्वात्तस्य । प्रत्यक्षेण हि प्रतिपन्ने प्रतिबन्धे अनुमानं प्रवर्तते । न च शक्तेरतीन्द्रियत्वेन अध्यक्षागोचरत्वे तत् केनचिल्लिङ्गेन सह अस्या प्रतिबन्धप्रतिपत्तिर्युक्ता । नाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्प्रतिपत्तिः, प्रत्यक्षाविषये तत्प्रवृत्तेरेवाऽसम्भवात् । नाप्यनुमानात् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः तद्विद्महेव, अन्यद्वा तत्प्रतिपत्तौ प्रवर्तते ? न तावदिदमेव, चक्रप्रसङ्गात्—सति हि प्रतिबन्धग्रहणे अनुमानप्रवृत्तिः, तद्ग्रहणञ्च शक्तिप्रति-

रूपत्वात् साऽर्थापत्तिः । —प्रक० प० प० ११३ । प्रमितस्यायस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तयः साऽर्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्तिः । —शास्त्रदी० प० २९० । नयवि० पृ० १५२ । तत्ररह० पृ० १३ । प्रभाकरवि० पृ० ५३ ।

(१) दृष्टं पञ्चभिरप्यस्माद भदनाक्ता श्रुतोऽत्रवा । प्रमाणप्राहिणीत्वम यस्मात्पुत्रविलक्षणं ॥ —मी० श्लो० अर्था० श्लो० २ । दृष्टग्रहणेन यद्यप्युपलब्धमात्रमभ्यते तथापि श्रुतानुसन्धिधानानुगोचरलीलायायन शब्दप्रमितव्यतिरिक्तमभ्यते । —बहु० प० पृ० ११७ । मी० श्लो० यापर० पृ० ४५० । (२) स्कोट—आ० टि० । (३) सादस्य । (४) सारूप्यविशिष्टगोपिण्डस्य—आ० टि० । (५) उपमानज्ञानं । (६) शक्तयोऽपि च भावना कार्यापत्तिकारिणः । प्रसिद्धा पारमार्थिक्य प्रतिपाद्य व्यवस्थिता । —मी० श्लो० नय० श्लो० २५४ । तनार्थापत्तिपूर्वमत्र यत्र च कारणं । कार्यादन्तर्गतशक्तेरस्तव सम्प्रतिपत्तेः । कायस्य ननु लिङ्गत्व न सम्बन्धानपेक्षणात् । दृष्टत्वा सम्बन्धितत्वा चप्यशक्तिगम्यत ना यथा । तद्दानं तदानीं च प्रत्यक्षानुसन्धवत् । अर्थापत्तं प्रमाणत्वं त्रलक्षण्याद्विना भवेत् । शक्तिरूपनाप्यर्थापत्तिरेवेत्याह यत्रति । चोदयति कायस्यति । कारणवत्तया शक्तिरूपत्वे कार्यञ्च कारणबुद्धिरनुमानमिति । निराकरोति नेति । कारणमाह सम्बन्धति । बीजसत्यङ्कुरोत्पत्तिदशनाद बीजकारणत्वमवगम्यते सत्यपि तस्मिन् मृषिकाघाते अङ्कुरानुत्पत्तकारणत्व तदिदं कारणाकारणत्व यथातपरिजिहोपया शक्तिरूपनम् सम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वात्तानुमानम् इत्येव नानुमानमिहाह—दृष्टवेति साद्वेन । सम्बन्धग्रहणपूर्वकं हि सम्बन्धग्रहणम् न च शक्तेः प्रत्यक्षग्रहणं सम्भवति अतोऽवश्यं सम्बन्धग्रहणवेलायां शक्तिग्रहणमभ्युपगन्तव्यम् । अर्थापत्तिर्हि त्रलक्षण्याजिता शक्नोति ता ग्रहीतुमिति । —मी० श्लो० अर्था० यापर० पृ० ४६२ ६३ । शास्त्रदी० पृ० ३०६ । (७) प्रत्यक्षपूर्वत्वात् । (८) अनुमानस्य । (९) अविनाभावे—आ० टि० । (१०) प्रत्यक्षात्—आ० टि० । (११) अविनाभावः । (१२) अवयव्यतिरेकः ।

पत्तौ, तत्प्रतिपत्तिश्चानुमानप्रवृत्तौ, तत्प्रतिपत्ति (तत्प्रवृत्ति)श्च प्रतिबन्धग्रहणे इति । अथान्यतोऽनुमानात्तत्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः; ननु तदपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ सत्यां प्रवर्तते, तत्र च प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः प्रथमानुमानात्, तदन्तराद्वा स्यात् ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रय-सिद्धे हि द्वितीयानुमाने ततः प्रसिद्धप्रतिबन्धाङ्गिङ्गात् प्रथमानुमानसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अतः प्रसिद्धप्रतिबन्धाङ्गिङ्गाद् द्वितीयानुमानसिद्धिरिति । द्वितीयपक्षे त्वनवस्था-अनुमानान्तरेऽपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तेः अनुमानान्तरादेव प्रसिद्धेः । नहि तत् प्रतिबन्धप्रतिपत्तिं विना स्वसाध्यसिद्धये प्रभवति । शब्दोपमानयोस्तु शक्तिप्रतिपत्तौ संभावनैव नास्ति, शब्दसादृश्याभ्यां विनैव तत्र प्रतिपत्तिप्रतीतिः । अतः अर्थापत्तेरेव शक्तिविषयत्वं युक्तम् ।

तथा शब्दसाधनार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचकशक्तिमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या तस्यै नित्यत्वकल्पना अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणात् रात्रौ भोजनकल्पना श्रुतार्थापत्तिः । नहीद श्रूयमाणं वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्; पीनादिपदानां स्वार्थप्रतिपादनपरत्वात् रात्रिभोजनलक्षणार्थप्रतिपादनसामर्थ्यानुपपत्तेः । अथ पदसमुदायात् तत्प्रतिपत्तिः; तन्न; अस्य अन्यार्थप्रतिपादनपरत्वात् । श्रूयमाणेन हि पदसमुदायेन देवदत्तास्य पीनस्य रसायनाद्यभावे दिवाभोजननिषेध एव प्रतिपाद्यते न तु रात्रि-

(१) प्रथमानुमानात् । (२) अनुमानान्तरम् । (३) शक्तिप्रतिपत्तेः । (४) वाचकशक्त्यन्यथानुपपत्त्या । (५) शब्दस्य । (६) "वचनस्य श्रुतस्यैव सोऽप्यर्थः कश्चिदाश्रितः । तदर्थापत्त्युत्तस्वार्थरिष्टो-वाक्यान्तरस्य तु । न तावच्छ्रूयमाणस्य वचसोऽर्थोऽप्यभिध्यते । न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा । पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते । न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते; न दिवादिपदार्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम् । न भेदो येन तद्वाक्य तस्य स्यात् प्रतिपादकम् । अन्यार्थव्यापृतत्वाच्च न द्वितीयार्थकल्पना । तस्माद्वाक्यान्तरेणैव बुद्धिस्येन प्रतीयते । प्रमाण तस्य वक्तव्य प्रत्यक्षादिषु यद्भवेत् । न ह्यनुच्चारिते वाक्ये प्रत्यक्ष तावदिध्यते । नानुमान न चेद हि दृष्ट तेन सह वचिन् । यदि त्वनुपलब्धेऽपि सम्बन्धे लिङ्गतेष्यते । तदुच्चारणमात्रेण सर्वैवाक्यमितिर्भवेत् । श्रुतस्यैव शब्दस्य तत्प्रतिपादकत्व केचित्कल्पयन्ति, अन्ये तु शब्दान्तरमेव तत्प्रतिपादकमिति, तत्रानन्तरपक्ष निराकरोति न तावदिति । कारणमाह-न हीति । किञ्च यदि वाक्यं वाचकं स्यात् स्यादप्यनेकार्थता न तु वाक्य वाचकमित्याह वाचकतेति । कथं तर्हि वाक्यायंप्रतीतिरित्त अह-पदार्थेति । किमिति रात्रिभोजन दिवावाक्यस्यार्थो न भवत्यत आह-न रात्रौति । न हि रात्र्यादिपदार्था दिवावाक्यपदैरभिधीयन्ते, ते कथमन्वितरूपतया तद्वाक्यार्थमिदेष्युरिति । यद्यपदार्थोऽपि रात्रिभोजन दिवादिपदानां संसर्गो भेदो वा स्यात्ततोऽपि तस्यैव वाक्यस्यार्थं स्यात् न तु तदस्तीत्याह न विवेति । यद्यपि ज्ञानेकार्थता, तथापि एकस्मिन् प्रयोगे व्यापृतस्य नार्थान्तर सम्भवतीत्याह-अन्यार्थेति । तस्माद्वाक्यान्तरस्यैव कल्पितस्यायमर्थो न तु श्रुतस्येत्याह तस्मादिति । तस्य तु वाक्यस्य किं प्रमाणमिति विचारणीयमित्याह-तस्येति । यच्च तदर्थान्तर तदा यद्यपि वाक्यायंत्वादागमिकं न निष्प्रमाणकं तथापि तदेव वाक्य किं प्रमाणकमिति चिन्त्यमिति । तत्रार्थापत्तिरेव प्रमाणमिति वक्तुं पूर्वोपात्तावदसम्भव दर्शयितुमाह न हीति ।"-मी० श्लो० अर्था०, न्यायर० पृ० ४६४-६५ । (७) दिवा न भुङ्क्ते इति निषेधाथप्रतिपादनपरत्वात् ।

भोजनविधि, विधिप्रतिषेधयो परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधतो मिथ मसर्गा  
भावात् । न चानैत्रितस्य पदार्थसमुदायस्य वाक्यार्थता ऋषेष्टा वा, प्रतीतिविरोधात् ।  
नापि तैथैविधे पदसमुदाये अभिधायी तात्पर्यशक्तिर्वाऽस्तीति । अत अर्थापत्तित  
एव रात्रिभोजनलक्षणोऽर्थ प्रतीयते इति प्रमाणान्तरं श्रुतार्थापत्ति मिद्धा । तदुक्तम्—  
तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञातादाहाद् दहनशैचिता । बह्वेनुमितात् सूयै यानात्तच्छिचियोगिता ॥  
गवैथोपमिताया गास्तज्ज्ञानप्राप्तशक्तिता । अभिधानप्रसिद्धधर्ममर्थावस्थाऽनवोधितात् ॥  
शब्दे वाचकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रमयता । अभिधा नान्यथा सिद्धेरिति वाचनशैचिता ॥  
अर्थापत्त्यावगम्यैव तदन्यत्व (दनन्य) गत पुन । अर्थापत्त्य तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चय ॥  
दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नेभिधास्यत ।” [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३-७ ]  
10 “पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवच श्रुतौ । रात्रिभोजनविज्ञान श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥”  
[ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१ ] इति ।

अभावावर्थापत्तेस्तु लक्षणम्—

“प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात् । गेहाच्चैत्रबहिर्भासिद्धिर्यां त्रिवह दैर्शिता ॥  
तामभावोरिथतामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत् ।” [ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८-९ ] इति ।

(१) मा भूत्सग को दोष एवाह—आ० टि० । (२) ससगरहितस्य । (३) अयायप्रति  
पादनत्परे । (४) साक्षत गविन । (५) लक्षणा । (६) गमनगविन—आ० टि० । जानाहा  
हाहहनशक्तता । बह्वेनुमिता सूयै यानात्तच्छिचिनयोग्यता ॥ —मी० श्लो० । स्या० २० पृ० २७८ ।  
उद्धृतोऽयम—तत्त्वस० पृ० ४५७ । प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ० ५७९ । (७) गवयो  
पमिता या गोस्तज्ज्ञानप्राप्तता मता —मी० श्लो० । ग्राह्यगवता —स्या० २० पृ० २७८ । उद्धृतोऽ  
यम—प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ० ५७९ । तुलना— गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानप्रा  
हाशक्तता । उपमाबलमभूतसामर्थ्येन प्रतीयते ॥ —तत्त्वस० पृ० ४५९ । (८) गच्छ बोधकसामर्थ्या  
त्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम्—मी० श्लो० । (९) तस्य गवस्य नित्यत्वेन प्रमेयत्व परिच्छेद्यत्वम—आ० टि० ।  
उद्धृतोऽयम्—प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ० ५७९ । स्या० २० पृ० २७८ । (१०)  
अभिधा नायथा सिद्धयदिति वाचकशक्तताम् । अर्थापत्त्यावगम्यैव तदनयगते पुन ॥ —मी०  
श्लो० । अर्थापत्त्यावगम्यैव —तत्त्वस० पृ० ४५९ । वाचकशक्तता । अर्थापत्त्यावगम्यैव  
—स्या० २० पृ० २७८ । प्रकृतपाठ—प्रमेयक० पृ० १८८ । अभिधानमभिधा अथप्रतिपादनमिति  
यावत् । सा शब्दस्य अयथा—वाचकशक्त्या विना न सिद्धयन्त्यैव बोधकशक्तताम् अवगम्य बुद्ध्या  
तदनयगते तस्या बोधकशक्तेरया गतिनास्ति गच्छनित्यत्वमन्तरेणिति । पुनरर्थापत्त्यतरेणैव शब्दस्य  
नित्यत्वनिश्चय । —तत्त्वस० पृ० ४५९ । (११) एवया अर्थापत्त्या वाचकशक्ततामवगम्य अन्यथा  
गवस्य नित्यत्व निश्चिनुयात् प्रमाता आ० टि० । (१२) मीगामासत्र । (१३) शब्दावर्थापत्तिरुच्यते  
—स्या० २० पृ० २७८ । उद्धृतोऽयम तत्त्वस० पृ० ४५७ । प्रमेयक० पृ० १८८ । समति० टी० पृ०  
५७९ । (१४) वर्णिता—तत्त्वस० पृ० ४६० । उद्धृतोऽयम—प्रमेयक० पृ० १८९ । समति० टी०  
पृ० ५७९ । स्या० २० पृ० २७८ । व्याख्या— प्रत्यभाद प्रमाणस्याभावेन निवृत्त्या निर्णीतो निश्चितो  
यश्चैत्राभाव तेन विशिषिताद् गेहात् इह गहै चत्रो नास्तीयत् चत्रस्य जीवन सति या बहिर्भावसिद्धि  
1 तथाविधपद—थ० । 2-शक्तता ब० । 3-स्याविवोधि—आ० ब० । 4-शक्तता ब०  
थ० । ० श्रुते ब० ।

जीवतो हि चैत्रस्य गृहेऽभावमवगम्य तदन्यथानुपपत्त्या बहिर्भावकल्पना अभाव-  
पूर्विका अर्थापत्तिः । अथ दृष्टेन अदृष्टसिद्धेः अनुमानमेवेयमित्युच्यते; तन्न; तत्सा-  
म्यभावात् । पक्षधर्मतादिसामग्र्या हि यद्विज्ञानं जन्वते तदनुमानं प्रसिद्धम्, सां  
चेह नास्ति । तथाहि—बहिर्भावविशिष्टे चैत्रे चैत्रविशिष्टे वा बहिर्भावे अनुमेये कस्य  
हेतुत्वम्—किं गृहाभावविशिष्टस्य चैत्रस्य, चैत्राभावविशिष्टस्य वा गृहस्य, गृहे चैत्रा-  
भावस्य वा, गृहे चैत्रादर्शनस्य वा ? तत्र नैतेषां मध्ये अन्यतमोऽपि हेतुर्घटते, पक्ष-  
धर्मत्वाभावात् । नखेते चैत्रधर्माः तद्वहिर्भावधर्मा वा ।

किञ्च, प्रमेयानुप्रवेशप्रसङ्गात् नेयमनुमानम्; तथाहि—आगमावगतजीवनस्य  
बहिर्भावो विद्यते इत्येव निश्चयरूपा, इह भाष्ये वणिता शबरस्वामिना, तदन्यासामर्थपत्तीनामुपलक्ष-  
णार्थमुदाहृतेति यावत् । यथा जीवति देवदत्ते गृहेऽदर्शनेन बहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनेति ।—  
तत्त्वसं० पृ० पृ० ४६० ।

(१) पक्षधर्मतादिसामग्री । (२) “पक्षधर्माद्यनुपपत्त्याद् भिन्नैवाप्यनुमानन । बहिर्देशविशि-  
ष्टेऽर्थे देशे वा तद्विशेषिते । प्रमेये यो गृहाभावः पक्षधर्मत्वस्यैव कथम् ॥ तदभावविशिष्टं तु गृहं धर्मो न  
कस्यचित् । गृहाभावविशिष्टस्तु तदानीं न प्रतीयते ॥ गम्यते तु गृहं तत्र न च चैत्रं प्रतीयते । न  
चात्रादर्शनं हेतुर्गृहाभावोऽभिधास्यते ॥ तेन वेदमन्यदृष्टत्वादिति हेतुर्न कल्प्यते । अदर्शनादभावे च  
प्रमेयस्यावधारिते ॥ बहिर्भावमतिर्नासौ तेनादर्शनहेतुत्वात् । चैत्राभावस्य हेतुत्वं गृहेऽभावस्य सस्यत् ॥  
पक्षधर्मत्वं तावन्निराकरोति बहिरिति । गृहगतो ह्यभावो न देवदत्तस्य बहिर्देशस्य वा धर्मः, अभाव-  
विशिष्टं तु गृहं न कस्यचिद्धर्मं इत्याह गृहाभावेति । असौ देवदत्तो बहिर्देशो वेति । कथमित्याह गम्यते  
इति । चैत्रग्रहणमुपलक्षणम्, गृहमेव गम्यते न चैत्रो बहिर्देशो वा । न चातवगतस्य धर्मावगतिं सभव-  
तीति । यदि तु चात्रादर्शनं हेतुरित्युच्यते अत आह न चेति । यथा ह्यभावेऽनुमेये लिङ्गत्वमभावस्य न  
सभवति तथाऽत्रापि पक्षधर्मत्वाभावादेव । इतश्च नादर्शनस्य हेतुत्वमित्याह—अदर्शनादिति ।  
अदर्शनादभावेऽवगते पश्चादुपजायमाना बहिर्भावमतिर्नादर्शननिमित्ता भवितुमर्हतीति नाभावस्य लिङ्गत्व  
न च तस्य पक्षधर्मता इत्याह चैत्राभावस्येति ।”—मी० श्लो०, व्यापर० पृ० ४५४-५५ । तुलना-  
व्यापर० पृ० ३७ । (३) प्रथमहेतुद्वयापेक्षया—आ० टि० । (४) द्वितीयहेतुद्वयापेक्षया—आ० टि०  
(५) प्रमेयस्य साध्यस्य हेतुग्रहणत्वात् एव अनुप्रवेशं ज्ञानम् । जीवतश्च गृहाभावः पक्षधर्मोऽत्र  
कल्प्यते । तत्सर्वित्तिर्बहिर्भावः न चाबुद्ध्वोपजायते ॥ अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते । न तद्व्य-  
हृण्वेलायामग्न्यधीर्न हि किञ्चन ॥ गृहाभावस्तु यं शुद्धो विद्यमानत्ववर्जितः । स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्-  
हिवृत्तेर्न साधकः ॥ विद्यमानत्वसमुपगृहाभावधियाऽनया । गेहादुत्कलितश्चैत्रो विद्यते बहिरेव हि ॥  
गेहाभावत्वमात्रं तु यत्स्वतन्त्रं प्रतीयते । न तावता बहिर्भावश्चैत्रस्यैवावधार्यते ॥ सिद्धे सद्भावविज्ञाने  
गेहाभावधियाऽत्र तु । गेहादुत्कलिता सत्ता बहिरेवावतिष्ठते ॥ तेनास्य निरपेक्षस्य व्यभिचारी मृतादिना ।  
यस्य त्वव्यभिचारित्वं न ततोऽन्यत्प्रतीयते ॥ तस्मात् प्रत्यक्षतो गेहे चैत्राभावे ह्यभावतः । ज्ञाते यत्स-  
त्त्वविज्ञानं तदेवेदं बहिर् स्थितम् ॥ पक्षधर्मात्मलाभाय बहिर्भावः प्रवेणितः । तद्विशिष्टोऽनुमेयः स्यात्  
पक्षधर्मान्वयादिभिः ॥ पक्षधर्मादिविज्ञानं बहिर् सन्नोपगतो यदि । तैश्च तद्गोपतोऽवश्यमग्न्याश्रयना  
भवेत् । अन्यथानुपपत्तौ तु प्रमेयानुप्रवेशिता । ताद्रूप्येणैव विज्ञानात्त्र दोषः प्रतिभाति न ॥ येन बहिर्भा-  
वेन विशिष्टश्चैत्रोऽनुमातव्यः, स पक्षीवृत्तजीवश्चैत्रधर्मतया गृहाभावस्यात्मलाभाय तत्प्रतीतिवैक्याया-  
मेवानुप्रवेशितः इति । तदेव सत्यपि यद्यनुमानत्वमित्येन तत्स्फुटमिदं तत्रैतत्प्रतीतिवैक्याया-

चैत्रस्य गृहाभावेन वह्निर्भावः कल्प्यते, अन्यथा मृतेन अनेकान्तः स्यात् । अभावश्च गृहीतः, सन् वह्निर्भावमवगमयति नागृहीतो धूमवत् । अभावग्रहणञ्च सदुपलम्भ-  
कप्रमाणपञ्चकाभावपूर्वकम् । इह च सदुपलम्भकमस्त्येव जीवनग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम्,  
सति तस्मिन् कथमभावग्रहणं प्रवर्तते इति ? प्रवर्तमानमेव एतत्सदुपलम्भकं प्रमाणं  
5 पृथग्विपर्ययमवस्थापयति । जीवनं हि अस्तित्वम्, आगमात् सामान्यतो यत्तस्य प्रतिपन्नं  
तद् गृहेऽभावं परिच्छिन्दता प्रमाणेन स्वैविययादन्यत्रै सङ्कोच्यते 'वह्निरस्य भावः गृहे  
त्वभावः' इति । तेन जीवतो गृहेऽभावलक्षणसाधनप्रतिपत्तेः वह्निर्भावलक्षणसाध्य-  
प्रतिपत्तिपूर्वकत्वसिद्धेः सिद्धः प्रमेयानुप्रवेशः, अतः नेयमनुमानम् । नहि वह्निवाद्यनुमाने  
धूमादिलिङ्गग्रहणसमये अनुमेयप्रतिपत्तिः प्रतीता, धूमादिग्रहणोत्तरकालं तत्प्रति-  
10 पत्तिप्रतीतेः । ननु अर्थापत्तावपि प्रमेयानुप्रवेशो दोषः समान एव; सत्यमेव तत् ;  
तथापि प्रमाणद्वयसमर्पितैकवस्तुविषयभावाभावसमर्थनार्थं प्रवर्तमाना अर्थापत्तिः  
परामृशत्येव प्रमेयद्वयम्, अन्यथा तत्सङ्घटनायोगात् । अतश्च येयम् आगमाद-  
नियतदेशतया कचिदस्तीति संवित्तिरभूत् सैवेयं गृहाभावे गृहीते 'वह्निरस्ति' इति संवित्  
संबृत्ता । तदतो वैलक्षण्यात् नानुमानमर्थापत्तिः ।

15 सम्बन्धग्रहणाभावाच्च । भावाभावौ हि न युगपद् वह्नि-धूमवद् एकत्रेन्द्रियप्रभ-

नवर्थापत्तावपि तुल्योऽप्य दोषः, तत्रापि हि गृहाभावमात्रं मरणेनाप्युपपन्न न वह्निर्भाव कल्पयति,  
विद्यमानत्वममृष्टस्तु कल्पयेत्, स त्वनवगतो वह्निर्भावो न सन्नयनेऽवगन्तुम्, नचानवगत कल्पको भवति,  
तदवगमे च प्रमेयाभाव स्यादन आह-अन्यथेति । अन्यथानुपपत्तिरूपे प्रमाणान्तरे योज्य विद्यमान-  
त्वसमुत्प्रेगृहाभावबुद्धावेव प्रमेयस्य वह्निर्भावस्यानुप्रवेश स न दोष । कस्मात् ? तादृशैर्णव ज्ञानात् ।  
इदुपमेव हि एतत्प्रमाण यदर्थञ्च यस्वास्त्यर्थान्तरे मिय प्रतिघातेनासम्भवमालोच्य अर्थान्तर-  
कल्पनया प्रतिघात परिहृत्य सम्भवतीत्यत एव विलक्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणान्तरत्वम् अनुपपत्तिरिति  
चावगतस्यार्थान्तरेण प्रतिघातश्चोच्यत इति ।"—मी० श्लो०, न्यायर० पृ० ४५५-७७ । शास्त्रवी०  
पृ० २९७ । तुलना-न्यायम० पृ० ३७ ।

(१) केवलेन गृहाभावेन यदि वह्निर्भावः कल्प्येत । (२) जीवित्वग्राह्यागमाख्यं प्रमाणम् ।  
(३) न हि निविषय प्रमाण भवति, एव च भावो गृहीतो नाभावस्तत्कथ स हेतुः, भाववदद्यापि  
साध्यत्वात्-आ० टि० । (४) चैत्रस्य । (५) अभावप्रमाणेन । (६) गृहलक्षणात् । (७) वह्निः ।  
(८) वह्निः । (९) जीवति चैत्र इति आगमाख्यं प्रमाणम्, गृहे च नास्तीत्यभावप्रमाणम्, तत्समर्थनार्थं  
वह्निरस्तीत्यर्थापत्तिं प्रवर्तते अन्यथा प्रमाणद्वयस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्-आ० टि० । आगमप्रमाणेन हि  
चैत्रस्य भावो विषयीकृतः अभावप्रमाणेन च तस्याभाव इति, अत चैत्रविषयकसद्भावाभावयोः अविरो-  
धस्यापनार्थम् अर्थापत्तिः प्रवर्तते, सा च चैत्रो गृहे नास्ति वह्निरस्ति इति प्रमेयद्वय परामुक्ति (१०)  
अर्थापत्तिं विना । (११) भावाभावयो-आ० टि० । भावाभावयोः सघटनस्य अविरोधस्य अयोगात्  
अभावापत् । (१२) नेयमनुमानमिति गतेन सम्बन्ध । (१३) "गृहाभाववह्निर्भावो न च दुष्टीनियोगत ।  
माहित्ये तु प्रमाणञ्च तयोरेव्यत्र विद्यते ॥"—मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३१ । तुलना-न्यायम० पृ० ३७ ।

1 सच आ०, व० । 2 जीवग्राह्याग-आ०, व० । 3 यत्तमा-य० । 4 वह्निर्भावलक्ष्यसाध्य-व० ।  
5 एवास्त्येवमेतत् व० । 6 योज्यम् थ० । 7-ग्रहणाभावाभावाच्च थ० ।

वप्रत्यये प्रतिबद्धतया बोद्धुं शक्यौ, गृहाभावस्य हि व्याप्यत्वे वहि सद्भावो व्यापक, स च प्रत्यक्षेण अर्वाग्दर्शिभि साक्षात्कर्तुमशक्य अनन्तदेशवृत्तित्वात् । ननु ऋश्चिद् द्वारि स्थित कस्यचिद् द्वेवदत्तादे भावाभावौ गङ्गाति—'यदा एतस्य गृहेऽभाव तदा अन्यत्र सद्भाव' इत्येव व्याप्तिग्रहणोत्तरकाल चैत्रादेर्निश्चितजीवनस्य गृहेऽभावाद् वहि सद्भावो निश्चीयते, सत्यम्, तथाप्यनुमानादस्या बौलक्षण्यम्—तत्र हि सामान्येन अनियतदेशेन व्यापकेन सम्बन्धग्रहे सति उत्तरकाल पक्षधर्मतानिश्चयसमये व्यापकस्य नियतदेशतया प्रतिपत्ति, अत्र तु वैपरीत्यम् । नहि गृहेऽभावात् नियतदेशतया चैत्र प्रतीयते<sup>१</sup> । यादृश एव हि व्याप्तिकाले तादृश एव प्रयोगकालेऽप्यनियतदेशोऽसौ प्रतीयते ।

किञ्च, गृहद्वारवर्तिनो गृहेऽभावस्य वहि सद्भावेन सम्बन्धग्रहे गृहे चैत्र सद्भावेन वहिस्तदभावसाधने कथं सम्बन्धग्रह स्यात् ? तदुक्तम्—

“नन्वस्त्येव गृहद्वारवर्तिन सङ्गतिग्रह ।

भावेनाभावसिद्धौ तु कथमपि भविष्यति ॥” [ मायम० पृ० ३८ ]

न खलु गृहे चैत्रस्य सद्भावाऽन्यथानुपपत्त्या देशान्तरेषु तन्नास्तित्वावसाये गृहे त सद्भावरथं देशान्तरे तन्नास्तित्वेन<sup>२</sup> अध्यक्षत सम्बन्धग्रहो घटते, देशान्तराणामानत्यात् । कथमेव धूमस्य अनग्निव्यतिरेकनिश्चय इति चेत् ? किं तेन गृहीतेन प्रयोजनम् ? धूमज्वलनयो अन्यवग्रहणसमवे व्यतिरेकग्रहणे तात्पर्याऽसभवात् । नहि भूयोदर्शनसुल भनिर्यमज्ञानसम्पाद्यमानसाध्याधिगमनिर्धृत्तचेतसाम् अनग्निव्यतिरेकनिश्चयेन किञ्चित् प्रयोजन साध्याधिगमस्य सम्पन्नत्वात् ? इह पुन अन्वयाधिगमसमय एव गम्यधर्मस्य

(१) गृहद्वारि स्थितो यस्तु बहिर्भाव प्रकपयत । यदकस्मिन्नेव देगे न तदान्यत्र विद्यते ॥ तदाप्यविद्यमानत्व न सत्र प्रतीयत । न चैकत्रेण नास्तित्वाद् व्याप्तिर्हो भविष्यति । —मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३४-३५ । (२) अनुमाने हि । (३) प्रयोगकात् । (४) अग्ने । (५) पवनादिस्यतया-आ० टि० । (६) अर्थापत्तौ । (७) अपि तु वहि यत्र कुनाप्यस्ति इत्यनियतरूपेण । (८) गृहद्वारवर्तिन —मायम० । (९) भावेन भावसिद्धौ —मायम० । (१०) सम्बन्ध । (११) व्याप्यभूतस्य । (१२) व्यापकभूतेन । (१३) ननु चाग्न्याद्यभावेऽपि धूमादिव्यतिरेकिणाम । तद्देशागमनात् स्पष्टो व्यतिरेको न सिद्धयति । यस्य वस्तुस्मरभाव प्रमेयस्तस्य दुष्यति । मम त्वदृष्टमात्रेण गमका सह चारिण । य खलु वस्तुन्तरेषु विपक्षयु लिङ्गस्याभावावधारणमनुमानाय प्राथयते तस्यैव दोष वय तु द्वित्रिचतुरेषु अवगताग्निसाहचर्याद् धूमाद्विपक्षादशनमात्रेण सहचारिणमग्निमनुमिमाना न सवविपक्षयु धूमाभावावधारण प्राथयामहे । नापि सवधूमवतामग्य वयमिति । —मी० श्लो० याथर० पृ० ४६० । (१४) अनग्निप्रदानात्मानन्त्यात्—आ० टि० । (१५) प्रतिपत्तुणाम । (१६) अर्थापत्तौ । (१७) वहि सदभावस्य—आ० टि० ।

१ यत्र तस्य व० । २ गृहे भावाभावात् थ० । ३ द्वारवर्ति व० । ४ ग्रहो गृहे चत्र व० । ५ 'गृहे' नास्ति आ०, थ० । ६ उक्तञ्च व० । ७ न बह्वेव आ० । ८ द्वारवर्तिन व० । ९ कथमेव थ० । १०—निश्चयमज्ञान—थ० । ११—निवसत्ते—व० । १२—अवयावगम—व० थ० ।

दुरधिगमत्वमुक्तम् अन-तदेशप्रवृत्तित्वात् । अथ अनुपलब्ध्या तन्नित्यं, तन्न, गृह-  
व्यतिरिक्तसकलदेशवर्तिन तदभावस्य नियतदेशया अनुपलब्ध्या निश्चेतुमशक्यत्वान् ।  
तेषु तेषु देशान्तरेषु गत्या अनुपलब्ध्या तन्भाव, इत्यप्यमुन्दरम्, यत् -

‘गत्वा गत्वापि तान् दशान् नास्य ज्ञानासि नास्तिताम् ।

कौशाम्बास्त्वयि निष्कान्ते तत्प्रवेशोभिशङ्क्या ॥’ [ यावद० पृ० ३८ ]

तस्माद्भूमिरिदमसर्वज्ञानाम् । अतो नियतदेशोपलभ्यमानपरिमितपरिमाण-  
पुरुपरातीराऽन्यथानुपपत्त्यैव तदितरसकलदेशान्स्तित्वाऽवधारण तस्यै इत्यर्थापत्त्यैव तत्र  
तदभावनिश्चय इति ॥३॥

अत्र प्रतिनिधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘दृष्ट श्रुतो वा इत्यादि, तत्र दृष्ट श्रुतो वाऽ

10 अर्थापत्त अनुमान  
प्रमाण अन्तभाव  
समभनम्

र्थं स्वसौच्येन सम्मद्ध, असम्मद्धो वा त कल्पयति ? यदि असम्मद्ध,  
कथं तत्कल्पनाकारणम् ? नहि यत्किञ्चिद् दृष्ट्वा य कश्चिदर्थं कल्प-  
यितुं शक्यं अतिप्रसङ्गान् । अथ सम्मद्ध, तर्हि अतो जायमाना

(१) यत्र नोपलभ्यते तत्र नास्ति चत्र-आ० टि० । (२) व्यतिरेकमुखन सम्भवनित्यय ।

नववमितरवापि सम्बन्धोऽनुपलब्धिन । चत्राभावस्य भावेन दृष्टत्वादुपपद्यते ॥ साहित्य मित्ते  
त्वात्प्रसिद्ध चाग्निधूमया । व्यतिरेकस्य चादष्टगमकत्व प्रकल्प्यते ॥ इह साहित्यमवेदमेकस्य सह

भाविन । जननेदेवर्तित्वान्न तावदुपपद्यते ॥ -मौ० श्लो० अर्था० श्लो० १-४३ । (३) नववत्रा  
विद्यमानत्व गम्यतऽनुपलब्धित । सा चाप्रयत्नमाध्यत्वात्प्रत्यक्षव सिद्धवति ॥ नतयाऽनुपलब्ध्याऽत्र

वस्तुभाव प्रतीयते । तद्गत्याऽगमनान सा हि दूरस्थत्वास्त सत्त्वपि ॥ गत्वा गत्वा तु तान देगान  
यथार्थं नोपलभ्यते । ततोऽन्यकारणाभावात्तन्मित्यवगम्यते ॥ -मौ० श्लो० अर्था० श्लो० ३६-३८ ।

(४) जानामि-न्यायम० । (५) गादिगच्छ्या-न्यायम० । (६) अनुपलब्धि । (७) चत्रस्य ।  
(८) वहि । (९) चत्राभावनिश्चय । (१०) प० ५०५ प० १८ । (११) रात्रिभोजनादिना-

आ० टि० । तलना-‘एषा विचायमाणा तु भिद्यते नानुमानत ॥ प्रतिबन्धादिना वस्तु न वस्तुत्वर  
वाचकम् । यत्किञ्चिन्व्यमालोक्य न च विश्वत्प्रतीयते ॥ प्रतिबन्धोऽपि नाज्ञान प्रयानि भविहेतुनाम् ।

न सद्योजातवालाऽरुदभवंति तथा विद्य ॥ न विद्यापानना यत्र सामान्यज्ञानसम्भव । तत्राप्यस्त्यव  
सामान्यरूपण तदुपग्रह ॥ -न्यायम० प० ४१ । अर्थापत्तरप्यनुमान एवान्तर्भावोऽविनाभावबलेनार्थ

प्रतिपत्तिसाधनवान । अथवा नोपपद्यन्त्युक्ते सत्यवोपपद्यन् इति लभ्यते । अयमवतिनाभाव इति ।  
-न्यायसा० पृ० २२ । अर्थापत्त्युपापत्तार्थो यथानुपपद्यमानत्वेनानवगत अवगतो वाऽऽप्यपरिक

ल्पनानिमित्त स्यात् ? -प्रमेयक० प० १९३ । स्या० र० २८३ । (१२) दृष्टात् अतार्थात्-  
आ० टि० । तुलना- दानार्थान्तरार्थापत्तिविरोध्यव श्रवणादनमिनानुमानाम् प्रग० भा० क०

प० २२३ । प्रश० श्लो० प० ५९० । गुरु गतिज्ञानार्थान्तरभावात् अनुमानोऽर्थापत्तिसम्भवनार्थान्तर  
भावाच्चाप्रतिषेधः । -न्यायश्ल० २।२।२। प्रयक्षणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमान तथा

चार्थापत्तिप्रसङ्गाभावा । वाक्यायसम्प्रययनानभिहितस्यायस्य प्रत्यनीकभावात् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमान  
मव । -न्यायश्ल० २।२।२। कथमर्थापत्तिरनुमान सगृह्यत ? द्वयोरेकतरप्रतिपद्यस्य द्वितीयाम्यनुना

विषयवान् । यत्र यत्र द्वयोरेकतरोरेकतरदस्तु प्रतिपिष्यते तत्र तत्र द्वितीयाम्यनुना दृष्ट्वा यथा दिवा न  
भट् कने च्यभिघातान रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते । -न्यायश्ल० प० २७६ । यायली० प० ५७ ।

1 नियतदेशतया व० थ० । 2 तेषु देगान्त-आ० थ० । 3-उमानो पु-थ० ।

प्रतीतिः अनुमानमेव, तथाहि—दृष्टात् श्रुताद्वाऽर्थाद् अर्थान्तरे प्रतीतिः अनुमानमेव, अविनाभावबलेन उपजायमानत्वात्, यद् यद् अविनाभावबलेनोपजायते तत्तदनुमानेव यथा धूमाद्दग्निविज्ञानम्, अविनाभावबलेनोपजायते चार्थापत्त्यभिमतता प्रतीतिरिति ।

किञ्च, असौ तत्सम्बद्धोऽपि तद्रूपतया ज्ञातः, अज्ञातो वा तत्कल्पनानिमित्तं स्यात् ? न तावदज्ञातः; बालादेरपि अतोऽदृष्टार्थकल्पनाप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातः; तत्रापि किं साध्यप्रतिपत्तिकाले तत्सम्बद्धतया असौ ज्ञातः, पूर्वं वा ? प्रथमपक्षे किं प्रमाणान्तरात् तत्सम्बद्धतया तदाऽसौ ज्ञातः, तत एव वा ? तत्राद्यविकल्पोऽप्युक्तः; तत्रप्रतिपत्तिकाले तत्सम्बन्धग्राहिणः प्रमाणान्तरस्यासंभवात्, संभवे वा साध्यस्यापि अत एव सिद्धेः किमर्थापत्त्या ?

अस्तु वासौ, तथापि—अनुमानान्न भिद्यते; तथाहि—अर्थापत्तिः अनुमानमेव, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायमानत्वात्, यद्यत्प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद् हेतोरुपजायते तत्तदनुमानमेव यथा धूमाद् वह्निविज्ञानम्, प्रमाणान्तरावगतसाध्यसम्बन्धाद्धेतोः उपजायते चार्थापत्त्यभिमतं ज्ञानमिति । अथ तत एव साध्यसम्बद्धतया असौ ज्ञातः; तदा अन्योन्याश्रयः—सिद्धायां हि अर्थापत्तौ तर्दुत्थापकार्यस्य तत्सम्बद्धतया इन्निसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अर्थापत्तिसिद्धिरिति । अथ पूर्वं तत्सम्बद्धतयाऽसौ ज्ञातः किं साध्यधर्मिण्येव, दृष्टान्तधर्मिणि वा ? प्रथमविकल्पे अर्थापत्तेर्वैयर्थ्यम् तत्साध्यस्य प्रागेव प्रसिद्धत्वात् । दृष्टान्तधर्मिण्यप्यनभ्युपगमात्सासौ तत्सम्बद्धतया ज्ञातव्यः ।

किञ्च, तत्रासौ साध्यसम्बद्धतया भूयोदर्शनात्, विषं च्चेऽनुपलम्भात्, अर्थापत्त्य-

“न चार्थापत्तिरनुमानतो भिद्यते, लोके तदसङ्कीर्णोदाहरणाभावात्, प्रकारान्तराभावाच्च ।”—न्यायकुसु० ३।१९। “सिद्ध साध्यविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रभावक । सभवादेश्च यो हेतु सोऽपि लिङ्गान्न भिद्यते ॥ दृष्टान्तनिरपेक्षत्वं लिङ्गस्यापि निवेदितम् । तत्र मानान्तरं लिङ्गादर्थपत्त्यादिवेदनम् ॥”—तत्त्वार्थ-श्लो० पृ० २१७ । प्रमेयक० पृ० १९३ । सन्मति० टी० पृ० ५८५ । जंतकंवा० पृ० ७७ । स्या० १० पृ० २८३ । रत्नाकराव० २।१ ।

(१) दृष्टं श्रुतो वाऽर्थ—आ० टि० । (२) सम्बद्धरूपतया—आ० टि० । (३) तुलना—“अस्यान्यथानुपपद्यमानत्वावगम अर्थापत्तेरेव प्रमाणान्तराद्वा ?”—प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० १० पृ० २८४ । (४) साध्यप्रतिपत्तिकाले (५) सम्बन्धग्राहिण प्रमाणान्तरादेव । (६) पीनत्वगृहाभावादे—आ० टि० । (७) मीमांसका हि अर्थापत्तौ सम्बन्धावगमं दृष्टान्ते न स्वीकुर्वन्ति अर्थापत्त्यनुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गात् । “अविनाभाविता चान्न तदैव परिकल्प्यते । न प्रागवधृतेत्येव सत्यप्येवा न कारणम्” (मी० श्लो०, अर्था० श्लो० ३०) इत्यभिधानात् । (८) दृष्टान्तधर्मिणि चेद् दृष्टं श्रुतो वार्थं पूर्वं प्रतिपन्नं, तदा साध्यधर्मिणि किमायातम्—आ० टि० । (९) दृष्टान्तधर्मिणि । तुलना—“अथ प्रमाणान्तरात्तदवगम, तत्किं भूयोदर्शनं विपक्षेऽनुपलम्भो वा ?”—प्रमेयक० पृ० १९४ । स्या० १० पृ० २८४ । (१०) विपक्षा हि अग्निदेशाद्या अनन्ता एव—आ० टि० ।

१—न्तरप्रतीति—थ० । २—दृष्टिविज्ञानम् व० । ३ वा कल्पना—आ० । ४—सम्बद्धाद् व० । ५—सम्बद्धाद्—आ० । ६ प्रागेव सिद्ध—श्र० । ७—सौ सम्बद्ध—व०,—सौ साध्यस्य सम्बद्ध—श्र० ।



असत्त्वस्यै वा प्रसङ्गात् । प्रयोगः—रात्रिभुक्तिमान् देवदत्त, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनत्वात्, यो यो रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीन स स रात्रिभुक्तिमान् यथा नक्तश्चर, रसायनाद्युपयोगाभावे दिवाभुक्तिरहितत्वे च सति पीनश्च देवदत्त, तस्माद् रात्रिभुक्तिमानिति । ततो 'नहीद वाक्यमेव तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनम्' इत्याद्युक्तमुक्तम्, यैथोक्तविशेषणविशिष्टस्य पीनत्वलक्षणलिङ्गस्यैवातो वाक्यात् प्रतिपत्ते, तैत्प्रतिपत्ताच्च लिङ्गात् रात्रिभोजनप्रतिपत्तिसिद्धिरिति ।

याप्यभावपूर्विकाऽर्थापत्तिः साध्यनुमानमेव, जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावेन लिङ्गेन वहिर्भावावगमात् । तथाहि—जीवतश्चैत्रस्य गृहेऽभावः वहिर्भावेन तद्वान्, जीवन्मनुष्यगृहाभावत्वात्, पूर्वोपलब्धैवविधगृहाभाववत्, यथा धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत् । ततश्च गृहादीना लिङ्गत्वनिराकरणशब्दाडम्बरमात्रम् अस्मन्मताशाऽस्पर्शित्वात् ।

यत्पुन प्रमेयानुप्रवेशो दूषणमुक्तम्; तदपि न युक्तम्, यैत किं प्रमेयमात्राऽभिमतम्— किं सत्तामात्रम्, वहिर्देशविशेषित वा सत्त्वम् ? तत्र सत्तामात्र तावद् आगमादेवाऽवगतमिति नै प्रमाणान्तरप्रमेयतामवलम्बते । वहिर्देशविशेषित तु सत्त्व भवति प्रमेयम्, न च तस्य तदानीमनुप्रवेशः । गृहे चैत्राभावमाहक हि प्रमाण तत्रैवै तत्सद्भावावेदम् प्रमाणमपाकरोति न पुन वहिस्तत्सदसत्त्वचिन्ता करोति ।

“भूतस्य जीवतो दूरे तिष्ठत प्राङ्गणोऽपि वा ।

गृहामावर्षिच्छेदे न विशेषोस्ति कश्चन ॥” [ न्यायम० पृ० ४३ ]

(१) पृ० ५०७ पं० १२ । (२) रसायनाद्युपयोगाभावेत्यादि—आ० टि० । (३) वाक्यप्रतिपत्तात् । (४) तुत्रना— साध्यनुमानमव व्याप्ते पूर्वमेव ग्रहणात् । तथाहि—देवदत्तो वहिर्देशसम्बन्धी जीवनसम्बन्धित्वमनि गृहेऽनुपलभ्यमानत्वात् विष्णुमित्रवत् । —प्रग० ध्यो० पृ० ५९१ । तदापि गृहायुक्तत्वदृष्ट्या दृष्टविनिश्चिनम् । अतस्तत्र वहिर्भावो लिङ्गादेवावगमियते ॥ सद्यना यो ह्यममृटो नियत वहिरस्त्यमो । गृहाङ्गणस्थितो दृष्ट पुमान् द्वारिस्थितैरिव ॥ विपक्षोऽपि भवत्यत्र सदनात्नर्गतो नर । अर्थापत्तिरियं तस्मादनुमानात् मिथन ॥ —तत्त्वस० पृ० ४७० । प्रमेयक० पृ० २०३ । समति० शी० पृ० ५८६ । स्या० १० पृ० ३०८ । 'वैत्रस्य गृहाभावो धर्मो वहिर्भावेन तद्वानिति माध्यो धर्मजीवमनुष्यगृहाभाववान् पूर्वोपलब्धैवविधगृहाभाववत् । —न्यायम० पृ० ४३ । 'तदप्यनुमानमेव, यदा साधु सन्नतत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदा वाऽन्यापत्र एवत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति, सोऽयं स्वर्गोऽय एव व्याप्तिपदं सुखर । तथा च गतो गृहाभावत्पानन त्रिङ्गन वहिर्भावदर्शनमनुमानम् । —न्यायवा० शा० पृ० ४३८ । सत्यतत्त्वकी० पृ० ४४ । प्रज्ञा० क० पृ० २२३ । न्यायकुमु० ३।१९ । प्रग० स्तिरभा० पृ० ३२४ । वदो० उप० ९।२।५ । (५) पृ० ५०९ प० ८ । (६) गुणता— किं प्रमेयमभिमतमत्र भवता किं सत्तामात्रमुत्र वहिर्देशविशेषितं सत्त्वम् । —न्यायम० पृ० ४३ । स्या० १० पृ० ३०९ । (७) गृह एव । (८) 'वैत्रस्य—न्यायम० । मृतस्य जायतो वा दूरे प्राङ्गणोऽपि वा । निष्पन्नत्वेनस्य गृहाभावपरिच्छेदः विशेषाभावात् । —स्या० १० पृ० ३०९ ।

१—स्य प्रग०—२० । २—व्याप्तत्प्रति—३० । ३—प्रतिपत्तिरिति आ० । ४ मत्प्रमा—आ० । ५—मात्रं प्रमे—३० । ६—परिच्छेदपरि—२० ।

प्रवर्त्तते इति कथं तदनुप्रवेशः ? तदसमीक्षिताभिधानम्; सैदसत्त्वज्ञानयोः असमान-  
विषयतया विरोधाऽसिद्धेः । आगमेन हि देशविशेषानवच्छिन्नस्य चैत्रस्य सत्ता प्रतिपाद्यते  
न गृहे वहिर्वा, प्रत्यक्षेण तु गृहावच्छिन्नस्य चैत्रस्याभाव इति । समानविषयत्वे तु तयोरन-  
न्यथासिद्धाऽध्यक्षयाध्यत्वेन आगमजज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्येव नाऽर्थान्तरकल्पनाकारणत्वम् ।

अथ मतम्—अनुमाने गमकविशेषणम् अन्यथानुपपन्नत्वं 'वहिं विना धूमो नोप-  
पद्यते' इति, अर्थापत्तौ तु विपर्ययः गमकं विना गम्यो नोपपद्यते । गम्यो हि वहिर्भावः,  
स जीवतो गृहाभावं विना नोपपद्यते, गृहान्निर्गतो जीवन् वहिरस्तीत्येवं गम्यगमकयो-  
रनुपपद्यमानत्वे विपर्ययात् प्रमाणान्तरमनुमानादार्थापत्तिरिति; तैदप्यसङ्गतम्; 'साध्या-  
विनाभाविनो लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्' इत्यनुमानलक्षणम् । तच्चार्थापत्तौ  
अस्त्येव । न हि तदुत्थापकार्थस्य साध्येन अविनाभावोऽसिद्धः; तर्तः तैत्सिद्ध्यभाव-  
प्रसङ्गात् । स चाविनाभावः अन्यथानुपपन्नत्वापरपर्यायः उभयनिष्ठत्वात् गमकवि-  
शेषण वास्तु गम्यविशेषणं वा नैतावता अर्थापत्त्यनुमानयोः भेदः; अन्यथा 'सूर्यस्य गम-  
नशक्तिरस्ति गतिमत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेः' इति पक्षधर्मत्वसहिताया अर्थापत्तेः 'बह्वेर्दाह-

(१) तुलना—'तथाहि—सत्त्वमात्रं वा विरुध्यते चैत्रस्य गेहाभावेन गेहसत्त्व वैकत्रास्य । न तावद्यत्र  
वचन सत्त्वस्यास्ति विरोध गेहऽसत्तया समानविषय वाभावात् 'गृहाभावावच्छिन्नाभावेन गेहसत्त्व  
विरुद्धत्वात्प्रतिपिध्यत न तु सत्त्वमात्रम् तत्र तस्योदासीन्यात्, तस्माद् गृहाभावेन सिद्धेन सतो बहिर्भावोऽ-  
नुमीयत इति युक्तम् । एतेन विरुद्धयोः प्रमाणयोरविरोधापादन विषयव्यवस्थया अर्थापत्तिविषय-  
परास्त, अवच्छिन्नाजवच्छिन्नयोरविरोधात् ।'—न्यायवा० ता० पृ० ४३९ । साध्यतत्त्वकौ० पृ०  
४४ । "अनियम्यस्य नापुक्ति नानियन्तोपपादक । न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ॥"—  
न्यायकुमु० ३।१९ । (२) नियतदेशविषयत्वेनैव सिद्धमध्यक्षम्—आ० टि० । (३) अवलगागमज  
ज्ञानमनियतदेशविषयत्वात्—आ० टि० । (४) प्रभाकरस्य । "यदि यद्येन विना नोपपद्यते तदेवाव-  
गमक स्यात्, इह तु यत्रोपपद्यते तदेवावगम्यते । किं चात्र नोपपद्यते ? जीवतो गृहाभावदर्शनात्  
अन्यत्राभावो नोपपद्यते । तत किम् ? नात्राभावस्य गम्यता । कस्य तर्हि ? भावस्य । न चासौ  
गृहाभावदर्शनोपपद्यते । वाद नोपपद्यते । न हि गृहाभावदर्शनं विना वहि भाव उपपद्यते ।"—शाबर-  
भा० बृह० १।१।५ । 'विना कल्पनयाऽर्धेन दृष्टेनानुपपन्नताम् । नयता दृष्टमर्थं या साऽर्थापत्तिस्तु  
कल्पना ॥ अभावेन गृहे भावो वहिष्कल्पनया विना । नयताऽनुपपन्नत्व कल्प्यमाना बहिर्गया ॥  
गम्यस्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना । मानान्तरविरोधेन सन्देहापत्तिलक्षणम् ॥ देशेन हि विना  
भावो न कदाचन दृश्यते । विना भावेन सिद्धोऽपि ते सन्देहापत्तिलक्षणम् ॥ तत्सन्देहव्युदासाय कल्पना या  
प्रवर्त्तत । सन्देहापादाकार्थादर्थार्थापत्तिरसौ स्मृता ॥ गमकस्यानुमाने तु विपक्षासत्त्वलक्षणम् । गम्यतेऽ-  
नुपपन्नत्व विना गम्यन वस्तुना ॥ तत्सामग्रीविभेदेन भिन्ने एते परस्परम् । अर्थापत्त्यनुमानास्ये प्रमाणे  
ऽपि निश्चिनम् ॥"—प्रक० पृ० ५० १२८ । तत्रा—न्यायम० पृ० ४४ । (५) तुलना—'एतदपि  
नुपपद्यमानत्व  
—न्यायम० पृ०  
४४ । (६) अर्थापत्त्युत्थापकार्थान् । (७) साध्य ।

१ तयोर्न्यया—व० । २—मानविषययात् थ० । ३ तत्त्वार्थापत्तौ व० । ४ पक्षधर्मसङ्घि—आ० ।

अप्रतिनियते चानुमानतोऽभावसिद्धेः कथमुक्तदोषानुपपन्नः ? तच्चानुमानम्-देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चत्राधिष्ठितदेशव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवत् । न च 'देशान्तराणि चैत्रयुक्तानि तत्समीपदेशव्यतिरिक्तत्वात् चैत्राधिष्ठितदेशवत्' इति प्रत्यनुमानोपहतमेतदित्यभिधातव्यम्; तैत्पक्षस्य प्रत्यक्षादिधाधितत्वात् । तदेवमर्थापत्तेः अनुमानादर्धान्तरत्वाऽसिद्धेः सिद्धः परेषा प्रमाणसख्याव्याघातः ।

ननु भवेतामप्येव प्रमाणसख्यानियमविरोधस्तुल्यः 'उपमानादेः प्रदिपादितप्रमाणप्रपञ्चस्य प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामर्थान्तरत्वाऽविरोधात्' इत्यारेकापनोदार्थमाह- 'सर्वस्य' इत्यादि । सर्वस्य अनन्तरोक्तस्य उपमानादिप्रमाणप्रपञ्चस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् नाऽस्माक कश्चिद्दोषः । कस्मात् तस्य तत्रान्तर्भाव इति चेत् ? तल्लक्षणलक्षितत्वात् । यस्य यल्लक्षणलक्षितत्वं तस्य तत्रान्तर्भावः यथा रूपसुरादिसवेदनस्य प्रत्यक्षे, परोक्षलक्षणलक्षितत्वञ्च उपमानादेरिति । यथैव हि रूपादिसवेदनस्य सुरादिसवेदनस्य च विपर्ययेभेदान् सामग्रीभेदाच्च अन्योन्यं वैलक्ष्येऽपि वैशद्यस्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षितत्वात् प्रत्यक्षत्वम्, तथा उपमानादेरपि अवेशद्यस्त्रभावपरोक्षलक्षणलक्षितत्वात् परोक्षत्वमिति ।

नन्वेवमपि परोक्षस्य स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽनुमानागमभेदैः परिगणितत्वात् कथमुपमानादेस्तत्रान्तर्भाव, तदन्तर्भावे वा परिगणनविरोधः ? इत्यसमीचीनम्; उपमानादेः प्रत्यभिज्ञानादिरूपतया तत्परिगणनाऽविरोधकत्वात् । दर्शनस्मरणकारणक हि संकलन प्रत्यभिज्ञानमुच्यते, इदमप्युपमानादिज्ञान दर्शनस्मरणकारणकं सादृश्यादि-

(१) तुलना- देशान्तराणि चैत्रशून्यानि चैत्राधिष्ठितव्यतिरिक्तत्वात् तत्समीपदेशवदिति"- न्यायम० पृ० ३८ । (२) "ननु देशान्तर शून्य चैत्रणैव प्रतीयते । तद्व्यतिरिक्तत्वात् समीपस्थितदेशवत् । विरुद्धाव्यभिचारित्वे तद्वदेव हि गम्यते । समीपदेशभिन्नत्वाच्चैत्राधिष्ठितदेशवत् । एतदुक्तं भवति-न तावद्दृष्टान्तराणि चैत्रशून्यानि तत्समुक्तदेशव्यतिरिक्तदेशत्वादिति हेतुः सम्भवति, सन्दिग्धत्वात् देशान्तराण्यपि तत्समुक्तानि न वेत्येतावदेव विचार्यते । कथं तेषां तत्समुक्तदेशाद् व्यतिरेकसिद्धिः । यदि परमेवमुच्यते-यमेवाधुना चैत्राधिष्ठितोऽववरकदेश तद्व्यतिरिक्तत्वादिति, एव विधत्वाप्रयोजको हेतुः, इतरथा हि शक्यते-चैत्रयुक्त देशान्तर तत्समीपव्यतिरिक्तदेशत्वात् तदधिष्ठितदेशवदिति ।'-मी० श्लो० अर्था०, न्यायम० पृ० ४६१-६२ । (३) 'प्रतिपक्षप्रयोगस्तु प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वाद्देवाभास एव ।'-न्यायम० पृ० ४५ । (४) मीमांसकानाम् । (५) ज्ञानानामपि । (६) उपमानादयः परोक्षेऽन्तर्भवन्ति परोक्षलक्षणलक्षितत्वात् । तुलना-"यदेकलक्षणलक्षितं तद्व्यतिरिक्तदेशवत् यथा वैशद्यलक्षणलक्षितं चक्षुरादिप्रत्यक्षम्, अव्यंशद्यैकलक्षणलक्षितञ्च शब्दादीति ।'-प्रमेयक० पृ० १९२ । सन्मति० टी० पृ० ५९५ । स्या० २० पृ० २८३ । (७) रूपादिमुक्तादिलक्षणः । (८) चक्षुरादिमानसादिरूपः । (९) लघीयस्त्रयस्य 'ज्ञानमात्रं स्मृति' (का० १०) इति कारिकायाम्, परोक्षामु० ३१२ । प्रमाणनय० ३१२ । प्रमाणमी० १२।२। इत्यादिपु च । (१०) तुलना-प्रमेयक० पृ० १९३ । स्या० २० पृ० २८३ ।

1 अतिनियते आ० । 2-न्तरतासिद्धे श्र० । 3 प्रमाणपञ्चकस्य ब० । 4 अन्योन्यवैल-आ०, ब० । १० सकल्पनं श्र० ।

सङ्कलनस्वभावश्च, अतः कथं प्रत्यभिज्ञानात् व्यतिरिच्येत ? यद् दर्शनस्मरणकारणक सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावश्च तत् प्रत्यभिज्ञानमेव यथा प्रसिद्धप्रत्यभिज्ञानम्, तत्कारणकं सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावञ्चोपमानमिति ।

‘तद्’ इत्यादिना प्रकृतोपसंहारमाह—यस्माद् उपमानादेः परोक्षेऽन्तर्भावः तत् तस्मात् समञ्जसम् उपपन्नम् ‘प्रत्यक्षं परोक्षञ्च इति एवं द्वे एव प्रमाणे’ इति । कुत एतत् ? इत्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन प्रकारेण तेषां प्रमाणानां सङ्ख्याया अनवस्थानादिति ॥ ७ ॥

मिथ्यायुक्तिपलालकूटनिचयं प्रज्वाल्य निःशेषतः,

सम्यग्युक्तिमंहांशुभिः पुनरियं व्याख्या परोक्षे कृता ।

येनासौ निखिलप्रमाणकमलप्राज्यप्रबोधप्रदः,

भास्वानेर्षं जयत्यचिन्त्यमहिमा शास्ताऽकलङ्को जिनः ॥ ७ ॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥ ७ ॥



## प्रमाणप्रवेशे चतुर्थ आगमपरिच्छेदः ।

प्रत्यक्षेतररूपमानमसिलं व्याख्याय साभासताम्,

तस्यै व्यापयितुं कथञ्चिदधुना प्रारभ्यते प्रक्रमः ।

मिथ्यैकान्तमहान्धकूपपतनव्यामुग्धयुद्धेः स्फुटम्,

कः सन्मार्गनिरूपणेऽत्र कुशलः स्याद्वादभानोः परः ॥ १ ॥

अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभासं न सर्वथेति प्रदर्शयन्नाह—

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित् स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।

यैद्यथैवाऽविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥ २२ ॥

(१) उपमान प्रत्यभिज्ञानात्मकमेव दर्शनस्मरणकारणत्वे सति सादृश्यादिसङ्कलनस्वभावत्वात् । (२) स एवायं जिनदत्त इत्येकत्वप्रत्यभिज्ञानम् । (३) मानस्य (४) “स्याद् भवेत् । किम् ? प्रत्यक्षाभं प्रत्यक्षप्रमाणाभासमित्यर्थं । अक्षमिन्द्रियानिन्द्रियं प्रति नियतं प्रत्यक्षं ज्ञानमात्रम् तद्विवाभातीति व्युत्पत्तेः । किं विशिष्टम् ? तैमिरादिकं तिमिरादागतं तैमिरं तदादिदिस्य आशुभ्रमणादेः तथोक्तम् । तत् किं स्यात् ? प्रमाणं भवति । कथम् ? कथञ्चित् भावप्रमेयापेक्षया द्रव्यापेक्षया वा, न सर्वथा प्रमाणाभासमेव, वह्निरर्थाकारविषय एव ज्ञानस्य विसवादात् स्वरूपापेक्षया तस्याविसवादात् । अत्राविनाभाव दर्शयति यदित्यादि । यज्ज्ञानं यथैव यावद्विषयावबोधनप्रकारेण अविसंवादि, विसंवादो गृहीतार्थव्यभिचारः तद्रहितमविसंवादि, तज्ज्ञानं तथा तावद्विषयावबोधन-

१-कारण सकलन-आ०, थ० । २ तत्कारण सादृ-ब० । ३-महामुनि पु-ब० । ४-नेय जयत्यरोक्षमहि-ब० । ५ श्रीमदप्रभा-ब० । ६ परिच्छेद समाप्त ॥ ब० । ७-त्वेन मित्रविज्ञा-ब० ।

विवृतिः—तिमिराद्युपसृज्जानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा तत्सञ्ज्ञादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् । नहि ज्ञानं यदप्य-  
जुङ्करोति तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षणात् । कथमन्यथा दृष्टे प्रमा-  
णान्तरवृत्तिः ? कृतस्य करणायोगात्, तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणानिष्टेः । तदस्य  
विसंवादोऽपि अवस्तुनिर्भासात्, चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानामविसंवादकत्वात् ।

प्रकारेण प्रमाण मतमिष्टं परीक्षकंरिति । तथाहि—सर्वं सशयादिव प्रमाणाभास स्वरूपापेक्षया  
द्रव्यापेक्षया वा प्रमाण भवति तत्राविसवादित्वात्, यत्राविसवादि तत्तत्र प्रमाण यथा रस्ते रसज्ञानम्,  
अविसवादि च सशयादिक स्वरूपे द्रव्यरूपादौ वा, ततस्तत्र कथञ्चित्प्रमाणमिति । विसवाद एव  
सत्त्वप्रामाण्यनिबन्धनम् अविसवादश्च प्रामाण्यनिबन्धनमिति न्यायस्य सकलवादिस्ममतत्वात् सर्वथा  
प्रमाणाभासस्य न्याययून्यत्वात् । 'बहि प्रमेयापेक्षया प्रमाणं तन्निभञ्चते' (आप्तमी० श्लो०  
८३) इति वचनात् । न हि ज्ञान स्वरूपे विसवादि तस्याहप्रत्ययसिद्धत्वात् । प्रसिद्धे च विषये  
प्रवर्तमान कथमप्रमाण स्यादिति ।—लघी० ता० पृ० ५२ । अस्या कारिकाया यद्दिग्मानादिना  
तमिरादिक प्रत्यक्षाभासमुक्तम्, तस्य कथञ्चिदेव प्रत्यक्षाभासता दर्शयति । दिग्मागादेः प्रत्यक्षाभ-  
स्वरूपप्रदर्शकं ग्रन्थास्त्वित्यम्—“भ्रान्तिस्संवृत्तिसञ्ज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मरणञ्चाभिलाषश्चेत्य-  
क्षाभासं सतमिरम् ॥ अथ मरीचिकादियु जलादिकल्पनात् भ्रमज्ञानं प्रत्यक्षाभासम् । संवृत्तिसत्यं हि  
स्वस्मिन् अर्थान्तरमारोप्य तत्स्वरूपकल्पनात् प्रत्यक्षाभामम् । अनुमानं तत्फलञ्च पूर्वानुभवकल्प-  
नात् प्रत्यक्षम् ।”—प्रमाणममु०, पृ० १।८ । “त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम् । अविकल्प-  
वमेकञ्च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम् ॥ त्रिविधं कल्पनाज्ञानं प्रत्यक्षाभम्—मरीचिकाया जलाध्यवसायि भ्रान्ति-  
ज्ञानम् । संवृत्तौ विसवादिद्व्यवसायसावृतज्ञानम्, पूर्वदृष्टकदवकल्पनाप्रवृत्तं लिङ्गानुमेयादिज्ञानम् ।  
अविकल्पकञ्चैकं प्रत्यक्षाभासम्, कीदृशम् ? आध्यस्य इन्द्रियस्य उपप्लवस्तिमिराद्युपघातं तस्मा-  
द्भवो यस्य ततथा । एवञ्च चतुर्विधं प्रत्यक्षाभासम् । नन्वविकल्पकं प्रत्यक्षम्, ततस्त्वयमपीदं  
सविकल्पवत्त्वादेवः प्रत्यक्षाभासः । तत्किम् ? भ्रान्तिज्ञानं मृगतृणिकाया जलावसायि । संवृत्तिमतौ  
द्रव्यादर्शनम् । अनुमानं लिङ्गज्ञानम्, अनुमानिकं लिङ्गज्ञानम् । स्मार्तम् स्मृतिः । आभिलाषिक-  
ञ्चति विलसप्रभेद आचार्यदिग्मागेनेकम् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८८ । तुलना—“पीतसज्ञादियु  
विज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थत्रियाव्याप्तरभावात्, सस्थानमात्रार्थत्रियाप्रसिद्धावन्वदेव ज्ञानं प्रमाण-  
मनुमानम्, ततोऽनुमानं सस्थाने सद्यः परचेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणञ्च ।”—प्रमाणवार्तिकाल०  
प्रथमपरि० । (५) तुलना—“यथा यत्र विवादः तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसवादः तथा तत्र  
प्रमाणता ॥ (पृ० ६५ B) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा ।”—  
सिद्धिबि०, टी० पृ० ८६ A. । “यथा यत्राविसवादस्तथा तत्र प्रमाणता ।”—तत्रार्थश्लो० पृ० १७० ।  
सिद्धिबि० टी० पृ० ६९ B. । “यथा यत्राविसवादस्तथा तत्र प्रमाणतत्पञ्चलङ्घनेर्वरप्युक्तत्वात् ।”—  
अष्टसह० पृ० १६३ । “यदर्थेवासवादि प्रमाणं ततथा मतम् । विमवाचप्रमाणञ्च तदध्यक्षपरी-  
क्षया ॥”—तन्मति० टी० पृ० ५९५ ।

(१) तुलना—“वेनाचारणं तत्स्वरिच्छेदं तदपेक्षया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतदाभासयो-  
रिति प्रायः सञ्ज्ञानं प्रामाण्यनिबन्धितप्रत्यक्षम् । प्रसिद्धानुग्रहदृष्टेरपि चन्द्रार्कादियु दशप्रत्यासत्या-  
पभूताकारवभासनात् । तथारहताधाररपि मर्यादाविमवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वानुसन्धानात् ।  
तत्राविसवादिना स्मरणस्यवस्थायां गन्धद्रव्यादिरन् ।”—अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २७७ । “अनुपप्लव-  
दृष्टीनां चान्तिरिवदन्म् । तत्प्रामाण्यदियु मवादि न प्रत्यामप्रत्यादियु ॥”—तत्त्वार्थस्तो० पृ० १७० ।  
उद्देशं समप्रा विवृति—साम्प्रति० टी० पृ० ५९५ ।

प्रत्यक्षाभम् इत्युपलक्षणम्, तेन परोक्षाभमपि यदेकान्तेन वादिनां लोकानां

कारिकार्थः-

वा प्रसिद्धं तत्कथञ्चित् स्याद् भवेत् प्रमाणम् नैकान्तेन तदा-

भासम् इत्यभिप्रायः । किं तद् ? इत्यत्राह-तैमिरादिकमिति ।

तिमिरादागतं तैमिरम् आदिर्धस्य आंशुभ्रमणादिज्ञानस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतद् ? इत्याह-

‘यद्यथा’ इत्यादि । यतो यद्विज्ञानं येनैव प्रकारेण अविसंवादि तद् विज्ञानं तेनैव

प्रकारेण प्रमाणमभिप्रेतम् । तथा च “कल्पनापोढमभ्रान्तम्” [न्यायबि० १।४] इत्यत्र,

“इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि” [न्यायसू० १।४] इत्यत्र, “सत्सम्प्रयोगे”

[ जैमिनिषू० १।१।४] इत्यादौ च यद्भ्रान्तोदिग्रहणं भ्रान्तनिवृत्त्यर्थं तद् यदि सर्वथा अप्रत्य-

क्षत्वात् तेनापसार्यते तदा प्रमाणविरोधः । अथ कथञ्चित् ; तदा एकांन्तहानिरित्युक्तं भवति ।

कारिकां व्याचष्टे ‘तिमिर’ इत्यादिना । तिमिरादीनां कार्यभूतं यद् उपल-

विवृत्तित्याख्यानम्-

वज्ञानं द्विचन्द्रादिविषय तत् चन्द्रादौ आदिशब्देन धावल्यवर्तुलत्वा-

दिपरिग्रहः तत्र प्रमाणम् । कुत एतत् ? अविसंवादकं यतः तत्रांशे ।

अत्र दृष्टान्तमाह-यथा इत्यादि । यथा तत् तिमिराद्युपप्लवज्ञानं संख्यादौ द्वित्वस्थि-

रत्वादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम् । यदि नाम तत्तथाविधं किमेतावता प्रमाणेतर-

रूपं भविष्यति इत्याशङ्क्य आह-‘प्रमाण’ इत्यादि । प्रमाणञ्च इतरञ्च अप्रमाण तयोः

व्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् सवादविसंवादलक्षणत्वात् । ननु कथं तदेव प्रमाणमि-

तरञ्च युक्तं विरोधादिति चेत् ? अत्राह-‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञान

भवत्कल्पितं निर्विकल्पकवेदनं यदपि इत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे, परमार्थतः अर्था-

कारताया ज्ञानेऽसंभवात्, तदसंभवञ्च प्रपञ्चतः प्रागेवं तत्प्रतिषेधात् सिद्धं । अभ्यु-

(१) “तिमिरमक्षोविप्लव, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आंशुभ्रमणमलातादे, मन्द हि

भ्रम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरत्यद्यते, तदर्थमांशुग्रहणेन विद्यप्यते भ्रमणम्, एतच्च विषयगत

विभ्रमकारणम् । सक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणां, वातादिषु हि क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्ति-

रूपद्यते, एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम् । सर्वैरेव च विभ्रमकारणं इन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिका-

श्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्तव्यम् । अतिकृत इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् । आदिग्रहणेन काचकामलादय

इन्द्रियस्या गृह्यन्ते । आंशुनयनानयनादयो विषयस्या । आंशुनयनानयने हि कार्यमाणेऽलातादावनि-

वर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति । हस्तिवानादयो बाह्याश्रयस्या गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्या

विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते ।”-न्यायबि० टी० पृ १६-१७ । (२) ‘प्रत्यक्षम्’ इति शेष । (३) “इन्द्रि-

यार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम् ।”-न्यायसू० १।१।४ । (४)

“सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।”-जैमिनिषू०

१।१।४ । (५) आदिप्रदेन अव्यभिचारिसत्सम्प्रयोगजयो परिग्रह । (६) भ्रान्तम्-आ० टि० ।

(७) अभ्रान्तादिग्रहणेन । (८) अप्रत्यक्षत्वात्तेनापसार्यते इति सम्बन्धः । (९) मवादविमवाद-

लक्षणत्वात्-आ० टि० । (१०) पृ० १६७ ।

१ यदेकान्तवादिनां श्र० । २ यदि ज्ञानं आ० । ३-तत्तानं आ० । ४-एकांतत हानि श्र० ।

५ न तत्राज्ञानं ब० । ६-कसंवेदनम् श्र० । ७ सिद्ध अतोऽभ्युप-ब०, श्र० ।

पगम्याप्युच्यते—यथोक्तं ज्ञानं यदपि वस्त्वनुकरोति यदाकारं भवति तत्र वस्तुनि प्रमाणमेव, 'नहि' इत्यभिसम्बन्धः, किन्तु अप्रमाणमपि इत्येवकारार्थः । कुत एतद् ? इत्याह—'समारोप' इत्यादि । क्षणिकेऽक्षणिकज्ञानं समारोपः तस्य व्यवच्छेदो निरासः तस्य आकाङ्क्षात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह—'कथम्' इत्यादि । कथमन्यथा तदा-  
 5 काङ्क्षाभावाप्रकारेण दृष्टे दर्शनविषयीकृते क्षणभङ्गादौ प्रमाणान्तरस्य अनुमानस्य वृत्तिः ? न कथमपि इत्यर्थः । नहि समारोपव्यच्छेदात् अन्यत्स्यै फलम् । अथ न समारोपनिषेधार्था तत्रास्य प्रवृत्तिः । किं तर्हि ? प्रहणार्था, इत्यत्राह—'कृत' इत्यादि । कृतस्य अनुभवेन अनुभूतस्य क्षणभङ्गादेः अनुमानेन करणस्य प्रहणस्य अयोगात्, अन्यथा अनवस्था स्यात्, तद्गृहीतेऽप्यस्मिन् अनुमानान्तरेण प्रहणप्रसङ्गात् ।

10 अथ अर्थदर्शनेन नीलादिकमेव गृहीतं न क्षणभङ्गादिकं तेनायमदोषः, अत्राह—'तद्' इत्यादि । तदेकान्तः कृतैकान्तः "एकस्यार्थस्वभावस्यै" [ प्रमाणवा० ३१४२ ] इत्यादिवचनात् । यत्कृतं तत्कृतमेव तस्य हानेः हानिप्रसङ्गात् कथं प्रमाणान्तरवृत्तिः ? तद्धानिः कुतः ? इत्यत्राह—'कथञ्चिद्' इत्यादि । कथञ्चित् नीलादिरूपेण न क्षण-  
 15 भङ्गादिरूपेण यत् करणं वस्तुनो प्रहणं तस्याऽनिष्टेः, अन्यथा गृहीतेतररूपता एकस्य स्यात् । उपसहारव्याजेन दूषणान्तरमाह—'तद्' इत्यादि । यत् एव तत् तस्मात् अस्य अर्थविचारदर्शनस्य विसंवादोऽपि विप्रलम्भोपि न केवलं कथञ्चित् प्रामाण्यमेव । कुत एतत् ? इत्यत्राह—अवस्तुनिर्भासात् । अवस्तुनो भवन्मते बहिरन्तर्घोऽसत् एष स्थूला-  
 20 कारस्य निर्भासाद् अनुकरणाद् दर्शनं प्रमाणं न स्यादिति भावः । व्यवहारेण प्रामाण्येऽपि न सौमवस्य इष्टतत्त्वसिद्धिः । अथ निरन्वयविनश्यदादिवस्तुस्वरूपानर्तु-  
 25 करणेऽपि नीलादिसञ्चेतनादिवस्तुस्वरूपानुकरणात् तत्रामाण्यम्, इत्याह—'चन्द्रादि' इत्यादि । चन्द्रादि च तद् वस्तु च तस्य निर्मासानाम् उपप्लवज्ञानसम्बन्धिप्रति-  
 भासानां प्रामाण्यं स्यात् 'प्रमाणम्' इत्येतदनुवर्त्तमानं लब्धभावप्रत्ययमिह सम्बद्ध्यते । कुत एतद् ? इत्यत्राह—अविसंवादकत्वात् । न खलु चन्द्रादिविप्लवज्ञानं धावत्यवर्तु-  
 30 लत्यादौ विमवदति इति । एवं तान् यत् परेण प्रत्यक्षामं तैमिरिकादीन्द्रियज्ञानमुक्तं तदपि कथञ्चित् प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापितम् ।

(१) धाविकादरप्रहणादप्रमाणं निविकल्पकम्, यदि हि क्षणभङ्गादि निविकल्पकप्रत्यक्षणं गृहीतं स्यात्तदा तस्माधनार्थमनुमानं विमर्षं प्रयुज्यत इति हृदयम्—आ० टि० । (२) अनुमानस्य । (३) निविकल्पकप्रत्यक्षणं । (४) यदि वस्तु तत्त्ववात्मना दृष्टं गृहीतं निविकल्पकं इत्येवान्तरं इति कान्तम् । (५) एकस्यावर्त्तमानस्य प्रत्यक्षस्य मत् स्वयम् । कान्त्यो नागो न दृष्टं स्यात् य प्रमाणं परीक्ष्यत ॥" —प्रमाणवा० । उद्गुणन्यायम्—न्यायार्थ० पृ० १३ । अभि० आलोको० पृ० १५२ । सिद्धिर्वि० टी० पृ० ७१ । 1 । तत्रार्थः लो० पृ० ४०५ । प्रमथको० पृ० २३९ । सम्मति० टी० पृ० ५०७ । न्यायवि० वि० पृ० ४९६ । 3 । त्या० १० पृ० ५३४ । शास्त्रवा० यज्ञो० पृ० १५८ । 1 । (६) अहणस्य—आ० टि० ।

1 तथोक्तं थ० । 2 इत्यत्राह थ०, २० । 3 करणस्यायोगात् थ० । 4 लभं कान्तं थ० । 5 न च क्षण—थ० । 6 विप्रलम्भोऽपि तान्ति थ० । 7 तैमिरिकादीन्द्रिय—थ०, थ० ।

साम्प्रतं कल्पनापदेन यत् परेण विकल्पज्ञानं तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साध्यञ्चाह—  
स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।

संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥ २३ ॥

विवृतिः—सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं  
संस्थानात्मकं स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं  
खलक्षणम्, प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवास्मरणात् । तस्मादविशदमेव अवि-  
कल्पकं प्रत्यक्षाभम् । न च विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासन्नेतरा-  
र्थप्रत्यक्षाणाम् एकार्थविषयतोपपत्तेः ।

स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनाध्यक्षग्राह्यम् । केपाम् ? इत्याह—विकल्पानाम् । किं तद् ?

कारिकार्थं— इत्याह—विशदार्थावभासनम् । कुत एतत् ? इत्याह—‘संहृता’  
इत्यादि । संहृता अशेषाश्चिन्ता यस्यामवस्थायां तस्यामपि सविकल्पकस्यैव  
ज्ञानस्य अवभासनात् । ततो यदुक्तं परेण—“न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभा-  
सतो ।” [ प्रमाणवा० २।२८३ ] इत्यादि, “प्रत्यक्ष कल्पनापोड प्रत्यक्षेणैव सिद्धवर्ति ।”  
[ प्रमाणवा० २।१२३ ] इत्यादि च, तन्निरस्तम् ; प्रत्यक्षवाधितत्वात् ।

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ५२१ टि० ४।(२) “भवति । किम् ? स्वसंवेद्यं स्वेन तत्त्वज्ञानात्मना सवेद्यं  
ग्राह्यम् स्वसंवेद्यं ज्ञानस्वरूपमित्यर्थः । वेद्यवेदकाकारद्वयाविरोधात् ज्ञानस्य अन्यथा अवस्तुत्वापत्तेः ।  
किं विशिष्टम् ? विशदार्थावभासनम् अर्थस्य परमार्थसतोऽवभासनमवबोधनमर्थावभासनम् विशद स्पष्टं  
तच्च तदर्थवभासनं च तत्तद्योक्तम् । केपाम् ? विकल्पानाम्, घटोऽयं गौरयं शुक्लोऽयं गायकोऽयमित्य-  
त्यादिनिश्चयज्ञानानाम् । कुत ? सविकल्पावभासनात्, विकल्पो जात्याद्याकारावबोध सह विक-  
ल्पेनेति सविकल्पकं तस्यावभासनादनुभवात् । कदा ? संहृताशेषचिन्तायाम्, संहृता नष्टा अशेषा  
स्मृत्यादयश्चिन्ता विकल्पा यस्यामवस्थायां सा तयोक्ता तस्याम् । चक्षुरादिवृद्धौ जात्याद्याकारविशेषस्य  
अवबोधनस्य अप्रतिहतत्वात्, ततो विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षाभासत्वमयुक्तमित्यर्थः ।”—लघी० ता० पृ०  
४३ । (३) धर्मकीर्तिनोक्तं यत्—शान्तचेतस्कृतया चक्षुषा यद्रूपदर्शनं भवति तन्निरविकल्पकम् । तस्मिन्च  
रूपस्वलक्षणं धार्मिक-परमाण्वात्मकं प्रतिभासते । तथाहि—“संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।  
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीधते साऽक्षजा मति ॥”—(प्रमाणवा० २।१२४) ग्रन्थकृता तत्प्रतिविहितम्—  
यत्तदवस्थायामपि सविकल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यनुभूयते । तुलना—“संहृत्य सर्वतश्चित्तं  
स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं स्वञ्च स्पष्टं व्यवस्यति ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८६ ।  
(४) तुलना—“न हि जातुचिदसहायमाकारं पश्यामो यथा व्यावर्ण्यते तथैवानिर्णयत्, नानावयव-  
रूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सम्प्रतिपत्तेः न परमाणुसंचयरूपस्य ।”—सिद्धिबि०, टी० पृ० ३६ B. ।  
(५) “न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता । न विकल्पेनानुबद्धस्य सस्तुतस्य ज्ञानस्य स्फुटा-  
र्थावभासिताऽस्ति ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२८३ । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वोप० पृ० ३४ । सिद्धिबि०  
टी० पृ० २८ B., १५ A. । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२० । सन्मति० टी० पृ० ५०२ । न्यायबि० बि०  
पृ० ७७ A. । “न विकल्पानुबन्धस्य”—शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B. । “निरविकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थः  
प्रतिभासते”—न्यायबि० टी० टि० पृ० ३५ । (६) “प्रत्यक्ष कल्पनापोड प्रत्यक्षेणैव सिद्धवर्ति ।



इदमपरं व्याख्यानम्—स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनप्राह्यं यद्रूपम् । केपाम् ? विकल्पानाम् अनुमानादिमानसज्ञानानाम् । तत्किम् ? विशदार्थवभासनम् निर्विकल्पकमध्रान्तम् इत्यर्थः । कदा ? संहृताशेषचिन्तायाम् । केन रूपेण ? 'स्वसंवेद्येन' इति विभक्तिपरिणामेन सम्यन्धः । किं कृत्वा ? सविकल्पावभासनात् तदवभासनमाश्रित्य इत्यर्थः । ततस्ते विकल्पाः कथञ्चित् प्रत्यक्षाभा इति भावः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'सर्वतः' इत्यादि । सर्वतः सजातीयाद् विजातीयाच्च

संहृत्य त्यक्त्वा । काम् ? चिन्ताम् परामर्शवृद्धिम् । स्थितोऽपि विवृतिव्याख्यानम्—

प्रतिपत्ता । केन रूपेण ? इत्याह—'स्तिमितेन' इत्यादि । स्तिमितः

स्थिरीभूतः अपरिस्पन्दः अन्तरात्मा मनः तेने । स किं करोतीत्याह—'चक्षुषा'

इत्यादि । चक्षुर्महणमुपलक्षणं श्रोत्रादेः, तेन रूपं पश्यति, रूपग्रहणमपि रसादीनामुपलक्षणम् । कथम्भूतम् ? संस्थानात्मकं वर्तुलत्वादिधर्मस्वभावम् । पुनरपि कथम्भूतम् ?

स्थूलात्मकं स्थूलस्वभावमेकम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? सूक्ष्मानेकस्वभावम्, सूक्ष्मोऽनेकः स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम् । ननु संस्थानादिकं गुणत्वाद् द्रव्यस्य न रूपस्य, अस्य

गुणत्वेन निर्गुणत्वात्; इत्यध्यसमीक्षिताभिधानम्; अनेकान्ते द्रव्यगुणयोरभेदार्पणया

रूपस्यापि द्रव्यधर्माऽविरोधान् । ननु चक्षुषा रूपं दृश्यमानम् अन्योन्यविलक्षणानेकान्तरापरमाणुस्वभावस्वलक्षणरूपमेव दृश्यते ननु स्थूलादिस्वरूपम्, इत्यत्राह—'न पुनः'

इत्यादि । पुनरिति भावनायाम्, न स्वलक्षणं पश्यति, कथम्भूतम् ? असाधारणम्,

असाधारणः सजातीयविजातीयव्यावृत्तः एकोऽसहायः अन्तो धर्मो यस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतत् ? इत्याह—'प्रतिसंहार' इत्यादि । सहारः अशेषविकल्पाभावः, प्रतिसंहारः

पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः, तमाश्रित्य व्युत्थितं प्रतिबुद्धं चित्तं यस्य स तथोक्तः तस्य, तथैव

असाधारणैकान्तप्रकारेण अस्मरणात् स्मरणाभावात् स्वलक्षणस्य, अतो न तस्य कदाचिद् दर्शनम् स्थूलादिस्वभार्वस्यैव तु स्मरणात् सदा दर्शनमिति ।

'तस्मात्' इत्यादिना उपसंहारमाह—यस्मान्निर्विकल्पकं ज्ञानं परस्य प्रत्यक्षत्वेनाऽभिप्रेतं न कदाचिद् विशदस्वरूपतया प्रतिभाति तस्माद् अविशदमेव अविकल्पकं

प्रत्यक्षाभम् । ननु विशदेतरज्ञानानां विभिन्नप्रतिभासतया विभिन्नविषयत्वान् 'स्थूलादि-

प्रत्यात्ममेव सर्वेषां विकल्पो नामसथयः ॥ यत्प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धं तत्कल्पनाया अपोढं द्रष्टव्यं कल्पनापरंरहितमित्यर्थः । तच्चैतदीदृश प्रत्यक्षेणैव स्वसंवेदनेनैव सिद्धयति । कल्पनारहितस्यार्थस्य रूपस्य संवेदनस्यापरोक्षत्वात् । यदि तु कल्पनास्वभावत्वमस्य स्यात्तथैव प्रकाशेत् विकल्पस्यापरोक्षत्वात् । तथाहि—प्रत्यात्ममेव सर्वेषां प्राणिना विकल्पो नामसथयः शब्दससर्गवान् । त यदि स्यादुपलभ्य एव भवेत् ।"

—प्रमाणवा० मनोरथ० २।१२३ । उद्धृत्यम्—अनेकान्तजय० पृ० २०७ । न्यायवा० ता० पृ० १५५ । सिद्धिवि० टी० पृ० १७ A, ३१ A । प्रमेयक० पृ० ३२ । सम्मति० टी० पृ० ५०३ । न्यायवि० वि० पृ० ४५ A, ८३ B, ४९५ A । स्या० २० पृ० ८२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० १५७ B ।

1 तेन किं थ० । 2-स्वभावलक्षणरूपमेव थ० । 3 'असाधारणम्' नास्ति वा०, व० । 4-व्यावृत्त य एको-व० । 5-वस्यैवानुस-व० । 6-मिति यस्मा-व० । 7 अविकल्प प्र-थ० ।

स्वभावं रूपं पश्यति' इत्यादि युक्तम्, 'ययोर्विभिन्नप्रतिभासत्व तयोर्विभिन्नविषयत्वं यथा रूपरसज्ञानयोः, विभिन्नप्रतिभासत्वञ्च प्रत्यक्षेतरज्ञानयोरिति । तथा च, विशदस्वभावस्य अध्यक्षस्य स्वलक्षणविषयत्वं सिद्धम्, अविशदस्वभावस्य तु विकल्पस्य स्थूलादिविषयत्वम् इत्याशङ्क्याह—'नच' इत्यादि । नच नैवं विशदेतरविकल्पयोः अवप्रहादिस्मरणाद्योः विषयभेदैकान्तः, 'परमार्थवस्तुनि विशदविकल्पः प्रवर्त्तते, कल्पिते अविशदविकल्पः' इति, किन्तु विशदविकल्पविषय एव अविशदविकल्पस्य विषयः । यच्च 'विभिन्नप्रतिभासत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनैकान्तिकमित्युपदर्शयन्नाह—'प्रत्यासन्न' इत्यादि । प्रत्यासन्नश्च इतरश्च अप्रत्यासन्नः अर्थो येषां तानि च तानि प्रत्यक्षाणि तेषां विशदेतररूपप्रतिभासभेदसभवेऽपि एकार्थविषयतोपपत्तेः । नहि दूरासन्नपुरुषाणां पादपादिप्रत्यक्षेषु प्रतिभासभेदोऽसिद्धः । नापि विषयाभेदः, पादपादेरेकस्यैव तद्विषयत्वात् ।

यदप्युच्यते—'प्रत्यक्षे न सन्ति कल्पना उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलब्धेः, यद्यत्र उपलब्धिलक्षणप्राप्त सन्नोपलभ्यते तत्तत्र नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशविशेषे घटः, नोपलभ्यन्ते च प्रत्यक्षे तथाविधाः सत्य कल्पना इति । न च उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वतासामसिद्धम्; 'नैहि इमाः कल्पना अप्रतिसविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते च यतः संत्योऽप्यनुपलक्षिताः स्युः' इति; तद्दूषयन्नाह—

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योऽपि कल्पनाः ।

प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन् तत्स्वलक्षणभेदवत् ॥ २४ ॥

(१) प्रत्यक्षेतरज्ञाने विभिन्नविषये विभिन्नप्रतिभासत्वात् । (२) [अ] सिद्ध इत्यत्रापि योज्यम्—आ० टि० । (३) 'यदाह—न चेमा कल्पना अप्रतिसविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते चेति । नापि तत्रप्रतिपत्तौ लिङ्गानुसरणेन तदाकारसमारोपमक्षय शक्यते कल्पयितुम्...'—प्रमाणवा० स्व० टी० १।५० । (४) "न लक्ष्येरन् विविधेरन् । का ? कल्पना विकल्पा । कपु ? प्रत्यक्षेषु स्वसवेदनादिषु । किं विशिष्टा अपि ? सत्योऽपि विद्यमाना अपि । पुन कथम्भूता ? प्रतिमविदितोत्पत्तिव्यया, उत्पत्तिस्वरूपलाभ व्ययोऽभावप्रत्यय, प्रतिमविदितो प्रतिप्राणि समुपलब्धो उत्पत्तिव्ययो यासा तास्तथोक्ता । न खलु सत्त्वं विना उत्पादव्ययवत्त्वमनुभूयते, अन्यथाऽतिप्रमङ्गात् । ननु सता विकल्पाना प्रत्यक्षबुद्धावनुपलक्षणे किं कारणमिति चेत्, प्रतिपत्तुरशक्तिरप्रणिधानञ्चति ब्रूम । अत्र निदर्शनमाह—तदित्यादि । तेषा विकल्पाना स्वलक्षण स्वरूप तस्य भेद सजातीयविजातीयव्यावृत्ति स इव तद्वत् । अयमर्थ—यथा प्रतीतोत्पादव्यया सत्यपि स्वलक्षणव्यावृत्ति कल्पनामु न लक्ष्यते अनुमानत एव तत्सिद्धे तथा प्रत्यक्षेषु कल्पना अपि न लक्ष्यन्त इति । तर्हि कथमलक्षिताना तासा तत्रास्तित्वसिद्धिरिति चेत् ? न, पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धे । सहृतसकलविकल्पावस्था हि अश्व विकल्पयतो गोदर्शनावस्था, तथापि गोदर्शनं निश्चयात्मकमेव पुनस्तद्विषयस्मरणान्यथानुपपत्ते ।'—लघी० ता० पृ० ४४ । तुलना—'न हि सवित्ते बहुबहुविधप्रभृत्याकृतय स्वयमसविदिता एवोदयन्ते अत्यन्ते वा यत सत्योऽप्यनुपलक्षिता स्यु कल्पनावत् ।'—सिद्धिवि०, टी० पृ० ९८ A ।

१ नैव व० । २—विकल्पकस्य आ० । ३ 'प्रत्यासन्नेत्यादि' नास्ति आ०, थ० । ४ प्रत्यक्षेण सन्ति थ०, व० । ५ सतोऽप्यनु—आ० ।

विवृतिः—सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् अस-  
मीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति  
चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वाथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेरन् ?

प्रति प्राणि संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ यासा ताः तथोक्ता ता तथाविधाः

कारिकार्थ - सत्योऽपि विद्यमाना अपि न केवलमसत्य , प्रत्यक्षेषु, बहुवचन  
चैतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य सङ्ग्रहार्थम् । कल्पना न लक्ष्येरन् ।

न च सत प्रतिसविदिताविर्भावविनाशवतोऽनुपलक्षण विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थ-  
नार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह—‘तत्स्वलक्षणभेदवत्’ इति । तासा कल्प-  
नाना स्वलक्षणं स्वस्वरूप तस्य भेद संजातीयाद्विजातीयाच्च व्यावृत्तिः स इव तद्वदिति ।

पैतदुक्तं भवति—यथा प्रतिसविदितोत्पत्तिव्ययः सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो न लक्ष्यते,  
अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थकं स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्त इति ।

तद्भेदानुपलक्षणे परकीया युक्ति सद्रूपणा ‘सदृश’ इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थ

विवृतिव्याख्यानम्—  
‘प्रतिसंहारैकान्त’ इत्यादिना दर्शयति—सदृशस्य समानस्य अपर-  
स्यापरस्य उत्पत्तिः तैसा विप्रलम्भः अलातचक्रवत् चक्षुषो भ्रम-

तस्माच्चद्विशेषादर्शिनः त प्रकृत सजातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम् अलातचक्रवन्न  
पश्यतीत्येवशीलस्य सौगतस्य अनवधारणं यद् भेदानुपलक्षणम्, तदसमीक्षिता-

भिधानम्, कुत एतत् ? इत्याह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वथा भेदाभेदोभयानुभय-  
प्रकारेण तासां कल्पनाना सादृश्यस्य अनिष्टेः ततः तद्भेदोपलक्षणमेव स्यात् इत्यभिप्रायः ।

नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेद सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना  
इति । ततः प्रतिसंहारैकान्तः प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनाविरहैकान्त ‘संभवति न वा’ इति

चिन्त्यमेतत् पर्यालोच्यमेतत् ‘न संभवति’ इत्यर्थः । तत्स्वलक्षणभेदवत् तासा  
तत्रानुपलक्षिताना समवात् । ननु यद्यपि तासा तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाष-

ससर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते । अत उभयाऽनुपलक्षणात्  
अभर्वसिद्धे सिद्ध प्रतिसंहारैकान्त, इत्याह—‘कथञ्च’ इत्यादि । कथञ्च न कथञ्चिदपि

(१) स्वहेतोरेव तथोत्पत्त क्षणस्थितिभ्रमता तत्त्वभाव पश्यन्पि मन्दबुद्धि सत्तोपलम्भन  
मवदा तथाभावस्य साङ्ख्या सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा न व्यवस्यति ।” —प्रमाणवा० स्वबृ०  
१।३४ । ‘ता पुनरनित्यता पश्यन्पि मन्दबुद्धि नाध्यवस्यति सत्तापलम्भन संवदा तदभावसाङ्ख्याविप्र-  
लम्भ सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा ।’ —प्रमाणकारिकाल० लि० पृ० २३७ । (२) इन्द्रियमन  
स्वसवेदनयोगिलक्षणस्य । (३) क्षणभङ्गित्वम स्वरूपभेदश्च । (४) उवाड(?)—आ० टि० । (५)  
भदम् । (६) कल्पनानाम । (७) कल्पनाया लक्षणमिदम, तथाहि—‘अभिलाषससर्गयोग्यप्रतिभास  
प्रतीति कल्पना न्यायवि० पृ० १४ । (८) अभिलाषससर्गयोग्यप्रतिभासस्य ।

1 सजातीयच्च व्या—आ० । 2 तदुक्त व० । 3 तथा आ० । 4 तद् थ० । 5 सव्येत्पादि  
नास्ति थ० । 6 सादृश्यानिष्ठे व० । 7 ततस्तदभेदोप—आ० । 8 पर्यालोच्यमेतत् नास्ति जा० ।  
9 तत व० । 10—सिद्ध प्रति—थ० । 11 कथञ्चेदित्यादि व० ।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेषाभ्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, सर्वथा स्वरूपवद् वहिरपि अविकल्पाः, पुनरिति वितर्के विकल्पेरन् वहिर्विकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्त-प्रसङ्गादिति मन्यते । अथवा तद्बुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः सत्यः कथञ्च न पुनः पश्चाद् विकल्पेण विकल्पान् कुर्युः । न हि अविकल्पाद्नुभवाद् अर्थादिव विकल्पः संभवतीत्युक्तं सूत्रिकल्पसिद्धिप्रघट्टके । ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विवृतिः—प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञानं तदाभासव्यवस्था ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता धीर्बुद्धिः अयमहाद्यात्मिका मतिः सा च 10

कारिकार्यं - स्मृतिश्च संज्ञा च तामि., चिन्तया तर्केण, आभिनिबो-  
धिकैः अनुमानैः व्यक्त्यपेक्ष बहुवचनम् तेः समस्तैर्व्यस्तैश्च व्यव-

हाराविसंवादः, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण तदाभासः प्रमाणाभासः । नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामा-  
ण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभवानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादि- 16  
व्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘प्रत्यक्ष’ इत्यादि । प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानु-  
मानादिभिः अविसंवादसिद्धेः कारणाद् अर्थेषु घटादिषु तेषां प्रत्य-  
क्षधीनां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण तदाभास-  
व्यवस्था प्रामाण्याभासव्यवस्था । एतदेव शब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह—‘तथैव’ इत्यादि । 20  
स्मरणादिना अन्यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शब्द श्रुत श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, तथैव  
व्यवहारसंवाद-विसंवादप्रकारेणैव श्रुतज्ञानं तदाभासश्च तयोर्व्यवस्था ।

ननु श्रुतज्ञानं प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह—

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥ २६ ॥ 25

(१) यथाहि अभिलाष-अभिलष्यमानजातिगुणक्रियादिरहितात् क्षणिकार्थात् न शब्दसर्गां

विकल्पो जायते तथैव निर्विकल्पानुभवावपि शब्दगूल्यात् न शब्दात्मको विकल्प समुत्पद्येत । (२) १०

५१ । (३) ‘प्रमाणमित्यनुवर्तते । तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीनां प्रथमान्तत्वम् अर्थवशाद्भिन्नविपरि-

णाम’ इति न्यायात् तत एव व्याख्यायते—अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाऽभिनिबोधैर्बन्ध व्यवहारे हाना-

पादानरूपे अविसंवादादभ्यभिचारः सकलव्यवहारिणां प्रतीतिसिद्धं ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थं ।”

—लघो० ता० प० ४५ । (४) परोक्षस्य-आ० टि० । (५) परोक्षम्-आ० टि० । (६) ‘व्यवहाराविसंवाद

१ कथञ्च पुन आ० । २ विकल्पेनेव विक-ध० । ३-निबोधकं. व० । ४ अभिनिबोधिकैः

व०, ध० । ५ यथैव आ० । ६-संवादप्रकारे-ध० ।

विवृतिः—सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षिताभिधानम्; सर्वथा तत्सादृश्याऽनिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत् । कथञ्च प्रत्यक्षबुद्धयः सर्वाथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेन ?

प्रति प्राणि संविदितौ उत्पत्तिव्ययौ यासा ता तथोक्ता ता तथाविधा.

कारिकार्थ - सत्योऽपि विद्यमाना अपि न केवलमसत्य, प्रत्यक्षेषु, गहुयचन  
चैतुर्विधस्यापि प्रत्यक्षस्य सङ्ग्रहार्थम् । कल्पना न लक्ष्येरन् ।

न च सत प्रतिसविदिताविर्भावविनाशानतोऽनुपलक्षण विरुद्धम्, इत्यस्यार्थस्य समर्थनार्थं तत्प्रसिद्धमेव निदर्शनं प्रदर्शयन्नाह—‘तत्स्वलक्षणभेदवत्’ इति । तासां कल्पनानां स्वलक्षण स्वस्वरूप तस्य भेद संजातीयद्विजातीयाच्च व्यावृत्ति स इव तद्वदिति ।  
एतदुक्तं भवति—यथा प्रतिसविदितोत्पत्तिव्यय सन्नपि कल्पनासु तद्भेदो न लक्ष्यते, अन्यथा क्षणक्षयानुमानमनर्थकं स्यात्, तथा प्रत्यक्षेषु कल्पनाः सत्योऽपि न लक्ष्यन्ते इति ।

तद्भेदानुपलक्षणे परकीया युक्ति सद्रूपणा ‘सदृश’ इत्यादिना प्रदर्श्य कारिकार्थं  
‘प्रतिसंहारैकान्त’ इत्यादिना दर्शयति—सदृशस्य समानस्य अपर-  
स्यापरस्य उत्पत्तिः तैसा विप्रलम्भः अलातचक्रवत् चक्षुषो भ्रम

तस्मात्तद्विशेषादर्शिनः त प्रकृत संजातीयव्यावृत्तिलक्षणविशेषम् अलातचक्रवन्न  
पश्यतीत्येवशीलस्य सौगतस्य अनवधारणं यद् भेदानुपलक्षणम्, तदसमीक्षिता-  
भिधानम्, कुत एतत् ? इत्यत्राह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वथा भेदाभेदोभयानुभय-  
प्रकारेण तासां कल्पनानां सादृश्यस्य अनिष्टेः ततः तद्भेदोपलक्षणमेव स्यात् इत्यभिप्रायः ।  
नचैतदस्ति, अतो यथा तद्भेद सन्नपि नोपलक्ष्यते तथा प्रत्यक्षेषु सत्योऽपि कल्पना  
इति । ततः प्रतिसंहारैकान्तः प्रत्यक्षेषु सकलकल्पनाविरहेकान्त ‘संभवति न वा’ इति  
चिन्त्यमेतत् पर्यालोच्यमेतत् ‘न संभवति’ इत्यर्थः । तत्स्वलक्षणभेदवत् तासां  
तत्रानुपलक्षितानां सभवात् । ननु यद्यपि तासां तद्भेदो न लक्ष्यते तथापि अभिलाष-  
ससर्गयोग्यप्रतिभासो विद्यमानो लक्ष्येत, न च उपलक्ष्यते । अत आस्याऽनुपलक्षणात्  
अभर्धसिद्धे सिद्ध प्रतिसंहारैकान्त, इत्यत्राह—‘कथञ्च’ इत्यादि । कथञ्च न कथञ्चिदपि

(१) स्वहेतारेव तथोत्पत्त क्षणस्थितिधमता तत्त्वभाव पश्यन्नपि मन्दबुद्धि सत्तोपलम्भन  
सवदा तथाभावस्य शङ्कया सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा न व्यवस्यति ।—प्रमाणवा० स्ववृ०  
१।३४ । ता पुनरनित्यता पश्यन्नपि मन्दबुद्धि नाध्यवस्यति सत्तापलम्भन सवदा तदभावसङ्काविप्र-  
लम्भ सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भो वा ।—प्रमाणवातिकाल० लि० पृ० २३७ । (२) इन्द्रियमन  
स्वमन्दनयानि उक्षणस्य । (३) क्षणभङ्गत्वम स्वरूपभदरव । (४) उवाड(?)—आ० टि० । (५)  
भदम । (६) कल्पनानाम् । (७) कल्पनाया उक्षणमिदम तथाहि—‘अभिलाषससर्गयोग्यप्रतिभास  
प्रवति कल्पना’ न्यायवि० पृ० १४ । (८) अभिलाषससर्गयोग्यप्रतिभासस्य ।

1 सजातीयाच्च व्या-आ० । 2 तदुक्त व० । 3 तथा आ० । 4 तद् भ्र० । 5 सचयत्यादि  
नास्ति ध्र० । 6 सादृश्यानिष्ट व० । 7 ततस्तदभेदोप-आ० । 8 पर्यालोच्यमेतत् नास्ति आ० ।  
9 तत् व० । 10-सिद्ध प्रति-ध्र० । 11 कथञ्चेदित्यादि व० ।

प्रत्यक्षबुद्धयः, बहुवचनम् अशेषाध्यक्षबुद्धिसङ्ग्रहार्थम्, सर्वथा स्वरूपवद् वहिरपि  
अविकल्पाः, पुनरिति वितर्के विकल्पेरन् वहिर्विकल्पात्मिका भवेयुः अनेकान्त-  
प्रसङ्गादिति मन्यते । अथवा तद्बुद्धयः सर्वथाऽविकल्पाः सत्यः कथञ्च न पुनः  
पश्चाद् विकल्पेण विकल्पान् कुर्युः । न हि अविकल्पादनुभवाद् अर्थादिव विकल्पः  
संभवतीत्युक्तं सूत्रविकल्पसिद्धिप्रघट्टके । ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—

अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभिः चिन्तयाभिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराऽविसंवादः तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥

विवृतिः—प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानादिभिः अविसंवादसिद्धेः अर्थेषु  
तत्प्रामाण्यम्, अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञान तदाभासव्यवस्था ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता धीर्बुद्धि अवग्रहाद्यात्मिका मतिः सा च 10

कारिकार्थ — स्मृतिश्च संज्ञा च ताभिः, चिन्तया तर्केण, आभिनिबो-  
धिकैः अनुमानैः व्यक्त्यपेक्ष बहुवचनम् तैः समस्तैर्व्यस्तैश्च व्यव-

हाराविसंवादः, अतस्तेषां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिपरिकल्पितप्रकारेण  
तदाभासः प्रमाणाभासः । नहि एकान्तवादिपरिकल्पितस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काऽप्रामा-  
ण्यप्रकारेण अविकल्पाक्षज्ञान-कार्यादिपरिगणितलिङ्गप्रभावानुमानप्रकारेण च प्रवृत्त्यादि- 15  
व्यवहाराविसंवादो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘प्रत्यक्ष’ इत्यादि । प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानु-

मानादिभिः अविसंवादसिद्धेः कारणाद् अर्थेषु घटादिषु तेषां प्रत्य-  
क्षादीनां प्रामाण्यम्, अन्यथा एकान्तवादिकल्पितप्रकारेण तदाभास-

व्यवस्था प्रामाण्याभासव्यवस्था । एतदेव शाब्दे श्रुतेऽतिदिशन्नाह—‘तथैव’ इत्यादि । 20

स्मरणादिना अन्यस्य श्रुतस्य उक्तत्वात् शाब्द श्रुत श्रुतज्ञानशब्देनेह गृह्यते, तथैव  
व्यवहारसंवाद-विसंवादप्रकारेणैव श्रुतज्ञानं तदाभासश्च तयोर्व्यवस्था ।

ननु श्रुतज्ञानं प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह—

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्ध्यभिचारतः ॥ २६ ॥ 25

(१) यथाहि अभिलाष-अभिलष्यमानजातिगुणक्रियादिरहितात् क्षणिकार्थान् न शब्दसर्गात्  
विकल्पा जायते तथैव निर्विकल्पानुभवादपि शब्दशून्यात् न शब्दात्मको विकल्प समुत्पद्यते । (२) १०  
५१ । (३) ‘प्रमाणमित्यनुवर्तते । तेनाभिसम्बन्धाद् अक्षध्यादीनां प्रथमान्तत्वम्’ अर्थवशाद्भिक्तिविपरि-  
णाम’ इति न्यायात् तत एव व्याख्यायते—अक्षधीस्मृतिसंज्ञाभि चिन्तयाऽऽभिनिबोधकं च व्यवहारे हानो-  
पादानरूपे अविसंवादादव्यभिचार सकलव्यवहारिणा प्रतीतिमिदं ततस्तानि प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थं ।”

—लघो० ता० प० ४५ । (४) परोक्षस्य-आ० टि० । (५) परोक्षम्-आ० टि० । (६) ‘व्यवहाराविसंवाद

१ कथञ्च पुन आ० । २ विकल्पेनेव विक-प्र० । ३-निबोधकं. व० । ४ अभिनिबोधिकैः

व०, ध० । ५ पर्यव आ० । ६-तदादप्रकारे-ध० ।

विवृतिः—श्रुतज्ञानं वक्त्रभिप्रायादर्धान्तरेऽपि प्रमाणम्, कथमन्यथा द्वीप-  
देशनदीपर्वतादिकम् अदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति  
निरारेकमविसंवादश्च ?

श्रुतं धर्मि, प्रमाणमिति साध्यो धर्मः 'अविसंवादसिद्धेः' इत्येतदनुवर्त्तमान

साधन तेन 'अविसंवादकं श्रुतं प्रमाणं न सर्वम्' इत्युक्तं भवति ।  
कारिकार्थं - तदित्यम्भूतं श्रुतं कं प्रमाणमित्याह—अर्थेषु, न पुनः अभिप्रायमात्रे ।

क्रिविशिष्टेषु तेषु ? इत्याह—द्वीपान्तरादिषु सिद्धं शास्त्रान्तरे लोके वा प्रसिद्धम् ।  
ननु अर्थाभावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तत्र प्रमाणमित्याह—'अनाश्वासम्'  
इत्यादि । अनाश्वासम् आश्वासामावं न कुर्वीरन् क्वचिद् 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशत-  
मास्ते' इत्यादौ तस्य श्रुतस्य व्यभिचारतो व्यभिचारमाश्रित्य, इन्द्रियज्ञानेऽपि अत  
एव तद्भावापत्तेरित्यभिप्रायः ।

ननु श्रुतस्य अनुमानाद् व्यतिरेकाऽसिद्धितः तत्रामाण्यप्रसाधनादेव प्रमाणप्रसिद्धेः

श्रुतज्ञानमनुमानाद् 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' इत्याद्युक्तम्; तथाहि—शब्दोऽनुमानान्न व्य-  
तिरिच्यते तदभिन्नविषयत्वात् तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वाच्च, यद्  
गच्छतावशाधिकबी- यत् तथाविधं तदनुमानान्न व्यतिरिच्यते यथा कुतश्चिदनुमानाद्  
दया पूर्वपक्ष - अनुमानान्तरम्, तथाविधक्षायं शब्द इति । न चास्य तदभिन्न-

इत्यनुवर्त्तते । आप्तवचनादिनिबन्धन मतिपूर्वमर्थज्ञानं श्रुतं तच्च प्रमाणं सिद्धमेव । केन सिद्धमिति  
चेत् ? व्यवहाराविसंवादादित्युच्यते प्रत्यक्षादिवत् । केपु ? अर्थेषु प्रमयेषु । कीदृशु ? द्वीपान्तरादिव,  
प्रकृतौ जम्बूद्वीपं तस्मादन्ये धातकीक्षणादयो द्वीपान्तराणि क्षान्पादियेषां कालस्वभावव्यवहितानां त  
तथोक्ता तेषु देशकालाकारविप्रकृष्टेष्वित्यर्थः । न हि श्रुतावर्थं परिच्छिद्यं प्रवर्त्तमानो रसायनादि-  
न्याया विमवाद्यते प्रहृणादौ वा मलयादिप्राप्तौ वा । ततोऽनाश्वासमविश्वासं न कुर्वीरन् परीक्षका ।  
कुत ? नवचिद्व्यभिचारतः । नवचिद्व्यभिचारे मोदकादिप्रतिपादने तस्य श्रुतस्य व्यभिचारो विसंवादः  
तस्मात् । नहि नवचिद्विसंवादादप्रामाण्ये ज्ञानस्य सर्वनाप्रामाण्यं शङ्कनीयं प्रत्यक्षादिवत्पि तथात्व-  
प्रसङ्गात् सकलव्यवहारविलोपापत्तेः ।—लघी० ता० पृ० ४६ ।

(१) तत्त्वार्थंलोकवार्त्तिकादौ, नैयायिक-मीमांसकादिग्रन्थे वा । (२) श्रुतमर्थं । (३) तुलना-  
'एतत्साक्ष्ययोगो कोऽप्य सलज्जो वक्तुमीहते । अदृष्टपूर्वमस्तीति तृणाग्रे करिणा शतम् ।'—प्रमाणवा०  
१।१६७ । प्रश० व्यो० पृ० ५८१ । "अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च"—परीक्षामु० ६।५३ । (४)  
नवचिद्विद्विचिद्विज्ञाने चाक्षुषप्रत्यक्षस्य व्यभिचारोपलम्भात् एकचन्द्रविज्ञानेऽपि अविश्वासप्रसङ्गात् ।  
(५) अनाश्वासापत्तेः । (६) "शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भाव समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्य  
असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्धयनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेव शब्दादिभ्योऽपीति । श्रुतिस्मृति-  
लक्षणोप्याम्नायो वक्तुप्रामाण्यापेक्ष -"—प्रश० भा० पृ० ५७६ । "अन्तर्भावव्यवहारे च समानवि-  
धित्वात् समानलक्षणयोगित्वादिति हेतूपन्यासः "—प्रश० व्यो० पृ० ५७७ । "प्रसिद्ध-समयोऽविज्ञाना-

१ 'च' नास्ति इ० वि०, ज० वि० । २—म्भूतं च वा० । ३ दास्त्रे लोके थ० । ४ इत्या-  
धारस्य श्रुतस्य थ० । ५ तस्य व्यभि-वं । ६—काप्रति—थ०, व० ।

विषयत्वमसिद्धम्; शब्दानुमानयोरविशेषतः सामान्यगोचरचारित्वात् । सम्बन्धार्थप्र-  
तिपत्तिहेतुत्वाच्च; न हि शब्दः असम्बद्धमर्थं प्रतिपादयति अतिप्रसङ्गात्, सम्बद्धश्च त  
प्रतिपादयन्नसौ तल्लिङ्गतां नातिवर्त्तेत् । नापि तदभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वमसिद्धम्,  
धूमादिवत् शब्दस्य अर्थप्रतीतौ सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात् । अन्वयव्यतिरेकवत्त्वाच्च,  
यो हि शब्दो यत्रार्थे लोके दृश्यते स तस्य वाचकः यत्र तु न दृश्यते न तस्य वाचकः । 5  
पक्षधर्मत्वोपेतत्वाच्च; तथाहि—विघञ्जितः शब्दः अर्थवान् शब्दत्वात् पूर्वोपलब्धशब्दवत्,  
यथा अयं धूमोऽग्निमान् धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत् । यथा च प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वा  
बद्धिः प्रतीयते तथा शब्दं श्रुत्वा तदर्थोऽपि । दृष्टान्तनिरपेक्षत्वञ्च अभ्यस्तविषये द्वयो-  
रप्यनयोरविशिष्टम् ।

किञ्च शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणं न बाह्ये व्यभिचारात् । न हि 'अङ्गुत्यग्रे 10  
हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानां बाह्येऽर्थे प्रामाण्यमुपपद्यते प्रतीतिविरोधात् । तर्स्याश्च  
एतस्य लिङ्गतैवेति ॥६॥

भावो यस्य पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्धघनुस्मरणाभ्या लिङ्गदर्शनं यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवम्भूताया  
प्रसिद्धेरनुस्मरणञ्च ताभ्या यथाऽतीन्द्रियेऽर्थे भक्त्यनुमानं तथा शब्दादिभ्योऽपीति । तावद्धि शब्दो नार्थ  
प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्वेव नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्ग  
स्यात् "—प्रश्न० कन्व० पृ० २१४ । "अत्र हेतुमाह—समानविधित्वात् । समानप्रवृत्तिकारणत्वात्  
विजातीयलक्षणानान्त्रात्त्वादिति यावत् । अप्रतिबन्धकत्वे अप्रामाण्यमव, साक्षात्प्रतिबन्धकत्वे प्रत्यक्षा-  
न्तर्भाव, परम्पराप्रतिबन्धकत्वे चानुमान एवान्तर्भाव "—प्रश्न० किर० पृ० ३०९ ।

(१) तुलना—'परोक्षविषयत्व हि तुल्यं तावद् द्वयोरपि । सामान्यविषयत्व च सम्बन्धा-  
पेक्षणाद् द्वयोः ॥"—न्यायम० पृ० १५२ । (२) "यद्यप्येते पदार्था मिथ ससर्गवन्तो वाक्यत्वादिति  
व्यधिकरणम्, पदार्थत्वादिति चार्थकान्तिकम्, पदे स्मारितार्थसर्गवन्ति तस्मारकत्वादित्यादौ साध्या-  
भाव, तथापि आकाङ्क्षादिमद्भि पदे स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थवदिति स्यात् ।"—प्रश्न० किर०  
पृ० ३०९ । वंशे० उप० पृ० ३३१ । "पदानि स्मारितार्थविज्ञप्तिपूर्वकाणि योग्यतासत्तिमत्त्वे सति  
समुपार्थपरत्वात् गामभ्याजेति परत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवदित्यनुमानादेव साध्यसिद्धे ।"—न्यायली०  
पृ० ५५ । (३) तुलना—'अन्वयव्यतिरेको च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत् । यो यत्र दृश्यते शब्द स तस्या-  
र्थस्य वाचकः ॥"—न्यायम० पृ० १५२ । (४) लिङ्गशब्दयोः । (५) "वचाम्यो निखिलेभ्योऽपि  
विवक्षणाऽनुमीयते । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्या तद्धेतु सा हि निश्चिता ॥१५१५॥ विवक्षायाम् च गम्याया  
विस्पष्टैव त्रिरूपता । पुंति धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यत् ॥१५२१॥ पादपार्थविवक्षायान्  
पुरुषोऽयं प्रतीयते । वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात् पूर्वविस्थास्वह यथा ॥१५२२॥"—तत्त्वसं० पृ० ४४१-४३ ।  
"प्रथमं गोशब्दादुच्चरिताद्वक्तु ककुदादिमदर्थविवक्षा गम्यते स्वसन्ताने गोशब्दोच्चारणस्य तदर्थविवक्षा-  
पूर्वकत्वोपलम्भात्, तदर्थविवक्षया चार्थानुमानम् । अयञ्चात्र प्रयोग—पुरुषो धर्मो ककुदादिमदर्थ-  
विवक्षायान् गोशब्दोच्चारणकृतत्वात् अहमिवेति ।"—प्रश्न० कन्व० पृ० २१५ । (६) विवक्षायाम् ।  
"विवक्षाकाशाधिगमे लिङ्गत्वात् । यथाहि आकाशाधिगमे सर्वं शब्दोऽनुमानम्, विवक्षाकार्यस्तु  
विवक्षाधिगमेऽपि इति ।"—प्रश्न० श्यो० पृ० ५७८ ।

1—हेतुत्वात्प्रहि व० । 2 तत्र लिङ्गतां आ०, थ० । 3—व्यतिरेकत्वाच्च आ०, व० ।

4 यत्र तत्र थ० ।



अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘शब्दोऽनुमानान्न व्यतिरिच्यते’ इत्यादि,

तदप्रतिविधानपुरस्सर

ध्रुवज्ञानस्य अनुमाना-

दिन्याऽतिरिच्येण प्रामा-

ण्यसमर्थनम्-

तदसमीचीनम्; अभिन्नविषयत्वस्य अनयोरसिद्धेः । अर्थमात्रं हि शब्दस्य विषयः, अनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मा इति । किञ्च, अनैयोर्विषयाभेदः सामान्यमात्रगोचरचारितया, तद्वन्मात्रविषयतया, सम्बन्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं सामान्यं नाम—सकलव्यक्त्यनुस्यूत नित्यैकत्वादिधर्मोपेतम्, अन्यन्यावृत्तिरूपं वा ? पक्षद्वयमप्येतदनुपपन्नम्; उभयरूपस्यापि सामान्यस्य सामान्यपरीभावसरे प्रतिक्षिप्तत्वात्, अन्यापोहमात्रविषयत्वस्य अनयोः प्रतिपेत्यमानत्वाच्च । नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वे चानयोः मीमांसकमतानुप्रवेशः सौगतस्य स्यात्, स चानुपपन्नः, तद्विषयत्वस्याप्यमे निराकरिष्यमाणत्वात् । अथ तद्वन्मात्रविषयतया तयोर्विषयाभेदोऽभिप्रेतः; नन्वेवं प्रत्यक्षस्यापि अनुमानत्वप्रसङ्गः तथा तदभेदस्यात्राप्यविशेषात्, सकलप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकार्थविषयत्वप्रतिपादनात् ।

एतेन सम्बन्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतयाप्यनुमानत्व शब्दस्य प्रत्याख्यातम्; प्रत्यक्षस्यापि

सम्बन्धार्थप्रतिपत्तिहेतुतया अनुमानत्वानुपपन्नात् । तदपि हि स्वविषये सम्बद्धं सत्

तदप्रतिपत्तिहेतुः नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ तत्र सम्बद्धस्यार्थं प्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषोऽपि

सामग्रीभेदाद् अनुमानाद्भेदः; कथमेवं शब्दस्यापि अतो भेदो न स्यात् तद्विशेषात् ?

तन्न अभिन्नविषयत्वात् शब्दस्यानुमानत्वं युक्तम् ।

नापि अभिन्नसामग्रीसमन्वितत्वात्, शब्दे तदसंभवात् । पक्षधर्मत्वादिरूपत्रय-

रूपा हि अनुमाने सामग्री, सा च शब्दे न संभवति । तथाहि—न तावत् शब्दस्य

(१) पृ० ५३० पं० १३ । तुलना—‘विषयोऽन्यादृशस्तावद् दृश्यते लिङ्गशब्दयोः । सामान्य-विषयत्वञ्च पदस्य स्थापयिष्यति । धर्मा धर्मविशिष्टश्च लिङ्गत्वतश्च साधितम् । न तावदनुमान हि यावत्तद्विषय न तत् ॥’—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ५५-५६ । “अर्थमात्रं हि शब्दस्य गोचरोऽनुमानस्य तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्माति ।”—स्या० २० पृ० ६२० । ‘विषयस्तावद्विसदृश एव पदलिङ्गयोः । तद्वन्मात्र पदस्यार्थं इति स्थापयिष्यत । अनुमानं तु वाक्यार्थविषयम् अत्रान्विरतिमान् पर्वत इति प्रतिपत्त ।—न्यायम० पृ० १५३ । (३) अनुमानशब्दयोः । तुलना—“अपि चानयोरगोचराभेद सामान्यमात्रविषयतया तद्वन्मात्रगोचरतया वा भवत् ? —स्या० २० पृ० ६२० । (४) पृ० २८५, पृ० २८९ । (५) शब्दानुमानयोः । (६) मीमांसकमतानुप्रवेशः । (७) नित्यादिस्वभावसामान्यविषयत्वस्यापि । (८) सामान्यवदथविषयतया । (९) सामान्यवदथविषयत्वेन विषयाभेदस्य । (१०) स्वविषय । (११) प्रत्यक्षस्य । (१२) अनुमानात् । (१३) सामग्रीभेदस्य समानत्वात् । (१४) तुलना—“तस्मादननुमानत्व शब्द प्रत्यक्षवद् भवेत् । त्रैलोक्यरहितत्वेन नादृग्विषयवजनात् ॥’—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ९८ । स्या० २० पृ० ६२० । (१५) तुलना—“अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्ष कस्मान्न कल्प्यते । प्रतिज्ञार्थकदेशो हि हतुस्तत्र प्रसज्यत । पक्षे धूमविषय च सामान्य हेतुरिष्यत । शब्दत्व गमकत्वात् गोशब्दत्व निपत्स्यते । व्यक्तिरेव विशेष्याज्जो हतुश्चेत्वा प्रसज्यते ॥’—मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ६२-६४ । “ननुक्त

पक्षधर्मत्वं संभवति; धर्मिण एवात्र कस्यचिदसंभवात् । अत्र हि धर्मी शब्दः, अर्थो वा स्यात् ? न तावत् शब्दः; तस्यैव धर्मित्वे तस्यैव च हेतुत्वे हेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्रसङ्गात् । अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्; न; शब्दत्वस्य सामान्यस्वभावस्य भवन्मते परमार्थसतोऽसंभवात् । कल्पितस्य तु सत्त्वेऽपि न गमकत्वम् “अर्थो ह्यर्थं गमयति” [ ] इति च भवद्भिरेव अभ्युपगमात् ।

एतेन ‘शब्दोऽर्थवान्’ इत्याद्यनुमानं प्रत्याख्यातम् । अस्तु वा शब्दत्वं हेतुः; तथापि अतः शब्दस्य धर्मिणः किम् अर्थविशिष्टत्वं साध्यते, अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वम्, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा ? तत्र आद्यपक्षोऽनुपपन्नः; अचलानलयोरिव शब्दार्थयोः धर्मिधर्मभावाऽसंभवात्, आश्रितो हि धर्मो भवति, न चार्थः शब्दाश्रितो विभिन्नदेशत्वात् । यद् यतो विभिन्नदेशं न तत्राश्रितं यथा सद्ये विन्ध्यः, शब्दाद् विभिन्नदेशश्चार्थ इति । यत्र च आश्रयाश्रयिभावो नास्ति न तत्र धर्मधर्मिभावः यथा चित्रकूटकश्मीरयोः, आश्रयाश्रयिभावाभावश्च शब्दार्थयोरिति । न चार्थविशिष्ट शब्दं कश्चिदवालिशो मन्यते, शब्दात् पृथगेवार्थस्य आचालं सुप्रसिद्धत्वात् ।

अथ अर्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वमस्य साध्यते; तदप्यसत्; तदर्थतया शब्दप्रयोगाऽसंभवात् । न हि तच्छक्तिसिद्धये शब्दः प्रयुज्यते श्रूयते वा, किन्तु अर्थसिद्धये ।

अथ अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्; सिद्धाऽसिद्धविकल्पानुपपत्तेः । असिद्धया हि अर्थप्रतीत्या तद्वत्त्वं शब्दस्यायुक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । सिद्धायां त्वस्यां किमन्यदनुमीयताम् ? स्वसंविदितस्वभावायामस्यां विसंवादाभावात् इत्यस्यानुमानस्य वैफल्यम् । न च धूमाद्यनुमानेऽप्ययं दोषस्तुल्य इत्यभिधातव्यम्, तत्र कार्यकारणभावानुमानाने धर्मविशिष्टो धर्मी साध्य एवमिहार्थविशिष्ट शब्द साध्यो भवतु; नैवम्; शब्दस्य हेतुत्वात् ।

न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति । -न्यायमं पृ० १५३ । स्या० २० पृ० ६२० ।

(१) सौगतमते । (२) अन्यापोहरूपस्य । (३) तुलना-“अर्थो ह्यर्थं गमयतीति भवद्भिरेव स्वीकरणात् ।”-स्या० २० पृ० ६२० । (४) सौगतरेव । (५) तुलना-“शब्दस्य धर्मिण किमर्थविशिष्टत्व वा साध्यते, प्रत्यायनशक्तिविशिष्टत्व वा, अर्थप्रतीतिविशिष्टत्व वा ?”-न्यायमं पृ० १५३ । स्या० २० पृ० ६२० । (६) तुलना-“शैलज्वलनयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावाभावात् ।”-न्यायमं पृ० १५३ । “पर्वतपावकयोरिव शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावासम्भवात् ।”-स्या० २० पृ० ६२१ । (७) शब्दार्थयो धर्मधर्मिभावो नास्ति आश्रयाश्रयिभावाभावात् । (८) अर्थप्रत्यायनशक्तिप्रतीत्यर्थम् । तुलना-“न शक्तिसिद्धये शब्दः कथ्यते श्रूयतेऽपि वा । अर्थगत्यर्थमेवाम् नृण्वन्ति च वदन्ति च ।”-न्यायमं पृ० १५४ । स्या० २० पृ० ६२१ । (९) तुलना-“सिद्धयसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः । असिद्धयाऽपि तद्वत्त्वं शब्दस्यार्थधिया कथम् । सिद्धाया तत्प्रतीतो वा किमन्यदनुमीयते ।”-न्यायमं पृ० १५४ । “नन्वर्थप्रतीतिः शब्दोत्थाऽन्यात्वा वा भवेत् ।”-स्या० २० पृ० ६२१ । (१०) अर्थप्रतीतिः । (११) तुलना-“न हि तत्र अग्निधूमेन जग्यते अपि तु गम्यते । इय त्वर्थप्रतीतिर्जग्यते शब्देनेत्यस्यामेव सिद्धासिद्धत्वविकल्पावसरः ।”-न्यायमं पृ० १५४ ।

१ इति भव-श्र०, न० । २ अचलानिल-आ० । ३ शब्दार्थयोर्धर्मभा-व० । ४ नैवार्थः व० । ५ बोध इत्य-आ० ।

भावात् । न खलु धूमेन अग्निर्जन्यते किन्तु गम्यते, शब्देन तु अर्थप्रतीतिर्जन्यते अतः  
अस्यामेव सिद्धासिद्धविकल्पावतारः । तत्र शब्दस्य धर्मित्वं घटते ।

नाप्यर्थस्य; तेन सह शब्दस्य भवद्विः सम्बन्धान्भ्युपगमात् । न हि शब्दार्थ-  
योस्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिरूपो वा सम्बन्धः सौगतैरभ्युपगम्यते । “न ह्यर्थे शब्दाः  
सन्ति तदात्मानो वै” [ ] इत्यादिवचनविरोधानुपपन्नात् । न च अर्थेनाऽ-  
सम्बद्धोपि शब्दः तस्य धर्मः अतिप्रसङ्गात् । अथ अर्थप्रतीतिहेतुत्वात् तद्वर्तमानोऽसौ; न;  
इतरेतराश्रयानुपपन्नात्-पक्षधर्मत्वसिद्धौ हि शब्दस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च  
पक्षधर्मत्वसिद्धिरिति । तत्प्रतीतिहेतुत्वेन चास्य तद्वर्तमानत्वे चक्षुरादेरपि पक्षधर्मतासिद्धेः  
तद्व्यभवापि प्रतीतिः आनुमानिक्येव स्यात् । तत्र पक्षधर्मत्वं शब्दे सभवति ।

नार्थव्यव्यतिरेकौ; देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात् । नहि यत्र देशे

(१) अर्थेन स्वलक्षणान्तकने । (२) बोद्धे । (३) “उक्तञ्च-न ह्यर्थे शब्दा तदात्मानो

वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेऽपि प्रतिभासरत्रित्यादि ।”-न्यायप्र० पृ० पृ० ३५ । “यथाहि बह्वी  
धूमो जन्यजनवसम्बन्धमम्बद्ध उत्तरभावेन भवति एव नाप्ये जन्यजनवसम्बन्धसम्बद्धा शब्दा उत्तर-  
भावन सन्ति । एतेन तदुत्पत्तिसम्बन्ध समर्थं ( शब्दार्थं ) योनांस्ति इत्याचष्टे । स एवायं आत्मा  
यथा शब्दानां ते तदात्मानः, अनेन तादात्म्यसम्बन्धोऽपि नास्तीत्याह तस्मिन्निति । अर्थे प्रतिभासमाने  
प्रत्यक्षेण परिच्छिद्यमाने प्रतिभासेरन् प्रदीप्येन् शब्दा इति । अयमभिप्राय-द्विविधो हि सम्बन्ध  
मोगतानां तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्च । तत्र तादात्म्यलक्षणो वृक्षत्वाद्युपात्वयोरिव तदुत्पत्ति-  
लक्षणस्त्वग्निधूमयोरिव । शब्दार्थयोर्द्विविधोऽपि सम्बन्धोऽपि न घटते । तथाहि-न तावत्तादात्म्य-  
लक्षण । तादात्म्ये हि शब्दार्थयोः शब्दो वा स्यादर्थो वा न द्वयम् । तथा शब्दार्थयोस्तादात्म्ये  
क्षुरिकामोदकादिशब्दोच्चारणे मुखपातनपूरणादिप्रसङ्ग, न च दृश्यते । तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि न घटते ।  
यत केय तदुत्पत्तिर्नाम ? किं शब्दार्थयोर्व्यतिरर्थाद्वा शब्दोत्पत्ति ? यदि शब्दार्थोत्पत्ति स्यात्तदा  
विश्वमदरिदं स्यात् हिरण्यादिशब्दोच्चारणादव तदुत्पत्ते । नाप्यर्थच्छब्दोत्पत्ति, तात्त्वादिकारण-  
कलापात्तदुत्पत्तिदर्शनात् ।”-न्यायप्र० पृ० पृ० ७६ । “उक्तञ्च धर्मकीर्तिना-न ह्यर्थे शब्दा  
सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासेरन् ।”-अनेकान्तजय० पृ० ११९ । उद्धृतामदम्-अष्टसह०  
पृ० ११८ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७५ B. । स्या० २० पृ० ६२१ । पृ६० बृह० पृ० १६ । “न ह्यर्थे  
शब्दा सन्ति तदात्मानो वा यथा सत्यव्युत्पत्त्यस्यपि व्युत्पत्त्यद् व्युत्पत्त्यैरुत्पत्त्यैः ।”-न्यायप्र०  
पृ० ७३ । (४) अर्थधर्मोऽसौ शब्द । (५) तुलना-“गमकत्वाच्च धर्मत्व धर्मत्वाद् गमको यदि  
स्यादन्योन्याश्रयत्व हि तस्मान्नैवापि कल्पना ॥”-मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ७७ । “प्रतीतिजनकत्वेन  
तद्वर्तमानाभ्युपगमायां पूर्ववदितरतराश्रयत्वम् । पक्षधर्मादिवलेन प्रतीति, प्रतीती च सत्या पक्षधर्मा-  
दिरूपलाभ इति ।”-न्यायप्र० पृ० १५४ । स्या० २० पृ० ६२१ । (६) शब्दस्य । (७) चक्षुरा-  
दिजन्या । (८) तुलना-“अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयण निरूप्यते ॥ व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतुत्व  
प्रतीयत । यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्निरस्ति त्वेनान्वय स्फुट । न त्वेव यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चय ।  
न तावत्तत्र देशेऽसौ तत्काले वाऽवगम्यते ।”-मी० श्लो० शब्दपरि० श्लो० ८५-८६ । “अन्वयव्यतिरे-  
कावपि तस्य दुरूपपादो, देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात् । नहि यत्र देशे शब्द तत्रार्थं । यथोक्तं  
श्रीधर्यै-मुख हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्षमिति ।”-न्यायप्र० पृ० १५५ । स्या० २० पृ० ६१२ ।

1 सिद्धविक-आ० । 2-स्वाद्वर्तमानो आ० ।

शब्द तत्रार्थे "मुखे हि शब्द उपलभ्यत भूमावध" [ शाबरभा० १।१।५ ] इति भवद्विरेवाभ्युपगमात् । नापि व्यवहारिणा तदन्वयाध्यवसायोऽस्ति, न सलु यत्र यत्र पिण्डखर्जूरादिशब्द शृण्वन्ति तत्र पिण्डखर्जूराद्यर्थास्तित्व व्यवहारिण प्रतिपद्यन्ते । यत्र हि धूम तत्रावश्य वह्निरस्तित्वेन प्रसिद्धोऽन्वेता भवति<sup>१</sup> धूमस्य, नत्वेव दशकृत शब्दस्य अर्थेनाऽन्वयोऽस्ति । नापि कालकृत, न हि यत्र काले शब्द तत्र तदर्थोऽवश्य सभवति, 5 रावणशङ्खचक्रवर्त्यादिशब्दा हि वर्तमाना तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्चेति कुतोऽर्थाणां शब्दान्वेतुत्वम् ? अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यभाव तत्पूर्वकत्वात्तस्य ।

यदप्युक्तम्—'यो हि शब्दो यत्रार्थे दृष्ट' इत्यादि, तदप्युक्तम्, एवविधाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्वाचकत्वस्य अस्माभिरभीष्टत्वात् । न चैवविधान्वयव्यतिरेकत्वमात्रेण अस्यानुमानत्व वाच्यम्, प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गात् तन्मात्रस्य तत्रार्थविशेषात् । यत्र हि 10 घटसद्भावोऽस्ति तत्र तत् प्रत्यक्ष भवति, यत्र तु स नास्ति तत्र तन्न भवतीति ।

यदपि—'सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वात्' इत्युक्तम्, तदप्यनुपपन्नम्, अननुमानेऽपि सशयोपमानादौ अस्य सद्भावेनाऽनैकान्तिकत्वात्, अननुमानत्वञ्च उपमानादे प्रागेवं प्रसाधितम् ।

यच्चान्यदुक्तम्—'शब्दो विवक्षायामेव प्रमाणम्' इत्यादि, तदप्यनल्पतमोऽपि 15 सितम्, तत्र तत्प्रामाण्यस्य 'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्' [ लघो० का० ६४ ] इत्यत्र प्रपञ्चत प्रतिपेत्यमानत्वात् ।

तत शब्दो नानुमान तद्विभिन्नविषयत्वात् तद्विभिन्नसामग्रीसम्बन्धित्वाच्च प्रत्यक्षवत् । इतोऽप्यननुमानमसौ पुरुषैर्व्येष्ट नियुज्यमानस्य अर्थप्रतीतिहेतुत्वात्, यत्पुनरनुमान न तत्तथा यथा कृतकत्वादि, तथा च शब्द, तस्मान्नानुमानमिति । न च 20 साधनाऽव्यतिरेकोऽय दृष्टान्त इत्यभिधातव्यम्, तथा तैर्नियुज्यमानस्यास्यै साध्य प्रतीत्यजनकत्वात् । न हि कृतकत्व नित्यत्वसाध्येच्छया धूमत्वादिक वा जलादिसाध्ये च्छया नियुज्यमानं तत्प्रतीतिहेतु, अन्यथा न कश्चिद् विरुद्धो हेतु स्यात् । तथा,

(१) बोद्धादिभि । (२) व्यतिरेकस्य । (३) पृ० ५३१ प० ५ । (४) जन । (५) शब्दस्य ।

(६) प्रत्यक्षस्य । तुलना— अन्वयव्यतिरेकोपपत्ति प्रत्यक्षस्य यथा यत्र घटस्तत्र घटज्ञानं यत्र नास्ति तत्र तदभाव इति । न्यायवा० पृ० २६१ । (७) पृ० ५३१ प० ४ । (८) तुलना— यत्तावत्स्मृत्यपेक्षत्वादननुमान शब्द इति तन्न अनेकान्तात् । अनु (अननु) मानस्य स्मृत्यपेक्षित्वमस्ति यथा सग्राये यथा तर्क यथोपमान इति । न्यायवा० पृ० २६० । (९) सम्बन्धस्मृत्यपेक्षत्वस्य । (१०) पृ० ४९५ । (११) पृ० ५३२ प० १० । (१२) विवक्षायाम् । (१३) तुलना— एवविधविषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवदननुमानादय शब्द इति सिद्धम् । न्यायम० प० १५५ । (१४) तुलना— सामयिकत्वाच्छब्दायसम्प्रत्ययस्य । जातिविशेष चानियमात् । ऋष्यायम्लेच्छाना यथाकामं शब्दप्रयोगोऽथप्रत्यायनाय प्रवर्तते न्यायभा० २।१।५५ ५६ । यद्यप्यदिनियोगेन प्रतीतिर्वापि शब्दत । न धूमादेरिति '—शो० इलो० शब्दपरि० इलो० १९ । (१५) कृतकत्वादेहेतो ।

१ यत्र पिण्ड—ब० । २—ति नापि—ब० । ३—भावे भवति—ब० । ४ शब्दो दृष्टार्थे शब्द इत्यादि थ० ।

पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानाम्, इत्यप्युक्तम्, दोषवतोऽपि मूकादेः पुरुषस्य अनुधारितशब्दस्य ईदृशाऽसत्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसभवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि तानुत्पादयत्येव । अतः शब्दानामेवैव स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । नैवाप्ता 'नेदृशि वाक्यानि प्रयुञ्जन्ते, प्रयुञ्जाना वा नाप्ता स्युः, इत्यप्यसत्, एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः । यदि हि वक्तृदोषाभावे अमू-वपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्तृदोषजत्वशब्दज्ञानस्य स्यात् । आप्तेस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विदोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चितः सत्त्वपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः । न चाप्तत्वम् ईदृग्व्याक्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते, तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात् । तथाहि—आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यप्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति । अतः शब्दस्यैवैव महिमा न वक्तृदोषाणाम् ।

किञ्च, र्थाधिकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञानजनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते, अतोऽर्थाऽसस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मान् सिद्धाः । तदुक्तम्—

“विकल्पयोनय शब्दा विकल्पा शब्दयोनय ।

तेषामन्यो यसम्बन्धो नार्थान् शब्दा स्पृशत्यमी ॥” [ ] इति ।

(१) तुलना— इहापि पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानामिति चत् मवम् दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्यदृशविप्लवोत्पादनपाटवाभावात् । असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्यं यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि विप्लवभावहृत्पथेति शब्दानामेवैव स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । —यायम० पृ० १५७ । स्या० २० पृ० ७०० । (२) बाह्यायशूयान् मिथ्याप्रत्ययान् । (३) तुलना— न चाप्ता नेदृगानि वाक्यानि प्रयुञ्जन्ते प्रयुञ्जाना वा नाप्ता स्युरिति चत् एतदप्यसुदरम् एवमपि हि वक्तृदोषाणामयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः व्यतिरेकासिद्धेः —स्या० २० पृ० ७०१ । (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादीनि । (५) तुलना— उक्तञ्चतदुम्बकेन—यदाप्तोऽपि कस्मश्चिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यं यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति तत्रायव्यभिचारस्फुट इति । —चित्तु० पृ० २५५ । (६) तुलना— अपि च न चक्षुरादि बाधकज्ञानोदये सति न विरमति विपरीतवेदनजमनशुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदशनात् । शब्दस्तु शतश्लेषोऽपि बाध्यमानो यथोच्चरितकरणास्त्रादिगिखरे करेणुगतमास्त इति तदवतथाभूतभूयोऽपि विकल्पमयथायमुत्पादयत्येवेति विकल्पाधीनजन्तवाच्छब्दानामेवेदं रूपं यदर्थसिस्पासित्वं नामेति । —यायम० पृ० १५८ । (७) तेषामन्योऽसम्बन्धे—यायम० पृ० १५८ । तेषामत्यन्तसम्बन्धो—नयचक्रवृ० लि० पृ० १६७ A । तेषामन्योऽसम्बन्धात्—सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४८४ B । कायकारणता तेषां नाथशब्दास्पृशत्यपि—न्यायावता० टी० पृ० ४४ । रत्नाकराव० पृ० ९ । स्या० म० पृ० १७५ । प्रकृतपाठ—स्या० २० पृ० ७०१ । पूर्वादम्—अनेकात्तजय० पृ० ३७ । अनेकान्तवाद० पृ० ४७ । सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B । शास्त्रवा० यगो० पृ० ४०२ A ।

1 इत्ययं—आ० 1 प्रतारकावे आ०, थ० 13 नेदृशवा—थ० 1 चक्षुदोष—व० 1 5 चासत्त्वम थ० 1

शब्दो नानुमानम् आप्तोक्तत्वेनैवाऽव्यभिचारिज्ञानजनकत्वात्, यत् पुनरनुमान न तत्तथा तज्जनकम् यथा कृतकत्वादि, तथा तज्जनकश्च शब्द इति । कृतकत्वादिसाधनस्य हि साध्येऽव्यभिचारिज्ञानजनने अविनाभाव एव निमित्त न आप्तोक्तत्वमनाप्तोक्तत्व वा शब्दस्य तु आप्तोक्तत्वमेवेति ।

सत्यम्, अन्तुमानस्वभाव एवाय शब्द अप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे हि तस्य अनु-

शब्द विरल्पवत्स-  
नामात्रजन्यत्वादायाऽ-  
सस्पशा अत एव च  
नत प्रामाण्यम् इति  
बाद्धस्य पूर्वपक्ष -

मानेऽन्तर्भावप्रयास फलवान् । न चास्यैतदस्ति, वस्तुनि सम्बन्धाऽ  
सभवात् । सम्बन्धो हि शब्दार्थयोर्भवेत् तादात्म्यलक्षण, तदुत्पत्ति-  
स्वभावो वा भवेत् ? न तावत् तादात्म्यलक्षण, विभिन्नदेशतया  
तयो प्रतीयमानत्वात्, मुखे हि शब्द प्रतीयते भूमावर्थ इति ।  
तैत्तादात्म्ये च क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुग्गस्य पाटनपूरणप्रसङ्ग ।

नापि तदुत्पत्तिस्वभाव, 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि शब्दानाम् अर्थाभावेऽ-  
प्युत्पत्तिप्रतीते, स्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वाच्च । अतोऽर्थाऽसस्पर्शिन शब्दा न बाह्यार्थे  
प्रतीति जनयितुमल तत्कथ प्रामाण्यभातो भवेयु ? ते हि विकल्पमात्राधीनचन्मान स्व-  
महिम्ना तिरस्कृतबाह्यार्थान् प्रत्ययानुत्पादयन्ति यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति ।

(१) तुलना- आप्तोपदेशामर्थ्याच्छब्दार्थे सम्प्रत्यय । २।१।५२ । स्वग अप्तरस उत्तरा  
कुरव सप्त द्वीपा समुद्रो श्लोकसन्निवश इत्यवमादेरप्रत्यक्षस्यापस्य न शब्दमात्रात् प्रत्यय । कित्तिहि ?  
आप्तरयमुक्त गब्द इत्यत सम्प्रत्यय विषययण सम्प्रत्ययाभावात् नत्वेवमनुमानमिति । 'न्यायभा०,  
न्यायवा०, २।१।५२ । (२) नातरीयकताभावाच्छब्दाना वस्तुभिस्सह । नाथसिद्धिस्ततस्त हि  
वक्त्रभिप्रायमूचवा ॥ अधुना नव बाह्यार्थस्य प्रामाण्यमित्याह-अपि चेत्यादि । वस्तुभि स्वलक्षण  
सह गब्दानन्तरीयवनाया अविनाभावस्याभावात् तभ्य शब्देभ्यो नाथसिद्धिं बाह्यवस्तुनिदचय यस्मात्  
वक्त्रभिप्रायमूचवा । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।२।१२ । वक्त्रा प्रतिबन्धो वा को बाह्यव्यपि  
वस्तुषु । प्रतिपादयता तानि यनया स्यात्प्रमाणना ॥ भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नवात्म्य न तदुद्भव ।  
व्यभिचारात्त चायस्य युज्यते व्यभिचारिणा ॥ न हि बाह्य वस्तुभि सह कश्चित्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्प  
त्तिलक्षणो वा प्रतिबन्धो वक्त्रमास्ति यन तानि वस्तूनि प्रतिपादयतामया वक्त्रा प्रामाण्य स्यात् । तत्र  
तावन्न तादात्म्यलक्षणप्रतिबन्धोऽस्ति भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो हतुभ्य । तत्र भिन्नाक्षग्रहण भिन्नाक्षयण  
ग्रहणम् । तथाहि-भ्रोत्रद्वयण गब्दो गृह्यते जयन्तु चक्षुरादिना । आदिशब्दन बालदेशप्रतिभासकार  
णभदो गृह्यत -नत्वेसं० पृ० ४४० । न्यायप्र० वृ० पृ० ७६ । तुलना- मुख हि शब्दमुपपन्नमामह  
भूमावयमिति । -गारभभा० १।१।५ । (३) तुलना- पूरणप्रदाहृणान्नुपलब्धत्वं सम्बन्धाभाव ।  
-न्यायमू० २।१।५३ । स्याच्चदर्थेन सम्बन्ध क्षुरमादकशब्दोच्चारण मुखस्य पाटनपूरण स्याताम् ।  
-गारभभा० १।१।५ । शास्त्रशा० श्लो० ६४५ । अनेकान्तत्रय० पृ० ४२ । १।५।५० पृ० १४४  
टी० ३ । (४) विवक्ष्यत्वात्सोद्भूताः समारापितगाचरा । जायन्त बुद्धयस्तत्र क्वच नाधगाचरा ।  
अनादि गमानत्रातोयो या विवक्ष्यन्त आहिना या वामनागस्तिस्तत उन्भूता उत्पन्ना यथागम समारा  
पिता य आचागायाचरा तगाचरा न त्रिभिर्भाष्येण तत्र क्वच गता तत्र बाह्यत्वेन कल्पितेषु आचागा  
पिन्नु जायन्त । न तु ता बुद्धयो यगाचरा नाचागापिन्वल्क्षणविषया । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२।८८ ।

१ तथा सम्बन्धवत् थ० । २ नाप्तोचरत्वं वा थ० । ३-यूपमास्ते व० ।

पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानाम्, इत्यप्युक्तम्, दोषवतोऽपि मूकादेः पुरुषस्य अनुच्चारितशब्दस्य ईदृशाऽसत्यप्रत्ययोत्पादनसामर्थ्याऽसम्भवात्, असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये आप्तप्रयुक्तानि अङ्गुल्यादिवाक्यानि तानुत्पादयन्त्येव । अतः शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । नैवाप्ता 'नेदृशि वाक्यानि प्रयुञ्जन्ते, प्रयुञ्जाना वा नाप्ता स्युः, इत्यप्यसन्, एवमपि हि वक्तृदोषाणाम् अयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धेः । यदि हि वक्तृदोषाभावे अमून्यपि वाक्यानि प्रयुज्येरन् न चायथार्थान् प्रत्ययान् कुर्युः, तदा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वक्तृदोषजत्वं शब्दज्ञानस्य स्यात् । आप्तैस्तु तेषामप्रयोगे 'किं शब्दाभावाद् अयथार्थज्ञानानुत्पत्तिः, आहोस्विदोषाभावात्' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः, शब्दे तु निश्चित-सत्त्वपि दोषेषु शब्दानुच्चारणे मिथ्याज्ञानानुत्पत्तेः । न चाप्तत्वम् ईदृग्व्याक्यप्रयोक्तृत्वेन विरुध्यते, तथाविधशब्दोच्चारणे सत्यपि आशयदोषाभावतोऽनाप्तत्वायोगात् । तथाहि—आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथा 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इति । अतः शब्द-स्यैवैष महिमा न वक्तृदोषाणाम् ।

किञ्च, बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि शब्दो मिथ्याज्ञान जनयत्येव नेन्द्रियवदुदास्ते, अतोऽर्थाऽसस्पर्शिनः शब्दा विकल्पमात्राधीनजन्मानः सिद्धाः । तदुक्तम्—

“विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्दयोनयः ।

तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥” [ ] इति ।

(१) तुलना—' इहापि पुरुषदोषाणामेव महिमा न शब्दानामिति चत्तु मेवम्, दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्येदृशविप्लवोत्पादनपाठभावात् । असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्यं यथा प्रयुज्यमानानि अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानि विप्लवभावाहृत्यवेति शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम् । —वायम० पृ० १५७ । स्या० १० पृ० ७०० । (२) बाह्यायनूयानं मिथ्याप्रत्ययान् । (३) तुलना— न चाप्ता नेदृशानि वाक्यानि प्रयुञ्जन्ते प्रयुञ्जाना वा नाप्ता स्युरिति चत्तु, एतदप्यसुन्दरम् एवमपि हि वक्तृदोषाणामप्रयथार्थज्ञानोदयकारणत्वासिद्धिः व्यतिरेकासिद्धेः ”—स्या० १० पृ० ७०१ । (४) अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादीनि । (५) तुलना— उक्तञ्चतदुम्बकेन—यदाप्तोऽपि कस्मैश्चिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थवाक्यं प्रयोक्तव्यं यथाऽङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः इति ।—चित्तु० पृ० २५५ । (६) तुलना— अपि च न चक्षरादि बाधकज्ञानोदये सति न विरमति विपरीतवेदनजन्मनः शुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदर्शनात् । शब्दस्तु शतकृत्वोऽपि बाध्यमानो यथैवोच्चरितः करसाखादिशिखरे करेणुशतमास्त इति तदैव तथाभूतं भूयोऽपि विकल्पमयं धायमूलादयत्यवेति विकल्पाधीनजन्मत्वाच्छब्दानामेवैष रूपं यदर्थासर्पाशिवत् नामेति । —वायम० पृ० १५८ । (७) तेषामन्योन्यसम्बन्धे—वायम० पृ० १५८ । तेषामत्यन्तसम्बन्धो—नयचक्रवृ० लि० पृ० १६७ A । तेषामन्योन्यसम्बन्धात्—सिद्धिवि० टी० पृ० ३६५ B, ४८४ B । 'कायकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि'—वायावता० टी० पृ० ४४ । रत्नाकराव० पृ० ९ । स्या० म० पृ० १७५ । प्रकृतपाठ—स्या० १० पृ० ७०१ । पूर्वादिम्—अनेकान्तजय० पृ० ३७ । अनेकान्तवाव० पृ० ४७ । सिद्धिवि० टी० पृ० २६० B । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४०२ A ।

1 इत्यप्यु—आ० 1 2 प्रतारकादे आ०, थ० 1 3 नेदृशवा—थ० 1 4 चक्षुषोप—व० 1 5 चासत्त्वम् थ० 1

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘वस्तुनि सम्बन्धासभवात्’ इत्यादि, तदसमी-

क्षिताभिधानम् तत्रै शब्दस्य तत्रैभावाऽसभवात् । तथाहि—शब्द

अर्थेन सम्बद्ध एव त प्रकाशयति प्रतिनियततत्प्रत्ययहेतुत्वात् चक्षुर्वत् ।

शाब्दप्रत्ययो वा सम्बद्धाभ्या शब्दार्थाभ्या जन्यते प्रतिनियतप्रत्ययत्वात्

दृण्डीत्यादिप्रत्ययवत् । ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्ब

न्धस्याऽपास्तत्वात् कथं सम्बद्धत्वम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, तदभावऽ

प्यनयो योग्यतालक्षणसम्बन्धसभवात् । तदभाव सौऽपि कथम् ? इत्यप्यवाच्यम्,

चक्षुरूपयोस्तदभावेऽपि तदर्शनात् । न खलु चक्षुषो घटादिरूपेण सह तादात्म्य तदुत्प

त्ति सयोगो वा सौगवैरभ्युपगम्यते प्रतीतिविरोधानुपह्नात्, अप्राप्यकारित्वात्प्रतिप्रसङ्गात् ।

नाप्यस्य तदभावे रूपप्रकाशनयोग्यतासभवासम्बन्धस्याप्यसभव, श्रोत्रादिवत् तत्रैवापि

तदप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् ।

ननु योग्यतात शब्दस्य अर्थवाचकत्व अर्थस्यापि शब्दवाचकत्व किन्त स्यात् ?

इत्यप्यसाम्प्रतम्, प्रतिनियतशक्तित्वाद् भावानाम् । योग्यता हि शब्दार्थयो प्रतिपाद्य

प्रतिपादकशक्ति, ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । नच ज्ञानज्ञेययो कार्यकारणभा

वात् तत्प्रतिनियमो न योग्यतात इत्यभिधातव्यम्, तत्कार्यकारणभावस्य ‘अन्वयव्य

तिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारण विदः’ [ लघी० का० ५४ ] इत्यत्र विस्तरतो निरा

करिष्यमाणत्वात् । कथञ्चैव चक्षुरूपयो घटप्रदीपयोश्च प्रकाशप्रकाशकभावप्रतिनियम

स्यात् ? योग्यतातोऽन्यस्य कार्यकारणभावादिप्रतिबन्धस्य तत्रै तत्प्रतिनियमहेतोरसभवात् ।

ननु योग्यतावशात् शब्दो धैर्यं प्रतिपादयति तदा भूभनवद्वितोऽत्यतस्यापि

(१) शृ० ५३६ प० ६ । (२) वस्तुनि । (३) सम्बन्धाभाव । (४) अथ । (५) तादात्म्यतदुत्प

त्तिसम्बन्धाभाव—आ० टि० । तुङ्गा— मामविवत्वाच्छब्दासम्प्रत्ययस्य ।—न्यायमू० २।१।५९ । स

च वाच्यवाचकावम्बन सङ्गतानामव ।—प्रग० व्यो० पृ० ५८५ । तादृगा वाचक गल् सकतो

यत्र वनते ।—न्यायवि० का० ४३२ । जन्म त्वभिधत्तयव वाच्यवाचकलक्षण । अस्ति गल्पाथ

योयौगस्तरप्रतीत्यात्तस्त ॥—पास्तवा० श्लो० ६५२ । सहजयोग्यतासङ्गतवादि गल्पाथो

वस्तुप्रतिपत्तिहनव ।—वरीक्षामू० ३।१०० । स्वाभाविकमामध्यममयाभ्यामथवोपनिवधर्न गल्

इति ।—प्रमाणवय० ४।११ । (६) गल्पाथया । (७) योग्यताधर्णोपि । (८) तादात्म्यतदुत्पत्त

भावेपि । तुङ्गा— नयनरूपया स्वचित्तभावेपि तदुपगमभात् ।—स्या० २० पृ० ७०२ । (९)

चक्षुरूपयो मवागाभ्युपगम । (१०) चक्षुष—आ० टि० । (११) तादात्म्यतत्त्वभाव—आ० टि० ।

(१२) चक्षुष—आ० टि० । (१३) स्तर—आ० टि० । (१४) तुङ्गा— सहजा स्वाभाविकी याप्यता

गल्पाथया प्रतिपादप्रतिपादकशक्ति ज्ञानययानाप्यतापकशक्तिवत् ।—प्रमेयक० पृ० ४२८ ।

स्या० २० पृ० ७०२ । (१५) ताप्यतापकप्रतिनियम । (१६) ज्ञानययो कार्यकारणभावस्य । (१७)

चक्षुरूपया घटप्रतीत्यात् । तुङ्गा— इतरथा ज्ञानमव प्रवागक नयमव च प्रवाप्य नपुनज्ञानमिति

नियमस्यापत्तनात् ।—स्या० २० पृ० ७०२ । (१८) प्रवाप्यप्रकाशकप्रतिनियम ।



प्रतिपादयेत् विशेषाभावात्, इत्यप्यपेक्षलम्, सङ्केतसचिवयोग्यतावशात्स्य तत्प्रतिपाद-  
कत्वाभ्युपगमात्, भूभवनसर्द्धितोत्थित प्रति चास्य तथाविधत्वाभावात् तत्प्रतिपादकत्व-  
प्रसङ्ग । सङ्केतो हि 'इदमस्य वाच्यम् इदं वाचकम्' इत्येवविधौ वाच्यवाचकयोर्वि-  
नियोग, स यस्यास्ति तस्यैव शब्द स्वार्थं प्रतिपादयति नान्यस्य, अन्यथा धूमादिसा-  
धनमप्यस्य अग्न्यादिसाध्य गमयेदविशेषात्, अविनाभावो हि साधनस्य साध्यगम-  
कत्वे अङ्गम्, स च सर्वदा सर्वं प्रत्यस्यास्ति । <sup>५</sup>येनैव साध्यसाधनयोरविनाभावो गृहीत  
त प्रत्येव साधन साध्यस्य गमकमित्यभ्युपगमे येनेव शब्दार्थयो सङ्केतो गृहीत त प्रत्येव  
शब्दोऽर्थस्य वाचक इत्यभ्युपगम्यतामविशेषात् ।

ननु सङ्केत पुरुषच्छाकृत, नच तदिच्छया वस्तुव्यवस्था युक्ता अतिप्रसङ्गात्,  
अंतोऽर्थोपि वाचक शब्दस्तु वाच्य किन्न स्यात् तदिच्छया निरङ्कुशत्वात् ? इत्यप्य-  
सुन्दरम्, तत्सङ्केतस्य सहजयोग्यतानिवन्धनत्वाद् धूमाग्निवत् । यथैव हि धूमाग्न्योर्नै-  
सर्गिक एवाविनाभाव सम्बन्ध, तद्व्युत्पत्तये तु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते, तथा  
शब्दार्थयो एवाविक एव प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्त्यात्मा सम्बन्ध, तद्व्युत्पत्तये तु सङ्केत  
समाश्रीयते । सासिद्धिकार्थशक्तिव्यतिक्रमे च चक्षूरूपादीनामपि प्रकाश्यप्रकाशशक्ते  
व्यतिक्रम स्यात् । तथा च चक्षु प्रदीपादीना प्रकाश्यत्व घटादीना तु प्रकाशकत्व  
स्यात् । प्रतीतिविरोधोऽर्थप्रापि न काकैर्भक्षित ।

ननु शब्दस्य स्वाभाविकी शक्ति किमेकार्थप्रत्यायने, अनेकार्थप्रत्यायने वा ?  
यथेकार्थप्रत्यायने, तदा सङ्केतशतैरपि ततोऽर्थान्तरे प्रतीतिर्न स्यात् धूमादनग्निप्रतीतिवत् ।

(१) शब्दस्य । (२) अथवाचकत्वस्वीकारात् । (३) तुम्हा- क पुनरय समय ? अस्य  
गन्स्यदमयजातमभिधयमित्यभिधानाभिधयनियमनियोग तस्मिन्पुपुक्ते गन्दाधसप्रत्ययो भवति ।  
-वाचभा० २।१।५५ । अभिधानाभिधयनियमनियोग समय उच्यते । -न्यायम० पृ० २४१ ।  
'जस्मायस्याय वाचक इत्ययकथन समय -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । इदं पदममुमर्थं बोध  
यतु इति अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्य इति वेच्छा । -तत्त्वचि० शब्दपरि० । स्या० १० पृ० ७०२ ।  
(४) पुरुषस्य । (५) भूभवनसर्द्धितोत्थितस्य । (६) पुरुषण । (७) अतिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति ।  
(८) तुलना- सहि पुरुषकृत सङ्कत न च पुरुषच्छया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते तदिच्छया अद्याहृत  
प्रसरत्वात् । अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति । न चैवमस्ति न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो  
धूमान्न तत्प्रत्यति जल वा तत् इच्छन्नपि प्रतिपद्यते । तत्र यथा धूमाग्न्यो नसर्गिक एवाविनाभावो  
नाम सम्बन्ध तत्तय तु भूयोदर्शनादि निमित्तमाश्रीयते एव शब्दाद्ययो सासिद्धिक एव शक्त्यात्मा  
सम्बन्ध तद्व्युत्पत्तये तु वृद्धव्यवहारप्रसिद्धिसमाधयणम् । -न्यायम० पृ० २४१ । सङ्कतस्य सहजयो  
ग्यतानिवन्धनत्वात् । यथैव हि धूमपावकयो स्वाभाविक एवाविनाभाव -स्या० १० पृ० ७०३ ।  
(९) अविनाभावग्रहणाय । (१०) आदिपदेन तर्को ग्राह्य । (११) शब्दाद्ययोरपि वाच्यवाचकबोधने ।  
(१२) तुलना- गिरामेकाधनियम न स्यादर्थान्तरे गति । अनेकार्थाभिसम्बन्ध विरुद्धव्यक्तिमभय ॥'  
-प्रमाणवा० ३।२२८ ।

१ प्रतिपादयतु व० । २-विधावाच्यवाच-आ० । ३ साध्यसाधन साध्यस्य व० । ४-त्पत्तय  
स-आ०, व० । ५-क्रमे चक्षू-श्र० । ६-प्रदीपानां आ० । ७ तथा व० ।

अथ अनेकार्थप्रत्यायने, तदा युगपत् ततोऽनेकार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् प्रतिनियतेऽर्थे प्रवृत्तिर्न स्यात्, इत्यप्यचर्चितमिधानम्, सर्वैशब्दानां सर्वार्थेषु प्रत्यायनशक्तिसमभवात् । कथमन्यथा अनवगतसम्बन्धे शब्दे प्रयुक्ते सन्देहः स्यात्—'कैमर्थं प्रतिपादयितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः' इति । नचैव सकृत्सर्वार्थप्रतिपत्तिप्रसक्ते प्रतिनियतेऽर्थे ततः प्रवृत्तिर्न स्यादित्यभिधातव्यम्, प्रतिनियतसङ्केतवशात्तेषां प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतसङ्केतोऽनुभूयते, यथा मालवकादौ कर्कटिकाशब्दस्य फलविशेषे, गुजरादौ तु योन्यामिति । दृश्यते च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुष्यप्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे, विशिष्टाञ्जनादिवशात् अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च त्रिर्धक्षितरूपाभावेऽपीति । तयो यथा अनेकरूपप्रकाशनयोग्यस्यापि चक्षुषो दूरतिमिरादिप्रतिनियतसहकारिवशात् प्रतिनियतदूररूपादिज्ञानजनकत्व तथा अनेकार्थप्रत्यायनयोग्यस्यापि शब्दस्य प्रतिनियतसङ्केतवशात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वमविरुद्धम् ।

अथ मतम्—चक्षुरादिवत् शब्दस्य अर्थे योग्यतालक्षणसम्बन्धसमभवे तद्वदेव अतः सङ्केतानपेक्षा अर्थप्रतीतिः स्यात्, तदर्थसङ्गतम्, तस्य ज्ञापकतया तत्सापेक्षस्यैव अर्थ-

(१) तुलना—'सर्वकारपरिच्छेदाक्तेऽर्थे वाचकेऽपि वा । सर्वकारावधिज्ञानसमर्थे नियमकृत ॥ —मी० श्लो० १० २०२ । सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद्दृश केनचिदर्थेन व्यवहारः । अत एव चानधिगतसम्बन्धे श्रुते सति सन्देहो भवति कमर्थे प्रत्याययितुमनेन शब्दः प्रयुक्तः स्यादिति । —न्यायम० १० २४२ । 'समयापेक्षणं चह तत्संयोगश्च विना । तत्त्वतृत्वेन सफल योगिना तु न विद्यते ॥ सर्ववाचकभावत्वाच्छब्दानां चित्रशक्तिः । वाच्यस्य च तथाज्यत्र नागोऽस्य समयोऽपि हि ॥'—शास्त्रवा० श्लो० ६६३ ६४ । 'तथा च सर्वे शब्दाः प्रायः सर्वार्थवाचकशक्तिमन्तः सर्वे चार्थाः सर्वशब्दाव्याशक्तियुक्ता इति विचित्रक्षयोपशमादिसहकारियोगतः तया तथा प्रवतन्त इति न क्वचिद्वाधा'—अनेकान्तजय० १० ३६ १ । मवस्य शब्दस्य सवायप्रतिपादनशक्तिर्वाच्यसिद्धः । पदापस्य च मवस्य सर्वशब्दाव्याशक्तित्वशक्तित्वानात्वात् । —अष्टसह० १० १४३ । शब्दस्यानेकायप्रतिपादने नसर्गितशक्तिःसद्भावेऽपि प्रतिनियतसङ्केतसामर्थ्यात् प्रतिनियतार्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । —स्या० १० १० ७०३ । (२) शब्दात् । (३) शब्दानाम् । (४) तुलना—'तथाहि—यवशब्द आर्यैर्दोषाङ्गके पदार्थे प्रयुज्यते, ते हि यवशब्दात् दोषाङ्ग पदार्थ प्रतिपद्यन्त म्लच्छास्तु प्रियङ्ग प्रतिपद्यन्त । एव त्रिवृत् शब्दमुपय स्तोत्रोपानयक प्रयुज्यते आर्यास्तु लताविद्याप । —न्यायवा० ता० १० ४२० । 'एवस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतसङ्केतोऽनुभूयते, यथा गुजरादौ चौरशब्दस्य तस्करे द्राविडादौ पुनरादेन इति । दूरपत्तं च सर्वत्र रूपप्रकाशने योग्यस्यापि चक्षुष्यप्रत्यासन्नतिमिरवशादसन्निहिते, दूरतिमिरवशाच्च सन्निहिते रूपे विशिष्टाञ्जनादिवशाच्च अन्धकारान्तरितेऽपि ज्ञानजनकत्वम्, काचकामलादिवशाच्च त्रिर्धक्षितरूपाभावेऽपीति । —स्या० १० १० ७०३ । (५) 'एवं क्वटाशब्दादप्यापि तत्तद्वाचकतया यान्नादिवाचका ज्ञयाः । —स्या० म० १० १७८ । (६) पीनरूपाभावेऽपि एव पीतज्ञानजनकत्वम् । (७) चापुवदव । (८) शब्दात् । (९) शब्दस्य । तुलना— वाच्यनाचकत्वक्षयो हि शब्दापस्य प्रतिपत्तः तथाहि वाच्यत्वभावा अर्था वाचकत्वभावाच्च शब्दा इति तद्वृत्तिवादः । यदव

प्रतीत्यङ्गतोपपत्तेः । यज्ज्ञापक तत् ज्ञाप्ये प्रतिपन्नप्रतिबन्धमेव प्रतीतिमुत्पादयति यथा धूमादि, ज्ञापकश्च शब्द इति । चक्षुरादीना तु कारकत्वात् युक्त स्वार्थसम्बन्धग्रहणान-  
पेक्षाणा तदुत्पादकत्वम् । स्वयं हि प्रतीयमानम् अप्रतीतार्थप्रतीतिहेतुर्ज्ञापिकमुच्यते ।  
तद्वृत्ता च शब्दादेरेवास्ति न चक्षुरादे, अतः स एव प्रतिपन्नप्रतिबन्ध स्वार्थं गमयति ।  
शक्तिस्तु स्वाभाविकी यथा रूपप्रकाशने चक्षुरादे तथा अर्थप्रकाशने शब्दस्य ।

यदप्युक्तम्—‘अतोऽर्थासस्पर्शिनः शब्दा’ इत्यादि, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्,  
यत् किमाप्तप्रणीतस्य शब्दस्य अर्थासस्पर्शित्वं प्रसाध्यते, अनाप्तप्रणीतस्य, शब्दमात्रस्य वा ?  
तत्रापक्षे प्रत्यक्षबाधो, आप्तप्रणीतात् ‘नद्यास्तीरे फलानि सन्ति’ इति वाक्यादतिरस्कृत-  
वाह्यार्थप्रत्ययप्रतीते तत्र प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्ते । अथाऽनाप्तप्रणीतस्य, तर्हि तस्यैव अर्था-  
ऽसस्पर्शित्वं युक्तं नान्यस्य, अन्यथा काचादिदोषदुष्टचक्षु प्रभवप्रत्यक्षस्यै अर्थासस्पर्-  
शित्वोपलम्भात् गुणवच्चक्षु प्रभवप्रत्यक्षस्यापि तत्स्यात् ।

एतेन तृतीयविकल्पोऽपि प्रत्याख्यातः, आप्तानाप्तप्रणीतशब्दव्यतिरिक्तस्य शब्दमात्र-  
स्याऽसम्भवात् । नन्वाप्तप्रणीताद् अङ्गुल्यादिवाक्याद् विपर्ययज्ञानोत्पत्तिप्रतीते शब्द-  
स्यैव महिमा न वक्तृदोषाणाम्, इत्यप्यचर्चिताभिधानम्, अङ्गुलैरेवविधवाक्याऽप्रयोगात् ।

यत्—‘आप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति’ इत्याद्युक्तम्, तत्र निषेधपरत्वेनार्थे यथार्थ-

कथं सङ्गतमत्रेणव ततस्तदवगति ? उच्यते—तथाविधक्षयोपशमाभावात् । न हि रूपप्रकाशनस्व-  
भावोऽपि दीपोऽस्ति चक्षुषि तत्प्रकाशयति चक्षु कल्पश्च क्षयोपशमः, स च सङ्गतपश्चरणभावनादि  
जयस्तयोपलब्धे ।—अनेकान्तजय० पृ० ३६ A । ‘शब्दस्य ज्ञापकत्वात् । ज्ञापकस्य धूमादरेतद्रूप  
यत्सम्बन्धग्रहणापेक्ष स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम् । तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामग्र्यन्तगतत्वात् व्युत्पत्त्यपेक्षा  
भवन्ति । शक्तिस्तु नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशनी दीपादेस्तथा शब्दस्याथप्रतिपादने ।—न्यायम० पृ०  
२४१ । (१०) सङ्गतग्रहणसहितस्य ।

(१) ज्ञापकरूपता । (२) शब्दादि । (३) पृ० ५३६ प० १२ । (४) तुलना— यत्  
किमाप्तनिर्गदितशब्दस्यार्थासस्पर्शित्वं—स्या० २० पृ० ७०३ । (५) तुलना— भवेदेतदव यदि न  
कदाचिदपि यथार्थं शब्द प्रत्ययमुपजनयत् । अथसस्पर्शित्वमेवास्य स्वभाव इत्यवगम्यते । भवति तु  
गुणवत्पुरुषभाषितान्नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृतवाह्यार्थो यथाथप्रत्यय तत्र प्रवृत्तस्य  
तदर्थप्राप्ते ।—न्यायम० पृ० १५८ । (६) आप्तोक्तशब्दात् । (७) शुक्लं शब्दं पीताकारावभा-  
सिनः । (८) शुक्ले शब्दे शुक्लत्वावभासकस्यापि । (९) अर्थासस्पर्शित्वमतश्च मिथ्यात्व स्यादिति  
भावः । (१०) अङ्गुल्यप्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिवाक्यात् । (११) यत् तिरस्कृतवाह्यार्थप्रत्य-  
योत्पादकत्वम् । (१२) तुलना— गुणवतामेवविधवाक्योच्चारणचापलाभावात् ।—न्यायम० पृ०  
१५८ । आप्तैरेवविधवाक्यस्याप्रयुक्ते—स्या० २० पृ० ७०४ । (१३) पृ० ५३७ प० ११ ।  
(१४) तुलना— यत् आप्तोऽपि कचिदनुयास्ति मा भवानभूताथ वाक्य वादी अङ्गुलिकोटो करिघटा  
शतमास्ते इति तत्र इतिकरणावच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधकवाक्यतया  
यथाथत्वमव । अथपरत्वे तु निषेधकवाक्यतव न स्यादिति । तस्मादाप्तवाक्यानामयथाथत्वाभावात्  
स्वतोऽर्थासस्पर्शिनः शब्दा पुरुषदोषानुपसङ्गुत एवायं विप्लवः ।—न्यायम० पृ० १५८ । स्या० २० पृ०  
७०४ । (१५) अङ्गुल्यादिवाक्यप्रयोगनिषेधकस्य आप्तोपदेशस्य ।

तैव, चाक्यैरुदेःशस्यापि उदाहरणविवक्षायाम् इतिरूपावच्छिन्नस्य शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थतैव । अर्थपरत्वे तु निषेधेनैकवाक्यतैव न स्यात् । तस्माद् आत्मप्रणीतशब्दानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासस्पर्शिन शब्दाः, किन्तु पुरुषदोषवशात् ।

नन्याग्नेरेऽविधवाक्याप्रयोगेऽपि सन्दिग्धो व्यतिरेक 'किं शब्दाभावादयथार्थ-  
ज्ञानानुत्पत्ति, वक्तृदोषाभावाद्वा', इत्यप्यविचरितरमणीयम्, अनुच्चारितशब्दस्यापि  
दोषवत् पुरुषस्य हस्तसञ्ज्ञादिना प्रतारकत्वप्रतीते । न च हस्तसञ्ज्ञादिना शब्दानुमान  
ततो वितथप्रत्यय इत्यभिधातव्यम्, तैवाप्रतीत्यभावात् । नद्यादिवाक्यादुत्पन्ने च  
क्वचिद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन् अनासादितफल पुरुष पुरुषमेवाधिक्षिपति  
'दुरात्मनाऽनेन विप्रल-धोऽस्मि' इति, न शब्दम् । ननु पुरुषस्य गुणवतो दोषवतो वा  
शब्दोच्चारणमात्र एव व्यापार, अर्थप्रतिपत्तिस्तु शब्दनिबन्धनैवेति नैद्विपर्यये शब्दस्यैव  
व्यापारो न वक्तृदोषाणाम्, इत्यप्ययुक्तम् यैतो गुणवद्वक्तृप्रणीतात् 'तरङ्गिणीतीरे फलानि  
सन्ति' इति वाक्यात् सत्यप्रत्ययोदयेऽप्येव शब्दस्यैव व्यापार स्यात् तद्वक्तु तदुच्चा-  
रणमात्रे चरितार्थत्वात् । अतः कथमेकान्तत शब्दस्याऽर्थासस्पर्शित्वमेव स्वरूप स्यात् ?

रिद्ध, विपर्ययज्ञानोत्पत्तेर्यावद्वि सह तद्भावभावित्वमवगम्यते तावता तत्र  
व्यापार, सां चात्र शब्दोच्चारणे सत्यपि अनाप्तयोगिता विना न दृष्टेति शब्दवत्तदा  
शयस्यापि तत्रे व्यापार ।

'विश्व, चक्षुरादिवदर्थप्रकाशकत्वमात्र शब्दस्य स्वरूप न पुन यथार्थप्रकाशक-

(१) अङ्गन्यग्र हस्तिपूषागतमास्त इति वाक्यस्य एकदेश अङ्गन्यग्र इत्यादिरूप । (२) तुलना-  
अनुच्चरितशब्दोऽपि पुरयो विप्रलम्बक । हस्तमनाद्युपायन जनययव विष्णवम् ॥ -न्यायमं० पृ०  
१५८ । स्या० १० पृ० ७०४ । (३) तुलना- इत्यमप्रतीते । उत्पन्न च क्वचिन्नद्यादिवाक्यादिज्ञाने  
तरङ्गिणीतीरमनुसरन्प्रनासादितफल प्रवृत्तबाधकप्रत्यय पुरुषमवाधिक्षिपति षिग् हा तन दुरात्मना  
विप्रलम्बोऽस्मि' इति न शब्दम्, प्राप्तफलदच पुमानव श्लायते साधु साधुना तनापदिष्टमित्यत  
पुरुषदापाक्यानुविधानात्तदभावहत एव आप्तयु तूष्णीमामानपु विभ्रमानुत्पाद इति न सन्दिग्धो  
व्यतिरेक । पुरुषदापहत एव शब्दाद्विष्णवो न स्वरूपनिबधन । -न्यायमं० पृ० १५८ । स्या० १०  
पृ० ७०४ । (४) अथप्रतानिविषयवे । (५) तुलना- हस्त तर्हि वक्तरि गुणवति सति सतिस्तोरे  
फलानि सन्तीति मन्व्यरप्रत्ययवि शब्दस्यैव व्यापारात् पुरुषस्य उच्चारणमात्रे चरितात्तत्वात्प्रकालत  
शब्दस्वाधार्मस्त्वगिवमव स्वभाव । -न्यायमं० पृ० १५९ । (६) वायकारणभाव । (७) विषयय-  
ज्ञानानुत्पत्ति । (८) अनाप्तविभ्रमस्य । (९) विषययज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः । तुलना-स्या० १० पृ०  
४०७ । (१०) तुलना- वक्तृदोषवत् वत् दीपवत् प्रकाशवमात्रमव शब्दस्य स्वरूप न यथावत्त्वमय  
वाक्यं वा, विरयानुत्पत्तेर्येदास्य प्रकाशात्त्वानिबृत् । अयं तु विषय-प्रदक्षे व्युत्पत्तिनिगममव  
प्रकाशकत्वं वाऽनु भूतस्वरूपमिति । प्रकाशानुत्पत्तौ शब्दस्य वक्तृगुणदोषार्थिन यथायैतत्त्वं । अत  
एव अङ्गनिविधमर्थापरकत्वं वक्तृवचसि बाधित्तरे पुन पुनरुत्पद्यमान भवति विभ्रम प्रकाशकत्व  
गद्विज्ञानात् न तत्र शब्दस्य दाप । यथापिना तु मन्व्यरप्रत्ययोऽप्य प्रजन्त्य । वक्तुरव प्रकाशकत्वं न  
गद्विज्ञानात्प्रति । -न्यायमं० पृ० १५९ । स्या० १० पृ० ७०४ ।

१-वक्त्वं प० । २-द्विष्णवो-व० । ३-मन्व्यरप्रत्ययं प० । ४-यथायैतत्त्वं-प्रा० ।

त्वमयथार्थप्रकाशकत्वात् वा, तस्य गुणद्वोपनिबन्धनत्वात् । सति हि नैर्मल्यादिगुणे चक्षुर्यथावद्वस्तु प्रकाशयति काचादिदोषे तु सति अयथावत्, एव शब्दोऽपि वक्तृगुण-  
दोषापेक्षः सत्येतररूपं वस्तु प्रकाशयति । अत एव अङ्गुलिशिखराधिरुणकरेणुशतवैचसि  
वाध्यमानेऽपि पुन पुनरुच्चार्यमाणे भवति भ्रान्ति प्रकाशकत्वस्य तैस्वरूपस्य बाधक-  
शतोपनिपातेऽप्यनपाथात् ।

यच्चान्यर्दुक्तम्—'नेन्द्रियवदुदास्ते' इति, तदप्युक्तिमात्रम्; बाधकप्रत्ययप्रवृत्ता-  
वपीन्द्रियस्य चन्द्रद्वयविषयमिध्याज्ञानजनकत्वप्रतीतेः । न च तैस्त्वृत्तौ तत् तद्विषय  
विज्ञानं नोत्पादयतीत्यभिधातव्यम्, प्रतीतिविरोधात् ।

यदप्युक्तम्—'विकल्पयोनेय शब्दाः' इत्यादि, तत् सविकल्पकसिद्धौ कृतोत्तर-  
त्वादुपेक्षते । ततः प्रमाण शब्द- अर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षादिवत्, स्वपरपक्ष-  
साधनदूषणसमर्थत्वाच्च सम्यग्ज्ञानवत्, तथा सकलतत्त्वविप्रतिपत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात्  
योगिज्ञानवत् । न सलु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाऽपिर्लार्थानां शब्दादन्यतो विप्रति-  
पत्तिनिवृत्तिः सम्भवति तदुपायान्तराऽसम्भवात् । लिङ्ग तर्दुभायान्तर सम्भवतीति चेत्,  
न; तर्दुतिवद्वलिङ्गस्य कस्यचिदप्यप्रतिपत्तेः । ततो योग्यतालक्षणसम्बन्धात् शब्दस्यैव  
तत्रै प्रमाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति ॥ छ ॥

नन्वस्तु शब्दस्यार्थे सम्बन्ध, स तु अनित्य, नित्यो वा स्यात् ? तत्रापक्षोऽ-  
'शब्दार्थानर्तित्यसम्ब-  
न्धसम्भवात्प्राम्ति पुरुष-  
इत सङ्केत' इति  
मीमांसकस्य पूर्वपक्ष  
नुपपन्नः; अनित्यस्य सम्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात् । समयो हि क्रिय-  
माणः प्रतिपुरुषम्, प्रतिशब्दम्, प्रत्यर्थं सर्गादौ सकृदेव क्रियते  
प्रकारान्तरासम्भवात् । उक्तञ्च—

“समय प्रतिमस्य वा प्रत्युच्चारणमेव वा ।

क्रियते जगदादीं ता सकृदकेन केनचित् ॥”

[ मी० इलो० सम्बन्धा० इलो० १३ ]

प्रथमपक्षे पुरुषेण प्रतिपुरुष सम्बन्धः क्रियमाणः किमेक क्रियते, अनेको वा ?

(१) यथाधीनबाधप्रकाशकत्वस्य । (२) अङ्गुल्यत्र हस्तिशतमास्ते इतिवचने । (३) शब्द-  
स्वरूपस्य । (४) पृ० ५३७ पं० १४ । (५) बाधकप्रत्ययप्रवृत्तौ । (६) इन्द्रियम्—आ० टि० । (७)  
चन्द्रविषयम्—आ० टि० । (८) पृ० ५३७ पं० १६ । (९) पृ० ४७ । (१०) मेक्ष्यन्तरामरावणा-  
दिपरमाण्वादीनाम् । (११) विप्रकृष्टार्थप्रतिपत्तिसाधनम् । (१२) दशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थ—आ०  
टि० । (१३) विप्रकृष्टार्थे । (१४) एतावताऽत्र भग्या क्व उक्त—आ० टि० । (१५) व्याख्या—  
“इयमस्य सञ्जति समय, स प्रत्यर्थं प्रतिपुरुष वा क्रियेत, प्रतिपुरुषमेव प्रत्युच्चारण प्रतिप्रयोग वा ।  
अथवा जगदादीं जगत् मृष्टिकाले केनचित् ईस्वरादिना धाता सकृत् एकैव हेतुना क्रियतति यो  
विकल्पा ।”—तत्त्वसं० पं० ५० ६२२ । उद्धृतोप्यम्—प्रमाणवा० स्व०० टी० १।२३० । तत्त्वसं० पृ०  
६२२ । जनतकंवा० पृ० ३१ ।

यैकेरु, कथं कृतेरु ? पूर्वमप्यस्यै सद्भावतोऽकृतकत्वप्रसिद्धे । नहि सतो वस्तुन पुरपाञ्जन्म युक्तम्, अभिव्यक्तेरेवातस्तस्योपपत्ते । अथानेक, कथमेकार्थसङ्गतिः ? यथा गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थं कैसरदिमानश्वशब्दस्येति ।

किञ्च, प्रैतिपुरुष सम्बन्धकरणे किमेकस्तत्कर्त्ता, बहवो वा ? यद्येक, तदासौ देशान्तरव्यवस्थिताना कथं समयं विदध्यात् ? तत्र तत्र गत्वाऽसौ करोति चेत्, तर्हि पुरुषायुषेणापि तत्करणानुपपत्तिं तेषामनन्तत्वात् । अथैक सन्निहितेषु बहुषु समयं करोति, ते च कृतसमया अन्येपार्तं करिष्यन्ति, तेऽप्यन्येषाम्, इत्येवं सर्वत्र व्यवहार उपपत्स्यते, तन्न, तेषां प्रयोजनाभावतः सर्वत्र गमनानुपपत्ते, अतो यत्रैव ते न गच्छन्ति तत्र व्यवहारो न प्राप्नोति । अथ बहवः समयस्य कर्त्तारः, तर्हि सकलदेशकालेषु एकरूपता समयस्य न प्राप्नोति, तस्या निमित्ताभावात् । न च ते सर्वे सभूय पर्यालोच्य वा एकमेव समयं कुर्वन्ती लभिधातव्यम्, परस्परानपेक्षणा स्वातन्त्र्येण समयं कुर्वता तथैव तत्करणानुपपत्ते ।

प्रतिशब्दमपि उच्यते समयं क्रियेत, अनुच्यते वा ? न तावदनुच्यते; अस्य निराश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च निराश्रय सम्बन्धो युक्त अतिप्रसङ्गात् । नापि उच्यते, पुरुषायुषेणापि तथैव सम्बन्धस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, प्रतिशब्दमुच्यते अभिनव सम्बन्धो विधीयते, प्राक्तन एव वा ? अभिनवस्य विधाने कथंमस्य अर्थप्रत्यायनसामर्थ्यावगतिः ? तदनवगतौ च सम्बन्धकरणानुपपत्तिः । प्राक्तनस्य तु पूर्वमपि सत्त्वात् करणानुपपत्तिः । एकस्य हि वस्तुनो ज्ञप्तिरेव असंक्रदावर्त्तते न तूपपत्तिः ।

नापि प्रत्यर्थं सम्बन्धं कर्त्तुं शक्यं, अर्थानामानन्त्याद् विदूरैवाच्च । सर्गादा-

(१) प्रत्येकं वाजपि सम्बन्धो भिद्यतकोऽथवा भवेत् । एकत्वे कृतको न स्यात् भिन्नशब्दभे-

दधीभवेत् ॥ एकत्वे तावत्कृततैव न स्यात्, न हि एकस्य बहुभिः क्रिया सभवतीत्याह एकत्व इति ।

—मी० श्लो० न्याय० २० सम्बन्धा० श्लो० १४ । एकत्ववक्षे जातिवद्देशकालभदानुयायित्वात्कृतको न

स्यात्, नित्य एव स्यादिति यावत् । —नत्त्वसं० प० पृ० ६२२ । (२) गगनैकपरमाण्वादीनामेकत्वस्य

नित्यं वाचिनाभूतत्वात् एकत्वं ह्येकरूपत्वम् तच्च त्रियमाणत्वे विनश्यति—आ०टि० । (३) सम्बन्धस्य ।

(४) पुरुषव्यापारात् । (५) यथाऽस्मिन्देशे सास्नादिमति गोशब्द एव सर्वेषु दुग्मण्यपि । बहवः

सम्बन्धधारकं वयं मगस्यन्ते ? एको न गच्छन्त्यात् । अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्त्ता । —शाबरभा० १।१।५ ।

(६) सङ्घटनकरणानुपपत्तिः । (७) दशान्तराणाम् । (८) समयम् । (९) अन्यपुरुषाणाम् । (१०)

सङ्घटनस्य एकरूपतायाम् । बहुभिः कृतसम्बन्धेन चको गमको भवति । —मी० श्लो० पृ० ६४४ । ११)

समुच्चयपि नतया व्यवहारेऽप्यगम्यते । —मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० १७ । (१२) पुरुषाणाम् ।

(१३) मित्रत्वात् सङ्घटनकरणं प्रयोजनाभावान् । (१४) सङ्घटनस्य । (१५) प्रतिशब्दमुच्यते उच्यते ।

(१६) नूतना— प्रत्युच्चारणं प्राक्तन एव त्रियते नूतनी वा ? नवस्य तावत्त्रियमाणस्य कथमथ-

प्रत्यायनगामप्यमवगम्यते तदवगतौ वा किं तत्करणं ? पूर्वकृतस्य तददृष्टत्वादेव पुनः करणमनुपपन्नम् ।

एवस्य वस्तुना जपिन्मदृष्टत्वात् नोत्पत्तिः । —न्यायम० पृ० २४२ । 'प्रत्युच्चारणनिवृत्तिन युक्ता

व्यवहारान् । —तत्त्वसं० का० २२७४ । (१७) नूतनमङ्घटनस्य । (१८) अभिनवमङ्घटनस्य अथप्रत्या-

यनगतिरितिमानाभावः । (१९) सङ्घटनस्य । (२०) पुनः पुनः । (२१) विप्रत्युद्देशकवित्त्वान् ।

१ इति ४०।२ वचनान्—आ० । ३ करोतीति ते च आ० । ४—स्वार्थं निरा—थ० । ५ कारणानुर—आ० ।

वैपि सकृत्सम्बन्धकरणमयुक्तम्; तत्राखिलवाच्यवाकानां संकृतसमवाभावात् । शब्दार्थ-  
व्यवहारैविकलस्य कालस्य चाऽसंभवात् । अतो नित्यं एव शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽ-  
भ्युपगन्तव्यः ।

तत्प्रतीतिश्च प्रमौणत्रयसम्पाद्या, तथाहि—यदैकोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसङ्केताय प्रतिपाद-  
यति 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थोऽन्वोऽव्युत्पन्नसङ्केतः  
शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टोपलम्भादनुमानतो गवादि-  
विषयां प्रतिपत्तिं प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुत्पत्त्या च शब्दस्यैव तत्र वाचिकां शक्तिं  
परिकल्पयतीति । उक्तञ्च—

“शब्दवृद्धाभिधेयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥

अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्तिं द्वयाश्रिताम् ।” [मी० श्लो० सम्बन्धा० १४०-४१] इति ।

(१) “न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तं कश्चित्कालोऽस्ति, यस्मिन्न कश्चिदपि शब्द केनचिदर्थेन सम्बद्ध  
आसीत् ।”-शाबरभा० १।१।५। ‘सर्गादौ हि त्रिया नास्ति तादृक्कालो हि नेष्यते ।’-मी० श्लो० सम्ब-  
न्धा० श्लो० ४२ । सास्त्रदी० पृ० ४१८ । तत्त्वस० पृ० ६२७ । न्यायम० पृ० २४२ । (२) “ओत्प-  
त्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः”-जैमिनिः १।१।५। “ओत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूम । उत्पत्तिर्हि भाव  
उच्यते लक्षणया । अविद्युक्त शब्दार्थयोर्भावं सम्बन्धः ।”-शाबरभा० १।१।५। “अपीरूपेय शब्दस्यार्थेन  
सम्बन्धः”-शाबरभा० १।१।५। पृ० ४१ । “अपीरूपेये सम्बन्धे शब्द प्रामाण्यमुच्छति ।”-प्रक० पं०  
पृ० १६१ । “नित्या शब्दार्थसम्बन्धा ”-वाक्यप० १।२३ । (३) प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूप प्रमाण-  
त्रयम् । (४) शब्द श्रावणप्रत्यक्षेण अर्थञ्च वाक्षुषाव्यक्षण प्रतिपद्यते । (५) गवादिविषय । (६)  
देवदत्तस्य श्रोतु देवदत्त गामभ्याजति वाक्यात् गोक्षेपणविषयिणी प्रतीतिर्जाता तद्वाक्यश्रवणानन्तरमेव  
गोक्षेपणचेष्टाऽन्यथानुपपत्ते । (७) देवदत्त गामभ्याजति वाक्य गवादिविषयकक्षेपणार्थवाचिका शक्ति-  
रस्ति ततस्तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्त । (८) गोविषयकक्षेपणार्थं । (९) ‘शब्दवृद्धाभिधेयाश्च’-मी० श्लो०,  
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८ । न्यायम० पृ० २४५ । ‘प्रत्यक्षेणैव’-स्या० २० पृ० ६७७ । (१०)  
“अन्यथानुपपत्त्या च बृद्धचेच्छक्तिं द्वयाश्रिताम् । अर्थापत्त्याऽबुद्धघन्ते सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम् ॥”-मी०  
श्लो० पृ० ६८० । प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२८ । ‘वेत्ति शक्तिं द्वयात्मिकाम्’-न्यायम० पृ० २४५ ।  
व्याख्या-“शब्दवृद्धाभिधेयानि •• सम्बन्धप्रतिपत्तेरयं न्याय कुमारिलेन वर्णित-यस्मात् प्रथमं तावत्  
प्रत्यक्षेण शब्द बृद्ध च शब्दस्याख्यातारम् अभिधेयञ्च वाच्यं वस्तु पश्यति, तत पश्चादनुमानेन चेष्टा-  
लक्षणेन लिङ्गेन श्रोतु प्रतिपन्नत्व पश्यति अवधारयतीत्यर्थः । करणं कारकं कृत्वा चेष्टाया अनुमानत्व-  
मुक्तम् । ततश्च पश्चादर्थपत्त्या द्वयाश्रिता शब्दार्थाश्रिता शक्तिं वत्ति । अर्थापत्त्या तु साक्षादबुद्धघन्त  
इत्यतोऽर्थापत्त्यावबुद्धघन्त इत्युक्तम् ।”-तत्त्वस० पृ० ७०६ । “वृद्धाना स्वार्थे सव्यवहरमाणाना-  
मुपगृह्यन्तो बाला प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते ।”-शाबरभा० १।१।५। पृ० ५६ । “किञ्चा-  
स्त्युपायो बालानाम्, नावश्यं सम्बन्धकथनवाक्येनैव बुद्धम्यो बाला सम्बन्ध प्रतिपद्यन्ते किन्तु यदा वृद्धा  
प्रसिद्धसम्बन्धा स्वकार्यार्थेन व्यवहरन्ति तदा तेषामुपगृह्यन्तो बालाः सम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते । यदा हि  
केनचित् ‘गामानय’ इत्युक्तं कश्चित् सास्नादिमन्तमानयति तदा समीपस्यो बालोऽवगच्छति-यस्मादय-

1 सकृत्संभवाभावाभावात् आ०, सकृत्संभवात् व० । 2-विकल्पस्य च का-आ० । 3 तद्विषय-  
पक्षेणा-ध्र० । 4 प्रतिपत्त्युत्पद्यते व० । 5 नु आ०, व० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्ताद्यदुक्तम्—‘अनित्यो नित्यो वा’ इत्यादि, तदसमीक्षिता-

तन्निरसरत्नपुरस्सरम्  
पुरपङ्कतानित्यसङ्क  
तवशादिव शब्दानाम्  
अथप्रतिपादनत्वस  
मथनम्—

भिधानम्, तैस्सम्बन्धस्य नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपत्तितो  
नित्यत्वानुपपत्ते । यैद् यद्रूपतया विचार्यमाण नोपपद्यते न तत्  
तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगदद्वैतरूपतया, नित्यरूपतया विचा  
र्यमाणो नोपपद्यते च शब्दार्थयो सम्बन्ध इति । न चास्य तद्रूपतया  
विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वमसिद्धम्, तथाहि—तत्सम्बन्धस्य नित्यत्व

स्वभावत, सम्बन्धिनित्यत्वाद्वा स्यात् ? यदि स्वभावत, तर्हि सर्वदा सर्वस्य अर्थमसौ  
प्रकाशयतु स्वरूपतस्तस्य प्रकाशकत्वात् । नहि प्रदीप स्वरूपतो रूपप्रकाशक सन्  
कञ्चित्प्रति तैत् प्रकाशयति कञ्चिन्नेति नियमो दृष्ट । अथ सङ्केतव्यक्तौऽसौ तत्प्रकाशक  
तेनायमदोष, कथमेवमर्थस्य नित्यैकरूपता, व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गात् ? नित्यैक

10

मेतस्माद्वाक्यादयमथ प्रत्यायित इत्यव सम्मुखरूपेणावगत प्रत्यायकत्व पश्चाद्बहुषु प्रयोगेषु अन्वयव्यति  
रेकाभ्या वाक्यभागाना पदाना पदभागानाम्च प्रकृतिप्रत्ययाना वाक्याथभागषु पदार्थेषु विविच्यते तस्मान्  
पौरुष्य सम्बन्ध —आस्त्रवी० पृ० ४६३ । तु बुद्ध गक्ति—स्या० २० पृ० ६७७ ।

(१) पृ० ५४२ प० १६ । (२) शब्दाथसम्बन्धस्य । तुलना— गन्धवदथनञ्च तृतीयस्य तस्य  
प्रत्यक्षादिना प्रमाणनाप्रतीयमानत्वात् । 'न्यायम० पृ० २४३ । (३) न गन्धायसम्बन्धो नित्य  
नित्यरूपतया विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वात् । (४) नित्यरूपतया । (५) सम्बन्धिनो शब्दार्थयो  
नित्यत्वाद्वा । तुलना— असौ नित्य सन् स्वभावतोऽथ प्रकाशयत सङ्कृताभिव्यक्तेर्वा—स्या० २० पृ०  
७०१ । (६) तुलना— सम्बन्धापीरूपयत्वे स्यात्प्रतीतिरसविद । सम्बन्धापीरूपयत्वेपीप्यमाण स्याद  
र्थाना प्रतीतिरसविदोऽविद्यमानसङ्कृतप्रतीते पुस । न चेच्छब्दाथयो साङ्कृतिको नाव्यवाचकता  
सम्बन्ध किन्तु स्वाभाविक तदाऽगृहीतसङ्कृतोऽपि श्रुताच्छब्दाथय प्रतिपद्यतेति । —प्रमाणवा० मनोरथ०  
३।२२७ । यद्यथप्रतिपादने गन्धस्य स्वभावन गक्ति स्यात् एवन्तर्हि सदेहलक्षणमस्याप्रामाण्य  
स्यात् इष्टानिष्ट चाथ प्रकाशनगक्तिस्वभावत । यदि चास्य स्वभावत एव सा गक्ति किं सङ्कृतेन ?  
—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२२९ । अथद्योतनगक्तिरसवदव व्यवस्थिते । तद्वदुत्तरयोधोऽपि सवपा  
सवदा भवेत् ॥ —तत्त्वस० पृ० ७१० । सासिद्धिके हि तथात्व भ्रमित्वादिप्रयुक्तादन्यतो वा यत्  
कुनश्चिदभिनवान्पि दीयाद्विच, गन्धायप्रतिपादन, स्यात् । १. न्यायम० पृ० २४३ । (७) गन्धायसम्ब  
न्धस्य । (८) रूपम । (९) सम्बन्ध । (१०) गन्धायप्रकाशक । तुलना— सङ्कृतात्तदभिव्यक्तावसवदार्था  
न्यकल्पना । न च सम्बन्धो विद्यमानोऽप्यनभिव्यक्तोऽथप्रतीतिहेतु । सङ्कृत खल्वेनमभिव्यक्तिमे (ति)  
तर्हि सिद्धोपस्थायी किमकारण पीष्यते ? —प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२९ । यथा दीपस्याथप्रकाशने  
गक्तिरसविदोऽपि तथा गन्धस्यापि द्रव्यापेक्षा तथा गन्धस्यापि सङ्कृतपेक्षति चत न प्रदीपेद्रवयो  
प्रत्यकमभावेऽप्यथप्रकाशक वाभावान तथा योन्यापसत्त्व युक्त नव शब्दगक्तिरसङ्कृतयो सङ्कृतमात्रणवा  
थप्रतीतिरूपत तस्मान् स्वभावत गन्धोऽथप्रतिपादनसमय इत्युत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यम् । —प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० १।२२९ । प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२७ । तस्मिन् सङ्कृतसापेक्षा गक्तिरचेत्परिकल्प्यते ।  
ननुपकार्येऽप्येत्यत नोपकार्या च सा चला ॥ —तत्त्वस० पृ० ७१० । अथ सङ्कृताभिव्यक्ते कथमस्य नित्य  
रूप वमुपपन्न व्यक्ताव्यक्तरूपतया भेदप्रसङ्गे । —स्या० २० पृ० ७०९ । (११) गन्धायसम्बन्धस्य ।



रूपं हि वस्तु यदि व्यक्तं तदा सर्वदा व्यक्तमेव अभिन्नस्वभावत्वान्तर्स्य ।

किञ्च, सङ्केतः पुरुषाश्रयः, स च अतीन्द्रियार्थज्ञानधिकलतया अन्यथापि वेदे सङ्केतं कुर्यात् अतो मिथ्यात्वलक्षणमस्यऽप्रामाण्यं स्यात् ।

किञ्च, नित्यसम्बन्धवशात् शब्दः एकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा स्यात् ? एकार्थनियतरचेत्; किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात् प्रतिपत्तिर्न स्यात्, तैत्तश्चास्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम् । चौरशब्दो वा नित्यसम्बन्धात् तस्करे रूढः कथं दाक्षिण्यैः औदने प्रयुक्तः तमभिदध्यात् । अर्थैकदेशेनासौ तन्नियतः; स किमेकदेशः अभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा ? अनभिमतैकार्थनियमे मिथ्यात्वलक्षणं वेदस्याऽप्रामाण्यं स्यात् । अथाऽभिमतैकार्थनियतः, किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अस्यापौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः । पुरुषो हि रागाद्यन्ध-

(१) नित्यैकरूपस्य सम्बन्धस्य । (२) तुलना—“अर्थज्ञापनहेतुर्हि सङ्केत पुरुषाश्रय । गिराम-  
पौरुषेयत्वेऽप्यतो मिथ्यात्वसम्भव ॥ किं ह्यस्यापौरुषेयतया ? यतो हि समयार्थप्रतिपत्ति, स पौरुषेय  
वितथोऽपि स्यात्, शील साधन स्वर्गवचनम्, अन्यथा समयेन विपर्ययस्येत् तेनाप्यार्थमपि प्रकाशनसम्भ-  
वात्।”—प्रमाणवा० स्ववृ० १।२२८ । “सङ्केतमन्तरेणापौरुषेयादपि वाक्यार्थप्रतीतेरभावात् । अर्थज्ञा-  
पनहेतुरिह सङ्केत स्वीकर्तव्य, स च पुरुषकृतत्वात्पुरुषाश्रय । अतः सङ्केतस्य पुरुषाश्रयत्वात् गिराम-  
पौरुषेयत्वेऽपि मिथ्यात्वस्य सम्भवः । सङ्केतवशेन वाचोऽप्य ब्रूते । स च दोषाश्रयेण पुरुषेण क्रियत इति  
वासा न विमवादाशङ्कानिरास पौरुषेयवाक्यवदिति व्यर्थमपौरुषेयत्वकल्पनम् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ०  
३।२२६ । “अर्थज्ञोतनहेतोश्च सङ्केतस्य नराश्रयात् । शक्तावितरजन्यायामपि मिथ्यात्वसम्भव ॥”—  
तत्त्वसं० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (३) पुरुष । (४) वेदस्य । (५) तुलना—“किञ्च वाचा  
किमेकेनार्थेन सह वाच्यवाचकत्वसम्भव, अथानेके ? गिरामेकार्थनियमे न स्यादर्थान्तरे गति । अनेका-  
र्थाभिसम्बन्धे विरुद्धव्यक्तिसम्भव ॥ गिरामेकार्थनियमे वाचकतया नियमे सति सकेतवशादन्यार्थे न  
स्याद् गति, दृश्यते च विवक्षातोऽनेकार्थाभिधानम् । अनेकैरर्थैर्वाचकत्वाभिसम्बन्धे विरुद्धस्यार्थस्य व्यक्ते  
प्रतीतेः सम्भव स्यात् । अग्निष्टोम स्वर्गस्य साधनमिति विपर्ययोप्यवसीयत । ततश्चाप्रवृत्तिरेव स्यात्  
स्वर्गादिन ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२८ । “सा शक्तिरेकार्थनियता वा भवेत्तानार्थनियता वा ।”—  
तत्त्वसं० पृ० ७१० । प्रमेयक० पृ० ४३० । “यदि पुन शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्व को दोषो  
येन सङ्केतस्तत्रापेक्ष्यते ? इति चेदुच्यते—तत्सर्वविषय नियतविषयं वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थ-  
प्रतीतिप्रसङ्गात् तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोप । तत आह—न सर्वयोग्यता  
साध्वी सङ्केतान्नियमो यदि । द्वितीयविकल्पे दोषमाह—सम्बन्धनियमेऽन्यत्र सङ्केतेऽपि न वर्तताम् ॥”—  
न्यायवि० का० ४३१ । (६) वेदस्य । (७) “चौरशब्दो (यथा) लोके भक्ष्यार्थं प्रतिपादयेत् । केपा-  
ञ्चिच्चोरमेवाह तन्त्रेऽप्येव पदास्तया ॥”—ज्ञानसि० पृ० ७५ । “यथा चौरशब्दस्तस्करवचन ओदने  
दाक्षिण्यार्थे प्रयुज्यते ॥”—न्यायम० पृ० २४२ । प्रज्ञ० कन्व० पृ० २१५ । (८) एकदेशार्थनियत ।  
तुलना—“य एवार्थो वस्तुस्थित्या स्वर्गसाधन किन्तत्रैव समयकारेणनिहोत्रादिसङ्केतोऽपि व्यक्त किम्वाऽ-  
न्यस्मिन्नेव स्वर्गसाधनविरुद्धे बुद्धिमान्द्यादिति सन्देह एव ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । (१०)  
वेदस्य । तुलना—“स इति शब्द सर्वस्मिन् वाचकत्वेनानियत नियम क्वचिदर्थे पुरुषात् पुरुषसङ्केतात्  
प्रतिपद्यते । स च पुरुषो विरुद्धेऽप्यर्थे सङ्केतं कुर्यात् । तथा च न केवल विरुद्धव्यक्तिसम्भव । यापीयमपौ-  
रुषेयता वेदस्येष्टा तस्या व्यर्था स्यात् परिकल्पना ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । “अथानेका-

त्वात् प्रतिक्षिप्यते तस्माच्चेद् वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्येत किमपौरुषेयत्वेन ?  
स्वभावाद्भिमतैकार्थनियमे तु भावनाद्यर्थभेदानुपपत्तिः । अनेकार्थनियतत्वे तु वेदस्य  
सकलार्थसाधारणत्वात् कथमिष्टव्यक्तावेव समयकारः समयं कुर्यात् ?

“तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गं कामै इति श्रुतां ।

सादेत् श्मासमित्येव नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥” [ प्रमाणवा० ३।३१८ ]

तत्र स्वरूपतः सम्बन्धो नित्यः ।

नापि सम्बन्धिनित्यत्वात् ; यतः कोऽत्र नित्यैः सम्बन्धी-शब्दः, अर्थः, द्वयं वा ?  
न तावच्छब्दः ; तस्याग्रेऽनित्यत्वप्रसाधनात् । नाप्यर्थः ; घटादेस्तदर्थस्य अनित्यतया  
प्रत्यक्षादितः प्रतीतेः । अथ सामान्यं तदर्थः, तच्च नित्यम्, अतस्तदार्थितः सम्बन्धोऽ-  
पि नित्य इत्युच्यते; तदसत्; सामान्यस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः, तद्वानेव शब्दार्थः  
इत्यग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्, परंपरिकल्पितसामान्यस्य निषिद्धत्वाच्च । उभयपक्षोऽपि  
उभयपक्षनिश्चितदोषानुपपन्नादयुक्तः ।

र्थाभिधाय्यपि शब्द पुरुषेण सङ्घुतादभिमतार्थाभिधायित्वेन नियम्यते तदा-अपौरुषेयतायाञ्च व्यर्था  
स्यात्परिकल्पना । वाच्यश्च हेतुभिजाना सम्बन्धस्य व्यवस्थितः ॥”-प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२२९ ।

(१) तुलना-“असत्कार्यतया पुभिः सर्वया स्यान्निरर्थता । सत्कारोपगमे मुख्य गजस्तानमिदं  
भवेत् ॥”-प्रमाणवा० ३।२३० । प्रमेयक० पृ० ४३० । (२) तुलना-“प्रकृत्यैव स्वभावेनैव वैदिका  
शब्दा नियता अभिमतेऽर्थे ततो न पुरपमस्कारकृतो दोष इति चेत्, एव सत्ययंप्रकाशने नोपदशमपेक्षेरन्,  
जपेक्षन्ते च, स्वतस्तेभ्योऽर्थप्रतीतरभावात् । यदि च ते स्वभावत एव प्रतिनियताः स्यु तदा यत्र क्वचिदर्थो  
एकदा समिता पुन कश्चित् ततोऽन्यथा सङ्घुतेनार्थान्तरं न प्रकाशययु, प्रकाशयन्ति च ततो न  
प्रकृत्यैकार्थनियता इति । स्वभावतश्चैकार्थनियमे योऽयं वैदिकेषु धावेषु व्याख्यातृणा व्याख्याविकल्पश्च  
अपरापरव्याख्याभेदश्च न स्यात् एकार्थप्रतिनियमात्, भवति च, तस्मात् पीरपेयवाक्यवर्तकार्थनियता  
वैदिका शब्दा इति ॥”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२३० । (३) भावनाविधिनियोगरूपेण भाट्टवेदा-  
न्तिप्रभाकाराणा वेदार्थविषये व्याख्याभेदो न स्यादिति भाव । (४) तुलना-“सर्वत्र योग्यस्यैकार्थ-  
द्योतने नियमं कुतः ॥”-प्रमाणवा० ३।३२६ । “नानार्थद्योतने शक्तिर्भवत्येकस्य हि ध्वने । नाग्निहो  
त्रादयस्त्वर्था सर्वे सर्वोपयोगिनः । तद्विष्टविपरीतार्थद्योतनस्यापि सभवात् । नित्यशब्दार्थसम्बन्धकल्पना  
यो निरर्थिका ॥”-तत्त्वसं० पृ० ७११ । (५) “अग्निहोत्रं जुहुयात्”-मं०पृ० ६।३६ । (६) व्याख्या  
‘तेनति अपरिज्ञातार्थत्वेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गं काम इति श्रुती वेदवाक्ये सादेच्छ्वमासमित्येव नार्थं  
किन्त्वन्वयोऽभिमतेऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ? नैव किञ्चित्प्रमाणम् ॥”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३२० ।  
‘अग्निं हन्तीति अग्निह् इवा तस्योत्रं मासं जुहुयात् सादेत् । अथवा अगति गच्छतीत्यग्निं इवा ह्यतेऽ-  
द्यत यत्तत् होत्रं मासम् अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं इवमासं तज्जुहुयात् सादेत् स्वर्गं कामं पुमान् द्विजः ॥”  
-प्रमेयरत्नमा० टि० पृ० १३४ । उद्धृतोऽयम्-शास्त्रवा० श्लो० ६०५ । व्यायम० पृ० ४०५ ।  
नन्दिमलय० पृ० १९ । (७) तुलना-“सम्बन्धिनामनित्यत्वात् सम्बन्धेऽस्ति नित्यता ॥”-प्रमाणवा०  
३।३३१ । (८) शब्दस्य (९) सम्बन्धविषयभूतस्य अर्थस्य । (१०) शब्दार्थ-आ० टि० । (११)  
सामान्याश्रितः । (१२) सामान्यवानेव । (१३) मीमामकनैयायिकादि । (१४) पृ० २८५ ।

अस्तु वा कुतश्चिन्नित्यः सम्बन्धः; तर्थाप्यसौ किमैन्द्रियः, अतीन्द्रियः, अनुमानगम्यो वा स्यात् ? नतौवदैन्द्रियः; नित्यस्वभावस्यै कचिदपीन्द्रियेऽप्रतिभा-  
समानत्वात् । अर्थातीन्द्रियः; कथमर्थप्रतिपत्त्यङ्गम् अज्ञातस्य ज्ञापकत्वविरोधात् ?  
“नाज्ञातं ज्ञापकं नामै” [ ] इत्यभिधानात् । सन्निधिमात्रेण ज्ञापकत्वेऽति-  
प्रसङ्गात् । नाप्यनुमानगम्यः; सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वे तत्पूर्वकत्वेनात्राऽनुमानस्याऽप्रवृत्तेः ।  
न ह्यगृहीतप्रतिबन्धं किञ्चिद्विज्ञमनुमानमाविर्भावयत्यतिप्रसङ्गात् । अधास्याप्रत्यक्ष-  
त्वेऽपि अनुमानात् प्रतिबन्धग्रहो भविष्यति; ननु किमत एवाऽनुमानात्, तदन्तराद्वा  
तद्ग्रहः स्यात् ? यद्यत एव; अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि अनुमाने तद्ग्रहसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चा-  
नुमानसिद्धिरिति । अनुमानान्तरात्तत्सिद्धौ अनवस्था, तत्रापि तद्ग्रहस्य अनुमानान्त-  
रात् प्रसिद्धेः । न चात्र किञ्चिद्विज्ञमस्ति ।

नित्यसम्बन्धस्य हि लिङ्गम्—अर्थज्ञानम्, अर्थः, शब्दो वा ? न तावदर्थज्ञानम्,  
सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात् । नाप्यर्थः; तस्य तेन सम्बन्धासिद्धेः,  
नहि सम्बन्धार्थयोस्तादात्म्य संभवति घटाद्यर्थवत् सम्बन्धस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् । नापि  
तदुत्पत्तिः संयोगादिर्वा; अनभ्युपगमात् । नापि शब्दो लिङ्गम्; अर्थपक्षोपक्षितदोषानु-

(१) तुलना—“किञ्चासौ सम्बन्ध ऐन्द्रिय अतीन्द्रिय अनुमानगम्यो वा स्यात् ।”—प्रमेयक०  
पृ० ४३० । (२) तुलना—“न च नित्यं सम्बन्ध शब्दार्थयोः प्रमाणनावसीयते, प्रत्यक्षेण तस्यानुभ-  
वात्, तदभावे नानुमानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात् ।”—सम्मति० टी० पृ० ४३६ । (३) शब्दार्थ-  
सम्बन्धस्य । (४) तुलना—“नातीन्द्रिय सम्बन्ध, ततोऽतीन्द्रियात् सम्बन्धात् अर्थस्याप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।  
किं कारणम् ? अप्रसिद्धस्य स्वेन रूपेण अनिश्चितस्य अज्ञापकत्वात् । न हि येन सह यस्य सम्बन्धो न  
गृह्यते तद्द्वारेण तस्य प्रतीतिर्युक्ता । अधाज्ञात एव सम्बन्धोऽर्थं ज्ञापयतीन्द्रियवदित्याह—सन्निधिमात्रे-  
णेत्यादि । सम्बन्धस्य सन्निधिमात्रेण सत्तामात्रेणार्थज्ञापनेऽभ्युपगम्यमाने शब्दार्थसम्बन्ध प्रत्यव्युत्पन्ना-  
नामपि अर्थस्याय वाचक इति प्रतिपत्ति स्यात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० १२३८ । तत्त्वसं० पृ० ७१२ ।  
प्रमेयक० पृ० ४३० । (५) उद्धृतमिदम्—प्रमेयक० पृ० १२४, २०६ । (६) प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन । (७)  
शब्दार्थसम्बन्धे । (८) प्रतिबन्धोऽविनाभावसम्बन्ध । (९) शब्दार्थसम्बन्धस्य । (१०) अनुमाना-  
न्तरात् । (११) अविनाभावग्रह । (१२) अविनाभावग्रहणे । (१३) अनुमानान्तरेऽपि । (१४)  
शब्दार्थसम्बन्धाधिगमे । तुलना—“नानुमानात् प्रतिपत्ति सम्बन्धस्य । कुत ? लिङ्गाभावात् । नहि  
सम्बन्धसाधन किञ्चिद्विज्ञमस्ति । अर्थप्रतीतिरपि न लिङ्ग दृष्टान्तासिद्धे । न हि वचिद्व दृष्टान्ते  
सम्बन्धकार्याय अर्थप्रतीति प्रतिपन्ना । किङ्कारणम् ? तत्रापि दृष्टान्तत्वेनोपनीते सम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वेन  
कारणेन साधनापेक्षणात् । न चास्ति साधनं तत्रापि दृष्टान्तासिद्धे ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १२३८ ।  
(१५) “तस्य हि लिङ्गं ज्ञानमर्थः शब्दो वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४३० । (१६) प्रतिपत्ते हि सम्बन्धे तस्य  
कार्यमर्थज्ञान निश्चीयते, स चाद्यापि न सिद्ध—आ० टि० । (१७) तुलना—“शब्दार्थो लिङ्गमिति चेदाह—  
नित्यसम्बन्धविरोधे शब्दरूपमर्थो वा लिङ्गम् । किङ्कारणम् ? तयो शब्दार्थयोः सर्वत्र

नित्यताभ्या शब्दार्थाभ्यामप्रत्यायनात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १२३८ । (१८) सम्बन्धस्य ।  
(१९) अर्थेन ।

पङ्गात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य कुतश्चिदप्रसिद्धे अनित्य एवाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

यदपि तदनित्यत्वे 'प्रतिपुरुषम्' इत्यादि द्रूपणमुक्तम्, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अनादित्वात् शब्दव्यवहारस्य । नहि सर्वथा सतो जगतो निर्मूलनाशलक्षणे महाप्रलय असतश्चात्मलभलक्षणा सृष्टिः अस्माक भवता या प्रसिद्धा येन अपूर्व-सृष्टिप्रादुर्भावाश्रयणेन 'समय प्रतिमर्त्य वा' इत्याद्युक्त शोभेत । नित्यत्वेऽपि च तत्सम्बन्धस्य अभिव्यक्तिरनित्याऽभ्युपगन्तव्या, अतस्तत्रोपीद द्रूपण तुल्यम् । कथञ्चैववादिनोऽग्निधूमयोरपि सम्बन्ध सिद्धेत् तत्राप्युक्तविकल्पाना समानत्वात् । अथाग्निधूमत्व-सामान्ययोर्नित्यस्वरूपयोः सम्बन्धित्वेन तत्सम्बन्धनित्यत्वसमभवात् नोक्तविकल्पाना तत्रावकाश, तदप्यपेशलम्, केवलसामान्ययो सम्बन्धित्वस्य व्याप्तिविचारप्रघट्टके प्रतिपिद्धत्वात् । नित्यत्वञ्च सामान्यस्य प्रागेव प्रतिपिद्धम् । अतो यथा सादृश्यप्रधान-तया सादृश्योपलक्षिताना साध्यसाधनव्यक्तिविशेषाणामनन्तानामपि व्याप्तिज्ञानेन क्रोडीकरण तथा वाच्यवाचकव्यक्तिविशेषाणामपि । अतः "सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक" [ मी० श्लो० पृ० ६८० ] यदेवोच्यते, तत्र 'शब्दवृद्धाभिधयानि प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इति युक्तम् । 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इत्यप्युपपन्नम्, 'अन्यथानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्ति द्वयाश्रिताम्' इत्येतत्त्वनुपपन्नम्, नित्यशक्तौ सम्बन्धाख्यायामन्यथानुपपत्तेरभावात् । बद्धिधूर्मादिशक्तिवत् शब्दार्थाश्रिताया शक्तेरनित्यत्वेऽपि श्रोतुरर्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

एतेनेदमपि निरस्तम्—

"नित्या शब्दार्थसम्बन्धा तत्राम्नाता महर्षिभिः ।

सूत्राणा संनित्नाणा भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः" [ वाक्यप० १।२३ ] इति,

(१) पृ० ५४३ प० १३। (२) जेनानाम् । (३) मीमांसकानाम्—आ० टि० । तस्मादद्यवदवान सगप्रलयकपना । समस्तक्षयज मभ्या न सिद्धचत्यप्रमाणिका ।—मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११३ । (४) अभिव्यक्तावपि । (५) शब्दाथयो नित्यसम्बन्धवादिन । (६) अग्निधूमसम्बन्ध । (७) नाग्निधूमत्वयोरविनाभावो गृह्यते कि तु अग्निस्त्वविशिष्टाग्निना सह धूमत्वविशिष्टधूमस्याविनाभाव गृह्यते इति भाव । (८) पृ० ४२३ । (९) पृ० २८५ । (१०) साध्यसाधनव्यक्तीनामानन्त्येऽपि सादृश्याद् व्याप्तिज्ञानेन क्रोडीकृति एव वाच्यवाचकव्यक्तीनामपि सादृश्यवशात्तत्र क्रोडीकरणम अस्ति ह्यत्रापि सादृश्यम् घटशब्दवाच्याज्य पृथुद्धूधोदराद्याकारत्वात् पूर्वोपलब्धघटान्तरवत् ।—आ० टि० । (११) तुलना—'अतएव च सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक इति यत्त्वयोच्यते तदस्माभिर्न मृष्यते । शब्द-वृद्धाभिधयाश्च प्रत्यक्षणात्र पश्यतीति सत्य श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टयत्यतदपि सत्यम् । अन्य थानुपपत्त्या तु वेत्ति शक्ति द्वयाश्रितामित्यतस्तु न सत्यम् अन्यथाप्युपपत्तिरित्युक्तत्वात् ।—न्यायभ० पृ० २४५ । (१२) मीमांसकन कुमारिलभट्टेन । (१३) शा यज्ञापकव्यक्ति—आ० टि० । (१४) यथाहि बद्धिधूमयो ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिरनित्याऽपि अनुमयाप्रतिपत्तिप्रयोजिका तथैव शब्दाथयो वाच्य वाचकशक्तिरपि । (१५) सवृत्तिकाणा (ना) म—आ० टि० । 'अनुत्तत्र वात्तिकम्—वाक्यप० पु० टी० । (१६) 'सिद्ध शब्दाथसम्बन्धे । सिद्ध शब्देऽप्ये सम्बन्ध वेत्ति ।—पा० महाभा० पु० ५५ । 'नित्य

१ भवतो वा थ० । २—वादिनो धूमाग्नोरपि थ० । ३—विद्ध यथा थ० ।

सम्बन्धस्यानित्यत्वसमर्थनात्, शब्दस्य तदर्थस्य चोभे अनित्यतया समर्थयिष्य-  
माणत्वाच्च, सर्वथा नित्यस्य वस्तुन क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावप्रतिपाद-  
नाच्च । कथञ्चैववादिन कौशेधे चोदनाया प्रामाण्य स्यात् कार्यस्याऽनित्यत्वात् ?  
तत सिद्ध कथञ्चिदनित्ययोग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् श्रुतस्यार्थप्रतिपादकत्वम् । अत  
सूक्तम्—‘संवादक श्रुतं प्रमाणम्’ इति ॥ छ ॥

ननु श्रुतस्याविसवादित्वमसिद्धम्, अर्थाभावेऽपि शब्दानामुपलम्भात् । य एव  
‘शब्दस्यान्यापोहमा हि शब्दा सत्यर्थे दृष्टा ते तदभावेऽपि दृश्यन्ते, अत शब्दाना  
त्राभिधायकत्वम्’ इति विधिद्वारेणाऽर्थाभिधायकत्वानुपपत्ते र्अन्यापोहमात्राभिधायकत्वमेवो-  
वादस्य पूर्वपक्ष - पपन्नम् । उक्तञ्च—“अपोह शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु विधिनोध्यत”

शब्द नित्योऽथ नित्य सम्बन्ध इत्यथा शास्त्रव्यवस्था । तत्राम्नाता महर्षिभि मूनादीना प्रणतभि ।  
व्याकरण एव य सूत्रादीना प्रणतारस्ते व्यपदिश्यन्ते । तत्र मूत्राणामारम्भादेव शब्दाना नित्यत्वमभि  
मतम् । न ह्यनित्यत्वे शब्दादीना नास्नारम्भ किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति । व्यवहारमात्र ह्यतदनर्थक न  
महान्त शिष्टा समनुगन्तुमहन्तीति तस्माद व्यवस्थितसाधुत्वेपु शब्देपु स्मृतिशास्त्र प्रवृत्तमिति । -  
वाक्यप० हरि० १।२३ । उद्भूतोऽयम्—सिद्धिबि० टी० पृ० ५०५ । प्रमेयक० प० ४२९ ।

(१) पृ० ३७२ । (२) नित्यसम्बन्धवादिन—आ०टि० । (३) अम्नायस्य क्रियायत्वात् -  
जैमिनिसू० १।२।१ । चोदनति क्रियाया प्रवतक वचनमाहु । -शबरभा० १।१।२ । (४) अग्नि  
ष्टोमादियज्ञरूपकमण । (५) अतीताजातयोर्वाङ्गि न च स्यादनृताथता । वाच कस्याश्चिदित्यथा  
बोद्धाथविषया मता । -प्रमाणवा० ३।२०७ । (६) विकल्पप्रतिबिम्बपु तन्नष्टपु निबध्यते । ततो-  
न्यापोहनिष्ठत्वादुक्ताऽन्यापोहकृच्छ्रुति ॥ विकल्पाना प्रतिबिम्बेष्वाकारेषु तन्नष्टपु तदव्यावृत्तिवरतुल्येन  
व्यवस्थाविषयतया तद्व्यवहारव्यवस्थितपु सङ्कतकाये निबध्यते ततो विकल्पप्रतिबिम्बाना बाह्यव्या  
वृत्तात्मत्वेन व्यवहारविषयत्वात् अयापोहनिष्ठत्वात् कारणात् उक्ता श्रुतिरयापोहकृत् । अयव्यावृ-  
त्ताकारविकल्पजननात् अयव्यावृत्तपु प्रवतनाच्च शब्दोऽयारोहदुक्त । ननु शब्दे जान ग्राह्य बाह्य  
तयव प्रतीयते न ज्ञानाकारतया इत्याह—व्यतिरेकीव यज्ज्ञान भात्यथप्रतिबिम्बकम् । शब्दात्तदपि नार्था-  
त्मा भान्ति सा वासनोदभवा ॥ यथा तमिरिकदृष्टपु कश्चपु बाह्यभ्रम एव विकल्पाकारेऽपि बाह्य  
व्यवहारोऽविद्यावशादित्यथ । -प्रमाणवा० मनोरथ० २।१६४ ६५ । तत्र यत्तदारोपित विकल्पधिया  
अर्धेऽन्विन्न रूप तदन्यव्यावृत्तपदार्थानुभववलायातत्वात् स्वयञ्च अयव्यावृत्ततया प्रख्यानाद भान्तश्चा-  
यव्यावृत्तार्थेन सहैक्यनाध्यवसितत्वात् अयापोहपदार्थाधिगतफलत्वाच्चायापोह इत्युच्यते । तेनापोह  
शब्दाथ इति प्रसिद्धम् । -तत्त्वस० प० पृ० २७४ । अपोहो बाह्यतया आरोपित आनारोपोह्यतेऽ  
ननति कृत्वा यदा अपोह्यतेऽस्मिन्ल्यपोह स्वलक्षणम् तस्मान विकल्पाना स्वरूपेण बाह्यो ग्राह्योपि  
तु स्वाकारेण सहैकीकृत एव बाह्यो विषय स चासत्योऽपोह्यतेऽयदननति अपोह उच्यते । -प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० १।४८ । ननु कोऽयमपोहो नाम ? यथाव्यवसाय बाह्य एव घटादिरयोऽपोह इत्यभिधीयते  
अपोह्यतेऽस्माद दद्विजातीयमिति कृत्वा । यथाप्रतिभान बुद्ध्याकारोऽपोह अपोह्यते पूयविनयतेऽस्मिन्  
बुद्ध्याकारे विजातीयमिति कृत्वा । यथातत्त्व निवृत्तिमात्र प्रसह्यूपोऽपोह अपोहनममोह इति  
कृत्वा । -तत्कभा० मो० प० २६ । (७) उद्भूतोऽयम्—अष्टसह० पृ० १४० । स्याम० पृ० १८० ।  
तुलना—‘कथ स एव व्यवच्छेद शब्दलिङ्गाभ्या विधिना प्रतिपाद्यते न वस्तुरूपमिति गम्यते ? -

[ क्षणभङ्गाध्याय (?) ] इति । प्रयोग—यद्यत्र प्रतिभाति तत्तस्य विषय यथा अक्षजे सवेदने परिरुद्रप्रतिभासमानवपुरर्धात्मा नीलादिस्तद्विषय, शब्दलिङ्गप्रभवे च प्रत्यये वहिरर्थतत्त्वरहित स्वरूपमात्रमेव प्रतिभाति अतस्तदेव तस्य विषय इति । न च तत्रभवप्रत्यये वहिरर्थाऽसस्पर्शस्वरूपमात्रावभासित्वमसिद्धम्, शब्दलिङ्गयोर्वहिरर्थ-  
 5 विषयत्वायोगतस्तत्सिद्धे । तथाहि—शब्दस्य वहिरर्थो विषयो भवन् स्वलक्षणस्वभावो भवेत्, सामान्यस्वरूपो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, तत्रै सङ्केताभावत शब्दानां प्रवृत्त्य-  
 नुपपत्तेः । सङ्केतो हि सङ्केतव्यवहारकालानुयायिस्वरूपेऽर्थे विधीयते, न च स्वलक्षणस्य  
 तथाविधं स्वरूपं सभवति देशकालाकारसङ्कुचितत्वेन अननुयायिस्वरूपत्वात् । यै  
 10 सङ्केतव्यवहारकालानुयायी न तत्र व्यवहारिभिः शब्दं सङ्केत्यते यथा उत्पन्नामात्र-  
 प्रप्रसिन्नि कचिदर्थे, नान्वेति च विवक्षितदेशादिभ्यः शब्दलेयादिदेशैः तरदाविति ।

किञ्च, 'अस्येदमभिधानम्' इति यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धं प्रतिभाति न तत्र ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियविषययोः शब्दार्थस्वलक्षणयोः प्रतिभासः । न च तत्राप्रतिभासनयोः

प्रमाणवा० स्वब० १।४४ । अयापोऽत्रविषया आचार्येण प्रोक्ता अपोह गन्धिङ्गाभ्यां प्रतिपाद्यते इति ध्रुवता । —प्रमाणवा० मनोरथ० ३।१३३ ।

(१) शब्दलिङ्गप्रभवप्रत्यययोः वहिरर्थरहित स्वरूपमात्रमेव विषयः तत्र स्वरूपमात्रस्य प्रतिभातत्वात् । उच्यते विषयो मौषा धी-प्रतीना न कश्चन । अर्थात्रानिविष्टं तु बीजमेया निबन्धनम् । तथाहि—जस्माभिरिष्यत एवपामन्तजः सवासनाप्रबोधो निमित्तम् न तु विषयभूतं भान्तत्वेन पूर्वस्य शब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात् । अन्तर्मात्रानिविष्टमिति विज्ञानसन्निविष्टं वासनितं यावत् । एतदेवागमेन ससदयन्नाह यस्य यस्यत्थादि—यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते । स स गविद्यते नव वस्तूनां मा हि धमता ॥ —तत्त्वस० प० पृ० २७५ । (२) यत् स्वलक्षणं जातिस्तद्योगो जानिमास्तथा । बद्धाचारो न गन्धाय घटामञ्चति तत्त्वतः । —तत्त्वस० प० २७६ । (३) शब्दाः सङ्कुचितं प्राहुः व्यवहाराय स म्मतः । तत्र स्वलक्षणं नास्ति सङ्कुतस्तेन तत्र न ॥ —प्रमाणवा० ३।९१ । तथा व्यवहारकालं तत्स्वलक्षणं नास्ति यत्र सङ्कुतं कृतं । एकस्यापि स्वलक्षणस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरे तेन वरूपणानुगमो नास्ति अक्षणिकत्वे वा मङ्कुतज्ञानाभावादव तद्विषयत्वस्य कालान्तरेऽनुगमो नास्ति किमुत देशकालभेदेषु स्वलक्षणेषु तत्र कारणेन तत्र स्वलक्षणं मक्तो न क्रियते । —प्रमाणवा० स्वब० टी० । तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दं प्रतिपाद्यतः । सङ्कुतव्यवहाराप्तकालव्याप्तविषयगतः ॥ एतदुक्तं भवति—समयो हि व्यवहाराय क्रियते न व्यसनितया तेन यस्यैव सङ्कुतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति तत्रैव समयो व्यवहाराय युक्तो नायत्र । न च स्वलक्षणस्य सङ्कुतव्यवहाराप्तकालव्यापकत्वमस्ति । तस्मान्न तत्र समय इति । व्यक्तात्मानानुपपन्न्यते न परस्पररूपतः । देशकालक्रियाशक्तिप्रतिभासादिभेदतः ॥ तस्मात्सङ्कुतदृष्टोऽर्थो व्यवहारं न दश्यते । नचागहीतेसङ्कुतो ब्रौद्धयताय इव ध्वनः ॥ —तत्त्वस० प० पृ० २७७ । (४) एकपरमाण्वाकारतया एकं गत्यायितया निरगतया च न देशकालाकारान्तरव्याप्तिं स्वलक्षणस्यैव भावः । तस्य देशकालभेदनास्त्वन्नात तस्यति सङ्कुतकालदृष्टस्य व्यवहारावस्था नादिषु देशकालभेदप अनास्कन्दनात् अननुगमात् । न हि एकत्र दृष्टो भेदोऽन्यत्र सम्भवति । —प्रमाणवा० स्वब० टी० १।९४ । (५) स्वलक्षणं नास्ति सङ्कुतं मङ्कुतव्यवहारकालानुयायित्वात् । (६) यो हि विवक्षितदेशो मौज्य यश्च देशान्तरं याति सोऽन्य क्षणिकत्वात्—आ० टी० । (७) श्रेयचक्षुषी ।

स्त्वयोस्तेनैः सम्बन्धकरणं युक्तमतिप्रसङ्गात् । ३ यौ अस्येदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने न प्रतिभासेते न तयोस्तेन ज्ञानेन सम्बन्धकरणं यथा गोशब्दतदर्थयोः सम्बन्धज्ञानेऽप्रतिभासमानयोः अश्वशब्दतदर्थयोः न तेनैः ज्ञानेन सम्बन्धकरणम्, न प्रतिभासेते च स्वेन्द्रियज्ञानप्रतिभासिनौ शब्दार्थस्वभावौ अस्येदमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने इति । न चार्थेनाऽकृतसम्बन्धः शब्दस्तं प्रत्याययितुमीशः अतिप्रसङ्गादेव । ४ यौ येन सहाऽकृत-सम्बन्धो न स तमर्थं प्रत्याययति यथा अश्वेन सहाकृतसम्बन्धो गोशब्दः, अकृत-सम्बन्धश्च स्वलक्षणेन सर्वः शब्द इति । स्वलक्षणविषयत्वे च शब्दप्रत्ययस्य इन्द्रिय-प्रभवप्रत्ययवत् स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः, न चैवम्, प्रतीतिविरोधात् । तदुक्तम्-

“अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः ।

शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥” [ ]

“अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाह दग्धोऽभिमन्यते ।

अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥” [ वाक्यप० २।४२५ ] इति ।

(१) शब्दार्थस्वलक्षणयो-आ० टि० । (२) ज्ञानेन-आ० टि० । (३) शब्दार्थो-आ० टि० । सम्बन्धग्राहिज्ञानेन न शब्दार्थस्वलक्षणयो सम्बन्धग्रहणम् सम्बन्धग्राहिज्ञानेऽप्रतिभासमानत्वात् । (४) गोशब्दार्थसम्बन्धग्राहिणा । (५) चक्षुर्ज्ञानेऽर्थस्वलक्षणं ध्येयज्ञाने नन्द प्रतिभाति-आ० टि० । (६) “एतदुक्तं भवति-यद्यगृहीतसङ्केतमर्थं शब्दं प्रतिपादयेत्तदा गोशब्दोऽप्यश्वं प्रतिपादयेत्, सङ्केतकर-णानर्थक्यञ्च स्यात्, तस्मादतिप्रसङ्गापत्तिं वाचकम् ।”-तत्त्वस० प० पृ० २७७ । (७) शब्दं न स्वलक्षणं प्रतिपादयति तस्मिन्नकृतसङ्केतत्वात् । “प्रयोग-ये यत्र भावत कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमयः, न भवन्ति च भावत कृतसमया सर्वस्मिन्नस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धे कृतसमयत्वेनाभिधायकत्वस्य व्याप्तत्वात् ।”-तत्त्वस० प० पृ० २७६ । (८) व्याख्या-“अन्यदेव रूपादिस्वलक्षणमिन्द्रियग्राह्यम्, तस्मादन्यं शब्दस्य गोचरो विषय इति गृह्यताम् । शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षः प्रध्वस्तनयनं, न तु प्रत्यक्षं यथा भवति तथेक्षते । समान-विषयत्वे वाऽन्यथैवाग्निसम्बन्धादि शब्दादपरोक्षैव प्रतिपत्तिः स्यात् । तथात्वे इन्द्रियाग्निसम्बन्धादिवद् दाह-शब्दादपि दाहार्थप्रतिपत्तिः स्यादित्याह-अन्यथैव -”-प्रश० व्यो० पृ० ५८४ । “अन्यदेवेन्द्रियग्राह्य-स्वलक्षणम्, अन्यच्छब्दस्य गोचरं सामान्यलक्षणम्, कुत ? शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षं अन्धोऽपि घटादि, न तु प्रत्यक्षमीक्षते चक्षुष्मानिव । एतदेव भावयति-अन्यथा स्पष्टानुभवेन दाहसम्बन्धात् इन्द्रियार्थ-योगेन दाहं स्वगतं दग्धोऽभिमन्यते, एव पुमान् जानाति, अन्यथा स्वस्पष्टानुभवत दाहशब्देन तेन दाहार्थं सम्प्रतीयते श्रोत्रा ।”-शास्त्रवा० टी० श्लो० ६६६-६७ । (९) स्फाटितनेत्र-आ० टि० । (१०) उद्धृतोऽयम्-“अन्यं शब्दस्य”-प्रश० व्यो० पृ० ३८४ । न्यायम० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६६ । अनेकान्तजय० पृ० ४५ । प्रमेयक० पृ० ४४६ । सन्मति० टी० पृ० २६० । धर्मस० वृ० पृ० १४९ । स्या० २० पृ० ७१० । (११) व्याख्या-“दाहाद्यर्थं प्रतीयते-यदि शब्देन यथावद्दाहोऽर्थं प्रत्याय्येत तदा शब्दसन्निधापितोऽसौ तामार्थक्रिया कथं न कुर्यात्, यतश्चाग्निसम्बन्धाद्दाहो दाहमन्य-थाऽनुभवति दाहशब्देन च दाहमन्यथाऽवगच्छतीति शब्दार्थयोर्नस्ति कश्चिद्दाहस्तव समन्वय इति बोद्ध-व्यम् ।”-वाक्यप० पृ० ४५ । उद्धृतोऽयम्-प्रश० व्यो० पृ० ५८४ । न्यायम० पृ० ३१ । शास्त्रवा० श्लो० ६६७ । अनेकान्तजय० पृ० ४५ । नयचक्रवृ० लि० पृ० ४४ B । ‘संप्रकाश्यते’-तत्त्वस०

१ स्वेन्द्रियविज्ञान-श्र० । २ उक्तञ्च व० । ३-क्षते ॥ इति । व० ।

नैकैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति येन अस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दप्रत्यये प्रतिभासेत; एकस्य द्वित्वविरोधात् । प्रयोगैः—यत्कृते प्रत्यये यन्न प्रतिभासते न तत्तस्य विषयः यथा रूपप्रभवप्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति । वस्तुविषयत्वे च शब्दानां मतभेदेन अर्थभेदाभिधायित्वानुपपत्तिः । उक्तञ्च—

“परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना ।

न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समैयान्तरभेदिषु ॥” [ प्रमाणवा० ३।२०६ ] इति ।

तन्न स्वलक्षणस्वभावः शब्दस्य विषयो घटते ।

नापि सामान्यरूपः; वास्तवस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात्, तदसंभवश्च अश्व-  
विषयवदनर्थक्रियाकारित्वात् सुप्रसिद्धः । न खलु नित्यैकस्वभावस्यैव क्रमयौगपद्याभ्या-

प० पृ० २८० । प्रमेयक० पृ० ४४७ । सन्मति० टी० पृ० १७७, २६० । स्या० २० पृ० ७१० । तुलना—“(उष्णादिप्रतिपत्तिर्या) नामादिध्वनिभाविनी । विस्पष्टा (भासते नैषा) तदर्थेन्द्रियबुद्धिवत् ॥ यथा ह्युष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धि स्फुटप्रतिभासा वेद्यते न तयोष्णादिशब्दभाविनी । न ह्युपहृतनयन-  
रसनघ्राणादयो मानुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तदूपरसाद्यनुभाविनी भवन्ति यथाऽनुपहृतनयनादय इन्द्रियधि-  
याऽनुभवन्तः ।”—तत्त्वस०, प० पृ० २८० ।

(१) “न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति स्पष्टास्पष्टम् । येनास्पष्ट वस्तुगतमेव रूपं शब्दंरभि-  
धीयते इति स्यात्, एकस्य द्वित्वविरोधात् ।”—तत्त्वस० प० पृ० २८१ । “न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे  
परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुन स्त यत् एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेत अन्येन विकल्पे । तथा मति वस्तुन  
एव भेदप्राप्ते ।”—अपोहसि० पृ० ७ । (२) स्वलक्षणं न शब्दप्रत्ययविषयं शब्दप्रत्ययेऽप्रतिभासमा-  
नत्वात् । “न स तस्य च शब्दस्य युक्तो योगो न तत्कृते । प्रत्यये सति भात्यर्थो रूपबोधे यथा रस ॥  
प्रयोग—यो हि तत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थं यथा रूपजनिते प्रत्यये रस, न प्रतिभासते च  
शब्दे प्रत्यये स्वलक्षणमिति व्यापकानुपलब्धम्”—तत्त्वस० प० पृ० २८० । (३) व्याख्या—“परमार्थ-  
स्वलक्षणम् तस्मिन् एकस्थान (एकस्थान) प्रवृत्तिर्येषा तद्भावस्तत्त्वं तस्मिन् सति शब्दानामनिब-  
न्धना परमार्थनिबन्धनरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात् दर्शनान्तरभिन्नत्वर्थेषु सिद्धान्तभेदभिन्नेषु ।”—प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० १।२०९ । ‘परमार्थैकतानत्वे परमार्थैकपरत्वे शब्दानामर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु प्रतिदर्शन  
भिन्नाभ्युपगमेन नित्यत्वानित्यत्वत्रिगुणीमयत्वादिकल्पितभेदेषु अनिबन्धना परमार्थनिबन्धनरहिता  
प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि परस्परविरुद्धा बहवो धर्मा एकत्र सन्ति ।’—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२०६ ।  
(४) ‘दर्शनान्तरभेदिषु’—प्रमाणवा० । शास्त्रवा० श्लो० ६४७ । अनेकान्तजय० पृ० ३५ A ।  
प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० १६८ । सिद्धिबि० टी० पृ० २६८ A । ‘तस्मात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तर-  
भेदिषु’—स्या० २० पृ० ७१० । (५) “अपि प्रवर्तेत पुमान् विज्ञायायार्थक्रियाक्षमान् । तत्साधनापैत्यर्थेषु  
सयोज्यन्तेऽभिधायका ॥ तत्रानर्थक्रियायोग्या जाति ।—न खलु लोकोऽसकेतयन् शब्दानप्रयुञ्जानो वा  
दुःखिनः स्यात् । व्यसनापत्र अथ किमिति चेत्, सर्वं एवाशेष आरम्भ फलार्थं । निष्फलारम्भस्य  
उपेक्षणीयत्वात् । तदयं क्वचिच्छब्दं नियुञ्जान किञ्चित्फलमेवेहितुं युक्त । तच्चत् सर्वम् इष्टानि-  
ष्टाप्तित्पागलक्षणम् । तेनायमिष्टानिष्टसाधनासाधन कृत्वा तत्र प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कुर्या कारयेय वेति  
नियोग आद्रियेत शब्दान् वा नियुञ्जीत अन्यन्धोपेक्षणीयत्वात् । तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या । नहि जाति-  
र्वाहोद्वाहो क्वचिदपि प्रत्युपस्थिता । न वा तादृशप्रकरणाभावे लोकव्यवहारेषु शब्दप्रयोगः ।”—प्रमाण-  
वा० स्वव० १।१५ । (६) सामान्यस्य ।



मर्थक्रियाकारित्वं सभवतीत्युक्तं सामान्यनिषेधावसरे' । तन्नार्यगोचरा शब्दा किन्तु अन्यापोहगोचरा ।

स चार्थपञ्चमाकार, तथाहि—न जातिव्यक्तयोस्तैर्गोचरस्य पूर्वोक्तदोषात् । नापि ज्ञानतदाकारयो, तयोरपि स्वेन रूपेण स्वलक्षणत्वात्, तस्यै च सङ्केताविषयतया शब्दगोचरतानुपपत्ते, किन्तु स एव ज्ञानाकारो दृश्यविकल्पावेकीकृत्य बहीरूपतयाऽध्यस्तोऽर्धपञ्चमाकार अन्यापोह । बाह्यत्व हि तस्य अर्धाकार ।

अपोहश्च निषेध । सै च द्विविध—पर्युदास, प्रसज्यश्च । पर्युदासोऽपि द्विविध बुद्ध्यात्मा, अर्थात्मा च । तत्र बुद्ध्यात्मा, बुद्धिप्रतिभासोऽनुगतैकरूपत्वेन अर्थेष्वन्वयवसित । अर्थात्मा अर्थस्वभावो विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणम् । तत्र बुद्ध्यात्मनो

(१) पृ० २८५ । (२) जातिव्यक्तिज्ञानतदाकारा एते सत्या अधपञ्चमाकार अधत्व तु दृश्यस्य सत्यत्वात् विकल्पस्यासत्यत्वात्—आ० टि० । (३) शब्दविषयत्वम् । (४) ज्ञानरूपेण । (५) ज्ञानस्वलक्षणस्य । (६) व्याख्यातार एव विवचयन्ति न हि व्यवहृत्तार । ते तु स्वात्मन्वयमव अथकिं यायोग्य मयमाना दृश्यविकल्पार्थावकीकृत्य प्रवतन्ते । ते हि यथावस्थित वस्तु व्यवस्थापयन्त एव विवचयन्ति । अन्यो विकल्पबुद्धिप्रतिभास अन्यत्स्वलक्षणमिति, न व्यवहृत्तार एव विवेचयन्ति । ते तु व्यवहृत्तार स्वात्मन्वयमेवति विकल्पप्रतिभासमेवाथक्रियायोग्य बाह्यस्वलक्षणरूप मन्यमाना । एतदेव स्पष्टयति—दृश्योऽथ स्वलक्षणम् विकल्पयोऽथ सामान्यप्रतिभास तावकीकृत्य स्वलक्षणमेवद विकल्पबुद्ध्या विषयीक्रियते शब्दन चोद्यते इत्यवमधिमुच्याथक्रियाकारिण्यर्थे प्रवतन्ते, तदभिप्रायवशाद् व्यवहृतुं पामभिप्रायवशादेवमुच्यते विवकिपु भावपु विकल्पबुद्धिभवतीति । दृश्यविकल्पावेकीकृत्य प्रवृत्तरिति वदता न स्वाकारे बाह्यारोप इत्युक्तं भवति अथवा स्वाकार एव प्रवृत्तिप्रसगात् मरीचिकाया जलारोपादिव । नापि बाह्य स्वाकारारोप आराप्यमाणफलार्थित्वेनव प्रवृत्तिप्रसगात् जलाशिन इव जल भ्रान्ती । अर्थानुभवे सति तत्संस्कारप्रबोधन तदाकार उत्पद्यमाना विकल्प स्वाकार बाह्याभिन्नमध्यवस्यति न त्वभिन्न करोति । तेन विकल्पविषयस्य दृश्यात्मतयाध्यवसायाद् दृश्यविकल्पयोरकीकरणमुच्यते ।—प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।७२ । (७) तथाहि द्विविधोऽपोह पर्युदासनिषेधतः । द्विविध पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्माऽर्थात्मभेदतः ॥ तत्र बुद्ध्यात्मा बुद्धिप्रतिभास अधष्वनुगतैकरूपत्वेनाध्यवसित । अर्थात्मा अयस्वभाव विजातीयव्यावृत्तमर्थस्वलक्षणमित्ययः ।—तत्त्वस० प० पृ० ३१६ । तुलना—त्रिविधो हि वोपोह—एकस्तावद व्यावृत्त स्वलक्षणमेव अन्योऽपोहतेऽस्मिन्निति कृत्वा यदधि कृत्याह—स्वभावपरभावाभ्या यस्माद् व्यावृत्तिभागिन इति व्यवच्छेदनात् द्वितीय अन्यापोहनमन्यापोह इति कृत्वा, विकल्पबुद्धिप्रतिभासस्तु तृतीय अपोहतेऽननति कृत्वा अयञ्च ादस्य निषेध नतयाऽभ्युपगम्यते ।—अनेकान्तजय० पृ० ३७A । (८) 'तत्र बुद्ध्यात्मन स्वरूप दृश्यताह—एकेत्यादि । एकप्रत्ययमशस्य य उक्ता हेतव पुर । अभयादिसमा अर्था प्रकृत्यवान्यभदिन ॥ तानुपाश्रित्य यज्ज्ञान भात्यथप्रतिबिम्बकम् । कल्पकेऽर्थात्मताऽभावेऽप्यर्था इत्येव निश्चितम् ॥ यथा हरीतक्यादयो बहवोऽन्तरणापि सामान्यमेक चरादिसमनलक्षण काय कुवन्ति तथा शबलयादयोऽप्यर्था सत्यपि भेदे प्रकृत्या एकाकारप्रत्ययवमगस्य हेतवा भविष्यन्तीत्यन्तरेणापि वस्तुभूत सामान्यमिति । अभयादिसमा इति—हरीतक्यादितुल्या एकायचारितया साम्यम् । तानुपाश्रित्य इति—तानभयादिसमानर्थानाश्रित्य हेतुकृत्य तदनुभवबलेन यदुत्पन्न विकल्पक ज्ञान तत्र यदर्थाकारतयाऽथप्रतिबिम्बकमर्था

विशेषलक्षणम्—स्वभावतः परस्परविलक्षणानर्थनिकार्थकारितया समानहेतुत्वेनाश्रित्य यदेकप्रत्ययवमर्शरूपमर्थप्रतिबिम्बस्वभावं ज्ञानमुत्पन्नं तस्य 'अपोह' इति सज्ञा । वस्तु-भागच्छायो विकल्पेनोल्लिख्यमानो बाह्यत्वेनाऽभिमन्यमानो विकल्पाकारः स्वाकार-विपरीताकारोन्मूलकोऽपोह 'अपोहते अनेन' इति, विकल्पान्तरवर्त्याकाराद् भेदेन स्वय प्रतिभासमानत्वात् । 'अपोहते अन्यस्मात्' इत्यन्यापोहः, अयं हि मुख्यतयैव अन्योपोह-शब्दाभिधेयः । त्रिभिस्तु कारणै औपचारिकः—कारणे कार्यधर्मोपात्तः, कार्ये कारण-धर्मोपचाराद्वा, विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणेन सहैकत्वाध्यवसायाद्वा ? कार्यं हि यथो-क्तान्यापोहस्य अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिः, अतस्तत्कारणतया कार्यधर्मोऽन्यव्यावृत्तिः तत्रो-ध्यारोप्यते । कार्ये कारणधर्मो वा, कारणं हि एकप्रत्ययवमर्शात्मनोऽन्योपोहस्य अन्यास-सृष्ट स्वलक्षणं तदनुभवेन तस्यै जनितत्वात्, अस्ति च कारणभूते स्वलक्षणे अन्यव्या-वृत्ति अतस्तस्याः कार्यभूते प्रत्ययवमर्शे उपचारः । विजातीयव्यावृत्तं यत्स्वलक्षणं तेन मह प्रत्ययवमर्शप्रतिभासिनो रूपस्य एकत्वेनाध्यवसितत्वाद्वा अन्यापोहतेति प्ररूपित-पर्युदासरूपोऽपोहः ।

प्रसज्यरूपंस्तु 'गौरयम् अगौर्न भवति' इति व्यवच्छेदमात्रपर्यवसित इति ।

15 प्ररूपितप्रकारस्य अन्यापोहस्यैव वाचक शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः । वाच्यवाचकभावश्च

भासो भाति तादात्म्यं तनान्यापोह इत्यपि सज्ञा उक्तेति सम्बन्धः । कल्पक इति—विकल्पकं सविकल्प इति यावत् । एतच्च ज्ञान इत्यनेन समानाधिकरणम् । अर्थात्मताभावोऽपि इति । बाह्यार्थात्मताया अभावेऽपि । निश्चितमिति अध्यवसितम् ।—तत्त्वसं०, पृ० ३१७ ।

(१) अश्वदिविकल्पादन्यो गवादिविकल्प—आ० टि० । (२) 'अयं कथं तस्यापोह इत्यपि व्यपदेश इत्याह—प्रतिभासान्तरादित्यादि । प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुन । प्राप्तिहेतुतयाऽ-दिलिप्तवस्तुद्वारा गतेरपि ॥ विजातीयपरावृत्तं तत्फलं यत्स्वलक्षणम् । तस्मिन्ध्यवसायाद्वा तादात्म्य-नास्य विप्लुतं । तत्राप्यपोह इत्येता मशोक्ता सनिबन्धना । चतुर्भिर्निमित्तरूपोह इति तस्याख्या । विकल्पान्तरारोपितप्रतिभासान्तराद् भेदेन स्वयं प्रतिभासनात् मुग्यत अपोह्यत इत्यपोह, अन्यस्माद-पोहोऽन्यापोह इति व्युत्पत्तः । उपचारात्तु त्रिभिः । १—कारणं कार्यधर्मोपात्तं, यदाह अन्यव्यावृत्त-वस्तुन प्राप्तिहेतुतयति । २—कार्ये वा कारणधर्मोपचारात्, तद्वशयति—अदिलिप्तवस्तुद्वारा गतेरपीति । अदिलिप्तम् अन्यासम्बद्धं अयतो व्यावृत्तमिति यावत्, तदेव वस्तु द्वारमुपायं, तदनुभवबलन तयावि-धविकल्पोत्पत्तेः । ३—विजातीयपरावृत्तवस्तुसहक्येन भूतान् प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्चेति चतुर्थं कारणम् । तद्वशयति—विजातीयतयादि । अस्यति । विकल्पबुद्ध्याल्लिख्यस्य अथप्रतिबिम्बस्य सनिबन्धनति । सह निबन्धनं प्रतिभासान्तराद् भेदादिनोक्तेन चतुर्विधेन वर्तते इति सनिबन्धना ।—तत्त्वसं०, पृ० ३१७ । (३) अन्यापोह कारणम् अन्यव्यावृत्तवस्तुप्राप्तिं वाच्यम्—आ० टि० । (४) अपोहे कारण—आ० टि० । (५) एतत्कायम् । (६) एतत्कारणम्—आ० टि० । (७) अयापोहस्य—आ० टि० । (८) अन्यापोहस्वरूपे—आ० टि० । (९) प्रसज्यप्रतिपद्यश्च गौरगौर्न भवत्ययम् । अति-विस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते ॥—तत्त्वसं०, पृ० ३१८ । (१०) 'तदेव त्रिविधमपोह प्रतिपाद्यं प्रकृते शब्दाद्यत्वं योजयन्नाह—तत्रायमित्यादि । तत्रायं प्रथमं शब्दैरपोह प्रतिपद्यते । बाह्यार्थाध्यवसा-यिन्या बुद्धं शब्दात्ममुदभवात् ॥ प्रथम इति यथोक्ताथप्रतिबिम्बात्मा । तत्र कारणमाह—बाह्यार्थाध्य-

कार्यकारणभावान्नान्य, बुद्धिसम्बन्धिनो हि प्रतिबिम्बस्य शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्यत्व  
तज्जनकत्वाच्च शब्दस्य वाचकत्वमिति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अपोह शब्दलिङ्गाभ्याम्’ इत्यादि, तदसमी-

अपाहवादनिरसन  
पुरस्सर शब्दस्य  
परमाथस्तत्सामान्य  
विश्रुतमनार्थवाच  
रूत्वसमथनम्—

चीनम्, यत् प्रमाणत कुतश्चित्प्रतिबिम्बौ तस्य तद्विषयत्व युक्तम्,  
न चासौ कुतश्चित् प्रमाणात्प्रसिद्ध, तथाहि—अपोहं प्रत्यक्षत सिद्धयेत्, 5  
अनुमानाद्वा ? न तात्पर्यत्यक्षत, स्वलक्षणविषयत्वात्तस्य । नाप्यनु-  
मानत, तद्विनाभाविलिङ्गाभावात् । नहि असन्निवृत्त्या अगोनि-  
वृत्त्या चाविनाभूत किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्ध-

वमायिन्या इत्यादि । यदेव हि शब्दे ज्ञान प्रतिभासते स एव शब्दार्थो युक्त । न चान्न प्रसज्यप्रतिवे  
धाध्यवसायोऽस्ति न चापीन्द्रियज्ञानवत् स्वलक्षणप्रतिभास । किं तर्हि ? बाह्यार्थाध्यवसायिनी केवल  
गाम्भी बुद्धिरुपजायते । तेन तदवाथप्रतिबिम्बक शब्दे ज्ञान साक्षात्तादात्मतया प्रतिभासनाच्छदार्थो  
युक्तो नान्य इति भाव । एव तावत्प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोह साक्षाच्छब्दरूपजन्यमानत्वामुख्य शब्दाथ  
इति दक्षितम् । शययोरप्यपोहयो गौण शब्दाथत्वमुपवर्ण्यमानमविच्छेदमेवेति दशयज्ञाह—साक्षादाकार  
एतस्मिन्नवञ्च प्रतिपादिते । प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ॥ न तदात्मा परात्मेति सम्बन्ध  
सति वस्तुभि ॥ व्यावृत्तवस्त्वधिगमोऽप्यथैव भवत्यत ॥ तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थे इत्युपच्यते ।  
न तु साक्षादय शब्दो द्विविधोऽपोह उच्यते ॥ एवञ्चेति । जन्यत्वेन । कस्मात्पुन सामर्थ्येन प्रसज्य  
प्रतिषेध प्रतीयत इति दशयज्ञाह—न तदात्मेति । तस्य गवादिप्रतिबिम्बस्यात्मा य परस्य अश्वादि  
प्रतिबिम्बस्यात्मा स्वभावो न भवतीति कृत्वा । एव प्रसज्यलक्षणापोहस्य नान्तरीयकतया प्रतीतीर्माण  
गन्दाश्रव प्रतिपाद्य स्वलक्षणस्यापि प्रतिपादयज्ञाह—सम्बन्धे सतीत्यादि । तत्र सम्बन्ध गन्दाश्रव वस्तुनि  
पारम्पर्येण कायकारणभावलक्षण प्रतिषेध । प्रथम यथावस्थितवस्तुनुभव ततो विवक्षा ततः तात्वा  
दिपरिस्पन्द ततः गन्दाश्रव इत्यव परम्परया शब्दस्य वस्तुभि बाह्यैरग्न्यादिभि सम्बन्ध स्यात्तादा तस्मिन्  
सम्बन्धे सति विजातीयव्यावृत्तस्यापि वस्तुनोऽर्थापत्तितोऽधिगमो भवति । अतो द्विविधोऽपि प्रसज्य  
प्रतिषेध अयव्यावृत्तवस्तवात्मा चापोह शब्दाथ इत्युपच्यते । अयमिति स्वलक्षणात्मा अपिगन्दात  
प्रसज्यात्मा च । —तत्त्वस० प० पृ० ३१८-१९ ।

(१) ननु सौगतैस्तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्ध इत्येते तत्किन्नर वाच्यवाचकभावोऽपी  
प्यते इत्याह—आ० टि० । यथापि शब्दस्यार्थेन स वाच्यवाचकभावलक्षण सम्बन्ध प्रसिद्ध नासौ  
कायकारणभावादयोऽवतिष्ठते अपि तु कायकारणभावात्क एवेति दशयज्ञि—तद्रूपप्रतिबिम्बस्येत्यादि ।  
तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धिय शब्दाच्च जमनि । वाच्यवाचकभावोऽप्य जातो हेतुफलात्मक ॥ शब्द प्रतिबि  
म्बस्य जनकत्वाद्वाचक उच्यते तच्च प्रतिबिम्ब शब्देन जयमानत्वाद्वाच्यम् । —तत्त्वस० प० पृ० ३१८-  
१९ । (२) तेन शब्देन तत्प्रतिबिम्बस्य वाच्यत्वम्—आ० टि० । (३) पृ० ५५१ प० ९ । (४) अपोह  
स्य । (५) शब्दलिङ्गगोचरत्वम् । (६) तुलना— इन्द्रियैर्नाप्यगोपोह प्रथम व्यवसीयते । नात्र  
शब्दवृत्तिश्च किं दृष्टवा स प्रपुज्यताम् ॥७८॥ पूर्वोक्तेन प्रबन्धेन नानुमाप्यत्र विद्यते । सम्बन्धानुभवोऽ  
प्यस्य तेन नवोपपद्यते ॥७९॥ नागृहीतश्च गमक शब्दापोह कथञ्चन । प्रत्यक्ष न च तच्छक्त न च स्तो  
लिङ्गवाचकी ॥१०६॥ यत स्याद ग्रहण तस्य लिङ्गादीनान्च कल्पने । न व्यवस्थति वाच्यव विना  
प्रत्यक्षमूलत ॥१०७॥ —मी० इलो० अपोह० ७८-७९ १०६७ । प्रमेयक० पृ० ४३५ । प्रमेयर०  
३११०१ । (७) अपोहाविनाभावि ।

प्रकारेण हि भवामते अविनाभावो व्यवस्थित । नचान्यव्यावृत्ते केनचित्सह तादात्म्य-  
तदुत्पत्ती घटते । तथाहि—अकृतकत्वव्यावृत्ति कृतकत्वम्, तत् स्वलक्षणात्मकम्, नित्य-  
व्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मक वा स्यात् ? न तावत्स्वलक्षणात्मकम्, अवस्तुरूपत्वात्, यद्-  
वस्तुरूप न तत् स्वलक्षणात्मक यथा सरविषाणम्, अवस्तुरूपश्च अकृतकत्वव्यावृत्ति-  
रूपतया कृतकत्वमिति । नापि नित्यव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वात्मकम्, उभयो नीरूपतया  
तादात्म्यसम्बन्धाभावात् । यथै नीरूपत्वं न तयोस्तादात्म्यसम्बन्ध यथा रपुष्पवन्ध्या-  
सुतयो, नीरूपत्वश्च अन्यव्यावृत्तिरभावयो कृतकत्वानित्यत्वयोरिति । तन्नानयोस्ता-  
दात्म्य घटते । नापि तदुत्पत्ति, नीरूपत्वादेव । तथाहि—यत्रीरूप तन्न कस्यचिज्जन्यं  
जनक वा यथा सरविषाणम्, नीरूपश्च साध्यसाधनत्वेनाऽभिप्रेत प्रकृतमन्यापोहद्वयमिति ।

नंतु चार्थाभावेऽपि अर्थाकार यत् प्रतिविम्बमुत्पन्न तदेवान्यापोह, स च स्वसंब-  
न्धनप्रत्यक्षत एव सिद्धवति, इत्यनर्थक तत्रानुमानम्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, ज्ञानेऽ-  
र्थाकारधारित्वस्य तन्निराकारत्वसिद्धौ<sup>६</sup> प्रतिपिद्धत्वात् ।

अस्तु वा तंतु, तथापि—अत्र कस्य प्रतिविम्बनम्—स्वलक्षणस्य, सामान्यस्य वा ?  
न तावत्स्वलक्षणस्य, तस्य व्यावृत्ताकारत्वात् । अनुगतैकरूपश्च प्रतिविम्बम् अन्यापो-  
होऽभिप्रेत, अत स्वलक्षणेनापि तथाविधेनैव भवितव्यम् । तथाहि—यस्य हि यदाकार  
प्रतिविम्ब तत् स्वयमपि तदाकारमेव यथा मुसचन्द्रादि, अनुगतैकाकारश्च स्वलक्षणस्य  
ज्ञाने प्रतिविम्बमिति । अथ सामान्यस्य ज्ञाने प्रतिविम्बनमिष्यते, तदप्यसत्, तस्यां-  
ऽसत् प्रतिविम्बनानुपपत्ते । यद्दसन्न तत् क्वचित् प्रतिविम्बवति यथा रपुष्पम्, असच्च  
भवंन्मते सामान्यमिति । तत्रै तत्प्रतिविम्बाभ्युपगमे वा प्रतिविम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि-  
विकृतद्रूपैर्द्वयोपलम्भप्रसङ्ग । यत्र यत् प्रतिविम्बवति तद्द्वय प्रतिविम्बोदयात्प्रागन्योन्यवि-  
विकृतमुपलभ्यते यथा मुग्गादर्शादि, प्रतिविम्बवति च ज्ञाने सामान्याकार इति ।

अथ बाह्यदोहाद्येकार्थक्रियाकारितया स्वलक्षणमेवानुवृत्ताकार सत् सामान्यम्,  
अतो नोर्चदोषावकाश, तदयुक्तम्, एकार्थत्रियामर्दुर्वैस्तत्कारित्वाभावात् प्रतिविम्बो-

(१) सौगतसिद्धान्ते । (२) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूप कृतकत्व न स्वलक्षणात्मकम् अवस्तुरूप  
त्वात् । (३) अकृतकत्वव्यावृत्तिरूपकृतकत्व नित्यत्वव्यावृत्तिरूपाऽनित्यत्वयोश्च । (४) अन्यव्यावृत्ति  
रूपयो कृतक वानित्यत्वयो तादात्म्य न भवति नीरूपत्वात् । (५) कृतकत्वमनित्यत्वञ्च—आ० टि० ।  
(६) प्र० १६७ । (७) प्रतिविम्बम् । (८) अनुगतैकरूपेण । (९) स्वलक्षणमनुगतकारणमनुग  
तकाररूपेण प्रतिविम्बितत्वात् । (१०) सामान्यस्य अन्यापोहत्वात्त्वेन अथक्रियाकारित्वाभावेन  
चासत् । (११) न समाय ज्ञान प्रतिविम्बवति असत्त्वात् । (१२) बौद्धमते । (१३) ज्ञान । (१४)  
सामान्य । (१५) प्रतिविम्बाधारस्य ज्ञानस्य प्रतिविम्बस्य च सामान्यस्य विविक्त स्वरूपद्वय प्रति  
भावेत इति भाव । (१६) ज्ञान सामान्यञ्च विभिन्नतया उपलभ्यताम् तत्र प्रतिविम्बमानत्वात् ।  
(१७) प्रतिविम्बाभावलक्षणी दोष । (१८) सामान्यस्य ।

१—क तयो थ० । २ ननु चार्थाकार आ० । ३ इत्यसमी—थ० । ४ तस्य नास्ति आ० । ५—तस्य  
मस्य यस्य हि आ०, थ० । ६—विविक्तस्तद्रूप—व० । ७—विम्बते थ० । ८—विम्बते च थ० ।

दयाभावानुपद्गात् । अर्थक्रियायाश्च कादाचित्कत्वात् तदुदयोऽपि कदाचिदेव स्यात् ।

किञ्च, एकार्थक्रियाकारित्वं स्वलक्षणे यथेकमभ्युपगम्यते तदा बाह्यावभासितयोपलभ्यमानप्रतिभासवलात् तदेव प्रतिभास्यमस्तु किं प्रतिविम्बाग्रहग्रहेण ?

किञ्च, यदि स्वप्रतिविम्बमात्राध्यवसायित्वं शाब्दविकल्पस्य स्यात् तर्हि अंतःकुतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? स्वप्रतिभासेऽनर्थे अर्थाध्यवसायाच्चेत् ; ननु कोऽयमर्थार्थाध्यवसायो नाम—बाह्यस्यार्थस्य ग्रहणम्, करणम्, योजनम्, समारोपो वा ? प्रथमपक्षे परमतसिद्धिः; शाब्दैः शाब्दप्रत्ययानां बहिरर्थग्रहणानभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षोप्यनुपपन्नः; नहि बाह्यार्थकरणे ज्ञानानां सामर्थ्यम्, स्वसामग्रीतस्तेषामाविर्भावान्, अन्यथा अप्रतिहता सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिः स्यात् ।

अथ स्वीकारं विकल्पो बाह्येनार्थेन योजयति, तदसत्, तथाप्रतीतेरसभवात् । नह्येव कस्यचित् प्रतीतिः 'योऽयमाकारो मदीयः स बाह्यार्थविशिष्टः' इति, बाह्यार्थेन सह स्वीकारस्य सम्बन्धाभावतो विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः । न च परम्परया तदुत्पत्तिसम्बन्धोऽस्यास्तीत्यभिधातव्यम्, व्यावृत्ताकारार्थस्य अनुवृत्ताकारप्रतिविम्बनहेतुत्वप्रतिपेधात् ।

अथ बाह्यमर्थं विकल्पः स्वाकारे समारोपयति; तदप्यसाम्प्रतम्; समारोपो हि उभयग्रहणे सति स्यात्, असति वा ? न तावदसति; उभयग्रहणपुरस्सरत्वात्सर्वं । यः समारोपः स उभयग्रहणपुरस्सरः यथा गोर्वाहीके समारोपः, समारोपश्च विकल्पाकारे बाह्यार्थस्येति । न चेदं निदर्शनं साध्यविकल्पम्; येनैव हि गौरनुभूतः वाहीकश्च, स

(१) "तथापि विकल्पाद्बाह्याभिमुखप्रवृत्तिस्तदाधना न स्यात् ।"—न्यायवा० पृ० ४८५ । "इत्थमपि ततो वस्तुनि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ।"—अनेकान्तजय० पृ० ३५ B । 'अन्यापोहे प्रतीति च कथमर्थं प्रवर्तनम् । शब्दात्सिद्धयेज्जनस्यास्य सर्वथाऽतिप्रसङ्गत ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १० । प्रमेयक० पृ० ४३१ । रत्नाकराव० ४।११ । (२) तुलना—“न, तदेकीकरणासिद्ध, दृश्यविकल्पयोरत्यन्तभिन्नत्वात्, साधर्म्यायोगात्, एकस्योभयानुभवितुरभावात् तदा द्वयदर्शनादर्शनविकल्पानुपपत्तेः ।”—अनेकान्तजय० पृ० ३५ B । "स्वाकारमबाह्यं बाह्यमध्यवस्यन् विकल्पं स्वाकारबाह्याविषय इति चेत्, यथाह—स्वप्रतिभासेऽनर्थोऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तिरिति । अथ कोऽयमध्यवसाय—किं ग्रहणमाहोस्वित् करणम् उत योजना अथ समारोपः ? तत्र स्वप्रतिभासमनर्थमर्थं कथं गृह्णीयात् कुर्याद्वा विकल्पः । न हि पीतं नीलं कथं ग्रहीतुं वा शिल्पिपक्षेनापि । नप्यगृहीतेन स्वलक्षणेन स्वाकारं योजयितुमर्हति विकल्पः । न च स्वलक्षणं विकल्पगोचरं इति चोपपादितम् ।"—न्यायवा० ता० पृ० ४८५ । (३) जैनमतः । (४) अर्थानाम्—आ० टि० । (५) ज्ञानमात्रेणैव यद्यर्थस्य समुत्पत्तिः स्यात्तदा असद्व्यपकपरिज्ञानादेव असह्यरूप्यकोत्पत्तौ विश्वमदरिद्रं स्यात् । (६) विकल्पाकारस्य—आ० टि० । (७) स्वाकार-बाह्यार्थयोः । (८) स्वलक्षणरूपो बाह्योर्थं ततो निर्विकल्पकमिति ( ततो निर्विकल्पकतस्माच्च सविकल्पकमिति ) पारम्पर्येण विकल्पार्थयोस्तदुत्पत्तिसम्बन्ध—आ० टि० । (९) न हि व्यावृत्ताकारादनुवृत्ताकारं जायते—आ० टि० । (१०) एकस्य अन्यत्र समारोपस्य । (११) विकल्पाकारे बाह्यार्थसमारोपः उभयग्रहणपूर्वकं समारोपत्वात् ।

तद्धर्मान् बहुभारोद्बहनादीन् वाहीके निश्चित्य गोत्वमारोपयति 'गौर्वाहीकै.' इति । अधोभयग्रहणे सति आरोप स्यात्, ननु उभयोर्ग्रहण विकल्पेन, निर्विकल्पेन वा स्यात् ? न तावन्निर्विकल्पेन, अस्य स्वलक्षणगोचरतया अन्यापोहस्वरूपविकल्पाकारे प्रवृत्त्यनुपपत्ते । नापि विकल्पेन, अस्य बाह्यार्थपरिमर्शपरत्तुत्वात्, अतः कथमसौ स्वाकारे वाह्यं तत्र वा स्वाकारमारोपयेत् ?

अस्तु वाऽस्योभयग्रहणम्, तथापि-पूर्वं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभूय पश्चादर्थ-मारोपयति, युगपदेव वा स्वप्रतिभासञ्चानुभवति अर्थञ्च समारोपयति, किं वा यावदेवोक्तं भवति-स्वाकारमनुभवतीति तावदेवोक्तं भवति अर्थमध्यवस्यतीति ? न तावत्स्वरूपानुभवः पूर्वं पश्चादर्थसमारोपः, क्षणद्वयावस्थानविकलत्वाज्ज्ञानानाम्, अन्यथा क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः । अथ युगपदेव स्वप्रतिभासमनुभवति अर्थञ्च समारो-पयति, तर्हि ब्राह्मणमाहकारात्मके विकल्पस्वरूपे सवेद्यमाने स्वानुभवसमानकाल एवार्थं समारोप्यमाणो विकल्पस्वरूपाद् बहिरेवाऽऽतिष्ठते तत्कथमात्मानमनर्थम् अर्थ-मारोपयेदसौ ? अथ स्वाकारानुभव एव अर्थसमारोपः, तदप्यसुन्दरम्, अनुभवितव्य-विकल्पयितव्ययोर्भेदात् । शब्दससृष्ट हि स्वरूप विकल्पयितव्यम्, अशब्दससृष्ट तु स्वसवेदनेनानुभवितव्यम्, तत्कथमनयोरेकत्वम् ?

एतेन 'दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य वहीरूपतयाऽध्यस्त.' इत्यादि प्रत्युत्तम्, तदेकी-

(१) जतिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं मुनिन्दितम् ।<sup>१</sup>—महाभार० कृष्णपर्व अ० २०० । जाट' इति भाषायाम् । 'यथा गोसन्त्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीक ।'<sup>२</sup>—महाभा० प्र० १।१। १५ । (२) तुलना—'क खलु विकल्पमेव दृश्यमित्यध्यवस्यति । विकल्प एवेति चेत् न तत्र सामा-यावभासात् अन्यथा विकल्पत्वायोगात् । अन्य इति चेत् न आत्मवादापत्तं तत्तथाध्यवसायनिमित्ताभावाच्च ।—अनेकान्तजय० पृ० ३५ B । नैकत्वाध्यवसायोऽपि दृश्यं स्पृशति जातुचितं । विकल्पस्यायथा सिद्धयत् दृश्यस्पर्शित्वमञ्जसा ।—तत्त्वाथश्लो० पृ० १०९ । 'तदेकत्वं हि दानमध्यवस्यति नत्पृष्ठजो व्यवसायो नानान्तरं वा ।'<sup>३</sup>—प्रमाणप० पृ० ५३ । प्रमेयक० पृ० ३१ । सम्मति० टी० पृ० ५०० । स्वा० १० पृ० ८२ । (३) निर्विकल्पस्य । (४) अवस्तुविषयत्वात्—आ० टि० । (५) विकल्पः । (६) बाह्यस्य । (७) तुलना— न च स्वाकारमनर्थमथ आरोपयति । न तावदगृहीतं स्वाकारं गन्ध आरोपयितुमिति तदग्रहमेपितव्यम् । तत्किं गृहीत्वा आरोपयति, अथ यदैव गृह्णाति तदवारोपयति । न तावत्पक्षे न हि विकल्पज्ञानं क्षणिकं क्रमवती ग्रहणसमारोपोऽस्तु क्तुमर्हति । उत्तरस्मिन्स्तु पक्षे विकल्पसवेदनप्रत्यक्षाद्विकल्पाकारादहङ्कारास्वदाद् अनहङ्कारास्वदं समारोप्यमाणो विकल्पो नास्वगोचरो न शक्यो भिन्नं प्रतिपत्तुम् । नापि बाह्यस्वलक्षणकत्वेन शक्यं प्रतिपत्तुं विकल्पज्ञानं स्वलक्षणस्य बाह्यस्याप्रतिभासनात् ।<sup>४</sup>—न्यायवा० ता० पृ० ४८५ । (८) स्वाकारानुभवममेव अर्थाध्यवसाय इति भावः । (९) यदि यदव विकल्पाकारं स्वप्रतिभासमनर्थमनुभवति तदैवाथ समारोपयति, तदा विकल्पस्य स्वानुभवव्यापत्तत्वादर्थाज्ज्ञानात्मलभमानं तत्स्वरूपाद् बहिरेवास्ते विकल्पे न गद्वत्प्रामिति, तत्कथमात्मनि अनर्थभूते अथ विकल्पाकारं आरोपयतीति तात्पर्यम् ।—आ० टि० । (१०) आत्मनि अनर्थं इत्यर्थः । (११) पृ० ५५५ प० ५ ।

१—परामर्शप्रादुर्भूतत्वात् श्र० । २ पूर्वं प्रतिभासमानायमन—थ० । ३—भासं वानभ—व० । ४—भगभगताप्रसंगं व० ।

करणञ्च किं तेनैव ज्ञानेन, ज्ञानान्तरेण वा ? न तावत्तेनैव स्वाकारं दृश्यञ्च पृथक् प्रति-  
पद्यैक्यं प्रतीयते ; तथा प्रतीत्यभावात्, क्षणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तरेण ; तद्धि एकम्,  
अनेकं वा ? यद्यनेकम् ; कथमैक्यं प्रतिपद्येत ? स्वसंवेदनेन हि ज्ञानस्वरूपं प्रतीयते दर्शनेन  
तु दृश्यम् । एकं तु यदि द्वयं प्रत्येति ; कथमैक्यम् ? अथैक्यं प्रत्येति ; कथं द्वयं विरोधात् ?

किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य प्रतीयते, केवलो वा ? प्रथमपक्षे भावयोः 6  
प्रतीतिः किं शब्दादेव, प्रमाणान्तराद्वा ? न तावत् शब्दादेव ; अस्य अपोहादन्यत्र  
प्रवृत्त्यनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा किं भावो प्रतीत्य अतोऽपोहः प्रतीयते, अपोहं वा  
प्रतीत्य भावाविति ? तत्राद्यचिकल्पे नान्यापोहः शब्दार्थः ; मुख्यतो भावयोरेव तदर्थत्वात्,  
प्रतीत्युत्तरकालं सामर्थ्यादेव वा अन्यव्यावृत्तेः प्रतीतेः । नीलञ्च प्रतीत्य अनीलव्यावृत्ति-  
प्रतीत्यभ्युपगमे स्वीक्यन्ती तत्प्रतीतिः स्यात् । अतो नीलस्य अनीलव्यावृत्त्यात्मकरथैव 10  
प्रत्यक्षादिव शब्दात्प्रतीतिरभ्युपगन्तव्या । द्वितीयचिकल्पे तु प्रतीतिविरोधः ; न खलु केव-  
लोऽपोहः प्रथमं शब्दात् प्रतीयते पश्चाद् भावाविति कस्यचित्त्वप्नेऽपि प्रतीतिरस्तीति ।  
एतेन प्रमाणान्तरादपि तदप्रतीतिः प्रत्याख्याता ; ततोऽपि भावयोः प्रतीतौ उक्तदोषानुपपन्ना-  
विशेषात् । अस्तु वा कुतश्चिदर्थं प्रतीतिः ; तथापि—भावाभ्यां भिन्नस्यापोहस्य प्रतीतौ  
कथमस्यैव भावसम्बन्धिता स्यात्, भावाभावयोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् ? 16

‘केवलोऽपोहः प्रतीयते’ इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिव्यूढः ; यदि च केवलोऽपोहः  
शब्दाल्लिङ्गाद्वा प्रतीयेत ; तर्हि सर्वशब्दानां पर्यायता स्याद् अपोहमात्रस्याऽविशिष्टस्या-  
शेषशब्दैः प्रतिपादनात् । एवञ्च विशेषणविशेष्यभेदः अतीतादिकालभेदः 17  
‘स्त्रीपुंनपुंसक-

(१) तुलना—‘नैतद् दृश्यविकल्पार्थकीकरणेन भेदत । एकप्रमात्रभावाच्च तयोस्तत्राप्राप्ति-  
द्वितः ।’—शास्त्रवा० १११० । ‘अतीते तदात्मकतया अभावसमारोपानुपपत्ते ।’—प्रश० कन्व० पृ०  
३२० । (२) तुलना—‘यश्चायमन्यापोहः अगौरं भवतीति गोसन्ध्यायर्थं स किं भावोऽय अभाव  
इति ?’—न्यायवा० पृ० ३२९ । इति प्रसज्य—आ० टि० । (३) शब्दस्य अपोहादतिरिक्ते भावे  
प्रवृत्तौ । (४) शब्दार्थत्वात्—आ० टि० । (५) भावस्य प्रतिनियतमसाधारण स्वरूपं हि अन्यव्यावृत्त्या-  
त्मकं भवत्येव । (६) सापेक्षत्वात्—आ० टि० । (७) अनीलव्यावृत्तिप्रतीतिः । (८) व्यवहारिण  
पुरपस्य । (९) भावयोः प्रतीतिः । (१०) अपोहस्य । (११) अपोहस्य । (१२) तुलना—‘भिन्न-  
सामान्यवचना विशेषवचनाश्च ये । सर्वे भवेयुः पर्याया यद्यपोहस्य वाच्यता ॥’—मी० श्लो० अपोह०  
श्लो० ४२ । न्यायम० पृ० ३०४ । ‘अपि च य विभिन्नसामान्यशब्दा गवाद्यो ये च विशेषशब्दा दाबलेया-  
द्यस्ते भवदभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्ति अर्थभेदाभावात् वृक्षपादपादिशब्दवत् ।’—प्रमेयक० पृ० ४३३ ।  
प्रमेय० ३।१०१ । (१३) तुलना—‘अपोहमात्राच्चत्व यदि चाभ्युपगम्यते । नीलोत्पलादिशब्देषु शबला-  
र्थाभिधायिषु ॥ विशेषणविशेष्यत्वसामानाधिकरण्ययो । न सिद्धिर्न ह्यनीलत्वव्युदानेऽनुत्पलच्युति ॥’  
—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ११५—१६ । प्रमेयक० पृ० ४३६ । (१४) तुलना—‘लिङ्गसत्यादिमन्वन्धो  
न वाऽपोहस्य विद्यते । व्यक्तेरव्यपदेश्यत्वात्तद्द्वारेणापि नास्त्यमी ॥’—मी० श्लो० अपोह० श्लो० १३५ ।

1 प्रमित्यभ-ब० । 2 ‘क्षणिकत्वाच्च’ नास्ति ब० । 3 मुख्यतया भा-य० । 4 अन्यव्यावृत्तिप्रती-  
—आ० । 5 प्रतीतिरिति ब०, प्रतीतिरस्ति श्र० । 6—तिः किं प्रत्या—ब० । 7—नुपपन्नविरोधात् ब० ।  
8 एव विशेषे—ब०, श्र० ।

लिङ्गभेद एवद्विवह्ववचनादिभेदश्च दुर्लभ । लिङ्गलिङ्गिभेदश्च दूरोत्सारित एव स्यात्, यदेव हि लिङ्गशब्दवाच्यमपोहमात्र तदेव लिङ्गिशब्दस्यापि ।

अथापोहस्य भेदाभ्युपगमान्नाय दोष, तदयुक्तम्, तस्य भेदाऽसिद्धेः । तस्य हि भेद. अपोहभेदाद्, वासनाभेदात्, विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात्, विभिन्नकार्यकारित्वात्, आश्रयभेदात्, स्वरूपभेदाद्वा स्यात् ? न तावदपोहभेदात्; सर्व-प्रमेयादिशब्दानाम-पोहभेदाभावतः पर्यायताप्रसङ्गात् । न हि असर्वं सर्वराशेर्न्यैतिरिक्तम्, अप्रमेय वा किञ्चिदस्ति यदपोहेन सर्वादिक सिद्धयेत् । कथं वा सर्वं कृतकत्वादिहेतोः सिद्धिः ? न हि असदकृतकं वा जगति किञ्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वादिसाधनं सिद्धयेत् । अपोहभेदादपोहभेदे चान्योन्याश्रयं -सिद्धे ह्यपोहभेदे अपोहभेदसिद्धिः, तत्सिद्धौ चापोहभेद-सिद्धिरिति । तन्नापोहभेदादपोहस्य भेदः । नापि वासनाभेदात्, तद्भेदस्यैवाप्यनुपपत्तेः । अनुभवभेदनिवन्धनो हि वासनाभेदः, अपोहस्य चैकैरूपत्वे अनुभवभेदो दुर्घटः । नापि विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वादपोहभेदः, अस्य कल्पितरूपतया सामग्रीविशेषतः प्रादुर्भावस्यैवाऽनुपपत्तेः । यत् कल्पितरूपं तन्न कुतश्चित्प्रादुर्भवति यथा तुरङ्गमोत्तमाङ्गे शृङ्गम्, कल्पितरूपश्च भवन्तीते अपोह इति । ततस्तदुत्पत्तौ वा कल्पितरूपत्वव्याघातः । यत् कुतश्चिदुत्पद्यते तत्र कल्पितरूपं यथा स्वलक्षणम्, उत्पद्यते च सामग्रीविशेषतोऽपोह इति ।

(१) तुलना- ननु भेदादपोहानां प्रसङ्गोऽयं न युज्यते । सामान्यापोहकृत्पया चेद्वस्तुमात्रे समं तव ॥ भिद्यन्ते मम वस्तुत्वात्सामान्यानि परस्परम् । असङ्कीर्णस्वभावानि न चैकत्वं वितवते । समुप्येवत्वनानात्वविकल्परहिततात्मनाम् । अवस्तुत्वादपोहानां तव स्याद भिन्नता कथम् ॥"-मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४३-४५ । (२) अपोहस्य । (३) तुलना- 'अन्यापोहश्च शब्दाय इत्ययुक्तम्, अव्यापकत्वात् । यत्र द्वैराश्यं भवति तत्रतरप्रतिपधादितरं प्रतीयते यथा गीरिति पदे गी प्रतीयमानं अगी प्रतिपिष्यमानं । न पुनः सर्वपद एतदस्ति, न ह्यसर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत्सवपदेन निवर्त्यते ।'-न्यायवा० पृ० ३२९ । ननु चापोहभेदेन भेदोऽपोहस्य सेत्स्यति । न विशय स्वतस्तस्य परतश्चोपचारिकः ॥ ४७ ॥ प्रमेयज्ञयशब्दादेरपोहः कुत एव तु । -मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४७, १४४ । प्रमेयक० पृ० ४३४ । प्रमेयर० ३।१०१ । (४) तुलना- 'यद्यप्यन्येषु शब्देषु वस्तुनः स्यादपोहता । सच्छब्दस्य त्वभावाख्यानाऽपोहः भिन्नपिष्यते ॥"-मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९८ । (५) तुलना- 'अपोहभेदकल्पितश्च नाभावाऽभेदतो भवति । तद्भेदोऽपोहभेदाच्चेत् प्राप्तमन्योन्यसध्यम् ॥ गोसां मान्यस्य भिन्नत्वाद्गोरीत्ययं भिद्यते । अगीरित्यस्य च भेदेन गोसामान्यं च भिद्यते ॥'-मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६५-६६ । न्यायम० पृ० ३०४ । (६) तुलना- नचापि वासनाभेदाद् भेदः सद्रूपतापि वा । अपोहानां प्रकल्प्यत न ह्यवस्तुनि वासना ॥ स्मृतिं मुक्त्वा नचास्त्यस्या शक्तियोगक्रियान्तरे । तस्मान्नान्यादृशे साऽर्थं करोत्यन्यादृशी मतिम् ॥ भवदभिः शब्दभेदोऽपि तन्निमित्तो न लभ्यते ।'-मी० श्लो० अपोह० श्लो० १००-२ । प्रमेयक० पृ० ४३९ । (७) वासनाभेदस्य । (८) अभावरूपतया तुच्छकस्वभावत्वे । (९) अपोहस्य । (१०) अपोहो न कुतश्चित्प्रादुर्भवति कल्पितरूपत्वात् । (११) सीगतमते । (१२) कारणनामग्रीतः अपोहोत्पत्तौ । (१३) अपोहो न कल्पितः कारणादुत्पद्यमानत्वात् ।

१ विभिन्नसामग्रीप्रभवत्वात् नास्ति श्र० । २-भेदे वायो-व०, श्र० । ३ तद्भवस्याप्यनुभव-श्र० । ४-त्वावपोहभेदस्य कल्पि-व० । ५ प्रादुर्भावानुप-श्र० ।



एतेन विभिन्नकार्यकारित्वात्तद्भेद प्रत्याख्यात, अपरमार्थसतो विभिन्नकार्य-  
कारित्वानुपपत्ते रपुष्पवत् । तत्कारित्वे वाऽपरमार्थसत्त्वाऽसमवात् स्वलक्षणवत् ।  
कुतरच कार्यकारणयोर्भेद सिद्धो यत तद्भेदादपोहस्य भेद, सिद्धेत्—अपोहभेदात्,  
स्वरूपतो वा ? अपोहभेदाच्चेद्, अन्योन्याश्रय—सिद्धे हि कारणभेदे कार्यभेदे च  
तत्रभवतया तत्कारितया च अपोहभेदसिद्धि, तत्सिद्धौ च कार्यकारणयोर्भेदसिद्धि-  
रिति । स्वरूपतस्तद्भेदसिद्धौ च अपोहकल्पनाऽनर्थक्यम् ।

अथाश्रयभेदादपोहभेद, तन्न, अवस्तरूपस्यास्य कचिदाश्रितत्वानुपपत्ते ।  
यदवस्तरूप न तत् क्वचिदाश्रितम् यथा गगननलिनम्, अवस्तरूपश्चापोह इति ।  
आश्रितत्वे वा किमसा प्रतिव्यक्ति भिन्न, अभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्न, तदा  
द्रव्यगुणकर्मणा मध्ये अन्यतरूपतैवास्याभ्युपगता स्यात्, प्रतिव्यक्त्यन्यस्य आश्रि-  
तत्वानुपपत्ते । अथाभिन्न, तदा सामान्यरूपतैव नामान्तरेणोक्ता स्यात् इत्युभ-  
यथाप्यन्यापोहरूपतानुपपत्ति ।

अथ स्वरूपभेदादपोहस्य भेद, तन्न, अपरमार्थसत्त्वेऽस्य स्वरूपभेदानुपपत्ते ।  
यदपरमार्थसन्न तस्य स्वरूपभेद यथा रपुष्पस्वरविपाणादे, अपरमार्थसश्चापोह  
इति । स्वरूपभेदे वाऽस्य स्वलक्षणवत् परमार्थसत्त्वप्रसङ्ग ।

किञ्च, पर्युदासैरूप, प्रसज्यरूपो वाऽपोह स्वरूपतो भिन्न शब्दैरभिधीयेत ?  
यदि पर्युदासरूप, तदास्य भावान्तररूपताभ्युपगन्तव्या । भावान्तरश्च विशेष, सामान्यम्,  
तदुपलक्षितो वा विशेष, तत्समुदायो वा स्यात् इति पक्षचतुष्टयेऽपि विधिरेव शब्दार्थ  
स्यात् नाऽपोह । अथ प्रसज्यरूप, तदा निषेधमात्रमेव शब्दैरभिहितं स्यात्, तच्चायुक्त

(१) अपोहभेद । (२) अचक्रियाकारित्वे । (३) कायभेदात् । (४) भिन्नकारणप्रभवतया ।  
(५) भिन्नकायकारितया । (६) कायकारणयो भेदसिद्धौ । (७) तुङ्गा— तेनवाधारभेदानाप्यस्य  
भेदो न युज्यते । न हि सम्बन्धभेदन भेदो वस्तुयपीप्यते । किमुतावस्त्वससृष्टमन्यतद्धानिर्वातितम् ।  
अनवाप्तविशेषात् यत्किमप्यनिरूपितम् ।—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४८-४९ । (८) अपोहो न  
क्वचिदाश्रित अवस्तरूपत्वात् । (९) अपोह । (१०) अपोहरूपस्य सामान्यस्य आश्रयभूतानि  
द्रव्यगुणकर्मण्येव भवितुमर्हन्ति सामान्यस्य द्रव्यादित्रयवृत्तित्वात् । (११) अपोहस्य । (१२)  
अपोहस्य । (१३) नापोहस्य स्वरूपभेद अपरमाथसत्त्वात् । (१४) अपोहस्य । तुलना— यदा  
भिद्यमानत्वादस्त्वसाधारणाशयत । अवस्तुत्वे त्वनानात्वात्—मी० श्लो० अपोह० श्लो० ४६ ।  
वायम् पृ० ३०४ । (१५) किञ्चापोहाख्य सामान्य वाच्यत्वेनाभिधीयमान पयुदासलक्षणञ्चा-  
भिधीयत प्रसज्यलक्षण वा ?—प्रमेयक० पृ० ४३२ । प्रमेय० ३।१०१ । (१६) यथा घट पटात्  
स्वरूपतो भिन्न सन् भावान्तर—आ० टि० । तुलना— अगोनिवृत्ति सामान्यं वाच्यं य परिकल्पितम् ।  
गोत्व वस्त्वेव तैस्त्वतमगोपोहगिरा स्फुटम् ॥—मी० श्लो० अपोह० श्लो० १ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।  
(१७) तुङ्गा— नवयापोहकृच्छ्रदो युष्मत्पक्षज्जुवणित । निषेधमात्र नवेह प्रतिभासेऽजगम्यते ॥  
किन्तु गौगवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दत । विधिरूपावसायन मति शब्दो प्रवतते ॥ (पूर्वपक्ष)  
—तत्त्वसं० का० ९१०-९११ । प्रमेयक० पृ० ४३२ ।

तथाप्रतीत्यभावात् । परप्रतिपादनार्थो हि शब्दप्रयोग, परश्च नीलार्थी न अनीलनिषेधमात्र  
निज्ञासते, अनिज्ञासितञ्च प्रतिपादयत प्रतिपादकस्याऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गः ।

निषेधमात्राभिव्यक्तित्वे च नीलोत्पलशब्दयो सामानाधिकरण्यत्र प्राप्नोति,  
नीलशब्दो ह्यनीलव्यवच्छेदमात्रे चरितार्थ, उत्पलशब्दोऽपि अनुत्पलव्यवच्छेदमात्रे ।  
न चैतो व्यवच्छेदौ एकस्मिन् धर्मिणि सम्प्रद्वौ, भावाभांवयोस्तादात्म्यादिसम्बन्धा-  
सभवात् । नपि तौ शब्दौ एकधर्मिविधेयौ, षट्पटशब्दयोरिवाऽनयो एकधर्मिविषय  
त्वानभ्युपगमात् ।

किञ्च, नत्रेव पर्युदासवृत्ति प्रसज्यवृत्तिर्वा भवति, गौरिति च नाय नम्, अत  
कथमगोपर्युदासेन गोशब्दवृत्ति ? गौरयमिति विधिरूपेणैवास्य प्रवर्तमानत्वात् । तत  
सामान्यविशेषवानर्थ शब्दस्य विषयोऽभ्युपगन्तव्य अल प्रतीत्यपलापन । तस्यै च  
सङ्केतव्यवहारकालानुयायित्वप्रसिद्धे नर्तधम्भूते स्वलक्षणे सङ्केतकरणवैफल्यम् । भवत्क-  
ल्पितस्य तु स्वलक्षणस्य सुगतमतपरीक्षाया प्रपञ्चत प्रतिक्षिप्तत्वात् तत्रै तत्करण विफल-  
मेव । अतो य 'सङ्केतव्यवहारकालानुयायी' इत्यादि' सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम् ।

सम्बन्धश्च वाच्यवाचकयो उद्हाख्यप्रमाणेन प्रतीयते, सर्वत्र सम्बन्धप्रतीते-  
स्तद्दधीनत्वात् । अत 'अस्येदमभिधानमिति सम्बन्धकारिणि ज्ञाने प्रतिनियतेन्द्रियवि-  
षययो शब्दार्थयोर्न प्रतिभास' इत्याद्यर्थयुक्तमुक्तम्, सामान्यविशेषात्मनोरेव शब्दार्थयो  
प्रतिनियतेन्द्रियविषयतोपपत्ते, अत कथं तयो तत्कारिणि ज्ञाने प्रतिभासाभाव ?

ननु चातीतानागतार्थशब्दाना 'नचास्तीरे मोदकराशय सन्ति' इत्यादिशब्दानाञ्च  
अर्थाभावेऽपि प्रवृत्तिप्रतीते कथमर्थे प्रतिबन्धसिद्धिस्तेषाम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,

(१) भिन्ननिमित्तयो ऽदयोरेकस्मिन्धिकरण वत्ति सामानाधिकरण्यम -प्रमाणवा०स्ववृ०  
टी० १।६४ । तुलना- यस्य चान्यापोह ऽदायस्तेनानीलानुत्पलव्युदासौ कथं सामानाधिकरणाधिकित  
वक्तव्यम् । यस्य पुनर्विधीयमान ऽदायस्तस्य जातिगुणविनिष्ट नीलोत्पलान्दाभ्यां द्रव्यमभिधीयते  
जातिगुणो द्रव्यं वर्तते न पुनरनीलानुत्पलव्युदासो तस्मात् सामानाधिकरणार्थो नास्तीति । -न्यायवा०  
प० ३३१ । यायम० पृ० ३०५ । सामानाधिकरण्यञ्च न भिन्नत्वादपोहयो । अथतश्चतदिष्यत  
कीदृश्याधयता तयो ॥ न चासाधारण वस्तु गम्यतेऽन्यच्च नास्ति ते । अगम्यमानमकाप्य ऽन्यो  
व्योपयुज्यते ॥ -मी० श्लो० अपोहो० श्लो० ११८-१९ । अनेकान्तजय० प० ४० । प्रमेयक० प०  
४३६ । (२) धर्मा भावात्मक अभावात्मको च अनीलानुत्पलव्यवच्छेदौ । (३) नीलमुत्पलमिति  
ऽदौ । (४) सामानाधिकरण्यं हि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयो ऽन्यो एकत्रैव वत्ति -आ०टि० । (५)  
सामान्यविभाषात्मनोऽथस्य । (६) सामान्यविभाषात्मके । (७) सीगतकल्पितस्य । (८) पृ० ३७९ ।  
(९) क्षणिकस्वलक्षण । (१०) सङ्कतकरणम् । (११) पृ० ५५२ प० ९ । (१२) उद्हाख्यप्र  
माणायत्तत्वात् । (१३) पृ० ५५३ प० ४ । (१४) सङ्कतकारिणि । (१५) ऽब्दानाम् ।

1 जिज्ञासति व० । 2 विषयो षट्-आ० । 3-शब्दप्रवृत्ति व० ध० । 4-वास्य वत्त-आ० ।  
5 सकेतवक्-ध० । 6 प्रतिबन्धस्तेषा-ध० ।

यतो न वयं सर्वशब्दानामर्थनान्तरीयकत्वं प्रतिपन्नाः । किं तर्हि ? मुनिश्चितान्तप्रणेतृकाणामेव । न च कैषाञ्चिच्छब्दानामर्थव्यभिचारित्वदर्शनात् सर्वेषां तद्व्यभिचारित्वं युक्तम् ; मरीचिकादौ जलाद्यवभासिनोऽध्यक्षस्य अप्रामाण्योपलम्भात् सत्यजलाद्यवभासिनोऽप्यस्यैऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । मरीचिकादौ जलाद्यवभासिन एवास्याऽप्रामाण्यवाधकसद्भावान्तेतरस्य इत्यन्यत्रापि समानम् । तन्न प्रत्यक्षशब्दयोः परमार्थविषयत्वे कश्चिद्विशेषः ।

अतो निराकृतमेतत्—‘अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्’ इत्यादि । नहि प्रतिभासभेदो विषयभेदं प्रसाधयति, अभिन्नेऽप्यर्थे स्वसामग्रीविशेषात्तद्भेदस्योपपद्यमानत्वात् दूरासन्नार्थोपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत् । यथैव हि दूरासन्नदेशादिसामग्रीविशेषवशात् पादपादेरभिन्नस्यापि विभिन्नप्रतिभासविषयत्व तथा शब्द प्रत्यक्षप्रत्यययोरभिन्नविषयत्वेऽपि शब्देन्द्रियादिसामग्रीभेदाद् अस्पष्टेतरप्रतिभासभेदो न विरोधमध्यास्ते । अतः अन्धस्य चक्षुष्मतश्च अभिन्नेऽपि विषये सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदोपपत्तेः अयुक्तमुक्तम्—‘शब्दात्प्रत्येति भिन्नाज्ञो नतु प्रत्यक्षमीक्षते ।’ इति ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘वाच्यवाचकभावश्च कार्यकारणभावान्नान्यः’ इत्यादि, तदप्यचारुः ; यतः सति बुद्धिसम्बन्धिनि प्रतिविम्बे अंशय शब्दजन्यत्वात् तद्वाच्यत्व स्यात् शब्दस्य च तज्जनकत्वाद् वाचकत्वम्, न च तदस्ति, प्रागेवास्य प्रपञ्चतः प्रतिषेधात् । यदि च कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात् ; तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि शब्दः

(१) जना । तुलना—‘न हि वयं सर्वशब्दानां प्रामाण्य प्रतिपद्येमहि किं तर्हि मुनिश्चिताप्तप्रणेतृकाणामेव । तत्र प्रामाण्य प्रति प्रत्यक्षशब्दयोर्विशेषमुपलभामहे ।’—न्यायावता० टी० पृ० ६ । (२) अर्थाविनाभावित्वम् । (३) अनाप्तप्रणेतृकाणाम् । (४) जलज्ञानस्य । (५) तुलना—‘न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदात् विषयस्वभावाभेदाभावः, सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादौ उपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविकृष्टपुरुषयोर्ज्ञानाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् स्वभावभेद पादपस्य तत्सर्ववत्त्वाव्यतिरिक्तत्वात्, तथैव ग्राहकयोः प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोः भेदेऽपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेदः स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात् ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १२४ । “करणभेदेन प्रतिपत्त्योर्भेदात् । अन्धस्य हि शब्दाद्रूपविषय विज्ञानमुत्पद्यते न तु चाक्षुषमिति । यस्य चापरोक्ष चाक्षुष विज्ञानमस्ति असावनन्ध ।” —प्रश० ऋषो० पृ० ५८६ । “स्पष्टास्पष्टाकारतयाऽर्थप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदात् विरुद्धते दूरासन्नार्थोपनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत् ।” —प्रमेयक० पृ० ४४६ । स-मति० टी० पृ० २५९ । स्या० र० पृ० ७१५ । (६) प्रतिभासभेदस्य । (७) पृ० ५५३ प० १० । (८) पृ० ५५६ प० १५ । (९) बुद्धिगतप्रतिविम्बस्य । (१०) इयता कार्य वाच्य कारण वाचकमिति सिद्धम्—आ० टि० । (११) बुद्धौ प्रतिविम्बम् । (१२) शब्द निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य कारणम्, ‘नाकारण विषय’ इत्यभ्युपगमात् । तुलना—‘यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमान शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम् एव परम्परया स्वलक्षणमपि अतस्तदपि वाचकः स्यात् ।’—रत्नाकराव० ५।११ ।

स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणम् अतस्तस्याप्यसौ वाचकं स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्द कारणम् अत्र परैरम्पर्येण स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं स्यात् । अतः प्रतिनियतवाच्यवाचकमानव्यवस्थाविलोपः स्यात् । ततो यद्यत्र यथा निर्वाधवोच्ये प्रतिभासते तत्र तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा अन्तः सुखमाह्लादनाकारतया, प्रतिभासते च अवाधे शब्दे प्रत्यये सामान्यविशेषात्मकतया बहिर्घटादिकं वस्त्विति ॥ छ ॥

ननु सामान्यविशेषात्मकतया शब्दप्रत्यये बहिर्घटादिनस्तुन प्रतिभासमानत्र-  
शब्दस्य सामान्य मसिद्धम्, शब्दानां सामान्यमात्रगोचरचारितया तत्रैवभवप्रत्ययस्य  
मात्रवाचकत्वमिति तस्मात्प्रविपयताया एवोपपत्तेः । सामान्यमात्रमेव हि शब्दानां  
मीमांसकस्य पूर्वपक्ष - गोचर, तस्यै क्वचित् प्रतिपन्नस्य एकरूपतया सर्वत्र सङ्केतविपर्य-

(१) स्वप्रतिभासस्य-आ० टि० । (२) कारणं यतो भवमतन वाचकम् । (३)

शब्दस्वलक्षणाच्छब्दब्राह्मिनिविकल्पकं तस्माच्च सविकल्पकम् अथवा स्वलक्षणानिविकल्पकं तस्माच्च सविकल्पकमिति । (४) स्वलक्षणमपि कारणत्वाद्वाचकं स्यात् । (५) स्वलक्षणस्यावाचकत्वे प्रसक्तं । (६) शब्दे बोधे सामान्यविशेषात्मकतयैव अथ प्रतिभासति तत्र तथैव निर्वाधवोच्यप्रतीतिविपर्ययत्वात् । (७) तुलना- अनकमेकञ्च पदस्य वाच्यम् - बृहत्त्व० इलो० ४४ । अनकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् । -अन्ययो० इलो० १४ । (८) आकृतिस्तु क्रियात्वात् - जमिनिसू० १।३।३३- तु शब्दपक्षान्तरं व्यावर्तयति । आकृति शब्दाय -शाबरभा० १।३।३३ । आकृतिसंज्ञेन जातिरेवाभिप्रता मीमांसकं तथाहि- जातमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिरात्रियते यथा । सामान्यं तच्च विज्ञानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥३॥ तन्निमित्तञ्च यत्किञ्चित्सामान्यं शब्दगोचरम् ॥४॥ सामान्यमाकृतिर्जातिः सक्तिर्वा माग्निधीयताम् ॥१८॥ यद्यकमेव वस्त्वनकारार्थं तर्हि तादृगव शब्दोऽभिदधत सामान्यानाभिधायी न स्यादत आह-न चेति । न च तादृगं कश्चिच्छब्दं शक्नोति भाषितुम् ॥ ६३ ॥ सामान्यादानपोदृत्य पदं सर्वं प्रवर्तते । -मी० इलो० आकृति० इलो० ३४, १८, ६३ । 'पूव सामान्यविनायानात् चित्रबुद्धरनुदभवात् । सामान्ययति वाक्याच्च यथाश्चि परिग्रहत् ॥ गोशब्दोच्चारणं हि पूवमवागहीतामु व्यक्तियु सामान्यं प्रतीयते, तदा कारणानात्पत्ते पश्चाद् व्यक्तयः प्रतीयन्ते, अतश्चाकृतिप्रत्ययस्य निमित्तान्तराभावाद व्यक्तिप्रत्ययं च पूवप्रतीनसामान्यनिमित्तात्वात् आकृति शब्दाय इति विज्ञायते । यदि च व्यक्तयोऽभिधया भवेनुस्तं तादात्म्यं विश्वस्येत्तद्व्यक्तिप्रत्ययस्यैव प्रत्ययत्वं प्रवृत्तं स्यात् । एकाकारं तु उत्पद्यते । तेनाप्याकृति शब्दाय इति निश्चीयते । सामान्ययति चोदिते अथप्रकरणाभावे वा काश्चित् सामान्ययुक्ता व्यक्तिमानयति न सर्वा न विशिष्टाम् । यदि च व्यक्तेरभिधयत्वं तत सर्वासा युगपदभिहितत्वादसंपानयनं स्यात् । या वाग्निधया सर्वा आनीयत यतस्त्वविशेषणं जातिमात्रयुक्ता आनीयते तनापि सामान्यस्य पदायत्वं विनायते । -तन्त्रवा० १।३।३३ । आनन्यव्यभिचाराभ्यां गत्यनकत्ववोपेत । सन्नेहाच्चरमज्ञानान्वित्रबुद्धरभावात् । अन्यव्यतिरेकाभ्यामकल्पप्रतीतित । आकृतं प्रथमानानात्स्या एवाभिधयता ॥ व्यक्त्याकृत्योरभवाच्च व्यवहारोपयोगिता । लिङ्गसख्यादिसम्बन्ध सामान्याधिकरण्याधी ॥ सर्व समञ्जसं ह्यतद्वस्त्वनकान्तवादिन । -शास्त्रदी० १।३।३५ । सम्बन्धमदात्मत्वं भिद्यमाना गवादिपु । जातिरित्युच्यते तस्या सर्वे शब्दा व्यवस्थिता ॥ -वाक्यप० ३।३३ । (९) शब्दप्रभव-आ० टि० । (१०) सामान्यस्य-आ० टि० । (११) व्यक्तिविशेष । (१२) यावदनन्तास्वपि व्यक्तियु ।

१ शब्दप्रत्यय थ०, व० । २-विपर्ययता व० । ३ तस्य प्रति-आ० । ४-यतोपपद्यते व० ।

तोपपत्ते, न पुनर्विशेषां तेषामानन्वयत, कात्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषय-  
तानुपपत्ते । अथ यावतामुपलम्भ तावत्त्वेव सङ्केतक्रियोगम्यते, तर्हि विशेषा-  
न्तरेषु सङ्केताऽसम्भवात् शाब्दव्यवहारानुपपत्ति । न चाऽयोगिन प्रतिपत्तु प्रत्येक-  
मशेषविशेषोपलम्भ संकृत क्रमेण वा सम्भवति, अयोगित्वविरोधानुपपत्तात् । योगिनस्तु  
त्रिविधापन्नत्वात् तर्दुपलम्भो दूरोत्सारित एव । न चानुपलब्धेषु तेषु 'इदमस्य  
वाचकम्, इदञ्च वाच्यम्' इत्यभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षण सङ्केत सम्भवति,  
तदसम्भवे च शब्दश्रवणादर्थप्रतिपत्त्यनुपपत्ते सिद्ध शाब्दव्यवहारोच्छेद । ततस्तद्व्य-  
वहारमिच्छता सामान्यमात्रे सङ्केतोऽभ्युपगन्तव्य अतस्तदेव शब्दार्थ सिद्ध ।

किञ्च, जातिमद्विशेषशब्दार्थवादिना किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिमभिवचो,  
अनभिधाय वा ? न तावदभिधाय, जातिलक्षणविशेषणविशेषप्रतिपत्तावेव उपक्षीण-  
शक्तिरत्वेनास्य विशेष्याप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात् । उक्तञ्च—

“विशेष्य नाभिधायं गच्छत् क्षीणशक्तिर्विशपण ।” [ ] इति ।

नाप्यनभिधाय, विशेषमात्रप्रतिपादकत्वेन जातिमद्वाचकत्वाभावाऽनुपपत्तात् । न  
च सामान्यमात्रस्य अभिधानैरभिधाने विशेषाणामनभिधानात् प्रयोजनार्थिन शब्दात्प्र-  
वृत्तिर्न प्राप्नोति, प्रतिपन्नस्यापि तैत । तन्मात्रस्य प्रयोजनाप्रसाधकत्वादित्यभिधातव्यम्,  
तैप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या विशेषाणामपि प्रतिपत्तिसम्भवात् । प्रथमतो हि शब्दात्सा

(१) शब्दविषया इति सम्बन्ध । (२) न ह्यनन्तासु व्यक्तिषु सञ्चित्व शक्यतेऽवगन्तुम् ।—  
शास्त्रदी० १।३।३५ । (३) सङ्कृत-आ० टि० । (४) अशपव्यक्त्युपलम्भ हि सवज्ञत्वमेव स्यादिति  
भाव । (५) मीमांसको हि सवज्ञ न मनुते-आ० टि० । (६) तस्य व्यक्तीनामुपलम्भ । (७)  
विशपणु-आ० टि० । (८) अभिधानाभिधेयप्रतिपत्तिनियमलक्षणसङ्कृताभाव-आ० टि० । (९)  
शाब्दव्यवहार-आ० टि० । (१०) सामान्यत्व-आ० टि० । (११) उद्धतोऽयम-प्रश्न० व्यो० पृ०  
१९१ । काव्यप्र० पृ० ४४ । मुक्ताव० दिन० पृ० ३७३ । काव्यानु० पृ० २५ । अभिधा पदगक्ति  
विशेष्य न गच्छेत न प्राप्नोति । कुत इत्याशङ्क्यामाह-क्षीणति । क्षीणशक्तिर्विशपण इत्यनन्तर  
सदिति पूरणीयम् । तथा च यतो विशपण प्राप्य पदगक्ति क्षीणशक्ति क्षीणसामर्थ्या भवत्यतो  
विशेष्य नाभिधा गच्छत न प्राप्नुयादिति पयवसिताय । -रामरु० पृ० ३७३ । (१२) स मूर्खोऽ-  
थस्तत्र मूर्खो व्यापारो स्याभिधोष्यते । -काव्यप्र० पृ० ३९ । (१३) शब्दात्-आ० टि० । (१४)  
सामान्यमात्रस्य-आ० टि० । (१५) सामान्यप्रतिपत्त्यथानुपपत्त्या । 'न ह्यनभिधाय गोत्वमुपलक्षण  
गोव्यवृत्तावेव प्रयोगव्यवस्था लभ्यते । तच्चेदभिहित सिद्धमाकृतिशब्दाव्यवृत्तमिति । -तत्रवा० १।३।३३ ।  
'न ह्यनभिधाय जाति तज्जातीयत्वेन रूपेण व्यक्तिरभिधानु शक्यते । ततश्च विशिष्टाभिधानमेव  
वाचोयुक्त्यन्तरेणापन्न न गुद्धाभिधानम् । विशिष्टाभिधान च पूर्वतर विशपणमभिधातव्यम् । तदभिधान  
च तत एव अत्यन्ताविनाभूतव्यक्तिप्रतिपत्तिसिद्ध न तत्र अभिधानशक्तिरूपेणावसर ।'-शास्त्रदी०  
१।३।३५ ।

1 सह क्रमेण व० । 2-च्यमभिधा-प्र० । 3 शब्दार्थं प्रतिद्वयं थ० । 4-लक्षणप्रतिप-व० ।  
-लक्षणविशपणप्र-थ० । 5-रभिधानं वि-व० ।

मान्यमात्र प्रतीयते, पश्चात्तदन्यवानुपपत्त्या पिण्डरिशेषो लक्षणयो प्रतीयते निराधारस्य सामान्यस्य अश्वविपाणवदसमवात् । उक्तञ्च—

“स्वामिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।” [ तन्त्रवा० १।४।२३ ] इति ।

तैल्लक्षितगोपिण्डादिविशेषप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या तु बाह्यदोहादिप्रयोजनविशेष-

प्रतीतिः लक्षितलक्षणेति ॥३॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—सामान्यमात्रमेव हि शब्दाना गोचर इत्यादि,

तदसमीक्षिताभिधानम् ; सङ्केतानुसारेण शब्दस्य वाचकत्वोपपत्ते ।

शब्दस्य वस्तुभूतसा सङ्केतश्चास्य तद्वत्त्वेव प्रतिपन्नो न पुनः सामान्यमात्रे, प्रवृत्त्याद्यगो-

मन्यविशेषात्कार्य चरतया बाह्यदोहाद्यर्थक्रियाकारित्वत्रिलतया च केवलेऽस्मिन् शब्द-

व्यवहारासमभवत् सङ्केतप्रतिपत्तेर्निष्फलत्वात् । ‘एवविधाद्धि शब्दा-

देवविधोऽर्थ त्वया प्रतिपत्तव्यः, एवञ्जातीय के चार्थे शब्दोऽप्येवञ्जातीयक प्रयोक्तव्यः’

इति सदृशपरिणामापन्नयोरेव वाच्यवाचकयो सङ्केतयित्रा सङ्केतं प्रतिपाद्यो प्राहित ।

यदपि ‘विशेषाणामभिधेयत्वे आनन्त्यत कात्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया’ इत्या-

शुक्तम्, तदप्यसाम्प्रतम्, साध्यसाधनव्यक्तित्वत् सदृशपरिणामापन्नाना वाच्यवाचक-

व्यक्तीनामानन्त्येऽपि उद्दृशनेन कात्स्न्यत प्रतिपत्तु शक्यत्वात् । एतच्च शब्दार्थयो-

(१) आह च—तेन तल्लक्षितव्यक्त क्रियासम्बन्धचोदना । जातिव्यक्त्योरभेदो वा वाक्या-

र्थेषु विवक्षित ।”—शास्त्रदी० १।३।३५ । लक्षणाया स्वरूपम्—मुख्याधवावे तद्योग रुद्धितोऽथ

प्रयोजनात् । अयोऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥”—काव्यप्र० पृ० ४० । सा० २० । १।९ ।

‘वाच्यस्याधस्य वाच्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तित् । तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥’—प्रक०

वाक्यार्थ० पृ० १३ । (२) अभिधेयाविनाभूत प्रवृत्तिरुक्षणप्यत्—तन्त्रवा० १।४।२३ । उद्धृतोऽयम्—

‘अभिधेयाविना—काव्यप्र० पृ० ५० । प्रवृत्तिरुक्षणोच्यत—तीता० पृ० २०४ । पदार्थदी० पृ०

३१ । (३) सामान्यलक्षित । (४) ‘यत्र तु शक्याधस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितल

क्षणत्युच्यत । यथा द्विरेफादिपदे रफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायत, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे

ज्ञायते तत्र लक्षितलक्षणा ।’—मुक्ता० पृ० ३८९ । (५) पृ० ५६६ प० ७ । (६) सामान्यवति विधावे-

आ० टि० । (७) जातिमात्र हि सङ्कृताद व्यक्तेर्मान सुदुष्करम् ।”—शब्दश० का० १९ । (८)

तुलना—तत्र जातिरनर्थक्रियायोग्या । नहि जातिर्बाह्यदोहादो नवविधपि प्रत्युपस्थिता । न वा तादृ-

शप्रकरणाभावे लोकव्यवहाररूप शब्दप्रयोग । न जातिर्बाह्यदोहादिक कतु समर्था । ततश्च बाह्यदोहा

द्यनिनो जातिचोदना निष्कलेति न तदय शब्दप्रयोग । यापि स्वप्रतिपत्तिलक्षणाऽवक्रिया जातेरुप

वण्यते न तदयम्रूप प्रवर्तते शब्दप्रयोगादेव तस्या सिद्धत्वात् । जातिमात्रप्रतिपत्त्यथ शब्दप्रयोगो

भविष्यतीति चेदत् आह—नवेत्यादि । तादृशमिति बाह्यदोहादिप्रकरण निष्कृतस्य शब्दप्रयोगस्योपेक्षणी

यत्वादित्युक्तत्वात् । जातो च बाच्याया सत्या गामानयत्यत्र वाक्ये न वाक्यायप्रतीति स्यात् गोत्वस्य

क्रियात्वेऽचयानावात् ।—प्रमाणवा० स्व०, टी० १।९५ । न खलु सर्वात्मना सामान्य वाच्य तत्र

तिपत्तः अयत्रिया प्रत्यनुपयोगान् । न हि गोत्व बाह्यदोहादावुपयुज्यते ।—अष्टश०, अष्टसह० पृ०

१३९ । तत्वाथश्लो० पृ० १०२ । (९) पृ० ५६७ प० १ ।

नित्यसम्बन्धनिषेधे<sup>१</sup> अपोहप्रतिषेधे च प्रपञ्चितमित्युपरम्यते । तथा च 'न चायोगिन प्रतिपत्तु प्रत्येकमशेषविशेषोपलम्भ. सकृत् क्रमेण वा सम्भवति' इत्यादि<sup>३</sup> प्रत्युक्तम्, अयोगिनोपि अशेषविशेषाणामुक्तविधिनोपलम्भसम्भवप्रतिपादनात् ।

यदप्युक्तम्—'किं जातिमभिधाय शब्दो व्यक्तिसमिधत्ते' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, जातितद्गतोर्युगपदेव एकत्र ज्ञाने प्रतिभाससम्भवात् । नचैकज्ञानविषयत्वे विशेषणविशेष्यभावप्रतिनियमो न स्याद्, विपर्ययो वा स्यात् विशेषणस्यापि विशेष्यरूपतानुपङ्गादित्यभिधातव्यम्, दण्डपुरुषयोर्युगपदेकत्रापि ज्ञाने प्रतिभासमानयो विशेषणविशेष्यभावप्रतिनियमप्रतीते । तत्र प्रतिभासाविशेषेऽपि हि येन विशिष्टं यत् प्रतीयते तद्विशेषणम् इतरद् विशेष्यम् । न खलु दण्डादे पुरुषे विशिष्टप्रतीतिजननादन्यद् विशेषणत्व सम्भवति । यथा च चाक्षुषे ज्ञाने दण्डपुरुषयो विशेषणविशेष्यभावापन्नयोर्युगपत्प्रतिभासमानत्वात् तत्र प्रतिनियमाविरोध. तथा दण्डीतिशब्देऽपि । नैहत्र दण्डमात्र पुरुषमात्र वा प्रतिभासते, विशेषणविशेष्यभावापन्नस्य युगपदुभयस्य प्रतिपादनात् । अतो दण्डशब्दात् दण्डविशिष्ट पुरुषो यथा प्रतिभासते तथा गोशब्दात् गोत्वविशिष्ट पिण्ड इति प्रतिपत्तव्यम् । अथ गोशब्दश्रवणात् शाबलेयादिविशेषाऽप्रतीतेर्न विशेष शब्दार्थ, तन्न, तद्विशेषाप्रतीतावपि सामान्ययुक्त ककुदादिमान् विशेषो गोशब्दात् प्रतीयत एव शाबलेयादिविशेषास्तु तदुक्ता शाबलेयादिशब्देभ्य प्रतीयन्ते । नचैतावता सामान्यमेव शब्दार्थो युक्त, प्रधानोपसर्जनभावेन उभयो प्रतिभासनात् । 'गामानय' इत्यादि-

(१) पृ० ५५० प० ११ । (२) पृ० ५६४ प० १४ (३) पृ० ५६७ प० ३ । (४) उक्तविधिना उक्तप्रमाणन (ऊहाख्यन) —आ० टि० । (५) पृ० ५६७ प० ९ । (६) तुलना— प्रत्यक्ष तावद द्वयोरपि विगणविशेष्ययोरिति द्वयविषयत्व सामान्य हि सयुक्तसमवायादिद्वय प्रवतमान विगणवद्वि शेष्यमपि विषयीकरोति । न हि सामान्य प्रत्यक्ष विगणोऽनुमेय इति व्यवहार । एव मुणत्वग्राहिणी द्वये गुणिनोऽनुमेयत्व स्यात् नचवमस्ति । तस्माद् विगणपयन्त प्रत्यक्ष तथा पदमपि तत्तुल्यविषय न तु सामान्यमात्रनिष्ठमिति युक्तम् यथा विध्यन्तपयन्तो वाक्यव्यापार इष्यते । तत्र व्यक्तियन्त पद व्यापार इष्यताम् । —'न्यायम० पृ० ३२४—२५ । (७) दण्ड एव विगण पुरुष एव च विगण्यमिति । (८) एकत्र ज्ञान प्रतिभासमानाऽपि । (९) दण्डयुक्तोऽयमिति । (१०) गब्ध गाने । (११) तुलना— अथ गोशब्दश्रवणाच्छाबलेयादिविशेषाप्रतिपत्तन विगण शब्दात् सत्यम् किं तर्हि ? सामान्ययुक्तोऽथ प्रतीयते न शाबलेयादिविशेष मत्र शाबलेयादिशब्देभ्य एव प्रतीयत इति नचतावता सामान्यमेव शब्दात् प्रधानोपसर्जनभावोभयो प्रतिभासनात् । तथा गामानयत्यादिप्रयोगेषु सामान्यत्वतोऽप्यस्य आनयनादिकृत्या सम्बन्धात् । —प्रज्ञ० व्यो० प० १९२ । (१२) शाबलेयादिरूपस्य विशयस्य अप्रतिभासनाऽपि । (१३) गोत्वविगण्टा । (१४) तुलना— व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदाय । तुगब्धो विशय गण्य किं विशिष्यते । प्रधानाङ्गभावस्यानियमन पदाथत्वमिति । यदा हि भदविवक्षा विगोपावगतिश्च तदा व्यक्तिय प्रधानम् अङ्ग तु जात्याकृती यदा तु भदोऽविवक्षित सामान्यगतिश्च तदा जाति प्रधानम् अङ्ग तु व्यक्त्याकृती । तदेतद् बहुल प्रयोगेषु । आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रक्षितव्य । —'न्यायभा० २।२ ६७ । न्यायभा० पृ० ३२९ । 'न्यायम० पृ० ३२५ ।

१—मित्युच्यते व० । २ युगपत्तदुभयस्य व० थ० । ३ अशाबले—थ० ।

प्रयानोर्षु सामान्यवतोऽर्थस्य आनयनादिक्रियाभिसम्बन्धप्रतीतिश्च तद्वानेव शब्दार्थ ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘विशष्य नामिधा गच्छत’ इत्यादि, तदप्यपेक्षलम्, ‘विशेषण प्राक् प्रतिपाद्य पुनर्विशेष्य शब्द प्रतिपादयति’ इति विरम्य व्यापारानभ्युपगमात्, युगपदेवास्त्वे विशेषणविशेष्यप्रतिपादनव्यापारप्रदर्शनात् । क्षीणशक्तित्वञ्चार्थ्याऽनुपपन्नम्, शक्ते कार्यानुमेयत्वात्, विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तिलक्षण हि कार्यमुपलभ्यमानं तत्रार्थं शक्तिमनुमापयति । भिन्नज्ञानालम्बनयोश्च विशेषणविशेष्यत्वे इदं चोद्य स्यात्, न त्वेकज्ञानालम्बनयो । भवतोऽपि चैतच्छोद्य समानम्—उपलब्धस्य हि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्व स्यात्, अतः स्वतन्त्रप्रतिपत्तावेवार्थं क्षीणशक्तित्वात् सामान्यलक्षणाऽर्थप्रतिपादकमपि न स्यादिति लाभमिच्छतो मूलोच्छेद स्यात् ।

अथ सामान्यप्रतिपत्तेर्दृष्टत्वान्न तत्रैस्य शक्ते प्रक्षय तर्हि विशेषणविशेष्यप्रतिपत्तेरप्यतो ३ दृष्टत्वात् कथं तत्राप्यर्थै तत्रैक्षय स्यात् ।

यत्प्यभिहितम्—‘तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, यतो यदि शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते तर्हि व्यक्तं किमायात् येन तंता लक्षयति ? अथ

(१) तुलना—अप्य तु प्रथमेव गा देहीयेवमादिषु । तद्वतोऽधिक्रियायोगात्तस्यबाहु पना यताम् ॥ —पाप्यम० प० ३२३ । (२) सामान्यविणपवान आ० टि० । (३) प० ५६७ प० १२ । (४) तुलना—प्रथम जातिमात्रमवबोधघापयवसानादनन्तरं विशपमवबोधन्ति किं वाऽन्तर्भावितविशपामेव जातिम् ? नाथ पदबुद्धयो विरम्य व्यापाराभावात् । चित्सु० प० २६३ । शब्दबुद्धिकमणा विरम्य व्यापाराभाव इति वादिभिरेव । सा० ६० परि० ५ । (५) शब्दस्य । (६) शब्दस्य । तुलना—ननक्त क्षीणशक्तित्वविशपणति विणप्य नामिदध्यात इति तावच्छक्ते कायविपयवात् । कायञ्च विणपणप्रतिपत्तित्वत विशप्यप्रतिपत्तिलक्षणमुपलभ्यमानं शक्तेव्यवस्थापकम् । अथ कायस्य बाभाव ह्ययात् स च व त्वाण स्वसवदनमपि बाधते विशप्यप्रतिपत्तं सवेदनात् । —प्रश० व्यो० प० १९२ । (७) विणपणविणप्योभयप्रतिपत्ती । (८) शब्दस्य । (९) मोमासकस्यापि । तुलना—समानञ्चतद उपलभ्यमानस्य शब्दस्य अथप्रतिपादकवाभ्युपगमात्, स्वामप्रतिपत्तौ च क्षीणवात् सामान्यप्रतिपादकत्व न स्यात् । प्रश० व्यो० प० १९२ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यप्रतिपत्तौ शब्दस्य । (१२) शब्दस्य । (१३) शब्दस्य । (१४) शक्तिप्रक्षय । (१५) पृ० ५६७ प० १६ । (१६) तुलना—व्यक्तेरशब्दचोदनवात् लक्षितलक्षणया जातिरुच्यते इति चतः अनादचोदिने सम्बन्धस्यपि कथं प्रवर्तते ? न हि कश्चित् दण्ड छिन्धीत्युक्ते दण्डिन छिनत्ति । लक्षितलक्षणत्यादि परः । सप न सामान्यमर्थक्रियाकारि किन्तु व्यक्तितरेव केवल व्यक्तेरशब्दचोदनवात् कारणात् सामान्य नियन्तः शब्द सामान्य लक्षयति । तेन सामान्यन शब्दलक्षितेन सम्बन्धात् व्यक्तेरपि लक्षयति इति न हि यागान्दुर्चरिताद् गोच प्रतीयते अपि त गौरवावसीयते । न नामध तयाप्युच्यते । अशब्दचोदि तेत्यादि । यदि नाम जातितद्गतोऽस्मन्ध तयापि अशब्दचोदित व्यक्तिविणप्य कथं प्रवर्तते ? नव । दण्डदण्डिनोस्तप्यपि सम्बन्ध न हि कश्चि प्रक्षापूर्वकारी दण्ड छिन्धि इत्युक्ते दण्डिन छिनत्ति अशब्दचोदितवात् । तथा जातो चोदितया व्यक्तौ प्रवर्तित युक्ततप्य । —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११५ । लक्षितलक्षणया वृत्तिरनादात्म्य न भवत सम्बन्धान्तरासिद्ध कामकादिवत् । —अष्टा० अष्टसह० प० १३९ । तत्त्वापदलो० प० १०२ । किञ्च यदि नाम शब्दाञ्जानि प्रतिपत्ता व्यक्ते किमायात् यनाथी ता गमयति । प्रमेयक० प० ४१२ । (१७) सामान्य ता व्यक्तित्म् ।

१ शब्दस्य तदप्य—आ० । ३ शब्दसामान्य—व० ।



व्यक्त्या सह तस्य सम्बन्धसद्भावात् ततस्तत्प्रतीयमानं तां लक्षयति; कः पुनस्तस्यै-  
स्तेन सम्बन्धो नाम-संयोगः, समवायः, तदुत्पत्तिः, तादात्म्यं वा ? न तावत्संयोगः,  
अद्रव्यत्वात् । नापि समवायः; अपिसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तदुत्पत्तिरपि अर्त एवानुपपन्ना ।  
तादात्म्याभ्युपगमे तु सामान्यविशेषयोः तादात्म्यापन्नयोः एकस्मादेव गवादिशब्दात्  
विशेषणविशेष्यरूपतया प्रतीयमानयोः कथमेकस्यैव शब्दार्थत्व वक्तुं युक्तम्, अप्रामा-  
णिकत्वप्रसङ्गात् ?

किञ्च, अनयोस्तल्लक्षणः सम्बन्धः शब्दप्रयोगकाल एव प्रतिपन्नः, पूर्वं वा ? न  
तावत्तत्काल एव; व्यक्तेः शब्दोच्चारणकालेऽप्रतीतेः, प्रतीतौ वा किं लक्षणया ? तर्काले  
तत्प्रतीतिश्च किं प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, शब्दादेव वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षतः; देशकाल-  
स्वभावविकृष्टायाः व्यक्तेः इन्द्रियसम्बन्धाभावतस्तत्प्रभवप्रत्यक्षेण प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।  
नाप्यनुमानतः; तदप्रतिबद्धलिङ्गाऽदर्शनात् । शब्दादेव तत्प्रतीतौ तु सिद्ध व्यक्तेरपि  
शब्दार्थत्वम् । अथ पूर्वं जातिव्यक्तयोस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः प्रतिपन्नः; यदि नाम  
तदा तयोरसौ दृष्टो नैतावता सर्वत्र सर्वदा तयोस्तेन भाव्यम्, अन्यथा पटस्य शुक्लरू-  
पेण क्वचित् कदाचित्तादात्म्यदर्शनात् सर्वत्र सर्वदा तर्थाभावः स्यात् ।

अथ जातेरिदमेव स्वरूपं यद् व्यक्तिनिष्ठता; ननु किं सर्वसर्वगतायास्तस्यास्तद्रूप  
स्यात्, व्यक्तिःसर्वगताया वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; व्यक्त्यन्तराले तदभार्थप्रसङ्गात्  
तत्र तद्रूपस्यासम्भवात् । व्यक्तिःसर्वगतायास्तु तस्याः तद्रूपोपगमे व्यक्तिवजातेरप्यनेक-  
त्वप्रसिद्धेः उभयोरविशेषतः शब्दार्थत्वं स्यात्, न वा कस्यचित् । अस्तु वा अविचारित-  
स्वरूपायास्तस्यैस्तन्निष्ठस्वभावता; तथाप्यसौ 'सर्वत्र सर्वदा व्यक्तिनिष्ठा' इति प्रत्यक्षतः  
प्रतीयेत, अनुमानतो वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्; किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः;

(१) सामान्यस्य । (२) शब्दात् । (३) व्यक्त । (४) द्रव्ययोरेव संयोगात्, संयोगस्य  
गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । (५) न हि मीमांसका समवायं स्वीकुर्वन्ति । (६) अपसिद्धान्तप्रसङ्गादथ,  
नहि शब्दार्थयो परस्परमुत्पाद्योत्पादकभावः । (७) सामान्यव्यक्त्यो । तुलना-“सम्बन्धस्तयोस्तदा  
प्रतीयते पूर्वं वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४१२ । (८) शब्दोच्चारणसमयः । (९) तादात्म्यलक्षण  
सम्बन्धप्रतीतिः । (१०) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नः । (११) सामान्यव्यक्तयोस्तादात्म्यस्य प्रतीतौ ।  
(१२) न हि व्यक्त्यनधिगतावपि तन्निष्ठ सम्बन्धो ग्रहीतुं शक्य इति । (१३) पूर्वम् । (१४)  
सम्बन्धेन । (१५) शुक्लतादात्म्यम् । (१६) जाते यद् व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपमुक्तं तस्य अभाव-  
प्रसङ्गात् । (१७) व्यक्त्यन्तराले । (१८) व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपस्य असभाव्यमानत्वात् । व्यक्त्य-  
भावे हि न व्यक्तिनिष्ठतास्य स्वरूपं सिद्धयति, अतश्च स्वरूपाभावात् स्वरूपवत् सामान्यस्याप्यभावः ।  
(१९) जाते । (२०) व्यक्तिनिष्ठतास्यस्वरूपस्वीकारे । (२१) जाते । (२२) व्यक्तिनिष्ठः ।  
(२३) जाति-आ० टि० । तुलना-“किञ्च, सर्वदा जातिव्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयेत अनुमानेन  
वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४१२ ।

1-विषयोस्ता-आ० । 2-तादात्म्यापन्नविशेषयो थ० । 3-तावता सर्वदा थ० । 4-वचि-  
त्कतादा-आ० । 5-सर्वदा भाव व० । 6-तद्भावप्र-आ०, थ० । 7-स्य सम्भवात् थ० । 8-सम्भवं आ० ।

निखिलव्यक्तीना युगपदप्रतिपत्तौ जातेस्तन्निष्ठतया युगपत्प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयपक्षे तु निरर्थधेर्व्यक्तिपरम्पराया युगसहस्रेणापि क्रमेण प्रतिपत्त्यभावतः तस्यास्तन्निष्ठतावसाय-समघोऽतीव दुर्घट । तन्न प्रत्यक्षत तस्यास्तन्निष्ठताधिगमो युक्त । नाप्यनुमानत, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेनास्य भवताऽभ्युपगमतस्तदभावे तस्यापि तत्राऽप्रवृत्ते, तस्यास्तन्निष्ठतयाऽविनाभाविलिङ्गासम्भवाच्च । तत शब्दस्य सामान्यवाचकत्वे व्यक्तिवाचकत्वानुपपत्तिरेव ।

किञ्च, सामान्ये सङ्केतित शब्द तदभिधत्ते, असङ्केतितो वा ? न तावद-सङ्केतित, अतिप्रसङ्गात् । अथ सङ्केतित, किं प्रतिपन्ने सामान्ये तत्सङ्केत स्यात्, अप्रतिपन्ने वा ? यद्यप्रतिपन्ने, अतिप्रसङ्ग । अथ प्रतिपन्ने, कुतस्तत्प्रतिपत्ति ? न तावत् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्, नित्यादिस्वभावसामान्यग्राहकत्वेन अनयो सामान्यपरीक्षावसरे प्रेतिक्षिप्तत्वात् । शब्दैकप्रमाणसमधिगम्यत्वे तु अनवस्थेतरतराश्रयदोषानुपपन्न । तथाहि—यदि य एव शब्द सामान्ये सङ्केत्यते तत एव तत्प्रतिपत्ति, तदा इतरेतराश्रयः—प्रतिपन्ने हि सामान्ये तत्रार्थं सङ्केतसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत. सामान्यप्रतिपत्तिरिति । शब्दान्तरान्तु तत्सिद्धौ अनवस्था, तस्यापि हि शब्दान्तरस्य प्रतिपन्ने सामान्ये सङ्केतो भविष्यति, तत्प्रतिपत्तिश्च अन्यस्मान्छब्दान्तरादिति । यदि च शब्दात्सामान्यमेव प्रतीयते, तदा शब्दमप्रमाणमेव स्याद् गृहीतप्राहित्वात्, शब्दार्थयो सम्यन्धग्राहिणैव हि प्रमाणेन सामान्य गृहीतमिति ।

किञ्च, शब्दान्निर्विशिष्ट सामान्य प्रतीयमान पुरुष प्रवर्त्तयति, विशिष्ट वा ? न तावन्निर्विशिष्टम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ विशिष्टम्, किङ्कृतस्य वैशिष्ट्यम्—विशिष्ट-व्यक्तितादात्म्यकृतम्, तत्रैवं तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अस्येदमिति प्रतीतिकृत वा ? तत्रापक्षोऽनुपपन्न, तस्य स्वकीयसकलव्यक्तिभि सह तादात्म्यसद्भावतो विशिष्टव्यक्तावेव तादात्म्यानुपपत्ते । अथ स्वकीयाखिलविशिष्टव्यक्तितादात्म्यकृतमेव अस्य वैशिष्ट्यमुच्यते, नन्वेव सर्वत्र तद्व्यक्तौ पुरुषस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् प्रतिनियतद्व्यक्तौ प्रवृत्त्यभाव स्यात् । न च गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ क्वापि व्यक्तौ प्रवृत्तिरुपपद्यते, तस्या सर्वथाऽप्रतिर्षन्नत्वात् । यस्मिन् प्रतीयमाने यत् सर्वथा न प्रतीयते न तद्व्यतीतितस्तत्र प्रवृत्ति यथा जलप्रती-  
५ तितोऽनले, गोशब्दाद् गोत्वमात्रप्रतीतौ न प्रतीयते च खण्डादयो व्यक्तिविशेषा इति ।

(१) अनन्ताया । (२) जाते । (३) मीमांसकादिना । (४) प्रत्यक्षाभावे । (५) अनुमानस्यापि । (६) जातव्यक्तिनिष्ठत्वबोधन । (७) जाते । (८) प्रत्यक्षानुमानयो । (९) पृ० २८५ । (१०) शब्दस्य । (११) सामान्यमिदो । (१२) भूयोदशनादिना । (१३) यदेव हि शब्दासम्बन्धग्रहणकाले सामान्य गृहीत तदेव शब्दोच्चारणकालोऽपि—आ० टि० । (१४) सामान्यस्य । (१५) विणिष्टव्यक्ताव । (१६) सामान्यस्य । (१७) व्यक्ते—आ० टि० । (१८) गोत्वसामान्यमात्रस्य प्रतिपन्नत्वात्—आ० टि० । (१९) शब्दाद् गोत्वप्रतीतावपि न दाबलयादिषु प्रवृत्ति तत्प्रतीतावपि तेषा सवथाऽप्रतिपन्नत्वात् ।

अथ गोशब्दाद् गोत्व प्रतीयमान गोव्यक्तिसम्बद्धमेव प्रतीयते, कथमेव सामान्य-  
मेव शब्दार्थ स्यात् ? विशेषणविशेष्यभावापन्नयो सामान्यविशेषयो तर्तं प्रतीते ।  
ननु गोशब्दात्साक्षाद् गोत्वमेव प्रतीयते, व्यक्तिस्तु तदन्यथानुपपत्त्यैव प्रतीयते इति  
तदप्यसुन्दरम्, एव जातेरेव शब्दार्थत्वमायात व्यक्तेस्तु प्रमोणा-तरगम्यता, तथा च  
शब्दस्य लक्षणया विशेषप्रतिपादकत्व दुर्घटम् । अथ शब्दस्यैव अयमान्तरो व्यापार  
यत् सामान्य प्रतिपाद्य त्वन्तिपत्तिसहकारी व्यक्तिमपि गमयति लक्षणयेति, तदसाम्प्रतम्,  
यतो यत्रैव सम्बन्धस्मरणसहकारी शब्द प्रवर्तते स एव तस्यार्यो न पुनस्तदर्थविना  
भावित्वेन यद्यत्प्रमोणा-तरत प्रतीयते तत्तत्सर्वं शब्दोदरे प्रभेदव्ययम्, अन्यथा प्रत्यक्ष-  
सिद्धधूमान्यथानुपपत्त्या सिद्धो वह्नि प्रत्यक्षसिद्ध एव स्यात् । तन्न विशिष्टव्यक्तितादा  
त्म्यकृतमस्यै वैशिष्ट्य घटते ।

नापि तत्रैव तत्प्रवृत्तिहेतुत्वकृतम्, अ-यो-याश्रयानुपद्वात् । तथाहि-सामान्यस्य  
विशिष्टत्वसिद्धो सत्या विशिष्टविशेष्येन प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धि तस्याञ्च सत्या सामान्यस्य  
विशिष्टत्वसिद्धिरिति ।

तृतीयपक्षे तु चक्ररुमासज्यते-सिद्धे हि सामान्यस्य वैशिष्ट्ये विशिष्टविशेष्येपु प्रतीति  
हेतुत्वसिद्धि, तस्या सत्याम् 'अस्येदम्' इति प्रतीतिसिद्धि, तस्याञ्च सत्या तस्य वैशिष्ट्य  
सिद्धिरिति । तत् प्रमाणतो वस्तुव्यवस्थामिच्छता यद् यथा यत् प्रतिभासते तत् तस्य  
सदृशेतररूपतया विषयोऽभ्युपगन्तव्यम् यथा चक्षुरादिप्रत्ययस्य नीलादिरूपतया प्रति  
भासमान रूपादि, गवादिशब्दात् प्रतिभासते च गवात्कि वस्तु, तस्मात्तदेव तच्छब्दानां  
विषय, न पुन सामान्यमात्रमिति ॥७॥

एतेन विधिरेव वाक्यार्थ इति विधिवादिर्मतमप्यपास्तम् । ते हि ब्रुवते-विधि  
रव वाक्यार्थ अप्रवृत्ताप्रवर्तनस्वभावत्वान्तास्यै । तदुक्तम्-“विधौ  
विधिवाद विविधपूर्व  
पक्षे  
विधिमेतावदप्रवृत्तप्रवृत्तनम् ।” [ ] इति । तल्लक्षणे च विधौ  
वादिना विप्रतिपत्ति, तथाहि-वाक्यरूप शब्द एव प्रवर्तकत्वाद्

(१) शब्दात् । (२) अर्थापत्ति-आ० टि० । (३) गब्दन हि सामान्य गहीत विशेषस्त्वर्था  
पत्या कि लक्षणया ?-आ० टि० । (४) सामान्यप्रतिपत्ति । (५) सङ्गतस्मरण । (६) अर्था  
पत्तेरनुमानादा । (७) सामान्यस्य । (८) अस्येदमिति प्रतीतिकृत वा इति तृतीय विकल्पे । (९)  
विधि । (१०) अनुपपत्त्ये हि विषय विधि पुसा प्रवक्तक । -मो० श्लो० वाक्या० श्लो० २७४ ।  
तत्राज्ञातायनापको वदभागा विधि । -अथस० पृ० २९ । प्रवक्तकचिकीर्षाया हेतुधीविषयो विधि ।  
-शब्दश० का० १०१ । यो हि विध्यधन लिङा लोटा कृयर्वाङ्पूर्वोपदेग कियत स विधि । -युक्ति  
वी० पृ० २० । (११) ननु चाह विधिलक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवृत्तनम् । अतिप्रसङ्गदोषण नाज्ञातज्ञान  
विधि ॥ -न्यायम० पृ० ३४० ।

१ प्रतीयत एव व्य-श्र० । २-सहकारि व्य-ब० थ० । ३ तदप्यसा-थ०, व० । ४ प्रतिक्षप्तव्यम  
ब०, थ० । ५ तत्रैव प्रवृ-ब० थ० । ६-हेतुत्वसिद्धिरिति तृतीय-ब० । ७ तस्याञ्च सत्या तत्रैव तस्य  
प्रवृत्तिहेतुत्वसिद्धिरिति आ० । ८-मतमपास्तम् व० । ९ विधिलक्ष-ब० ।

विधिरित्येके । तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिरित्यन्ये । नियोगरित्यपरे । प्रैपादय इत्येके । तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्चनामात्रम् इत्यन्ये । प्रवर्त्तकत्वात् फलमेव इत्यपरे । फलाभिलाष एव इत्येके । कर्मैव इत्यन्ये । आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धावगम इत्यपरे । श्रेय साधनत्वाख्यधर्म इत्येके । उपदेश इत्यन्ये । कर्त्तव्यताप्रतिपत्तिरेव इत्यपरे । प्रतिभैर इत्येके । भक्तिरेव इत्यन्ये । इच्छैव इत्यपरे । प्रयत्न एव इत्येके इति ।

तत्र शब्दविधियादिनो ब्रुवते—अन्वयव्यतिरेकाभ्या प्रवर्त्तस्त्वमवधार्यते, तौ च अन यथासिद्धो शब्दस्यैव प्रवर्त्तकत्वमवगमयत, अत स एव विधि । अर्थस्य विधित्वे “क्रियाया प्रवर्त्तक वचनम्” [ शाबरभा० १।१।२ ] इति विरुध्यते । प्रवर्त्तकार्थ-प्रतिपादनद्वारेण वचनस्य प्रवर्त्तकत्वे च औपचारिक प्रवर्त्तकत्वमस्य स्यात्, मुख्यश्च वस्तु वृत्त्या तत्रै तद्व्यवस्थितम् इत्यर्थनिरपेक्षमेवास्यं तत्प्रतिपत्तव्यम् । व्यापारातिशयप्रवर्त्तकत्वपक्षेऽपि न शब्दस्य मुख्यप्रवर्त्तकत्वस्ति, व्यापारातिशयसमाश्रयणेनैव सर्वस्य साध्यवस्तुसम्पादकत्वात् । न खलु काष्ठादीना ज्वालाद्यवान्तरव्यपारावलम्बनेऽपि पाके मुरय कारकत्वाभिधान विरुध्यते । प्रवर्त्तकत्वञ्च यद्यपि सामान्येन शब्दस्योच्यते तथापि लिङ्गलोटतन्वयप्रत्ययान्तस्यैव तद् युक्त शब्दान्तराणा प्रवृत्तिहेतुत्वाऽदृष्टेः ।

अत्रान्ये” शब्दस्य विधित्त्वमसहमाना ‘प्रमाणत्वात्, अनियमात्प्रवृत्ते, सधिदा श्रयणीत्’ इत्यादियुक्तिविरोध दर्शयन्ति । . . .

(१) भाट्टा । (२) प्राभाकरा ।

शब्दस्य । (५) शब्दे । (६) प्रवर्त्तकत्वम् । (७) शब्दस्य । (८) प्रवर्त्तकत्वम् । (९) पञ्चमी-आ० टि० । पञ्चमो लकार इत्यय । (१०) लोट सप्तमी-आ० टि० । सप्तमो ङकार इत्यय । (११) मण्डनमिश्रादयः । (१२) प्रमाणत्वादनियमात्प्रवृत्त सविदाश्रयात् । समभिव्याहृते शब्दान विधि कायकल्पनात् ॥—विधिवि० पृ० ५ । तत्र शब्द स्वरूपेण धायुवृत्तप्रवर्त्तक । प्रमाणत्व विहायत नियमाच्च प्रवर्त्तयत् ॥—न्यायमु० पृ० २६ । (१३) प्रमाण हि शब्द प्रतिज्ञायते, बोधकञ्च प्रमाणम् तत्र प्रवृत्तिहेतु कञ्चनार्थातिशयमवगमयत शब्दश्चोदनात्वेन प्रमाणतामस्तुते स्वयमेव तु प्रवृत्त कारकत्वा प्रमाणतामपजह्यात् । न हि कारको हेतु प्रमाणमपि तु ज्ञापक ।—प्रमाण हि शब्द प्रतिज्ञायते चोदनालक्षणो यो धम इति । बोधकञ्च प्रमाणम् अर्वाधितानर्धिगतसन्दिग्धा यप्रमाणजनकम् । स्वयमेव तु प्रवृत्तप्रमाया कारक ता प्रमाणतामपजह्यात् । नचप्रमाया अपि प्रवर्त्त कारक कस्मान् प्रमाणत आह—नहि कारको हेतु प्रमाणम् । माभूद बीजादीनामङ्कुरादिका रकाणा प्रामाण्यम् । किं तहि प्रमाणमित्याह—अपि तु ज्ञापक इन्द्रियादी तथा भावात् ।—विधिवि० टी० पृ० ५ । अत एव शब्दोपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तक वाध्यादितुल्यत्वप्रसङ्गात् । यदि पवन इव पिशाच इव नुनूप इव शब्द प्रवर्त्तको भवेत् अनवगतशब्दाथसम्बन्धोऽपि ध्वणवरवश प्रवर्त्तते न चयमस्ति । तस्मान्प्रतीतिमुपजनयत शब्दस्य प्रवर्त्तकत्वम् । न च नाम लिङ्गादिरेव शब्द प्रवर्त्तकाभिधानद्वारेण प्रवर्त्तको भवितुमर्हति । शब्दस्य च ज्ञापकत्वाच्चक्षुरादिकारकवलक्षण सत्यपि प्रतीतिजमनि कारणत्वमपरिहायम् । कारण च कारकम् कारकञ्च न निर्गोपार स्वकायनिवृत्तिक्षममिति व्यापारस्त स्यावश्यम्भावी —न्यायमु० पृ० ३४२ ।

१ प्रवर्त्तकत्वम् । २ इत्यपरे व० । ३ इत्येके तत्र ध० व० । ४-व्यापारयति तौ ध० । ५ क्रिययो प्र-व० । ६-वक्षोपि व० । ७ साध्यवस्तु-आ० । ८ लिङ्गलोट तन्व-आ० व० ।

कत्व विना स्वतः प्रवृत्तिकारकत्वे अस्य दुर्घट वाय्वादिवत्, कारकहेतोः प्रमाणत्वानु-  
पपत्ते, बोधकस्थैव तत्सभवात् । अथोच्यते—वाय्वादिजनितभूतप्रवृत्तिविलक्षणैवेयम्  
इच्छादिसमानरूपा चिद्रूपात्मप्रवृत्ति विषयावबोधोपेक्षिणी लिङादिभिः क्रियते, तन्न,  
प्रवृत्तिकारकत्वाशे परकारकाणामिव प्रामाण्यानुपपत्तेः । बोधकत्वमात्रेणापि प्रामाण्ये  
वर्त्तमानाद्यपदेशकालप्रवर्त्तकलङ्कादियुक्तेष्वपि वाक्येषु तेष्वसङ्गात् 'तत्र प्रवृत्तक वाक्य  
शास्त्रेऽस्मिन् चोदनात् ॥' [ मी० श्लो० चोदनात् ० श्लो० ३ । ] इत्यस्य विरोधः । तस्मात्  
साध्यस्वभावयागादिव्यापारलक्षणविषयावबोधकत्वेनैव लिङाद्यन्तस्य शब्दस्य प्रमाणत्वो-  
पपत्ते न शब्दस्य स्वरूपेणैव विधित्वम् ।

तथा, अनियमात्प्रवृत्तेः, शब्दस्य हि विषयावबोधनिरपेक्षस्य स्वरूपेणैव विधित्वे  
चेतनात्मकस्यापि पुरुषस्य अभिप्रायतिरस्कारेण मन्त्रादिजन्यविक्षोभस्थैव निवृत्तस्य वला  
कारेण शब्दात्प्रवृत्तिरुद्भवन्ती न वाय्वादिजनितप्रवृत्तिवैलक्ष्यं यमश्नुवीत । तथा  
चास्या हठादेव भवन्त्या पुरुषस्वातन्त्र्याश्रितविहिताऽकरणापराधनिर्वन्धनप्रायश्चित्ताप्रति  
पादनस्य निर्विषयत्वप्रसक्तेः अयुक्तमुक्तम्—

‘अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन् ।

प्रसजश्चेन्द्रियाथेषु प्रायश्चित्तीयत नर ॥’ [ मनुस्मृ० ११।४४ ] इति । 15

(१) प्रवृत्तिकारकात्प्रामाण्यम्, बोधकारकात् प्रामाण्यमिति—आ० टि० । (२) किन्तु  
विशिष्टबोधकत्वेनैव प्रामाण्यम्—आ० टि० । विषयावबोधनात् दोष इति चेन्न तस्मात्स्वायत्त्रापि  
तुल्यत्वात्, चोदनात्पणोऽर्थो यम इत्यभ्युपगमानवक्यात् । निराकरोति नेति । कुत ? तस्मात्प्रस्य  
अन्यत्रापि वत्तमानापदेशेऽपि चैत्र पचतीत्यादौ तुल्यत्वात् । न हि तत्र भावना नावगम्यते । अस्तु तुल्यता  
का नो हानिरित्यत आह—चोदनात्पणोऽर्थो यम इत्यभ्युपगमानवक्यात् । प्रवृत्तकत्व चोदनात् प्रवृत्ति  
हेतु कञ्चनार्थातिशयमवगमयन अनेन रूपेण प्रामाण्यमश्नुते न भावनामात्रवचनरत्नेन तस्य अन्यत्रापि  
तुल्यत्वात् । तस्माद्यत्र रूपेण प्रामाण्यं न तेन चोदना येन चोदना न तेन प्रामाण्यं तस्य प्रवृत्ति प्रति  
कारकत्वात् । —विधिबि० टी० १ । (३) वत्तमान—आ० टि० । (४) चत्र पचतीत्यादिषु ।  
(५) प्रामाण्यप्राप्ते । (६) अभिनहोत्र जुहुयादित्यादि । (७) 'शब्दस्वातन्त्र्यं च नियोगतोऽवश्य  
प्रवृत्ति स्यात् तथा च अकुर्वन् विहितं कर्म इति निर्विषय स्यात् । न हि तदानीं बलवदनिलसलिलो  
घनुद्यमानस्यवेच्छापि तत्र प्रवृत्ति प्रति पुरुषस्य । —विधिबि० टि० १ । (८) शब्दवशादनविच्छा  
पूर्विकाया प्रवृत्तौ । (९) पुरुषस्वातन्त्र्ये सत्येव विहितस्य सध्यादे अकरणात् प्रायश्चित्तं भवति यदा  
तु पुरुषस्य प्रवृत्तौ स्वतन्त्र्यमेव नास्ति तदा कथं तदकरणं प्रायश्चित्तभाक्त्वम् । (१०) व्याख्या—  
'प्रसजन्श्चेन्द्रियाथेषु नित्यं यद्विहितं सध्यादेऽपि नास्ति कञ्च शवस्पर्शादी स्नानादि तदकु  
र्वन् तथा प्रतिषिद्ध हिमाद्यनुनिष्ठान् अविहितनिषिद्धव्यवहारात्कृतं कुर्वन्तरो मनुष्यजातिमात्रं प्रायश्चित्तं  
समहति ।'—मनुस्मृ० म वय० ११।४४ ।

1 लिङादि—आ०, व० । 2 परकारणा—आ०, थ० । 3 कलिङादि—व० । 4 लिङाद्यत्—आ०  
व० । 5—विधोभस्यैव व० थ० । 6 हठादिब थ० । 7 भवत्या व० थ० । 8—व धनं प्रा—व० ।  
9—नस्यानि—थ० ।

तथा, 'सविदाश्रयणात् शब्द प्रवृत्ते कारक । नहि बीजादीना सचेदनसापेक्षणा स्वकार्यकर्तृत्व दृष्टम्, ज्ञापकस्यैव धूमादेस्तदपेक्षामतीते ।

किञ्च, अश्रुतफलेषु विश्वविदादियु वाक्येषु फलस्य स्वर्गादे अधिकारिणश्च स्वर्ग-  
कामादे अध्याहार, अग्निष्टोमादियु च स्वर्गकामादौ अन्यपदार्थापसर्जनीभूतस्वर्गादि  
पदार्थाना फलत्वाध्यवसाय एवमाद्यर्थाभिसम्बन्धो व्यर्थ, वैध्यादिवत् फलादिस  
म्यन्धानपक्षस्यैव शब्दस्य प्रवृत्तिहेतुत्वप्रसङ्गात् । तत्र शब्दो विधि ॥६॥

शब्दव्यापारविधिवार्दिर्नस्तु द्रुवते—लिडादि( लिडादि )शब्दश्रवणानन्तर वृद्ध-  
व्यवहारे प्रवृत्त्याख्यकार्यदर्शनात् तत्कारणत्वेन कल्पितस्य शब्दव्यापारस्य मेन्त्रपर्वनादि-  
वैलक्षणेन प्रवृत्तिहेतो सभवांन् पूर्वोक्तदोषानुपपन्न । तदुक्तम्—

‘अभिधाभावनामाहुरन्यामत्र लिडादय ।’ [ तत्रबा० २।१।१ ]

(१) ज्ञापकश्च स्वरूपकमसंबन्धविषयज्ञानमपेक्षते लिडादिस्वरूपञ्च प्रवृत्त कारकमित्यनु-  
पयुक्त्स्वरूपतत्कर्मसम्बन्धविषयसविदोऽपि पुस प्रवृत्तिप्रसङ्ग ।—विधिवि० पृ० ७ । (२) स्वसवेदना  
पेक्षा । (३) विश्वविदादियुषु स्वर्गादिफल न श्रुतो कण्ठाक्तमत तत्र सामान्यरूपेण स्वगल्पस्य फलस्य  
अध्याहार त्रियते । तथा चोक्त जमिनिधायमालायाम—(४।३५) नवास्ति विश्वविद्याग फलमस्त्युत  
नाश्रुते । भाव्यापेक्षाद्विव कल्प्य फल पुस प्रवृत्तय । 'दृष्टव्यम—शाबरभा० शास्त्रटी० ४।३।१०—१७ ।  
अपि चाश्रुतफलेषु फलाध्याहार वचिन्त्ररूपकारकल्पना श्रुतानामपि स्वर्गादीना फलत्वाध्यवसाय  
इति सब एव महिमा विध । स शब्दस्य तदभावेऽनुपपन्न—अपि चाश्रुतफलेषु पिण्डपितयज्ञादियु  
स्वर्गादिफलाध्याहार वचिन्त्ररूपकारकल्पना समिदादौ श्रुतानामपि पुरुषविशेषणतया स्वर्गादीना  
फलत्वाध्यवसाय इति सब एव महिमा विध । स शब्दस्य तदभाव विधिभावऽनुपपन्न ।—विधिवि०  
टी०पृ० १४ । (४) अत्र हि श्रुतिवाक्यविषय अधिकारी चोक्तो न त फलम तच्च स्वगकामाख्याधि  
कारिलक्षण पदाय स्वगकामोऽस्यपि समास पूर्वपदतया उपसर्जनीभूत स्वग फलतयाध्यवसायत—आ०  
टि० । (५) प्रवृत्तकस्यति चत तस्यापि पवनादिवर्तिन इवोपपत्त फलरूप कारक विना । तस्मात्  
विधि शब्दस्तद्व्यापारो वा । 'कत—प्रवृत्तकस्यति चत लिडादय खलु पुमा प्रवृत्तका न चत  
निष्फल प्रवृत्तयित पुरुषमीगत इति तदन्यथानुपपत्त्या फलकल्पनत्यथ । निराकरोति न । तस्यापि  
प्रवृत्तकत्वस्य पवनादिवर्तिन इवोपपत्त । नहि ओ य प्रवृत्तयति स सब फलमपेक्षते पवनादीना  
प्रवृत्तयतामपि तदनपेक्षत्वदर्शनादित्यथ ।—विधिवि० टी० पृ० १४ । (६) भट्टकुमारलिडादय ।  
भावनव च वाक्याय सबन्धारायतवत्या । अनकगुणजात्याधिकारकार्यानुर्विजता ॥ एकयव तु  
बुद्धयामो गह्यत चित्ररूपमा ।—मी० श्लो० प० ९३९ । तत्रार्थात्मिकाया भावनाया लिडादि  
गन्दाना य पुरुष प्रति प्रयोजकव्यापार सा द्वितीया शब्दधर्मोऽभिधात्मिका भावना विधिरित्युच्यते ।  
—तत्र बा० २।१।१ । (७) यथा कश्चिन्नत्रण अभिचारिकादिना पारवश्य नीतोऽनिच्छयापि प्रवृत्तत  
—आ० टि० । (८) व्याख्या— कत व्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या वा अभिधाशब्दस्य शब्दपरत्वमङ्गीकृत्य  
अभिधाया शब्दस्य आत्मनो भावना व्यापार प्रवृत्तनासामान्यव्यक्तिभूत लिडादय प्रवृत्तनासामान्य  
मभिधयाना निविशपमामान्यायोगात् प्रयादौ च लोकदृष्टस्य विपश्य पुरुषधर्मत्वेन अपौरुषय  
वन्नेऽसम्भवात् प्रवृत्तनासामान्यस्य च प्रयादिप्रवृत्तकव्यापारवर्तिवदशनात् लिडादेरेव च वेदे प्रवृत्तक

1 बीजाना आ० । 2—जिडादियु फलस्य आ० व० । 3 मन्त्रपर्वतनादि—आ० मन्त्रपर्वतनादि-  
ब० । 4 वास्तव्युर्वा—आ० ।

अभिधायाः शब्दस्य लिङादेर्यासौ भावना पुरुषप्रवृत्त्युत्पत्तिं प्रति स्वकीयप्रयोजकव्यापारः तस्य अभिवाचका लिङादयः । भाव्यनिष्ठश्च भावकव्यापारो भावना । शब्द-

त्वावधारणात् लक्षणया गमयन्तीत्यर्थं ।"-न्यायमु० प० ५५९ । जमिनिन्या० पृ० ७५ । तन्त्रह० पृ० ४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । वैयाकरणभू० द० पृ० १५६ । मुक्ता० विन० पृ० ५१५ । "अभिधीयत इति अभिधा प्रवर्तना कर्तव्यता वा, संव च पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तामाहुरिति । अथवा अभिधाया शब्दस्य भावना अभिधाभावना संव प्रवर्तना परसमवेतापि शब्देन पुरुष प्रवर्तयता तत्सिद्धये अभिधीयमाना शब्दव्यापारत्वेनोच्यते तामाहुरिति । अथवा इष्टमाधनताभिधानमभिधा संव विधान विधिरिति व्युत्पत्त्या विधिरित्युच्यते । संव च भक्तिकर्तृत्वं प्रतिपद्यमानाया पुरुषप्रवृत्ते प्रयोजकस्य शब्दस्य व्यापारो भावना तामाहुः ।"-न्यायरत्नमा० पृ० ५३ । मीमांसान्याय० पृ० १८१ । उद्धृतीयम्-'शब्दात्मभावनामाहुः'-अष्टसह० पृ० १९ । तत्त्वायंश्लो० पृ० २६२ । विधिवि० पृ० १५ । न्यायमं० पृ० ३४३ । बृहवा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । 'अभिधा भावना'-न्यायकु० प्र० ५।१३ । मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । मीमांसान्याय० पृ० १८१ । शास्त्रवै० २।१।१ । न्यायरत्नमा० पृ० ४७ । मीमासावाल० पृ० ७५ ।

(१) "तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुन । प्रयोजकक्रियामाहु भावना भावनाविद ॥"-तन्त्रवा० २।१।१ । "इह हि लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने गम्येते । शब्दात्मिका च अर्थात्मिका च । तत्र लिङादीना प्रयोजककर्तृत्वं पुरुष प्रयोज्य, तेन विमित्यपेक्षाया पुरुषप्रवर्तनमिति सम्बध्यते । अथ तु योग्यतयैव लिङादिविषया क्रियोच्यते प्रवर्तयेदिति तत किमित्यपेक्षिते पुरुषमित्येव सम्बध्यते । अथ केनेत्यपेक्षिते पूर्वसम्बन्धानुभवापेक्षेण विधिज्ञानेनेति सम्बध्यते । कथमिति प्रागस्त्यज्ञानानुगृहीतेनेति । कुत एतत् ? बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत् प्रशस्तोऽयमिति नावबुध्यन्ते तावन्त प्रवर्तन्ते, तत्र विधिविभक्तिरवसीदति ता प्रागस्त्यज्ञानमुत्तान्नाति । तच्च पुरुषार्थात्मके फलान्ने सर्वस्य स्वयमेवानुष्ठान भवतीति प्रसिद्धवान् वेदानुत्पद्यमानमपेक्ष्यते । साधनेतिकर्तव्यतोस्तु अप्रवृत्तपुरुषनियोगाच्छास्त्रमेव प्रागस्त्य प्रतिपादनायाकाङ्क्ष्यते ।"-तन्त्रवा० १।२।१ । न्यायमु० पृ० ३२- । "भाव्यभावनसमर्थो हि व्यापारो भावना ।"-भावनावि० पृ० ६ । "भाव्योत्पादानुकूलस्य व्यापारस्य भावनात्वप्रसिद्धे ।"-न्यायमु० पृ० ३१ । "भावना नाम भवितुर्भवानानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष ।"-अर्थसं० पृ० ११ । "भवितुर्भवानानुकूलो भावकव्यापारविशेष ।"-मीमांसान्याय० पृ० २ । "तत्र प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधा, फलानुकूलो व्यापारो भावनेति धिवेक ।"-मीमांसार्थप्र० पृ० ८ । "भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना । भाव्य हि स्वर्गादिफल माध्यमानत्वात् । तन्निष्ठस्तदुत्पादकश्च पुरुषव्यापारो यस्त भावना प्यन्तेन भवतिनोच्यते । प्रवृत्त्यर्थस्य भवतेः कर्ता य स्वर्गादि स एव प्यन्तस्य कर्मता प्रतिपद्यते । कर्ता त्वस्य प्रयोजकः पुरुष, गेश्चार्थं णिञ्वाच्य प्रयोजकव्यापार, पुरुषो हि भवन्त स्वर्गादिमर्थं स्वव्यापारेण भावयति सम्पादयति, स तत्सपादको व्यापारो भावनेत्युच्यते ।"-न्यायमं० पृ० ३३५ । "भावनात्व नाम भवितुः प्रयोजकव्यापारवत्त्वम् । तत्रार्थभावनाया भवितुर्जायमानस्य स्वर्गादि प्रयोजकव्यापारत्वात् लक्षणमिति, शब्दभावनायामपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वाल्लक्षणसङ्गतम् ।"-मी० परि० पृ० २० । (२) "तस्मादस्ति पुरुषप्रवृत्तिकर्मिका विधिज्ञानकर्मिका अर्थवादीत्पादितविषयप्रागस्त्यज्ञानेति कर्तव्यतोपेता लिङादिव्यापार प्रेरणात्मिका शब्दभावना अभिधानलक्षणोऽपि च देवदत्तादेरिव व्यापार शब्दभावना ।"-भावनावि० टी० पृ० ९४ । "तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष शब्दी भावना । सा च लिङ्श्वनेऽपि मा प्रवर्तयति, मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानिति नियमेन प्रतीतेः । यद्यस्माच्छब्दान्निवमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम् यथा

भाषनायाञ्च भाव्या पुरुषप्रवृत्तिः. प्रवृत्तिमान् वा पुरुषः। प्राशस्त्याभिधानञ्च विना विधिशक्तिर्निमित्तत्वमुपगतापि प्रवर्त्तनायां न समर्था भवति। न हि 'इमां गां व्रीणीष्व' इति शतकृत्वोप्युक्तः रुचिचत् क्रेतु प्रवर्त्तते यावत् 'घटोध्नी सम्पन्नक्षीरा' इत्यादि प्राशस्त्यज्ञानं न प्रवर्त्तते। अतः अर्थवादोपजनितप्राशस्त्यज्ञानसचिवा शब्द- भावना प्रवर्त्तनाङ्गम्। सा च ईशपरिपूर्णा भवति—'किम्, केन, कथम्' इति। किं भावयेत्? स्वर्गम्। केन? देशोर्णमासाभ्याम्। कथम् इति? इतिकर्त्तव्यता दर्शयति प्रथमादिब्यापाररूपाम्। सेत्थं त्र्यंशपरिपूर्णा शब्दभावना फैलभावनायां पुरुष

गामानयेत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्, स च व्यापारविशयो लौकिकवाक्य पुरुषनिष्ठोऽभिप्राय- विनोप, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिनिष्ठ एव। अत एव शाब्दी भावनति व्यतीह्यते।—अर्थ- स० पृ० ११-१३। मीमांसान्याय० पृ० ३, १७८। मीमांसार्थप्र० पृ० ८।

(१) एतावता अथवादवाक्यताना माभूत्प्रामाण्यमिति—आ० टि०। (२) 'प्रवृत्तिहेतु घर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्"—विधिबि० पृ० २४३। 'प्रवृत्तिहेतुभूत प्रवर्तयितुर्धर्मं प्रवर्तनाम्।—मीमांसाबाल० पृ० ७५। मीमांसान्याय० पृ० १८०। (३) तुलना—'लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाड्कुर्वन्तु। तद्यथाय गो त्रेतव्या देवदत्तीया। एषा हि बहुक्षीरा स्व्यपत्या अनष्टप्रजा चेति।'—शाबरभा० १।२। २०। (४) "सा च भावनाशत्रयमपेक्षते साध्य साधनमितिकर्त्तव्यताञ्च, किं भावयत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षाया वक्ष्यमाणाशत्रयोपेता आर्थाभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्य- यगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुते। सख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वैऽपि अयोग्यत्वात् साध्यत्वेनान्वयः। साधनाकाङ्क्षाया लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति, तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि तस्या शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्धत्तकत्वेन वा। इतिकर्त्तव्यताना- काङ्क्षायाम् अर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्त्तव्यतात्वेनान्वेति।"—अर्थस० पृ० १६-१८। मीमांसा- न्याय० पृ० ३। 'करणायो विधिज्ञानं किमश पुंस्प्रवर्तनम्। इतिकर्त्तव्यता चात्र ह्यर्थवादप्रशसनम्।'—बृहदा० भा० वा० पृ० ५९०। 'प्रवृत्तिप्रलिकायाञ्च अभिधायामपि साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यतारूप- मशत्रयमपेक्षितम् अन्यथा तस्य स्वरूपत फलनद्वयानादप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्र लिङादिविधिज्ञानं करणत्वेनान्वेति याग इव अर्थभावनायाम्। प्रवृत्तिरेव च साध्यत्वेन स्वर्ग इव अर्थभावनायाम्। अर्थवा- दादिजन्य प्राशस्त्यज्ञानमितिवर्त्तव्यतात्वेन प्रयाजाशङ्कज्ञानमिव अर्थभावनायाम्। तदुक्तम्—लिङाभिधा- मं च दम्भभावना भाव्यं च तस्या पुरुषप्रवृत्तिः। सम्बन्धबाधं करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयो- ल्पन्वते।—मीमांसार्थप्र० पृ० ९१। 'प्ररोच्यन्तश्चेति प्ररोचना प्राशस्त्यज्ञानं तन्वद्वाङ्गं एव प्रकाशितप्रकाश- दिवत'—मीमांसाबाल० पृ० ८१। मीमांसापरि० पृ० १८। "तत्र किं भावयत् केन भावयत्कथं भाव- यदित्याकाङ्क्षाया स्वर्गं भावयत् यागेन भावयन् अग्न्यन्वाधानप्रयाजावधानादिभिरुपकारं गम्याद्य भाव- यदित्येव भाव्यकरणतिकर्त्तव्यताममर्थनेन आकाङ्क्षापूरणान् प्रकरणात्नात् सकल शब्दसन्दर्भं भाव- न्वाचिन आख्यातस्यैव प्रपञ्चः। भाव्याद्यशत्रयवती मयमर्थभावनेभ्युच्यते। सा सर्वापि दम्भभावना या भाव्या विधायको लिङादि करणम अर्थवादानम्पादितं स्तुतिरितिवर्त्तयता। सय दम्भभावना लिङादिभिरैव गम्यते। अपेक्षभावना सर्वसाधनप्रत्ययैर्गम्यत इत्युक्तम्"—जैमिनिन्याय० पृ० ७६। (५) अभावध्याया त्रियमाणो यज्ञविगणो दर्शनं, पीणमास्याञ्च विधीयमानं यज्ञानुष्ठानं पीणमाम इति। (६) यज्ञं वत्तव्यताविनोप—आ० टि०। 'आगतुपकाररूपा प्रयाजादि'—न्यायस्त- ना० पृ० १२०। (७) आर्थाभावनायाम्।

१-प्रवृत्तिमान् वा २-मान् पुरुष-य०। ३-त्वमुपाग-आ०। ४-घटध्वंस-व०,-घटाविस-य०। ५-प्रशस्त्यज्ञानं य०। ६-तत्र य०। ७-कथमिति कथमिति यमुपप्रकृतं व्यतीह्यते य०।



प्रवर्तयति । यद्यपि चेच्छास्त्र्यादयः पुरुषप्रवृत्तिहेतवः तथापि न तेषां मुख्यः प्रवर्तना-  
व्यपदेशः, शब्दभावनायास्तु साध्यावगतिकारित्वेन मूलभूतत्वात् मुख्यैः । 'शब्दभावना'  
इति शब्दशब्देन शब्दधर्मतया व्यपदेशात्, यथा ग्रामादिदाने राज्ञो दातृत्वव्यपदेशो  
मुख्यः लाकुटिकादीनां तु राजादेशानुसारेण प्रवृत्तानामौपचारिकः एवमत्रापि । तदुक्तम्—

“साध्यत्वे हेतुव्यापारः कथ्यते शब्दभावना ।

शब्दधर्मतयाख्यातः कैर्यससूचितस्थितिः ॥” [ ]

तथा च शब्दभावनासद्भावे किं प्रमाणमिति पर्यनुयोगोऽनुपपन्नः; यथैव हि अर्थ-  
प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य अभिधात्मको व्यापारः परिकल्प (कल्प्य) ते तथा प्रवृ-  
त्त्यन्यथानुपपत्त्या लिङादेः प्रवर्तनात्मकोऽपीति । तत्र 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र द्वे भावने  
प्रतीयेते शब्दात्मिका पुरुषप्रेरणारूपा अर्थात्मिका च पुरुषव्यापाररूपा इति । तत्र लकार-  
सामान्यस्यार्थः अर्थभावनः । उक्तञ्च—

“इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ।” [ तन्त्रवा० २।१।१ ] इति ।

पुरुषव्यापारस्य हि सर्वत्रार्थे विद्यमानत्वात् सर्वार्था अर्थभावनः, 'यजते,

(१) लाकुटिकप्रया -आ० टि० । द्वारपालसद्भा इत्यर्थः । (२) इच्छास्मृत्यादीनाम् ।  
(३) प्रवर्तनाव्यपदेशः । (४) लकुट-दण्डधारिणाम् द्वारपालादीनाम् । (५) पुरुषरूपेण कार्येण तस्या-  
स्तित्व मूच्यते-आ० टि० । (६) आख्यातविभक्ति -आ० टि० । (७) “प्रयोजनेच्छाजनितत्रिया-  
त्रिपयव्यापार आर्थीभावना । सा चाख्यातत्वाद्येनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात् । साध्य-  
धनयमपेक्षते साध्य साधनमितिकर्तव्यताञ्च किं भावयेत्केन भावयेत्कथं भावयेदिति । तत्र साध्यावा-  
द्क्षाया स्वर्गादिफल साध्यत्वेनान्वेति, इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया प्रयाजाद्यङ्गाजामितिकर्तव्यतात्वे-  
नान्वेति ।”-अर्थस० पृ० १९-२३ । “प्रवृत्तिश्चार्थभावनैव”-मीमांसार्थ० पृ० ९ । “स्वर्गोच्छाजनितो  
यागविषयो य प्रयत्न स भावना । स एव चाख्याताद्येनोच्यते । यजत इत्याख्यातध्वने यागे यतेत  
इति प्रतीतेर्जायमानत्वात् अतश्च प्रयत्न एवार्था भावना । यथाहु - (न्यायसु० पृ० ५७९) प्रयत्न-  
व्यतिरिक्तार्थीभावना तु न शक्यते । वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतेत्युपरम्यते ॥”-मीमांसान्या० पृ०  
१८५-८७ । (८) आर्थीभावना । “अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥”-तन्त्रवा० २।१।१ ।  
बृहदा० भा० वा० टी० पृ० ५९० । शास्त्रदी० २।१।१। न्यायकु० प्र० ५।१३ । जैमिनिन्या० पृ०  
७५ । मीमांसालाल० पृ० ७५ । 'सर्वाख्यातस्य गोचरा'-मीमांसार्थ० पृ० ८ । प्रकृत पाठ -अष्टसह० पृ०  
१९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । 'अर्थात्मा भावना त्वन्या सर्वत्राख्यातगोचर ।’-तन्त्ररह० पृ०  
४७ । मानमेयो० पृ० २७२ । 'सा चाख्यातस्य'-व्याकरणभू० ६० पृ० १५६ । मुक्ता० दिन०  
पृ० ५१५ । व्याख्या-“विधेयाया भावनाया पुरुषार्थरूपभावन्यनिष्ठत्वमूचनाय इच्छायोनित्व मूच-  
यितुम् इच्छार्थाद् अर्थयते णिजन्तादर्थयत इति कर्तृविवक्षायामेरजित्यन्त्रत्ययोत्पादनेन अर्थिनः पुरु-  
षस्य अर्थशब्देन अभिधानाद् भावनायाश्च पुरुषधर्मत्वात् धर्मधामिणोश्चात्यन्त भेदाभावात् ताशाम्य  
विवक्षित्वा अर्थात्मा चासौ भावना चेति विग्रहः कार्यः । अन्यामिति अर्थभावनानेति शब्दभावनायाः  
सूचितम् ”-न्यायसु० पृ० ५६० । (९) अतीतादी-आ० टि० । “यदा हि सर्वाख्यातानुवर्तिनी  
करोतिषातुवाच्या पुरुषव्यापाररूपा भावनाऽवगता भवति, तदा तद्विशेषा सामान्याख्यातव्यतिरिक्त-  
शब्दविशेषवाच्या विधिप्रतिषेधभूतभविष्यद्वर्तमानादयः प्रतीयन्ते । तथा च सर्वत्र सामान्यत करो-

अयजत, अयष्ट' इत्यादि सर्वाख्यातेषु च विद्यते । न हि तत्र पुरुषप्रेरणारूपा शब्द-  
भाषनाऽनुभूयते सिद्धस्य आत्मव्यापारस्य अर्थभावनापरपर्यायस्य अनुभवात् । लिङादि-  
विषये तु 'यजेत' इत्यादौ द्वयमनुभूयते—स्वार्थं लिप्समानो हि पुरुषः स्वव्यापारे याग-  
विधानलक्षणं प्रवर्तते इति अर्थभावना, तमयं लिङ् प्रवर्तयतीति शब्दभावना चेति ॥७॥

तदेतद्भावनावादिनो मतमयुक्तम्; यतः शब्दस्य भावना, शब्द एव वा भावना  
शब्दभावना स्यात् ? प्रथमपक्षे शब्दस्य भावना प्रेरकत्वम्, तच्च प्रेरणाध्येपणरूपम्,  
तस्य चेतनात्मकपुरुषधर्मत्वात् कथं शब्देऽनुपचरितस्य सभवः ? तद्वर्माध्यासितपुरुष-  
प्रयुक्ताद् वाक्यादेव हि शब्दे तत्सभाव्यते न मुख्यतः ।

किञ्च, 'प्रेर्यप्रेरकयोर्निष्फला प्रवृत्तिः । किञ्चिद्धि स्वात्मनि परत्र वा अर्था-  
नर्थप्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनमभिसन्धाय कश्चित् प्रेरकः प्रेर्यश्च प्रसिद्धः । न चाचेतने  
शब्दे तदभिसन्धानं सभवति तत्कथं तस्यै प्रेरकत्वम् ? वैलव्यप्रभञ्जनादेरिवास्यै  
अनभिप्रायस्यापि प्रेरकत्वे शब्दविधिपक्षनिक्षिप्ताऽशेषदोषोर्धनिपातः स्यात् ।

त्यर्थोऽयम्यतः । किं करोति ? पचति । किमकार्षीदपाक्षीत् । किं करिष्यति पश्यति । किं कुर्यात्  
पचत् । किं कुर्यात् पचदिति ।"—तन्त्रवा० २।१।१ ।

(१) आख्याते । (२) "सिद्धकर्तृन्यावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति । सामानाधिकरम्भेन करोत्य-  
र्थोऽयम्यतः ॥ 'तस्माल्लब्धात्मककर्तृव्यापारवचनानि करोत्यर्थवन्त्याख्यातानि ।"—तन्त्रवा० २।२।१ ।  
(३) 'नेतस्सारम्, न प्रयोगानिरूप्यत्वात् वैयर्थ्यात् पूर्वदोषतः । अप्रवृत्ते फलयोगाद् रूपोक्तेर्व्यापृति  
भूते ॥"—विधि० ५० । १६ । 'अस्तत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधायि गरीयमी । बाधवस्य समानत्वात्  
परिचोपेर्त्रि दुर्लभ ॥"—न्यायकु० ५ । १३ । (४) "सज्ञापुस्तसरा व्यापारणा प्रेषणम्, निवृष्ट-  
विषया निपाग इत्यर्थः । मत्पुनरभ्यहितं व्यापारयति तदध्येपणम्, अभ्यहितविषय प्रबोधनमित्यर्थः ।"  
—वाक्यप० प्र० तु० का० पु० २५७ । "प्रवर्त्यपुष्टपापेक्षया ज्यायसा वक्त्रा प्रतिपाद्यमानं कायं प्रप इति  
व्यपदिश्यते । समनं जामन्त्रणम् । हीनेनाध्येपणमिति ।"—प्रक० प० पु० १८० । (५) "न हि प्रेषणा-  
भ्यनुज्ञालक्षणा शब्दस्य व्यापारो निरूप्यत तस्य पुरुषधर्मत्वात् । न हि प्रेषणाध्येपणाभ्यनुज्ञालक्षण  
शब्दस्य प्रयोगा व्यापारो निरूप्यत । ननु शब्दोच्चारणानन्तरं तदवगमात्तैर्नोक्तमिति कथं प्रेषणादिलक्षण  
शब्दप्रयोगा न निरूप्यत इत्याहुः—नस्य पुरुषधर्मत्वात् । मयं शब्दविज्ञानानन्तरमुपलभ्यते । न त्वसौ  
शब्दस्य, अनिप्रायभदत्वात् । प्रेषणाद अचतनत्वेन शब्दऽमभवात् ।"—विधि०, टी० पु० १६ । (६)  
शब्दस्य अचतनत्वान् पुरुषाभिप्रायरूपा प्रेषणादय उपचरिता एव सम्भाव्यन्ते न तु मूल्या इति ।  
(७) प्रेषणाध्येपणादिधर्मोक्तमवपुरुष । (८) प्रेषणाध्येपणरूपम् । (९) "न प्रवर्तते पुरुष, प्रवर्तयताऽपि  
शब्दस्यानुराध्यत्वात् । न हि मर्बंसिन्धु प्रवर्तयितरि प्रवृत्तिं प्रेक्षावताम् अपि त्वनुविधेये । न चार्था-  
नर्थप्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारणं स्वाम्यादाविव शब्दे समस्ति । फलान्तरवृत्तौ तद्वैयर्थ्यम् ।"—विधि०  
पु० १८ । (१०) अर्थानियत्राप्तिपरिहारादिप्रयोजनानुमन्यतम् । (११) शब्दस्य । (१२) "म्यामन  
पवनादिरिव लङादि प्ररयति पुरुषम्, तदसन्; अभिधानवैयर्थ्यात्, अप्रतीतव्यापारस्यापि वाध्यादिरिव  
स्वभावनं प्ररत्तवान्, पूर्वोक्तदागानात्तच्च । न हि प्रवृत्तिं प्रति कारकत्वं शब्दस्य सदपि तद्व्यापार-  
निधानमत्रम्, अननिहितव्यापारस्यापि तस्य कारकत्वात्, कारकस्यानपेक्षितज्ञानत्वात् ।"—विधि०  
पु० १८ । (१३) शब्दस्य । (१४) प्रायश्चित्तावैयर्थ्यम्—आ० टि० ।

१ हि शब्दे न तत्सं—आ०, हि तच्छब्दे सभाव्यत व० । २ न चाचेतनशब्दे आ० ।

किञ्च, अस्याः सद्भावे प्रमाणम् लिङादिश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्तिः, लिङादि-  
शब्द एव वा ? न तावत्प्रवृत्तिः; तस्यास्तन्निबन्धनत्वेन कचिदन्यत्राऽदृष्टत्वात् । यन्नि-  
बन्धना हि प्रवृत्तिलोके दृष्टा तदेव तां दृष्ट्वाऽनुमानु युक्तम्, न पुनः अप्रतिपन्नपूर्वः  
शब्दव्यापारविशेषः अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । नैपि लिङादिशब्द एव तत्र प्रमा-  
णम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्य अवाचकत्वात् । तदग्रहश्च तद्व्यापारविशेषलक्षणस्य  
सम्बन्धिनोऽनवधारणात् सिद्धः । नहि अनवधारिते सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधः सम्भवति;  
अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, शब्दः स्वव्यापार विधिज्ञानसव्यपेक्षो जनयति, अनपेक्षो वा ? न  
तावदनपेक्षः, विधिज्ञानस्य पुरुषप्रेरणायां करणत्वाभ्युपगमात् । अथ शब्दो विधिज्ञान  
जनयित्वा तत्करणानुगृहीतस्वप्रेरणारूप स्वव्यापारमारभते, तदिदमलौकिकम्; न हि  
कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानम् उत्पादहेतुः लोके प्रतीयते । यदि च शब्दः स्वव्यापार करोति  
अभिधत्ते च, तदा उत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्ते, युगपद्वा उत्पादयति अभिधत्ते च ? तत्र  
प्रथमपक्षोऽनुपपन्नः, न खलु शब्दः स्वव्यापारमुत्पाद्य पश्चात्तमभिधत्तातीति श्राद्धिका-  
दन्यः प्रतिपद्यते । द्वितीयपक्षोऽप्यप्रतीतिकः, नहि 'सङ्कुचचरितः शब्दः स्वव्यापारस्य  
कर्ता वक्ता च भवति' इति प्रामाणिकः प्रतिपद्यते । सिद्धे हि वस्तुनि प्रतिबन्धावगमपूर्विका  
वचनस्य प्रवृत्तिः प्रतीयते ।

ननु लिङादिशब्दश्रवणानन्तर प्रवृत्त्याख्यकार्यस्य प्रवृत्तितोऽहमिति प्रतिपत्तितः  
प्रतीतेः कथं तत्र तत्कर्तृत्वाप्रतिपत्तिरिति चेत् ? तदयुक्तम्; यतो द्विविधा प्रवृत्तिः प्रती-

(१) शब्दभावनाया । (२) प्रवृत्ते । "लिङादिशब्दानन्तरभाविनी प्रवृत्तिरेव प्रमाणमिति  
चेन्न, तन्निबन्धनत्वेन प्रवृत्तेरन्यत्रादृष्टत्वात् । त (य) निबन्धना हि प्रवृत्तिर्दृष्टा तदेव ता दृष्ट्वा  
नान्यमनुमातुम्, न पुनरप्रतिपन्नपूर्वकरणभाव शब्दव्यापारविशेष । -वाक्यार्थमा० पृ० २७ । (३)  
शब्दभावना-आ० टि० । (४) शब्दभावनाख्य-आ० टि० । (५) "लिङादिशब्द एव प्रमाणमिति  
साहसम्, अगृहीतसम्बन्धस्य शब्दस्यावाचकत्वात् । अनवधारिते हि सम्बन्धिनि सम्बन्धबोधवैधुर्यम् ।"  
-प्रक० पं० पृ० १७२ । (६) सम्बन्धाग्रहणम् । (७) पुरुषप्रवृत्तिरूपम् । (८) "स्यान्मत शब्दो  
विधिज्ञान जनयित्वा तत्करणानुगृहीत प्रेरणारूप स्वव्यापारमारभत इति न करणत्वाभावः क्रियानि-  
वृत्तावेव करणत्वात्, तदिदमलौकिकम्, न हि कस्यचिद्वस्तुनः स्वज्ञानमुत्पादहेतु प्रतीयते ।"-प्रक०  
पृ० पं० १७३ । (९) विधिज्ञानरूपकरण । (१०) पुरुषप्रेरणा । (११) तुलना-"पश्चात्तो व्यापार  
क्रियते चाभिधीयते च, स किं पूर्वमभिधीयते तत क्रियते, पूर्वं वा क्रियते पश्चादभिधीयते, युगपदेव  
वा अस्य करणाभिधाने इति । न तावत्पूर्वमभिधीयते अनुत्पन्नस्य अभिधानानुपपत्ते, न ह्यजाते पुत्रे  
नामधेयकरणम्, अर्थासम्पत्तौ च शब्द स्यात् । तत एव न युगपदुभयम्, अनुत्पन्नत्वानपायात् प्रयत्नगी-  
रवप्रसङ्गाच्च । नापि कृत्वा अभिधानम्, विरम्य व्यापारासंबन्धानात् ।"-न्यायम० पृ० ३४५ । (१२)  
वाच्यवाचकसम्बन्ध । (१३) शब्दे । (१४) प्रवृत्ति-आ० टि० ।

1 अस्य सद्भा-व० । 2-नुमान पु-व० । 3 पुन प्रतिप-प्र० । 4-शब्दस्तत्र व०, -शब्दास्तत्र  
प्र० । 5 शब्दो व्यापा-प्र० । 6 कारणत्वा-व० । 7 तत्कारणानु-व० । 8-रणरूपं च० । 9 न शब्द  
व० । 10-स्वाप्रतीतिरि-प्र० ।

यते—एका परवशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिण । तत्रापक्षे हठाद् यागादिकर्मणि  
 बौद्धादेरपि प्रवृत्ति शब्देन क्रियता पुरुषस्वातन्त्र्याभावात् । न खलु बलवञ्जलप्रभञ्जन-  
 प्रेरितस्य स्वातन्त्र्याभावे हठात्प्रवृत्तिर्नि दृष्टा ‘अनिच्छन्नप्यह् प्रभञ्जनादिना प्रेरित प्रवर्त्तौ’  
 इति प्रतीते । द्वितीयपक्षे तु ‘येनाह शब्देन प्रवर्त्तित स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा’ इति  
 यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमृशति तावन्न प्रवृत्तिं विदधाति । नहि ‘शब्देनाह प्रवर्त्तित’ इति  
 ‘अवश्य प्रवर्त्तौ’ इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्रयसिद्धिर्नैकारित्वविरोधानुपपन्नात् । अतोऽपौरुषे-  
 यान् साकचासितप्रख्यात् शब्दान् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिं स्यात् ? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य  
 प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः । तत्रणेतु, कुतश्चिदात्मतामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिण सदैव्याद्युपदे-  
 शादिव नि शङ्क प्रवृत्तिसमवात् । तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्न  
 ‘शब्दस्य भावना—प्रवर्त्तकत्व शब्दभावना’ इति पक्षो घटते ।

अथ शब्द एव भावना, तदप्यसाम्प्रतम्, शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे  
 घटादिशब्देऽपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अप्राप्यविशिष्टत्वात् । तथा च “लिङ्लो-  
 द्गतव्यप्रत्ययप्रत्याप्यो विधिः ।” [ ] इति वचो विरुध्यते । तदेव शब्दभावना-  
 स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थिते, कथं तया अर्थभावना भाव्यते ? यतो ‘भाव्य-  
 निष्ठो भावकव्यापारो भावना’ इति मुख्यवस्थितं स्यात् । द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्या  
 न्युपपत्तौ रभव्यावर्णनान्न विशिष्यते । तन्न भावनारूपोऽपि विधिर्घटते ॥ छ ॥

अपरे पुन नियोगे ग्व प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधि इत्याचक्षते । तत्र चानेकधा

(१) प्रेक्षापूर्वकारी । (२) अन्यथा—शब्दमात्र समाश्रय प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात् । (३)

‘अथ मतम—अभिधेय भावना विधिलिङ्गाद्यय इति अत्रोच्यत—प्रवृत्त सवतोऽर्थे वा प्रसङ्गात् कायतो  
 गत । अस्थानाप्रियतर्हेतोरभावाच्चाभिधेयं न ॥ विधिरित्यनुपपन्नम् । अभिधा चद्विधि सवशब्दाना  
 यथास्वमभिधेयपु तद्भाव इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्याविगयात् । —विधिवि० पू०  
 २१ । (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य । (५) लिङ्लोद्व्यपञ्चमलकाराणा विधिर्वाच्य । —न्यायमु०  
 पू० ५६० । लिङ्लोद्व्यपञ्चमलकाराणा विधिर्वाच्य । —न्यायमु० पू० ७५ । (६) शब्द  
 भावनया । (७) तुलना— यत्तावदुक्त शब्दव्यापार शब्दभावनेति, तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽन्यन्तर  
 नूनोऽन्यन्तरनूनो वा ?—अष्टसह० पू० ३१ । तत्त्वापश्लो० पू० २६२ । ‘वा तु शब्दभावनेन लिङ्गाद्य  
 इति वीमारितकमुक्ति सा तु प्रतीतिविमवादादिप्रतिहृता । न हि विधिवाक्यभ्राविपुष्यो लिङ्गादि  
 ग्वव्यापारमनियत अत्र मया प्रवर्त्तितव्यमिति मन्यत’ —न्यायपरि० पू० ३९८ । तत्ररह० पू० ४८ ।

तरमालिङ्गादित्रयव्यपिषयाऽभिधेयाया इष्टमाधनत्वादिना निरपेक्षाया प्रवक्तृत्वं नियुक्तिरभव ।  
 —व्याकरणभू० ३० पू० १५७ । (८) प्रभाकरमतानुयायिन । (९) तुलना—‘कोऽर्थे नियोगो नाम ?  
 निगमो निगमया वागार्थो मुक्ति निरवगाया योग नियोगः । निरवगायत्वम् अयोगस्य मनागप्य  
 भावान्, अवयवत्वमना हि नियोगः ॥ नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमात्रं प्रवर्त्तत ।  
 —प्रमाणवर्तिश्लो० पू० १४ । नियुक्ताऽहमनन वाच्यननि निरवगाया योग नियोगः, तत्र मनागप्य  
 वागार्थवशा मन्वशाभावात् । —तरवाश्लो० पू० २६१ । अष्टसह० पू० ५ । यदपि दर्शनम्—  
 प्रमाणानुसारात् शब्दमात्रालम्बना नियुक्ताऽप्रामाणि प्रत्यात्मकदनाय मुगादिवन् अपगमृष्टवात्प्रया

। तत्र पौ०-३० । —व्यापि ५० । —व्यापि-३० ।

विप्रतिपत्ति—केचित् लिङ्गादिप्रत्ययार्थो नियोग इत्यातिष्ठन्ते । -

“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यत शुद्ध प्रतीयते ।

कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्ध कार्यमसौ मत ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । ]

इत्यभिधानात् । अन्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोग इति ब्रुवते ।

“प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।

नाप्रेरितो यत कश्चिन्नियुक्तैव प्रपद्यत ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । ]

प्रेरणासहित कार्य नियोग इति चापरे मन्यन्ते ।

“भूमिद कार्यमित्येव ज्ञात पूर्व यदा भवत् ।

स्वसिद्धौ प्रेरक तत्स्यादन्यथा तत्र सिद्ध्यति ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । ]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

“प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणह विना क्वचित् ।

ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोग कार्यसङ्गता ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

लिङ्गादीनामर्थो विधिरिति । -विधि० पृ० ४८ ।

(१) तुलना—केपाञ्चिद्विङ्गादिप्रत्ययाथ गुदोऽयनिरपेक्ष कायरूपो नियोग । -अष्टसह० पृ० ६ । तत्वायश्लो० पृ० २६१ । (२) ‘शब्दान्तराणि स्वाथपु व्युत्पद्यत यथव हि । आवापोद्गा पभवेन तथा काय लिङ्गादय ॥ लिङ्गादियुक्तवाक्यश्रवण तद्भावभाविना प्रवक्ष्या विगिष्टकार्यावग तिमनुमाय वाक्यस्य तावद्भुतामध्यवस्थिति । तत्रापि कोऽयमाग केन शब्दानाभिहित इति विवचने लिङ्गाद्यावापेन कार्यावगतिदानात् तदुद्गारे चादशनात् त एव कार्यावगति कुवन्तीति शब्दान्तरवत् लिङ्गादीना कायवाचकत्वव्युत्पत्तिसिद्धि कायमेव हि सवत्र प्रवृत्तावेकारणम् । प्रवक्ष्यभ्यभिचारि त्वाल्लिङ्गाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ ( पृ० १७९ ) कायस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्याथत्व च युज्यते । वाक्य तदव हि प्राह नियोज्यविषयावित्तम ॥’ -प्रक० पृ० पृ० १८८ । अत कुत्सो वेद कार्यपरत एव प्रमाणम् । इदमेव काय मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति स्वात्मनि पुरुष नियुञ्जनो नियोग इति गीयते । -तत्र रह० पृ० ६६ । लिङ्गादेरवगम्यमान कायरूप प्रेरणाभा च वाक्यार्थो नियोग । - वायम० पृ० ३५५ । (३) नियोग—आ० टि० । तुलना— प्रत्ययार्था नियागश्च यत शुद्ध प्रतीयते । कायरूपश्च तेनात्र शुद्ध कायमसौ मत ॥ विषयण तु यत्तस्य किञ्चिदयत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्त धात्वर्थ स्वगकामवत् ॥ प्रकञ्च तु यत्तस्य विषयणमिहृष्यते तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्ध काय नियोगता ॥’ -अष्टसह० पृ० ६ । तत्वायश्लो० पृ० २६१ । प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । (४) परेण शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यागम् । -अष्टसह० पृ० ६ । तत्वायश्लो० पृ० २६१ । तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग इति पक्ष प्रेरणाया नियोज्यतारूपत्वात् यागनिरूपितनियोज्यतावान् स्वगकाम इत्यवमाद्यो बोध । ततो नियोज्येन नियोजकाक्षपात् यागविषयक स्वगकामीय नियोजकमित्योपादानिका पूवविषयो द्वितीय इत्यादि बोध्यम् । -अष्टसह० यशो० पृ० ४९ A । (५) स्व प्रवृद्धघते—अष्टसह०, तत्वायश्लो० । (६) प्रयोक्तु—आ० टि० । (७) आस्ता तावत् क्रया त्रके गमनागमनादिका । अन्त स्तनपानादिस्तुप्ति कायपि या त्रिया ॥ सा यावत्तम कायमिति नवावधायते । तावत् कदापि न तत्र प्रवृत्तिरभवत् हि ॥’ -प्रक० पृ० पृ० १७७ । (८) ज्ञान पूव स्वसिद्धये -तत्वायश्लो० पृ० २६१ । (९) तुलना— प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्वायश्लो० पृ० २६१ ।

यते—एका परचशस्य, अन्या तु प्रेक्षापूर्वकारिणः । तत्राद्यपक्षे हठाद् यागादिकर्मणि  
 बौद्धादेरपि प्रवृत्तिः शब्देन क्रियतां पुरुषस्वातन्त्र्याभावात् । न खलु बलवज्जलप्रभञ्जन-  
 प्रेरितस्य स्वातन्त्र्याभावे हठात्प्रवृत्तिर्न दृष्टा ‘अनिच्छन्नप्यहं प्रभञ्जनादिना प्रेरितः प्रवर्त्तते’  
 इति प्रतीतेः । द्वितीयपक्षे तु ‘येनाहं शब्देन प्रवर्त्तितः स किं प्रवर्त्तनायोग्यो न वा’ इति  
 यावन्न प्रेक्षापूर्वकारी विमृशति तावन्न प्रवृत्तिं विदधाति । नहि ‘शब्देनाहं प्रवर्त्तितः’ इति  
 ‘अवश्यं प्रवर्त्तते’ इत्यसौ शब्दमात्रे समाश्रंसिति तत्कारित्वविरोधानुपपन्नात् । अतोऽपौरुषे-  
 यात् काकवासितप्रख्यात् शब्दात् कथं कस्यचित् प्रवृत्तिः स्यात् ? पौरुषेयस्यैव शब्दस्य  
 प्रवर्त्तनायोग्यत्वोपपत्तेः । तद्व्युत्पत्तेः कुतश्चिदाप्ततामवसाय प्रेक्षापूर्वकारिणः सद्द्वैद्याद्युपदे-  
 शादिव निःशङ्कं प्रवृत्तिसंभवात् । तस्मादपौरुषेयत्वे शब्दस्य पुरुषप्रवृत्तेरनङ्गत्वान्न  
 10 ‘शब्दस्य भावना—प्रवर्त्तकत्वं शब्दभावना’ इति पक्षो घटते ।

अथ शब्द एव भावना; तदप्यसाम्प्रतम्; शब्दस्वरूपमात्रस्य भावनास्वभावत्वे  
 घटादिशब्देष्वपि भावनाप्रसङ्गात् तन्मात्रस्य अत्राप्यविशिष्टत्वात् । तथा च “लिङ्गो-  
 द्भव्यप्रत्ययप्रत्याध्यायो विधिः ।” [ ] इति यत्रो विरुध्यते । तदेवं शब्दभावना-  
 स्वरूपस्य विचार्यमाणस्याऽव्यवस्थितेः कथं तया अर्थभावना भाव्येत ? यतो ‘भाव्य-  
 15 निष्ठो भावकव्यापारो भावना’ इति सुव्यवस्थितं स्यात् । द्वैविध्योपवर्णनञ्चास्याः  
 ग्युष्पसौरभव्यावर्णनान्न विशिष्यते । तन्न भावनारूपोऽपि विधिर्घटते ॥ ४ ॥

अपरे पुनः नियोगे एव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । तत्र चानेकधा

(१) प्रेक्षापूर्वकारी । (२) अन्यथा—शब्दमात्रे समाश्रयमे प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात् । (३)  
 “अथ मतम्—अभिधेयं भावना विधिलिङ्गाद्यर्थं इति, अत्रोच्यते—प्रवृत्ते सर्वतोऽर्थे वा प्रसङ्गात् कार्यतो  
 गते । अस्यानाभिधेयहेतोरभावाच्चाभिधेयं न ॥ विधिरित्यनुपपद्यते । अभिधा चेद्विधिः सर्वशब्दाना  
 यथास्वमभिधेयेषु तद्भाव इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गः अस्याविरोधात् ।”—विधिवि० पृ०  
 २१ । (४) शब्दस्वरूपमात्रस्य । (५) “लिङ्गोद्व्यपञ्चमलकाराणा विधिवर्च्य ।”—न्यायमु०  
 पृ० ५६० । “लिङ्गोद्व्यपञ्चमलकाराणा शब्दभावना”—जैमिनिन्या० पृ० ७५ । (६) शब्द-  
 भावनाया । (७) तुलना—“यत्तावदुक्तं शब्दव्यापार शब्दभावेनेति; तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽनर्थान्तर-  
 भूतोऽनर्थान्तरभूतो वा ?—अष्टसह० पृ० ३१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६२ । “या तु शब्दभावनं व लिङ्गाद्यर्थं  
 इति कीमारिलकुसुति मा तु प्रतीतिविमवादादिप्रतिहता । न हि विधिवाक्यध्याविपुषो लिङ्गादि-  
 म्बव्यापारमभिधेयते अतो मया प्रवर्त्तितव्यमिति मन्यते ।”—न्यायपरि० पृ० ३९८ । तन्त्ररह० पृ० ४८ ।  
 “तस्माल्लिङ्गादिजन्यबोधविषयाऽभिधेया इष्टसाधनत्वादिज्ञाननिरपेक्षायाः प्रवर्त्तकत्वं नियुक्तिकमेव ।”  
 —यथाकरणभू० ३० पृ० १५७ । (८) प्रभाकरमतानुयायिन । (९) तुलना—“कोऽयं नियोगो नाम ?  
 निगद्यो नि शेषार्थं यागार्थं युक्तिः निरवशेषो योग नियोगः । निरवशेषत्वम् अयोगस्य मनागप्य-  
 भावान्, अवश्यकर्तव्यता हि नियोगः ॥ नियोगप्रामाणिका हि नियोगप्रतिपत्तिमानत प्रवर्त्तते ।”  
 —प्रमाणार्थात्कालं० पृ० १४ । “नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योग नियोगः, तत्र मनागप्य-  
 यागानायाया सभवाभावात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । अष्टसह० पृ० ५ । “यदपि दर्शनम्—  
 प्रमाणान्तरागोचर शब्दमात्रालम्बनो नियुक्तोऽस्मीति प्रत्यात्मवेदनीय मुखादिबन् अपरामृष्टान्तरयो

चिप्रतिपत्तिः—केचित् लिङादिप्रत्ययार्थो नियोगः इत्यातिष्ठन्ते ।

“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते ।

कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । ]

इत्यभिधानात् । अन्ये तु प्रेरकत्वमेव नियोगः इति ब्रुवते ।

“प्रेरणीव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते ।

नाप्रेरितो यतः कश्चिद्युक्तं स्वं प्रपद्यते ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । ]

प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः इति चापरे मन्यन्ते ।

“भ्रमेद कार्यमित्येव ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् ।

स्वसिद्धौ प्रेरक तत्स्यादन्यथा तत्र सिद्ध्यति ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । ]

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इति चान्ये ।

“प्रेर्यते पुरुषो नेत्र कार्येणेह विना क्वचित् ।

ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

लिङादीनामर्थो विधिरिति ।—विधिवि० पृ० ४८ ।

(१) तुलना—“केपाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थं गृह्योऽन्यनिरपेक्ष काण्डरूपो नियाग ।”—अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (२) “शब्दान्तराणि स्वार्थेषु व्युत्पद्यन्त यथैव हि । आवापोडा-पभेदेन तथा कार्यं लिङादय ॥ लिङादियुक्तवाक्यश्रवणे तद्भावभाविन्या प्रवृत्त्या विशिष्टकार्यावग-तिमनुमाय वाक्यस्य तावद्धेतुतामध्यवस्यति । तत्रापि कोऽयं भाग केन शब्दाशेनाभिहित इति विवेचन लिङाद्यावापेन कार्यावगतिदर्शनात् तदुद्गारे चादर्शनात् त एव कार्यावगति कुर्वन्तीति शब्दान्तरवत् लिङादीना कार्यवाचकत्वव्युत्पत्तिसिद्धि कार्यमेव हि सवत्र प्रवृत्तावेककारणम् । प्रवृत्त्यव्यभिचारि-त्वाल्लिङाद्यर्थोऽभिधीयते ॥ ( पृ० १७९ ) कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्व च युज्यते । वाक्य तदव हि प्राह नियोज्यविषयान्वितम् ॥”—प्रक० पृ० पृ० १८८ । “अत कृत्स्नो वेद कार्यपरत एव प्रमाणम् । इदमेव कार्य मानान्तरागोचरत्वात्पूर्वमिति, स्वात्मनि पुरुष नियोज्जानो नियोग इति गीयते ।”—तन्त्र-रह० पृ० ६६ । “लिङादेरवगम्यमान कार्यरूप प्रेरणात्मा च वाक्यार्थो नियोग ।”—न्यायम० पृ० ३५५ । (३) नियोग—आ० टि० । तुलना—“प्रत्ययार्थो नियोगश्च यत शुद्ध प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्ध कार्यमसौ मत ॥ विशेषण तु यत्तस्य किञ्चिदन्यत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्त धात्वर्थ स्वर्गकामवत् ॥ प्रेरकत्व तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्धे कार्ये नियोगता ॥”—अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । प्रमाणवातिकाल० पृ० २९ । (४) “परेषा शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यागय ।”—अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । “तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग इति पक्षे प्रेरणाया नियोज्यतारूपत्वात् यागनिरूपितनियोज्यतावान् स्वर्गकाम इत्यवमाद्यो बोध । ततो नियोज्येन नियोजकाक्षेपात् यागविषयक स्वर्गकामीय नियोजकमित्योपादानिकोऽपूर्वविषयो द्वितीय इत्यादि बोध्यम् ।”—अष्टसह० यशो० पृ० ४९ A । (५) ‘स्व प्रवृद्धधते’—अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो० । (६) प्रयोक्नु—आ० टि० । (७) “आस्ता तावत्त्रिया लाके गमनागमनादिका । अन्त स्तनपानादिस्तुलि-कार्येपि या क्रिया ॥ सा यावन्मम कार्येयमिति नैवावधार्यते । तावत् कदापि म तत्र प्रवृत्तिरभवत्त हि ॥”—प्रक० पृ० पृ० १७७ । (८) ‘ज्ञान पूर्वं स्वसिद्धयं’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ । (९) तुलना—प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ ।

१ सर्वे थ० । ३—ति इति कार्य—थ० ।

कार्यस्यैव उपचारत प्रयर्त्तकत्व नियोग इत्यपरे । ५

“प्रेरणाविषय कार्य नै च तत्प्रेरक स्वत ।

व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमय उपचर्यते ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

कार्यप्रेरणयो सम्बन्धो नियोग इत्यन्ये ।

“प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् ।

कार्यं वा प्रेरणायोगं नियोगैस्तेन सम्मत ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

तत्समुदायो नियोग इत्येके ।

“परस्परविनाभूत द्वयमतत् प्रतीयत ।

नियोगं समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणाण्योयोर्मत ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

तदुभयस्यभारविनिर्मुक्त परमात्मस्वभावो नियोग इति केचित् ।

“सिद्धमकं यतो ब्रह्मं गतैर्भाम्नायत सदा ।

सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्ररकं कुत एव तत् ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

र्यन्त्रारूढो नियोग इत्यपरे ।

“कामी यत्रैव य कश्चिन्नियोगे सति तत्र स ।

विषयारूढमात्मानं मन्यमानं प्रवर्त्तते ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० ]

भोग्यरूपो नियोग इत्यपरे ।

“ममेद् भोग्यमित्येव भोग्यरूपं प्रतीयत । ममत्वनं च विज्ञानं भाक्त्यैव व्यवस्थितम् ॥

स्वामित्वनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेव स्वं निरुच्यते ॥

साध्यरूपतया येन ममदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्यनरूपेण भोग्यं स्व व्यपदिश्यते ॥

“सिद्धरूपं हि यद् भोग्यं न नियोगं स तावता । साध्यत्वनहं भोग्यस्य प्रेरकत्वाच्चियोगता ॥”

[ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । ]

पुरुष एव नियोग इति चापरे ।

“ममदं कार्यमित्येव मन्यते पुरुष सदा ।

पुंसं कार्यविशिष्टत्वं ‘नियोगोऽस्य च वाच्यता ॥” [ प्रमाणवातिकाल० पृ० ३० । ] इति ।

(१) प्रवर्त्तकत्वम—आ० शि० । (२) कार्यप्रेरणयो याग—तत्त्वार्थश्लो० । (३) विनियो  
परत्वम—आ० टि० । (४) ज्ञानम—आ० टि० । (५) ज्ञातम्—आ० टि० । (६) यन्त्रारूढो वृष्टा  
न्ततया यत्र स यन्त्रारूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्ययं । यत्रत स्वगकामं द्रव्यतो यागारू  
दत्वाभिमानवानं स्वगकाम इति बोधः । —अष्टसह० पृ० ४६ B । (७) स्वस्वामिभावो ज्ञातित  
—आ० शि० । स्व निरुच्यते—प्रमाणवातिकाल० । (८) नियोगं स्व्यादवाधित—तरवायश्लो० ।  
कायस्य सिद्धो जाताया तलुक्तं पुरुष मदा । भवत्साधित इत्येव पुमान् वाक्याय उच्यते ॥ —प्रमा  
णवातिकाल० पृ० ३० । अष्टसह० पृ० ६ । तरवायश्लो० पृ० २६२ ।

१ न तावत्प्र—ब० नचंतप्रे—श्र० । २—विनिमुक्तपरमा—आ० । ३ इत्यग्यं श्र०, व० । ४ तदेवं  
स्व आ० । ५ निरुच्यते आ० व० । ६—ता इति पुरुष श्र० । ७ नियोग्यस्य श्र० ।



तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो नियोज्यप्रेरणानिरपेक्षस्य कार्यस्य नियोगरूप-  
तोपगम्यते, तत्सापेक्षस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, तन्निरपेक्षस्य कार्यमात्रस्य  
अप्रवृत्तिहेतुतया नियोगत्वानुपपत्तेः । तत्सापेक्षस्य तु नियोगत्वे कथं कार्यस्यैव नियोग-  
रूपता ? त्रितयस्यापि प्रवृत्तिहेतुतया तद्रूपताप्रसङ्गात् । 'प्रेरणा नियोगः' इत्यप्यनेनापा-  
स्तम्, 'नियोज्यादिनिरपेक्षायाः' प्रेरणायाः प्रलापमात्रतया नियोगरूपतानुपपत्तेः । 5  
प्रेरणासहितं कार्यं नियोगः; इत्यप्ययुक्तम्, 'नियोज्याभावे नियोगस्यैवानुपपत्तेः' । कार्य-  
सहिता प्रेरणा नियोगः इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारात्. प्रवर्तकत्वं नियोगः,  
इत्यप्यसारम्, 'नियोज्यादिनिरपेक्षस्यास्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात् । कार्यप्रेरणयोः  
सम्बन्धोऽपि सम्बन्धिभ्योऽर्थान्तरभूतः सन्, अनर्थान्तरभूतो वा नियोगरूपतां प्रति-  
पद्यते ? न तावदर्थान्तरभूतः ; तथाभूतस्य सम्बन्धस्यैवाऽसंभवतो नियोगरूपतानुपपत्तेः । 10  
सम्बन्ध्यात्मनोऽपि सम्बन्धस्य प्रेयमाणपुरुषनिरपेक्षस्य नियोगरूपतानुपपत्तिरेव । समु-  
दायनियोगवादोऽप्यनेनैव प्रतिव्यूढः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो ब्रह्माद्वैतमव-  
लम्बते, तच्च प्रागेवं कृतोत्तरम् । यत्पुनः 'स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे  
सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानं प्रवर्तते' इति यन्त्रारूढनियोगाभिधानम्,  
तदप्यचारुः; अपौरुषेयवाक्ये नियोकृत्वस्य निराकृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च । 15

(१) नियोज्य प्रेरणाञ्चानपेक्षमाणस्य—आ० टि० । तुलना—“प्रेरणारहितं कार्यं नियोज्येन  
निर्वाजितम् । नियोगो नैव कस्यापि नियोग इति कीत्यते ॥ वृत्तिनियोगशब्दस्य शुद्धे कार्ये यदा मता ।  
सज्ञामात्रानियोगत्वं भवत्केन निवायते ॥ युक्तस्तु पुरुषं कार्यं यत्र नैव प्रतीयते ॥ नियोगं स कथ-  
न्नाम सिद्धातीतादिबोधवत् ॥ नियोजकस्य धर्मोऽपि नियोगो लोकसम्मतः । तदेव कार्यमिति चेत्,  
सिद्धत्वात्सासाध्यता ॥ साध्यत्वेन नियोगोऽप्यमिति चेद्वचपदिश्यते । विषये तस्य तत्त्वेनोपचारात्  
प्रकीर्तनम् । असिद्धस्य च तस्यास्तु कथं प्रेरकरूपता ॥ साध्यत्वेनावबोधोऽस्य प्रेरकत्वं यदीष्यते ।  
अप्रसिद्धस्य साध्यत्वं बोधं सिद्धात्मकस्य च ॥ परस्परविरुद्धत्वमेकस्य कथमिष्यते । साध्यरूपतया तस्य  
प्रतीतिं प्रेरिका यदि । नियोगत्वं प्रतीते स्यात् नियोगस्य तत्त्वत् ॥”—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ३२-  
३३ । 'प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासंभवात् । तस्मिन्नियोगकरणे स्वकम्बलस्य कूर्दालिकेति  
नामान्तरकरणमात्रं स्यात् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० ९ । (२) नियोज्यप्रेरणाकार्य-  
रूपस्य—आ० टि० । (३) नियोगरूपता—आ० टि० । (४) 'नियोज्यफलरहिताया प्रेरणाया  
प्रलापमानत्वात् ॥"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६५ । अष्टसह० पृ० १० । (५) “नियोज्यविरहे नियोगवि-  
रोधात् ॥”—अष्टसह० पृ० १० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (६) अत्रापि नियोज्याभावात्—आ० टि० ।  
(७) “नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात्, कदाचित् क्वचित् परमार्थतस्तस्य तथा-  
नुपलम्भात् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । अष्टसह० पृ० १० । (८) 'ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य  
सम्बन्धिनिरपेक्षस्य नियोगत्वापत्तदात् । सम्बन्ध्यात्मन सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्, प्रेय-  
माणपुरुषनिरपेक्षयो सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रणयानियोगत्वानुपपत्तः ।’—अष्टसह० पृ० १० ।  
तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६६ । (९) सम्बन्धिभ्यां भिन्नस्य । (१०) पृ० १५० । (११) तुलना—“यन्त्रा-  
रूढतया भोग्यभोक्तो सम्बन्ध उच्यते । न सम्बन्धोऽस्ति भोग्यात्मा रूढश्च न तरस्ता ॥ प्रतीतिकाले

भोग्यरूपस्तु नियोग फलस्वभावविधिनिरासेनैव निरस्त । पुरुषस्वभावत्वे तु नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्ग तस्य शाश्वतिकत्वात् ।

किञ्च, किमयं नियुक्ते इति नियोग, किं वा नियुक्ति, नियुज्यतेऽनेन इति वा ? तत्र प्रथमपक्षोऽनुपपन्न, नियुक्तिक्रियाया कर्तृत्वस्य प्रेक्षाप्रद्वर्तमानतया कार्यादिस्वभावे  
 ६ नियोगे सभवाभावात् । नहि 'अमुष्मै प्रयोजनाय अमुमहं नियोक्ष्ये' इति यस्य नास्ति परामर्शं तस्य नियोक्तृतोपपन्ना, स्वाम्यादौ तत्पराशब्दत्वेव अस्या प्रतीते । सलिलसमीरणन्यायेन नियोक्तृत्वे च प्रागुक्तदोषानुपपन्न । नहि नियोक्तृमात्रसद्भावत  
 कश्चित् प्रवर्त्तते, यावत् तदनुविधेयतामात्मनो न प्रतिपद्येत् । 'नियुक्तिर्नियोगं नियु-  
 ज्यतेऽनेनेति' वा' इत्यनुपपन्नम्, भावकरणयोः कर्तृकर्मापेक्षत्वात्, तयोश्चासभवे भाव-  
 १० करणयोरप्यसभवात् । न ह्यत्र कश्चिन्नियोक्ता विद्यते । शब्दस्य च नियोक्तृत्व  
 प्रागेव प्रतिपिद्धम् ।

किञ्च, अयं नियोग शब्दव्यापाररूप, पुरुषव्यापाररूप, उभयरूप, अनु-  
 भयरूपो वा ? प्रथमपक्षे शब्दभावनापक्षनिश्चितदोषानुपपन्न, शब्दव्यापारस्य शब्दभाव-  
 नारूपत्वात् । द्वितीयपक्षे तु अर्थभावनापक्षोक्तदूषणप्रसङ्ग पुरुषव्यापारस्य अर्थ-  
 १५ भावनास्वभावत्वात् । उभयपक्षेऽपि उभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुपपन्न ।

अनुभयपक्षेष्वसौ विपर्ययस्वभाव, फलस्वभाव, नि स्वभावो वा स्यात् ? यदि  
 विपर्ययस्वभाव, तदाऽसौ यागादिविपर्यय "अग्निष्टोमं यजेत स्वर्गकाम" [ ] इत्यादि  
 नियोक्तृवाक्यकाले अस्ति, न वा ? यदि नास्ति, तदा तत्स्वभावो नियोगोऽपि नास्तीति  
 कथमसौ खपुण्यवद् वाक्यार्थं स्यात् ? बुद्धशारूढस्य भौविनस्तस्य वाक्यार्थत्वे  
 सबस्य साध्यत्वेनास्वरूपता । तदेव तस्य रूपञ्चत् साध्यत्वस्य हानित ॥'-प्रमाणवार्तिककाल० पृ०  
 ३४ । तदपि न परमात्मवादप्रतिबूलम्, पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनान्तस्य च अविद्योदयनि-  
 बन्धनत्वात् ।'-अष्टसह० पृ० १० । तत्वाप्यश्लो० पृ० २६६ ।

(१) नियोक्तृताया । (२) यथाहि समीरण अभिप्रायशून्योऽपि सलिल समीरयति तथैव  
 अभिप्रायरहितस्यापि नियोक्तृता स्यादित्युक्ते प्राह । (३) प्रायश्चित्तव्यर्थ्यादि-आ० पृ० १० । (४)  
 तुलना-'अपि च नियोक्तृव्यापारो नियोगो न नियोक्तृविनाऽवकल्पते । न चास्य सम्भव अपौरुष  
 यत्वाभ्युपगमात् । -विधिवि० पृ० ६० । (५) तुलना- सत्र च वाक्यार्थे अष्टप्रकारो भेद-प्रमाण  
 किं नियोगं स्यात् प्रमेयमथवा पुन । उभयन विहीनो वा द्वयरूपोऽथवा पुन ॥ शब्दव्यापाररूपो वा  
 व्यापार. पुरुषस्य वा । द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा । -प्रमाणवार्तिककाल० पृ० ३१ ।  
 तत्वाप्यश्लो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० १० । (६) तुलना- नियुज्यमानविपर्ययनियोक्तृणा यदीप्यते ।  
 धर्मो नियोग सत्र न शब्दार्थेऽवतिष्ठते ॥ नियुज्यधमभावे हि तस्यानुपपत्तयता कुत । सिद्धोऽपि यद्यनु-  
 पपत्तयो नानुपपत्तिरतिभवेत् ॥'-प्रमाणवार्तिककाल० पृ० १६ । सोऽपि विपर्ययस्वभावो वा स्यात् फलस्व-  
 भावो वा, नि स्वभावो वा ? -अष्टसह० पृ० ८ । तत्वाप्यश्लो० पृ० २६२ । (७) तुलना- विपर्य-  
 यमतायामपि विपर्ययस्यापिर्निष्पत्त स्वरूपाभावात् कथं शब्दादमौ प्रत्यत शक्य ? -प्रमाणवार्तिककाल०  
 पृ० १७ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) विपर्ययस्वभाव । (९) भविष्यतो यागादिविपर्ययस्य ।

१ नियोक्तृतानुपपन्ना थ० । २-पद्यत आ० । ३-तित्तेत्य-थ०, -ति इत्य-आ० । ४-दूषणगण  
 प्र-व० । ५ उभयदोषानुपपन्ना थ० थ० ।

सौगतमर्तानुसरणप्रसङ्ग । अथ तत्काले सोऽस्ति, एवमपि न नियोगो वाक्यार्थ, तस्मै यागादिनिष्पादनार्थत्वात् । न चानैयोस्तादात्म्ये स्वात्मैव स्वात्मनो निष्पादको युक्तो विरोधात्, निष्पन्नस्य यागादे पुरुपादिवन्निष्पादनविरोधाच्च । अथ तस्य किञ्चिदनिष्पन्न रूपमस्ति तन्निष्पादनार्थो नियोग, तर्हि तत्स्वभावो नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थ ? कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स एव सौगतमर्तानुप्रवेश । फलस्वभावो नियोग, इत्यप्युक्तम्, नहि स्वर्गादिफल नियोगो घटते फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गान्, निष्फलस्य नियोगस्यानुपपत्ते । फलांतरस्य च फलस्वभावनियोगवादिना नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलरूपने अनवस्थाप्रसङ्ग । फलस्य च वाक्यकालेऽसन्निहितत्वात् तत्स्वभावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थ ? बुद्ध्यारूढस्य वाक्यार्थत्वे परमंतप्रवेश-प्रसङ्ग । 'नि स्वभावो नियोग' इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम् नि स्वभावस्यास्य अन्यापोह-त्वानतिक्रमात् ।

किञ्च, अयं नियोग प्रवर्त्तकस्वभाव, अप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रथमपक्षे प्रभाकरवत् तांथागतादीनामपि प्रवर्त्तक स्यात् तस्यै सर्वथा प्रवर्त्तकस्वभावत्वात् । तेषां विपर्यासादप्रवर्त्तक इति चेत् न, 'भवेतामपि विपर्यासात् प्रवर्त्तक' इत्यपि वक्तुं शक्यं त्वात् । अथाप्रवर्त्तकस्वभावोऽसौ, तर्हि सिद्धस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभाव, स च वाक्यार्थ-त्वाभाव साधयति । न च अग्निष्टोमादिवाक्ये विपर्यादिपदार्थवाचकपदव्यतिरेकेण विपर्ययफलयो मध्यवर्त्तिन तदस्यस्य वा नियोगस्य वाचक किञ्चित्पदमस्ति, यत् सोऽपि विपर्यादिवत् पदार्थता प्रतिपद्येत । न चार्पणार्थो वाक्यार्थो भवितुमर्हति, अन्यो

(१) वाक्यप्रयोगकाल । तुलना- अथ तद्वाक्यकाले विद्यमानोऽसौ तर्हि न नियोगो वाक्य स्यात् तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात् निष्पन्नस्य च यागादे पुननिष्पादनयोगात् । -अष्टसह० पृ० ८ । (२) नियोगस्य । (३) विपर्ययनियोगयो आ० टि० । (४) यागादे । (५) तुलना- द्वितीय पक्षेऽपि नासौ नियोग फलस्य भाव (भावि) त्वेन नियोगत्वाघटनात् तदा असन्निधानाच्च । तस्य वाक्या र्थत्वे निरालम्बनशब्दादाश्रयणात् कुत प्रभाकरमतसिद्धि ? -तत्त्वावश्लो० पृ० २६२ । अष्टसह० पृ० ८ । (६) सुगतमत । (७) स हि प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा ? -तत्त्वावश्लो० पृ० २६४ । अष्टसह० पृ० ८ । (८) तुलना- नियुक्तेन निवृत्तिश्चेत् (?) सवस्थात् प्रसज्यते । तत्स्वभावतया काशमनाकाश न वक्ष्यति ॥ स्वभावोऽपि विपर्यासादयथा यदि गम्यते । विपर्यासा विपर्यासव्यवस्था क करिष्यति ॥ -प्रमाणवातिकाल० पृ० १५ । (९) नियोगस्य । (१०) सौगता दीनाम । तुलना- तेषां विपर्यासादप्रवर्त्तक इति च त परेषामपि विपर्यासात् प्रवर्त्तकोऽस्तु । वाक्य हि वक्तुमु-प्राभाकरा विपर्ययस्तत्वात् शब्दनियोगात् प्रवर्त्तन्ते नतरे, तेषामविपर्ययस्तत्वादिति । सौगतादया विपर्ययस्ता तमतस्य प्रमाणवाधितत्वात् न पुन प्राभाकरा इयपि पक्षपातमात्रम् तमतस्यापि प्रमाणवाधितत्वाविद्यतात् । -अष्टसह० पृ० ९ । तत्त्वावश्लो० पृ० २६४ । (११) प्राभाकरापामपि । (१२) तुलना- पदाथ एव वाक्यार्थो न च सौजन्यगोचर । तत्र पदाथस्यैव पदार्थान्तरपक्षकल्पित विपर्ययस्य वाक्यापत्त्वात्पदाथत्वे तदनुपपत्ति । -विधिवि० पृ० ४९ ।

१-तानुसारेण प्र-आ० ब० । २ अथ किं थ० । ३ इत्यप्यनेन ब० थ० । ४ तथागता-थ० । ५-स्वभावात् आ० । ६ इति वक्तुं आ०, थ० ।

न्यसापेक्षपदान्तरनिरपेक्षपदार्थसमुदायलक्षणत्वाद् वाक्यार्थस्य । तन्न नियोगोऽपि वाक्यार्थो घटते ॥ छ ॥

येऽपि प्रेपर्णाध्येपणाभ्यनुज्ञालक्षणः प्रयोक्तृधर्मः प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रसिद्धो विधिः इत्यौमनन्ति, तेप्यतत्त्वज्ञाः; पुरुषसम्यन्वशून्येषु वेदवाक्येषु पुरुषधर्मतया प्रसिद्धानां प्रेपर्णादीनाम् अत्यन्तासंभवतो विधित्वकल्पनानुपपत्तेः । तत्रैतेषां कल्पने वा पौरुषेयत्वानु-  
पद्गाद् अपौरुषेयत्वकल्पनानुपपत्तिरिति एकं सन्धित्सोरन्यत्रच्यवते । असत्कारपूर्विका हि व्यापारणा प्रेपर्णा उच्यते, सत्कारपूर्विका तु अध्येपणा, परेष्टस्य अप्रतिफूलवृत्तिरभ्य-  
नुज्ञेति सर्वे एते प्रेपर्णादयः पुरुषगताशयविशेषत्वभावत्वाद् अपौरुषेयेषु वेदवाक्येषु न मनागपि सङ्गच्छन्ते इति ॥ छ ॥

अन्ये तु प्रेपर्णादीनां प्रत्येक व्यभिचारान् अनेकशक्तिकल्पनादोपाच्च सर्वत्राऽन्य-  
भिचारिणः प्रवर्तनामात्रस्यैकस्य विधित्वमिति प्रतिपन्नाः, तेप्यसमीक्षिततत्त्वाः; निर्विशो-

(१) "तत्र विधि प्ररणम् भूत्यादानिकृष्टम्य प्रवर्तनम् । निमग्नर्ण निवोगकरणम्, आवश्यके

वा । यथा अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादि ।"-न्यायभा० २।१।६३ । "यद्वाक्य विधत्ते इदं कुर्या-  
दिति स नियोग । अनुज्ञातु यत्कर्तारमनुजानाति तदनुज्ञावाक्यम् ।"-न्यायवा० ४० २६९ । "विधिवं-  
क्तुरभिप्राय प्रवृत्त्यादो लिडादिभिः । अभिधेयोऽनुमेया तु क्त्वरिष्टान्भुषायता ॥ प्रवृत्त्यादो इत्यादिप-  
दानिवृत्ति, विषयसप्तमीयम्, तेन प्रवृत्तिनिवृत्तिविषय. आप्ताभिप्रायो लिडर्थ इत्यर्थ । प्रवर्तकमित्-  
साधनताज्ञानमेव लिडर्थत्वप्ताभिप्रायो लाषवादिति भाव ।"-न्यायकुसु०, प्रका० ५।१५ । (३)  
"अपौरुषेये प्रेपर्णादिधर्मो नावकल्पते । लोके हि प्रतीते प्रेपर्णाध्येपणाभ्यनुज्ञालक्षणोऽभिप्रायातिशय  
प्रयोक्तृधर्मो लिडर्थ, तस्यापौरुषेयेषु वेदवाक्येष्वमभव । प्रतीते सभव इति चेत्, न; पौरुषेय-  
त्वापत्ते ।"-विधिवि० ५० २३ । "आज्ञादिस्तु न वेदार्थं पुषमत्वेन युज्यते ।"-न्यायसु० ४० ३७ ।  
(४) वेदे । (५) पुरुषाभिप्रायरूपाणां प्रेपर्णादीनाम् । (६) द्रष्टव्यम्-५० ५८० टि० ४ । (७) मीमांसकव्या-  
करणादयः । "एतच्चतुष्टयानुगतप्रवर्तनात्वेन वाच्यता लाषवात् । उक्तञ्च-अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूत  
चतुर्विंशति । तत्रैव लिङ् विधातव्य किं भेदस्य विवक्षया ॥ न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चाथमव्यापि  
वा । विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः श्रुतिमिति । प्रवर्तनात्त्वञ्च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदक-  
त्वम् । तच्छेष्टसाधनत्वस्यास्ति इति तदेव विध्यर्थ ।"-व्याकरणभू० ५० १४५ । "तत्र च प्रेपर्णादीना  
विशेषाणा व्यभिचारित्वेन अवाच्यत्वात् सर्वानुयायिन प्रवर्तनासामान्यस्य वाच्यत्वेऽवगते ।"-न्यायसु०  
४० ३० । "तत्र चावापोद्वापाम्या प्रवर्तनाया विधिशक्तिसमवधारयति । प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारः प्रवर्तना  
स च व्यापार प्रेपर्णादिरूपो विविध इति प्रत्येक व्यभिचारित्वाद्द्विविधत्वाच्चत्वात्प्रवर्तनासामान्य-  
मेव विधिशब्दवाच्यमिति कल्पयति ।"-मीमांसान्याय० ४० १८० । (८) "न च प्रवर्तनामात्रमवि-  
शपमकर्तृकम् । यदपि मतम्-अनेकसामर्थ्यपरिकल्पनादोपाद् व्यभिचाराच्च प्रेपर्णादीनामवाच्यत्वादेव्य-  
भिचारात्प्रवर्तनामात्र लोके लिडाथर्थं तस्य वेदेषुपपत्तिरिति; इदमप्यचतुरस्रम्, निर्विशेषसामान्या-  
योगात्, अकर्तृकत्वे व्यापारानुपपत्तश्च । न तावत् प्रेपर्णादयो विशेषा सम्भविन । नाप्यन्यो विशेष  
कश्चिदुपदर्शयते । तदुपदर्शने वा सामान्यस्याभिधानमस्मिन्नवसरे व्यर्थम् । तदेतदपास्तसकलभेद प्रवर्त-  
नासामान्य ब्राह्मण्यमिव समुञ्जितकटादिभेद स्यात् । प्रवर्तना च प्रवर्तयितुर्व्यापारः, स तमन्तरेण नाति-  
विराजते, पुरुषस्याभावात् सन्दस्य च प्रवर्तकत्वनिषेधात् प्रवर्तयितुरभाव ।"-विधिवि० ५० २५-२६ ।

१-लक्षणप्रयो-आ० । २-प्रेपर्णादीनां ध० ।

पस्य सामान्यस्यैवाऽसंभवात् । यथैव हि खण्डादिविशेषशून्य गोत्वादि न संभवति, एवं परित्यक्तप्रैपादिविशेषं प्रवर्तनामात्रमपि । वेदस्य चाऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमे पुरुषग-  
तारायविशेषस्वभावानां प्रैपादिविशेषाणामसंभवात् का प्रवर्तनामात्रस्य सभावनापि ?

यच्चोक्तम्—'प्रैपादीनां व्यभिचारात्' इत्यादि; तदर्थुक्तम्; यथासंभवं यथास्व-  
रूपञ्च प्रवर्तकत्वाभ्युपगमात् । यदा हि प्रेपणातः प्रवर्तते तदा तस्याः प्रवर्तकत्वम्, यदा 5  
तु अध्येपणातस्तदा तस्या इति । नहि 'कदाचिद्दीर्घाः शुक्लादिस्वरूपास्तन्तव- पटस्य  
जनकाः कदाचिन्तु ह्रस्वा रक्तादिस्वभावा वा' इत्येतावता तन्तुव्यतिरिक्तस्यान्यस्यैव  
कस्यचित्पटोत्पत्तिं प्रति उपादानकारणत्व युक्त प्रतीतिविरोधात् ॥ छ ॥

अन्ये त्वाहुः—फलं प्रवर्तकम्, तद्व्यापारः प्रवर्तना । सर्वोऽपि हि प्रेक्षापूर्वकारी  
फलोद्देशेन प्रवर्तते, अतः फलस्य प्रवर्तकत्वम् । प्रीत्यात्मकता तस्य प्रवृत्तौ व्यापारः 10  
स एव च प्रवर्तना विधिरिति; तदप्यसङ्गतम्, फलस्य प्रवृत्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । नहि  
अयगतमपि फलम् अर्थिता विना प्रवृत्तिहेतुः । सर्वस्य सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।  
अर्थिता च न फलस्य व्यापारः, किन्तु प्रैतिपनुरिच्छारूपतया तद्धर्मत्वात् । अर्थ  
फलस्य प्रीत्यात्मकत्वमन्तरेण इच्छाया एयानुत्पत्तेः तर्तुत्पादनद्वारेण फलधर्मस्य प्रीत्या-  
त्मकत्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वम्; नन्वेवमपि प्रीत्यात्मकत्वस्य फले एवाऽवस्थानात् तत्रैव 15  
आत्मनः प्रवृत्तिः स्यात् न कर्मणि । अतोऽर्थान्तरत्वात्तस्य । नह्यन्यैदभिलषितम् अन्यैत्र

(१) पृ० ५८८ प० १० । (२) प्रेपणाया विधित्वे अध्येपणाया विधित्वे न स्यात् अध्येपणाया  
विधित्वे च प्रेपणाया विधित्वाभाव इति परस्पर व्यभिचार । प्रेपणादिपु प्रत्येक शक्तिकल्पने गौरवमिति  
भाव । (३) जयन्तभट्टप्रभृतय । 'फलस्यैवेव्यमाणस्य पश्यन् प्रेरकता मतः' । तस्मात्पुस प्रवृत्तौ प्रभवति  
न विधिर्नापि शब्दो लिङादि' । व्यापारोप्येतदीयो न हि पटुरभिधा भावनानामधेया ॥ न श्रेय साधनत्व  
विधिविषयगत नापि रागादिरेव । तेनास्वत्काम्यमान फलभमलमिति प्रेरक सूत्रकार ॥ क्वचित्सा-  
क्षात्वदोषात् क्वचित्प्रकरणागतम् । क्वचिदालोचनालभ्य फल सर्वत्र गम्यते ॥' तस्मात्फलस्य साध्यत्वात्  
सर्वत्र तदवर्जनात् । क्रियादीनाञ्च तादर्यात् तस्य वाक्यार्थतेष्यते ॥ प्राधान्ययोगादथवा फलस्य  
वाक्यार्थता तत्र सता हि यत्न । प्रयोजन सूत्रकृता तदेव प्रवर्तकत्वेन किलोपदिष्टम् ॥'—न्यायम०  
पृ० ३६२-६५ । (४) "यदि मन्येत फल प्रवर्तक तद्व्यापार प्रवर्तना, फलाधिने पुरुषस्य तत्साधने  
प्रवृत्ते अन्यथाऽभावात् । न कश्चिद्व्यापारविशेष प्रवर्तना अपि तु प्रवृत्तिसमर्थ व्यापारमात्र च प्रयोज-  
कव्यापारः, भिक्षा वासयति कारीपोऽग्निरध्यापयतीति दर्शनात्, तदसत्, अर्थिता व्यापृति पुसो नियम  
किप्रिवन्धन । फलसाधनता कर्मनिश्चेया साध्यता कदा ॥"—विधिर्वि० पृ० २६ । (५) आत्मन-  
आ० टि० । (६) पुरुषधर्मत्वात् । "फलाधिता चेत् प्रवृत्तिहेतु, सेच्छा तद्योगो वा इच्छासमवायो  
वा 'कृतद्वितसमासेपु सम्बन्धाभिधान त्वतल्भ्याम्' इति वचनात् पुरुषधर्म इति न फल व्यापृति ।"  
—विधिर्वि० पृ० २७ । (७) "अथ तदिच्छोपहारमुखेन फलस्य प्रवृत्तिहेतुधर्मं प्रीत्यात्मता फलव्यापार  
प्रवर्तना, सापि तत्रैव न कर्मणि । फलव्यापाराच्च प्रवर्तमान सर्वत्र प्रवर्तते नियमनिमित्ताभावात् ।"  
—विधिर्वि० पृ० २७ । (८) इच्छोत्पादनमुखेन । (९) सूरि-आ० टि० । (१०) फले एव । (११)  
फलात्-आ० टि० । (१२) कर्मण-आ० टि० (१३) फलम् । (१४) कर्मणि यागादौ ।

प्रवृत्तिः अतिप्रसङ्गात् । अथाऽभिप्रेतफलसाधनत्वात् कर्मण्येव प्रवृत्तेर्नातिप्रसङ्गः, न खलु प्रेक्षापूर्वकारिणः उपायं परित्यज्य अनुपायेऽसाधने वा साध्ये प्रवर्तन्ते; कथमेवं फलस्य प्रवर्तकता तत्साधनस्यैव तत्प्रसङ्गात् ।

ननु निर्यतकर्मसाध्यतायाः फलसमवेतायाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् फलस्य प्रवर्तकत्वम्, नियते च उपायभूते कर्मणि प्रवृत्तिरविरुद्धा, ननु केयं तत्साध्यता-फलस्य स्वरूपम्, शक्तिभेदो वा ? यदि स्वरूपम्; तदा तस्य सर्वत्राविशेषात् निर्यतकर्मणीव अर्थान्तरेऽपि प्रवृत्तिः स्यात् । नहि तृप्तिः भुज्यपेक्षयैव तृप्तिर्भवति नाग्न्यपेक्षया इति, तृप्त्यर्थिना अत्रापि प्रवर्तितव्यम् । शक्तिभेदोऽपि फलस्य स्वसत्त्वकाले, अभावकाले वा स्यात् ? तत्राद्यधिकल्पोऽयुक्तः, यतः प्रतिनियतादेव कर्मणः प्रतिनियतस्य फलस्योत्पत्त्यर्थं तच्छक्तिभेदः परिकल्प्यते । न चोत्पन्नस्य सम्बन्धिनी शक्तिः उत्पादनियमे समुपयुज्यते । न खलु उत्पन्नं शक्तिवशादुत्पद्यते विरोधात् । द्वितीयधिकल्पोऽप्यसुन्दरः; नहि फलमविद्यमानं सपुष्पप्रख्यं साध्यताख्यशक्तिभेदाश्रयो भवितुमर्हति । तर्दीश्रयत्वे वा तस्योऽसत्त्वविरोधः; असतः सकलशक्तिविरहलक्षणत्वात् ।

किञ्च, इदं फलं विद्यमानं सत् पुरुषं प्रेरयति, अविद्यमानं वा ? यदि विद्य-

(१) "तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते न सर्वत्र, एत एव तर्हि तत्साधनत्व प्रवृत्तिहेतु कर्मणि न फलरूपम् तत्र च कर्मसमवायोति कर्म प्रवर्तकं स्यात् । चोदयति-तत्साधनत्वात् कर्मण्येव प्रवर्तते सर्वत्र सर्वेषां फलसाधनत्वाभावात् । परिहरति-तत्र एव तत्साधनत्वे सति प्रवृत्तिभावादेव । भवतु तर्हि तत्साधनत्व प्रवृत्तिहेतु कर्मणि, न फलरूपम् । भवतु को दोष ? इत्यत आह-तत्र च कर्मसमवायि न फलसमवायोति कर्म प्रवर्तकं स्यात् ।"-विधिषि०, टी० पृ० २७-२८ । (२) फलसाधनभूतस्य यागस्यैव प्रवर्तकत्व स्यात्, यागस्य तत्साधनत्वे निश्चिते सत्येव प्रवृत्तिदर्शनात् । (३) "एव तर्हि तत्साध्यता प्रवृत्तिहेतु, सा च फलसमवायिनीति न दोष, तथाहि समभिलषितस्य तुप्त्याद्रे कर्मविशेषण साध्यत्वात्तत्रैव प्रवृत्तिः, वा पुनरिय साध्यता ? यदि रूप फलस्य; सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसङ्ग । एतदुक्तं भवति-फलसमवायिन्यपि साध्यता साधनाधीननिरूपणतया साधनमपि गोचरयति न पुनरसाधनमपि तेनैव तस्माद्विशेषात् साधन एव प्रवर्तयति न तु सर्वत्रेति । तदेतद् दूषयति-का पुनरिय साध्यता ? यदि रूप फलस्य, ततस्तस्य साधनाधीननिरूपणत्वाभावात् साधने प्रवर्तयेत् प्रवर्तयेद्वा सर्वत्रैव अन्यत्वाविशेषात् ।"-विधिषि०, टी० पृ० २८ । (४) ज्योतिष्टोमादियागत्रयता हि स्वर्गादिषु तसमवायिनी अत वस्तुन यागसाध्यताया प्रवृत्तिहेतुत्वे फलस्यैव प्रवर्तकत्वं फलितमिति भाव । (५) नियतकर्मसाध्यता । (६) फलभूतस्वर्गस्वरूपस्य । (७) ज्योतिष्टोमादिवत् (८) गोवधादो-धा० टि० । (९) शक्तिविशेष । (१०) "यदा पुनरय शक्तिभेद साध्यताभिधान ? फलस्य भावममम न तान्, बंधर्थादप्रवृत्तिहेतुत्वाच्च । न सत्त्वप्रसत्यात्पाद यजोगिनी शक्तिरर्थवती । नापि शिष्टे फले तत्साधन बन्धितप्रवर्तते ।"-विधिषि० पृ० २९ । (११) उत्पन्नस्य उत्पत्तिविरापात्, अनुत्पन्नस्यैव हि समुत्पादो दुष्यते । (१२) "अभावकालेष्वसत् क्व शक्तिमत् सपुष्पवन्"-विधिषि० पृ० २९ । (१३) साध्यत्वरूपशक्तिविशेषापात्त्व । (१४) फलस्य । (१५) गतत्वापात्त्वे गत्येव तस्यादिनि भाव ।

१-साध्यतया प्रवृत्ति-थ० । २ तत्प्रवृत्ति-थ० । ३ नहि भु-थ० । ४ स्वसत्ताकाले थ०, व० ।

७ साध्यताशक्ति-थ०, व० । ८ तत्राधपद्यत्वे वा व० । ९ तत् थ० ।

मानम्; किमर्थं प्रेरयति ? फलार्थी हि पुरुषः प्रवर्त्तते, तच्चेद् विद्यते; अलं प्रवृत्त्या । नहि लोके यस्य यदस्ति स तदर्थं पुनः प्रवर्त्तते इति प्रतीतम् प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात् । सतोऽपि फलस्य आत्मसम्बन्धितां कर्तुं प्रवर्त्तते; इत्यप्ययुक्तम् ; यतः फलं सुखम्, दुखाभावश्च, तदुभयमप्युपजायमानम् आत्मसम्बद्धमेवोपजायते । अथ स्वर्गकामः पुरुषः स्वर्गादेः फलस्य विद्यमानस्यैव आत्मसम्बद्धतां कर्तुं प्रवर्त्तते; नन्वेवं पुत्रकामादौ का वार्त्ता ? नहि पुत्रादिफलस्य तदा विद्यमानता संभवति प्रतीतिविरोधात् ।

किञ्च, इदं फलं सत्तामात्रेण प्रवृत्तिहेतुः, साध्यताविशिष्टं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धेऽपि फले पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यात्, सत्तामात्रस्य तत्राप्यविशेषात् । न च सिद्धस्य सिद्धये प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्युक्ता तदनुपरमप्रसङ्गात् । अथ साध्यतावच्छिन्नं फलं प्रवृत्तिहेतुर्न केवलम् ; तदप्यनुपपन्नम् ; अनर्थिनोऽप्यर्थः प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । फलं हि साध्यतया विशिष्टं प्रतीयमानं यदि प्रतिपत्तारं प्रवर्त्तयति तदा अनर्थिनमपि प्रवर्त्तयेत्तदविशेषात् । तत्र विद्यमानस्यास्य प्रेरकत्वं युक्तम् । नाप्यविद्यमानस्य; अस्याऽसतः कारकत्वानुपपत्तेः, 'असच्च प्रेरकञ्च' इति विप्रतिषेधात् ॥ छ ॥

येऽपि 'फलाभिलाष एव' प्रेर्यगतः प्रेरकत्वाद् विधिः, अनर्थिनः प्रवृत्त्यप्रतीतेः, स हि शब्दमन्तरेणापि क्वचिदभिलाषिते वस्तुनि अर्थिनं पुरुषं प्रवर्त्तयति इत्याचक्षते; तेऽप्यसमीक्षितवाचः; अभिलाषस्य अव्यापकतया प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः । तदव्यापकता च बालकप्रवृत्तौ तदसंभवात्सुप्रसिद्धा । तथाहि—कश्चिदाचार्यप्रेरितो बालकः कार्यं किमपि कुर्वन् केनचित् प्रयोजनं पृष्ठः सञ्जुत्तरमाह—'न वेद्मि करणे अस्य किमपि प्रयोजनम्, केवलमाचार्यप्रेरितः करोमि' इति । ततः फलाभिलाषमन्तरेणापि पुरुषप्रवृत्तिप्रतीतेः अव्यापकः सर्वप्रवर्त्तनानां फलाभिलाषः ॥ छ ॥

अन्ये तु 'कर्मैव अभिप्रेतार्थप्रसाधकत्वाद् विधिः' इति प्रतिपन्नाः, तन्मतमप्यसङ्गतम्; कर्मणो विधिविषयतया विधिस्वभावत्वानुपपत्तेः । 'विधेरधिषयो हि कर्म

(१) फल स्वर्गादि । (२) निष्पन्नेऽपि फले प्रवृत्तौ प्रवृत्त्यनुपरमः स्यात् । (३) पुत्रकामनया क्रियमाणे पुत्रेऽपि न हि पुत्र स्वर्गादिवत् विद्यमानोऽस्ति । (४) प्रवृत्त्यविरामप्रसङ्गात् । (५) अर्थितारहितम्—आ० टि० । (६) साध्यतावच्छिन्नात् फलात् । (७) अविद्यमानफलस्य । (८) असत्त्वात् । (९) प्रेरकत्वे सत्त्वमेव स्यादिति भाव । (१०) पुरुषनिष्ठ । (११) "अस्तु तर्हि कर्म प्रवर्त्तकम्, अभिमतसाधनता तस्य प्रवर्त्तना, प्रवृत्तिहेतुरूपत्वात्; न, विषयत्वात् । तदेतद् दूषयति 'न' तस्य विषयत्वात्, प्रवृत्तिकर्तुं प्रयोजक प्रवर्त्तक । सिद्धश्च स भवति । तदिह सिद्ध चेत् कर्म प्रवृत्ते प्राक् प्रवृत्ते भावनाया विषयो न भाव्यम् । न जानु गगनमस्या भाव्य भविष्यति । विषयश्चेत् कर्म, असिद्धत्वात् कथं प्रवर्त्तकमित्यर्थं ।"—विधिवि०, टी० पृ० ३५ । (१२) न हि घटस्य ज्ञानविषयत्वे ज्ञानस्वभावता युक्ता—आ० टि० ।

१ अर्थिनोऽ—आ० । २ अर्थिनमपि आ० । ३—वेदविशे—श्र०, व० । ४—मानस्य प्रेर—आ० । ५ विधिविषय—श्र०, विधिविषय—व० ।

लोके प्रसिद्धं न तत्संभावम्, अतोऽन्येनात्रै प्रवर्त्तकेन हि भवितव्यम् । नहि स्वस्यैव स्वात्मसिद्धयर्थं प्रवर्त्तकत्वं युक्तं विरोधात् ।

किञ्च, उत्पन्नं कर्म आत्मसिद्धयर्थं पुरुषं प्रवर्त्तयति, अनुत्पन्नं वा ? तत्र उत्पन्नस्य स्वरूपसिद्धेर्जातत्वात् पुरुषप्रेरणा व्यर्था । अनुत्पन्नस्य तु प्रेरकत्वानुपपत्तिः । सदेव हि किञ्चित् प्रेरकं नासत् परविषाणादिकम्, तर्थाविधस्य कारकत्वा-  
योगात् । असता चानेन सह अपौरुषेयवचसः सम्बन्धासंभवात् कथं तद् वेद-  
वाक्यैः प्रतिपाद्येत यतः पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वात् तद् वाक्यार्थः स्यात् । अथ सामान्यांका-  
रेण सत् कर्म विशेषाकारसम्पादनाय पुरुषं प्रेरयति; तन्न; येनांशेन तत् सन्न तेनां-  
शेन पुरुषसाध्यम्, येन चांशेन साध्यं न तेन तदभिधेयं सम्बन्धासंभवात् । नहि  
सम्बन्धाऽभिधेयाभिधानानां नित्यत्वाभ्युपगमे अनित्ये कर्मविशेषे नित्यस्य सम्बन्धस्य  
संभावनापि संभवति । लक्षणया तदप्रतिपत्तिः; इत्यप्ययुक्तम्; तस्मात्तद्वत् शब्दार्थनि-  
रूपणावसरे निरस्तत्वात् ॥ छ ॥

अथ आत्मनोऽप्राप्तक्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रवर्त्तकत्वाद् विधिः, 'तदेवं कर्म'  
इत्युक्ते हि क्रियासम्बन्धमात्मन्यवगम्य प्रवर्त्तमानाः प्रतीयन्ते लौकिका इति; तदप्य-  
युक्तम्; नहि क्रियासम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिलोके प्रतीयते, अपि तु तदनुरोधि-  
र्त्तया, अन्यथा सर्वस्यैव 'तदेवं कर्म' इति कर्मसम्बन्धप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिः प्रसज्येत,

(१) विधिस्वभावम् । (२) कर्मणि यागादौ । (३) असत् प्रवृत्तिक्रियाया कर्तृत्वस्वरूपस्य प्रवर्त्तकत्वस्य असम्भवात् । (४) कर्मणा । (५) याग इति—आ० टि० । (६) कारीपादि—आ० टि० । (७) सामान्येन—आ० टि० । (८) विशेषरूपेण—आ० टि० । (९) वेदवाक्येनाभिधेयम् । (१०) सङ्केत-अर्थ शब्दानाम् । (११) "ननु विधेलिङ्गादिवाक्यताभ्युपगमात् तदुच्चारणात् प्रागसिद्धत्वे सति अगृहीतसम्बन्धत्वेन वाच्यत्वायोगाल्लिङ्गाद्युच्चारणात् प्रागेव सिद्धे तत्परत्वे न युक्तमित्याशयस्य शब्दश्रवणानन्तरभाविप्रवृत्तिहेतुप्रेरणाश्रयेणानुत्पत्त्यापारानुत्पत्तप्रवर्त्तनानामान्याभिधानेन तद्विशेषापेक्षायामपोहणे वेदे पुरपधर्मस्य प्रेरणादेरसम्भवात् तद्व्यतिरिक्तविध्याभ्यस्य विशेषस्य परिशोष्याल्लक्षणया गम्यमानस्य सम्बन्धप्रवृत्तौ तदर्थेन प्राक् सिद्धयनेपेक्षणादधिकृष्टा दृष्टव्यापरस्तेति" —न्यायसु० पृ० ५५९, तय्य पृ० ३० । मोमासान्याय० पृ० १८० । (१२) विधि । (१३) लक्षणया । (१४) सम्बन्धवत् । (१५) पृ० ५७० । (१६) "यदपि समर्थनम्—अप्राप्तसम्बन्धया क्रियया आत्मन सम्बन्धस्य प्रतीत्या प्रवृत्ति यथाच तदेव कर्मेति लोके । अतएव अज्ञातज्ञापनमप्रवृत्तप्रवर्त्तनमभयविधप्राप्तिप्रतिषेधेन अप्राप्तक्रियाकर्तृसम्बन्धो विधिरिति विधिविदामुद्गारा ।"—विधिवि० पृ० ४० । (१७) "नतत्सारम्, यस्मान्—न प्रवृत्तिर्योगधियो लोकेऽभिप्रायवेदनात् । मृषा भवेत्तया काम किं मुधैव प्रयस्यति ॥ प्रतिपद्यता नामापमात्पत्तन क्रियायोग शब्दान्, तं च तथाभावे तथेति निदिचनोतु विगर्षयं नतदवमिति । प्रवर्त्तते तु वस्मान् ? लोके त्वय तदेव कर्मेति वचनादधिगतवक्त्रभिप्रायो यो मदभिप्रायानुरोधी स प्रवर्त्तितुमर्हति अन्यथा नवंस्य प्रवृत्ते ।"—विधिवि० पृ० ४१-४२ । (१८) वाक्यप्रयोक्तृपुरुषस्य अभिप्रायानुरोधात् प्रवर्त्तितवति अत्र अभिप्रायानुरोध एव विध्यर्थं स्यादिति नाव ।

१—तत्रेन भवि—४०, ४० । २ सह पौष्ट—४० । ३ तदेव कर्म ४० । ४ तद्विरोधितया ४० ।

५ तदेवं कर्म ४० ।



अतस्तदनुरोधितापि प्रवर्तकत्वाद् विधिः प्रसज्येत । सापि वा न प्राप्नोति, स्वामि-  
याक्यवद् वेदवाक्ये तस्याः सत्त्वाऽसंभवात् । 'इदं कुरु' इति वाक्याद्वि स्वामिनोऽभि-  
प्रायं विदित्वा तदिच्छानतिरुमेण तदनुरोधितया प्रवर्तते । न चैतद् वेदवाक्ये संभ-  
वति वक्तुरसत्त्वात् ॥ छ ॥

'येऽपि स्वर्गादिफलसाधनत्वेन धात्वर्थं प्रतीत्य पुरुषार्थसाधनत्वात्सिद्धेः 5  
प्रवर्त्तमहे इति श्रेयःसाधनत्वाख्यधर्मावगमः प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः' इत्याचक्षते,  
तेऽप्यशब्दार्थविद्ः, श्रेयःसाधनातायाः विधित्वेन लोकेऽप्रसिद्धेः, प्रैपादीनामेव तत्र  
तस्त्वेन प्रसिद्धेः । लिङादिशब्दवाच्यो हि विधिः । न च श्रेयःसाधनता तच्छब्द-  
वाच्यतया लोके प्रसिद्धा, येनास्या विधित्वं स्यात्, लोकानुसारेण च पदार्थव्यवस्था ।  
'य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः' [ शाबरभा० १।३।३० ] इत्यादिवचनान् । 10

किञ्च, कस्येय श्रेयःसाधनता-भावनायाः, धात्वर्थस्य वा ? न तावद् भाव-  
नायाः, तस्याः प्रागुक्तप्रकारेण असिद्धस्वरूपत्वात् । नापि धात्वर्थस्य, यागादेः पशुव-  
वप्रधानस्य श्रेयःसाधनत्वानुपपत्तेः । न यल्लु हिंसा श्रेयःसाधनम्, ब्राह्मणवधा-  
देरपि तैत्प्रसङ्गात् । 'विहितानुष्ठानत्वात्तत्साधनत्वे 'सधन ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादेरपि

(१) प्रयोक्तृपुरुषाभावात् अभिप्रायानुरोधिताया अभावात् । (२) मण्डनमिश्रादयः । मण्ड-  
नमिथा हि 'इदं मच्छ्रय साधनम्' इत्यवगमस्यैव प्रवृत्तिहेतुता स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तं तं - 'पुंसां नेष्टा-  
भ्युपायत्वात् क्रियास्वयं प्रवर्त्तकं । प्रवृत्तिहेतु धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥ प्रवृत्तिसमर्थो हि कश्चिद्  
भावातिशयो ध्यापाराभिधानं प्रवर्तना । सा च क्रियाणामपेक्षितोपायतैव । न हि तथात्वमप्रतिपद्य तत्र  
प्रवर्तते वरिचत् । दाय्याज्ञादिभ्यः प्रवृत्ति साऽपि कथमिदपेक्षितनिवन्धनत्वमुपाश्रित्यैव अन्यथाऽभा-  
वात् ।'-विधिधि० पृ० २४३ । 'तथा चोक्तम् तथा धात्वर्थकार्यत्वे पद श्रुत्योपदर्शिते । भावनाया  
विधिभ्रूत्या पुपार्थासत्ताध्यतेति ॥ श्रेय साधनता ह्येषा नित्यं वेदात् प्रतीयते (मी० श्लो० पृ० ४९ ।)  
इति च । तस्मादिष्टसाधनतैव विधि लिङ्गादिभिद्येति तद्युक्ताया भावनाया फलमेव भाव्य धात्वर्थस्तु  
करणमिति (पृ० ४६) तेनाभिधाव्यापारप्रवर्तनाभिधानवत् प्रवर्तनात्पेण इष्टसाधनता शब्दोऽभिवर्त्ते  
न स्वरूपेणेति न प्रतीतिविरोधः । इदमेव भगवतो मण्डनमिश्रस्यापि 'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वयं  
प्रवर्त्तकं । प्रवृत्तिहेतु धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् । एवञ्च प्रवर्तनात्प्रत्यय इत्यादि वदतोऽभिमतम् ।  
तदेव शब्दकर्तृकं प्रवर्तनारूपेऽसाधनत्वाभिधानमेव शब्दभावनेति गीयते ।'-न्यापररत्नमा० पृ० ४७,  
५३-५४ । "इष्टसाधनत्वमेव विधितत्त्वम्" तन्त्ररह० पृ० ४५ । "तथा च प्रवर्तनत्वानुरोधात् विधेरपि  
इष्टसाधनत्वादिकमवार्थं"-मुक्ता० पृ० ५१६ । (३) ज्योतिष्टोमादियामे । (४) लोके । (५)  
विधित्वेन । (६) श्रेय साधनतापरनाम्न्या इष्टसाधनताया । (७) उद्धृतमिदम्-तीताति० पृ० १३४ ।  
(८) तुलना-' किञ्च, भावनागत श्रेय साधनत्व प्रवर्त्तकमिष्यते तै, तच्च न पृथगभिधानु युक्तम् ।  
भावनाया अग्रत्वेन तस्त्वरूपवागमसमये एतदशयो स्वर्गायागयो साध्यसाधनभावावगतिविद्धे ।'-  
न्यायम० पृ० ३६१ । (९) श्रेय साधनत्वप्रसङ्गात् । (१०) यत्र हि वेदे विहितोऽत्र स श्रेय साध-  
नमित्युक्ते सत्याह । तुलना-' विधिपूर्वकस्य पश्वादिबधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात्  
असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्व  
मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गं भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु "-तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२ ।

1 विहितानुष्ठानस्य तत्सा-व० ।

‘विहितानुष्ठानत्वात् श्रेय साधनत्वानुपङ्गः । अप्रामाण्यञ्च ठकशास्त्रन्द वेदेऽप्यविशिष्टम् । अन्ये तु ‘उपदेशो विधिः’ इत्यामनन्ति । उपदेशशब्देनै च विषयो लिङादिः अभिधा चोच्यते । तत्र उपदिश्यते प्रत्याप्यते इत्युपदेशो विषयो यागादिः, उपदिश्यतेऽनेन इत्युपदेशो लिङादिः, उपदेशनमुपदेशः अभिधा उच्चारणमुच्यते, तदप्यसङ्गतम्, ठमोपदेशस्यापि विधित्वप्रसङ्गात् । भवत्परिकल्पितप्रक्रियायाः “अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम” [ ] इत्यादिवत् ‘साधन ब्राह्मण हन्याद्भूतिकामः’ इत्यादावपि तुल्यत्वात् ।

किञ्च, परानुग्रहप्रवृत्तस्य आप्तस्य वचनम् उपदेशः प्रसिद्धः । न च वेदे तथो-  
विधः कश्चित् पुरुषोऽस्ति अपौरुषेयत्वाभावप्रसङ्गात्, तत्कथमस्यै उपदेशतापि ?  
न खलु उपदेशव्यतिरेकेण उपदेशः कदाचित्प्रतिपन्नः । गुरुवैद्याद्युपदेशसद्भावे

(१) चौरसास्त्रविहितत्वात् । (२) उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम् -शाबरभा० १।१।५। ननु चोदनायाः प्रामाण्यं प्रतिज्ञातं कथमुपदेशस्य साध्यते ? अत आह-‘चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैवापवाचिनः । -मी० श्लो० सू० ५ श्लो० ११ । ‘उपदेशो नियोज्यायकमभिस्थितचोदना । प्रथितो गुरुवैद्यादी नित्यस्यि न न कल्प्यते ॥ यद्यप्याज्ञाऽभ्ययना वेदेऽनुपपन्ना उपदेशस्तु युज्यते । सोऽपि तद्भव प्ररणात्मकश्चतुर्थो ऋके प्रजायते । तथाहि-आज्ञाऽभ्ययनं हि नियोजनयमनाहितनियोज्यफलं कम गोचरयत । नियोज्यार्थं तूपदेशः । अनुज्ञा तु यद्यप्येव क्वचित् तथापि प्रवृत्तापुरुषविषयत्वान्नोपदेशः । नियोज्यायकमगोचरमप्रवृत्तप्रवचनमुपदेशमाचक्षते घोरः । न हि गामभ्याजं माणवकमध्यापय कुरु यथाभिमतमित्युपदेशप्रतीतिः । नापि भैक्ष्यं चत् (चर) उच्यते पथ्यमस्नीयादिति प्रतीतिः, भूयसा चप पौरुषयय कामायासास्त्रादिब्रह्माज्ञादिभिरनारूपितो ऋके प्रजायते गोपालादिवचनं मु च मार्गास्थान परेषु अनन पया गच्छति । प्रदद्यात्तच्छन्दम् अतोऽयंशब्दाभिधोच्चारणादिनातश्च वमकनृकरणभाव साधनत उपदेशात् न उच्यते । प्ररणादिवत् तैरपि हि यथाविधितमर्थादयो निर्दिश्यन्त सिद्धान्त-मुपक्रमते-उच्यते-उपदेशो विधो उपदेशस्तु युज्यते तस्य अपौरुषयस्यि सम्भवात् । न ह्यसौ नियोजका-यकमिति वक्ष्यति, यन चतनचतुश्च स्यात् न चामौ न त्रैविच अररणात्मको वा यनाविधि स्यात्त्याह-गोऽपि तद्भव जानावदव प्रेरणात्मकश्चतुर्थो ऋके प्रजायते । एतदुक्तं भवति-आज्ञाभ्ययनापदेशा-कमपि प्रवृत्तिजननं तद्गोचरयन्तो भवन्ति प्ररणात्मनया समाना । तपामानाभ्ययनाभ्या गोचरी विप्रमाणं कम अनादुननियोज्यप्रयोजनमानापादितुरभ्यर्थयमानस्य वा प्रयोजनायावकल्प्यते । उपदेशा-गोचरस्तु कम अनादुतोपदेशचन्द्रयानमुपदेशत्वव्यापयमेत्ययम् आनाभ्ययनाभ्यामुपदेशस्य भद प्ररणा-त्मकत्व इति निपाय्याप कम यस्यापदेशस्य न तु नियोजयथ स तथाकाल इत्यक्षरयोोजना । अररिष्यनस्य अरवृत्तस्य पुम प्रस्थापना चादना ननुपदेशो विधि स चायभदाभिधायकः, शब्द इति क्वचित्क्वचिदु-च्चारणमाह गृह्यस्योच्चारणमिति । क्वचिदथ विष्णुद्वाग्वक्त्वादिनि । क्वचिद्वचनम् चादननि-विन्याया प्रवृत्तं क्वचनमिति । क्वचिनं पानं शास्त्रं गृह्यविन्यासादस्मिन्निष्टस्य विन्यासमिति, वाचिक-कारणं अभिधा भावनामात्ररित्यभिधामिति । अत आह-प्रदनाय चत् विगिष्टं शब्दो विधिरिति । अशास्त्राभ्याञ्चारणादिनां च कर्मकनृकरणभावसाधनोपदेशात् न यथाययमुच्यते -विधिबि०, टी० ५० २३८-२४१ । (३) कर्मकरणभावसाधनमुपदेशः । (४) उपदेशात्प्रायश्चित्तस्य (५) गगनचन्द्रमिति । (६) अग्निष्ठातनं यत्र त्वगकाम १ चादि विधिवाक्यस्य ।

सत्येव 'भेक्षं चर, ध्यानाध्ययने कुरु, ज्वरितं औषधं पिबेत्, पथ्यमरनीयान्' इत्याद्युपदेशस्य प्रतीतिः । न च शब्द एव उपदेश इत्यभिधातव्यम्; अन्युत्पन्नस्याप्यतोऽर्थ-प्रतिपत्तिप्रसङ्गान् । अथ शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिसव्यपेक्ष एवासौ तस्यमुपदिशति; ननु कुतस्तद्व्युत्पत्तिः ? विशिष्टपुरुषाच्चेत्, स एव उपदेशऽस्तु किमनया परम्परया ? प्रतिपेत्यते च अपौरुषेयत्वमस्य अप्रे इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ छ ॥

येषु विषयस्य यासौ कर्तव्यताप्रतीतिः सैव प्रवर्तकत्वाद्धिधिः इति प्रतिजानते, नहि 'इदं मे कर्तव्यम्' इत्यप्रतिपद्यमानः कश्चित्प्रवर्तते इति, तेऽप्यसमीक्षितवचसः, यतः किं कर्तव्यताप्रतिपत्तिः निर्विशिष्टा प्रवृत्तिहेतुः, श्रेयःसाधनताविशिष्टा वा ? तत्रार्थपक्षोऽयुक्तः, सर्वस्य सर्वत्र कर्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण प्रवृत्तिप्रसङ्गान्, तथा च ब्राह्मणादिवधकर्तव्यताप्रतिपत्तिमात्रेण भवतस्तद्विधादावपि प्रवृत्तिः स्यात् । अथ श्रेयः-साधनताविशिष्टा सां प्रवृत्तिहेतुः, तर्हि श्रेयःसाधनतेव प्रवृत्तिहेतुत्वाद् विधिः स्यान्न कर्तव्यता तस्यास्तामन्तरेणाऽप्रवर्तकत्वात् । नचैतदप्युपपन्नम्, श्रेयःसाधनतायां विधित्वस्य प्रागेव प्रत्याख्यातत्वात् ॥ छ ॥

अपरेषां मतं प्रतिभैव प्रवर्तकत्वाद् विधिः । नहि प्रतिभाव्यतिरेकेण लिङा-

(१) "ननुक्तमुपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणम्, यद्येवमव्युत्पन्नस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्ग । उच्यते-विशिष्ट पुरुषार्थस्य शुद्धस्योपायमाह य । पुरुषार्थो यदा यन यो नरेणाभिकाङ्क्ष्यते ॥ पुरुषार्थस्योपायमनवगतमवगमयन्तुत्कर्पाद्विशिष्ट शब्द उक्त, अन्यथा सर्व एव शब्द शब्दान्तराद् भिन्न इत्यविशयमेव स्यात् । अतो नाऽविदितार्थस्य प्रवृत्तिः ।'-विधिवि० पू० २४० । (२) पुरुषार्थोपायताम् । (३) वेदस्य । (४) तुलना-"ननु कर्तव्यमिति प्रतिपत्ते प्रवृत्तिः । अत्र केचिदाम्नाय प्रतिश्राद्धमानिन प्राहु-ननु कर्तव्यमिति प्रतिपत्तः प्रवृत्तिः । इदमाकूतम्-कार्यदर्शानुपप्रवृत्तय खल्वमीतिडादयः । कार्यञ्च प्रवृत्तिलक्षण वृद्धानां लिङादिश्रवणसमनन्तरमुपलभ्यते । तच्च बुद्धिपूर्वक स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् अस्मत्प्रवृत्तित्वत् । अनुमिता च बुद्धि अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धिगोचरचारिणी प्रवृत्तिहेतुबुद्धित्वात् अस्मत्प्रवृत्तिहेतुबुद्धित्वत् । तस्याश्च विषय स्वयमेव चक्षुष्मीत्य पिण्डिकरोग (डिण्डिकराग) परित्यज्य पर्यालोचयन्त शब्दव्यापारपुरुषाशयतस्समीहिततत्साधनताव्युदासेन कर्तव्यतामेव प्रतिपद्या महे । तथाहि-स्तनपानादावपि न जातु समीहितोपाय इत्येव प्रवृत्ता स्म, किं तु कर्तव्यमेतदिति लिङादिश्रवणानन्तरा प्रवृत्ति कर्तव्यताभिधानमेव लिङादीनामापादयति । तथा च विदितसङ्गतितया लिङाद्यो वेदेशपि तामेवाभिदधते ।"-विधिवि० टी० पू० २४४ । (५) तुलना-"नन्वपेक्षितोपायतामन्तरेण कर्तव्यमिति शतशोऽप्यभिधीयमान न प्रवृत्तये कल्प्यत इत्यत अह-कथं हि तथा प्रतिपद्यमानो न प्रवर्तते ? शब्दस्तावत्कर्तव्यताया विदितसङ्गति तामवगमयति । तथा नैमित्तिकनिषेधाधिकारयो-रसौ प्रतीयमाना न शक्या नेति वक्तुम् ।"-विधिवि० टी० पू० २४५ । (६) ब्राह्मणवधादिनिषिद्धे कर्मणि । (७) कर्तव्यताप्रतिपत्ति । (८) कर्तव्यताप्रतीति । (९) श्रेय साधनताम् । (१०) श्रेय-साधनताविशिष्टकर्तव्यताप्रतीतिविधित्वम् । (११) वैयाकरणानाम् । "अभ्यासात्प्रतिभाहेतु शब्द सर्वोऽपरि स्मृत । बालाना च तिरश्चा च यद्यार्थप्रतिपादने ॥११९॥ विच्छेदग्रहणेऽर्थाना प्रतिभाऽयं व जायते । वाक्यार्थ इति तामाहु पदार्थरूपपादिताम् ॥१४५॥ इदं तदिति साज्यवामनाह्येया कथञ्चन ।

१-त औषधं आ० । २-पदेशप्रतीति आ० । ३-छ प-थ०, व० । ४-वत सबन आ० । ५-नाया विधि-व०, थ० ।

दिव्यापारोऽपि बलवत्सलिलसमीरणन्यायेन पुरुषं प्रवर्त्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । नापि विषयप्रतिपत्तिमात्रम्; अत एव । अतो या काचित् प्रवृत्तिः सा सर्वा प्रतिभासमानाकारनिर्णयैरूपप्रतिभापूर्विकैव । नहि प्रतिभातेऽप्यर्थे यावत् सुखसाधनमिदमिति प्रतिभा नोत्पद्यते तावत् कश्चित् प्रवर्त्तते । अतः साधनविशेषे<sup>१</sup> पुरस्कृते<sup>२</sup> क्रियाविशेषपरिस्फुरणं प्रतिभा । उक्तञ्च—“ विशिष्टसाधनाव्यवच्छिन्नक्रियाप्रतीत्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा ” [ विधिबि० पृ० २४६ ] इति; तदप्यसारम्; यतः “सिद्धे प्रतिभास्वरूपे विधिरूपता स्यात् । न च भवत्प्रतिपादितं प्रतिभायाः स्वरूपं युक्तम् । इन्द्रियादिवाह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवम् अर्थतथाभावप्रकाशं ज्ञानं प्रतिभेति प्रसिद्धम्—‘श्रो मे भ्राता आगन्ता’ इत्यादिवत्, न पुनः प्रतिभासमानाकारनिर्णयरूपतामात्रम्, निर्विकल्पकैवाध्यक्षोत्तरकालभाविनः सविकल्पकप्रत्यक्षस्यापि तद्रूपतया प्रतिभात्वानुपपन्नात्, तथा च सविकल्पकप्रत्यक्षवार्त्तोच्छेदः स्यात् ।

यदपि साधनविशेषे क्रियाविशेषपरिस्फुरणम्; तर्हि पूर्वोद्दिष्टसंस्कारवशात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारानुसारतः, चोदनातः, श्रो मे भ्रातेत्यादिवत् मनोमात्रतो वा स्यात् ? तत्राऽन्यविकल्पोऽयुक्तः; अश्रुतचोदनांवाक्यस्य यागादिसाधने क्रियाविशे-

प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्तापि न निरूप्यते ॥१४६॥ उपदलेपमिवावर्तिना सा करोत्यविचारिता । सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥१४७॥ साक्षाच्छब्देन जनिता भावनानुगमेन वा । इतिवर्त्तव्यताया ता न वरिचदतिवर्त्तते ॥१४८॥ प्रमाणत्वेन ता लोक सर्वः समनुपश्यति । समारम्भा प्रतीयन्ते तिर-क्षामपि तद्भगान् ॥१४९॥—वाक्यप० २।११९, १४५-४९ ।

(१) सर्वस्य श्रोतु प्रवृत्तिप्रसङ्गादेव । (२) प्रतिभासमानाकारो यो निर्णयः तद्रूपा प्रतिभा—आ० टि० । (३) तुलना—“न हीदमित्त्वमनेन वर्त्तव्यमित्यनुपजातप्रतिभाभेद प्रवर्त्तते प्रत्यक्षाद्यवगतेऽप्यर्थे । तत्र हि प्रमाणवार्त्तसमाप्ति । प्रतिभातेनो हि लोक इतिकर्त्तव्यतानु समीहते ।”—विधिबि० पृ० २४७-४८ । (४) यागादी—आ० टि० । (५) साधनविशेषमुद्दिश्य वर्त्तुमध्यवसिते—आ० टि० । (६) व्याख्या—“न हि ते प्रतिभाविदः ये संवेदनमनिश्चयात्मक प्रतिभामाचक्षुः । सद्यो हि स । यय तु साध्यसाधनेनिवर्त्तव्यतावच्छिन्नायाः नियायाः प्रतिपत्तावनुकूला तत्प्रतिपत्त्या कार्येऽनुष्ठानलक्षणं वर्त्तव्ये सहकारिणी वर्त्तव्यमिति प्रज्ञा प्रतिभामध्यगीप्सहि ।”—विधिबि० टी० पृ० २४७ । “नियतसाधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा”—तत्त्वसं० पृ० पृ० २८६ । (७) तुलना—“ब्रह्मनायविधातृणामुपीणामतीतानागतवर्त्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिनिवर्त्तयेषु ग्रन्थोपनिवर्त्तयेषु च आत्ममनसो सयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभ यथार्थनिवेदन ज्ञानमुच्यते तदार्षमित्याचक्षते । तनु प्रसारेण देवर्षाणाम् । उदाचिदेव लोकिवाना यथा वन्यवा ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽगन्तेति हृदय मे वषयतीति ।”—प्रज्ञ० भा० पृ० २५८ । “प्रमाण प्रतिभा श्वो मे भ्राताऽगन्तेति दृश्यते ।”—न्यायधर्म० पृ० १०६ । “प्रतिभा ऊह तद्भव प्रातिभम्”—योग० तत्त्वसं० ३।३३ । “प्रातिभ स्वप्रतिभोत्पमनोपदेशिव ज्ञानम् ।”—योगवा० ३।३३ । “तत्र दृष्टवारण विनेव अकस्माद् ध्ववहितविप्रवृष्टातीतानागतमूढमाद्यर्थ-स्फुरणे सामर्थ्यं प्रतिभा ।”—योगसं० पृ० ५५ । “इन्द्रियविज्ञानाभावे यदर्थप्रतिभान सा प्रतिभा”—प्रज्ञ० कन्द० पृ० २५८ । “प्रज्ञा नवनबोलेयसालिनी प्रतिभाऽन्य पी ।”—अलं० चि० पृ० २ । (८) जालोचना-ज्ञान—आ० टि० । (९) निर्णयव्यपत्तया । (१०) अग्निद्वेष जुहुवात् इत्यादि प्रवर्त्तकं हि यावत् चोदना ।

१ क्रियाविशेषे न पुरुष प्रवर्त्तयति सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात् परस्फुरणं यः । २ सिद्धे प्र—थ० ।

पस्य स्वप्नेऽप्यस्फुरणात् । प्राक्तनविकल्पत्रये तु प्रतिभात्व विरुद्धेति, अन्यथा सस्वारादिभ्यः समुत्पन्नानां स्मृत्यादीनामपि प्रतिभात्वानुपपन्नात् तदेवैक प्रमाणं स्यात् ॥४॥

“केचिद् भक्तिरेव प्रवर्तकत्वाद् विधिः इत्याचक्षते । न खलु श्रद्धापरपर्याया भक्तिं विना परमात्मश्रवणानुमननध्यानादौ यागादौ वा प्रवृत्तिः सम्भवति । तदुक्तम्—  
“अनवच्छिन्नपूर्णात्परशो नो भक्तितो विना ।” [ ]

भक्त्यशानुप्रेवेशेनेव च शास्त्रस्यापि राजशासनाद्भेदः । तद्वि अन्तर्भक्तिशून्य राजभयादीनामेव अन्तःपरिस्फुरणात् । उक्तञ्च—

“तथा शून्यं भवत् पुसा शास्त्रं शासनमावृत्तम् ।

भक्त्यशनं च तद्विन्नं लोके राजानुशासनात् ॥” [ ] इति ।

तदप्यसम्यक्, यस्मादुत्पन्ना सती भक्तिः प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात्, उत्पत्तिश्चास्याः शब्दान्, निग्रहानुग्रहसमर्थपुरुषविशेषाद्वा ? न तावच्छब्दादेव, “द्रष्टव्योरेयमात्मो” [बृहदा० ४।५।६] इत्यादिशब्दश्राविणोऽशेषस्यापि प्रतिपत्तु आत्मादौ भक्त्युत्पत्तिप्रसङ्गान् तदर्शनादौ प्रवृत्तिः स्यात् । तच्छब्दश्रवणाविशेषेऽपि अशेषस्य तदनुत्पत्तौ नासौ तन्मात्रहेतुका । यदविशेषेऽपि यत्रोत्पद्यते न तत् तन्मात्रहेतुकम् यथा अविशिष्टेऽपि बीजे अनुत्पद्यमानोऽङ्गुरः, नोत्पद्यते च अविशिष्टेऽपि शब्दे तच्छब्दश्राविणोऽशेषस्य आत्मादौ भक्तिरिति । अथ निग्रहानुग्रहसमर्थान् पुरुषाविशेषादभिमतं फलं वाञ्छता सोत्पद्यते, युक्तमेतत्, तस्यै एव भक्तिशब्दवान्यत्वप्रसिद्धेः । अपौरुषेयत्व तु वेदस्याऽयुक्तम्, तस्येव “पौरुषेयत्वप्रसिद्धेः । अनवच्छिन्नपूर्णत्वधर्मोपेतस्य चात्मनः प्रह्लाद्वैतप्रघट्टके प्रत्याख्यातत्वात्कथं कस्यचित्त्रं तर्थाविधंपुरुषादन्यतो” वा सरविपाणादिषु भक्तिः स्यात् ॥ छ ॥

(१) आदिपदेन प्रत्यक्षव्यापार गन्दी ग्राह्यी । (२) यथा [ जम ] स्मृत्यनुमानशब्दानाम्—आ० टि० । (३) प्रतिभास्वयम् । (४) एव च सति लिङ्गाद कोऽयमथ परिगृहीत इति चेत् यज् देवपूजायामिति देवताराधनभूतयागादं प्रकृत्यधस्य कतु व्यापारसाध्यता व्युत्पत्तिसिद्धा लिङ्गादयोऽभिदधीतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।—वेदाथ० पृ० २२५ । (५) “भक्तिस्तु निरतिग्यायान् दप्रियायान् य प्रयोजनसक्रेतवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव ।”—सबद० पृ० ३४४ । वेदाथ० पृ० १५२ । (६) राज्यशासनम् । (७) श्रद्धया । (८) शास्त्रम् । (९) आत्मा वा जरे द्रष्टव्यं धोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मंत्रय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ।—बृहदा० २।४।५, ४।५।६ । (१०) आत्मदर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनेषु । (११) भक्तिः । (१२) शब्दश्रवणमात्रनिबधना । (१३) भक्ति न शब्दश्रवणमात्रहेतुका शब्दश्रवणमपि अनुत्पद्यमानत्वात् । (१४) समर्थेश्वराराधनाया । (१५) यदि । वेद ईश्वराराधनरूपा भक्तिं विदधीत तदा धर्मोऽपि ईश्वरस्यैव प्रामाण्यं स्यात् तथा च वेदस्य अपौरुष्यत्वव्याघात, ईश्वरस्य निग्रहानुग्रहकरणवत् वेदकतृत्वमपि स्यादिति भावः । (१६) निरपाधिपुवत्व विशिष्टस्य ब्रह्मणः । (१७) पृ० १५०—। (१८) ब्रह्मणि । (१९) ईश्वरात् । (२०) वेदवाक्यादेर्वा ।

1—प्यपरिस्फुरणात् व० । 2 केचित्तु भ—व० । 3 भक्ति संव न त—व० । 4 प्रवृत्तेनिमि—थ० । 5 तत्तच्छब्द—थ० । 6—मतफल थ० । 7 तस्यै एव व० । 8—त्वप्रतिसिद्ध आ० । 9—णादिवद्भक्ति थ० ।

इच्छाप्रयत्नप्रभृतयोऽपि विधिप्रकाराः प्रागुक्तप्रकारेणैव प्रत्याख्येयाः, विषय-  
 फलादिनिरपेक्षणा तेषामपि पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वाभावतो विधिरूपतानुपपत्तोः । तत्सापेक्षणा  
 तु प्रवृत्तिहेतुत्वे कथं तेषामेव विधित्वं स्यात् विषयादीनामपि तत्रसद्भात् ? ततः पर-  
 परिस्मितस्वरूपस्य विधेर्विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः न तस्यापि शब्दार्थता घटते । अतः  
 तद्वानेव शब्दार्थोऽभ्युपगन्तव्यः । इति सूक्तम्—‘प्रमाणं श्रुतमर्थेषु’ इत्यादि ।

‘श्रुतज्ञानम्’ इत्यादिना कारिका व्याचष्टे—श्रुतज्ञानं शब्दज्ञानं वक्त्रभिप्रायाद-  
 धान्तरेऽपि बहिरर्थेऽपि न केवलं तदभिप्राय एव प्रमाणम् । तद-  
 नभ्युपगमे दूषणमाह—‘कथम्’ इत्यादि । कथम् ? न कथञ्चिद्  
 अन्यथा बहिरर्थे तत्प्रामाण्याभावप्रकारेण प्रतिपत्तुमर्हति सौगतोऽन्यो वा । किमित्याह—  
 द्वीपदेशनदीपर्वतादिकम् । कथम्भूतम् ? अदृष्टस्वभावकार्यम्, अप्रत्यक्षाऽननुमेयस्वरूप-  
 मित्यर्थः । पुनरपि कथम्भूतम् ? देशान्तरस्थम् । केन प्रकारेण ? दिग्बिभागेन ।  
 यथा दक्षिणदिग्बिभागे सिंहलद्वीप उत्तरदिग्बिभागे हिमवानिति । तमित्थम्भूतमर्थं  
 दिग्बिभागेन कथं प्रतिपत्तुमर्हति ? इत्याह—निरारेकमपिसंवादाच्च यथा भवति तथेति ।

ननु चार्थाभावेऽपि श्रुतेः प्रायः प्रवृत्तिदर्शनात् कचिदप्यसौ प्रमाणमित्याशङ्क्याह—  
 प्रायः श्रुतेर्विसंवादात् प्रतिबन्धमपश्यताम् ।

सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥ २७ ॥

विश्रुतिः—नहीन्द्रियज्ञानम् अन्तर्मध्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाण-  
 मतिप्रसङ्गात् । तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? यथा कृत्तिकादेः शकटादिज्ञानं

(१) अत्र सिद्धं न ताविकरीत्या इष्टसाधनत्वे लिङ्गाद्यर्थत्वमपि तु पूर्वोक्तरीत्या प्रवृत्तेच्छया  
 एव ।—नादृष्टह० पृ० ८ । (२) तुङ्गना—‘अपरं पुनलिङ्गादिगन्धध्वजं सति समुपजायमानमात्मस्व-  
 न्दविषयमुत्तमं नाम वासनायमाचक्षते, तत्स्वरूपं तु न वयं जानीम, कोऽन्मात्मस्वदो नाम बुद्धिर्वा  
 स्यात् प्रयत्नो वा इच्छाऽपयोरन्यतरा वा ।’—न्यायमं० पृ० ३६५ । (३) विषयः अग्निटोमादिषाण ।  
 (४) क३ स्वर्गादि । (५) इच्छाप्रयत्नादीनामपि । (६) विषयप्रादिसापेक्षणायां । (७) इच्छा-  
 प्रयत्नादीनामव । (८) विषयप्रसङ्गात्, उच्चं पूव निराहृतमिति । (९) सामान्यविषयात्साध्य  
 एव । (१०) श्रुति आगमज्ञानम् । (११) ‘चद् यदि नवत् । न ? अनाश्वासं अविदवाप्तं । न ?  
 सर्वत्र अविद्ययादिभूतिप्रामाण्ये । कथम् ? प्रतिबन्धमपश्यतां सन्नाथयो महज्जगत्पताउक्षणं मन्व-  
 यनीगमाधानां सौगतानाम् । कस्यात् ? विद्यवादात् । कस्या ? श्रुत आगमस्य । कथम् ? प्राय  
 सर्वविश्वज्ञाधिदित्यथ । तदा मात्त्रासवाद्यं समं समानं । वासात् ? अक्षलिङ्गधियां, अर्थाभिद्वयं  
 किञ्च ह्यु ताभ्यां त्रिणिश धियां ज्ञानानि नागामयि प्रथक्नमित्यथ बरचित्वदाविद्वयंवास्तवतात् ।  
 —सधो० ता० पृ० ४७ । (१२) इतिप्रज्ञानस्य उच्चं ‘अज्ञानम्’ इति विशेषणं सौगं प्रमुञ्च्य-  
 क्तानताऽहमज्ञानं प्रत्यक्षम् ।’ [ ग्यायब० १।६ ] इत्यनियतान् । (१३) प्रत्यक्षं उच्चं अन्वविचारि  
 इति विशेषणं नैवाधिकारं तां प्रयत् । ‘इतिप्रयत्नप्रवृत्तिसंवादात्प्रमत्तमन्वविचारि अन्वयानाम्कं  
 इति प्रयत्नम् ।’ [ ग्यायब० १।१४ ] इत्युक्त्यात् । (१४) अज्ञानादिनिर्वाणपरिधिः ।

१—तयो विधिप्रभृतयो (ब—भा०) । २—मुक्त्य—२०, ५० । ३—ज्ञानं वक्त्र—२० । ४—दिग्बिभा—५० ।

स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैव अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानं ज्ञानमविसंवादकम् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । क्वचिद्व्यभिचारात् साकल्येनानाश्वासे वक्त्रभिप्रायेऽपि वाचः कथमनाश्वासो न भ्यात् तत्रापि व्यभिचारसंभवात् ? तथानिच्छतः श्रुतिकल्पनादुदादेः उच्चारणात् ।

प्रायो बाहुल्येन श्रुतेः शब्दस्य तज्ज्ञानस्य वा विसंवादात् सर्वत्र सत्य-  
श्रुतावपि चेद् यदि अनाश्वासः । केयाम् ? अपश्यतां  
कारिकाव्याख्यानम्- सौगतानाम् । किम् ? इत्याह-प्रतिबन्धम्, सम्बन्धं सन्तमपि  
योग्यतारूपमविनाभावम्, [सः] सर्वत्रानाश्वासः अक्षलिङ्गधियां समः तासामपि  
प्रायो विसंवाद्दर्शनादित्यभिप्रायः ।

व्यतिरेकमुखेन कारिका व्याचष्टे 'नहि' इत्यादिना । नहि नैव इन्द्रियज्ञान  
प्रमाणम् । केन विनेत्याह-अभ्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषण-  
विवृतिव्याख्यानम्- मन्तरेण, तद्विशेषणे सत्येव तत्प्रमाणमिति । कुत एतदित्याह-अति-  
प्रसङ्गात्, द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । नहि निर्विशेषणस्य ज्ञानमात्रस्य  
प्रामाण्याभ्युपमे द्विचन्द्रादिज्ञानस्य प्रामाण्यव्यवच्छेदः कर्तुं शक्यः । अथ तद्विशेषणे  
सत्येव तत्प्रमाणं तेनायमदोषः, अत्राह-'तथा' इत्यादि । तथा अभ्रान्ताऽव्यभिचारि-  
प्रकारेण विशेषणे इन्द्रियज्ञानस्य अङ्गीक्रियमाणे श्रुतज्ञाने कौऽपरितोषः ? तस्यापि  
तद्विशेषणविशिष्टस्यैव प्रामाण्यमस्तु । ननु इन्द्रियज्ञानस्य अर्थकार्यत्वात् युक्तम्  
अभ्रान्तत्वमव्यभिचारित्वं वा न पुनः श्रुतज्ञानस्य विपर्ययात्, इत्याह-'यथा'  
इत्यादि । यथा येन योग्यताप्रकारेण कृत्तिकादेः सकाशात् यत् शकटादिज्ञानं तत्  
स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण, स्वभावप्रतिबन्धशब्देन तादात्म्यप्रतिबन्धस्तदुत्पत्तिसम्ब-  
न्धश्च गृह्यते 'स्यो भावः कारणम्' इति व्युत्पत्तेः, तमन्तरेण अविस्वादादकं तथैव तेनैव  
प्रकारेण अदृष्टप्रतिबन्धार्थाभिधानज्ञानम् अदृष्टः तादात्म्यादिप्रतिबन्धो यस्मिन् अर्था-

(१) तुलना-"स्वभावेऽप्यक्षतः सिद्धे परं पयन्युज्यते । तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ।"

-प्रमाणवातिकाल० पृ० ६८ । "न हि दृष्टेऽनुपपन्नता ।"-धवला० टी० पृ० ३२० । (२) तुलना-  
'विबन्धाप्रभव वाक्य स्वार्थं न प्रतिबध्यते । यतः कथं तत्सूचितेन लिङ्गेन तत्त्वव्यवस्थिति । वक्त्रभि-  
प्रायमान वाक्य सूचयन्तीत्यविशेषेणाक्षिपन् न पारम्पर्येणापि तत्त्व प्रतिपद्येत । न च वक्त्रभिप्रायमेका-  
न्तेन सूचयन्ति श्रुतिदृष्टादेरन्यत एव प्रसिद्धे ।"-सिद्धिबि० पृ० २६४ । (३) अभ्रान्तादिविशेषण-  
सहितत्वे । (४) इन्द्रियज्ञानादिकम् । (५) अभ्रान्तादिविशेषणयुक्तस्यैव । (६) अचमन्तरेणापि  
अतीतानागतौ शब्दप्रयोगदर्शनात् । (७) तुलना-"स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत् । तदप्र-  
तिबन्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ।"-न्यायबि० पृ० ४० ।

1-यभि-ज० वि० । 2-घानमवि-ई० वि० । 3-श्रुतकल्प-ई० वि० । 4-स्य ज्ञानस्य थ० ।

5-प्रतिसंबध आ० । 6-इवास तासामपि थ० । 7-रीतिविशे-आ० । 8-इन्द्रियस्य थ० । 9-शात्  
शक-आ० । 10-त्राप्रतिबन्ध-व० । 11-वादकत्व त-थ० ।

भिधानज्ञाने तत्तथोक्तम्, तद्विद्यम्भूत ज्ञानमविसंवादकम् । कुत एतदित्याह—‘नहि  
इत्यादि । हिर्यस्मात् न दृष्टे प्रहोपरागादो श्रुताविसवादादकत्वे अनुपपन्न नाम । इन्द्रिय  
ज्ञानाविसवादादकत्वेऽपि अनुपपन्नत्वप्रसङ्गात् । वहिरर्थे अस्य प्रायो व्यभिचारदर्शना  
सर्वप्रानाश्वासे च वक्त्रभिप्रायेऽपि प्रामाण्यन्न स्यादिति दर्शयन्नाह—‘क्वचिद्’ इत्यादि  
क्वचित् नियते विषये व्यभिचारात् साकल्येनाऽनाश्वासे श्रुतेरङ्गीक्रियमाणे वक्त्रभि  
प्रायेऽपि न केवल वहिरर्थे वाचः कथमनाश्वासः साकल्येन न स्यात् ? अपि तु  
स्यादेव । कुत एतदित्याह—‘तत्रापि’ इत्यादि । तत्रापि वक्त्रभिप्रायेऽपि व्यभिचार  
सम्भवात् । एतदेव दर्शयन्नाह—‘तथा’ इत्यादि । येन हि ‘या भवतः प्रिया’ इत्यादि  
प्रकारेण ‘पर प्रहृत्य निश्चान्तः पुरुषो वीर्यवान्’ इत्यादिप्रकारेण च श्रुतिदुष्ट कल्पनादुष्ट  
श्लोक्त तथा तेन प्रकारेण अनिच्छतः तथाभिप्रायरहितस्यापि श्रुतिरूपनादुष्टादेः  
आदिशब्देन गोत्रस्मरणनिर्दिष्टग्रह. उच्चारणात् भाषणात् । किञ्च—

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च वहिरर्थविनिश्चये ।

संत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥ २८ ॥

विवृतिः—नहि पुरुषार्थाभिसन्धयः सर्वेऽर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्य-  
भिचारैकान्तसम्भवात् । साचोऽभिप्रायविसवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयोः आप्त  
तरव्यवस्था कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् “वर्कतुरभिप्रेत  
तु वाचः सूचयन्ति जपिशेषेण नार्थतरमपि” [ ] इति कथमविक्रम ?

(१) श्रुतस्य । तुलना— अपि चायविवक्षायामयस्यददशनात् विवक्षायामपि क्वचिद्व्यभि  
चारात् मवक्षानाश्वासान कथं विवक्षाविशेषसूचका अपि ते स्युः ।—सामति० टी० पृ० २६६ ।  
(२) अयविवक्षायामयस्योच्चारणमपि प्रतीयते यथा दवदत्तविवक्षायामयस्यदत्तोच्चारण गोत्रस्मरणे  
श्रुभूयत । (३) श्रुतिदुष्टं धुनिकटु । धुनिकटु परुषवणरूपम् दुष्टम् ।—काव्यप्र० पृ० २६७ । या मवत  
प्रिया इत्यत्र गुङ्गाररमथणनावसरे निषिद्धस्य रेफस्य प्रयोगादेव श्रुतिकटुत्व ज्ञयम् । प्रिया इत्यत्र  
रफमयोग स्पष्ट एव । (४) कल्पनादुष्टञ्च विरद्वकल्पनायुक्तत्वात् अनुचितकल्पनागारित्वाद्वा  
वाध्यम् । ‘पर प्रहृत्य इत्यत्र हि यत्र वीर्यवान् पुरुष पर प्रहृत्य प्रहारानन्तर विधान्त विद्यमान  
धान्त वगन्त तत्र तस्य वीर्यवत्त्वन वणनमनुचितमेव । यदि हि प्रहारानन्तर क्लान्त कथं वीर्य  
वान् ? कल्पनात्त्ववीर्यवत्त्वविरोधात् । (५) अवयव—आप्तोक्तवहिरर्थविनिश्चये सुगतेतरवच  
नया मत्यतरव्यवस्था वा अथाविषयत्वाविशेषान् । हेतुवादाच्च वहिरर्थविनिश्चये साधनेतरता कुत  
वहिरर्थयुत्वाविशेषानि ।—सुधी० ता० पृ० ४८ । सत्येतरव्यवस्था हि बाह्यायप्राप्त्यप्राप्तिनिश्चयनव  
नया चाकम्—आप्तमीमासायाम् (का० ८७) बुद्धिशब्दप्रमाणत्व बाह्यार्थे सति नास्ति । सत्या  
ननव्यवस्थेव युज्यत—यादवनाजिपु । तुलना—‘वाक्यानामविशेषण वक्त्रभिप्रतवाचिनाम् । सत्यानुत्  
व्यवस्था न तत्त्वमिध्यात्त्वदशनात् ॥ मिथ्यादानशानात् मिथ्यायत्त्व गिरा मतम् ।—सिद्धिवि० पृ०  
५०२ । (६) तुलना— नानगीरकानामवाच्छब्दाना वस्तुभि सह नायसिद्धिस्ततस्त हि वक्त्रभिप्रत  
युक्ता ॥ ३।२।२ ॥ वस्तुव्यापारविषया योज्यां बुद्धौ प्रकाशे । प्रामाण्य तत्र गद्वस्य नायतत्त्व

१—त तत्रज्ञान—२०, थ० । —प्राय प्राप्ता—जा०, थ० । ३—प्राह यत्र हि जा० । ४—स्वभाव  
२० । ५—य सु—३० । ६—धुनिकटुत्वना—जा०, थ० । ७—विरहपरिग्रह—थ० । ८—सवर्षान् ज० वि० ।



यो यस्याऽवच्छ्रकः स तस्य आप्तः तदुक्तेः तद्वचनात् हेतुवादाच्च लिङ्गादि-  
वचनाच्च बहिरर्थाविनिश्चये अङ्गीक्रियमाणे सत्यं सुगतवचनम्  
ररिना यात्मानम्-  
इतरदसत्यं कपिलादिवचनम् तयोः व्यवस्था का ? न काचित्,  
सर्वमसत्यमेव स्यात् । अतः सुगतवचनादपि न कचित्प्रवृत्तिः स्यात् । तथा साधनेतरता  
कुतः ? पक्षादिवचनानि साधनम्, इतरत् तद्दूषणवचनं तयोर्भावस्तथा सापि कुतः ?  
नैव स्यात् । तथा च 'यत् सत्तत् सर्वं क्षणिकम्' इत्यादेरसाधनाद्गतया निग्रहस्थानता  
स्यादित्यभिप्रायः ।

व्यतिरेकद्वारेण कारिकार्थमाह—'नहि' इत्यादिना । न खलु पुरुषाभिसन्धयः  
पुरुषाभिप्रायाः सर्वे अर्थान् व्यभिचरन्ति । कुत एतदित्याह—'अन्यथा'  
विनृतिन्माह्वानम्-  
इत्यादि । अन्यथा तेषां तद्व्यभिचारप्रकारेण वागर्थव्यभिचारैका-  
न्तसम्भवात्, वाचामर्थस्य वाह्यस्य अन्यस्य वा यो व्यभिचारैकान्तः तस्य संभवात् ।  
वाचोऽभिप्रायविसंवादे सति कुतः न कुनश्चित् तस्य अभिप्रायस्य अनुमानम् । अथे-  
दानीं परस्योन्मत्तचेष्टितं 'सुगत' इत्यादिना दर्शयन्नाह—सुगतस्य हि आप्तत्वव्यवस्था

निबन्धनम् ॥ ११४ ॥ यद्यथा वाचकत्वेन वक्तृभिर्विनियम्यते । अनपेक्षितवाह्यार्थं तत्तथा वाचक मतम्  
॥११६७॥—प्रमाणवा० । "साक्षाच्छब्दा न बाह्यार्थप्रतिबन्धविवेकतः । गमयन्तीति च प्रोक्तं विवक्षामूच-  
कास्त्वमी ॥"—तत्त्वस० पृ० ७०२ । "यथोक्तम्—वक्तुरभिप्राय मूचयेयु इत्यादि ।"—तर्कभा० मो० पृ० ४ ।

(१) "आप्त खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ।  
साक्षात्करणमर्थस्य आप्ति तथा प्रवर्तते इत्याप्त ।"—न्यायभा० ११७ । "आप्ति साक्षादर्थप्राप्ति यथार्था-  
पलम्भ तथा वर्तते इत्याप्त साक्षात्कृतधर्मा यथार्थप्राप्त्या ध्रुवार्थप्राप्ति । आगमो ह्याप्तवचननाप्त दोषध-  
याद्विदुः । क्षीणदोषोऽनृत वाक्य न ब्रूयाद्वैतत्वसंभवात् । स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जित । पूजितस्त-  
द्विधैरनित्यमाप्तो ज्ञेय स तादृश ।"—साह्यका० भाठर० पृ० १३ । "यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्त  
परोऽज्ञानं तत्त्वप्रतिपादनमविसंवाद तदर्थज्ञानात् ।"—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६ । (२) "तत्र  
पक्षादिवचनानि साधनम्"—न्यायप्र० पृ० १ । (३) 'साधनदोषोद्भावनानि दूषणानि"—न्यायप्र० पृ०  
८ । (४) "तद्वत् प्रमाण भगवान् यथाभिहितस्य सत्यचतुष्टयस्याविसंवादानात्सत्यैव परंरजातस्य प्रकाश-  
नाच्च ।"—प्रमाणवा०, मनोरथ० ११९ । "तायित्वाच्च भगवत् सुगतस्य प्रामाण्य तथाहि—'ताय स्वदृष्ट-  
मार्गोऽस्ति वैफल्याद्वक्ति नानृतम् । दयालुत्वात् परार्थञ्च सर्वारम्भाभियोगतः । तस्मात्प्रमाण तायो वा  
चतु सत्यप्रकाशनम् ॥—दुःखहेतुनिवर्तकत्वेन स्वयं दृष्टस्य मार्गस्योक्तिर्देशना ताय करणे कार्योपचारात् ।  
तथा हि सत्त्वान् तायेतत्तद्योगात्तायित्वम् । स च वैफल्याद्वक्ति नानृतम् । आत्ममुखाद्यभिलाषादिना कश्चि-  
दगम्यं वर्दति अज्ञानाद्वा । प्रहीणात्मदर्शनस्य साक्षात्कृतत्वस्य तदुभय नास्ति । विशेषतः सत्याभिधान-  
हेतुरेव दृष्टास्तीत्याह—दयालुत्वाच्च परार्थञ्च सर्वस्य मार्गाभ्यासादेरारम्भेऽभियोगतः परार्थमेवोद्दिश्य भग-  
वानभिसम्बुद्ध कथन्तस्य मिथ्याभिधानेन सत्त्वञ्चचनाशङ्काऽपि । तस्मात्तायित्वात् प्रमाण भगवान् ।  
यथादृष्टार्थप्रवक्तृत्वं हि सत्त्वादिभ्येति प्रथमप्रमाणलक्षणयोगात् प्रामाण्यमनेनोक्तम् । द्वितीयलक्षण-  
योगमप्याह—तायो वा चतु सत्यप्रकाशनम् । परंरजातस्य सत्यचतुष्टयस्य प्रकाशनं वा तायः तद्योगात्  
तायो प्रमाण भगवानुक्त ।"—प्रमाणवा०, मनोरथ० ११४७ ४८ । "तत्र सुगतमेवाहु सर्वज्ञं मतिज्ञा-  
लिनः । प्रधानपुरुषार्थज्ञं च वैवाहुभिपगवरम् ॥"—तत्त्वस० पृ० ८७८ ।

कुतश्चिद् अनुपदेशाऽल्लिङ्गाविसंवादिचैतुरार्यसत्योपदेशात् कपिलादेस्तु अनाप्तव्यवस्थां  
विसंवादिप्रधानादितत्त्वोपदेशात् स्वयम् आत्मना उपजीवन्, साधनासाधनाङ्गव्य-  
वस्थां वा, त्रिरूपहेतुवचनस्य हि स्वसाध्यसिद्ध्यङ्गव्यवस्था पक्षादिचचनस्य तु तद-  
सिद्ध्यङ्गव्यवस्थां तां वा उपजीवन् “वक्तुरभिप्रेतं तु वाचः सूचयन्ति अविशेषेण  
नार्थतत्त्वमपि” [ ] इति एवं ब्रुवाणो धर्मक्रीत्यादिः कथमविक्रवः स्वस्थः ?

अत्राह सौगतः—वक्त्रभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यन्नास्ति, मा भूत्; किन्नष्टं प्रमाण-  
द्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमादित्याशङ्क्याह—

“पुंसश्चित्राभिसन्धेश्चेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।

कार्यं दृष्टं विजातीयाच्छक्यं कारणभेदि किम् ? ॥२९॥

विवृतिः—श्रुतेर्वहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्त्रभिप्रा-  
यानुविधायिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेदुक्तमत्र—‘तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां  
विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः’ इति । अपि च वृक्षोऽयं शिशपात्वात् अग्निरत्र  
धूमादिति वा कथमाश्वासः ? कच्चिल्लताचूतादेरुपलब्धेः शिशपायाः स्वयमवृक्षत्वेऽ-  
प्यविरोधात्, काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अशनिजन्मनः तदर्थान्तर-  
जन्मनश्च साकल्येन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः अग्निजन्मैव धूमः नार्थान्तरजन्मा  
इति कुतोऽयं नियमः ? यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् ‘धूमादग्निरत्र’ इत्याश्वासः ।  
कस्याचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः

(१) “चत्वार्यासत्यानि, तद्यथा दुःख समुदयो निरोधो मार्गश्चरति ।”—धर्मसं० ४० ५ ।

“सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःख समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषा यथाभिसमय जम ॥”—अभिष

मंको० ६१२ । (२) “अथवा साध्यते येन परेषामप्रतीतोऽर्थे इति साधन त्रिरूपहेतुवचनसमुदायः,

तस्याङ्ग पक्षधर्मादिवचनं अथवा तस्यैव साधनस्य यत्राङ्ग प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि ।”—वादन्याय०

४० ६१ । (३) वक्त्रभिप्राये । (४) शब्दस्य । (५) तुलना—“विचित्राभिसन्धितया व्यापारव्याहारादि-

सावयणेण क्वचिदप्यतिशयायानिर्णये कर्मर्यक्याद्विशपटि ज्ञानवतोऽपि चिसवादात् क्व पुनराश्वास लभे-

महि ।”—अष्टश०, अष्टसह० ५० ७१ । “चचदि, वागाप्तवचनम्, अर्थव्यभिचारिणी बाह्यार्थाविस-

वादिनी स्यात् । कस्मात् ? चित्राभिसन्धे चित्र सत्यासत्यादिरूपो नानाभिसन्धिरभिप्रायो विवक्षा

तस्मात् । कस्य ? पुनो वक्तु ‘सरागा अपि बीनरागवन्नेष्टन्त’ इति वचनात् । तर्हि विजातीयादपि

कारणात् कार्यं दृष्टमविरुद्धं स्यात् । नतस्तत् कारणभेदि कारण प्रतिनियत स्वात्मलाभनिबन्धन

भिनत्ति विजातीयादिसिद्धित्वात्वेव शील किं शक्यं स्यात् ? न स्यादवेत्यर्थं । तस्य यत् कुनश्चिदुत्पत्ते-

रविरोधात् । न खल्वनियतकारणत्रयं कार्यं कारणभेद गमयत्यनक्ते ।”—लघो० ता० ५० ४९ । (६)

तुडना—“न चैव वादिन विञ्चिदनुमान नाम, निरभिगन्धीनामपि बहुल कार्यस्वभावानिपमोप-

लम्भात् । मति काष्ठादिनामग्रीविभाय क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायसाऽनुपलब्धस्य मध्यादिकारण-

क्यापन्नयि ममवात् । यत्रज्ञानोपेयत यत्रेशिनस्त्रज्ञानोपात्तादुगिति दुर्लभनियमताया धूमयुमकेत्वा-

दीनामपि व्याप्यव्यापकभाव कथमिव निर्णयेन वृथ मिश्रणावादिनि लताचूतादरपि क्वचिदेव दशंनात्

प्रेषावना विमिव नि संक वेत्तः स्यात्”—अष्टश०, अष्टसह० ५० ७२ । सप्तमि० टी० ४० २६६ ।

1 अनुपदेशात् सिगादि-४० । 2 च व० । 3-वस्थां वा य० । 4 कार्यदृष्ट ६० वि० ।

क्वचिदविसंवादस्य अन्वधानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ।

पुंसो यः चित्रोऽभिसन्धिः “सरागा अपि वीतरागवचेष्टे” [ ]

वारिकाव्याख्यानम्—

इत्यभिधानात्, तस्मात् वाक् चेद् यदि अर्थव्यभिचारिणी कार्यं दृष्टं विजानीयाद् अभिमतकारणजातिपरिहारेण जात्य-

न्तरादपि । ततः किं जातमित्यत्राह—‘शक्यम्’ इत्यादि । शक्यं शक्त कारण- 6  
भेदि कारणविशेष गमयितुं किम् ? नैव शक्तमित्यर्थः । कार्यग्रहणमुपलक्षण स्वभा-  
वस्य, अतोऽनुमानस्याप्यभावः इत्यभिप्रायः ।

वारिका विवृण्वन्नाह—  
विवृतिविवरणम्—

कारिका विवृण्वन्नाह—‘श्रुतेः’ इत्यादि । श्रुतेः शब्दस्य बहुलं प्राचुर्येण बहिरर्थावि-

संवादेऽपि न केवलं तद्भावे, तदर्थेनैव बहिरर्थेन प्रतिबन्धस्य तादात्म्य- 10  
तदुत्पत्तिलक्षणस्य असिद्धेः कारणात् । कथंभूतायाः श्रुतेः इत्याह—

वक्त्रभिप्रायानुविधायिन्याः । किं किमित्याह—सर्वत्र तदर्थानाश्वासः बहिरर्थाना-  
श्वास इति एव चेत् अत्राह—‘उक्तम्’ इत्यादि । अत्र पूर्वपक्षे उक्तमुत्तरम् । किं तदि-  
त्याह—तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेः कारणात् अविसंवादः  
श्रुतेः इति एतत् । ‘अपि च’ इत्यादिना परपक्षेपि तद्गुणं योजयति । अपि च किञ्च  
‘अयं दृश्यमानो भावः वृक्षः शिशपात्वात्’, ‘अत्र पर्वते अग्निः धूमात्’ इति वा 16  
यदनुमानं तत्र कथं नैव आश्वासः ? कुत एतदित्याह—‘क्वचिद्’ इत्यादि । क्वचिद्  
देशविशेषे लताचूतादेः, आदिशब्देन लतावदर्यादिपरिग्रहः तस्या उपलब्धेः कार-

(१) तुलना— चतसेभ्य सम्यकमित्याप्रवृत्तयस्ते चातीन्द्रियस्वप्नप्रभवकायवाग्ब्यवहारानुमेया

स्य व्यवहारस्य प्रायशो बुद्धिपूर्वमथपि क्तुं शक्यते पुरुषच्छावृत्तित्वात्तथा च चित्राभिसन्धित्वात् ।  
तदयं लिङ्गसकरात् कथमनिश्चिन्वनं प्रतिपद्यत ? दुर्बोधत्वात् दुप्राप्यत्वाद्यगुणदोषनिश्चायकाना  
प्रमाणानाम् चैतसेभ्य इत्यादिना व्याघट्ट । चेतसि भवा चैतसा गुणदोषा । चतसेभ्य गुणेभ्य  
कृपावैराग्यबोधोद्दिहेतुभ्य सम्यकप्रवृत्तय यथाथप्रवृत्तय चैतसेभ्यो दोषभ्य रागादिभ्यो मिथ्याप्रवृत्तयो  
विपरीतप्रवृत्तयो भवन्ति । ते चेति परेषा चैतसा गुणदोषा चेतोधमत्वेनातीन्द्रिया ततो न प्रत्यक्षगम्या ।  
किन्तु स्वस्माद् गुणदोषरूपात् प्रभव उत्पादो यस्य कायवाक्कमण तेन कायलिङ्गनानुमेया । तच्च  
नास्ति । यस्माद् व्यवहाराश्च कायवाक्कमलक्षणा प्रायशो बाहुल्येन बुद्धिपूर्वमिति कृत्वा प्रतिसख्यान  
अन्यथापि क्तुं शक्यन्त । तथाहि सरागा अपि वीतरागवत् आत्मानं दक्षयन्ति वीतरागाश्च सरागवत् ।  
किं कारणम् ? पुरुषच्छावृत्तित्वात् व्यवहाराणां तेषां चेति पुसा चित्राभिसन्धित्वात् चित्राभिप्रायत्वात्  
ततो यद्यत् व्यवहारा प्रवृत्तन्ते इति नास्ति गुणदोषप्रभवाणां व्यवहाराणां द्विवेकनिश्चयः । तदिति  
तस्मादयमनुमाता पुमान् लिङ्गसकरात् लिङ्गव्यभिचारादनिश्चिन्वनं क्षीणदोष कथमागमस्य कर्तार  
प्रतिपद्यत नैवेति निगमनीयम् । ‘प्रमाणवा० स्ववृ०, टी० १।२२२ । यया रक्तो वीति तथा विर  
क्तोऽपि । एव न वचनमात्रात्, नापि विशपात् प्रतिपत्ति अभिप्रायस्य दुर्बोधत्वात् व्यवहारसकरेण  
सर्वेषां व्यभिचारात् । विरक्तो हि रक्तवच्चेष्टते रक्तोऽपि विरक्तवदित्यभिप्रायो दुर्बोधः —प्रमा  
णवा० स्ववृ०, टी० १।१४ । ‘क्षीणावरण समधिगत’क्षणोऽपि सन् विधिनाभिसन्धिरन्यथा देवय-  
दिति विप्रलम्भशकी —प्रमाणसं० पृ० ११९ । अष्टसह० पृ० ७१ । तत्वायदलो० पृ० ९ । सूत्रक  
तांगटी० पृ० ३८४ । लघी० ता० पृ० ४९ । (२) पृ० ४३५ ।

1—भावे तेन बहि—आ०, व० । 2—न प्रति—श्र० । 3 क्वचित्किमि—श्र० ।

णात् । तथा च शिक्षापायाः स्वयम् आत्मना अवृक्षत्वेऽप्यविरोधात् कथमाश्वासः ?  
 काष्ठजन्मनः पात्रकस्य मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य तथाऽशनिजन्मनः तस्मादशनि-  
 भावात् पाष्टाद्यर्थः तदन्तरं तज्जन्मनश्च साकल्येन अनवयवेन अग्निस्वभावाविरोधे पुनः  
 अङ्गीक्रियमाणे अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः यतो  
 5 नियमात् कार्यहेतोरव्यभिचारात् 'धूमादग्निरत्र' इत्यादौ आश्वासः स्यात् । अथ  
 "सुविवेचित कार्यं कारणञ्च व्यवचरति" [ ] इत्युच्यते । अत्राह—'कस्यचिद्'  
 इत्यादि । कस्यचित् स्वभावकार्यविशेषस्य या अन्यथा साध्याभावप्रकारेण अनु-  
 पपत्तिः तथा परोक्षार्थप्रतिपत्तौ अङ्गीक्रियमाणाया श्रुतस्य स्वयम् आत्मना अदृष्टता-  
 दात्म्यतदुत्पत्तेः 'मादौ चोक्तपुरस्क पुवत्' [ जनेन्द्रव्या० ५।१।५३ ] इत्यतो नपुंसकत्वा-  
 10 भावः । क्वचिद् द्वीपादौ यः तस्ये अविसेवाद्दः तस्य अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं  
 प्रामाण्यमिति ॥ छ ॥

प्रमाणं साभासं विषयफलसंख्यादित इहै,

प्रसन्नगम्भीरैः कतिपयपदैर्येनैर्न गदितम् ।

स जीवाद् दुस्तर्कः प्रतिभिररविः न्यायजलधिः,

15 जगज्जन्तुस्वान्तप्रवरकुमुदेन्दुर्जिनैपतिः ॥ छ ॥

इत्वं समस्तमतयादिकरीन्द्रर्षमुन्मूलयन्नमलमानन्दप्रहारः ।

स्याद्वादयेसरसटाशततीत्रमूर्तिः पञ्चाननो मुवि जयत्यवलङ्कदेवः ॥ छ ॥

इति प्रभाचन्द्रधिरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयलयालङ्कारे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ।



एयमन्तर्भूतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुर्थ्यः प्रमाणप्रवेशः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

20 ग्रन्थप्रमाणं ११३० ॥ छ ॥



(१) आदिपदेन तुण-अरणिनिर्मयनादयो ग्राह्याः । (२) तुलना—'यत्नत परीक्षित कार्यं  
 कारणं नातिवन्ते इति चेत् न्यूनम् प्रस्तुतम्'—अष्टदा०, अष्टमः० पृ० ७२ । प्रमेयरत्नमा० ३।१०१ ।  
 लघी० ता० पृ० ४९ । "अथ सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति न्यायाद् ।"—सम्प्रति० टी० पृ०  
 २६६ । (३) अदृष्टे तादात्म्यतदुत्पत्तौ यस्य तत् अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिं तस्य अदृष्टतादात्म्यभाववायादिरूपस्य  
 ध्रुवज्ञानस्य इत्ययम् । अत्र अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तिगन्धं ध्रुवस्य विनापणत्वात् नपुंसकलिङ्गोऽपि भादौ  
 इत्यादि भुवानुभारण भादौ अत्रादौ मुवि उक्तपुस्तकमिगन्तं नपु (नपुमक) वा पुवद् भवति इति पुल्लिङ्ग  
 प्रयुक्तं नपुंसकलिङ्गं नु नुमागम मति 'अदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्ति' इति प्रयोगः स्यात् इति भावः । (४)  
 ध्रुवस्य । (५) अस्मिन् ग्रन्थे । (६) प्रभाचन्द्रेण यथाहृताः । (७) न्यायकुमुदचन्द्रे तत्कर्ता  
 प्रभाचन्द्रश्च अत्र विनापणनं सूचितः । (८) त्रिन पत्नियस्य ।

१ अष्टमः-भा० । २ भादौ चोक्त-व०, भादौ चोक्त-प्र० । ३ चतुर्थपरि-भा० । ४-ग्रन्थमा-  
 -थ० । ५-तत्र प्रथमं परिच्छेदं-व० ।

# द्वितीये नयप्रवेशे

पञ्चमः नयपरिच्छेदः ।



त्रैलोक्योदरवर्त्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदय ,

दुष्प्रापोऽप्यकलङ्कदेवसरणिं प्राप्नोऽत्र पुण्योदयार् ।

स्वभ्यस्तत्र विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योऽस्ति ,

भूयान्मे नयनीतिदत्तमनस तन्नोपसिद्धिप्र ॥ छ ॥

अथ प्रमाण परीक्ष्येदानीं नयपरीश्वार्थमुपक्रमते—

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।

ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥३०॥

विवृति-द्रव्यपर्यायात्मकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् प्रमेयं वस्तु तच्चम्, तत्रैव

(१) अकलङ्कदेवसरणिः । (२) प्रभावद्रस्य । (३) उदधतेयम्— तथा चाहाकलङ्क भेदा भेदा यतोऽपेक्षानये —आव० नि० मलय० प० ३७० B । गुस्तत्त्ववि० पृ० १६ B । उच्यते त निश्चीयन्ते । के ? नयदुर्नया । नयाश्च दुनयाश्च नयाभासाश्च नयदुर्नया । काभ्याम् ? अपेक्षानपेक्षाभ्याम् अपेक्षा प्रतिपक्षधर्माकाङ्क्षा अनपेक्षा ततोऽया सवधका त ताभ्याम् । त्रिविणिष्टा ? ते य भेदाभेदाभिसन्धय भेदो विनाप पर्याय व्यतिरेकश्च अभेद सामा यमेकैव सादश्यञ्च भेदाश्चाभेदश्च भेदाभेदौ तयो भेदाभेदयोरभिसन्धयाऽभिप्राया धृतज्ञानिनो विकल्पा इत्यथ । कस्मिन् ? जय प्रमेय जीवादी । क्विविधिः ? भेदाभेदात्मके भेदाभेदात्मानो स्वभावो यस्य तत्तथोक्तम तस्मिन् । —लघी० ता० प० ५० । (४) निरपेक्षत्व प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृति सपेक्षत्वमुपेक्षा । —अष्टश० अष्टसह० पृ० २९० । (५) तम्हा सव्व वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा । अण्णो ण्णिस्सिञ्जा उण ह्वति सम्मतसम्भावा । —स मति० ११२१ । निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽप्यकृत । —आप्तमी० १०८ । नया मापेक्षा दुनया निरपेक्षा षोकतोऽपि सिद्धा —सिद्धिवि० टी० पृ० ५३७ B । तथा चोक्तम्—अथस्यानकरूपस्य धी प्रमाण तदसधी । नयो धर्मांतरापेक्षी दुणय स्तधिराकृति ॥ —अष्टश० अष्टसह० प० २९० । धर्मांतरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयाना प्रकारान्तरामभवाच्च प्रमाणात्तदत्त स्वभावप्रतिपत्त त प्रतिपत्त तदन्यनिराकृतेश्च । —अष्टश० अष्टसह० पृ० २९० । सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधाधो मीयत दुर्नीतिनयप्रमाणै । —अथययोग्य० इली० २८ । (६) तुलना—पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ३।१३ । यायकु० पृ० ४०१ टि० ६ । (७) तुलना— उप्पत्त वा विणए वा धुवे वा स्थानभा० स्था० १०। सद्द्व वा —ध्या० प्र० १० ८। ३०९ सत्पदद्वार । दव्व सत्त्ववणिय उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त । गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सत्त्वणू ॥ —पञ्चा० गा० १० । अपरिचत्तसहावेनुप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त । गुणव च सप जाय ज त दव्व ति वुच्चति ॥ प्रवचन० २।३ । सदद्रव्यलक्षणम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् —तत्त्वाधसू०

१ प्राप्ताऽत्र आ० ध० । २ एते गु० लघी० । ३ तपेक्षानपेक्षा—१० ।

कथञ्चित् प्रमाणतदाभासयोर्भेदात् । नयो ज्ञातुरभिप्रायः । सँ द्रव्यार्थिकः पर्याया-

५। २९, ३० । दब्ब पज्जवविउय दब्बविउत्ता य पज्जवाणिय । उप्पायट्ठिइभगा हृदि दविय उक्खण एय ॥ -सप्तमि० गा० १। १२२ । नोत्पादस्थितिभङ्गानामभाव स्यामतित्रयम् । मी० इलो० पू० ६१९ । उत्पादस्थितिभङ्गाना स्वभावादननुबधिता । तद्धतूनामसामर्थ्यादितस्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥ -सिद्धिवि० पू० १६७ ।

(१) तुलना- नया प्रापका कारका साधका निवतका निर्भासिका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निवतयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यजयन्तीति नया । -तत्त्वार्थाधि० भा० १। ३५ । स्याद्वादप्रविभक्तायविशेष व्यञ्जको नय ॥ -आप्तमी० का० १०६ । 'वस्तुन्यनकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वपणात् साध्यविगपस्य यायात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नय ।' -सर्वाथसि० १ । ३३ । 'नातृणामभिसाध्य खलु नयास्ते द्रव्यपयायन । नयो नातुमत मत । सिद्धिवि० टी० पू० ५१७ A, ५१८ A । प्रमाणप्रकाणि तायविगपप्ररूपका नया । -राजवा० १। ३३ । एगण वत्थुणोऽणमधम्मणो जमवधारणणवः नयण धम्मेष तओ होई नओ सत्ताहा सो य ॥ -विगया० गा० २६७६ । णयदि त्ति णओ भणिओ बहूहि गुणपज्जए हि ज दब्ब । परिणामसत्तकालन्तरेमु अविणट्ठसम्भाव ॥ -धवला टी० पू० ११ । प्रमाणपरिगृही तार्थैकत्वमव्यवहाराय नय -धवला टी० पू० ८३ । 'सारसग्रहेयुक्ता पूज्यपाद -अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगम कत्तव्य आत्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय । प्रभाच द्रभट्टारकैरप्य भाणि-प्रमाथ यथाध्यपरिणामविकल्पवगोक्ततायविगपप्ररूपणप्रवण प्रणिधिय स नय इति । -धवला टी० वेदनाख० । नयन्ते अर्थान् प्रापयन्ति गमयन्तीति नया वस्तुनो नवात्मकस्य अन्यतमकात्मकान्तरिग्रहणमका नया इति । -नयचक्रवृ० पू० ५२६ A । ययोक्तम-द्रव्यस्यानकालमनोऽन्यतमकात्मकधारणम एकत्वानयनाप्रया । -नयचक्रवृ० पू० ६ B । नयन्तीति नया अनकधर्मात्मक वस्तु एकधर्मण नित्यमेवदमनित्यमवति वा निरूपयन्ति । -तत्त्वार्थहरि० १। ६ । तत्त्वार्थसिद्ध० १। ६ । स्वार्थैकत्वनिर्णीतिरक्षणो हि नय स्मृत । (पू० ११८) नीयत गम्यते यत्र धुनाथीशो नया हि स । -तत्त्वार्थश्लो० पू० २६८ । नयविव० श्लो० ४ । अनिराहृतप्रतिपक्षो वस्त्वप्राप्ताही तानुरभिप्रायो नय । -प्रमेयक० पू० ६७६ । ज णाणीण वियप्य मुयभय वत्थुयसमगहर्ण । त इह णय पउत्त णाणी पुण उहि णाणहि ॥ -नयचक्र गा० २ । नुतविकल्पो वा तानुरभिप्रायो वा नय । नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त एवमिन् स्वभाव वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नय । -आत्राप० । तदद्वारायान् पुनरनकधमनिष्ठायममपनप्रवण परामश ऽपधमस्वीकारनिरस्कारपरिहारद्वारेण वत्तमानो नय । -न्यायावता० टी० पू० ८२ । वस्तुनोऽन्यतमस्य प्रमाणं (ण) व्यञ्जितामन । एवमप्य नता य स नयोऽनकधा स्मृत ॥' -तत्त्वार्थसार पू० १०६ । नीयत यत्र धुनास्यप्रमाणविपरीतस्वार्थस्याग उदितरागोसा मान्यत स प्रतिपत्तुर्निप्रायविगयो नय । -प्रमाणनय० ७। १ । स्या० म० पू० ३१० । प्रमाणपरि उदप्रस्थानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एवमप्यार्थाणि तन्निप्रायप्रतिपक्षिण अध्ववसायविगया नया । -अनकधमा० पू० २१ । प्रहृतवस्त्वप्राप्ताही तन्निप्रायप्रतिपक्षिण अध्ववसायविगया नय । -नयचक्रवृ० पू० ७९ । नयचक्रवृ० पू० ९७ B । मन्थविवाचायमनन सर्वेपि नया मिथ्या एव, तथाहि- अनकधमात्मकं वस्त्वधारणपूर्वकमनेन निपत्याद्यन्यतम धमण प्रतिपाद्यस्य बुद्धि नीयत प्राप्यत यनानिप्रायविगयन म ज्ञानुरनिप्रायविगया नय । इह हि यो नया नयान्तरमापधतया स्यात् तन्निप्रायवस्तु नयति नयति इति प्रमाण एवान्तरमवति वस्तु नयवा दाऽनिरपेक्षतया स्वानिप्रायनय धमण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छिन्नुमनिप्राय स नय वस्त्वधारण परिहाहृतवान् । -आव० नि० मत्त० पू० ३६९ । (२) उक्त्व मन्वन्तुविषयम्-उच्यते इत्यादिनां मानुषारणान्तरम् उच्यते इत्यादिनां पयायान्तरमिति । -तत्त्वार्थाधि० भा० ५। ३१ । इत्थं इत्या

र्थिकश्च, द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति वा द्रव्यम्, तदेव अर्थोऽस्ति यस्य सः  
द्रव्यार्थिकः सोऽभेदाश्रयः ।

भेदो विशेष, अभेद सामान्यम्, तो आत्मानौ यस्य तस्मिन् तदात्मके  
कथञ्चित्तत्त्वभावे वस्तुनि, न नैयायिकादिपरिकल्पिते, तस्य प्रागेर्वा-  
कारिकायाः यत्नम्  
पास्तत्वात् । कथम्भूते तस्मिन्नित्याह—ज्ञेये प्रमाणपरिच्छेदे । एतच्च  
विशेषणमपि साधन प्रत्येयम् । तत 'सर्वं वस्तु भेदाभेदात्मक ज्ञेयत्वात्' इति गम्यते,  
यथा 'सदनित्यम्' इत्युक्ते सत्त्वादिति । नचायमनैकान्तिको हेतुविरुद्धो वा सर्वथा  
भेदे अभेदे वा प्रमाणपरिच्छेदत्रस्य विषयपरिच्छेदे प्रतिक्षिप्तत्वात् । तत्र भेदाभेदा-  
भिसन्धयः सामान्यविशेषविषया पुरुषाभिप्राया ये ते लक्ष्यन्ते निश्चीयन्ते  
नया. दुर्नयाश्च । काभ्यामित्याह—अपेक्षाऽनपेक्षाभ्याम्, अपेक्षया नया  
इतरया दुर्नया इति ।

स्तिक मातृकापदास्तिक च द्रव्यनय । उत्पन्नास्तिक पर्यायास्तिक च पर्यायनय । —तत्त्वाथहरि० ५ ।  
३१ । तत्त्वाथसिद्ध० ५।३१ । दत्तद्विधो य पञ्जवनयो य सेसा वियप्पासि । —स मति० १।३ ।  
नयो द्विविध द्रव्याधिक पर्यायाधिकश्च । —सर्वाथसि० १।६ । द्वौ मूत्रभदौ द्रव्यास्तिक  
पर्यायास्तिक इति । अथवा द्रव्याथक पर्यायाथिक । —राजवा० १३३ । तत्र मूलनयो द्रव्यपर्याया  
थगोचरी । मिथ्यात्व निरपेक्षत्व सम्यक्त्व तद्विषयय ॥ सिद्धिवि० टी० प० ५२१ A । दत्तद्वि  
यस्स द० व वत्थु पञ्जवनयस्स पञ्जाअो । विज्ञपा० गा० ४३३१ । तेषा वा क्षपासासनाराणा द्रव्या  
थपर्यायाथनयो द्वौ समासतो मूत्रभदौ तत्रभदा सग्रहादय । —नयचक्रव० ५० ५२६ A । धवला टी०  
प० ८३ । प्रमाणनय० ७ । ५ ।

(१) पर्यायोऽथ प्रयोजनमस्यति पर्यायाथिक । —सर्वाथसि० १।६ । परि भदमति  
गच्छतीति पर्याय । पर्याय एवाय प्रयोजनमस्यति पर्यायाथिक । —धवलाटी० पृ० ८४ । (२)  
तुलना— अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्तु तत्त्व न विहयते तद् द्र यम । किं पुनस्तत्त्वम् ?  
तदभावस्तत्त्वम् तद्यथा आमलकादीना फलाना रक्तादय पीतान्यश्च गुणा प्रादुर्भवन्ति आमलक  
वदरमित्यत्र भवति । अवय खल्वपि निवचन गुणसद्रावो द्रव्यमिति । —पात० महाभा० ५।१।११९।  
द्वियदि गच्छदिताड ताड सभावपञ्जयाद् ज । दविय त भण्णते जण्णभूद तुसत्तादो ॥ —पञ्चास्ति०  
गा० ९ । यथास्व पर्यायद्रव्यन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि । —सर्वाथसि० ५।२। अद्रव द्रवति द्रोष्य  
त्यकानक स्वपययम । —याथवि० का० ११४ । दविए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण सदावो । दव्व  
भव्व भावस्स भूअभाव च ज जोरण ॥ —विज्ञपा० गा० २८ । द्रवति द्रोष्यति दुद्रवति (अदुद्रवत) द्रु  
द्रोषिकारोऽवयवो वा द्रव्यम् । —नयचक्रव० ५० ९९ B । द्रोषिकारो द्रव्यम् दोरवयवो वा द्रव्यम्  
द्रव्य च भव्य भवतीति भव्यम् द्रव्यम् द्रवतीति द्रव्यम् द्रव्ये वा द्रवणात् गुणाना गुणसद्रावो द्रव्यम् ।  
—नयचक्रव० ५० ४४१ B । द्रोष्यत्यदुद्रवतास्तान् पर्यायमिति द्रव्यम् । —धवलाटी० ५० ८३ । द्रवति  
गच्छति तास्तान पर्यायान् द्रव्ये गम्यते वा त पर्यायरिति वा द्रव्यम् । —जयध० ज० ५० २६ ।  
आलापय० । (३) द्रव्यमथ प्रयोजनमस्यत्यसौ द्रव्याथिक । —सर्वाथसि० १।६ । पञ्जवणिस्सामण  
वयण दव्वद्वियस्स अत्यसि । अवनेसो वयणविही पञ्जवन्नयणा सपत्तव्वलो । स मति० गा० १।७ ।  
धवलाटी० प० ८३ । द्रव्यणाय द्रयाथ द्र यमर्थो यस्यति वा अथवा द्रयाथिक द्रव्यमेवावार्थो यस्य  
सोऽय द्रयाथ । —नयचक्रव० ५० ४ B । (४) द्वितीय विषयपरिच्छेदे ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘द्रव्य’ इत्यादि । अत्र वस्तुतत्त्वं धर्मि द्रव्यत्वादिविशेष-  
विशिष्टमिति साध्यम् । तत्त्वग्रहणं किमर्थमिति चेत् ? आश्रयासिद्धि-

विवृतिविवरणम्—

निषेधार्थम्; तथाहि—न जीवादि भ्रान्तं नापि शून्यं कल्पितं वा किन्तु

तत्त्वं परमार्थसत् । प्रसाधितञ्च जीवादिवस्तुनः परमार्थसत्त्वं प्रागेवै इत्यलमतिप्रस-  
ङ्गेन । अस्त्वेवम्; तथापि एकान्तरूपं तद् भविष्यतीत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । वक्ष्यमाण-

लक्षणा द्रव्यपर्याया आत्मानो यस्य तत्तथोक्तम् । कुत एतदित्याह—उत्पादव्यय-  
ध्रौव्ययुक्तम् । उत्पादाद्यात्मकं यतः ततस्तथोक्तिं तत् । एवंविधमपि कुत इत्याह—

‘सत्’ इति । सद् अर्थक्रियाकारि यतः । तत्कारित्वं कथं तस्येत्याह—‘प्रमेयम्’ इति ।  
प्रमेयं यतो जीवादिवस्तु ततोऽर्थक्रियाकारि । नहि माण्ड्यपरिकल्पितस्य आत्मनः काञ्चि-

दर्थक्रियामकुर्वतः प्रमेयत्वं घटते इत्युक्तं प्रागेवै । नन्वेकस्मिन् वस्तुतत्त्वे प्रतीयमाने  
प्रतिभासभेदासंभवात् कथं प्रतिपन्नभिप्रायाणां नयरूपतोपपन्नते इत्याशङ्क्याह—‘तत्रैव’

इत्यादि । तत्रैव अनन्तरोक्तस्वरूपे चन्द्रादिवस्तुनि कथञ्चित् सत्त्वभावत्वादिप्रकारेण  
यत् प्रमाणं यच्च कथञ्चिद् द्वित्यादिप्रकारेण तदाभासः तयोर्भेदात् भेदप्रतीतिः ।

एतच्च प्रागेव समर्थितत्वात् दृष्टान्ततथोपात्तम् । तस्मादेकस्मिन्नपि वस्तुनि प्रतिपत्ति-  
भेदसंभवात् युक्तो विकलादेशविशेषमाश्रित्य ज्ञातुरभिप्रायो नयः । तस्य भेदमाह—

‘स’ इत्यादिना । स नयो द्रव्यार्थिकः, पर्यायार्थिकश्च । तत्र प्रथमं व्याचष्टे—  
‘द्रव्य’ इति । ‘द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत्’ इति वा द्रव्यम्, तदेवार्थः सोऽस्ति  
यस्य स द्रव्यार्थिकः । कुतः स इत्थम्भूत इत्याह—सोऽभेदाश्रयो यतः ।

ननु सकलभावानां देशकालाकारैरत्यन्तभेदान्न अभेदो नाम, अतः कथसौ अभे-  
दाश्रयः स्यात् ? इत्यारंकापनोद्गार्थमाह—

जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः तदस्ति सत् ।

एकं यथा स्वनिर्भासिज्ञानम् जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

(१) विषयपरिच्छेदे । (२) परमार्थसत् । (३) पृ० १९१ । (४) “अस्ति विद्यते प्रतीयते ।  
तत्किम् ? सत् सत्तासामान्यम् । किविनिष्टम् ? यदित्यादि, यस्मिन्नन्तर्लीना अन्तर्भूता । के ?  
जीवाजीवप्रभेदा, जीवश्चतनालक्षणा अजीव पुनस्तद्विपर्यय पुद्गलादि प्रभेदाश्च त्रसस्थावराद्यवान्त-  
रविशेषा, जीवाजीवौ च प्रभेदाश्च ते तथोक्ता । न तल्लू द्रव्य पर्यायो वा सत्त्वव्यतिरिक्तमस्तीति

नीलाद्याकाग विद्यन्ते अस्यति स्वनिर्भासि । यथा चैको जीव आत्मा स्वपर्ययै, स्वे चिद्रूपा पर्यया-  
रागादय परिणामा तैराकान्त प्रतीतिपदाहूदो न विरुध्यते तथा सत्त्वमपि जीवाद्यनेकभेदाकान्त न  
विरुध्यते इत्यर्थः ।”—लघी० ता० पृ० ५२ ।

१ आत्मा यस्य आ०, व० । २ तत्र थ० । ३-छे द्रवति आ०, व० । ४-भवाभितो  
यत आ० ।



विवृतिः—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्याजीवस्य वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः तथैव सत्त्वस्य भेदाः जीवाजीवादयः । तदेवम्—

जीवश्च अजीवश्च तयोः प्रभेदा अवान्तरविशेषा यदन्तर्लीना यस्य अन्तः

प्रविष्टाः तदस्ति विद्यते । किं तदित्याह—‘सत्’ इति । सत्तासामान्य-  
कारिण्यख्यानम्—

न्यम् । केन प्रकारेण ‘एकम्’ इत्यादि । स्वे आत्मीया न ज्ञानान्तर-  
रगता निर्भासा नीलाद्याकाराः ते यस्य सन्ति तद् स्वनिर्भासिज्ञानम् एकं ‘चित्त्रै-  
कज्ञानम्’ इत्यर्थः । यथा येन प्रतिभासादिप्रकारेण अस्ति तथा प्रकृतमपि, सौगता-  
पेक्षया इदमुक्तम् । इतरापेक्षया तु ‘जीवः स्वपर्ययैः’ इत्याह । जीवग्रहणमुपलक्षणम्  
सकलाजीवतत्त्वस्य, तेन जीवादिः स्वपर्ययैर्युक्तो यथा एकोऽस्ति तथा सदेक-  
मिति सिद्धम् ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘यथैव’ इत्यादि । यथैव येनैव अशक्यविवेचनाऽभिर्ज्ञ-  
योगक्षेमप्रकारेण ज्ञानस्य आत्मनः स्वरूपस्य ये निर्भासभेदा  
विवृतिविवरणम्—

ग्राह्यादिनीलाद्याकाराः ते नैकत्वं बाधन्ते, जीवस्य आत्मनः  
अजीवस्य वा घटादेः कस्यचित् सकलजनप्रसिद्धस्य न नैयायिकादिकल्पितस्य तस्य  
पूर्वं निरस्तत्वात् । स्वगुणपर्याया ‘यथैव नैकत्वं बाधन्ते’ इति सम्बन्धः । तथैव  
तेनैव प्रकारेण सत्त्वस्य सत्तासामान्यस्य भेदाः । के इत्याह—जीवाजीवादयः, नैकत्व  
बाधन्ते । तस्मिन् सति किंजातमित्याह—‘तदेवम्’ इति । तस्मिन् सत्त्वे एवम् उक्त-  
प्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति—

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहः तदभेदतः ।

भेदानां नासदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

(१) अशक्यविवेचनं हि एकचिन्तज्ञानस्य नीलाद्याकाराणां ज्ञानान्तरे नतुमशक्यत्वम् । (२) अल-  
क्ष्यधर्मानुवृत्तिर्यागि । लब्धधर्मानुवृत्ति क्षमम् ।—प्रमाणवा० स्व० टी० १। २४ । ‘योग अप्राप्तवि-  
षयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः, धर्म तदथक्रियानुष्ठानलक्षण परिपालनम् ।’—हेतुबि० टी० पृ० १५ ।

(३) अभिप्रैति विषयीकरोति । क ? सग्रह सग्रहनम् । किम् ? शुद्ध द्रव्य सत्सामान्य तस्यान्योपा-  
धिरहितत्वेन श्रुद्धिसम्भवात्, तद्विषयो हि नय सग्रह । सजात्यविरोधेन पर्यायानान्तरभदानकथ्यमुप-  
नीय समस्तग्रहण सग्रह इति निबचनात् । कुत ? तदभेदत तस्य सत्सामान्यलक्षणस्य शुद्धद्रव्यस्य  
अभेदात् सर्वेषु जीवाजीवेषु अव्यतिरेकात् । ननु प्रागभावादे सत्त्वव्यतिरेकात् कथं तदभेद इत्याशङ्क्ययाह—  
भदाना जीवादीनां सद्विशेषाणां मध्य एकोऽपि भेदो जीवस्तत्पर्यायोऽन्यो वाऽसदात्मा असत्स्वरूपो  
नास्ति न विद्यते । विरोधत—यद्यमदात्मा कथमस्ति ? यद्यस्ति कथमसदात्मेति ? स्ववचनविरोधा-  
दस्य असिद्ध । तत् प्रागभावादिरन्यो वा कथञ्चित्मदात्मक एवाभ्युपगन्तव्य प्रतीतिबलात् ।—लघो०  
ता० पृ० ५२ । (४) तुलना—सगृह्य पिंडित्यं नगहव्यपण समासो विंति ।—अनुयोगट्टार० ४  
ट्टा० । आ० नि० गा० ७५६ । विश्वपा० गा० २६९९ । अर्थात् सर्वैकदेशसग्रहण सग्रह । आह च  
यत्सगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽथ च विरोधे । तत्सग्रहनयनियतं ज्ञानं विद्यात्रयविधिज्ञं ॥—तत्त्वार्था-

1 जीवादय ज० वि०। 2-ज्ञानमित्यर्थं थ०। 3 आस्ते इ०, थ०। 4—या जीव आ०। 5 अनेन थ०।

विवृतिः—सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहः । सताञ्च स्वभावानां भावैकत्वाऽ-  
वाधनात् । नहि कश्चिद् असदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं  
सद्रूपं द्रव्यमनवबुद्ध्य भेदं गृह्णाति नाम ।

शुद्धं द्रव्यं सत्तालक्षणम् अभिप्रैति विपथीकरोति न सतोऽपि आत्मादि-

कारिकान्याह्यानम्—

विशेषान् । कोऽसौ इत्याह—संग्रहः संग्रहनयः । कुत एतदित्याह—  
तदभेदतः तस्य सत्त्वस्य सर्वविशेषेषु अविशेषतः । एतदपि कुतः

इत्याह—‘भेदानाम्’ इत्यादि । भेदानां जीवादिविशेषाणां मध्ये असदात्मा  
असत्त्वभावः एकोऽपि न केवलम् अनेको नास्ति भेदो विशेषः, किन्तु सदात्मैव  
‘अस्ति’ इति सम्बन्धः । कुतो नास्तीत्याह—विरोधतः । तथाहि—‘यदि असन्  
कथमस्ति, अस्ति चेत् कथमसन्’ इति । एतेन अभावचतुष्टयं चर्चितम्; तथाहि—  
यदि तत् अस्तीतिप्रत्ययवेद्यम् कथसदात्मकम् ? स्वरूपेण तस्यापि सदात्मकत्वात् ।  
अथाऽसदात्मकम्, न तर्हि तैत्प्रत्ययवेद्यमिति कथं तदस्तित्वसिद्धिः ?

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘सर्वम्’ इत्यादि । सर्वं चेतनाचेतनस्वभावं वस्तु एकम्

विवृतिविवरणम्—

अभिन्नं सदविशेषात् सत्ताऽविशेषमाश्रित्य इति एयं संग्रहः । सदवि-  
शेषेऽपि सत्त्वात् तद्वतां भेदप्रसिद्धेः सर्वमेकम् इत्याद्युक्तमित्याशङ्-

क्याह—‘सताञ्च’ इत्यादि । सताञ्च विद्यमानानां पुनः स्वभावानां भावधर्माणाम्  
भावैकत्वावाधनात् सत्त्वैकत्वानिराकरणात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह—‘नहि’  
इत्यादि । हिर्धस्मात् न असदात्मा असत्तास्वभावः कश्चित् द्रव्यादीनामन्यतमो  
भेदः विशेष. अस्ति । कुत इत्याह—विप्रतिषेधात्, विरोधात् । इतश्च असदात्मा भेदो  
नास्तीति दशयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । किञ्चित् प्रत्यक्षमनुमानं वा ज्ञानं सद्रूपं सत्त्व-  
स्वरूपम् अनवबुद्ध्य अगृहीत्वा भेदं विशेषे द्रव्यं द्रव्यरूपम्, द्रव्यग्रहणमुपलक्षणं गुणादेः,  
तत्किमित्याह—‘नहि गृह्णाति नाम’ इति । ततो निराकृतमेतत् “न द्रव्यादि स्वत. सत्

धि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । “स्वजात्यविरोधेनैकव्यमुपनीय पर्यायाना-  
नान्तभदानविशेषण समस्तग्रहणात् संग्रह ।”-सर्वार्थसि० १।३३ । राजवा० १।३३ । “विधिव्यतिरि-  
कनप्रतिषेधानुपलम्भाद्भिधमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसाय समस्तस्य ग्रहणात् संग्रह । द्रव्यव्यतिरिक्त-  
पर्यायानुपलम्भात् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रह ।”-अबलाटी० पृ० ८४ । “शुद्ध द्रव्यमभिप्रैति  
मन्मात्र संग्रह पर । स चासप विशेषेषु मदीदानीन्व्यभागिहू॥”-तत्त्वार्थश्लो० पृ० ७० । नयविव० श्लो० ६७ ।  
प्रमेयक० पृ० ६७७ । “गुढ द्रव्य समाश्रित्य संग्रहस्तदगुद्धित”-सम्प्रति० टी० पृ० २७२, ३११ । नयचक्र  
गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।१३ । श्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

(१) तुलना—“यथा सर्वमेकं सदविशेषात् ।”-तत्त्वार्थभा० १।३५ । “अहं महासामानं सगहिय  
पिडियत्यमियर ति । सव्वविसेसानं सामं सव्वहा भणिय ।”-विशेषा० गा० २७० । “विश्वमेक  
सदविशेषात् इति यथा ।”-प्रमाणनय० ७।१६ । (२) अभावचतुष्टयस्यापि । (३) अस्तीतिप्रत्य-  
यग्राहम् । (४) अभावचतुष्टयसद्भावसिद्धिः ।

1 तस्य सर्व-आ० । 2 कथमसास्ति चेत् आ०, ध० । 3 द्रव्यस्वरूपम् व०, थ० ।

नाप्यसत् सत्तामभ्यन्धात्सत्" [ ] इति, सद्रूपरहितस्य हि द्रव्यादेः तत्त्व-  
भावशून्यस्य च सद्रूपस्य ग्रहणे सति एतत् स्यात्, न च तद्ग्रहणमस्ति, सर्वदा उभयोः  
उभयात्मनो वेदनादिति भावः । पूर्वेण परपक्षे विरोधोद्धानम्, अनेन तु प्रतीतितो  
भेदस्य सदात्मकत्वसाधनमिति विभागः ।

अत्राह सौगतः—'यदुक्तम्—यथैव ज्ञानस्य आत्मनिर्भासभेदाः नैकत्वं वाधन्ते'  
इति; तदप्युक्तम्, निरंशैकज्ञानोपगमात्, सर्वोऽप्ययं विरुद्धधर्माध्यासी स्तम्भादिप्रति-  
भासो विभ्रमो मरीचिकाचक्रे जलवदिति कथं तन्निदर्शनेन अभिमततत्त्वसिद्धिः स्यात् ?  
पुरुषाद्वैतवाद्यपि आह—निस्तरङ्ग पुरुषमात्रं तत्त्वम्, जीवाजीवप्रभेदः पुनः उपप्लवः,  
ततो 'जीवस्य अजीवस्य वा' इत्याद्यप्युक्तम्; इत्याशङ्क्याह—

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।

द्रव्यं स्वलक्षणं शंसेद्भेदात् सामान्यलक्षणात् ॥३३॥

विवृतिः—स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं  
स्वलक्षणं विद्यात्, अन्यथा भ्रान्तरभावप्रसङ्गात् ।

प्रत्यक्षमुक्तलक्षणम्, कथम्भूतं तदित्याह—भेदाज्ञानम्, भेदस्य निरंशक्षणिक-

कारकाभ्याख्यानम्—  
विभ्रमविकल्पविशेषस्य अज्ञानम् अग्रहणम् येन यस्मिन् वा तत्त-

थोक्तम् । क्वेत्याह—'बहिरन्तश्च' इति, बहिर्घटादौ अन्तः ज्ञान-

पुरुषस्वरूपे । नहि तत्रैतन्निरंशक्षणिकारूपं परपरिकल्पितं विशेषं जातु प्रतिपद्यते  
विभ्रमाभावानुपपत्तात् । यदि तत्रैतन्निरंशैकज्ञानम्, केन तर्हि प्रकारेण प्रत्यक्षमित्याह—

'सदात्मना' इति । सद्रूपेणमुपलक्षणं तेन 'सञ्चेतननीलाद्यात्मना' इति गृह्यते ।  
तत्किं कुर्यादित्याह—'द्रव्यम्' इत्यादि । द्रव्यमनन्तरोक्तं स्वलक्षणं वस्तु शंसेत्

स्तुयात् न परपरिकल्पितं परमाण्वादि । एवमपि पुरुषादिद्रव्यं स्वलक्षणं शंसेदित्याह—

(१) द्रव्यादिस्वभावरहितस्य । (२) सत्त्व द्रव्ययोः । (३) सत्त्वस्य द्रव्यादिविशेषसा-  
पेक्षतया, द्रव्यस्य च सत्त्वविशेषणापेक्षतया । (४) 'नहि असदात्मा' इत्यादि विवृतिवाक्येन । (५)

'नहि किञ्चिज्ज्ञानम्' इत्याद्यद्येन । (६) चिन्तानुपपत्तेन । (७) 'शंसेत्' स्तुयात् कथयदित्यर्थं ।  
किम् ? प्रत्यक्षं विशदमिन्द्रियानिन्द्रियज्ञानम् । किञ्चिद्विष्टम् ? भेदाज्ञानम्, भेदान् परपरिकल्पितान्

निरंशक्षणान् जानाति न गृह्णातीति भेदाज्ञानम् । किं शंसेत् ? द्रव्यं शुद्धमशुद्धं वा स्वलक्षणं वस्तुभूतं  
न कल्पितमित्यर्थं । क्व ? बहिरन्तश्चेतने घटादौ, अन्तश्चेतने । केन ? सदात्मना सद्रूपेण, न खलु सद्रूपेण

भेदः पदार्थेषु प्रत्यक्षतो ज्ञायते येन प्रत्यक्षं द्रव्यं न शंसेत् । कस्मात् ? भेदात् भेदमाश्रित्य । किं  
विशिष्टात् ? सामान्यलक्षणात्, सामान्यमन्वयो लक्षणं लिंगं यस्यासौ सामान्यलक्षणस्तस्मात् । न हि

भेदनिरपेक्षमभेदं प्रत्यक्षमन्वयाद्वा प्रमाणं साधयति तस्यानुपपत्त्ये । ततः प्रत्यक्षमपि द्रव्यसिद्धिनिबन्ध-  
नमेवेति कुत संग्रहनयो मिथ्या स्यात् ?—लघी० ता० पृ० ५३ । (८) प्रत्यक्षम् (९) बहिरन्तः ।

(१०) प्रत्यक्षम् । (११) बहिरन्तश्च ।

१—जीवभेदप्रभेद श्र० । २—विभ्रमवित्ते—श्र० । ३ ज्ञाने पुर- व० । ४—तु ॥ छ ॥ यदि  
श्र० । ५—ह द्रव्यमन-आ०, श्र० । ६—ह भेदात् विशेष-आ० ।

‘भेदात्’ इत्यादि । भेदात् विशेषात् सामान्यलक्षणं स्वरूपं यस्य, सामान्येन वा लक्ष्यते यः स तथोक्तः तस्मात् तमाश्रित्य इत्यर्थः । यथा च क्षणिकनिरंशपरमाण्वा-  
दिरूपं पुरुषाद्वैतरूपं वा तच्च न व्यवतिष्ठते तथा प्रागेव प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् ।

‘भेदान् सामान्यलक्षणान्’ इति वा पाठः । तत्रै तान् प्रत्यक्षं शंसेत् इत्यर्थः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । भ्रान्तं विच्छ्रुतं ज्ञानं सर्वं निरवशेषं  
लौकिकं शास्त्रीयञ्च, यदि वा सौगतकल्पितं पुरुषाद्यद्वैतवादिकल्पि-  
विवृतिविवरणम्— तञ्च । कथम्भूतं प्रत्यक्षं विशदमभ्रान्तम् । केन रूपेणेत्याह—

सद्रूपेण सदादिस्वभावेन । कस्मिन् सत्यपीत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वञ्च अर्थश्च  
तयोर्भेदो विवेकः अर्थस्य परमाणुलक्षणस्य परस्परम्ऽ स्वज्ञानस्य विस्रवाकारा[इ]

भेदो नावबुध्यते सर्वं हि ज्ञानं नात्मानं विस्रुतं जानातिऽ स्वस्य विच्छ्रुताकारात् तस्य  
अनवबोधेऽपि । तत्किं कुर्यादित्याह—द्रव्यं स्वलक्षणं विद्यात् । ननु स्यादेतत् यदि

तद्वेदानवबोधः स्यात् यावता स्वार्थयोः सद्रूपेणैव भेदरूपेणाप्यवबोधोऽस्तीत्याशङ्-  
क्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । उक्तप्रकाराद् अन्येन प्रकारेण अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात्

‘तैर् तं कुर्यात्’ इति सम्बन्धः । तथाहि—यथा तैत् प्रत्यक्षं सद्रूपेण तथा यदि स्वार्थभेद-  
रूपेणापि; तर्हि स्थूलाकारो भ्रान्तिः कुतः ? ग्राह्यादिचेतनेतरादिभ्रान्तिर्वा ? नहि यथा-

सद्रूपेण वस्तुनः प्रतिभासे सा युक्ता ; कदाचिदपि तदनुपरतिप्रसङ्गात् । तथा तद्वेदानव-  
बोधवत् सद्रूपेणापि यदि तदप्रत्यक्षम्; तदा कस्यचिदपि प्रतिभासाभावात् कुतो भ्रान्तिः ?

नेतु प्रतिक्षणविलक्षणज्ञानादिकक्षणव्यतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासभवात् कथं  
‘द्रव्यं शंसेत्’ इत्युक्तं शोभेत इत्याशङ्क्याह—

सैदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहक्रमविवर्त्तिभिः ।

इदयाइदयैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥ ३४ ॥

(१) पू० ३७५, १५० । (२) बहिरन्त । (३) भदान् । (४) ‘स्वज्ञानस्य’ इत्यादि ऽ

एतच्चिह्नान्तगतं पाठं व०, थ० प्रत्यो भ्रुटिताया पू० प्रती च नास्ति । अर्षानुतोषात् ‘स्वस्य विलु-  
ताकारात्’ इत्यस्य टिप्पण्यात्मक एव भाति । (५) स्वार्थभेदानवबोधः । (६) प्रत्यक्षम् । (७)

स्वलक्षणं द्रव्यं पतन् । (८) द्रव्यम् । (९) स्थूलाकारा प्रतीतिं कथं भ्रान्तिरूपा स्यात् ? (१०)  
भ्रान्तिः । (११) यथावदस्तुप्रतिभास एव हि भ्रान्तिनिवृत्तिवारणम् । यदि च यथावदस्तुग्रहणं

भ्रान्तिं न निवर्त्तेत तथा न यदापि तस्याः निवृत्तिः सभाव्येति भावः । (१२) स्वार्थभेदान्तरात् ।  
(१३) द्रव्यम् । (१४) कस्यचिदपि पुरुषस्य सामान्यतो विशेषतो वा प्रतिभासाभावात् न भ्रान्तिः स्यात्,

भ्रान्तं सामान्यप्रतिभासनिबन्धनत्वादिनि भावः । (१५) सौगत । (१६) “अयमर्थ—यथा मद्भि  
ज्ञानगताकारे अमद्भिर्षाकारे नीलादिनि महं ज्ञानं विभाति त्वं न विदध्वत्, तथा अयं व्यञ्जन-  
पदायं महं मविवर्त्तिभिः व्यञ्जनपदायं महं द्रव्यमपि विभाति न विरप्यत इति । इदया स्थूला  
व्यञ्जनपदायां अद्वयामुखा केवलागमगम्या अर्थपदायां ।”—सप्तो० ता० पू० ५५ ।

१ परमार्थोहि रूपं व० । २ भेदात् व० । ३ च थ० । ४ विस्रुतं ज्ञा—ज्ञा० । ५—नित  
रूप—थ० । ६ एतन्नगतं पाठो नास्ति व०, थ० । ७ इदयैस्वत—ज्ञा० । ८ विद्यारेतद्विदि ज्ञा०, थ० ।  
९ तद्—व० । १० यथा ज्ञा० । ११—अज्ञाना ज्ञा० । १२—विस्रुत—थ० ।

विवृतिः—यथैक क्षणिक ज्ञान सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथा एकं द्रव्य सहक्रमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्चानादिनिधनमवगन्तव्यम् । वहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसङ्क्रमव्यवस्थायाम् एकस्थूलनिर्भासविरोधात् ।

सन्तश्च असन्तश्च ते च ते स्वस्य अर्थनिर्भासाश्च नीलस्थूलादिप्रतिभासास्तैः, कथम्भूतैः ? स्वयम् आत्मना अभेदकैः, यथा एकं ज्ञान विशेषेण देशकालनरातराबाधितरूपेण भाति भासते । कदा ? सह एकस्मिन् काले तथा क्रमविवर्त्तिभिः तै एकं विभाति । कथम्भूतै इत्याह—दृश्यादृश्यैः । वर्त्तमानकालापेक्षया दृश्ये अतीतकालापेक्षया चाऽदृश्ये । यदि वा सद्भि स्वनिर्भासैः सदादिभि असद्भि अर्थनिर्भासै एक यथा, तथा ब्रमविवर्त्तिभि सुखादिभि एक विभातीति ग्राह्यम् ।

कारिका व्याख्यातुमाह—‘यथैकम्’ इत्यादि । यथा येन प्रकारेण एक क्षणिक ज्ञानम्, उपलक्षणमेतत् तेन पुरुषस्यापि ग्रहणम् । सद्भि विद्यमानै विवृति-व्याख्यानम् असद्भिर्वाऽविद्यमानैर्वा । कै ? प्रतिभासभेदैः । कथम्भूतै ? स्वयमभेदकैः इष्टम् अङ्गीकृतम्, तथा एक द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् । कै ? भेदैः विशेषै । कथम्भूतै ? सहक्रमभाविभिः सहभाविभि गुणै क्रमभाविभि पर्यायै । पुनरपि किंविशिष्टै ? दृश्यैरदृश्यैश्च । अनेन एकत्वे प्रमाणान्तरवृत्ति दर्शयति । कथम्भूत तद्रव्यमित्याह—अनादिनिधनम् । प्रसाधितञ्च अनादिनिधनत्व प्रागेवास्य इत्यल पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन । ननु ज्ञानमपि तैरेक नेष्यते ‘किं स्यात्सा चित्रतैस्स्या न स्यात्तस्या मतावपि’ [ प्रमाणवा० २।२१० ] इत्वभिधानात् । अत्राह—‘वहिरिव’ इत्यादि । यथा वहि परस्परससृष्टनिरसक्षणिकपरमाणुसञ्चय तथा तद्वाहिणा मन्येषा वा ज्ञानपरमाणूना सञ्चये अङ्गीक्रियमाणे, ‘पुनः’ इति पक्षात्तरसूचक ।

(१) योगाचार । (२) द्रष्टव्यम्—वायकुमु० पृ० १३० टि० ६ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४९ । व्याख्या— ननु यदि सा चित्रता बुद्धौ एकस्या स्यात् तथा च चित्रमेक इत्थं व्यवस्थाप्यत तदा किं दूषणं स्यात् ? आह—न स्यात्तस्या मतावपि । न केवल द्रव्य तस्या मतावपि एकस्या न स्याच्चित्रता आकारनानावद्रक्षणत्वाद् भेदस्य, नानात्वेऽपि चित्रता कथमनकपुरुषप्रतीतित्वत् । कथन्तहि प्रतीतिरि त्याह—यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र कै वयम् । यदीदम् अताद्रूप्येऽपि ताद्रूप्यप्रथनम् अर्थाना भासमानाना नीलादीना स्वयम् अपरप्ररणया रोचते तत्र तथाप्रतिभास कै वयमसहमाना अपि निपद्रुम अवस्तु च प्रतिभासते चेति व्यक्तमालोक्यम् । —प्रमाणवा० मनोरथ० २।२१० । (३) सीगत । तस्मान्नाथपु न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मन । एकत्र प्रतिपिद्धत्वात् बहुष्वपि न सम्भव ॥ तस्मान्नाथपु वाह्यपु न ज्ञाने तदग्राहके स्थूलाभास स्थूल आकार सङ्गच्छते । तदात्मन स्थूलस्वरूपस्य कत्रावयवे परमाणो वा प्रनिपिद्धत्वात् । बहुष्वपि तेषु सभवो नास्ति मिलिता अपि हि त एव । ते च प्रत्येक स्थोत्यविकारा १ भाति प्रतिभासते ब० थ० । २ वाद्-ब० । ३-स एक-थ० । ४ क्षणिकं क्षणिक ज्ञानम् आ० । ५ एकत्वप्रमा-थ० । ६ पुनस्तत्प्रतिपादन-थ० ।

साम्प्रतं तेषां तत्साधनं तद्भावमभ्युपगम्य तत्र दूषणमाह—‘यस्मिन्’ इत्यादि । यस्मिन् वस्तुनि सत्येव विद्यमान एव यद्भावो यस्य वस्तुनः भाव आत्मलाभः तद्वस्तु तस्य पूर्वस्य कार्यम् । ‘यस्मिन् सत्येव’ इत्यनेन यन्निर्दिष्टम् तद्, इतरत् कारणम् इति एव लक्षणं कार्यकारणयोः क्षणभङ्गे न संभवत्येव । कुत एतत् ? इत्याह—  
 5 ‘कार्य’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—कारणसत्ताकाल एव कार्यस्य भावे ‘यस्मिन् सत्येव’ इति घटते, परन्तु कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः सन्तानोच्छेदः स्यादिति । ननु स्यादयं दोषः यदि यदैव कारणमुत्पद्यते तदैव स्वकार्यं कुर्यात्, यावता पूर्वमुत्पद्य पुनः कार्यकाले सत् कार्यमुत्पादयति; इत्याह—‘अन्यथा’ इत्यादि । उक्तप्रकारादप्येन प्रकारेण क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । क्षणभङ्गे कार्यकारणयोः ‘लक्षणं न संभवत्येव’ इति सम्बन्धः ।  
 10 ननु ‘यस्मिन्’ इति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव स्वसत्ताक्षणे कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोपु दुह्यमानासु गतः दुग्धासु आगतः इति । समसमयभावित्वे चार्थयोः कार्यकारणभावविरोधात् सव्येतर-गोविषाणवत् इत्यारेकापनोदार्थमाह—

कार्योत्पत्तिर्विरुद्धा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

युज्येत क्षणिकेऽर्थेऽर्थक्रियाऽसंभवसाधनम् ॥ ३६ ॥

विश्रुतिः—नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते यतः तदर्थक्रिया अक्षणिके विरुद्धेत । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुपपन्नात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत् सर्वथा भावस्यैव वा । स्वलक्षणस्य क्वचित् प्रत्यक्षानुपलम्भासिद्धेः कुतः कार्यव्यतिरेकोपलक्षणं कारणशक्तेः ?  
 20

(१) क्षणिकानाम् । (२) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनम् । (३) कार्यकारणभावम् । (४) तुलना—‘क्षणस्यापि कारण स्वसत्ताया कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपरणद्धि सकलजगदेकक्षणवृत्तित्वप्रसङ्गान्”—अष्टश्लो० अष्टसह० पृ० ९१ । ‘उत्पद्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमवक्षणवति स्यात्, कारणक्षणकाल एव सर्वस्य उत्तरातरक्षणसन्तानस्य भावात् तत सन्तानाभावात्”—अष्टश्लो० अष्टसह० पृ० १८७ । (५) न हि गादोहनकाल गमनकालसर्वत्र समवति । (६) कारणकार्ययोः । (७) चेद् यदि विरुद्धा विप्रतिपिद्धा स्यात्, वा ? कार्योत्पत्तिः, कार्यत्वात्परिणामस्योत्पत्ति स्वरूपलाभ । कया ? स्वयं कारण-मत्तया, स्वयं कारणं विवक्षितकार्यजनकं द्रव्यस्वरूपमुपादानं तस्य मत्तया भावेन । तद्धि युज्येत, युञ्जत स्यात् । किम् ? अर्थक्रियासंभवसाधनम्, अर्थस्य अभिमतप्रयोजनस्य क्रिया निष्पत्ति तत्प्रभव-साधनम् इत्येव क्रमवोगरत्तद्विरहादित्यनुमानम् । क्व ? अर्थे । किञ्चिदपि ? क्षणिके निरन्वणक्षणनदये । दृढमनितवचनम् । न च सा विरुद्धा कार्यकारणे सन् एव कारणत्वात्, अन्यथा कार्यस्य जातमित्यव्य-प्रमत्तान् ।—सप्तश्लो० अ० ५० ५६ । तुलना—‘कार्योत्पत्तिर्विरुध्यते न च कारणमत्तया । यस्मिन् मन्व्यं यद्भावं तत्तस्य कार्यमितरत्कारणमिति क्षणिकत्वे न सम्भवत्येव महोत्पत्तिप्रमत्तान् कुतः मन्वानवृत्तिः ।’—सिद्धिद्वि० पृ० १६०, ३२६ ।

१ सद्भावो आ० । २ इत्येवमस्य आ० । ३ सभावनोपलब्धे व० । ४—नलक्षण—४० । ५—र्येनेति आ० । ६ स्वतो सरा—४० । ७—क्षणकार्य—आ० । ८ कार्योत्पत्ति—६० वि० । ९ कारणमिदं—६० वि० ।

कार्यस्य उत्पत्तिः आत्मलाभः विरुद्धा चेत् यदि स्वयम् आत्मना,  
कया ? कारणसत्तया । एतदुक्तं भवति—यदि कारणसत्तया  
कारिकाव्याख्यानम्— कार्योत्पत्तिर्विरुध्यते तदा युक्तमेतत् पूर्वमेव तद्भावे तद्भाव इति ।  
तथा चेदत्र दूषणमाह—‘युज्येत’ इत्यादि । युज्येत उपपद्येत अर्थक्रियाऽसंभव-  
साधनम् । क ? अर्थे । कथम्भूते ? क्षणिके ‘विनष्टे कारणे तदसंभवात्’ इति  
मन्यते । यदि वा, तथा तदुत्पत्तिर्विरुद्धा यदि तदा युज्येत अर्थे क्षणिके  
अर्थक्रियाऽसंभवसाधनम्, न च तर्था सा विरुद्धेति प्रतिपादयिष्यते ।

व्यतिरेकमुखेन कारिकां विवृण्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न कार्यस्य  
उत्पत्तिः कारणस्य अभाव प्रतीक्षते यावत् कारणं निर्मूलन्न नश्यति  
विवृतिव्याख्यानम्— तावत् स्वयं नोपपद्यते इति । यतः तदपेक्षणात् तदर्थक्रिया क्रमयौ-  
गपद्यार्थक्रिया अक्षणिकेत्वे अपि विरुध्येत । ‘यतः’ इति च आक्षेपे, नैव विरुध्यते ।  
कुत एतदित्याह—‘निष्कारणस्य’ इत्यादि । इदमत्र तात्पर्यम्—विनष्टे कारणे यदा कार्यं  
जायते तदा तन्निष्कारणं भवति, तस्य च अन्यस्य देशादेः अनपेक्षा अपेक्षाऽभावः  
तथा देशकालस्वभावनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव भावानुपज्ञात् कार-  
णात् ‘नहि तद्भाव सा प्रतीक्षते’ इति सम्बन्धः । तथा तस्यास्तर्दपेक्षणे दूषणान्तर-  
माह—‘तदयम्’ इत्यादि । तत् तस्मात् तदपेक्षणात् अयं सौगतः कार्यस्य यो भावः  
आत्मलाभः यश्च कारणस्य अभावः तयोः यथासंख्येन कार्यकारणतां लक्षयेत् ।  
यद्धि कार्यम् आत्मलाभे अपेक्षते तत् कारणम्, अपेक्षयते च तेन तदलाभे तद्भावः  
इति मन्यते ।

इदमपरं व्याख्यानम्—यदा कारणात् कार्यं किन्तु कारणात् तद्भावः, ततश्च  
कार्यं तत्राह—‘तत्’ इत्यादि । तत् तस्माच्चयायात् अयं भावाभावयोः कारणतन्निवृत्त्योः  
कार्यकारणतां भावस्य कारणताम् अभावस्य कार्यतां लक्षयेत् । कार्यशब्दस्य पर-  
प्रयोगप्रसङ्गेऽपि अल्पात्तरत्वात् पूर्वनिपातः । अथ मतम्—न अभावः प्रेक्षेयोपाख्या-  
विहीनत्वात् कस्यचित् कारण कार्यश्च, इत्यत्राह—सर्वथा भावस्यैव वा सत एव वा

(१) कारणसद्भावे । (२) कार्यसद्भावे । (३) अर्थक्रियाऽभावात् । (४) कार्योत्पत्तिकाले  
उपादानकारणसत्तया । (५) कार्योत्पत्ते । (६) कारणाभावापेक्षणे । (७) कर्म । (८) कर्तुं ।  
(९) कार्येण । (१०) आत्मलाभे । (११) कारणाभावः । (१२) कार्येण आत्मलाभे अपेक्षमा-  
णत्वात् कारणाभाव एव कारणं स्यादिति भावः । (१३) कारणाभावः (१४) ‘अल्पात्तरम्’—जैनेन्द्र-  
व्या० १।३।१००।—‘द्वन्द्वे से (समास) अल्पात्तरमेकं पूर्वं प्रयुज्यते।’—शब्दार्णव० १।३।११४। (१५)  
प्रख्यायते इति प्रख्या विकल्प, उपाख्यायते इति उपाख्या थुति ताभ्या विकल्पशब्दाभ्या रहित्वात् ।

१—सहाया थ० । २—विष्पति आ० । ३—कत्वे विषदृषते आ० । ४—अप्यदेशादे य०, थ० ।  
५ यदि का—थ० । ६ अल्पान्तरत्वात् आ०, अल्पस्वरत्वात् य० । ७ एव वार्यं—आ० ।

अन्योन्यं परस्परम् अनात्मकत्वम् अस्वरूपत्वं तस्मिन् सति, सर्वथा सर्वेण साक्षात्करणप्रकारेण स्वरूपमिश्रणप्रकारेण वा असङ्क्रमेण असङ्करेण या व्यवस्था अवस्थितिः तस्यां सत्याम् एकस्थूलनिर्भासविरोधात् कारणात् एकं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् । एतदुक्तं भवति—स्थूलैकप्रतिभासविरुद्धा ज्ञानेतरपरमाणवः, तत्प्रतिभासोपगमे तद्विरोधः नीले पीतविरोधवत् । तथाभ्युपगच्छतश्च अर्धक्षविरोधः निरंशादिरूपतया संतथा तत्त्वं विचारयतोऽपि स्थूलादिप्रतिभासानिवृत्तोः ।

एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधौ अभिधाय साम्प्रतम् अर्धक्रियाकारित्वबलेन तौ प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्धक्रियां निराकुर्वन्नाह—

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्याऽर्धक्रिया सति ।

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

विवृतिः—सह क्रमेण वा अर्धक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्णुः कथञ्चित् क्षणिके अर्धक्रियां साधयेत् अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्तेत । न च क्षणिकानामनिश्चयात्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्धयेत् विक्रुष्टाऽर्थान्तरवत् । 'यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत् तस्य कार्यम्' इति लक्षणं क्षणभङ्गे न संभवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः, अन्यथा क्षणभङ्गप्रसङ्गात् ।

लक्षणम् अर्थस्य परमार्थसतो वस्तुनः नार्थक्रिया अर्थस्य कार्यस्य क्रिया

करणम् । क ? क्षणिकैकान्ते । कुत इत्याह—'सति' इत्यादि ।

सति विद्यमाने कारणे हेतौ कार्यभावः कार्योत्पत्तिः चेद् यदि

न कार्यकारणलक्षणं कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं यल्लक्षणम् कारणर्यं च तज्जनकत्वं यल्लक्षणं तन्न । पूर्वाद्गतेन 'न' इत्यनेन सम्बन्धः । क्षणिकैकान्तवादिना कारणभाव एव कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । इदमपरं व्याख्यानम्—स्रोतप्तिकालवत्

इति समुदिता अपि तथैव स्यु । तथा नीलाद्याकारेषु प्रत्येक चित्रस्य स्थौल्यस्याभावात् समुदायेऽप्यभाव—प्रमाणवा० मनोरथ० २।२११ ।

(१) सूत्रैकप्रतिभासविरोध । (२) स्थूलैकप्रतिभासस्य असत्त्व भ्रान्तत्व वा स्वीकुर्वन्त । (३) स्वमतविधिपरमतप्रतिषेधौ । (४) तुलना—“कार्यकारणता नास्ति बहिरन्तः सन्तति कुत । निरन्वयात् कुतस्तेषां साहचर्यमिनरार्थवत् ॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं स्यात् क्षणिकमक्रमं जगति सन्तति स्यात् । तस्मिन्नसति भवत कुत. पुन कारणान्तरोत्पत्तिनियम ? सदेव कारण स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसह्य जनयेत् । स्वरमत एव कार्योत्पत्तिकालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् ? नैरन्तर्यमात्रात्प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविद्येयं कुत प्रभवनियम ? द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते ।”—सिद्धिबि० पृ० ३६३—६४ । (५) “किं पुनरसौ कार्यकारणभाव अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिबन्धन ? इत्याह—तद्भावे भाव तद्भावेऽभावश्चेति ?”—हेतुबि० टी० पृ० ६९ । (६) कार्यजनकत्वम् ।

1 व्यवस्थिति श्र० । 2 तदुक्तं श्र०, व० । 3 शतपाश्च आ० । 4 कारिकेय मुद्रितलघीयस्त्रये नास्ति । 5 लक्षणभये न ज० वि० । 6 कारणम् आ० । 7 स्व तज्ज—आ० । 8 कारणभाव आ० ।



कार्योत्पत्तिकालेऽपि सति कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणयोः यल्लक्षणं स्वरूपं ग्रहण वा अत्र प्रमाणभावात् 'घटते' इत्यध्याहारः, किन्तु क्षणभङ्गाय दत्तो जलाञ्जलिः' स्यात् ।

यैस्त्वाह—'नार्थक्रिया अर्थलक्षण विचारतस्तदयोगात् । सा हि सती, असती वा तल्लक्षणम् ? न तावदसती, खरविपाणवत् तथाविधायार्थस्याः तल्लक्षणत्वा-योगात् । अथ सती; किं स्वतः, परतो वा ? यदि स्वतः; अर्थेन क्रिमपराद्धं येनार्थं स्वतः सत्त्वं नेष्येते ? अथ परतः, तदा 'अनवस्था' इति ।

तं 'सह' इत्यादिना नित्यवादिना समान व्यवस्थाप्य 'यस्मिन्' इत्यादिना कारिकार्थं प्रकटयति—सह युगपत् क्रमेण वा परिपाठ्या वा अर्थ- विवृतिविवरणम्— क्रिया अक्षणिकस्य नित्यस्य सम्बन्धिनी या तां निराचिकीर्षुः सौगतः कथञ्चित् यौगपद्यप्रकारेण क्रमप्रकारेण वा प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण वा क्षणिकेऽर्थे अर्थक्रियां साधयेत्, अन्यथा तदसाधनप्रकारेण तल्लक्षणम् अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वं ततः क्षणिकात् नित्यादिव व्यावर्त्तेत । साध्यत एव तत्र सां इति चेत्; अत्राह— 'नच' इत्यादि । नच नैव भावानां कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् । कथम्भूतानाम् ? क्षणिकानाम् । पुनरपि कथम्भूतानाम् ? अनिश्चयात्मनाम् न विद्यते निश्चयो निर्णयो यस्य स तथाविध आत्मा स्वभावो येषाम् । तद्भावः कथम्भूतः इत्याह—'प्रत्यक्ष' इत्यादि । प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधनं यस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनत्वादेव च अनिश्चयात्मनां 'तेषां तद्भावो न युक्तः । अत्र परप्रसिद्धं निदर्शनमाह—'विप्रकृष्ट' इत्यादि । पूर्वोक्तकोटिविच्छिन्नादर्थाद् अन्यः त्रिकालानुयायी अर्थः तदन्तरम् तस्यै च ग्रहणोपायानाद् विप्रकृष्टत्वम्, विप्रकृष्टञ्च तद् अर्थान्तरञ्च तस्यैव तद्वत् । एतदुक्तं भवति-यथैकस्य कालत्रयानुयायिनः कुतश्चित्प्रतिपत्तुमशक्तेः न तत्र प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्यति तथा प्रतिपरमाणुनियतेन ज्ञानेन क्षणिकभावानामप्रतिपत्तेः न तस्यैसाधनस्तद्भावः सिद्ध्येत् ।

(१) कार्योत्पत्तिकालेऽपि कारणसद्भावे तस्य द्विद्विषयावस्थायित्वं स्यादिति भावः । (२) योग । तुलना—'अर्थक्रियाकारित्वेन सत्ताभ्युपगम समानञ्चैतद् रूपगम—किं सतामर्थक्रियाकारित्वमथासतामिति ? सतामर्थक्रियाकारित्वे सत्ताभ्युपगमे तथा दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वम् । तथा हि अर्थनियोजनकत्वे सत्त्वम्, सतश्चार्थक्रियाजनकत्वमित्येवप्रसिद्धावितराप्रसिद्धिः । अथ अर्थक्रियामन्तरेण सतोऽर्थक्रियाजनकत्वम्, तत्राप्यय विकल्प इत्यनवस्था । असत् एवार्थक्रियाजनकत्वे खरविपाणादिपु तथाभाव स्यात् । अर्थक्रियायाश्चार्थत्रियान्तरेण सत्त्वेऽनवस्था । अथ स्वरूपेणेति चेत्; पदार्थेषु तथाभावप्रसङ्गः ।"—प्रश० ध्यो० पृ० १२७ । प्रश० कन्द० पृ० १२ । (३) असद्भूताया । (४) अर्थक्रियाया । (५) जयलक्षणत्वविरोधात् । (६) अर्थस्य । (७) प्रकृतार्थक्रियाया सत्त्वव्यवस्थापिका अपराऽर्थक्रिया तस्या अप्यपरा इत्यनवस्था । (८) क्षणिकेऽर्थे । (९) अर्थक्रिया । (१०) कार्यकारणभावः । (११) क्षणिकार्थानाम् । (१२) कार्यकारणभावः । (१३) त्रिकालानुयायिनोऽर्थस्य । (१४) नित्यार्थे । (१५) प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः । (१६) कार्यकारणभावः ।

1-मोलक्ष-व०, श्र० । 2 अनवस्थितिरिति श्र० । 3 व्यावर्त्तेते श्र० । 4 इत्यादि आ० । 5-धनसद्भाव श्र० ।

‘कार्यकारणता लक्षयेत्’ इति सम्बन्धः । कारणवत् कार्यस्याप्यसत्त्वाऽसम्भवात् अतः साख्यमतप्रसङ्गं सौगतस्य इत्यभिप्रायः । ननु मा भूत् क्षणिके प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनं कार्यकारणभावः, कार्यव्यतिरेकसाधनस्तु इन्द्रियशक्तिरस्यात्, इत्यत्राह—‘स्वलक्षणस्य’ इत्यादि । स्वलक्षणस्य परपरिकल्पितपरमाणुलक्षणस्य क्वचिद् अतर्धर्हिर्णा प्रत्यक्षा-  
 5 नुपलम्भासिद्धेः, प्रत्यक्षपूर्वकोऽनुपलम्भः प्रत्यक्षानुपलम्भः तस्य असिद्धे कारणानु-  
 कुतः कार्यस्य व्यतिरेकेणोपलक्षणकारणशक्तेः ? न कुतश्चित् । एतदुक्तं भवति—यदा  
 तस्य तद्रूपं कार्यं कुतश्चित् प्रत्यक्षं सन् पुनः इतरकारणसद्भावेऽपि नोपलभ्यते तदा  
 युक्तं तेनोपलक्षणं तैच्छक्ते, न चैवमस्तीति ।

ननु यदुक्तम्—‘बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चय’ इत्यादि, ‘नहि कार्योत्पत्तिः’  
 10 इत्यादि च, तदयुक्तम्, यथाप्रतिभासं चित्रैकज्ञानोपगमात् । ‘चित्रप्रतिभासाप्यकैव बुद्धिः’  
 [ प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ३९५ । ] इत्यादिवचनात् । तथा कार्यस्य देशवत् कालेऽपि  
 असत् एव कारणादेव उद्योपगमात् कथमन्यथा जीमद्विज्ञानात् प्रमोद भाविमरणादेर्वा  
 अरिष्टादिकम् इत्याशङ्क्य आह—

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा सकृत् ।  
 15 तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

(१) कायव्यतिरेकेण कारणव्यतिरेको नायते क्षणिके च न कायव्यतिरेकः अतः क्षणिकेऽप्ये-  
 कायकारणभावः साधनीयः यथा हि—रूपज्ञानोत्पत्त्यभावेन रूपज्ञानजननशक्त्यभावः व्याप्तः चक्षुषि  
 अविकले सति न रूपज्ञानोत्पत्त्यभावः अतस्तत्र रूपज्ञानजननशक्तिः व्यवस्थाप्यते । नहि चक्षुषि  
 रूपज्ञानजननशक्तिव्यवस्थापने प्रत्यक्षानुपलम्भो प्रभवति, शक्तेरतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षानुपलम्भाऽगोच-  
 रत्वात् । तथैव क्षणिकेऽप्ये प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनं कायकारणभावो मामत्स्यत कायव्यतिरेकेणानुमीय-  
 मानस्तु मिद्वचत्येव इत्यभिप्रायः । (२) क्षणिकस्य । (३) कायव्यतिरेकेण । (४) अनुमानम् । (५)  
 कार्योत्पादनशक्तेः । (६) प्रज्ञाकरगुणः । (७) पृ० ६१३ ६१६ । (८) चित्रप्रतिभासापि बुद्धिरेकैव  
 बाल्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं चित्रमनकम् अशक्यविवेचनादश्च बुद्धर्नीलादयः । —प्रमाणवा-  
 तिकाल० पृ० ३९५ । उद्धतमिदम् प्रमेयक० पृ० ९५ । न्यायकुमु० पृ० १३० । समिति० टी० पृ० २४१ ।  
 यावयि० वि० पृ० १०१ A । प्रज्ञाकरगुणेत्याप्यक्तम्—चित्रप्रतिभासा—सिद्धिवि० टी० पृ० ५५ A ।  
 (९) यथाहि कायस्य देशविद्यमानमपि कारणं कार्योत्पादकम् तथा कायकालेऽविद्यमानमपि कार्यो-  
 त्पादकं भवति । (१०) यत् कायकालेऽविद्यमानादपि कारणात् कार्योत्पत्तिः न स्वीक्रियते तदा । (११)  
 प्रज्ञाकरगुणो हि प्रमाणवार्तिकालङ्कारकारः स च भाविनः भूतञ्चायं कारणमाचक्षते तथाहि—  
 अविद्यमानस्य कारणमिति कोऽथ ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता तदेतदानन्तरमुभयापेक्षयापि  
 ममानम् । यदव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि । न चानन्तयमेव निबन्धनम् व्यवहितस्यापि  
 कारणत्वात् । गाढमुत्तस्य विज्ञानं प्रबोधं पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानं कालनन्ति विनिश्चितम् ॥  
 तस्मादव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम् । कायकारणभावस्य तदं भाविन्यपि विद्यते ॥ मृत्युन  
 भविष्यन् भवेदेवभूतमरिष्टमिति । —प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १७६ । (१२) यथा येनाविरोधं

१—घनवस्तु श्र० । २—प्राह स्वलक्षणस्य पर—आ० । ३—रेकोणोप—आ० । ४ नदुक्तम् आ० ।

५ प्रबोधोदयो भा—व० । ६ तथैव आ० ।

विवृतिः—यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिदेशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्कर-  
व्यतिकरव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीभेदात् कार्यभेदेपि  
तत्कारणस्वभावभेदः, तथैकमक्षणिकं यद्यदा उत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति तत्करणै-  
कस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् तदात्मकमेकमेव  
इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् गुणी गुणान् अवयवी अवयवान्  
व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात्, तथैव द्रव्यं स्वपर्यायभेदान् स्वयमभेदकत्वात्तेषां  
स्वभावानामिति । एवम्—

यथा येन योग्यताप्रकारेण एकं निरसं क्षणिकं वस्तु भिन्नो देशो येषाम-

र्थानाम्, देशग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रज्ञाकरगुणापेक्षया भिन्नकाल-

कारिभाव्याह्वानम्—

ग्रहणम्, तान् कुर्यात् सकृद् एकदैव । तथाहि—प्रदापक्षणः प्रमा-

तरि स्वज्ञानं स्थान्यां तैलशोष दशाननदाहञ्च उपरि कञ्जलम् इत्यादि भिन्नदेशं सकृदेवाऽ-  
नेकं कार्यं कुर्याद् एवमन्यदपि चिन्त्यम् । तथा यदैव जाप्रद्विज्ञानं स्वापानन्तरं व्यापा-  
रादिकार्यं कुर्यात् तदैव कालान्तरभाविस्वकालनियतं प्रबोधम्, यदैव च भाविराज्यादिक  
स्वकालनियतं दर्शनं कुर्यात् तदैव चिरादीतकाल हस्तरेखादिकम्, तथैकं नित्यं  
भिन्नकालार्थान् । कुतः ? क्रमात्, क्रममाश्रित्य । एकदैकं कृत्वा पुनरन्यं  
कुर्यात् तत्कालेऽपि तद्भावात् । तथा चेदमयुक्तम्—“नोऽक्रमात् क्रमिणो भावाः”

प्रकरणेक मोगताभिमत क्षणिकस्वलक्षण सकृदवधाने भिन्नदगार्थान् भिन्नो विप्रवृष्टो रशो येषां ते  
भिन्नदेशा ते च तेषांश्च कार्याणि तान्, स्वसन्तानवर्तिनमुपादानत्वेन सन्तानान्तरवर्तिनञ्च निमित्त-  
त्वेन जनयेदित्यर्थः । यथा वा एक ज्ञान भिन्नदगार्थान् विप्रवृष्टनीलाद्यानारान् व्याप्नोति न विरुध्यते  
तथा एकमाभिन्नद्रव्यं प्रमात् कालभेदेन भिन्नकालार्थान् भिन्न पूर्वपरभूतः कालो येषां त च तेषांश्च  
कार्याणि तान् कुर्यात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिरूपेण परिणमत इत्यर्थः । तानेव व्याप्नोति  
वा तादात्म्यमनुभवति वा, न विरुध्यते । —लघो० ता० पृ० ५६ । “तथैवाका भट्टाकलङ्कदवे-  
यथैकं भिन्नदेशाः” —सत्यज्ञानप० पृ० १५ B ।

(१) सर्वेषां युगपत्प्राप्ति मकर । (२) परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । (३) प्रदीप-  
विषयक ज्ञानम् । (४) तैलपात्रे । (५) दशा वर्तिका तस्या आननं मुच्यते अथभाग तस्य दाहम् ।  
(६) न हि स्वापानन्तरभाविव्यापारादीना प्रबोधस्य च जाप्रद्विज्ञान विभिन्नकालवर्ति सन् समुत्पादकं  
घटते तस्य एकक्षणमात्रवृत्तित्वादित्यागयेनाह—यदैवेति । (७) स्वावपयकं दर्शनं प्रत्यक्षम् । (८)  
अन्यपदार्थात्प्रादकालेऽपि । (९) नित्यस्य सद्भावात् । (१०) “नात्रमात्रमिणो भावो नाप्यपधा-  
ऽविशेषिण । क्रमाद् भवन्ती धीः कायान् क्रमं तस्यापि जसति ॥ नाऽक्रमान् त्रमिण कार्यस्य भाव,  
क्रमरहितत्वात् चारणस्य तद्विषयाद्यानि कार्याणि सकृन्नावेरन् । क्रमत्र सकृत्कारिणाग्रेणैव प्रमाञ्जनि-  
प्यतीति चेत्; नाप्यविशेषिण स्विपरैकरूपस्य परैरनाधनविनोरस्य परेषा सहकारिणामपक्षास्ति । तस्मात्  
क्रमाद् भवन्ती धीः कायान् क्रमन्तस्वपि कायस्य जसति ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० १।६५ । उदूता-  
श्र्यम्—भाक्रमात् त्रमिणो भावाः—धीश्चेयं क्रमः—(खड्गि० टो० पृ० १६१ A., १९७A. ।  
‘धीर्तेषां’—सम्भति० टो० पृ० ३३६ । प्रवृत्तपाठ—प्रमेयक० पृ० ३२५ ।

१ कारण-त्र०वि० । २-त्वात् स्वभा-ई०वि० । ३ एव आ० । ४-न्या थ० । ५नियतदर्शन थ० ।

[ प्रमाणवा० १।४५ ] इत्यादि । यथा चैकं ज्ञान क्षणिक भिन्नदेशार्थान् नानादेश-  
नीलाद्याकारान् व्याप्नोति तदात्मकं भवति । वाशब्द. पक्षान्तरसूचक, सकृद्  
एकदा तथा एकमात्मतत्त्व भिन्नकालार्थान् सुखादीन् व्याप्नोति चाक्रमात् ।

कारिका विवृण्वन्नाह—‘यथा’ इत्यादि । यथा चेन प्रकरेण स्वलक्षणम्,  
कथम्भूतम् ? क्षणिकम्, करोति कार्याणि । कथम्भूतानि ? नाना-  
विवृतिविवरणम्— दिग्देशभावीनि, दिग्ग्रहणमुपलक्षण तेन नानाकालभावीन्यपि गृह्यन्ते ।  
कथं करोति ? स्थानसङ्करव्यतिरेकव्यतिरेकेण । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभा-  
वत्वात् । तदेव समर्थयते ‘नहि’ इत्यादिना । हिर्यस्मात् न सामग्रीभेदात् कार्य-  
भेदेऽपि कारणस्वभावभेद, तथा एकमक्षणिक कारण यद् यदा उत्पित्सु कार्यं तत्  
तदैव करोति । कुत एतदित्याह—तत्करणैकस्वभावत्वात् । ननु जमभावीन्यनेक-  
कार्याणि कुर्वन् कथं तदेकम् तावद्वा भेदप्रसङ्गात् ? इति चेदत्राह—‘सर्वदा’ इत्यादि ।  
सर्वदा सर्वकाल कार्यकालानतिक्रमेण करणसामर्थ्यात् कारणान् तदात्मकं तत्करण-  
सामर्थ्यात्मकम् एकमेवेत्यविरुद्धम् । अस्यैव समर्थनार्थमाह—‘यथा’ इत्यादि । यथा  
सौगतस्य विज्ञानं स्वनिर्भासभेदान् आत्मनीलाद्याकारविशेषान् नैयायिकस्य गुणी  
गुणान्, अवयवी अवयवान् व्याप्नोति कथञ्चित्तदात्मको भवति । कदा ? सकृदपि,  
न केवलमसकृत् । ननु ज्ञानतन्निर्भासयो गुणगुणिनो अवयवावयविनोश्च अत्यन्तभेदान्न  
युक्तमेतदित्यत्राह—तदात्मकत्वात्, ज्ञानादे स्वनिर्भासभेद गुण-अवयवात्मकत्वात् ।  
अन्यथा घटपटवत् तज्ज्ञानवच्च गुणगुण्यादिभाव चित्रज्ञानरूपता च न स्यादित्युक्तं  
विस्तरतः प्रागेव । तथैव द्रव्य जीवादि स्वपर्यायभेदान् व्याप्नोति । स्वग्रहणात्—  
‘सर्वस्योभयरूपत्व तद्विशपनिराकृत ।

चोदितो दधि सादति किमुष्टं नामिधावति ? ॥” [ प्रमाणवा० ३।१८१ ]

(१) प्रतिनियतदेशस्यमेव । (२) चित्रज्ञानम् । (३) आदिपदेन गुणी अवयवी च ग्राह्यौ ।  
(४) घटपटज्ञानवत् । (५) व्याख्या— सर्वस्योभयरूपत्वम्—उभयग्रहणमनेकत्वोपलक्षणायम तस्मिन्  
सति, तद्विशपस्य उष्ट उष्ट एव न दधि, दधि दध्यव नोष्ट इत्येव लक्षणस्य निराकृते, ‘दधि  
खाद इति चोदित पुष्ट किमुष्टं खादिनु नामिधावति ? उष्टोऽपि दध्यभिन्नात् द्रव्यत्वादव्यतिरेकात्  
स्याद्दधि, नापि स एवेति उष्ट उष्ट एव’ इत्यकान्तवाद, यनान्योपि दध्यादिकं (त) स्यादुष्ट ।  
तथा दध्यपि स्यादुष्ट उष्टाभिन्न द्रव्यत्वेन दध्नस्तादात्म्यनाभिसम्बन्धान् । नापि तदेवेति दध्यव  
दधि, यनान्यदपि उष्टादिकं (त) स्याद्दधि । एतेन सर्वस्योभयरूपत्व व्याख्यातम् । —प्रमाणवा०  
स्वव० टी० १।१८३ । मनोरथ० १।१८३ । उद्धृतोऽयम्—अनेकान्तजय० पृ० १८ । नोदितो  
—अनेका० प्र० पृ० ७ । अष्टसह० पृ० १२ । सम्मति० टी० पृ० २४२ । नापयि० वि० पृ० १२  
A । निराकृत । प्रितो दधि —स्या० २० पृ० ८३७ ।

1 ज्ञानक्षणिक आ० । 2 सकरव्यतिरेकेण ध्र० । 3 तावद्वा आ० । 4 कायकार—आ० ।  
5—स्यमेवेत्य—आ०, व० ।

इत्येतन्निरस्तम्, दध्यादे उद्ग्रादिस्वरूपभूतपर्यायत्वासभवात् । कुतस्तत्  
तान् व्याप्नोतीति चेदत्राह—‘स्वयम्’ इत्यादि । स्य स्वरूपेण अभेदकत्वात्तेषाम् ।  
इतिशब्द द्रव्यसिद्धिप्रघट्टकपरिसमाप्तौ । तदेवं सिद्धे परापरद्रव्ये परापरसमग्रः  
प्रवर्तते । तत्र परसमग्र प्रदर्शयितुमाह—

संग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।

ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥

विवृतिः—नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद् यदात्मकं तत्  
तदेव, यथा स्वनिर्भासभेदात्मक ज्ञानम्, तस्मात् सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव  
नान्यदिति संग्रहः । तत्राधान्यात् न तु भेदप्रतिज्ञेपात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया  
तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवादवत् ।

संग्रहः समहनय सर्वेषां भेदानां जीवादिविशेषाणाम् ऐक्यमभिप्रैति

केन रूपेण ? इत्याह—सदात्मना । ब्रह्मवादेऽपि सदात्मना तेषा

समग्रं सभवति इति सोऽपि समहनयः स्यादित्याशङ्कानोदार्थमाह—

ब्रह्मवादस्तदाभास इति । कुत एतत् ? इत्याह—‘स्वार्थ’ इत्यादि । स्वार्थः

सन्मात्रं तस्य भेदो जीवादिः । तस्य निराकृतेः असौ तदाभासः समग्रभासः, 15

तन्निराकृतौ सन्मात्रस्यापि निराकृतिसिद्धेः । न खलु निराश्रय सामान्यं नाम अश्ववि-  
पाणादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् ।

व्यतिरेकद्वारेण कारिका विवृण्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न कश्चित्

चेतन इतरो वा भेदो विशेष असदात्मा अस्ति, कुत एतत् इत्याह—

विरोधात् । असदात्मनोऽस्तित्वविरोधश्च प्रागेव समर्थितः । ननु -0

विवृतिविवरणम्—

(१) तुङ्गना— सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः । तथापि सुगतो वचो मृगः

खाद्यो यदप्यते ॥ तथा वस्तुबलादेव भदाभदव्यवस्थिते । चोदितो दधि खादेति किमुष्टमभिधावति ॥

—भ्यासवि० का० ३७३-७४ । अत्रेकाग्रतजय० पृ० २८१ । न ह्यस्माभिदधुष्ट्योरेकं त्रियकसामान्यं

वस्तुत्वादिकं व्यवस्यभेदेन व्यवस्थितं तथाभूतप्रतिभासनावाद्भ्युपगम्यते । यादृग्भूतं तु प्रतिव्यक्तित्

भिन्नं समानं इति प्रत्ययविषयभूतमभ्युपगम्यते तथाभूतस्य तस्य शब्देनाभिधाने किमित्यत्र प्ररितो

ऽयत्र खादनाय धावेत् यद्युत्तं न स्यात् । —सम्प्रति० टी० पृ० २४२ । (२) पर्यायाणाम् । (३)

तुङ्गना—‘निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणम् । तदाभासः समाख्यातः सदाभिदृष्टबाधनात् ॥ -

सत्त्वायश्लो० पृ० २७० A । नयविव० श्लो० ६८ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । न्यायावता० टी० पृ० ८५ ।

प्रमाणनय० ७११५ २१ । जनतर्कभा० पृ० २४ । (४) स्वस्य ब्रह्मवादस्य अर्थो विषयः सन्मात्रं तस्य

भेदा जीवादिविशेषा तेषां निराकृते प्रतिपधात् । न खलु सवथा सत्त्वे भदानामवकाशोऽस्ति ।

भदरहितं च तत्त्वं सामान्यं नाम निराश्रयत्वात् ‘अयक्रियाविरहाच्च’ । —श्लो० ता० पृ० ५८ । (५)

सत्त्वप्राधान्यात् । (६) समग्रभासत्वम् । (७) सामान्यत्वप्रसङ्गात् ।

भवत्वेवम्; तथापि भेदेभ्यो भिन्नं सत्त्वम् इत्यत्राह—यद् यदेत्यादि । यद् द्रव्यादि यदात्मकं यत् सत्त्वमात्मा यस्य तद् यदात्मकम् तद् द्रव्यादि तदेव भवति सद्रूपमेव भवति, यथा स्वनिर्भासभेदात्मकं संशयेतरविपर्यासेतरविशेषात्मकं ज्ञानं संशयादिरूपमेव भवति । यत् एवं तरमात् संदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यत् भावाद्विभ्रं प्रागभावादि इति एवं संग्रहः । कुतः स इत्याह—तत्प्राधान्यात्, सन्मात्रप्राधान्यात् ननु न पुनः भेदप्रतिक्षेपात् । कुत एतदित्याह—स्वपर्यायभेदानपेक्षया, यतः तत्प्रतिरूपकत्वं संग्रहाभासत्वम् । किंवदित्याह—ब्रह्मवादवत् इति ।

अधुना नैगमतदाभासरूपणार्थमाह—

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।

10

नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमभास इष्यते ॥३०॥

विवृतिः—सलक्षणभेदाभेदयोः अन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः ।

(१) "इष्य

इति । कुत ? अन्योन्यत्यादि । गुणभावः अप्रधानभूत एकश्च प्रधानभूत, अन्योन्य परस्पर गुणभूतौ तौ च तौ भेदाभेदौ च तयो प्ररूपणात् ग्रहणात् । तथाहि गुणगुणिनामवयवावयविना क्रियाकारकाणां जातिलद्वतान्त्र कयञ्चिद् भेदं गुणीकृत्य अभेद प्ररूपयति, अभेद वा गुणीकृत्य भेद प्ररूपयति । नैगमनयस्यैवविधत्वात्, प्रमाणे भेदाभेदयोरनेवान्तग्रहणात् । ननु गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेद एवेति चेदत्राह—अर्थेत्यादि । अर्थान्तरत्व गुणगुण्यादीनामत्यन्तभेदः । तस्योक्तौ प्ररूपणायाम् नैगमभास इष्यते तस्य प्रमाणवाधितत्वात् ।—लघी० ता० पू० ५७। तुलना—“जेगेहि भाणेहि मिणइति जेगमस्स य निरुत्ती । सेसाणपि नयाण लक्खणमिणमो मुणह वोच्छ ॥”—अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आश्र० नि० गा० ७७५ । विशेषा० गा० २६८२ । “निगमपु येऽभिहिता शब्दास्तेषामर्थः शब्दाथपरिज्ञानं च दशसमग्राही नैगमः । “आह च—नैगमशब्दार्थानामेवानेवार्थनयनमापेक्ष । दशसमग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ।”—तत्त्वार्थसिद्धि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्धि० १।३५ । “जमिनिर्भृत्तार्थसंकल्पभात्रग्राही नैगमः ।”—मवार्थसिद्धि० १।३३ । राजवा० १।३३ । “यदस्ति न तद् द्वयमनिलक्ष्य वत्तंते इति नैक गमो नय संग्रहासग्रहस्वरूपद्रव्यायिका नैगम इति यावत् ।”—रत्नाटी० पू० ८४ । जयध० अ० पू० २७ । “तत्र सकल्पमात्रस्य ग्राहका नैगमो नय । यद्वा नैक गमो योऽत्र स सना नैगमो मतः । धर्मयोः धर्मिणोः वापि विवक्षा धर्मवर्मिणा । पर्यायनैगमादिभेदन नवविधो नैगमः ।”—तत्त्वार्थश्लो० पू० २६९ । नयविव० ३३, ३७। प्रमेयक० पू० ६७६। सम्मति० टी० पू० ३१० । नयचक्र गा० ३३ । तत्त्वार्थसार पू० १०७ । “नैकर्मिन्, महासत्तासामान्यविधपविशपक्वित्ताने मिमीत मिनोति वा नैकम । निगमेषु वा अर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगम । अथवा नैके गमा पन्थाना यस्य स नैकगमः ।”—स्थानाङ्गसू० टी० पू० ३७१ । “धर्मयो धर्मिणो धर्मधर्मिणाश्च प्रधानोपसर्जनभावन यद्विवक्षण स नैकगमो नैगमः”—प्रमाणनय० ७।७ । स्या० म पू० ३११ । जैनतर्कभा० पू० २१ । (२) तुलना—“ज सामत्रविसेमे परोपर वत्थुओ य सो भिन्नो । मत्रइ अच्चन्तमओ मिच्छइट्टी वणादाच्च ॥”—विशेषा० गा० २६९० । “तयारत्थन्तभेदोक्तिरन्योन्य वाधयादपि । जयो व्यजनपर्यायनैगमाभो विशपत् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पू० २७० । नयविव० ६३ । प्रमेयक० पू० ६७७। न्यायावता० पू० ८२। प्रमाणनय० ७।११। जैनतर्कभा० पू० २४ ।

१—क द्रव्या—आ० । २ तदेवमेव श्र० । ३ एव आ० । ४ सदात्मानो आ०, व० । ५—न्तरतोक्तौ ज० वि०,—न्तरतोक्तौ आ० ।

च आत्मा । तदर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवा-  
वयविनाम् क्रियाकारकाणां जातितद्वतां च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथा वृत्तिविरो-  
धात् । एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्येकं सत्प्रतिमना यदि स्यात् तद् एकमित्येव न  
स्यात् । यदि पुनः एकदेशेन वर्तन्त तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रसंगात् क्व किं वर्तन्त ?

**नैगमः** नैगमनय इष्यते । कुत इत्याह—'अन्योन्य' इत्यादि । प्रमाण-  
तो हि द्रव्यपर्यायाणां कथञ्चिद्भेदो अभेदे च व्यवस्थिते सति अन्योन्यं  
परस्पर गुणभूत अप्रधानभूत भेदस्य अभेदः, तस्य च भेदः  
एकः प्रधानभूतो भेदस्य अभेदः तस्य च भेदः तयोः प्ररूपणात् । अर्था-  
न्तरत्वोक्तौ भेदाभेदयोः एकान्तेन नानात्वोक्तौ सत्या नैगमाभास इष्यते ।

कारिका विवृण्वन्नाह—'स्वलक्षण' इत्यादि । स्वलक्षणं पर्यायात्मकं द्रव्य  
तदात्मका पर्यायाश्च, तस्य यो भेदाभेदौ तयोर्मध्ये अन्यतरस्य  
भेदस्य अभेदस्य वा प्ररूपणायां क्रियमाणायाम् इतरः भेदप्ररूपणा-  
याम् अभेदं तत्प्ररूपणाया वा भेदं गुणः स्यात् इति ण्वविधो नैगमो नयः ।  
अत्रार्थे सुस्पष्टप्रतीत्यर्थं 'यथा' इत्याद्युदाहरणमाह—यथा येन अनादिनिधनचैतन्य  
प्रकारेण जीवस्य यत् स्वरूपं गुणपर्यायव्यापकत्वं तस्य निरूपणायां क्रियमाणाया  
गुणा अप्रधानभूता, के ? सुखदुःखादयः । ननु 'सुखादयः' इत्येवास्तु किं दुःख-  
हणेन ? इति चेत्, न, अन्योन्य जीवाश्च भेदप्रतिपत्त्यर्थत्वात् तदुभयग्रहणस्य ।  
तत्प्ररूपणायाश्च सुखदुःखादिप्ररूपणायाश्च आत्मा जीवस्वभावात् 'गुणः' इति सम्ब-  
न्ध । नन्वेव व्याख्यान कस्मान्न भवति—जीवस्वरूपस्य जीवसत्ताया निरूपणाया गुणा  
सुखदुःखादयः, तेषां सत्तैव गुण इति, तत्प्ररूपणायाश्च सुखादिसत्ताप्ररूपणायाश्च  
आत्मा जीवो गुण इति चेत् ? समग्रऋजुसूत्राभ्यामस्य भेदाभावप्रसङ्गादिति ब्रूमः ।

जीवसुखादीनामन्योन्यमत्यन्तभेदप्ररूपणाया तु तदाभास इत्याह—'तत्' इत्यादि ।  
तेषां जीवसुखादीनां प्रक्रमान् एकान्तेन अर्थान्तरताभिसन्धि नैगमाभासः । 'कथम्'

(१) तुलना—'वृत्तिश्च कृत्स्नाशक्तिकल्पतो न । —युक्त्यनुशा० श्लो० ५५। 'एकस्यानेकवृत्तिं  
भागाभावाद्गृह्णति वा । भागित्वाद्भास्य नैवत्व दापो वृत्तेरनाहृत ॥'—आप्तमी० का० ६२ । अष्टप्र०,  
अष्टसह० पृ० २१४ । तस्य तेषु सर्वात्मनाऽयथा वा युक्त्ययोगो बाधक प्रमाणम् । —बादन्यायटी०  
पृ० ३० । 'यथा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च स ॥'  
—तत्त्वम० पृ० २०३ । यदि सर्वेषु कायोऽयमकदशनं वर्तते । अशा अशेषु वल्लभे स च कुत्र स्वयं  
स्थित ॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थित कायं करादिषु । वायास्तावन्त एव स्युर्वाविन्तस्ते करादयः ॥  
—बोधिसर्वाव० पृ० ४९५। (२) अभेदस्य । (३) अभेदस्य (४) अभेदनिर्हारेण । (५) अप्रधानभूत ।  
(६) सुखदुःखोभय । (७) नैगमस्य । (८) सत्ताप्राप्तौ यत्र समग्रैः तर्भावप्रसङ्गं सुखादिपर्यायप्राधान्यं  
तु ऋजुसूत्रेऽन्तर्भावप्रसङ्ग इति ।

1-पञ्चवयवक्रि-इ० वि० । 2-भूतो भेदस्य आ० । 3-णायामितर जा० । 4 जीवस्य  
स्वभावो व०, थ० । 5 जीवतो गुण थ० । 6-रूपणात्तदा-थ०, व० । 7-यां जीवानां प्र-आ० ।

प्रकारेण द्रव्यगुणकर्मण्येव न ररविपाणादीनि स्वतः सन्तु किं तत्र तेषु द्रव्यादिषु सत्तासमवायेन ? कुत एतदित्याह—‘स्वतः’ इत्यादि । स्वतो हि सतां द्रव्यादीनां सत्तासमवायात् सत्त्वं स्यात्, असतां वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, स्वतः सतां तद्वै-  
 5 यर्थ्यात् सत्तासमवायवैयर्थ्यात् । स्वतोऽसताश्च अतिप्रसङ्गात् स्वपुष्पादौ तत्समवा-  
 यात्सत्त्वप्रसङ्गात् । एतदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—‘तदेवम्’ इत्यादि । तद्  
 अनन्तरोक्त दूषणम् एवम् उक्तविधिना योज्यम् । क ? अवान्तरजातिष्वपि द्रव्य-  
 त्वादिसामान्येष्वपि । तथाहि—यथा सद्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म स्वतः तथा स्वतो  
 द्रव्यं द्रव्यं गुणो गुणः कर्म कर्म खण्डादिर्गोः कर्कादिरश्वः, किं तत्र द्रव्यत्वादिसमवाये-  
 न ? स्वतो द्रव्यगुणकर्मणां तद्वैयर्थ्यात्, अद्रव्यगुणकर्मणाश्चातिप्रसङ्गात् । नहि तैषाऽ-  
 10 परिणतमन्यसम्बन्धात् तथा भवति आकाशकुशेशयस्यापि तैथात्वप्रसङ्गात् । अत्र  
 दूषणान्तर दर्शयन्नाह—‘गोत्वादेः’ इत्यादि । अत्र आदिशब्देन अश्वत्वादिपरिग्रहः,  
 सर्वगतत्वे अङ्गीक्रियमाणे तत्प्रत्ययसाङ्कर्यम् गोत्वादिप्रत्ययसाङ्कर्यम् खण्डादिवत्  
 कर्कादावपि गोर्प्रत्ययः स्यात् । उपलक्षणमेतत् तेन अभिधेयव्यवहारसाङ्कर्यं गृह्यते ।  
 तत्साङ्कर्यं च अवान्तरजातित्वं तस्य अतिदुर्न्वयम् । निराकृता च विशेषतो नित्या  
 15 सर्वगता जातिः सामान्यपरीक्षावसरे इत्यलमिह विस्तरेण । अथ असर्वगतत्वपक्षे  
 जातेर्दूषणमुपदर्शयन्नाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्येन असर्वगतत्वप्रकारेण  
 ‘निष्क्रियस्य गोत्वादेः, अर्थः उत्पित्सुः यस्मिन् देशे तमव्याप्नुवतः ‘इच्छातो विशेष-  
 पणविशेष्यभावः’ इति अर्थस्य विशेषणत्वमिति न उत्पित्सुशब्दस्य पूर्वनिपातः ।  
 अनंशस्य निरवयवस्य अनेकत्र स्माधारे कादाचित्कं वर्तनमयुक्तम् । स्वमते दोषाभाव  
 20 दर्शयितुमाह—गुणगुण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरुद्धमिति । एतच्च  
 अनेकान्त

प्रसङ्गात् ।

समवायर्षि सत्ताभ्युपगम तद्वैयर्थ्य समवायाभ्युपगमादनिष्ठापतिरेव दूषणम् \*—प्रश० भा०, कन्द०  
 पृ० १९ । ‘मुख्यं हि अनवस्थादिवाधकोषपत्तं’—प्रश० ध्यो० पृ० १४२ । व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽ-  
 यानवस्थिति । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः ॥”—प्रश० किर० पृ० ३३ ।

(१) सत्तासमवायात् । (२) द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसमवायवैयर्थ्यात् । (३) ‘न हि स्वतोऽपि  
 भूतस्तथात्वसमवायभाक् ।’—आप्तप० का० ७२ । (४) सत्तासमवायात्सत्त्वप्रसङ्गात् । (५) कर्कादा-  
 वपि गोर्गौरिनि शब्दप्रयोग गौरिति ज्ञान वा स्यात् । (६) गोत्वस्य । (७) दुर्ज्ञेयम्, यतो हि गोत्व  
 गोवत् सर्वत्र अश्ववादी स्यात् तथा च तत् महासामायमेव स्यात् स्ववान्तरसामान्यमिति भावः । (८) पृ०  
 २५८—(९) तुलना—‘तत्र दशान्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथन्तु ते । दृश्यन्ते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्निति न  
 गम्यते ॥ न हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वान्नाप्यवस्थिता । तत्र प्राग्विभुत्वेन नचायान्त्यन्यतोऽक्रिया ॥”  
 —सत्त्वस का० ८०६-७ ।

१—ह स्वतो हि आ० । २—जातिदि—आ०, श्र० । ३ द्रव्यादि—व० । ४—जातिप्रतिप्र—श्र० ।  
 ५ गोत्वप्रत्यय श्र० । ६—ण असर्व—व०, श्र० । ७ नि क्रियस्य व०, आ० । ८—व्यस्यभाव श्र० ।  
 ९—चित्त्ववर्तन—व० ।



अपरमपि नैगमाभास दर्शयितुमाह—‘गुणानाम्’ इत्यादि । गुणानां सत्त्वरज-  
स्तमसां वृत्त वर्तुन चलम् अविर्भावतिरोभाववत् । एतदेव ‘सुख’ इत्यादिना व्याचष्टे-  
सत्त्वस्य हि सुखादिलक्षणं वृत्तम्, रजसो दुःखादिलक्षणम्, तमसोऽज्ञानादिवमिति ।  
पुरुपस्य किं स्वरूपमित्याह—‘चैतन्यम्’ इत्यादि । चैतन्यं दर्शनं पुरुपस्य स्वम् आत्मी-  
यमसाधारण रूपम् । “ न प्रहृतिर्न विकृतिः पुरुपः ” [ साख्यका० ३ ] इत्यभिधानात् । 5  
कथम्भूतम् ? अचलम्, आविर्भावतिरोभावविकलम् । इतिशब्दः परपक्षसमाप्त्यर्थः ।  
अत्र दूषणमाह—‘एतदपि’ इत्यादि । एतदपि साख्यमतमपि न केवलं वैशेषिकमतं  
तादृशेन नैगमाभास एव । कुत एतदित्याह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः सुखादिवृत्त-  
पुरुपयोः अर्थान्तरतां व ( ताव ) स्त्वन्तरत्य तस्य असिद्धेः अनिश्चयात् । अत्रैव  
दोषान्तरमाह—अतिप्रसङ्गश्चैवमिति । सुखादिवृत्तपुरुपयोः परमार्थतोऽभेदेऽपि प्रतीय- 10  
माने एवं परैः स्मृतदुराप्रहाभिनिवेशप्रकारेण भेदे अभ्युपगम्यमाने अतिप्रसङ्गः स्यात्  
‘एकमेव न किञ्चित् स्यात्’ इति भावः । च शब्दः पूर्वदोषसमुच्चये । ननु तदभेदवि-  
रोधात् सिद्धैव तदर्थान्तरता इत्याह—‘तदभेद’ इत्यादि । तयोः पुरुपवृत्तयोरभेदे  
एकत्वे सति विरोधाभावात् सहानवस्थानलक्षणस्य परस्परपरिहारस्थितिस्वरूपस्य  
प्रमाणवाधारूपस्य वा विरोधस्याभावात् इति भावः । अथ मतम् अचलपुरुपस्वरूपे 15  
चलवृत्तानुप्रवेशे द्वयोश्चलत्वमचलत्व वा रूपं स्यात् अतो विरोधः इत्यत्राह—‘गुणानाम्’  
इत्यादि । गुणानां सत्त्वरजस्तमोलक्षणानां दृश्यादृश्यात्मकत्वे व्यक्तापेक्षया  
दृश्यात्मकत्वे प्रधानापेक्षया अदृश्यात्मकत्वे अङ्गीक्रियमाणे पुंसामेव तदात्मकत्वं  
दृश्यादृश्यात्मकत्व युक्तम् उपपन्नम् । प्रसाधितं च सुखादिनिवर्त्तनत्वमात्मनः प्रागेव  
प्रबन्धेन इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘कृतम्’ इत्यादि । कृतं 20

( १ ) “प्रीत्यप्रीतिविपादात्मका, अत्राय समास प्रीतिश्चाप्रीतिश्च विपादश्च ते आत्मा स्वरूप  
येवा गुणानां ते भवन्ति प्रीत्यप्रीतिविपादात्मका । तेषां लक्षणमुच्यते तत्र प्रीत्यात्मक सत्त्वम् । आत्म-  
शब्द स्वभावे वर्तते । कस्मात् ? मुखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जव  
मादं वसत्यशौचहीनद्विधमानुकम्पाज्ञानादि च, तत्सत्त्व प्रत्येतन्नम् । अप्रीत्यात्मक रजः । कस्मात् ?  
दुःखलक्षणत्वात् । यो हि कश्चित् कदाचित् कश्चिदप्रीतिमुपलभते तत्र द्वयद्रोहमत्सरनि-वास्तमोत्कण्ठा-  
निकृतिवञ्चनाबन्धच्छदानानि च, तद्रजः प्रत्येतन्नम् । विपादात्मक तमः । कस्मात् ? मोहलक्षणत्वात् ।  
यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित्मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदैव्याकर्मण्यतान्तिक्वविपादस्व  
प्नादि च, तत्तम प्रत्येतन्नम् । -साख्यका० माठर०, जयम०, का० १२। साख्यसूत्रवि० पृ० १०६ । ( २ )  
कापिलं । ( ३ ) सुखादि-पुरुपयो । ( ४ ) सुखादि । ( ५ ) द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः, अविकलकार  
णस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगति शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत् । ”  
-न्यायवि० पृ० ९७-९८ । ( ६ ) पृ० १९१ ।

1-चष्ट सत्त्वस्य दर्शनं पुरुपस्य आ० । 2-दि वृत्तापुरुपयो पर-आ० । 3-तामचलस्त्वन्त-व० ।

4 तवभेदविरो-ध०, व० । 5-प्रवेशद्वयो-आ० । 6-त्राह वृश्याद्-ध० । 7-कत्वव्यवता-आ० ।

8-त्मकं युक्त आ० ।

इति प्रश्ने उत्तरमाह—गुणगुणिनाम् अययानययिना क्रियाकारकाणा जातितद्व-  
 ताञ्च मिथः परस्परमर्थान्तरत्वे अङ्गीक्रियमाणे, किम् इत्याह—‘सर्वथा’ इत्यादि । सर्वण  
 वक्ष्यमाणप्रकारेण सर्वथा वृत्ते गुणादीना गुण्यादौ वर्त्तनस्य विरोधात् ‘नैगमाभासः’  
 इति सम्बन्ध । तद्विरोध दर्शयितुमाह—‘एकम्’ इत्यादि । एकम् अवयव्यादिकम् ।  
 अनेकत्र देशकालाकारभिन्ने अवयवादौ वर्त्तमान एकमेक प्रति प्रत्येक सर्वात्मना  
 साकल्येन यदि स्याद् भवेत् वर्त्तमान तदवयव्यादिकम् ‘एकम्’ इत्येवं न स्यात्,  
 अपि तु यावन्तोऽवयवाद्य तावन्त एव अवयव्यादय स्यु । नहि एकस्य निरस्य  
 क्रियातो भिन्नस्य परमाणुवद् युगपद् देशादिभिन्नेष्वाधारेण वर्त्तन युक्तम् । परस्य  
 पश्चान्तरमाशङ्क्य दूषयन्नाह—‘यदि पुनः’ इत्यादि । पुनरिति पश्चान्तरसूचक,  
 एकमनेकत्र प्रत्येकं यद्येकदेशेन वर्त्तत तर्हि तस्य अनेकदेशा कल्पनीया तेषु चास्य  
 वृत्ति कल्पनीया, अन्यथा कथं ते ‘तस्यै’ इति व्यपदिश्यन्ते ? तत्कल्पने च दूषणमाह—  
 ‘तद्’ इत्यादि । ‘ते च ते एकदेशाश्च तेष्वपि तथैव सर्वात्मनैकदेशप्रकारणैव प्रसङ्गात्  
 दोषादनवस्था स्यात् इत्यभिप्राय । तथाच क्व अययादौ किम् अयव्यादि वर्त्तत ?  
 निराकृता च अवयवादौ अवयव्यादेर्वृत्ति विषयपरिच्छेदे प्रपञ्चत इत्यलमतिविस्तरेण ।

एव गुणगुण्यादीना भेदैकान्त निराकृत्य सत्तातद्वता त् निराकर्तुमाह—

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।

असदात्मसु नैपा स्यात् सर्वथातिप्रसङ्गतः ॥ ४० ॥

विधृतिः—यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माण्येन सन्तु कि  
 तत्र सत्तासमवायेन ? स्वतः सता तद्वैयर्थ्यात् असता चाऽतिप्रसङ्गात् । तदेवम् अवा-

(१) अवयविनिष्ठा क्रिया एका निरशापि सती भिन्नदशपु अवयवेषु वतनापि, न तु क्रियातो  
 भिन्नोऽप्य कश्चिन्निराऽव भिन्नदशाधारपु वतते इति भाव । (२) अनेकदेशपु । (३) अनेकदशा ।  
 (४) अवयविन । (५) प० २२४ । (६) भदकान्तम् । (७) योगमते भावाना स्वत सदात्मना सता  
 समवाय असत्तात्मना वेनि विकल्पद्वय मनसिकृत्य प्रथमपक्ष दूषणमाह—स्वत स्वरूपेण अर्था पदार्था  
 सन्तु । क्वित ? सत्तावत् यथा सत्तान्तरादिनाऽपि सत्ता परसामान्य स्वत एवास्ति तथा द्रव्या  
 दीयपि स्वत एव सन्तु विद्यन्ताम् । तथा च स्वत सदात्मना सत्तया किं साध्यं न किमपीत्यथ । विनापि  
 तथा तेषा मत्वात् । द्वितीयविकल्प दूषयति नवथाऽसदात्मनु द्रव्यादिषु परा सत्ता न स्यात् न वतत  
 अतिप्रसङ्गान् खरविषयाणादावपि सवथाऽसति सत्तासमवायप्रसङ्गात् । —लघी० ता० पृ० ५९ । तुलना—  
 सत्ताजोगादसत्रो सत्रो व सत्त ह्वेज्ज दन्वस्त । असत्रो न खपुष्फस व सत्रो व कि सत्तया कज्ज ॥’  
 -विशया० गा० २६९ । स्वरूपेणासत् सत्त्वममवाय च खाम्बुज । स स्यात्किन्न विनापस्याभावात्तस्य  
 ततोऽञ्जसा ॥ स्वरूपेण सत् सत्त्वममवायसि सवदा । सामायादौ भवत्सत्त्वममवायोऽविनापत ॥ —  
 आप्तप० का० ६९ ७० । उद्धृतेय कारिका—सूत्रकृताग शो० पृ० २२७ ।

१ गुणादीना गुणादौ आ० व० । - यदि पुनरित्यादि इति पाठ आदत्त लिखित्वापि निष्का  
 सित । ३ रूप तस्य थ० । ४ ते च ते तदेकदेशे-२० व० । ५ इत्यलमति-व० । ६ निराकृत्यमाह-थ० ।

पर्याप्त गुणकल्पनया प्रधानकल्पनया, तस्य तदात्मकत्वादित्यभिप्रायः । निरस्तञ्च प्रधानं प्रपञ्चतः प्रकृतिपरीक्षाप्रघटके<sup>३</sup> इत्युपरम्यते ।

अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासतां तयोर्दर्शयितुमाह—

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात् तच्चतस्तयोः ।

मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥ ४१ ॥

विवृतिः—शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्यायं समस्तं व्यस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यञ्च व्यवहारैरेव । स च संप्रदेहे भेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (सःप्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम् ; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात् । अन्यथा स्वप्नान्तरगतं तद्विसंवादान्न किञ्चित् प्रमाणम् । नैगमेऽपि 'चलं गुणप्रवृत्तं नित्यं चैतन्यम्' इति व्यवहारासिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव (यैव) सुतुच्छकम् ॥" [ ]

(१) पुष्पस्य । (२) सुखाशातमकरतात् । (३) पृ० ३५४ । (४) सप्रहाभामनंगमाभासयो । (५) व्याख्या—'प्रमाणं स्वेष्टानिष्टसाधनद्रूपगणनिबन्धन प्रत्यक्षमन्यद्वा सर्वैरभ्युपगन्तव्यमन्यभासितप्रसङ्गान् । तच्च व्यवहारात् । विधिपूर्वकमवहरण विभजन भेदकल्पन व्यवहारस्तस्मात् तमाधित्वेत्यर्थं । स च तत्स्वत परमायंतो न स्यात् । क्व ? तयो सप्रहाभामनंगमाभासयो । न खलु निरपेक्षे भावकान्ते प्रमाणादिभेदव्यवहारोस्ति निराहृतत्वात् भेदेकान्तं वा प्रमाणफलव्यवहारोस्ति सम्बन्धाभावात् । औपचारिक प्रमाणफलव्यवहारस्तत्रास्तीति चेदत्राह—मिथ्येत्यादि । मिथ्यैकान्ते प्रमाणफलव्यवहारस्यावास्तवैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे विषय भेदोऽपि क ? न वापीत्यर्थं । कयो ? स्वपक्षविपक्षयो, स्वपक्षो ब्रह्मवादा भदवादी वा, विपक्ष धणिकवादीऽद्वैतवादी वा तयो सकरप्रसगादित्यर्थं । तत क्यञ्चिद्व्यवहारोपि वास्तवोऽङ्गीकर्तव्यः । '—लघी० ता० पृ० ६० । तुलना—' प्रामाण्य व्यवहारेण ' ।'—प्रमाणवा० १।७ । (६) "उक्तार्थे शास्त्र प्रमाणयति—तथा चेति । परम पारमाधिक नित्यमिति यावत् । मायैव लौकिकमायावत् धानभङ्गरम्, अत सुतुच्छकम् अत्यन्ततुच्छमल्पसार स्थिराज्ञाभावादिति । अत्र मुग्धेन परिणामितया गुणानामपि तुच्छत्व सूचितं गुणा एव परिणामितया कूटस्थनित्यापेक्षया तुच्छा, गुणकार्यं तु दृश्यमानं गुणापेक्षयापि तुच्छम्, अत सुतुच्छमिति ।" —योगवा० पृ० ४१४ । "परम रूपं मूलरूपमव्यक्तावस्था न दृष्टिपथमृच्छति गच्छति, व्यक्तं दृष्टिपथं प्राप्तं यद् गुणरूपं तद् मायैव सुतुच्छकं मायया प्रदर्शितं प्रपञ्चं यथा तुच्छं तथाति ॥" —योगसू० भास्व० पृ० ४१४ । कारिकेय निम्नग्रन्थेषु समुद्भवाऽस्ति—'तथा च शास्त्रानुशासनमगुणानां' ।' —योगवा० ४।१३ । 'पठितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि—गुणानां ' ।' —योगभा० तत्त्वव० ४।१३ । योग० भास्वती, पात० रह० ४।१३ । 'भगवान् वार्यगण्य—गुणानां ' ।' —शा० भा० भासती पृ० ३५२ । नयचकृव० पृ० ४३ A । तत्त्वोपलव० पृ० ८० । साध्यतत्त्वा० पृ० ६ । गुणानां मुमहद्रूपम् ' ।' —प्रमाणवातिकाल० परि० ४, पृ० ३३ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७४ B । अष्टसह० पृ० १४४ । ' दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायावस्तु तुच्छकम्'—जयम० पृ० ६३ ।

१ गुणपरिक-ध० । २ भासपता ध० । ३ प्रमाण व० । ४-व्य स्य-ई०वि० । ५-प्रमाण-व० । ६ बल ई०वि० ।

इति प्रमाणमस्ति समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्तेत । 'शृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः' इति लोकव्यवहारमतिवर्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । न वै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत् ; कथं स्वस्वभावरहितः सोऽस्ति वर्तेत वा समवायान्तराभावात् तदनवस्थानुपज्ञात् ।

**प्रामाण्यं व्यवहारात्** व्यवहारमाश्रित्य, हिः अवधारणार्थः । व्यवहारादेवं न ज्ञानाद्यद्वैताद्याश्रित्येत्यर्थः । तत एव तदस्तु को दोषः इति कारिकाव्याख्यानम्—  
चेदत्राह—'स' इत्यादि । स व्यवहारो न स्यात् तत्त्वतः परमार्थतः तयोः संग्रहनैगमाभासयोः । ननु यदि तयोर्व्यवहारो वास्तवो नास्ति, मा भूत् अवास्तवस्तु भविष्यति इत्यत्राह—'मिथ्यैकान्त' इत्यादि । अयमभिप्रायः—यत्र व्यवहारो मिथ्या तत्र तदाश्रित प्रमाणमप्येकान्तेन मिथ्या, तस्मिन् मिथ्यैकान्ते अङ्गीक्रियमाणे विशेषो भेदः कः न कश्चित् । कयोः ? स्वपक्षविपक्षयोः । ततः उभयोः सिद्धिरसिद्धिर्वा स्यादिति भावः । वाशब्द अपिशब्दार्थे ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'शुद्धम्' इत्यादि । शुद्धं द्रव्यं पर्यायरहितं ब्रह्मादि, शुद्धं पर्यायं द्रव्यरहितं क्षणिकनिरंशपरमाणुरूपम् । अशुद्धं द्रव्यं सपर्य-  
विवृतिव्याख्यानम्—  
यम् । अशुद्धं पर्यायं सद्रव्यम् । अस्यानन्तरस्य विशेषणमाह—  
'व्यस्तम्' इत्यादि । व्यस्तम् अन्योन्यनिरपेक्षम्, अनेन नैयायिकमतं दर्शितम् । समस्तम् अन्योन्यात्मकम्, अनेनापि सांख्यदर्शनं प्रकाशितम्, विकारविकारिणोः सांख्यैस्तादात्म्याभ्युपगमत् । 'व्यवस्थापयता' इत्येतत् प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तत्साधनं तयोः शुद्धाशुद्धव्यस्तसमस्तद्रव्यपर्याययोः साधनं मृग्यम् अन्वेद्यम् । तच्च नयत्किञ्चिद् भवितुमर्हति किन्तु प्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवस्तुव्यवस्थायामन्यस्याऽनधिकारात् । अन्यथा प्रमाणान्वेषणाभावप्रकारेण तद्व्यवस्थापने अतिप्रसङ्गात् सर्वतः सर्वस्य सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु संग्रहनैगमाभासप्ररूपणप्रस्तावे किमर्थमप्रस्तुतं 'शुद्धं पर्यायम्' इत्येतत् प्रस्तूयते इति च न वाच्यम्; दृष्टान्तार्थत्वात् । यथैव शुद्धं पर्यायं व्यवस्थापयता सौगतेन प्रमाणं मृग्यम् तथा अन्येदपि अन्येन व्यवस्थापयता तन्मृग्यमिति ।  
यदिवा, उत्तरत्र ऋजुसूत्राभासे इदमवश्यं चकव्यम्, तदिहैवोक्तम् । मृग्यत एव तर्हि

(१) तुलना—'पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दाश्चैभे स्वयं कृता । गृह्ण गवीति लोके स्यात् गृह्णे गोरित्यलौकिकम् । प्रमाणवा० ३।१५० । 'वृक्षे शाखा शिलाश्चाग इत्यपि लौकिका मतिः । शिला-  
ख्यपरिशिष्टाङ्गनैरन्तर्बोपलम्भनात् ॥ तौ पुनस्तास्विति ज्ञान लोकातिशान्तमुच्यते ।"—तत्त्वस० ५०  
२६७ । (२) शुद्धद्रव्यादि । (३) ब्रह्माद्वैतादिवादिना । (४) प्रमाणम् ।

1-त वर्तेत ई० वि० । 2-प्रमाणं ब०, थ० । 3-वेदज्ञाना-आ० । 4-ज्ञानाद्वैता-ब० ।  
5-तत् थ० । 6-यथा तयोः ब० । 7-अथास्तवस्तु आ०, अवास्तुस्तु थ० । 8-प्रमाणनिर्धेका-आ० ।  
9-द्रव्यपर्याय-थ० । 10-अनेन आ० । 11-तदिह चोक्तम् ब० ।

प्रमाणमिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य तद्वयवस्थापकस्य प्रामाण्यञ्च व्यवहारेणैव न परपरिकल्पितपरमार्थप्रकारेण तत्र तदसिद्धे । स च व्यवहारः संग्रहे मिथ्येय लेशतोऽपि सत्यो न भवति इति एवकारार्थः । कुत एतदित्याह—भेदाश्रयो यतः । भवत्वैवम्, को दोषः ? इति चेदत्राह—‘ततः’ इत्यादि । तस्मात् मिथ्यारूपात् प्रमाणादिव्यवहारात् संग्रहः प्रतिपक्ष भेदैकान्त कथमतिशयीत ? न कथञ्चित् । तत्रापि मिथ्याप्रमाणादिव्यवहारभावात् “श्रामाण्य व्यवहारेण” [ प्रमाणवा० १।७ ] इत्यादिवचनात् । ननु अभेदात्मक संग्रह भेदात्मकञ्च प्रतिपक्ष, तत्कथं स त नातिशेते ? इत्यत्राह—‘सत्यं’ इत्यादि । सत्यम् अवितथम् इतराद् वितथम् ते च ते स्वरूपे च ते यस्य स्त तत् तद्वत् । क्रियाविशेषणमेतत्—सत्यरूपवद् यथा भवति तथा संग्रहोऽतिशयीत, इतरस्वरूपवत् यथा भवति तथा प्रतिपक्षमिति, प्रतिपक्षवत् संग्रहोऽपि मिथ्यैव स्यात् इत्यर्थः । ततः को दोषः इत्यत्राह—‘मिथ्या’ इत्यादि । मिथ्यैकान्तस्य संग्रहप्रतिपक्षयो योऽविशेषः तस्मिन्नपि न केचल विशेषे तस्य संग्रहस्य व्यवस्थापनमयुक्तम् । उपसहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यत एव तत् तस्मात् उभयोपलब्धे संग्रहेतरयो उपलब्धेः अवितथात्मकत्वात् सत्यस्वभावत्वात् ‘स कथं प्रतिपक्षमतिशयीत’ इति सम्बन्धः । तस्यावितथात्मकत्वे दूषणमाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अवितथात्मकत्वाभावप्रकारेण स्वमान्तरवत् स्वप्रभेदवत् तस्याः विमत्रादान्न किञ्चित् प्रमाणम् ।

एव संग्रहाभासे प्रमाणाभाव प्रदर्श्य इदानीं नैगमाभासे त दर्शयन्नाह—‘नैगमेऽपि’ इत्यादि । न केचल संग्रहे अपि तु नैगमेऽपि न किञ्चित् प्रमाणम् । एतदेवाह—‘चलम्’ इत्यादि । चलम् आविर्भावतिरोभाववत् । किं तदित्याह—‘गुण’ इत्यादि । गुणाना सत्त्वादीना वृत्त महदादिरूपेण परिणमन निरर्थं चैतन्यम् इति एव स्वरुचिचिरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । कुत ? व्यवहारासिद्धेः । एतदेव दर्शयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हियस्मात् न गुणाना सत्त्वरजस्तमसा परम प्रधानलक्षण रूप न दृष्टिपथमृच्छति, यत्तु रूपा महदादि दृष्टिपथप्राप्त तन्मायेव सुतुच्छकम् इति एव प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षादेरत्राऽनवतारादिति ।

साख्यनैगमाभासे प्रमाणाभाव प्रदर्श्य अधुना नैयायिकतैदाभासे त दर्शयन्नाह—

(१) व्यवहारो हि भदमाश्रित्य प्रवर्तते अतः अभदप्राप्तिसंग्रहनयदृष्ट्या मिथ्यव । (२) उद्धतो ज्यम नत्वायश्लो० पृ० १७३ । सिद्धिवि० टी० पृ० १८ A २३२ B, २९४ B ३०५ B ३२४ ५२० B । प्रमेयक० पृ० २१७ ३८३ । सम्मति० टी० पृ० १११ ४९७ । वाद्यवि० वि० पृ० ३८ B । गान्त्रवा० पृ० १५८ B । (३) नगमाभासे । (४) प्रमाणाभावम् ।

1-माथ्य व्यव-आ० । 2-रद् तद्वय्य थ० । 3 यो वि-व० आ० । 4 तस्य व्यव-आ० ।

5 संग्रहेतरौपल-व० थ० । 6 सत्त्वस्व-थ० । 7 नित्यवतन्य थ० । 8 त माथ्य व० । 9 इत्यल प्र-व० ।

‘समवायेन’ इत्यादि । समवायेन सम्बन्धेन स्वावयवेषु अवयवी वर्त्तते [ ति ]  
 ‘नहि प्रमाणमस्ति’ इति सम्बन्धः । ननु ‘शृङ्गे गौः शाखाया वृक्षः’ इति प्रतीतिः तत्र  
 प्रमाणमस्तीति चेदत्राह—‘शृङ्गे’ इत्यादि । शृङ्गे गौः शाखायां वृक्ष इति एव यत् प्रमाणं  
 तत् लोकव्यवहारमतिवर्त्तत तत्र तथाप्रतीतेरभावात् । कुत एतद्वित्याह—विपर्ययात्,  
 ‘गवि शृङ्गं वृक्षे शाखा’ इति लोकव्यवहारे प्रतीतिसद्भावात् । अत्रैव दूषणान्तरमाह—  
 ‘स्वयम्’ इत्यादि । स्वयम् आत्मना अज्ञस्वभावाः अचेतनः सून आत्मा ज्ञान-  
 समवाये सति कथमिदं ज्ञः स्यात् चेतनो भवेत् ? नहि तथा ज्ञत्वप्रकारेण अपरि-  
 णतस्य तत्रं ज्ञत्वं युक्तम् । कुन एतत् ? समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । ‘नवै’  
 इत्यादिना परमतमाशङ्कते—नवै नैव ज्ञानेन समवायस्य समवायोऽस्ति तत्कथमस्यै  
 ज्ञत्वप्रसङ्गः इति चेत् तत्राह—‘कथम्’ इत्यादि । कथं केन प्रकारेण समवायोऽस्ति ?  
 न केनचिद्, व्यवस्थापकप्रमाणानां समवायपरीक्षाया प्रपञ्चतः प्रतिपिद्धत्वात् । इतश्च  
 नास्त्यसौ स्वभावभारहितो यतः । तस्यै हि स्वभावोऽयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, तत्र तत्रैव  
 विस्तरतो निपिद्धम् । कथं च समवायिष्यवर्त्तमानस्य अश्वविपाणस्येव अस्थं अयुतसिद्ध-  
 सम्बन्धत्व युक्तम् ? अथ वर्त्तत एवासौ तत्र, अत्राह—‘वर्त्तत वा’ इत्यादि । अत्रास्यै  
 ज्ञत्वलक्षणं दूषणमुक्तमिति मत्त्वा दूषणान्तरमाह—वर्त्तत वा कथं समवायान्तराभावात्  
 ऐकत्वात्तस्य । विशेषणीभावाद् वर्त्तते इति चेदत्राह ‘तद्’ इत्यादि । समवायस्य  
 तदन्तरकल्पने या अनवस्था तस्य अनुपङ्गात् कथमसौ कापि वर्त्तत ? अयमभिप्रायः—  
 अनवस्थाभयात् समवायस्य समवायान्तर परेण न कल्प्यते, सा च विशेषणीभावक-  
 ल्पनेऽप्यविशिष्टा सम्बन्धान्तरकल्पनस्य अत्राप्यविशेषात् । नहि असम्बद्धो  
 विशेषणीभावः समवायस्य समवायिषु वृत्तिहेतुः इत्युक्तं समवायनिषेधप्रघट्टके ।

\*इदानीं व्यवहारनय दर्शयितुमाह—

व्यवहाराविस्वादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रं शून्यमितीदृशः ॥४२॥

(१) लोकव्यवहारे । (२) समवायस्य । (३) पृ० २९७ । (४) ‘अयुतसिद्धानामाधायवि-  
 रभूतानां य सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतु स समवाय ।’ (प्रश० भा० पृ० १४) इत्यभिधानात् । (५)  
 समवायपरीक्षायाम् (पृ० २९७) । (६) समवायस्य । (७) समवायिषु । (८) समवायस्य । (९)  
 तत्त्वं भावेन—वैशे० सू० ७ । २ । २५ । ‘तस्माद् भाववत्सर्वत्रक समवाय ’—प्रश० भा० पृ०  
 ३२६ । (१०) पृ० ३०३ । (११) व्याख्या— स्याद् भवेत् । क ? नय मप्रहादि । किविनिष्ट ,  
 बहिरर्थोऽस्तीतीदृश । इतिशब्दात् प्रमाणमस्ति साध्यसाधनभावोऽस्तीत्यादि । कथम्भूत सन ? व्यवहा-  
 राविसवादी हेतुफलभावादिव्यवस्था व्यवहार तस्याविसवादोऽव्यभिचार सोऽस्यास्तीति तथोक्त ।

• 1 वर्त्तत नहि व०, वर्त्तति नहि थ० । 2-हारप्रतीति-व०, थ० । 3 न चंतावर्त्तव ज्ञानेन व० ।  
 4 चेदत्राह थ० । 5-न्यवर्त्त तत्रं आ० । 6-वामो युक्त तत्र व० । 7 दूषणमाह व० । 8 वा  
 समवायान्तरात् एकत्वाभावात् एकत्वात्तस्य थ० । 9 असम्बन्धो आ० । 10-हारोऽविस-मु० लघो० ।  
 11-मात्रशून्य-मु० लघो० ।

विवृतिः—प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारपेक्षम् । स पुनः अर्थाभिधानप्रत्ययाः त्मकः । कथम् ? उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम् जीवश्चैतन्यः स्वभावः इति । श्रुतेः प्रमाणान्तरावाधानं पूर्वापराविरोधश्च अविसंवादः । तदपेक्षोऽयं नयः, ततोऽन्यथा दुर्नयः । कथम् ? बहिरपि स्वैलक्षणमर्थक्रियासमर्थं सद् अंगीकृत्य तत्रतिक्षेपेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तच्चम् इति प्रत्यवस्थाप्य तदपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमुसाध्यसाधनमाकुलं प्रलपन्न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत् स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिविरोधात् । तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरंलं शेषप्रलापेन ।

हेतुफलभावादिव्यवस्था व्यवहारः तदविसंवादी नयः स्यात् ।

अन्यथा तद्विसंवादप्रकारेण दुर्नयः नयाभासः स्यात् । अत्रोकारिकायाख्यानम्—  
दाहरणमाह—‘बहिः’ इत्यादि । ‘बहिरर्थोऽस्ति’ इति नयस्य उदाहरणम्, शेषं दुर्नयस्य । बहिरर्थग्रहणमुपलक्षणं तेन प्रमाणमस्ति कार्यकारणभा-

व्यवहारस्य हि सुनयत्वे तदाश्रया हेतुफलभावादिसिद्धिः स्यात् अन्यथा व्यवहारविसवादी दुर्नयः स्यात् । कीदृश ? विज्ञप्तिमात्रम्, विज्ञप्तिविज्ञानमेव तत्त्व नान्यत् । शून्यम्, समस्तज्ञानज्ञेयोपप्लव एव तत्त्वमितिदृश । इतिशब्द प्रकारवाची, सन्मात्रमेव तत्त्व विश्रम एव तत्त्वमित्यादिप्रकारान् मूचयति । “—लघी० ता० पृ० ६१ । तुलना—“वच्चइ विणिच्छिअत्थं व्यवहारो सव्वदब्बेनु ।”—अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । अाव० नि० गा० ७५६ । विशेषा० गा० २७०८ । “लौकिकसम उपधारप्रायो विस्तृतायां व्यवहार । “आह च—लोकोपधारनियत व्यवहार विस्तृत विद्यात् ।”—तत्त्वार्थसि० भा० १।३५ । तत्त्वार्थ० हरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५ । ‘सग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार ।’—सर्वार्थसि० १।३३ । राजवा० १।३३ । “व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः ।”—धवलाटी० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयविव० ७४ । प्रमेयक० पृ० ६७७ । सन्मति० टी० पृ० ३१० । नयचक्र गा० ३५ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२३ । स्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्कभा० पृ० २२ । (१२) “कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक् । प्रमाणवाचितोऽन्यस्तु तदाभामोऽन्यमीयताम् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१ । नयविव० ७६ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । न्यायावता० टी० पृ० ८६ । प्रमाणनय० ७।२५, २६ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

(१) तुलना—“त्रय पदार्था अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्”—राजवा० पृ० १७ । (२) द्रष्टव्यम्—पृ० ६०५ टि० ७ । (३) तुलना—“गुणाणामस्रो दब्ब एकदब्बस्सिया गुणा । लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिया भवे ॥”—उत्तरा० २।८६ । “दब्ब सल्लक्खणिव उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त । गुणपज्जयासिय वा जं त् भण्णति सव्वण्हू ॥”—पञ्चासिन० गा० १० । “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्”—तत्त्वार्थसू० ५।३८ । “त परियाणह दब्बु तुव्वं ज गुणपज्जयजुत्तु । सहभुव जाणहि ताह गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु ॥”—परमात्मप्र० गा० ५७ । न्यायवि० श्लो० १११ । (४) तुलना—“उवओगलक्खणे जीवे ।”—भगवतीसू० २।१० । उत्तरा० २।८१० । “उपयोगो लक्षणम्”—तत्त्वार्थसू० २।८ । (५) “अर्थत्रिसामर्थं यत्तदत्र परमार्थम् ।”—प्रमाणवा० २।३ । (६) “विज्ञाप्तिमात्रमेवेदमसदर्थविभासनम् । यथा तैमिरिकस्यासत्के-  
शचन्द्रादिदर्शनम् ॥”—विज्ञाप्तिकाविज्ञप्ति० श्लो० १ । (७) तुलना—“अपि च बाह्यार्थविज्ञानमून्यबा-  
दनयमितरेतरविच्छेदमुपदिग्ना गुणतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽमम्बद्धप्रलापित्व प्रदेपो वा प्रजामु विरुद्धार्थ-  
प्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमा प्रजा इति ।”—शा० भा० २।२।३२ ।

१ पूर्वापरविरोधश्च विसंवादः ई० वि० । २ तदविसंवादी नयः । ३-रंलं प्र-ई० वि० ।

वादिस्त इत्यादिः सर्वो नयः संगृहीतः । 'विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वम्, शून्यं तत्त्वम्' इतीदृशो दुर्नयः स्यात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'प्रत्यक्षस्यापि' इत्यादि । न केवलमनुमानादेः अपि तु

प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । अतः 'प्रमाणम्-

निवृत्तिव्याख्यानम्-

विसंवादिज्ञानम् इत्यादि व्यवहारेण, आज्ञातार्थप्रकाशो वा इत्यतस्तु

'परमार्थेन प्रमाणम्' [ ] इत्युक्तम्, व्यवहारव्यतिरिक्तस्य परमार्थ-

स्याऽसंभवात् । कुत, एतदित्याह—'स' इत्यादि । योऽसौ प्रामाण्येन अपेक्ष्यते

स 'पुनः व्यवहारः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः, तद्व्यतिरिक्तस्तु अन्यो न कश्चि-

त्संभवति यः परमार्थः स्यादित्यभिप्रायः । अर्थाभिधानयोरर्थत्वेऽपि अत्र अर्थ-

शब्देन विचक्षातः तद्विषयो गृह्यते तदन्यतमापाये व्यवहारानुपपत्तेः । स्वप्नेनाऽवि-

शेषचोदनाया कुतो नानाविज्ञानसन्तानव्यवस्था विभ्रमव्यवस्था अन्या वा स्यात्

इत्युक्तं बाह्यार्थसिद्धिप्रस्तावे । 'कथम्' इति परप्रश्नः । कथं केन प्रकारेण अर्था-

त्मनो व्यवहारस्य स्वरूपं स्थितमिति ? उत्तरमाह—'उत्पाद' इत्यादि । उत्पादवि-

गमध्रौव्याणि लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तम् । किं तदित्याह—'सद्' विद्यमान

घटादि प्रमेयम् । प्रसाधितञ्च उत्पादविनाशात्मकत्वमर्थाना सांख्यं प्रति प्रकृतिपरीक्षा-

याम् । कथं बौद्धं प्रति ध्रौव्यं सिद्धमित्याह—'गुण' इत्यादि । संहर्तुवो गुणाः

सुखज्ञानवीर्यादयः, क्रमभुवः पर्यायाः सुखदुःखादयः, तद्बुद्बुद्व्यम् । इदञ्च प्रसङ्ग-

साधनं सौगतं प्रत्येवं व्याख्येयम्—सहभाविनानाधर्मात्मकं चित्तमन्यद्वा चेदङ्गीक्रियते,

क्रमभाव्यनेकधर्मात्मकमप्यङ्गीकर्तव्यम् । नो चेत्, युगपदपि तर्तथा नाङ्गीकर्तव्यम-

विशेषात् । नैयायिकं प्रति पुनरेवम्—इच्छादिगुणसमवायित्वं चेत् कस्यचिदिर्प्यतेऽप-

(१) तुलना—'ततो यदुक्तं प्रमाणमविनवादिज्ञानमित्यादि व्यवहारेण प्रमाणलक्षणमुक्तम्,

अज्ञातार्थप्रकाशो वा इति परमार्थेन, प्रमाणान्तरेणाज्ञातस्य अद्वयप्रतिभासार्थस्य आत्मवेदनस्य एवमभि-

धानात् ।"—सिद्धिवि० टी० पृ० ९ B । "साव्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं प्रमाणमविसंवादिज्ञा-

नमिति ।"—तत्त्वस० पृ० पृ० ७७४ । (२) प्रमाणविषय, अभिधानप्रत्ययविषयो वा । (३)

अर्थाभिधानप्रत्ययेषु एकस्याप्यभावे । (४) योगाचारा माध्यमिकारश्च अर्थं स्वप्नवत् मिथ्यारूपं वासना-

कल्पित मन्यन्ते तथा चोक्तम्—' फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदुदोपमा । मरोचिसदृशी मत्ता मस्कारा

कदलीनिभा । मायोपमञ्चं विज्ञानमुक्त्वादिदित्यवन्धुना ।"—मा० वृ० पृ० ४१ । "मायास्वप्नेन्द्रजा-

लसदृशा द्रष्टव्या"—नैरात्म्यप० पृ० १८ । न्यायकुम्० पृ० १३२ टि० ४ । तान् प्रत्याह—स्वप्नेनावि-

शेषेत्यादि । (५) पृ० ११९ । ६) पृ० ३५४ । (७) तुलना—'अन्वयिनो गुणा, व्यतिरेकिण पर्याया"—

सर्वार्थसि० पृ० ५१३८ । गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहकमवृत्तय ।"—न्यायवि० श्लो० १११, टि० पृ० १६१ ।

'सहभुवो हि गुणा"—धवलाटी० पृ० १७४ । (८) चित्तं नानाधर्मात्मिकम् । (९) आत्मन ।

1-दि सर्वो आ०, थ० । 2 स हि इ-थ० । 3-हाराधीभि-आ० । 4 तद्विशेषयो ग् थ० ।

5 स्वप्नेऽविशेषचोद-थ०, स्वप्नेनाविशेषनोद-आ० । 6 कुतो नानाविज्ञा-आ० । 7-वस्थामव्यवस्था

अन्या थ० । 8 सहमुखो गु-व० । 9 प्रसाधनं थ० । 10-घ्यते परा-व० ।



रापरपर्यायात्मकत्वमेष्टव्यम् । नो चेत् ; तत्सामवायित्वन्न स्यात् । ततो यत् एव गुण-  
पर्यायवद्भवं तैत एव उत्पादविगमप्रौढ्यलक्षणं सति । केस्तत्प्रतिपद्यते ? इति  
चेदत्राह—‘जीव’ इति । जीव आत्मा उत्पादादिरूपं सन् घटादिप्रमेयं ‘प्रतिपद्यते’  
इत्यध्याहारः । तस्य अनादिनिधनस्वभावतया तत्प्रतिपत्तौ सामर्थ्यसंभवात् । प्रसा-

5 धिश्चात्मा तच्चान्तरम् अनादिनिधनस्वभावश्च चार्थाकमतपरीक्षायां सन्ताननिषेधाव-  
सरे च । ननु यदि सत्तामात्रेण असौ तत्प्रतिपद्यते तदाऽतिप्रसङ्गः । अथ प्रत्य-  
क्षादिना; तदा[ऽ]शक्तिरिति चेदत्राह—‘चैतन्यस्वभाव’ इति<sup>१</sup> । चैतन्यस्वभावः स्वपर-  
ग्रहणस्वरूपः इति हेतोः प्रत्यक्षादिपर्यायपरिणतः<sup>२</sup> सन् तत्प्रतिपद्यते । तथा च उत्पा-  
दाद्यात्मकार्थलक्षणोऽर्थात्मको व्यवहारः सिद्धः, तत्प्रतिपत्तिलक्षणः प्रत्ययात्मकः, तत्प्र-  
10 रूपकशब्दलक्षणः शब्दात्मक इति ।

अथ शब्दात्मके व्यवहारे को विसंवादः ? इत्याह—‘श्रुतेः’ इत्यादि । श्रुतेः  
अभिधानस्य प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षादिनाऽबाधनम् अधिसंवादः । कथमत्यन्तपरोक्षेऽर्थे  
तद्विसंवादः प्रमाणान्तराबाधनस्य अन्यस्य वा ग्रहीतुमशक्यत्वादित्यत्राह—‘पूर्व’  
इत्यादि । पूर्वं यद्वाक्यं यच्च अपरं तयोरनिरोधश्च अधिसंवादः, न केवलं प्रमाणान्त-  
15 राबाधनमेव, अस्ति चायं स्याद्वाद्वाञ्छितागमस्य । अतो “न हि स्यात् सर्वं (सर्वा) भूतानि”  
[ ] “यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवै” [ मनुस्म० ५।३९ ] इत्यागमस्य

“गगाद्वारे कुशावर्त्तं विलोकं नीलपर्वते ।

स्नात्वा कनकले तीर्थे सम्भवेत् पुनर्मवे ॥” [ ]

“दुष्टमन्तर्गतं चित्तं तीर्थस्नानात् शुद्ध्यति ।

शतशोऽपि जलधति सुराभायडमिवाशुचि<sup>३</sup> ॥” [ जाबाल० ४।५४ । ]

इत्यागमस्य च नाधिसंवादः पूर्वापरविरोधसद्भावात् इत्युक्तं भवति ।

एवं व्यवहारं प्रदर्श्य तदाश्रयं नयं प्रदर्शयन्नाह—‘तदपेक्ष’ इत्यादि । तस्मिन्

(१) पृ० ३४३ । (२) पृ० ९ । (३) आत्मा । (४) उत्पादादिस्वरूपं प्रमेयम् । (५)

सुपुताद्यवस्थास्वपि प्रमेयबोधप्रसङ्गः । (६) यदि प्रत्यक्षादिद्वारेण जानाति तदा स्वयंमात्मन प्रमेय-

बोधेऽशक्तिः प्राप्ता अत आह चैतन्यस्वभाव इति । त्रुटिताया पृ० प्रतावपि ‘तदाऽशक्ति’ इत्येव पाठः ।

(७) आत्मा । (८) प्रमेयम् । (९) श्रुतेरधिसंवादः । (१०) अर्थक्रियास्थितिरूपस्य वाऽधिसंवा-

दस्य । (११) ‘यज्ञस्य (श्च) भूतैर्व सर्वस्य तस्माद्यज्ञे बोधोऽवयवः ।’ इत्युत्तरार्धम् । उद्घृतोऽयम्-

यद्वा० उ० पृ० ९१, ३५७ । (१२) उद्घृताविमो-प्रमाणवातिकाल० परि० ४ पृ० १४० । ‘वित्तमन्तर्गतं

दुष्टं तीर्थस्नानेन-जाबाल० । (१३) ‘न हि स्यात्’ इत्यहिंसाविधानं यज्ञे पशुवधेन विरुध्यते गगाद्वा-

रादित्तीर्थस्नानविधानञ्च ‘तीर्थस्नानात् शुद्ध्यति’ इति तीर्थस्नानस्य निरर्थकत्वप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

1-वायित्वं स्यात् थ०, -वायित्वं तस्यात् व० । 2-पर्यायव-व० । 3 अत एव थ०, व० । 4 कस्त-

थ प्र-आ० । 5 स घटा-आ० । 6-पचन्ते आ० । 7-भावश्चार्वा-आ० । 8 ननु च यदि थ० । 9 सन्तान-

मात्रेण थ० । 10 ‘चैतन्य स्वभाव इति’ नास्ति आ० । 11-ति चैतन्यस्य स्वभाव इति चैतन्यस्वभावः । 12 सत्तत्प्र-आ०, थ० । 13 यद्वाच्यं आ० । 14 वित्तं थ० । 15 प्रदर्शयितुमाह व०, थ० ।

व्यवहारे अपेक्षा यस्यासौ तदपेक्षोऽयं लोकासिद्धो व्यवहाराख्यो नयः । ततोऽन्यथा तदपेक्षाभावप्रकारेण दुर्नयः । ननु तदपेक्षं एव दुर्नयः अप्रमाणमूलस्य व्यवहारस्यावलम्बनात्, न ततोऽन्यो<sup>१</sup> निरशक्षणीकपरमार्थाश्रयणात् । एतदेवाह—‘कथम्’ इति । न कथञ्चित् ‘ततोऽन्यथा दुर्नयः’ इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरमाह—‘वहिरपि’ इत्यादि । न केवलमन्तः किन्तु वहिरपि स्वलक्षणं क्षणिकनिराशरमाणुलक्षणम् अर्थक्रियासमर्थं यतः ततः संद् विद्यमानम् अङ्गीकृत्य पुनः तस्य स्वलक्षणस्य प्रतिज्ञेयेण निरासेन ‘विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वं नात्मादिकम्’ इति एवं प्रत्यवस्थाप्य पुनरवस्थाप्य तदपि विज्ञप्तिमात्रमपि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणं पर्यालोच्यमानं नित्यादिवन्न परीक्षां क्षमते इति एवं स्वभावनैरात्म्यं निःस्वभावत्वम्, कथम्भूतम् ? असाध्यसाधनं साध्यसाधनविकलम् आकुलं यथा भवति तथा प्रलपन् सौगतो न क्वचिद् अन्तर्बहिः सकलशून्यताया वा व्यवतिष्ठेत यतः ‘तदपेक्ष एव दुर्नयः’ इत्युक्तं शोभेत । ननु किमुच्यते स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनम् यावत्तत्र साधन विचार एव इति चेदत्राह—‘स्वपर’ इत्यादि । स्वः सौगतः परो नैयायिकादिः तयोः विसंवादः तच्चाप्रतिपत्तिः व्यसनं संसारसरित्पातौर्त्तिः तेषां अधिकृत्य कृतेन पुनः पश्चाद् अलं पर्याप्तं शेषप्रलापेन असम्बद्धाभिधानेन । कुत एतदित्यत्राह प्रत्यक्षादिविरोधात्, प्रत्यक्षमादिर्धस्य अनुमान-लोकप्रसिद्ध्यादेः तत्तथोक्तं तेन तस्य वा विरोधात् । अथ प्रत्यक्षादेरनभ्युपगमात्त दोषोऽयमत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तेषां प्रत्यक्षादीनां मध्ये अन्यतमस्य अभिमतत्वाद् अङ्गीकृतत्वात् सौगतैः, कुतोऽन्यथा तेषां स्वपराभिमतसाधनदूषणमित्यभिप्रायः ?

एवं व्यवहारनयं साभासं प्रतिपाद्य इदानीं ऋजुसूत्रनयं साभासं दर्शयन्नाह—

**ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।**

**चेतनाणुसमुहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥ ४३ ॥**

(१)सौगत । (२) प्रमाणाप्रसिद्धवत्पित शोकव्यवहारापेक्षी । (३)अस्मदभिमत प्रमाणसिद्धक्षणीकार्यापेक्षी । (४) विसंवादव्यसन । (५)प्रत्यक्षाद्यस्वीकारे । (६)सौगतात्ताम् । (७) व्याख्या—‘ऋजुवर्तमानपर्यायलक्षण प्रणुण सूत्रयति निरूपयतीति ऋजुसूत्रस्य प्रधान विषय स्याद् भवेत् । क ? पर्यायवर्तमानविवर्तं । अतीतस्य विनष्टत्वेन भविष्यतश्चासिद्धत्वेन व्यवहारानुपयोगात् व्यवहाराविसवादी नय इति वचनात् । ननु चित्रज्ञानमेकमनकाकार व्यवहारोपयोगि स्यादिति चेदत्राह—‘चित्रेत्यादि, चित्रा सवित् ज्ञान तस्या चतनाणुसमुहत्वात्, चेतना ज्ञान तस्याण्य अशा अविभागप्रतिच्छदास्तेषा समूहसमुदाय तत्त्वात्, न चित्रसंविद् ऋजुसूत्रनयस्य विषय । न खलु समुदाय नीलपीतादिनामारूप प्रतिनियतव्यवहारोपयोगीति । नन्वेव तत्र भद किमिति नोपलक्ष्यत इति चेदत्राह—‘भेदानुपलक्षणादिति । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादित्यध्याहार । ततो भदस्य नानात्वस्यानुपलक्षणमदर्शनं सदृशापराप-

१ यस्य तदपे-थ० । २ तदपेक्षण च दु-ब०, तदपेक्ष एव दु-आ० । ३-मर्थयत थ० । ४ स वि-आ० । ५-क्षायां क्षम-ब० । ६-मसिद्धसाधन ब० । ७ यावतातत्र ब०, थ० । ८-तात्ति ते आ० । ९ तस्य चाविरो-ब०, तस्य विरो-आ० । १० प्रतिपाद्येदानीं ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभि-आ०, ब० ।

विवृति.—यथा वहिः परमाणवः सन्निविष्टाः स्थवीयासमेवैरुमाकारमभूतं दर्शयन्ति तथैव सन्निपरमाणवोऽपि । तन्नैकमनेकरूप तत्त्वमक्रमम्, यत् सक्रमसाधयेत् भेदस्य जभेदविरोधात् । कचिद्द्वानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापक्षो नयः । निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्ययस्थापयन् तदभेदादभेदप्रतिष्ठामर्हत्येव विशेषाभावात् । तदन्यतराभावे अर्थस्यानुपलब्धेः ।

ऋजुसूत्रस्य नयस्य तदभिप्रायवतो वा पर्यायः प्रभेद प्रधानम्, प्रधानशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्य तस्य अप्रधानम् । ननु तस्यापि कारिकाय - चित्रैका सन्निस्ति तत्कथ पर्याय प्रधानमित्याह—चित्रसंविदः

चेतनाणुसमूहत्वात् 'नैका चित्रा सन्निस्ति' इति भाव । अथ मतम्—पर्यायत्व-ऽस्योस्तैवैवोपलक्षणं स्यादत प्रतिसमय भेदानुमानमनर्थकमित्यत्राह—'स्यात्' इत्यादि । स्याद् भवेद् भेदस्य नानात्वस्य अनुपलक्षणम् अनिश्चयन सद्शापरापरो-त्पत्तिविप्रलम्भात् मायागोलत्रदिदि ।

कारिका विवृण्वत्राह—'यथा' इत्यादि । यथा येन दूरस्थितविरलकेशनिदर्शनप्र-

र्शनप्रकारण वृद्धि, परमाणव, नडपरमाणव सन्निविष्टा, रचनाविशेषेण

विवृति यास्त्यानम्—

व्यवस्थिता स्थवीयासमेव न सूक्ष्मम्, एकमेव नानेकम् आकारम्

रोत्वस्या विप्रलम्बवृद्धि स्यादिति व्याख्यायत । अयमथ—यथाज्योगोलवादी पयावभदो विद्यमानोऽपि विप्रलम्बवृद्धिना न निश्चीयत तथा चित्रमविरपि तदगमनो वसन्नपि नोपलक्ष्यत इति । अथवा स्यात् कथञ्चिद् द्रव्याविनाभाविपर्याय ऋजुसूत्रस्य प्रधानम् सवया द्रव्यनिरपेक्षस्य पर्यायस्यावस्तुत्वात् । निरवयश्च क्षणिककान्त ऋजुसूत्राभावात् इति व्याख्ययम् । —सधी० ता० पृ० ६२ । तुङ्गा पञ्चुण्यत्र ग्वाही उज्जुमुत्रो ण्याविवही मुणव्वो । —अनुधोगद्वार० ४ द्वा० । आव० नि० गा० ७५७ । विशावा० गा० २७१८ । सता साम्प्रनानामर्थानामाभधानपरिज्ञानमृजुसूत्र । —आह्व-साम्प्रतविपयपाहकमृजुसूत्रनय समासता विद्यात् । —तत्त्वाधी० भा० १।३५ । तत्त्वायहरि० तत्त्वायसिद्ध० १।३५ । ऋजु प्रगुण सूत्रयति तत्रयत इति ऋजुसूत्र । सर्वाथसि० १।३३ । धवलाटी० पृ० ८६ । सूत्रपातवद ऋजुसूत्र । —राजवा० १।३३ । ऋजु प्रगुण सूत्रयति नयत इति ऋजुसूत्र । सूत्रपातवद ऋजुसूत्र इति । —नयचक्रव० प० ३५४ B । ऋजुसूत्र क्षणध्वसि वस्तुमत्सूत्रयदजु । प्राधान्यन गुणीभावाद द्रव्यस्यानपणात् सत । —तत्त्वायदलो० प० २७१ । नयवि० ७७ । प्रमेयक० पृ० ६७८ । स मति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रवा० ८ । तत्त्वायसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।२८ । स्या० म० प० ३१२ । जनतकभा० पृ० २२ ।

(१) परि भेदेति गच्छतीति पर्याय । —धवलाटी० पृ० ८४ । (२) चित्रसंविदः । (३)

भदरूपणव । (४) तुलना— समानज्वालासभूतयथा दीपेन विभ्रम । नरन्तयस्थितानेकमूक्षमवित्तो तथकथा ॥ यथा हि दीपादो नरन्तयण सद्गापरापरज्वालापदाथसभवात् स अपि भेदे एकत्वविभ्रमो भवति तथा नरन्तयणानेकमूक्षमतरपदाथमवेदनतोऽयमेकत्वविभ्रम । —तत्त्वस० प० पृ० १९७ । यत्पुनरत्रोक्त प्रशाकरगुप्तेन—जतयाविषयोस्तथाविधविपयसिद्धि दूरस्थितविरलकेशपु अतदात्मम् तथाविधयास्तस्या दग्नात् । —सिद्धिबि० टी० पृ० १०० B ।

1 मित्यत्राह व० अ० । 2 सवेदन ४० । 3-गोलव-आ०-गोलक्षणव-अ० । 4-निवृत्तन प्रकारे दगनपरमाणव आ० । 5 स्वकीयाशमव व० ४० ।

अभूतम् असन्तं दर्शयन्ति, तथैव तेनैव प्रकारेण संवित्परमाणवोऽपि, बहिःपरमाणुवत् संवित्परमाणूनामपि स्वरूपेणाप्रतिभासनादिति भावः । उपसंहारमाह--'तद्' इत्यादि । यत् एवं तत् तस्मात् नैकम् अभिन्नं तत्त्वम् अनेकरूपम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? अक्रमम् अक्षणिकम् 'युक्तम्' इत्यध्याहारः । यत् तथाविधं तत्त्वं सक्रमं साधयेत् जैनः । कुत एतदित्याह--'भेदस्य' इत्यादि । भेदस्य अनेकत्वस्य अभेदविरोधात् एकत्वविरोधात् । क्वचिद् अन्तर्बहिर्वा नानात्वमेव अनेकत्वमेव, अन्यथा भेदस्य अभेदविरोधाभाव-प्रकारेण न स्यात् । एवं ऋजुसूत्रस्य सामान्येन स्वरूपं प्रदर्श्य अधुना तद्भेदं प्रदर्शयन्नाह--'सापेक्ष' इत्यादि । स्वविषयादन्यत्र या अपेक्षा तथा सह वर्तमानः ऋजुसूत्र-नयः, निरपेक्षो दुर्नयः । कुत एतदित्यत्राह--'प्रतिभासभेद' इत्यादि । प्रतिभास-भेदात् स्वभावभेदं वस्तुस्वरूपनानात्वं व्यवस्थापर्यन्तं नयो वादी वा तद्भेदाद् तस्य प्रतिभासस्य अभेदात् अभेदं भावैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हत्येव । ननु तत्प्रतिभासयोः सत्ये-तरत्वकृतो विशेषोऽस्ति ततो न भेदप्रतिभासादिव अभेदप्रतिभासादपि तत्त्वसिद्धिरि-त्यत्राह--'विशेषाभावात्' इति । द्वयोरपि प्रतिभासयोः सत्येतरलक्षणविशेषस्य भेदस्य अभावात्, 'उभयोरपि सत्यत्वात्' इत्यर्थः । तदन्यतरप्रतिभासप्रतीत्यपह्नवे दूषणमाह--'तद्' इत्यादि । तयोः भेदाभेदप्रतिभासयोर्मध्ये अन्यतरस्य अपाये अङ्गीक्रियमाणे अर्थस्य वस्तुनोऽन्यतरप्रतिभासविकल्पस्य अनुपलब्धेः उपलम्भाभावात् सर्वदा उभया-त्मकस्य वोपलब्धेः तं प्रतिपत्तुमर्हत्येव ।

अधुना शब्दसमभिरूढेश्मभूतान्नयान् कथयन्नाह--

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।

अभिरूढस्तु पर्यायैः इत्थम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

(१) भेदाभेदप्रतिभासयो । (२) 'शब्दो नाम नय स्यात् । किं विशिष्टं ? अर्थभेदकृत् अर्थस्य प्रमेयस्य भेद नानात्व करोत्यभिप्रतीत्यर्थभेदकृत् । वस्माद् ? भेदाद् विशेषात् । केपाम् ? कालकारकलि-ङ्गानाम्, उपलक्षणमेतत्, तेन सख्यासाधनोपग्रहादपीत्यर्थं । 'तु पुन अभिरूढो नाम नय पर्यायै पर्यायशब्दे । अर्थभेदकृत् यथा इन्दनादिन्द्र शकनात् शकं पूदीरणात् पुरन्दर इति । न हि इन्दनादि-धर्मभेदाभावे इन्द्रादिशब्द प्रयोक्तुं शक्य अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अभि स्वार्थाभिमुख्येन रूढ प्रतिद्वोऽभि-रूढ इति निरुक्ते । पुनरित्थम्भूतो नाम नय क्रियाश्रय विवक्षितक्रियाप्रधान सन्नर्थभेदकृत् यथा यद्वेन्दति तद्वेन्दे नामिपेक्षको न पूजक इति, अन्यथापि तद्भावे क्रियाशब्दप्रयोगनियमो न स्यात् ।"'

—लघी० ता० पृ० ६३ । तुलना--"शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं समुद्दिशन् । अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थ-म्भूतं क्रियाश्रय ॥"—प्रमाणसं० पृ० १२६ । (३) तुलना--"इच्छइ विवेसित्यतर पञ्चुप्पण्ण णओ सद्दो ।"—अनुयोगद्वार० ४ द्वा० । आव० वि० गा० ७५७ । विशेषा० गा० २७१८ । "यथार्था-भिधानं शब्दः । आहूच-विद्याद्यथार्थशब्दं विद्योपितपदं तु शब्दनयम् ।"—तरवार्याधि० भा० १ । ३५ । तरवार्यंहरी०, तत्त्वार्थसिद्ध० १ । ३५ । "लिङ्गसख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरं शब्दः ।"—

१ 'एकत्वविरोधात्' नास्ति आ० । २ नानात्वमेव अन्यथा थ० । ३-यन् यो वादी वा व० । ४-णे अन्यतरस्य अर्थस्य थ० । ५-नोनन्तरप्रतिभासविकल्पस्य आ० । ६-रूढ स्वप्-मु० लघी० ।

विवृतिः—कालभेदात्तावद् अभूत भवति भविष्यति इति । कारकभेदात् करोति क्रियते इत्यादि । लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति । तथा पर्यायभेदात् इन्द्र शक्रः पुरन्दर इति । तथैतौ शब्दसमभिरूढौ । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढं विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन ।

सर्वार्थसि० १।३३। "सपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायतीति शब्द ।"—राजवा० १।३३। "शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहण-प्रवण शब्दनय, लिङ्गसख्यकारकपुरुषापग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् ।"—धवलाटी० पृ० ८६। "कालादिभेदतोऽर्थस्य भेद य प्रतिपादयेत् । साऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृत ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७२। नयविच० ८४। प्रमेयक० पृ० ६७८। सम्मति० टी० पृ० ३१२। नयचक्र गा० ४०। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। "कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेद प्रतिपद्यमान. शब्द । यथा बभूव भवति भविष्यति मुनेरुत्त्यादि ।"—प्रमाणनय० ७।३२, ३३। स्या० म० पृ० ३१३। जंततर्कभा० पृ० २२।

(१) तुलना—'व्यूत्थो सकमण होइ अवत्यूनए समभिरूढे ।"—अनुयोगद्वारा० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५८। "सत्स्वर्थेष्वसद्वनम समभिरूढ ।"—तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "ज ज सण्ण भासइ त त चिय समभिरोहए जम्हा । सण्णतरत्यविमुहो तओ तओ समभिरूढोति ॥"—विशेषा० गा० २७२७। "नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढ । अथवा यो यत्राभिरूढ स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढ ।"—राजवा० १।३३। धवलाटी० पृ० ८९। "समभिरूढ एव मत्वंकीभावेन आभिमुख्ये एक एव रूपादिरर्थं एवेति या ज्ञानाना (?) समभिरूढ ।" नयचक्र३० पृ० ४८३। B "पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात् । नय समभिरूढ स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चय ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७३। नयविच० ९२। प्रमेयक० पृ० ६८०। सम्मति० टी० पृ० ३१३। नयचक्रगा० ४१। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।३६। स्या० म० पृ० ३१४। जंततर्कभा० पृ० २२। (२) तुलना—'वजण अत्यतदुभय एवभूओ विमसेइ ।"—अनुयोगद्वारा० ४ द्वा०। आव० नि० गा० ७५८। "व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूत ।"—तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५। तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १।३५। "येनात्मनो भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूत । अथवा येनात्मना यत ज्ञानन भूत परिणत तेनैवाध्यवसाययति ।"—सर्वार्थसि० १।३३। राजवा० १।३३। "वजणमत्येणत्य च वजणेणोभय विसेसइ । जह घटसइ चेठ्ठावया तथा त पि तेणेव ।"—विशेषा० गा० २७४३। "एव भदे भवनादेवम्भूत । न पदाना समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिना भिन्नार्थवर्तिनाऽर्चकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसख्याकालादिभिर्भिन्नाना पदाना भिन्नपदापेक्षायोगात् ततो न नाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । तत पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनय ।"—धवलाटी० पृ० ९०। "एव भवनादेवम्भूत अस्मिन्नय न पदाना समासोऽस्ति स्वरूपत. कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात् । न पदानामेककालवृत्ति समास क्रमोत्पन्नाना क्षणक्षयिणा तदनुपपत्त. । नैकार्थं वृत्ति समास भिन्नपदानामेकार्थं वृत्त्यनुपपत्त । न वर्णसमासाप्यस्ति तत्रापि पदसमासान्तदोषप्रसङ्गात् । तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थ एकार्थ इत्येवभूताभिप्रायवान् एवम्भूतनय ।"—जयव० पृ० २९। "तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयत क्रियान्तरपराङ्मुख ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४। नयविच० ९४। प्रमेयक० पृ० ६८०। सम्मति० टी० पृ० ३१४। नयचक्र गा० ४३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। प्रमाणनय० ७।४०। स्या० म० पृ० ३१५। जंततर्कभा० पृ० २३।

कालादीनां भेदात् शब्दः शब्दनयः अर्थस्य जीवादेः भेदं करोति प्रतिपा-

कारिकार्थं -

दयति इति तद्भेदकृत् । अभिरूढनयः पुनः पर्यायैः पर्यायशब्दैः  
अर्थभेदकृत् । इत्थम्भूतः क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत् इति ।

कारिका विष्टुष्वन्नाह 'काल' इत्यादि । तावच्छब्दः क्रमवाची, कालभेदात्  
कालविशेषाद् अर्थभेदस्तावदुदाह्रियते-अभूत् अतीतकालसम्बन्धयु- 5  
नित्वृत्तिव्याख्यानम्-  
भरादिपर्यायात्मना जीवादिः, भवति वर्त्तमानकालसम्बन्धिस्मरणादि-  
पर्यायरूपेण जायते । हेतुहेतुमद्भावश्चात्र द्रष्टव्यः-यस्माद् भवति तस्माद् अभूत्, परि-  
णाम्युपादानकारणमन्तरेण 'भवति' इत्यस्यायोगात् । भविष्यति अनागतपर्यायस्वभा-  
वेन उत्पत्स्यते, अप्रापि यस्माद् भवति तस्माद् भविष्यति अन्यथाभवेतोऽभावः कार्या-  
भावादिति मन्यते । इतिशब्दः कालभेदाद् भावभेदपक्षसमाप्त्यर्थः । कारकभेदादर्थ- 10  
सुदाहर्त्तुमाह-'कारक' इत्यादि । कारकाणां कर्मोदीना भेदात् 'शब्दोऽर्थभेदकृत्' इति  
सम्बन्धः । अप्रोवाहरणम् 'करोति' इत्यादि । यदा हि देवदत्तः स्वतन्त्रो विवक्षितो  
घटादिकार्ये तदा 'करोति घट देवदत्तः' इति भवति । यदा तु स एव अन्योपकार्य-  
त्वेन विवक्ष्यते तदा 'क्रियते देवदत्तः' इति । आदिशब्दात् 'देवदत्ते निधेहि, देवद-  
त्तादपरः' इत्यादि पट्टारकीपरिग्रहः । तथा लिङ्गभेदात् शब्दोऽर्थभेदकृत् यथा 15  
'देवदत्तो देवदत्ता' इति ।

यथा शब्दः कालादिभेदाद् अर्थभेदकृत् तथा अभिरूढः पर्यायभेदात् 'इन्द्रः,  
शक्रः, पुरन्दरः' इति । तथा प्राशुक्तप्रकारेणैवं एतौ अनन्तरोक्तौ शब्दसमभिरूढौ कथितौ ।

इत्थम्भूतः कीदृशः ? इत्याह क्रियाश्रयः एवम्भूत इति । ननु च इत्थम्भूत-  
स्वरूपप्ररूपेण प्रस्तुते एवम्भूताभिधाने किं केन सङ्गतम् ? इत्यसत्, यस्मात् इत्थम्भू- 20  
तस्यैव इदम् 'एवम्भूत' इति नामान्तरम् । कस्मादसौ क्रियाश्रय इत्याह कुर्वत एव कार-  
कत्व यतः इति । एतदपि कुत इत्याह 'यदा' इत्यादि । यदा यस्मिन् काले न करोति  
कार्यम् इन्द्रादि शचीपतिः तदा कर्तृत्वायोगात् न इन्द्रादिव्यपदेशः स्यात् । अत्राह  
सोगतः-त्रयोऽप्येते नयाः शब्दतोऽर्थ प्रतिपद्यन्ते अतः कालादिभेदादर्थभेद प्रतिपद्य-  
मानं तत् शब्दज्ञानम् कथं पुनर्विवक्षाव्यतिरिक्तं वस्तु स्वलक्षणं प्रत्येति ? तमाचार्यः 25  
पृच्छति, कथञ्च न 'प्रत्येति' इति सम्बन्धः । स उत्तरमाह तदप्रतिबन्धात् तेन  
वस्तुनाऽप्रतिबन्धान्, तदात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावान् शब्दज्ञानस्य इति सम्बन्धः ।  
तदभावेऽपि' तर्हि तत्प्रत्येति इति चेदत्राह-'नहि' इत्यादि । नहि नैव बुद्धेः शब्दज-

(१) सोगत । (२) तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धाभावेऽपि । (३) शब्दज्ञानम् ।

1 क्रमभावी का-ब० । 2-सम्बन्धानु-आ० । 3-वि भव-आ० । 4-वतो भाव व०, थ० ।  
5 इति यथा च आदिशब्दात् आ० व० । 6-प्राधानन्तरो-थ० । 7-श्रय इत्येवम्भू-आ० । 8-पणप्रस्तु-  
थ० । 9-माह तेन वस्तुना आ० । 10 तच्छब्द-थ० । 11-पि तत्प्र-आ० ।

नितायाः यदकारणं स्वलक्षणरूपं वस्तु तत्तस्या विषयः 'नाननुकृतान्वयव्यतिरेकैर-  
याम्, नाकारण्य विषयै.' [ ] इत्यभिधानात् । इति शब्दः पूर्वपक्षपरि-  
समाप्तौ । अत्र दूषणमाह- 'एतद्' इत्यादि । एतत् परंपोक्तं प्रतिव्यूढम् निरस्तम् ।  
केन इत्याह- विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन, प्रतिपादितश्चास्य अनागतविषय-  
5 त्वनिर्णयः 'भविष्यत् प्रतिपद्येत' [ लघी० का० १४ ] इत्यादिना ।

ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राहुः नान्यम् अतिप्रसङ्गात् । सङ्केतश्च न अवि-  
षयीकृतानां शब्दार्थानां युक्तः, तन्निर्विषयताप्रमेः । तद्विषयीकरणश्च नाध्यक्षेण, शब्दा-  
ध्यक्षस्य अभिवेचे तदध्यक्षस्य वाऽभिधाने अप्रवृत्तेः । नापि स्मृत्या, तस्याः निर्विषय-  
यत्वात् इत्याशङ्क्याह-

10 अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।

प्रतिभासभिदैकार्यं दूरासन्नाक्षबुद्धिचत् ॥ ४५ ॥

विवृतिः-क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेयोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षम् तत्कार-  
रणस्य अतीतस्य तदनात्मकत्वात् । प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाश-  
योश्च अभावाऽविशेषात्, तदुत्पत्तिसारूप्ययोः असंभवात् व्यभिचाराच्च किं कस्य  
10 ज्ञानमित्युक्तम् । यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथंचिद्वेत्ति; स्मृतिः कथं न  
संविद्यात् ? साक्षादतदुत्पत्तेरताद्रूप्याच्च इति वैयात्यम्; व्यवहितोत्पत्तावपि तद्रूपा-  
नुकृतेर्दर्शनात् दृष्टार्थस्वप्नवत् । प्रत्यक्षस्मृतयोः प्रतिभासभेदात् नैकार्थत्वमनैका-  
न्तिकम्; दूरासन्नैकार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् ।

(१) बुद्ध । (२) उदघृतमिदम्-आप्तप० पृ० ४२ । सिद्धिवि० टी० पृ० ३०६ A ।

सम्पत्ति० टी० पृ० ५१० । स्वा० २० पृ० १०८८ । पङ्क० बृह० पृ० ३७ । प्रमाणमी० पृ० ३४ ।

शास्त्रवा० यशो० पृ० १५१ A । 'नाकारण विषय'-अनेकान्तजय० पृ० २०७ । घमस० पृ० १७६

B । बोधिधर्या० पृ० ३९८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१९ । प्रमेयक० पृ० ३५५, ५०२ । स्या० २०

पृ० ७६९ । न्यायवि० वि० पृ० १९ B । स्या० म० पृ० २०६ । (३) धाव्यप्रत्यक्षस्य । (४)

अभिधयार्थग्राहिवाक्षुपादिप्रत्यक्षस्य । (५) "असंज्ञेनिता बुद्धिज्ञानमतीतार्थं स्वकारणभूतं शब्द

वाच्यञ्च, ज्ञेयं, वेत्ति जानाति । सौगते मते हि विषयस्य ज्ञानकारणत्वात्, कारणञ्च कायक्षणात्

पूर्वक्षणवर्तीत्युच्यते । तदा कुत कारणात् स्मृतिरपि अतीतार्थं न वेत्ति अपि तु वेत्त्यवेत्यप । नन्वव

स्मृते कथं प्रामाण्यगृहीतग्राहिवाक्षुपादित्याशङ्क्याह-प्रतीत्यादि । एकोऽभिन्नोऽतीतत्वाविशयात् साधारणोऽर्थो

विषय शब्दाधलक्षणस्तस्मिन्नपि स्मृति प्रमाञ्जमिति शय । कुत ? प्रतिभासभिदा प्रतिभासस्य

अतीताकारपरामर्शस्य भिद् भदस्तया । प्रत्यक्षण हि इदमिति यदनुभूयते तदेव कालान्तरे पुनस्तदित्य-

तीताकारतया स्मृत्या विषयीक्रियत इति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-दूरेत्यादि । दूरश्चासावासन्नश्च

दूरासन्नस्तस्मिन्नर्थे पादपादौ ज्ञेयबुद्धिचत् । यथा प्रत्यक्षज्ञानानां स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात् प्रामाण्य

तथा स्मृन्स्वीत्यर्थः । -लघी० ता० पृ० ६५ । (६) तुलना-वागक्षसविदामकाथगोचरत्वेऽपि युज्यते ।

प्रतिभासभिदा दूरासन्नैकार्थोपलम्भवन् -सिद्धिवि०, टी० पृ० ४७० A ।

दूराक्षार्थज्ञानं भ्रान्तेरप्रत्यक्षम्; प्रमाणान्तरं स्यात् । नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ<sup>१</sup> विसंवादैकान्तः तदप्रमाणं यतः स्यात् । तदयं शब्दार्थो स्मृत्या सङ्कलय्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ तदर्थं प्रत्येति स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थ-  
विपयत्वात् । तदर्थभावेऽपि प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसंभवात् ।

अक्षाणां चक्षुरादीनां कार्यभूता बुद्धिः अतीतार्थं वेत्ति विपयीकरोति 5

कारिकाख्यात्यात्म-

चेद् यदि न कुतः कारणान् स्मृतिः अतीतार्थं वेत्ति ? किन्तु वेत्ति एव । अथैवं सति अक्षबुद्धिस्मृत्योरभिन्नः प्रतिभासः स्यात्

अभिन्नविपयत्वात् नीलाक्षबुद्धिद्वयवद् इत्युच्यते, तत्राह—‘प्रतिभास’ इत्यादि । अक्षबुद्धिस्मृत्योः एकार्थं एकार्थत्वे सत्यपि भावप्रधानोऽयं निर्देशः । स्मृतिः प्रतिभा-  
सभिदा अस्पष्टप्रतिभासात् इतरप्रतिभासविशेष (पे) णार्थं ‘वेत्ति’ इति सम्बन्धः । अत्र 10  
दृष्टान्तमाह—‘दूरासन्न’ इत्यादि । सुप्रसिद्धो हि दूरासन्नाक्षबुद्धीनां विषयाभेदेऽपि स्पष्टेतररूपः प्रतिभासभेदः पादपस्यैकस्यैव तर्थाप्रतिभासनात् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—‘क्षणिक’ इत्यादि । क्षणिकौ च तौ अक्षज्ञानज्ञेयौ

विवृतिव्याख्यानम्-

च तयोर्यथाक्रमं कार्यकारणत्वनियमे अभ्युपगम्यमाने निर्विषयं 15  
निरालम्बनं प्रत्यक्षं स्यात् । कुत एतदित्याह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य

प्रत्यक्षस्य कारणं यद्वस्तु तस्य । कथम्भूतस्य ? अतीतस्य, तदनात्मकत्वात् । स प्रत्यक्ष-  
विषयोऽनात्मा स्व (त्माऽस्व) भावो यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावात् । प्रत्यक्षकाले हि सर्वा-  
त्मना अर्थं विनष्टस्य स्वरूपाभावतो न तद्विषयत्वं घटते । स्वकाले सत्त्वात् तद्विषयत्वम् ;  
कुतः स्मृतेर्निर्विषयत्वम् ? तदर्थस्यापि स्वकाले सत्त्वाविशेषात् । एतच्च अक्षज्ञानं प्रीति  
अतीतस्य कारणत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तम् । इदानीं तदनभ्युपगम्य तदर्शयन्नाह— 20

‘प्रागभाव’ इत्यादि । तस्माद् विषयाभिमताद् उत्पत्तिसारूप्ये तदुत्पत्तिसारूप्ये,  
“का भीर्तिः ( भीभिः )” [ जनेन्द्रव्या० १।३।३२ ] इत्यत्र ‘का’ इति योगविभागात्  
संविधिः । अथवा, तदिति निपातः ‘तस्माद्’ इत्यस्यार्थे वर्त्तते । तयोरसंभवात्

(१) प्रत्यक्षबुद्धितो भिन्नरूपेण । (२) पादपलक्षणविषयस्य एकत्वेऽपि । (३) स्पष्टाऽस्पष्ट-  
रूपेण । (४) अर्थस्य । (५) प्रत्यक्षविषयत्वम् । (६) प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्वम् । (७) स्मृतिविषयभूतस्य  
अतीतार्थत्वापि । (८) वृष्टिताया पू० प्रती ‘भीभि’ इति पाठ प्रतिभाति । “का भीभि ॥१।३।३२॥  
कान्तस्य (पञ्चम्यन्तस्य) मुबन्तस्य भीवाचिभि मुबन्तै सह पस (तत्पुरुषसमास ) भवति । वृकेभ्यो  
भी वृकभी, वृकभयम, वृकभीत । केति विभागेन परेभ्यस्त्रायन्ते परत्रा इत्यपि ।”—जनेन्द्रप्र० ।  
(९) योगविभाग सति ‘का भीभि’ इति मूत्रस्य अयमर्थं स्यात्—यथा कान्तस्य भयवाचिभिः शब्दै  
समासो भवति, तथा कान्तस्य अन्यैरपि शब्दैः समास स्यात् । (१०) तत्पुरुषसमास । ‘स’ इति  
ममासस्य सज्ञा जनेन्द्रव्याकरणे ।

१ विसंवाद्यते सदप्र-ज० वि० । २ सकल्पय्य ई० वि० । ३-प्रवृत्तौ ई० वि० । ४ नीलाक्षबु-  
आ० । ५-स्योरेकार्थत्वे थ० । ६-पस्यैव थ० । ७-यो नात्मा थ०, व० । ८ एतच्चाक्ष-थ० ।  
९ प्रतीतस्य थ० ।



कारणात्, किं प्रत्यक्षमन्यद्वा कस्य प्रत्यक्षाभिमतस्य अन्यस्य वा विषयस्य ज्ञानं 'प्राह-  
कम्' इत्यध्याहारः, 'सम्बन्धिधा' । कुत एतदित्यत्राह—'प्राग्' इत्यादि । उत्पत्तेः पूर्वम-  
भावः प्रागभावः, लब्धात्मलाभस्य स्वरूपप्रच्युतिः प्रध्वंसाभावः, तयोरभावाविशेषा-  
पात् अभावत्वाऽभेदात् । अयमभिप्रायः—यदा सति कारणे कार्यं न भवति असति च  
भवति तदा तद् औत्सन्नः कारणाभिमतस्याऽभावं कारणं सूचयति । तथा चाऽनादि-  
भूततत्प्रागभावकालेऽपि तद्भावस्याविशेषात् कार्योत्पत्तिः स्यात् । अथ कारणप्रध्वंसा-  
भाव एव कार्योत्पादको न तत्प्रागभावः, अत्राह—'समनन्तर' इत्यादि । कार्योत्पत्तेः  
प्रागनन्तरं जातः कारणप्रध्वंसः समनन्तरः, इतरः अनाद्यतीतकाले चिरंजातः तयोः  
विनाशयोश्चाविशेषात् । अयमभिप्रायः—यदि अभावत्वाविशेषेऽपि प्रध्वंसाभाव एव  
कार्योत्पादको न प्रागभावः तर्हि अनाद्यनन्तातीतानागताः प्रध्वंसाभावाः कार्योत्पादकाः  
स्युः तथा च कार्यस्य अनाद्यनन्तताप्रसक्तिः । अथ कारणप्रध्वंस एव कार्योत्पादको  
नेतारः; न प्रध्वंसस्यैव कारणत्वाभ्युपगमे अस्य परिहारस्याऽनुपपत्तेः । न च प्रागनन्तर  
एव प्रध्वंसः तर्ज्जनको नान्य इत्यभिधातव्यम्; देशकालयोरनभ्युपगमे अस्यापि परिहा-  
रस्य दुर्घटत्वात् । आनन्तर्यं हि देशकालकृता प्रत्यासत्तिरिति । इतश्च किं कस्य ज्ञान-  
मिति दर्शयन्नाह—'व्याभिचाराच्च कारणात् किं कस्य ज्ञानमिति ? एतच्च ज्ञानस्य  
निराकारत्वसिद्धौ<sup>१३</sup> प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते ।

ननु नैव प्रत्यक्षस्य अन्यस्य वा अतीतोऽन्यो वा भवति विषयोऽस्ति भिन्नो यस्तू-  
च्यते स व्यवहारेण इत्याशङ्क्याह—'यदि पुनः' इत्यादि । यदि पुनः अतीतमर्थं  
प्रत्यक्षं कथञ्चिद् व्यवहारेण अन्येन वा प्रकारेण वेत्ति विषयीकरोति तदा स्मृतिः  
कथं न संविद्यात् 'अतीतमर्थम्' इति सम्बन्धः । परैः प्राह—'साक्षात्' इत्यादि ।  
साक्षात् अव्यवधानेन अतदुत्पत्तेः अतीतार्थादुत्पत्तरेभावात् स्मृतेः अताद्रूप्यत्वाच्च  
अतीतार्थेन सारूप्यासंभवाच्च नासौ<sup>१६</sup> 'त'<sup>१०</sup> संविद्यात्' इति सम्बन्धः । अत्रोत्तरम्  
'इति' आदि । इति एवं वैयात्यं वियातस्य दुर्विदग्धस्य भापो वैयात्यं परस्य । कुत

(१) इत्यध्याहार इति योज्यम् । (२) कार्यम् । (३) स्वस्य । (४) कारणरूपेण । (५)  
कारणप्रागभावकाले, कारणासन्धिनावावस्थायामित्यर्थः । (६) कारणभावस्य । (७) कारणप्रा-  
गभाव । (८) अव्यवहितपूर्वक्षणे जात । (९) अभावरूपेण भेदाभावात् । (१०) अनाद्यनन्ताती-  
तानागतप्रध्वंस । (११) कार्योत्पादक । (१२) बौद्धमते हि कारणकार्याभिमतक्षणयो एकदशा-  
भावात् एककालाभावाच्च न देशकालकृतमानन्तर्यं सभवात् । तन्मते हि कारणाभिमतस्य अन्यो देश  
कालश्च कार्याभिमतस्य चान्य, देशकालयोरपि क्षणिकत्वात् । न च तं आकाश कालो वा वस्तुभूत  
स्वीक्रियते, छिद्रस्य आकाशात्वात्, पूर्वापरादिबुद्धेरैव च कालव्यपदेशार्हत्वात् । (१३) पृ० १६९ ।  
(१४) परपर्यंत । (१५) बौद्ध । (१६) स्मृति । (१७) अतीतार्थम् । (१८) बौद्धस्य ।

१-प्रत्यक्षस्याभि-थ० । २ सत्सम्बन्धि थ० । ३-भावलब्धा-आ० । ४ अभावत्वाविशेषात्  
आ० । ५ तथावानादिभूत-आ० । ६ चिराज्जात थ० । ७ अनाद्यनन्तानामसा-आ० । ८-सक्ते ।  
९ भवतो आ० । १० तत्सवि-व० ।

एतदित्याह—'व्यवहित' इत्यादि । व्यवहितोऽन्तरितो योऽर्थोऽनुभवेन तस्मात् परम्परयोत्पत्ति स्मृतेः तस्यामपि तस्य व्यवहितस्य यद्रूपं तस्य अनुकृतेर्दर्शनात् । अत्र दृष्टान्तमाह—'दृष्टार्थ' इत्यादि । जामदशया यो दृष्टोऽर्थः स दृष्टः, तस्य स्वमः तत्रैव तद्वदिति ।

स्यान्मतम्—प्रत्यक्षस्मरणे नैकार्थे भिन्नप्रतिभासत्वात् रूपादिज्ञानवदित्यत्राह—'प्रत्यक्ष' इत्यादि । प्रत्यक्षशब्दस्य अभ्यर्हितत्वात् पूर्वनिपातः । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदात् हेतोः एकार्थत्वन्न इति यत् परस्याभिमत तदनैकान्तिकम्—अनैकान्तिकहेतुविषयत्वादुपचारेण अनैकान्तिकम् । एतदेव 'दूरासन्न' इत्यादिना समर्थयते—दूरासन्ने च ते एकार्थप्रत्यक्षे च तयोः । कथम्भूतयो ? भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् दूरासन्नैकार्थविषयत्वात् । ननु दूराणामक्षाणाम् अर्थज्ञानमप्रत्यक्षप्रत्यक्षन्न भवति । कुतः ? भ्रान्तेः अस्पष्टस्य दर्शने स्पष्टस्य प्रोप्तेः इति पैरः । अत्रोत्तरमाह 'प्रमाण' इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानान्याम् अन्यत् प्रमाणं तैज्ज्ञान स्यात् अस्पष्टत्वाऽल्लिङ्गजत्वाभ्या प्रमाणद्वयानन्तर्भूतत्वात् । ननु विसवादात्तत् प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तदन्तैरम् ? इति चेदत्राह 'नहि' इत्यादि । नहि नैव तेन दूराक्षार्थज्ञानेन अर्थवृक्षादि परिच्छिद्य प्रवृत्तौ क्रियमाणाया विसवादेकान्तः, अस्पष्टाकारतया विसवादेऽपि वृक्षाद्याकारनया तर्दभावात् तदप्रमाण तदूर्थज्ञानम् एकान्तेनाप्रमाण यतः स्यात् ।

प्रकृतार्थोपसंहारमाह—'तद्' इत्यादि । यस्माद् उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षयत् स्मृतेर्वस्तुविषयत्व सिद्धम् तत् तस्माद् अयं सौगतो व्यवहारी वा शब्दार्थो पूर्वदर्शनेन विषयीकृतौ स्मृत्या करणभूतया सङ्कलग्न्य प्रत्यभिज्ञाय सङ्केते 'एवविधोऽर्थः एवविधशब्दवाच्यः' इति समये सति पुनः पश्चाद् व्यवहारफाले शब्दप्रतिपत्तौ सत्याम् अर्थं सम्प्रत्येति विषयीकरोति । 'स्मृत्या सङ्कलय' इत्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम् । ननु स्मृत्यादेवस्तुविषयत्वाद् अवस्तुनि सङ्केतः तत्प्रतिपत्तिश्च, इत्याह—'स्मृति' इत्यादि । आदिशब्देन तर्कोदिपरिग्रहः, तस्यापि न केवल प्रत्यक्षस्य परमार्थविषयत्वात् । ननु परमार्थविषयत्वे शब्दाना न कश्चित् तर्दभावे तैज्ज्ञान स्यादित्यत्राह—'तद्' इत्यादि । तस्य शब्दस्य अर्थ. तदर्थः तस्य अभावेऽपि न केवल भाव एव शब्दार्थज्ञानं शब्दस्य कार्यभूतमर्थज्ञान 'जगत्प्रपञ्चस्य प्रकृति. कारणम्, ईश्वरः कारण, ब्रह्म कारणम्' इत्यादि । अत्र दृष्टान्तमाह—'प्रत्यक्षवत्' इति । यथा प्रत्यक्ष द्विचन्द्राद्यर्थाभावेऽपि भवति तथा तदपीति । कुत एतदिति चेदत्राह—'वस्तुन्यपि' इत्यादि । अपि शब्दाद् अवस्तुन्यपि सङ्केतसम्भवात् ।

(१) बोद्धव्यं । (२) बोद्ध । (३) दूराक्षार्थज्ञानम् । (४) प्रत्यक्षानुमानलक्षणम् । (५) प्रमाणं तत् । (६) विसवादाभावात् । (७) अर्थाभावे, अतीतानागतकालवर्तियर्थः । (८) शब्दज्ञानम् । (९) शब्दज्ञानमपि ।

ननु यदि अर्थाभावेऽपि तर्ज्ञान स्यात् तर्हि सर्वमेव शब्दज्ञानमप्रमाण स्यात् ।  
प्रयोग—विवादास्पतीभूत शब्दार्थज्ञानमप्रमाण तर्चयात् प्रकृतज्ञानवत् इत्याशङ्क्याह—

**अक्षशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम् ।**

**अस्पष्टं शब्दविज्ञान प्रमाणमनुमानवत् ॥ ४६ ॥**

विवृति—तदुत्पत्तिसारूप्यदिलक्षणव्यभिचारेपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षण  
ज्ञान तत्तस्येति सम्बन्धात् । वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसवादात् प्रमाणत्व समक्षवत् ।  
विवक्षाव्यतिरेकेण वाग् अर्थज्ञान वस्तुतश्च प्रत्याययति अनुमानवत् सम्बन्धनि-  
यमाभावात् । वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ।

अक्षाणि च शब्दाश्च तेषाम् अर्थज्ञान समम् । केन इत्याह अविसं-  
वादात्, अविसवादन यथा अक्षज्ञानमविसवादात् तथा शब्दार्थज्ञान-  
कारिकार्थ—  
मपि । अयमभिप्राय—यथा अक्षज्ञानस्य कस्यचिद्विसवादिनो दर्शने-  
ऽपि न 'सर्वमक्षज्ञानमप्रमाण तन्वात् द्विचन्द्राज्ञानवत् इत्यभिधातु शक्यम्, तथा  
शब्दार्थज्ञानमपि । तर्हि प्रत्यक्षात् कोऽस्य विशेष ? इति चेदत्राह—अस्पष्टमवि-  
शद शब्दविज्ञानम्, अक्षज्ञान तु स्पष्टम् इत्यनयोर्विशेष । तर्हि तत्प्रमाण किमि-  
वेति चेदत्राह—प्रमाण शब्दज्ञानम् अनुमानवत् । अत्रापि 'अविसंवादतः' इति  
सम्बन्धीयम् ।

ननु चाक्षज्ञानस्य अर्थोत्पत्तिसारूप्यसम्भवात् युक्तमविसवादादकस्य न शब्दज्ञा-  
नस्य तद्विपर्ययात् अत 'अक्ष' इत्याद्युक्तम्, इत्यारेकादूपणपुर-  
विवृतिपाठ्यान्तम्  
सर कारिका विवृण्वन्नाह—'तदुत्पत्ति' इत्यादि । तस्माद् अर्थाद्  
उत्पत्तिश्च सारूप्यञ्च आदिर्यस्य तदध्यवसायस्य स तथोक्त, स एव लक्षण प्रामा-  
ण्यस्य अविसवादस्य वा तस्य व्यभिचारऽपि तदुत्पत्ते चक्षुरादिना, सारूप्यस्य

(१) शब्दज्ञानम् । (२) शब्दज्ञानत्वात् । (३) सरविपाणादिसञ्ज्ञानवत् । (४)

समममानप्रमाण भवति । किम् ? अत्र शब्दाव्यभिचारम अक्षमिद्वय शब्दा वणपदवाक्यात्मको  
ध्वनि ताभ्या जनितमयस्य भामान्यविगपात्मकवस्तुनो विशिष्ट सगयादिगिकल नामवबोधनम् ।  
कुत ? अविसवादात् अयक्रियायामव्यभिचारात् । यथाक्षजनितमयज्ञानमविसवादात् प्रमाण तथा  
शब्दजनितमपि । नन्वक्षज्ञान प्रमाण स्पष्टत्वात् न शब्दमस्पष्टत्वादित्याशङ्क्याह—अस्पष्टमिति ।  
अस्पष्टमविगदमपि शब्दजनित ज्ञान प्रमाणमभ्युपगतव्यमविसवादात्तदेव । न हि स्पष्टमस्पष्टं वा  
प्रामाण्यतरनिबन्धन तयो मवान्तरनिबन्धनत्वात् । किञ्च ? अनुमानवत्—लघी० ता० पृ० ६६ ।

(५) मुद्रता— तसारूप्यतदुत्पत्ती यदि मवद्यलक्षणम् । सवेद्य स्यात्समानाय विज्ञान समनन्तरम् ॥ —  
प्रमाणवा० ३।३२३। अष्टसह० पृ० २४० । प्रमाणनय० ४।४७ । (६) चक्षुरादिना घटानामुत्पत्ते  
न च तत् चक्षुरादिप्राहक भवति ।

१—ज्ञान न प्र—वा० । २—प्रकृतज्ञानवत् व० । ३—अक्षत शब्दा—ई० वि० । ४—न व्य-  
ई० वि० । ५—तस्यपति ज० वि० । ६—पुरस्तरा का—व०—पुरस्तर का आ० । ७—एतन्नापन  
पाठो नास्ति आ० ।

समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, तदर्थवसायस्य मरीचिकाचक्रे जलदशनेन तत्र जलाध्यवसाय-  
हेतुना, तत्रितयस्यै शुद्धे शब्दे पीतज्ञानप्रभवोत्तरपीतज्ञानेन, न केवलमव्यभिचारे । किं  
जातमित्याह—‘यदर्थ’ इत्यादि । उत्तरत्र तच्छब्दद्वयप्रयोगाद् अत्रापि द्वितीयो यच्छब्दो  
द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थो जातः—यज्ज्ञानं यदर्थपरिच्छेदलक्षणं यदर्थग्रहणस्वरूपं तत्  
ज्ञानं तस्य अर्थस्य । एतदुक्तं भवति—तत्र यथा प्रत्यासत्त्या संत्वाविशेषेऽपि † किञ्चिन् 5  
कस्यचित् कारणं न सर्वं सर्वस्य, कारणत्वाविशेषेऽपि च कस्यचित् किञ्चिदाकारमा-  
त्मसात्करोति, तदविशेषेऽपि च † किञ्चिद्व्ययस्यति तथा तदुत्पत्त्यादिरहितमपि तत्परि-  
च्छेदवत् इति । एवं तद्व्यभिचारेऽपि ज्ञानार्थयोः सम्बन्धात् वागर्थज्ञानस्यापि न  
केवलमन्यस्य स्ययम् आत्मना अविस्वादात् प्रमाणत्वं समक्षवत् प्रत्यक्षवत् । ननु  
भवतु तत्प्रमाणं किन्तु विवक्षायामेव, इत्यत्राह—‘विवक्षा’ इत्यादि । विवक्षाव्यतिरेकेण 10  
यद्वाह्यं वस्तुतत्त्वम् अर्थस्वरूपं तत् प्रत्याययति गमयति । किं तदित्याह—वागर्थज्ञानम्,  
वचः कार्यभूतमर्थज्ञानम् । किमिव ? इत्याह—अनुमानवत् । यथा अनुमानं विवक्षा-  
व्यतिरिक्तमर्थं गमयति तथा वागर्थज्ञानमपि । कुत एतत् ? इत्याह—सम्बन्धनियमा-  
भावात् । विवक्षायामेव न वहिरर्थे तस्य सम्बन्धः इति यो नियमः तस्याऽसंभवात् ।  
अथवा, तादात्म्यतदुत्पत्तिरूप एव सम्बन्धः नापरः इति यः सम्बन्धनियमः तस्याऽ- 15  
ऽभावात् । कुत एतदित्यत्राह—‘वाच्य’ इत्यादि । न केवलमन्यस्य अपि तु वाच्यवा-  
चकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः । अयमभिप्रायः—अन्योऽपि  
सम्बन्धस्तत्प्रतीतिं कुर्वन् उपलभ्यमान एव ‘अस्ति’ इत्युच्यते नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्, तथा  
प्रकृतस्याप्युपलभ्यमानत्वे अस्तित्वमस्तु इति । समर्थितश्चास्तित्वं ‘प्रमाणं श्रुत-  
मर्थेषु’ [ लघी० का० २६ ] इत्यत्र प्रपञ्चतः इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । 20

ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणाभावतोऽभावात्, सतामप्यभेदात् । अन्यतः कालभे-  
दात्तद्वेदे अनवस्था स्यात् । अर्थभेदात्तद्वेदे अन्योन्याश्रयः । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘काल-  
कारक’ इत्यादि; इत्याशङ्क्याह—

(१) समानार्थे एकस्मिन्नर्थे तिलादौ यत्प्रथमं ज्ञानं जातं तस्माज्जातं यदनन्तरं द्वितीयं तिल-  
ज्ञानं तस्य प्रथमतिलज्ञानेन सह सारूप्यमस्ति, न च द्वितीयज्ञानं प्रथमं गृह्णाति, ज्ञानं ज्ञानस्य न निया-  
मवमिति तत्सिद्धान्तात् । (२) अनुकूलविकल्पोत्पत्तिरध्यवसायः । मरीचिवक्त्रे जायमानं जलदशनम-  
नुकूलं जलमिदमित्याकारकं विकल्पमुत्पादयति न च तत्प्रमाणम् । (३) तदुत्पत्तिसारूप्यतदध्यवसाय-  
श्रयम् । दुकलं शब्दे जायमानपीतज्ञानात् उत्पन्नस्य अनन्तरपीतज्ञानस्य शब्दज्ञानादुत्पन्नस्य तदाकारानु-  
कारिणः तदनुबूलशब्दोऽयमित्याकारकविकल्पोत्पादकस्य पूर्वज्ञानं प्रामाण्याप्रसङ्गात् । न च तदस्ति ज्ञानं  
ज्ञानस्य न नियामकमिति नियमभङ्गप्रसङ्गात् । (४) अकारानुकारणाऽविशेषेऽपि । (५) तदुत्पत्त्यादि ।  
(६) वाच्यवाचकसम्बन्धस्य । (७) वाच्यवाचकभावस्य । (८) भेदाभावात् । (९) सिद्धे हि अर्थव्य-  
तीतादिभेदे तस्मात् कालस्य अतीतादित्वम्, तस्मान्चावर्तानामतीतादितेति ।

१ यत्र आ० । २ सत्ताविशेषे—श्र० । † एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ० । ३ इदंवाग्राहं व०,  
श्र० । ‡ तस्यासंभवात् व०, श्र० । ४—स्याप्रति—आ० । ५—हेतुत्वोप—व०, श्र० । ६—मस्तौति श्र० ।

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिष्ठितम् ॥४७॥

विवृतिः—नह्येकान्ते वर्तमानलक्षणं कालस्य संभवति, भूतभविष्यद्वर्तमान-  
प्रभेदो यतः स्यात्, तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वेति  
कारकलक्षणं शक्तिशक्तिमतोर्व्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धासिद्धिः अनवस्थानुपपत्तात् ।  
तदव्यतिरेकैकान्ते 'शक्तिःशक्तिमत' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः । तन्नैकान्ते पट्टा-  
रकी व्यवतिष्ठते । कुतः पुनः स्त्यायत्यस्यां गर्भं इति स्त्री, प्रसूते स्वान् पर्यायान्  
इति पुमान् तदुभयात्यये नपुंसकम् इति शब्दार्थप्रत्ययानामन्यतमस्यापि लिङ्ग-  
व्यवस्था ? तथा एकस्यार्थस्य 'इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शक्रः, पुरंदारयतीति  
पुरन्दरः' इति पर्यायभेदाद् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न संभवत्येव व्यति-  
रेकेतरैकान्तयोः तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोः तत्रासंभवो विज्ञेयः ।  
तदनेकान्तसिद्धिः विधिप्रतिषेधाम्यां तदर्थाभिधानात् । नाभावैकान्तः, कुतः  
तदभिधानलिङ्गाद्यसंभवोपालम्भः स्याद्वादमनुवर्त्तत ?

काल आदिर्यस्य कारकादेः स तथोक्तः तस्य लक्षणं स्वरूपं प्रमाणं वा

अन्यत्र तत्त्वार्थभाष्यादौ परीक्षितं विचारितम् ईक्ष्यम् अन्वे-  
प्यम् न्यक्षेण आत्मना, 'निश्चितः पूर्वं प्रमाणेन व्यवस्थापितोऽश्लो

(१) 'ईक्ष्यमवलोकनीयम् । किम् ? कालादिदक्षणम्, काल आदिर्येषां कारकलिङ्गसख्यासाधनो-  
पग्रहादीनां ते कालादयः तेषां लक्षणमसाधारणं स्वरूपम् । किं विधिष्टम् ? परीक्षितं विचारितं स्वामिस-  
मन्तभद्राद्यं मूर्तिभिः । कथम् ? न्यक्षेण विस्तरेण । क्व ? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ । विधिष्टम् ?  
द्रव्येत्यादि । द्रव्यं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्ध्वतासामान्यम्, पर्याया एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन परि-  
णामा, सामान्यं सद्दशपरिणामलक्षणं तिर्यक् सामान्यम्, विशेषोऽप्यन्तरगतो व्यतिरेक, द्रव्यं च पर्याया-  
श्च सामान्यञ्च विशपदच द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषा ते आत्मा स्वभावो यस्यासौ तथोक्त । स चासा-  
वर्षदच तस्मिन्निष्ठितं नियतं तदात्मकमिति यावत् । एवविधस्यैव अथक्रियासम्भवात् निरपेक्षान्त  
तद्विरोधात् । —लघी० ता० पु० ६७ । (२) "वर्तनालक्षणे कालो" —उत्तरा० २८।१० । 'वाल-  
स्य वदृष्टणा स —प्रवचनसा० २।४२ । "ववगदपणवण्णरमा ववगददोघअट्टुपासो य । अगुहलहृगो  
अमुत्तो वदृष्टणलक्ष्णा य कालोति ।"—पञ्चा० गा० २४ । द्रव्यस० गा० २१ । "वर्तनापरिणामक्रि-  
यापरत्वापरत्वं च कालस्य ।"—तत्त्वार्थसू० ५।२२ । (३) शक्तिवारकवादिन भर्तृहरिप्रभृतयः ; तथाहि—  
"स्वाधये समवेतानां तद्ददवाश्रयान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तो सामर्थ्यं साधनं विदुः ॥ क्रियानिवृत्तो  
द्रव्यस्य शक्तिः साधनं साध्यतन्त्रेण क्रियति भाष्यकारप्रभृतयो विदुः ।"—वाक्यप० तु० का० पु० १७३ ।  
(४) तुलना— "न च द्रव्यमार्थं वारकं न च क्रियामात्रम्, वारकसन्दो हि क्रियामाधने क्रियाविशेषयुक्त्वं  
प्रवृत्तं ।"—न्यायवा० पु० ६ । "धात्वर्थासं प्रकारो य मुक्त्वं सोऽत्र वारकम्"—दावद० का० ६७ ।  
(५) "सस्थानप्रसवो लिंगमास्ययो स्वहृत्नान्त । अधिकरणसाधना लोके स्त्री स्थापयत्यस्या गर्भं  
इति । कर्तृसाधनदच पुमान् मूलं पुमानिति । मस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्,  
उभयविवक्षायां नपुंसकमिति ।"—पात० महा० ४।१।३ ।

१-निश्चितम् २० वि० । २-वेति ६० वि० । ३-शक्तिशक्ति-६० वि० । ४-तदुभयाभावे  
नपुं-६० वि० । ५-कान्तरयोः २० वि० । ६-अन्वेक्ष्यम् आ० ।

न्यक्षः' इति व्युत्पत्तेः । न्यक्षेण विस्तरेण इति वा । कथन्भूतं तत् तेनेक्ष्यम् इत्याह—  
 'द्रव्य' इत्यादि । द्रव्यम् ऊर्ध्वतासामान्यं तस्य सहस्रमभुवो विवर्त्ताः पर्यायाः,  
 सदृशपरिणामः सामान्यम्, विसदृशपरिणामो विशेषः ते एव आत्मा यस्या-  
 र्थस्य तत्र निष्ठितम् तदात्मकमिति यावत् । ततो निराकृतमेतत्—“कालादेः स्वयम-  
 मेदात् कथं तज्जेदात् कश्चिदर्थभदेकत्” [ ] इति । सहकार्युपादानसन्तानवद् अन्योन्यं 5  
 कालादीनाम् अन्यथाभावविवर्त्ताविरोधात् । यदि चा (वा), अन्यार्थपरिणतिः कालापेक्षा  
 कालपरिणतिस्तु स्वरूपापेक्षा, यथा घटादिप्रकाशः प्रदीपनिबन्धनः प्रदीपप्रकाशस्तु  
 स्यनिबन्धन इति, अतः अनवस्थाऽन्योन्याश्रयासंभवः । अधवा, तदर्थेन लिङ्गभूतेन निष्ठा  
 स्वरूपव्यवस्थितिर्ज्ञाता अस्येति तन्निष्ठितं तल्लक्षणम् तत्प्रमाणकम् इत्यर्थः । तथाहि—अयं  
 तदर्थः अस्मात् पूर्वं पश्चात् अनेन सह वा भवतीति प्रतीतिः तदर्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका, 10  
 पूर्वापरादिप्रतीतित्वात्, अयं तदर्थोऽस्मात्पूर्वदेशः अयमपरो देश इत्यादिप्रतीतिवत् ।  
 यश्चासौ तत्कारण स काल इति । एवं कारकादावपि योज्यम् । तथाहि—‘करोति क्रियते’  
 इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नशक्तिकार्यनिबन्धना, विलक्षणप्रतीतित्वात्, जलानलप्रतीतिवत् ।  
 तथा, ‘देवदत्तो देवदत्ता’ इत्यादिप्रतीतिः विभिन्नस्वरूपार्थनिबन्धना, विशिष्टप्रतीतित्वात्,  
 घटपटप्रतीतिवत् । 16

कारिकां व्यतिरेकमुखेन व्याचष्टे—‘नह्येकान्ते’ इत्यादिना । हिर्यस्मात् न  
 क्षणिकाद्येकान्ते वर्त्तनां स्वयं त्रिकालगोचरैः पर्यायैः वर्त्तमानान्  
 विवृतिव्याख्यानम्—  
 भावान् प्रति प्रयोजकत्वं लक्षणं कालस्य संभवति यतो लक्षणात्  
 भूतभविष्यद्वर्त्तमानप्रभेदः कालादेः स्यात् । ‘यतः’ इति आक्षेपे वा, यतः तत्प्रभेदः  
 स्यात्, नैव स्यात् । कुत एतदित्याह—‘तदर्थ’ इत्यादि । या भूताद्यर्थस्य क्रिया 20  
 निष्पत्तिः तस्या अनुपपत्तेः ‘एकान्ते’ इति सम्बन्धः । यथा च एकान्ते कालस्य  
 अतीताद्यर्थक्रियानुपपत्तिः तथा कालपरीक्षावसरे<sup>३</sup> विशेषतश्चिन्तितम् ।

एवं कालस्य एकान्ते लक्षणं वर्त्तमानान् भावान् प्रति प्रयोजकत्वं निराकृत्य  
 कारकस्य तन्निराकुर्वन्नाह—‘नच’ इत्यादि । नच नापि कारकलक्षणम् । किंतदित्याह—  
 ‘द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वा’ इत्येतत्, ‘एकान्ते तदर्थक्रियानुपपत्तेः’ इत्येतदत्रापि 25

(१) पूर्वापरादिप्रतीतिकारणम् । (२) “सर्वभावाना वर्तना कालाश्रया वृत्ति । वर्तना उत्पत्ति  
 स्थितिरथ गति प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थः ।”—तत्त्वार्थभा० ५।२२ । “वृत्तेर्गिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि  
 स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति । वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तनेति । । धर्मादीना द्रव्याणा स्वपर्यायनिवृत्ति प्रति स्वात्म-  
 नैव वर्तमानाना बाल्योपग्रहादिना तद्भूत्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षित काल इति कृत्वा वर्तना बालस्यो-  
 पकारः ।”—सर्वार्थसि० ५।२२ । “प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतिकसमया स्वसत्तानुभूनिवर्तना ।”—राजवा०  
 ५।२२ । (३) पु० २२५ ।

1—न्य इति आ० । 2—तिर्ज्ञाता आ०, व० । 3 भवतीति विभिन्नस्वरूपार्थव्यतिरिक्तार्थपूर्विका  
 4—कार्यनि—आ० । 5 इत्यादि न हि आ० । 6 लक्षणं निराकृत्य व०, थ० । 7 च थ० ।

सम्बन्धनीयम् । दूषणान्तरमाह—‘शक्ति’ इत्यादि । शक्तिशक्तिमतोः व्यतिरेकैकान्ते  
 अङ्गीक्रियमाणे सम्बन्धासिद्धिः सह्यविन्ध्यवत् । अथ तदेकान्तेऽपि राजपुरुषवद्  
 उपकार्योपकारकभावात् सम्बन्धसिद्धिरिष्यते, अत्राह—अनन्यस्थानुपज्ञात् इति । अत्र  
 यमभिप्राय—यथा राजपुरुषयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभाव तथा चेत् शक्तिद्वतो  
 5 स्तद्भाव तदा तत्र प्रत्येकम् अपरा शक्ति कल्पनीया तत्राप्येव चोद्यमित्यनवस्था । एतेन  
 अनयो समवाय विशेषणीभाव अन्यो वा भिन्न सम्बन्ध चिन्तित । तयोरभेदै  
 कान्त दूषयत्राह—‘तद्व्यतिरेकैकान्ते’ इत्यादि । तयो, शक्तिशक्तिमतो अव्यतिरेकै  
 कान्ते अभेदैकाते अङ्गीक्रियमाणे ‘शक्ति, शक्तिमत’ इति एव या परस्य वाचोयुक्ति  
 वचनोपपत्ति सा रिक्ता निरर्थिका । तस्मिन् सति शक्तिरेव स्यात्, न च सा परस्य  
 10 निराधारा युक्ता द्रव्यादिकल्पनावेफल्यप्रसङ्गात् । शक्तिमदेव वा स्यात्, तदपि शक्य  
 भावेऽनुपपन्नम् । न च द्रव्यादिकमेव शक्तिरित्यभिधातव्यम् शक्तिपरीक्षायाँ तस्यै  
 ततो व्यतिरिक्ताया प्रसाधितत्वात् ।

प्रकृतमुपसहरत्राह—‘तद्’ इत्यादि । यतो भेदाभेदैकान्ते शक्तिशक्तिमद्भावो नोपप  
 द्यते ‘तत्’ तस्मात् नैकान्ते पद्मरङ्गी कर्त्रादीना पण्णा कारकाणा समाहारो व्यवतिष्ठेत,  
 15 कारकाभावे तत्समाहाराभावात् इत्यभिप्राय । तथा अन्यच्च यत्प्राप्त तद्वाह—‘कुतः’ इत्या  
 दिना । कुतः ? न कुतश्चित् । पुनः इति दूषणान्तरसूचनार्थ । लिङ्गव्यवस्था लिङ्गाना  
 स्त्रीत्वादीना स्थिति । कस्य सा न ? इत्यत्राह—अन्यतमस्यापि । केपामन्यतमस्य ?  
 इत्याह—शब्दार्थप्रत्ययानाम् । वेयाकरणैर्यथासभव तेषामेव त्रयाणा लिङ्गव्यवस्थोप-  
 गमात् । ननु यदि कारकव्यवस्था नास्ति किमायात् लिङ्गव्यवस्थाया येन सापि  
 20 न स्यात् ? इत्याह—‘स्त्यायति’ इत्यादि । स्त्यायति सङ्घातीभवति अस्या गर्भ  
 इति स्त्री । प्रतूते जनयति स्वान् आत्मीयान् पर्यायान् इति पुमान् । तदुभया  
 त्यये स्त्यानप्रसवोभवाभावे नपुंसकमिति । एव या व्यवस्था, सा कुतः ?  
 लिङ्गव्यवस्थाया कारकनिबन्धनत्वेन तदभावेऽभावादिति मन्यते । अत्रैव एकान्ते

(१) उपकार्योपकारकभाव । (२) शक्तिद्वतो । (३) शक्ति । (४) मीमांसकादे । (५)  
 शक्तिमत्पि । (६) पृ० १६० । (७) शक्ते । (८) द्रव्यात् । (९) नित्या षट्पञ्चतयोरन्यथा भग्न  
 द्यमि वना । त्रिमाससिद्धयऽपु जातिवत्त्वमवस्थिता ॥ —वाचस्प० साधनसमु० द्रष्टो० ३५ । (१०)  
 तुम्हना— संस्त्यानप्रसवो लिङ्गमास्थयो इति परिभाषित नाप्य लिङ्गमुनत् तथा वाह—सस्त्यान स्त्याय  
 तद्द स्त्री मूत्रस्मप्रसव पुमानिति । स्त्यान महनन प्रसव उपचयो रूपादीना सत्त्वान्निगुणानाम् ।  
 ण्यापति सङ्घननमारणतस्यां गभ इत्यधिकरणं स्त्री । मूत्रघातोभवे प्रसव उपचये द्रुमुन प्रत्यय  
 परन्तुकारस्य प्रकारात् नृत् पुमानिति । यत्राह—मन्त्रि मकारस्य प्रकारात् इत्ययं । अनन च  
 प्रकारेण विषय मूल्यय वति मूत्रयति । उभयमयमाम्यन्त स्थितानपुंसकपर्यायवत् भवति । —वाचस्प०  
 लिङ्गसमु० पृ० ४३६ ।

१.—तिष्ठे भा० । —तिष्ठति इत्य-व० । द्रुमुन्प्रसव पाठो नास्ति भा० । ३ कारकानां थ० ।

दूषणान्तरमाह—‘तथा’ इत्यादिना । तथा तेन कारकाभावप्रकारेण एकस्य अभिन्नस्य अर्थस्य सुरपतिलक्षणस्य ‘इन्दनाद् इन्द्रः’ ‘शक्रनात् शक्रः’ ‘पुरन्दारयति इति पुरन्दरः’ इत्येव पर्यायभेदात् इन्दनादिपरिणामभेदात् । अथवा, इन्द्रादिशब्दपर्यायभेदात् सकाशात् तद्भेदञ्चाश्रित्य यासौ परेणाभ्युपगता । का ? इत्याह—भिन्नार्थता नानार्थता । केपाम् ? इत्याह—तद्वाचिनाम् एकार्थवाचिना शब्दानाम् इन्द्राद्यभिधानानाम् । सा क्रिम् ? इत्याह—न संभ्रमत्येव, मनागपि तत्सभ्रमो नास्ति इत्येवकारार्थ । कुत एतदि-  
त्यत्राह—‘व्यतिरेक’ इत्यादि । य सुरपतिलक्षण एकार्थ यश्च शक्रनादि तयो परस्पर व्यतिरेकैकान्तः भेदैकान्त यश्च इतरैकान्तः अभेदैकान्त तयो तत्रैकान्ते विरोधात् । व्यतिरेकैकान्ते हि सम्बन्धासिद्धेरनवस्थानुपपन्नाच्च विरोध सिद्ध । ईत-  
रैकान्ते च इन्दनादे एकत्वसिद्धे स सिद्ध इति । ननु न द्रव्यं नापि शक्तिस्तदुभय वा  
कारकलक्षणम्, किन्तु ‘क्रियाविष्ट द्रव्य कारकम्, इति चेदत्राह—‘तत् एव’ इत्यादि ।  
‘तत् एव’ अनन्तरोक्तविरोधादेव क्रियाकारकयोः क्रिया अधिश्रयणादिलक्षणा, कारक-  
कर्त्रादि, तयो तत्र मिश्रैकान्ते असभ्रमो विज्ञेयः ।

उपसहारमाह—‘तद्’ इत्यादि । यस्माद् एकान्ते कालकारकलक्षण नोपपद्यते तत् तस्माद् अनेकान्तसिद्धिः तत्रैव अस्योपपत्ते । काभ्या तत्सिद्धि ? इत्याह—विधि-  
प्रतिषेधाभ्याम्, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षसदसत्त्वाभ्याम् । समर्थितञ्चतद् अनेकान्त-  
सिद्धवसरैः इत्यलमतिप्रसङ्गेन । ननु एकान्तव्यतिरिक्तस्य शब्दार्थस्यासभवात् सर्वत्र  
लिङ्गाद्यसभवो भवत स्यादिति चेदत्राह—‘तद्’ इत्यादि । तस्य अनेकान्तरूपस्य अर्थस्य  
अभिधानात् प्रतिपादनात् । अत्रापि ‘‘विधिप्रतिषेधाभ्याम्’ इति सम्बन्धीयम् ।  
कुत ? न कुतश्चित् तदभिधानलिङ्गाद्यसभवोपालम्भः, तस्य अनेकान्तार्थस्य अभि-  
धान प्रतिपादक वचन तस्य लिङ्गादि, आदिसञ्चान् वचनादिपरिग्रह तस्याऽसभवः,  
स एव उपालम्भ कुतः न कुतश्चित् स्याद्वादम् अनेकान्तवादम् अनुत्तेन यायात् ।  
ननु सर्वथा भावानामभावात् तदर्थोभिधानमसिद्धम् इत्याह—नाभावैकान्तः शून्यतै-  
कान्त । यथा चासौ नास्ति तथा विषयपरिच्छेदे व्यासतश्चित्तितम् ।

यतश्च अनेकान्ते तदुपालम्भाभाव ईत —

(१) अमदकात्ते । (२) विरोध । (३) क्रियाविष्ट द्रव्य कारकमिति प्रसिद्ध । —युक्त्यनु-  
टी० पृ० २८ । (४) पृ० ३६६ । (५) पृ० ११९ ।

१ तदभेद वाश्रित्य थ० व० । २-गता केवाम आ०, -गता केत्याह भिन्नार्थता केवाम व० ।  
३ सभ्रम मनाग-आ० । ४-वित्याह थ० । ५-स्पर व्यति-थ० । ६ विरोधसिद्ध आ० विरोधसिद्धि  
थ० । ७-द्र-सि-थ० । ८ क्रियाविष्टिष्ट थ० । ९ भ्रवणा-व० । १० एकान्ते कारक-आ० ।  
११-रिक्तशब्दा-आ० । १२ तस्याकात्-आ० । १३ तत्रापि आ० । १४ विधिनियथा-आ० ।  
१५-लम्भस्थानेका-थ० । १६-कात्ते न तद्-आ० । १७ अह नास्ति थ० ।



एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।

पट्टकारकी प्रकल्पेत तथा कालादिभेदतः ॥ ४८ ॥

विवृतिः—प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् पट्टकारकीसंभवेऽपि यथैकं स्वलक्षणं स्वभावकार्यभेदानां तदभेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो दुर्नयः तदपेक्षो नयः, स्वार्थप्राधान्येऽपि तद्गुणत्वात् । तदुभयात्मार्थज्ञानं प्रमाणम् ।

एकस्य वस्तुनः, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः ततोऽनेकस्यापि प्रकल्पेत । का ?

इत्याह—पट्टकारकी । कुत इत्याह—अनेकसामग्रीसन्निपातात्

अनेका नाना या सामग्री अनेककार्योत्पादककारणसमग्रता तस्याः

सन्निपातात् । कथं प्रकल्पेत इत्याह—प्रतिक्षणं, क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणं यथा-

भवति तथा प्रकल्पेत । तथाहि—यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य करणाद् देवदत्तः

(१) “प्रव्रत्येत घटेत । का ? पट्टकारकी, पण्णा वारकाणा समाहार पट्टकारकी । कस्य ?

एकस्यापि जीवादिवस्तुनः अपिशब्दस्याध्याहारात् । कथम् ? प्रतिक्षणम्, क्षण समय क्षण क्षण प्रति प्रतिक्षणम् । कस्मात् ? अनेकसामग्रीसन्निपातात्, अनेका बहिरङ्गाऽन्तरङ्गा सामग्री कारणकलाप

तस्या सन्निपात सन्निधिस्तस्मात् । तथाहि—यदैव चक्रादिसन्निधानात् घटस्य कर्ता देवदत्त तदैव स्वप्रेक्षकजनसन्निधानात् स एव दश्यते इति कर्म, प्रयोजनापेक्षया देवदत्तेन कार्यतीति करणम्, दीयमानद्रव्यापेक्षया देवदत्ताय ददातीति सम्प्रदानम्, अपायापेक्षया देवदत्तादपैतीति अपादानम्, तत्र स्वद्रव्यापेक्षया देवदत्ते कुण्डलमित्यधिकरणमित्यविरोधात्प्रतीतेः । न हि प्रतीयमान विरोधो नाम । तथा

युगपदिव कालादिभेदतः कालदेशाकाराणा भेद क्रम तेनापि पट्टकारकी प्रकल्पेत । तथाहि अकरोद्देवदत्तः करोति करिष्यतीति प्रतीतिबलायात्तत्वात् । अथवा तथा एकस्य पट्टकारकीप्रकल्पनवत् कालाद्यापि प्रव्रत्येत । कुत ? भेदतः कथञ्चिदर्थस्य भेदात् । सर्वथाऽभिन्ने सकलकारकादिभदानुपपत्तः ।”-लघी०

ता० पृ० ६८ । (२) तुलना—“एवमेव शब्दसमभिरुद्भवभूता नया परस्परपेक्षा सम्यक् अन्त्यान्यमनपेक्षास्तु मध्येति प्रतिपत्तव्यम् ।”-प्रमेयक० पृ० ६८० । “अर्थभेद विना शब्दानामव नानात्वैकान्तस्तदाभास ।”-प्रमेय० ६।७।४ । “एव शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दाव्यतिरिक्तमर्थं समर्थयन्तो दुर्नया ।”-न्यायावता० टी० पृ० ९० । “तदभेदं तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभास । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेधरित्यादयो भिन्नकाला शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक्सिद्धान्तशब्दवदित्यादिरिति ।”-प्रमाणनय० ७।३४, ३५ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । “पर्यायानात्त्वमन्तरेणापि इन्द्रादिभेदकथनं तदाभास ।”-प्रमेय० ६ । ७।४ । “पर्यायध्वनीनामभिधेयानात्त्वमेव वक्षीषुर्वाणस्तदाभास इति । यद्यत्र शक्यं पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गनुरङ्गमशब्दवदित्यादिरिति ।”-प्रमाणनय० ७।३८, ३९ । जैनतर्कभा० पृ० २४ । “त्रियानिरपेक्षत्वेन त्रियावाचकेषु काल्यनिको व्यवहारस्तदाभास इति ।”-प्रमेय० ६।७।४ । “त्रियानाधिष्ठ वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपस्तु तदाभासः । यथा विनिष्टवेष्टामुन्य घटाभ्य वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतत्रियामुन्यत्वान् पटादिवदित्यादिरिति ।”-प्रमाणनय० ७।४२, ४३ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

१ प्रकल्पेत थ०, व० । २ यथैकत्व-त्र० वि० । ३-यं ज्ञानं ज० वि० । ४ प्रकल्पेत थ०,

व० । ५ प्रकल्पेत व०, थ० । ६ प्रतिक्षण क्षण प्रति वा०, व० । ७ प्रतिक्षणं नास्ति वा० ।

८ प्रकल्पेत थ० व० ।

कर्त्ता तदैव प्रत्यक्षदेशादिसामग्रीसन्निधानात् स एव कर्म, अन्यकर्मापेक्षया करणम्, तस्मै दीयमानद्रव्याद्यपेक्षया सम्प्रदानम्, तस्माद् आकृष्यमाणभावापेक्षया अपादानम्, तत्र स्थाप्यमानार्थापेक्षया अधिकरणमिति । तथा तेन प्रकारेण कालादिभेदतः काल आदिर्यस्य देशादे स तथोक्त तद्भेदत 'एकस्य पट्टकारकी प्रकल्पेत' इति सम्बन्ध । तद्यथा आसीद् देवदत्त ऋत्विग्विभवावो भवति भविष्यति वा । एवमन्यत्रापि योज्यम् ।

कारिकार्थं दर्शयन् अत्र सुनयदुर्नयभेद दर्शयति—'प्रतिक्षणम्' इत्यादिना ।

विवृतिव्याख्यानम्—

क्षण क्षण प्रति प्रतिक्षणम्, अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थञ्च नानासामग्रीसन्निपातात् पट्टकारकीसम्भवेऽपि तत्प्रतिक्षेप तस्या. पट्टकारक्या

प्रतिक्षेपो निरास दुर्नयः । कथं तत्सम्भव ? इत्यत्राह—यथैक स्वलक्षणम्, यथा एक स्वलक्षण व्यवस्थितं तथा तैथा भवति तथा तत्सम्भवेऽपि इति । नन्वेकस्य स्वलक्षणस्य अनेकस्य स्वभावस्य कार्यस्य च सम्भवे तद्वदन्यत्रापि तत्सम्भव स्यात्, नचा सावस्ति, तत्सम्भवे तस्यावश्य भेदात् इत्याह—'स्वभाव' इत्यादि । स्वभावभेदाना कार्यभेदानाश्च तदभेदकत्वात् स्वलक्षणाभेदकत्वात् । न खलु सजातीयेतरकार्यभेदे तत्कारणस्वभावभेदे वा स्वलक्षणस्य भेदोऽस्ति । एव कालादिभेदे पट्टकारकीसम्भवेऽपि तन्निरासो दुर्नय इति दर्शयन्नाह—'तया' इत्यादि । यथा सामग्रीभेदे एकस्य पट्टकारकीसम्भवेऽपि तन्निरासो दुर्नय, तथा कालादिभेदेऽपि 'पट्टकारकीसम्भवेऽपि' इति सम्बन्ध । अत्रापि 'स्वभाव' इत्यादि अपेक्ष्यम् । कस्तर्हि नय ? इत्यत्राह—'तदपेक्षो नयः' इति । तस्या पट्टकारक्याम् अपेक्षा यस्य असौ नयः । कुत स नय ? इत्यत्राह—'स्वार्थ' इत्यादि । स्व. विषयीक्रियमाणो योऽर्थः तस्य प्राधान्येऽपि तद्गुणत्वाद् अविचक्षितधर्माणामप्रतिक्षेपेण गुणीभूतत्वात् । यदि एव विधो नयो भवति, प्रमाणं तर्हि कीदृशम् ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । तद् अगुणीभूत विचक्षिताविचक्षितधर्मोभयम् आत्मा यस्य अर्थस्य तस्य ज्ञान प्रमाणम् । अनेन "प्रमाणान्यैरधिगम" [ तत्त्वाथसू० १।६ ] इत्येतत् सङ्गृहीतम् ।

ननु नय सर्वोऽपि मानसो विकल्प, विकल्पश्च निर्विषय एव तत्रात् प्रधानद्विविकल्पवत्, तत्कथं तेन कस्यचिदधिगम स्यात् ? इत्याह—'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतो तर्कादिना अनैकान्तिकत्व दर्शयन्नाह—

(१) शब्दादिपु । (२) एकम् । (३) यत्र प्रकारेण । (४) कालादिभेदसम्भवेऽप्येकमेवेत्यर्थः । (५) अनेकस्वभावकार्यसम्भव । (६) अनेकस्वभावकार्यसम्भवे । (७) अथस्य । (८) पट्टकारकीप्रतिक्षेप । (९) विकल्पत्वात् । (१०) नयन ।

१—व्यापक्षया थ० । २ तदभेदत आ० । ३ प्रकल्प्यत व० थ० । ४ क्षण प्रतिक्षणम् व० । ५ तस्या निरा—थ० । ६ यथा तथा भवति थ० । ७ अनेक स्वभा—आ० व० । ८ तत्कारण—आ० । ९ तद्वित्यादि थ० । १० तद्गुणी—थ० । ११ अथस्य ज्ञान थ० । १२ ननु नय थ० ।

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,  
सकल्येनैव तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैरुद्देशे ।

प्रामाण्ये चानुमायाः स्मरणमधिगतार्थाचिसंवादि सर्वम्,  
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयोद्यैः ॥४०॥

व्याप्तिम् अविनाभावं हेतोः लिङ्गस्य साध्येन लिङ्गिना मह स्फुटयति  
प्रकाशयति न, काऽमौ ? दृष्टिः दर्शनम् एतन्न एकरिम् न देशे,  
रारिग्याल्ल्यान्म- उपलक्षणमेतत् तेन 'एकदा च या दृष्टिः' इति गृह्यते । सत्त्वदृष्टिरेव  
स्फुटयति, तत्र च अनुमानमनर्थकमित्यभिप्रायः । केन विना इत्याह-विना चिन्तया,  
तथा सहिता तु स्फुटयति । अतः सौ प्रमाणान्तर स्यादिति भावः । क्व तथा विना सौ  
र्वा न स्फुटयति इत्याह-साकल्येन सामस्त्येन । देशतस्तु यदि स्फुटयति तदा  
स्फुटयतु, किन्तु तँधाऽनुमानानुदय । कस्तर्हि साकल्येन तँ स्फुटयति ? इत्याह-'एषः'  
इत्यादि । एषः प्रतिप्राणित्वसवेदन-प्रत्यक्षप्रसिद्ध तर्कः मानसोऽस्पष्टविरल्पः । कथ-  
म्भूतः ? इत्याह-अनधिगतविषयः अनधिगतः प्रमाणान्तरेणाऽपरिच्छिन्नः विषयो  
यस्य स तद्योक्तः । स किम् ? इत्याह-संज्ञानमेव, च शब्दः एवकारार्थ, अत  
एव प्रमाणम् । यथा चासौ साकल्येन व्याप्तिप्रकाशकः अनधिगतविषयः संज्ञानञ्च

(१) 'न स्फुटयति न प्रकाशयति । का ? एतन्न दृष्टिः एवस्मिन् महानसादौ साध्यसाधनयो  
दृष्टिर्दशन प्रत्यक्षमित्यर्थ । राम् ? व्याप्तिमविनाभावम् । कस्य ? हेतो साधनस्य धूमाद । कन  
सह ? साध्यन अग्यादिना सह । केन ? साकल्येन सकलाना दशकाऽन्तरितसाध्यसाधनव्यक्तीना  
भाव साकल्येन तेन । कथम् ? चिन्तया विना ऊहप्रमाणाभाव इत्यर्थ । न हि दुष्टान्तर्धमिणि साध्य  
साधनसम्बन्धदर्शनं साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ समधमनुमानानपक्वप्रसङ्गात् तद्दृष्टेरभिज्ञत्वापत्तश्च ।  
तर्हि किं प्रमाणं ता स्फुटयतीति चतुष्यत ? एष तर्क यः साकल्येन साध्यसाधनयो व्याप्ति स्फुटयति  
ज्ञान स एव च सकलानुमानिकप्रसिद्धस्तर्क इत्युच्यते । ननु गृहीतप्राहित्वादस्याप्रामाण्यमित्यागत्याह-  
अनधिगतविषय । किंविशिष्टम् ? संज्ञान सम्यक्ज्ञानमर्थे प्रमाणं भवतीति । तथा स्मरण स्मृतिश्च  
प्रमाणम् । किं विशिष्टम् ? अधिगतार्थाचिसंवादि, अधिगत प्रत्यक्षानुभूतोऽर्थो विषयस्तत्र अचिसंवादि  
चिसंवादादरहितमिति । एतच्च संज्ञानमिति । कस्मिन् सति ? प्रामाण्ये प्रमाणत्व सति । कस्या ?  
अनुमाया अनुमानस्य । क्व ? तत्कृतार्थैरुद्देशे, तन तर्केण हेतो निश्चित अर्थोऽविनाभावस्तत्सर्वकदेश-  
माध्य तत्रानुमानप्रामाण्यस्य स्मृतितकप्रामाण्यविनाभावित्वादित्यथ । अथवा संज्ञानञ्च प्रत्यभिज्ञान-  
ञ्च प्रमाणमचिसंवादाविनापात् । न केवलमेतत् परोक्षमेव विकल्पात्मक प्रमाणमपि तु सर्वं प्रत्यक्षमपि  
विकल्पात्मक प्रमाण तस्यैव व्यवहारोपयोगित्वात्, निविकल्पकस्य क्वचिदप्यनुपयोगान् । अत कारणा-  
त्तर्कादिवत् विकल्पात्मकैरेव नयोद्यै समधिगति सम्यग्धिगमनो जीवादितत्त्वनिर्णयो भवति । किं भूतं ?  
सप्तधाख्यै मत्ताया नैगमारिसप्तप्रकारा आख्या येषा तँरिति । -लघो० ता० पु० ७० । (२)  
सकलदृष्टौ सब्रतायाम् । (३) दृष्टि । (४) चिन्तया । (५) दृष्टि । (६) व्याप्तिम् । (७)  
एकदेशेन व्याप्तिग्रहण सति । (८) व्याप्तिम् । (९) तर्क ।

1 चानुमा-ज० वि० । 2-थाचित-मु० लघी० । 3-यो यं जा० । 4 च दृष्टि-आ० ।  
5 विना तासा न आ० ।

भवति तथा व्यभिज्ञानपरीक्षायां प्रपञ्चतः प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः सिद्धं नयस्य निर्विषयत्वे साध्ये 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य हेतोः तर्केण अनैकान्तिकत्वम् । तस्मरणेन च, इत्याह—'स्मरणम्' इत्यादि । स्मरणं सर्वं संज्ञानं 'प्रमाणम्' इति सम्बन्धः । कथम्भूतम् ? इत्याह—अधिगतार्थाविसंवादि, स्वयं स्मरणे अधिगतो योऽर्थः तदविसवादि, यदि वा, प्रमाणान्तरेण अधिगतार्थाविसंवादि कस्मिन् सति ? इत्याह—प्रामाण्ये सति । कस्याः ? अनुमायाः । क ? इत्याह 'तत्कृत' इत्यादि । तेन तर्केण कृतो निश्चितोऽर्थः अविनाभावलक्षणः तस्य आवागभूते एकदेशेऽपि साध्यस्वरूपे, च शब्दो भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दार्थः । ततः किं जातम् इत्याह—'समधिगतिः' इत्यादि । अतः अस्मात् नयाना निर्विषयत्वप्रसाधकहेतो तर्कस्मृत्यनुमानज्ञानैः व्यभिचारित्वलक्षणात् न्यायात् समधिगतिः जीवाद्यर्थानसप्तधाख्यैः नयौघैः ।

तैश्च तेषां समधिगतौ सत्यां यज्जात तद्दर्शयति—  
सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम—  
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक् ।

तच्चं शक्यपरीक्षणं सकलचिन्नैकान्तवादी ततः,  
प्रेक्षावानंकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥ ५० ॥

(१) पृ० ४२३ । (२) अनैकान्तिकत्वम् । (३) नयं । (४) जीवाद्यर्थानाम् । (५) 'न स्यात् सकलवित् त्रिबालभोचराशेषद्रव्यपर्यायवेदी न भवेत् । क ? एकान्तवादी मुगतादि । किं कुर्वन् ? अलक्षयन् अजानन् । किम् ? तत्त्वम् किं विशिष्टम् ? अनेकान्तभाक् अनेकान्त द्रव्यपर्यायात्मता भजत्यात्मसात्करोति इत्यनैकान्तभाक् । पुन कथम्भूतम् ? शक्यपरीक्षणं शक्यपरीक्षणं सदायादिव्यवच्छेदेन विवेचन यस्य तथोक्तं लौकिकगोचरमपीत्यर्थं । कथम् ? प्रत्यक्षम्, किं कृत्वा ? अभ्यस्य भावयित्वा । किम् ? स्वमतम् सर्वथैकान्तदर्शनं निरन्वयविनाशादिभावनावाहितचेतसोऽनेकान्तत्वमधिगन्तुमनलमिति कथं सर्ववेदित्वं तेषामित्यर्थं । तत कारणान्, भो अकलक ज्ञानावरणादिकलङ्करहितं नमस्करवाणि । कस्मै ? तुभ्यम् । कथम्भूताय ? सर्वज्ञाय 'पुन किं विशिष्टाय ? निरस्तमनेकान्तत्वभावनाबलाद्विश्लेषित बाधक बोधावरणद्वय यस्याः सा निरस्तबाधका तादृशी धीर्यस्य तथोक्तस्तस्मै । भूय किम्भूताय ? स्याद्वादिने । न केवलमहमेव ते नमस्कारोमि किन्तु प्रेक्षावान् परीक्षक सर्वोपि त्वामेव शरणं याति प्रतिपद्यते, नित्यप्रवृत्तमानविवक्षया एव वचनात् । किन्नामानम् ? वीर पश्चिमतीर्थंकर वर्धमानम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम् बहुविधविषयमहत्तमभयकारणं दुष्कृतं जयतीति जिनस्तम्" —लघी० ता० पृ० ७२ । (६) पालीभाषाया तु जिनातेर्घातो 'जिनातीति जिन' इति मिद्वयति । (७) एतच्छ्लोकानन्तरं परिच्छेदसमाप्तिं विधाय ज० वि० प्रती निम्नश्लोकः समुल्लिखितः, परञ्च सः तात्पर्यवृत्तिकृता अभयचन्द्रेण न्यायकुमुदकृता चाऽन्याख्यातत्वात् अर्थप्रकरणदृष्टवाप्यस्तद्गतत्वाच्च प्रक्षिप्त एव भाति—' मोहेनैव (नाह नैव) परोऽपि कर्मभिररहं प्रेत्याभिवन्धं पुन । भोस्ता कर्मफलस्य जातुषिदिति प्रभ्रष्टवृष्टिर्जनं । कस्माच्चिनतपोभिरुद्यतमनाश्चैत्यादिकं वन्दत । किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तेर्जडा वञ्चिता ॥' (अयं श्लोकः पशुस्तिलकचम्पूत्तरभागेषु पृ० २५७) प्रथुतिरूपेण निष्टुङ्कृतः ।

ततः तस्या समधिगते सकाशात् एकान्तवादी सुगतादि सकलचित्

सर्ज्ञो नेति 'ज्ञायते' इत्यप्याहार । किं कुर्वन् ? अलक्षयन्,

अनिश्चिन्वन् । किम् इत्याह—तत्त्वं जीवादि । कथम्भूतम् ? इत्याह—

अनेकान्तभाक् अनेकान्तात्मकम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह—शक्यपरी-  
क्षणम्, अपिशब्दोऽत्र द्रष्टव्य । शक्यं परीक्षणं सशयादिव्यवच्छेदेन स्वरूप-

विवेचन यस्य तत् तथोक्तम् । तदपि पृथग्ननलक्ष्यमपि इत्यर्थ । पुनरपि कथम्भूतम् ?  
प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षप्राप्तमपि, अत्रापि अपिशब्दो द्रष्टव्य । किं कृत्याऽलक्षयन् ? इत्याह—

अभ्यस्य, किम् इत्याह—स्वमतम्, एकान्तम्, अथवा सुष्ठु अमतमज्ञान क्षणिक-  
निरज्ञतत्त्वम् । अनेन जीवादितत्त्वालक्षणे कारणमुक्तम् । ननु तल्लक्षणे किं प्रयोजनम् ?

इति चेदत्राह—प्रेक्षावान् इत्यादि । अत्रापि 'ततः' इत्येतदपेक्ष्यम्, ततोऽयमर्थ  
सिद्ध—ततः तज्ज्ञानात् प्रेक्षावान् परीक्षको लोक अकलङ्कः निर्दोष अतत्त्वा-

भ्यासरहित । त्वामेव याति शरणम् । किंविशिष्टत्वाम् ? वीरम्, वीरनामानम्  
अन्तिमं तीर्थकरदेवम् । यदि वा, विशिष्टाम् अन्यजनासाधारणाम् ईम् अन्तरङ्गबहि-

रङ्गलक्षणा श्रिय रातीति वीरः तीर्थकरसमुदय तम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? जिनम्,  
ससारसमुद्रावर्तपरिभ्रामककर्मचक्रोन्मूलकम् । न केवल त्वामुक्तविशेषण शरणमेव

यात्यय प्रेक्षावान् चन, किन्तु नमस्करोति च । केन विशेषणेन ? इत्याह—सर्वज्ञाय  
सकलविदे । कथम्भूताय ? इत्याह—निरस्तबाधकधिघे, निरस्ता बाधकानाम्

एकान्तवादिना धीर्येन । यदि वा, निरस्त बाधकं यस्या सा तथाविधा धीर्यस्य,  
निरस्ता वा बाधिका धीर्यस्य तस्मै । पुनरपि कथम्भूताय ? स्याद्वादिने ते

तुभ्य नमः स्तात् नमस्कारोऽस्तु इति । 'अकलङ्काय धीराय विनाय' इति विभक्ति-  
परिणामेन उत्तर पदत्रय योज्यमिति ।

स्याद्वादोपरवेरशेषविषयप्रद्योतिनो देशत,

तद्रूपप्रतिरूपणाय गदिता सप्तैव ते सन्नया ।

किं भास्वान्निरिलप्रकाशनपटुर्वालाप्रमप्युच्चकै,

शक्तो द्योतयितु विनोन्नतकरैर्निर्मूल्य चाढ तम ? ॥ छ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्रयालङ्कारे पञ्चम परिच्छेदे ॥ छ ॥



एव प्रेक्षा तत्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चमो नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेद समाप्त ।



1-च्छेदे स्व-आ० । 2-देशत आ० । 3 ततोऽप्यय आ० । 4 तत ज्ञानात् आ० । 5-कोऽकल-  
श्र० । 6 त्वा वीरनामानं आ० । 7-मतीय-श्र०, व० । 8-मुदाय श्र० । 9-दिने तुभ्य आ० ।  
10 उत्तरपदत्रय आ० । 11 इति श्रीमत्प्रभाचन्द्रदेववि-व० । 12 इ समाप्त व० । 13 एकान्त-व० ।

# तृतीये प्रवचनप्रवेशे

पष्ठः प्रवचनपरिच्छेदः ।



सत्यस्वच्छजल सुरन्ननिचयः सञ्ज्ञानवीचीचय ,  
युक्त्यावर्तहतस्वरूपकुमतप्रौढोप्रनेरुक्रम ।  
स्फारागाधगभीरमूर्तिरसमध्वानो जनानन्दन ,  
स्याद्वादोदधिरेप वाञ्छितफल दद्यात् सैमासेवित ॥ १ ॥

अथ प्रमाणनयस्वरूप निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूप पृथक्  
निरूपयितुमुपक्रमते, तत्र अनेकधा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्य-  
मङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह—

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।

प्रमाणनयनिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥ ५१ ॥

प्रणिपत्य नत्वा । केम् ? वीरम् अन्तिमतीर्थकर तीर्थकरसमुदाय वा । 10

कारिकार्यं - किंविशिष्टम् ? स्याद्वादेक्षणसप्तकं । स्यादस्तीत्यादिसप्तभङ्गमयो

वाद स्याद्वादः ईक्षणसप्तकं यस्य स तथोक्त तम् । ननु  
स्याद्वादस्य ईक्षणव्यपदेश मुख्यतः, उपचारतो वा स्यात् ? न तावत् प्रथम पक्ष,  
चक्षुष्येव मुख्यतः तैद्व्यपदेशप्रसिद्धे । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्न, यतो रूपादिप्रतिपत्ते  
हेतुभूत चक्षु ईक्षण लोके प्रसिद्धम् । न च भगवत् तैत्प्रतिपत्तौ स्याद्वादो हेतुभूत, 15  
तत्कथमेतस्य उपचारतोऽपि ईक्षणव्यपदेश ? अथ अपरमनेनैसा<sup>१</sup> बोधयतीति तत्प्रति-  
पत्तेर्हेतुभूतत्वात् तैद्व्यपदेश, तर्हि परस्यैव तैद्वीक्षणसप्तकं न भगवत्., अन्यदीयात्ततो  
अन्यस्य प्रतिपत्तोरयोगात्, तदसमीचीनम्, अन्यथा व्याख्यानात् । स्याद्वाद एव  
ईक्षणसप्तकं यस्माद् भव्याना स तथोक्तस्तम् । यदि वा, ईक्षणसप्तकमिव ईक्षण-

(१) स्यादस्तीत्यादिसप्तभगमयो वाद स्याद्वाद ईक्षणाना सप्तकम् ईक्षणसप्तकम् स्याद्वाद  
एवेक्षणसप्तकं यस्माद्भिनेयाना भवत्यसौ तथोक्तस्तम् । न खलु निरूपकार प्रधावता प्रणामार्होऽनिप्र-  
सङ्गात् । —लघी० ता० पृ० ७४ । (२) ईक्षणव्यपदेश । (३) रूपादिप्रतीतो । (४) स्याद्वादस्य ।  
(५) स्याद्वादेन । (६) भगवान् । (७) ईक्षणव्यपदेश । (८) स्याद्वाद ।

1—वक्रक्रमं थ० । 2 तदा सेवित व०, थ० । 3 क वीर आ० । 4 अन्तिमतीर्थकरसमुदाय  
वा आ० । 5—अथ रमनेना—आ० अथ परमतेना—व० ।

सप्तकं स्याद्वादः तत् सप्तकं यस्यासौ स तथोक्तः तमिति । किं पुनः तैत्सप्तकेनै  
 स्याद्वादस्य साधर्म्यं येनैवमुच्यते इति चेत्; उपदेशाद्यनपेक्षाऽर्थज्ञानजनकत्वम् । यथैव  
 हि ईक्षणात् परोपदेशलिङ्गान्वयव्यतिरेकनिरपेक्षं रूपादिज्ञानं जायते तथा स्याद्वादद्  
 भगवतः केवलज्ञानमिति । तमित्यम्भूतम् इष्टदेवताविशेष प्रणिपत्य वक्ष्यमाणलक्षण-  
 लक्षितान् प्रमाणनयनिक्षेपान् अभिधास्ये । कथम् ? यथागमम्, आगमा-  
 नतिक्रमेण । अनेन तत्र आत्मनः स्वातन्त्र्य परिहृतम् ।

तत्र प्रमाणादीनां समासतो लक्षणं प्रतिपाद्यन्नाह—

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः उपायो न्यास इष्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥ ५२ ॥

विवृतिः—ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टे-  
 न्द्रियार्थवत् । विपमोऽयमुपन्यासः अमन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम्;  
 अर्थस्य तदकारणत्वात् तस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विपयत्वात् । न हि  
 तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ।

ज्ञानमेव प्रमाणमेव इत्याद्यवधारण सर्वत्र द्रष्टव्यम् । कस्य तत् ।

इत्याह—आत्मादेः । आदिशब्देन पुद्गलादिपरिग्रहः । ननु ज्ञाना-

कारिकायं -

र्थयोः तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात् कथं तत्तस्य इत्युच्यते इति

चेत्, न, तदभावेऽपि विपयविपयिभावलक्षणसम्बन्धसम्भवात् । तदभावे 'सोऽपि

(१) ईक्षणसप्तकेन । (२) ग्रन्थकर्तुः । (३) "इष्यते अभ्युपगम्यते सकलविप्रतिपत्तीना  
 प्रापेव निरस्तत्वात् । किम् ? प्रमाणम् । किंविशिष्टम् ? ज्ञान जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्र  
 वा ज्ञानमित्युच्यते, द्रव्यपर्याययो भेदाभेदविषयव्याप्या कर्मादिसाधनोपपत्ते । कस्य ? आत्मादे  
 आत्मा स्वरूपमादिर्यस्य बाह्यायंस्य स आत्मादि तस्य स्वायंस्य ग्राहकमित्यर्थः । अथवा आत्मा  
 चिदद्रव्यमादिशब्देन आवरणाना धयोपगम धयदवान्तरङ्ग बहिरङ्ग पुनरिन्द्रियानिन्द्रिय गृह्यत,  
 तस्मादुपजायमानमित्यध्याहारः । तथा इष्यते । क ? नयः । कि रूपः ? अभिप्राय विवक्षा । कस्य ?  
 ज्ञानु ध्रुतज्ञानिनः । तथा इष्यते । क ? न्यासो निक्षेपः । किंविशिष्टम् ? उपाय अधिगमहतुः नामा-  
 दिरूपः । अर्थस्य स्वत सिद्धत्वात् किमेतै प्रमाणादिभिरित्यासकनाह—युक्तीत्यादि । युक्तिन प्रमाणन  
 यनिग्रहैरेवार्थस्य जीवाद परिग्रह प्रमितिनं स्वतः इति ।"—लघो० ता० पृ० ७५ । तुलना—"ज्ञान प्रमा-  
 णमित्यादूर्तयो ज्ञानुमंत मत् ।"—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१८ । प्रमाणसं० पृ० १२७ । उद्गतोपम्—  
 'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः'—धवलाटी० पृ० १७ । (४) तुलना—"ज्ञातृणामभिमुख्य लतु नयास्ते द्रव्य-  
 पर्यायनः, तत्र द्रव्यमननपयपपद भेदात्मका पयया ।"—सिद्धिवि०, टी० ५१७ । (५) तुलना—  
 'ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्यादि'—प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३ । लघो० टि० पृ० १३२ ।  
 "ज्ञानमवत्यवधारणान् सन्निकर्यादिगुणविदिनात्मनो व्युदासः ।"—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१८ । (६)  
 तुलना—"नापार्तादो कारण परिच्छद्यत्वानमावन् ।"—परीक्षा० २।६ । प्रमाणमी० १।१।२५ । (७)  
 मानम् । (८) अर्थस्य । (९) तादात्म्यादिसम्बन्धाभावः । (१०) विपयविपयिभावात् ।

१-सामिति २० । २-केन स्याता-ज्ञा० । ३-अनेन आत्म-प्र० । ४-उच्यते २० वि० ।

५-अप्येतेषां २० ।

कथम् ? इत्यपि वार्त्तम्, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावेऽपि प्रदीपार्थयो प्रकाश्यप्रकाशक-  
भाववत् ज्ञानार्थयो विषयविषयिभावस्य समर्थितत्वात् । ननु च आत्मादेरभावात्  
किञ्चित्तस्य ज्ञानम् ? इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तस्य विषयपरिच्छेदे<sup>१</sup> प्रवन्धेन प्रसाधि-  
तत्वात् । यदि वा, आत्मा स्वरूपम्, आदिशब्देन अर्थपरिग्रह, तेन स्वार्थयो  
इत्यथमर्थ सिद्धो भवति । प्रसाधितञ्च स्वपरव्ययसायात्मकत्वं ज्ञानस्य प्रपञ्चत स्वस- 5  
वेदनसिद्धौ<sup>३</sup> इत्यल पुनस्तत्प्रसाधनप्रयासेन । अथ को निक्षेप ? इत्याह—‘उपाय’  
इत्यादि । उपायः कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादि न्यासो निक्षेप इष्यते ।  
नयो ज्ञातुरभिप्रायः, प्रमाणविषयीकृतेऽर्थे एकाग्रविषयो ज्ञातुः प्रमातुरभि-  
प्रायः । किं फलमेतेषां स्वरूपव्यावर्णने ? इत्याह—‘युक्तिः’ प्रमाणादिलक्षणाया  
अर्थस्य परिग्रहः स्वीकार । उपलक्षणमेतत् तेन अन्वर्थपरिहारोऽपि गृह्यते । 10

कारिका विवृण्वन्नाह—‘ज्ञान प्रमाणम्’ इत्यादि । प्रमाण धर्मि ज्ञानमिति साध्यम्,  
‘प्रमाणत्वान्यथानुपपत्ते’ इति हेतुरत्र द्रष्टव्य । ननु सन्निकर्षादिना अय  
विवृतित्वारयानम्—  
हेतुर्व्यभिचारी, तस्याऽज्ञानरूपस्यापि अव्यपदेश्याव्यभिचारिव्यवसा-  
यात्मकज्ञानजनकत्वेन प्रमाणत्वसम्भवात् इत्यत्राह—‘कारणस्यापि’ इत्यादि । कारण-  
स्यापि यथोक्तज्ञानजनकस्यापि सन्निकर्षादेरचेतनस्य सत् प्रामाण्यमनुपपन्नम् । अत्र 15  
दृष्टान्तमाह—असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत् । सन्निकर्ष सन्निकृष्ट तच्च इन्द्रियञ्च अर्थश्च  
सन्निकृष्टेन्द्रियार्था, विवक्षितेभ्यस्तेभ्य अन्ये असन्निकृष्टेन्द्रियार्थाः तेषामिव तद्वत् ।  
यद्वा, असन्निकृष्टौ च तो इन्द्रियार्था च तयोरिव तद्वत् । यद्वा, प्रयोग—विवादगोचरा-  
पन्न सन्निकर्षादि अप्रमाणम् अचेतनत्वात् अविषक्षितसन्निकर्षादिवत् । यथा च अचेत  
नस्य सन्निकर्षादे प्रामाण्यन्नोपपद्यते तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे<sup>२</sup> प्रपञ्चत प्रतिपादितम् । 0

अत्राह पर—‘विषयः’ इत्यादि । विषयः दार्ष्टान्तिकेन समानो न भवति  
उपन्यासो दृष्टान्तरूप । तदेव वैषम्य दर्शयति—‘असन्निकृष्टस्य’ इत्यादिना ।  
असन्निकृष्टस्य इन्द्रियार्थलक्षणस्य वस्तुन तदकारणत्वात् विवक्षितज्ञानाहेतुत्वात् ।  
एतदुक्तं भवति—यदि नैयायिकादि चेतनत्वेन कश्चित् प्रामाण्यमभ्युपगच्छति तर्हि दृष्टान्ते  
चेतन्याभावे यथा प्रामाण्याभाव तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि स्यात्, यावता ज्ञानकारणत्वेन 25  
तदभ्युपगतम् । तत्कारणत्वञ्च दृष्टान्ते यद्यपि नास्ति तथापि दार्ष्टान्तिके अस्ति इति

(१) आत्मादे । (२) पृ० ३४३ । (३) पृ० १७६ । (४) तुलना— एव्य किमटठ णयपरूवण  
मिदि ? प्रमाणनयनिक्षपर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते । युक्तञ्चायुक्तवद भाति तस्यायुक्तञ्च युक्तवत् ॥’—  
घबलाटो० पृ० १६ । (५) तुलना— सम्प्रगान प्रमाण प्रमाणत्वा यथानुपपत्त । —प्रमाणप० पृ० ५१ ।  
प्रमेयक० पृ० ७ । स्वा० २० पृ० ४१ । प्रमेय० १ । प्रमाणमो० पृ० २ । (६) तुलना— न ह्यचेत  
नोऽथ स्वप्रमितो करण घटादिवत् । —प्रमाणप० पृ० ५१ । (७) पृ० २९ । (८) प्रामाण्य स्वीकृत  
न चेतनत्वेन नाप्यचेतनत्वेनति भाव ।

१—बोनामर्ष व० । २—ज्ञानकस्यापि आ० ।



सिद्धमर्थस्य प्रामाण्यमिति । अत्र दूषणमाह—‘नैतत्सारम्’ इत्यादि । एतत् ज्ञानकारणत्वेन प्रमाणत्वं न सारम् । कुत एतदित्याह—‘अर्थस्य’ इत्यादि । अर्थस्य ज्ञानविषयस्य घटादेः तदकारणत्वात् स्वग्राहिज्ञानाजनकत्वात् । एतदपि कुतः इत्याह—‘तस्य’ इत्यादि । तस्य घटादिज्ञानस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् । अर्थनिमित्तत्वं कुतो नेति चेदत्राह—अर्थस्य विषयत्वात् परिच्छेद्यत्वात् । ननु ‘विषयश्च स्यात् कारणञ्च’ इति कोऽनयोर्विरोधः ? इत्याह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न तस्य ज्ञानस्य परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतां ज्ञानहेतुताम् आत्मसात्कुर्यात् । अत्र परप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—प्रदीपस्येव घटादिरिति । अत्रायमभिप्रायः—यथा प्रदीपप्रकाशयो घटादिः नै प्रदीपकारणतामात्मसात्करोति तथापि प्रदीपेन प्रकाशयते तथा ज्ञानप्रकाशयोऽप्यसौ तत्कारणतामात्मसात्कुर्वन्नपि तत्प्रकाशयति इति । अनेन परंपरिकल्पितः “नाकारणं विषयः” [ ] इति नियमो निरस्तः; प्रदीपं प्रत्यकारणस्यापि घटादेः तत्प्रकाशनविषयतोपलब्धेः ।

किञ्च, ‘नाकारणं विषयः’ इत्यभ्युपगच्छता किं कारणमेव विषय इत्यभिप्रेतम्, कारणं विषय एव इति वा ? प्रथमपक्षे विज्ञानस्वरूपसंवेदनानुपपत्तिः । नहि स्वरूपं स्वस्यैव कारणम् ; स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु चक्षुरादेरपि विषयत्व-  
प्रसक्तिः कारणत्वाविशेषात् । किञ्च, अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे वा ? न तावदसिद्धे; अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे; कुतस्तत्सिद्धिः—  
तत एव ज्ञानात्, अन्यतो वा ? न तावत् तत एव; यतः—

अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिघत् ॥ ५३ ॥

(१) सन्निकर्षस्य । (२) घटाद्यर्थः । (३) ज्ञानं प्रति हेतुताम् । (४) ज्ञानेन प्रकाशयो भवतु । (५) सोऽनयः । (६) “कारणीभावो हि विषयीभाव उच्यतेऽप्रमाणिनं सम्बन्धः । तथाहि—रूपादिविषयश्चक्षुषो विज्ञानोत्पत्तो सहकारिता प्रतिपद्यमानो विषयीभवतीत्युच्यते । द्विविधश्च सहकार्यः परस्परकारको वा यथा—‘एकार्यक्रिया वा ययोन्मिपितमाश्रेण रूप गृह्यते । उभयथापि विज्ञानस्य कारणविशेष एव विषय उच्यते ।”—तत्त्वसं पं० पृ० ६८३ । (७) तुलना—“तथाहि—किं कारणं विषय एव, उत कारणमेव विषय ? प्रथमपक्षे रूपादिसविदा चक्षुराद्यपि विषयो भवेत् । द्वितीयपक्षे-पि भविष्यति रोहिष्पुदय” इति कोदयादतीतक्षयायामिव इत्यस्थानुमानस्य भावी रोहिष्पुदयोऽकारणत्वादिषयो न स्यात्”—सम्प्रति० टी० पृ० ५१० । (८) विज्ञानस्वरूपसंवेदनं हि तदा स्याद् यदा विज्ञानस्य स्वरूपं स्वसंवेदनं प्रति कारणं स्यात् । न चेतदस्ति । (९) “विद्यात् जानीयात् । किम् ? ज्ञानम् । कथम् ? अयमर्थ इति । पुनरं विद्यात्, काम् ? उत्पत्तिम् अहमस्मादुदयप्रामिति स्वयम् । कस्मान् ? अर्थतः घटादेः मयासात् । इदञ्च प्रमेयं प्रतीतिसिद्धमेव, अन्यथा यद्यथात् स्वोत्पत्तिं ज्ञानं विद्यात् तदा वादिप्रतिवादिनोऽविवादो ज्ञानमयाऽदुलभ्य न वेति विप्रतिपत्तिः; किन्त् ? कुलालादिघटादिघत्, यथा कुलायादेः मयासात् घटादेऽन्मनि प्रतीतिसिद्धे कस्यापि न विवादोऽस्ति तथाऽप्यात् ज्ञानमन्यथा विवादो मा भूत्, अस्मि चाप विवादः स्यादादिनां ज्ञानमन्यनीति ।”—लघी० ता० पृ० ७६ ।

विवृतिः-अर्थं परिच्छिन्दद्विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपर सूचयत्येव । नहि ततः स्वभावलाभं प्रति व्याप्रियमाणस्य तत्परिच्छित्तिः अनुत्पन्नात्वात् । उत्पन्नास्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावम् आत्मार्थयोर्वि . . . . .

पनेनोल्लेखेन 6

कारिकाय -

अर्थमेव विद्यात्, न उत्पत्तिम् आत्मलाभमर्थतो विद्यात् । अथ तत्तैत तौ वेत्ति इत्युच्यते, अत्राह- 'अन्यथा' इत्यादि । अन्यथा

अन्येन तत्परिज्ञानप्रकारेण न विवादः स्यात् । यस्य यस्मादुत्पत्तिः प्रत्यक्षत प्रतीयते न तस्य तदुत्पत्तौ कस्यचिद् विवाद यथा कुलालाद् घटस्य, विवादश्च ज्ञानस्य अर्थादुत्पत्तौ, तस्मात् सां तस्यै प्रत्यक्षतो न प्रतीयते इति ।

10

अर्थं प्रमाणान्तरात्तस्य अर्थकार्यता प्रतीयते-ननु तर्किक प्रत्यक्षरूपम्, अनुमानरूप वा स्यात् ? यदि प्रत्यक्षरूपम्, तर्किक ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषय वा स्यात् ? तत्राद्यधिकल्पद्वये तयो कार्यकारणभावप्रतीतिरनुपपन्ना, एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वात्, ययो एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्व न तयो, कार्यकारणभावप्रतीति यथा रूपरसयो, धूमपोषकयोर्वा, एकैकविषयज्ञानप्राप्तत्वञ्च अर्थज्ञानयोरिति । अथ उभयविषयप्रत्यक्षात् तत्प्रतीति, तत्र, तैथाविधप्रत्यक्षस्य अस्मादृशार्थसम्भवात् ।

15

किञ्च, तदुभयविषय प्रत्यक्ष नाभ्यामुत्पन्न सत् तयो कार्यकारणभाव प्रत्येति, अनुत्पन्न वा ? न तावदनुत्पन्नम्, आद्यज्ञानस्यापि अर्थादिनुत्पन्नस्य अर्थप्राहकत्वप्रसङ्गात् । अथ उत्पन्नम्, तर्हि तस्यापि तदुत्पत्तिः अपरस्मात् तैत उत्पन्नाज्ञानात् प्रत्येतव्या तस्याप्यन्यस्मादित्यनवस्था । आद्यात् द्वितीयस्य, द्वितीयाच्चाद्यस्य तैत्प्रतीतौ अन्योन्याश्रय । तन्न प्रत्यक्षरूपाद्यमाणा-तरात् ज्ञानस्य अर्थकार्यतासिद्धि । नापि अर्थाश्रयव्यतिरेकानुविभाषित्वलक्षणानुमानरूपात्, तस्य अनन्तरकारिकाया निराकरिष्यमाणत्वात् ।

20

कारिका विवृण्वन्नाह- 'अर्थम्' इत्यादि । अर्थं घटादिक परिच्छिन्दद् विज्ञानम्

आत्मनः स्वस्य कारणान्तरमपर परपरिकल्पितादर्थलक्षणकारणाद् अपरमेव चक्षुरादिलक्षण कारणान्तर सूचयति । कुत एतदित्याह-

विवृतिव्याख्यानम्-

26

(१) ज्ञानम् । (२) अर्थात् । (३) उत्पत्तिम् । (४) उत्पत्ति । (५) ज्ञानस्य । (६)

तुलना- किञ्चाद्यकायतया ज्ञान प्रत्यक्षत प्रतीयते प्रमाणान्तराद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्, किं तत एव प्रत्यक्षान्तराद्वा ? अथ प्रमाणान्तरात्तस्याद्यकायता प्रतीयते, तर्किक ज्ञानविषयमथविषयमुभयविषय वा स्यात् ? -प्रमेयक० पृ० २३२ । (७) ज्ञानाश्रयो । (८) ज्ञानार्थोभयप्राहि । (९) उभयाभ्या ज्ञानार्थाभ्याम् । (१०) ताभ्यामवज्ञानाभ्यामुत्पत्ति । (११) उभयात् । (१२) तदुत्पत्तिप्रतीती ।

1 विद्यात् अथ थ० । 2-स्मात्तस्य थ० । 3-वाचकयोर्वा आ० । 4-मभावात् थ० ।

5-वात्तदुभय-व० । 6-ज्ञातस्यापि थ० ।



सत्येव ज्ञानस्योत्पत्तेः तदभावे चाऽनुत्पत्तेः । प्रयोगः—यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम् यथा अग्नेर्धूमः, अन्वयव्यतिरेकावनुरोति च ज्ञानमर्थस्य' इत्याशङ्क्याह—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।

संशयादिविदुत्पादः कौतस्कुत इतीक्ष्यताम् ॥ ५४ ॥

विवृतिः—बुद्धेरेव व्यभिचारो नार्थस्य कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वय- 6  
व्यतिरेकावनुकुर्वती व्यभिचरेन्नाम ? ततः संशयादिज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमि-  
राशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादिहेतुत्वे कैमर्थमर्थः पुष्पाति इति मृग्यम् । सत्यज्ञानेऽपि  
तिमिराद्यभावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात् । ततः सुभाषितम्—'इन्द्रियमनसी  
कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः' इति ।

अर्थसद्भावे भावोऽन्वयः तदभावेऽभावो व्यतिरेकः ताभ्यामर्थश्चेद् यदि 10

कारिणोर्व -

कारणं विदो ज्ञानस्य । अत्र दूषणमाह—'संशय' इत्यादि । संशयः

आदिर्यसाः सा चासौ चित् च तस्य उत्पाद आत्मलाभः कौत-  
स्कुत इत्येवमीक्ष्यतां पर्यालोच्यताम् ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—'बुद्धेः' इत्यादि । बुद्धेरेव व्यभिचारः अन्यदेशादि-

विवृतिव्याख्यानम्—

विशिष्टस्यार्थस्य अन्यदेशादिना ग्रहणलक्षणो नार्थस्य, 'व्यभिचारः' 15

इति सम्बन्धः । स हि यथार्थामयथार्था वा अन्वयव्यतिरेकावनु-

(१) ज्ञानमर्थकार्यम् अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । (२) 'वेद्यदि कारणं कथ्यते । क ? अर्थो विषय । कस्या ? विदो ज्ञानस्य । काम्याम् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्, सति भवनमन्वय अमत्यभवन व्यतिरेक ताभ्याम् । तथाहि—ज्ञानमर्थकारणक तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति । तदा कौनस्तुत स्यात्, नुतस्तुत आगतः कौतस्तुत । क ? मशयादिविदुत्पाद संशयविपर्यासज्ञानोत्पत्ति । इत्येवमीक्ष्यता तद्वादिभि स्वमनसि पर्यालोच्यताम् अर्थाभावोऽपि संशयाद्युत्पत्ते । न हि स्थाणुपुरुषात्मक केशोण्डुकस्वभावो वार्यस्तज्ज्ञानोत्पत्ती व्याप्रियते, ततो भागासिद्धमर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानं ज्ञानस्येति ।' —सूची० ता० ५० ७६ । (३) अत्राय पूर्वपक्ष—'अर्थस्य च ज्ञानजनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवग- म्यते । यदा हि देवदत्तार्थी कश्चिद् व्रजति तद्गृहम् । तत्रासन्नहितं चैनं गत्वापि न स पश्यति ॥ क्षणान्तरे स आयात् देवदत्तं निरीक्षते । तत्र तत्सदसत्त्वेन तथात्व वेत्ति तद्विषय ॥ अनागते देवदत्ते न देवदत्तज्ञानमुदपादि तस्मिन्नागते तदुत्पन्नमिति तदभावभावित्वात्तज्जन्यत्व तदवसीयते ।'—न्यायम० ५० ५४४ । (४) 'तिमिरमक्षोविल्व, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमणमलातादे, मन्दं हि भ्राम्यमाणेऽलातादे न चक्रभ्रान्तिरूपयते तदर्थमाशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम् । एतच्च विषयगत विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्या नावि स्थितस्य गच्छद्बुद्धादिभ्रान्तिरूपयते इति यानग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थित विभ्रमकारणम् । सक्षोभो वातपित्तश्लेष्मणां । वातादियु हि क्षोभ गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरूपयते । एतच्चाध्यात्मगत विभ्रमकारणम् ।'—न्यायवि० टी० ५० १६ । (५) उद्धृतमिदम्—'इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात् ।'—न्यायवि० वि० ५० ३२ A । 'तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलकैरपि ।'—तत्त्वार्थश्लो० ५० ३३० ।

1-विचिदुत्पा-आ० । 2 किमर्थमर्थं ज० वि० । 3 चित् आ० । 4-शिष्टस्याप्यवे-ब० ।

कार्यं बुद्धिं जनयत्येव । “सर्वं सालम्बनं ज्ञानम्” [ ] इत्यभ्युपगमात् ।  
 केशोण्डुकादिज्ञानस्यापि अक्षिपक्षमादिनिबन्धनत्वादिति । पूर्वार्द्धं व्याख्यातम् । उत्तर-  
 मुत्तरार्द्धं व्याचक्षणं प्राह—‘कथम्’ इत्यादि । कथं केन प्रकारेण अव्यभिचारिणोऽर्थस्य  
 अन्वयव्यतिरेकावनुकुर्वती बुद्धिः अर्थं व्यभिचरेन्नाम् ? नैव व्यभिचरेत् । यथैव हि  
 5 व्यवस्थितोऽर्थः तथैव गृहीयात्, तत आत्मलाभलक्षणत्वादव्यभिचारस्य । व्यभिचरति  
 च । अतो यथा अन्यदेशादिसंभ्रमस्य धर्मस्यासत् एव ग्रहणं तथा धर्मिणोऽप्यसत् एव  
 ग्रहणसम्भवात् विपरीतख्यातै(त्ये)कान्तः श्रेयान्, असत्ख्यातेरपि प्रसङ्गात् इत्यभिप्रायः ।  
 एतदेव दर्शयन्नाह—‘ततः’ इत्यादि । ततः तस्माद् बुद्धेर्व्यभिचारात् संशयादिज्ञानमहे-  
 10 तुकम्, अर्थलक्षणकारणशून्यं स्यात् धर्मवत् धर्मिणोऽपि असत् एव प्रतिभाससंभवात् ।  
 ईदृश्यते हि तावद् अक्षिपक्षमाद्यपायेऽपि तैमिरिकस्य केशोण्डुकादिज्ञानम् ।

ननु केशोण्डुकादिज्ञानं भ्रान्तत्वाद् अर्थापायेऽपि उत्पद्यते, नान्यद् विपर्ययात् ।  
 नचान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचार अतिप्रसङ्गात्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्,  
 परानिरपेक्षतया हि स्वपरप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य स्वरूपं न पुनः सत्यत्वमसत्यत्वं वा ।  
 तत्र च यथा सत्याभिमतं ज्ञानं स्वपरप्रकाशात्मकं तथा केशोण्डुकादिज्ञानमपि । एतावास्तु  
 15 विशेष—किञ्चित् सत्परं प्रकाशयति सदादसमत्वात्, “किञ्चित्तु असद्” विसवादात् ।  
 न चैतद्विज्ञा जात्यन्तरत्वेन अनर्थोरन्यत्वं व्यभिचाराभावो वा, अन्यथा ‘प्रयत्नानन्तरी-  
 यकं शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवत्’ इत्यादेरपि अप्रयत्नानन्तरीयकैः विद्युद्बनकुसुमा-

(१) यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्योत्थितस्य नीलत्रोहितादिगुणविशिष्टं केशोण्डुकाख्यं  
 नखिन्नयनात् परिस्पृणति, अथवा करसमुदितलोचनरश्मिषु येन केशोण्डुकावस्था स केशोण्डुकः ।”-  
 शास्त्रदी० युक्ति० पृ० १९ । केशोण्डुका नाम पक्षिणं ये केशमूला युत्पाटयन्ति—‘शिक्षासमु० पृ० ७० ।  
 “तैमिरिकाणां च केशोण्डुकाद्याभासं विनाप्यथसत्त्वादिति ।—मध्यान्तवि० पृ० १५ । ‘केशोण्डुकं यथा  
 मिथ्या गृह्यन्ते तैमिरंजर्नं ।’—लङ्कावतार० पृ० २७४ । (२) तुलना—कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न  
 केशोण्डुकज्ञानेऽथ कारणत्वेन व्याप्रियते—तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारो नयनपक्षमादेर्वा कामलादेर्वा  
 गत्यन्तराभावात् ? न तावदाद्यविकल्पः, न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणोऽर्थं सत्यं भवति भ्रमाभाव  
 प्रसङ्गात् । नयनपक्षमादेस्तत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात् गगनतलावलम्बितया पुरं स्थितया केशो  
 ण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात् । न ह्यन्यदन्यत्रान्यथा प्रत्यक्षं शक्यम् । अथ नयनकेशा एव तत्र  
 तथाऽस्त्योऽपि प्रतिभासन्ते तर्हि तद्विहितस्य कामलिनोऽपि तत्प्रतिभासाभावः ।—प्रमेयक० पृ० २३३ ।  
 (३) ‘स्वपरग्रहणलक्षणं हि ज्ञानम् तत्र च यथा सत्याभिमतज्ञानं स्वपरग्राहकं तथा केशोण्डुकादि  
 ज्ञानमपि । एतावास्तु विशेषं किञ्चित्सत्परं गृह्णाति मत्वादसद्भावात्, किञ्चिदसद्विसवादात् ।—  
 प्रमेयक० पृ० २३५ । (४) सत्यज्ञानम् । (५) असत्यज्ञानम् । (६) सत्परत्व-असत्परत्वग्रहणमात्रण ।  
 (७) सत्याऽसत्यज्ञानयोः ।

1—यत् व० । 2 ‘ज्ञानम्’ नास्ति श्र० । 3 इत्युप-व० । 4-पक्षादि-श्र० । 5-सम्बन्धस्य श्र० ।  
 6 बुध्यते हि लोचनपक्षमाद्यपायेऽपि व० । 7 नचान्यस्यस्य व्यभिचारोऽति-व० । 8 स्वरूपपरप्रका-  
 शः । 9 विसवादासमत्वात् श्र० ।

दिभिर्व्यभिचारो न स्यात्, तात्वादिदण्डादिजनितात् शब्दघटादेः तद्विपरीतस्य विद्युदादे-  
रन्यत्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । तथाप्यत्र व्यभिचारे  
प्रकृतेऽपि सोऽस्तु विशेषाभावात् ।

‘तिमिर’ इत्यादिना परमतमाशङ्कते—तिमिरादीना द्वन्द्व, पुनः आदिशब्देन  
वहुव्रीहिः । आदिशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तेन एकत्र आदिशब्देन कामलादि-  
सकलेन्द्रियदोषपरिग्रहः, अन्यत्र दृढप्रहारादिस्वीकारः, इतरत्र अश्चयानाद्युपादानम्,  
अपरत्र कोद्रवाद्युपयोगग्रहणम् । तद्वेतुत्वे अङ्गीक्रियमाणे कर्मर्थं किं प्रयोजनम् अर्थः  
पुष्पाति इति एवं मृग्यं न कञ्चिदित्यर्थः । कुत एतदित्यत्राह—‘सत्यज्ञानेऽपि’ इत्यादि ।  
न केवलमसत्यज्ञाने अपि तु सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्यभावस्य, कथम्भूतस्य ? इन्द्रिय-  
मनोगतस्य । इन्द्रियगतस्य तिमिराद्यभावस्य, मनोगतस्य सङ्क्षोभाद्यभावस्य, इन्द्रि-  
यमनोगतस्य आशुभ्रमणाद्यभावस्य कारणत्वात् इन्द्रियादिकमेव च तद्विविक्तं तदभाव  
इति मन्यते, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य । यथा च अन्यत एवोत्पन्न सशयादिज्ञानम्  
असतोऽकारणस्य अर्थस्य ग्राहक तथा सतः सत्यज्ञानमिति सूरेरभिप्रायः । उपसहार-  
माह—‘तत्’ इत्यादि । यस्मादुक्तप्रकारेण अर्थस्य विज्ञान प्रति कारणत्व नोपपद्यते ततः  
सुभाषितम्—इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो घटादिर्विषयः परिच्छेद्य इति ।

ननु च इन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निकर्षव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्ते तस्मिन्  
सत्येव उत्पत्ते तस्यैव तत्र साधकतमत्वोपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम् इत्याशङ्का-  
पनोदार्थमाह—

संनिधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।

कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥ ५५ ॥

विवृतिः—सन्निकर्षादियः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसाययन्ते न च तैर्बुद्धिः  
प्रागनध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद् बुद्धेरन्वेपणम् ? आत्ममनइन्द्रियार्थानां

(१) तिमिरे । (२) आशुभ्रमण । (३) नोयाने । (४) सक्षोभे । (५) तिमिरादिरहितम् ।  
(६) तिमिराद्यभाव । (७) इन्द्रियादिदोषात् । (८) तुलना—‘अनेन (किशोण्डुकज्ञानेन) व्यभिचा-  
रात् सशयज्ञानेन च । न हि तदर्थे सत्येव भवति अभ्रान्तत्वानुपज्ञात्, तद्विषयभूतस्य स्थानुपुरुषलक्ष-  
णार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावसम्भवाच्च ।”—प्रमेयक० पृ० २३४ । (९) अकलङ्कदेवस्य । (१०) सन्निक-  
र्षस्यैव । (११) बुद्धौ । (१२) ‘अध्यवसायिनी निश्चायिका । का ? बुद्धिर्ज्ञानमेव । कस्य ? सन्निधेरपि  
सन्निकर्षस्यापि न केवलमर्थस्योत्पत्तिशब्दार्थं । केयाम् ? इन्द्रियार्थानाम्, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि  
अर्थाश्च रूपादय तेयाम् । न केवल सन्निधेरपि तु अन्वयव्यतिरेकयोश्च सन्निकर्षस्य भावाभावयोश्च ।  
तथा कार्यकारणयोश्च । कार्यं सन्निकर्षं । कारणमिन्द्रियादि । तयोश्च बुद्धिरेवाव्यवसायिनी । तत  
संब प्रमाणं न सन्निकर्षादि तस्य प्रमेयत्वात् ।”—सूची० ता० पृ० ७७ ।

1 न किञ्चिदि-आ०, थ० । 2 सङ्क्षोपाद्यभा-थ० । 3 अर्थग्राह-थ० । 1-यथा बुद्धे-ज० वि० ।  
5 आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणाम् ई० वि० ।

कारणानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुस्त्वबोधः । कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति चिन्त्यम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः । आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

कार्यकारणयोश्चापि इत्यपिशब्दः सन्निधेः इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थो जायते—न केवलमर्थस्य क्तिन्तु सन्निवेरपि सन्निकर्षस्यापि बुद्धिरं-

कारिकार्यं—  
ध्यवसायिनी । केषां तस्यै इत्याह—इन्द्रियार्थानाम् । तथा अन्वयव्यतिरेकयोः सन्निधेर्भावाभावयोः बुद्धिः अध्यवसायिनी । न केवलमनयोः अपितु कार्यकारणयोश्च, कार्यं सन्निकर्षः कारणम् इन्द्रियादि । यदि वा, कार्यं ज्ञानम्, कारणं सन्निकर्षः तयोश्च बुद्धिरध्यवसायिनी । एतदुक्तं भवति—सन्निकर्षादिसद्भावेऽपि यावद् बुद्धिर्नोत्पद्यते तावत्तस्य तद्व्यवसायव्यतिरेकयोः तत्कार्यकारणभावस्य अन्यस्य वा न व्यवस्था, बुद्धिकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात् । उत्पन्नायां तु तस्यै अन्यपेक्षामन्तरेणैव तत्त्वव्यवस्थेति, अतः सर्वैः साधकतमत्वात् प्रमाणं न सन्निकर्षादि ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘सन्निकर्ष’ इत्यादि । सन्निकर्ष आदिर्येषाम् अन्वयव्यतिरेकादीनां ते तथोक्ताः, कारणान्तरात् इन्द्रियमनोदक्षणाद् उत्पन्न-

विवृतिव्याख्यानम्—  
या बुद्ध्या अध्यवसायन्ते । न च नैव तैः सन्निकर्षादिभिर्बुद्धिः अध्यवसायते । कुत एतदित्याह—‘प्राग्’ इत्यादि । प्राक् बुद्ध्युत्पादात् पूर्वम् अनध्यवसायात् सन्निकर्षादीनां बुद्धिविषयव्यवसायरहितत्वात् । तदनभ्युपगमे दूषणमाह—‘अन्यथा’ इत्यादि । अन्यथा अन्वेन प्रागध्यवसायप्रकारेण कैमर्थक्याद् बुद्धेः अन्वेषणम् । बुद्धेरिय अन्यस्यापि सन्निकर्षादिभ्यः एव सिद्धेः । न चैवम्, अतो बुद्धेरेव सर्वत्र साधकतमत्वात्प्रामाण्यमित्यभिप्रायः । यत्पुनरेतत्—‘आत्मा मनसा युज्यते,

(१) तुलना—‘आलाकेनापि जल्पत्वे नालम्बनतया भिद (विद) । किन्त्विन्द्रियवलाघानमात्रत्वेनानुमन्यते ॥’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१८। ‘नार्थालोको कारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्केषोण्डुकज्ञानवत्कञ्चरज्ञानवच्च ।’—परीक्षा० २।६,७ । ‘नार्थालोको कारणमव्यतिरेकात् ।’—प्रमाण० १।१२५ । (२) सन्निकर्षस्य । (३) सन्निकर्षस्य । (४) सन्निकर्षबुद्धघोरान्वयव्यतिरेकयोः । (५) इन्द्रियसन्निकर्षयोः सन्निकर्षज्ञानयोर्वा कार्यकारणभावस्य । (६) बुद्धौ । (७) बुद्धि । (८) यदि बुद्ध्युत्पादमन्तरेणापि सन्निकर्षादि अर्थपरिच्छेदक स्यात्तदा । (९) ‘तच्चेदप्रत्यक्ष चतुष्टयत्रयद्वयसन्निकर्षात्प्रवर्तते । तत्र बाह्ये रूपादौ विषये चतुष्टयसन्निकर्षाज्ञानमूल्यघते आत्मा मनसा सयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति । मुक्तादौ तु त्रयसन्निकर्षाज्ञानमूल्यघते तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात् । आत्मनि तु योगिनो द्वयोरात्ममनमोरेव सयोगाज्ञानमूपजायते तृतीयस्य

तमिदम्—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० १४० ।

कारणमकारण वा कथं ब्रूयुः । कथं तस्य उत्पन्नं ज० वि० । २ तत्कारणतया ई० वि० । ३—रव्यवसा—४०। ४ अव्यव—४०। ५ कार्यं आ०, थ० । तावन्न तस्य थ० । ७ अन्यपि जा० ।

मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन” [न्यायप्र० पृ० ७४] इति तत्राह—‘आत्मन’ (त्ममन) इत्यादि । आत्मनो मनसा मनस इन्द्रियैः इन्द्रियाणामर्थेन । कथम्भूतानाम् ? अतीन्द्रियाणाम् इन्द्रियातिक्रान्ताना यः सन्निकर्षः स दुरवबोधः ज्ञातुमशक्यः । अतः कथं केन प्रकारेण तस्य सन्निकर्षस्य विज्ञानोत्पत्तौ अङ्गीकरणम् ? इति एव चिन्त्यम् । तदुक्तं-  
 श्रिञ्जानुत्र शक्यते न तत् ज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वेन प्रेक्षायता अङ्गीकर्तव्यम् यथा सर- 5  
 त्रिपाणम्, कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञानुत्र शक्यते च सन्निकर्षादिरिति । यथा चासौ कुतश्चिदपि प्रमाणात् ज्ञानुमशक्यः तथा प्रत्यक्षपरिच्छेदे<sup>३</sup> प्रपञ्चतः प्रतिपादितम् । भैवत्कल्पितश्च आत्मा मन इन्द्रियमर्थश्च निरंशादिरूपो यथा नोपपद्यते तथा विषय-  
 परिच्छेदे सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अतः कस्य केन सन्निकर्षः स्यात् ?

एवम् ‘संशयादिविदुत्पादः’ इत्यादिना अर्थव्यतिरेके ज्ञानव्यतिरेकाभावं 10  
 प्रतिपाद्य साम्प्रतम् अर्थान्यग्रहणाभावं दर्शयितुमाह—‘प्राग्’ इत्यादि । प्राक् पूर्वं विज्ञानो-  
 त्पत्तेः अर्थमनवबुद्ध्यमाना नैयायिकादयः कारणमकारणमेव वार्थं विज्ञानोत्पत्तेः कथम्  
 न कथश्चिद् ब्रूयुः । एतदुक्तं भवति—यथा अग्निदर्शनानन्तरं धूमदर्शनं तथा यदि अर्थदर्श-  
 नानन्तरं ज्ञानदर्शनं स्यात् तदा स्यादर्थकार्यं तत्, न चैवमस्ति । ननु तदुत्पत्तेः पूर्वं प्राहका-  
 भावान्न तत्रै कारणाकारणविभागप्रतिपत्तिः तदुत्पत्तौ तु भविष्यति, इत्यत्राह—‘उत्पन्नम्’ 15  
 इत्यादि । उत्पन्नं लब्धात्मलाभं हि स्फुटं विज्ञानम् अर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारण-  
 तयाः । अधुना आलोकस्य ज्ञानकारणतां निराकुर्वन्नाह—‘आलोकोऽपि’ इत्यादि । न केव-  
 लम् अर्थादिः, किन्तु आलोकोऽपि न कारणम् ‘विज्ञानोत्पत्तेः’ इति सम्बन्धः । कुत एत-  
 दित्याह—परिच्छेद्यत्वात् । प्राक् प्रसाधितं दृष्टान्तमाह—‘अर्थवत्’ इति । अर्थ इव अर्थवत् ।  
 ननु यद्यालोकः तदुत्पत्तेः कारणं न स्यात्तर्हि तदभावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तिः 20  
 कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—

तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ।

। तमो निरोधि वीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ॥

(१)

(२) पृ० २० ।

(३) नैयायिककल्पित । (४) ज्ञानम् । (५) अर्थे । (६) प्राहकभूतज्ञानस्योत्पत्तौ । (७) आलोकका-  
 रणतावादी बौद्ध, तथा च तदग्र-थ—“यथा इन्द्रियालोकमनस्कारा आत्मैन्द्रियमनस्कारा वा रूपज्ञानमेक  
 जनयन्ति”—प्रमाणवा० स्ववृ० १।७५ । (८) आलोकाभावेऽपि । (९) ‘वीक्षन्ते विशेषेण नीलादिरूपतया  
 पश्यन्ति । क ? ईशका चक्षुमन्तो जना । किम् ? तमोज्ज्वलकार पुद्गलपर्यायम् । किंविशिष्टम् ?  
 निरोधि प्रमेयान्तरतिरोधायकम् । पुनर्न वीक्षन्ते । किम् ? पर घटादिकम् । कथम्भूतम् ? वृत्तम्  
 आच्छादितम् । केन ? तमसा । तत कथमालोको ज्ञानकारण तदभावेऽपि तदुत्पत्तेरिति । अस्मिन्नर्थे  
 दृष्टान्तमाह—इव यथा कुडधादिकमीक्षन्ते ईशका कुडधादितिरोहित पुनर्यथादिकं नक्षन्ते तथा तमो  
 वीक्षन्ते तदावृतं तु पर नैक्षन्ते इति ।—लघी० ता० पृ० ७७ । उद्बोधोऽयम्—सिद्धिबि० टी० पृ०  
 १८७ B । ‘तमोनिरोध घटादिक ।’—सम्मति० टी० पृ० ५४४ ।

१ एतस्य व० । २ घ कुत—व० । ३—चिदुत्पत्ता—थ०, व० । ४ प्राक्साधि—आ० । ५ वीक्षन्ते आ० ।



विवृतिः—नहि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकं तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभावहेतुः स्यात् । अर्वाग्भागदर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्तमोवत् । प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरणं

5 तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ।

तमः अन्धकार वीक्षन्ते विशेषेण अवाध्यमानतया प्रस्फुटरूपतया वा

विरिकार्यं— ईक्षन्ते पश्यन्ति जनाः । कथम्भूतं तत् ? इत्याह—निरोधि प्रच्छादकम् । तथा च आलोकाभावेऽप्युपजायमानं तज्ज्ञानं कथं

तत्कार्यं स्यात् ? यैदभावेऽपि यदुपजायते न तत् तत्कार्यम् यथा चक्षुषोऽभावेऽप्युपजा-  
10 यमानं रसज्ञानं न तत्कार्यम्, आलोकाभावेऽप्युपजायते च अन्धकाररूपादिज्ञानमिति ।  
अथ मतम्—आलोकस्य तज्ज्ञानाहेतुत्वे तमसि स्थितानां घटादीनां ग्रहणं स्यात्, तदयु-  
क्तम्, तस्यै तन्निरोधित्वात् । एतदेवाह—‘तमसा’ इत्यादि । तमसा अन्धकारेण  
आवृतं प्रच्छादितं परं घटादिकं न ईक्षन्ते । अत्र दृष्टान्तमाह—‘कुड्यादिकम्’  
इत्यादि । इव शब्दः यथाऽर्थे । यथा कुड्यादिकं नेक्षन्ते ईक्षकाः । कथम्भूतम् ?

15 कुड्यादितिरोहितं परेण कुड्यादिना व्यवहितं तथा प्रकृतमिति ।

नैतु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽसंभवात् कस्य तन्निरोधित्व  
ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकं स्यात् ? नहि असत् कस्यचिन्निरोधकत्वात् अथविपाणादेरपि तदप्रस-  
कणु नास्ति तमाऽथा ज्ञात् ? न च तदनुत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्यस्यास्यै असंभवोऽसिद्धः,  
न्तरमिति शालिक- सालोकेऽपि गर्भगृहादिप्रदेशे वहिर्देशादागतस्य प्रतिपत्तुः असत्य-  
नायस्य, तजाऽभाव प्यन्धकारे ज्ञानानुत्पत्तौ तमःप्रतीत्युपलब्धेः । द्रव्यान्तरत्वे त्वस्यै  
20 रूप एव तम इति त्वस्यै चक्षुषः तत्प्रकाशने आलोकानपेक्षा न स्यात् । आलोकमेव हि  
योगस्य च पूर्वपक्ष—

(१) तमोज्ञानम् । (२) आलोककार्यम् । (३) तमोज्ञानं आलोककार्यम् आलोकाभावे-  
प्युपजायमानत्वात् । (४) तमम् । (५) शालिकनाय । (६) “य पुनर्निश्चि नीलमेवाव-  
लोकयते नासौ तमम् । कस्य तर्हि ? न कस्यचित् । कय पुनर्गुणो न कस्यचित् ? सत्यम्, गुण  
एवायमप्रसिद्धः । ननु प्रतीतिबलेन सिद्ध एव । सिद्धचेद्यदि प्रसिद्धिरेव सिद्धयत्, सा तु कारणाभा-  
वान् सिद्धा । ननु चक्षुरेव कारणम्, न, आलोकीयकारानपेक्षस्य चक्षुषोऽप्रकाशकत्वात्, तेन  
अप्रतीतावेवाय प्रतीतिभ्रमो मन्दानाम् । अत एव दिवानुपलम्भ, अन्यथा मीरीभि भाभिरनुगृहीत  
चक्षु स्फुटर व्योम्नि नीलिमान प्रकाशयत् । तमसो निष्यत्यनवकल्पे, रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्य  
स्यात्, तज्ज्ञानकद्रव्यारब्ध सञ्चाक्षुष भवेत् । न च द्रव्याणि सन्ति, सन्ति चेद्दिवाप्यारभन् ।  
अन्धानामिव नीलिमाभिमानो नभस एवेत्युक्तम् ।”—प्रक० प० पृ० १४३ । “तमो नाम द्रव्यान्तरं न  
भवति, अन्धानामिव केवलं नीलिमाभिमानम् ।”—तन्त्ररह० पृ० २१ । (७) घटादितिरोधायकत्वम् ।  
(८) ज्ञानानुत्पत्तिः । (९) तमसः । (१०) तमम् । (११) तम प्रकाशने ।

1—ज्ञाने प्रति—ज० वि० । 2—ज्ञानविरो—ई० वि० । 3—विषयावाप्य—थ० । 4—न तत्का—व० ।  
5—न्ते कुड्यादि—थ० । 6—तिपरेण व० ।

चक्षुः आलोकनिरपेक्षं प्रकाशयति न द्रव्यान्तरम् । ननु तमसो [S]द्रव्यान्तरत्वे छायायाश्छत्रादेरर्थान्तरभूतायाः प्रतीतिर्न स्यात् । अस्ति चास्याः तर्थाभूतायाः प्रतीतिः ततो बीजाद्भ्रुरवत् ततोऽसौ<sup>१</sup> द्रव्यान्तरं सिद्धा । तथाभूता चासौ<sup>२</sup> सिद्ध्यन्ती तमसो द्रव्यान्तरत्वं साधयतीति; तदसमीचीनम्; आंलोकामावरूपतया अस्या द्रव्यान्तरत्वासंभवेऽपि विभ्रमवशात् तत्र तत्प्रतीतिरूपपक्षेः । तथाहि<sup>३</sup>—येन येन प्रदेशान्तरेण 5 छात्राद्यावारकद्रव्यप्रतिबद्धं तेजो न संयुज्यते तत्र तत्र छाया प्रतीयते, प्रतिबन्धकस्य आतपत्रादेरपाये तु स्वरूपेण आलोकः प्रतीयते, इत्यालोकाभाव एव छाया<sup>४</sup> । द्रव्यान्तरत्वे तु तस्यास्त<sup>५</sup>पायेऽपि आलोकेन सहावस्थितायाः प्रतीतिः स्यात् । न हि जातु किञ्चिद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण सहानवस्थायि प्रतीतम् ।

एतेन 'छाया द्रव्यान्तरं देशादेशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन क्रियावत्त्वात्' इत्येतत् प्रत्याख्यातम्, तथाहि—यत्र यत्र आतपत्राद्यावारकद्रव्येण तेजसः सन्निकर्षः प्रतिपिध्यते 10

(१) वृत्ताया पू० प्रती 'तमनोऽद्रव्या—' अयमेव पाठो भाति । (२) छायाया । (३) छात्राद् भिन्नाया । (४) छात्रात् । (५) छाया । (६) छाया । (७) "यच्चेदमुच्यते छायां तम सा चलत्वाचलत्वमहत्त्वामहत्त्वदूरत्वासत्त्वादिगुणयोगिनी वस्तुभूतेति; तदिदमप्यसारम्, अनवबल्लतेरेव । यच्चलाचलत्वादिकमुपन्यस्त तदपि स्थूलदर्शितया । तथाहि—आलोकेऽप्यवारिते छायाप्यपेयते । ततोऽप्यवारितालोकभूभागादिभावव्यतिरेकिणी न रूपावन्तरवच्छाया दृश्यते । तेन मन्यामह व्यपवारितालोकभूभागादिकमेव छायेति ।"—प्रक० प० पू० १४४। "अप्यवारितालोक केवल भूभागादिकमेव छाया ।"—तन्त्ररह० पू० २१ । "आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरंकेदेशिनः ।"—सर्वद० पू० २२९ । (८) छायायाम् । (९) छायादर्थान्तरत्वप्रतीते । (१०) "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादिभावस्तम ।"—वैश० सू० ५।२।१९ । "उद्भूतरूपवद्यावत्तेजससर्गाभावस्तम ।"—वैश० उप० ५।२।२० । (११) छात्राचपायेऽपि । (१२) "तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ।"—वैश० सू० ५।२।२० । 'द्रव्यं छाया गतिमत्त्वादिनि हतु, साध्यनाविशिष्टं साध्य तावदतत्—किं पुरपवच्छायापि गच्छति, आहोस्वित् आवारकद्रव्य ससर्पति आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यते इति ? सर्पता खलु द्रव्येण यस्तेजोभाग आत्रियते तस्य तस्यासन्निधिरैवावच्छिन्नो गृह्यते इति ।"—न्यायभा० १।२।८ । "आवारके द्रव्ये प्रसर्पति तेजसोऽसन्निधिविशिष्टं द्रव्यं यदुपलभ्यते तत्तु छायेत्युच्यते ।"—न्यायभा० १।२।८ । "भासामभावरूपत्वाच्छायाया ।"—प्रश० व्यो० पू० ४६ । "न तावच्छाया सामान्यविशेषसमवायान्तर्भूता; अनित्यत्वात्तस्या । नापि कर्म, सयोगविभागासमवायिकारणत्वाभावात् । न गुणो द्रव्यासमवायात् । न मनोदिककालगुण, तद्गुणानामप्रत्यक्षत्वात् । नाप्यात्मगुण, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । नापि नभोनभस्वतो, तद्गुणानामचाक्षुषत्वात् । नापि तेजसः, तद्विरोधित्वात् तत्सहचरितगुणान्तरानुपलब्धेश्च । अत एव न पृथिवीपाथसोरपि । अपि च तद्गुणश्चाक्षुषो नालोकमन्तरेण शक्यग्रह, छाया तु तमन्तरेण गृह्यते तस्मिन्सु सति न गृह्यत इति दुर्घटम् । नापि द्रव्यम्; तद्वि पृथिव्यादीनामन्यतममेव भवेदव्यद्वा दशमम् । न तावदव्यतमम्, तद्गुणानामनुपलब्धे । नाप्यन्यद्रूपवदिति मुच्यते । तस्याद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्ते, अस्पर्शवत्त्वादनारम्भवत्त्वेनानेकद्रव्यत्वाभावात् । तस्मादभाव एव छाया न तु सतीति सिद्धम् ।"—न्यायभा० ता० पू० ३४५ । प्रश० किर० पू० १९ । श्रीधरस्तु आरोपितरूपविशेषात्मक तम स्वीकरोति । "तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्त तेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते । दिवा बोर्वं नयनगोलकस्य नीलिमावभास इति

तत्र तत्र अन्याऽन्या छायोपलभ्यते, न पुनः पूर्वदेशोपलब्धा अन्यत्र देशे, इति आवारकद्रव्यगत कर्म तत्राध्यारोप्य प्रतिपत्ता 'छाया गच्छति' इति प्रतिपद्यते, यथा अश्वान्धारुड. स्वगत कर्म वृक्षेऽध्यारोप्य 'वृक्षः आगच्छति' इति<sup>१</sup> । देशान्तरप्राप्ति-  
 5 आस्वा. देशान्तरेण सयोगः, समवायो वा ? यँदि सयोग, अन्योन्याश्रय.—तद्द्रव्य-  
 त्वसिद्धा हि सयोगसिद्धि, तत्सिद्धौ च तद्द्रव्यत्वसिद्धिरिति । अंथ समवायः, तद-  
 प्यनुपपन्नम्, एकत्र समवेतस्य द्रव्यस्य अन्यत्र समवायाऽसम्भवादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नापर तम.' इत्यादि,

तदसमीक्षिताभिधानम्, प्रतीतिविरोधात् । सुप्रसिद्धा हि आलोक-

तमशब्दायथा पुद्गल  
 द्रव्यवसिद्धि -

तमसो स्वस्वरूपेण अन्योन्यत्रिलक्षणयो. प्रतिप्राणि प्रत्यक्षतो विल-

10 क्षणा प्रतीति. । न च विषयवैलक्षण्यव्यतिरेकेण प्रतीतिवैलक्षण्य युक्तम्,

पुर्राद्यद्वैतसिद्धिप्रसङ्गतो भेदवादोच्छेदप्रसक्ते । तमनिच्छता प्रतीतिवैलक्षण्य विषय-

वैलक्षण्यपूर्वक प्रतिपत्तव्यम् । प्रयोग.—तत्प्रतीतिवैलक्षण्य विषयवैलक्षण्यपूर्वक तत्त्वात्

घटपटादिप्रतीतिवैलक्षण्यवत् । भावाभावरूपविषयवैलक्षण्यपूर्वकत्वेन आलोकतम -

प्रतीतिरिष्टत्वात् सिद्धसाध्यता, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, तमसो रूपादिमत्त्वेन आलो-

15 कवद् अभावरूपत्वानुपपत्तेः । तद्रूपत्वे वा रूपादिमत्त्वविरोधात् ।<sup>२</sup> योऽभावो नासौ

रूपादिमान् यथा घटाद्यभावः, आलोकाभावरूपतयेष्टञ्च तम इति । न चास्य रूपादि-

मत्त्वमसिद्धम्, आलोकवत् तत्रापि तत्सद्भायप्रतीते. । यथैव हि आलोके भासुर रूपम्

वक्ष्याम । यदा तु नियतदशाधिकरणो भासापभावस्तदा तद्दशसमारोपिते नीलिम्नि छायात्यवगम । अत

एव दीर्घा ह्रस्वा महती अल्पीयसी छायात्यभिमान तद्दशव्यापिन नालिम्न प्रतीते ।<sup>३</sup>—प्रश० कव० पृ०

९ । तथाहि—यत्र यत्र वारकद्रव्येण तेजस सन्निधिनिविध्यते तत्र तत्र छायाति व्यवहार । वारकद्रव्यग

ताञ्च क्रियाम आतपाभाव समारोप्य प्रतिपद्यते छाया गच्छतीति अयथा वारकद्रव्यगत क्रियापेक्षित्वं

न स्यात् ।—प्रश० व्यो० पृ० ४७। यत्तु तेज प्रतिरोधि द्रव्य तद्यथा यथा सञ्चरति तथा तथाऽऽशोक

प्रतिमुच्यते प्रतिरुध्यते चेति चलतीव छाया प्रतिभाति अ यथा शरीरेऽपि चलति किमिति छायाऽपि

चलत् हेत्वभावात् ।—प्रक० प० पृ० १४४ ।

(१) तेजोऽभावे । (२) प्रतिपद्यते इति शय । (३) छायाया । (४) यच्चेद देशान्तरप्रा

प्तिमत्त्व तत्किं देशान्तरेण सयोग तस्यापि माध्यत्वात् । तथाहि—द्रव्यत्वसिद्धौ सयोग सिद्धवति

सयोगात् द्रव्यत्वमिति इतरेतराश्रयत्व स्यात् ।—प्रश० व्यो० पृ० ४७ । (५) 'अथ देशान्तरप्राप्ति

ममवाय सो प्यसिद्ध । न ह्यकत्र समवेत अन्यत्र समवति । छाया त्वेकत्र सम्बद्धोपलब्धा पुनर्देशान्त

रेष्युपलभ्यते । न च क्रियावत्त्व देशान्तरसमवायात् सिद्धवति तस्याप्ययुतसिद्धत्वेव भावादिति ।—

प्रश० व्यो० पृ० ४७। (६) पृ० ६६६ प० १६। (७) तुलना— अत एव नालोवज्ञानाभाव, अभावस्य

प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गान् ।—सबद० पृ० २३० । न चाप्रतीतावेव प्रती

तिभ्रम तदव्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्त ।—चित्तु० पृ० २९ । (८) आशोकतमसो

प्रतिभासभद । (९) नैयायिकवैशेषिकादयः । (१०) कृष्णरूपगीतस्वाचरुनादिक्रियागालित्वेन ।

(११) अभावरूपत्वे वा । (१२) तमो न रूपादिमत्त्व अभावरूपत्वात् । (१३) तमस्यपि ।

उष्णस्पर्शश्च लोके प्रसिद्धः तथा छायादितमसि कृष्णं रूपं शीतस्पर्श इति । ततो द्रव्यं तमः गुणवत्त्वात्, यद् यद् गुणवत् तत्तद् द्रव्यम् यथा आलोकादि, गुणवच्च तम इति । न केवलं छायादेर्लोक एव गुणवत्त्वं प्रसिद्धम्, अपि तु वैद्यकशास्त्रेऽपि । तदुक्तम्—

“आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुरशीतला ।

कषायमधुरा ज्योत्स्ना सर्वव्याधिहरं ( करं ) तमः ॥” [ राजनि० ]

( १ ) जैना हि तमः पुद्गलद्रव्यात्मक स्वीकुर्वन्ति, तथाहि—“गोयमा दिया मुभा पोग्गला मुभे पोग्गलपरिणामे, राति अमुभा पोग्गला अमुभ पोग्गलपरिणामे ।”—भगवतीसू० ५ । ९ । २२४ । “सद्बुध-यारउज्जोओ पहा छायातवे इ वा । वण्णरसगघफासा पुग्गलाण तु लक्खणम् ॥”—उत्तरा० २८।१२ । नवतत्त्व० गा० ९ । “शब्दबन्धसौदम्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।”—तद्वार्थसू० ५।२४ । “सद्दो बन्धो मुद्दमो थूलो सठाण भेद तम छाया । उज्जोदादवसहिया पुग्गलदब्बस्स पज्जाया ।”—द्रव्यसं० गा० १६ । वैयाकरणास्तम अणुरूप स्वीकुर्वन्ति—“अणवः सर्वशक्तिवाद् भेदससर्गवृत्तय । छायातपतम-शब्दभावेन परिणामिन ।”—वाक्यप० १।१११ । अन्यान्यपि तमसो द्रव्यरूपतामुरीकुर्वन्ति मतान्तराणि—“तमोदर्शनं तु भूच्छायादर्शनम् । कतमत्पुनर्द्रव्यादीना तम ? ननु द्रव्यमेव कालिमगुणशालित्वात् स्पन्दवत्त्वाच्च । तथाहि—कालिमैवाऽयं रूपमुपलभ्यते अप्लेजसोरिव श्वेतिमा । एव सख्याप्येकत्वादिका, परिमाण तच्चतुर्विध पृथिव्याद्यणूनामिव तमोऽणूनामप्यनुमानात्, पृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराश्च । पञ्चविधमपि कर्म अध्यक्षमीक्षते । यथाहान् भवन्वातिककार —ननु नाभावमात्रस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मत्तम् । छायाया कार्ण्वमित्येव पुराणे भूगुणधृते ॥ भूगुणस्य कार्ण्वस्य छायाया द्रव्यान्तश्च्युते-रित्यर्थं । दूरसप्तप्रदीपादिदेहेत्पेष्टानुसारिणी । आसप्तदूरदीपादिमहदल्पबलाञ्चला । दहानुर्वतिनी छाया न वस्तुत्वादिना भवेत् ॥ इति । न च पृथिव्यादीमनान्यतमम् \* तस्मात्प्रत्यक्षसिद्धममति बाधके द्रव्यान्तरमेकादश तमो नवगुण चेति सिद्धम् । नादृष्टो दर्शन छाया नवाऽभावोऽस्मृती गते । ह्यादुपायसद्भावान् द्रव्य द्रव्यान्तरानुगम् ।”—विधिवि० टी० पृ० ७६-७९ । ‘किमिदं तमो नाम ? द्रव्यगुणकर्मनिपत्तिवैषम्याद् भाभावस्तम इति काश्यपीया ; तथा तु नीलबुद्धिनिमित्ता स्यात् अभा-सस्य नीलिमाभावात् । न चासतो नीलिम्न किञ्चिद् ग्राहक स्मारक वाऽस्ति । आलोकादर्शनमात्रेण तु तद्भ्रमो भवस्तच्छून्यभागेऽपि स्यात्, अतो द्रव्यान्तरमिदं वायुवस्रीलिमगुणम्, वायुस्वरूप स्पर्शवान् इदञ्चाऽस्पर्श रूपवदित्येनावान्विशेषः । अथवा, य एते पार्थिवस्त्रसरेणवो दातायनविचरेषु दृश्यमाना सर्वतो भ्रमन्ति तेषां ये नीलगुणका तद्गतमिदं नीलरूपं गृह्यमाण गुणान्तराणां द्रव्यान्तराणाञ्च तदन्तरालस्य च अग्रहणाद् व्याप्ताखिलब्रह्माण्डवच्चकारित । नीलरूपग्रहणे चालोकापेक्षा नास्तीति दर्शनबलादभ्युपगम्यते ।”—मी० श्लो० व्याख० पृ० ७४० । “तमालक्ष्यमलज्ञाने निर्वर्धे जाग्रति स्फुटे । द्रव्यान्तरं तमं कस्मादकस्मादपलप्यते ॥”—चित्तु० पृ० २८ । “अस्पर्शवत्त्वे सति रूपवत्तम । गच्च नेत्रेन्द्रियमात्रग्राह्यमालोकाभावप्रकाश्यं कृष्णरूपम् । कलायकोमलच्छायं दर्शनीयं भृगं दृशाम् । तमः कृष्णं विजानीयादागमप्रतिपादितम् ॥ गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासत । प्रतियोग्यस्मृतेर्द्वैव भावरूपं ध्रुव तमः ।”—मानमेयो० पृ० १५९ । ( २ ) “आतपं कटुको रुक्षः स्वेदमूर्च्छात्पावह । दाहवैषम्य-जननी नेत्ररोगप्रकोपन ॥ छाया दाहध्रमस्वेदहरा मधुरशीतला । ज्योत्स्ना कषायमधुरा दाहामृक्चित्त-नाशिनी । तमो भयावहं निवृत्तं दृष्टितेजोविरोधनम् ।”—राजव० ५।२२ । “आतपं त्रिदोषघ्ननी ज्योत्स्ना सर्वव्याधिकरं तमं”—राजनिघ० । उद्धृत्तोऽयम्—“आतपं कटुको रुक्षः छाया मधुरशीतला ।”—प्रज्ञाव्यो० पृ० ४६ । स्या० १० पृ० ८५५ । “छाया मधुरशीतला”—सम्मति० टी० पृ० ६७२ ।



किञ्च, ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण अपरस्य तमसोऽनभ्युपगमे विशदज्ञानोत्पत्ति-  
व्यतिरेकेण अन्यस्य आलोकस्यापि अभ्युपगमो मा भूत् । असत्यपि हि आलोके वहलान्-  
न्धकारनिशीथिनीसमये नक्तञ्चराणाम् अञ्जनाभिसंस्कृतचञ्चुपाञ्चं प्रस्फुटज्ञानोत्पत्तौ सप्र-  
काश सैकलं वस्तु प्रकाशते । लोकप्रतीतिवाधा उभयत्र तुल्या । यथैव हि 'मध्याह्ने अति-  
तीत्रालोके वहिर्गन्तुमसमर्थाः' इति लौकिकी प्रतीतिः । तथा 'वहलान्धकाराया रात्रौ वहिर्गन्तु  
त्रस्ताः' इत्यपि । ततो निर्वाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वेन आलोकरद्रव्यस्य वास्तवत्वाभ्युपगमे  
तमोद्रव्यस्यापि तदभ्युपगन्तव्य विशेषाभावात् ।

तथा, द्रव्यं छायायन्धकारं घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत् । गतिमत्त्वा-  
च्चासौ वाणादिवत् द्रव्यम् । न च गतिमत्त्वमसिद्धम् ; 'वेगेन छाया गच्छति' 'शनै-  
श्छाया गच्छति' इति प्रतिप्राणि प्रसिद्धप्रतीतिः । तस्या त्वसिद्धेः । अनुमानाच्च ;  
तथाहि—गतिमती छाया देशदेशान्तरप्राप्तिमत्त्वात् वाणादिवत् ।

यदप्यभिहितम्—'देशान्तरप्राप्ति देशान्तरेण सयोग समवायो वा' इत्यादि; तत्र  
देशान्तरेण अस्या प्राप्तिः सम्बन्धोऽभिप्रेत, सै च सयोग एव पर्यवस्यति । न चैवम-  
न्योन्याश्रयत्वम्, अतश्छायाया द्रव्यत्वाऽप्रसाधनात् । देशान्तरप्राप्तितो हि तस्या गति-  
मत्त्व प्रसाध्यते, तस्माच्च द्रव्यत्वमिति । न चैव चक्रकप्रसक्तिरित्यभिधातव्यम्, तत्प्राप्तेः  
प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धस्वरूपत्वात् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या त्वप्राप्तिः प्रसाध्येत ततश्च  
गतिमत्त्वं तदा स्याच्चक्रकम् । कथमन्वधा 'गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात्'  
इत्यादावपि इतरेतराश्रयादिदोषानुपपन्नो न स्यात् ?

(१) 'यद्यवमालोकस्वाप्यभाव स्यात् विशदज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य अस्याप्यप्रतीते । तद्व्य-  
वहारस्तु लोके विनादज्ञानोत्पत्तिमात्र ।'—प्रमेयक० प० २३८ । (२) पुरुषाणान् । (३) तुल्या-  
'तमस्तावत्पुद्गलपरिणाम दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत् ।'—तत्त्वार्थ-  
भा० व्या० पृ० ३६३ । 'तमो भावरूप घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत् । नचास्य घटाद्यावारकत्व-  
मसिद्धम्, विषयाभिमुखप्रवर्तमानजननव्यापारनिरोधित्वात्तद्वेवत्यतस्तत्सिद्धे ।'—स्या० २० पृ० ८५, ११ ।  
(४) छाया द्रव्य क्रियावत्त्वात् कुम्भवत् ।'—स्या० २० पृ० ८५३ । (५) छायायाः । (६) गतिमत्त्व ।  
(७) 'अनुमानावसयमपि, तथाहि—गतिमती छाया देशदेशान्तरप्राप्तिमत्त्वान्मेववदिति ।'—स्या०  
२० पृ० ८५३ । (८) पृ० ६६८ प० ३ । (९) 'यतोऽत्र छायाया देशान्तरेण प्राप्ति सयोगोऽभि-  
धीयते । यत्र वास्परतरेतराश्रयोद्भावन तदनुसन्धानशून्यतावशात् । न हि देशान्तरप्राप्तिमत्त्वाद् द्रव्यत्व  
प्रसाधयितुमुच्यता स्म, किन्तु गतिमत्त्व तस्मात् द्रव्यत्वमिति ।'—स्या० २० पृ० ८५४ । (१०)  
सम्बन्ध । (११) देशान्तरप्राप्तिरूपसयोगात् । (१२) गतिमत्त्वाच्च । (१३) 'नन्वेवमपि महतरे  
चक्रकसकटे यय पतिता । तथाहि—देशान्तरसयोगात् क्रियावत्त्वम्, क्रियावत्त्वात् द्रव्यत्वम्, द्रव्यत्वात्  
देशान्तरसयोगवत्त्वमिति, उस्त्वप्यायितमतत्, देशान्तरप्राप्ते प्रत्यक्ष एव छायाया प्रसिद्धस्वरूप-  
त्वात् । यदि हि द्रव्यत्वसिद्ध्या देशान्तरप्राप्ति प्रसाध्येत तदा स्यात्तदूपपणम् । प्रत्यक्षपति सिद्धेन  
देशान्तरप्राप्तिमत्त्वेन सिद्धात् क्रियावत्त्वासिद्ध छायाया द्रव्यत्वम् ।'—स्या० २० पृ० ८५५ ।  
(१४) देशान्तरप्राप्ति ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘आवारकद्रव्यगतं कर्म छायायामध्यारोप्य ‘छाया गच्छति’ इति प्रतिपद्यते’ इत्यादि; तदप्यपेशलम्; छायाया असत्त्वे तत्र आवारकद्रव्यगताया गतेरा-  
रोपानुपपत्तेः । सत्येव हि वृक्षादौ अश्वारारूढः पुरुषः स्वगतं कर्म तत्रै अध्येगोपयति  
नासति इति, अतः तदध्यारोपान्यथानुपपत्तेः छायाया वास्तव सत्त्व सिद्धम् । प्रयोगः—  
छाया परमार्थसती अध्यारोप्यमाणगतिस्त्वात्, यद् अध्यारोप्यमाणगति तत् परमार्थसत्त्वं  
यथा वृक्षादि, अध्यारोप्यमाणगतिश्च छाया इति । तन्न ज्ञानानुत्पत्तिमात्र तमः ।

ननु सिद्धस्यापि द्रव्यान्तरभूतस्य तमसः चक्षुर्ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादयुक्तमुक्तम्—

‘तमो निरोधि वीक्षन्ते’ इत्यादि; तदसाप्रतम्; यतः तैरिक्तं  
विवृतिव्याख्यानम्— स्वात्मनि तत्रप्रतिबन्धकम्, अन्यत्र या ? तत्रापक्षे—‘नहि’ इत्यादिना

दूषणमाह—नहि नैव तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिपेधकं ‘स्वात्मनि’ इत्यध्याहारः । कुत एतदि-  
त्याह । तमोविज्ञानाभावात्प्रसङ्गात्, अस्ति च तज्ज्ञानम्, अतो न तत् तत्रप्रतिपेधकम् ।  
प्रयोगः—यद् यज्ज्ञानस्य विषयो न तत् स्वात्मनि तज्ज्ञानस्य प्रतिपेधकम् यथा काण्डप-  
टादि, चक्षुर्ज्ञानस्य विषयश्च तम इति । अथ अन्यत्र घटादौ न स्वात्मनि, तत्  
तद्विज्ञानाभावहेतुरिति चेत्; तर्हि आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोव-  
दभावहेतुः स्यात् । चक्षुर्विज्ञानस्य अभावः अनुत्पत्तिः उत्पन्नस्य वा प्रध्वंसः, तस्य  
हेतुः कारणं स्याद् भवेत् । तर्था च ‘तज्ज्ञानं चक्षु रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वाद्  
आलोककत्वं’ इत्यत्र प्रयोगे सौम्यनविकलो दृष्टान्तः । अथ आलोकः तमोविज्ञानाभावहेतुः  
स्वरूप-घटादिविषयज्ञानहेतुश्चेत्येते, तर्हि तमोऽपि घटादिविषयज्ञानाऽहेतुः स्वरूपविषय-  
विज्ञानहेतुश्चेत्येतामविशेषात् । अथ आलोके सत्येव केपाञ्चिद् रूपज्ञानोत्पत्तेः तदभावे  
चानुत्पत्तेः अस्मिन् तद्वेतुः, तर्हि तमसोऽप्यभावे केपाञ्चिदज्ञानानुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव

(१) पृ० ६६८ प० २ । (२) छायायाम् । (३) वृक्षादौ । (४) आवारकद्रव्यगतगत्यारोपा-  
न्यथानुपपत्तेः । (५) “भावरूपा छाया अध्यारोप्यमाणगतिस्त्वात् वृक्षवत् ।”—स्या० २० पृ० ८५४ ।  
(६) “तमो वृष्टिप्रतिबन्धकारण प्रकाशविरोधि ।”—सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्रार्थभा० व्या० ५।२४ ।  
(७) तम । (८) ज्ञानप्रतिबन्धकम् । (९) स्वात्मनि ज्ञानप्रतिपेधकम् । (१०) तमो न स्वचाक्षुप-  
ज्ञानप्रतिरोधकम् चाक्षुपज्ञानविषयत्वात् । (११) तमः । (१२) तुलना—“प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधाय-  
कतमोऽपनेतृत्वे तज्ज्ञानं चक्षु रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति साधनविकलत्वात्  
दृष्टान्तस्य निरस्त द्रष्टव्यम् ।”—पद्मति० टी० पृ० ५४४ । (१३) न्यायकु० पृ० ७६ टि० २ ।  
(१४) आलोको हि न तमसो रूपस्य प्रकाशक अत म ‘रूपादीना मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्’  
इति साधनमन्य । (१५) स्वस्य आलोकस्य रूपम् भानुराह्वयम् । (१६) तमोविषयक । (१७)  
अस्मदादीनाम् । (१८) आलोक । (१९) रूपज्ञानहेतु । (२०) तमोज्ञान । (२१) तमसि ।

1 अस्तपत्त्वे व० । 2-य कर्म आ०, व० । 3-ज्ञानाप्रति-ध० । 4 आलोकेऽपि ध० ।

5 तमोज्ञाना-आ० । 6 घटादिज्ञानहेतु आ०, व० । 7 केपाञ्चिदज्ञाना-आ०, व० ।

उत्पत्तेः तदपि तद्वेतुः स्यात् । तथा च 'रूपादीना मध्ये रूपादीना प्रकाशकत्वात्' इत्ययं हेतुः तमसाऽनैकान्तिकः, तस्याऽतेजसत्वेऽपि रूपप्रकाशकत्वात् ।

पुनरपि तमसैः तज्ज्ञानप्रतिषेधकत्वे दूषणमाह—'अर्वागभागदर्शिनः' इत्यादि । अर्वागभागं पश्यतीत्येव शीलस्य तदर्शिनः परभागपरिच्छेदाभावात् तस्यापि अर्वागभागस्यापि न केवलं तमस एव ज्ञाननिरोधितं स्यात्, प्रक्रमात् 'चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वं स्यात्' इति मन्यते । अत्र दृष्टान्तमाह—तमोऽतु । तमस इव तद्वदिति । तथा च तद्वद् अर्वागभागस्याप्यदर्शनप्रसङ्गाद् असर्वदर्शिनोऽन्धतैव स्यात् । यच्चक्षुर्ज्ञाननिरोधि न तत् तज्ज्ञानप्राप्त्यम् यथा तमः, चक्षुर्ज्ञाननिरोधी च अर्वागभाग इति ।

ननु मा भूत् तम आवरणं तिमिरादि तु भविष्यति इत्याह—'प्रत्यर्थम्' इत्यादि । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्, आवरणस्य ज्ञानावरणीयकर्मणो यो विच्छेदः अभावः तदपेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् अर्थप्राहकत्वात् कारणात् नावरणं ज्ञानस्य प्रच्छादकम् । किम् ? इत्याह—तिमिरादि । आदिशब्देन कामलादिपरिग्रहः । ज्ञानावरणीय कर्मैव हि नियमेन तत्रच्छादकम्, तस्मिन् सति ज्ञानस्य अर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्, न तिमिरादि तस्मिन् सत्यपि सत्यस्वप्ने रूपदर्शनसद्भावात् । इतश्च न तदावरणमित्याह—परिच्छेद्यत्वात् । अत्र निदर्शनमाह—'अर्थवत्' इति । प्रयोगः— यत्परिच्छेद्यं न तद् आवरणम् यथा अर्थः, परिच्छेद्यञ्च तिमिरादि इति । ननु तिमिरादीनामनावरणत्वे "यद्विज्ञानं स्वविषये विपर्यस्तं तत्सावरणम् यथा चक्षुर्विज्ञानं द्विचन्द्रादिगोचरम्, तथाविधञ्च मिथ्यादृशा ज्ञानम्" [ ] इत्याचार्यीयं वचः स्वाभ्युपगमविरुद्धं स्यादिति चेत्, न, अन्यथाभिप्रायात् । तमस्तिमिरादि वा अहृष्टकारणनिरपेक्षमावरणं न भवति, तत्सापेक्षं तु भवत्येव इत्ययमाचार्यस्याभिप्रायः ।

ननु च आत्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन अशेषज्ञत्वप्रसङ्गात् किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्क्यापनोदार्थमाह—

**मूलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।**

**कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥ ५७ ॥**

(१) तमोऽपि । (२) रूपज्ञानहेतुः । (३) स्वगतकृष्णरूपः । (४) चक्षुर्ज्ञानं । (५) परमावृतं, तमोवद्वा । (६) अर्वागभागो न चक्षुरिन्द्रियग्राह्यं चक्षुर्ज्ञाननिरोधित्वात् । (७) ज्ञानप्रच्छादकम् । (८) ज्ञानावरणकर्मादयः सत्येव । (९) तिमिरादि नावरणं परिच्छेद्यत्वात् । (१०) ज्ञानावरणकर्मादयः अदृष्टपदेन ग्राह्यः । (११) 'यथा स्यात् । का ? मूलविद्धमणिव्यक्तिः मूलं कालिमरेखादिभिः विद्धं स चासौ मणिवत्पद्मरागादि तस्य व्यक्तित्वेन तेजःप्रादुर्भावः । क्वम् ? अनकप्रकारतः अनके बहवः प्रकाराः विशदाविशदतूरादूरप्रकाश्यप्रकाशनविशया तानाधितयः । तथा स्यात् । का ?

1 तथा रूपा-अ० । 2-म स्वज्ञान-व० । 3 अवागभाग-अ० । 4 एव विज्ञान-व० । 5-

निरो-अ० । 6 तदर्शनप्राह्यं व० । 7 चक्षुर्ज्ञानं व०, अ० । 8 सर्वदा सर्वार्थ-अ० । 9 सर्वथा ग्रहणस्व-व० ।



विवृतिः—यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । “नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः” [ ] इति बालिशगीतम् ; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनम् आवरण-विच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलौके सत्यपि संशयादिज्ञानसंभवात् । काचाद्युप-  
हतेन्द्रियाणां शंखादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः । सुमूर्पूर्णां यथासंभवम् अर्थे  
सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्य इति स्थितम् ।

मलैर्विद्धः सम्वद्धो यो मणिः तस्य व्यक्तिः आविर्भावो यथा येन

कारिकार्थः—

विश्रंसोपयोगप्रकारेण अनेकप्रकारतः विशेषतरप्रकारम् एकदेश-  
साकल्यप्रकारं निकटदूरदेशवर्तिस्वप्रकाशप्रकाशनप्रकारम् । अन्यं

वा विषयापहारादिलक्षणमाश्रित्य, तथा तेन प्रकारेण कर्मभिः ज्ञानावरणीयादिभिः  
विद्धस्य प्रच्छादितस्य आत्मनो जीवस्य विज्ञप्तिः अर्थप्रकाशरुत्वलक्षणा अनेक-  
प्रकारतः इन्द्रियाऽनिन्द्रियाऽतीन्द्रियप्रकारम् सकलविकलसन्निकृष्टविप्रकृष्टार्थप्रकाशन-  
प्रकारम् स्वरूपोद्योतनप्रकारम् प्रत्यक्षेतरत्वप्रकारं वा आश्रित्य भवति । ननु  
पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः, कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तो वा न कश्चिदात्मा-  
ऽस्ति तत्कस्य अनेकप्रकारतो विज्ञप्तिः स्यादिति सौगत-चार्वाकौ, तौ च प्रतिपादित-  
विस्मरणशीलौ; सन्ताननिषेधावसैरे हि पूर्वोत्तरज्ञानक्षणव्यतिरिक्तः अनादिनिधनः  
प्रतिपादितः प्रमाता, चार्वाकमतपरीक्षायाञ्च कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयव्यतिरिक्तः  
इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—‘यथास्वम्’ इत्यादि । यस्य ज्ञानस्य यद् आवारकं

विवृतेव्याख्यानम्—

स्वम् आत्मीयं कर्म तस्यानतिक्रमेण यथास्वम् । कर्मक्षयोपशमा-

वपेक्षेते इत्येवं शीले तदपेक्षिणी करणमनसी इन्द्रियानिन्द्रिये  
निमित्तं विज्ञानस्य, न बहिरर्थादयः, एतच्चानन्तरमेव प्रपञ्चितम् । हृष्टे च करण-  
मनसी स्वावरणरजोनीहारादिक्षयोपशमापेक्षिणी पादपादिविज्ञानस्य निमित्तम् ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्ति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि तैराविद्ध सम्वद्धः स चासावात्मा च तस्य विज्ञप्ति-  
रथोपलब्धि । कथम् ? अनेकप्रकारत अनेके नानारूपाः प्रत्यक्षेतरदूरासन्नार्थप्रतिभासनविशेषा-  
क्षयोपशमविशेषाश्च तानाश्रित्येत्यर्थः । तदावरणविशेषनिरासे तु सकलार्थविज्ञप्तिरात्मन उपपद्यते  
एव ज्ञानस्वभावत्वात्स्येति ।—लघी० ता० पृ० ७८ । उद्धृतोऽयम्—सिद्धिचि० टी० १९३ A ।  
आव० नि० मलय० पृ० १७ । नन्दि० मलय० पृ० ६६ । इष्टोप० टी० पृ० ३० । कमण्ड० टी०  
पृ० ८ । तुलना—‘मलावृतमणेर्यन्तिर्यथाऽनेकविधेक्ष्यते । कर्मावृत्तत्वनस्तद्व्ययोग्यता विविधा न  
किम् ।’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९१ ।

(१) द्रष्टव्यम्—पृ० ६४० टि० २ । (२) सौगतचार्वाको । (३) पृ० ९ । (४) पृ० ३४३ ।

1—स्वकर्म—ज० वि० । 2 विषयोपयोग—व०, विश्लेषोपयोग—थ० । 3 विद्धस्य आ० ।

4—विषयापहारा—थ० । 5 यथावारकं आ० । 6—यः तच्चा—आ० ।

दृष्टेन च अदृष्टेसिद्धि । 'नाननुकृत' इत्यादिना परमतमाशङ्कते—कार्येण अननुकृता  
 वन्वयव्यतिरेकौ यस्य तत् तथाविध न कारणम् अपि तु अनुकृतान्वयव्यतिरेकमेव  
 कारणम् । यच्च अकारण तत्र विषयो<sup>१</sup> ज्ञानस्य, इति शब्द परमतपरिसमाप्तो । अत्र  
 दूषणमाह—'वालिशगीतम्' इत्यादि । वालिशस्य अविवेकिनो गीत भाषितम् । कुत  
 एतदित्याह—तामसखगकुलाना तमसि सति रूपदर्शनम् आवरणविच्छेदात्, नालोकात् 5  
 इत्यभिप्राय । तथा तदविच्छेदात् तस्य आवरणस्य विच्छेदाभावात् हेतो आलोके  
 सत्यपि सशयादिज्ञानसभवात् । इतश्च नालोकात् तद्दर्शनम् इत्याह—'काच' इत्यादि ।  
 काचः चक्षुषो व्याधिविशेष आदिर्घस्य तिमिरादे स तथोक्त तेन उपहतानि इन्द्रियाणि  
 येषा तेषा शुद्धे शङ्खादौ पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः 'सत्यपि आलोके वालिशगीतम्'  
 इति सम्बन्ध । तथा मुमुर्षूणा प्राणिना यथासभव सभवानतिक्रमेण अर्थे सत्यपि विपरी 10  
 तप्रतिपत्तिसद्भावात् कारणान् न अर्थादयः आदिशब्दन आलोकादिपरिग्रह, कारण  
 विज्ञानस्य इति स्थितम् । पूर्व<sup>२</sup> नेयाधिकमपद्योक्तम्, इदं सौगतमिति प्रविभाग ।

अत्रैव दूषणान्तरमाह—

न तज्जन्म न तद्रूप्य न तद्भवसिति सह ।

प्रत्येक वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥५८॥

15

(१) सौगतमतम् । (२) पृ० ६६३ । (३) इहज्ञान । प्रामाण्यं प्रति प्रमाणत्वमुद्दिश्य । हेतुता

निमित्तभाव न भजति । किं त इत्याह—तज्जन्म तस्मादर्थाज्जन्म उत्पत्ति तस्य कारणप्राप्तेन व्यभिचारात् । न च तद्रूप्य तस्याथस्य रूपमिव रूपमाकारो यस्य तत्रद्रूप तस्य भावस्ताद्रूप्यम् तस्य समानाथ समनन्तरानान व्यभिचारात् । नापि तद्भवसिति तत्रार्थे व्यवसितिव्यवसायो निश्चय तस्य द्विच वा दिव्यवसायन व्यभिचारात् । कथम् ? प्रत्येकम् एकमेक प्रतिनियतमेककमित्यथ । सह मिलि वा वा तानि प्रामाण्यहेतुता न भजति । तत्प्रतिपत्त्यपि शुक्ले शब्द पीताकारज्ञानजनकेन समनन्तरप्रत्ययन व्यभिचारात् । —लघो०ता०पृ०७९ । तज्जन्मादित्रयस्य प्रामाण्यहेतुतानिरूपका बोद्धव्यं— विषया कार एवास्य प्रमाण तेन मीयते । प्रमाणसमु० १:१० । तस्माच्चक्षुश्च रूपञ्च प्रतीत्योदेति न तधी । ३:१९० । भिन्नकाल कथं प्राण्यमिति चेत् प्राण्यता विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारापणक्षमम् ॥ काय ह्यनकहेतुत्वेऽप्यनुभूवदुदेति यत् । तत्तना यत्र तद्रूप गहीतमिति चोच्यते ॥ ( ३:२४७:४८ । ) अथन घटयत्यना न हि मुक्त्वाथरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाधिगते साधन मेयरूपता ॥ —प्रमाणवा० ३:३०५ । तदाकरं हि सवेदनमय व्यवस्थापयति नीलमिति पीतञ्चति । —प्रमाणवार्त्तिककाल० पृ० २ । किमथ तर्हि साहचर्यमिव्यते प्रमाणम् ? क्रियाकम यवस्यायास्तलोके स्यातिबघनम् साहचर्यतोऽप्यथा न भवति नीत्रस्य वमण सविति पीतस्य वेति क्रियाकमप्रतिनियमाथमिष्यते । —प्रमाण वार्त्तिककाल० पृ० १:१९ । अनुकूलविकल्पोत्पत्तिरेव अध्यवसाय तथाहि— अविकल्पमपि प्रत्यक्ष विव पोत्पत्तिनामितम् । नि शपव्यवहारात् तदद्वारेण भवत्यत । —तत्त्वस० का० १:३०६ ।

1—सिद्ध थ० । १—यो विज्ञानस्य थ० व० । 3 सत्यालोके थ० । 4 मुमुक्षुणां व० । 5 प्रति

भाग आ० ।

विवृतिः—नार्थः कारण विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत् । न ज्ञान तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाभावात् भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यभृत् विज्ञानम् अमूर्त्तत्वात् । मूर्त्ता एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिविम्बधारिणो दृष्टाः, नार्मूर्त्तं मूर्त्तप्रतिविम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानं मूर्त्तिधर्माभावात् । नहि ज्ञाने अर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत् शब्दवत् । ततः तदध्यवसायो न स्यात् । कथमेतदविद्यमान त्रितय ज्ञानप्रामाण्यं प्रति उपकारकं स्यात् लक्षणत्वेन ?

तस्माद् अर्थात् जन्म तज्जन्म न ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रति हेतुतां भजन्ती(ती)ह लोके, न ताद्रूप्यं तस्य अर्थस्य रूपमिव रूप यस्य तस्य भाव ताद्रूप्यं न तैत्यति ता 'भजति' इति सम्बन्ध । न तद्व्यवसितिः तस्य अर्थस्य व्यवसिति निर्णीति न तैत्यति ता भजतीति, सह युगपत् प्रत्येकं वा एकमेक वा एकमेक प्रति प्रत्येकम्, 'वा' इति समुच्चये । तत्र न तावत् प्रत्येकम्,

(१) तुलना— कायकालमप्राप्तवत् कारणत्वानुपपत्तिश्चरतरातीतवत् ।—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ८९ । (२) तुलना— यथवाक्षविषयसंभधान नास्ति तथाऽज्ञान विषयोऽपि नवास्ति ततस्तत्र प्रतिभासमानस्य न प्रतिभासेत् ।—अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८ । (३) द्रु० पृ० प्रती भजतीह इत्यव पाठ । तज्जन्म इति कत्रनुरोधत भजतीति पाठ एव समुचित । (४) प्रामाण्य प्रति । (५) हेतुताम् । (६) तज्जन्मादय प्रत्येक प्रामाण्य प्रति हेतुता न भजन्ति । तुलना— तदथवेदन केन ? ताद्रूप्यात् व्यभिचारि तत । तदथसारूप्य व्यभिचारि द्विच द्विकेगणद्विकज्ञानाद्याकारस्य अधमन्तरेणापि भावात् । यच्चायसारूप्यमनुभवनिवर्धनमुक्त तदप्यसम्भवि इति दणयनाह—सरूपयति तत्कन स्थूला भासञ्च तेष्व ॥३२१॥ तत्रायरूपता तस्य सत्यार्थाव्यभिचारिणी । तत्सवेदनभावस्य न समर्था प्रमा घन ॥३२२॥ तस्मात्तत्त्वज्ञानस्य नाथरूपताऽस्ति । सत्या वाऽथरूपताया व्यभिचारिणी सा द्विच द्विज्ञानादिषु । ततश्च तत्सवेदनभावस्य अथसवेदात्त्वस्य प्रसाधनपु साऽथरूपता न समर्था । न केवलदथमा रूपादथसवेदनत्व यन व्यभिचार स्यात् । किं तद्दि ? सारूप्यतदुत्पत्तिभ्या ते च द्विच द्विज्ञानादीना न स्त च द्विदयस्याभावात् तदुत्पत्तरयोमात् । एतदेवाह—तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि सवेद्यलक्षणम् । सवेद्य स्यात् समानाथ विज्ञान समन्तरम् ॥३२३॥ तेन यारूप्य सारूप्य तत्सारूप्यप्रति, स्वसवेद्यस्य अक्षण यदि सम्म तम् तदापि समन्तर नानमुत्तरज्ञानन समानाथ समानग्राह्य सवेद्य स्यात् तत्सारूप्यतदुत्पत्त्यो सभवात् ।—प्रमाणवा० मनोरथ० २।३२०—२३ । किञ्च यदाकार यतश्च सवेदनमुत्पद्यते यदि तदालम्बन तद्दि धारावाहिकविज्ञानाना पूर्वपूर्वमाऽम्बनमुत्तरोत्तरस्य स्यात् उपादकत्वात् सरूपत्वाच्च—बृहतीप० पृ० ७९ । तत्पुन तज्जन्मसारूप्यादिलक्षण समानाथनानकसन्तानपु सभवात् व्यभिचारति तदध्यवसायहतु त्वञ्च ।—सिद्धिवि० टी० पृ० ५६६ । न केवल विषयवलाद् दृष्टरूपत्तरपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणाद्दशनस्य तत्र विषय प्रतिभासेते न पुन करणम् तदाकारानुकरणादिति चेत्तद्दि तदथप्रकरणमनुकत्तुमर्हति न चाथ विगपाभावात् दणनस्य तज्जन्मरूपाविगपति तदध्यवसायनि यमाद् बहिर्यविषयत्वमित्यसारम् वर्णानिविच उपानान्मध्यव्यवसायप्रसङ्गात् ।—अष्टश० अष्टसह० पृ० ११८ । प्रमेयक० पृ० १०८ । समन्ति० टी० पृ० ५१० । प्रमेयर० २।९ । अपि च व्यन्ते

१-कारिणो ई० वि० । २-मूत्तमूत्त-प्र० वि० । ३ अथस्य नास्ति आ० । ४ भजतीति थ० । ५ भजन्तीति थ० । ६ एकमेक वा नास्ति व० थ० ।

तज्जमन करणप्राप्तेण व्यभिचारात्, ताद्रूप्यस्य समानार्थसमन्तरज्ञानेन, तद्व्यवसिते द्विचन्द्राध्यवसायेन । नापि सहै, शुक्ले शङ्के पीतभ्रान्तिकारणेन पीतज्ञानेन अनेकात्तात् ।

एतत्त्रितयमसमभेदोपेण दूपयन् कारिका व्याचष्टे 'नार्थः' इत्यादिना । सो गतस्य

विवृतिव्याख्यानम्

नार्थः कारण विज्ञानस्य । कुत इत्याह—'कार्यकालम्' इत्यादि ।

कार्यस्य स्वज्ञानस्य कालमप्राप्य निवृत्तेः विनाशात् । अत्र दृष्टा त-

माह—'अतीततमत्' इति । प्रयोग—अनन्तरातीतोऽर्थ न ज्ञानकारणम्, तत्काले सर्वथा-

ऽविद्यमानत्वात्, यस्य तत्काले सर्वथाऽविद्यमानत्व नासौ तत्कारणम् यथा अतीतत

मोऽर्थ, तत्काले सर्वथाऽविद्यमानश्च अनन्तरातीतोऽर्थ इति । एतेन भाविनोऽप्यर्थस्य

तत्कारणत्व प्रत्याख्यातम् । यथा च अर्थो न तज्ज्ञानकारण तथा न तज्ज्ञान तत्कार्यम् ।

कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य परपरिकल्पितस्य अर्थस्य अभावे एव भावात्

उत्पत्ते तज्ज्ञानस्य तद्भावे च अभावाद् अनुत्पत्ते, अन्यथा संतानोच्छेद स्यात् ।

अत्र दृष्टान्तमाह—'भविष्यत्तमवत्' इति । निषिद्धा च अर्थकार्यता ज्ञानस्य प्रपञ्चत

प्राग् इत्यल पुन प्रसङ्गेन ।

सारूप्यनिषेधार्थमाह—'नार्थः' इत्यादि । विज्ञान न अर्थसारूप्यभृत् । कुत ?

अमूर्त्तत्वात् । ननु अमूर्त्तश्च स्यात् तद्बुद्ध्य, को विरोध ? इति चेदत्राह—'मूर्त्ता एव'

इत्यादि । मूर्त्ता एव हिर्यस्मात् दर्पणादयो मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दृष्टाः ।

अमूर्त्तमपि त्रिखित् दृष्टम् इति चेदत्राह—'नाऽमूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृद् दृष्टमिति ।

प्रयोग—ज्ञान नार्थप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तत्वात्, यत् पुनरर्थप्रतिबिम्बभृत् तन्नामूर्त्तम् यथा

दर्पणादि, अमूर्त्तश्च ज्ञानमिति । कुतोऽस्य अमूर्त्तत्व सिद्धमिति चेत् ? मूर्त्तिधर्मा

भावात् । तद्धर्मो हि रूपरसगन्धस्पर्शवच्चे सति अचेतनत्वम्, नच ज्ञाने तदस्ति ।

निराकृतञ्चास्य व्यासत्त सारूप्य तन्निराकारत्वसिद्धिप्रघट्टके" इति कृत प्रयासेन ।

समस्ते वते ग्रहणकारण स्याताम् ? यदि व्यस्त, तदा कपालाद्यक्षणो धटान्त्यक्षणस्य जलचद्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहक प्राप्नोति तदुत्पत्तस्तदाकारत्वाच्च । अथ समस्ते तद्दि घटोत्तरक्षण पूर्वघटक्षणस्य ग्राहक प्रसजति । ज्ञानरूपत्वे सत्यते ग्रहणकारणमिति चेत् तद्दि समानजातीयानस्य समन्तरपूर्व ज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्यत ।—प्रमाणमी० पृ० २० । प्रमाणनय० ४।५७ । रत्नाकरा० ४।५७ ।

(१) तज्जमादय सह मिलित्वाऽपि प्रामाण्यं प्रति हेतुता न भजति । (२) तज्जमादित्रयम् ।

(३) यदि कारणभूतस्य जयस्य काठ एव वायुभूत ज्ञान समुत्पद्यत तदा कायकारणयो समकालत्वापत्त्या

कारणभूतस्यायस्यापि स्वकारणकाठता तस्यापि स्वकारणकालतेत्येव सकलोत्तरक्षणानामाद्यक्षणवृत्तित्वा

द्वितीय च क्षण नाग इति सक्त्तसन्तानोच्छेदप्रसङ्ग इति भाव । तुलना— सत्येव कारण यदि वायु

नलोक्षयमेवक्षणवर्ति स्यात् कारणक्षणकाल एव सवस्य उत्तरोत्तरक्षणसन्तानस्य भावात् तत् सन्ताना

भावात् ।—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १८७ । (४) मूर्तिधर्मो हि । (५) पृ० १६७ ।

तद्व्यवसिति निराकुर्वन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न ज्ञाने अधिकरणभूते अर्थो घटादिः अस्ति, किन्तु बहिः सोऽस्ति, तदात्मको वा ज्ञानस्वभावो वा ‘अर्थः’ इति सम्बन्धः, सारूप्यनिषेधात्, अन्यत्र तदतिभासनात् इति मन्यते । येन तत्र सत्त्वेन तदात्मकत्वेन वा तस्मिन् विज्ञाने प्रतिभासमाने प्रतिभासेत, ‘अर्थः’ इति घटना । क इव सँ तत्रै नास्ति तदात्मको वा न इति चेदत्राह—शब्दवत्, शब्द इव तद्वदिति । ततः किं जातम् ? इत्याह—‘तत्’ इत्यादि । यतो ज्ञानस्वरूपे प्रतिभासमानेऽपि तदाद्येय-तदात्मकतया शब्दार्थयोः प्रतिभासो नास्ति ततः तस्यार्थस्य अध्यवसायो<sup>१</sup> न स्यात् । अध्यवसायो हि अभिलाषवती प्रतीतिः, न चासौ<sup>२</sup> तैशोरननुभवे घटते अतिप्रसङ्गात् । विस्तरतश्च अविकल्पकात् तदध्यवसायप्रतिषेधः सविकल्पक-  
१० सिद्धौ<sup>३</sup> प्ररूपित इत्युपरम्यते । अतः सिद्धं फलं ‘कथम्’ इत्यादिना दर्शयन्नाह—एतत् परेणोक्तमविद्यमानं त्रितयं तदुत्पत्तिसारूप्याध्यवसायलक्षणं ज्ञानप्रामाण्यं प्रति-  
कथमुपकारकम् ? न कथञ्चित् । केन रूपेण उपकारकं नैतत् स्यात् ? इत्याह—  
लक्षणत्वेन । असंभविलक्षणमेतत् इत्यभिप्रायः ।

ननु ज्ञानस्य तदुत्पत्तित्रितयासंभवे कथमर्थग्राहकत्वमतिप्रसङ्गादित्यारेकायामाह—  
१५ स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

विवृतिः—अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छे-  
दकभावः नाऽलब्धात्मनोः कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततः तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्य-  
ग्राहकभावसिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

२० स्वेन आत्मीयेन हेतुना जनितोऽप्यर्थः घटाद्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतः  
स्वरूपेण तैस्त्वभावतयैवार्थं स्वहेतोरुत्पत्तेः । नहि ज्ञानेन अर्थस्त-  
स्वभावो जन्त्यते; अन्योन्याश्रयानुपद्नात्—सिद्धे हि ज्ञाने तथाविधार्थ-

(१) बहिर्देशे भूतलादौ अर्थस्य प्रतिभासनात् । (२) ज्ञाने । (३) ज्ञानात्मकत्वेन वा हेतुना ।  
(४) अर्थ । (५) ज्ञाने । (६) ज्ञानात्मकः । (७) विकल्पः । (८) तुलना—पृ० ४६ टि० २ ।  
(९) शाब्दी प्रतीतिः । (१०) शब्दार्थयोः । (११) पृ० ४८ । (१२) “यथा स्यात् । कः ?  
घटादि । किं विशिष्टं स्यात् ? परिच्छेद्यो ज्ञेयः । कथम् ? स्वतः स्वभावादेव न ज्ञानादुत्पत्त्यादे ।  
किम्भूतोऽपि स्वहेतुजनितोऽपि स्वस्य हेतुमुदादिसामग्री तेन जनितोऽपि निष्पादितोऽपि । तथा ज्ञान परि-  
च्छेदात्मकमर्थग्रहणात्मकं स्यात् । कुत ? स्वभावादेव नार्थादुत्पत्त्यादे । किं विशिष्टमपि ? स्वहेतूत्थ-  
मपि, स्वस्य हेतुरन्तरङ्ग आवरणक्षयोपशमलक्षण बहिरङ्ग पुनरिन्द्रियानिन्द्रियरूप तस्मादुत्था उत्प-  
त्तिर्यस्य तत्तद्योक्त तादृशमपीत्यर्थं १” —लघी० ता० पृ० ८० । उद्धृत्य कारिका निम्नग्रन्थेषु—सिद्धि०  
टी० पृ० १० B. । ग्यापवि० वि० पृ० ३३ A । (१३) परिच्छेद्यस्वभावेन । (१४) अर्थस्य ।

१—दिनादर्शयतो ज्ञान—थ० । २—यो हि न आ० । ३ योपि अभिलाषवतीति न आ० । ४—लाप-  
प्रतीति व० । ५ अत्रति—थ० । ६ असभवति लक्ष—थ० । ७—हेतुत्व ज० वि० । ८—व्यात्मकत्त-  
ई० वि० । ९ जनितोपि घटा—थ० । १० अर्थस्वभावो आ०, अर्थ स्वतः स्वभावो व० ।

सिद्धिः, तद्विसद्वौ च ज्ञानसिद्धिरिति । यथा येन योग्यताप्रकारेण तथा ज्ञानं स्वेहेतूत्थं करणमनोलक्षणस्वकारणप्रभव परिच्छेदात्मकम् अर्थग्रहणस्वभावं स्वतो न अर्थोत्पत्त्यादेः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—‘अर्थज्ञानयो’ इत्यादि । स्वकारणात् न परस्परतः आत्मलाभमासादयतोरेव यथासङ्ख्येन परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः, न अलब्धात्मनोः सर्वथा नित्ययोः क्षणिकयोर्वा । अत्र दृष्टान्तमाह—‘कर्तृकर्मस्वभाववत्’ इति । यथा स्वकारणाद् आत्मलाभमासादयतोरेव अनयोः कर्तृकर्मस्वभावः नैकान्तेन सतोः नाप्यसतोः, तथा प्रकृतोऽपि ईति । उपसहारार्थमाह—‘ततः’ इत्यादि । यत् स्वकारणादुत्पन्नयोः तैयोः तैथाभावः सिद्धः ततः तस्मात् अर्थाद् उत्पत्तिमन्तरेणापि अर्थज्ञानयोः ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिः स्यात् । कुतः ? स्वभावतः स्वयोग्यतायाः । अन्यथा अन्येन प्रकारेण व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ।

ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतस्तेद्भावे तत्फल वक्तव्यम्, तच्च ‘अधिगतिमात्रम्’ इत्येके, ‘स्वरूपस्यैव अधिगतिः’ इत्यन्ये, ‘अर्थस्यैव’ इत्यपरे इत्याशङ्क्याह—

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।

ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥ ६० ॥

विवृतिः—अनिर्णीतिफलस्य नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अवि- संवादकत्वञ्च निर्णयायत्तं तदभावेऽभावात्तद्भावे च भावात् । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रमाणमिति व्यवस्थितम् । स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्ग- त्वात् । तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे अभिलाषसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा

(१) ज्ञानार्थयो । ‘ज्ञान घट जानाति’ इत्यत्र ज्ञानस्य कर्तृता घटस्य च कर्मत्वमिति । (२) ग्राह्यग्राहकभावोऽपि । (३) ज्ञानार्थयो । (४) कर्तृकर्मभावः । (५) ग्राह्यग्राहकभावे । (६) बोद्धाचार्याः । “उभयत्र तदेव ज्ञानं फलमधिगममरूपत्वात् ।”—म्यायप्र० पृ० ७ । “तदेव च प्रत्यक्ष ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।”—म्यायबि० पृ० २५ । तत्त्वस० का० १३४३ । (७) “स्वसविति फलञ्चास्य ।”—प्रमाणस० १।१० । “फलं स्ववित् ।”—प्रमाणवा० ३।३६६ । (८) नैयायिकादयः । “प्रमितिर्द्रव्यादिविपर्यं ज्ञानम् ।”—प्रश० भा० पृ० १८७ । (९) ‘मतमिष्टं ज्ञातञ्च । किम् ? ज्ञानम् । किं स्वरूपम् व्यवसायात्मकं विशेषस्य जात्याद्याकारस्य अवसायो निश्चयः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तत्त- थोक्तम् । अनेन प्रत्यक्ष कल्पनापोढमित्येतन्निरस्तम् । पुन किंविशिष्टम् ? आत्मार्थग्राहकम्, आत्मस्व- रूपमर्थो बाह्यो घटादिस्तो गुण्णाति निर्णयतीत्यात्मार्थग्राहकम् अनेन ज्ञानमर्थग्राहकमेव न स्वरूपग्राहकम् स्वग्राहकमेव नार्थग्राहकमित्येकान्तद्वय निराकृतम् । तेन कारणेन अश्नुते भजति किम् ? ग्रहणं ज्ञानं कर्तुं । किं रूपम् ? निर्णयं स्वार्थव्यवसायस्तद्रूपमित्यर्थः । किं कर्मतापन्नम् ? प्रामाण्यम् प्रमाणभावम् । किंविशि- ष्टम् ? मुख्यमनुमचरितम् ज्ञानकारणत्वादुपचारेणैव इन्द्रियलिङ्गादेः प्रमाणत्वात् ।”—लघी०ता०पृ०८१ ।

१ स्वरूप हेतुत्वं थ० । २ ‘इति’ नास्ति थ० । ३ मुख्यप्रामा-ज० वि० । ४-फलस्याधिग- ई० वि० । ५ स्वतोऽव्यवसा-ई० वि० ।

विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यग्रहार-  
नियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपायमनुपेयं श्रुवाणः स्पृशः ?

व्यवसायः स्वार्थनिश्चय आत्मा स्वभावो यस्य तत् तदात्मकम् व्यवसा-  
यफलात्मकमित्यर्थ । अनेन 'निर्विकल्पक विभिन्नाऽधिगतिमात्रकै-

कारिकाय -

लप्रसाधक प्रमाणम्' इति प्रत्याख्यातम् । तथाविधफलात्मकञ्च प्रमाण  
किम् ? इत्याह—ज्ञानम् । अनेनापि 'चक्षुरादिकमज्ञान प्रमाणम्' इति प्रतिव्यूढम्,  
तस्य तदात्मकत्वविरोधात् । प्रसाधितञ्च प्रपञ्चत प्रमाणात् स्वपरव्यवसायात्मक फल  
कथञ्चिदभिन्नम् 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्व फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' [ लघी० का० ७ ]  
इत्यत्र । पुनरपि कथम्भूत तत् ? इत्याह—आत्मार्थग्राहकम्, स्वपररूपवेदकम् ।

मतम् स्वसवेदनाध्यक्षेण ज्ञातम् । समर्थितञ्च व्यासतो ज्ञानस्य आत्मग्राहकत्व स्वसवे  
दनसिद्धौ, अर्थग्राहकत्वञ्च बाह्यार्थसिद्धौ इत्यलमतिविस्तरेण । तत किं सिद्धम् ?  
इत्याह—'ग्रहणम्' इत्यादि । येन कारणेन व्यवसायात्मकं ज्ञानम् आत्मा-  
र्थग्राहकं तेन कारणेन ग्रहणं स्वार्थाधिगति निर्णयो मुख्यमनुपचरित प्रामा-  
ण्यमश्नुते, न निर्विकल्पक चक्षुरादि वा ।

कारिका व्यतिरेकमुपेन व्याख्यातुमाह—'अनिर्णीतिफलस्य' इत्यादि । अनि-  
र्णीतिफलस्य निश्चयफलरहितस्य अविकल्पकस्य इत्यर्थ । नाधि  
विवृति बाल्यात्म- गमोऽस्ति नानुभवोऽस्ति, कुत एतदित्याह—प्रिचार्यमाणायोगात्,  
यस्य विचार्यमाणस्यायोगो न तस्यानुभवो यथा अद्वैतशून्यादितत्त्वस्य, विचार्यमाण  
स्यायोगश्च निर्विकल्पकदर्शनस्य इति । यथा चास्य विचार्यमाणस्याऽयोग तथा सवि-  
कल्पकसिद्धौ प्रपञ्चत प्रतिपादितम् । अथ अविकल्पकस्य अचिसवादादकत्वात् प्रामाण्य  
प्रार्थ्यते, अत्राह—'अविसवाद' इत्यादि । अविसंवादादकत्वं गृहीतार्थतथाभाव तदायत्त  
निर्णयायत्तम् । कुत एतदित्याह—'तद्' इत्यादि । तस्य निर्णयस्य अभावे क्षणक्षया-  
दिदर्शने मरीचिकादिदर्शने वा सशयकारिणि अभावाद अविसवादादकत्वस्य, तद्भावे  
च निर्णयसद्भावे च भावाद् अविसवादादकत्वस्य इति । व्यवसायफल ज्ञानं मुख्य

प्रमाणम् इति एव व्यवस्थितमित्युपसहार ।

माभून्निर्विकल्पक स्वयमव्यवसायात्मकत्वात् तैत्फल तैत्तनकत्यास्तु स्यात् इति

(१) चक्षुरादे । (२) व्यवसायफलत्वकत्वे । (३) पृ० २०९ । (४) पृ० १७६-१ । (५) पृ०  
११९-१ । (६) पृ० ४७ । (७) प्रमाणफलम् । (८) व्यवसायात्मकविकल्पोत्पादकत्वात् । पूर्वपक्ष -  
तस्मादध्यवसाय कुत्रैव प्रत्यक्ष प्रमाण भवति अकृते स्वध्यवसाय नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापित भवति  
विज्ञानम् । --वायवि० टी० पृ० २७ । तत्त्वस० का० १३०६ । तुलना- अदोषोऽयं प्रत्यक्षस्याध्यव  
सायहेतुत्वान्तिनिरूपिताभिधानं सौगतस्य तत्राभिप्रायाभावात् । -अष्टस० अष्टसह० पृ० ११८ ।  
१-निर्णय व० । २-फलसाध-व० ध० । ३-कतवावि-व० । ४-णन यद्ग्रहण व० ।  
५-क्षयारिणाने वा साय-व० । ६-निर्णयसवभावे च' नास्ति व० ।

चेदत्राह—‘स्वतः’ इत्यादि । स्वतोऽव्यवसायस्य स्वयं निर्विकल्पकस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात् । एतच्च सविकल्पकसिद्धौ सप्रपञ्च प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते । तद्-  
 ज्ञत्वे वा दूषणमाह—‘तत्’ इत्यादि । तस्य विकल्पस्य उत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे स्वतोऽ-  
 व्यवसायस्य अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या । अभिलष्यतेऽनेन अभिलष्यत  
 इति वा अभिलापः शब्दजात्यादी तयोः संसर्गो वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः 5  
 तस्मै योग्यः तस्य भाप्रस्तत्ता न प्रतिषेध्या । यथैवं हि विकल्पस्य अर्थीकारलेशदर्शनाद्  
 दर्शनस्य तर्हीकारताऽनुमीयते तथा तस्य अभिलापसंसर्गयोग्यतादर्शनात् दर्शनस्यापि  
 साऽनुमीयतामविशेषात् । दर्शनेऽसंभविनी तस्य तद्योग्यता भवति नाथार्कार इति  
 किञ्चित्तोऽय विभोगः ? तन्निषेधे ‘अन्यथा’ इत्यादिना दूषणमाह । अन्यथा तद्योग्य-  
 तानिषेधप्रकारेण विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्, सा ‘न निषेध्या’ इति सम्बन्धः । 10  
 ननु विकल्पवासनात एव विकल्पोत्पत्तिः, दर्शनं तु केवल तत्प्रबोधकम् ततोऽयमदोषः;  
 इत्यत्राह—‘सति’ इत्यादि । सति विद्यमाने मुख्ये स्वपरव्यवस्थायाम् अन्यनिरपेक्षे  
 निर्णयात्मके ज्ञाने । पुनरपि कथम्भूते इत्याह—‘सकल’ इत्यादि । अर्थानुभवसंस्कार-  
 तत्प्रबोधस्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानप्रवृत्तिलक्षणः सकलो व्यवहारः तन्नियामके  
 ब्रुवाणः सौगतः कथं स्वस्थः ? किं ब्रुवाण इत्याह—ज्ञानम् । कथम्भूतम् ? अकि- 15  
 च्चित्कर निर्विकल्पक असंवेद्य ‘न सवेद्यते’ इत्यसंवेद्यम्, न विद्यते वा सवेद्यं प्राङ्  
 यस्य, अत एव अनुपायमनुपेयमिति ।

(१) पृ० ४७ । (२) दोषा हि प्रत्यक्ष निर्विकल्पकात्मकमुररीकुर्वन्ति अतस्ते शब्दसमर्गयोग्यता  
 प्रत्यक्षस्य निषिध्यते । तथा चोक्तम्—‘अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना, तथा रहितम् ।’—  
 न्यायवि० पृ० १३ । (३) नीलनिवदित्याकारकविकल्पस्य । (४) नीलाकारतादर्शनात् । (५) निर्विक-  
 ल्पकप्रत्यक्षस्य । (६) नीलाकारता । (७) निर्विकल्पक नीलाकार तत उत्पन्ने विकल्पे नीलाकारत्वाऽन्य-  
 थानुपपत्ते । (८) विकल्पस्य । (९) अभिलापसंसर्गयोग्यता । निर्विकल्पके अभिलापसंसर्गयोग्यताप्रति-  
 तत उत्पन्ने विकल्पे अभिलापसंसर्गयोग्यताऽन्यथानुपपत्ते । (१०) विकल्पस्य । (११) अभिलापसस-  
 र्गयोग्यता । (१२) यदि दर्शनसंभविनी अभिलापसंसर्गयोग्यता विकल्पे षटेत तर्हि दर्शनेऽसंभवन्नपि  
 नीलाकार विकल्प स्यात् तथा च नीलविकल्पस्य साक्षात्प्रोलस्वलक्षणविषयताप्राप्ते ‘विकल्पोऽवस्तु-  
 निर्भास’ इति सिद्धान्तविरोध इति भावः । (१३) तुलना—‘यथैवं हि वर्णादावभिलापाभाव तथा  
 प्रत्यक्षेऽपि तस्य अभिलापकल्पनातोऽनोदत्त्वात् अनभिलापात्मकायंसामर्थ्येनोत्पत्ते । प्रत्यक्षस्य तदभावेऽ-  
 प्यव्यवसायकल्पनाया प्रत्यक्ष किताध्यवस्यैतु स्वलक्षण स्वयमभिलापशून्यमपि । प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न  
 पुना रूपादिरिति कथं मुनिरूपिताभिधानम् ? यदि पुनरविनल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽव्यवसा-  
 यस्योत्पत्तिं प्रदीपादे कज्जलादिबन् विजातीयादपि वारणात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतम्, तदा  
 तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत एव तद्वदिति । जातिद्वयगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहि-  
 तादर्यात् कथं जात्यादिकल्पनात्मक प्रत्यक्ष स्यादिति चेत्; प्रत्यक्षात्तद्विहातद्विकल्प कथं जात्यादिकल्प-  
 नात्मक स्यादिति सम पर्यनुयोग ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ११८ । (१४) विकल्पवासना ।

१ तच्च थ० । २-त्यादि तयो थ० । ३-व विक-थ० । ४-नादर्शनस्य थ० । ५ तथा  
 सत्यभि-थ० । ६ विकलोत्प-थ० । ७ अनुपेयमिति न० ।



एव सामान्येन व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं व्यवस्थाप्य, अधुना तद्वेदं दर्शयन्नाह—

तत्प्रत्यक्षं परोक्षञ्च द्विधैवात्रान्यसंविदाम् ।

अन्तर्भावात् युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥

विवृतिः—इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हितोहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम् अवग्रहेहावायधारणात्मकम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिवोधात्मकम् । अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटतरमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम् । तदस्ति सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं परोक्षं सकलप्रमाणप्रमेयेयत्तास्वरूपाभिधायि वाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थापच्यनुमानोपमानादीन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रोक्तमिति नेहोच्यते ।

यद्व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण प्रतिपादितं तत् द्विधैव, नैकविध नापि त्रयादिविधम् इत्येवकारार्थः । क्व तद्द्विधैव ? इत्याह—प्रत्यक्षं परोक्षञ्च । इतिशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, इति एवम्, न प्रत्यक्षानुमानप्रकारेण । ननु अनुमानोपमानादेः ततोऽर्थान्तरत्वात् कथं 'द्विधैव' इति नियमः स्यात् ? इत्याह—'अत्र' इत्यादि । अत्र प्रत्यक्षपरोक्षयोः अन्यासां समीचीनसंविदाम् अन्तर्भावात् द्विधैव इति । अन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे चिन्तितः । अतश्च न युज्यन्ते नियमाः परैः सौगतादिभिः कल्पिताः ।

कारिकां विवृण्वन्नाह—'इन्द्रिय' इत्यादि । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां कार्यभूतम् विवृतिव्याख्यानम्— अर्थस्य घटादेः प्राहक न मरीचिकातोयादेः, ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

(१) यत्सम्यग्ज्ञानात्मक प्रमाणं तत् द्विधैव द्विप्रकारमेव । तावेव प्रकारावह—प्रत्यक्ष परोक्ष चेति । नन्वनुमानादिप्रमाणभेदमख्यापि सभाव्यत इत्याह—अत्रेत्यादि । न युज्यन्त न सभवन्ति । के ? नियमा द्वित्रयादिसख्याप्रतिज्ञा । किञ्चिशिष्टा ? परपरिकल्पिता परं सौगतादिभिः कल्पिता रचिता । कुतो न युज्यन्ते ? अन्तर्भावात् सग्रहात् । कासाम् ? अन्यसंविदाम् अनुमानादिज्ञानानाम् । क्व ? अत्रैव प्रत्यक्षपरोक्षसग्रह एव ।—लघो० ता० पृ० ८१ । (२) तुलना—'ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम्, हेयस्य हानमनुष्ठानमुपादेयस्य चोपादानम् । ततो हेयोपादेययो हानोपादानलक्षणा नु सिद्धिरित्युच्येत ।'—न्यायवि० टी० पृ० ८ । "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमव तत् ।"—परीक्षा० १।२ । प्रमाणनय० १।३ । (३) साव्यवहारिक प्रत्यक्षम् । तुलना—लघो० टि० पृ० १३२ पृ० १० । (४) "लक्षण सममेतावान् विरापोऽप्येवमाचरम् । अत्रम करणातीतमकलङ्क महीयसाम् ॥"—न्यायवि० का० १९८ । प्रमाणसं० का० ९ । तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६२ पृ० २५ । न्याय कृ० पृ० २५ टि० २। (५) तुलना—'अस्ति सर्वज्ञ सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ।'—सिद्धिवि०, टी० पृ० ४२१ B । अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० पृ० ५६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ । प्रमाणनि० पृ० २९ । प्रमाणमी० पृ० १४ । पद्म० वृह० पृ० ५३ ।

1—ननु यु—ज० वि० । 2 द्विधैव व० । 3—चीनविदाम् व० । 4 ज्ञानं कर्तुं प्रत्यक्षम् व० ।

किंविशिष्टम् ? स्पष्टम् विशदम् । निर्विकल्पकं परोक्षं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षं वा तर्था  
 स्यात् इत्यत्राह—‘हितं’ इत्यादि । हितं सुख तत्साधनञ्च अहितं दुःख तत्कारणञ्च  
 तयोः प्राप्त्यपरिहारौ तत्र समर्थं योग्यम् । नच निर्विकल्पकादे तत्रैव सामर्थ्यम्  
 अर्थमात्रग्रहणेऽप्यस्यैव सामर्थ्यासम्भवात् इत्युक्तम् सविकल्पकादिसिद्धिप्रघटके । ननु  
 सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना अर्थस्य गृहीतत्वात् तत्र प्रमाणान्तराप्रवृत्तिः स्यात् इत्य-  
 त्राह—प्रादेशिकम् । सर्वमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रवेश एव नियतम् । द्विचन्द्रादिदर्शनेऽपि  
 तैमिरिकज्ञानेन एकत्वाद्यदर्शनवत्, नीलादिदर्शनेऽपि क्षणपरिणामादर्शनवद्वा । साम्प्र-  
 तमिन्द्रियज्ञानस्य स्वरूपेण दर्शयन्नाह—‘इन्द्रिय’ इत्यादि । इन्द्रियाणां कार्यम्  
 आत्मनः सजिदा स्वरूपस्य ज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्य-  
 क्षम् इति । तदुभयमपि किं भेदम् ? इत्याह—अवग्रहेहाणायधारणात्मकम् । व्याख्याता  
 अवग्रहादयः प्रत्यक्षपरिच्छेदे, ते आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् ।

इदानीम् ‘अनिन्द्रिय’ इत्यादिनाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं दर्शयति—अनिन्द्रियस्य मनस  
 कार्यं ज्ञानम् अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । ननु च इन्द्रियज्ञानमपि अनिन्द्रियस्य भवत्येव  
 कार्यं तत्कथमयं प्रविभाग इति चेत् ? प्रधानेतरभावात् । इन्द्रियज्ञाने हि इन्द्रियाणां  
 प्रधानभावः, अत्र तु अनिन्द्रियस्यैव इति युक्तः प्रविभागः । किं रूपं तद् ? इत्याह—  
 स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम् । ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वैः प्रतिपादित-  
 त्वात् कथमत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसङ्गात्, इत्यप्यचर्चिताभिधा-  
 नम्, यत्राशे तेषां स्पष्टत्वं तत्रैव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । स्वरूपे एव हि ‘तेषां स्पष्ट-  
 त्वम् अतस्तत्रैव प्रत्यक्षत्वम्’ इत्यभिसम्बन्धात् । बहिरर्थे त्वस्यैव अस्प-  
 ष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चिदोप । अत्रापि ‘हितं’ इत्यादि, ‘प्रादेशिकम्’ इति च  
 सम्प्रथ्यते । स्मृत्यादिग्रहणमुपलक्षणं तेन ‘मुखाद्यात्मकम्’ इत्यपि गृह्यते ।

अधुना अतीन्द्रियप्रत्यक्षरूपणार्थम् ‘अतीन्द्रिय’ इत्याद्याह । इन्द्रियेभ्योऽति-  
 कान्तम् अतीन्द्रियं प्रत्यक्षम्, कथम्भूतम् ? व्यवसायात्मकम्, अनेन साख्यसौत्रा-  
 न्तिककल्पितं निर्विकल्पकं तन्निरस्तम् । स्फुटतरम्, अस्मदादिप्रत्यक्षात् समस्ते  
 स्वगोचरे अतिशयेन विशदम् । अत्रितथम्, अत्रात्मम् । अनेन “भिन्नोऽहमपि मायो-

(१) सीगताभिमतम् । (२) मीमांसाकाद्यभिमतम् । (३) नैयायिकाभिमतम् । (४)  
 प्रत्यक्षम् अथग्राहकं वा । (५) हितप्राप्ती अहितपरिहारे वा । (६) निर्विकल्पादे । (७) पृ० ४७ ।  
 (८) अर्थे । (९) पृ० ११६ । (१०) तुलना—इन्द्रियप्राधायादनिन्द्रियवत् शयानादुपजातमिन्द्रिय  
 प्रत्यक्षम् अनिन्द्रियादेव विबुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । —प्रमेयर० २।४ । प्रमाणमी०  
 पृ० १६ । (११) अनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । (१२) अनिन्द्रियस्यैव इत्यवधारणं द्रष्टव्यम् । (१३) पृ० ४०३ ।  
 (१४) स्मृत्यादीनाम् । (१५) स्वरूप एव । (१६) स्मृत्यादे ।

१—त्वात्तत्प्रमा—थ० । २—ज्ञानं स्व—आ० । ३—अवग्रहेहाणाय व० । ४—इदानीमनिन्द्रियप्रत्यक्ष  
 दर्श—व० । ५—प्रतिभागं थ० । ६—प्राध्यायतर—थ० । ७—प्रत्यक्षप्रति—आ० । ८—परोक्षत्वनिमित्तं थ० ।

पमः स्वप्नोपमैः” [ ] इति प्रत्याख्यातम् । तस्य इन्द्रियातिक्रान्तत्वं समर्थ-  
यमानः ‘अतीन्द्रियम्’ इत्याद्याह । अतीन्द्रियम् इन्द्रियव्यापाराजन्यम्, कुतः ?  
अव्यवधानम् देशादिव्यवधानरहितं यतः, यत् स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितं न  
तद् इन्द्रियव्यापाराजन्यम् यथा सत्यैस्त्रज्ञानम्, स्वगोचरे देशादिव्यवधानरहितञ्च  
अतीन्द्रियप्रत्यक्षमिति । तथा च “ईश्वरज्ञानम् इन्द्रियार्थसञ्चिर्भूज प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञान-  
त्वात् इतरज्ञानवत्” [ ] इति निरस्तम् । तज्ज्ञानस्य इन्द्रियप्रभवत्वे प्रत्यक्ष-  
परिच्छेदे असर्वविषयत्वप्रतिपादनात् । लोकोत्तरं सकललोकोत्कृष्टमात्मार्थविषयम्,  
‘आत्मविषयम्’ इत्यनेन अस्वसंविदितमीश्वराव्यक्ष निराकृतम् । तस्य आत्माऽगोच-  
रत्वे अर्थगोचरत्वानुपपत्तिप्रतिपादनात् । ‘अर्थविषयम्’ इत्यनेन तु “नैन्योऽनुभाव्यो

(१) तुलना—“मायास्वप्नोपम जगत्” “मायास्वप्नोपम लोकम्—” लङ्कावतार० पृ० ३२९, ३३४।  
“मायास्वप्नोपम सर्वं मस्वार सर्वदेहिनाम् ।” नैरात्म्य० पृ० २१ । ‘न हि तथागता कदाचिदप्यात्मन  
स्कन्धाना वाऽस्तित्व प्रज्ञपर्यन्ति । यथोक्त भगवत्याम्—बुद्धोप्यायुष्मान् मुभूत मायापम स्वप्नोपम, बुद्ध-  
धर्मा अप्यायुष्मान् मुभूते मायोपमा स्वप्नोपमा इति । तथा—धर्मस्वभाव तु शून्यविविक्तो बाधस्वभाव तु  
शून्यविविक्तो । यो हि चरेत्स पि शून्यस्वभावो ज्ञानवतो न तु बालजनस्य इति । यथोक्त भगवता—  
शून्या सर्वधर्मा नि स्वभावयोगेन । निर्निमित्ता सर्वधर्मा निर्निमित्ततामुपादाय ‘यथोक्त सूत्र—मायोपम  
जगदिद भवता नटरङ्गस्वप्नसदृश विहित । नात्मा न सत्त्वं न च जीवगतो धर्मा मरीचिदकचन्द्रसमा ।’  
—माध्यमिकवृ० पृ० ४४२ ४५ । ‘तस्मान्मायास्वप्नादिस्वभावा सर्वधर्मा इति निश्चितमेतत् । स्या-  
देतत्—यदि सर्वव्यापिनी मायोपमस्वभावता बुद्धोऽपि तर्हि मायोपम स्वप्नोपम स्यात् । उक्तञ्चैतत्  
भगवत्याम्—एवमुक्तं सुभूतिस्तान् देवपुत्रानेतदवोचन—मायोपमास्त देवपुत्रा मत्वा स्वप्नोपमास्ते  
दवपुत्रा सत्त्वा इति हि माया च सत्त्वाश्चाद्वयमेतदद्वैधीकारम् । सर्वधर्मा अपि देवपुत्रा मायोपमा  
स्वप्नोपमा । स्रोत आपत्तोऽपि मायोपम स्वप्नोपम स्रोत आपत्तिफलमपि मायोपम स्वप्नोपमम् ।  
एव सद्ब्रह्मागम्यपि, सकृदागामिफलमपि । अनागाम्यपि जनागामिफलमपि । अहंनपि अहंत्वमपि मायो-  
पम स्वप्नोपमम्, सम्बन्धसंबुद्धोऽपि मायोपम स्वप्नोपम । सम्बन्धसंबुद्धत्वमपि मायोपम स्वप्नोपम याव  
त्रिर्वाणमपि मायोपम स्वप्नोपमम्, स चत्रिर्वाणदपि कश्चिद्धर्मो विशिष्टतर । स्यात्तमप्यह मायोपम  
स्वप्नोपम वदामि ।”—बोधिसर्वा० पृ० ३७९ । “आर्यललितविस्तरेषुक्तम् (पृ० २०९-११) मस्कार  
प्रदीप अर्चिवत् क्षिप्रमूल्यतिनिरोधधर्मका । अनवस्थितमास्तोपमा फेनपिण्डेव असारदुर्बला ॥ मस्कार  
निरीहशून्यका, कदलीस्कन्धसमा निरीधते । मायोपमचित्तमोहना बाल उल्लापनरिक्तमुष्टिवत् ॥”  
—बोधिसर्वा० पृ० ५३२ । ‘मायास्वप्नमरीचिविम्बसदृशा प्रोदभासश्चुकोपमा । विज्ञेयोदकचन्द्रविम्ब  
सदृशा निर्माणतुल्या पुन । ”—महायानसू० पृ० ६२ । उद्धृतमिदम्—सम्मतो० टी० पृ० ३७१, ३७७ ।  
शास्त्रवा० यशो० पृ० २१५ A । (२) तुलना—“स्वयंप्रभुरलङ्घनार्हं स्वार्थालोकपरिस्फुटमवभासते  
सत्यस्वप्नवत् ।”—प्रमाणसू० पृ० ९९ । प्रमाणसू० टि० पृ० १७२ पृ० २३ । (३) ईश्वरज्ञानस्य ।  
(४) पृ० १०८ । (५) “नान्योनुभाव्यस्तान्ति तस्य नानुभवोऽजर । तस्यापि तुल्यबोधत्वात् स्वय  
सैव प्रकाशते ॥ यथा च स्वल्पादन्या बुद्ध्या अनुभाव्यो नास्ति तथा तस्य ज्ञानस्य चाऽजरोऽनुभवो  
नास्ति । तस्य ज्ञानग्रहणस्यापि तुल्यार्थबोधत्वात्, स ह्यन्यत्विनवन्धनो ग्राह्यग्राह्यभाव, तच्चानुपप-  
न्नमित्युक्तम् । तस्मात्तज्ज्ञानमपराक्षतया उत्पन्न स्वय प्रकाशत नान्येन प्रकाशयत ।”—प्रमाणवा०

बुद्ध्यास्ति” [प्रमाणवा० २।३२७] इत्येतन्निरस्तम् । तद्विषयत्वे बुद्धेः बुद्धिरूपत्वस्यैवानुपपत्तेः स्वपरव्यवसायस्वभावत्वात्तस्यैः । प्रसाधितश्च बाह्योऽर्थः प्रपञ्चतो बाह्यार्थसिद्धवसरे<sup>३</sup> । ननु वन्व्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यमेतत् अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य सद्भावावेदकप्रमाणाभावतः सपुष्पवदसत्त्वात् इत्याशङ्क्याह—‘तदस्ति’ इत्यादि । तद् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्ति सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् इति । समर्थितञ्चास्य सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वं प्रयत्नेन सर्वज्ञसिद्धिप्रघटके<sup>४</sup> इत्यलं पुनस्तत्समर्थनप्रयासेन ।

परोक्षमिदानीं व्याचष्टे ‘श्रुतम्’ इत्यादिना । श्रुतम् भविष्यष्टतर्कणम् तत्प्रमाणम् । किं सर्वम् ? न, बाधारहितम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? इत्याह—‘सकल’ इत्यादि । सकलं यत् प्रमाणं यच्च प्रमेयं तयोः इयत्तास्वरूपाभिधायि, अनेन च प्रत्यक्षाऽनुमेयाऽन्यन्तपरोक्षलक्षणे स्थानत्रयेऽप्यस्यै प्रामाण्य दर्शयति । तथा च निराकृतमेतत्—“तृतीयैस्थानसङ्क्रान्तौ न्यैव्यः (न्याय्यः) शास्त्रपरिग्रहः ।” [प्रमाणवा० ४।५१] इति । नहि प्रमाणाणां सौपत्न्यन्यायोऽस्ति येन एकविषये द्वितीयस्याप्रवृत्तिः स्यात् । अथ मतम्—अर्थापत्त्यादेः प्रमाणान्तरत्वप्रसिद्धेः कथं प्रत्यक्षपरोक्षरूपतया प्रमाणद्वित्वसिद्धिः, यतो ‘द्विषैव’ इति नियमः सुघटः स्यात् ? इत्याह—‘अत्र’ इत्यादि । अत्र परोक्षे अर्थापत्त्यनुमानोपमानादीनि, आदिशब्देन अविशदमन्यदपि प्रमाणं गृह्यते, अन्तर्भवन्ति । तत्र तदन्तर्भावश्च परोक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चितः । नन्वेवं सौगतादीनामपि स्वोपकल्पितप्रमाणसख्यायाम् इतरप्रमाणानामन्तर्भावो भविष्यति, इत्याह—‘पर’ इत्यदि । परैः सौगतादिभिः परिकल्पितस्य प्रमाणान्तर्भावस्य निराकरणम् अन्यत्र परोक्षपरिच्छेदे उक्तमिति नेह प्रघटके पुनरुच्यते ।

मनोरथ० २।३२७ । उद्धृतीज्यम्—प्रज्ञ० व्यो० पृ० ५२५ । अष्टसह० पृ० ११० । सिद्धिबि० टी० पृ० १६६ A । शास्त्रबी० पृ० १९५ । स्या० र० पृ० १५० । शास्त्रवा० वशो० पृ० १७४ B, २१५ B । न्यायकुमु० पृ० १३३ टि० ४ ।

(१) अर्थापत्त्यत्वे । (२) बुद्धे । (३) पृ० ११९ । (४) पृ० ८९ । (५) श्रुतस्य । तुलना—“स्थानत्रयाऽविसर्वादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ १० ॥”—तत्त्वार्थ० श्लो० पृ० १३ । (६) “तद्विरोधेन चिन्तायाः तत्सिद्धार्थेष्वयोगतः । तृतीयस्थानसङ्क्रान्तौ न्याय्यं शास्त्रपरिग्रहं ॥ तस्य शास्त्रस्य विरोधेन तत्सिद्धेष्वर्थेषु लिङ्गादिष्वसिद्धकल्पेषु गमकचिन्ताया अयोगतः । यस्मात् प्रत्यक्षपरोक्षार्थयोर्नागमाधिकार तस्मात् तृतीयस्थाने अतीन्द्रिये विषये विचारसङ्क्रान्ते शास्त्रपरिग्रहो न्याय्यं प्रकारान्तरासंभवात् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ४।५१ । (७) यथा यदेका सपत्नी पतिसमीपे समुपतिष्ठति तदा द्वितीया इर्ष्यावलिप्ता अनवकाशतया पत्युपकण्ठनोपसर्पति न तथा प्रमाणाणां सापत्न्यभावो इर्ष्यावलिप्तता अनवकाशता वा समस्ति इति भावः । (८) समवेतिहादिकम् । (९) परोक्षे ।

श्रुतस्य भेदं दर्शयन्नाह—

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥६२॥

विवृतिः—अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्मः आकाशं काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैः असाधारणैः अमूर्त्त्वाऽ-संख्यातप्रदेशत्वसूक्ष्मत्वैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वागुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधारणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथा इतरे परमागतौ योज्याः । ज्ञो जीवः सुखदुखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकल्यम् अनन्तधर्मतामरुता । वैकल्यम् एकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः ।

(१) “भवत । को ? उपयोगो व्यापारो । कस्य ? श्रुतस्य, श्रूयते इति श्रुतमाप्तवचन वर्णपदवाच्यतात्मकं द्रव्यरूप तस्य, भावश्रुतस्य वा श्रवण श्रुतमिति निरुक्ते । कति ? द्वौ । विज्ञामानो ? स्याद्वादनयसंज्ञितौ, स्यात्कथञ्चित् प्रतिपक्षापक्षया वचन स्याद्वाद, नयन वस्तुनो विवक्षितधर्मप्रापण नय, स्याद्वाददच नयदच स्याद्वादनयो, इत्य मन्ने व्यपदेशो ययोस्तौ तयोक्तौ । तौ लक्षणतौ निदिशति—स्याद्वाद उच्यते । क ? सकलादेश सकलस्य अनेकधर्मणो वस्तुन आदश कथनम्, यथा जीवपुद्गल-धर्माधर्माज्ञानवाला पडर्या । “पुनरनयो भवति । वा ? विकलसंकथा, विकलस्य विवक्षितधर्मस्य सम्यक् प्रतिपक्षापक्षया कथा प्रतिपादन यथा जीवो ज्ञातव्ये द्रष्टव्य इत्यादि ।”—लघी० ता० पृ० ८३ । तुङ्गना—“तदुक्तम्—उपायो श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयनदत्त ।”—सिद्धिवि० टी० पृ० ४ A. । (२) “निदिश्यमानधर्मव्यतिरिक्ताऽप्यधर्मान्तरममूचकेन स्याता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्मवचन स्याद्वाद ।”—न्यायाव० ता० टी० पृ० ९३ । न्यायकु० पृ० ३ टि० १० । (३) तुङ्गना—“स्यात्प्रयोगात् ये ज्ञानदर्शनमुमादिरूपा जगदाधरणा य धामूर्त्तत्वान्म्यानप्रदानमूढत्वव्यधना धर्माधर्माधर्मगगनास्ति-वायपुद्गलै साधारणा येऽपि च मत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादय सर्वपदार्थ साधारणास्तपि च प्रतीयन्त ।”—आश० नि० मलय० पृ० १७० A. । (४) सकलादेशविकलादेशयो स्वरूपे प्राय सर्वेषामेकमत्यर्थं वैचिदकलद्वाद्याचार्या सत्त्वमु भगवु सर्वानपि भङ्गान् एतधर्ममुखन जगदधर्मात्मकव-स्तुप्रतिपादनवादे मत्त्वप्रमेयत्वान् एतधर्मं प्रपातनया अन्वधर्मादच गौणतयाऽभिधानममये विकलादेशा-त्मवान् स्वीयुर्वन्ति । क्वचित्च सिद्धमनगणप्रभृतय सदसदवस्तुव्यवस्थ नङ्गनय सत्त्वप्रमेयत्वेन सिष्टादच चतुरा भगान् विकलादेशरूपण मन्यन्त । अरुलङ्कारिणां धन्या—“तथा बोधनम्—सकलादेश प्रमाणापातो विकलादेशा नयाधीन इति ।”—सर्वार्थसि० ११६ । “यत्र यदा योगपद्य तदा सत्त्वप्रमेय । ” एकगुणमुगनागवस्तुरूपमग्रहान् सकलादेश । तत्रादसवमान् सत्त्वभगी प्रतिपदम् । यदा तु धम तदा विकलादेश (पृ० १८०) “निरास्यापि गुणभदादसत्त्वना विकलादेश । तत्रापि तथा मत्त्वभगी ।”—आश० पृ० १८१ । नयचक्र० पृ० ३४८ B. । “सत्त्वप्रमेयं हि योगपद्यनायपधर्मत्वव-स्तु कालादिनिरन्धेरुत्तना प्रतिपादयति जगदाधरणा वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु वचन जगदाधरणा भेदप्राधान्येन वा ।”—तत्त्वार्थसि० पृ० १३६ । प्रमेयक्र० पृ० ६८२ । सत्त्वभगित० पृ० ३२ । प्रपातनय० ६१६६, ४५ । जैनकथा० पृ० २० । “इय सत्त्वभङ्गी प्रतिभङ्ग सत्त्वप्रमेयत्वभारा विकलादेशरुपना वा ।”—प्रपातनय० ४४३ । गुप्तस्ववि० पृ० १५ A. । प्राश्रवा० टी० पृ० २५४ A. । “यदा मत्त्वप्रमेयतापिरवस्थात् सिद्धिर्धर्मं प्रतिपादयित्वा जगदधर्मस्वीकरणनिराकरणप्रामुख्या-पिवा वाच्यं प्रमुच्यते तदा तत्त्वचित्तका भवि लोहितकम् सम्मुपाकारतयापथत—यदुत जीवाऽपि”

तत्र जीव इत्युक्ते जीवशब्दो योग्यतापेक्षोऽनादिसंकेतः स्वभावभूताऽन्यापोहस्वार्थ-  
प्रतिपादनः न्यत्नेण प्रतिपक्षं निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् ततः स्यात्पदप्रयो-  
गात् सर्वथैकान्तत्यागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति

कर्ता प्रमाता भाक्तेत्यादि, जत सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावान् विकलादेशोऽभिधीयते नयमतेन तभ-  
द्धर्माणा दशनमानमित्यर्थ । यदा तु प्रमाणव्यापारमविकल परामश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृ-  
तगुणप्रधानभावा ज्ञापधर्ममूचकव्यञ्जितपर्यायस्याच्छब्दभूतया सावधारणया वाचा दर्शयन्ति 'स्या  
दस्त्येव जीव' इत्यादिकया, अनाद्य स्याच्छब्दसमूचित्वाभ्यन्तरीभूतानन्तधर्मरस्य साक्षादुपन्यस्तजीव-  
शब्दत्रियाभ्या प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसभयस्य वस्तुन सददर्शवत्वात् सकलादेश  
इत्युच्यते । प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकयनमिति यावत् । तदुक्तम्—ता ज्ञेयविशेषणतिर्नवप्रमाणात्मिका  
भवेत्तत्र । सकलग्राहि तु मान विकलग्राही नयो ज्ञेय ।"—न्यायावता० टी० पृ० ९२ । सिद्धसेनगणितप्र-  
भृतीना ग्रन्था—एवेमेते त्रय सकलादेशा भाष्येणैव विभाविता सग्रहव्यवहारानुसारिण आत्मद्रव्ये ।  
सम्प्रति विकलादेशादश्चत्वार पर्यायनयाश्रया वक्तव्यास्तत्रप्रतिपादनार्थमाह भाष्यकार—देशादेशेन  
विकल्पयितव्यमिति विवक्षायत्ता च वचस सकलादेशता विकलादेशता च द्रष्टव्या । द्रव्यार्थजात्यभेदात्  
सर्वद्रव्यार्थभेदानेदक द्रव्यार्थं मन्वते, यदा पर्यायजात्यभेदादश्चक पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदान् प्रतिपद्यते,  
तदा त्वविवक्षितस्वजातिभेदत्वान् सकल वस्तु एकद्रव्यार्थाभिन्नम् एकपर्यायार्थाभेदोपचरित तद्विशेषका-  
भेदोपचरित वा तन्मात्रमेकमद्वितीयाश वृत्तन् सकलादेश स्यात्त्रय इत्यादिस्तित्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्य-  
त्वयुगपद्भावंकत्वरूपैकार्थाभिधायी । यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्या तद्विशेषाभ्या वा वस्तुनः एवत्वं  
तदतदात्मक समुच्चयाश्रय चतुर्विकल्पे, स्वाद्युगपद्भूत क्रमवृत्तञ्च पञ्चमपठसप्तमेपूच्यते तथावि-  
वक्षावशात् तदा तु तथा प्रतिपादयन् विकलादेश ।"—तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४१५ । "तत्र विवक्षावृत्त-  
प्रधानभावसदाद्येकधर्मिकस्वापेक्षितापराशेषधर्मोऽङ्गीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्वात्कारपदलाञ्छितवाक्यात्  
प्रतीतेः स्यादस्ति घट स्याज्जास्ति घट स्यादवक्तव्यो घट इत्येते त्रयो भङ्गा सकलादेशाः विवक्षावि-  
चितद्वित्रिधर्मनुरक्तस्य स्यात्कारपदसमूचितसकलधर्मस्वभावस्य धमिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्ते  
चत्वारो वक्ष्यमाणका विकलादेशा—स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेश, स्यादस्ति  
चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीय, स्यात्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीय, स्यादस्ति च नास्ति चावक्त-  
व्यश्च घट इति चतुर्थ ।"—सम्प्रति० टी० पृ० ४४६ । उ० यत्तोऽपि चै पद्यसि पास्त्रवा० टी० जैन-  
तर्कभा० गुप्तस्वविनिश्चयादौ सप्तानामपि भङ्गाना अकलक्षोपज्ञाता सकलविकलादेशोभयरूपता  
भिद्वान्तीकृता तथापि तै. अष्टसहस्रीविवरणे 'आद्यास्त्रयो भङ्गा सकलादेशा शिष्टाश्च चत्वारो विक-  
लादेशा' इत्यपि तत्त्वार्थभाष्यसमूचित सिद्धसेनगणिव्यावर्णित कृतान्तीकृतम् । तथाहि—'किन्तु आद्यभ-  
ङ्गद्वयघटकनिजपररूपयो भङ्गप्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वा युज्यते तृतीयभङ्गस्तु अव-  
क्तव्यलक्षण ताभ्या युगपदादिष्टाभ्या तद्भेदादनेकभेद, इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकला-  
देशरूपा, सदसत्त्व सदवक्तव्यादव्यश्चत्वारस्तु चरमा सावयवद्रव्यविषयत्वात्त्रिकलादेशरूपा, देशभेद  
विनैकत्र तु त्रयेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविषद्वत्वात्तोदेति इति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमपामि-  
त्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम् ।"—अष्टसह० विव० पृ० २०८ B । अयमेव सिद्धान्त  
शास्त्रवातात्समूच्चयटीकायाम् केचित्तु' इति कृत्वा निर्दिष्टः । तथाहि—'केचित्तु अनन्तधर्मात्मकवस्तु-  
प्रतिपादकत्वाविशेषेण आद्यास्त्रय एव भगा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशा अग्रिमास्तु चत्वारः  
सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशा, इति प्रतिपन्नन्त ।"—शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B ।

स्वेष्टसिद्धिः । नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तः । 'स्याज्जीव एव' इत्युक्तेऽनेकान्त-  
विषयः स्याच्छब्दः, 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ।

उपयोगौ व्यापारौ, कैतिसंख्यौ ? द्वौ । कस्य ? श्रुतस्य श्रुताख्य-

प्रमाणस्य । किमाख्यौ ? स्याद्वादनयसंज्ञितौ, स्याद्वादसंज्ञितः

परिचय -

नयसंज्ञितश्च । कोऽसौ स्याद्वादः कश्च नयः इत्याह—'स्याद्वादः'

इत्यादि । स्याद्वादो भवति, कोऽसौ ? सकलादेशः सकलस्य सम्पूर्णस्य वस्तुनः

अदेशः कथनम् । नयस्तु विकलसंकथा वस्त्वेकदेशरुचनम् ।

(१) मलयगिरिवाच्यार्थाः स्यात्प्रवचनप्रयोग प्रमाणवाक्य एव उररीतुर्वन्ति । एतन्मतानुसारेण सर्वेषां नयना मिथ्याभूत्वात् । अतस्ते 'स्यात्प्रदलान्छितो नयः सम्यग्' इत्यवलङ्कृतस्य समालोचना वृत्ता । प्रत्यालोचिता च सा उ० यगोविजयैरिति । तदेवं समन्तभद्रसिद्धमेनदिकाकरादिभिरुपज्ञातम् अवलङ्कृतं विवृतमत मत हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति । मलयगिरिकृता समालोचना इत्यम्—'नयचिन्तायामपि च ते दिग्मन्त्रा स्यात्प्रयोगमिच्छन्ति तथा चावलङ्कृत एव प्राह—'नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्' इति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या वृत्ता—नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्य न केवल प्रमाणवाक्यमित्यपि शब्दार्थं, तथैव स्यात्प्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषय स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति । स्यात्प्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्ग एव रयादिनि ।' तदतदयुक्तम्, प्रमाण-नयविभागाभावप्रसङ्गे, तथाहि—'स्याज्जीव एव' इति विकल प्रमाणवाक्यम् 'स्यादस्त्येव जीव' इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीयस्यालङ्कारे साक्षादवलङ्कृतोदाहृतम्, अत्र चोभयत्राप्यविशेष, तथाहि—स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिग्रहना जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्ति, अस्तीत्यनेनोद्भूतान्तरशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यताविषय, स्याच्छब्दप्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माक्षेप । 'स्यादस्त्येव जीव' इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताप्रतिपत्ति, अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगति, एवशरप्रयोगात् यदागन्त सङ्ग्रेषि जगति जीवस्य नास्तित्व तद्वचनच्छेद, स्यात्प्रयोगात् साधारणासाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयनाप्यविशेष एव ।"—आव० नि० मलय० पृ० ३७१ A. । उ० यगोविजयै एतन्मलयगिरिरुतम् आलङ्कृतमालोचन पूर्वोक्तवृत्त्य इत्यं समाहितम्—'अत्रेदमवधयम्—यो नाम नयो नयान्तराशय तस्य प्रमाणान्तभाव व्यवहारनय प्रमाण स्यात् तस्य तप शयमप्रवचन-प्राह इत्यन शयमप्राहिनित्यविषयकत्वेन तत्सापक्षत्वात् । अच्यनवानाञ्च निक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तृणा भावाम्भुपगन्तृगन्धनयविषयविषयत्वेन तत्सापक्षत्वात्प्रमाणत्वावपत्ति । नयान्तरवाक्यमयोगेन मापेक्षत्वे च ग्राह्ये स्यात्प्रयोगेण मप्रतिपत्तयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव लाभात् तेनाऽन्तधर्मात्मकत्वारारणं । न चदेवं तदाऽनन्तं सम्यगेकान्तप्रवेगानुपपत्ति अवच्छेदकभेद विना मप्रतिपक्षविषयममावेगस्य दुर्ब-चत्वान्, इत्यत चायम् । 'स्यात्प्रदमवच्छेदकभेदप्रदेनैतथैव विवृतम् । अत एव स्यादित्यव्ययमनेकान्तवाक्यमव तान्त्रिकं इत्यत । सम्यगनन्तमाधकस्य अनन्तताक्षेपरत्वात् न त्वनन्तधर्मपरामर्शम्, अत न स्यात्प्रयोगमात्राधीनमादगसाक्षत्य यत्र प्रमाणनयवाक्ययोर्भेदो न स्यात्, किन्तु स्वाधीनविषयनन्तरमधधर्माभेदोपस्थापनविधेयपदवृत्त्यधीनम् । गा च विरक्षाधीनेत्यादसामान्यमपि तथानयप्रमाणसाक्ष्यकारित्य भेद एव । मलयगिरिग्राहवचन तु अप्रतिपक्षधर्माभिव्यक्तत्वं अवच्छेदकभेदाभिधानानुपपन्न स्यात्प्रदम माक्षादन्तधर्मात्मकत्वाभिव्यानात्, तत्र प्रमाणनयभेदानभ्युपगन्तृविदाम्-दिग्मन्तरनिराकरणमिप्रायण यावन्नीयम् ।'—गुप्तत्ववि० पृ० १७ B ।

तत्र स्याद्वादपदं व्याचष्टे 'अनेकान्त' इत्यादिना । अनेकान्तात्मकस्य अनेकधर्मस्वभावस्य अर्थस्य जीवादेः कथनं स्याद्वादः । अत्रोदाहरणमाह—  
विनृतिन्यायानम्—

'यथा' इत्यादि । यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने, जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकाशं काल इति पट्टव्यरूपोऽर्थः, तस्य अनेकान्तात्मकत्वनिरूपणं स्याद्वादः । तत्र जीवे तावदनेकान्तात्मकत्वं 'तत्र' इत्यादिना निरूपयति । तत्र तेषु जीवादिपट्टपदार्थेषु मध्ये जीव आत्मा 'अनेकान्तः' इति सम्बन्धः । कैर्धर्मैः इत्याह—ज्ञानदर्शनवीर्यमुखैः । ननु दर्शनमेव पुरुषस्य स्वरूपं न ज्ञानादयः, तेषां प्रकृतिधर्मत्वात् तत्कथं तैरसौ<sup>३</sup> अनेकान्तः ? इत्यप्युक्तम्; प्रकृतिधर्मतां निराकृत्य तेषां तद्धर्मतायाः प्रत्यक्षपरिच्छेदे<sup>४</sup> प्रतिपादितत्वात् । ततः सूक्तम्—'ज्ञानादिभिः जीवोऽनेकान्तः' इति । कथम्भूतैस्तैः इत्याह—असाधारणैः पुद्गलाद्यसंभविभिः । ननु बुद्ध्यादयो नव आत्मनोऽसाधारणा गुणाः सन्ति तत्किमर्थमेते चत्वार एव दर्शिताः इति चेत् ? तेषामेव सहभुवां तद्गुणत्वप्रतिपादनार्थम् । इच्छादयो हि क्रमभाविनः पर्यायाः न गुणाः, अन्यथा भयहर्षशोककरुणामर्षादासीन्यादीनामपि तद्गुणत्वप्रसक्तेः 'नवेव' इति संख्यानियमो दुर्घटः स्यात् । परैरपि तदनेकान्तं दर्शयितुमाह—'अमूर्त्तत्व' इत्यादि । रूपादिरहितत्वम् अमूर्त्तत्वम्, न पुनः असर्वगतद्रव्यपरिमाणुभावः, जीवस्य मूर्त्तत्वप्रसङ्गात् । तस्यै<sup>५</sup> असर्वगतत्वेन विषयपरिच्छेदे प्रसाधितत्वात् । असङ्ख्यातंप्रदेशत्वम् असंख्यातावयवोपेतत्वम्, सूक्ष्मत्वं शुद्धस्य तस्यै केवलज्ञानादन्यतोऽसाक्षात्करणम्, तैः अनेकान्तो 'जीवः' इति सम्बन्धः । किं विशिष्टैः साधारणासाधारणैः, साधारणैः गगनादावपि भावात्, असाधारणैः पुद्गलेष्वभावात् । पुनरन्यैस्तदनेकान्तं दर्शयन्नाह—'सत्त्वं' इत्यादि । सुप्रसिद्धाः सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादयो धर्माः तैः । कथम्भूतैः ? साधारणैः पैट्स्वपि द्रव्येषु भावात् । तस्य एवंविधस्य जीवस्य आदेशात् कथनात् प्रमाणं स्याद्वादः तत्र तदधिसंवादान् इति भावः । तथा तेन असाधारणोभय-

(१) साख्य । "द्रष्टा दक्षिमात्र बुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य ।"—योगसू० २।२०। (२) "प्रकृतेर्महानुत्पद्यते । महान् बुद्धिर्धृतिर्ब्रह्मा पूर्तिं ख्यातिरीश्वरो विलर इति पर्यायाः" आह—उक्त प्रधानाद्बुद्धिरुत्पद्यते इति ? तत्र वक्तव्यं किं लक्षणा पुनर्बुद्धिरित्युच्यते—अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञान विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥"—सांख्यका० युक्तिवती० पृ० १०८। (३) जीव । (४) अनेकधर्मात्मक । (५) ज्ञानादीनाम् । (६) जीवधर्मताया । (७) पृ० १९१। (८) वैशेषिका । 'नवानामात्मगुणानां बुद्धिमुखदु खेच्छाप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणाम्'—न्यायम० पृ० ५०८। (९) ज्ञानदर्शनवीर्यमुखाख्या । (१०) आत्मगुणत्व । (११) जीवस्य अनेकधर्मात्मकत्वम् । (१२) "इयत्तावच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्त्तत्वं तदभावाऽमूर्त्तत्वम् ।"—सप्तप० पृ० ७२ । "असर्वगतद्रव्यपरिमाणमूर्तिरिति हि पदार्थविद ।"—तत्त्ववि० पृ० १५८। (१३) जीवस्य । (१४) पृ० २६१। (१५) आत्मन ।

१ इत्याद्युवा-ब०, थ० । २-धारणगुणा ब० । ३-दान् गुणा ब० । ४-तवेश-थ० । ५-वि भवात् ब० । ६ पुनरप्यन्यं थ० । ७-ह सुप्रसि-थ० । ८ खट्स्वपि द्रव्येषु आ० । ९ तथा तथा तेन थ० ।



साधारणधर्माधिकरणत्वेन अनेकान्तप्रकारेण इतरे पुद्गलादय पदार्था परमागमतः परमागममाश्रित्य योज्याः ।

इदानीं नय दर्शयन्नाह—‘ज्ञः’ इत्यादि । जीः इति धर्मिणो निर्देश , ज्ञः चेतना-  
स्वभावा इति साध्यस्य, सुसदुःखादिवेदनादिति हेतो , इति एव प्रयोग आदिर्यस्य  
६ अनित्यशब्दादे स तथोक्त , स चासौ विकलस्य धर्मान्तरनिरपेक्षस्य धर्मस्य आदेशश्च  
नयः । ननु किमिदं साकल्य वैकल्यञ्च आदेशस्य यत् ‘स्याद्वादः सकलादेशो  
नयो विकलसंकथा’ इति स्यात् ? इत्याह—‘साकल्यम्’ इत्यादि । सकलस्य  
अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो भाव साकल्यम् अनन्तधर्मात्मकता । तत्प्रतिपादक  
वचनम् एवमुक्तम्, पिपर्यस्य विपर्ययिण्युपचारात् । विकलस्य एकदेशस्य भावो वैक-  
१० ल्यम्—एकान्तः, तदादेश तथोक्त । कुत ? इत्याह—‘धर्मान्तर’ इत्यादि । विवक्षित-  
धर्माद् अन्यो धर्मः तदन्तर तस्य अविवक्षार्तं, नान्यथा दुर्नयत्वप्रसङ्गात् । नैतु  
शब्दस्य अर्थे सम्बन्धाभावतः प्रवृत्तेरेवाऽसभवात् न सकलविकलादेशप्ररूपण युक्तम्,  
इत्याह—‘तत्र’ इत्यादि । तत्र अनन्तात्मके तत्त्वे स्थिते सति, यदि वा तत्र एव  
स्याद्वादनयस्वरूपे निरूपिते सति ‘जीः’ इत्युक्ते जीशब्दः अवान्तरविशेषरहित  
१५ जीमात्रमेव अभिदध्यात् । कथम्भूतम् ? इत्याह—‘योग्यता’ इत्यादि । योग्यतायाम्  
अपेक्षा यस्य योग्यता वा अपेक्षते इति योग्यतापेक्षः, अनादिः सङ्केतो यस्य स  
तथोक्त । ‘योग्यता’ इत्यनेन तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धविरह नित्यैकरूपसम्ब-  
न्धाऽसत्त्वेऽपि च शब्दार्थयो वाच्यवाचकभाव दर्शयति, योग्यतास्वभावसम्बन्धसभ-  
यान् । एतच्च सप्रपञ्च प्राक् प्रपञ्चितम् ।

२० ननु योग्यतातोऽपि शब्दस्य अर्थप्रतिपादकत्वे एकस्माच्छब्दात् युगपदनेकार्थ-  
प्रतिपत्ति स्यात्, सर्वस्य शब्दस्य सर्वत्रार्थे प्रतिपादनयोग्यतासभवात्, तदनुपपन्नमिति  
‘सङ्केत’ इत्यनेन दर्शयति—सत्वामपि अनेकार्थप्रतिपादनयोग्यतायां विनियतसङ्केत-  
वशाद् विनियतार्थप्रतीत्युपपत्ते । एतच्च ‘प्रमाण श्रुतम्’ [ लघी० का० २६ ]  
इत्यत्र प्ररूपितम् । ननु यदा जीवशब्दोऽर्थमभिधत्ते न तदा पूर्वसङ्केतोऽस्ति तत्कथ  
२५ नेदपे नस्यास्य नियताथप्रतीतिहेतुत्वमिति चेत्, न, ‘अस्येदं वाच्यम् इदं वाचकम्’ इति  
पित्तस्य सङ्केतत्वात्, तस्य च तदापि भावात् । न चेदमयान्तरकल्पितम् इति अनादि-  
पदा दर्शयति । ननु जीवमात्रमभिदध्यात् इत्युक्तम्, अन्यापोहस्थेषु चातेरय

(१) गारत्यगन्त । (२) अनन्तधर्मात्मकस्वरूपान्तरस्य वाच्यस्य । (३) वाचकं स्या

ज्ञः सत्त्वान्ते । (४) न तु पमान्तरस्य प्रतिपत्ति । (५) सौगत । (६) गवगल्यस्य गवाथ  
श्रीगान्तरमनुरागप्रम् । (७) अनान्तिगद्गतागस्य जीवगल्यस्य । (८) पित्तस्य । (९) बोद्धा ।  
(१०) भीमांगका ।

१—कान्तन प्रका-ब० । - इतरेषु पु ५० । ३—कल्प्यं वादेण-थ० । अनन्तधर्मात्मके तत्त्वे  
४० । —यां विषय-थ० । ६ पूष सङ्केतो-ब० थ० । ७ वेदास्य सङ्केतायात् ब० ।

अन्योन्यविभिन्नतद्द्वयस्थैव वा शब्दार्थत्वात्; इत्यत्राह—‘स्वभाव’ इत्यादि। स्वभावभूतः अन्यतः सर्वतोऽपोहः पररूपेण असत्त्वं यस्य स तथोक्त स चासौ स्वार्थश्च स्वाभिधेयः तस्य प्रतिपादनः जीवशब्दः तन्मात्रमभिदध्यात्। किं कृत्वा ? निरस्य। कम् ? प्रतिपक्षम्, प्रत्यनीकं मतम् अपोहादिमात्राभिधायित्वलक्षणम्। कथम् ? न्यक्षेण सामस्त्येन। यथा च अपोहादेः शब्दार्थता न घटते तथा ‘प्रमाणं श्रुतमर्थेषु’ [ लघो० का० २६ ] इत्यत्र प्रपञ्चतः प्रतिपादितम्। ततः तस्मात् न्यायात् स्यात्पदप्रयोगात् सर्वथैकान्तस्य ‘सन्नेव जीवः, असन्नेव, द्रव्यरूप एव, पर्यार्यरूप एव वा’ इत्येवं-रूपस्य त्यागात् निरासात्, स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टः स्वद्रव्यक्षेत्रादिविशेषण-विशिष्टः जीवः जीवशब्देन अभिधीयते इति स्वेष्टस्य अनेकान्तात्मनो जीवस्य सिद्धिः।

एवं प्रमाणवाक्यमुपदर्श्य साम्प्रतं नयवाक्यं दर्शयन्नाह—‘नयोऽपि’ इत्यादि। 10  
नयोऽपि नयवाक्यमपि न केवलं प्रमाणवाक्यम्, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्य-  
गेकान्तः सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, अन्यथा मिल्यैकान्तगोचरः स्यादिति। अधुना  
एवकारप्रयोगोपयोगं दर्शयन्नाह—‘स्यात्’ इत्यादि। ‘अनेकान्तः’ इत्येतदनुवर्त्तमानमिह  
सम्बध्यते। ततोऽयमर्थः सिद्धः—स्यात् कथञ्चित् जीव एव ज्ञानदर्शनसुखवीर्यैः धर्मैः  
अनेकान्तः नान्यः इति एवकारार्थः। इत्येवमुक्ते एवं वाक्ये प्रयुक्ते सति नैकान्त- 15  
विषयः किन्तु अनेकान्तविषयः स्याद् भवेत् शब्दः ‘स्याज्जीव एव’ इतिवाक्यम्  
अनेकान्तरूपस्य तस्यै अभिधानात्। ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्युक्ते सति एकान्त-  
विषयः सम्यगेकान्तगोचरः स्याद् भवेत् शब्दः ‘स्यादस्त्येव’ इति वाक्यम्, प्रधानतः  
तदस्तिवैकान्तप्रतिपादनात्। एवमुत्तरभङ्गेष्वपि वक्तव्यम्।

ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारञ्च प्रयुञ्जते, अन्यथैव तत्प्रयोग- 20  
दर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोद्गार्थमाह—

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।

विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥ ६३ ॥

(१) योगा। (२) स्यात्पदप्रयोगभावे। (३) जीवस्य। (४) स्यात्कारास्त्येवेत्यादिपु।  
(५) स्यात्पदप्रयोगनियमः। (६) “प्रतीयतेऽभिगम्यते। क ? स्यात्कारः स्यादिति पदमव्ययम्, क्व ?  
सर्वत्र दास्ये लोके वा। कस्मिन् विषये ? विधौ सत्त्वादी साध्ये। न केवल विधौ किन्तु निषेधेऽपि  
वसत्त्वादावपि साध्ये। अन्यत्रापि अन्यास्मिन् अनुवादातिदेशादावपि। किंविशिष्टोऽपि अप्रयुक्तोऽपि  
स्यादस्ति जीव इत्यनुवर्त्तोऽपि। तर्हि कुत प्रतीयते इति चेदत्राह—अर्थात् सामर्थ्यात्। “चेद्यदि कुशल  
स्यात् व्यवहारे प्रबुद्ध स्यात्। क ? प्रयोजक प्रतिपादकः। “—लघो० ता० पृ० ८६। उद्धृतोऽयम्—  
' विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र '—आव० नि० मलय पृ० ३६९ B.। गृह्यसूत्रवि० पृ० १६ A.। तुलना—  
'विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि सर्वोऽर्थोऽप्य प्रतीयते ॥ व्यवच्छेदफलं वाक्य यथा चंद्रो धनुर्धर। पार्थो धनुर्धरो

1—प्रबुद्ध—आ०, थ०। 2 तथो स आ०। 3 'नयोऽपि' नास्ति व०। 4 'नयवाक्यमपि' नास्ति  
आ०। 5—पदयोग—थ०। 6 प्रयुञ्जते आ०। 7—युक्तेऽपि मु० लघो०।

विवृतिः—कचित्स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात् । अवधारणाभावेऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यंभावित्वात् अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गः । किं बहुना विधिनिषेधानुवादातिदेशादिवाक्येषु कारकेषु कर्त्रादिषु स्वार्थादिषु प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽ-  
 ६ प्रसिद्धिः इत्यावालप्रसिद्धम् ।

अप्रयुक्तोऽपि न केवल प्रयुक्तः सर्वत्र वाक्ये स्यात्कारः, उपलक्षणमेतत्

तेन एवकारोऽपि प्रतीयते । कुत इत्याह—अर्थात् सामर्थ्यात् ।  
 कारिकार्थं— तथाहि—‘पानीयमानय’ इत्युक्ते यदि पानीयस्य अन्यस्य क्षानयनं  
 लौकिकानामभिप्रेतं स्यात्तदा पानीयपदोपादानमनर्थकं स्यात् । अथाप्यनानयनमभिप्रेतम्,  
 १० आनयनग्रहणं व्यर्थम् । अस्ति च तदुभयग्रहणम्, अतः एवकारप्रतीतिः इति । क ?  
 विधौ निषेधेऽपि, भिन्नप्रक्रमः अपिशब्दः ‘अन्यत्र’ इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः ।  
 अन्यत्रापि अनुवाद-अतिदेशादावपि । अथ यदि सर्वत्र सः प्रतीयते ‘अङ्गुल्यग्रे हस्ति-  
 यूथशतमास्ते” [ ] इत्यादावपि प्रतीयेत । तथा च “सर्वस्योभयरूपत्वे”  
 [ प्रमाणवा० ३।१८१ ] इत्यादिदोषानुपपन्नः स्यात् इत्यत्राह—‘कुशलः’ इत्यादि । यथा  
 १५ योऽर्थः प्रमाणतः प्रतिपन्नः तथैव तस्य प्रतिपादकः प्रयोजकः कुशलो भवेत्  
 नान्यथा, स चेत् यदि प्रयोजकः शब्दानामिति ।

व्यतिरेकमुखेन कारिका विवृण्वन्नाह—‘कचिद्’ इत्यादि । कचिद् विध्यादिवाक्ये

स्यात्कारमनिच्छद्भिः एकान्तवादिभिः सर्वथा धर्मापेक्षया इव  
 विवृतिव्यारणम्— धर्मपेक्षयाऽपि, यद्वा यथा धर्मपेक्षया तथा धर्मापेक्षयापि एकान्तः

सर्वथैकान्तः सोऽभ्युपगतः स्यात् तत्र च प्रमाणविरोधः इत्यभिप्रायः । अतस्तद्विरोध  
 २० परिहर्तुमिच्छता सर्वत्र स्यात्कारोऽभ्युपगन्तव्यः । एव व्यतिरेकमुखेन सर्वत्र स्यात्कार  
 प्रसाध्य इदानीं तथैव एवकार प्रसाध्यन्नाह—‘अवधारण’ इत्यादि । अवधारणस्य  
 एवकारस्य अभावेऽपि न केवलं स्यात्काराभावं ‘सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्’ इति  
 सम्बन्धः । कुत एतदित्यत्राह—अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यंभावित्वादिति ।

नील सरोजमिति वा यथा ।—प्रमाणवा० ४।१९१ ९२। सामर्थ्याच्चाप्रयोगऽर्थो गम्य स्यादेवकारयो ।’  
 —सिद्धिबि० टी० पृ० ५०७ B । न्यायबि० का० ४५३। ‘सोऽप्रयुक्तोपि वा तज्ज्ञं सवत्रार्थात् प्रतीयते ।  
 यववसरोऽप्योगादिव्यवच्छेदप्रयोजन ॥ —तत्त्ववाच्यश्लो० पृ० १३७। स्या० रत्ना० पृ० ७१८। रत्नाक  
 रावता० पृ० ६१ । सप्तमणित० पृ० ३१ । स्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप० पृ० ९६ A ।

(१) तुक्ता—‘अपान्यत्रापि इति—अनुवादातिदेशादिवाक्येषु ।—आव० नि० मलय० पृ०  
 ३६९ B । (२) पृ० ५३० टि० ३ । (३) पृ० ६२० टि० ५ ।

१—निराकाराभ्युपगमस्यावश्य—इ० वि० । २—युक्तो न व० । ३—णमेतेन एव—व० । ४ क्षानयनं  
 व०, ध० । ५ इष्टव्यम् व० । ६—पेक्षया तथा धर्मापेक्षयाप्येकान्तं ध० । ७—मुखण आ० । ८ अभावे  
 न के—व० । ९—रिप्याह व० ।

तथाहि—‘ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एव’ इति अन्ययोगव्यवच्छेदेन जीवस्यैव ऐतल्लक्षणलक्षितस्य अनेकान्तानभ्युपगमे अजीवोऽपि तैल्लक्षणः स्यादिति बहिरर्थव्यवस्थान्विलोपः, तद्विलोपे च सकलप्रमाणप्रमेयादिव्यवहारापहारः । ‘तल्लक्षण एव सः’ इति अयोगव्यवच्छेदानभ्युपगमे च रूपादिरप्येतल्लक्षणं स्यात् इति जीवेतरविभागाभावः स्यात् । ‘भवत्येव’ इत्यवधारणाभावे अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः स्यात् ।

ननु साक्षात्प्रयुक्तस्य सामर्थ्यगम्यस्य वा एवकारस्यैव प्रतीतिर्युक्ता तैसाध्यस्य अयोगादिव्यवच्छेदफलस्य सर्पत्र वाक्ये संभवात् पुनः स्यात्कारस्य निष्फलत्वान् । उक्तञ्च—

“अयोगमपरैर्यागमत्यन्तायोगमेव च ।

व्यवच्छिन्नति धर्मस्य निपातो व्यतिरेकः ॥” [ प्रमाणवा० ४।१९० ]

(१) “विशेषसङ्गतवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, यथा पार्थ एव धनुर्धर । अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेद । तत्र एवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते । तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववदधनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोधः ।”—सप्तमि० पृ० २६ । “तत्र विशेष्यगतवस्थले पार्थ एव धनुर्धर इत्यादौ अन्यतादात्म्यव्यवच्छेदोऽर्थः । अन्यत्वञ्च समभिव्याहृतपदार्थापेक्षिकम् । तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववदधनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोधः ।”—व्याकरणभू० २० पृ० ३७० । “यद्वा पार्थान्यस्मिन् प्रसक्तधनुर्धरत्व व्यवच्छिद्यते ।”—वाच० । न्यायको० पृ० १९१ । (२) ज्ञानदर्शनोपयोग । (३) एवकाराभावे अजीवोऽपि ज्ञानादिमान् स्यात्तथा च सर्वस्य चेतनात्मकत्वप्राप्त्या बाह्यद्रव्यस्य अचेतनस्य सर्वंवाऽभाव स्यादिति भावः । (४) बाह्यार्थापलापे हि प्रमाणादिव्यवस्थाऽभाव, बाह्यार्थापलापे हि ज्ञाने प्रमाणतदाभास व्यवहारो भवति “बहिः प्रमेयापेक्षया प्रमाणं तत्रिभञ्च ते” (आप्तमी० का० ८३) इत्यभिधानात् । (५) तानि ज्ञानदर्शनादीनि लक्षणानि यस्य जीवस्य असी तल्लक्षण । (६) ‘विशेषसङ्गतवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, यथा शङ्ख पाण्डुर एवेति । अयोगव्यवच्छेदो नाम उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावात्प्रतिबोधित्वम् ।”—सप्तमि० पृ० २५ । ‘विशेषसङ्गतवस्थले अयोगव्यवच्छेदः ‘शङ्ख पाण्डुर एव’ इत्यादौ शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वसमवायाभावव्यवच्छेदबोधनात् ।”—व्याकरणभू० २० पृ० ३७० । “अत्र शङ्खत्वावच्छेदेन पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बुध्यते । अथवा विशेष्ये शङ्खे पाण्डुरत्वायोगव्यवच्छेदो बोध्यते ।”—(म० प्र० १ पृ० ७)”—न्यायको० पृ० १९१ । (७) एतस्य जीवस्य लक्षणं स्यात् । (८) जीव उद्देश्यतापेक्षेयोलक्षणो भवत्येव । (९) क्रियासङ्गतवकारोऽन्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक यथा नीलं सरोजं भवत्येव ।”—सप्तमि० पृ० २६ । व्याकरणभू० २० पृ० ३७० । “सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते ।”—वाच० । न्यायको० पृ० १९२ । (१०) एवकारसाध्यस्य । (११) ‘अयोग योगमपरैरत्य निपात एवकारो व्यतिरेकः नियामक क्वचिद् धर्मस्य विशेषणस्य अयोग व्यवच्छिन्नति । क्वचिदपरं विशिष्यादन्यं योर् व्यवच्छिन्नति क्वचिदत्यन्तायोग व्यवच्छिन्नति । ननु निपातो न स्वयं वाचक किन्तु द्योतक तदस्य कथमयमर्थप्रभेद इत्याह—विशेषणविशेष्याभ्यां त्रियया च सहोदित । द्योतकत्वादेव निपातो विशेषणेन सहोदितोऽयोगस्य व्यवच्छेदक । विशेष्येण सहोक्तोऽन्ययोगस्य, त्रियया च सहोक्तोऽन्यन्तायोगस्यति विशेषणादिपदवाच्य एव अयोगव्यवच्छेदादि तत्सहोक्तनिपातद्योत इत्यर्थः ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९० । तुलना—सिद्धिबि०, टी० पृ० ५०७।१ । “यद्विनिश्चय—अयोग योगमपरं”—पद्व० बृह० पृ० १४ । न्यायाव० टी० टि० पृ० १७ । “यदुक्तम्—अयोगमन्ययोगञ्च अत्यन्तायोगमेव च । व्यवच्छिन्नति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः ॥”—काव्यप्र० टी० पृ० ८८ ।

निपात एवकारः व्यतिरेचकः निवर्त्तकः । तत्र 'चैत्रो धनुर्धर एव' इत्यत्र अयो-  
गव्यवच्छेदः, तथाहि-परप्रतिपत्तये वाक्यं प्रयुज्यमानं यदेव परेण व्यामोहादाशङ्कितम्  
तदेव व्यवच्छिनत्ति, चैत्रश्च लोके धनुर्धरो न प्रतीतः, ततश्चैत्रस्य अधनुर्धरत्वशङ्काव्यव-  
च्छेदेन धनुर्धरत्वविधानार्थं 'चैत्रो धनुर्धर एव' इति वाक्यं प्रयुज्यते । 'पार्थ एव धनु-  
र्धरः' इत्यत्र अन्ययोगव्यवच्छेदः । नहि पार्थे अधनुर्धरत्वाशङ्का कस्यचिदस्ति धनु-  
र्धरत्वेन अखिलजनप्रसिद्धत्वात्तस्य । तस्मात् यदतिशयबद्धनुर्धरत्वं तत् पुरुषान्तर-  
साधारणमाशङ्कितमिति तद्व्यवच्छेदाय 'पार्थ एव धनुर्धरः' इति वाक्यं प्रयुज्यते ।  
'नील सरोज भवत्येव' इत्यत्र तु अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः, यदा हि सरोजं नीलवर्णवि-  
विक्तं प्रसिद्धमिति नीलत्वमस्य नास्तीति आशङ्कितं भवति तदा तद्व्यवच्छेदाय 'नील  
सरोजं भवत्येव' इति वाक्यं प्रयुज्यते इति ।

तदसमीक्षिताभिधानम्, स्यात्कारमन्तरेण इष्टानिष्टयोर्विधिनिषेधानुपपत्तेः,  
तथाहि- 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्युक्ते सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामन्यपुरुषाणां धानुर्धर्वाभावः  
प्रतीयते, तत्र च प्रत्यक्षादिविरोधः । अथ विशिष्टं तदन्यपुरुषेषु प्रतिनियतदेशकाला-  
पेक्षया प्रतिषेद्धुमिष्टं न धनुर्धरत्वमात्रं ततोऽयमदोषः, ननु अयमर्थः स्यात्कारप्रसा-  
दादेव प्रत्येत्तु शक्यं इति, एतत्प्रयोजनत्वात् कथं सौ निष्फलं यतः साक्षात्प्रयुक्तस्य  
मामर्ष्यगम्यंस्व या अस्य सर्वत्र वाक्ये प्रतीतिर्न स्यात् ? तथा 'चैत्रो धनुर्धर एव'

(१) 'यत्र यमिणि धमसद्भावः सन्दिह्यते तत्राज्योगव्यवच्छेदस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अत्र  
दृष्टान्तो यथा चत्रो धनुर्धर इति । चत्रं हि धनुर्धरत्वं सन्दिह्यते किमस्ति नास्तीति । ततश्चैत्रो  
धनुर्धर इत्युक्तं पक्षान्तरमधनुर्धरत्वं श्रोतुराकाङ्क्षोपस्थापितं निराकरोति अयोगव्यवच्छेदोऽत्र न्यायः  
प्राप्तः । -प्रमाणवा० स्वर्ग० टी० पृ० १५ । चैत्रं धनुर्धरत्वसन्देहात् विगणनं अयोगमानं व्यव-  
च्छिद्यत । -प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (२) यथा पार्थो धनुर्धर इति सामान्यसन्देहोऽप्ययं  
धनुर्धरत्वस्य प्रवृत्तरेणसामर्थ्यादिना प्रकृत्युपवृत्तिरिह पार्थे हि धनुर्धरत्वसिद्धमवति नाज्योगाशङ्का ।  
आदुग्न्तु कारिण्यं निवन्धनाप्यस्ति नास्ति इत्यन्ययोगशङ्काया श्रोतुपदा पार्थो धनुर्धर इत्युक्तं तदा  
सात्त्विकं पार्थ एव धनुर्धर इति प्रतीयते । तत्रात्र अयोगव्यवच्छेदो न्यायप्राप्तः । -प्रमाणवा०  
स्वर्ग० टी० पृ० १५ । 'पार्थे धनुर्धरत्वसिद्धमेव किन्तु तादृशमयस्यापि किमस्तीति सन्देहो अन्ययो-  
गव्यवच्छेदस्य विषयत्वम् । -प्रमाणवा० मनोरथ० ४।१९२ । (३) अमुंते । (४) 'न सत्तु सवमव  
नीलं सरोजं यनायोगव्यवच्छेदः स्यात्, नापि सरोजमव नीलं यत्र अयोगव्यवच्छेदो भवत् । किन्तु  
'नालं सरोजं सवमवति न वा' इत्याद्यन्तायोगशङ्कहं विषयजननं स एव व्यर्थाच्छिद्यत । -प्रमाणवा०  
मनोरथ० ४।१९२ । (५) यादृशं धनुर्धरत्वं पार्थे न तादृशं यत्र इति । (६) तुलना- यथापि अन्ययो-  
गव्यवच्छेदोऽनियतप्रतिपत्तिर्यागविषयो व्यर्थाच्छिद्यत न यागसामर्थ्यम, यादृशं पार्थे धनुर्धरता तादृशं यत्र  
नास्तीति । -तत्त्वावभा० ध्या० पृ० ४०९ । (७) स्यात्कारः ।

‘नीलं सरोजं भवत्येव’ इत्यत्र अयोगाऽत्यन्तायोगयोः सर्वथा व्ययच्छेदे चैत्र-धानुर्धर्ययोः नीलसरोजयोश्च अन्यतरदेव स्यात् । अथ स्वस्वरूपापरित्यागेनैव अनयोः अयोगाऽत्यन्ताऽयोगव्ययच्छेदः ननु अन्योन्यस्वरूपस्वीकारेण अतोऽयमदोषः; तन्न; स्यात्कार-मन्तरेण अस्यार्थस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, ‘चैत्रो धनुर्धरः’ इत्यादिवाक्येषु धनुर्धरत्वादिभिः अयोगादिव्ययच्छेद कुर्वता एवकारेण अधनुर्धरत्वादीनामशब्दवाच्यानामपि तैतोऽन्यत्वाग्निवृत्तिर्यदि विधी-यते; तर्हि शूरत्वोदारत्वादिधर्माणामपि विधीयतां शब्दवाच्येभ्यो धनुर्धरत्वादिभ्योऽन्यत्वाविशेषात् । अथ यो धर्मो यत्र निर्यम्यते तद्विरोधिन एव तत्र निवृत्तिः चैत्रे च धनुर्धरत्वनियमे अधनुर्धरत्वं विरुद्धम्, पार्थे च असाधारणधनुर्धरत्वविधौ सकलजगत्सा-धारण तद् विरुद्धम्, सरोजे च नीलत्वसंभवविधौ तदसंभवमात्रं विरुद्धम्, अतः तस्यै-वाऽतो निवृत्तिः नतु शूरत्वादिधर्माणाम् तेषां तदन्यत्वेऽप्यविरुद्धत्वात् इति; तदेतदन्ध-सर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति, एवंविधप्रधिभागस्य स्याद्वादानभ्युपगमे अनुपपत्तेः । ननु नदभ्युपगमेऽपि शब्दानभिधेयत्वाविशेषे कथं विरोधिन एव निवृत्तिः नतु सर्वस्य इति चेत्; तथा सामर्थ्यात् । स्वार्थप्रतिपादनाय हि शब्दप्रयोगो न व्यसनितया । स्वार्थश्च भावाभावात्मकः प्रत्यक्षवत् शब्देऽपि प्रतिभासते । भावाभावव्यवहारश्च स्वरूपप्रतियो-म्यपेक्षानिवन्धनः । नच अविरुद्धस्य प्रतियोगित्वं युक्तम्, अतः कथं सर्वस्य निवृत्तेः शक्यमिति ? ततः स्थितम् ‘अवधारण’ इत्यादि ।

(१) तुलना—“अयोगव्ययच्छेदन हि अस्तित्वा योग इध्यते । स च योग कि सामान्यरूपेण अस्तित्वा प्रत्याव्यतेऽयं विशेषरूपेण उतोभयरूपेणति सर्वथा प्राक्तनदोषप्रसङ्ग । व्ययच्छेदोऽपि अस्तित्वसामान्यायोगस्य वा अस्तित्वविशेषायोगस्य वा उभयायोगस्य वा ?”—तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । “चैत्रस्य धनुषा अयोगे व्ययच्छिन्ने योग प्रतिपादितो भवेत् इतरथा चैत्रो धनुर्धर एवेति प्रयोगानुपपत्ति । संव सर्वथा कथञ्चिद्वा स्यात् ? आद्ये पद्ये चैत्रस्य धनुषाऽयोगे व्ययच्छिन्ने सति न चैत्रता सिद्धयेत् धनुर्भाव सिद्धयेत् । केपामित्याह—स्याद्वादिद्विषाम् एकान्तवादिनामित्यर्थः ।”—सिद्धिवि० टी० पृ० ५०८ B । (२) “अत्यन्तायोगव्ययच्छेदेऽपि अत्यन्तमयोगो नास्ति योग एव सर्वथा, अथवा कदाचिदस्ति कदाचिन्ना-स्तीत्येव च विकल्पद्वयेऽपि प्राच्य एव प्रसङ्गो योग्यः ।”—तत्त्वार्थभा० व्या० पृ० ४०९ । “यच्चान्यदुक्त क्रियया सहोदितोऽत्यन्तायोगमेव च व्यच्छिनति निपातो व्यतिरेकक इति, तत्र दूषणमाह—प्राप्तमित्यादि । नील सरोजं भवत्येवेति चेत् यदि तर्हि समन्तात् नित्यं सर्वदा नीलं सरोजंकरूपं व्यक्तं यथा भवति तथैव जगत् प्राप्तम् । अयमभिप्राय—सर्वथा कथञ्चिद्वा नीलं सरोजं भवत्येव ? प्रथमपक्षेऽयं दोष, अन्यत्र अनेकान्त इति ।”—सिद्धिवि० टी० पृ० ५१० A । (३) धनुर्धरत्वात् । (४) निवृत्ति-विधीयताम् । (५) धनुर्धरत्वम् । (६) नीलत्वासंभवमात्रम् । (७) एवकारात् । (८) धनुर्धरत्वा-द्भिन्नत्वेऽपि । (९) धनुर्धरोऽपि स्यात् शूरश्च उदारश्च इति न कोऽपि विरोधः । (१०) स्वरूपस्य प्रतियोगिनश्चापेक्षा, स्वरूपापेक्षो भावव्यवहार प्रतियोग्यपेक्षोऽभावव्यवहार—आ० टि० ।

1 व्ययच्छेदाच्चैत्र-व० । 2 अथ स्वरूपा-व० । 3 विधीयेत थ० । 4-पस्पते आ० । 5-वृत्ते-थ० । 6 ननु आ० । 7 स्वार्थत्वभावात्मक व० । 8-त्मक प्र-थ० । 9 निवृत्ते शक्यमिति आ० ।

ननु 'जीवोऽस्ति' इत्युक्ते तत्र अस्तित्वम्, 'नास्ति' इत्युक्ते नास्तित्वम्, उभय-  
वचनेन उभयं प्रतीयते अतो न युक्तम् 'अवधारण' इत्यादि; इत्यत्राह—'अन्यथा' इत्यादि ।  
अनेकान्तनिरासस्य अवश्यंभावित्वाभावप्रकारेण अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गात्  
कारणात् 'सर्वथैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्' इति सम्बन्धः । अवधारणाभावे धर्मिवत्  
६ धर्मेऽपि अनेकान्तप्रसङ्गात् । अपरमपि स्याद्वादमन्तरेण नश्यति इति दर्शयन्नाह—'किं  
बहुना' इत्यादि । किम् ? न किञ्चित् बहुना 'उक्तेन' इत्यध्याहारः । विधिनिषेधा-  
नुवादातिदेशादिवाक्येषु, आदिशब्देन नियमादिवाक्यपरिग्रहः, कारकेषु कर्त्रादिषु,  
स्वार्थादिषु आदिशब्देन लिङ्गादिपरिग्रहः, प्रातिपदिकार्थेषु साधनदूषणतदाभास-  
वाक्येषु, चशब्दः अत्र समुच्चायार्थो द्रष्टव्यः । स्याद्वादमन्तरेण 'प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः'  
१० इति सम्बन्धः । इति एवम् आबालप्रसिद्धम् न स्वेच्छया कल्पितमिति यावत् ।

ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽयुक्त-  
मुक्तम्—'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्याद्याशङ्क्याह—

वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।

वाञ्छितांश्च कचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥

स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।

वैक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ॥६५॥

विवृतिः—वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वम् आगमात् प्रतिपत्तव्यम् ।  
वैक्त्रभिप्रायाद् विन्नस्वार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थाऽन्यथानुपपत्तेः ।  
अयं च प्रसंगोऽन्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे

(१) अनेकान्तनिरासोऽवश्यं भवतीति न—आ० टि० । (२) स्याज्जीव सन्नेवेति हि नयवाक्यम्,  
अत्र चेदवधारण न क्रियते तदा यथा धर्मिणि जीवे अवधारणरहिते अनेकान्तोऽस्ति तथा धर्मोऽपि  
अस्तित्वाभ्ये स प्राप्नोति, नयरूपञ्चेदम्, धर्मिण्यनेकान्त धर्मो एकान्त—आ० टि० । (३) बोद्ध ।  
(४) "प्राहुरभिप्रेतमिति । के ? वर्णा अथराणि गवारादीनि । तथा पदानि गवारादीनि तथा वाक्यानि  
च गामानवेत्यादीनि । वान् ? अपांन् अभिधेयान् । किं विधिष्टान् ? अवाञ्छितान्, अविबधितान्  
भूम्यादीन्, वाञ्छितांश्च विबधितानपि सास्नादिमदादीन् । वचिन् मन्दर्वादिषु प्रतिपाद्येषु न प्राहु तेषां  
ततोऽप्यापिगमाभावात् इत्येव प्रकारात् सर्वत्रनप्रतीता प्रसिद्धि रूढि । ईदृशी विविधा व्यवहारिभिरभ्यु-  
पगन्त्या तथैवापिभ्योरपत्ते । ता प्रसिद्धिमनित्रम्येव उल्लेख्येव । स्वेच्छया स्वरनामेन वदता  
वचयतां योगताना युज्यन् मुक्तं भवतीति, अधिपेवचनम् । कथम् ? शब्द सूचक वाचकम् । कस्य ?  
वचनभिप्रेतमात्रस्य वस्तु प्रयोक्तव्यस्याभिप्रेतमभिप्रायो विवक्षा तावन्मात्रस्यैव न बहिरर्थस्यति । नु  
बहो आदत्तव्यमित्यादौ गम्यते, सामान्यविभाषात्तदा बहिरर्थस्य शब्दप्रयोगात्प्रतीतस्त्वस्यैव तदर्थत्वान्  
अभिप्रायस्य तत्र स्वल्पप्रतीतिः १"—सूची० ता० पृ ८३ । (५) तुलना—'तदुक्तम्—विवक्षाप्रनवा हि  
घटान्मानव संयुक्तम् ।'—तत्त्वोप० पृ० १२० ।

अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽपनीयते सुपुस्तादौ वाग्वृत्तेर्दर्शनात् । अनिच्छतामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात् वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् । उभयत्र व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इति अलौकिकप्रतिभानम् । लोको हि अर्थस्याप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे तत्र शब्दव्यवहारबाहुल्याभावात् । अवाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेय-  
स्वरूपमातिष्ठमानानां युक्तम्—अभिप्रेतमात्रसूचकत्वं शब्दानाम् ।

वर्णपदवाक्यानि प्राहुः, कान् ? अर्थान् घटादीन् । किंविशिष्टान् ?

कारिकार्यं -

अवाञ्छितान् वाञ्छयाऽविपयीकृतान् वाञ्छितांश्च तद्विपयी-  
कृतांश्च शास्त्रव्याख्यानाद्यर्थान् क्वचित् मन्दबुद्धिप्राणिषु न प्राहुः

इति एवं प्रसिद्धिः लोकप्रतीतिरियं सकलजनसाक्षिकी । ईहृशी विचित्रा । तदन-  
भ्युपगमे दूषणमाह—‘स्वेच्छया’ इत्यादि । स्वेच्छया स्वाभिप्रेतप्रक्रियामात्रेण तां  
प्रसिद्धिमतिक्रम्यैव वदतां सौगतानां युज्यते । किं तद् ? इत्याह—वक्त्रभि-  
प्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विति ।

ननु वर्णादयोऽर्थानवाञ्छितान् किमनित्याः सन्तः प्रतिपादयन्ति, नित्या वा ?

शब्दनित्यत्ववादिना  
मीमांसकानां पूर्वपक्ष -

तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; अनित्यत्वे तेषाम् उत्पन्नमात्रप्रवृत्तित्वेन  
सङ्केतव्यवहारकालाननुयायित्वत् तत्र प्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । द्वितीय-  
पक्षस्तु उपपन्नः, नित्यानां तेषां तदनुयायित्वेन तत्र प्रतिपादकत्वोपपत्तेः ।

प्रमाणतः तन्नित्यत्वस्यैव प्रसिद्धेश्च । तथाहि—‘स एवाऽय गकारः’ इत्यादि प्रत्यभिज्ञा-

(१) तुलना—‘विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥’—न्यायवि० का० ३५४ । ‘विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥’—प्रमाणस० का० १६ । प्रमाणस० टि० पृ० १७३ प० २३ ।

(२) तुलना—‘बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति । सत्यानृतव्यवस्थैव युज्यतेऽर्थाप्यनाप्तिषु ॥’

—अष्टमी० का० ८७ । (३) अर्थप्रतिपादकत्वाऽनुपपत्तेः । ‘यदा हि क्षणिकं शब्दो न शक्तोऽर्थाव-

धारणे । न हि क्षणिकस्य सम्बन्धग्रहणं संभवति ॥’—मी० श्लो० शब्दान० श्लो० ३, न्यायपर० । (४)

कुमारिलमते हि शब्दो नित्यः द्रव्यरूपश्च । ‘श्रोत्रमात्रन्द्रिययाह्यः शब्दः शब्दत्वजातिमान् । द्रव्यं सर्वगतो

नित्यः कुमारिलमते मतः ॥’—मानमेयो० पृ० २१८ । प्रभाकरमते च शब्दो नित्योऽपि आकाशस्य गुणो

न तु स्वतन्त्रं द्रव्यम् । द्रष्टव्यम्—‘आकाशश्च शब्दवानिति, स एव श्रोत्र तद्गुणश्च शब्दः’—प्रक०

प० न्यायसंग्रहप्रकरणम् । (५) सङ्केतव्यवहारकालव्यापकतया । (६) ‘वयं तावत्प्रत्यभिजानीमो न

न करणदोषत्वम्, एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति, स एवायमिति प्रत्यभिजानानां प्रत्यभिजानन्ति चेद्द्वय-

मिवान्येऽपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति ।’—शाबरभा० १।१।२० । ‘प्रत्यभिज्ञयैव कालान्तरावरथायिता

सिद्धयति, कालान्तरावस्थितश्च सप्रत्यभिज्ञप्रत्यक्षगम्येत्युक्तम् ।’—बृहती० १।१।१८ । ‘शब्दोऽपि

१ कुतोऽपनीयते ज० वि० । २ अर्थस्यानाप्ति—ज० वि० । ३ तत्र शब्दव्यवहारस्थितिम-

प्रतिक्रम्य स्वेच्छ—ई० वि० । ४ अवाधितमतिक्रम्य ज० वि० । ५—व सिद्धिः श्र० । ६ त्विति आ० ।

७—स्या प्रति—द० । ८ ‘वा’ नाति—



इत्यप्रत्यक्षत एव तावच्छब्दानां नित्यत्वं प्रतीयते । न चास्य अज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम् ; प्रतिप्राणि संवेद्यमानत्वात् । नापि संशयरूपम् ; एकांशावलम्बित्वात् । उभयांशावलम्बी हि प्रत्ययः संशयः, न चेदं तथा । नापि मिथ्यास्व(त्व) रूपम् ; अवाध्यमानत्वात् । यदेव हि ज्ञानं वाध्यते तदेव मिथ्या प्रसिद्धं यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम् ; न चेद् देशकालनरान्तरेष्वपि वाध्यते । न च दुष्टकारणप्रभवत्वादस्याप्रामाण्यम् ; तर्कारणानां दुष्टत्वानिश्चयात् । नापि अधिगताधिगन्तृत्वात्, स्मर्यमाणानुभूयमानविशेषणावच्छिन्नस्य गकारादेः पूर्वसवेदनाविपयत्वात् । तदुक्तम्—

“यैः पूर्वावगतोऽंशोऽत्र स न नाम प्रतीयते ।

इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ॥”

[ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३-३४ ] इति ।

प्रत्यक्षत्वश्चास्य श्रोत्रेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सुप्रसिद्धम् । न च स्मृतिपूर्वकत्वादस्य अप्रत्यक्षत्व युक्तम् ; तत्पूर्वकत्वेऽप्यस्य संसम्प्रयोगजत्वेन प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । उक्तञ्च—

प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यत १”-मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३३ । भाट्टचि० पृ० २९ । “एतदुक्तं भवति—प्रत्यभिज्ञास्यविशेषप्रत्ययबलेन हास्तनाद्यतनगकारयोरेकत्वावगमान्नित्यत्वमाधीयते .. अतो गत्वादिसामान्यनिवन्धनेषु प्रत्यभिज्ञा सिद्धयति । एव सति व्यक्तिभेदे सामान्य तदभावात् नान्ति सामान्यमित्येव वक्तव्यम्, अतः सिद्धं प्रत्यभिज्ञया शब्दस्य नित्यत्वम् १”-शास्त्रवी० पृ० ५४०, ५६८ । तत्ररह० पृ० २६ ।

(१) प्रत्यभिज्ञानस्य । (२) प्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यास्वरूपमप्रामाण्यम् । (३) प्रत्यभिज्ञानम् । (४) प्रत्यभिज्ञानकारणानामिन्द्रियादीनाम् । “प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानं दृष्टेन्द्रियतयोच्यते १”-मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३७२ । (५) स एवायम्-आ० टि० । (६) पूर्वप्रत्यक्ष । (७) “ननु गृहीतमपि गृह्यते इति क्वं प्रामाण्यमत आह य इति । तस्मिन्नसे मा भूत्प्रामाण्यम् अगृहीतकालान्तरसम्बन्धापेक्षमेव तु प्रामाण्यमिति १”-भाष्यर० । “ननु न केवलमधिकं गम्यते किन्तु प्रागवगतमपि इति कथं प्रामाण्यमत आह य पूर्विति । सधिकरत्के हि शब्दार्थस्वरूपसम्बन्धकालसम्बन्धाः प्रवन्ते तत्र शब्दादिरसोऽस्मृतिविषय इति मा नाम प्रमाणविषयो भवतु इदानीन्तनी तु वस्तुसत्ता न पूर्वमवधृतेत्यस्ति तत्र प्रमाणावसर इति स्थितं प्रामाण्यम् । इन्द्रियव्यापारानुविधानाच्च प्रत्यक्षत्वमिति । एकञ्चेद पूर्वविज्ञानजनितसंस्कारप्रत्युत्प्रेन्द्रियादिकारणक वेदितव्यम् १”-काणिका । ‘पूर्वमवगताऽस्य स न नाम’-प्रमेयक० पृ० ३३९ । ‘पूर्वमवगतो नात्र स च नाम’-सम्प्रति० टी० ३१९ । ‘यः पूर्वावगताऽंशोऽत्र स नो नाम’-स्या० र० पृ० ६७५ । उत्तरार्थम्-तत्त्वोप० पृ० २७ । प्रमाणवा० स्व० टी० पृ० ७७ । तत्त्वस० पृ० १५९ । (८) स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (९) प्रत्यभिज्ञानस्य । “तत्र शब्दार्थसम्बन्ध प्रमाणु स्मरतोऽपि या । बुद्धि पूर्वगृहीतार्थमभ्यानादुपजायत ॥ चक्षुषा सन्निहृष्टेऽप्येनाऽप्रत्ययप्रमयी भवेत् ॥”-मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २२९-३० । (१०) गंदवासी सम्प्रयोगश्चेति कर्मधारयः तथा च इन्द्रियाणामप्येन सार्कं सम्बन्धे विद्यमान सतीत्यर्थः । तुलना-‘त्रि पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षमिति यूम् । पूर्वानुभवजनितसंस्कारमधीचीन्द्रियजन्तृत्वात् ग्रहणस्मरणरूपमित्येकं ज्ञानम् १”-शास्त्रवी० पृ० ५६८ ।

“नेहि स्मरणात् यत् प्राकृतत्पत्यैऽमितिदशम् । वचम राजकीय वा लौकिक वापि विद्यते ॥१॥  
न चापि स्मरणात् पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम् । वार्यते केनचिन्नापि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥  
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वञ्चापि यत्सृते । विज्ञान जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥”

[ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३४-२७ ] इति ।

एवमर्तः शब्दस्य नित्यत्वे सिद्धे इदानीमपि अन्यदापि यच्छब्दस्योच्चारण न तत्तस्यै जनकं किन्तु अभिव्यञ्जकम् । अत इदमुच्यते—अन्यदापि यत् शब्दस्य उच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात्, यद् यद् उच्चारण तत्तदभिव्यञ्जकम् यथा एतत्कालोपलक्षितमुच्चारणम्, तथा च प्रकृतम्, तस्मादिदमपि तथा ।

तथा, विवादाध्यासितो वा कालः गादिसम्बद्धः कालत्वात् प्रतिपादितशब्द-सम्बद्धकालवत् । अतः सिद्धमस्य अनुमानतोऽपि नित्यत्वम् । इतोऽप्यनुमानात् तत्सिद्धम्—नित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्, यद् यदेव तत्तथा यथा शब्दत्वम्, तथा चाऽ-यम्, तस्मादयमपि तथा । तथा, देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः एकगोशब्दविषया

(१) 'नन्विद भवत्यधिकविषय स्मरणोत्तरकाल भवत कथ प्रत्यक्षम् ? न हि निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षस्यैव धर्मो दृष्ट अत आह—नहीति । न हि स्मरणात् प्राग्भाविता प्रत्यक्षलक्षणम्, अपि तर्हि इन्द्रियजत्वम् तच्चात्राप्यविशिष्टमिति भाव । यदि स्मरणान्द्रियप्रवृत्तिरेव वायते तदा दूष्यते तत स्तदुत्तरकाल जायमान सविकल्पकं प्रत्यक्ष भवेदपि, न त्वेतदस्ति इत्याह न चेति । यत स्मृत्या नन्द्रिय विशुध्यते न वा दूष्यते तेन प्रागूर्ध्वं वा स्मृतेर्यदि द्रव्यार्थसम्बन्धात् जान जायते सव तत्प्रत्यक्षमभ्युप गन्तव्यमित्याह—नेनति ।'—काशिका । (२) अर्थात् यच्च स्मरणादूर्ध्वं तदप्रत्यक्षम्—आ० टि० । (३) 'राजकीय वा वैदिक वापि—मी० श्लो० । 'राजकीय वा लौकिक नापि—सन्मति० टी० पृ० ३१९ । उद्धृता इम—प्रमेयक० पृ० ३३९ । सन्मति० टी० पृ० ३१९ । स्या० र० ४९९ । (४) प्रत्यभिज्ञानात् । (५) शब्दस्य । (६) 'यदि विशुद्धं हेतुना शब्दस्य नित्यत्व वक्तुं शक्यम् ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् प्रयत्ननाभिव्यज्यत इति भविष्यतीति ।'—शाबरभा० १।१।१२ । "शब्दस्य प्रयत्न एव कारणतया सभावित । स च प्रत्यभिज्ञाबलेन द्वितीयादिदशनप्वभिव्यञ्जकतामापावित इति प्रथमदत्तनप्यसौ अभिव्यञ्जक एव अत वारणरहितत्वेन सत्त्वानित्य शब्द गगनादस्ति नास्याऽनित्यतेति ।"—प्रक० पृ० १७०, शाब्दत्रि० पृ० २६ । 'एवञ्चोच्चारण, शब्दस्य न, कारण, किन्तु अभिव्यञ्जकत्वमिति सिद्धम् । न चोच्चारणान्यत्कारणं सभवतीत्यकायत्वम् अत एवाविनाशानित्यत्वसिद्धि ।—शास्त्रदी० पृ० ५९० । 'शब्द प्रयत्नाभिव्यङ्ग्य यथा तदनुत्पाद्यत्वे सति तदनन्तरमुपगच्छे, यो यदनुत्पाद्यत्वे सति यदनन्तरमुपलभ्यते स तदभिव्यङ्ग्य यथा प्रदीपानन्तरमुपलभ्यमानो घट ।'—तन्त्ररह० पृ० २६ । मानमेयो० पृ० २२१ । (७) श्रौतता चेयं हेतु शब्दत्ववत्कृत । यथा श्रोत्रप्रत्य-क्षत्वमत्र हेतु, तदि शब्दत्वदुष्टा' तेन शक्योति नित्यत्व साधयितुमित्याह श्रौतति ।—मी० श्लो०, पाद्यर० शब्दनि० श्लो० ३९३ । 'प्रयोगश्चैव भवति नित्य शब्द श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत् ।—शास्त्रदी० पृ० ५८५ । (८) 'दशकालादिभिन्ना वा समस्ता गोत्वबुद्धयः । एकगोशब्दजन्या स्युर्गार्थित्वादेकबुद्धिवत् ॥ गोशब्दबुद्धयोऽप्येवमेकगोशब्दगोचरा ॥ गोशब्दविषय वेन कल्प्यतामेकबुद्धिवत् ॥ "गोशब्दबुद्ध्या ह्यस्तन्या गोशब्दोऽप्य प्रकाशित । गोशब्दविषयत्वेन यथैवाद्यप्रमूतया ॥ इय वा त विजानाति तद्वेतो पूर्वबुद्धिवत् । उभे वाप्यकविषय भवेतामवबुद्धिवत् ।'—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४१८-२१ ।

न चानेकार्थगोचरा गौरित्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धिवत् । 'गोशब्दव्य-  
क्तिबुद्धयः' इत्युच्यमाने सिद्धसाध्यता स्यात्, एकगोशब्दव्यक्तिबुद्धेः एकविषयत्वाभ्यु-  
पगमात्, तन्निवृत्त्यर्थं बहुवचनम् । तथा 'सामान्ये गोशब्दनिबन्धनाः समाना एव  
धियः प्रभवन्ति' इति तन्निरासार्थं व्यक्तिप्रहणम् । एरुस्मिन् देशे काले वा वहुनां  
प्रमातृणां गोशब्दज्ञानानि एकगोशब्दव्यक्तिगोचराणि इति सिद्धसाध्यताप्रसङ्गव्यव-  
च्छेदार्थं 'देशकालादिभिन्नाः' इत्युक्तम् । ह्यस्तनो वा गोशब्दः अद्याप्यनुवर्तते गौरिति  
ज्ञायमानत्वात् अद्योच्चारितगोशब्दवत् । अद्यतनो वा गोशब्दः ह्योऽपि आसीत् गौरि-  
ति ज्ञायमानत्वात् ह्य उच्चारितगोशब्दवत् । 'शब्दो वा वाचकः दीर्घकालावस्थायी  
सम्बन्धवलेन अर्थमतिजनकत्वात् धूमसामान्यवत् । यस्तु अस्थिरः स सम्बन्धवलेन  
नार्थं बोधयेति तदादात्वनिमित्तत्वात् प्रदीपविशुत्प्रकाशवत् । तदेवम्—

तुटना—'दशकालादिभिन्नाश्च गोशब्दव्यक्तिबुद्धयः । समानविषया सर्वान वा नानार्थगोचरा ॥ गौरि-  
त्युत्पद्यमानत्वात् सम्प्रत्युत्पन्नबुद्धिवत् । गोशब्दव्यक्तिपु या बुद्धयो देशकालद्रुतमध्यविलम्बितादिप्रति-  
नदभामनिष्ठास्ता एवाविषयया नानार्थविषया न वा भवन्ति गौरित्याकारोपग्रहणोत्पद्यमानत्वात्  
सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दवत् । अथवा या या गोशब्दविषया बुद्धि साऽद्यतनगोशब्दविषया गोशब्द-  
विषयत्वान् अद्यप्रभूतगोशब्दबुद्धिवत् । गोशब्दविषया च ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिरिति स्वभावहत्तु ।  
अथवा अह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्धमिणी ह्यस्तनगोशब्दविषयत्व साध्यधर्मः गोशब्दविषयत्वादिति हेतु  
ह्यस्तनी गोशब्दबुद्धिर्दुष्टान्त । अथवा, उभ ह्यस्तन्यद्यतन्यो बुद्धौ एकविषय गोशब्दविषयत्वादेवगो-  
शब्दबुद्धिवत् । अथवा, समस्ता गतरबुद्धय दशादिभेदनिष्ठा एवगोशब्दजन्मा गाधीत्वादेवगोशब्दबुद्धिवत् ।  
पूर्वं गोशब्दविषया बुद्धय धमिष्य एवविषयत्वन्च साध्यम्, इदानीञ्च गोत्वजातिविषया बुद्धयो  
धमिष्य एवगोशब्दजन्मत्व साध्यमिति विचारः ॥'—तत्त्वसं० पृ० ५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ ।

(१) 'नित्य तु सति गोशब्द बहुदृश्य उच्यते श्रुतपूर्वदशान्यामु गोशब्दविषय अन्वयव्यतिरे-  
काभावाद्दृष्टिश्चनमयमविष्यति, तस्मादपि नित्य ॥'—शाबरभा० १।१।१९। "ह्यस्तनाच्चारितस्तरमा-  
द्गागन्नाऽद्यापि विद्यत । गोशब्दज्ञानममत्तयाद्यप्यस्त्राऽद्यैव गौरिति ॥"—मी० इलो० पृ० ४१६ ।  
(२) "ह्यो वाऽप्योऽपि गोशब्दः पूर्वावनेव ह्युत्तना । यदा गोशब्दानिपायित्वा चान्यो ह्युत्तुंगारवि ॥"—  
मी० इलो० पृ० ४१७ । तुटना—"गौरिति भूयमाणोऽद्य ह्यारपि वद्वो मया श्रुता ।  
दशा गुरोरीदशाश्च ह्य उच्चारितगोशब्दवत् ॥"—तत्त्वसं० पृ० ५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ । (३)  
'अत्राप्य । स्थिरा गन्ता धूमशास्त्रादिजातिवत् । सम्बन्धानुभवापक्षसामान्यार्थविबोधनात् ॥"  
—मी० इलो० पृ० ३११ । तुटना—'गन्ता वा वाचका यावान् स्थिराऽप्यो दीर्घकालमात्रं ।  
गम्बन्धानुभवापक्षप्रधानत्वनात् । य इदं दृश्य स्थिरा दृष्ट धूमशास्त्रभागवत् ॥'—तत्त्वसं० पृ०  
५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ । (४) वाच्यवाचकभावन-आ० टि० । (५) तुटना—'अस्थिरत्तु  
न सम्बन्धजातयाऽवधारक । शाश्वतनिमित्तत्वात् दीर्घविकल्पकभावनम् ॥'—तत्त्वसं० पृ०  
५९२ । स्वा० १० पृ० ६७६ । (६) न हि प्रमातृणां ज्ञानस्य निवृत्त पदादिना सम्बन्धधर्मिणः,  
गोशब्दविषयविषयत्वात्, यत्र यत्र वाति तत्र तत्र प्रकाशवत् । सम्बन्ध हि मूल्यपक्षा भवति, न  
च यत्र यत्र यत्र—आ० टि० । "शाश्वतं शाश्वतं क्वचिद्दृष्टान्तानुवाचि निमित्त सम्बन्धा  
यत्र न यत्र—आ० टि० । "शाश्वतं शाश्वतं क्वचिद्दृष्टान्तानुवाचि निमित्त सम्बन्धा  
यत्र न यत्र—आ० टि० । "शाश्वतं शाश्वतं क्वचिद्दृष्टान्तानुवाचि निमित्त सम्बन्धा  
यत्र न यत्र—आ० टि० ।

१. ह्यारपि २० । २. यदाप्यो वा ५० । ३. यत्रपि ५० ।

“कश्चित् कालं स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” [ ]

तथा, विचाराध्यासितः कालः गादिशब्दशून्यो न भवति कालत्वात् इदानीन्तनकालवत् ।

तथा, अर्थापत्तितोष्यस्य नित्यत्वं सिद्धम्; तथाहि—नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः । न चेयम् अन्यथापि अन्यथैव वा उपपद्यते; शब्दस्यानित्यत्वे सर्वथानुपपद्यमानत्वात् । प्रतिपन्नप्रतिबन्धाद्धि शब्दादर्थप्रतिपत्तिः स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चाऽनित्यत्वे शब्दस्य प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य उत्तरकालमनुवृत्तिः संभवति; तस्यै तदैव विनाशात् । तदुक्तम्—

“अर्थापत्तिरियं चोक्ता पञ्चधर्मादिवर्जिता । यदि नाशिनित्ये वा विनाशिन्ये वा भवेत् ॥१॥

(१) ‘अनपेक्षत्वात् १ । १।२१ । येषामनवगतोत्पत्तीना द्रव्याणा भाव एव लक्ष्यते तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते येषां विनाशकारणमूलभ्यते, यथा अभिनव पट दृष्ट्वा । न चैनं क्रियमाणमूलबन्धवान् अथ चानित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा । तन्तुव्यतिपङ्गजनितोऽप्य तन्तुव्यतिपङ्गविनाशात्तन्तुविनाशाद्वा विनश्यतीत्यवगच्छति । नैव शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते यद्विनाशाद्धिनदक्ष्यति इत्यवगम्यते ।’—जैमिनिसू०, शाबरभा० १।१।२१ । “एव स्थितस्य शब्दस्य ध्रुतिकालात्क्षणान्तरे । सभाव्यते विनाशित्वं न भूयोऽप्येन हेतुना ॥ यथा घस्रादिभिर्भेदाज्जराया वा पटादयः । नदक्ष्यतीत्यवगम्यन्ते नैव शब्देऽस्ति कारणम् ॥”—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४४२-४३ । उद्धृतोऽयम्—स्या० २० पृ० ६७६ । “अस्यार्थं—शब्द सर्वकाल स्थिर विनाशहेतुशून्यत्वात् । विनाशहेतुशून्यत्वञ्च कश्चित्काल स्थिरत्वात्सिद्धम् । स हि सम्बन्धकरणकालं यावदनुपद्रुत पश्चादपि केनापनीयतामिति ।”—स्या० २० पृ० ६७६ । (२) तुलना—स्या० २० पृ० ६७६ । (३) “नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् । नित्य शब्दो भवितुमर्हति । कुत ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारण तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे नचाऽन्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नूयात्, अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बद्ध्य उपलब्धत्वादर्थवगम इति युक्तम् ।”—जैमिनिसू०, शाबरभा० १।१।१८ । “अर्थप्रतिपत्त्यन्यानुपपत्त्या तु नित्यत्वमेव युक्तम् । न हि प्रत्युच्चारणमन्यस्यान्यस्य क्रियमाणस्यार्थप्रत्यायकत्वं सम्भवति सम्बन्धग्रहणामभवात्, अगृहीतसम्बन्धस्य चाऽप्रत्यायकत्वात् । न चान्यस्मिन् गृहीतसम्बन्धेऽन्यस्य प्रत्यायकत्वं सम्भवति । न हि गोशब्दे गृहीतसम्बन्धेऽवशब्दः प्रत्याययति ।”—शास्त्रदी० पृ० ५५९ । “शब्दो नित्य परार्थदर्शनसम्बन्धित्वात् घूमादिवदिति ।”—नयवि० पृ० २४२ । (४) अर्थप्रतिपत्तिः । (५) नित्ये च अनित्ये [च]—आ० टि० । (६) अनित्ये एव—आ० टि० । (७) अनित्यशब्दस्य । (८) शब्दो नित्य दर्शनस्य परार्थत्वाऽन्यथानुपपत्तेः, परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्तेः, अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेर्वा । (९) अनुमानत्वाद्यभाव—आ० टि० । (१०) “अर्थापत्तो हि द्वायेव दोषो अन्यथाप्युपपत्तिरन्यथैवोपपत्तिश्च । तदिहापि यच्चनित्यत्वेऽन्यर्थप्रत्यायकत्वमुपपद्येत अनित्यत्व एव वा ततो द्रूपणं स्यात् ननु तदस्तीत्याह यदीति ।”—न्यायप्र० पृ० ७९० । “यदि शब्दे नाशिनित्ये वा वाचकसामर्थ्यमित्यनेन सशय उक्तं विनाशिन्येव वा शब्दे वाचकसामर्थ्यमित्यनेन तु विपर्यय उपदर्शित तदा द्रूपणमुच्यतामिति । यदैव शब्दे वाचकसामर्थ्यं सन्दिग्ध विपर्ययस्तञ्च स्यात्तदा द्रूपणावसरः एतच्चात्रोभयमपि नास्तीति भावः ।”—स्या० २० पृ० ६७८ । (११) नाशिनित्ये वेति निरवधारणत्वात् मिलितमेव ‘अन्यथापि’ इत्यस्य व्याख्यानम्, विनाशिन्येव इति तु ‘अन्यथैव’ इत्यस्य—आ० टि० ।

शब्दे वाचकतामर्थ्यं तदा दूषणमुच्यताम् । फलवद्भवहाराङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता ॥२॥  
 निर्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवैगम्यते । परीक्ष्यमाणस्तेनार्थे युक्त्या नित्य-विनाशयोः ॥३॥  
 स धर्मोभ्युपगन्तव्यो यः प्रधानं न वाधते । नहि र्यङ्गाङ्गयनुरोधेन प्रधानफलवाधनम् ॥४॥  
 युज्यते, नाशिपत्ने च तदेकान्तात् प्रसज्यते । नहि अदृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥५॥  
 तथा च स्यादपूर्वोऽपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् । सम्बन्धदर्शनञ्चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥  
 सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद् भ्रुवं कालान्तरस्थितिः । अर्थ्यभिन्नं ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥  
 गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाश्वशब्दो हि वाचकः ।” [मो० श्लो० क्षब्दनि० श्लो० २३७-४४] इति<sup>१</sup> ।

अथ सदृशतया शब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपपत्तेः नार्थापत्तितोऽस्य नित्यत्व-  
 सिद्धिः; तदयुक्तम्; तत्सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तितः तैश्च तस्यै तद्वेतुत्वा-  
 नुपपत्तेः । उक्तञ्च—

(१) “ननु माभूदर्थप्रत्यायन तथापि किमित्यनिरयता न भवति ? अत आह—फलवदिति । फल-  
 वतो गवानयनादिव्यापारस्य अङ्गभूतोऽर्थप्रत्यय तत्फलत्वेनैव फलवान्, शब्दस्योच्चारणसरकारभाज  
 स्वयमपश्यस्य फलवत्प्रत्ययाङ्गताऽवगम्यत इति । ततः किमित्याह—परीक्षमाण इति । अर्थप्रत्ययाङ्गस्य  
 शब्दस्य स एव धर्मः स्वाङ्गत्वेन प्रहीतव्यो यच्च प्रधानमर्थप्रत्यय न वाधते इति । कारणाह—नहीति ।  
 अर्थप्रत्ययाङ्गभूतस्य शब्दस्य यदङ्गमनित्यत्व तदनुरोधेन यत्प्रधान शब्द तत्फलस्य अर्थप्रत्ययस्य  
 वाधनमयुक्तमिति । तथापि कथं नानित्यत्वमत्राह—नाशीति । क्वमित्याह—नहीति । किमित्य-  
 वाचकः ? अत आह—तथा चेदिति । सम्बन्धज्ञानञ्च न क्षणिकस्य सम्भवीत्याह—सम्बन्धेति ।”  
 —न्यायर० पृ० ७९० । (२) अर्थप्रत्ययाकरत्वे—आ० टि० । (३) ‘दवधार्यत’—मो० श्लो० ।  
 (४) शब्दस्य । (५) प्रधान व्यवहाराख्य फलम्—आ० टि० । (६) ‘अङ्गाङ्गानुरोधेन’—मो०  
 श्लो० । अर्थप्रत्यय—आ० टि० । (७) शब्द—आ० टि० । (८) व्यवहार—आ० टि० । (९)  
 “ननु कियन्त चित्कालमवनिच्छन्ता दृष्ट्वा, यावत्सम्बन्धदर्शनं तस्य व्यवहारश्च सम्भवति, नैवावता  
 नित्यत्वसिद्धिरत आह—सम्बन्धेति । नन्वन्यस्यैव गोशब्दस्य सम्बन्ध गृहीत्वा अन्यस्मादर्थं प्रत्येष्यामो  
 नावश्यमेवस्यैव स्थायित्वमत आह—अन्यस्मिन्निति, एव ह्यव्यवस्था स्यादिति ।” —न्यायर० पृ० ७९१ ।  
 (१०) यस्य हि सम्बन्धो ज्ञात भोज्यः यच्च वाचकः सोऽन्यं विनाशित्वात्—आ० टि० । (११)  
 उदुता इमे—प्रमेयक० पृ० ४०५-६ । द्वितीयतृतीयचतुर्थश्लोकान् विना—स्वा० २०५० ६७८ । पञ्चम-  
 षष्ठसप्तश्लोकां किञ्चित्पाठभेदेन—तत्त्वसं० पृ० ६१७ । (१२) “अर्थत्वसादृश्यादर्थावगम इति चेत्,  
 न विशिदर्थवान् सर्वेषां नवत्वात् । नस्यचित्पूर्वस्य कृत्रिमसम्बन्धो भविष्यतीति चेत्, तदुक्तम्, सदृश  
 इति चावगते व्यामोहप्रत्ययो व्यावर्तते शालापाब्दान्मालाप्रत्यय इव ।” —शाबरभा० १।१।१८ । “ननु  
 तत्तुन्योपादानमभेदमुपादाय सिध्यति पारार्थ्यं दर्शनस्य; सत्यम्; सिध्यति, किन्तु नेत्यभूतत्वे प्रमाण-  
 मिति । न नस्यचिदप्याससार जन्तोः पूर्वोभनसदृशामुच्चारयामि तत्सदृश एवायमिति ज्ञानोत्पादो  
 दृष्टः । अत एव चाविपरीतं प्रतिपद्यन्ते । अन्यथा मालापाब्दप्रत्ययस्यैव शालापाब्दसंवेदनादविपर्यय  
 स्यात् ।” —बृहती० १।१।१८ । शास्त्रदी० पृ० ५६० । नयति० पृ० २४ । (१३) मादृश्यदारेण ।  
 (१४) शब्दस्य । (१५) ज्यापत्ति (अर्थप्रतीति) हेतुत्वानुपपत्त—आ० टि० ।

१ ततो दू-२० । २ नि.फल-ध०, २० । ३ असदृशतया ध० । ४-स्वोपपत्तायापि-ध० ।  
 ५-संज्ञतया २० ।

“सद्दशत्वाप्रतीतिश्चेत् तद्द्वारेणाप्यवाचकः । कस्य चैकस्य सादृश्यात् कल्प्यता वाचकोऽपैरः ॥  
 अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा । अर्थवान् पूर्वदृष्टैश्चेत् तस्य तावैान् क्षणः कुतः ॥  
 द्विस्तावानुपलब्धो हि अर्थवान् सम्प्रतीयते” । [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-५० ]  
 “तथा मित्रमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तितो भवेत् । एवमेकमनेकं वा नित्यं वाऽनित्यमेव वा ॥  
 भिन्ने चैव त्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पितः । व्येत्तयनन्यदथैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥  
 व्यक्तित्वनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम्” । [ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१-७३ ] इति ॥छा॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स एवायं गकारः’ इत्यादि, तदसमीक्षिता  
 तत्प्रतिविधानपुरस्सरं विधानम्, अर्थस्य प्रत्यभिज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनतया एकत्वाऽप्रसा-  
 शब्दस्य अनित्यत्व धरुत्वात् प्रदीपादिप्रत्यभिज्ञानवत् । न खलु ‘स एवायं प्रदीपः,  
 प्रसाधनम्— अङ्गहारः, लूनपुनर्जातनखकेशादिर्वा’ इत्यादि प्रत्यभिज्ञानं प्रदीपादी-  
 नामेकत्वं प्रसाधयति । अथाऽत्र एकत्वाभावात्तस्यै तदप्रसाधकत्वं तदन्यत्रापि समानम् ।

(१) “शब्दस्तु न तथा बालानामपि प्रतीतिप्रसङ्गादित्यथवत्सादृश्यादर्थावगम इति भाष्यम्,  
 तस्यार्थमाह—सद्दशत्वादिति । शब्दान्तरे गृहीतसम्बन्धेऽथैवति शब्दान्तरं तत्सादृश्यात् तत्त्वेन भ्रान्त्यवगत  
 तदर्थं प्रत्याययतीति । परिहरति तद्द्वारेणिति । कारणमाह—कस्येति । च शब्दो हेतौ । इदञ्च न हि  
 कश्चिदर्थवानित्यनेन भाष्यणोक्तमिति एतदेवोपपादयति—अदृष्टति । शङ्कते—अर्थवानिति । निरा-  
 करोति तस्यति । अवसराभावमेव दर्शयति—द्विस्त्रिरिति । —वाय० पृ० ७९३ । (२) सादृश्यन-  
 आ० टि० । (३) किन्तु वैसादृश्यम्—आ० टि० ६ । (४) वाचक—आ० टि० । (५) वाच्योपलम्भ-  
 काल यावत्—आ० टि० । ‘तावान् कुत’ क्षण—मी० श्लो० । (६) ‘द्विस्त्रिर्वाऽनुपलब्धो हि नार्थ  
 वान् सम्प्रतीयते’—मी० श्लो० । तत्त्वस० पृ० ६१९ । (७) उद्धता इमे—प्रमेयक० पृ० ४१० ।  
 तत्त्वस० पृ० ६१९ । (८) ‘भिन्नत्वैव त्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्प्यते । अभेदाऽनित्यनानात्वे पूर्वोक्तेनैव  
 तुल्यता ।’—मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७२ । (९) ‘व्यक्तयनन्यतथैकञ्च’—मी० श्लो० । (१०)  
 उद्धृता इमे—प्रमेयक० पृ० ४११ । (११) पृ० ६९७ पृ० १८ । (१२) तुलना—‘किमिदं प्रत्यभिज्ञानम् ?  
 तत्प्रत्ययविषयत्वम् ? तत्प्रत्ययविषयत्वमन्यत्वेपीत्यनकान्तं’—न्यायवा० २।२।३३ । ‘अनित्यत्वेऽपि  
 सादृश्यवशात्प्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यत एवेति । विवादगोचरापन्नं शब्दोऽभिध्यक्तं प्रत्यभिज्ञानकालं याव-  
 त्जावत्पिच्छते शब्दप्रत्ययविषयत्वात् पूर्वानुभूतसद्वत् ।’—प्रश० ध्यो० पृ० ६४७ । ‘नृत्ताभिनयचेष्टा  
 दिप्रत्यभिज्ञानतो वयम् । विशेषं प्रत्यभिज्ञाने न पश्यामी मनागपि ॥ उच्यते प्रत्यभिज्ञानमन्यथा-  
 प्युपपद्यते । गत्वादिजातिविषयं यद्वा सादृश्यहेतुकम् ॥’—न्यायम० पृ० २२३-२४ । ‘तथा ह्यनि-  
 त्येऽपि प्रदीपादी प्रत्यभिज्ञानं दृष्टं तस्मादनैकान्तिरुमेतत्, यथा क्षणिकेऽपि कमणि प्रयोगे दृश्यते’—  
 प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३७९ । ‘सादृश्यान्नैकरूपत्वात्स एवायमिति स्थितिः ॥ यदि चैवविधो  
 नित्यो नित्यास्ते विद्युदादयः । प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद् भिन्नदेशयो ।’—न्यायवि० का० ४२५ २६ ।  
 “सादृशापरग्रहणेनापि तत्त्वसंभवात् क्षणिकेष्वपि करणाङ्गहारादिषु प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धो हतुः । तत्कि-  
 यैकत्वेऽपि किमिदानीमनेकं स्यात् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५ । ‘गाद्य  
 कत्वग्राहिकाया लूनपुनर्जातकेशादिष्विव तस्या भ्रान्तत्वात् ।’—म-मति० टी० पृ० ३४ । स्या० २०  
 पृ० ६८० । रत्नाकराव० ४।९ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७६ A. । (१३) नृत्यक्रियाविगण, वृत्तिव-  
 गमनादिभेदेन द्वाविंशतिविधः । (१४) प्रदीपादी । (१५) प्रत्यभिज्ञानस्य । (१६) एकत्वाप्रसाधकत्वम् ।

ननु तैलादिकारणस्य उत्तरत्र क्षयोपलम्भतः प्रदीपादेः प्रतिक्षणमन्यत्वप्रसिद्धेः युक्तमेकत्वा-  
सत्त्वं न शब्दस्य विपर्ययात्, इत्यप्यनुपपन्नम्, अस्यापि तात्वादिसयोगविभागलक्षण-  
कारणस्य उत्तरत्र प्रक्षयप्रतीतितः प्रतिसमयमन्यत्वसिद्धेः एकत्वासत्त्वोपपत्तेः । तत्सं-  
योगविभागयोः तदभिव्यञ्जकत्रायूत्पादे कारणत्वं न शब्दे इत्यभ्युपगमे वर्त्तिकामुत्तै-  
लानलसंयोगादेरपि प्रदीपाद्यभिव्यञ्जकत्रायूत्पादे कारणत्व न तदुत्पादे इत्यप्यभ्युपगम्य-  
तामविशेषात् । प्रतीतिविरोधः अन्यत्रापि न कार्कैर्भक्षितः ।

यदपि प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, प्रत्यक्षपरिच्छेदे विशदस्व-  
भावस्यैव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात् । न चेदं तत्त्वभावम्, अतः कथमस्य प्रत्यक्ष-  
ताशङ्कापि ? अज्ञान्यव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्यै तद्रूपता, इत्यप्यसत्, तस्य तदन्यव्य-  
तिरेकानुविधायित्वाभावात्, दर्शनस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्यै प्रत्यभिज्ञा-  
परीक्षाप्रघट्टके प्ररूपितत्वात् । प्रत्यक्षत्वे चास्यै अतीतकालपरिगतत्वेन शब्दप्राहकत्वानुप-  
पत्तिः, सम्यद्धवर्त्तमानार्थगोचरचारित्वात्तस्यै । तद्प्राहकत्वे वा कथं योगिप्रत्यक्षस्य  
प्रतिक्षेपः प्रत्यक्षत्वेऽप्यस्यै तद्वद् अतीतार्थप्राहकत्वाधिरोधात् ?

अस्तु वा यथाकथञ्चित् तत्प्रत्यक्षम्, तथापि न तत् शब्दस्यैकत्वप्रसाधकम्, तदु-  
त्पादविनाशप्राहिणा प्रमाणान्तरेण बाध्यमानत्वात्, यत् प्रमाणान्तरेण बाध्यते न तत्  
स्वस्वियव्यवस्थापकम् यथा शुक्तिशकले रजतप्राहिप्रत्यक्षं शुक्तिस्वरूपप्राहिप्रत्यक्षान्तरेण,  
बाध्यते च तदुत्पादविनाशप्राहिणा तेन तदेकत्वप्राहिप्रत्यभिज्ञानमिति । न चेदमसिद्धम्,  
प्रत्यक्षस्यैव तावत् तदुत्पादविनाशप्राहकत्वेन तद्ग्राहकत्वसंभवात् । तथाहि—‘उत्पन्नः  
शब्दः विनष्टः’ इति प्रतीतिः इन्द्रियव्यापारानन्तरं प्रतिप्राणि संवेद्यमानोपजायते । न

(१) तुम्हा—“शब्दस्य तात्वादिसयोगविभागलक्षणकदम्बकस्य उत्तरत्र क्षयप्रतीतित प्रति  
क्षणमन्यत्वसिद्धरेकत्वासत्त्वोपपत्त ।”—स्या० २० पृ० ६८१ । (२) तात्वादि—आ० टि० । (३) शब्दा-  
भिञ्जक । (४) प्रदीप—आ० टि० । (५) पृ० ६९८ पृ० ११ । (६) प्रत्यभिज्ञानम् । तुलना—“एवमन्यते  
—प्रथमे क्षणे शब्दग्रहण द्वितीयाक्षणे पूर्वगृहीतशब्दाहितसंस्कारप्रबोधः ततोऽन्यस्मिन् क्षणे शब्दस्मरणम्,  
तत्रस्वनुर्ये क्षणं निरुद्धं तस्मिन् स एवायं शब्दशब्द इति प्रत्यभिज्ञानं कथं प्रत्यक्षं स्यादसिद्धिनिवृत्ति-  
पयत्वात् ।”—प्रमाणवा० स्व० ३५० पृ० ३७८ । (७) प्रत्यभिज्ञानस्य । (८) प्रत्यभिज्ञानस्य (९)  
पृ० ४१५ । (१०) प्रत्यभिज्ञानस्य । (११) ‘स’ इति—आ० टि० । (१२) प्रत्यक्षस्य । तुलना—  
‘पूर्वकालमन्विष्यत्स्वज्ञानीममिन्द्रियत्वनाऽग्रहणात् । ग्रहणे वा श्रोत्रज्ञानवत् स्पष्टप्रतिभास  
स्यात् ।”—प्रमाणवा० स्व० ३५२ । (१३) अतीतप्राहकत्व—आ० टि० । (१४) प्रति-  
तिपानि हि मामासन्नं सवत्तम्—आ० टि० । (१५) योगिप्रत्यक्षस्य । (१६) प्रत्यभिज्ञानवत्—आ०  
टि० । (१७) प्रत्यभिज्ञानम् । (१८) तुम्हा—‘शब्दः विनाशविनाशान्तात् न सा नित्यत्वसाधिका ।’—  
न्यायवर्म० पृ० २२४ । (१९) प्रत्यक्ष—आ० टि० । (२०) शब्दोत्पादविनाश । (२१) स एवायं  
शब्द इति प्रत्यभिज्ञानवाक्यत्वसंभवात् ।

चेयं मिथ्या; देशकालनरान्तरेषु अवाध्यमानत्वात् 'उत्पन्नो घटः विनष्टो घटः' इति प्रतीतिवत् । अथ प्रत्यभिज्ञानेनैव ईयं कस्मान्न वाध्यते ? तत्र; अस्य सादृश्यनिबन्धनतया तन्नित्यत्वाप्रसाधकत्वात् ।

ननु एकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात् कंचिद् घटाद्यभावप्रतीतिर्युक्ता, ननु शब्दाभावप्रतीतिः, तत्रैकज्ञानसंसर्गिणः कस्यचिदप्यसंभवात्, इत्यप्यचोद्यम्; विवक्षित- 5 शब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैव एकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् । निःशब्दप्रदेशे सर्वशब्दाभावप्रतीतौ तर्हि तदसंभव इति चेत्; न; तत्रापि आत्मस्वरूपसंवेदनस्य तदेकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् । यथैव हि घटभूदेशादीनाम् एकरुद्र ज्ञाने संसर्गः तथा स्वपररूपयोरपि, अखिलज्ञानानां स्वपररूपावभासिस्वभावत्वात् । न चैवं शब्दाभाववत् रूपाद्यभावोऽपि अतोऽनुपज्यते, तेषां प्रतिनियतेन्द्रियप्राण्यतया तदभावस्यापि प्रतिनियतादेव इन्द्रियात् 10 प्रसिद्धेः । यो हि यद्विन्द्रियप्राण्यः तदभावोऽपि तदिन्द्रियादेव व्यवस्थाप्यते । यदिन्द्रियोपयुक्तो ह्यात्मा यत्र यदा यद्विषयमुपलब्धिबलक्षणप्राप्तं नोपलभते तत्र तदा तस्याभावमधिगच्छतीति ।

नित्यत्वे च शब्दस्य प्रागुच्चारणादनुपलम्भः कुतः स्यात्—इन्द्रियाभावात्, शब्द- 15 स्यासन्नहितत्वात्, आवृत्तत्वाद्वा ? न तावदिन्द्रियाभावात्; उच्चारणानन्तरं शब्दो-

(१) उत्पन्न शब्द विनष्ट शब्द इति प्रतीति । तुलना—“प्रत्यभिज्ञा हि सापेक्षा निरपेक्षा त्वभावधी । तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव वाध्यते ॥ शब्दाभावस्य ग्रहणात् प्रत्यभिज्ञायाश्च पूर्वानुसन्धानादिसव्यपेक्षत्वात् । अपि च प्रत्यभिज्ञा व्यभिचरति कर्मादिषु गृह्यते । तेनास्या शब्देष्यभाव-प्रत्ययोपहतवपुषि क समाश्वास ? न चैवं प्रत्यक्षेष्यनैकान्तिकत्वोद्भावनमपि तु विनाशप्रत्ययप्रतिहत-प्रभावा प्रत्यभिज्ञा नित्यत्व कर्मादिष्विव शब्देष्ये न साधयितुं प्रभवति .”—न्यायम० पृ० २२४ । स्या० २० पृ० ६८१ । (२) भ्रान्तिवशादभवत् स एवाय शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्य । (३) भूतल-आ० टि० । (४) भूतलादौ । (५) शब्दाभावप्रत्यये । (६) तुलना—“विवक्षितशब्दाभावप्रतीतौ शब्दान्तरस्यैकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् ।”—स्या० २० पृ० ६८२ । (७) तुलना—“तत्राप्यात्मस्वरूपस्य तदेकज्ञानसंसर्गिणः संभवात् । स्वपररूपावभासकस्वभावस्य ह्यात्मनः परस्मिन् योग्यदेशावस्थिते वस्तुनि न केवलमात्मस्वरूपमवेदनं भवेत् यावन्ति सलु वस्तूनि प्रतिषेध्यत्वसम्मतवस्तुना साकं योग्यदेशावस्थितानि सन्त्यवश्य प्रतिभासन्ते, तानि सर्वाण्येकज्ञानसंसर्गिणि । तत्र कुम्भादौ प्रतिषेध्यो भूतलादि आत्मस्वरूप-ञ्चैकज्ञानसंसर्गिणि । शब्दे तु प्रतिषेध्ये सशब्दके प्रदेशे शब्दान्तरमात्मस्वरूपञ्च, नि शब्दके तु केवलमात्मस्वरूपम् । अथवा मा भवत्वेकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तर प्रमाणात्तरगृहीत तु भविष्यति । यथा स्मृति-गोचरे चैत्यकुलादौ क्वचिदभावप्रमाणेन भवतामभावग्रहणे चैत्यकुलादि ।”—स्या० २० पृ० ६८२ । (८) परत्वाविशेषात् यथा शब्दाभावो ज्ञात तथा रूपाभावोऽपि ज्ञायतामित्यर्थ—आ० टि० । स्वपररूप-प्राहिणः कस्माच्चिदपि ज्ञानात् । (९) रूपादीनाम् । (१०) यद्ग्रहे यदपेक्ष चक्षुः तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षते इति किरणावलीवचनात् यद्भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते तदभावोऽपि तावत्संब-आ० टि० । (११) येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेन तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते इति नियमात् ।



पलम्भात् । न च प्रागसतः तदैव इन्द्रियस्य प्रादुर्भावः, प्रतीतिविरोधात् । नापि शब्द-  
स्यासन्निहितत्वात्, नित्यैव्यापितया सर्वत्र सर्वदा तस्यै सन्निहितत्वात् । नाप्यावृतत्वात्;  
नित्यैकस्वभावत्वेन तस्य आवृतत्वानुपपत्तेः । न खलु दृश्यस्वभावपरित्यागेन अदृश्यस्वरू-  
पाऽस्वीकारे शब्दस्य आवृतत्वं घटते अतिप्रसङ्गात् । यद् यदा यत्स्वरूपं न परित्यजति  
न तस्य तदा तत्प्रत्यनीकस्वरूपसंभवः यथा अनावृतावस्थाया दृश्यस्वरूपमपरित्यजतो  
नादृश्यस्वरूपसंभवः, न परित्यजति च आवृतावस्थायां दृश्यस्वरूपं शब्द इति । तैदा  
तत्स्वरूपपरित्यागे वा सिद्धमस्य अनित्यत्वम्, स्वरूपभेदस्वभावत्वात्तस्यै । ननु घटादीनां  
स्वरूपभेदेऽपि अन्धकारादिना आवृतत्वं दृश्यते, इत्यप्युक्तम्; तत्रापि स्वरूपभेदे सत्येव  
आवृतत्वोपपत्तेः । स्वरूपमरण्डयतः कस्यचिदावरणत्वानुपपत्तेः ।

(१) उच्चारणात् प्राक् तदग्राहक श्रोत्रमिन्द्रिय नासीत् उच्चारणकाल एव शब्देन सहोत्पद्यते  
इत्युक्ते सत्याह न चेति । (२) नित्यतया व्यापितया च-आ० टि० । (३) शब्दस्य । (४) शब्दस्य  
आवृतावस्थाया न अदृश्यस्वरूपमभव अपरित्यक्तपूर्वस्वरूपत्वात् । तुलना-“यद्यदा यत्स्वरूपं न परित्य-  
जति -स्या० र० पृ० ६८२ । (५) आवृतावस्थाया दृश्यस्वरूप यागे । तुलना-‘तदय तात्वा-  
दिव्यापारजनितश्रावणस्वभाव परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयत्रपि नित्यस्वेन किञ्चिदनित्यम् ।’  
-अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०७ । (६) अनित्यत्वस्य । (७) स्वरूपभेदाभावेऽपि । तुलना-  
‘स्वान्तं यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमस्तस्यावरण तथा शब्दस्यापीति, तदसत्; तस्यापि  
तेन आत्मखण्डनोपगमान्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात् तमसस्तदावरणत्वसिद्धे सर्वस्य परिणामित्व-  
साधनात् । तमसाऽपि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिं किञ्च भवितुमर्हति, तस्य तन उपलभ्यतयाऽप्य-  
खण्डनात् ।’-अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० र० पृ० ६८२ । “स्ति  
मितेन वायुनावरणान्नित्यं नोपलभ्यत इति चेदाह-नापीत्यादि । तस्य बाह्यस्य उपलभ्यात्मानो  
दृश्यस्य किञ्चिदुपलम्भावरण सम्भवति । तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । सतोऽपि वा विद्यमानस्यापि  
चावरणस्य तदात्मानमखण्डयतो नित्यशब्दात्मानमप्रच्यावयन सामर्थ्यतिरस्कारायोगात् ज्ञान-  
जननशक्त्यभिभवयोगात् । यस्मात्त हि तत्र शब्दात्मन्यतिशयमनुत्पादयनावरणान्निमित्तं किञ्चित्करो  
नाम । अकिञ्चित्करश्चायं क कस्यावरण ज्ञानविबन्धकमन्यद्वति प्रकारान्तरेणोपपातक नैवति  
यावत् । .. अकिञ्चित्करस्य आवरणत्वं दृष्टमिति कथयन्नाह पर-कुड्यादय इत्यादि । कुड्यादयो  
घटादीना कर्मतिशयमनुत्पादयन्ति कम्बा सामर्थ्यातिशय खण्डयन्ति यनावरणमिष्यन्ते । तस्माद् यथा  
तेऽतिशयमनुत्पादयन्तो घटादीनामावरणमिष्यन्ते तथा नित्यस्यापि शब्दस्य किञ्चिदावरण भविष्यती-  
त्यनिशयः । न द्रुम इत्यादिना परिहरति । ते कुड्यादय किञ्चिद् घटादिकर्मनिशाययन्ति किञ्चित्  
स्वभाव कुर्वन्तीति न द्रुम । कथन्तस्त्वावरणमुच्यन्त इत्याह-अपि तु न सर्वं इत्यादि । न सर्वप्रदक्षणा  
सर्वस्य पुण्यस्य इन्द्रियज्ञानहेतव किन्तिहि परस्परसहितास्तु विषयिन्द्रियाशोकाः परस्परतो विशिष्ट-  
क्षणान्तरोन्नादात् कारणाद् विज्ञानहेतव - ते च विषयिन्द्रियादय तत्र प्रतिघातिना कुड्यादिनाऽप्यव-  
हिता यदा भवन्ति तदान्योन्यस्यानवारण मति च व्यवधायक कुड्ये अन्यस्योत्पत्तौ ममयस्य  
क्षणस्य यथोक्तकारणानावनानुत्पत्तौ नवारणवैकल्यमत कारणवैकल्यात् घटादिषु कुड्यादिव्यवहितेषु  
ज्ञानानुत्पत्तिरिति क्त्वा कुड्यादय आवरणमुच्यन्ते न पुन प्राग्विज्ञानजननयोग्यस्य घटादय प्रति-  
कथात् ..”-प्रमाणा० पृ० १०७ । टि० पृ० ३६१-६२ । (८) उरन्मनानुपलम्भरूपण ।

1-अथे तस्य व० । 2 आवृतावस्थायां आ०, व० । 3 इत्यप्य-अ०, व० ।

किञ्च, स्थञ्जकव्यापारात् पूर्वं शब्दस्य कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धे सञ्ज्ञावे आवरणं सिद्धयेत्, स्पर्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटे अन्धकारादिवत्, न चासौ सिद्धः । 'प्रत्यभिज्ञानात्-सिद्धिः' इत्यपि मनोरथमात्रम्; तस्य एकत्वाप्रसाधकत्वप्रतिपादनात् ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित्तेषामावरणम्; तथापि तत् दृश्यम्, अदृश्यम्, नित्यम्, अनित्यम्, व्यापकम्, अव्यापकम्. एकम्, अनेकं वा स्यात् ? न तावद् दृश्यम्, प्रत्यक्ष-प्रमाणतः तैत्प्रतीत्यैभावात् । तैतस्तत्प्रतीतौ वा विप्रतिपत्त्यभावः । नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद्विप्रतिपद्यते । अथादृश्यम्, कथं तदस्ति अतिप्रसङ्गात् ? ननु नित्यस्य सतः शब्दस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धौ निमित्तान्तरासंभवात् तन्निमित्तमदृश्यमप्यावरणं कल्प्यते, इत्यप्यसाधीयः, अन्योन्याश्रयानुपज्ञात्-सिद्धे हि शब्दस्य आवरणे नित्यस्य सतोऽस्य उच्चारणात् प्रागनुपलब्धिसिद्धिः, तस्याञ्च सत्यां तदावरणसिद्धिरिति । ननु प्रत्यभिज्ञानात् शब्दस्य नित्यत्वसिद्धेः उच्चारणात् प्राक् तदनुपलब्धौ नावरणादन्यन्निमित्तम्, इत्यपि श्रद्धामात्रम्, प्रत्यभिज्ञानस्य तन्नित्यत्वप्रसाधकत्वप्रतिपेधात् ।

नित्यत्वे च आवरणस्य सदा शब्दस्यानुपलब्धिः स्यात् । अनित्यत्वे त्वस्य प्रथ्वस्तस्य पुनरुत्पादे कारणाभावात् सर्वदा सर्वस्य उपलम्भप्रसङ्गः । नहि प्रतिनियता-वरणोत्पादे प्रतिनियतं किञ्चित्कारणमुपलभ्यते ।

व्यापकत्वञ्चास्य अतीव दुर्घटम्, वाधकप्रमाणसद्भावात् । तथाहि-आवरणत्वेनाभिमतो वायुरव्यापकः स्पर्शवद्द्रव्यत्वात् लोष्टवत् । व्यापकत्वे चास्य उभयोरपि आर्वार्याचारकयोः सर्वगतत्वान् किं कस्य आवारकं स्यात् ? न हि आकाशमादीना-

(१) तुलना-“स्वज्ञानेनान्यधीहेतु सिद्धस्यै व्यञ्जको मत । यथा दीपोऽन्यथा वापि को विशेषोऽस्य कारकात् ॥ स्वप्रतिपत्तिद्वारेण अन्यप्रतिपत्तिहेतुर्लोकं व्यञ्जक सिद्धो दीपादिवत्, स चेत्प्राक्सिद्ध स्यात् । समानजातीयोपादानलक्षणसिद्धेन तस्यैवातिशयस्य ज्ञानहेतोः तस्य तत्सामग्रीत्वात् । ये पुन असिद्धोपलम्भना कारका एव कुलालादिवद् घटादौ । स्वज्ञानेन कारणेन अन्यधीहेतुरर्थो व्यञ्जको मत । कदा ? सिद्धेऽर्थे । यद्यसौ व्यङ्ग्य प्रागसिद्ध स्यात्तदा को विशेषोऽस्य व्यञ्जकस्य कारकाद्धेतो ।”-प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६४ । “यत् प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरण सिद्धयेत् स्पर्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटेऽन्धकारादिवत् ।”-प्रमेयक० पृ० ४२१ । (२) सद्भाव-आ० टि० । (३) शब्दानाम्-आ० टि० । (४) तुलना-“तथापि तदावरण दृश्यदृश्य वा नित्यमनित्य वा व्यापकमव्यापक वा एकमनेक वेत्यष्टौ विकल्पा ।”-स्या० २० पृ० ६८३ । (५) आवरणप्रतीत्यभावात् । (६) प्रत्यक्षतः । (७) आवरणम् । (८) अनुपलब्धि-आ० टि० । (९) शब्दस्य । (१०) आवरणस्य । (११) एकैकवर्णस्य एकैकनावरणम्-आ० टि० । (१२) तुलना-“आवरणत्वेनाभिमत् प्रभञ्जन न व्यापक स्पर्शवद्द्रव्यत्वात्पुलककलवत् ।”-स्या० २० पृ० ६८३ । (१३) आवरणस्य । तुलना-“तद्वत्तदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्, न तद्वारकम्, न ह्याकाशमादीनामावारकम् ।”-प्रमेयक० पृ० ४२१ । स्या० २० पृ० ६८३ । (१४) शब्दस्तिमितवाच्यो । (१५) पराभिसन्धिना-आ० टि० ।

१ वा कर्माञ्च-श्र० । २-त्यसंभवात् थ० । ३ नीलतायाः प्र-थ० । ४ शब्दनित्य-आ०, थ० । ५-वा शब्दस्य व०, थ० । ६-णभावात् आ० । ७ स्पर्शनद्रव्य-थ० ।

नामावारक प्रतीतम् । अव्यापकत्वे त्वस्य नितरा तेन शब्दस्य आचार्यत्वानुपपत्तिः, तैन्मध्ये तद्देशे पार्श्वे च विद्यमानत्वात्, प्रत्युत शब्द एवास्य आवारकः स्यात्, अन्यथा सर्षपोऽपि घटस्य आवारको भवेत् । ननु भूम्यादिना आकाशस्य तथाविधस्यापि आत्रियमाणत्वोपलम्भाद्दोषोऽयम्, इत्यप्यसत्, तत्प्रदेशस्यैव तेन आत्रियमाणत्वाभ्युपगमात् । शब्दप्रदेशस्यापि वायुना आत्रियमाणत्वाभ्युपगमे शब्दस्य सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्यात् ।

तथा निखिलशब्दानां यदि एकमेवावरणं कल्प्यते, तदा एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भप्रसङ्गः, तद्दावरणापगमे तद्वत् सर्वेषामनावृतत्वात् । तद्वदुपलम्भे वा विवक्षितशब्दस्यापि तद्वदनुपलम्भः स्यादविशेषात् । अथ विभिन्नम्, तन्न, सर्वशब्दानां व्यापितया

(१) वायो-आ० टि० । (२) वायुना-आ० टि० । (३) आवरणात्मकवायुमध्य । (४)

व्यापित्वेन-आ० टि० । (५) वायो-आ० टि० । (६) यद्यल्पपरिमाणमपि वस्तु महत् आवारकः स्यात् तदा । (७) व्यापिनोऽपि-आ० टि० । (८) आकाशप्रदेशस्यैव । (९) भूमिना । (१०) जन आकाशस्य अनन्तप्रदेशित्वप्रतिज्ञानात् । (११) आवरणापाय कस्यचिदेकस्य शब्दस्य उपलब्धिवाटे । तुलना- यथा जबनिकापायप्रान्तप्रसरणीक्षणम् । रङ्गभूमिषु तद्दृशमद्यपि वस्तु पश्यति ॥ तथा प्रसरन्मरोधिसमीरोत्सारणं सति । श्रोत्रं तद्दृशनि शपशब्दग्राहि भवित्यति । -न्यायम० पृ० २२१ ।

वचिच्छब्दस्याभिभक्तौ तस्य व्यापकतया सर्वदेशावस्थितपुरुषाणामुपलम्भः स्यात् निरावरणस्य व्यापकत्वाविशयात् । -प्रश० व्यो० पृ० ६८४ । (१२) शब्दानाम् । (१३) विवक्षितशब्दस्य आवरणस्य विनाशः । (१४) एकशब्दवत्-आ० टि० । (१५) सर्वशब्दानुपलम्भो । (१६) सर्वशब्दवत् । (१७) अनावृतत्वाविशयात् । (१८) तुलना- नियमश्च न स्यात्, यदि चानके शब्दा युगपदाकाशं वदन्ते इति, एवञ्च यत्किञ्चिदप्यञ्जकमुपात्तं समानदेशान् सर्वानभिभ्यनक्तीति यदा धीणा वाचते तदा रासभध्वनिरपि श्रूयते । न हि समानत्रियग्राह्याणां समानदेशानां व्यञ्जकेषु नियमो दृष्टः । यद्यस्य व्यञ्जकं तेन तस्य व्यक्तिरिति चेत्, तन्न अदृष्टत्वात् । अथ मनसे अनकशब्दसन्निपाते सति व्यञ्जकानि भिद्यन्ते व्यञ्जकभदानुविधाभिर्भोव्यक्तयः प्रतिशब्दमुपजायते इति, तन्न अदृष्टत्वात् । न हि प्रदीपे एकेन्द्रियग्राह्यमनकमर्थं युगपत्सन्निपातितं न प्रकाशयति । -न्यायवा० पृ० २८८ । न्यायवा० ता० पृ० ४४६ । न च गोग्राह्याभिव्यक्तयश्च प्ररितो वायुर्नाशब्दं व्यनक्तीति वाच्यम् व्यञ्जकेषु नियमानुपलम्भः । यथा घटाभिव्यक्तयमूत्यादितः प्रदीपः समानत्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितपदार्थव्यञ्जक इति । तथाहि-न श्रोत्रं प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं समानत्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितवस्तुप्रकाशकत्वात् चक्षुर्वत् । शब्दा वा विवादाविषया प्रतिनियतव्यञ्जकव्याघ्रा न भवन्ति समानत्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितत्वात् घटादिवत् । -प्रश० व्यो० पृ० ६४८ । न च समानकरणानां समानत्रियग्राह्याणाञ्च भावानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यप्यत्वमुपलम्भम् । गृहे दधिघटी द्रष्टुमानौतो गृहमेधिना । अपूपानरि तद्दृशान् प्रकाशयति दीपकः ॥ -न्यायम० पृ० २१२ । श्रोत्रं तावत्समानत्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्माप्रायानां ग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वाच्चानुवत् । शब्दा वा प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति समानत्रियग्राह्यसमानधर्मानुवत् सति युगपदिन्द्रियसम्बद्धत्वात् घटादिवत् । -न्यायसा० पृ० ३० । ननु नियतव्यञ्जकवृत्ता निवृत्तश्रुतिरित्यत्राह-नहीत्यादि । न हि यस्मात् समानदेशानाम् समानाक्षविषयाणामतत नियतव्यञ्जकत्वं न्याय्यम् । -सिद्धिवि०, टी० पृ० ५५४B ।

समानकरणानां तादृशमभिव्यक्तिनियमायोगात् सत्र सर्वदा सर्वेषां सकुला भूतिः स्यात् । -अष्ट

श०, अष्टसह० पृ० १०५ । प्रमेयक० पृ० ४२३ । समति० टी० पृ० ३६ । स्या० र० पृ० ६८३ । प्रमेयर० ३।१०० । शास्त्रवा टी० पृ० ३७८A ।

समानकरणानां तादृशमभिव्यक्तिनियमायोगात् सत्र सर्वदा सर्वेषां सकुला भूतिः स्यात् । -अष्ट

समानदेशत्वे समानेन्द्रियग्राह्यत्वे च आवरणभेदस्य व्यञ्जकभेदस्य चानुपपत्तेः । तथाहि—  
शब्दाः प्रतिनियतावर्णाकार्याः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या वा न भवन्ति, अभिन्नदेशत्वे  
सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा एकघटवृत्तिसामान्य-संख्या-रूप-परिमाण-  
कर्मादि, तथा चैते शब्दाः, तस्मात्तथेति । 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्युच्यमाने रूपरसादिभि-  
र्व्यभिचारः, तेपामेकद्रव्यवृत्तित्वेऽपि प्रतिनियतव्यञ्जकप्रतीतेः, अतः 'एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्'  
इत्युक्तम् । तस्मिन्श्चोच्यमाने भिन्नदेशव्यवस्थितघटादिनिष्ठैः सामान्यादिभिः अनेकान्तः,  
तन्निवृत्त्यर्थम् 'अभिन्नदेशत्वात्' इत्यभिहितम् । तदतोऽनुमानात् शब्दानां प्रतिनियत-  
व्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वाऽव्यवस्थितेः अयुक्तमुक्तम्—

“अन्यार्थं प्रेरितो वायुः यथान्यं न करोति वैः । तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति ॥१॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८० । ] इत्यादि ।

यदि च तात्त्वादयो ध्वनयो वा शब्दानां व्यञ्जकाः; तर्हि तद्व्यापारे नियमेन  
उपलब्धिर्न स्यात् । कारकव्यापारो ह्येव—स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम,  
न व्यञ्जकव्यापारः । न खलु यत्र यत्र व्यञ्जकः प्रदीपादिः तत्र तत्र व्यङ्ग्यस्य घटादेः  
सन्निधानमुपलब्धिर्वा नियमतोऽस्ति कारक-व्यञ्जकयोरविशेषप्रसङ्गात्, चक्रादिव्यापार-  
वैयर्थ्यानुपपत्त्याच्च । अथ घटादेरसर्वगतत्वाच्च व्यञ्जकसन्निधाने नियमतः सन्निधान-

(१) “अन्यार्थमिति अन्यवर्णनिष्पत्त्यर्थम् । अन्यवर्णसंस्कारशक्त इति अन्यवर्णप्रतीत्यर्थः  
संस्कारो यः श्रोत्रस्य सोऽन्यवर्णसंस्कारशब्देनोक्त न तु वर्णसंस्कार एव श्रोत्रसंस्कारस्य प्रकृतत्वात् ।  
नान्यं करिष्यति इति नान्यं वर्णं श्रोत्रसंस्कारद्वारेण संस्कारिष्यतीत्यर्थं ।”—तत्त्वसं० पृ० ६०८ ।  
(२) 'करोति च'—स्या० २० पृ० ६८४ । 'करोति स'—तत्त्वसं० पृ० ६०८ । प्रकृतपाठ—प्रमेयक०  
पृ० ४२३ । सम्मति० टी० पृ० ३६ । (३) भो जैना—आ० टि० । (४) 'एकोपलम्भे सर्वेषामुपलम्भ-  
प्रसङ्ग' इत्युपलम्भस्य समाधानमिदं मीमांसकेन प्रोक्तम्—आ० टि० । (५) तुलना—'कारणानां  
समग्राणां व्यापारादुपलब्धतः । नियमेन च कार्यत्व व्यञ्जके तदसम्भवात् । नहि कदाचिद् व्यापू-  
तेषु करणेषु शब्दानुपलब्धि, न चावश्यं व्यञ्जकव्यापारोऽर्थमुपलम्भयति क्वचित् प्रकाशेऽपि घटानु-  
पलब्धे । सेयं नियमेनोपलब्धि तद्व्यापाराच्छब्दस्य तदुद्भवे स्यात् । अकर्तुर्व्यापारेऽपि तत्सिद्धययो-  
गात् । किञ्च कारणानां समग्राणां व्यापारात् परिस्पन्दादिलक्षणात् नियमेन शब्दस्य उपलब्धत  
कारणात् कार्यत्व प्राप्तम् । किं कारणम् ? व्यञ्जके हेतो तदसम्भवात् नियमेन व्यङ्ग्यस्योपलम्भा-  
सम्भवात् ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।२६५ । “व्यञ्जकव्यापृतो न स्याद् व्यङ्ग्यस्य नियमाद् गति-  
नावश्यम्भावनिवयम् स्याच्छ्रुतेरुच्चारणात्तत् ।”—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५५५A । “न कश्चिद्विशेष-  
हेतुः तात्त्वादयो व्यञ्जका न पुनश्चक्रादयोऽपि इति । ते वा घटादेः कारकाः न पुन शब्दस्य तात्त्वा-  
दयोऽपीति । न हि व्यञ्जकव्यापृतिनियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति । सन्निधापयति च तात्त्वादिव्यापृति-  
नियमेन शब्दं ततो नासी तात्त्वादीना व्यङ्ग्यः चत्रादीना घटादिवत् ।”—अष्टश०, अष्टसह० पृ०  
१०३ । “यदि च तात्त्वादयो ध्वनयो वास्य”—प्रमेयक० पृ० ४१५ । स्या० २० पृ० ६८४ । (६)  
वायव—आ० टि० । (७) “प्राक् सतः स्वरूपसंस्कारकं हि व्यञ्जकम्, असतः स्वरूपनिर्वर्तकं कार-  
कम् ।”—प्रमेयक० पृ० ११६ । (८) घटाद्युत्पादने । (९) प्रदीपादिर्नैव साध्यत्वादे—आ० टि० ।

मुपलम्भो वा, शब्दस्य तु भवति विपर्ययात्, तदप्यचर्चिताभिधानम्, तत्सर्वगतत्वा सिद्धे । तथाहि-शब्द सर्वगतो न भवति सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् । ततो घटादिभ्य शब्दस्य विशेषाभावाद् उभयो वार्यत्व व्यङ्ग्यत्वं वाऽविशेषतोऽभ्युपगन्तव्यम् ।

किञ्च, एते ध्वनय कुत प्रतिपन्ना येन तदधीना शब्दश्रुति स्यात् प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्, किं श्रोत्रेण, स्पर्शनेन वा ? न तावत् श्रोत्रेण, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि शब्दवत् श्रोत्रे ध्वनय प्रतिभासन्ते विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । तत्र तत्प्रतिभासाभ्युपगमे च अपरशब्दकल्पनावैयर्थ्यम्, ध्वनीनामेव ध्रावणस्वभावरथा शब्दत्वप्रसङ्गात् । अथ स्पर्शनप्रत्यक्षेण ध्वनय प्रतीयन्ते, स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वरकरस्पर्शनेन तान् प्रतिपद्यते, इत्यप्यसाम्प्रतम्, वायुवत् ताल्वादिव्यापारानन्तर विष्णुपामुपलम्भत शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । वक्त्रमुखप्रदेश एव तासां प्रक्षयत श्रोत्रश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावात् तद् इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु वायवोऽपि तत्र गच्छन्त प्रत्यक्षत प्रतीयन्ते । शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या तु प्रतीति उभयत्र तुल्या । यथा च स्तिमितभाषिणो न विष्णुपामुपलम्भ तथा वायूपलम्भोपि नास्ति ।

(१) तुलना- व्यापिन गणा नित्याश्च ततो व्यापिनित्यत्वाच्छब्दाना व्यञ्जकस्य करणस्य व्यापारात् सवत्रोपलब्धि घटादयस्तु न व्यापिन नापि नित्या तेन ते व्यञ्जकव्यापारेण नावश्यमुप उभ्यन्त इति यद्यपि क इदानीं घटादिषु समादवास निश्चय यथा त न नित्या नापि व्यापिन इति यावता तेषां नित्या व्यापिनश्च भवन्तु । -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८५ । नप दोष सवगतत्वादर्शनामित्यपि वातम् प्रमाणबलापातत्वाभावात् अन्यथापि तथाभावानुपपन्नत । -अष्ट० १, अष्ट सह० पृ० १०३ । स्या० २० पृ० ६८४ । (२) सामान्यनिरासाय विगणमुक्तम् -आ० टि० । तुलना- तदुक्तं न च सवगता-मूलेनि-यकात्मा-त्र युज्यते । वर्णो बाह्येन्द्रियग्राह्यस्वभावत्वाद् घटादिवत् ॥ -प्रप० पृ० ११ । न सवगतं च सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत् । -प्रमेयक० पृ० ४१५ । सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । -स्या० २० पृ० ६८४ । (३) तुलना-प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० २० पृ० ६८४ । (४) ध्यान । (५) तुलना- ध्वनय एव हि विनिष्ठा यणस्या वाचका । तन्मो भिन्नाऽर्णान्तर वाचकं शब्दरूपमस्तीत्यतस्तथाहाकप्रभाषाभावात् अतिवह्निर्प न्डपम् । किं कारणम् ? यतो न वयमवाचकं ध्वनिं शब्दं वाचकं पूयद्वेषमिति ध्वनिभ्या भिन्नस्वभावमुपगमयाम तस्मात् ध्वनिविगण एवाकारात्करण स्थित वर्णस्य -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३९८ । यतो ध्वनिविशेष एव वण उच्यते । तन इतान्चारितो ध्वनिविशेष इता गव्यस्तिरुच्यते, मध्यान्वारिता मध्यगव्यस्तिरि बिलम्बितोन्वारिता ध्वनिविशेषो विरम्बिता गव्यस्तिरि न तु व्यञ्जकभ्यो ध्वनिभ्यान्वा गकार, प्रतिभासत -प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३८२ । (६) ध्वनीन् । (७) तुलना- 'बानुसतात्वात् व्यापारानन्तरं वक्त्राणां नमुपलम्भन शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात् । -प्रमेयक० पृ० ४१८ । स्या० २० पृ० ६८४ । (८) यदता-वात् व्यापारानन्तरमुपलम्भत ततच्छब्दाभिव्यञ्जकं यथा वायु तथा च विद्वद् इति -आ० टि० । (९) विद्वद्याम् वक्त्राणां नाम् । (१०) ग-गभिव्यञ्जकत्वम् । (११) ध्वनावधि । (१२) ध्यान गव्यप्रत्यक्ष । (१३) वायुवत् वक्त्राण्यपि समाना । १ यदादिवत् नाम्नि आ० । - धोत्रप्रथ० ब० । २ स्वप्नेन ध० । ३ गव्यवत्तय ध्वनयः ध० ब० । ४ विद्वद्यानाम्-आ० । ५ तथा आ० । ६ प्रत्यक्षत प्रसयत ब० । ७ विद्वद्यावलम्भ आ० ।

स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र तुल्यम् । एतेन वदतो मुखामस्थिततूलादेः प्रेरणोपलम्भात् अनु-  
मानतो ध्वनीन् प्रतिपद्यते, इत्यपि प्रत्युक्तम्, तद्वद् विप्रुपामपि अर्तः प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

अथ अर्थोपपत्त्या ध्वनयः प्रतीयन्ते, तथाहि—शब्दस्तावत् नित्यत्वात् नोत्पद्यते,  
संस्कृतिरेव तु क्रियते, सा च विशिष्टा नोपपद्यते यदि ध्वनयो न स्युः । उक्तञ्च—  
“शब्दोत्पत्तेर्निपिद्धत्वात् अन्यथानुपपत्तितः । विशिष्टससृष्टेर्जन्म ध्वनिभ्योऽध्यवसीयते ॥” 5

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६ २७ । ] इति ।

तदप्यचारु, यतः केच विशिष्टा संस्कृतिर्नाम—शब्दसंस्कार, श्रोत्रसंस्कारः, उभय-  
संस्कारो वा ? त्रिविधो हि संस्कारो मीमांसकैरिष्टः ।

“स्याच्छब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२ । ] 10

“स्थिरवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत् ।”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२ । ] इत्यभिधानात् ।

तत्रापक्षे कोऽयं शब्दसंस्कारो नाम—शब्दस्योपलब्धिः, आत्मभूतः कश्चिद-

(१) वायुन्-आ० टि० । (२) ‘मुखाद्विप्रुपो नि सरन्ति मुखाग्रस्थितवस्त्रे आर्द्रतादर्शनात्’  
इत्यनुमानात् । (३) विप्रुपो हि मुखाग्रस्थवस्त्रादौ दृश्यन्ते-आ० टि० । (४) ध्वनयः सन्ति विशिष्ट-  
संस्कृत्यन्यथानुपत्तेः । “तथा हि सन्ति शब्दव्यञ्जका ध्वनयः शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तः ।”-स्या० २०  
पृ० ६०५ । (५) “नन्वेवमविशेषे किमिति संस्कारविशेषोत्पत्तिरेवाङ्गीक्रियते न शब्दविशेषोत्पत्ति-  
रत आह-शब्दति । प्रागनुपजातपश्चादुपजातशब्दोपलम्भानुपपत्त्याऽवस्य कल्पनीयः कस्मिंश्चित्  
प्रत्यक्षतया शब्दोत्पत्तिनिषधात् संस्कारकल्पनैव युवतेति ।’-आय० १० । ‘ध्वनिभ्यो व्यवसीयते’-प्रमेयक०  
पृ० ४१८ । प्रकृतपाठ-तत्त्वस० पृ० ६११ । (६) इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा ।  
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिर्वादिनाम् ॥”-वाक्य० १।७९ । (७) ‘सा हि स्याच्छब्द’  
-मी० श्लो० । तत्त्वस० पृ० ५९८ । अननैव रूपेण उद्भूतोऽयम्-प्रमेयक० पृ० ४१९ । ‘साऽभिव्यक्ति  
शब्दस्य भवन्ती वायवीर्यं सयोगविभागं’ शब्दसंस्काराद्वा भवेत् इन्द्रियसंस्काराद्वा उभयस्य वा  
शब्दस्यन्द्रियस्य च संस्कारात् ।”-तत्त्वस० पृ० ५९९ । (८) ‘द्विविधो हि वायुः स्थिरोऽ  
स्थिरश्च । तत्र यः स्थिरः सघनान्धकारवत् शब्दभावतयास्ते तस्य च वक्तृप्रयत्नसमुत्थेन वायुना  
सयोगविभागा उत्पद्यन्ते । तैश्च सयोगविभागं तस्य स्थिरस्य वायोरुपनयः क्रियते स एव च शब्दस्य  
संस्कारो नान्यः स्वलक्षणपुष्ट्यादि तस्य नित्यत्वेनैकरूपत्वात् ।’-तत्त्वस० पृ० ६०१ । (९)  
तुलना-“भवन्ती वा कारणभ्योऽतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तित्वात् आवरणविगमो विज्ञानं वा गत्यन्त  
राभावात् । यत एवन्तस्मान् न व्यक्तित्वात् शब्दस्य कारणभ्यः किन्तुत्पत्तिरेव । भवन्ती वा कारणेभ्य  
सकागाद् व्यक्तित्वात् भवेत्-पूर्वावस्थापरित्यागेन अतिशयवत्ता वा शब्दस्य व्यक्तित्वात् उपलम्भा-  
वरणविगमो वा, शब्दालम्बनविज्ञानं वा व्यक्तित्वात्, प्रकारनयव्यतिरेकेण गत्यन्तराभावात् ।”-प्रमाणवा०  
स्ववृ० टी० पृ० ३८६ । इमे सर्वे विकल्पा-प्रमेयक० पृ० ४१९ । क एष शब्दसंस्कार-किमतिशया-  
धानमननिशयव्यावर्तनमावरणपगमो वा”-स्या० २० पृ० ६८५ । रत्नाकराव० ४।९।

1 स्तिमितकल्प-आ० । 2 विप्रुपानामपि आ० । 3-भ्योऽवसी-थ० । 4 एतदप्य-आ० ।

5 संस्कार इन्द्रि-थ० ।

तिशय, अनतिशयव्यावृत्ति, स्वरूपपरिपोष, व्यक्तिसमवाय, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता, व्यञ्जकसन्निधिमात्रम्, आवरणविगमो वा ? यदि शब्दस्य उपलब्धि, कथमसौ ध्वनीना गमिका शब्दश्रोत्रमात्रभाषित्वात्तस्या ? तथार्थन्यनिमित्तकल्पने हेतूनामनवस्थिति । आत्मभूत कश्चिदतिशय अनतिशयव्यावृत्तिर्वा, इत्यत्रापि अतिशय — दृश्यैस्वभाव एव, अनतिशयव्यावृत्तिश्च अदृश्यस्वभावत्पण्डनमेव । 'ते' च ततो भिन्ने, अभिन्ने वा विधीयेते ? यदि भिन्ने, तदा तत्करणे शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्था अस्य अश्रुति स्यात् । अथ अभिन्ने, तर्हि शब्दस्यापि तद्वत् कार्यतानुप-  
 5 द्वादनित्यत्वप्रसक्ति । 'थो हि यस्मादभिन्नस्वभाव तत्करणे तस्यापि करणम् यथा अतिशयानतिशयव्यावृत्तिस्वरूपस्य, ताभ्यामभिन्नस्वभावश्च शब्द इति ।

किञ्च, श्रोत्रप्रदेश एव अर्थे ध्वनिभि सस्कार 'क्रियेत, सर्वत्रापि वा ? प्रथम-  
 पक्षे तावन्मात्रक एव शब्द स्यात् न सर्वगत । तस्यैव अन्यत्र तद्विपर्ययरूपतया अव-  
 स्थाने दृश्यादृश्यत्वप्रसङ्गान्निरशताव्याघात । दृश्येतररूपता चेकस्य ब्रह्मवाद समर्थयते,  
 चेतनेतररूपतापि एकस्य तद्वदवस्थित्यविरोधात् । घटादेरपि चैव सर्वगतत्वानुपपन्न,  
 सोऽपि हि दृश्यप्रदेशे दृश्य अन्यत्र चादृश्य इति वदतो न वक्त्र वक्त्रीभवेत् । सर्वत्र  
 चार्थे सस्कारे सर्वत्र सर्वदा उपलब्धि स्यात्, न वा कश्चित् कदाचिद् विशेषात् ।

स्वरूपपरिपोषोऽप्यनुपपन्न, नित्यस्य स्वभावाऽन्यथाकरणासम्भवात् । करणे वा

(१) शब्दउपलब्धे । (२) शब्दश्रोत्रव्यतिरिक्त-आ० टि० । (३) तुलना- तत्र नातिशय  
 योत्सिति अनित्यताप्रसङ्गात् तस्या पूर्वापररूपहान्युपजननलक्षणत्वात् । -प्रमाणवा० स्वद० १।२६५।  
 विशेषाधानमप्यस्य नाभिभक्तिविभाव्यत । नित्यस्यातिशयोक्त्यविरोधात्स्वात्मनाशवत् ॥ -तत्त्वा  
 यदलो० पृ० २३८ । (४) अतिशयो दृश्यस्वभाव एव अनतिशयव्यावृत्तिस्वदृश्यस्वभावत्पण्डनमेव ते  
 चततोऽय तत्करणेऽपि शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याऽश्रुति । अधानय, तदा शब्द  
 स्वापि कायतया अनित्यत्वानुपपन्न । -प्रमेयक० पृ० ४१९ । स्या० २० पृ० ६/५। (५) अदृश्य सन  
 अतिशय जात दृश्यो जात -आ० टि० । (६) अतिशय अनतिशयव्यावृत्ती । (७) गन्त  
 -आ० टि० । तुलना- विशिष्टमस्कृति सा हि न शब्दव्यतिरेकिणी । शब्दस्याज्ञपताप्राप्ते तत्  
 गन्तोऽपि जायत ॥ -तत्त्वत० का० २५७० । (८) अतिशयोत्पादन अनतिशयव्यावृत्ती वा ।  
 (९) शब्दस्य-आ० टि० । (१०) अतिशय जनतिशयव्यावृत्तवत् । (११) शब्द काय कायरूपा  
 भ्यामतिशय-अनतिशयव्यावृत्तिभ्यामभिन्नस्वभावत्वात् । (१२) शब्दस्य । (१३) श्रोत्रप्रदेश एव  
 चास्य सस्कारे तावन्मात्रक एव शब्द न सर्वगत स्यात् । -प्रमेयक० पृ० ४१९ । (१४) शब्दस्य ।  
 (१५) श्रोत्रप्रदान्यत्र (१६) अदृश्यरूपतया अशब्दरूपतया वा । (१७) गन्तस्य दृश्यादृश्यत्ववत् ।  
 (१८) शब्दस्य । (१९) तुलना- सर्वेषामुपलम्भ स्याद् युगपद्व्यापिता यदि ॥ सत्कृतस्योपलम्भ च  
 क सस्कारा विचारण । -प्रमाणवा० ३।१५३ ५४ ।

१-वस्तु ५० ध० । २-तो च ततो भिन्नो अभिन्नो वा जा० । ३ भिन्नो आ० ।  
 ४ अभिन्नो आ० । ५-वत् ध० । ६ तत्करणे ध० । ७ एव-ध० । ८ त्रियते आ० । ९-त  
 स्यात् दु-ध० । १० दृष्टप्र-ध० । ११-चित् स्वरूप-ध० ।

अतिशयपक्षभाविदोषानुपह्नः । नापि व्यक्तिममर्वायः; अनभ्युपगमात्, अन्यथा शब्दस्य सामान्यादिरूपताप्रसङ्गः । अत एव न तर्द्द्रहणापेक्षग्रहणता । नापि व्यञ्जकसन्निधि-  
मात्रम् ; सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तृभिः सर्वशब्दानां ग्रहणप्रसङ्गात् । आवरणविगमरूपे  
तु तसंसंस्कारे युगपन्नखिलशब्दानामुपलब्धिः स्यात् । प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वाद्य-  
मदोषः, इत्यपि मनोरथमात्रम् ; तेषां तद्व्यङ्ग्यत्वस्यापास्तत्वात् ।

मा भूत्तर्हि शब्दसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, इन्द्रियसंस्कारस्तु भविष्यति । तदुक्तम्—  
“अर्थापीन्द्रियसंस्कारः सोप्यधिष्ठानदेशतः । शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्र तेनासंस्कृतशक्नुलि ॥१॥  
श्रृंग्रासकण्ठे शब्दात् ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया । अतोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियमः स्थितः ॥२॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६९-७१ ] इति;

तदप्यविचारितरमणीयम्, इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि संस्कृतस्य श्रोत्रस्य युगपन्नखिल-  
शब्दप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् । नहि अञ्जनादिना संस्कृत चक्षुः सन्निहितं स्वविषय नीलधवला-  
दिकं कञ्चित् पश्यति कञ्चिन्नेति, बलौतलादिना संस्कृत श्रोत्र वा काञ्चिचेदव गकारादिव-  
र्णान् शृणोति काञ्चिन्नेति नियमो दृष्टः, येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् । ततोऽयुक्तमेतत्—

(१) शब्दोऽपि व्यक्तिषु समवति—आ० टि० । (२) यदि शब्द व्यक्तिषु समवेयात् तदा । (३)  
सामान्य हि व्यक्तिषु समवति—आ० टि० । (४) आदिपदेन सयोगादयोऽनेकस्था पदार्था ग्राह्या । (५)  
सामान्यरूपादिप्रसङ्गादेव—आ० टि० । (६) व्यक्तिग्रहणापेक्षया स्वज्ञानजनकता । (७) शब्दसंस्कारे ।  
तुलना—“तद्रूपावर्णानाञ्च व्यक्तिस्ते विगमो यदि । अभावे करणग्रामसामर्थ्यं किन्न तद्भवेत् ॥”—प्रमा-  
णवा० १।२६६ । (८) “अधिष्ठानम्—कर्णशक्नुली । तत्संस्कारद्वारेण श्रोत्रस्य संस्कारो न केवलस्य ।  
तेनासंस्कृताधिष्ठानत्वाच्च विदूरस्थान्यचित्तसुप्तमूर्च्छितानां श्रोत्र न शृणोति । असंस्कृता कर्णशक्नुली  
यस्य तत्तथोक्तम् । अधिष्ठानदेशत इति सप्तम्यर्थे तसि । ‘यद्यप्यधिष्ठानसंस्कारकारिणो नादा  
स्तद्देशान्द्रियसंस्कारका वा, तथापि प्राप्ता एव सन्त संस्कारभाजि पदार्थे संस्कार कुर्वन्ति नाप्राप्ता  
इत्यतो न सर्वेषुधाधिष्ठानादिसंस्कार’—तत्त्वस० प० पृ० ६०६ । (९) सप्तमी—आ० टि० ।  
सप्तम्यर्थे पञ्चमीविभक्तिरित्यर्थः । (१०) ‘अतो न श्रोष्यति’—स्या० १० पृ० ६८५ । (११) यस्यैव  
कर्णदेश ध्वनि प्राप्त तस्यैव श्रोत्रसंस्कार—आ० टि० । ‘अप्राप्तकर्णदेशत्वात् ध्वनिना श्रोत्रसंस्क्रिया’  
—स्या० १० पृ० ६८६ । (१२) ‘संस्कारनियमस्थिति’—मी० श्लो० । प्रमेयक० पृ० ४२४ ।  
संस्कारनियम स्थित—तत्त्वस० पृ० ६०६ । स्या० १० पृ० ६८६ । (१३) तुलना—“इन्द्रियस्य  
स्यात्संस्कार’ शृणुयान्निखिलञ्च तत् । संस्कारभेदभिन्नत्वादेकार्थनियमो यदि ॥ अनेकशब्दसघाते  
श्रुति कलकले कथम् ॥”—प्रमाणवा० ३ । २५५ ५६ । ‘तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयन संस्कार  
शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५ । “इन्द्रियसंस्कारस्योन्मीलनालोकादे सकृदिन्द्रि-  
यसम्बन्धयोग्यसर्वार्थोपलब्ध्यनुकूलसंस्कारजनकत्व दृष्टं तद्गद्वायुरपि सकृदेव सर्वशब्दोपलब्ध्यनुकूल  
श्रोत्रे संस्कारमादध्यात तथा च सर्वशब्दोपलब्धि स्यात् ॥”—तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४०५ । ‘नन्वेवमपि  
अदोषग्रन्थोपलम्भप्रसङ्गः, संस्कृते हि श्रोत्रे सर्वेषां सान्निध्यात् ॥”—प्रश० व्यो० पृ० ६४८ । (१४)  
“बलात्तलादिना संस्कृत श्रोत्र वा काञ्चिचेदव गकारादीन् शृणोति काञ्चिन्नति नियमो दृष्ट ॥”—  
प्रमेयक० पृ० ४२४ सम्मति० टी० पृ० ३६ । स्या० १० पृ० ६८६ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३७७B ।

१—तो भक्ति. श्र० । २ शृणोतीति नियमो आ०, व० ।



“यथा घटादेदीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते । चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्यात् श्रोत्रसंस्कृतेः ॥  
न च पर्यनुयोगोऽत्र केनाकारेण सस्कृतिः । उत्पत्तावपि तुल्यत्वात् शक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३ ] इति;

प्रदीपाद्यनुगृहीतचक्षुषा युगपद् घटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेण एकदा अनेक-  
शब्दग्रहणप्रसङ्गात् । प्रयोगैः—श्रोत्रस्फुरेकेन्द्रियग्राह्याऽभिन्नदेशसिधितार्थग्रहणाय प्रतिनियत-  
संस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् । तन्न श्रोत्रसंस्कारोऽप्यभिव्यक्तिर्घटते ।

अस्तु तर्हि उभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिः, तत्र उक्तदोषासंभवात् । तदुक्तम्—

“द्वयसंस्कारपक्षे तु वैधा दोषद्वये वचः । येनान्यतरवैकल्यात् सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥”

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६-८७ । ] इति;

तदप्ययुक्तम्; उक्तदोषानुपपन्नदेव; तथाहि—यदा एकवर्णग्राहकत्वेन सस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं  
वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णानपि प्रतिपद्यते, संस्कृतञ्च वर्णं सर्वत्र सर्वदा स्थित-  
त्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न स्यात् तदात्मकत्वात्तस्य ।

ततो निरर्थैकरूपत्वे शब्दस्य आवायवाचारकभावस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य  
वाऽनुपपत्तेः नावरणकृता प्रागुच्चारणादस्याऽनुपलब्धिः । अतः ताल्वादिव्यापारान-

(१) “कीदृश पुनर्ध्वनीनामभिव्यञ्जकत्वम् ? तद्वस्यति यथेति । तेजसश्चाक्षुषस्य आप्याय-  
नानुग्रह कुर्वन् प्रदीपो यथा चाक्षुषाणां घटादीनां व्यञ्जकी भवति तथा ध्वनयोऽपि श्रोत्रसंस्कार कुर्वन्तः  
शब्दस्याभिव्यञ्जका भविष्यन्तीति ।”—न्यायर० । उद्धृताविमी—प्रमेयक० पृ० ४२४ । तत्त्वस० पृ०  
६०२ । (२) श्रोत्रसंस्कृतरनुग्रहाद् ध्वनिः शब्दस्य व्यञ्जक—आ० टि० । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ७०८  
टि० १८ । (४) “श्रोत्रसंस्कारवैकल्यात् सर्वे, पुरुषे ध्रुयते, शब्दसंस्कारवैकल्याच्च न सर्वे शब्द,  
समुच्चित्तयाद्वयो कारणत्वात् । प्रत्येकारणत्वे हि दोषद्वय स्यादिति ।”—न्यायर० । “संस्कारद्वयपक्षे  
तु मृषा दोषद्वयं हि तत् । येनान्यतरवैकल्यात् सर्वे शब्दो न गम्यते । ” अन्यतरस्य श्रोत्रसंस्कारस्य  
अर्थसंस्कारस्य वा वैकल्यात् न शब्दो गम्यते । तथाहि—सत्यपि शब्दसंस्कारे वधिरस्य श्रोत्रसंस्कारवै-  
कल्यात् शब्दग्रहणम्, अवधिरस्याप्यनभिव्यक्ते शब्दस्याग्रहणम् । क्वचित्पाठो मृषा दोषद्वये वच  
इति ।”—तत्त्वस० पृ० ५० पृ० ६१२ । (५) ‘मृषा दोषद्वये वच’—मी० श्लो० । स्या० २० पृ० ६८७ ।  
प्रकृतपाठ—तत्त्वस० पृ० ६११ । प्रमेयक० पृ० ४२४ । (६) शब्दसंस्कार श्रोत्रसंस्कार—आ० टि० ।  
(७) तुलना—“तथाहि सस्कृता श्रोत्रवर्णाध्व्यञ्जकं पुरा । न तदाप्ते च्युतिप्राप्ते सर्वे सर्वधृतिस्तत ।”  
—तत्त्वस० का० २५७३ । “यदैकवर्णग्राहकत्वेन मस्कृत श्रोत्र मस्कृत वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान्  
प्रतिपद्यते ।”—प्रमेयक० पृ० ४२५ । स्या० २० पृ० ६८७ । (८) तदाकाशदत्तो सर्वेषामपि वर्णानां व्यापितया  
नित्यतया च विद्यमानत्वात् । (९) यदि सस्कृत वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन न जानाति तदा ।  
(१०) नित्यव्यापिरूपत्वात् । (११) तुलना—“प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ प्रागु-  
च्चारणात्नास्ति शब्द । कस्मात् ? अनुपलब्धे । ततोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः । एतदोपपद्यते,  
कस्माद् ? आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात् । अनेन आवृत शब्दो नोपलभ्यते असन्नि-  
कृष्टेन्द्रियव्यवधानादित्येवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यते इति सोऽप्यमनुच्चारितो नास्तीति ।  
तस्मान् व्यञ्जकाभावाद्ग्रहणमपि त्वभावादेवेति । सोऽप्यमुच्चार्यमाणं ध्रुयते ध्रुयमाणश्चाऽभूत्वा

न्तरमस्योपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात् तत्कार्यत्वमेव अभ्युपगतव्यम् । ननु-  
खननाद्यनन्तर व्योम उपलभ्यते तदभावे च नोपलभ्यते, नैच तत्कार्यम्, अतोऽ-  
नेकान्तिकत्वमर्थम् । उक्तञ्च—

‘अनेकान्तिकता तावाद्देतूनामिह कथ्यते । प्रयत्नानन्तर ईष्टिर्नित्येऽपि न विरुद्ध्यते ॥’

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९ ] ७

‘आकाशमपि नित्यं सत् यदा भूमिजलावृतम् । व्यज्यते तदपोहनं सननोत्सेचनादिभिः ॥  
प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि विद्यते । तेनाऽनेकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनम् ॥  
अथ स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते । शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् श्रीगस्तात्यवगम्यत ॥’

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३३ ] इति<sup>३३</sup>,

तदप्यसुन्दरम्, एकैस्वभावत्वस्य आकाशेऽप्यसिद्धत्वात् । तद्वि तत्स्वभाव सत् स्ववि- 10  
पयज्ञानजननैकरूपम्, तद्विपरीतं वा स्यात् ? यदि तज्जननैकरूपम्, तदा तस्य  
न खननाद्यनन्तरमेव उपलब्धिः, किन्तु पूर्वमपि स्यात् । तद्विपरीतस्वरूपत्वे तु न  
कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात् । विशेषे वा तद्वैकरूपताव्याघातः । प्रत्यभि-  
ज्ञानाच्छब्दे प्राक्सत्त्वसिद्धिश्च लूनपुनर्जातनसकेशादावपि सामानाः । कथञ्चैव ध्वनीना-  
मपि प्राक्सत्त्वसिद्धिर्न स्यात् ? य एव पूर्वमकारस्य व्यञ्जको ध्वनिः स एव पश्चादपि 15  
इति प्रतीतेः । तथा च व्यङ्ग्यवद् व्यञ्जकस्यापि सर्वत्र सद्भावसिद्धे तत्त्वादिव्यापारवै-  
यर्थ्यम्, सर्वत्र सर्वदा व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च स्यात् ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्—‘अन्यदापि यत् शब्दस्योच्चारणं तदस्याभिव्यञ्जकम् उच्चा-

भवतीत्यनुमीयते । ऊर्ध्वञ्चोच्चारणात् श्रूयते स भूत्वा न भवति अभावान् श्रूयते इति । कथम् ?  
आवरणाद्यनुपलब्धिरित्युक्तम् । तस्मादुत्पत्तिरिरोभावधमकं शब्द इति । —न्यायभा० २।२।१८ ।

(१) तात्त्वादिव्यापाररूपोच्चारणकायत्वम् । शब्द अनित्य तात्त्वादिव्यापाररूपप्रयत्नान्त-  
रीयत्वमिति । (२) व्योम । (३) जननकायम् । (४) प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यस्य हेतोः । (५)  
‘तावच्छब्देनासिद्धतापि वक्ष्यते इति प्रयत्नानन्तरदशनादित्यस्य तावदनकारितिकत्व दण्यति—प्रयत्नेति ।  
दशनं हि तत्र सत्ता गमयति न कालान्तरे निषधति तेन विपक्षेऽपि कालान्तरे सत्त्वसम्भवात्तत्र दणनम्  
नकारितिकमिति । —न्याय० । (६) प्रयत्नानन्तरा दृष्टिः—मी० श्लो० । (७) उपलब्धि—आ०  
टि० । (८) व्योमज्ञानम्—आ० टि० । (९) दृश्यते—मी० श्लो० । (१०) दशनम्—प्रयत्नानन्त-  
रज्ञानम्—तत्त्वस० प० पृ० ६४० । दणनात्—मी० श्लो० तत्त्वस० । (११) भूम्याद्यावृतमपि  
आकाशम् । (१२) उच्चारणात् प्राक् । (१३) उद्धृता इमे श्लोका—प्रमेयक० प० ४२२ । स्या० २०  
पृ० ६८९ । द्वितीयतृतीयौ—तत्त्वस० पृ० ६४० । (१४) तुलना— एकरूपता चाकाशस्याप्यसिद्धा —  
प्रमेयक० पृ० ४०२ । स्या० २० पृ० ६८९ । (१५) आकाशं नित्यकत्वभावम् । (१६) खननात्  
प्रागनुपलब्धिसमय स्वविषयज्ञानाज्जननस्वभावत्वे खननान्तरञ्च स्वविषयज्ञानजननात्मकत्वे । (१७)  
आकाशस्य नित्यकत्वता न स्यादिति भावः । (१८) शब्दवत् । (१९) ध्वन्युत्पत्तादेव तात्त्वादीना  
मुपयोगः’ इति च सर्वदा सन्तीति ।

१ न च तस्का—व० । २—भावस्य आका—थ० । ३ प्राच्यत्वसि—व० ।

रणत्वात् ईत्यादि; ध्वनावप्यस्य समानत्वात् । तथाहि—अन्यदापि यद् ध्वनेरुच्चारणं तत्तस्याभिव्यञ्जकम् उच्चारणत्वात् इदानीं तदुच्चारणवत् ।

एतेन “तावत्कालं स्थिरश्चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति ।” [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३६६] ईत्येतदपि प्रत्युक्तम्; ध्वनेरपि प्रत्यभिज्ञानात् पूर्वोत्तरकालद्वयावस्थायिनः प्रसिद्धस्य परचात् केनचिन्नाशानुपपत्तेः । \*

यदप्यभिहितम्—‘विवादाध्यासितः कालो गादिसम्बद्धः कालत्वात्’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; गादेः उपलब्धिधलक्षणप्राप्तस्य कालान्तरेऽनुपलम्भतोऽभावसिद्धेः, तत्र तत्सद्भावावेदकानुमानस्य बाधितपक्षतया कालात्ययापदिष्टहेतुतया च अगमकत्वात् । विद्युदादेरपि चैवं नित्यत्वं स्यात्; तथाहि—विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिसम्बद्धः कालत्वात् विद्युदादिसम्बद्धकालवत् । प्रतीतिविरोधोऽन्यत्राप्यविशिष्टः । अत एव ‘नित्यः शब्दः श्रावणत्वात्’ इत्याद्यप्युक्तम्; उदात्तादिभिर्ध्वनिधर्मैः अनैकान्तिकत्वाच्च, तेहि श्रावणत्वेऽपि अनित्या भवद्भिः प्रतिज्ञाताः । <sup>१</sup>तेषामश्रावणत्वे श्रोत्रेण शब्दगत-धर्मतया उपलम्भो न स्यात्, यदश्रावणस्वरूपं न तस्य शब्दधर्मतया श्रोत्रेणोपलम्भः यथा नीलत्वादेः, अश्रावणस्वरूपाश्च उदात्तादयो ध्वनिधर्मा इति । तथा वीणादिशब्दैश्च

अनैकान्तिकत्वम्; तेषामप्यनित्यत्वेऽपि श्रावणत्वात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘देशकालादिभिन्ना गोशब्दव्यक्तियुद्धयः’ इत्यादि; तदपि न सार्थीयः; गोशब्दलिपियुद्धवा हेतोरनैकान्तिकत्वात्, सा हि ‘गौः’ इत्युत्पद्यते न च सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दयुद्धेर्कैवपिया इति । नचैवं विषयभेदः कापि प्रसिद्धति; सैकलयुद्धीनामभिन्नविषयत्वप्रसङ्गात् । तथाहि—देशकालभिन्नवस्तुयुद्धयः एकविषया नैवाऽनेकविषया

(१) पृ० ६९९ पं० ५ । (२) ध्वनेरभिव्यञ्जकम् । (३) उदृतोऽयम्—न्यायवा० ता० पृ० २५४ । (४) तुलना—तत्त्वस० पृ० १५५ । तत्त्ववि० पृ० ३७९ । (५) पृ० ६९९ पं० ९ । (६) तुलना—“गादिसम्बद्धादनुतरं विनाशस्य प्रत्यक्षप्रतिपक्षत्वेन प्रतिपादनात्”—स्या० र० पृ० ६८९ । (७) कालान्तरे उच्चारणानन्तरम् । (८) शब्देऽपि । (९) पृ० ६९९ पं० ११ । (१०) तुलना—“उदात्तादिनिर्धर्मैरनैकान्तिकत्वात् । ते हि श्रवणशक्त्यत्वेऽपि न नित्या भवद्भिरङ्गीकृता । तेषामश्रावणत्वे तु नीलादीनामिव श्रोत्रेणोपलम्भो न भवत् । वीणादिशब्दैश्चानैकान्तिकत्वम्, तथा श्रावणत्वेऽप्यनित्यत्वात्”—स्या० र० पृ० ६९० । (११) चशब्देन प्रतीतिविरोध समुच्चर्यत । (१२) उदात्तादीनाम् । (१३) भवन्मते—आ० टि० । (१४) पृ० ६९९ पं० १२ । (१५) तुलना—“गोशब्दलिपियुद्धवा हेतोरनैकान्तिकत्वात् । सा हि गौरित्युत्पन्नत्वात् न चैकगोशब्दविषया दशकालादिभिन्नत्वाद् गोशब्दलिपीनाम् ।”—स्या० र० पृ० ६९० । (१६) जन्वा हि लिपियुद्धे अन्यथा हि गोशब्दवृद्धि—आ० टि० । (१७) तुलना—“अन्यथा सर्ववृद्धीनामन्यत्वेन भवत् । क्रमभावविरोधश्च शक्तवारणप्रतिषेधे ॥”—तरवर्गं का० २४६६ । स्या० र० पृ० ६९० ।

१ तदनुष्ठा—व० । २ तयो धावणोप—व०, तयोपलम्भो आ० । ३ गौरित्यु—व० । ४—भिन्ना धानु—य० । ५ नचादेक—य० ।

वस्तुबुद्धित्वात् सम्प्रत्युत्पन्नघटबुद्धिवत् । ततश्च अखिलवस्तुबुद्धीनाम् एकघटलक्षण-  
वस्तुविषयत्वे घटबुद्धित्वमेव स्यात् न गोशब्दबुद्धित्वम् । अतः कथं देशादिभिन्नगोश-  
ब्दव्यक्तियुद्धीना धर्मित्वम्, कथं वा गोशब्दबुद्धित्व हेतु, सम्प्रत्युत्पन्नगोशब्दबुद्धि-  
वदिति दृष्टान्तो वा सिद्धेत् यतोऽनुमान स्यात् ? अथ गवाशवादिवस्तुभेदस्य प्रत्यक्ष-  
सिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामेकघटविषयत्वे साध्ये 'वस्तुबुद्धित्वात्' इत्यस्य कालात्ययापदिष्ट-  
त्वम् अप्तेरनुष्णत्वे द्रव्यत्ववदित्युच्यते, यद्येवम्, उदात्तादिधर्मभेदेन गोशब्दव्यक्तिभे-  
दस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्बुद्धीनामपि एकविषयत्वे साध्ये 'गोरित्युत्पद्यमानत्वात्'  
इत्यस्यापि कालात्ययापदिष्टत्व स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'ह्यस्तनो गोशब्दोऽद्याप्यनुवर्त्तते' इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्,  
ह्यस्तनाऽद्यतनगोशब्दयोर्भेदस्य प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वेन तदभेदप्रसाधनस्य कालात्ययापदिष्ट-  
त्वात् । कथमयथा ह्यस्तनाऽद्यतनविद्युत्प्रकाशयोरपि एकत्वञ्च स्यात् । शक्यं हि वक्तुं  
ह्यस्तनो विद्युत्प्रकाशोऽद्याप्यनुवर्त्तते विद्युत्प्रकाशत्वात् अद्यतनविद्युत्प्रकाशवदिति । अथ  
तीव्रा विद्युत् तीव्रतरा तीव्रतमेति प्रत्यक्षत्वं तीव्रादिधर्मात्मकतया विद्युत्प्रकाशस्य विभि-  
न्नस्वभावस्य प्रतीते न तद्वैक्यप्रसाधकमनुमान गमकम्, तदयत्रापि समानम्—गोश-  
ब्दस्यापि तीव्रादिधर्मोपेतस्य श्रोत्रप्रत्यक्षे प्रतिभासनात् । तद्धर्मस्य अत्रौपाधिकत्वे  
विद्युत्स्यपि अर्थं तदस्तु विशेषाभावात् । अथ शुद्धाया विद्युत् कदाचिदप्यसवेदनात्  
न तत्रास्यौपाधिकत्वम्, तदेतत् शब्दोऽप्यविशिष्टम्, नहि तद्धर्मशून्यं सोपि स्वप्नेऽपि  
प्रतिभासते । एतेन 'अद्यतनो वा गोशब्द ह्योऽप्यासीत्' इत्यादि<sup>१</sup> प्रतिव्यूढम्, न्यायस्य  
समानत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'शब्दो वाचको दीर्घकालावस्थायी' इत्यादि, तदपि चेष्टया<sup>२</sup> अनैका-  
न्तिकम्, तस्या सम्वन्धबलेन अर्थमतिहेतुत्वेऽपि दीर्घकालावस्थायित्वाभावात् ।

एतेन 'यस्त्वस्थिर स सम्वन्धबलेन नार्थं बोधयति' इत्यादि<sup>३</sup> प्रत्याख्यातम्,

(१) पृ० ७०० प० ६ । (२) तुलना— ह्यस्तनाद्यतना सर्वे गोशब्दप्रत्यया इमे । नकार्था-  
त्रमसम्भूते रूपगणादिवुद्धिवत् ॥ —तत्त्वसं० का० २४६५ । स्या० २० पृ० ६९० । (३) तुलना—  
स्वाभाविकत्वावधारणयास्य यत्र तत्र प्रसिद्धस्य अत्रापि तुल्यत्वात् । न हि पर्याप्त शत्यद्रव्ये तेजसि  
वा भास्वरत्त्वोष्णत्वे स्वाभाविके इत्यत्रायत्प्रमाण प्रत्यक्षात् —स्या० २० पृ० ६९० । (४) उदात्ता-  
दिधर्मस्य । (५) शब्दे । (६) तीव्रतीव्रतरादिधर्मस्य । (७) तीव्रतीव्रतरादिसवधमशून्याया । (८)  
विद्युत् । (९) उदात्तानुदात्तादिधर्मरहितं गुद्धं । (१०) शब्दोऽपि । (११) पृ० ७०० प० ७ ।  
(१२) पृ० ७०० प० ८ । (१३) आह्वानादौ अडगुल्यादिकृतया—आ० टि० । तुलना— चण्ड्याज-  
कान्तिकत्वात् —स्या० २० पृ० ६९२ । (१४) पृ० ७०० प० ९ ।

१ यद्येवम् थ० । २-क्षसि थ०, व० । ३ विद्युत्तीव्रतमेति थ० । ४ श्रोत्रप्रत्यक्षप्र—थ०  
श्रोत्रप्रत्यक्षेण प्र—व० । ५-न्य- स्वापे स्वप्नेपि थ० । ६ बोधयति व० ।

चेष्टाया. सम्यन्ववलेन अर्थबोधकत्वेऽपि तादात्मिकनिमित्तत्वसम्भवात् । ततोऽयुक्तमेतत्-

“काञ्चित्काल स्थिरः शब्दः सर्वकालमपि स्थिरः ।

विनाशहेतुशून्यत्वात् सामान्याकाशकालवत् ॥” [ ] इति,

यत्, कञ्चित्कालावस्थायित्वं किम् उपलम्भकालावस्थायित्वमभिप्रेतम्, अतीतवर्त्तमान-  
 5 कालावस्थायित्वं वा ? प्रथमपक्षे चेष्टाया विद्युदादेश्च सर्वकालमपि स्थायित्वप्रसङ्गः,  
 तथाविधकियत्कालस्थिरत्वस्य तत्राप्यविशेषात् । अतीतवर्त्तमानकालावस्थायित्वञ्चास्यै  
 न कुतश्चित् सिद्धयति इत्युक्तं प्रागेव । हेतुश्चात्रासिद्धः, शब्दस्य कादाचित्कतया विनाश-  
 हेतुशून्यत्वानुपपत्तेः । यत् कादाचित्कं न तत् विनाशहेतुशून्यम् यथा विद्युदादि, कादा-  
 चित्कश्च शब्द इति ।

यदपि—‘विवादाध्यासितः कालो गादिसब्दशून्यो न भवति’ इत्याद्युक्तम्; तदपि  
 विद्युदादौ समानत्वादयुक्तम् । तथाहि—विवादाध्यासितः कालो विद्युदादिशून्यो न  
 भवति कालस्यात् तत्सर्वोपेतकालवत् । प्रत्यक्षवाधनम् उभयत्र तुल्यम् ।

यदप्युक्तम्—‘नित्यः शब्दः ततोऽर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेः’ इत्यादि, तदप्यविचा-  
 रितरमणीयम्, धूमादिषदनित्यस्याप्यस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वोपपत्तेः । न खलु  
 15 ‘य एव सङ्केतकाले दृष्टः तेनैव अर्थप्रतीतिः कर्त्तव्या’ इति नियमोऽस्ति, महानसदृष्ट-  
 धूमसदृशादपि पर्वतधूमाद् बह्विप्रतिपत्तिप्रतीतिः । न च पर्वतमहानसप्रदेशवर्तिन्योः  
 धूमव्यस्त्योरैकं सभवति, प्रतीतिविरोधात्, सर्वस्य सर्वगतत्वानुपपत्त्याञ्च । अथ धूम-  
 सामान्यस्य अत्र गमनत्वम्, शब्दसामान्यस्य अन्यत्र वाचकत्वं किञ्च स्यात् ? ननु  
 शब्दसामान्यस्य वाचकत्वे शब्दस्य विमायातम् ? तर्हि धूमसामान्यस्याप्यनुमापकत्वे  
 20 धूमस्य विमायातम् ? अथ धूमात्सर्वतोऽभेदात् तदनुमापकत्वे धूमस्याप्यनुमापकत्वम्,  
 तर्हि शब्दान् तत्सामान्यस्याप्यभेदात् तद्वाचकत्वे तस्यापि वाचकत्वमस्तु अविशेषात् ।  
 अथ शब्दे सामान्यमेव नास्ति तद्वदधमस्य वाचकत्वमुच्यते, धूमेऽपि तर्हि तस्मास्ति तत्त्वस्य

(१) उच्चारणानन्तरं यदुपलभ्यते स उपलम्भकाल—आ० टि० । (२) शब्दस्य । (३) तुलना-  
 ‘कादाचित्कं प्राग्भूय शब्दं तदसिद्धम्’—स्या० १० पृ० ६९२ । (४) पृ० ७०१ पं० ३ । (५) तुलना-  
 तदपि विद्युदादौ तुल्यत्वादयुक्तम्—स्या० १० पृ० ६९२ । (६) शब्दं विद्युदादौ च । (७) पृ०  
 ७०१ पं० ४ । (८) तुलना—‘अनिचवेप्रति सादृश्यापादाने सत्यप्रतिपत्तेर्भावात् । तत्र यत्र गवारो  
 वार्यास्यत्रनीयानाम्पत्तनानुपूर्वीमुपलभ्यते तत्र तत्र गोवविद्युदाद्यर्थं प्रतिपत्तव्यं प्रतिपादयितव्यं-  
 इति सङ्गोपबहू मति तयार्थं शब्दमुपलभमानं तमर्थं प्रतिपत्तत प्रतिपादयति चति ।’—प्रज्ञ० ध्यो०  
 पृ० ६४९ । ‘धूमादिबदनित्यस्यापि शब्दस्य अवगतसम्बन्धस्य सादृश्यताऽन्यप्रतिपादकत्वमनवात् ।’—  
 प्रमेयक० पृ० ४०९ । सत्यंति० टि० पृ० ३३ । स्या० १० पृ० ६९२ । प्रमेयक० ३।१०० । (९) यदि महान-  
 गानान्ध्रं धूमव्यस्ति एवमस्ति स्यात्तदा । (१०) धूमसामान्यस्य । (११) शब्दसामान्यस्य शब्दत्वस्य ।

गमकत्वमुच्येत ? अथ तद्भेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात् 'धूमो धूमः' इत्यसन्दिग्धाऽवाध्यमानाऽनुगतप्रतीतिदर्शनात् अस्ति तत्र तत् ; तदेतदन्यत्रापि समानम् । ननु शब्दव्यक्तीनां प्रत्यक्षतो भेदप्रसिद्धेः तत्र इष्टमेव शब्दत्वसामान्यम्, गादीनां तु एकैकव्यक्तिकैतवेन भेदाभावात् तत्र गत्वादिसामान्यं संभवतीति तत्र तस्य वाचकत्वाभावः ; तदप्यसाम्प्रतम् ; तेषामपि उदात्तादिभेदतो नानाव्यक्तिकत्वसंभवाद् गत्वादिसामान्यसद्भावोपपत्तेः ।  
 'ध्वनिधर्मा एव उदात्तादयः' इति च मनोरथमात्रम् ; तेषां तद्धर्मत्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् । ततोऽनित्यपक्षेऽपि इत्थं शब्दादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तेः नार्थापत्तितोऽपि तन्नित्यत्वसिद्धिः । अतोऽयुक्तमुक्तम्—“अर्थापत्तिरिय चोक्ता” [ मी० श्लो० ] इत्यादि । प्रसाधितश्च नित्यसम्बन्धपरीक्षावसरे अनित्यत्व एव शब्दस्य वाचकत्वमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘सादृश्यस्य विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः’ इत्यादि; तदप्यनल्पतमो-  
 विलसितम् ; तस्य आवालमबाधप्रतीतिगोचरचारितया अपह्नोतुमशक्यत्वात् । एकस्य हि स्वसामग्रीतो यादृशः परिणामः तादृश एवापरस्य सादृश्यं यमलकयत् । तच्च व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नञ्च सामान्यपरीक्षाप्रघट्टके सप्रपञ्चं प्रपञ्चितमिति कृतं पुनः प्रसङ्गेन । ततो यद् यद्रूपतया कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रतीयते न तत्तद्रूपतयाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा जगद् अद्वैतरूपतया, सर्वथा नित्यस्वभावतया न प्रतीयते च कुतश्चित्प्रमाणात् शब्द-  
 इति । तदनित्यस्वभावतायां तु प्रमाणसद्भावात् तद्रूपतयाऽसौ अभ्युपगन्तव्यः ।

तच्च प्रमाणम्—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटः, कृतकश्चायमिति । न चेदमसिद्धम् ; तथाहि—कृतकः शब्दः, कारणान्वयव्यतिरेकानु-

(१) महानसीवपर्वतीयादिभेदेन धूमव्यक्तीनामनेकत्वादस्ति तत्रानुगत धूमत्वाख्य सामान्यम्, गादिशब्दस्तु एक अत कथं तत्र शब्दत्वम् व्यक्तेरभेदस्य जातिबाधकत्वादित्याशयेन शङ्कते अयेति ।  
 (२) धूमत्वाख्य सामान्यम् । (३) गत्वाद् । (४) गादीव्यक्तीनामपि । (५) उदात्तादीनाम् । (६) प० ७०२ प ९ । (७) तुलना—“स्वहेतोरिकस्य हि यादृश परिणाम तादृश एवापरस्य सादृश्यं न तु स एव । स च व्यक्तिभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च ।”—प्रमेयक० प० ४११ । (८) प० २८९ । (९) तुलना—‘नित्यत्वेऽपि शब्दानां सर्वेषां स्यात् सकृच्छ्रुति । समाक्षग्रहयोग्यत्वात् व्यापिना समवस्थिते ॥ तत्कृतमुपकारमात्म-सात्कुर्वन्त तद्देशवृत्तिनियमात् कूटस्थस्य न समवति । सर्वगतत्वेऽपि विवक्षितं कशब्दश्रुतिर्न स्यात् ।’—सिद्धिवि० प० ५५४ । ‘स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत् । व्यक्तघावरणविच्छेदसत्कारादिविरोधत ॥ वसादित्स्वरधारया सकुल प्रतिपत्तित । क्रमेणाशुभहेज्युवत सकृद्ग्रहणविभ्रम । तात्वा-दिसन्निधानेन शब्दोऽयं यदि जायते । को दोषो येन नित्यत्व कुतश्चिदवकल्प्यते ॥’—न्यायवि० का० ४२२-२४ । (१०) तुलना—‘अनित्यः शब्दः इत्युत्तरम् । कथम् ? ‘आदिमत्त्वादेन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥ आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति । कारणवदनित्यं दूष्टम् । सयोगविभागश्च दास्य कारणवत्त्वादनित्य इति । का पुनरियमर्थदेशना कारणवत्त्वादिति ? उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्य शब्दः इति, भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति । साशयिकमेतत्—किमुत्पत्तिकारण सयोगविभागो शब्दस्य आहोस्विदभिव्य-

1 भेदसिद्धेः श्र० । 2-कत्वे भेदा-आ० । 3 यथा च जगद् श्र० । 4 नित्यत्वस्व-श्र० ।  
 5 कृतश्चेतिप्रमा-श्र० । 6-त्वं यथा व० ।

विधायित्वात्, यदित्य तदित्य यथा घट, तथा च शब्द, तस्मात्तथेति । नचेदमप्य-  
 सिद्धम्, तात्त्वादिकारणव्यापारे सत्येव अस्यात्मलाभोपलम्भात् तदभावे चानुपलम्भात्  
 मृद्घण्टादिकारणव्यापारभावाभावयो घटस्य आत्मलाभाऽलाभोपलम्भवत् । न च तस्या  
 5 पादे तदभिव्यक्तेरेव आत्मलाभो न शब्दस्य इत्यभिधातव्यम्, तस्या प्रागेव प्रपञ्चतोऽ  
 पास्तत्त्वादिति ॥३॥

तदेव वर्णानां पोरुपेयत्वप्रसिद्धौ पदवाक्यानामनायासत तत्प्रसिद्धयति तदौ  
 त्मकत्वात्तेषाम् । नन्वस्तु लाङ्किकानां तेषां तस्तिद्धि न वैदिकानामिति चेत्, न, तदित्य-  
 त्वैलक्षण्यप्रतीति । “य एव हि लौकिका शब्दा त एव वैदिका” [ शाबरभा० १।३।३० ]  
 इत्यभ्युपगमन्यापातप्रसङ्गाच्च । तदपौरुपेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च, न च तदभावोऽ-  
 10 सिद्ध, यत तत्प्रसाधक प्रमाण प्रत्यक्षम्, अन्यद्वा भवेत् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य  
 शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन तत्पौरुपेयत्वाऽपौरुपेयत्वग्राहकत्वाऽसम्भवात् ।

क्तिकारणमित्यत आह एद्रूपकत्वात् इन्द्रियप्रयासत्तिग्राह्य एद्रूपक । किमय व्यञ्जकेन समानदेशोऽ  
 भिन्न्यज्यत रूपादिवत् अयं सयोगजाच्छब्दच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गह्यत इति ? सयोगनि-  
 वृत्तौ गन्धग्रहणात् व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम् । दारुद्रश्चने दारुपरगुणयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो  
 गह्यते न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति तस्मान्न व्यञ्जक सयोग इत्येव गन्ध उत्पद्यते  
 नाभिन्न्यज्यते कृतकवदुपचारात् । तीव्र मन्दमिति कृतकमुपचयते तीव्रं सुखं मन्दं सुखं तीव्रं दुःखं  
 मन्दं दुःखमिति उपचयते च तीव्रं गन्धो मन्दं गन्ध इति । —न्यायसू०, भा० २।२।१३। अनित्य  
 गन्धं तीव्रमदविपयत्वात् दुःखवदिति कृतकवदुपचारादित्यनेन सत्रणं सर्वानित्यत्वसाधनवगमग्रह-  
 कृतकत्वग्रहणस्य उदाहरणार्थत्वात् । यथा सामान्यविपयवतोऽस्मदादिवाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, उपल-  
 भ्यस्य अनुपलब्धिकारणाभावे सत्यनपलब्ध गणस्य सतोऽस्मदादिवाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात् इत्येव  
 भादि । —न्यायवा० प० २९० । तदेवन्तीवादिभदभिन्नत्वात्मुखादिबदनित्यत्व गन्धानाम् । व्यञ्ज-  
 कानुपलब्धौ चाभूत्वा भवन्त्योपलब्ध कायत्वादमित्यत्व घटादिवत् । तथा परमात्मगुणान्यत्वे सति  
 व्यापकविशेषगुणत्वात् मुखादिवत् । —प्रश्न० ध्यो० पृ० ६४९ । अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा ध्वण-  
 मध्यस्वभाव प्राक पश्चादपि पुद्गलानां नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणाम । —अष्टश० अष्टसह०  
 पृ० १०८ । परिणामी गन्धं वस्तुत्वान्यथानुपपत्त । —तत्त्ववैश्लो० प० ६ । अनित्य शब्द  
 तीव्रमन्दतादिभेदपितत्वात् सुखदुःखादिवत् —रत्नाकराव० ४।१९ । तस्माद्दर्शो न नित्योऽनित्यो वा  
 सन्ध सत्युत्पत्तिमत्त्वात् अस्मदादिबहिर्निर्द्रयग्राह्यत्व सति जातिमत्त्वात् अस्मदादिप्रत्यक्षगुणत्वाद्वा  
 आमकत्वप्रत्यक्षवपक्ष प्रत्यक्षविपयगुणत्वात् व्यापकसमवेतप्रत्यक्षविपयगुणत्वात् अनारम्भप्रत्यक्ष  
 गणत्वात् अन्याप्यवसित्त्वात् बहिर्निर्द्रयव्यवस्थाहेतुगुणत्वात् भूतप्रत्यक्षगुणत्वात् उत्कर्षापिकपगन्ध  
 प्रवृत्तिनिमित्तजातिमत्त्वाद्दत्त्यात् । —तत्त्वचि० गन्ध० प० ४६० ।

(१) गन्धस्य । (२) तात्त्वादिव्यापारे । (३) वर्णमकत्वात्पदवाक्यानाम् । तुलना— यदा  
 च वर्णा एव न नियामन्त क्व कथा पुरपविशवाचीनानुपूर्व्यानि विगिप्टवणसमूहरूपाणां पदानां  
 कुतस्तराञ्च तत्समूहरूपस्य वाक्यस्य कुतस्तराञ्च तत्समूहस्य वेदस्यति —तत्त्वचि० शब्द० पृ० ४६४।  
 (४) पदवाक्यानाम् । (५) पीषपयवसिद्धिः । (६) तयो लौकिकवदिकपदवाक्ययोः । (७)  
 उद्धृतमिन्म—समति० टी० प० ३९ । तीतातित० प० १३४ । भाद्रचि० प० ४१ ।

किञ्च, अनादिसत्त्वरूपमपौरुषेयत्वम्, तत्कथम् अक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम् ? अक्षाणां प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया अनादिकालेनाऽसम्बन्धान् तत्कालसम्बन्ध-सत्त्वेनाप्यसम्बन्धतः तज्ज्ञानाऽहेतुत्वात् ।

ननु मा भूत् प्रत्यक्षतस्तदपौरुषेयत्वसिद्धिः, अनुमानात्तु सा भविष्यति । तच्चा-  
वेदस्य अपौरुषेयत्व- तुमानम्—अपौरुषेयो वेदः कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्थमाण-  
मुररीकुर्वता मीमांस कर्तृकत्वाद् व्योमवत् । न चायमसिद्धः; वेदकर्तुः कदाचित् केनचित्  
काना पूर्वपद् - स्मरणाभावात् । सतश्चास्यै तदर्थानुष्ठानसमये अनुष्ठातृणामनिश्चित-  
प्रामाण्यानां तत्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरण स्यात् । ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते ते अवश्य

(१) तुलना—“अनादिसत्त्वरूपञ्च अपौरुषेयत्व कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम्” —प्रमेयक०  
पृ० ३९१। (२) अनादिकाल । (३) अनादिसत्त्वरूपाऽपौरुषेयत्वज्ञानाकारणत्वात् । (४) “अपौरुषेय-  
त्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति । कथं पुनरिदमवगम्यत अपौरुषेय एव सम्बन्ध इति ? पुरुषस्य सम्बन्धुर-  
भावात् । कथं सम्बन्धा नास्ति ? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात् तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम् । ननु चिरवृत्त-  
त्वात्प्रत्यक्षस्याविषयो भवेदिदानीन्तनानाम् । न हि चिरवृत्तं सन्न स्मर्यते । न च हिमवदादिषु कूपारा  
मादिष्वदस्मरणं भवितुमर्हति, पुरुषविधोगो हि तेषु भवति देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा । न च शब्दार्थ-  
वियोगं पुरुषाणामस्ति । स्यादेतत्—सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयोजनं कर्तृस्मरणमनाद्रियमाणा  
विस्मरयुरिति, तत्र, यदि हि पुरुषं कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत् व्यवहारकाले अवश्यं स्मर्तव्यो  
भवति । सप्रतिपत्ती हि कर्तृव्यवहारांरथं मिद्वचति न विप्रतिपत्ती । न हि वृद्धिशब्देन अपाणिनेर्व्यं-  
वहरत आदौच प्रतीयरन् पाणिनिकृतिमननुमन्यमानस्य वा । तथा मकारेण अपिङ्गलस्य न सर्वगुरु-  
स्त्रिक प्रतीयेत पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा । तेन कर्तृव्यवहारांरो सम्प्रतिपद्यते । तेन वेदे  
व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीयं सम्बन्धस्य कर्ता स्यात् व्यवहारस्य च । तस्मात् वारणादवगच्छामो  
न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद्देवा प्रणीता इति । तस्मादपौरुषेय शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः।”  
—शाबरभा० १।१।५। पृ० ५३ । बृहती० पृ० १७७ । ‘यदा चाप्तप्रणीतत्वाच्छब्दोऽर्थं प्रतिपादयेत् ।  
न स्वशक्त्या तदाप्तात्त्व मितौ न स्मर्यते कथम् ॥ यदा हि कश्चित् पदपदार्थसम्बन्धं कृत्वा धर्माधर्म-  
प्रतिपादनाय वेदवाक्यानि कृतवान् तदाऽवश्यमसौ सम्बन्धस्य कर्ता, स एव च तं पदैः वेदवाक्यरच-  
नात्मक व्यवहारं करोतीति समप्यव्यवहारयोरेककर्तृत्व प्रतिपत्तिभिः स्मर्तव्यम्, तथा च वाक्यार्थ  
प्रतिपद्यमानानामवश्यं वाक्यकर्तृराप्तत्वं प्रतिपत्तिभिः स्मर्तव्यम्, तदधीनत्वादर्थनिश्चयस्य, न वेदार्थ  
प्रतिपद्यमाना समयकर्तार तेन सह वेदकर्तृरिक्त्व तस्य चाप्तत्वं स्मरन्तो दुष्यन्त इति । ‘दृष्टे भवतु  
मा वाभूत् कर्तृसप्रतिपन्नता । वैदिको व्यवहारस्तु न कर्तृस्मरणादृते ॥ एव गामानयेत्वेवमादिषु मा  
नाम समयकर्तुं व्यवहारकर्तुश्च सप्रतिपत्तिभूतं, वेदेऽपि प्रतिपत्तिमात्रं विनाऽपि सप्रतिपत्त्या सिद्धयतु  
नाम । व्यवहारस्तु योऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानात्मकं सोऽदृष्टार्थं वाक्यकप्रमाणको नाऽस्ति वाक्यकारा-  
प्तस्मरणे सिद्धयेत्, तदवश्यं स्मर्तव्यस्य वेदानां सम्बन्धानाञ्च कर्तृस्मरणात् योग्यानुपलम्भना-  
दभावऽवधारिते सिद्धं वेदानां सम्बन्धानाञ्च नित्यत्वमित्याह—दृष्ट इति ।’—मी० श्लो० न्यायर०,  
सम्बन्धा० श्लो० १२३, १३० । “कथं पुनरपौरुषेयत्वं वेदानाम् ? पुरुषस्य कर्तृस्मरणात् ।”—प्रक०  
पृ० पृ० १४० । “कर्तृस्मरणाच्चापौरुषेयत्वम्”—भाट्टी० पृ० ३३। नयवि० पृ० २७९। “स्मर्तव्यत्वे  
सत्यस्मरणाद् योग्यानुपलब्धिनिरस्तस्य कर्तृरनुमानात्तत्राभावात् समाख्यायाश्च प्रवचननिमित्त्वात्पौरुषेयया  
वेदा इति ।”—शास्त्रदी० पृ० ६९, ६९६ । (५) वेदकर्तुं । (६) अग्निष्टोमादियज्ञानुष्ठानकाले ।



तच्छास्त्रकर्तारमनुस्मरन्ति यथा अष्टकाद्यर्थानुष्ठानार्थिन तत्प्रणेतार मनुम्, वेदविहिता-  
र्थानुष्ठाने बहुवित्तव्ययायाससाध्याऽग्निप्रोमादिकर्मलक्षणे प्रवर्तन्ते च प्रेक्षापूर्वकारिणः,  
अतस्तेषा महती तत्कर्तृस्मरणापेक्षा । तेहि अष्टप्रफलेषु कर्मसु एव नि सशयाः प्रवर्त्त-  
न् यदि तेषा तद्विषय सत्यतानिश्चय स्यात् । न चासौ तदुपदेश्च स्मरणाभावे घटते  
पित्रानुपदेशवत् । यदैव हि पित्रादिकमुपदेश्च स्मृत्वा स्वयमष्टप्रफलेष्वपि कर्मसु तदुप-  
देशात् 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्ट तेनाऽनुष्ठीयते' इति, एष वैदिकेष्वपि कर्मसु अनुष्ठीय-  
मानेषु कर्तुं स्मरण स्यात् । न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठानाणा त्रैवर्णिकाना तत्स्म-  
रणमस्ति, अतोऽसौ तत्र नास्तीति निश्चीयते ।

छिन्नमूलत्वाच्च तत्र कर्तृस्मरणाभाव । स्मरणस्य हि अनुभवो मूलम्, न चासौ  
वेदे कर्तृविषयत्वेन विद्यते तत्कथं तत्स्मरणसभावनाशङ्काऽपि ? न च रचनावत्त्वेन  
अत्र भारतादिवत् कर्तृसद्भावप्रसिद्धेर्नास्य छिन्नमूलत्वमित्यभिधातव्यम्, वेदरचनाया  
कर्तृपूर्वकरचनानिर्लक्षणत्वात् । न च रचनामात्रस्यात्रोपलम्भात् कर्तृनुमान युक्तम्,  
जगतो बुद्धिमद्वेतुकत्वानुमानानुपद्गतोऽनिष्टसिद्धिप्रसङ्गात् । अतो यादृशी रचना कर्तृन्व-  
यव्यतिरेकानुविधायिनी प्रतिपत्ता तादृश्येव परिदृश्यमाना कर्तारमनुमापयति इत्यभ्यु-  
पगन्तव्यम् । तत्कथं वेदे तत्र कर्तृनुमानशङ्काऽपि सभाव्यते ? अतो वेदिकी रचना  
अपौरुषेयी दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वात् आकाशवदिति । तथा—

“वेदाध्ययन सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाऽध्ययन यथा ॥” [ भी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६ ]

(१) कर्तार । आप्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु तिसृषु क्रियमाण पितृश्राद्धविज्ञाप । तथा च  
मनुवचनम्— पितृश्चंवाष्टकास्वर्चतं—मनुस्मृति० ४।१५० । (२) अनुभव । (३) 'विप्लवते खल्वपि  
कश्चित्पुरुषकृताद्वचनात्प्रत्यय, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । ननु सामान्यतो दृष्ट  
पौरुष वचन वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमवगम्यते न, अन्यत्वात् । न ह्यन्यस्य वितथभावे  
अन्यस्य वैतथ्य भवितुमर्हति अन्यत्वादेव । न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्व भवितुमर्हति ।  
—शाबरभा० १।१।२ । वाक्यत्वात् पौरुषयत्व दृश्यादशनवाधितम् । प्रतिहेतुविशुद्धश्च हेतु तस्मादकृ-  
त्रिमा ॥—शास्त्रदी० पृ० ६१५ । प्रकृतं हि वचन कस्याचिदेव कुत्रचिदेव तावत्सघातमकत्व न पौरुषय  
तामनुमापयितुमलभ वदाथविषयवाक्यरचनासामर्थ्यानुपपत्त य एव हि पदसघाता पौरुषय विरचयितु  
शक्यन्ते तत्रय पौरुषयत्व दृष्टमित्य शक्यविरचनपु पौरुषयत्वानुमान न क्रमते । न च पौरुषयत्व विना  
पदसघातात्मकत्व नोपपद्यते उच्चारणवान हि पदानि सहजतामापद्यन्ते ।—प्रक० प० प० ९८—९९ ।  
तत्ररह० पृ० ४३ । (४) रचनामात्रात् । (५) उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् । उक्तमस्माभि शब्दपूर्वत्वमध्वे-  
तृणाम् ।—जमिनिषु० शाबरभा० १।१।३० । वेदस्य कतरस्मरणम् वेदाथस्यातीर्णं द्रव्यत्वमित्यवमादिहे-  
तुभिरध्यतृणामनादिप्रवत्ताना शब्दपूर्व उच्चारणान्तरपूर्वां वेदो न केनचिच्चिन्तयित्वा प्रवर्तित इति अकृ-  
तकत्वहेतोःकृतत्वात्—मीमांसाभा० प० प० ७८ । सप्रतिसाधनश्च वाक्यत्वात् इति । विवादाध्यासिर्द्वि-  
वेनाध्ययन गवध्ययनपूर्वक वेदाध्ययनत्वात्—यतनाध्ययनवदिति । तदिदमाह सूत्रकार— उक्तं तु गवध्यव

“अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।

कालत्वात्तद्यथा कालो वर्त्तमानः समीक्ष (त्य) ते ॥” [ ]

इत्यतोप्यस्य अपौरुषेयत्वस्यैसिद्धिः । नन्वाप्तप्रणीतत्वाभावे कथमस्य प्रामाण्यं स्यादिति चेत् ? ‘अपौरुषेयत्वादेव’ इति ब्रूमः । वचनस्य पुरुषदोषानुप्रवेशेनैव अप्रामाण्य-प्रसिद्धेः । तदुक्तम्—

“शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वचनधीन ईति स्थितम् । तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वर्तकत्वतः ॥ तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात् । यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥”

[ मी० श्लो० चोदना० श्लो० २६, ६३ ]

न च आप्तगुणसक्रान्त्यैव शब्दस्य प्रामाण्यम्, वेदे च आप्तप्रणीतत्वाभावतः तत्संक्रान्त्यसंभवान्न प्रामाण्यमित्यभिधातव्यम्; यतो नान्नि आप्तगुणसंक्रान्त्या प्रामाण्यम् शब्दोच्चारणमात्रे तस्य व्यापारात्, शब्दस्तु स्वमहिम्नैव अघितधामर्थप्रतिपत्तिं कुर्वाणः प्रमाणम् । न चैवमनाप्तस्यापि तदुच्चारणमात्रे व्यापारात् शब्दः स्वमहिम्नैवासात्यप्रतीतिं कुर्वाणः अप्रमाणमित्यभिधातव्यम्; अनाप्तप्रणीतत्वादिदोषाणाम् अप्रामाण्योत्पादना-दन्यप्रयोजनाभावान्, आप्तप्रणीतत्वादिगुणानां तु दोषापसारणे व्यापारात् स्वतः प्रामाण्यं

त्वम्’ इति । शब्दशब्देनात्र शब्दजन्यमध्ययनम् । तदयमर्थ—सर्वपुंसामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकम्, सर्वे हि यथैव गुरुणाऽधीत तथैवाधिजिगामन्ते न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति य कर्ता स्यात् तस्मादपौरुषेया वेदा ।—शास्त्रदी० पृ० ६१७ । ‘विमत वेदाध्ययन परतन्त्राध्येतृकं वेदाध्ययनत्वात् सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्, आत्मत्व वेदकर्तृव्यक्तिसमवेत न भवति जातित्वात् गोत्व-चदिति प्रतिहेतुविरुद्धञ्च वाक्यत्वम् ।’—मानमेयो० पृ० १७३ । उद्धृतोऽयम्—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । न्यायम० पृ० २३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—अष्टसह० पृ० २३७ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । प्रमेयक० पृ० ३९६ । सन्मति० टी० पृ० १३७ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३३ । ‘तदध्ययनपूर्वकम्’—प्रमेयर० ३।९९ । रत्नाकराव० ४।९ ।

(१) ‘वेदकारविवर्जितौ’—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३८ । तत्त्वस० पृ० ६४३ । ‘वेदकारविवर्जितौ’—प्रमेयक० पृ० ३९८ । सन्मति० टी० पृ० ३१ । स्या० र० पृ० ६२७ । विश्वतत्त्वप्र० पृ० ३४ । प्रमेयर० ३।९९ । रत्नाकराव० ४।९ । (२) वेदस्य । (३) ‘विप्लवते हि खल्वपि कश्चित्पुरुषकृताद्रचनात् प्रत्यय, न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति ।’—शाबरभा० पृ० १७ । (४) ‘इति स्थिति’—मी० श्लो० । स्या० र० पृ० ६२७ । रत्नाकराव० ४।९ । प्रकृतपाठः—न्यायम० पृ० १६७ । प्रमाणप० पृ० ७८ । सिद्धिवि० टी० पृ० ४०६A । प्रमेयक० पृ० ३९७ । सन्मति० टी० पृ० १९ । प्रमेयर० ३।९९ । (५) शाब्द प्रत्यये । (६) आप्तस्य । (७) ‘तस्माद् गुणैर्भ्यो दोषाणामभावस्तदभावत । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपेक्षितः ॥ तत्रापवादिनिर्मुक्तिर्वचनभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्व नाशङ्कामपि गच्छति । अतो वचन-धीनत्वात्प्रामाण्ये तदुपासनम् । न युक्तम्, अप्रमाणत्वे कल्प्ये तत्प्रार्थना भवेत् । ततश्चाप्ताऽप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते ।’—मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६५-७० ।

1—त्वा यथा आ०, थ० । 2—स्वमिति नन्वा—व० । 3—एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ० । 4—न चाप्त-प्रणीतत्वात्कालाभावे—व० । 5—शब्दो आ० । 6—वतुतत्त्वतः थ० । 7—नाप्तगुण—व० ।

वेदे आत्मानान्नप्रणीतत्वाभावात् प्रामाण्यमप्रामाण्य वा; इत्यप्यसुन्दरम्; यत्र हि पुरुष-  
कृता पदानुपूर्वी तत्र तदपेक्ष प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्यात्, वेदानुपूर्व्यास्तु नित्यत्वात्  
स्वसामर्थ्यनैधार्थवबोधकत्वात् तन्निरपेक्ष प्रामाण्यम् । नहि तादृशीमानुपूर्वी कश्चित्  
कर्तुं क्षम. अन्यत्रोऽभिव्यक्ते । पूर्वसिद्धानुपूर्वीतोऽपूर्वानुपूर्वीकरणे च कस्यचित् स्वात-  
न्यासभवात् । कुर्वाणो वा ता तदध्येतृभिः अन्वैर्वा निवार्येत । उक्तञ्च—

“अन्यथाकरणे चास्य वैहुभ्य. स्यान्निवारेणा ।” [मी० श्लो० चोदना० श्लो० १५०] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कर्तुः स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्’

वेदानुपूर्व्यत्वेत्यस्य इत्यादि, तदसमीचीनम्, यत. किमिदम् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वनाम—  
प्रतिविधानम्— किं कर्तृस्मरणाभावः, अकर्तृकत्व वा ? प्रथमपक्षे व्यधिकरणासिद्धौ

हेतु, कर्तृस्मरणाभारो हि आत्मनि वर्तते अपोरुपेयत्व तु वेदे इति । अज्ञातासिद्धञ्च,  
तद्ग्राहकप्रमाणावात् । नहि प्रत्यक्ष तद्ग्राहकम्, प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया  
अभावे तस्य प्रवृत्तसभवात् । संभवे वा अभावप्रमाणकल्पनाऽनर्थक्यम् तत्साध्यस्य  
अध्यक्षादित एव प्रसिद्धे । अभावप्रमाणात्तत्सिद्धौ तु तत्र तदुत्पत्तौ कारण वाच्यम्,  
‘निष्कारणस्य कार्यस्योदयानुपपत्तेः ।

“गृहीत्वा वस्तुसद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानस नास्तितान्नान जायतेऽज्ञानपेक्षया ॥” [ मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७ ]

इति तत्कारणमस्तीति चेत्, ननु अत. प्रादुर्भूतमभावप्रमाण तदभाव निराश्रयम्, साश्रय  
वा प्रसाधयेत् ? न तावन्निराश्रयम्, ‘गृहीत्वा वस्तुसद्भावम्’ इत्यभिधानात् । अनेन हि  
निषेध्याधारवस्तुग्रहणमभिदधता भूतेन ‘निषेध्याभावाश्रयः सूचित एव, अन्यथा प्रति-  
नियतवृत्तितया कर्तृस्मरणाभावसिद्धि ततोऽतिदुर्लभा । यन्निराश्रय न तत् प्रतिनियतवृत्ति  
यथा आकाशम्, निराश्रयञ्च भवद्भिरभिप्रेतोऽभावप्रमाणात्प्रसिद्धञ्च कर्तृस्मरणाभाव इति ।

(१) ‘पोरपय तु वचन प्रमाणान्तरमूलता । तदभावे हि तद् दृष्यदितरन्न कदाचन ॥’—मी०  
श्लो० चोदना० श्लो० ७१ । (२) पुरुषगुणनिरपेक्षम् । (३) पूर्वानुपूर्वतो विलक्षणा आनुपूर्वी । (४)  
विलक्षणा शब्दानुपूर्वीम् । (५) निवारणम्—मी० श्लो० । प्रकृतपाठ—स्या० २० पृ० ६२८ । (६)  
पृ० ७२१ पृ० ५ । (७) तुलना— किमिदं कर्तृस्मरण नाम कर्तृस्मरणाभाव अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वा ?  
—प्रमेयक० पृ० ३९२ । (८) ‘अपीत्ययो नद कर्तृस्मरणात् इत्यव प्रयोगे हेतोर्व्यधिकरणत्वदोषात् ।’  
—सम्प्रति० टी० पृ० ४१ । (९) ‘तत्रास्मर्यमाणकर्तृकत्वमसिद्धम्, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् ।’—  
स्या० २० पृ० ६२९ । (१०) अभावप्रमाणन क्रियमाणस्य अभावज्ञानस्य । (११) कर्तृस्मरणाभा-  
वसिद्धौ । (१२) अभावप्रमाणोत्पत्तौ । (१३) द्रष्टव्यम्—पृ० ४६४ टि० १ । (१४) कर्तृस्मरणाभावम् ।  
‘न वत प्रादुर्भूतमभावप्रमाण तदभाव साश्रयमेव प्रसाधयत् गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यभिधानात् ।’—  
स्या० २० पृ० ६२९ । (१५) गृहीत्वा वस्तुसद्भावमिति श्लोकाशयः । (१६) निषेधस्य य अभाव  
तस्य आश्रय । (१७) अभावप्रमाणात् ।

1—नैवावबोध—व० । 2—स्वान्निरपे—व० । 3—त्रादि व्यक्ते आ० । 4 पूर्व सि—व० । 5 अन्य-  
निवा—आ० । 6 बहुभि श्र० । 7 नि का—आ० । 8 निषेध्याश्रय व० ।

अथ साश्रयोऽसौ प्रसाध्यते; ननु कोऽस्य आश्रयः—स्वात्मा, सर्वप्रमातारो वा ? यदि स्वात्मा 'अमुष्मिन्मदीय आत्मनि वेदकर्तृस्मरणं नास्ति' इति; किमेतावता सिद्धम् ? पदार्थजातस्य अनेकस्य अत्र स्मरणं नास्ति, न चैतावता तस्याभावः सिद्धवति । ममानुष्ठातुरवश्यं स्मर्त्तव्योऽसौ, यदा स्मृतिपथप्रस्थायी न भवति तदाऽसन्; इत्यप्यसारम्; भवत्स्मरणाभावमात्रेण अर्थाभावाऽसिद्धेः । तस्य स्वयं निहितेऽवश्यं स्मर्त्तव्ये कचिद् द्रव्यादौ विद्यमानेऽपि सद्भावेन अनेकान्तात् । तथा व्याधितेन उपयुज्यमानमौपथं स्वयं घृत महत्यामप्यर्थितायां न स्मर्यते, नचैतावता तस्याऽभावः इत्यनेन चाऽनेकान्तः । अथ सर्वप्रमातारः; ननु 'त्रैलोक्योदरवर्त्तिनः प्रमातारो वेदकर्त्तारं न स्मरन्ति' इत्यसर्वविदो वेदानुपपत्तिः । उपपत्तो वा सर्ववेदित्वप्रसङ्गः ।

किञ्च, सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तत्रैव पृष्ठा तत्र स्मरणाभावः प्रतीयेत, अन्यथा वा ? न तावदन्यथा; "गत्वा गत्वा तु तान् देशान्" [मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३८] इत्यस्य विरोधानुपपत्त्यात् । गत्वा चेत्, ननु तत्रैव तेषु पृष्ठेषु 'न स्मरामः' इति प्रतिवचनञ्च त्रुवाणेऽपि कः समाश्रासः पुरुषवचसामप्रामाण्येन अर्थतथाभावानुपपत्तेः ? न च सर्वेषामामाप्तताप्रतिपत्तिरस्ति, यतः तद्गुणसक्रान्त्या तत्रैव प्रामाण्यं स्यात्; तत्प्रतिपत्तेरेव असर्वविदो युगपत्क्रमेण वाऽसंभवात् ।

किञ्च, अभावप्रमाणस्य तत्र प्रवृत्तिः यत्र वस्तुसत्त्वावबोधकं प्रमाणपञ्चकं न प्रवर्त्तते ।

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्त्वावबोधार्थं तत्राभावप्रमाण्यते ॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]

(१) कर्तृस्मरणाभावस्य । "अपि च किमशपजनस्मरणनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपयपुरुषस्मरणविनिवृत्तिः । तद्यदि सकलजनस्मरणविनिवृत्तिः, तदाऽसिद्धा, अवधारयितुमशक्यत्वाच्चावर्गभागविद्भिः । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञा स्युः अवर्गभागविदो न भवेयुः । अथ कतिपयपुरुषापेक्षया; तदाऽनेकान्तिको हेतुः, विद्यमानकर्तृकेऽपि कर्ता न स्मर्यते कश्चित् ।"—तत्त्वोप० पृ० ११७ । "आश्रयश्चास्य स्वात्मा सर्वप्रमातारो वा"—स्या० २० पृ० ६२९ । (२) मदीय आत्मनि । (३) "ममानुष्ठाते स्मर्त्तव्योऽसौ"—स्या० २० पृ० ६२९ । (४) वेदकर्ता । (५) "एव तर्हि पितामहस्य पितर मातामहीमातरम्, तन्मातापितरौ च न स्मरति तत्तेषामभावो भवेत् ।"—स्या० २० पृ० ६२९ । (६) भवत्स्मरणाभावस्य (७) स्वयं घृतोपधादिद्रव्यस्य । (८) ननु इति निश्चयार्थं । तुलना— "सर्वेषुमास कर्तारं वेदस्य न स्मरन्ति इति कथं जानाति भवान् । न हि तव सकललोकहृदयानि प्रत्यक्षाणि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । न च यत् त्वं न जानासि तदन्वोऽपि न जानातीति युक्तमतिप्रसङ्गात् ।"—न्यायम० पृ० २३७ । स्या० २० पृ० ६३० । (९) तुलना— "अपि च सर्वप्रमातृदेशान् गत्वा तादृशं पृष्ठ्वा तत्र कर्तृस्मरणाभावं प्रतीयेतान्यथा वा ?"—स्या० २० पृ० ६३० । (१०) सर्वप्रमातृत्वं । (११) "गत्वा गत्वा तु तान्देशान् यद्यर्थो नोपलभ्यते । ततोऽप्यकारणाभावादसन्नित्यवगम्यते ॥"—मी० श्लो० । उद्बोधोऽयम्—प्रमेयक० पृ० २२ । सम्मति० टी० पृ० २३, ३२१ । (१२) देशान्तरे । (१३) सर्वप्रमातृत्वं । (१४) तैस्त्वते 'न स्मरामः' इति प्रतिवचने । (१५) द्रष्टव्यम्—पृ० ४६४ टि० ४ ।

1 वाने—आ० । 2 सर्वप्रमातृ—श्र० । 3 तत्र स्मरं न स्मरन्तीत्यसर्वविदो वेदानानु गत्वा गत्वा आ० । 4 प्रतीयते व० । 5 सद्भाव—व० ।

इत्यभिधानात् । वेदे च आत्मनः कर्त्तृसद्भावावेदके सति कथं तत्त्ववृत्तिः ?

‘स हि रुद्र वदकर्त्तारम् ।’ [ ]

‘यो ब्रह्माण्य विदधाति पूर्वं वदाश्च प्रहिणोति ।’ [ श्वेताश्व० ६।१८ ]

‘तथा प्रजापति सोम राजानमन्वसृजत, तत प्रथा वदा अन्वसृ च त ।’ [ ]

इत्यादिको वेद कर्त्तृसद्भावावेदक अनेकधा श्रूयते । स्वरूपासिद्धश्चायं हेतुः, पौराणिका हि वेदस्य ब्रह्मकर्त्तृत्व स्मरन्ति—

‘प्रैतिमन्व तरश्चैनं श्रुतिरन्या विधायत ।’ [ मत्स्यपु० १४५।५८ ]

‘अनतर तु वस्त्रेभ्यो वदास्तस्य विनि सृता ।’ [ ]

इत्यभिधानात् । योगा रुद्रकर्त्तृकत्वम्, जैना कालासुरकर्त्तृकत्वम् ।

10

स्मृतिपुराणादिवचं ऋषिनामाङ्किता काण्व-माध्यन्दिन-तैत्तिरीयादयः शाखाभेदा कथमस्मर्यमाणकर्त्तृका ? तथाहि—एतां तत्कृतत्वात् तन्नामभिरङ्किता, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? तत्राप्यपेक्षे कथमासामपौरुषेयत्वम् अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्व वा स्यात् ? उत्तरपक्षद्वये यदि तार्वण्यसिन्ना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथमस्यां सम्प्रदायाविच्छेद अतीन्द्रियार्थदर्शिनं प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथ अनवच्छिन्नैव सा

(१) स्वयमेव वदस्य । (२) अभावप्रमाणप्रवृत्तिः । (३) उद्धृतोऽयम-स्वा० १० पृ० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (४) अपौरुषयत्तापीष्टा कर्त्तृणामस्मृतेः किल । सन्त्यस्दाप्यनुवक्तार इति धिग व्यापकं तम ॥ यस्मादिदं साधनमसिद्धमनकान्तिकञ्च तत्रासिद्धमधिकृत्याह—तथाहीत्यादि । स्मरन्ति सौगता वदस्य कर्त्तृण्यकादीनां आदिगण्वाद् वामकवाग्नेविविश्वामित्रप्रभृतीनां । हिरण्यगम ब्रह्माण्य वदस्य कर्त्तारं स्मरन्ति काणादा वगणिका ततश्चासिद्धं कर्त्तृस्मरणम् । —प्रमाणवा० स्व० ८।० १।२६९ । मनोरथ० ३।२६९ । असिद्धोऽप्ययं हेतुः यस्मात्स्मरन्ति एव कर्त्तारं काणादा । तथा नैकिका अपि बहुल वक्तारो भवन्ति ब्रह्मणा वदा प्रणीता इति । —तत्त्वोप० पृ० ११७ । नव सवनुणा कर्त्तुः स्मृतेरप्रसिद्धिः । तत्कारणं हि काणादा स्मरन्ति चतुराननम् । जना कालासुर बौद्धा स्तवष्टकान सकला सदा ॥ —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८ । अष्टतह० पृ० २३७ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स मति० टी० पृ० ४० । स्या० १० पृ० ६३० । यच्चेदमस्मर्यमाणकृतत्वादिति तदसिद्धम् प्रजापतिर्वा इदमेक आमीनाहारासीत्र रात्रिरासीत स तपोऽप्यथ तस्मात्तत्प्रसवत्वारो वदा अजामन्त इत्याम्नायनव कर्त्तृस्मरणात्, जीणकूपादिभिव्यभिचाराच्च । प्रश० क० ५० पृ० २१६ । ‘कपिल षणादधीतमतच्छिष्यश्चाद्यप्यन्त वेदे सकतकवस्मरणस्य प्रतीयमानत्वात् । —तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७१ । (५) उद्धृतोऽयम्—न्यायम० पृ० २३६ । प्रमेयक० पृ० ३९२ । स्या० १० पृ० ६३० । यावपरि० पृ० ३८३ । तत्त्वचि० शब्द० पृ० ३७३ । (६) तुलना— सज ममरणपिण्योत्रचरणादिनामश्रुतेरनकपद सहतिप्रतिनियमसं दशनात् । फलाधिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनाम श्रुतेश्च मनुमूत्रवत्पुरुषकतकव श्रुतिः ॥ —यात्रक० श्लो० १४ । प्रमेयक० पृ० ३९२ । स्या० १० पृ० ६३० । प्रमेय० ३।९९ । (७) काण्वमाध्यन्दिनतत्तिरीयादयः शाखा । तुलना— एतास्तत्कृतत्वात्तन्नामभिरङ्कितास्तददृष्टत्वात् तत्प्र काशितत्वाद्वा । —प्रमेयक० पृ० ३९२ । स्या० १० पृ० ६३० । रत्नाकराव० ४।९ । (८) विनीर्णा विस्मृता वा । (९) गालाया ।

सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा, तर्हि धावद्भिरुपाध्यायै सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावता नामभि तस्या किन्नाङ्कितत्व स्यादविशेषात् ?

अथोच्यते—अस्ति यौगादीना वेदे कर्तृस्मरण किन्तु सैविगान तत्कर्तृविशेषे<sup>१</sup> विप्रतिपत्ते अतोऽप्रमाणमिति, तदप्युक्तिमात्रम्, यैत कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते तद्विशेष-स्मरणमेवाप्रमाण स्यान्न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्ते ऽकर्तृमात्रस्मरणस्याप्रमाणत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य तदापि (तत्रापि) गतत्वाद्नेकान्त । अर्थं वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्ते तन्मात्र स्मरणमप्यप्रमाण कादम्बर्यादीना तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्ते, तत्रमार्णमित्यतो नाने कान्त, ननु वेदे सौगतादय कर्तार स्मरन्ति न मीमांसका इत्येव कर्तृमात्रे विप्रतिपत्ते ऽ यदि तदप्रमाणम्, तर्हि तद्वत् तदस्मरणमप्यप्रमाण किन्न स्यात् विप्रतिपत्तेरविशेषात् । तथा चार्थमसिद्धो हेतु ।

विरुद्धश्च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वाऽऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वयोः कार्यधर्मतया विपक्ष एव वर्तमानत्वात् । कार्यमेव हि किञ्चित् स्मर्यमाणकर्तृक ऋषि घटादि, किञ्चिदस्मर्यमाणकर्तृक जीर्णकृपादि । ततश्च कृतको वेदः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् जीर्णकृपादिवत् । नहि नित्य

(१) समाख्यापि च शालाना नाद्यप्रवचनादृते । काठक काशीकमिखादयो हि समाख्याविशेषा शालाविशेषाणामनुस्मर्यते । ते च न प्रवचनमात्रनिव घना प्रवक्तृणामन तत्त्वात् । नापि प्रकृष्टवचननिमित्ता उपाध्यायभ्योपि प्रकषे प्रत्युतायथाकरणदोषात् तत्पाठानुकरणे च प्रकर्षाभावात् । कति चानादौ ससारे प्रकृष्टा प्रवक्तार इति को नियामक इति । —न्यायकुसु० ५।१७ । (२) यद्यपि हि पौरुषयता मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरण शक्नुवन्ति वदितुम् मामागतोदृष्टन कर्तारमनुमाय स्वाभिमत कर्तार तत्र निक्षिपति—केचिदोश्वरम अन्य हिरण्यगभम अपरे प्रजापतिम् । न चाय नानाविधो विवाद परम्परया कर्तारि मवादिवत् स्मर्यमाण कथञ्चिदवकल्पते । नहि मानव भारते शाक्यप्रथ वा कर्तृविशेष प्रति कश्चिद्विधवते । तस्मात् स्मृतव्यत्वे सत्यस्मरणाद् दृश्यादशनबाधित सामान्यतोदृष्ट न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम् । —शास्त्रदी० पृ० ६१७ । (३) सविवादम् । (४) रुद्र—आ० टि० । (५) तुलना— नच कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तस्तद्विशेषस्मरणमवाप्रमाणं स्यात् न कतमात्रस्मरणम् । —प्रमेयक० पृ० ३९३ । सम्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० २० पृ० ६३० । शास्त्रवा० यशो० पृ० ३८४ । (६) कादम्बर्यादावपि । (७) तुलना— अथ वेद कर्तृविशेष विप्रतिपत्तिवत् कर्तृमात्रेऽपि विप्रतिपत्त स्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम् —प्रमेयक० पृ० ३९३ । सम्मति० टी० पृ० ४२ । स्या० २० पृ० ६३० । (८) कर्तृमात्रस्मरणम् । (९) तुलना— ननु वेदे सौगतादय कर्तृमात्र स्मरन्ति न मीमांसका इत्येव कर्तृमात्रे पि विप्रतिपत्त यदि कनस्मरण मिथ्या तदा कर्तृस्मरणत अस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपि असत्य स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् तथा च पुनरप्यसिद्धो हेतु । —स मति० टी० पृ० ४२ । प्रमेयक० पृ० ३९३ । स्या० २० पृ० ६३१ । (१०) कर्तृमात्रस्मरणम् । (११) कतस्मरणवत् । (१२) कत्रस्मरण । (१३) अस्मर्यमाणकतकत्वान् । (१४) पौरुषय जनित्य । (१५) तुलना— नित्य हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृक नाप्यस्मर्यमाणकर्तृक प्रतिपत्त किन्त्वकतृकमेव । —प्रमेयक० पृ० ३९२ ।

१—ना कर्तृ—व० । २—यपि विप्र—श्र० । ऽएतदन्तगत पाठो नास्ति थ० । ऽएतदन्तगत पाठो नास्ति आ० । ३—अथ कर्तृविशेष विप्रतिपत्ति कर्तृमात्रमपि विप्रतिपत्ते व० । ४—णमतो व० ।

वस्तु स्मर्यमाणकर्तृकमस्मर्यमाणकर्तृकं वा प्रतिपन्नम्, किन्तु अकर्तृकमेव । कालात्यया-  
पदिष्टश्च, श्रुतिस्मृतिवाधितपश्चनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात् । तन्न कर्तृस्मरणाभायलक्ष-  
णमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं घटते ।

नापि अकर्तृकत्वलक्षणम्; अशब्दार्थत्वात् । नहि अस्मर्यमाणकर्तृत्वशब्दस्य  
अकर्तृकत्वमर्थो लोके शास्त्रे वा प्रसिद्धः । प्रसिद्धौ वा साध्याविशिष्टत्वम् । अस्तु वाऽवि-  
चारितमणीयमस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्; तथापि तद् वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा सम्ब-  
न्धि हेतुः स्यात् ? यदि वादिनः; तदनेकान्तिकम्, “वटे वटे वैश्रवणः” [ ]  
इत्यादिषु विद्यमानकर्तृकेष्वपि प्रयोजनाभावात् मीमांसकैरस्मर्यमाणकर्तृकेषु अस्य सद्भा-  
वात् । ननु वेदे कर्त्रंभानपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः, तच्चार्त्रं नास्ति कर्त्रनुपलम्भमात्र-  
पूर्वकत्वात्तत्र तस्य तत्कथमनैकान्तिकत्वम् ? इत्यपि मनोरथमात्रम्; यतः कुतोऽत्र कर्त्रंभाव-  
सिद्धिः—प्रमाणान्तरात्, अत एव वा ? यदि प्रमाणान्तरात्; तदाऽस्य आनर्थक्यम् ।  
अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः—अतो हि अनुमानात् तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाण-  
कर्तृकत्वं सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ च अतोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति । अथ प्रतिवादिनः  
सम्बन्धि तत् हेतुत्वेन विवक्षितम्, तदसिद्धम्; तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्तारम् ।  
एतेन सर्वस्याऽस्मरणं प्रत्याख्यातम्, सर्वात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य तत्र कर्त्र-  
स्मरणमवैति ? अतोऽस्य अज्ञातासिद्धत्वम्, सतोऽप्यस्य असर्वविदा ज्ञातुमशक्यत्वात् ।

(१) साध्य हि अपीक्ष्यत्व तदेव च अकर्तृकत्वमिति, साध्यावशिष्टत्वाद् असिद्धो हेत्वा-  
भानो लक्ष्यते माध्यस्य असिद्धत्वादिति । (२) तुलना—‘किञ्च अस्मर्यमाणकर्तृकत्व वादिन प्रतिवा-  
दिन सबस्य वा स्यात् ।’—प्रमेयक० पृ० ३९५ । सम्मति० टी० पृ० ३० । स्या० १० पृ० ६३१ ।  
प्रमेय० ३१९१ । “अपि च किमव्येपजनस्मरणविनिवृत्तिरिह हेतुत्वेन विवक्षिता, आहोस्वित् कतिपय-  
पुरुषस्मरणविनिवृत्ति ।”—तत्त्वोप० पृ० ११७ । (३) तुलना—‘अनेकान्तिकत्वमप्याह—दृश्यन्ते चेत्यादि ।  
उपदेशारम्भस्य सम्प्रदाय, विच्छिन्न क्रियासम्प्रदाय’ पुरुषकृतत्वसम्प्रदायो येषां वटे वटे वैश्रवणादि-  
शब्दानां ते तथा । अनेन अस्मर्यमाणकर्तृत्वमाह । कृतकाश्च पीरुषेयाश्च । तत पीरुषेयेषु धाव्ये  
कर्तुरस्मरणं वर्तते इत्यनेकान्तिको हेतुः ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १२४२ । स्या० १० पृ० ६३१ ।  
“वादिनश्चेत्तदनैकान्तिकम्, सा ते भवतु गुप्रीतेत्यादौ विद्यमानकर्तृकेष्वस्य भावात् ।”—प्रमेयक०  
पृ० ३९५ । (४) ‘वट वटे वैश्रवण’ इत्यादिवाक्येषु । (५) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य । (६) वेद ।  
तुलना—‘यत् कुतोऽत्र कर्त्रंभावसिद्धिं प्रमाणान्तरात्त एव वा ?’—स्या० १० पृ० ६३१ । (७)  
अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य हेतुः । (८) वदे कर्त्रंभावसिद्धौ । (९) अस्मर्यमाणकर्तृकत्वसिद्धौ च । (१०)  
अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम् । (११) तुलना—‘तद्यदि सकलजनस्मरणनिवृत्ति तदाऽसिद्धा अवधारयितुम-  
शक्यत्वाच्च अर्वाभागाविद्भि । अवधारणे वा त एव सर्वज्ञा स्यु अर्वाभागाविदो न भवेयु ।’—  
तत्त्वोप० पृ० ११७ । न्यायम० पृ० २३७ । प्रमेयक० पृ० ३९५ । स्या० १० पृ० ६३१ । (१२)  
वदधिपये । (१३) सबसम्बन्धिकर्त्रंस्मरणस्य ।

1-जकर्तृकत्व शब्दस्य व०, -जकर्तृकत्व शब्दस्य आ० । 2 कर्तृत्वभाव-ध० । 3-स्वात्तास्य  
व० । 4 अज्ञानासि-ध० ।

यदप्युक्तम्—‘ये हि यदर्थानुष्ठाने प्रवर्तन्ते तेऽवश्यं तच्छास्त्रकर्तारमनुस्मरन्ति’  
इत्यादि, तदप्यनल्पतमोविलसितम्, नियमाभावात् । न हि यो धर्मशीलः [ ]  
इत्यादिकाभ्यः तदर्थानुष्ठाने प्रवर्तमानानामनुष्ठानात् तत्कर्तृस्मरणमस्ति, तदन्तरेणापि  
धर्मशीलताद्यर्थानुष्ठाने महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाऽभावहेतोः प्रवृत्तिप्रतीतेः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘छिन्नमूलत्वाच्च’ इत्यादि, तदप्यसुन्दरम्, यतः अध्यक्षेणानु- ५  
भावाभावात् तत्रै तच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा ? अध्यक्षेण चेत्, किं भवत्सम्ब-  
न्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा ? यदि भवत्सम्बन्धिना, तर्हि आगमान्तरेऽपि कर्तृसद्भा-  
वप्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याऽप्रवृत्ते तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेन अस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य  
भावाद् व्यभिचारी हेतुः । अर्थं तत्रै तद्राहकत्वेन अस्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः  
कर्तृसद्भावान्युपगमात् व्यभिचारः, तन्न, परकीयान्युपगमस्य भवतोऽप्रमाणत्वात्, 10  
अन्यथा वेदेऽपि परैस्तैःसद्भावान्युपगमात् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात् ।  
सर्वसम्बन्धिना चेत्, सोऽसिद्धः, अर्थादृशा तस्यावसातुमशक्यत्वात् । अथ प्रमाणान्तरेण  
अनुभवाभावः, तन्न, आर्गमस्य तत्र कर्तृसद्भाववेदकस्य प्रतिपादितत्वात् । रचनावर्त्तनाद्यनु-  
मानस्य च तत्प्रसाधकस्य सद्भावात् । तथाहि पौरुषेयो वेदः रचनावर्त्तनात् भारतादि-  
वत्, पदवैक्यात्मकत्वाद्वा तद्वत् । तथा प्रमाणान्तरविषयभाञ्जि वैदिकानि वाक्यानि 15

(१) प० ७२१ प० ८ । (२) न चायं नियमोऽनुष्ठानसमयं तत्कर्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्तन्त —  
प्रमेयक० प० ३९५ । समति० टी० प० ४३ । शास्त्रवा० पञ्चो० प० २८४ B । ‘न हि यो धर्मशीलः  
इत्यादिवाक्यभ्यस्तदर्थानुष्ठानं प्रवर्तमानानामनुष्ठानात् तत्कर्तृस्मरणमस्ति । तदन्तरेणापि धर्मशीलता  
यर्थानुष्ठानं महापुरुषार्थोपयोगिन्यैहिकपारत्रिकभयाभावहेतोः प्रवृत्तिप्रतीतेः । —स्या० २० प० ६३१ ।  
(३) प० ७२२ प० ९ । (४) ‘यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात्तत्र तच्छिन्नमूलं प्रमाणान्तरेण वा ।  
—प्रमेयक० प० ३९३ । समति० टी० प० ४२ । स्या० २० प० ६३१ । (५) वेदे । (६)  
कर्तृस्मरणम् । (७) तुलना— सर्वादृष्टिश्च सदिग्धा स्वादृष्टिव्यभिचारिणी । विध्यादिरघुदूवदि  
रदृष्टावपि सत्त्वत ॥ —तत्त्वस० प० ६५ । न्यायवि० टि० प० १६७ प० ३ । चायली० प० २२ ।  
(८) जागमान्तरकर्तृस्मरणस्य । (९) आगमान्तरे । (१०) मीमांसकस्य । (११) जनादिभिः । (१२)  
वृत्तसदभावः । (१३) वेदस्मृतिरूपस्य । (१४) तुलना— बुद्धिपूर्वो वाक्यकृतिर्वेदे—वाक्यकृतिर्वैक्यरचना  
सा बुद्धिपूर्वा वक्तव्यवाक्यायज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात् नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यस्मदादिवाक्य  
रचनावत् । —वश० सू०, उप० ६।१।१ । बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वैक्यरचना वेदे तद्वचनात्वात् उभया  
भिमतवाक्यरचनावत् । —प्रश्न० व्यो० प० ५८१ । प्रश्न० क० प० २१७ । ‘तथा च वैदिकयो रचना  
कल्पवृक्षा रचनात्वात् लौकिकरचनावत् । —यायम० प० २३२ । स्या० २० प० ६३२ । ‘ततो य नर  
रचितवचनरचनाऽविशिष्टास्त पोष्यया यथाऽभिन्नवक्त्रप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीणकूपप्रासादादयः,  
नररचितवचनरचनाऽविशिष्टञ्च वदिक वचनमिति । ’—प्रमेयक० प० ४०२ । समति० टी० प० ३९ ।  
(१५) तुलना— इतश्च वणवत्त्वात्, वणवन्ति लौकिकवाक्यानि अनित्यानि तथा च वेदवाक्यानि  
तस्मात्तान्यनित्यानि । इतश्च सामान्यविशेषवत्त्वे सति श्रोत्रप्राप्तत्वात् लौकिकवाक्यवत् । इतश्च

1—णमिति व० । 2—त्रिक्रमयाज्ञारहेतो व० । —त्रिक्रमयाभावहेतो वा० । 3 तत्रकत्—व० ।

३ अथतद्भा—व० ।



आप्तोक्तानि, वाक्यत्वे सति प्रमाणत्वात्, यदित्थं तत्तथा यथा पित्रादिवान्यम्, तथा चामूनि, तस्मात्तथेति ।

यदप्यभिहितम्—'वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वात्' इत्यादि; तत्र किमिदं तस्याः तद्वैलक्षण्यं नाम—दुर्भणत्वम्, दुःश्रयणत्वम्, लोकाव्याकरणप्रसिद्धशब्दवैलक्षण्येन शब्दविनिवेशः, अपूर्वछन्दोनिबद्धत्वम्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वम्, महाप्रभावोपेत-  
मन्त्रयुक्तत्वं वा ? सर्वमेतत् पुरुषाणां न दुष्करम्, विज्ञानरूपपाटवाधीनत्वाद् वाचोवृत्तेः । मन्त्राणाञ्च महाप्रभावोपेतत्वं पुरुषप्रणीतत्वेनैवोपपन्नम्, निरतिशयप्रभावयता हि पुरुषेण पदवत्त्वात् लौकिकवाक्यवत् ।—न्यायवा० पृ० २७२ । "अनित्यानि वेदवाक्यानि वाक्यत्वादुभया-  
भिमतवाक्यवत् ।"—प्रज्ञ० व्यो० ५८१ । "न चाक्षरराशेरूपेयत्वं येन स्वतः प्रमाणं वेदः स्यात्, शास्त्रान्तरस्यापि तदनुपपन्नात् विशेषाभावाच्च ।"—सिद्धिवि०, टी० पृ० ४०६ B. । "वेदपदवा-  
क्यानि पौरुषेयाणि पदवाक्यत्वाद् भारतादिपदवाक्यवत् ।"—प्रमेयक० पृ० ३९१ । "श्रुतिः पौरुषेयो वर्णाद्यात्मकत्वात् कुमारसभवादिवत् ।"—रत्नाकराव० ४।९।

(१) पृ० ७२२ पं० ११। (२) तुलना—“दुर्भणत्वानुदात्तत्वविलिप्तत्वाऽश्रव्यतादयः । वेदधर्मा हि दृश्यन्ते नास्तिकादिवचस्त्वपि ॥ विषापगमभूत्यादि यच्च किञ्चित्समीक्ष्यते । सत्यं तद्वन्तेयादि-  
मन्त्रवादपि दृश्यते । दुर्भणत्वं दुरभिधानम्, अनुदात्तत्वमनोज्ञत्वम् क्लिष्टं व्यवहितम्, .....  
अश्रव्यता श्रुतिदुर्भगता । आदिशब्देन पदविच्छेदप्लुतोदात्तादिपरिग्रहः । विषापगमे भूतिः सामर्थ्यं प्रभाव इति यावत् । अथवा विषापगमश्च भूतिश्चेति समास, भूतिर्भूतिरैश्वर्यमिति यावत् । आदिशब्देन भूतिग्रहाद्यावेशवशीकरणाभिचारादयो गृह्यन्ते । सत्यमिति अविशवादि । वन्तेयादीत्या-  
दिशब्देन बौद्धादिमन्त्रवादपरिग्रहः ।”—तत्त्वस० पृ० ७३९ । “सर्वेषां दुर्भणत्वादीनां मन्त्रादि-  
सामर्थ्यानाञ्च साधारणत्वात् ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० ३।२४२ । “दुर्भणनदुःश्रवणादीनामस्मदाद्युप-  
लभ्यानां तदतिशयान्तराणां शक्यक्रियत्वादितरत्रापि !”—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० १० पृ० ६३२ । रत्नाकराव० ४।९। (३) तुलना—“अपि चेदं मन्त्रा अपौरुषेयाश्चेति व्याहृतं पश्याम । तथाहि—  
“समयत्वे हि मन्त्राणां कस्यचित् कार्यसाधनम् ; युक्तं यद्येते मन्त्राः कस्यचित्समयो यथा मत्प्रणी-  
तमेतदभिमतार्थेपिनिबन्धनं वाक्यमेव नियञ्जानमनेनार्थेन योजयामीति, परार्थपरतानुरोधेन अन्यतो वा कुतश्चिदेतो स्यात् तदा मन्त्रप्रयोगात् कदाचिदर्थनिष्पत्तिर्युक्ता कविसमयादिव पाठकानाम् ।”—  
प्रमाणवा० स्ववृ० १।२९४ । “अपि च न मन्त्रो नामान्यदेव किञ्चित् । किं तर्हि ? सत्येत्यादि । यथाभूताख्यानं सत्यम्, इन्द्रियमनमोर्दमनं तपः तयोः प्रभावो विपस्तम्भनादिसामर्थ्यं च विद्यते येषां पुमां ते तथा तेषां सत्यतपः प्रभाववता पुसा समीहितार्थस्य साधनं तदेव मन्त्रः । तद्वचनं मन्त्रलक्षण-  
मद्यत्वेऽपि पुरुषेषु दृश्यते एव । किं कारणम् ? यथास्व मत्याधिष्ठानबलाद् विपदहनादे स्तम्भनस्य सामर्थ्यं विघातस्य दर्शनात् । तथा शबरणां केपाञ्चित् स्वनियमस्थानामद्यापि विषापनयनशक्ति-  
युक्तस्य कारणान् शक्नुवन्त्येव पुरुषा मन्त्रान् कर्तुम् ; अवैदिकानाञ्च—वेदादन्वेषा बौद्धादीनामिति, आदिशब्दाद् आर्हतगारुडमाहेश्वरादीनां मन्त्रकल्पानां मन्त्राणां मन्त्रकल्पानाञ्च दर्शनात् । विद्याक्षराणि मन्त्रा, तत्साधनविधानोपदेशा मन्त्रकल्पा तेषाञ्च बौद्धादीनामन्त्रकल्पानां पुरुषकृते पुरुषं करणात् ।”—  
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४२ । “येऽपि मन्त्रविदः केचिन्मन्त्रान् कारचनं कुर्वन्ते । प्रभो प्रभाव-  
स्तेषां स तदुक्तन्यायवृत्तित् ॥ कृतका पौरुषेयाश्च मन्त्रा वाच्या फलेप्सुना । अशक्तिसाधनं पुसा-  
मनेनैव निराहृतम् ।”—प्रमाणवा० ३।३०९-१० । “परोक्षाया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात् । न ह्याथर्वणा-  
नामेव मन्त्राणां शक्तिरुल्लभ्यते न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं प्रमाणवाधनात् ।”—  
अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७ । स्या० १० पृ० ६३३ । “मन्त्रादीनाञ्च सामर्थ्यं शबरणामपि स्फुटम् ।

‘अमुष्मान्मन्त्रादस्येदं फलं भवतु’ इत्यनुसन्धाय यदा यथा कयाचित् भाषया प्रयुज्यन्ते मन्त्राः तदां तेषां तत्कर्तृप्रभवादेव तथाविधार्थक्रियाकरणसामर्थ्यं संभाव्यते । दृश्यते हि साम्प्रतमपि महाप्रभावयतो मन्त्रवादिन आज्ञाप्रदानात् ज्वराद्युच्चाटनं निर्विषीकरणादि च ।

किञ्च, अत्र विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तारं प्रतिक्षिपति नतु कर्तृमात्रम् । न हि जीर्णकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचनोपलभ्यमाना तन्मात्रं प्रति-क्षिपन्ती प्रतीता, तत्करणासमर्थस्यैव शिल्पिनः तया प्रतिक्षेपात् । नहि कर्त्रेण्यव्यतिरेकानुविधायिनो धर्माः कर्तारमन्तरेण उपपद्यन्ते । अतः ‘वैदिकी रचनाऽपौरुषेयी’ इत्याद्यनुमानमनुपपन्नम् ; दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य उक्तप्रकारेण तत्रोऽसंभवात् । संभवे वा कर्तृमात्रानिषेधकत्वात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘रचनामात्रात्कर्त्रनुमाने जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वानुमानानुपद्भः’ इत्यादि, वेदरचनायाः कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वान्वयवस्थितेः, जगद्रचनायास्तु तत्स्थितेः । तत्स्थितिश्च ईश्वरनिराकरणप्रघटके सप्रपञ्चं प्रपञ्चिता ।

यदप्युक्तम्—‘वेदाध्ययन सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्’ इत्यादि, तत्रं निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वम् अपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत्, सविशेषणं वा ? तत्र आद्यधिकस्फेऽनैकान्तिकत्वम्, निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वप्यस्य भावात् । द्वितीयपक्षे तु किं तस्य विशेषणम् ? वेदश्चेत् ; ननु वेदविशिष्टमध्ययनं किं तावन्मात्रेण हेतुः, अपरविशेषणवि-

प्रतीत सर्वलोकेऽपि न चाप्यभ्यभिचारि तत् ॥”-शास्त्रवा० १०।४४।

(१) सङ्कतरूपया प्राकृतस्वरूपया पालिरूपया वा भाषया । (२) वेदे । तुलना—“अपि च यद्विलक्षणय रचना तद्विलक्षण एव कर्ता अनुमीयता न पुनस्तदपलापो युक्त इत्यप्युक्तम् ॥”-न्यायम० पृ० २३६ । “अपि चान विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणासमर्थमेव कर्तार निराकृते न पुन कर्तृमानमपि ॥”-स्या० २० पृ० ६३४। (३) कर्तृमात्रम् । (४) विशिष्ट रचनया । (५) वेदे । (६) पृ० ७२२ पृ० १२ । (७) कर्तृपूर्वकरचनाविलक्षणत्वस्थिते, यतो हि विद्यमानकर्तृकेषु अक्रियादिशिरोऽपि कृतबुद्धिरुपजायते नतु क्षित्वाद्यौ । (८) पृ० १०२ । (९) पृ० ७२२ पृ० १७ । (१०) तुलना—“किञ्चात्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्व प्रतिपादयेत् कर्त्रस्मरणविशिष्ट वा ?”-प्रमेयक० पृ० ३६९। सम्मति० टी० पृ० ४१। स्या० २० पृ० ६३४। (११) तुलना—“यत एवन्तस्मादध्ययनमध्ययनान्तरवद् अध्ययनान्तत्पूर्वकमिति साध्ये अध्ययनादिति लिङ्ग व्यभिचारि, भारताध्ययने पौरुषेयत्वाध्ययनत्वस्य भावात् ॥”-प्रमाणवा० स्वबृ० टी० पृ० ३४५ । “न हि तच्छब्दवाच्यत्वकृतमनादित्वमुपपद्यते । अनैकान्तिकश्चाय हेतु, भारतेष्वेवमभिधातु शक्यत्वात् । भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ॥”-न्यायम० पृ० २३३ । प्रमेयक० पृ० ३६९ । सम्मति० टी० पृ० ४१ । स्या० २० पृ० ६३४ । “पितृव्रतादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रकल्पतो न वक्त्र वक्त्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेऽपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात् ॥”-अष्टश० अष्टसह० पृ० २३७ । “भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । तदध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥”-प्रमेयक० ३।९९। (१२) अध्ययनशब्दवाच्यत्वादिति हेतुः ।

1 भवति व० । 2 'तदा' नास्ति जा० । 3-मानतत्करण-ध० । 4 मनु जा० । 5 तथा वा० । 6-हेतुत्वानु-आ० । 7 भारतेष्वप्यस्य व० । 8 सद्भावात् व०, ध० । 9 वेदश्चेन्नतु ध० ।

शिष्टत्वेन वा ? यदि तावन्मात्रेण, तदाऽनैकान्तिकम्, विपक्षेऽप्यस्यै अविरुद्धतया सद्भाव-  
सभवात् । विपक्षेण विरुद्ध हि विशेषण ततो हेतु व्यावर्त्तयति नान्यद् अतिप्रसङ्गात् ।  
नच वेदविशेषण कर्त्तृपूर्वकत्वैलक्षणविपक्षेण विरुद्धम् भारताध्ययनवद् वेदाध्ययनस्यापि  
सकर्त्तृकत्वेऽप्यविरोधात् ।

किञ्च, यथाभूताना पुरुषाणामध्ययनम् अध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव तैत्तरीया  
साध्यते, अन्यथाभूताना वा ? यदि तर्थाभूतानाम्, तदा सिद्धसाधनम् । अथ अन्य-  
थाभूतानाम्, तर्हि जगतो बुद्धिमद्वेतुकत्वे सन्निवेशादिवदप्रयोजको हेतु । अथ तर्थाभूता-  
नामेव तैत्तरीया साध्यते, नच सिद्धसाधनम्, सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्त्यैकल्पेन  
अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन ईदृशैस्त्वान्, तदप्यसुन्दरम्, प्रेरणायाः

(१) तुलना- वेदेन विशपणाददोष अध्ययनमात्रस्य हि व्यभिचारो न वेदेन विशिष्टस्या  
ध्ययनस्यत्यभिप्राय । क पुनरित्यादि सिद्धान्तवादी । कोऽतिसयो वेदाध्ययनस्य यन तद्बुद्ध्याध्ययनमय  
यति स्वय कृत्वाध्यतु न शक्यते । नैव कश्चिदतिशय । ततो वेदाध्ययनञ्च स्यान्न च अध्ययन  
पूर्वकमिति विरोधाभावात् स एव व्यभिचार । यस्मात्तर्हि विशपण वेदत्वम अविरुद्ध विपक्षण अनध्य  
यनान्तरपूर्वकत्वेन सह अस्माद् विपक्षाद् हेतु निवतयति । किं कारणम् ? अविरुद्धयो वेदत्व अध्यय  
नान्तरपूर्वकत्वयोरेकत्र वेदवाक्य सम्भवात् । को ह्यत्र विरोधो यद् वेदाध्ययनञ्च स्यात् च अध्ययना  
न्तरपूर्वकमिति । तस्माद्बदत्व विशपणमध्ययनस्य हेतोरतिशयभाग् न भवति विशपाधायकत्र भवति  
विपक्षविरोधाभावेन विपक्षादव्यावचनात् उपात्तमपि विशपणमनुपात्तसमम् । -प्रमाणवा० स्वव० टी०  
पृ० ३४५। प्रमेयक० पृ० ३९७। स्या० पृ० ६३४। (२) अनध्ययनपूर्वकाध्ययन सकर्त्तृके (३) वेदविशप  
णस्य अध्ययनान्दवाच्यत्वस्य । (४) विपक्षात् । (५) अस्मदादीनाम् अर्वाग्वृत्ताम् । तुलना- किञ्च  
यथाभूताना पुरुषाणामध्ययनमध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेव अध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्व  
साध्यतयन्यथाभूताना वा ? -प्रमेयक० पृ० ३९८। सम्मति० टी० पृ० ४१। स्या० २० पृ० ६३४। (६)  
गुवध्ययनपूर्वकम् । (७) वदाध्ययनम् । (८) वदाध्ययनपूर्वकम् । (९) अतीन्द्रियाद्यदशनशालिना  
पुरुषाणा वा । (१०) अस्मदादीनाम् । तुलना- यादृग् त्वध्ययन स्वयङ्कृतमशक्तस्य तन्निमित्तम्  
अध्ययनान्तरनिमित्तं दृष्टं तत्तयति अध्ययनान्तरपूर्वकमत्रति स्यात् तन्निमित्ततया शक्तिनिमित्ततया  
दृष्टं भगते विपक्ष स्वय कृत्वाऽध्ययनलक्षण तत्यागन तस्य विपक्षस्य त्यागन वदाध्ययनत्वसामान्यस्य  
ग्रहण गस्तस्याशक्तस्य वा सव वदाध्ययनमध्ययनांतरपूर्वक वदाध्ययनत्वसामान्यादिति क्रियमाण  
व्यभिचायव । किमिव ? हुताशनसिद्धो अग्निसिद्धो पाण्डुरद्व्यत्ववत् -प्रमाणवा० स्वव० टी० पृ०  
३४६ । (११) यादृग् सत्रिवशादि घटादिषु यदक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धचुत्यादक दृष्टं तादृगमेव जीणकू  
पादो बुद्धिमद्वेतुकत्वमनुमापयति ननु तद्विलक्षणम्-अक्रियादर्शिन कृतबुद्धयनुत्यादकमिति स्थिति, तथापि  
सत्रिवशासामान्यात् पृथिव्यादावपि बुद्धिमद्वेतुत्वानुमाने मृद्विकारत्वहतुना बलीकस्यापि कुम्भकार  
वृत्तत्व स्यात्, ततो यथा जगतो बुद्धिमद्वेतुके सत्रिवशादिसामान्यायमकिञ्चित्कर तथैव यादृगानाम  
स्मदादिपुरुषाणामध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं दृष्टं तादृगानामेव दगान्तरादो अध्ययनपूर्वकत्व साधयितुमुचित  
न तु अयादृगानामतीन्द्रियार्थदर्शनाम् तत्र अध्ययनशब्दवाच्यत्वस्य अप्रयोजकत्वादिति भाव ।  
(१२) अस्मदादीनामर्वाग्वृत्ताम् । (१३) अध्ययनम् । (१४) अध्ययनपूर्वकम् । (१५) अथवा  
भूताऽतीन्द्रियपुरुषाणामभावनया । (१६) अस्मदादिवदव अर्वाग्वृत्तान् । (१७) वदस्य ।

तथाभूतार्थप्रतिपादने प्रामाण्याप्रसिद्धेः । तदप्रसिद्धिश्च गुणवतो वक्तुरभावे तद्गुणै-  
रनिराकृतैर्दोषैः तस्यैपोहित्वात् सुप्रसिद्धा । तथाभूताश्च प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शन-  
शक्तिविरहिणोऽपि कर्तुं समर्था इति कुतः तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वाऽसामर्थ्येन अशेषपुरु-  
पाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात् । अथ न गुणवद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽ-  
प्रामाण्यनिवृत्तिः अपौरुषेयत्वेनाप्यस्यैः संभवात् ततोऽयमदोषः; तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽ- 5  
पौरुषेयत्वमस्यैः किमन्यतः प्रमाणात् प्रसिद्धम्, अत एव वा ? यदि अन्यतः; तदा  
अस्य वैयर्थ्यम् । अत एव चेत्; अन्योन्याश्रयः—अतो हि अनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ  
प्रेरणायाः प्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुपाणामी-  
दृशत्वसिद्धिरिति । तत्र वेदाध्ययनमात्रं हेतुः ।

अथ अपरविशेषणविशिष्टम्, किं पुनस्तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरणम्, सम्प्रदाया- 10  
व्यवच्छेदो वा ? न तावत् कर्त्रस्मरणम्; तस्य असिद्धाद्यनेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् ।  
सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगतः, सर्वलोकगतो वा ? न तावदात्मगतः; भारतादिवत्  
पौरुषेयत्वेऽप्यस्य सम्भवात् । नापि सर्वलोकगतः, असर्वविदा तस्य सतोऽपि ज्ञातुम-  
शक्यत्वात्, 'वटे वटे वैश्रवणः' [ ] इत्यादिवत् पौरुषेयत्वेऽप्यस्यैऽविरोधाच्च ।

किञ्च, प्रमाणादर्थव्यवस्था भवति । सम्प्रदायाव्यवच्छेदश्च किं स्वतन्त्रं प्रमाणम्, 15  
प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तदन्तर्भूतं वा ? न तावत् स्वतन्त्रम्, पदप्रमाणसंख्याव्याघात-  
प्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, तस्यै तत्सामग्रीतो विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वात्,  
आज्ञापारम्पर्यवत् । अत एव न तदन्तर्भूतम् । तेतो वटे यक्षपारम्पर्यवत् संशयजनक-  
मेवैतत् नार्थतत्त्वव्यवस्थापनप्रवणम् । अव्यवच्छेदश्चास्यै श्रद्धासामात्रगम्यः, नैपथ्यव्यव-

(१) अतीन्द्रियार्थं । (२) तुलना—'गिरा सत्यत्वहेतूना गुणाना पुरुषाश्रयात् । अपौरुषेय  
मिथ्यायं किन्नेत्यन्ये प्रवक्षते ॥'—प्रमाणबा० ३।२२५। 'यावता गुणवद्वक्त्रभावे तद्गुणैरनिरा-  
कृतैर्दोषैरपोहित्वात् तत्र सापवाद प्रामाण्यम् ।'—प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या०  
२० पृ० ६३४। (३) वक्तुगुणं । (४) प्रामाण्यस्य निराकृतत्वात् । (५) अप्रमाणभूताम् ।  
(६) अप्रामाण्यनिवृत्ते । (७) बोधनाया । 'यतोऽपौरुषेयत्वमस्या किमन्यत प्रमाणात् प्रति-  
पन्नमत् एव वा ?'—प्रमेयक० पृ० ३९७। सन्मति० टी० पृ० ४१। स्या० २० पृ० ६३५। (८)  
अस्मदादिवदवामिदंशिवसिद्धिः । (९) वेदाध्ययनवाच्यत्वाख्ये हेतौ । 'किं तत्र विशेषणम्—कर्त्रस्मरण  
सम्प्रदायाव्यवच्छेदो वा ?'—स्या० २० पृ० ६३५। (१०) 'सम्प्रदायाव्यवच्छेदोऽपि आत्मगत,  
सर्वलोकगतो वा ?'—स्या० २० पृ० ६३५। (११) सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्य । (१२) सम्प्रदायाव्यव-  
च्छेदस्य । (१३) विलक्षणसामग्रीप्रभवत्वादेव । (१४) प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् । (१५) सम्प्रदायाव्यवच्छे-  
दात्मक प्रमाणम् । (१६) वेदस्य । तुलना—'अपि च आदिमतोऽपि शास्त्रग्रामस्य सम्प्रदायाव्यवच्छे-  
दोऽस्ति वेदस्य पुनरनादेरसौ नास्तीति कश्चादिको भवतोऽपर प्रतिपद्येत् ।'—स्या० २० पृ० ६३५ ।

१—योदित—आ० । २—पादित—थ० । ३ सर्वगतो व०, थ० । ४ ततो दुष्टद्वक्त्रपारम्पर्यवत्  
ससापन्नवक्तुमेतदर्थत्वव्यवस्था भवति सम्प्रदायाव्ययनप्रवणम् व० । ५—जननमेव तत्रार्थ—आ० ।

हारवालक्रीडादीनाम् आदिमतामपि निर्मूलोच्छेदोपलम्भेन अनादौ वेदे अव्यवच्छेदस्य  
श्रद्धामात्रादन्यतः संभावयितुमशक्यत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘अतीतानागतौ कालौ’ इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; आगमा-  
न्तरेऽप्यस्याविशेषात् । किञ्च, इदानीं यथाभूतो वेदकरणाऽसमर्थपुरुषयुक्तः तत्कर्तृ-  
पुरुपरहितो वा कालः प्रतीतः अतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वात् साध्येत, अन्य-  
थाभूतो वा ? यदि तथाभूतः; तदा सिद्धसाधनम् । अथ अन्यथाभूतः; तदा सन्निपे-  
शादिवदप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतस्यैव तस्यै तद्द्रहितत्वं साध्येते, नच सिद्धसाधनम्  
अन्यथाभूतस्य कालस्यैवाऽसंभवात्; ननु ‘अन्यथाभूतः कालो नास्ति’ इत्येतत् कुतः  
प्रमाणात् प्रतिपन्नम्—अत एव, अन्यतो वा ? यदि अत एव; इतरेतराश्रयः—अन्यथाभूतकाल-  
लाभावसिद्धौ हि अतोऽनुमानात्तद्द्रहितत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च अन्यथाभूतकालाभावसिद्धि-  
रिति । अन्यतः तत्सिद्धौ चास्यैवार्थक्यम् अपौरुषेयत्वस्यापि तत एव प्रसिद्धेः । ततो वेदे  
अपौरुषेयत्वप्रसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात् कथमसौ अपौरुषेयः स्यात् ।

अस्तु वा, तथाप्यसौ<sup>१</sup> व्याख्यातः, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ?  
न तावदव्याख्यातः; अतिप्रसङ्गात् । अथ व्याख्यातः; कुतस्तद्व्याख्यानम्—स्वतः, पुरुषाद्वा  
न तावत् स्वैत एव, ‘अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थः नायम्’ इति स्वयं वेदेनाऽप्रतिपा-

(१) पृ० ७२३ प० १ । (२) तुलना—‘कालत्वपुरुषत्वादी सन्दिग्धव्यतिरेकित्वा । पूर्ववत्करणा-  
दक्षणे नराणामप्रसाधनात् ॥’—तत्त्वसं० का० २७९९। (३) तुलना—‘किञ्चेदानीं यथाभूतो वेदाकरण-  
ममर्थपुरुषयुक्त तत्कर्तृपुरुपरहितो वा काल प्रतीत, अतीतानागतो वा तथाभूत कालत्वात्साध्येत  
अन्यथाभूतो वा ?’—प्रमेयक० पृ० ३९९। सन्मति० टी० पृ० ३१। स्या० १० पृ० ६३५ । (४)  
वेदकर्तृपुरुपरहित । (५) हेतो वेदकारविर्वाजित इति शेष । (६) वेदकर्तृपुरुषसहित । (७)  
वेदकर्तृपुरुपरहितकालस्य वेदकारविर्वाजितत्वमिष्टमेव । (८) वेदकरणसमर्थपुरुषयुक्त तत्कर्तृपुरुष-  
सहितो वा । (९) वेदकर्तृपुरुपरहितस्यैव । (१०) कालस्य । (११) वेदकाररहितत्वम् । (१२)  
वेदकर्तृपुरुषसहितकालसंभावनाया । (१३) वेदकर्तृपुरुषसहितस्य । (१४) तुलना—‘नन्वन्यथाभूत  
कालो नास्तीत्येत्कुत प्रमाणात् प्रतिपन्नम् ?’—प्रमेयक० पृ० ३९९। सन्मति० टी० पृ० ३१। स्या० १०  
पृ० ६३५ । (१५) कालत्वात् हेतो । (१६) वेदकर्तृसहित । (१७) वेदकारविर्वाजितत्व ।  
(१८) अन्यथाभूतकालाभावसिद्धौ । (१९) कालत्वादिति हेतो । (२०) तुलना—‘सहि वेद  
केनचिद् व्याख्यात धर्मस्य प्रतिपादक स्यादव्याख्यातो वा ?’—आप्तप० का० ११० । प्रमेयक०  
पृ० ४०० । स्प० १० पृ० ६३६। प्रमेय० ३। १९९ । (२१) तुलना—‘न हि तावत्स्थितोप्येव ज्ञान वेद  
करोति न । यावन्न पुरुषैरेव दीपभूतं प्रकाशित ॥ ततश्चापौरुषेयत्व भूतार्थज्ञानकारणम् । न कल्प्यं  
ज्ञानमतदि पृथ्वास्यानात्प्रवृत्ति ॥ सत्यप्येपा निरर्थाऽत्रो वेदस्यापौरुषेयता । यदिष्ट फलमस्या हि ज्ञान  
तत्पुरुषाधितम् ॥ स्वतन्त्रा पुरुषाश्चेह वेदे व्याख्या यथाक्षि । कुर्वाणा प्रतिबद्ध ते शक्यन्ते नैव  
केनचिन् ॥ मोहमानादिभिर्दोषरतोऽमी विप्लुता श्रुत । विपरीतामपि व्याख्या कुयुरित्यभिप्रायङ्कयते ॥’  
—तत्त्वसं० का० २३६६—७१ । (२२) तुलना—‘जयोऽत्र नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न । वत्प्यो-

\* १ अधिमता—प्र० । २ देशकरणसमर्थ—३० । ३ तदवृष्टपुह—व० । ‘तत्कर्तृपुरुपरहितो’  
इति नास्ति वा० ।

दनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात् । पुरुषाच्चेत्, कथं तद्व्याख्यानात् पौरुषेया-  
दर्थप्रतिपत्तो दोषाशङ्कानिवृत्तिः स्यात् ? पुरुषा हि रागादिमन्तो विपरीतमप्यर्थं व्याच-  
क्षाणा दृश्यन्ते । सवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनानर्थक्यम्, पौरुषेयत्वेऽपि  
वेदस्य सवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः । नच व्याख्यानानां सवादोऽस्ति, परस्परविरुद्ध  
भावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्य विसवादोपलम्भात् ।

किञ्चै, असौ तद्व्याख्याता अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा ? प्रथमपक्षे अतीन्द्रि-  
यार्थदर्शिन प्रतिपेधविरोधः । धर्मादौ च अस्य प्रामाण्योपपत्तेः “ धर्मो चोदनैव  
प्रमाणम् ” [ ] इत्यवधारणानुपपत्तिश्च । अथ तद्विपरीतः, कथं तर्हि तद्व्या-  
ख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः, अयथार्थाभिधानाशङ्कया तर्दनुपपत्तेः ?

ज्यमथ पुरुष ते च रागादिसयुता ॥ -प्रमाणवा० ३।३१२ । वेदो नर निरागतो ब्रतेऽथ न सदा  
स्वतः । अघातपष्टितुल्या तु पव्याभ्यां समपेक्षते ॥ स तथा कृप्यमाणश्च कुव मयपि सम्पनेत । ततो  
नाशोकवद्दशधुभतश्च युज्यते । -तत्त्वस० का० २३७४-७५ । प्रमेयक० प० ४०० । स्या० २०  
पृ० ६३६ । प्रमेय० ३ । १९ । अथवा न तावदप्य वेद स्वस्था स्वयमाचष्ट सवपामपि तदवगम  
प्रसङ्गात् । धवलाटी० प० १९५ ।

(१) तुलना व्याख्याप्यपौरुष्यस्य मानाभावान्न सङ्गता । मिथो विरुद्धभावाच्च तत्साधुत्वा  
दनिश्चिते । -शास्त्रवा० १०।३१ । (२) तुलना- अथाय व्याचक्षते तेषां तदवविययपरिज्ञान  
मस्ति वा न वा । प्रथमविकल्पेऽसौ सवज्ञो वा स्यादसवज्ञो वा ? धवलाटी० प० १५९ । व्याख्याता  
रागादिमान् विरागो वा ? -आप्तप० का० ११० । तत्त्वाथदलो० पृ० ८ । प्रमेयक० पृ० ४०१ ।  
स्या० २० पृ० ६३६ । प्रमेय० ३ । १९ । (३) तुलना- यद्यत्यन्तपरोक्षध्यागमज्ञानसंभवः ।  
अतीन्द्रियाद्यवित कश्चिदस्तीत्यभिमत भवेत् ॥ यद्यत्यन्तपरोक्षाय स्वगसम्बन्धादौ जमि पादेरनागमस्य  
आगमनिरपेक्षस्य ज्ञानस्य संभवः तदा अतीन्द्रियाद्यवित कश्चिदस्तीत्यभिमत भवेत् ततस्तत्प्रतिक्षयो न  
युक्तः । यदि तु न कश्चिदस्तीन्द्रियाद्यवित तदा-स्वयं रागादिमानाद्य वेत्ति वेदस्य नान्यत् । न वेदयति  
वशोऽपि वेदाथस्य कुतो गतिः ॥ -प्रमाणवा० मनोरथ० ३।३१६ १७ । (४) अतीन्द्रियाद्यदृष्टः ।  
(५) चोदनालक्षणोऽर्थो धमः । -जमिनिसू० १।१२ । चोदनव प्रमाणञ्चेत्यतद् धमस्वधारितम् ।  
-मो० श्लो० चोदना० श्लो० ४ । यो धम स चोदनालक्षण चोदनव तस्य लक्षणम् । -शास्त्रदी०  
१।१२ । उदतमिदम-आप्तप० पृ० ५७ । तत्त्वाथश्लो० प० १२ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० २०  
पृ० ६३६ । (६) यथायप्रतीत्यनुपपत्तः । तुलना- अपि च वेदस्तद्व्याख्यानं वा पुरुषण पुरुषायोपदि-  
श्यमानमनन्तसम्प्रदायमेवानुवर्तते इत्यत्रापि शषयः शरणम् । आयमभ्रगाकारिणामाहोपुरुषिकया तद्दशन  
विद्वपणं वा तत्प्रतिपत्तललीकरणाय धृतव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित् कारणान्यधारचनसंभवात् ।  
अपि चान् भवान् स्वमेव मुखवण स्ववादानुरागानूनं विस्मतवान् पुरुषो रागादिरुपप्लुतोऽनन्तमपि  
त्रयादिति नास्य वचनं प्रमाणम् इति । तदिहापि किञ्च प्रक्षयवेक्ष्यते संभवति न वेति । स एवोपदिग  
नूपन्त्रवात् वेदवेदाथ वाऽयथायुपदिक्षदिति । भूय ते हि कश्चित् पुरुषश्च सन्नोदतानि शाखान्तराणि  
इदानीमपि कानिचिद् विरलाप्यतकाणि । तद्वत् प्रचुराध्यतकाणामपि कस्मिंश्चित्काले कथञ्चित्संहार  
संभवात् । पुनः संभावितपुरुषप्रत्ययात् प्रचुरतोपगमनसंभावनासंभवाच्च । तेषाञ्च पुनः प्रतानयितृणां  
पुरुषाणां कदाचिदधीतविसृताध्ययनानामन्यथा संभावनाभ्रगभयादिनाऽयथोपदेशसंभवात् । तत्प्रत्ययाच्च

नच मन्वादीना सातिशयप्रज्ञत्वात् तद्व्याख्यानाद् यथार्थप्रतिपत्तिः; तेषां सातिशयप्रज्ञत्वासिद्धेः । तेषां हि प्रज्ञातिशयः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? स्वतश्चेत्; सर्वस्य स्यादविशेषात् । वेदार्थाभ्यासाच्चेत्; ननु वेदार्थस्य ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वा अभ्यासः स्यात् ? न तावदज्ञातस्य; अतिप्रसङ्गात् । अथ ज्ञातस्य; कुतस्तज्ज्ञैः—स्वतः, अन्यतो वा ? स्वतश्चेत्; अन्योन्याश्रयः—सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्, तस्मिञ्च सति तदर्थभ्यास इति । अथ अन्यतः; तर्हि तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यतः इति अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे अन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुपपत्तिः । अदृष्टमपि न प्रज्ञातिशयप्रसाधकम्, तस्य आत्मान्तरेऽपि सद्भावात् । न तथाविधमदृष्टमन्यत्र मन्वादादेव अस्य संभवादिति चेत्; कुतस्तत्रैवास्य संभवः ? वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्; सँ तर्हि ज्ञातस्य अज्ञातस्य वा वेदार्थस्य अनुष्ठानात् स्यात् ? अज्ञातस्य चेद्, अतिप्रसङ्गः । ज्ञातस्य चेत्; चक्रकप्रसङ्गः—सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टविशेषसिद्धिः, ततस्तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति । ब्रह्मणोऽपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सति अतो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः सिद्धयेत् । तच्चास्यै कुतः सिद्धम् ? धर्मविशेषाच्चेत्; स एव चक्रकप्रसङ्गः—सिद्धे हि वेदार्थपरिज्ञानातिशये तत्पूर्वकानुष्ठानविशेषः सिद्धयेत्, ततः तज्जनितधर्मविशेषः सिद्धयेत्, तत्सिद्धौ च वेदार्थपरिज्ञानातिशयः सिद्धयेदिति । ततोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तेरनुपपत्तिरेव ।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासात् लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तद्विशिष्टवैदिकपदवा-

तद्भक्तानामविचारेण प्रतिपत्त बहुष्वप्यव्येत्पु सभावितात् पुरुषाद् बहुल प्रतिपत्तिदर्शनात् । ततोऽपि कश्चित् विप्रलम्भसंभवात् । किञ्च, परिमितव्याख्यातुपुरुषपरम्परामेव चात्र भवतामपि शृणुम । तत्र वरिचद् द्विष्टानुष्ठानानामन्यतम स्यादपीति अनास्वास ।—प्रमाणवा० स्ववृ० १।३२२ ।

(१) तु०—“कुतस्तस्य तादृश प्रज्ञातिशय ? धृत्यर्थस्मृत्यतिशयादिति चेत्, सोऽपि कुत ? पूर्वजमनि धृत्यभ्यासादिति चत्, स तस्य स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत्, सर्वस्य स्यात् । तस्यादृष्टवगाद् वदाभ्यास स्वता मुक्तो न सर्वस्य तदभावादिति चेत्, कुतस्तस्यैव अदृष्टविशेष तादृम् ? वदार्थानुष्ठानाच्चेत्, तर्हि स वदार्थस्य स्वय ज्ञानस्यानुष्ठानात् स्यादज्ञातस्य वापि ? न तावदुत्तर पक्ष, अनिप्रज्ञान् । स्वय ज्ञानस्य चेत्, परस्परश्रय ।” मन्वादेर्वेदाभ्यासोऽन्यत एवति चेत्, स कोऽन्य ? ग्रहानि चत, तस्य कुतो वेदाश्रयानम् ? धर्मविशेषादिति चेत्, स एवान्योन्याश्रय ।—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० २० पृ० ६३६ । (२) तुलना—“यस्मादहोऽपि तन्मध्ये नैवातीं त्रयदृष्टतः । अनादि बलिजायया तस्मादन्धपरम्परा ॥ अन्धनान्ध समाकृष्ट सम्यग्वर्णं प्रपन्न । प्रव नैव तथाप्यस्या सिद्धाज्ञादिव्यवत् ।—तत्त्वस० का० २३७९-८० । “अविरोधेति नित्यस्य भवदधरपरम्परा । तदर्थदर्शनो-भावात् मन्वादिदिव्यवहारवत् ।”—न्यायवि० का० ४१७ । अदृष्टश० अदृष्टाह० पृ० २३९ । प्रमेयक० पृ० ४०१ । स्या० २० पृ० ६३७ । तत्त्ववि० शब्द० पृ० ३६९ । (३) प्रज्ञानियप्रयोजनस्य अदृष्टस्य । (४) मन्वादिः । (५) ग्रहण । (६) ग्रहण । (७) धर्मविशेषात् ।

१ अदृष्टत्वात् ध० । २-पि स्वतश्चेदन्वो-जा० ।

क्यार्थप्रतिपत्तेरपि प्रसिद्धिः अश्रुतकाव्यादिवत्, अतो न वेदार्थप्रतिपत्तौ अतीन्द्रियार्थ-  
दर्शना किञ्चित् प्रयोजनम्; इत्यप्यपेशलम्; 'लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि अनेकार्थ-  
त्वव्यवस्थितेः अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणौ-  
दिभ्यस्तैन्नियमः; तेषामनप्यनेकधा प्रवृत्तेः त्रिसन्धानादिवत्। यदि च लौकिकेन अग्न्या-  
दिशब्देन अविशिष्टत्वाद् वैदिकस्य अग्न्यादिशब्दस्य अर्थप्रतिपत्तिः; तर्हि 'पौरुषेयेणापि 5  
तेन अविशिष्टत्वात् पौरुषेयोऽप्यसौ' कथन्न स्यात्? लौकिकस्य हि अग्न्यादिशब्दस्य अर्थ-  
वत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तम्, तत्र अयं वैदिकोऽग्न्यादिशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य  
तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति? उभयमपि गृहीयात् जह्याद्वा। न च लौकिकवैदिकश-  
ब्दयोः स्वरूपाऽविशेषे सङ्केतग्रहणसव्यपेक्षत्वेन अर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च  
पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषोऽस्ति, यतो वैदिका अपौरुषेयाः शब्दा लौकिकास्तु 10  
पौरुषेयाः स्युः। ततो ये नररचितरचनाऽविशिष्टाः ते पौरुषेयाः यथा अभिनवकूपप्रा-  
सादादिरचनाऽविशिष्टाः जीर्णकूपप्रासादादयः, नररचितवचनरचनाऽविशिष्टश्च वैदिकं  
पदवाक्यादिकमिति ॥ छ ॥

किं पुनः पदं वाक्यञ्च इति चेत्? उच्यते—वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः  
पदवाक्ययोर्लक्षणम्— समुदायः पदम् । पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो 15

(१) तुलना—“उत्पादिता प्रसिद्धयैव शङ्का शब्दार्थनिश्चये । यस्मान्नानार्थवृत्तित्वं शब्दानां  
तत्र दृश्यते ॥ अन्ययामभवाभावाज्ञानाशक्ते स्वयं ध्वने । अवश्यं शङ्कया भाव्यं नियामकमप-  
श्यताम् ॥ सर्वत्र योग्यस्यैकार्थ्येद्योने नियमः कुतः । ज्ञाता वाऽतीन्द्रिया केन विवक्षावचनादुते ॥”—  
प्रमाणवा० ३। ३२३, २४, २६ । प्रमेयक० पृ० ४०२ । स्या० २० पृ० ६३७ । (२) आदिपदेन  
संसर्गादयो गाह्या । तथा चोक्तम्—“संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थं प्रकरणं लिङ्गं  
शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ सामर्थ्यमीकितौ देश कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे  
विशेषस्तुतिहेतवः ॥”—वाक्यप० २। ३१७-१८ । (३) इष्टार्थनियमः । (४) प्रकरणादीनामपि ।  
तुलना—“तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेः त्रिसन्धानादिवत् ॥”—प्रमेयक० पृ० ४०२ । “तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेस्त्रि-  
सन्धानादिवत् ॥”—स्या० २० पृ० ६३७ । (५) पौरुषेयत्वदृष्ट्यापि । (६) लौकिकशब्देन । (७)  
वैदिकशब्दः । (८) तात्पर्यम् पौरुषेयत्वञ्च । (९) “अथ स्यादस्त्येव तयो स्वभावभेदे इत्याह—  
न चात्रेत्यादि । अत्र जगति लौकिकवैदिकयोर्वाक्ययोः स्वभावानानात्व [नच] पश्याम । असति तस्मिन्  
स्वरूपभेदे तयो लौकिकवैदिकवाक्ययो सामान्यस्यैव तुल्यरूपस्यैव वर्णानुक्रमलक्षणस्य दर्शनाद् एकस्य  
लौकिकवैदिकस्य कश्चिद् धर्मं विवेचयन् पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्व वा विभागेन व्यवस्थापयन् पुरुष आश-  
क्यव्यभिचारत्वाद् क्रियते ॥”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३४१ । “नच लौकिकवैदिकशब्दयो शब्दह-  
पाविशेषे संकेतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनार्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाश्रवणे समाने अन्यो विशेषो  
विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः स्युः ॥”—प्रमेयक० पृ० ४०२ । सन्मति० टी० पृ० ३९ । स्या०  
२० पृ० ६३७ । (१०) दृष्टव्यम्—पृ० ७२९ टि० १४ । (११) तुलना—“सुप्तिङन्त पदम्”—वाणिनि-  
व्या० १।४।१४ । “ते विभक्त्यन्ता पदम्”—न्यायसू० २।२।५९ । नाट्यशा० १।४।३९ । “पद पुनर्वर्ण-

1—ते आ० । 2 पौरुषेयत्वस्यापि ततोऽवशि—व० । 3 न लौकि—आ०, व० । 4—काश्च  
पौरु—व० । 5—तरचना—आ०, व० ।



वाक्यमिति । नन्वेवं कथमिदं साधनवाक्यं घटते—‘यत् सत् तत्सर्वं परिणामि यथा घटः संञ्च शब्दः’ इति, ‘तस्मात्परिणामि’ इत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः ? इत्यचोद्यम् ; कैस्यचित् प्रतिपत्तुः तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । यस्य हि प्रतिपत्तुः ‘तस्मात् परिणामि’ इत्यत्र आकाङ्क्षाक्षयः तदपेक्षया तद् वाक्यं भवति उक्तवाक्यलक्षणसद्भावात्  
 5 नान्यौपेक्षया । निराकाङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तुधर्मः वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दधर्मः तस्याऽचेतनत्वात् । स चेत् प्रतिपत्ता तावता अर्थं प्रत्येति किमित्यपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षधर्मो-  
 र्पसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयव-  
 वाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षाप्रसङ्गात् न कचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः स्यात् । तथा च  
 वाक्याभावात् न कचिद् वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित् स्यात् । तामिच्छता यस्य

समूह”-न्यायवा० पृ० १ । न्यायम० पृ० ३६७ । “शक्त पदम् ।”-मुक्ता० का० ८१ । “वर्णा पदं प्रयोगार्हानन्वितं वार्थवोचका”-सा० ६० २।५ । “व्याकरणस्मृतिनिर्णीत शब्द निरुक्तनिघण्ट्वा-  
 दिभि निदिष्टस्तदभिधेयोऽर्थः तो पदम् ।”-काव्यमो० पृ० २१ । “वर्णाना परस्परपेक्षाणा निरपेक्ष-  
 समुदाय पदम् ।”-प्रमेयक० पृ० ४५८ । “वर्णानामन्योन्यापेक्षाणा निरपेक्षा सहतिः पदम्, पदाना तु  
 वाक्यमिति ।”-प्रमाणनय० ४।१० ।

(१) तुलना—‘आख्यातं साव्यय सकारक सकारकविशेषण वाक्यसज्ञ भवतीति वक्तव्यम्—अपर  
 आह—आख्यात विशेषणमित्येव । सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि । “एकतिङ्, एकतिङ् वाक्यसज्ञ  
 भवतीति वक्तव्यम् ।”-पात० महाभा० २।१।१ । “तिङ्सुबन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारका-  
 न्विना”-अमरको० । “पूर्वपदस्मृत्यपेक्ष अन्त्यपदप्रत्यय. स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमान विशेष-  
 प्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम् ।”-न्यायवा० पृ० १६ । “यावद्भि पदैरर्थपरिसमाप्ति तदेक वाक्यम् ।”  
 -वादन्याय पृ० १०८ । “पदसमूहो वाक्यमिति ।”-न्यायम० पृ० ६३७ । न्यायवा० ता० पृ०  
 ४३४ । “अथात्र प्रसङ्गान्नीमासन्नवाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह—साकाङ्क्षावयव भेदे पराना-  
 काङ्क्षाशब्दकम् । कर्मप्रधान गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥”-वाक्यप० २।४ । “पदाना परस्परपे-  
 क्षाणा निरपेक्ष समुदायो वाक्यम् ।”-अष्टशा०, अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । प्रमाण-  
 नय० ४।१० । “मिय साकाङ्क्षाशब्दस्य व्यूहो वाक्य चतुर्विधम् । सुप्तिङन्तचयो नवमनिव्याप्या-  
 दिशेषण ॥ यादृशशब्दाना यादृशावविषयताकान्वयबोध प्रत्यनुकूला परस्परकाङ्क्षा तादृशशब्दस्तोम  
 एव तथाविधार्थं वाक्यम् ।”-शब्दशा० श्लो० १३ । “वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त पदोच्चय ।  
 -सा० ६० २।१ । “पदानामभिधित्सतार्थग्रन्थनाकार सन्दर्भा वाक्यम् ।”-काव्यमो० पृ० २२ । “वाक्य  
 विशिष्टपदसमुदाय । यदाह—पदाना महनिर्वाक्य मानेधाणा परस्परम् । साख्याता कल्पनास्तत्र  
 पदचात्स्न्यु यथाययम् ।”-न्यायवा० टी० टि० पृ० ८ । (२) “ननु यदि निराकाङ्क्ष परस्पर-  
 पेशरदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानोमिदं भवति, यथा यत्सत्सर्वं परिणामि यथा घट सशब्द  
 इति मायनवाक्यम्, तस्मात्परिणामोत्पादाकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयम्;  
 कस्मिन्नित्तिरतुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः, निराकाङ्क्षत्व हि नाम प्रतिपत्तुधर्मोऽयं वाक्येष्वध्यारोप्यते  
 न पुन शब्दस्य धर्मं तस्याचेतनत्वात् । न चेत्प्रतिपत्ता तावताऽर्थं प्रत्येति किमिति शक्यमावाङ्क्षति ?”  
 -अष्टशा०, अष्टसह० पृ० ८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० १० पृ० ६४१ । (३) मोगनस्य ।  
 (४) मोगनशया । (५) पञ्चावयववार्थनिर्वायवापेक्षया । (६) उपनय । (७) पञ्चावयववापदा ।  
 (८) कश्चिदाकाङ्क्षापरिसमाप्त्यभावे न वाक्यरतिनिष्ठितिः ।

प्रतिपतुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिः प्रतिपत्तव्या । एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवत् वाक्यत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम् ।

एतेन यत्कैश्चित् वाक्यस्य लक्षणान्तरमुक्तम्—

“आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनी । एकोऽनवयव शब्दः क्रमो बुद्धयनुसहती (ति) ॥ १ ॥  
पदमाद्य पदञ्चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि । वाक्य प्रति मतिभिर्वा बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥”  
[ वाक्यप० २।१-२ ] इति,

तत्प्रत्याख्यातम्, यस्मादाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात् ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः, पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वेन वाक्यत्वानुपपत्तेः, अन्यथा आख्यातपदाभावः स्यात् । द्वितीयपक्षेऽपि क्वचित् निरपेक्षोऽसौ, न वा ? प्रथमपक्षे अस्मन्मतसिद्धिः, अस्मदुक्तस्यैव वाक्यलक्षणस्य इत्थमभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षस्त्यक्तः, पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्य क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थापरिसमाप्त्या वाक्यत्वायोगाद् अर्द्धवाक्यवत् ।

(१) “प्रकरणादिना वाक्यकल्पेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहार, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवाक्यत्वसिद्धेः ।”—अष्टसह० अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५८ । स्या० २० पृ० ६४७ । (२) वैयाकरणं भर्तृहरिप्रभृतिभिः । (३) व्याख्या—“एतेऽष्टौ वाक्यविकल्पा आचार्याणाम् । तत्राखण्डपक्षे जाति सघातवतिन्यकोऽनवयव शब्दो बुद्धयनुसहतिरिति त्रीणि लक्षणानि । खण्डपक्षे तु आख्यातशब्द क्रम सघातपदमाद्य पृथक् सर्वपद साकाङ्क्षमिति पञ्च लक्षणानि । अत्रापि सघात क्रम इत्याभिहितान्वयपक्षे लक्षणद्वयम् । आख्यातशब्द पदमाद्य पृथक्सर्वपद साकाङ्क्षमित्यन्वितानिधानपक्षे लक्षणत्रयम् इति विभाग इत्यमप्यावेव वाक्यविकल्पा । मतभेदेन सम्पद्यन्ते इति बोद्धव्यम् ।”—वाक्यप० टी० २।१-२। ‘आख्यात शब्दसघातो’—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ८६० । (४) ‘बुद्धयनुसहति’—वाक्यप०, मी० श्लो० न्यायर० पृ० ८६० । स्या० २० पृ० ६४७ । प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । सम्यक्० पृ० १६८ । (५) पदमाद्य पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यपि—वाक्यप० । ‘पदमाद्य पृथक्सर्वपद सापेक्षमित्यपि’—मी० श्लो० न्यायर० पृ० ८६० । स्या० २० पृ० ६४७ । प्रकृतपाठ—अष्टसह० पृ० २८४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६) ‘न्यायवादिनाम्’—वाक्यप० । ‘न्यायवादिनाम्’—मी० श्लो० न्यायर०, स्या० २० । ‘न्यायवेदिनाम्’—अष्टसह०, तत्त्वार्थश्लो०, प्रमेयक० । (७) आख्यातात्मकवाक्यस्य स्वरूपम्—‘आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते । तदप्येकं समासार्थं वाक्यमित्यभिधीयते ॥—यथा वर्षतीत्युक्ते देवो जलमिति कर्तृकर्माक्षेपात् परिपूर्णार्थत्वे वर्णितं देवो जलमिति यथा वाक्यमेव तदप्येकं पदं समासार्थं परिपूर्णार्थं वाक्यमेवाभिधीयते ।”—वाक्यप० टी० २।३१७ । ‘तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वाद् अन्यथा आख्यातपदाभावप्रसङ्गात् । पदान्तरसापेक्षस्यापि क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात् प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः । निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम् ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (८) जैनमतः । (९) आख्यातपदस्य ।

‘सङ्घातो वाक्यम्’ इत्यत्रापि वर्णानाम्, पदानां वा सङ्घातो वाक्यं स्यात् ? प्रथमपक्षे पदाय दत्तो जलाञ्जलिः । द्वितीयपक्षे तु देशकृतः, कालकृतो वा पदानां सङ्घातः स्यात् ? तत्रायः पक्षोऽयुक्तः; क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषामेकस्मिन् देशे सकृदवस्थित्यभावतो देशकृतसंघा[ता]संभवात् । द्वितीयेपक्षे तु पदेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा ? न तावद्विन्नोऽनंशः; तथाविधस्यास्याप्रतीतेः, वर्णान्तरवत् सङ्घातविरोधाच्च । अथ तेभ्योऽभिन्नोऽसौ; किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा ? यदि सर्वथा; कथमसौ सङ्घातः सङ्घातिस्वरूपवत् ? अन्यथा प्रतिपदं सङ्घातप्रसङ्गः । न चैकं पदं सङ्घातो नाम अतिप्रसङ्गात् । अथ कथञ्चिद् ; तदा जैनमतप्रसङ्गः, परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदसमूहरूपतामापन्नवर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूपसङ्घातस्य कथञ्चिद्वर्णभ्यो भिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात् । साकाङ्क्षाऽन्योन्यापेक्षाणां तु तेषां वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषानुपपन्नः ।

एतेन ‘जातिः सङ्घातवर्तिनी वाक्यम्’ इत्यपि नोत्सृष्टम्; निराकाङ्क्षाऽन्योन्या-

(१) सघातस्य स्वरूपम्—“केवलेन पदेनार्यो यावानेवाभिधीयते । वाक्यस्य तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम् ॥ सम्बन्धे सति यत्कन्यदाधिक्यमुपजायत । वाक्यार्थमेव त प्राहुरनेकपदसथ्रयम् ॥ केवल पद यस्यैवार्थस्य वाचकम् वाक्यस्यमपि तमेवाभिदधाति । तत समुदये पदाना परस्परान्वये पदार्थवगाद् यदाधिक्य ससर्गं स वाक्यार्थः । उक्तञ्च—यदत्राधिक्य वाक्यार्थं स इति । अनेकपदसथ्रयमित्यनेन सघातो वाच्यमिति दर्शितम् ।”—वाक्यप० टी० २।४२ । “यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् । अयं वन्त समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ॥”—वाक्यप० २।५५ । (२) तुलना—“सघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परापेक्षाणा पदानामनपेक्षाणा वा ? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वे अस्मत्पक्षसिद्धि साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोध । द्वितीयविकल्पे अतिप्रसङ्गः ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । स्या० २० पृ० ६४४ । (३) “देगृहृत कालकृतो वा वर्णाना सघात स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० ८५९ । (४) पदानाम् । (५) “न वर्णभ्यो भिन्न सघातोऽसौ प्रतीतिमार्गावतारी सघातव्यविरोधाद् वर्णान्तरवत् । नापि ततोऽन्यन्तरमव सघात , प्रतिवर्णसघातप्रसङ्गान् । न चैको वर्णं सघातो भवेत्—तत्रार्थदलो० पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५९ । (६) पदानाम् । (७) पदान्तरसाकाङ्क्षत्वे वाक्याग्निरसमाप्ति, अन्योऽन्योन्यपक्षत्वे तु पदत्वमव स्यात् वाक्यत्वमिति । (८) “अयं जाति सघातवतिनीत्पुद्गिष्टस्य जानिस्फोटस्यापि दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण स्फुटीकरणाय—यथा [क्षेपविषयेऽपि कर्मभेदो न गृह्यत । आवृत्तो ध्वज्यत जाति कर्मभिर्भ्रमणादिभि ॥ वर्णवाक्यपदध्वेव तुल्योपव्यञ्जना धृति । अत्यन्तभेदे तत्त्वस्य सरूपव प्रतीयत ॥ इह भ्रमणलक्षणा कर्मजातिव्यंथा विशिष्टप्रयत्नजनितन क्षपविषयणामिव्यक्ता प्रत्येकपरिसमाप्तत्वान् । न च पादसंस्थेन सा विज्ञायत । भ्रमणानामावृत्तो तु भ्रमण भ्रमण प्रति प्रतिपत्ता सा गृह्यत । एव वर्णपदवाक्येषु धृतिरनिव्यञ्जनो ध्वनिरत्यन्तभेदे तत्त्वस्य वर्णपदवाक्यस्फोटलक्षणस्य सारनिव्यञ्जिका सरूपेव प्रतीयत, परमार्थतो भिन्नपि सती । कीदृशी ? तुल्यनिव्यञ्जनति । तुल्य सदृश उपव्यञ्जन स्थानकरणाभिधातलक्षणो यस्या सा तथेति । तेन निम्नप्रत्यक्षादीरितध्वन्यनिव्यञ्जोऽयं जातिस्फोटो विरक्षण एवति बोद्धव्यम् । युक्तञ्चैतत् । यथा निराकाङ्क्षास्य स्फोटस्य पूर्वोपरमाय जगधिष्टतो न स्वतो नित्यत्वादिति ।”—वाक्यप०, टी० २।२०, २१ । (९) तुलना—‘निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षापदसघातवतिन्या सदृशपरिणामलक्षणाया जानवार्थत्वपटनात् ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।

पेक्षपदसङ्घातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणायाः कथञ्चित्ततोऽभिन्नायाः जातेर्वाक्यत्व-  
घटनान्, अन्यथा सङ्घातवाक्यपक्षोक्ताऽशेषदोषानुपपन्नः ।

‘एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यम्’ इत्यपि मनोरथमात्रम्; तस्य अप्रमाणकत्वात् ।  
तदप्रमाणकत्वञ्च शब्दस्फोटप्राहृकप्रमाणानां निषेत्स्यमानत्वात् सुप्रसिद्धम् ।

‘क्रमो वाक्यम्’ इत्येतच्चै सङ्घातवाक्यपक्षान्नातिशेते इति तद्दोषेणैव दुष्टं द्रष्टव्यम् ।

‘बुद्धिर्वाक्यम्’ इत्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात् ? प्रथमकल्पनायां

(१) सघातात् । (२) “स्फोटश्च द्विविध—बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन  
द्विविध । तत्र जातिलक्षणस्य जाति सघातवर्तिनीति, व्यक्तिलक्षणस्यैकोऽनवयव शब्द इति । आभ्य-  
न्तरस्य तु बुद्धयनुसंहतिरित्यनेनोद्देशः ।”—वाक्यप० टी० २।२ । “टीकाकारश्चामुमेव पक्ष सूत्रकारा-  
भिप्रायसमाश्रयणेन युक्तियुक्त मन्यमानो बहिरूप आन्तरो वा निविभाग शब्दार्थमयो बोधस्वभाव शब्दः  
स्फोटलक्षण एव वाक्यमिति त्रमेण व्याजिहीर्षु चित्रज्ञानचित्ररूपदृष्टान्तप्रदर्शन पूर्वगुपक्रमते । तत्र चित्र-  
बुद्धिदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमह—यथैक एव सर्वार्थप्रत्यय प्रविभज्यते । दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा ॥  
चित्रार्थैकस्वरूपस्य यथा भेदानिदर्शने । नीलादिभि समाख्यान क्रियते भिन्नलक्षणे ॥ तथैवैकस्य वाक्यस्य  
निराकाङ्क्षस्य सर्वतः । शब्दान्तरं समाख्यान साकाङ्क्षंरनुगम्यते ॥ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽ-  
र्थस्य भविष्यति । विभागं प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते ॥”—वाक्यप० २।७-९, १३ । “नित्यत्वे समुदा-  
याना जातेर्वा परिकल्पने । एकस्यैवार्थतामाहु वाक्यस्याव्यभिचारिणीम् ॥”—वाक्यप० २५७ । (३)  
‘श्रोत्रबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिबद्धलिगाभावात्’—अष्टसह० पृ० २८५ । (४) “क्रमपक्ष व्याख्यातु-  
माह—सन्त एव विशेषा ये पदार्थेषु व्यवस्थिता । ते क्रमादनुगम्यते न वाक्यमभिधायकम् ॥ त्रमव्यतिरे-  
केण न शब्दात्मक न वाक्यमभिधायकमस्तीत्युच्यते । शब्दानां त्रममात्रे च नान्य शब्दोऽस्ति वाचक । क्रमो  
हि धर्मं कालस्य तेन वाक्य न विद्यते ॥ वर्णानां च पदानाञ्च त्रममात्रनिवेशिनी । पदाख्या वाक्यसजा च  
शब्दत्व नेष्यते तयो ॥ अनर्थकान्युपायत्वात्पदार्थानर्थवन्ति वा । त्रमेणोच्चारितान्याहुर्वाच्यार्थं भिन्नलक्ष-  
णम् ॥”—वाक्यप० २।५०-५२, ५६ । (५) तुलना—“वार्थं पदक्रमो वाक्य यथा वर्णक्रम पदम् ।”—मी०  
श्लो० वाक्या० श्लो० ५३ । “वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् पदरूपतामापन्नाना वर्णविशेषाणां त्रमो  
वाक्यमिति चेत्, स यदि परस्परपेक्षाणा निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, त्रमभुवा कालप्रत्यासत्तरेव  
समुदायत्वात्, सहभुवामेव देशप्रत्यासत्ते समुदायत्वव्यवस्थिते । अथ साकाङ्क्ष ; तदा न वाक्यमर्थवा-  
क्यवत् । परस्परविशेषाणा तु क्रमस्य वाक्यत्वेऽस्तिप्रसङ्ग एव ।”—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ०  
४६० । स्या० २० पृ० ६४४ । (६) “इदानीमन्तरे वाऽनवयव बोधस्वभाव शब्दार्थमय निविभाग  
शब्दत्वमिति यद्गीत तदेव नादैर्बहिं प्रकाशित वाक्यमाहुराचार्या इत्यन्तर बुद्धयनुसंहतिरित्युद्दिष्ट  
व्याख्यातुमाह—यदन्त शब्दतत्त्व तु नादैरेक प्रकाशितम् । तदाहुरपरे शब्द तस्य वाक्ये तर्थाकता ॥  
अर्थभानैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थं प्रकाशयते । एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थवपृथकस्थितौ ॥ प्रकाशकप्र-  
काशयत्व वायंकारणरूपता । अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा ॥”—वाक्यप० २।३०-३२ ।  
(७) तुलना—“बुद्ध्या न चोपसर्तुं क्रमो निष्कृष्य शक्यते । पदान्येव हि तद्वन्ति वर्तन्ते श्रोत्रबुद्धिवत् ।  
तावत्स्वेव पदेऽव्यन्य क्रमोऽन्यश्च प्रतीयते । तत्र मावत्क्रम भेदो वाक्यार्थस्य प्रसज्यते । किञ्च,  
वर्णक्रमस्य पदत्व युज्येतापि, स ह्यर्थप्रतीत्यौपयिक त्रमान्तरे अर्थप्रतीत्यभावात् । पदत्रमस्य तु वाक्या-  
र्थप्रत्ययानौपयिकस्य कथ वाक्यत्वम् ? औपयिकत्वे वा क्रमभेदे वाक्यार्थभेद स्यादित्याह तावत्सु इति ।”  
—मी० श्लो० न्यायर० वाक्या० श्लो० ५३-५५ । “बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्य द्रव्यवाक्य वा ?”  
—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।

सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्य अन्यवर्ण-  
श्रवणानन्तरं वाक्यार्थावबोधहेतोर्युद्ध्यात्मनो भाववाक्यस्य अस्माभिरपीष्टत्वात् । द्रव्य-  
वाक्यरूपतां तु बुद्धेः कः सुवीः श्रद्धेहीत प्रतीतिविरोधात् ?

एतेन 'अनुसंहतिर्वाक्यम्' इत्यपि चिन्तितम्; यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्य 'चेतसि  
परिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात् ।

'आद्यं पदमन्त्यमन्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवाक्याद् भिद्यते;  
परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा पदस्य वार्ताप्युच्छिद्येत ।

"येऽपि मन्यन्ते—पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थाघबोधं विदधानानि  
वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते—

- (१) "सहृतसकलरुमस्यैकस्यादेशप्रदेशत्वेऽप्यन्तरात्माऽन्तर्यामीत्येवमाख्यायमानस्य प्रतिप्रा-  
णिवृत्ते घन्दतत्त्वस्याक्षरचिह्नादिभिरिवाऽनयाभूतः रुमवदभिर्भागैर्गोऽय बुद्धेरनुसहार रुमद्यः  
पूर्वपूर्वभागग्राहिणीभि वृद्धिभिर्जनितो य संस्कारस्त उपत्रस्य स्मरणस्य बलादन्त्यवर्णभागग्रहण-  
तुल्यकाल स वाक्यमिति ।"—स्या० २० पृ० ६४६ । (२) तुलना—"भाववाक्यस्य यथोक्तपदानु-  
संहतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोऽभीष्टत्वात् ।"—अष्टसह० पृ० २८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० ।  
(३) "नियत साधने साध्य क्रिया नियतसाधना । स सन्निधानमानेन नियम सन् प्रकाशते ॥—साधन  
साध्यञ्च परस्पर नियतमेव, केवलमाकाङ्क्षादिवशादितरपदार्थसन्निधाने सति नियमः सन्नेव प्रकाशते  
इत्याक्षिप्यपदान्तराणि पदान्येव वाक्यम्, पदार्थश्च वाक्यार्थ इति अब्यतिरिक्त सवातपक्षोऽयम् । "।  
गुणभावेन साकाङ्क्ष तत्र नाम प्रवर्तत । साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते ॥"—वाक्यप० २।४८-  
४९ । (४) तुलना—"एवमाद्यन्तसर्वेषां पृथक् सवातकल्पने । अन्योऽप्यनुग्रहाभावात् पदाना नास्ति  
वाक्यता ॥ आद्य यदि पद सर्वे सन्निश्येत विशपत । ततस्तदेव वाक्य स्यादन्यश्च द्योतको गुण ॥ एव-  
मन्त्यपु सर्वेषु पृथग्भूतेष्वस्थितम् । स्वतन्त्रेषु हि वाक्यत्व कथञ्चिन्नोपलक्षितम् ॥"—मी० श्लो० वाक्या०  
श्लो० ४९-५१ । "इत्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद् भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराका-  
ङ्क्षस्य वाक्यत्वमिदं ।"—अष्टसह० पृ० ३८५ । प्रमेयक० पृ० ४६० । स्या० २० पृ० ६४६ ।  
(५) मीमांसना । "तानपक्ष्य पदार्थान् पार्यगप्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम् । कुत ? प्रमाणाभावात् ।  
न च किञ्चन प्रमाणमस्ति येन प्रमिमोमेहे । न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य पूर्ववर्णजनितसंस्का-  
ररहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽन्तरे वतिनुमिति । पदानि हि स्व स्व पदार्थमभिधाय निवृत्तव्या-  
पाराणि । अवेशनां पदार्था अवगता सन्त वाक्यार्थं गमयन्ति । कथम् ? यत्र हि शुकल इति वा कृष्ण  
इति गुण प्रतीतो भवति, भवति क्षत्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुम् । तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्त  
केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति । सम्प्रत्यत एषा यथा सकल्पितोऽभिप्रायः, भवप्यति विशिष्टार्थसंप्रत्ययः ।  
विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च वाक्यार्थं ।"—शाबरभा० १।१।२५ । "साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।  
यथास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्कले ॥ वाक्यार्थमित्ये तेषां प्रवृत्तो नान्दरीयवम् । पाके  
उवाचव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥"—मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३४२-४३ । "तस्मात्पदाभिहितः  
पदार्थं लक्षणया वाक्यार्थं प्रतिपाद्यते ।"—शाबरदो० पृ० ६०४ । "उस्मात्प्र वाक्य न पदानि साक्षात्  
वाक्यार्थवृद्धिं जनयन्ति किन्तु । पदस्वरूपानिहितं पदार्थं सल्लक्ष्यतस्याविधिं सिद्धमेतत् ॥"—  
श्याम० भा० पृ० १०२ ।

“पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावभावतः ।” [ मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११ ]

“पदार्थपूर्वकस्तस्माद् वाक्यार्थोऽयमस्तिथः ।” [ मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६ ]

इत्यभिधानात्; तैरपि विवक्षितपदानामन्योन्यापेक्षाणां पदान्तरानाकाङ्क्षाणां वाक्यार्थ-  
प्रतिपत्तिहेतुत्वमुच्यते, तद्विपरीतानां वा ? तत्र उत्तरपक्षे अतिप्रसङ्गः । प्रथमपक्षे तु  
अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन अस्मदुक्तवाक्यलक्षणानुसरणमेव ।

किञ्च, वाक्यार्थः पदार्थादन्यः, अतन्यो वा ? यदि अनन्यः, तदा पदार्थ एवासौ  
न वाक्यार्थः । तत्रैव ‘वाक्यार्थः’ इति नामकरणे स्वैकम्बलस्य ‘कूर्दालिका’ इति नामकृतं  
स्यात् । अथान्योऽसौ क्रियाकारकसंसर्गरूपः; ननु तथाभूतोऽसौ किं नित्यः, अनित्यो  
वा ? यद्यनित्यः, किं विवक्षितपदार्थैर्जन्यते, पदार्थान्तरैर्वा ? पदार्थान्तरोत्पाद्यत्वे स्वसि-  
द्धान्तविरोधः । विवक्षितपदार्थोत्पाद्यत्वे त एव उत्पादकाः त एव ज्ञापकाः स्युः, 11  
तत्र च किं पूर्वं ज्ञापयन्ति पश्चादुत्पादयन्ति, किं वा पूर्वमुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति ?  
प्रथमकल्पनायाम् असति वाक्यार्थे भेदे कं ते ज्ञानमुत्पादयेयुः ? उत्पादयता वा, तेपा  
न तज्ज्ञानं प्रमाणम् अविद्यमानविषयत्वात् केशोण्डुकादिज्ञानवत् । अथ असन्त-  
मपि तं कर्तव्यतया ते प्रतिपादयन्ति तेनायमदोषः, ननु किंस्वरूपेयं तत्कर्तव्यता  
नामै-भावरूपा, अभावरूपा, उभयरूपा, अनुभयरूपा व ? यदि भावरूपा, तदा विद्य- 15

(१) “सिद्धान्तमाह-अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न न । पदार्थानां तु मूलत्व इष्टं  
तद्भावभावतः । सत्यं न वाचकं वाक्यं वाक्यार्थस्योपपद्यते ॥ यद्यपि प्रत्येकं पदं सहस्रानि वा साक्षात्  
मूलं तथा जातिं सम्बन्धज्ञानं सावयवनिर्वयवाक्यानि तथापि पदार्थां पदै प्रत्याभिता प्रत्यासप्तपेक्षमा  
योम्यत्वसनाया मूलं भविष्यन्ति, तद्भावे वाक्यार्थप्रत्ययस्य भावादिति । -मी० श्लो० न्याय० वाक्या०  
श्लो० ११०-११ । उद्भूतोऽयम्-सम्मति० टी० पृ० ७४३ । ‘तद्भावभावतः’-प्रमेयक० पृ० ४६१ ।  
(२) अन्योन्यानपेक्षत्वे पदत्वमेव स्यात् वाक्यत्वम्, पदान्तराकाङ्क्षत्वे वाक्याऽपरिसमाप्तिः । (३)  
‘तैरप्यन्धसर्पविलप्रवेश’-प्रमेयक० पृ० ४६१ । (४) तुलना-‘यद्यसौ पदार्थादिभिन्नं तदा पदार्थ एव  
स्यात् वाक्यार्थं तथा च कुत पदार्थगम्यता ? अथ क्रियाकारकसंसर्गरूपं पदार्थादिभन्तरं वाक्यार्थं,  
नन्वसावपि यद्यनित्यं तदा कारकसत्त्वाच्च, पदार्थसत्त्वाच्च वा ?’-सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (५)  
‘स्वैकम्बलस्य कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् । -अद्वैतसह० पृ० ९ । (६) ‘पदार्थोत्पाद्यत्वेऽ-  
पि य एव पदार्थास्तस्योत्पादकास्त एव यदि ज्ञापकाः, तदा पूर्वं किं ज्ञापका उत उत्पादका इति वक्त-  
व्यम् ।’-सम्मति० टी० पृ० ७४२ । (७) विवक्षितपदार्थां । (८) क्रियाकारकसंसर्गम् । ‘भावनैव  
हि वाक्यार्थं सर्वत्राख्यातवतया । अनेकगुणजात्यादिकारकाकार्यादुराज्जता । पदार्थाहितसंस्कारचित्रपिण्ड-  
प्रसूतया । पदार्थपदबुद्धीनां संसर्गस्तदपेक्षया ॥’-मी० श्लो० वाक्य० श्लो० ३३०-३३१ । (९)  
‘कर्तव्यतया ते तं ज्ञापयन्तीति चेत्, तस्यामपि भावाभावोभयानुभयविकल्पाननिक्रमात् ।’-सम्मति०  
टी० पृ० ७४२ । (१०) ‘आद्यविकल्पे तत्कर्तव्यतायां भावस्वभावतया विद्यमानवाक्यार्थविषया चोदना  
स्यात्, तथा च विद्यतोऽप्यन्यत्वं सत्सम्प्रयोगजत्वोपपत्तौ अद्यक्षवत् भावना अर्थविषया स्यात् ।’-  
सम्मति० टी० पृ० ७४२ ।

1 तद्भावतः अ० । 2 कृते अ० । 3-किरूपेयं अ०, अ० । 4 तदा विद्यमानार्थ-अ०,  
तथा विद्यमानार्थ-अ० ।

युगपदुत्पन्नानां तेषां समुदायकल्पना युक्ता; एकपुरुषापेक्षया युगपत्तदुत्पत्तेरेवाऽसंभवात्, प्रतिनियतस्थानकरणप्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम् । न च विभिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयानां समुदायेऽपि अर्थप्रतिपादकत्वं प्रतीयते; प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपत्त्युत्तरकालभावित्वेन शब्दप्रतिपत्तेः प्रतिभासनात् ।

- 5 न च अन्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादे सति अर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णानाम् अन्यवर्णं प्रति अनुप्राहकत्वानुपपत्तेः । तद्वि अन्यवर्णं प्रति जनकत्वं तेषां स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ? न तावज्जनकत्वम्; वर्णाद् वर्णोत्पत्तेरभावात् प्रतिनियतस्थानकरणादिसाध्यत्वात्तस्याः, वर्णाभावेऽपि आद्यवर्णोत्पत्तिप्रतीतेश्च । नापि अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं तेषामन्यवर्णानुप्राहकत्वम्; असतां सहकारित्वस्यैवासंभवात् । यथा च अन्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णाः सहकारित्वं न प्रतिपद्यन्ते तथा तज्जनित-

स्फुटीभवत्यस्मादर्थं इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दायंमुनयया निराहुः ।"—सर्वद० पृ० ३०० । "वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्त्विति । यद्यपि वर्णस्फोट पदस्फोट वाक्यस्फोटः अक्षर-पदवाक्यस्फोटो वर्णपदवाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटाः इत्यप्यो पक्षा सिद्धान्तसिद्धा इति वाक्यग्रहणमनर्थक दुरर्थकञ्च, तथापि वाक्यस्फोटातिरिक्तानामन्येषामप्यवास्तत्वबोधनाय तदुपादनमत एवाह-अतिनिष्कर्ष इति ।"—व्याकरणभू० पृ० २९४ । परमलघु० पृ० २ । "तादृशमध्यमानादव्यङ्ग्य शब्द स्फोटात्मको ब्रह्मरूपः नित्यश्च ।"—परमलघु० पृ० २८ । (१०) "प्रत्येकमप्रत्यायकत्वात् साहित्याभावात् नियतक्रमवर्तिनामयोगपद्येन सम्भूयकारित्वानुपपत्तेः, नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यश्च प्रत्ययादर्शनात् क्रमविपर्यये योगपद्ये च । तस्माद् वर्णव्यतिरेकी वर्णभ्योऽसम्भवत्तर्ह्यप्रत्यय स्वनिमित्तभूपकल्पयति ।"—स्फोटसि० पृ० २८ । "ते खल्वमी वर्णा प्रत्येक वाच्यविषया धियमादधीरन् नागदन्तका इव शिबयाबलम्बनम्, महता वा श्रावाण इव पिठरधारणम् ? न तावत्प्रथम कल्प, एकस्मादर्थप्रतीतेरनुत्पत्ते उत्पत्तौ वा द्वितीयादीनामनुच्चारणप्रसङ्गः । वर्णानां तु योगपद्याभावोऽन, परस्परमनुप्राहानुप्राहकत्वायोगात् समुदायि नार्थधियमादधते ।"—योगभा० तत्त्वद० १।१७ । "वर्णानां प्रत्ययवाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गान् । आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे योगपद्येनोत्पत्त्यभावात् । अनिबन्धितपक्षे तु प्रमणोवाभिब्यक्त्या समुदायाभावात् एकस्मृत्पुषारुडानां वाचकत्वे सरोरस इत्यादौ अर्थप्रतिपत्त्यविद्यप्रसङ्गान् तद्व्यतिरिक्ता स्फोटो नादाभिब्यङ्ग्यो वाचकः ।"—महाभा० प्र० पृ० १६ । "नत्र तावद् गकारादरेकंस्मात्त्र वाच्यधी । उदनि यदि च्दस्ति प्रथमनेव गादिना ॥ वर्णोन्वित्तिनेह गवाद्यपानिधानत । उच्चारणं द्वितीयादिवर्णानां स्यान्निरर्थकम् ॥ तदुच्चारणसामर्थ्यं नैकंस्मात्ततोऽर्थधी । समुदायोऽपि वर्णेषु क्रमज्ञानेष्वसम्भवी । नानावक्तृप्रयुक्तेभ्यो न च सादृश्यनर्थधी । योगपद्यपि वर्णभ्यो नापि क्रमविपर्ययः ।"—स्फोट० न्या० पृ० २ । सर्वद० पृ० २९९ । (१) वर्णानाम् । (२) अनुप्राहकत्वम् । (३) पूर्ववर्णानाम् । (४) वर्णोत्पत्तौ । (५) पूर्ववर्णानाम् । (६) "एव पुनरितं सहायता, यदा न विसर्जनीयसमय वर्णानुरापरलब्धिरस्ति ? कार्यं खलु व्यापारः सहायता, न चासन्नज्ञानी व्यापारिस्ति । स्वभावे च व्यापारस्तदानीमव प्रथमाप्रेक्षानीन्तनव्यापारजनननिमित्तम् ।"—स्फोटसि० पृ० ३३ । "अमता पूर्ववर्णानां तदानीं व्यापारि कथम् । अमतामपि साहाय्यं वर्णानां यदि रिपतः ॥ केचनान्यप्रयोगादपि भवेदवानिधायी ।"—स्फोट० न्या० पृ० ४ । (७) पूर्ववर्णानुत्पत्तिप्रमाणानि ।

संवेदनान्यपि तत्प्रभवसंस्काराश्च; 'तेषामपि तैत्कालेऽसत्त्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, संवेदनप्रभवसंस्काराः स्योत्पादकसंवेदनविषये स्मृतिहेतवः न तु अर्धा-  
न्तरे ज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः । न खलु घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृतिं विदधत्  
दृष्टः । न च तत्संस्कारप्रभवस्मृतीनां तत्सहायता युक्ता; तौसां युगपदुत्पत्त्यभावात्,  
अयुगपदुत्पन्नानाञ्च अविस्थित्यसंभवात् । न च अखिलसंस्कारप्रभवेका स्मृतिः संभवति;  
अन्योन्यविरुद्धानेकार्थानुभवप्रभवसंस्काराणामपि एकस्मृतिजनकत्वप्रसङ्गात् । न च  
अन्यवर्णानपेक्ष एव 'गौः' इत्यत्र अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णोच्चारणवैय-  
र्थ्यानुपज्ञात्, घटशब्दान्त्यव्यवस्थितस्याप्यस्यै ककुदादिमर्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गाच्च ।  
तन्न वर्णाः समस्ता व्यस्ता वा अर्थप्रतिपादकाः संभवन्ति । अस्ति च गवादिशब्दे-  
भ्योऽर्थप्रतीतिः, अतस्तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तः अर्थप्रतीतिहेतुः स्फोटोऽभ्युप-

(१) पूर्ववर्णजनितसंवेदनप्रभवसंस्कारा । "अर्थधीकृत् सस्कारो न तच्छक्तिर्न तज्जधी । न

तस्यापूर्वकल्पस्य कल्पक जनक फलम् ॥"—स्फोटसि० भा० पृ० १८ । (२) पूर्ववर्णजनितज्ञानाना

तत्प्रभवसंस्काराणाञ्च । (३) अन्त्यवर्णकाले । (४) "संस्कारा खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याप्रभाविता ।

विज्ञानहेतवस्तत्र ततोऽर्थे धीर्न कल्पयते ॥ संस्कारा खलु यद्वस्तुपलम्भसभावितात्मान तत्रैव नियतनि-

मित्तलम्भप्रतिबोधा धियमाविर्भावयन्ति नाथान्तरे । न हि जातु गवावग्रहप्रत्ययप्रभावित संस्कारोऽव-

स्मरणमुपकल्पयति ।"—स्फोटसि० पृ० ४४ । "स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु संस्कार इवकारणानुभववि-

षयनियतो न विषयान्तरे प्रत्ययमाधातुमुत्सहते, अन्वया पस्किञ्चिदेवैकमनुभूय सर्वं सर्वं जानीया-

दिति ।"—योगसू० तत्त्ववै० ३।१७ । "पूर्ववर्णग्रहणजसंस्कारसहितादन्यवर्णात्तदर्थधीरिति चेत्, तदपि

न, वस्त्वन्तरग्रहणजस्य संस्कारस्य वस्त्वन्तरज्ञानजनकत्वादर्शनात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १६ । (५)

"नचैकस्मृत्युपासोहात् समुदायस्य संभव । वर्णेषु क्रमबुद्धेषु युगपत्स्मृत्यसंभवात् । संभवेऽपि च तेष्वेव

विपरीतक्रमेष्वपि गकारादिषु विज्ञान गौरित्येक प्रसज्यते ।"—स्फोट० न्या० पृ० १ । "अन्येस्तु सकल-

वर्णोपलब्धिविबन्धननिखिलभावनाबीजजन्मा युगपदखिलवर्णरूपपरामर्शां चरमवर्णप्रत्यक्षोपलब्धिसम-

न्तर स्मरणैकरूपः सङ्गीर्यते, तमसमधिगतात्मसु न युगपदनुस्मरणमित्यपि मिथ्या ।"—स्फोटसि० पृ०

६१ । (६) "न च प्रत्येकवर्णानुभवजनितसंस्कारपिण्डलव्यजन्मस्मृतिदणसमारोहिणो वर्णा समधिगत-

सहभावा वाचका इति साम्प्रतम्, नमात्रमविपरीतरूपानुभूताना तत्राविशेषणार्थधीजननप्रसङ्गात् ।"—

योगसू० तत्त्ववै० पृ० ३२२ । "पूर्वोपलब्धिभेदेऽपि भवेदर्थस्य दर्शनम् । एकोपलब्धो नैतेषा भेद कश्चन

लभ्यते ॥ पूर्वोपलब्धयो हि क्रमविशेषकस्य परिगृहीताभिमतविपरीतानुपूर्वा अक्रमाश्चैकवक्तृप्रयुक्त-

वर्णविषया विपरीताश्च न पश्चाद् भाविन्या समस्तवर्णविभासिन्यामुपलब्ध्वावनुविपरिवर्तमानान् वर्णा-

त्मनो भिन्दन्ति ।"—स्फोटसि० पृ० ६५ । "एव तर्हि सर्वसंस्कारजा सकलवर्णाग्राहिण्येका स्मृतिरर्थ-

धीहेतु, तदपि न, क्रमप्रत्यस्तमयेन जराराजेल्यादावर्णाविशेषप्रसङ्गात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १८ ।

"तुल्यत्वाद् योगपक्षस्य तदा नार्थधियो भिदा । सरोरसनदीदीनजराराजादिषु स्फुरेत् ॥"—स्फोट०

न्या० पृ० १० । (७) "न चान्यवर्णमात्रस्य पुत्र सम्बन्धवेदनम् । अक्षवर्मातिवृत्तत्वाद् संस्कारस्य न

तद्वत् ॥ विदितसङ्गतयो हि शब्दा यथास्वमर्त्यां प्रकाशयन्ति । नचान्यवर्णमात्रमर्थसम्बन्धितया प्रति-

पक्षन्ते पुरस्तात् ।"—स्फोटसि० पृ० १०५ । (८) "गौरश्च इति वा केवलोच्चारणे वा को विसर्जनी-

यस्य भेद यत्कृतोऽर्थभेद प्रत्ययभावाभावा च ।"—स्फोटसि० पृ० ३३ । (९) विसर्जनीयस्य ।



मानरूपार्थगोचरा चोदना प्राप्ता । न च तत्रास्या प्रामाण्यमिष्टम्, अनिष्टसिद्धि-  
प्रसङ्गात् । विद्यमानस्य कर्त्तव्यता च स्ववचनविरुद्धा । अभावरूपतायामपि तदेव  
द्रूपणम्, अस्यापि स्वरूपेणाप्रियमानत्वात् । तद्रूपस्य ररविपाणयत् कर्त्तव्यताविरोधात् ।  
अभावे चोदनाया प्रामाण्यानभ्युपगमाच्च । उभयरूपतापि अनेनैव प्रत्युक्ता । अनुभ-  
यरूपताया तु चोदनाया निर्विषयत्वाद्प्रामाण्यमेव स्यात् । न च अनुभयरूपता एकस्थै-  
कदोषपन्ना, विधिप्रतिषेधधर्मयोरेकतरप्रतिषेधे अन्यतरविधेरवश्यभावितात् । अथ पूर्व-  
मुत्पादयन्ति तदनु ज्ञापयन्ति, तर्हि विद्यमानविषयत्वात् तत्रास्या प्रामाण्यानुपपत्तिः ।  
एतेन निर्व्यवाक्यार्थपक्ष प्रत्युक्त, विद्यमानार्थविषयतया अंप्रामाण्यानुपपन्नाविशेषात् ।

किञ्च, प्रसिद्धे पदे वाक्ये वा पदार्थवाक्यार्थाभिव्यक्तिरन्तु युक्ता, नच तत्  
प्रभिद्धम् । तद्धि वर्णम्यो भिन्नम्, अभिन्न वा स्यात् ? यद्यभिन्नम्, तदा वर्णा एव,  
पदवाक्यद्वयमेव वा । भेदऽपि तद् दृश्यम्, अदृश्य वा ? अदृश्यत्वे ततोऽर्थप्रतीतिर्न  
स्यात् । अज्ञाताज्ञा ( ताज्ञा ) पदार्थप्रतीतायतिप्रसङ्गात्, प्रतीत्यनुपरमानुपपन्नाच्च ।  
नापि दृश्यम्, वर्णव्यतिरिक्तस्य तस्यानुपलम्भात् । नहि देवदत्तादिवर्णेषु तद्व्यतिरिक्त  
निरक्षमेक पद वाक्य 'वोपलभामहे ।

किञ्च, तत् पद वाक्य वा स्वातन्त्र्येण प्रतीयते, वर्णद्वारेण वा ? न तावत् स्वातन्त्र्येण,  
वणाऽश्रावणोऽपि पदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । वर्णद्वारेणापि सावयवस्यास्यै प्रतीति  
स्यात्, निरवयवस्य वा ? सावयवत्वे प्रागुक्तमेव पदवाक्यलक्षणमङ्गीकृतं स्यात्, अन्यो-  
न्यापेक्षाणा वण-पदान्तरानपेक्षाणा कालप्रत्यासत्तिलक्षणस्य समूहस्यैव सावयवपद-  
वाक्यरूपतोपपत्तेः । अथ निरवयवम्, तत्किं समस्तेभ्यो वर्णपदेभ्य प्रतीयते, व्यस्ते  
भ्यो वा ? न तावत्समस्तेभ्य, उच्चरितप्रध्वसिना 'तेषां सामस्त्यासभवात् । नापि  
व्यस्तेभ्य, प्रथमवर्णपदश्रवणकालेपि सकलपदवाक्यप्रतीतिप्रसङ्गत शेषवर्णपदोच्चा-

(१) विद्यमानार्थे । (२) चोदनाया । (३) विद्यमानोपलम्भनत्वेन सत्प्रयोगजत्वापत्त्या  
प्रयक्षात्मेव स्यात् । (४) अभावस्य तुच्छतया कतुमगते 'तनुच्छ वेऽपि स्वेन रूपेण विद्यमानत्वात्  
कनव्यता'मभवात् । नचाभावविषय चोदनाया पर प्रामाण्यमभ्युपगम्यते अभावप्रमाणविषयत्वाच्च  
अभावस्य तद्विषयत्वे चोदनाया अनुवादकत्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गश्च । समन्ति० टी० पृ० ७४७ । (५)  
अभावस्यापि । (६) अविद्यमानस्य । (७) विद्यमानाथविषयत्वेन चोदनाया प्रत्यक्षाद्यवगताथगोचर-  
त्वात् अप्रामाण्यप्रसङ्गे । -समन्ति० टी० पृ० ७४२ । (८) अथ नियो वाक्याथ पदार्थे प्रतिपाद्यते  
नचेव विद्यमानाथगोचरत्वे चोदनाया स्यात् तथा च विकालगून्यकायरूपाथविषयविज्ञानोत्पादिका  
चोदन यभ्युपगमव्याघातः । -समन्ति० टी० पृ० ७४२ । (९) प्रत्यक्षाद्यन्तगतत्वात् अपूर्वाथबोधकत्वा  
भावन प्रामाण्यानुपपत्तिरिति भावः । (१०) पदम् । (११) अज्ञातपदस्य मुत्तमूर्च्छतादेश्चाथप्रतीति  
स्यात् । (१२) अज्ञातनापकान्धप्रतीती हि सायामपि एकपन्नाथप्रतीती अयस्मादज्ञानपदात् पुनरथ  
प्रतीतिप्रसङ्ग इति प्रतीत्यनुपरम् । (१३) पदस्य । (१४) पदस्य वाक्यस्य वा । (१५) वर्णनाम ।

1 अतायातान ज्ञापका-आ० अतावापका-श्र० । 2-दर्थे प्र-व० । 3-तावप्यतिप्र-व० श्र० ।  
4 पदवाक्य श्र० । 5 चोपलभा-व० धोपलभा-श्र० । 6-तीयत व० ।

रणवैयर्थ्यप्रसक्तेः । अथ सकलवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यवर्णबुद्ध्या वाक्यावधारणमिष्यते; नन्वसौ बुद्धिः किं स्मरणम्, उत अध्यक्षम् ? न तावत् स्मरणम्; अंगूहीताऽन्त्यवर्णग्राहकत्वात् । नापि प्रत्यक्षम्; अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात् । अथ पूर्ववर्णस्मरण-अन्त्यवर्णग्रहणाभ्यामेकं विकल्पज्ञानं जन्यते, तेनैवधारणम् ; नन्वेतत् प्रमाणम्, न वा ? प्रमाणञ्चेत् ; किं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्, प्रमाणान्तरं वा ? न तावत् तदन्तरम्; प्रमाणसंख्या-व्याघातप्रसङ्गात् । नापि प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्; तत्रै तर्दन्यतरूपतायाः प्रत्यभिज्ञान-विचारावसरे प्रतिव्यूढत्वात् । अथ कल्पनाज्ञानमेवेदं न प्रमाणम्; कथमतस्तत्त्व-सिद्धिः अतिप्रसङ्गात् ? वाक्यस्य वा काल्पनिकत्वानुपपन्नाद् वास्तवत्वानुपपत्तिः । ततो यथोक्तलक्षणमेव पदं वाक्यं वा अभ्युपगन्तव्यम् तस्यैव प्रसाधितप्रामाण्ये प्रत्यभिज्ञाने प्रतिभासनादिति ।

ननु वर्णपदवाक्यानामर्थप्रतिपादकत्वाभावात् तल्लक्षणप्रणयनमनुपपन्नम्; स्फोट एव हि अर्थप्रतिपादको न वर्णाः । "ते हि समस्ताः, व्यस्ता वा स्फोट एवार्थप्रतिपाद-को न तु वर्णाः इति तत्प्रतिपादकाः स्युः ? यदि व्यस्ताः; तदा एकेनापि वर्णेन गवाद्यर्थ-वैमाकरणादीना पूर्व-प्रतिपत्तेः उत्पादितत्वात् द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यम् । अथ पदः- समस्ताः, तन्न, क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषां सामस्यासंभवात् । न च

(१) पूर्ववर्णबुद्धयंगूहीतस्य अन्त्यवर्णस्य ग्राहकत्वान्नास्य स्मृतिरूपता, पूर्वातुभवानुसारित्वा-त्स्मृते । (२) प्रत्यक्षस्य च विद्यमानार्थग्राहकत्वात् । (३) प्रत्यक्ष । (४) विकल्पज्ञानेन । (५) प्रत्यक्षस्मरणजनितविकल्पज्ञाने प्रत्यभिज्ञानरूपे । (६) प्रत्यक्षाद्यन्यतरूपताया । (७) पू० ४१६ । (८) पूर्ववर्णस्मरण अन्त्यवर्णप्रत्यक्षजनिते । (९) "पद पुनर्नादानुसहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति, वर्णा एकसमयासभवितात्परस्परनिरनुग्रहात्मान् । ते पदमसस्पृश्यानवस्थाप्य आविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । वर्णं पुनरकैक पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचित सहकारिवर्णात्तरप्रतियोगित्वाद् वैश्वरूप्यमिवापक्ष पूर्वश्चोत्तरेण उत्तरश्च पूर्वोण विशेषेऽवस्थापित इत्येव बहुवो वर्णा क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतनावच्छिन्ना इत्यन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारोधारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति, नयेतेपामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणा य एको बुद्धिनि-र्भमिः तत्पद वाचक वाच्यस्य सकेत्यते । तदेक पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रमवर्णं बोद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापित परत्र प्रतिपिपादविषया वर्णैरेवाभिधीयमानं श्रूयमाणंश्च द्योतुं नि-रनादिवाम्ब्यवहारवासनानुचिद्वया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्सप्रतिपत्त्या प्रतीयते ।"—पौषभा० ३ । १७ । तत्त्वब०, भास्वती, पौषभा० ३ । १७ । "नानेकावयव वाक्य पदं वा स्फोटवादिनाम् । निरस्तमेव पद-त्त्वमेतत् ।"—स्फोटसि० का० २९, ३६ । "एकाकारविधया तावद्वर्णभ्योऽभ्यधिक पदम् ।"—स्फोट० भा० पू० १ । गौरिस्वामिपि विज्ञानमेक पदमिति स्फुटम् ।"—स्फोट० न्या० पू० १ । "तत्त्वतस्तु वाक्यमे-वाखण्डमथुराण्डकललवदविभाग मि नार्थप्रतीतिहेतुभूत स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यम् ।"—स्फोटप्र० । "इत्यन्-वयव-प्रत्यस्तमितवर्णपदविभागे वाक्यस्फोट एव श्रेयान् ।"—स्फोटतत्त्वम् । "तस्मादेकवर्णात्मकोऽखण्ड-वाक्यस्फोटो वाचक इति सिद्धम् ।"—स्फोटच० । "वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्द स्फोट इति तद्विदो वदन्ति । अत एव स्फुटघते व्यज्यते वर्णरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति

1-अन्त्यबुद्ध्या जा० । 2-तमं प्र-व० । 3-तमं तत्र व० । 4-वेदमप्र-ध्र० । 5-वास्तव-व० ।

गन्तव्यः, प्रत्यक्षतः तस्यैव अवभासमानत्वात् । विभिन्नतनुषु हि वर्णेषु अभिन्नाकारं श्रोत्रान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यध्यक्ष स्फोटसद्भावमेव अवभासयति । नैहि तद् वर्णविपयम्; वर्णानामन्योन्यव्यावृत्तारूपतया अभिन्नाकारावभासिप्रत्यक्षोत्पादनसामर्थ्यासंभवात् । नापि सामान्यविपयम्; गकारौकारविसर्जनीयेषु वर्णत्वव्यतिरेकेण अपरसामान्यस्याऽसंभवात् । वर्णत्वस्य च प्रतिनियतककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । न चेदं भ्रान्तम्; अवाध्यमानत्वात् । न चावाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटस्य असत्त्वं युक्तम्; अवयविद्रव्यादेरपि असत्त्वप्रसङ्गात् ।

नित्यध्वासौ अभ्युपगन्तव्यः । अनित्यत्वे सङ्केतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणात् ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात् । असङ्के-  
10 तिताच्छब्दात् अर्थप्रतीतरेसंभवात् । सभवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद् गवार्थ-  
प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् सङ्केतकरणवैयर्थ्यं स्यात् । ननु 'देवदत्त गामभ्याज' इत्यादि वाक्य-  
स्फोट अन्तरालेष्वपि शब्दप्रतिपत्तयः संवेद्यन्ते अतस्तत्रापि तावद्वा (द्वा) स्फोटः कल्पनीयः तथा च स्वमतव्याघातः, तस्याऽऽरण्यस्यैकस्य तत्र प्रसिद्धेः; इत्यप्यचोद्यम्; अन्तरालप्रत्ययानां स्फोटाभिव्यक्तिहेतुतया विभिन्नस्फोटायोग्यत्वात् । यथैव हि पुनः पुनः

(१) "तत्र प्रत्यक्ष तावत्प्रसिद्धमेव, गौरित्युच्चारणे सत्येकमेवेदं पदमित्येकाकारविज्ञानोदयात् ।

न चेदं वर्णमात्रविपय भवितुमर्हति, तेपा भिन्नानामभ्रान्तैकाकारज्ञानविपयत्वायोगात् । न चेदं भ्रान्तम्, भ्रान्तिनिमित्ताभावात् ।"—स्फोटसि० भा० पृ० १ । "प्रत्यक्षज्ञाननियता व्यक्ताव्यक्तावभासिता । मानान्तरेषु ग्रहणमथवा नैव हि ग्रह ॥ इन्द्रिय हि व्यक्तावभासिनोऽव्यक्तावभासिनश्च प्रत्ययस्य हेतु यथा दूरद् ग्रहणे सूक्ष्मार्थनिरूपणाय च । लिङ्गशब्दादयस्तु निश्चितात्मान प्रत्ययमुपजनयन्त्येकस्व नैव वा तत्र व्यक्ताव्यक्तग्रहणवृद्धिभेद । अयंश्च शाब्दप्रत्ययावसेय, स्फोटात्मा तु प्रत्यक्षवेदनीय इति निरवद्यम् ।"—स्फोटसि० पृ० १६९ । (२) "न च समुच्चयज्ञानोपारोहिर्वर्णनिबन्धनार्थेदोषाभिप्राय 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति, नापि शब्दजात्यभिप्रायम् । तथाहि—नक्षिता जातिशब्दानां समुदायानुपातिता । जातिमाचक्षते ते हि व्यक्तिर्वा जातिसङ्गता ॥ न तावदिदं शब्दजात्यभिप्रायम् । न शब्दजातितोऽर्थप्रतीति, गवाश्वादिपदेषु तदवशापादभिधेयाविशेषप्रसङ्गात् । नापि शब्दव्यक्त्यभिप्रायम्, तद्भेदात् गोशब्दादित्येकवचनानुपपत्ते ।"—स्फोटसि० पृ० ७३ । (३) "अनादिनिधन शब्द-ब्रह्मतत्त्व यदक्षरम् ।"—वाक्यप० १।१ । (४) "यत प्रत्येकमपि तेष्विकल स्फोटात्मानमभिव्यञ्जयन्ति । न चेतरेनादवैयर्थ्यम्, अभिव्यक्तिभेदात् । तथाहि—पूर्वं ध्वनय अनुपजातभावनाविशेषमनस-प्रतिपत्तु अव्यक्तरूपोपग्राहिणी उत्तरव्यक्तपरिच्छेदोत्पादानुगुणभावनाबीजवापिनी प्रख्या प्रादुर्भावयन्ति, पश्चिमस्तु पुरस्तन्ध्वनिनिबन्धनाव्यक्तपरिच्छेदप्रभावितसकलभावनाबीजसहकारि स्फुटतरविनिविष्टस्फोटबिम्बमिव प्रत्ययनतिव्यक्ततरमूद्भावयन्ति । यथा रत्नपरीक्षेण परीक्षमाणस्य प्रथमसमयाधिगमानुपाख्यातमनुपाख्यरूपप्रत्ययोपाहितसंस्काररूपाहितविद्यपाया वृद्धौ त्रयेण चरमे चेतसि चकास्ति रत्नतत्त्वम् ।"—स्फोटसि० पृ० १२९ । स्फोट० न्या० पृ० २० । स्फोटसि० भा० पृ० २१ । "अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनि स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति, उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुट स्फुटतर स्फुट-तमम् । यथा स्वाध्याय सट्ट् पठ्यमानो नावधार्यते, अभ्यासन तु स्फुटावसाय, यथा वा रत्नतत्त्व प्रथमप्रतीतो स्फुट न चकास्ति चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते ।"—सर्वद० पृ० ३०३ ।

1-पथ्यञ्च स्यात् थ० । २ तावद्वास्फो-थ०, तावस्फो-आ० ।

रुच्यार्थमाणोऽनुवाकप्रन्थः श्लोको वा आवृत्या सुखेनैव अवधारयितुं शक्यते न तु सकृदुच्चरितः प्रतिगताऽऽवृत्तिः, तथैवायं स्फोटलक्षणः शब्दः अन्तरालप्रत्ययैः सत्य-प्रतिभासकल्पैः तद्ग्रहणानुगुणोपायभूतैः अभिव्यज्यते । अन्त्येन हि ध्वनिना सह पूर्वभाविभिर्नादैः आहितसंस्कारायां बुद्धौ अयं स्फुरन्नेव अवधार्यते । उक्तञ्च—

“यथाऽनुनाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति । आवृत्या नंतु स ग्रन्थः प्रेत्यावृत्तिर्निरूप्यते ॥ ४

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा । ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

नादेर्नाहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्ति(त्)परिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥”

[ वाक्यप० १।८३-८५ ] इति ॥ ४ ॥

(१) ऋग्यजु सामसमूह-इत्यमरः । “वेदविशेष इति सूभूतिः”—शब्दकल्पद्रुमः । (२) व्याख्या—“सोढत्वमेकबुद्धिविषयत्वम्, एवं वर्णपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्ण-पदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुन पुनराविभावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति ’ नत्वेतावता आनन्त्य स्फोटा-नाम्, यथावृत्ती न श्लोकाद्यानन्त्यम् । तदेवाह—न तु प्रत्यावृत्त्या स ग्रन्थः श्लोकसमुदायात्मको भेदेन निरूप्यत इत्यर्थः । तत्रास्तपया ध्वनिना सम्यग्बुद्धौ निवेशः । यच्चानुपगृहीतविशेष बुद्ध्यावसन्निविष्टं तावदनुपलब्धमेव । नहि तेन कश्चिदपि व्यवहारः प्रकल्प्यते ।”—वाक्यप० पु० टी० । वाक्यप० वृ० । “अनुवाक इति वैदिक वाक्यम्, सोढत्वमिति सोढुं शक्यत्व बुद्ध्याक्रमणीयता स्वीकार्यत्वम्, येन स्वेच्छ-याऽसौ पठनीयो भवति । आवृत्येति जातावेकवचनम्, आवृत्तिरेकंकापि उपयुज्यते उत्तरीतरविशेषा-धानाय, अन्यथा एकावृत्यैव सोढता स्यादिति । यथा ह्यनुवाक श्लोको वा पुनः पुनरावृत्त्या मुखे-नावधारयितुं शक्यते । न च प्रत्यावृत्तिस्तन ईदृशी बुद्धिरुपजायते यथेदं गृहीतमिदं नेति । अथ चाने-कावृत्ती श्लोकाद्यवभासः स्पष्टः सवेद्यते तथैवायमपि शब्दात्मा पुन पुनरभिव्यक्तस्फोटरूपोऽवधार्यते, न च प्रत्यभिव्यक्तिस्तत्रेदृशी बुद्धिरुपजायते इदं गृहीतमिदं नेति । अथवाऽनेकाभिव्यक्तौ स्फोटावभास स्पष्ट सवेद्यते ।”—स्मा० १० पृ० ६५० । “अनुवाको वैदिक श्लोकस्तु लौकिक, सोढत्व जितत्व वशातामिति यावत्”—स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । (३) ‘प्रत्यावृत्त्या’—वाक्यप०, ‘प्रत्यावृत्ति नि’—वाक्यप० वृ०, स्फोटसि० । प्रकृतपाठ—स्या० १० । ग्यायवि० वि० पृ० ५७६ B. । ‘प्रत्यावृत्ति-निरुच्यते’—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९ । (४) “यथा श्लोक एकदा प्रकाशितोऽवधारितोऽन्यदा प्रकाशने त्ववधारणसहो भवति पुन पुन प्रकाशने त्ववधार्यते । तथा वाक्य पूर्वध्वनिभावानभिव्यक्त-मपि नावधारितम्, तेन पूर्वपूर्ववाक्याभिव्यक्त्याहितैस्तु संस्कारैर्वाक्यावधारणं प्रति प्रत्ययभूतैरन्त्यवर्ण-श्रवणकाले तदवधार्यते, तस्माद्ग्रहणैर्नानुभवताऽऽक्रमस्य वाक्यव्यक्तियुज्यत एव ।”—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३५९ । “व्यक्तरूपग्रहणानुगुणा अनुपाख्येयाकारा (इदं तदिति तस्य बुद्ध्यारूढस्याख्यानुम-दाक्यत्वात्) बहवः उपायभूता प्रत्यया ध्वनिभिः प्रकाश्यमाने शब्दे समुत्पद्यमाना शब्दस्वरूपावग्रह-तवो भवन्ति ।”—वाक्यप० वृ० । (५) ‘ग्रहणानुग्रह’—ध्वन्या० टी० १।१६ । प्रकृतपाठ—स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, स्या० १०, ग्यायवि० वि० । (६) “नादैः शब्दात्मानमवचोत्तयद्भि यथोत्तरोत्कर्षे-णाधीयन्ते व्यक्तपरिच्छेदानुगुणसंस्कारभावनाबीजानि, ततश्चान्त्यो ध्वनिविशेष परिच्छेदसंस्कारभाव-नाबीजवृत्तिलाभप्राप्तयोग्यतापरिपाकाया बुद्धौ उपग्रहेण शब्दस्वरूपाकार सन्निवेश्यति ।”—वाक्यप० वृ० । वाक्यप० पु० टी० । ‘नादैर्द्राहित’—वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०, स्या० १०, ग्यायवि० वि०, सर्वद० । प्रकृतपाठ—तत्त्वसं० पृ० ७२२, प० पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । (७) ‘आवृत्तः

१-वादकप्र-आ० । २ वाक्योच्यते थ० । ३ अन्त्येन व०, थ० । ४ स्फोटत्व-जा०, व०, थ० ।

५ ननु आ०, व० । ६ इति नाहित-थ० ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘स्फोट एव’ इत्यादि; तदसमीक्षिताभिधानम्;

स्फोटनिरसनपुरस्सर पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टाद् अन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरुपपत्तितः स्फोटस्य अर्थ-  
वर्णानामेव अर्थप्रति- प्रतिपादकत्वानुपपत्तेः । न च अभावस्य सहकारित्वं न दृष्टम्;  
पादत्वप्रतिपादनम्— वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्वै-  
र्शनात्, तथा प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्ट कर्म उत्तरसंयोगं कुर्वत् प्रतीतम्, परमाप्व-  
ग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्वत्पूर्वरूपप्रध्वंससहकृतो रक्ततामुत्पादयन् दृष्टः । यद्वा पूर्ववर्ण-  
विज्ञानाभावविशिष्टः तैज्ज्ञानजनितसंस्कारसद्व्यपेक्षो वा अन्त्यो वर्णः अर्थप्रतीत्युत्पादकः ।

परिपाको यस्या इति, परिपाक कार्योत्पादन प्रति विशिष्ट आत्मलाभ”—वाक्यप० वृ० टी० ।  
“आवृत्तोऽभ्यस्त परिपाको यस्या सा तयोक्ता, प्रथमेन ध्वनिना किञ्चिद्भावनावीजमाहितम्,  
तेन च कश्चित्परिपाक कार्यजननशक्तिविशेषः एव द्वितीयेनेति । यद्यपि परिपाका भिन्ना, तथापि  
जानिमाधित्यावृत्तवाचोयुक्ति अष्टकृत्वो ब्राह्मणा भुक्तवन्त इतिवत् । आवृत्तेश्चस्यान्या  
व्याख्या—आवृत्तेन वावृत्त्या कपायपरिपाको यस्यामिति । क्वचित्तु आवृत्तीति पाठः । बुद्धवन्त करणे  
शब्दोऽवधारयते अन्त्येन ध्वनिना सह, यदा अन्त्यो ध्वनिरवधारयते तदा गौरित्येव शब्दोऽवधारयते  
इत्यर्थः ।”—स्फोटसि० टी० पृ० १३२ । ‘आवृत्तपरि’—वाक्यप०, स्फोटसि०, प्रमाणवा० स्ववृ० टी०,  
तत्त्वसं० पृ० ७२२ । सन्मति० टी० पृ० ४३५ । स्फोटत० पृ० ९ । ‘आवृत्तिपरि’—तत्त्वसं० पं०  
पृ० ६३६ । प्रमेयक० पृ० ४५६ । स्या० २० पृ० ६५० । न्यायवि० वि० पृ० ५७६ B. । (८)  
‘शब्दोऽवधारयते’—वाक्यप० । स्फोटसि० । प्रमाणवा० स्ववृ० टी० । तत्त्वसं० पं० । स्या० २० ।  
संब० । प्रकृतपाठ—तत्त्वसं० पृ० ७२२ । प्रमेयक० । सन्मति० टी० । न्यायवि० वि० ।

(१) पृ० ७४५ पं० ११ । (२) तुलना—“अन्ये तु पूर्ववर्णानां तज्ज्ञानानाञ्च अतीतानामप्य-  
न्यवर्णसहकारित्वमन्वयव्यतिरेकोपपत्तेः । तथाहि—वर्तमानस्य कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां विज्ञातम्  
एवमतीतस्यापि । यदि वा पूर्ववर्णविनाशास्तज्ज्ञानप्रध्वंसाश्च समीपवर्तिनोऽन्त्यवर्णसहकारिणः ।”—प्रज्ञा०  
श्लो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । “तत्र पूर्वं वर्णा अतीता अप्युपकरिष्यन्ति, चरमवर्णस्तु वर्तमान  
इतीदृश एवायं काल्पनिक क्रियाक्षणसमूह इव वर्णसमूहोऽर्थप्रत्यायकः ।”—न्यायम० पृ० ३७६ । “अर्थप्र-  
तिपत्तिस्तु उपलभ्यमानात् पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णात् । न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्;  
वृन्तफलसंयोगाभावस्येवाप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने, दृष्टञ्चोत्तरसंयोग विदधत् प्राक्तनसं-  
योगाभावाविशष्ट कर्म, परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्वत्पूर्वरूपप्रध्वंसीवीक्ष्यते रक्ततामुत्पादयन् ।”  
—सन्मति० टी० पृ० ४३३ । (३) सहकारित्वं । (४) परमाणुगतस्वामिरूपः । (५) “यदा  
उपलभ्यमानोऽन्त्यवर्णं पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्ट पदरूपतामासादयन् पदार्थं प्रतिपत्तिं जनयति ।”—  
सन्मति० टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । (६) ‘पूर्ववर्णजनितमस्वारसहितोऽन्त्यो वर्णं  
प्रत्यायकः ।”—शाब्दरत्न० १११।५ । “वाक्यस्यैव सल्लु वर्णोऽव्युत्पत्तमु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति, श्रुत  
वर्णमवमनकं वा पदभावेन प्रतिगन्धते, प्रतिगन्धाय पद व्यवस्थानि । पदव्यवसायन स्मृत्या पदार्थं  
प्रतिगच्छत, पदसमूहप्रतिगन्धान्च वाच्यं व्यवस्थति, सम्बन्धाश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाच्यार्थं प्रति-  
पद्यतः ।”—न्यायभा० ३।२।५० । “अन्त्यवर्णप्रत्ययान् पूर्ववर्णप्रतिगन्धानप्रत्ययापधादर्थप्रत्ययः ।”—  
न्यायवा० पृ० ३१०—१६ । “पूर्ववर्णानुगृहीतस्यान्त्यवर्णस्य स्तानु-भवसहकारिणोऽर्थप्रतिपादकत्वात् ।”—  
प्रज्ञा० श्लो० पृ० ५९५ । “यदा पूर्ववर्णसंस्कारस्मरणस्योत्तरसाधनान्त्यो वर्णं प्रत्यायकः ।”—प्रज्ञा०  
श्लो० पृ० २७० । प्रमेयक० पृ० ४५३ । “शक्तनवर्णसहितमवधस्वारसम्पन्नो वा”—सन्मति० टी० पृ०  
४३३ । “तादृशसंस्कारसहितचरमवर्णालम्बन उद्भवञ्चैवेवोपरतिरिति ।”—मुक्ता० शब्दसं० ।

ननु संस्कारस्य कथं विपर्यान्तरे ज्ञानजनकत्वम् ? इत्यप्यचोद्यम् ; इत्थमेव वाक्यार्थ-  
प्रतीतेरुपलब्धेः । पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च प्रैणालिकया अन्त्यवर्णसहायतां प्रति-  
पद्यते, तथाहि—प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानम्, तेन च संस्कारो जन्यते, ततो द्वितीयवर्ण-  
विज्ञानम्, तेन च पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते, एवं  
तृतीयादावपि योजनीयम्, यावदन्यः संस्कारः अर्थप्रतीतिजनकान्त्यवर्णसहायः । 8  
अथवा, ईन्द्रार्थोपलब्धिनिमित्तादृष्टप्रतिनियमाद् अविनष्टा एव पूर्वसंविदः तत्संस्का-  
राश्च अन्त्यवर्णसंस्कार विदधति । तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वा अन्त्यो

(१) अर्थप्रतीतो । यद्विषयको हि संस्कार तद्विषयमेव स्मृति विदधातीति नियमात् । शब्द-  
विषयकश्च संस्कार शब्दस्मृतिमेव विदधीत ननु अर्थप्रतीतिमिति भावः । तुलना—“यद्यपि स्मृतिहेतुत्व  
संस्कारस्य व्यवस्थितम् । कार्यान्तरेषु सामर्थ्यं न तस्य प्रतिपिष्यते ॥ ननु हेतो कथं कार्यान्तरे सामर्थ्य-  
मत आह—यद्यपि इति । स भवति ह्येकस्याप्यनेकत्र सामर्थ्यं कर्मवत्सयोगविभागयोरिति ।”—मी० श्लो०  
न्याय० पृ० ५३६ । “यत् पदार्थे प्रतीत्यनुगुणतया प्रत्येकमनुभवंराधोयमाना वर्णविषया संस्कारा  
स्मृतिहेतुसंस्कारविलक्षणशक्तय एवाधीयन्ते, तथाभूतानामेव तेषां कार्योणाधिगमात् ”—प्रश० क० पृ०  
२७१ । (२) तुलना—“तथा चैवस्मिन् वर्णे ज्ञाते तेन क्रियते संस्कारः, पुनर्द्वितीयवर्णे ज्ञानम्, तेनापि  
पूर्ववर्णसंस्कारसहकारिणा संस्कार इति क्रमेणान्त्यवर्णज्ञानम्, तस्मात् पूर्वसंस्काराभिव्यक्तावशेषवर्णा-  
नुस्मरणे सत्यन्त्यवर्णार्थप्रतिपत्ति ।”—प्रश० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०  
पृ० ४३३ । “स्मृत्याह्वान्येव सर्वपदानि वाक्यार्थमवगमयिष्यन्ति । तत्र चेय कल्पना वर्णक्रमेण  
तावत् प्रथमपदज्ञानं तत् सकेतस्मरणं संस्कारश्च युगपद् भवत । ज्ञानयोर्हि योगपद्य शास्त्रे प्रतिपिद्ध  
न संस्कारज्ञानयोः । तत् पदार्थज्ञानं तेनापि संस्कारः, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानं तत् सकेतस्मरणं  
पूर्वसंस्कारसहितं च तेन पटुतरं संस्कारं पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं सकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारा-  
पेक्षं पटुतरं संस्कारं, पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं सकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षं पटुतरं संस्कारं  
इत्येव पदज्ञानजनिते पीचरे संस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि संस्कारे स्थिते अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं  
पदसंस्कारात् सर्वपदविषयस्मृतिः, पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति संस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे  
स्मृती भवत । तत्रैवस्या स्मृतावुपाह्वं पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपाह्वं पदार्थसमूहो वाक्यार्थः ।  
अथवा कृतस्मरणकल्पनया अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदपदार्थविषयो मानसोऽनुब्यवसायः शतादि-  
प्रत्ययस्थानीयो भविष्यति । तदुपाह्वानि पदानि वाक्यं तदुपाह्वंश्च पदार्थो वाक्यार्थः ।”—न्याय० पृ०  
३९४-९५ । (३) तुलना—“अन्ये तु शब्दार्थोपभोगप्रापकादृष्टनियमिता पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारा  
पूर्ववर्णेष्वेकस्मरणमारभन्ते तत्सहकारी चान्त्यो वर्णं पदम् । यदि वा संस्कारमेकं विचित्रमारभन्ते  
तस्माच्च पूर्ववर्णेष्वेकस्मरणमिति ।”—प्रश० व्यो० पृ० ५९५ । प्रमेयक० पृ० ४५३ । सन्मति० टी०  
पृ० ४३३ । (४) तुलना—“यद्वा प्रत्यक्षतः पूर्वं नमज्ञातेषु यत्परम् । समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानका-  
रणम् ॥ अन्त्यवर्णोऽपि विज्ञाते पूर्वसंस्कारकारितम् । स्मरणं योगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते ॥ सर्वेषु  
चैवमर्थेषु मानसं सर्ववादिनाम् । इष्टं समुच्चयज्ञानं क्रमज्ञानेषु सत्स्वपि ॥ न चेत्तदाऽभ्युपेयेत रुमदृष्टेषु  
नैव हि । शतादिहप जायेत तत्समुच्चयदर्शनम् ॥ तेन धोत्रमनोभ्यां स्यात् रुमाद्वर्णेषु यद्यपि । पूर्व-  
ज्ञानं परस्तात् युगपत्स्मरणं भवेत् ॥ तदारूढास्ततो वर्णां न दूरेऽर्थावबोधनात् । शब्दार्थमतिस्तेन  
लौकिकैरभिधीयते ।”—मी० श्लो० स्फो० श्लो० १०९, ११२-११६ । तत्त्वसं० का० २७२०-२५ ।

1-अन्ते ज्ञानाहितसंस्कारश्च आ० । 2-वर्णेन ता-आ० । 3-तेन च पूर्ववर्णविज्ञानं तेन  
विशिष्टं संस्कारो व० । 4-यावदन्यसंस्कार-आ० ।

णापनयनम्, तदा एकत्रैकदा आवरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदोषलभ्येत नित्यत्व-  
व्यापित्वाभ्यामपगतावरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोषलभ्यस्वभावत्वात् । अनुपलभ्यस्वभावत्वे  
वा न क्वचित् कदाचित् केनचिदुपलभ्येत । अथ एकदेशेन आवरणापगमः क्रियते;  
नन्वेवम् आवृतानावृतत्वेनास्य साप्रयवत्वसंभवात् कार्यत्वाऽनित्यत्वे स्याताम् । अथ  
अविनिर्भागत्वेन एकत्राऽनावृतोऽसौ सर्वत्राऽनावृतोऽभ्युपगम्यते; तर्हि तदवस्थः  
अशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसङ्गः । यथा च निरवयवत्वात् एकत्राऽनावृतः सर्वत्राऽ-  
नावृतः, तथा एकत्र आवृतः सर्वत्राप्यावृत इति मनानपि नोपलभ्येत । अथ स्फोट-  
विषयसवेदनोत्पादस्तत्सकारः; सोऽप्ययुक्तः; वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्ति-  
जननेऽपि सामर्थ्यासंभवात्, न्यायस्य समानत्वात् ।

अथ मतम्—पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्य आत्मनः अन्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तर  
पदादिस्फोटस्य अभिव्यक्तोरयमदोषः, तदप्यपेशलम्; पदार्थप्रतिपत्तेरप्येव प्रसिद्धेः स्फोट-  
कल्पनानर्थक्यात् । चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्य अर्थप्रकाशनसामर्थ्यासंभवाच्च ।  
स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु, स्फुटति<sup>१</sup> प्रकटीभवति अर्थोऽस्मिन्निति  
स्फोटः चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थ-  
ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोटः, इति भावतः श्रुतज्ञानपरिणतस्य  
आत्मनस्तर्थाभिधानाविरोधात् ।

‘वायनः स्फोटाभिव्यञ्जकाः’ इत्यप्यसुन्दरम्, शब्दाभिव्यक्तिवत् स्फोटाभिव्यक्तेः  
तेभ्योऽनुपपत्तेः । तेषां तद्भवञ्जकत्वे च वर्णकल्पनावैफल्यम्, स्फोटाभिव्यक्तौ अर्थप्रति-  
पत्तौ च र्थमीषामनुपयोगात् ।

एतेन ‘नादेनाहितबीजायाम्’ इत्यादि<sup>२</sup> प्रत्याख्यातम्, नित्यत्वमन्तरेणापि च

(१) स्फोटस्य । (२) स्फोट । (३) “तथैव पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धे स्फोटपरिकल्पनानर्थक्यात् ।  
चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्य स्फोटस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यानुपपत्तेः । स एव चिदात्मा विशिष्टशक्ति  
स्फोटोऽस्तु । स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटचिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोप-  
शमविशिष्टः पदस्फोटः, वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोट इति । प्रकरणा-  
द्विकल्प्यापगतादिरेङ्गप्रविष्टाङ्गवाह्यविकल्प स्फोटः प्रसिद्धो भवति, भावश्रुतज्ञानपरिणतस्मात्मन-  
स्तर्थाभिधानाविरोधात् ।”—मुक्तयन्त्रं टी० पृ० १७ । तत्त्वाधंश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५६ ।  
(४) तुलना—“स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च । वर्णादिभेदे प्रमेण गृह्यमाणा स्फोट व्यञ्ज-  
यन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसो कल्पना स्यात् ।”—ब्रह्म० शा० भा० १।३।२८ । (५) “स्फुट-  
त्यर्थोऽस्मिन् प्रकाश इति स्फोटः”—तत्त्वाधंश्लो० पृ० ४२६ । (६) पदवाचकादिस्फोटरूपेण । (७) ‘वाय-  
नाञ्च व्यञ्जकत्वपरिकल्पनं वर्णवैकल्यप्रसक्तिः ।”—सन्मति० टी० पृ० ४३४ । प्रमेयक० पृ० ४४६ । “न च  
स्फोटमभिव्यञ्जनि ध्वनय अवाद्युपप्रत्यक्षत्वान् गन्धवन् ।”—तत्त्वाधंभा० ध्या० ५।२४ । (८) वर्णानाम् ।  
(९) पृ० ७६९ पं० ७ । (१०) तुलना—‘समस्तवर्णसंस्कारवत्यान्त्यया वृद्धया वाच्यवाच्यारणमित्यपि

१ ‘कशावत्’ नास्ति जा०, थ० । २ नत्वेव जा०, व० । ३ अन्यवर्णं—थ० । ४ स्फोटति थ० ।

अर्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

किञ्च, सिद्धे वर्णोत्पादात् वायूत्पादाद्वा पूर्वं स्फोटसद्भावे वर्णानां वायूनां वा तद्व्यञ्जकत्वं युक्तम्, न चास्य सद्भावः कुतश्चित् प्रमाणात् सिद्धः ।

यदप्युक्तम्—‘प्रत्यक्षतः तस्यैवावभासमानत्वात्’ इत्यादि; तदपि श्रद्धासात्रम्; घंटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्य अध्यक्षगोचरचारितया [S] प्रतीतेः । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादर्थव्यवस्था युक्ता; अन्यथा दूरान्निविडतरुनिकरे अभेदप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात् । अथास्यै वाध्यमानत्यान्नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्; तदन्यत्रापि समानम्, स्फोटप्रतिभासेऽपि अनेकधा बाधकप्रदर्शनात् ।

यवान्यदुक्तम्—‘यथानुवाकः श्लोको वा’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; दृष्टान्तदाष्टी-  
न्तिकयोः वैर्षम्यात् । अनुवाक् (क) ग्रन्थादौ हि प्रत्यक्षतः प्रतीतिः, पुनः पुनरुच्चार्यमाणे चास्मिन् आवृत्त्या अप्रयासेनैवाऽवधारणमनुभूयते, अतस्तत्र तैर्थां तत्कल्पनं युक्तम्, स्फोटस्तु स्वप्नेऽपि न प्रतीयते, अतः कथं तस्य अन्तरालप्रत्ययैर्व्यञ्जयत्वकल्पना ज्यायसी ।

मिथ्या, तस्यावर्णरूपसंस्पर्शिन कस्यचित्कदाचिदप्रतिपत्ते । वर्णानाञ्चाक्रमेणाऽप्रतिपत्ते कुतोऽ-  
क्रममेकवृद्धिग्राह्य नाम । नचान्त्यवर्णप्रतिपत्तेरुर्ध्वमन्यमशकल शब्दात्मानमुपलक्षयाम ।”—  
प्रमाणवा० स्ववृ० १।२५३ ।

(१) “स्थित च स्फोटस्य वर्णोच्चारणात् प्राक् सद्भावे वर्णानां वायूनां वा व्यञ्जकत्व  
परिकल्प्येत । नच तत्सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणादवगतः ।”—सम्प्रति० टी० पृ० ४३४ । प्रमेयक० पृ०  
४५६ । (२) पृ० ७४८ प० १ । (३) “घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरिक्तस्य स्फोटा-  
त्मनोऽर्थप्रत्यायकस्यैकस्य अध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् ”—सम्प्रति० टी० पृ० ४३५ ।  
प्रमेयक० पृ० ४५७ । (४) तुलना—“दूरदेशावस्थितस्य हि विरलपदार्थस्य घनरूपताप्रतीति उत्तर-  
कालभाविबलिष्ठविरलरूपताप्रत्ययेन बाध्यत इति तत्र घनत्वप्रतीतिवशाद् व्यवस्थाप्यमान घनत्व-  
मस्त्ववास्तव क किमाह । वर्णाद्यवयवाभासस्य तु नोत्तरकालिक बाधक किञ्चिच्चेतयाम ।” स्था०  
२० पृ० ६५८ । (५) पृ० ७४९ प० ५ । (६) तुलना—“यतोऽनुवाकश्लोको सावयवो वा स्याता  
निरवयवो वा ? प्रथमपक्षे वैषम्यम् । अनुवाकादौ हि सावयवत्वात् स्फोटोऽस्फुटश्चावभासो युज्यते स्फोटे  
तु निरवयवत्वान्न तौ सभवत इति । अपसिद्धान्तप्रसङ्गश्चास्मिन् पक्षे वैषम्यम्—श्लोकानुवाकयोरपि  
स्फोटरूपत्वेनाभ्युपगतयोर्भेदच्छास्त्रे निरवयवत्वेनाभ्युपगतत्वात् । द्वितीयविकल्पे तु देवदत्त गामभ्याजंति  
वाक्यस्फोटवत् एतावपि पूर्वपूर्वध्वनिजनिताभिव्यक्तिकृतसंस्कारविशेषावन्त्यच्चनिवृद्धौ प्रथमावृत्तावपि  
स्फुटर प्रतिभासेयाताम् ।”—स्था० २० पृ० ६६० । “योऽपि द्वितीयो दृष्टान्त उदाहारि-  
वयानुवाक श्लोको वा प्रथमसंस्थया नृहीतोऽपि संस्थानान्तराभ्यासं स्फुटरपरिच्छिन्नो भवति तथा स्फोटोऽपि प्रथम-  
वर्णव्यक्तो वर्णान्तरैरतिशयिताभिव्यक्तिर्भविष्यतीति, सोऽपि न सदृशो दृष्टान्त श्लोकानुवाकयोर-  
नशत्वानुपपत्ते । केचिदवयवा वर्णात्मान पदात्मानो वा प्रथमाया बुद्धावपरिस्फुरन्त संस्थाभ्यास-  
लघुधातिसायाया तस्या प्रकटीभवन्ति, स्फोटस्तु एकवर्णं इव निरस इति तत्र यो बुद्धेरतिशययोग तस्मा-  
दयमपि न सङ्गतो दृष्टान्तः ।”—न्यायमं० पृ० ३०९ । (७) स्फुटरतमादिरूपेणाभिव्यक्तिकल्पनम् ।

१ पूर्वस्फोट-आ०, व० । २ ‘पुन’ नास्ति आ० । ३ तयावत्कल्प-आ०, तयात्मनस्कल्प-थ० ।

४ प्रतीतोऽत्र व०, थ० ।



वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः । वाक्यार्थप्रतिपत्तावपि अथमेव न्यायो द्रष्टव्यः । वर्णाद्  
वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च सिद्धसाधनमेव । तदेवं यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षा-  
दन्यवर्णाद् अर्थप्रतिपत्तोः अन्यव्यतिरेकाभ्यां निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽनर्थिकैव,  
तदभावेऽपि अर्थप्रतिपत्तोः उक्तप्रकारेण संभवे अन्यथानुपपत्तोः प्रक्षयात् । न खलु

३ दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तौ अदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदि उपलभ्यमाना वर्णा व्यस्ताः समस्ता वा नार्थप्रतिपत्तिजननसमर्थाः,  
तदा स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्थाः स्युः । तथाहि—न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति  
उक्तप्रकारेण तेषां सामस्त्यासंभवात् । नापि व्यस्ताः; वणान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्,  
एकेनैव वर्णेन स्फोटाभिव्यक्तेः कृतत्वात् । न च पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं  
१० तदुच्चारणम् इत्यभिधातव्यम्; तदुच्चारणेऽपि तद्व्यतिपत्तिप्रसक्तोरवश्यम्भावित्वात् ।

“तथाभूतसस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वाऽन्यो वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः ।”—प्रमेयक० पृ० ४५४ ।  
“तस्मात्पूर्ववर्णेषु स्मृतिरप्यज्ञाता अन्त्यवर्णोपोलम्पमानेन सहार्थप्रतिपत्तिमुत्पादयति ।”—सम्मतौ टी०  
पृ० ४३३ । द्रष्टव्यम्—पृ० ७५० टि० ६ ।

(१) “रूपोपलब्धेष्वपि वर्णेषु मानसमनुभवसायरूपमखिलवर्णविषय सङ्कलनाज्ञान यदु-  
जायते तदर्थप्रत्ययनाङ्ग भविष्यति ।”—न्यायमं० पृ० ३७६ । “सत्यपि समस्तवर्णप्रत्ययमर्शं यथा रूमा-  
नुरोधिन्य एव पिपीलिका पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति एव क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति ।  
तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरह्यते । वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्य-  
नुगृहीता गृहीतार्थविशेषसम्बन्धा सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्ययमशिन्या बुद्धौ  
तादृशा एव प्रत्ययवभासमानास्त तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसौ कल्पना ।”—  
ब्रह्म० शां० भा० १।३।२८ । “ते हि पूर्वमनुभूता प्रत्येकमनुभूतताक्रमोपमृष्टाः एकबुद्धिसमारोहिणः  
सकृन्वन्त्यर्थविधयमाधातुम् ।”—भ्यायबा० ता० पृ० ४७०। (२) तुलना—“वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनञ्च  
सिद्धसाधनमेव । तदेव यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्याद्वर्णवर्धप्रतिपत्तिः अन्यव्यतिरेकाभ्यामुप-  
जायमानत्वेन निश्चीयमाना स्फोटपरिकल्पना निरस्यति तदभावेऽप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण संभवेऽन्यथा-  
नुपपत्तेः प्रक्षयात् । नहि दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तावदृष्टतदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अति-  
प्रसङ्गान् ।”—सम्मतौ टी० पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । (३) “यस्यानवयव स्फोटो व्यज्यते  
वर्णबुद्धिभिः । सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवेतेन विमुच्यते ॥ तत्रापि प्रतिवर्णं पदस्फोटो न गम्यते । नचा-  
वयवस्यो व्यक्तिस्तदभावात् चान् धी ॥ प्रत्येकञ्चाप्यज्ञाताना समुदायेऽप्यज्ञाताना ।”—मी० श्लो०  
स्फो० श्लो० ९१-९३ । “न समस्तैरभिव्यज्यते; समुदायानभ्युपगमात् । न व्यस्ते; एकेनैवाभिव्यक्तौ  
नेपोच्चारणव्यर्थप्रसङ्गात् ।”—प्रश० श्लो० पृ० ५९५ । “पदस्फोटो नित्यो निरसः सर्वगतोऽमूर्तः  
किमनभिव्यक्त एवार्थप्रतिपत्तिहेतुरभिव्यक्तो वा ? प्रथमपक्षे वर्णोच्चारणानर्थक्यम् । द्वितीयपक्षे  
तु पदस्फोटोऽभिव्यज्यमान प्रत्येकं वर्णोत्पत्तिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा ?”—पुस्तकानु० टी० पृ० ९६ ।  
तद्वार्थश्लो० पृ० ४२६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । सम्मतौ टी० पृ० ४३३ । (४) वर्णानाम् । (५)  
“वर्णान्तरोच्चारणावपि पदार्थान्तरप्रतिपत्तेरेवानुपपन्नात् । यथाहि गीरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात्  
प्रतीयेत तथा ओकारोच्चारणाद् ओशनस इति पदस्यार्थं प्रतिपद्येत । आद्येन गकारेण गीरिति पदस्येव  
प्रथमोकारेण ओशनस इति पदस्य स्फोटस्य अभिव्यक्तेः । तथा च गीरिति पदादेव गीरोशनस इति  
वाक्यार्थप्रतिपत्तिः प्रगम्येत । सयथो वा स्यात्”—पुस्तकानु० टी० पृ० ९६ । प्रमेयक० पृ० ४५४ ।

१ बुद्धिः संगता ब०, युक्तिः संगता अ० । २ तथा अ०, व० ।

यथाहि गौरिति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात् प्रतीयते तथा औकारोच्चारणाद् औशनस इति पदार्थोऽपि, तथा च गौरिति पदादेव 'गौः' 'औशनसः' इत्यर्थद्वयं प्रतीयते । सशयो वा स्यात्—'किं पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन एरुपदऽस्फोटाभिव्यक्तये गत्रायनेकवर्णो-  
च्चारणम्, क्वा अनेकपदस्फोटाभिव्यक्तये अनेकाद्यवर्णोच्चारणम्' इति । नच पूर्व-  
वर्णैः ऽस्फोटस्य संस्कारे अन्त्यो वर्णस्तस्य व्यञ्जकः इति न वर्णान्तरोच्चारणवेयर्थमित्य-  
भिधातव्यम्; अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तस्य संस्कारस्यैव तत्रानुपपत्तेः । न सल्लु वेगाख्यः  
तत्र तैः संस्कारो विधीयते; मूर्त्तंष्वेव अस्य सभवात् । नापि वासनारूपः; अचेतनत्वात् ।  
स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः । नापि स्थितस्थापकरूपः; अस्यापि  
मूर्त्तद्वयवृत्तित्वात्, स्फोटस्य च अमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।

किञ्च, असौ संस्कारः स्फोट एव, तद्धर्मो वा ? तत्र आद्यविकल्पोऽयुक्तः; स्फोटस्य  
वर्णोत्पाद्यत्वानुपपन्नात् । द्वितीयविकल्पोऽप्यसंभाव्यः; व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पानु-  
पपत्तेः । स्फोटाद्धि तस्य अव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चास्यै  
अनित्यत्वानुपपन्नात् स्वाभ्युपगमक्षतिः । व्यतिरेके तु सैम्बन्धानुपपत्तिः अनुपकारकत्वात्,  
तस्य तदुपकारकत्वे वा तदुपकारस्यापि ततो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पप्रसङ्गः, तत्रापि  
पूर्वोक्तदोषोऽनवस्थाकारी प्रसज्येत । नच व्यतिरिक्तधर्मसद्भावेऽपि स्फोटस्य अनभिव्यक्त-  
स्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं घटते अतिप्रसङ्गात्, तस्यैवागो वाऽनित्यत्वप्रसक्तिः ।

किञ्च, वर्णैः संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियेत, सर्वात्मना वा ?  
यदि एकदेशेन; तदा तद्देशानामपि अतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुपपन्नः ।  
सर्वात्मना संस्कारे तु सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां ततोऽर्थप्रतीतिः स्यात् ।

किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनम्, आवरणापनयनं वा ? यदि आवर-

(१) तुलना—“अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानधारणात् । तथाहि न तावत्तत्र तैर्वेगाख्य  
संस्कारो निर्वर्त्यते तस्य मूर्त्तंष्वेव भावात् । नापि वासनारूप, अचेतनत्वात् ”—सम्मति० टी०  
पृ० ४३३ । प्रमेयक० पृ० ४५४ । (२) स्फोटे । (३) वर्णै । (४) स्फोटस्य अचेतनत्वात् ।  
(५) “किञ्चासीत् संस्कारः स्फोटस्वरूपस्तद्धर्मो वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मति० टी० पृ०  
४३४ । (६) संस्कारस्य । तुलना—“अपि च साऽभिव्यक्ति स्फोटादव्यतिरिक्ता व्यतिरिक्ता वा  
ध्वनिभि क्रियेत ?”—स्या० २० पृ० ६६२ । (७) स्फोटस्य । (८) स्फोटस्यापि संस्कार इति ।  
(९) संस्कारस्य । (१०) स्फोटोपकारकत्वे । (११) संस्कारकृतोपकारस्यापि । (१२) स्फोटात् ।  
(१३) अनभिव्यक्तस्वरूपपरित्यागे । (१४) तुलना—“किञ्च, आद्यो वर्णध्वनि शब्दात्मा सकलस्य  
वा व्यञ्जक स्यादेकदेशस्य वा ? यदि सकलस्य, इतरेषां ध्वनीनामानर्थक्यं स्यात् । अर्थकदेशस्य;  
निरवयवत्वमस्य हीयते ।”—राजवा० ५।२४ । प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मति० टी० पृ० ४३४ ।  
(१५) स्फोटात् । (१६) “किञ्च, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, आवरणापनयन  
वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४५५ । सम्मति० टी० पृ० ४३४ ।

१ यथा गौ—थ० । २ तदा थ० । ३ प्रतीयते आ० । ४ एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ० ।

५ धर्मो वा थ० । ६ स्फोटाद्धेतस्य व० । ७-दोषानवस्था—थ० । ८ वानि—व० ।

किञ्च, वर्णैः तद्बुद्धिभिर्वा व्यङ्ग्यो यदि शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते; तदा प्रदीपादिना तद्बुद्ध्या वा व्यङ्ग्यः प्रदीपादिस्फोटोऽप्यभ्युपगम्यतामविशेषात् । प्रत्यक्षादिविरोधात् तदनभ्युपगमे शब्दस्फोटोऽप्यत एव नाभ्युपगन्तव्यः । बाधकानुमानसद्भावाच्च, तथाहि—न वर्णाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति व्यञ्जकत्वात् । अर्धबुद्धिर्वा वर्णपदवाक्यप्रभवा तद्भावभावित्वात् धूमादेर्धूमध्वजबुद्धिवत् ।

यदि च अर्थप्रतीत्यर्थो वर्णादिव्यतिरिक्तः शब्दस्फोटोऽभ्युपगम्यते तर्हि गन्धादिस्फोटोऽप्यभ्युपगन्तव्यः । यथैव हि शब्दः कृतसङ्केतस्य कचिदर्थं प्रतिपत्तिहेतुः तथा गन्धादिरपि, 'एवंविधं गन्धमाघ्राय स्पर्शञ्च संस्पृश्य रसञ्चास्वाद्य रूपञ्चावलोक्य त्वया एवंविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिणां पुनः कचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः गन्धादिविशेषव्यङ्ग्यः गन्धादिस्फोटोऽस्तु वर्णविशेषव्यङ्ग्यपदादिस्फोटवत् ।

एतेन हस्त-पाद-करण-मात्रि(वृत्)-अङ्गहारस्फोटोऽपि आपादितो द्रष्टव्यः । नचं पदादिस्फोट एव, नतु स्वाययवक्रियाविशेषव्यङ्ग्यो हंसपंक्षमादिः हस्तस्फोटः, विकुट्टितादिलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपः मात्रि(वृ)कास्फोटः, मात्रि(वृ)कासमूहलक्षणः अङ्गहारस्फोटो वा इति वक्तुं युक्तम्; तस्यापि

(१) "वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोट न पदवाचययो । व्यञ्जन्ति व्यञ्जवत्त्वेन यथा दीपप्रभादय ॥ सत्त्वात् घटादिवच्चेति साधनानि यथाहचि । लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितेऽर्थे भवन्ति हि ॥ नार्थस्य वाचक स्फोट वर्णभ्यो व्यतिरेकत । घटादिवत्, न दृष्टन विरोधो धर्मसिद्धित ॥"—मी० श्लो० स्फो० श्लो० १३१-३३ । (२) "वर्णात्वा वाऽर्थधीरेया तज्ज्ञानानन्तरोद्भवा । येदृशी सा तदुत्था हि धूमादेरिव वङ्गिधी ॥"—मी० श्लो० स्फो० श्लो० १३५ । तत्त्वसं० का० २७३१ । (३) "गन्धादिस्फोटस्य तथाभ्युपगमाहंत्वात् । यथैव शब्द वक्तृसंकेतस्य क्वचिदर्थप्रतिपत्तिहेतु तया गन्धादिरपि विशेषाभावात् । एवविधमेव गन्ध समाघ्राय इत्यमेवविधोऽर्थं प्रतिपत्तव्य स्पर्शं स्पृश्य रस वास्वाद्य रूपं वालोक्येत्यन्तर्भूतोद्भूतो भावप्रत्यतव्य इति समयग्राहिणा पुन क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धेः गन्धादिज्ञानाहितमस्कारस्यात्मन तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतो गन्धादिपदस्फोटतोपपत्ते पूर्वगन्धादिविशेषज्ञानाहितमस्कारस्यात्मन अन्त्यगन्धादिविशेषोपलम्भानन्तर गन्धादिविशेषसमुदायगम्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गन्धादिवाक्यस्फोटत्वघटनात् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ । प्रमेयक० पृ० ४५७ । (४) हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत् ।"—नाट्यशा० ४।३० । (५) 'द्वे नृतकरणे चैव भवतो नृतमातृका । नृतस्य अङ्गहारस्यात्मनो मातृका उत्पत्तिकारणम् ।"—नाट्यशा० ४।३१ । (६) "अङ्गाना देशान्तरे समुचिते प्रापणप्रकारोऽङ्गहार हरस्य चाय हार प्रयोग, अङ्गनिर्वर्त्यं हार अङ्गहार । स्थिरहस्तादिभेदेन द्वात्रिंशद्विधः । द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिर्वाप्यङ्गहारस्तु मातृभि ॥ त्रिभि कलापक चैव चतुर्भिर्मण्डक भवेत् ॥ पञ्चैव करणानि स्यु सङ्घातक इति स्मृतः ॥ पद्भिर्वा सन्नभिर्वापि अष्टभि नवभिस्तथा । करणैरिह मयुस्ता अङ्गहारा प्रकीर्तिता ॥"—नाट्यशा० ४।३१-३३ । (७) "पदादिस्फोट एव घटते न पुन स्वाययवक्रियाविशेषाभिर्व्यङ्ग्य हंसपंक्षमादिहस्तस्फोट स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतुरिति स्वल्पमतिसन्दर्शनमात्रम् । एतन विकुट्टितादि पादस्फोट हस्तपादसमायोगलक्षण करणस्फोटः करणद्वयरूपमात्रिकाद्यह्यलक्षण अङ्गहारादिस्फोटश्च न घटते इति यदन्ननभिधेयवचन प्रतिपादितो बोद्धव्यः, तस्यापि स्वस्वाययवक्रियाविशेषस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरभावयनिराकरणत् ।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४२७ ।

स्यैस्वाचयवाभिन्वङ्गस्य स्वाभिनेयार्थप्रतीतिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात् । तन्निराकरणे वा शब्दस्फोटामहाभिनिवेशो दूरतः परित्याज्यः, आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात् । ततः स्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्य अनुपपद्यमानत्वात् नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिवन्धनं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यः, किन्तु गवादिशब्दास्तन्नियन्धनं प्रतिपत्तव्या इति ।

नन्वस्तु तेषां तन्नियन्धनत्वम्; किन्तु संस्कृतानामेव न प्राकृतानाम्, तेषामसा-  
सङ्गतशब्दा एव ध्रुत्वात् । व्याकरणसिद्धा एव हि गवादयः शब्दाः साधवैः, अत-  
साधवोऽर्थवाचकाश्च स्तेषामेव अर्थवाचकत्वमुपपन्नं न पुनः गव्यादीनाम्, तेषां तदभावात् ।  
न तु अप्रशस्त इति मीमांसक-वेद्या-  
रणादीनां पूर्वपक्ष - च्छब्दव्यवहारे हि अनन्यथासिद्धाभ्यामन्यव्यतिरेकाभ्यां वाच्यया-  
चकभावोऽप्यर्थयते, तौ च यदि एकस्य गोशब्दस्य एकत्र गोत्वलक्ष-

(१) "अथ पुनरेकमेवानवयव वाचयम्; तत्र-एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्म त्रमसो गत्यसम्भवात् । कालभेद एव न युज्यते । न ह्येकस्य त्रमेण प्रतिपत्तिर्मुक्ता, गृहीतागृहीतयोरभेदात् । त्रमेण च वाच्यप्रतिपत्तिर्दृष्टा, सर्ववाक्याव्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्ते वर्णरूपास-  
स्पशिनश्चैकबुद्धिप्रतिभासित शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात् वर्णानुक्रमप्रतीते । तदविशेषेऽप्यनुक्रमवृत्तत्वा-  
द्वाक्यस्य अनुक्रमवती वाच्यप्रतीति, वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे त्र्यंथावयवत्रिप्रयुक्तरपि यत्किञ्चि-  
द्वाक्य प्रतीयेत विनार्थं वा वर्णे । तत्रनुक्रमवद्भिरक्रमस्योपकारायोगात् । अक्रमेण च व्यवहृतुमश-  
क्यत्वात् । गत्यन्तराभावाच्च ।"-प्रमाणवा० स्व० ११२५३ । (२) "एकः शब्द सम्यग्ज्ञात शास्त्रान्वित सुप्रयुक्तः स्वर्गं लोके कामधुग्भवति ।"-पात० महाभा० ६।१।८४ । "तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित्तवै नापभापितवै, म्लेच्छो ह वा एष अपशब्द ।"-पात० महाभा० ११२५० । (३) "यदि तावच्छब्दोपदेशः त्रियते, गौरित्येतस्मिन्पदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽशब्दा इति ।"-पात० महा० ११३।२७ । "तस्माद् यमभियुक्ता उपदिशन्त्येव एव साधुरिति साधुरित्यवगन्तव्य ।"-शाब-  
रभा० १।३।२७ । "दिष्टेभ्य आगमात्सिद्धा साधवो धर्मसाधनम् । अर्धप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्व-  
साधव ।"-वाच्यप० १।२७ । "शब्दस्य तत्त्वमवैकल्यमनपगतसंस्कार साधुस्वरूपम् । अन्ये तु तत्रप्र-  
युक्षया प्रयुज्यमाना विवला स्वरुपभ्रशा ।"-वाच्यप० स्व० १।१३ । "स साधुर्यस्य व्याकरणावगत संस्कारोऽविकल । तादृिकलास्त्वपभ्रशा इति ।"-वाच्यप० पु० टी० १।१३ । "तस्मात्प्र लोकवेदाभ्या कश्चिद् व्याकरणादुते । वाचकाननपभ्रष्टान् यथावज्ञातुमर्हति ।"-तन्त्रवा० पु० २७८ । "तथा व्याकरणाख्येन साधुरूप नियम्यते । अविशेषेण सिद्धिः स्याद्विना व्याकरणस्मृते ॥"-तन्त्रवा० पु० २८७ । "व्याकरणलक्षणानुगमविशेषित्वे वाचकत्व साधुत्वम् ।"-न्यायप० पु० ४२३ । "अभियुक्तत-  
मैरिन्द्राणिनिप्रभृतिभि साधुत्वेनाविगानत स्मर्यंते स साधुरितोऽसाधुरिति निश्चीयते ।"-न्यायवा० पु० ७।१४ । "साधुत्व नाम कश्चिदर्थविशेषे स्वाभाविकप्रतिपादनशक्तियोगिन शब्दस्य विलक्षण रूपम् । तन्न च प्रकृतिप्रत्ययादिद्वारेण व्याकरणस्मृत्या यस्य प्रतिपाद्यते तस्यैव व्याकरणस्मृतिसङ्कृतेन शोभप्रत्येक्षण असाधुशब्दव्यावृत्त साधुत्वरूप स्फुटतरमध्यतनैस्तावत्प्रतीयत एव ।"-तीता० पु० १२८ । "गवादय एव साधवो न गाव्यादय इति साधुस्वरूपनियमः ।"-शास्त्रदी० १।३।२७ । "साधुनेव प्रयुञ्जीत गवाद्या एव साधवः । इत्यस्ति नियम पूर्वपूर्वव्यावृत्तिमूलतः ॥"-जैमिनि-पा० १।३।२७ । "इत्यञ्च संस्कृते एव शक्तिसिद्धौ शक्यसम्बन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात्सत्त्व साधुत्वम् । वस्तुतो वृत्तिमत्त्व न साधुत्वम्" किन्तु व्याकरणनिष्पाद्यत्वम् । यत्र य शब्दो व्याकरणे व्युत्पादित स तत्र साधु ।"-वैवाकरणभू० पु० ७४९ । "अनपभ्रष्टतानादिव्यंताऽभ्युदययोपता । व्यात्रिषा व्यञ्जनीया

णेऽर्थे शक्तिं कल्पयित्वा उपपन्नौ तदा न द्वितीयस्य गावीशब्दस्य तत्रार्थे तौ शक्तिं कल्पयतः । अनुपपन्नस्या हि तयोः कल्पकत्वम्; यश्च येन विना आत्मानं न लभते स तेन विनाऽनुपपन्नः स्योपपत्तये तं कल्पयति, यत्पुनः येन विनाप्युपपद्यते न तत् तं कल्पयति अनुपपत्तेः कल्पिकायाः क्षीणत्वात् ।

न च गावीशब्दादपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिसंभवात् कथन्न वाचकत्वमित्यभिधातव्यम्; अन्वयव्यतिरेकयोस्तत्र अन्यथासिद्धत्वात् । अवाचकस्यापि हि गावीशब्दस्य वाचकगोशब्दस्मृतिद्वारेण अर्थप्रतिपत्तौ अन्वयव्यतिरेकौ घटेते । दृश्यते च असाधुशब्दप्रयोगे साधुशब्दस्मरणार्थप्रतिपत्तिः, यथा आमन्त्रणे 'अम्ब' वा जातिं नापीह साधुतेति ।"—शब्दको० पृ० २५। (४) "गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादय अपभ्रशा ।"—पात० महा० पस्पशा० ।

(१) "सामर्थ्यं सर्वभावानामर्थापत्त्यावगम्यते । एकसामर्थ्यसिद्धेऽर्थे नानेक तच्च लभ्यते ॥ नाम च व्यवहारार्थमर्थस्याभ्युपगम्यते । तेनेकेनैव सिद्धेऽर्थे द्वितीयादि च निष्कलम् ॥"—तन्त्रवा० पृ० १।३।२६ । 'किंच, वाचकशक्तिर्नाम सूक्ष्मा परमार्थापत्तिमात्रशरणावगमा न तन्मन्दायामन्यत कुतश्चिदवगन्तुं पार्यते । सा चैयमन्ययाप्युपपद्यमाना गवादिभ्योऽर्थप्रत्ययादिव्यवहारे मन्दीभवति तेषु शक्तिंकल्पनायामर्थापत्ति एवं गवादय एव वाचकशक्तेराश्रयः न गाव्यादय ।"—न्यायम० पृ० ४२१ । "अत्र च सस्कृतस्य सर्वदेशे एकत्वात्तत्रैव शक्ति, भाषाणाञ्च प्रतिदेश भिन्नत्वात् सस्कृतैः सह पर्यायतापत्तश्च न शक्ति ।"—व्याकरणभू० पृ० २४८ । "एकत्र शक्तचाप्यन्यत्र तदारोपात्तदर्थप्रतीत्युपपत्तावेकत्रैव शक्तिर्लाभवात्, अनन्यलभ्यस्त्वं शब्दार्थत्वात् । सा च शक्तिः सस्कृत एव सर्वदेशे तस्यैकत्वात् ।"—तत्त्वचि० शब्द० पृ० ६४१ । (२) अन्वयव्यतिरेको । (३) गावीशब्दे । (४) "अथ यदुक्तम्—अर्थोऽवगम्यते गाव्यादिभ्य, अत एवामप्यनादिरर्थेन सम्बन्ध इति । तदशक्तिरेषा गम्यते । गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचिदशक्त्या गावीत्युच्चारितम्, अपरेण ज्ञात सास्नादिमानस्य विवक्षितस्तदथ गौरित्युच्चारयितुकामो गावीत्युच्चारयति । तत शिक्षित्वाऽपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते गावीत्युच्चारयन्ति । तेन गाव्यादिभ्य सास्नादिमानवगम्यते । अनुरूपो हि गाव्यादिर्गोशब्दस्य । एव गाव्यादिदशनाद् गोशब्दस्मरणं तत सास्नादिमानवगम्यते ।"—शाबरभा० १।३।२८-२९ । "यथा गौरित्यस्य पदस्यार्थे गावीति प्रयुज्यमानं पदं ककुदादिमन्तर्धं प्रतिपादयतीति । न च शब्दान्वाख्यानं व्यर्थम्, अनेन शब्देन गोशब्दमेवादी प्रतिपद्यते गोशब्दात् ककुदादिमन्तमर्थम् ।"—न्यायवा० पृ० ५५६ । "ते तु वर्णसारूप्यच्छायया गवादिशब्दस्मृतिमादधानाः तदर्थप्रतिपत्तिहेतुतामुपगच्छन्ति ।"—न्यायम० पृ० ४२१ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । तत्त्वचि० शब्द० पृ० ६४३ । "न चापभ्रशानामवाचकतया कथमर्थावबोध इति वाच्यम्, शक्तिभ्रमवता वाधकाभावात् । विशेषदर्शिनस्तु द्विविधा—तत्तद्वाचकसस्कृतविशेषज्ञानवन्त तद्विकलाश्च । तत्र आद्याना साधुस्मरणद्वारा अर्थबोधः । द्वितीयाना तु बोध्यार्थसम्बन्धावर्थात्तत्वाचकस्य स्मृतौ सत्या ततो लक्षणया बोधः । सर्वेनामस्मृतेर्वा, तदर्थज्ञापकत्वेन रूपेण साधुस्मृतेर्वा, अर्थाध्याहारपक्षाश्रयणाद्वा यथायथ बोध्यम् ।"—शब्दको० पृ० ३२ । (५) "अस्त्वगोण्यादय शब्दा साधवो विपयान्तरे । निमित्तभदात्सर्वत्र साधुत्वञ्च अवस्थितम् ॥ ते साधुत्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः । तादात्म्यमुपगम्येव शब्दाधस्य प्रकाशकः ॥ न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः । ते यत स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकः ॥ अम्बाम्बेति यथा वाक शिक्षमाणः प्रभापते । अव्यक्तं तद्विदा तेन व्यक्ते भवति निश्चयः ॥ एव साधो प्रयोक्त्वाम्बे योऽपभ्रशं प्रयुज्यते । तेन साधुव्यवहितं कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥"—

इति विवक्षायां स्थानकरणप्रयत्नवेकल्यात् प्रमादाद्वा तमुच्चारयितुमसमर्थः अन्विति  
 वालोऽपभापते । अन्वा च तच्छब्दश्रवणानन्तरं प्रवर्त्तमाना एवं मन्यते—अनेन वालेन  
 'अन्व' इति शब्दविवक्षायाम् अन्विति तंस्थाने समुच्चारितमिति अन्वितिशब्दादसा-  
 धुभूताद् 'अन्व' इति मूलशब्दं साधुभूतं स्मृत्वा प्रवर्त्तते । तथा, रण्ड (पण्ड) शब्दे समु-  
 च्चारयितव्ये विवक्षिते प्राच्यानां संदशब्दोच्चारणं दृश्यते । व्यवहर्त्ता तद्वाक्यश्रव- 5  
 णानन्तरं प्रवर्त्तमानः अनेन मूलशब्दोच्चिचारयिषया अज्ञप्त्या प्रमादेन वा अयं संद-  
 शब्दः समुच्चारितः इति सदशब्दात् पदशब्दं स्मृत्वा ततोऽर्थं प्रतिपद्य प्रवर्त्तते ।  
 एवं गावीशब्दादसाधुरूपान् मूलभूतं साधुरूपं गोशब्दं स्मृत्वा व्यवहर्त्ता ततोऽर्थं प्रति-  
 पद्यते इति, अन्वयव्यतिरेकयोरत्र अन्यथासिद्धत्वात् न वाचकत्वावधारणक्षमत्वम् ।  
 यत्रैव हि निश्चितौ तौ तत्रैव वाचकत्वनियममवबोधयतः । न च गावीशब्दस्य उक्त- 10  
 प्रकारेण तौ निश्चितौ, अतो न तन्नियममवबोधयतः । गोशब्दस्य तु उभयवादि-  
 सम्प्रतिपन्नत्वेन तौ निश्चितौ, अतोऽप्यैव गौत्वप्रतिपत्तौ वाचकत्वनियमोऽवकर्त्तव्यते ।  
 सर्वदेशकालपुरुषपुराणवेदादिषु गोशब्दस्य एकरूपतया व्यवहारकारकत्वेन प्रतीयमान-  
 त्वाच्च अर्यैव व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य वाचकत्वनियमो युक्तः न तु गावीशब्दस्य,  
 अस्य नियतदेशादावेव व्यवहारहेतुतया प्रतीयमानत्वात् । न खलु ये देशान्तरादिप्रभवा 15  
 गाव्यादिशब्देऽप्यनुगृहीतसम्बन्धा तेषां ते<sup>३</sup>व्यवहारं प्रसाधयन्ति । अतः अवगतप्रमाण-  
 भावेन व्याकरणेन ये अनुशिष्टा गवादयः शब्दाः त एव साधवः सिद्धा न तु गौव्यादयः ।

तत्रैव वाचकत्वनियमावगतेश्च गवादिशब्दानामेव साधुत्वम्, तथाहि—  
 'गामानय' इत्युक्ते सास्नादिमन्त्रविशिष्टार्थानयनप्रतिपत्तिर्भवति<sup>१</sup> । तत्र च यथा  
 'गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थो वाच्यः' इत्यवधार्यते, तथा 'गोशब्दस्यैव अयमर्थः' इति 20  
 नियमोऽप्यवधार्यते । अवगतश्च नियमः अन्यस्य वाचकत्वं वाधते ।

अस्तु वा नाम गवादीनामेव वाचकत्वावधारणम्, तथापि वृद्धव्यवहारादेव  
 तेषां तद् भविष्यति, अतस्तत्साधुत्वसमर्थनाय व्याकरणारम्भो व्यर्थः; इत्यसमीचीनम्;  
 व्याकरणनिरपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव सकलशब्दानां वाचकत्वस्य अवधारयितुमशक्य-  
 त्वाद् । अनन्तो हि शब्दराशिः, तस्य अनन्तेनापि कालेन प्रतिपदं वृद्धव्यवहाराद् 25

वाच्यप० १।१४९-५३ । 'गाव्यादिशब्दानां पुनश्चचारणासामर्थ्यतो मूलशब्दादपभ्रशानां विवक्षितेषु  
 मूलशब्दानुसारेणार्थप्रतिपादकत्वम्, अविवक्षितेषु तु वाचकभ्रान्त्यंवेति ।"—तीता० पृ० १३० । भाट्टचि०  
 पृ० ९५ ।

(१) सर्वे देशान्तरे । 'सर्वे खलु एते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ।"—पात० महा० पक्षशा० ।

(२) पुरुषाणाम् । (३) गाव्यादयः शब्दा । (४) वाचकत्वावधारणम् ।

१ अन्विति वा० । २ तत्र स्थाने व० । ३ गोशब्दत्वप्रति-श्र० । ४-स्पते आ०, व० । ५ ना  
 तु आ० । ६ गव्या-व० । ७-तीति तत्र थ० । ८ अस्तु नाम व०, थ० । ९-निरपेक्षे वृ-श्र० ।

वाचकत्वं गृहीतुमशक्यम् । व्याकरणेन तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षितानां  
 स्वरूपप्रयत्नेन सर्वेषामपि शब्दानां वाचकत्वमवबोधुं शक्यमेव । अतो व्याकरणादेव  
 तेषां साधुत्वावगमः । तथाहि—“कर्मयय्या” [ पाणिनि० ३।२।१ ] इत्येकेनैव सूत्रेण  
 कुम्भकार-काण्डलाव-वेदाध्यायादयः शब्दाः बहवः साधुत्वेन लक्ष्यन्ते । अतो व्या-  
 5 करणानुगृहीतलोकव्यवहारात् सुखेनैव साधुत्वमवधारयितुं शक्यते इत्यस्ति व्याकरण-  
 स्योपयोगः । ननु चार्थप्रमाणत्वात् कथं ततः केपाश्चिच्छब्दानां साधुत्वमवधार-  
 यितुमुचितम्; इत्यप्यसम्प्रतम्; तदप्रामाण्ये कर्मकर्त्रादिकारकाणां सम्प्रत्ययप्रसङ्गात् ।  
 न खलु व्याकरणमन्तरेण प्रकृति-प्रत्ययविभागद्वारेण कर्मकर्त्रादिकारकाणां नैयत्येन प्रति-  
 पत्तिर्घटते, तन्नैयत्यहेतोः न्यस्याऽसंभवात् । अतस्तन्नैयत्यमुपलभ्यमानं स्वरूपव्यवस्थानि-  
 10 मित्तं व्याकरणमेव व्यवस्थापयति ।

तथा व्याकरणाप्रामाण्ये लोकशास्त्रविरोधः । तत्र लोकविरोधस्तावत्—संकल-  
 शिष्टानां तत्रामाण्यस्य अभीष्टत्वात् । शास्त्रविरोधोऽपि तदप्रामाण्ये सकलशास्त्रोच्छेद-  
 प्रसङ्गात् । सकलान्यपि हि शास्त्राणि नियतभाषात्मकानि, नियमस्य च व्याकरणाधीन-  
 त्वात् कथं तदप्रामाण्ये तदुपपत्तिः ? शास्त्रप्रामाण्यमनभ्युपगच्छताऽपि परप्रत्यायनाय  
 15 साधनदूषणप्रयोगः तत्रामाण्यप्रसाधनोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः । तदनभ्युपगमे स्वरूप-  
 पक्षसाधनदूषणप्रपञ्चप्रत्यस्तमयप्रसङ्गात्, केवलैर्मनोविकल्पैः अङ्गसंज्ञाभिर्वा परप्रत्या-  
 यनानुपपत्तेः । तस्मादुक्तदोष परिजिहीर्षता न व्याकरणप्रामाण्यमपह्वनीयम्, इति  
 सिद्धं तर्त्साधुत्वप्रसाधनायास्य प्रामाण्यम् ।

ननु साधुत्वस्य शब्दानां कुतश्चित् प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं तत्रसाधनाय व्याक-

(१) “रक्षोहागमलध्वसन्देहा प्रयोजनम् । लघ्वर्थं चाध्येय व्याकरणम् ब्राह्मणेनावश्य शब्दा  
 ज्ञया इति । न चान्तरेण व्याकरण लघुनोपायेन शब्दा शक्या ज्ञातुम् । किञ्चित्सामान्यविशेषवलक्षण  
 प्रवर्त्यम्, यनाल्पेन प्रयत्नेन महतो महत शब्दोपात्तं प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गपवादो । कश्चि-  
 दुत्सर्गे कतेत्य कश्चिदपवादः । सामान्यनोत्सर्गः कतेत्य तद्यथा कर्मण्यम् । तस्य विशेषेणपवादः,  
 तद्यथा आनोऽनुपसर्गे क ।”—पात० महा० पल्पशा० । “प्रकृत्यादिविभागकल्पनया सामान्यविशेषवता  
 लक्षणेन ॥”—वाशिका० पृ० १ । “तत्र सामान्यवता लक्षणेन प्रकृत्यादिविभागपरिकल्पनया कुम्भकार  
 काण्डलाव शरलाव इत्येवमादिक महान् शब्दोप प्रतिपद्यते । विशेषवता तु पाणिनिं मोद कम्बलद  
 इत्येवमादिकम् ।”—न्यास० पृ० ६ । सर्वद० पाणिनि० । (२) “लोकव्याकरणाभ्यां हि मिथ्याभ्याम-  
 विप्लुनवाचकसिद्धिरिति ।”—तन्त्रवा० १।३।२७ । (३) व्याकरणस्य । (४) “नचान्तरेण व्याकरण  
 कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् ।”—पात० महा० पल्पशा० । “तत्त्वावबोधेन शब्दानां नास्ति व्याकर-  
 णादृते ।”—वाशप० १।१३ । (५) “सर्वपापं दत्वाच्च शब्दानुशासनस्य ।”—हंस० बृह० पृ० २ ।  
 (६) “मासूत्रज्ञानविषया मेषा व्याकरणस्मृतिः । अविच्छेदेन शिष्टानामिद स्मृतिनिबन्धनम् ॥”—  
 वाशप० १।१४३ ।

रणस्य प्रामाण्यम् ? इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; प्रत्यक्षत एव तत्साधुत्वप्रसिद्धेः ।  
 तथाहि—व्याकरणसंस्कृतमतेः 'श्रोत्रप्रत्यक्षे वर्णस्वरूपवत् तत्साधुत्वमवभासते, व्याकर-  
 णानुशिष्टेषु शब्देषु उच्चार्यमाणेषु 'साधुभिरयं भाषते' इति प्रतीतिसद्भावात्, अन्यथा  
 चोच्चार्यमाणेषु 'असाधुभिरयं भाषते पापः अपशब्दान् करोति' इति प्रत्ययप्रतीतेः  
 प्रत्यक्षत एव साधुत्वासाधुत्वविभागोऽवसीयते । अथोच्यते—यदि वर्णस्वरूपातिरिक्तं  
 साधुत्वं स्यात् तर्हि व्याकरणसंस्कारात्पूर्वं वर्णस्वरूपवत् तदपि प्रतिभासेत, तद्वति-  
 भासकारणस्य श्रोत्रसम्बन्धस्य प्रागपि सद्भावात्; तदप्युक्तिमात्रम्; व्याकरणसंस्कारा-  
 पेक्षस्य श्रोत्रस्य पूर्वमभावात्, कारणाभावे च कार्याभावस्य उपपन्नत्वात् । वर्णस्वरूप-  
 प्रहणे हि श्रोत्रस्य केवलस्यापि सामर्थ्यम्, साधुत्वप्रहणे तु व्याकरणसहकृतस्यैव । यथा  
 रत्नादिभेदानां तच्छास्त्रसंस्कारसहायं चक्षुः प्रहणे समर्थम् न तद्रहितम् ।

ननु शब्दराशेरपर्यन्ततया प्रत्यक्षगोचरत्वात् कथं ततः तत्साधुत्वसिद्धिः ?  
 इत्यप्यसुन्दरम्, तैदगोचरस्यास्य अनुमानात् साधुत्वं प्रसिद्धेः, तथाहि—अदृश्यमानप्रयोगाः  
 शब्दाः साधवः व्याकरणानुशिष्टत्वात् परिदृश्यमानगवादिशब्दवत् । तथा "साधुभि-  
 र्भाषितव्यम्" [ ] तस्मादेपा संस्कृता वागुचते" [ तंति० ६।४।७ (?) ] इत्येवमा-  
 दिना आगमेनापि साधुत्वं प्रसाध्यते । तथा उपमानेनापि साधुत्वमवगम्यते; तथाहि-  
 सूत्रकार-भाष्यकार-वार्तिककारादिभिः प्रयुक्ता यथा साधवः शब्दाः तथा तत्रार्थैरन्यैरपि  
 प्रयुक्ताः साधव एवेति । तथा अर्थापत्त्यापि; अनाद्यनन्ताऽनन्यथासिद्धान्वयव्यति-  
 रेकतोऽर्थप्रतीतिसाधनत्वान्यथानुपपत्तिलक्षणया शब्दानां साधुत्वमवसीयते इति ॥छ॥

(१) "साधुत्वमिन्द्रियग्राह्य लिङ्गमस्य च विद्यते । शास्त्रस्य विषयोऽप्येव प्रयोगोऽप्यस्त्य-  
 सकर ॥ ...वैयाकरणोपदेशसाहाय्यकोपकृतश्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वान्युपगमात् । यथा ब्राह्मणत्वादिजाति-  
 रूपदेशसव्यपेक्षचक्षुर्निन्द्रियग्राह्यापि न प्रत्यक्षगम्यतामपीकृति । 'व्याकरणकोविदोपदेशसचिवधवणे-  
 न्द्रियग्राह्य अपि साधुत्वासाधुत्वे न प्रत्यक्षतामतिवर्तेते ।"—न्यायम० पृ० ४२२ । तोता० पृ० १२८ ।  
 (२) "यथा च पञ्चरागादीन् काचस्फुल्लिभिप्रस्तात् । परीक्षका विद्वान्ति स्तु-जुचयपरे तथा ॥  
 यथा रत्नपरीक्षायां साध्वसाधुत्वलक्षणम् । तथा व्याकरणातिष्ठ साधुशब्दनिरूपणम् ॥"—तन्त्रवा०  
 १।३।२७। (३) प्रत्यक्षगोचरस्यापि शब्दराशे । (४) "विशिष्टशब्दध्वनोत्तरकालप्रवृत्तव्यवहारा-  
 वगतार्थप्रतिपत्तिसहित शब्दानुशासनसारत्रोपदिष्टप्रवृत्तप्रत्ययविकरणवर्णलोपागमादेशादिलिङ्गमव्य-  
 भिचारि तत्स्वरूपावधारणे कारणं भविष्यति ।"—न्यायम० पृ० ४२३। तन्त्रवा० १।३।२७। (५)  
 उद्धृतोऽयम्—न्यायम० पृ० ४२३ । न्यायवा० ता० पृ० ७१४ । वैयाकरणभू० पृ० २५२। तत्त्वचि० शब्द०  
 पृ० ६४० । 'साधुना साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयाधिभि ।"—वाक्यप० १।१४।१। (६) 'तस्मादेपा  
 व्याकृता'—तन्त्रवा० १।३।२७। भाट्टचि० पृ० ९८ । (७) "तथा लौकिककार्यप्रत्ययोत्पापितवाचकत्वार्था-  
 पत्तिलभ्यस्तावदेक साधुत्वनिश्चय ।"—तन्त्रवा० १।३।२७।

1 श्रोत्रप्र-आ०, व० । 2-वत्साधु-व०, आ० । 3-शिष्टेषु उच्चार्य-आ०, -शिष्टेषु शब्दोच्चार्य  
 -व० । 4-त्वानु-करोति आ० । 5 पूर्व भावा-आ०, पूर्वसद्भा-व० । 6-रस्यानु-आ० । 7-त्वसिद्धे-  
 आ० । 8 सूत्रकारवार्तिक-प्र० ।



अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'गवादय शब्दा एव साधन , तेपामेव वाचक-

अपभ्रंशप्राकृतादि ल्योपपत्ते' इत्यादि, तद्विचारितरमणीयम्, यतो लोकेव्यवहार-  
भाषाशब्दाना साधु समधिगम्यो हि वाच्यवाचकभाव । लोकश्च गाव्यादिशब्दैरेव  
त्वसमर्थनन वाच व्यवहरन् प्रतीयते । सस्कृतवेदिनो हि सस्कृतान् शब्दान् परित्यज्य  
कत्वप्रसाधनम्— व्यवहारकाले गाव्यादिशब्दैरेव व्यवहरन्तः प्रतीयन्ते । अतः  
सस्कृतेतरपेदिना व्यवहारस्य गाव्यादिशब्दैरेव दृष्टत्वात्तेपामेव अन्यव्यति-  
रेकाभ्या वाचकत्वमवधार्यते । नच गाव्यादिशब्दाना गवादिस्मृतिसापेक्षमर्धावबोधकत्व  
स्वरेऽपि प्रतीत येन अर्थप्रतिपत्तेरन्वयाप्युपपद्यमानत्वात् तेपामवाचकत्व स्यात् ।  
न खलु प्राकृतशब्देभ्य 'प्रथम सस्कृतशब्दस्मरण ततोऽर्थप्रतीति' इति व्यवधानेन  
अर्थप्रत्ययोऽनुभूयते, सस्कृतशब्दवत् तेभ्योऽपि साक्षादेव अर्थप्रत्ययप्रतीते , अन्यथा  
यत्र संस्कृतज्ञानं न सन्ति तत्र भाषाशब्देभ्योऽर्थप्रत्ययो न स्यात् । ततो गवादिशब्दवत्  
शब्दान्तस्मृतिनिरपेक्षतयैव सदा तेपामर्धावबोधकत्वप्रतीते वाचकत्वमेवोपपन्नम् ।  
यथैव हि गवादिशब्दस्य अन्यव्यतिरेकाभ्या गाव्यादिशब्दस्मृतिनिरपेक्ष गोत्वाद्यर्था-  
भिधायकत्व प्रतीयते तथा गवादिशब्दस्मृतिनिरपेक्ष गाव्यादीनामपि । एवञ्च अन्य-  
व्यतिरेकाभ्या तुल्येऽर्थप्रतिपादकत्वे यद्येकस्यैव वाचकत्वं कल्प्यते तद्धर गाव्यादि-  
शब्दस्यैव कल्प्यताम्, निरिलजनाना व्यवहारस्य तद्द्वारेणैव प्रतीते ।

किञ्च, स्मरण मूलानुभवे सति प्रमाण भवति अनुभवानुसारित्वात्तस्य । न च  
गवादिशब्दाना गोव्यवहारे प्रथमत एव स्वरसधृत्या वाचकत्वमनुभूतम्, गाव्यादि-  
शब्दानामेव तदा तदनुभवात् । अतो येषा वाचकत्वमनुभूतपूर्वं तत्रिवन्धने व्यवहारे  
अननुभूतवाचकत्वा स्मर्यन्ते इति महन्न्यायकौशलम् ।

(१) पृ० ७५७ पं० ६ । (२) ' वृद्धि (३) प्रसिद्धितस्त्वप व्यवहार प्रवृत्त । सस्कृतेरिति सर्वाणि  
शब्दं भाषास्वनरिव । -तत्त्वाय इतो० पृ० २९० । (३) गाव्यादिशब्दानामव । (४) प्राकृतशब्दे  
भ्यामपि । तुङ्गा व्युत्क्रमादपनिर्णोतिरपराब्दादिवत्यपि । वस्तु शक्तस्तथा दृष्ट सव्याप्यविपात ॥'  
-तत्त्वाय इतो० पृ० २९० । प्रथमक० पृ० ६६८ । (५) तुङ्गा- स्त्रीगृहणागामुभयप्रतीतिरभावान् ।  
या मनुभवं वति शब्दमप्यन्वय स एव प्रतिपद्यत । यस्तु नक्कमुत्रसम्भवं वा वति न नासाग्य  
त वयमप्यन्वयप्रतिपद्यत ततोऽप्य प्रतिपद्यत ? दृष्टा चानुभवविदितोऽपि प्रतीतिरिति । -वाद्यन्तो०  
पृ० १०३ । मन्त्रादीना साधुशब्दपरिणामानावाच्यत इतिपया स्मृति । तदभाव न नाप्यप्रतिपत्ति  
स्यात् । -तत्त्वाय० पृ० १२४ । (६) गाव्यादिशब्दद्वारणव । तुङ्गा- विषयदगनाच्च । गवादय  
मन्त्रप्रतिपद्यमाना अगान्दरेव पानं व्युत्पद्यमाना आह दृश्यन्ते इति व्यय गन्तानुगामनम् । तथाहि  
कुम्भोर्मन्त्रप्रतिपद्यमानानुभूतानुभूतप्रतिपद्यो वाग्य प्रनारकर्म सन्निष्ठन्त काश्चं कुम्भ इत्यादिना । त  
वाच्य व्युत्पादनासाध्याभावात्सम्भवं व्युत्पादन्त इत्य अगता उज्ज्वलिति । तदवयवमाधव  
एव वाचक्य न नापय मन्त्राप्रति इति विषयया दृश्यत । -वाद्यन्तो० टी० पृ० १०५ । (७)  
वाचकत्वानुभवान् (८) गाव्याशानाम् । (९) गवादय गन्ता ।

१. असाधु-प्रा० । -वाचक-व० । ३ प्रथमसं-व० । ४-व गवादि-व० । ५ तुल्याय-  
प्रति-व० । ६-प्रथमं त एव स्वरस्य वृत्ता वा-व० । ७-रे न खलु वाचकत्वा-व० ।

यदप्युक्तम्—‘गोशब्दे समुच्चारयितव्ये अशक्त्या प्रमादेन वा बालेन गावीशब्दः समुच्चारितः’ इति; तदप्यसाम्प्रतम्; यतो यदि गोशब्दसमुच्चिचारयिष्या बालः अशक्ति-प्रमादाभ्यां गावीशब्दं समुच्चारयेत्, तर्हि परित्यक्तबालभावः प्रबुद्धः सन् ‘मया अशक्त्या प्रमादेन वाऽयं प्रयुक्तः’ इति ज्ञात्वा तं परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहारं कुर्यात् । न च पटुकरणोऽपि गावीशब्द परित्यज्य गोशब्देनैव व्यवहरति । ननु च असंस्कृत-मतिभिः सह संस्कृतशब्देन गवादिना व्यवहारः कर्तुं न शक्यते, लक्ष्णपरिज्ञानाभाव-तस्तेषां संस्कृतशब्दपरिज्ञानानुपपत्तेः, अतः बहुत्वादसंस्कृतमतीनाम् अशक्तिप्रमाद-प्रभवोऽपि अपभ्रष्टव्यवहारः परां रूढिमागतः, येन शक्तो विज्ञातशब्दस्वरूपोऽपि जनः तेनैव व्यवहरति; इत्यप्येतेनैव प्रत्याख्यातम्; प्रमादाऽशक्तिप्रभवत्वे गाव्यादिशब्द-व्यवहारस्य उक्तदोषानुपह्नात् ।

अपभ्रष्टवञ्चास्य पुरुषार्थोऽप्रसाधकत्वात्, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदाऽनैवच्छिन्नस्य एकत्वेन प्रतीत्यभावात्, सङ्केतेन अर्थाभिधायित्वाद्वा स्यात् ? तत्र आद्यः पक्षोऽनुपपन्नः; सकलस्य धर्मार्थादेः पुरुषार्थस्य प्राकृतशब्दव्यवहारादेव प्रसिद्धेः । नहि कश्चित्तादृशः पुरुषार्थोऽस्ति यत्र साक्षात् परम्परया वा तद्द्वयवहारो न स्यात् । तत्र प्रतिपिपादयिष्या प्रयुक्तानामपि संस्कृतशब्दानामर्थः सुस्पष्टः प्राकृत-शब्दैरेव प्रदर्श्यते इति कथं तद्व्यवहारस्य पुरुषार्थोऽप्रसाधकत्वं यतोऽपभ्रष्टत्वं स्यात् ? द्वितीयपक्षे तु ठकागमस्य “तद्यनं ब्राह्मणं हन्याद् भूतिकामः” [ ] इत्यादेः साधुत्वप्रसङ्गः, व्याकरणस्मृत्यनुगृहीतस्य सर्वत्र सर्वदानवच्छिन्नस्यैकत्वेन अस्यापि प्रतीत्यविशेषात् । शिष्टैरस्वीकृतत्वात् तत्रास्य विच्छेदः पशुवधाद्यागमेऽपि समानः । नहि “श्वेतमजमालमेत” [ ] इत्यागमः परीक्षाप्रधानैः कृपा-र्द्रिकृतचेतोवृत्तिभिः आद्रियते । तृतीयपक्षोऽप्ययुक्तः, प्राकृतशब्दवत् संस्कृतशब्दाना-मपि सङ्केतसहायानामेव अर्थप्रतिपादनसामर्थ्यसंभवात् । असङ्केतितोऽनभि(वाभि)धाने अतिप्रसङ्गात् । तदेवं संस्कृतेतरशब्दानां विशेषासंभवात् उभयेषां साधुत्वमसाधुत्वं वा अविशेषतः प्रतिपद्यव्यम् ।

किञ्च, स्वरूपतः प्रसिद्धे साधुत्वे कचिद् विधानं निषेधो वा युक्तः । न च स्वरूपतः तत् प्रसिद्धम् । तत्स्वरूपं हि वाचकत्वम्, अनादिप्रयोगिता, धर्मसाधन-त्वम्, विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वम्, विशिष्टार्थाभिधायित्वम्, वाधारहितत्वम्, प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम्, अनुपहृतेन्द्रियप्राहृत्यम्, अनावृतत्वम्, व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वम्

(१) पृ० ७५९ पं० ६ । (२) व्याकरणसूत्र । (३) असंस्कृतमतीनाम् । (४) प्राकृतादि-भाषागणव्यवहारः । (५) पुरुषार्थबोधनाय । (६) जैनबौद्धवैष्णवादिभिः । (७) साधुत्वम् ।

१ इत्वादि तद-श्र०, व० । २ चायं श्र० । ३-नवस्वित्तस्य व० । ४ तद्व्यापारव्यवहारो न आ०, श्र० । ५-दृष्टव्यं श्र० । ६-नुगृहीतमनु-आ०, व० । ७-रूपं वा व० ।

वा स्यात् ? यदि वाचकत्वम्; तद् गवादिशब्दवत् गाव्यादिशब्दानामस्त्येव, अन्व-  
व्यतिरेकाभ्यां तद्वत् तेषामप्यर्थप्रतिपादकत्वप्रतिपादनात् ।

अनादिप्रयोगितापि प्रवाहापेक्षया, नित्यत्वापेक्षया वा उच्येत ? प्रथमपक्षे  
गोगावीशब्दयोरविशेषः, द्वयोरपि अनादिप्रयोगितायाः तथा संभवाद् उभयोरपि साधु-  
त्वमसाधुत्वं वाऽविशेषतः स्यात् । अनादिप्रयोगितया च साधुत्वे प्राकृतस्यैव गाव्यादेः  
साधुत्वं स्यात्, तस्यैव तत्संभवात् । प्रकृतिरेव हि प्राकृतम्, प्रकृतिश्च स्वभावः, अतः  
प्रकृतिभूतस्य अर्थस्वरूपावेदकस्य अनादिप्रयोगार्हस्य गाव्यादेरेव साधुत्वं युक्तं न तु  
संस्कृतस्य गवादेः, तस्य अनादिप्रयोगितानुपपत्तेः । सतो हि वस्तुनो गुणान्तरारोपः  
संस्कारः, स च आदिमानेव, अतः संस्कृतव्यपदेशादेव संस्कारात् पूर्वं विद्यमानं  
0 प्रकृतिभूतमन्यत्किञ्चिदस्तीत्यनसीयते । तच्च प्राकृतमेव, इत्यस्यैव अनादिप्रयोगितया  
साधुत्वमायातम् ।

अधोच्यते—न प्रकृतिरेव प्राकृतम्, किं तर्हि ? प्रकृतेर्भवम् । ननु केयं प्रकृति-  
र्नाम—यतो भव प्राकृतम् इत्युच्येत ? किं स्वभावः, धातुगणः, संस्कृतशब्दस्वरूपं वा ?  
प्रथमविकल्पे 'प्रकृतिरेव प्राकृतम्' इत्ययमेव पक्षोऽङ्गीकृतः स्यात्, प्रकृतेः स्वभावात्  
15 लब्धात्मलाभैर्गाव्यादिशब्दैः निखिललोकानां व्यवहारप्रसिद्धेः । द्वितीयविकल्पे तु गवादि-  
शब्दानामपि प्राकृतत्वप्रसङ्गः, धातुगणात् तत्स्वरूपसिद्धेरविशेषात्, इति संस्कृतव्यव-  
हाराय दत्तो जलाञ्जलिः स्यात् । संस्कृतशब्दस्वरूपस्य तु प्रकृतित्वमनुपपन्नम्, विकारत्वात् ।  
सतो हि वस्तुनो गुणान्तराधानं संस्कारः स विकाररूपतया कथं प्रकृतित्वं प्रतिपद्येत ?

किञ्च, पूर्वापरकालभावित्वे सति प्रकृति-विकृतिभावो दृष्टः । न चात्रै तदस्ति,  
20 वैपरीत्यप्रतीतेः—'आदिमद्वि संस्कृतम् अनादिमच्च प्राकृतम्' इति ।

(१) "अयं गावीशब्दस्य वाचकत्वं नोपपद्यते; तदयुक्तम्, गावीशब्देन बहुल व्याहरन्ति प्रमा-  
तार ।"—तत्त्वो० पृ० १२४ । (२) अनादिप्रयोगितासंभवात् । (३) "प्राकृतेति—सकलजगज्जन्तूना  
व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कार सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भव संव वा प्राकृतम् । 'आरिसवयणे  
सिद्ध दवाण अदमग्गहा वाणी' इत्यादि वचनादा प्राक् पूर्वं वृत्तं प्राकृतं बालमहिलादिसवलभाषानि-  
बन्धनभूत वचनमुच्यते । मयनिर्मुक्तजलमिवंस्वरूप तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादि-  
तविशेषे सन् संस्कृताद्युक्त रविभेदानान्मोनि । अत एव शास्त्रवृत्ता प्राकृतमादौ निदिष्ट तदनु संस्कृतादीनि ।  
पाणिन्यादिभ्यांकरणादितशब्दलक्षणन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते ।"—काव्या० रुद्र० नमि० २।१२ । (४)  
तुलना—'प्रकृति संस्कृतं तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम् ।"—हेम० प्राकृ०, प्राकृतसर्व०, प्राकृतच०,  
बामदृष्टा० टी० २।२ । "एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्त-  
रालम्बम् ॥"—नाट्यशा० १७।२ । "प्रकृतं संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ।"—वद्भा० । "प्राकृ-  
तस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः ।"—प्राकृतस० । "प्रकृतं संस्कृतात् साध्यमानात्सिद्धाच्च पदभवेत् ।  
प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्यं प्रचदमह ॥"—त्रि० प्रा० पृ० १ । (५) संस्कृतप्राकृतयोः ।

1—तया साधु—प्र० । 2 न च प्र० । 3 प्रकृतो भवम् आ० । 4 इत्युच्यते व० । 5 धातु-

पक्षोक्तप्रसिद्धेः व० । 6 विकारित्वात् थ ।

अथ मतम्—न गुणान्तराधान सस्कार, किं तर्हि ? अभिन्नस्वरूपस्य शब्दस्य सम्यगनधिगतार्थस्य प्रकृति प्रत्ययादिविभागद्वारेण तदन्तर्गतोऽर्थ प्रकाशयते इत्येव रूपः शब्दस्य सस्कार इति, तदप्यसङ्गतम्, प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारेण अर्थकथनस्य व्याख्यानरूपतया संस्कारत्वानुपपत्तेः । नहि यस्मादौ तथाविधः सस्कार कदाचिद् दृष्टः । किं तर्हि ? गुणान्तराधानलक्षण । तथाप्यस्य सस्कारत्वाभिधाने स्वकम्बलस्य 'कूर्दालिका' इति नाम कृतं स्यात् ।

एतेन 'व्यवहृत्तृशक्तिद्वारेण अपभ्रंशयत शब्दस्य रक्षाद्वारेण अविचलितस्वरूपस्यैवावस्थापन सस्कारः' इति मतान्तरमपि अपास्तम्, अविचलितरूपतयावस्थापनस्यापि सस्कारत्वेन कचिदप्यप्रतीते । अविचलितरूपतया अवस्थापनञ्च शब्दाना सादृश्यापेक्षया, नित्यैकरूपापेक्षया वा स्यात् ? यदि सादृश्यापेक्षया, तर्हि गाव्यादि-शब्दस्यापि संस्कृतत्वप्रसङ्गं तद्विशेषात् । अथ नित्यैकरूपापेक्षया, तदयुक्तम्, शब्दाना नित्यैकरूपताया प्राक् प्रवचनेन प्रतिपेवात् । तत्र प्रवाहापेक्षया अनादिप्रयो गितातः शब्दाना साधुत्व सिद्ध्यति । तथा तत्साधुत्वाभ्युपगमे च 'पितरि स्वर्गं गते ज्येष्ठेन पुत्रेण माता वोढव्या' इत्यादिश्लेषैश्चैव्यवहारणामपि साधुत्वप्रसक्ति, प्रवाहेण अनादिप्रयोगिताया तत्राप्यविशेषात् । अथ नित्यत्वपेक्षया अनादिप्रयोगितातः तत्साधुत्वसिद्धिः, इत्युच्यते, तदप्युक्तिमात्रम्, शब्दाना नित्यत्वस्य प्रमाणानुपपन्नत्वात् । तदनुपपन्नत्वञ्चैवा शब्दानित्यत्वसिद्धौ प्रपञ्चत प्ररूपितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । तत्र अनादिप्रयोगितापि तत्साधुत्वलक्षणम् ।

नापि धर्मसाधनत्वम्, तद्धि तेषा साक्षान्, परम्परया वा स्यात् ? न तावत् साक्षान्, त्रैतानुष्ठानादे तदर्थस्य आनर्थक्यानुपपन्नात् । परम्परया तत्साधनत्व तु संस्कृत-

(१) न केव वर्य गुणान्तराधायन्त सस्कार केपाञ्चिच्छब्दानामनुमयामहे '—वाङ्मया० पृ० १०७ । (२) 'रक्षाय वेदानामध्येय-आकरणम् । शोभागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग वेदान परिपालयिष्यतीति ।'—पात० महा० पल्पशा० । (३) पृ० ७०३ । (४) अनादिप्रयोगिताया । (५) तुलना—श्लेषव्यवहारा अपि केचित् मातृविनाहादयो मदनोत्सवाद्यस्वानादय नास्ति क्वचिच्चित्तं च अपुवपरलोकाद्यपवादीनि ।—प्रमाणवा० स्वप्न० १।२४७ । (६) श्रौततोऽथप्रयुक्ते शब्दप्रयोगेन शास्त्रेण धर्मनियम । शब्देनवार्थोऽभिधयो नापशब्देनेति । एव क्रियमाणमभ्युदयस्तत्तु-य वेदशब्देन ।—पात० महा० पल्पशा० । साधवो धर्मसाधनम्—वाक्यप० १।२७ । (७) तुलना—'न धर्मसाधनता मित्यावृत्तिचोदनभ्योप्यधर्मोत्पत्ति अन्यभ्योऽपि विषय धर्मोत्पत्त । शब्दस्य मुप्रयोगादेव स्वगमोदनघोषणा वचनमात्रम् । नचविविधानागमानाद्रियन्ते युक्तिज्ञा । नच दानादि धर्मसाधनचोदनासू यकेवलशब्दमुप्रयोगान्गणपान इति बुवाणस्य कस्याचि-मूल बन्नीभवति ।'—वाङ्मया० पृ० १०६ । 'तथा च संस्कृतान्छब्दात्सत्त्वाद् धर्मस्तथाऽन्यतः । स्यादसत्य यदा ( सत्याद्यदाऽ ) धर्म क नियम पुष्यपापयो ।—तत्त्वापरलो० पृ० २९० । प्रमेयरू० पृ० ६६८ । (८) गब्दादनुष्ठयाध

1-त्रिद्वष्टम् ध० । 2-व्यवहारात्तत्र-ध० । 3-लितस्वरूप-ध०, ध० । 4-रूपतापेक्षया ध०, ध० । 5-प्रसंगतस्तद-ध० । 6-पगमेपि च ध० । 7-पेक्षयनादि-ध० ।

शब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यविशिष्टम् ।

विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वं विशिष्टार्थाभिधायित्वं वाधारहितत्वं प्रमाणान्तरानुगृहीतत्वम् अनुपहृतेन्द्रियग्राह्यत्वञ्च उभयत्राप्यविशिष्टमेव । अनावृतत्वमपि आवृतत्वपूर्वकं न शब्दे संगच्छते; स्थायित्वाभावात् । स्थायिन एव हि पदार्थस्य आवृतत्वान्नावृतत्वे घटेते । शब्दे च स्थायित्वं प्रागेव प्रतिपिद्धम् ।

व्याकरणसिद्धस्वरूपत्वञ्च संस्कृतशब्दवत् प्राकृतशब्दानामप्यस्त्येव । यथैव हि संस्कृतव्याकरणेन प्रकृतिप्रलयविभागेन शब्दा व्युत्पाद्यन्ते तथा प्राकृतेनापि । अस्याऽव्याकरणत्वे अन्यत्र फः सामाश्वासः ?

यच्चान्यदुक्तम्—‘संस्कृता वागुद्यते’ इत्यादि; तत्राप्यसौ कदा वक्तव्या—कर्मकाले, अध्ययनकाले वा ? अध्ययनकाले चेत्; कस्य अध्ययनकाले प्राकृतस्य, संस्कृतस्य वा ? न तावत् प्राकृतस्य; तदा संस्कृतवाचोऽनभिधानात्, अन्यथा तदध्ययनानुपपत्तिः । अथ संस्कृतस्य; कथं तदध्ययनकाले अनधीयमानत्वात् प्राकृतवाचोऽसाधुत्वम् ? अन्यस्याध्ययनकाले अन्धस्याऽप्रयोगादसाधुत्वे तु पुराणाध्ययनकाले वेदवाचामप्यप्रयोगादसाधुत्वं स्यात् । अथ कर्मकाले; कुतस्तदा प्राकृता न वक्तव्याः—अर्थाप्रतिपादकत्वात्, अपशब्दत्वात्, अधमेहेतुत्वाद्वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; गाव्यादिशब्देभ्यः संस्कृतेतरवेदिनां सुस्पष्टार्थप्रतिपत्तिप्रतीतेः ।

अपशब्दत्वञ्च गाव्यादिशब्दानां स्वरूपमात्रात्, व्याकरणादनिष्पत्तेर्वा ? यदि स्वरूपमात्रात्; तर्हि गोशब्दस्यापि अपशब्दत्वप्रसङ्गः तद्विशेषात् । व्याकरणादनिष्पत्तिरपि संस्कृतात्, प्राकृताद्वा स्यात् ? न तावत् प्राकृतात्; तत्रै तेषां स्वरूपनिष्पत्तिप्रतीतेः । संस्कृतव्याकरणतोऽपि गावीशब्दस्य स्वरूपमात्रेणाऽनिष्पत्तिः, अर्थविशेषे वा ? न तावत् स्वरूपमात्रेण; “यैर्ये तदादि गुः” [जनेन्द्र० १।२।११४] इति गुंसङ्गायां सत्यां गोरियं गावी प्रक्रिया इति स्वरूपमात्रेण तन्निष्पत्तिप्रसिद्धेः । अथ अर्थविशेषे गोत्वलक्षणे गावीशब्दस्य अतोऽनिष्पत्तेः अपशब्दत्वमुच्यते; तदप्यसुन्दरम्; तत्रै तस्याऽव्युत्पादकत्वात् । प्राकृतव्याकरणमेव हि गोत्वलक्षणेऽर्थे गावीशब्दं व्युत्पादयति नान्यत् । वाचस्ततोऽनुष्ठानं तत्रो धर्मत्वतिरिति ।

(१) गुणना—“न ह्येषा प्रजाबाहुभृत्यादिक सस्वार पश्यामो नाप्येषामेकान्तेन श्रव्यता । नाप्येषं प्रत्याचने ऋचिदत्रिण्य । ” शिष्टप्रयोग संस्कार इति चेत्; के शिष्टा ? ये वेदतादिगुणयुक्ता ।  
 १ गुणरसा गुणोन्मर्षानपशोऽग्नीर्निर्वन्धो यत्तेऽमूर्धेव शब्दान् प्रवृञ्जते नापरान्” —वाचव्या० पृ० १०३। (२) प्राङ्गन्याकरणस्य । (३) पृ० ७६१ पं० १४। (४) प्राङ्गताध्ययनकात्रे । (५) प्राङ्गन्याकरणत्वे । (६) “यस्य त्वं यस्य तस्मिन् परत तदादि शब्दस्य गुणस्य भवति ।”—शब्दार्थ० । (७) ‘गु’ इति यज्ञा ‘अंग’ यज्ञास्थानीया । (८) गोत्वलक्षणेऽर्थे । (९) सङ्गन्याकरणस्य ।

१—व्याभिषा—४० । २—नाङ्गत्वं घटते ४० । ३—यस्येव ४० । ४—वागुत्पद्यते वा० ।

५—से वा मध्य— । ६—अत्रभिषोय—४० । ७—स्वे प्राङ्—आ० । ८—प्राङ्गताऽतो न थ० । ९—तस्यपठार्थ

—४० । १०—प्रतिप्रतीतेः वा०, ४० । ११—त्येतरा—४० ।

अव्युत्पादकादनिष्पत्तेः शब्दस्य अपशब्दत्वे गोशब्दस्याप्यपशब्दत्वप्रसङ्गः, प्राकृतव्याकरणा-  
त्तस्याप्यनिष्पत्तेरविशेषात् । अतः संस्कृतेतरव्याकरणप्रसिद्धयोः गोगावीशब्दयोः गोत्व-  
लक्षणार्थाभिधायित्वेन प्रवृत्तेः कुतोऽयं नियमः 'गोशब्द एव गोत्वस्य वाचको न गावी-  
शब्दः शब्दः तथा' । यथैवं हि तुल्यप्रमाणावधारितवाचकत्वाद् वृक्षतरुपादपादयः पर्यायश-  
ब्दाः तथा गोगाव्यादयोऽपि । तथैहि—गो-गावी-गौणी-गोपोतलिकेत्यादयः शब्दाः गोत्वस्य  
वाचकाः वृद्धैस्तत्र अविगानेन प्रयुज्यमानत्वात् गौः उश्रा(स्त्रा)इत्यादिबत् । तथा, गाव्यादयः  
शब्दाः गोत्वे अनादिप्रयोगाः अनवगम्यमानाऽवधित्वात् 'गौरुश्रा(स्त्रा)इत्यादिबत् ।

अथ अधर्महेतुत्वादसाधुत्वमस्याः, ननु कदा तस्या अधर्महेतुत्वम्—सर्वदा, यागा-  
दिकर्मकाले वा ? यदि सर्वदा, न कदाचिद् धर्मस्यावसरः स्यात्, नित्य-नैमित्तिका-  
नुष्ठानसमयेऽपि प्राकृतशब्दानां घृतसमिदाद्यभिधायिना गोभूम्यादिदानाभिधायिनाश्च  
प्रयुक्तानामधर्मस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गात् । अथ यागादिकर्मकाले, महत् तत्कर्मणो माहात्म्य  
येनान्यदा अधर्मस्याजनकमपि आत्मसत्ताकाले[ऽ]धर्मजनकं करोति इति ।

किञ्च, प्राकृतवचसामधर्महेतुत्वनियमः तदा सिद्धेत् यदा संस्कृतानां तेषां  
धर्महेतुत्वनियमः स्यात् । तन्नियमाभ्युपगमे च नटभटवर्द्धचर्मकारादीनां संस्कृतवे-  
दवचोऽभिधायिनां प्राकृतवचसामसोपवासिन्यादिभ्यः अतीवाधिकधर्मोत्पत्तिः स्यात् ।  
अथ ब्राह्मणस्यैव तदभिधायिनो धर्मः नान्यस्येति चेत्, न, ब्राह्मण्यस्य कुतश्चिदपि  
प्रमाणादप्रतीतेः ॥४॥

ननु प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीयते, विस्फारिताक्षस्य पुरोव्यवस्थितेषु क्षत्रियादिस-  
न्त्यनिरसौक्त्वादिषु द्वेषे तु द्वैलक्षण्येन 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारप्रत्यय-  
संज्ञिता यानिनिबन्धना विषयतया ब्राह्मणसङ्घे मनुष्यत्वाद्यतिरिक्तस्य अनुगतैकाकारस्य ब्राह्मण-  
ब्राह्मण्यजातिमित्ति मीमा- (ण्य)स्य प्रतिभासप्रतीतेः । न चोयं प्रत्ययः सन्दिग्धः, उभयको-  
सकादीनां पूर्वपद - टिसंस्पर्शित्वाभावात् । नापि विपर्यस्ताः, दोषरहितैः कारणैरारब्धत्वात्  
वाधरूपप्रत्ययरहितत्वाच्च । यदि च ब्राह्मण्यं प्रत्यक्षं न स्यात् तदा 'ब्राह्मणोऽयं पुरुषः' इति  
विशिष्टप्रतिभासो न स्यात् । अत्र हि ब्राह्मणत्वानुरागविशिष्टः पुरुषः प्रतिभासते, न पुनः

(१) गावीशब्दस्य । (२) तुलना—'तस्मात्पर्यायशब्दत्वात् गाव्यादेतरुवृक्षवत् । आचारेण  
प्रयोज्यत्व न शास्त्रस्यैवनिवारितम् ॥"—तत्रवा० १।३।२४ । (३) तुलना—'गावीगोष्यादय गन्दा सर्वे  
गोत्वस्य वाचका । वृद्धैस्तत्र प्रयुक्तत्वाद् गोरत्वेत्येवमादिबत् ॥"—तत्रवा० १।३।२४ । (४) म्लेच्छजा-  
तिविशेष । "पुलिन्दा नाहला निष्टथा सवरा वरुटा भटा । माला भिल्ला किराताश्च सर्वेऽपि  
म्लेच्छजातय ॥"—हृम । (५) ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयमित्यनुगतप्रत्यय ।

1-भिधायकत्वेन व०, थ० । 2-त्वात् वृक्ष-व० । 3-गोणातलि-थ० । 4 गोरुपत्वेत्या-  
व०, गोरुक्षेत्र्या-थ० । 5 गोरुपत्वेत्या-व० । 6-चरुट-आ०, व० । 7 यदि ब्राह्म-आ० । 8-एतदन्तर्गत  
पाठो नास्ति आ० । 8-न पुनः पुरुषमात्रं थ० ।

प्रतिभासते तच्छून्यं पुरुषमात्रम् । तत्रप्रतिभासे हि 'पुरुषोऽयम्' इति प्रतिभासः स्यात् नतु 'ब्राह्मणोऽयम्' § इति, पुरुषातिरेकिताद् ब्राह्मण्यस्य । न च अप्रतिपन्ने विशेषणे विशिष्टः प्रत्ययो युक्तः, अतिप्रसङ्गात् । न च तथाभूतस्य ब्राह्मण्यस्य अर्थेषु संभवे प्रथमदर्शनेऽपि प्रतिभासप्रसङ्गः, यतः स्वविशेषव्यङ्ग्या जातिः, विशेषाश्च इतरजातिपरिहारेण अवभासमाना जालन्तरपरिहारेण स्वजातीर्व्यञ्जयन्ति यथा गवाश्चादयः, अतः तत्रै प्रतिभाताऽपि जातिः व्यञ्जकभेदाग्रहणात्प्रोक्ष्यति । व्यञ्जकभेदाग्रहणञ्च अत्यन्तसुसद-  
शावयवत्वादुपपन्नम् अत्यन्तसुसदशोगवयवत् । दृश्यते च द्रव्यपरीक्षकाणा कूटाकूटविवेके मणिपरीक्षकाणाञ्च मणिकाचादिविवेके अवधानवता नैसर्गिकाभ्यासिकप्रतिभास-  
सामग्रीसद्भाव एव कूटाकूटविवेको मणिकाचादिविवेकश्च, एवमत्रापि 'अविष्णुतेन ब्राह्म-  
णेन अविष्णुताया ब्राह्मण्यामुत्पन्नः ब्राह्मणः' इत्याद्यौपदेशिकमातापितृब्राह्मण्यज्ञानलक्षण-  
सामग्रीसद्भाव एव 'ब्राह्मणोऽयम्' इति विवेकेन प्रतिभासाविर्भावो भवति । यदि वा, तैद्ब्राह्मण्यज्ञाननिरपेक्षः 'ब्राह्मणोऽयम्' इत्युपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण 'ब्राह्मणोऽयम्' इति ब्राह्मण्यजातिग्राही प्रत्ययो जन्यते । न च सामर्थ्यभावात् यत्र प्रतिभासते तत्रास्तीति वक्तुं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अविष्णुतत्पञ्च मातापितृः प्रैवादाभावात्प्रिञ्चीयते । व्यभिचारे

(१) ब्राह्मणत्वरहितम् । (२) ब्राह्मणत्वान्यपुरुषपमानप्रतिभासे । (३) पुरुषपु । (४)

'ब्राह्मणा ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मण स्यात् सप्तम । धत्रियाया तथैव स्याद् वैश्यायामपि चैव हि ॥ -महाभा० अनु० ७७ । २८ । 'सुवण व्यग्यते रूपात्तामृत्वादेरसप्तमम् । तैलाद् घृत विलीनञ्च गन्धन च रसन च ॥ भस्मप्रच्छादितो वह्नि स्फुरन्गोपलभ्यते । अश्वत्वादी च दूरस्थ निश्चयो जायते स्वर्न । सस्यानन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि योमित । क्वचिदाचारतदधापि सम्यग्ज्ञानुपालितात् ॥'-मी० श्लो० वन० श्लो० ७७-२९ । 'कथं पुनरिदं लोकस्य प्रसिद्धम् ? प्रत्यक्षणति तूम । कस्मात्तुन मातापितृसम्बन्धानभिशा चक्षु सन्निकृष्टपु मनुष्यत्वनाख्यात न प्रतिपद्यन्ते ? शक्यभावात् यथा वृषत्व प्रागभिधानव्युत्पत्त । तन यथैवालाकेन्द्रियानवपिण्डानुस्यूतिसदस्मरणव्यक्तिमहत्त्वस्य प्रिक्पर्षारविनापात्प्रोत्र्यजातिग्रहण कारण तथैवात्र उत्पादकजातिस्मरणम् । अयञ्चोत्पाद्योत्पादकसम्बन्धो मानुरव प्रत्यगोत्र्यया नु अनुमानात्प्रोपदेशावगत कारणम् । नच तप आदीना समुदायो ब्राह्मण्यम्, न तज्जनित मस्वार, न तदभिभ्यङ्ग्या जाति । किं तर्हि ? मातापितृजातिज्ञानाभिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षस्य मधिगम्या । -तत्रवा० १।२।२। तस्मात्समानकारेणैव पिण्डेषु विलक्षणब्राह्मणप्रत्ययवचनब्राह्मण्य-दिजातिनिर्वाङ्मोनु गजन । 'तत्रवा० वापमु० ५० १०-१५ । 'यथा ब्राह्मणत्वादिजातिरुपदेशसम्बन्धवत्सुर्तिद्रव्यास्यापि न प्रत्यगाम्यतामपोग्मनि यथा च ब्राह्मणत्वादिजातिप्रतीतो कारणान्तरमुक्तं क्वचिदाचारतदधापि सम्यग्ज्ञानुपालितादिनि मवादिदिशानवचनानुमरणनिपुणनरपतिपरिपात्य मानवर्णाथमाणा गच्छित्तत्पुत्रुत्वायवत्पुत्रुद्व्यभिचारे दसे विनिष्टाचारगम्यापि ब्राह्मणत्वादिजातिर्भवति ।'-म्यापमु० ५० ४२२। (५) मातापितृब्राह्मण्यज्ञान । (६) स्व्यपराधात् दुर्नानोत्र्यं सम्बन्ध इति स्वयमव कथयति । न च तावमात्रेण प्रयगता हायन । त हि यन्गिरिपुत्रुमादरु गृह्यत तदप्रत्यक्षम् । न च श्यानां क्वचिद् व्यभिचारद्वानानु संवत्त वचना युक्ता । अचविष्टानुमानासम्बन्धान् । विनिष्पत्तं हि प्रयत्न मशानुशीत गरिप्रत्ययतामानम्, अननव हतुना राजनिब्राह्मणैश्च स्वपितृपितामहा-  
१ ब्राह्मणस्य व० थ० । २ ब्राह्मणस्य व०, थ० । ३ इतरजाति-आ० । ४ प्रतिजातापि आ०, थ० । ५-सामभ्यासद्वधा-व० । ६ इत्योपदेश-व०, इत्यपदे-थ० ।

हि प्रवादेन व्याप्तः, अतः प्रवादो निवर्त्तमानः व्यभिचारं निवर्त्तयति, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽनिवृत्तिविरोधात् ।

यदि च ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मण्यजातिरर्थो न स्यात् तदाऽर्थमनर्थकः स्यात्, न चैतद् युक्तम्, एतदुच्चारणान्तरभाधिनोऽर्थप्रत्ययस्य उपलभ्यमानत्वात् । तन्निवन्धनव्यवहारस्य च 'ब्राह्मणं भोजय' इत्यादिरूपस्य असन्दिग्धावाधितस्य सुप्रतीतत्वात् । पांशुपतादिलिङ्गिनामपि ब्राह्मणत्वादिजात्यनुरूपो नामचिह्नाचारोपदेशादिव्यवहारो दृश्यते, अतः सुंदृढव्यवहारदर्शनाद् व्यक्तिभ्योऽर्थान्तरभूता प्रत्यक्षतः प्रसिद्धा ब्राह्मण्यजातिः ।

तथा अनुमानतोऽपि; तथाहि—असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः स तदाकारविषयनिमित्तकः यथा नीलादिप्रत्ययः, असति प्रतिबन्धके भवति च 'ब्राह्मणोऽयं ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगतैकाकारः प्रत्ययः, तस्मात् पिण्डव्यतिरिक्त-अनुगतेकाकारब्राह्मण्यनिमित्तक इति । यदाकारो हि प्रत्ययः विषयेणापि तदाकारेणैव भवितव्यम्, अन्यथा नीलादिप्रत्ययस्य अनीलादिविषयत्वप्रसङ्गात् प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थाविलोपानुपपन्नः ।

तथा, ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताऽभिधेयसम्बद्धम् पदत्वात् पटादिपदवन् । न चायमसिद्धो हेतुः, धर्मिणि विद्यमानत्वात् । नापि विरुद्धः; विपक्ष एवाऽवृत्तेः । नाप्यनेकान्तरः, पक्षसपक्षवद् विपक्षेऽप्यवृत्तेः । नापि साधनविकलो दृष्टान्तः; पटादिपदेषु पदत्वस्य विद्यमानत्वात् । नापि साध्यविकलः; तेषु व्यंक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येन अनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः ।

तथा वर्णविशेषाध्ययनाचारयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मण' इति ज्ञानं तन्निमित्तबुद्धिविलक्षणत्वात् गवाश्वादिज्ञानमदिति ।

द्विपरम्पर्याविस्मरणार्थं समूहलक्ष्यानि प्रवर्तितानि । तथा च प्रतिकूलगुणदोषस्मरणान्तदनुष्णाप्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यन्ते । "तत्रवा० १।२।२। "स्त्रीत्वस्य व्यभिचाराप्रयोजकत्वमूचनार्थोऽनुमाने कल्पनाशब्द । न च निर्मूलत्वत्वेन लोकस्याप्रामाण्यम्, प्रयत्नन रक्षणे योग्यानुपलब्धेर्मूलत्वसम्भवादिनिदर्शयितुमाह—विशिष्टेन हीति । महाकुलीनाना पुरुषाणां स्त्रीरक्षणमेव आत्मरक्षणम्, जायाया रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षित इति स्मरणात् । यद्वा दुष्कुलप्रभूतत्व व्यभिचारशीलत्वे प्रयोजक न स्त्रीत्वमिति दर्शयितुं महाकुलीनत्व स्त्रीणामुक्तम् । व्यभिचाराभावनिश्चयमेव अभियुक्तवृद्धव्यवहारेण द्रव्यनि अनेनैवति । व्यभिचाराभावानिश्चये हि निर्मूलत्वात् पितृपितामहाद्विपरम्परालेखनात्मकसमूहलेख्य व्यर्थं स्यादिति भावः । कुलपरीक्षापूर्वचेदानोन्तनपुरुषगतविवाहादिव्यवहारेणापि तमेव द्रव्यति तथा चेति । "तत्रवा० व्यायु० पृ० १२। "यन यावदुपलब्धसामग्री तावत्या सत्यामपि यासा व्यभिचारो न दृश्यते तासा नास्त्येव व्यभिचार इति लोकप्रमाणकमेतत् । अपि च अप्रमत्तं स्त्रियो रक्षणीया, तासु नास्त्येव व्यभिचारसंभवाभावकाशो यामु त्वस्ति मा भूत् तदपत्येपु तत्तन्ततिप्रभवत्वनिश्चय । न चैतावता यत्रापि निश्चय शक्यस्तत्रापि अनिश्चय इति युक्तमिति । "प्रक० प० प० ३१ ।

(१) ब्राह्मणशब्दप्रयोग । (२) सौवादिभेदानाम् । (३) ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यय पिण्डव्यतिरिक्तब्राह्मण्यनिबन्धन असति प्रतिबन्धके ब्राह्मणोऽयमित्याकरतया समुत्पद्यमानत्वात् । (४) पटादिपदेषु । (५) पटव्यक्तितो व्यतिरिक्तमेकं निमित्त पदत्वात्सम् ।

१-चारं विनि-व० । २-तस्य प्रती-व० । ३ सुवृद्ध व्यय-श्र० ।



तथा 'ब्राह्मणेन यष्टव्य ब्राह्मणो भोजयितव्यः' [ ] इत्याशागमादपि ब्राह्म-  
ण्यजातिः प्रसिद्धा । तथा 'वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धा चासौ "आदौ ब्रह्मा मुत्ततो ब्राह्मणं  
ससर्ज, बाहुभ्या च्छत्रियम्, ऊरुभ्या वैश्यम् पद्भ्यां शूद्रम्" [ ] इत्यादि वैचसां  
भूयसां तत्र तत्प्रतिपादकानां श्रवणादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रत्यक्षेणैव ब्राह्मण्यं प्रतीते' इत्यादि; तदसमी-  
चीनम्, यतः किं केवलेन्द्रियजनितेन तेन तत्प्रतीयेत, अन्यसहकृतेन्द्रिय-  
जनितेन वा? प्रथमपक्षे किं निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तज्जनि-  
तेन तेन तत्प्रतीयेत? न तावन्निरविकल्पकेन, तत्रै जात्यादिप्रतिभासा-  
भावात्, भावे वा निर्विकल्पकत्वविरोधः कथमन्यथेदं शोभेत—

“अस्ति ह्यालोचनाज्ञान प्रथम निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम् ॥  
तैतः पर पुनरस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यथा । बुद्ध्यावसायते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥”  
[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२, १२०] इति ।

नापि सविकल्पकेन, अस्य निर्विकल्पकाविषये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । उपपत्तौ वाऽति-  
प्रसङ्गे । न च विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्त्तिरण्डमुण्डकर्मादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिवत्

(१) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत । ऊरू तदस्य यद्वैश्य, पद्भ्या शूद्रोऽजायत ॥”—  
श्रु० पुरुष० १२ । “अस्य प्रजापते ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट पुरुष मुखमासीन मुखदुत्पन्न इत्यर्थं ।  
योऽत्र राजन्य क्षत्रियत्वजातिविशिष्ट स बाहू कृतो बाहुत्वेन निष्पादितो बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः ।  
तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यद्बाहू तद्रूपो वैश्य सम्पन्न, ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थं । तथास्य पद्भ्या पादाभ्या  
गूढ सुद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत । इत्यञ्च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्जन्म संहिताया (३१।११)  
सप्तमराण्डे 'स मुत्तस्त्रिवृत निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमान्नाता ।”—सायणभा० । (२) पृ० ७६८  
पृ० १८ । (३) तुलना—“तत्र किं निर्विकल्पकात् विकल्पकाश्च ततस्तत्प्रतिपत्ति स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ०  
४८२ । स्या० १० पृ० ९५८ । (४) इन्द्रियजनितेन प्रत्यक्षेण । (५) निर्विकल्पके । (६) व्याख्या—  
'यत्त्वयिगच्छमसहमान सर्वमेव ज्ञान गच्छानुविदत्वात् सविकल्पकमव न किञ्चिन्निरविकल्पकमस्तीति  
मन्यत तं प्रत्याह—अस्तीति । बालानामिव अव्युत्पन्नानामस्माकमपि चक्षु सन्निपातानन्तर सविकल्पकात्  
प्रथममस्ति निर्विकल्पक प्रतीतिमिदमालोचनविज्ञान गुद्ववस्तुविषयम्, तदभावे हि निनिमित्त सन्दर्भरण  
भ्यान् । अस्मत्सन्दर्भस्य च (न) गच्छानुविदो विवल्प मभवतीति । गुद्ववस्तुजमित्येतद्विष्णोति— न  
विशेषो न सामाद्यं तदानीमनुभूयत । तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयत ॥ महाशामान्यमन्यस्तु  
द्वर्धं मदिधि चाच्यत ।—मी० श्लो० न्यावर० । उद्गतोऽयम्—ज्ञानमाद्य चन्निरविकल्पकम्—तत्सर्वतं पृ०  
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । प्रमेय० पृ० ७४ । स्या० १० पृ० ९५८ । स्या० मं० श्लो० १३ ।  
'ह्यागेचनं ज्ञान'—पृ६६० बृह० पृ० ११ । (७) तता निर्विकल्पकादुत्तरत्वात् जात्यादिभिर्विकल्प्य  
वस्तु यथा बुद्ध्या गूढं गार्त्रं प्रत्यक्षमवति ।—मी० श्लो० न्यावर० । उद्गतोऽयम्—तत्सर्वतं पृ०  
३८५ । प्रमेयक० पृ० ४८२ । स्या० १० पृ० ९५८ । (८) मनाराग्यादिविकल्पादपि वस्तुनिमित्तप्रयत्नात् ।  
(९) तुलना—'विस्फारिताक्षस्य पुरोवर्त्तिरण्डमुण्डकर्मादिव्यक्तिषु गवाश्वादिजातिवत् मनुष्यव्यक्तिषु  
मनुष्यवस्तुगणनिष्काब्राह्मणस्य सव्यचिदप्रतिभासात् ।—स्या० १० पृ० ९५८ ।

शुद्धत्वादिगुणवद्वा मनुष्यव्यक्तिपु मनुष्यत्वपुंस्त्वाद्यतिरिक्तस्य ब्राह्मण्यस्यैकस्य अखिल-  
स्वव्यक्तिष्वनुगतस्य प्रतिभासोऽस्ति । कथमेव कचिद् ब्राह्मणत्वानुरक्तोऽनुगतप्रत्ययः  
स्यादिति चेत् ? सङ्केतवशात्, यथैव हि परस्परविलक्षणेपु गोवज्रादिपु एकगोत्वरूपसामा-  
न्याभावेऽपि 'गौः गोः' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययः तथा अन्योन्यविलक्षणेप्यपि मनुष्यव्य-  
क्तिविशेषेपु 'ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयम्' इत्यनुगताकारैकप्रत्ययो भविष्यति । वस्तुसामर्थ्य-  
प्रभवत्वे तु अगृहीतसङ्केतास्वपि व्यक्तिपु तन्मात्रोपलम्भेनैव अव्यभिचारिगोप्रत्ययवत्  
सं स्यात्, न चैवम् । न खलु यथा महिपादिसङ्घे गवा गोजातिः वैलक्षण्येन प्रतिभासते  
स्यसङ्घे च गुणः क्रिया वा, तथा ब्राह्मण्यमपि । नहि हस्तपादाद्याकारव्यङ्ग्यमनुष्य-  
त्वाद् व्यतिरिच्यमानपुस्त्वादिसामान्यवत् ब्राह्मण्यव्य वैचित्त्वेन जातु प्रतिभासते ।  
अन्यसहकृतेन्द्रियजनितेनापि तेन निर्विकल्पकेन, सविकल्पकेन वा तत् प्रतीयते ? 10  
उभयत्र उक्तदोषानुपह्न ।

किञ्च, इन्द्रियाणा तद्विषय प्रत्यक्षमुपजनयता किं तदन्यत् सहकारित्वेन अभिप्रे-  
तम्-ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वम्, पित्रोरविप्लुतत्वोपदेशः, आचारविशेषः, सस्कारविशेषः,  
वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्व वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, यतः  
पित्रोर्ब्राह्मण्ये सिद्धे तज्जन्यत्वेन पुत्रस्य ब्राह्मण्यं सिद्धेत्, तच्चानयोः ब्राह्मणभूतपितृ-  
जन्यत्वात् सिद्धेत्, तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे अनवस्था । वीजाङ्कुरवदना-  
दित्वात् तत्कार्यकारणप्रवाहस्य असौ नानवस्था दोषाय, इत्यप्ययुक्तम्, यतो वीजाङ्कुरयोः  
कार्यकारणभावः पूर्ववीजाङ्कुरकार्यकारणभावग्रहणनिरपेक्षः प्रमाणतः प्रतीयते, अत्र तु  
पूर्वपूर्वब्राह्मण्यप्रतिपत्त्यभावे परापरब्राह्मण्यप्रतिपत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् दृष्टान्त-दार्ष्टा-  
न्तिकयो मनागपि साम्यम् । द्वितीयपक्षे तु अन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि पितृब्राह्मण्ये ब्राह्मण-  
भूतपितृजन्यत्वेन पुत्रब्राह्मण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणभूतपुत्रजनकत्वात् पितृब्राह्म-  
ण्यसिद्धिरिति । 20

(१) वस्तुमात्रोपलम्भनैव । (२) ब्राह्मणोऽय ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यय । (३) मनुष्यत्व हि  
स्त्रीपु पुरुषपु च व्याप्तम्, पुरुषत्व तु पुरुषमात्र एव । (४) प्रत्यक्षण । (५) ब्राह्मण्यम् । (६)  
'ननु किमिदमिन्द्रियसहकारित्वेनात्रपुत्र-ब्राह्मणभूतस्वपितृजन्यत्वम्, पितृगोचरो'विप्लुतत्वोपदेशः,  
आचारविशेषः, सस्कारविशेषः, वेदाध्ययनम्, यज्ञोपवीतादिकम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा ?'-स्या० २० पृ०  
९५८ । (७) तुलना- यत पित्रादिब्राह्मण्यज्ञान प्रमाणमप्रमाण वा ?'-प्रमेयक० पृ० ४८३ । (८)  
'तच्चानयो ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वात् सिद्धवत् तथाभूतपुत्रजनकत्वाद्वा ?'-स्या० २० पृ० ९५९ ।

1 मनुष्यपुस्त्वा-आ०, व० । 2-स्त्वाद् व्यति-श्र० । 3 ब्राह्मण्य-आ०, श्र० । 4-गत  
प्रत्य-व० । 5-स्वव्यक्तिपु मनुष्यत्वपुस्त्वाद्यतिरिक्तस्य ब्राह्मणोऽय श्र० । 6-जारी गोप्रत्य-आ०, व० ।  
7 महिष्यादि-श्र० । 8 स्वस्वसङ्घे व० । 9-स्वाद्यतिरि-व०, आ० । 10 जाति प्रति-श्र० ।  
11-जन्यत्व व० । 12 तत्राद्य-व० । 13 ब्राह्मण्यभूत-श्र० । 14-ह्यण्यभावेपरा-श्र० । 15 पुत्र-  
ब्राह्मण्यसिद्धि तत्सिद्धौ च ब्राह्मण्यसिद्धि तत्सिद्धौ च ब्राह्मण-आ० ।

‘अविप्लुतेन ब्राह्मणेन अविप्लुताया ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मणः’ इत्यविप्लुतमातापित्रु-  
पदेशस्तत्सहकारी, इत्यपि श्रद्धामार्गम्, प्रमाणतोऽप्रतिपन्नेऽर्थे वास्तवोपदेशासभवात् ।  
यत्र कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते न तत्रोपदेशो वास्तवः यथा सकलशून्यतायाम्, कुतश्चि-  
दपि प्रमाणान्न प्रतीयते च भवत्कल्पित ब्राह्मण्यमिति । अथ प्रत्यक्षत एव ब्राह्मण्य प्रतीय  
यथोक्तोपदेशो विधीयते, तदसत्, परस्परश्रयप्रसङ्गात्—सिद्धे हि ब्राह्मण्यप्रत्यक्षत्वे  
प्रमाणभूतयोक्तोपदेशसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तथाभूतोपदेशसहकृतेन इन्द्रियेण ब्राह्मण्य-  
प्रत्यक्षतासिद्धिरिति ।

अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया, अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वा अभिप्रेतम् ?  
यदि विवक्षितपित्रपेक्षया, तत्रापि अनयोः तज्जन्मनि अविप्लुतत्वमभिप्रेतम्, अनादि-  
काले वा ? तज्जन्मनि चेत्, केन तत्र तयोः प्रतीयेत—पुत्रेण, अन्यैर्वा ? न तावत्  
पुत्रेण, स्वजन्मकालेऽपि तस्य तद्विवेचनासामर्थ्यात् । नाप्यन्यैः, तद्वि तैः प्रत्यक्षतः  
प्रतीयेत, अनुमानात्, आगमाद्वा ? न तावत् प्रत्यक्षतः, ‘अयमेतस्मादेव एतस्यामुत्पन्नः’  
इत्येवरूपस्यार्थस्य अर्वागृहशा प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वात् । नाप्यनुमानात्, प्रत्यक्षाविषये  
भवता अनुमानाऽनभ्युपगमात् । लिङ्गाच्च अनुमानमुदयमासादयति । न च पित्रविप्लु-  
तत्वे किञ्चिद्विङ्गमस्ति । तत्र हि लिङ्गम्-पित्रोः सद्युताकारादिविशेषः, अपत्येष्वविल-  
क्षणता वा ? तत्रापक्षोऽप्युक्तः, दुश्चारिणाम् अतीव सद्युताकारदर्शनात् । द्वितीयपक्षोऽ-  
प्यपेशलः, यतो यदि विप्लुतेतरपितृप्रभवाऽपत्येषु विलक्षणाकारता सिद्धेत् तदा अवि-

(१) तुङ्गा- न खड्ग द्विजादिभाव प्रमाणगोचरचारी । स हि जातियोगरक्षण गोत्ररक्षण  
त्रिमासामर्थातिशययोगो वा ? परोपदेशप्रामाण्य प्रत्यक्षार्थे न युक्तिमत् । उपदेशो हि श्रेयानामप्य  
धापि प्रवतत ।—प्रमाणवातिकान्० पृ० २२। नचोपदेशसहाय्याध्यक्षगम्य तत ज्येष्ठविषये उपदे  
शापेक्षायोगात् । तद्योग वा उपदेशस्यैव नववक्ष्य व्यापार एव उपदेशमात्रव्यङ्ग्यतैव ।—सप्तमि०  
टी० पृ० ६९७ । (२) गृहमण्य नोपदेशो वास्तव प्रमाणतोऽप्रतीयमानत्वात् । (३) ‘किञ्च, गृहम  
ण्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहस्तुतासिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिरित्यन्यो  
याधय ।—प्रमेयक० पृ० ४८३। स्या० २० पृ० १५९ । (४) तुङ्गा- ‘गृहवशादानीमुदो पित्रो  
पित्रोपदेशश्च । तदानन्तनु शरोपाददोषा जातिरस्ति वा । वामिनीवगससर्गेन क सद्युतान्तपातव ।  
—नयप० १७। ४०-६१ । ‘अविप्लुतत्वञ्च विवक्षितपित्रपेक्षया अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया वा-  
भिप्रेतम् ? यदि विवक्षितपित्रपेक्षया, तत्राप्यनयोस्तज्जन्मन्यविप्लुतत्वमभिप्रेतमनादिकात् वा ?  
तज्जन्मनि चत्, तदि केन तत्र तयोः प्रतीयेत पुत्रेण अथैर्वा ?—स्या० २० पृ० १५९ । (५)  
विवक्षितपित्रपेक्षया तज्जन्मन्यविप्लुतत्वम् । (६) ‘नच पित्रोरविप्लुतत्व विञ्चित्लिङ्गमस्ति, तदि  
(७) सद्युताकारादिविशेष ज्येष्ठत्वविप्लुतत्वता वा ?—स्या० २० पृ० १५९ । (७) तुङ्गा-  
नच विप्लुतत्वरपित्रपेक्षया वलक्ष्यं उदयत । न सन्तु वदवाया गदभादवप्रभवापत्यविव  
शाह्मण्याः गृहमण्यगृहप्रभवापत्यविव वदक्ष्यं उदयत ।—प्रमेयक० पृ० ४८३। स्या० २० पृ०  
१५९ । ‘न च ज्ञातवन्तरथेन पुरुषेण स्त्रियां चरन्ति । त्रिषु गमयभूतिविश्रीदीनां तु जायत ॥  
अदशानां रामभनास्ति सभवात्स्यति चत् स । निजान्तमप्यजातिस्वः यद्भादितनुगाम्यत ॥ यदि वा

लक्षणाकाराऽपत्योपलम्भात् पित्रोरविप्लुतत्वं निश्चीयते, न चासौ' सिद्धा । न खलु बह-  
चायां गर्दभाश्चप्रभवाऽपत्येऽप्यिव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं स्वप्नेऽपि  
प्रतीयते । आगमतोऽपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तयोरविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः स्यात् ? न  
तावदपौरुषेयात्; तत्प्रतिपादकस्य अपौरुषेयस्य आगमस्यैवाऽसंभवात् । पौरुषेयो-  
प्यागमः तैत्प्रणेत्रा प्रमाणान्तरेणानयोरविप्लुतत्वे प्रतिपन्ने सति प्रवर्त्तमानः प्रमाणातां  
भजते, 'न तैत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिदस्ति' इत्युक्तम् । तन्न तज्जन्मनि अनयोरविप्लुतत्वं  
कुतश्चित् प्रत्येतुं शक्यम् ।

एतेन अनादिकाले तैयोस्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्याख्याता, यथोर्हि तज्जन्मन्यप्यविप्लुतत्वं  
प्रत्येतुं न शक्यते तयोः अनादिकाले तत् प्रतीयते इति महच्चित्रम् !

एतेन अनादिकालपितृप्रवाहापेक्षया अविप्लुतत्वप्रतिज्ञा प्रतिव्यूढा ।

किञ्च, सैर्देव अचलानां कामातुरतया इह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भात्  
अनादौ काले ताः कदा किं कुर्वन्तीति ब्रह्मणापि ज्ञातुमशक्यम् । तथा च 'व्यभिचारो हि  
प्रवादेन व्याप्तः' इत्याद्युक्तम्; अत्यन्तप्रेच्छन्नकासुकानां प्रवादाभावेऽपि व्यभिचारसंभ-  
वतः तस्य तेन व्याप्यनुपपत्तेः । अतः पित्रोरविप्लुतत्वस्य कुतश्चिदप्रसिद्धेः न तदुपदेशो  
ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताप्रादुर्भावे चक्षुषः सहकारित्वं प्रतिपद्यते ।

नापि आचारविशेषः; स हि ब्राह्मणस्याऽसाधारणो याजनाऽध्यापनप्रतिग्रह-

तद्देव स्याद् द्वयोर्विसदृश सुत । नात्र दृष्टं तथा तस्मादगुणैर्वर्णव्यवस्थिति ॥"-पद्मपु० ११।१९६-९८।  
"वर्णाकृत्यादिभेदाना देहेस्मिन्न च दर्शनात् । ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भान्प्रवर्तनात् ॥ नास्ति जातिवृत्तो  
भेदो मनुष्याणा गवाश्ववन् । आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिवर्त्त्यते ॥"-उत्तरपु० ७४।४९१-९२ ।

(१) विप्लुतेतरप्रभवापत्येषु विलक्षणाकारता । (२) तुलना-" न च वेदवच विञ्चित्  
द्विजातित्वप्रसाधकम् । व्यक्ते सामान्यवचनमनुक्तसममेव तत् ॥"-प्रमाणवार्तिककाल० पृ० २५। (३)  
आगमप्रतिपादकेन । (४) अविप्लुतत्वप्रतिपत्तिः । (५) पित्रोरविप्लुतत्वप्रतीतिः । (६) तुलना-  
"यदाहु -अनादादिह ससारे दुवारे मकरध्वजे । कुले च वामिनीमूले का जातिपरिवर्त्तना ॥"-नैषध०  
टी० १७।४०। "अनादिगोत्रपद्धत्यामस्या न स्वल्पे स्त्रिया । इति ज्ञान कयनाम कामार्ता हि सदा  
स्त्रिय ॥ ब्राह्मणत्वे स्थिते पूर्वं तद्गोत्रत्वस्य सभवं । तदाऽस्थिते कय गोत्र सेयमन्धपरम्परा ॥"  
-प्रमाणवार्तिककाल० पृ० २५। "अतीतश्च महान् कालो योपिताञ्चातिचापलम् । तद् भवत्यपि  
निश्चेत् ब्राह्मणत्व न दानयते ॥ अतीन्द्रियपदार्थज्ञो न हि कश्चित् समस्ति व । त्वदन्धयविमुद्दिञ्च  
नित्यो वेदोऽपि नोक्तवान् ॥"-तत्त्वस० का० ३५७९-८० । "प्रायेण प्रमादाना कामातुरतया  
इहजन्मन्यपि व्यभिचारापेक्षामात्कुतो योनिनिबन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चयः ।"-प्रमेयक० पृ० ४८२। "अना-  
दिगोत्रपद्धती च कामार्तत्वात् सर्वदा प्रमदाना कस्यादिचद् व्यभिचारसंभवात् कुतो योनिनिबन्धन-  
ब्राह्मण्यनिश्चयात् सस्कारस्य अध्ययनादेश्च अविपर्यस्तत्वनिश्चयः ।"-सन्नति० टी० पृ० ६९८।  
स्था० २० पृ० ९६० । "न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता । कालेनानादिना गोत्रे स्वल्पेन वद  
न जायते ॥"-धर्मप० १७।२८। (७) "अध्यापनमध्ययन यजन याजन तथा । दान प्रतिग्रहञ्चैव  
ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥"-मनुस्मृ० १।८८।

ग्रहादिः, स च तत्प्रत्यक्षतानिमित्तं न भवति अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुपङ्गात्, याजनादि-  
रहितेषु हि ब्राह्मणेऽपि तद्भवहारभावप्रसङ्गादव्याप्तिः, शूद्रेऽपि अखिलस्य याजना-  
द्याचारस्योपलब्धितो ब्राह्मणानुपङ्गाच्चातिव्याप्तिः । अथ मिथ्याऽसौ आचारविशेष-  
स्तत्र, अन्यत्र कुतः सत्यः ? ब्राह्मण्यसिद्धेश्चेत्, अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि आचारसत्यत्वे  
5 ब्राह्मण्यसिद्धिः, तस्मिद्धौ च आचारसत्यत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, आचाराद् ब्राह्मण्यसिद्ध्याभ्युपगमे व्रतबन्धात् पूर्वमब्राह्मण्यप्रसङ्गः ।  
तत्र आचारोऽपि तैत्प्रत्यक्षतां प्रत्यङ्गम् ।

एतेन संस्कारविशेषस्यापि तदङ्गता प्रत्याख्याता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरत्राप्य-  
विशेषात् । तत्र अव्याप्तिः—संस्कारविशेषात् पूर्वं ब्राह्मणस्यापि अब्राह्मण्यप्रसक्तेः  
10 स्यात् । अतिव्याप्तिः पुनः अब्राह्मणस्यापि तथाविधसंस्कृतस्य ब्राह्मणत्वापत्तेः स्यादिति ।  
एतेन वेदाध्ययनस्य यज्ञोपवीतादेश्च तदङ्गता प्रतिव्यूढा । ब्रह्मप्रभवंत्वस्य च तदङ्गत्वे  
अतिप्रसङ्ग एव, सकलप्राणिनां तत्रैवभवतया ब्राह्मण्यप्रसङ्गात् ।

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति, न वा ? यदि नास्ति; कथंमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ?  
न हि अमनुष्यात् मनुष्योत्पत्तिः प्रतीता । अथ अस्ति, किं सर्वत्र, मुखप्रदेशे एव  
15 वा ? यदि सर्वत्र, स एव प्राणिना भेदाभावानुपङ्गः । अथ मुखप्रदेश एव, तदाऽ-  
भ्यत्रार्थे शूद्रत्वानुपङ्गात् न पिप्राणां तत्पादादयो घन्याः स्युः ।

(१) तुलना—'अथाध्ययनादिना क्रियाविशेषेण ज्ञायते नोपदेशमन्नात्; तदप्यसत्; द्विजा-  
तित्वे क्रिया साध्या न क्रियातो द्विजातिता । वचनादपि नैवास्या प्रतीतिरविरोधनी ॥"—प्रमा-  
णवार्तिकाल० पृ० २३ । "जातकर्मदयो ये च प्रसिद्धास्ते तदयवत् । आचारा सावृतास्ते हि वृश्चि-  
मप्यपि भाविन ॥"—तत्त्वसं० का० ३५७८ । "अत एवाध्ययन क्रियाविशेषो वा तत्सहायता न  
प्रतिपद्यते । दृश्यते हि शूद्रोऽपि स्वजातिविलोपाद्दशान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययन तत्प्रणीताञ्च  
क्रिया कुर्वाण ।"—प्रमेयक० पृ० ४८५ । "अव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चानुपङ्गात्"—स्या० २० पृ० ९६० ।  
(२) शूद्रादिषु । (३) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताम् । (४) तुलना—'एतेन संस्कारविशेषस्य वेदाध्ययनस्य  
यज्ञोपवीतादेश्च चक्षुःसहकारिता प्रत्युक्ता, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योरत्राप्यविशेषात् ।"—स्या० २० पृ०  
९६१ । (५) ब्राह्मण्यप्रत्यक्षतानिबन्धनत्वे । (६) तुलना—'ब्रह्मणोऽप्यतयतामात्रात् ब्राह्मण्येति प्रसज्यते ।  
न वरिचदरह्यतनोस्तत्र क्वचिद्विष्यते ॥ अन्तरा जातिभेदश्चरित्रनिमित्त कथं भवेत् । अन्तराले  
क्रियाभदान् गात्रणार्थो न कस्यचित् ॥ अथ द्विजादिगोत्राणामनादिभेद इष्यते । ज्ञायता स कथं नाम  
प्रमाणस्याप्रवृत्तिः ॥ क्रिया तदपरिज्ञानादत्रियैव प्रसज्यते । अविच्छदश्च गोनस्य प्रत्येत् क्षयते न  
च ॥ मूलमागधचाण्डालाः नयुः सभविनोऽप्यथा । ज्ञायन्त एव ते तज्ज्ञैरिति चेन्नियमो न हि ॥"—  
प्रमाणवार्तिकाल० पृ० २४ । (७) ब्रह्मप्रभवतया । (८) तुलना—'किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा न  
वा ? नास्ति चन्, कथंमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ? अस्ति चेन्; किं सर्वत्र मुखप्रदेश एव वा ?"—प्रमे-  
यक० पृ० ४८४ । स्या० २० ९६१ । (९) अब्राह्मणाद् ब्रह्मण । (१०) सर्वत्र शरीरावयवेषु मुख-  
दिशादान्तषु । (११) पादादिषु । (१२) ब्रह्मण ।

१ आचारस्तत्र व०, वा० । २ व्याप्त्योस्तत्रा—थ० । ३ त्वानुपपत्ते थ० । ४ वरवतापनय  
न व व० । ५ -स्तिः प्रतीयते व०, -तिता प्रतीता थ० ।

किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेवं वासो जायते ? विकल्पद्वयेपि अन्यो-  
न्याश्रयः—सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैवं तन्मुखाज्जन्मसिद्धिः, तत्सिद्धौ च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति।  
न च ब्रह्मप्रभवत्वं विशेषणं ब्राह्मण्यप्रत्यक्षताकाले केनचित् प्रतीयते । न च अप्रतिपन्नं विशेष-  
णं विशेष्ये प्रतिपत्तिमाधातुं समर्थमतिप्रसङ्गात् । यद् विशेषणं तत् प्रतिपन्नमेव विशेष्ये  
प्रतिपत्तिमाधत्ते यथा दण्डादि, विशेषणञ्च ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ ब्रह्मप्रभवत्वमिति ।

एतेन 'असति प्रतिबन्धके यो यदाकारः प्रत्ययः' इत्याद्यनुमानं ब्राह्मण्यसद्भाव-  
प्रसाधकं प्रत्याख्यातम्, अनेकधा प्रतिबन्धकसद्भावप्रतिपादनात् ।

यदपि—'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानमुक्तम्, तदप्युक्तम्, पैक्षस्य अध्यक्षवाधि-  
तत्वात्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु हि ब्राह्मणपदं व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेय-  
सम्बन्धशून्यमेव अध्यक्षतः प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तजद्वयत् । अप्रसिद्धविशेषणश्च  
पक्षः, न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वं मीमांसकस्य अस्माकं वा कापि  
प्रसिद्धम् व्यतिरिक्तव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योभाभ्यामभ्युपगमात् । हेतुश्चानैकान्तिकः,  
सत्ताऽऽकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावेऽ-  
पि पदत्वस्य भावात् । अत्रापि तैत्तसम्बद्धत्वकल्पनायां सामान्यस्य निःसामान्यत्वमनेक-  
व्यक्तिवृत्तित्वञ्च व्याह्रन्येत । अद्वैतारिखलशून्यत्वादेश्च सामान्यवत्त्वेन परमार्थसत्त्वानु-  
पह्नातुं कुतोऽप्रतिपक्ष पक्षसिद्धिश्च स्यात् ? दृष्टान्तोऽपि साध्यविकलः; पदादिपदे  
व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तत्वासिद्धेः । नित्यैकरूपसामान्यमन्तरेणापि अनन्ताना वाच्य-  
वाचकव्यक्तीनां सम्बन्धो यथा सिद्धयति तथा नित्यसम्बन्धनिषेधावसरे प्ररूपितम् ।

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं<sup>१</sup> प्रत्युक्तम्, उक्तदोषाणामत्राप्यविशेषात् । नगैरा-

(१) तुलना—'किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते तन्मुखादेवासौ जायते ?'—प्रमेयक०  
पृ० ४८४। (२) ब्राह्मणस्यैव । (३) पृ० ७६९ पृ० ८। (४) पृ० ७६९ पृ० १३। (५) तुलना—'यतो  
यदि व्यक्तचादिभ्यो व्यतिरिक्त निमित्तमात्रमस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन साध्यते तदा सिद्धसाध्यता,  
तत्समुदायस्य समुदायिभ्य कश्चिदव्यतिरिक्तस्य तद्विषयत्वेन स्वीकारात् । अथ प्रतिव्यक्ति परि-  
समाप्तमेकान्तव्यतिरिक्तमभिधीयते, तदा पक्षस्य प्रतिपक्षवाधितत्वम्, कठकलापादिब्राह्मणव्यक्तिषु  
हि ब्राह्मणज्ञान व्यक्तचादिव्यतिरिक्तसामान्यनिमित्तरहितमेवाध्यक्षत प्रतीयते अश्रावणत्वविविक्तसब्द-  
वत् ।'—स्या० २० पृ० ९६१ । प्रमेयक० पृ० ४८५ । (६) जैतानाम् । (७) व्यक्तिभ्यो कश्चिद्  
भिन्नाभिन्नस्य । (८) मीमांसकजैतानाम् । (९) व्यक्तिभ्यो भिन्नाना सत्तात्व-आकाशत्व कालत्व-  
अद्वैतवादीना सम्बन्धस्वीकारे । (१०) अद्वैतस्य सकलशून्यतायाश्च सिद्धिप्रसङ्गात् । (११) पृ०  
५४६ । (१२) पृ० ७६९ पृ० १८ । (१३) तुलना—'नगरादिज्ञानवत् व्यतिरिक्तनिबन्धनाभावोऽपि  
तथाभूतज्ञानस्य कश्चिदुपपत्ते । न हि नगरादिज्ञानेऽपि व्यतिरिक्तद्रव्यान्तरमस्ति यदेवाकारज्ञान-  
निबन्धन भवेत्, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्त्या कयाचिन् प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनाना नगरादिव्यवहार-  
निबन्धनत्वोपपत्ते, अन्यथा पण्णगरीत्यादिव्यवधि वस्तुन्तरत्वत्वनाप्रसक्ते ।'—सम्मति० टी० पृ० ६९७ ।  
प्रमेयक० पृ० ४८५ । स्या० २० पृ० ९६१ ।

१—देव वासो आ०, व० । २—सिद्धे श्र० । ३ अथप्रसिद्ध—श्र० । ४ व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्यो-  
भाभ्यु—आ० । ५—भाभ्यामुप—श्र० । ६ सामान्यनि सा—आ० ।

दिज्ञानेन अनेकान्ताच्च, तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिवन्धनत्वाभावेऽपि वर्णविशेषादिनिमित्तवुद्धिविलक्षणत्वस्योपलम्भात् । न खलु 'नगर सेना वनम्' इत्यादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तम् अनुवृत्तप्रत्ययनिवन्धन किञ्चिदस्ति । तद्धि द्रव्यम्, सत्ता, प्रत्यासत्तिविशेषो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे नगरादिकमेव तत्र द्रव्यम्, अन्यद्वा ? न तावत् नगरादिकमेव, तस्य द्रव्यत्वाऽसभवात् । नहि नगरं सेनादिकं वा द्रव्यं सभवति, गृहादिभिरसयुक्तैः विजातीयैश्च तस्य आरम्भाऽसभवात् । कतिपयगृहाणामस्ति सयोग इति चेत्, न, तेषां स्वयं सयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात् । गुणरूपतया च तेषां द्रव्यानारम्भकत्वम्, गुणैर्द्रव्यानारम्भाऽसभवत्वात् ।

'सत्ता नगरादिकम्' इत्यापि असौ गृहादिविशेषिता, केवला वा तत्प्रत्ययमुत्पादयेत् ? न तावत् केवला, गृहादिविचिक्तेऽपि प्रदेशे ततः तत्प्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ गृहादिविशेषिता, न, कूटस्थनित्यार्था विशेष्यत्वासभवात्, अकिञ्चित्करस्य अविशेषणत्वाच्च । किञ्चित्करत्वे वा तत्कूटस्थताक्षति । कश्चेव 'पणगरी' इत्यत्र समुदायोपपत्तिं सत्ताया एकरूपतया समुदायतानुपपत्ते ?

प्रत्यासत्तिविशेषोऽपि कस्य केन सह नगरादिव्यपदेशमर्हेत् ? गृहादीनां गृहाद्यन्तरे इति चेत्, कः पुनरसौ-तेषां नै. सह समवाय, सयोगो वा ? न तावत्समवायः, तेषां युतसिद्धतया अनाधारार्थाधारभूततया च तदसभवात् । नापि सयोग, गृहादीनां सयोगरूपतया सयोगानाश्रयत्वात् । न च नगरादिशब्दात् 'संयुक्तसयोगाल्पीयस्त्वलक्षणे प्रत्यासत्तिविशेषे एकस्मिन् केस्यचित् प्रतिपत्ति-प्रवृत्तिं प्राप्तयोऽनुभूयन्ते, किंतु गृहादावनेकत्र । नगरशब्दाद्धि गृहादौ, सेनाशब्दाद् अश्वदौ, वनशब्दाच्च धवादावनेकत्रार्थे तैः प्रतीयन्ते इति । यत्र हि शब्दादुच्चरितान् प्रतिपत्त्यादयः प्रतीयन्ते स शब्दस्यार्थं तथा वृद्धव्ययहारात् । 'देशादिप्रत्यासत्तिविशिष्टा गृहादयो नगरादिव्यपदेशभावात्' इत्यनेनाऽपास्तम्, देशादौ हि प्रत्यासत्ति-तेषां समवाय, सयोगो वा ? तत्र च

(१) गृहाणाम् । (२) गणेशस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । (३) गृहाणाम् । (४) द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वश० सू० १।१।१०) इति नियमात् । (५) सत्ता । (६) नगरमिति प्रत्ययम् । (७) सत्तात् । (८) सत्ताया । (९) गृहादे । (१०) यदि गृहादय मन्वाया वञ्चिदन्तिगममुत्पादयन्ति तदा । (११) सत्ताया नित्यैकरूपनाभ्यापात् । (१२) गृहादीनाम् । (१३) एतन् गृहण मयुक्तमपर गृह तत्र चापरमिति मयुक्तमयोगाद् यदस्तीयस्त्वम् अल्पदेशावगाहित्वं न । (१४) गुरुस्य । (१५) प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तयः । (१६) तु क्ना- 'सेनाशब्दादनेकत्र हस्त्याद्यर्थे प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तिमिदं वनशब्दाच्च धवलादिरपशान्तावनेकत्रार्थे । यत्र हि शब्दान् प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समधिगम्यन्त म गच्छन्त्याश्च प्रसिद्धस्य वा वृद्धव्ययहारात् । न च मन्वावनादिशब्दात् प्रत्यासत्तिविशेष प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयोऽनुभूयन्त यत्र स तस्याय स्यात् । -आप्तप० का० ४ ।

१-निरूपणाभावात् ३।०, ४० । २-त्वात् कि-३० । ३-अप्रत्यासत्ति-३० । ४-सत्ता-प्रतिपत्त्या-आ० ।

उक्तदोषोऽविशिष्टः । भवतामपि कथमेवं नगरादिव्यपदेशः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम् ; देशप्रत्यासत्तिविशिष्टे प्रासादादौ तद्व्यपदेशस्य अस्माभिरभ्युपगमात् । देशप्रत्यासत्ति-  
 श्चात्र संयोगलक्षणा प्रतिपत्तव्या, प्रासादादेरवयवित्वेन अस्माकमिष्टत्वात् । विजातीयैः  
 काष्ठेष्टिकादिभिः तस्य आरम्भासंभवात् कथमवयवित्वम् ? इत्यनुपपन्नम् ; विजाती-  
 येरपि पृथिव्यादिभिः शरीराद्यवयवित्त्वात् आरम्भोपलम्भात् । सजातीयानाम् आरम्भ-  
 नियमस्य पट्टपदार्थपरीक्षायां पृथिव्यादीनां तत्त्वान्तरत्वनियेधावसरे निषिद्धत्वात् ।  
 ततो भवन्मते नगरादिज्ञाने व्यक्तिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनत्वाभावात्, सिद्धमनेना-  
 नैकान्तिकत्वम् । न चान्यत् किञ्चिद् ब्राह्मण्ये लिङ्गमस्ति यतः तत्सिद्धिः स्यात् ।

अस्तु वा किञ्चित्तत्र लिङ्गम्, तथापि अगृहीतप्रतिबन्ध तर्त् न तत्प्रतिपत्तेरङ्गम्,  
 अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धग्रहश्च अप्रतिपन्ने ब्राह्मण्ये न संभवति, अतिप्रसङ्गात् । तत्प्रतिप-  
 त्तिश्च प्रत्यक्षतः प्रतिपिद्धा । अनुमानतः तत्प्रतिपत्तौ चक्रप्रसङ्गः—सिद्धे हि अनुमा-  
 नतो ब्राह्मण्ये तेन लिङ्गस्य प्रतिबन्धसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अनुमानसिद्धिः, ततश्च  
 ब्राह्मण्यसिद्धिरिति ।

आगमतोपि अपौरुषेयात्, पौरुषेयाद्वा तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? न तावदपौरु-  
 षेयात्; तस्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात्, ब्राह्मणत्वस्य च नित्यतयेष्टितोऽकार्यत्वात् ।  
 नापि पौरुषेयात् ततः तत्प्रतिपत्तिः, तस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वात्, तस्य चात्राऽसंभवात् ।

नाप्युपमानात् तत्प्रतिपत्तिः, तस्य सादृश्यालम्बनत्वात् । अप्रतिपन्ने च प्रमाणा-  
 न्तरेण ब्राह्मण्ये कथं तेन सादृश्यं कस्यचित्प्रतीयेत यतः तद्दर्शनाद् ब्राह्मण्यं प्रतीयेत ?

नाप्यर्थापत्तेस्तत्प्रतिपत्तिः, ब्राह्मण्यजातिव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणपट्ट-  
 विज्ञातस्य कस्यचिदप्यर्थस्य अप्रतीयमानत्वात् । अतः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चक-  
 गोचरातिक्रान्ततया अभावप्रमाणरुचलीकृतत्वात् नभोऽम्भोजयत् नास्ति ब्राह्मण्यम् ।  
 अतो ब्राह्मण्यजातेः सर्वस्यैवाऽसंभवात् 'प्रथमदर्शने प्रतिभातापि जातिः व्यञ्जकभेदा-  
 ग्रहणात्त्रोल्लिखति' इत्यादि<sup>१</sup> प्रत्याख्यातम् ।

(१) जैनानाम् । (२) नगरादिव्यपदेशस्य । "प्रासादतोरणपुरुषादीनां समुदायो नगरम् ।"  
 -प्रमाणवा०स्व० टी० पृ० १२७ । (३) जैनानाम् । (४) अवयवित्वस्य । (५) पृ० २३९ । (६)  
 नैयायिकादिमते । (७) ब्राह्मण्ये । (८) लिङ्गम् । (९) ब्राह्मण्यप्रतीति । (१०) "नाप्यागमन,  
 यतोऽसौ पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेय -स्वा० २० पृ० ९६२ । सम्मति० टी० पृ० ६९८ । (११)  
 "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्-त्रिया कथमनुष्ठेयेति ता वदितुं समाभ्यातारो वाक्यानि समामनन्ति ।"  
 -जैमिनिसू०, शाबरभा० १।२।१ । (१२) आगमात् । (१३) वक्तुं प्रतिपाद्यविषयज्ञानस्य प्रमाणत्वे  
 सिद्ध एव तत्प्रतीतागमस्य प्रामाण्यम् । (१४) ब्राह्मण्यसदृशवस्तुदर्शनात् । (१५) पृ० ७६८ पृ० ६ ।



यदप्युक्तम्—‘द्रव्यपरीक्षकाणाम्’ इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम् ; यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्, विचित्ररेखारचितपरिणतिमात्रं वा द्रव्यम्; वृत्तसंस्थानमात्रं वा मणिः; अतिप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? तद्विशेषः । स च न प्रत्यक्षः, दाहच्छेदादेः तुंपाम्बुसंप्रक्षालनादेः परंप्रभादेश्च वैचर्ध्यप्रसङ्गात् । तस्यापि तत्प्रतिपत्तौ सहायत्वे तज्जातौ किञ्चित्तथाविधं सहायं वाच्यम् । तच्च ब्राह्मणभूतपितृजन्यत्वादिकम्, आकारविशेषो वा स्यात् ? सर्वमेतत् प्रागेव कृतोत्तरत्वान्न तत्प्रतिपत्तौ सहायतां प्रतिपद्यते । अतोऽयुक्तमुक्तम्—‘न च सामर्थ्यभावाद् यन्न प्रतिभासते तत्रास्ति’ इत्यादि; तत्प्रतिभाससामर्थ्याः प्रागेव अंशेषविशेषतो निरस्तत्वात् ।

ननु ब्राह्मणत्वदिसामान्यानभ्युपगमे कथं भवति वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारः स्यात् ? इत्यप्यचोद्यम् ; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायाः तद्व्यवहारस्य च उपपत्तेः । तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिद्धतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्म-

(१) पृ० ७६८ पं० ७ । (२) तुलना—“काञ्चनाद्युपदेशस्य हि यदाऽसत्यताशङ्का तदा प्रत्यक्षदर्शनादमो निवर्तते नैव जात्याद्युपदेशस्यासत्यताशङ्काया प्रत्यक्षात् सत्यता जातिस्वरूपग्रहणाकारात् । सुवर्णादी हि रूपविशेषसद्भावात् एवम्भूतमेव सुवर्णं भवतीति व्यवहारस्य परिसमाप्तेर्दृष्टस्य न काचित्कतिः, अत्र तु पुनरेवविधमेव ब्राह्मण्यमिति न पादप्रसारणमात्रं त्राणम् ।”—प्रमाणवातिकालं० पृ० २२ । “यतो न पीततामात्रं सुवर्णम्...”—प्रमेयक० पृ० ४८४ । (३) दाहच्छेदतुंपाम्बुप्रक्षालनादेः । (४) सुवर्णादिप्रतिपत्तौ । (५) “तच्चाकारविशेषो वा स्यादप्यनादिक वा ?”—प्रमेयक० पृ० ४८५ । (६) ब्राह्मण्यप्रतिपत्तौ । (७) पृ० ७६८ पं० १३ । (८) जैनानाम् । (९) तुलना—“न जटाहि न गोर्तेहि न जञ्चा होति ब्राह्मणो । यम्हि सञ्चञ्च धम्मो च सो मुची सो च ब्राह्मणो ॥ न चाह ब्राह्मण ब्रूमि योनिज मत्तिसभव । ‘भो कदि’ नाम सो होति स वे होति सकिञ्चनो । अकिञ्चन अनादान तमह ब्रूमि ब्राह्मण ॥”—धम्मप० गा० ३९३, ३९६ । “कम्मणा बभणो होइ बम्मणा होइ सत्तिओ । वईसो कम्मणा होइ मुद्दो हवइ कम्मणा ॥”—उत्तरा० २५।३३ । “तस्माद्गुणवर्णव्यवस्थितिः ।” ऋषिगुणादिकाना च मानवाना प्रकीर्त्यते । ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात् ॥ ‘‘ चानुवर्णं यथान्यञ्च चाण्डालादिविशेषणम् । सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम् ॥—पद्यु० ११।१९८-२०५ । “मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । वृत्तिभेदाह्निताद् भेदाच्चानुविध्यमिहादनुते ॥ ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः घृतधारणात् । वणिजोऽर्थार्जनाभ्याव्यात् शूद्रान्यवृत्तिमश्रयात् ॥”—आदिपु० ३८।४५-४६ । “प्राचारमात्रभेदेन जातीना भेदकल्पनम् । न जातिर्वाज्ञपीयाग्नि नियता क्वापि तास्त्रिणी ॥ ब्राह्मणक्षत्रियादीना चतुर्णामपि तत्त्वतः । एकैव मानुषी जातिरप्यारोप विभिन्यते ।...गुणैः सप्तद्यते जातिगुणध्वसाद्रिपद्यते ।”—धर्मप० १७।२४-३२ । महाभाष्येऽपि ‘गुणवाचिनः ब्राह्मणादिशब्दाः’ इति पशोप्युपन्यस्तः । तथाहि—“अथवा सर्व एते शब्दाः गुणग्रन्थान्ते वदन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति ।”—यात० महाभा० २।२।६ । “क्रियाविशेषयशोर्वातादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः ।...ततः क्रियाविशेषादिनिबन्धन एवायं ब्राह्मण्यदिव्यवस्थाः ।”—प्रमेयक० पृ० ४८६ । स्वयं० १० पृ० ९९२ ।

१ सुवर्णप्रसङ्गा-आ०, सुवर्णप्रसङ्गा-अ० । २ परपक्षादेरुच व० । ३ अज्ञेयतो व० । ४ भयवती ध० । ५ तत्र तदकल्पित-व० । ६ क्रियानिबन्धन व० ।

णादिव्यवहारो युक्तः । कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च स्यात्, जातिर्यतः पवित्रता हेतुः ? सा च भवेन्मतेन निर्यैकरूपतया तदवस्थैव, अन्यथा गोत्वजातेरपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । गवादीनां हि चाण्डालादिगृहे चिरोपितानामपि इष्ट शिष्टैरादानं न तु ब्राह्मणीनाम् । अथ क्रियाभ्रशात्सा निन्द्यता अनादानश्चेष्यते, तर्हि किमनेन अन्तर्गडुना ब्राह्मण्येन कल्पितेन ? कल्पयित्वापि तत् क्रियाविशेषवशादेव वन्द्यतायां ब्राह्मण्यव्यवहारस्य चाभ्युपगमनीयत्वात् ।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ ब्राह्मण्यजातेर्निवृत्तिः स्यात्, यदि सां तस्याः कारणं व्यापकं वा स्यात्, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । न चास्याः कारणं व्यापकं वा किञ्चिद्विष्टम् । नापि क्रियाभ्रशात् तस्या विकारोऽस्ति “भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः” [ ] इत्यभिधानात् । न चाऽविकृतायाः निवृत्तिः सम्भवति अतिप्रसङ्गादिति । तदेव भवत्कल्पितब्राह्मण्यस्य आकाशकुशेशयवदप्रसिद्धस्वरूपत्वान्न ब्राह्मण्यस्यैव सस्कृतशब्दप्रयोगात् धर्मो युक्तः, किन्तु सर्वेषामविशेषेणैव अतोऽसौ स्यात्, न चैवम् । अतोऽवितथार्थाभिधायित्वमेव शब्दस्य साधुत्वमभ्युपगन्तव्यम् नान्यत्, उक्तदोषानुपज्ञात् । तथाविधश्च तत् सस्कृतशब्दस्यैव प्राकृतशब्दस्याप्यविशिष्टम्, अतो द्वयोरप्यनयोः साधुत्वम् । ततः साधुत्वम्—‘वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्’ इत्यादि ।

कारिकाद्वयं विवृण्वन्नह—‘वर्ण’ इत्यादि । वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वम् अर्थ-  
प्रतिपादकत्वम्, यथास्वं स्वस्यार्थस्य अनतिक्रमेण आगमात् प्रति-  
विवृत्तित्याख्यानम्—  
पत्तव्यम् । तत्रास्य प्रत्येकं प्रपञ्चत प्ररूपितत्वात् । कुत पुन  
विवक्षातोऽन्यस्य वाचकाः शब्दाः ? इत्याह—‘वक्त्रभिप्रायात्’ इत्यादि । वक्त्रभिप्रा-  
याद् भिन्नस्य बहिर्भूतस्य अर्थस्य घटादे वाचकाः शब्दाः । कुत एतत् ? इत्याह—  
सत्यानुत्तव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । यत्र सत्यानुत्तव्यवस्था तद् वक्त्रभिप्रायाद् भिन्नार्थ-  
विषयं यथा प्रत्यक्षादि, सत्यानुत्तव्यवस्था च शब्देऽपि निति । अयञ्च प्रसङ्गः बहिरर्थ-

(१) तुलना— ततः सम्बन्धवारमात्रप्रसिद्धं ब्राह्मण्यम् । —प्रमाणवार्तिकाल ५०२६ । (२) यदि  
नित्याविशेषनिबन्धनो ब्राह्मण्यादिव्यवहारो न स्यात्तदा । तुलना— ‘कथमन्यथा वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां  
ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो भवेत् —स्या० १० ५० ९६२ । प्रमेयक० ५० ४८६ । (३) जातिः । (४)  
मीमांसकनैयायिकमतेन । (५) ‘अथवा गोत्वादिपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । —प्रमेयक० ५० ४८६ ।  
(६) ब्राह्मणीनाम् । (७) ‘घटामस्तकयोरन्तरालवर्ती मासपिपडोऽन्तर्गडु —प्रमाणवा० स्व० ० टी०  
५० १६८ । (८) ब्राह्मण्यम् । (९) तुलना— किञ्च क्रियानिवृत्तौ ’—प्रमेयक० ५० ४८७ ।  
(१०) क्रिया । (११) ब्राह्मण्यजाते । (१२) ब्राह्मण्यजाते । (१३) जद्भूतमिदम्—प्रमेयक० ५० ४८७ ।  
(१४) सस्कृतशब्दोच्चारणात् । (१५) धम । (१६) अविद्यमानाभिधायित्वलक्षणं साधुत्वम् ।

१ ब्राह्मणानां व० । २ चाण्डालादीनां गृहे थ० । ३ ब्राह्मण्यव्य—आ०, थ० । ४ इति आ० ।  
५ ‘शब्दा’ नास्ति आ० ।

विषयतामन्तरेण सत्यानृतव्यवस्थानुपपत्तिलक्षणः अन्यत्र 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु'  
 [ लघी० का० २६ ] इत्यादौ विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रघट्टके पुनः प्रतन्यते । नन्वर्थो-  
 भावेऽपि शब्दानां प्रवृत्तिदर्शनात् कथं तद्वाचकत्वम् इत्यत्राह—'शब्दानाम्' इत्यादि ।  
 शब्दानाम् अर्थव्यभिचारित्वेऽभ्युपगम्यमाने अभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतः प्रमाणात्  
 न कुतश्चित् अपनीयते निराक्रियते । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'सुपुंसादौ' इत्यादि,  
 आदिशब्देन मत्तादिपरिमहः वाग्वृत्तेर्दर्शनात् ।

ननु विवक्षाप्रभवाच्छब्दादन्य एव शब्दः, यः तदभावे तत्र जायते । न  
 चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । 'सुविवेचितं हि कार्यं कारणं  
 न व्यभिचरति' इति, तदेतदत् अर्थविशेषसद्भावासद्भावप्रतिबद्धात्मलाभेऽपि शब्देऽपि  
 १० समानम् । साम्येऽपि तेषां विवक्षेतरप्रभवाः शब्दाः वैलक्षणेयान्ऽवसीयन्ते ननु अर्थ-  
 विशेषसद्भावाऽसद्भावप्रतिबद्धात्मलाभा इति स्वदर्शनानुरागमात्रम् । विवक्षामात्रगो-  
 चरत्वे च अमीषां बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुत्वानुपपत्तिः, तद्विषयत्वाद्, यद् यद्विषय न  
 भवति न तत् तत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः यथा रूपज्ञानं रसाविषयं न रसे, न भवन्ति च  
 बहिरर्थविषया भवन्मते शब्दा इति । नचैतद् युक्तम् प्रतीतिविरोधात् । सुप्रसिद्धा हि  
 १५ शब्देभ्यो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतिः आवालं प्रत्यक्षवत् । अतः तद्विषयत्वमेव  
 अमीषां युक्तम् । यद् यत्र प्रवृत्त्यादिहेतुः तत्तद्विषयम् यथा रसज्ञानं रसे प्रवृत्त्यादिहेतु  
 रसविषयम्, बहिरर्थे प्रवृत्त्यादिहेतुश्च शब्दा इति । नचायमसिद्धो हेतुः; प्रत्यक्षवत्  
 शब्देभ्यः तत्र प्रवृत्त्यादिप्रतीतिः । यथैव हि प्रत्यक्षात् प्रतिपत्तृप्रणिधानादिसामग्री-  
 सापेक्षात् प्रत्यक्षार्थे प्रतिपत्त्यादिप्रतीतिः सकलजनप्रसिद्धा, तथा सङ्केतादिसामग्रीसा-  
 २० पेक्षात् शब्दात् शब्दार्थेऽपि इति । न च अर्थे अर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तक  
 इत्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षादेरप्येधमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि अर्थित्वादेव प्रवृत्ति-  
 प्रतीतिः । परम्परयाऽर्प्रवर्त्तकत्वे शब्देऽपि तथा तदस्तु अविशेषात् ।

कौ चेयं विवक्षा नाम—शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, अनेन शब्देन अमुमर्थं प्रति-

(१) विवक्षाभावे । (२) बहिरर्थविषयत्वात् । (३) शब्दा बहिरर्थविषय बहिरर्थे प्रवृत्त्या-  
 दिहेतुत्वान् । (४) तुलना—'प्रत्यक्षादिव शब्दाद् बहिरर्थप्रतीतिसिद्धे । यथैव हि प्रत्यक्षात्  
 प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसम्पेक्षात् प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्ति तथा सङ्कलनसामग्रीसापेक्षादिव शब्दाच्छब्दार्थ-  
 प्रतिपत्ति सङ्कलनप्रसिद्धा, अन्यथा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात् । न चार्थवेदनादिव अर्थ  
 पुष्ट्यस्यापिन स्वयमेव प्रवृत्ते शब्दोऽप्रवर्त्तक इत्येव वस्तु युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्येधमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्,  
 तदर्थेऽपि सर्वस्वाभिलाषादिव प्रवृत्ते ।"—अष्टसह० पृ० २१ । प्रमेयक० पृ० ४४९ । (५) प्रत्यक्षा-  
 विषयीभूतत्वर्थे । (६) प्रत्यक्षे । (७) प्रवर्त्तकत्वव्यपदेशे । (८) परम्परया प्रवर्त्तकत्वम् । (९)  
 "का चेयं विवक्षा नाम—वि शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्"—प्रमेयक० पृ० ४५० ।

१ तद्वाचकत्वमि—अ० । २ इत्याह व० । ३ सुपुंसादीनामि—अ०, सुपुंसादीरो इ—व० । ४ अपरस्य  
 व० । ५—स्मृताम इति आ०, व० । ६—नुस्तद्वि—आ० ।

पादयामि इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रोः शास्त्रश्रवणप्रणयनादौ प्रवृत्तिर्न प्राप्नोति । न खलु कश्चिदनुन्मत्तः शब्दनिमित्तोच्छ्रामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्र वाक्यान्तर वा प्रणेतुं श्रोतु वा प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिवाक्यै सह सर्वत्राक्यानामविशेषप्रसङ्गश्च, सर्वेषा स्वप्रभवेच्छ्रामात्रानुमापकत्वाऽविशेषात् । अथ अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामीत्यभिप्रायो विवक्षा, तत्सूचकत्वेन अखिलशब्दानां विवक्षानुमापकत्वम्, तदप्यनुपपन्नम्, व्यभिचारात् । नहि शुक्रशारिकोन्मत्तादय तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किञ्च, समयानपेक्ष शब्द तादृशमभिप्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षो वा ? आद्यविकल्पे न कश्चित् क्वचिद्वापानभिज्ञ स्यात्, सर्वेषामविशेषतः शब्दार्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । समयापेक्षस्तु शब्द अर्थमेव किन्न गमयेत् ? नह्ययम् अर्थाद् विभेति येन तत्र साक्षान्न वर्त्तते । अशक्यसमयत्वान्न शब्दोऽर्थं गमयति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, अभिप्रायेऽपि तदगमकत्वानुपह्नात्, तत्रापि तस्य अशक्यसमयत्वाविशेषात् । असिद्धश्चास्य अशक्यसमयत्वम्, 'प्रमाणं श्रुतमर्थेषु' [ लघो० का० २६ ] इत्यत्र तच्छक्यसमयत्वस्य प्रपञ्चत, प्रतिपादितत्वात् ।

न केवलं सुपुस्तादौ वागृत्चेदर्शनादभिप्रेतव्यभिचारित्वं कुतोऽप्यनीयते इति, अपि तु इतश्च । कुतस्तदपनीयते इत्याह—'अनिच्छताम्' इत्यादि । अनिच्छतामपि अपशब्दाद्युच्चारणविवक्षाविकल्पानामपि अपशब्दादिभाषणसद्भावात्, आदिशब्देन श्रुतिदुष्टादिपरिग्रह । तथा वाञ्छतामपि मन्दयुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् तत्कुतोऽपनीयते ? अत्राह पर—'उभयत्र' इत्यादि । उभयत्र अर्थेऽभिप्राये च व्यभिचारात् शब्दानाम् न कस्यचिदर्थस्य अभिप्रायस्य वा वाचकाः शब्दाः, इतिशब्द. परमतसमाप्त्यर्थं । अत्र दूषणमाह—'अलौकिकं प्रतिभानमिति' प्रतिभोत्तरप्रतीति इत्यर्थं, अलौकिकश्च तत् प्रतिभानञ्च, लोकवाधितम् इत्यर्थं । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'लोको हि' इत्यादि । हिर्यस्मात् लोकः अर्थाप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्थाम् आतिष्ठेत । कस्य ? शब्दस्य । यदि हि न कस्यचिद्वाचका शब्दा स्युः तर्हि तेभ्यो घटाद्यर्थस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीते न तत्राप्या केपाश्चिच्छब्दानां सत्यत्वम् अन्येषां तु अनृतत्वविपर्ययात् इत्येव लोको वचसा तद्व्यवस्थामातिष्ठेत इत्यभिप्रायः । ननु अभिप्रायमात्रप्रतिपादनेऽपि तद्व्यवस्थामास्थास्यत इत्यत्राह—'न' इत्यादि । अभिप्रायमात्रे शब्दार्थे 'न लोकः तद्व्यवस्थामातिष्ठेत' इति सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—'तत्र' इत्यादि । 'तत्र' तन्मात्रे शब्दव्यवहारवाहुल्याभावात्, क्वचित् तत्रै तद्व्यव-

(१) तुलना— किञ्च, समयानपेक्ष वाक्य तादृशमभिप्रायं गमयत् तत्सापेक्ष वा ?  
—प्रमेयक० पृ० ४५० । (२) अभिप्रायमात्र ।

१—श्रवणयनादौ आ० । २ सुपुपदावो व० । ३—पनीत व० । ४ अशब्दाद्युच्चा—थ० । ५ न तु अभि—आ०, व० । ६ इत्याह तत्र तन्मात्रे व०, इत्यत्राह तत्र तन्मात्र आ० । ७ चित्तत्र थ० ।

हारेपि बहुलं बंहिः तद्भवहारोपलम्भात् इति भावः ।

ननु प्रतीयते शब्दार्थः स तु विचार्यमाणो न सङ्गच्छते; तत्र तस्य सम्बन्धाभावतः प्रत्यायकत्वायोगात्; इत्यत्राह—‘अवाधिताम्’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—यादृशोऽर्थे सङ्केतितः यादृशः शब्दः देशान्तरे कालान्तरे च योग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् तादृशस्य तादृशो वाचकः, न तत्र किञ्चिद्वाधकम् इत्युक्तम्—‘योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः’ [ लघी० स्ववृ० का० ६२ ] इत्यत्र । अतः अवाधितां शब्दादुपजायमानां सामान्यविशेषात्मकार्थविपर्यायं तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रतीयनाश्रयणेन प्रमाणस्वरूपम्—‘प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेव प्रमाणं नागमादि’ इति, प्रमेयस्वरूपम् प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिविच्छिन्नं स्वलक्षणमेव प्रमेयम् अनुमानस्य तु अन्यव्यावृत्तिमात्रम्’ इत्यादिप्रमाणानां सौगतानां युक्तम् उपपन्नम् किं तत् ? अभिप्रेतमात्रसूचकत्वम् । केयम् ? शब्दानाम् इति ।

व्याख्यातं मूलकारिकायाम् ‘ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः’ इत्येतत् । साम्प्रतं ‘नयो ज्ञातुरभिप्रायः’ इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—

श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।

द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥ ६६ ॥

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः ।

निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥ ६७ ॥

(१) बहिरर्थः । (२) शब्दस्य । (३) व्याख्या—‘ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवन्ति । के ? ते । श्रुतस्य सकलादशस्य आगमस्य भेदा विकल्पा विकल्पदेशा । कति ? सप्त । कुत नैगमादिप्रभेदतः ? किं विशिष्टा ? द्रव्यपर्यायमूला । तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह—द्रव्य सामान्य भवति । किं विशिष्टम् ? एकान्वयानुगम्, एकान्वयान्वयश्च एकान्वयौ तावदनुगच्छति व्याप्नोतीत्येकान्वयानुगम् । तत्रैकानुगम् अर्थता ( ऊर्ध्वता ) सामान्य पूर्वापरव्यापकम्, सदुदापरिणामलक्षण तिर्यक्-सामान्यमन्वयानुगम् । पुनः किं विशिष्टम् ? निश्चयात्मकम्, निर्गतश्चयः पर्यायान्तरसंकरो यस्मादसौ निश्चय पर्यायः स आत्मा यस्य तत्तद्योक्तम् । अपि पुनरन्य पर्यायो विशेषो भवति । किं विशिष्टम् ? व्यतिरेकपृथक्त्वगः, व्यतिरेकश्च पृथक्त्वञ्च ते गच्छति तादात्म्येन परिणमतीति स तयोक्तः । तत्र व्यतिरेक एकस्मिन् द्रव्ये त्रयभाविपर्यायः । पृथक्त्वगः पुनरर्थान्तरगतो विसृष्टापरिणामः ।” तु पुनर्निश्चयव्यवहारौ मूलनयो आश्रितौ बालम्बितवन्तौ । किम् ? द्रव्यपर्यायम् । द्रव्य धितो निश्चयनव द्रव्याधिक इत्यर्थः । पर्यायाश्रितौ व्यवहारनय पर्यायाधिक इत्यर्थः ।”—लघी० ता० पृ० ८८ । (४) तुलना—‘सप्त मूलनया पण्यता । स जहा नेगम, सगह, बवहारे, उज्जुमुए, मह, समभिरुडे, एवभूए ।”—स्या० ७।१९ । अनुयोग० १३६ । नैगममग्रहव्यवहारजुंमूत्रगन्दसमाभिन्वैवम्भूता नया ।”—तत्त्वार्थ० १।३४ । ‘नैगममग्रहव्यवहारजुंमूत्रगन्दसमाभिन्वैवम्भूता नया ।”—आब० नि० गा० ७५४ । ‘नैगममग्रहव्यवहारजुंमूत्रगन्दा नया । आद्यगन्धो द्विभिर्भेदो ।”—तत्त्वार्थाधि० १।३४, ३५ । निश्चयेननिश्चयरास्तु पद् नयान् स्वीकुर्वन्ति, तन्मतानुसारण नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावान् । इष्टव्यम्—सम्प्रति० १।४, ५ ।

१ बहिरुपलक्ष्य-३० । २ यावन्तोऽर्थे सकेतिन तादृशः शब्द आ० । ३ ‘कालान्तरे च’ नाम्नि ३०, ४० । ४-योऽत्रादि-३० । ५-रेकाप्य-मु० लघी० ।

विश्रुतिः—नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिवोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ । द्रव्यम् एका न्वयात्मकम् । एकत्व तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् अन्वयि । पुरुषत्वादेरपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानेकसन्तानात्मना तथाभावसकरव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्त्वलत्समानैकप्रत्ययविषयत्व मनुमिमीमहे । तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्व न समानपरिणामः पुरुषश्च । समानपरिणामोऽपि सकल्पदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीव कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्याय पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम् एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य ससारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्, पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवचम् आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमत्रमपरिजहत् । नहि अवस्थादशकालसंस्काराः मूर्त्तत्रमत्यन्त भिन्दन्ति अमूर्त्तभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम् इत्युक्तप्राय नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकरिमन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्कुर्वत् कथं निराकुर्यु ? तैतः तीर्थकरवचनसग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीय प्रकारान्तरमस्ति; तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भावात् । न नैगमस्य प्रमाण [ता] तादात्म्यविवक्षाभावात् ।

श्रुतस्य आगमस्य भेदाः विशेषा न पुनर्मतिज्ञानस्य । के ? नयाः, प्रतिपत्र 20  
कारिकार्य-  
भिप्राया, कियन्त ? सप्त । कुत ? नैगमादिप्रभेदतः । किं-  
मूलास्ते ? इत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । द्रव्यपर्यायौ मूलम् आश्रयो  
वेपा ते तथोक्त । किं स्वरूप द्रव्यम् ? इत्याह—‘द्रव्यम्’ इत्यादि । एकशब्दोऽयं  
भावप्रधान, एकत्वञ्च अन्वयञ्च सदृशपरिणाम ताभ्या यथासरयेन स्वपर्यायान्

(१) तुलना—उत्पन्नाविनष्टायग्राहक साम्प्रतकाऽविषय मतिज्ञान श्रुतज्ञान तु त्रिकालविषयम्  
उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नायग्राहकम् । -तत्त्वार्थाधि० भा० १।२० । (२) तुलना अर्थांतरगतो विसदृश  
परिणामो व्यतिरेक गोमहिषादिवत् । -परीक्षाम० ४।९ । (३) तुलना— तित्यवरवयणसगह विस  
सप-यारमूलवागरणी । दब्बट्टिओ य पज्जवणओ य सेसा विद्यप्पासि ॥ स मति० १।३। (४) तुलना—  
प्रमाणा मक एवायमुभयग्राहक वत् । इत्ययुक्तमिह ज्ञप्ते प्रधानगुणभावत् ॥ प्रापान्यनोभयात्मानमथ  
मूह्लदि वेदनम् । प्रमाणं नान्यदित्यतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥ -तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९ ।

हारेपि बहुल बंहिः तद्व्यवहारोपलम्भात् इति भावः ।

ननु प्रतीयते शब्दादर्थः स तु विचार्यमाणो न सद्गच्छते, तत्र तस्य सम्बन्धा-  
भावतः प्रत्यायकत्वायोगात्, इत्यत्राह—‘अवाधिताम्’ इत्यादि । अत्रायमभिप्रायः—यथादृशेऽर्थे  
सङ्केतितः यादृशः शब्दः देशान्तरे कालान्तरे च योग्यतालक्षणसम्बन्धवशात् तादृशस्य  
तादृशो वाचकः, न तत्र किञ्चिद्वाधकम् इत्युक्तम्—‘योग्यतापेक्षानादिसङ्केतः’ [ लघी० स्ववृ०  
का० ६२ ] इत्यत्र । अतः अवाधितां शब्दादुपजायमानां सामान्यविशेषात्मकार्यविषया  
तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रतीत्यनाश्रयणेन प्रमाणस्वरूपम्—‘प्रत्यक्षानुमानलक्षणमेव  
प्रमाणं नागमादि’ इति, प्रमेयस्वरूपम् प्रत्यक्षस्य पूर्वापरकोटिविचिञ्चन्न स्वलक्षणमेव  
प्रमेयम् अनुमानस्य तु अन्यव्यावृत्तिमात्रम्’ इत्यादिप्रमाणानां सौगतानां युक्तम्  
उपपन्नम् किं तत् ? अभिप्रेतमात्रसूचकत्वम् । केपाम् ? शब्दानाम् इति ।

व्याख्यातं मूलकारिकायाम् ‘ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः’ इत्येतत् । साम्प्रतं  
‘नयो ज्ञातुरभिप्रायः’ इत्येतद्वाख्यातुकाम आह—

श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।

द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥ ६६ ॥

निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकपृथक्त्वगः ।

निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥ ६७ ॥

(१) बहिरर्थे । (२) शब्दस्य । (३) व्याख्या—‘ते प्रागुक्तलक्षणा नया भवन्ति ।  
के ? ते । धृतस्य सकलादेशस्य आगमस्य भेदा विकल्पा विकलादेशा । कति ? सप्त । कुत  
नैगमादिप्रभेदतः ? किं विशिष्टा ? द्रव्यपर्यायमूला । तत्र द्रव्यस्य स्वरूपमाह—द्रव्य सामान्य  
भवति । किं विशिष्टम् ? एकान्वयानुगम्, एकान्वयव्ययश्च एकान्वयो तावदनुगच्छति व्याप्नोतीत्यवा-  
न्वयानुगम् । तत्रैकानुगम् अथवा ( ऊर्ध्वता ) सामान्य पूर्वापरव्यापकम्, सदुदापरिणामलक्षण त्रिपंक्त-  
सामान्यमन्वयानुगम् । पुनः किं विशिष्टम् ? निश्चयात्मकम्, निर्गतश्चयः पर्यायान्तरसकरो यस्मादसौ  
निश्चय पर्याय स आत्मा यस्य तत्तथोक्तम् । अपि पुनरन्य पर्यायो विशेषो भवति । किं विशिष्टं ?  
व्यतिरेकपृथक्त्वगः, व्यतिरेकश्च पृथक्त्वञ्च ते गच्छति तादात्म्यन परिणमतीति स तथोक्तम् । तत्र  
व्यतिरेक एकस्मिन् द्रव्ये तमभाविपर्याय । पृथक्त्वगः पुनरन्यन्तरगतो विमर्शपरिणाम । तु पुनर्नि-  
श्चयव्यवहारो मूलनयो आश्रितौ आश्रितवन्तौ । किम् ? द्रव्यपर्यायम् । द्रव्ये श्रितो निश्चयनय  
द्रव्याधिक इत्यर्थः । पर्यायाश्रितो व्यवहारनय पर्यायाधिक इत्यर्थः ।—लघी० ता० पू० ८८ । (४)  
तुटना—‘सत्त मूलगया पणत्ता । त जहा णगभे, सगहे, ववहारे, उज्जुमुण, सद्, समभिरुदे, एवभूए ।’—  
स्था० ७।१९ । अनुयोग० १३६ । नैगमसग्रहव्यवहारजुंमूत्रगन्दसमभिरुदेवम्भूता नया ।’—तत्त्वार्थ०  
१।३४ । ‘नैगमसग्रहव्यवहारजुंमूत्रगन्दा नया । आद्यगन्दो द्विभेदो ।’—तत्त्वार्थाधि० १।३४,  
३५ । सिद्धसनदिवाकराम्नु पद् नयान् स्वीतुर्वन्ति, तन्मतानुसारेण नैगमस्य सग्रहव्यवहारयोस्त-  
र्भावान् । द्रष्टव्यम्—सन्मति० १।४, ५ ।

१ बहिरुच्छस्यम्—व० । २ यादृशोऽर्थे सकेतित तादृश शब्दः वा० । ३ ‘कालान्तरे च’  
नास्ति व०, प्र० । ४—सौत्रादि—व० । ५—रेवाप्य—मु० लघी० ।

विवृतिः—नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिरोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ । द्रव्यम् एका-  
 न्वयात्मकम् । एकत्व तदतत्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद्  
 अन्वयि । पुरुषत्वादेरपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मनां  
 तथाभाससंकरव्यतिकरव्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्पृष्टलत्समानैकप्रत्ययविषयत्व  
 मनुमिमीहे । तथाहि—स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्व न समानपरिणामः  
 पुरुषश्च । समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनयादेको जीवः  
 कर्मनिर्मुक्तः व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्यायः पृथक्त्वम् व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम्  
 एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशप-  
 रिणामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य  
 ज्ञानादयः प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्,  
 पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवस्त्वम् आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्ध-  
 परमाणुपर्यायभेदेपि रूपादिमन्त्रमपरिजहत् । नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः  
 मूर्च्छत्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्च्छभेदप्रसङ्गात्, सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्ताम्  
 इत्युक्तप्रायं नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकार-  
 मात्मसात्कुर्वन् कथं निराकुर्युः ? तैतः तीर्थकरवचनसंग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याका-  
 रिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति; तस्य  
 प्रमाण एवाऽन्तर्भावात् । न नेगमस्य प्रमाण [ता] तादात्म्यविवक्षाभावात् ।

श्रुतस्य आगमस्य भेदाः विशेषाः न पुनर्मतिज्ञानस्य । के ? नयाः, प्रतिपत्-  
 20  
 कि-  
 कारिकार्थ-  
 भिप्राया, कियन्त ? सप्त । कुत ? नैगमादिप्रभेदतः । कि-  
 मूलास्ते ? इत्याह—‘द्रव्य’ इत्यादि । द्रव्यपर्यायौ मूलम् आशये  
 येया ते तयोक्ता । किं स्वरूप द्रव्यम् ? इत्याह—‘द्रव्यम्’ इत्यादि । एकराज्योऽयं  
 भावप्रधानः, एकत्वञ्च अन्वयश्च सदृशपरिणामः ताभ्या यथासंख्येन स्वपर्यायान्

(१) तुलना—उत्पन्नविनष्टायग्राहकं साम्प्रतकावविषय मतिज्ञान श्रुतान तु त्रिकालविषयम्  
 उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकम् । —तत्त्वावधि० भा० १।२० । (२) तुलना— अर्थान्तरगतो विसदृश  
 परिणामो व्यतिरेक गोमहिपादिवत् । —परीक्षाम० ४।९ । (३) तुलना— तित्थयरवयणसगह वित्ते  
 सप्तत्यारमूलवागणीः दन्वट्टिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ॥ —त-मति० १।३। (४) तुलना—  
 ‘प्रमाणत्तमक एवायमभयग्राहकत्वत । इत्ययुक्तमिह ज्ञप्ते प्रधानगुणभावत ॥ प्राधान्यनोभयात्मानपर्थ  
 गुल्लद्धि वेदनम । प्रमाण तान्यदित्यतत्प्रपञ्चेन निवेदितम ॥ —तत्त्वावधिलो० पृ० २६९ ।



द्रव्यातराणि च अनुगच्छति अनुयाति इति तदनुगम् । 'एकत्वानुगम्' इत्यनेन भेदैका  
 न्तनिषेध, 'अन्वयानुगम्' इत्यनेन तु सर्वद्रव्यैकत्वनिरास । तदेवविध द्रव्य प्रमाणा-  
 परिच्छेद्य भविष्यति इत्याह—'निश्चयात्मकम्' इति । सशयादिव्यवच्छेदलक्षणा  
 प्रमेयस्या गृहीतिक्रिया निश्चयः, स आत्मा स्वभावो यस्य तत् तथोक्तम् । न केवल  
 5 द्रव्यमेव निश्चयात्मकम्, किन्तु अन्योऽपि पर्यायोऽपि, निश्चयात्मक इति लिङ्गपरि-  
 णामेन सम्बन्ध । पुनरपि कथम्भूत ? इत्याह—व्यतिरेकपृथक्त्वगः । स्वद्रव्य-  
 पर्यायातरापेक्षया व्यतिरेकं परस्परव्यावृत्तिम् एकद्रव्यापरित्यागेन गच्छतीति व्यति-  
 रेकगः, द्रव्यान्तरपर्यायापेक्षया पृथक्त्वं प्रथमद्रव्यवृत्तित्त्वं गच्छतीति पृथक्त्वगः।  
 ननु यदि नेगमादयो नया द्रव्यपर्यायमूला. तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकलक्षणौ मूलनयो  
 10 किम्मूलौ ? इत्याह—'निश्चय' इत्यादि । चेतनस्य अचेतनस्य वा य सन् स्वभावः न  
 कदाचिद्विनश्यति तदवलम्बी नयो निश्चयः द्रव्यार्थिकनय इत्यर्थ । यो विनश्यति  
 स्वभाव तदवलम्बी व्यचहारः पर्यायार्थिक इति यावत् तो । तु शब्द अपिशब्दार्थे,  
 द्रव्यपर्यायमाश्रितौ । वक्ष्यति च 'तत्र मूलनयो द्रव्यपर्यायार्थिकौ' इत्यादि ।

तत्र प्रथमकारिकाया प्रथमभाग व्यतिरेकमुखेन विधृण्वन्नाह—'नहि' इत्यादि ।

15 विवृति-यास्यानम्— नहि नैव मतिभेदाः किन्तु श्रुतभेदा, के ते ? नयाः । कुत  
 एतत् ? इत्याह—'त्रिकाल' इत्यादि । त्रयः काला गोचरो वेपाम्  
 अनेकद्रव्यपर्यायाणां ते त्रिपयो वेपा तेषां भावात् तत्रात् । 'नयानाम्' इति विभक्ति-  
 परिणामेन सम्बन्ध । मतिरपि तथा भविष्यति ? इत्याह—'मतेः' इत्यादि । मतेः इन्द्रिय-  
 चनिताया साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात् वर्त्तमानकालगोचरद्रव्यपर्यायात्मकार्यप्राहकत्वात्  
 20 'न मतिभेदा नयाः' इति सम्बन्ध । अनिन्द्रियचनितायास्तस्यां ते तर्हि भेदा भवन्तु  
 तस्या त्रिकालगोचरद्रव्यादिविषयत्वात् इत्याह—'मनोमतेः' इत्यादि । न केवलम्  
 इन्द्रियमते अपि तु मनोमतेरपि 'नहि भेदाः नयाः' इति सम्बन्ध । विविशिष्टाया ?  
 इत्याह—स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिर्गोधात्मिकायाः । कुत एतत् ? इत्याह—  
 'कारण' इत्यादि । त्रिशदाऽप्रितथा मति मनोमते कारणत्वात् 'कारणमतिः' इत्यु  
 25 च्यते, तथा परिच्छिन्नो योऽर्थः तद्विषयत्वान्मनोमतेः । तस्यैव कवञ्चिदधिर्नतया  
 तथा महणात् एवमुक्तम् ।

नयभेदं दर्शयन्नाह—'तत्र' इत्यादि । तत्रैव श्रुतभेदत्वं नयानां व्यवस्थिते मूल-  
 नयो कारणनयो नेगमादीनाम् । कौ ? इत्याह—द्रव्यपर्यायार्थिकौ, द्रव्यञ्च पर्यायश्च

(१) मत् । (२) इन्द्रियचनिता मति । (३) इन्द्रियमतिविषयभूतस्य जयस्य । (४)  
 अर्थात्मानुगम्यमान विचारात्मकत्वात्मानुगतम् । (५) मनामत्या ।

तावेव अर्था तो यथासख्येन विद्येते ययो तौ तथोक्ता । तत्र द्रव्यपद व्याचष्टे 'द्रव्यम्' इत्यादिना । एकत्वान्वयौ व्याख्यातौ, तौ आत्मा यस्य तत् तदात्मकम् । एतदेव समर्थयमान प्राह—'एकत्वम्' इत्यादि । 'द्रव्यम्' इत्यनुवृत्ति । तस्य एकत्व कुत ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । स च विवक्षित असक्ष अविवक्षित तदतौ, तौ च तौ परिणामौ च तौ यस्य स्त तत् तदतत्परिणामि, यदि वा, तयो परिणमत इत्येव शील तदतत्परिणामि, तस्य भावात् तच्चात् । साम्प्रतम् 'अन्वयात्मक तत्' इत्येतत् समर्थयते—अत्रायि द्रव्यान्तरेण अनुगमबद् 'द्रव्यम्' इति सम्बन्ध । कुत ? इत्याह—'तद्' इत्यादि । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वात् । अत्राह सौगत—असमानानपेक्ष्य समानपरिणामा अनुपादानोपादेयानपेक्ष्य एकपरिणामा केचन भावा कल्प्यन्ते न परमार्थत, अपेक्षाकृतस्य धर्मस्याऽतात्त्विकत्वात्, इत्यत्राह—'पुरुष' इत्यादि । अस्यायमर्थ—नानैकसन्तानात्मनाम् नानासन्तानस्वभावानाम् एकसन्तानस्वभावानांश्च युगपत्क्रमभाविना क्षणानाम् इत्यर्थ । तेषा यदपेक्षातः यथोक्ताया अपेक्षाया सकाशात् कल्पित पुरुषत्व तिर्यक्सामान्यम्, आदिशब्देन द्रव्य-विज्ञेयपरिग्रह, तस्मात् सत्यपि विद्यमानेऽपि समानेतरपरिणामातिशये समानपरिणामातिशये तत्र रूप इतरपरिणामातिशये एकत्वपरिणामप्रकर्षे । ननु इतरशब्दस्य उक्तविपरी- 16 तार्थाभिधायित्वात् समानपरिणामाद् इतरो विसदृशपरिणाम एव लभ्यते, न एकत्वपरिणामातिशय इति चेत्, एवमेतत्, तथापि—इह समानेकत्वपरिणामातिशययो प्रकृत-त्वात् समानपरिणामात् इतर एकत्वपरिणाम एव उच्यते । तस्मिन् सत्यपि एकत्व तदतत्परिणामित्वात् । सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वाद् 'अन्वयि' इति सम्बन्ध । नहि तथाऽपरिणतम् अपेक्षात तद् भवति विप्रतिषेधात्, अन्यथा स्वयममूर्त्तमपि ज्ञान 20 ज्ञानान्तरान् अमूर्त्तात् व्यवर्त्तमान मूर्त्तं स्यात् । ननु च विचार्यमाणस्य तदतत्परिणामिन, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यस्य चानुपपत्ते अभिमतरूपबद् अनभिमतरूपेणापि प्रसङ्गाच्च अयुक्तम्—एकत्वमित्यादि, इति चेदत्राह—'तथा' इत्यादि । तथा तदतिशय-प्रकारेण यौ सङ्कर-व्यतिकरौ तयो व्यतिरेकाद् अभावाद् अन्वयिनोः तदतत्परिणामिसामान्ययो अस्पृष्टसमानैकप्रत्ययनिपयत्वम् साकल्येन नानैकसन्तानात्मस्व 25 भावम् अनुमिमीमहे अनुमानेन प्रतिपद्यामहे 'अनुमाननिमित्तस्य उक्ततर्कस्य प्रविजृम्भणात्' इत्यभिप्राय ।

(१) न हि अग्नित्वेनापरिणत अपेक्षात अनग्निव्यावृत्त्यपेक्षया अग्निभवति जलादावपि अनग्निव्यावृत्त्या अग्नित्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इति भाव ।

1 द्रव्यमित्यादि द्रव्यमित्यनुवृत्तते व०, द्रव्यमित्यादि इत्यनुवृत्तते थ० । 2—हृ सदृश—आ०, व० । 3—पेक्ष एक—व० । 4—उच्च युगपत्क्रमभाविनाञ्च युगपत्क्रमभाविना क्ष—आ० । 5—समानपरिणामातिशय नास्ति थ०, समानपरिणामप्रकर्षे व० । 6—रूपेणातिप्र—थ० ।

यदि वा वैशेषिकादिराह—पुरुपत्वमपेक्ष्य समानपरिणामातिशयो नानात्मसु,

बुद्ध्यादिगुणसमवायित्वमपेक्ष्य एकात्मनि एकत्वपरिणामातिशयो न परमार्थतः इति,  
तत्राह—‘पुरुपत्वादेः’ इत्यादि । पुरुपत्वम् आदिर्यस्य बुद्ध्यादिसमवायित्व-त्रिगुणसयो-

गित्वादे स तथोक्तः तस्य या अपेक्षा तत सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये ।

केपाम् ? इत्याह—नानैकसन्तानात्मनाम् । नाना एकसन्तानाश्च ते आत्मानश्च तेषाम्

इति, शेष पूर्ववत् । ननु भवतु आत्मना समानैकत्वपरिणामः न घटादीना तत्र समान-

परिणामस्यैव सभवात् इत्याशङ्क्याह—‘तथाहि’ इत्यादि । तथाहि तेन अस्त्रलत्स-

मानैकप्रत्ययविषयत्वप्रकारेण च स्कन्धो घटाद्यवयवी, स किम् ? इत्याह—एकत्वम् ।

केपाम् ? इत्याह—‘स्व’ इत्यादि । स्वशब्देन स्कन्धः परामृश्यते तस्य ये गुणा रूपादयः ।

ये च पर्याया नवपुराणादयः तेषाम् एकत्वम् न समानपरिणामः ‘अस्त्रलदेकप्रत्य-

यविषयत्वात्’ इति भावः । ननु भिन्नसन्तानात्मनामिव एकसन्तानात्मनामपि समान-

परिणाम एवास्तु इति सौगतः । तत्राह—‘पुरुपश्च’ इति । न केवल स्कन्धः किन्तु

पुरुषोऽपि ‘स्वगुणपर्यायाणामेकत्वम्’ इति सम्बन्धः । ननु यथा क्रमभाविना सुखा-

दीनामेव पुरुष तथा युगपद्भाविनामात्मनाम् एकत्व सौऽस्तु इति चेद्राह—‘समान’

इत्यादि । अपिशब्द एवकारार्थः । समानपरिणाम एव सकलपदार्थगः नैकत्वं

सकलपदार्थगम् ‘पुरुपस्य’ इति प्रभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । अनेन ‘तथाभावा’ इत्यादि

समर्थितम्, द्रव्यमेकान्वयानुगम्’ इति कारिकापादश्च व्याख्यातः । निश्च-

यनयाद् द्रव्यार्थिकनयाद् एकः अभिन्न जीवः सर्वोऽपि सर्वसाधारणचेतनापरिणा-

मापेक्षया । स एव द्विविधो व्यवहारनयात् इति दर्शयन्नाह—‘कर्म’ इत्यादि । कर्मणा

ज्ञानाचरणीयादिना निर्मुक्तो रहितो जीवः, सकर्मकश्च । कुतः ? व्यवहारनयात् पर्याया-

र्थिकनयात् । एवमेकन्द्रियादिभेदोऽपि चिन्त्यः । अनेन द्वितीयकारिकाया उतराद्धं

व्याख्यातम् ।

पर्यायं कथयन्नाह—‘पर्यायः’ इत्यादि । पर्यायः कः ? इत्याह—पृथक्त्व

व्यतिरेकश्च । तत्र पृथक्त्वपद व्याचष्टे—पृथक्त्वम्, एकरूप एकस्मिन् द्रव्ये गुणरू-

र्मसामान्यप्रशेषाणा परस्परपरिहारेण कथञ्चिन् अवस्थानम् इत्यर्थः । व्यतिरेकपद

प्रिष्टोति—व्यतिरेको व्यावृत्तिः । कः ? इत्याह—सन्तानान्तरगतो निसदृशपरिणामः

गोर्मेहिष्यादिपरिणामः । तत्र जीवगतपर्यायान् दर्शयन्नाह—‘व्यवहार’ इत्यादि ।

व्यवहारपर्यायाः पर्यायार्थिकनपर्यायाः इत्यर्थः । के ? क्रौधादयः कादाचित्कत्वात् ।

(१) गोपनः । (२) अङ्गवत्त्वात् । (३) पुरुषः ब्रह्मणा नवनुः ।

१ बुद्ध्यादिगुणसमवायित्वमपेक्ष्य—आ० । २ नानैकसन्तानात्मनाम् नास्ति थ० । ३ तथा च तेन व०, तथा  
तत्र आ० । ४—सन्तानानामपि व० । ५—य अतएव आ०, थ० । ६ तद्ब्रह्मण्यम्—थ० । ७ निश्चयाद् आ०,  
व० । ८—कश्चिन्नयवशादि व० । ९ पर्याया क इ—व० । १०—हनवस्था—थ० । ११ गोवर्ष्यादि—थ० व० ।

किंविशिष्टस्य जीवस्य ते पर्यायाः ? इत्याह—संसारिणः । मुक्तस्य के पर्यायाः ? इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयपर्यायाः द्रव्यार्थिकगोचरा. पर्याया शुद्धस्य ‘जीवस्य’ इति सम्बन्धः । के ते ? ज्ञानादयः अकादाचित्कत्वात् । कथम्भूतास्ते ? ‘ते च’ इत्याह (इत्याह ते च) प्रतिक्षणम् आत्मसात्कृतानन्तभेदाः । न केवल द्रव्यार्थिकनयाञ्जीवस्यैव अभेद. अपि तु पुद्गलद्रव्यस्यापि इत्याह—‘निश्चय’ इत्यादि । निश्चयनयात् द्रव्यार्थिकनयात् पुद्गलद्रव्यम् एकम् अभिन्नम् । कस्मिन् सत्यपि ? इत्याह—पृथिव्यादिभेदेऽपि । किं कुर्वन्तदेकम् ? इत्याह—‘रूप’ इत्यादि । अजहत् अपरित्यजत्, किम् ? इत्याह—रूपरसगन्धस्पर्शवत्तम् ‘रूपरसगन्धस्पर्शवन्त पुद्गलाः’ [ तत्त्वाथसू० ५।२३ ] इत्यभिधानात् । कथम्भूत तत् ? इत्याह—आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूपम् । पृथिव्या तद् आविर्भूतस्वरूप जलादो अनाविर्भूतस्वरूपम्, जले गन्धस्य अनले गन्धरसयोः अनिले रूपरसगन्धानामनाविर्भावात् ।

नैव जलादो गन्धादिसद्भावे प्रमाणत. सिद्धे अनाविर्भावो युक्त, अन्यथा सर्वस्य सर्वत्राज्ञाविर्भावप्रसङ्गान्न साख्यदर्शनप्रतिप्रसङ्ग स्यात् इति चेत्, उच्यते—जलादयो गन्धादिमन्त, स्पर्शवत्त्वात्, यदित्थ तदित्थ यथा पृथिवी, स्पर्शादिमन्तश्चैते, तस्माद्गन्धादिमन्त इति । यत् पुन गन्धादिमन्त भवति न तत् स्पर्शवत् यथा आत्मादि, इत्यादि पट्टपदार्थपरीक्षाया पृथिव्यादीनामतत्त्वान्तरभावसमर्थनावसैरे प्रपञ्चत प्ररूपितमिहावगन्तव्यम् । पुनरपि किं कुर्वन्त ? इत्यत्राह—‘स्कन्ध’ इत्यादि । स्कन्धाश्च घटादय परमाणवः अत्यन्तसूक्ष्मा पुद्गला त एव पर्यायाः परस्परत प्रादुर्भावात्, परमाणुभ्यो हि स्कन्धा प्रादुर्भवन्ति तेभ्यश्च परमाणव इति, तेषा भेदेपि रूपादिमत्त्वमपरित्यजदेक । दृष्टान्तार्थमेतत्, ततो यथा तत् परमाणुरूप स्कन्धीभवत् स्कन्धस्वभावं वा परमाणुरूपतामादधत् रूपादिमत्त्वमपरित्यजत् एक तथा प्रकृतमपि इति । एतदेव दर्शयन्नाह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न अवस्था च देशश्च कालश्च सस्कारश्च ते मूर्त्तत्वं रूपादिमत्त्वम् “रूपादिमयी मूर्त्ति” [ ] इत्यभिधानात् । अत्यन्तं सुष्ठु भिन्दन्ति ‘पृथिव्यादिभेदस्य स्कन्धपरमाणुपर्यायभेदस्य च’ इति सम्बन्ध । कुत एतत् ? इत्याह—‘अमूर्त्ते’ इत्यादि । अमूर्त्तो रूपादिरहितो यो भेदः व्यक्तिविशेष तस्य प्रसङ्गात् । यथा च अवस्थादयो न रूपादिमत्त्वमत्यन्तं भिन्दन्ति, तथा सत्ताभेदाश्च

(१) ‘स्पर्शरसगन्धवणवन्त पुद्गलाः । -तत्त्वाथसू० । (२) रूपरसगन्धादि । (३) वैशेषिक । (४) तुलना-पृ० २३८ टि० ४ । (५) पृ० २३८ । (६) तुलना- रूप मूर्त्तिरित्यथ । मूर्त्ति ? रूपादिमत्त्वानपरिणामो मूर्त्ति । -सर्वायसि० राजवा० ५।५ ।

जीवादयः सत्ताम् 'अत्यन्त न भिन्दन्ति' इति सम्बन्धः । असद्भेदप्रसङ्गात् इत्युक्तं-  
 प्रायं 'जीवाजीवप्रभेदा यदन्तर्लीनाः' [लघी० का० ३१] इत्यत्र, नेह पुनरु-  
 च्यते । ननु जीवादिद्रव्यस्य सत्तादिसामान्यस्य वा कस्यचिदसभवात् 'निश्चयनया-  
 देको जीवः' इत्याद्युक्तम्, तत्संभवे च अवस्थादिभेदेन विरुद्धधर्माध्यासतः प्रतिक्षणं  
 भेदप्रसङ्गात् तदेकत्वम् इत्याशङ्क्याह—'भेद' इत्यादि । ये विरुद्धधर्माध्यासतः सर्वथा  
 वस्तुनो भेदं वदन्ति सौगताः तेऽपि कथं नैव निराकुर्युः ? किं तत् ? ज्ञानम्, कथम्भूतम् ?  
 एकम् । किं कुर्वन् ? स्वयम् आत्मनोऽनेकाकारं नीलपीतादिविचित्राकारं ब्राह्मब्राह्मका-  
 कारविक्रैतररूपतया प्रत्यक्षपरोक्षाकार वा आत्मसात्कुर्यत् । कदा ? एकस्मिन्  
 क्षणे । तन्निराकरणे सकलशून्यता स्यात् । सा च प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्ता  
 इत्यल पुनः प्रसङ्गेन । ततो यथा विरुद्धधर्माध्यासेऽपि एकमेकदा ज्ञानमविरुद्धं तथा  
 क्रमेण जीवादिद्रव्यमपि इति ।

उक्तार्थोपसंहारमाह—'तत्' इत्यादि । यत् उक्तप्रकारेण जीवादि सुत्यादिपर्याया-  
 त्मकं व्यवस्थितं ततः तीर्थकरस्य भवावतोऽर्हतो वचनं स्याद्वादप्रवचन तस्य विषय-  
 भूताः, धृतभेदत्वात् नयानाम्, ये सङ्ग्रहविशेषाः सङ्ग्रहश्च विशेषाश्च व्यवहारादिनय-  
 भेदाः तेषां प्रस्तारस्य प्रपञ्चप्ररूपणस्य मूलव्याकारिणो आद्यौ उत्पादकौ निश्चेतव्यौ ।  
 कौ ? इत्याह—द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ । अन्यः कुतो नेति चेत् ? अत्राह—'नहि'  
 इत्यादि । हिर्यस्मात् न तृतीयं प्रकारान्तरं नयान्तरमस्ति । कुत एतत् ? इत्यत्राह—  
 'तस्य' इत्यादि । तस्य तदन्तरस्य प्रमाणे एव न नये अन्तर्भावात् 'न तदस्ति'  
 इति सम्बन्धः । प्रधानभूतान्योन्यात्मकसामान्यविशेषविषयाभिर्सेन्धेः प्रमाणत्वात् ।  
 नैगमोऽपि तर्हि प्रमाणं स्यात् इति चेदत्राह—'न' इत्यादि । न प्रमाणता, कस्य ?  
 नैगमस्य । कुत एतत् ? इत्याह—'तादात्म्य' इत्यादि । तादात्म्येन प्रमाणस्वभावत्वेन  
 विवक्षायाः अभावात्, नयत्वेन विवक्षासद्भावात् इत्यर्थः । एतदपि कुतः इत्यत्राह—  
 गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि ।

विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः ॥६८॥

(१) असदभावो भेद विषय तस्य प्रसङ्गात् असद्रूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । (२) सौगत । (३)  
 चित्रज्ञानम्, ब्राह्मब्राह्मराशेनानार सवदनम् ब्राह्मवाकारराहित्य-सवेदनापक्षया प्रत्यक्षपरोक्षात्मकं  
 संवेदनं वा । (४) सकलशून्यता । (५) पृ० १३३ । (६) मुग्धाद्येनानारम् । (७) अनिप्रायवती  
 ज्ञानस्य । (८) व्याख्या—'स्यात् । क ? नैगमो नय । वा ? विवक्षा अभिप्राय । नयो ? धर्मयो  
 एवैवानुवच्यते । कन ? गुणप्रधानभावेन । कव ? एकधर्मिणि एकोऽभिप्रो धर्मो द्रव्यं तस्मिन् । तदा-  
 इति तस्य नैगमस्य आहृतिप्रमाणं स्यात् । वा ? अत्यन्तभेदात् अत्यन्तो निरपेक्ष भेदा नानात्व  
 तस्याभिवचनं नैवाविराद्यभिप्रायो नैगमाभाव इत्यर्थः ।—लघी० ता० पृ० ९० ।

१ तत्संभवे वानत्या-थ० । २ स्याद्वादवचनं आ० । ३ प्रस्तारस्य थ० । ४ प्रकारभूता-थ० ।

५-भिन्नम्बन्ध प्र-भा०, थ० ।

विवृतिः—जीवः सन्नमूर्त्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टाऽसंख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः इति प्रधानवृत्त्या जीवस्वत्त्वनिरूपणायां गुणीभूताः सुखादयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्गतां चेत्यादि तादात्म्यमविवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे, संप्रहादौ एकविवचेति भेदः ।

गुणप्रधानभावेन मुख्यामुख्यरूपता धर्मयो. एकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा

कारिणाभ्यां वा-

प्रतिपत्तुरभिसन्धि नैगमः स कथं प्रधानभूतोभयधर्मस्वभावधर्मि-

विपर्ययप्रमाणरूपता प्रतिपद्येत ? तदाभासमाह—अत्यन्तभेदोक्तिः

‘धर्मयोः एकधर्मिणि’ इति सम्बन्धः, स्यात् तदाकृतिः नैगमाभासो भवेत् । 10

कारिका विवृण्वन्नाह—जीवः सन्नमूर्त्तः सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा कर्त्ताऽसंख्यातप्रदेशी

विवृतिव्याख्यानम्—

भोक्ता परिणामी नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः एव प्रधानवृत्त्या

जीवस्वत्त्वनिरूपणायां जीवस्वरूपप्ररूपणाया क्रियमाणाया

गुणीभूताः सुखादयो धर्माः । आंहादनाकार सुख तद्विपरीतस्वरूप दुःख स्वार्थग्रहण-

स्वभाव ज्ञानम् इत्येव मुख्यतः सुखादिस्वरूपनिरूपणायां वा आत्मा ‘गुणीभूत.’ इति 15

सम्बन्ध । नैगमाभास प्ररूपयन्नाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः सुखाद्यात्मनो. अत्यन्त-

भेदाभिसन्धिः नैगमाभासः । उदाहरणमाह—गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां जाति-

तद्गतां चेत्यादि । ‘अत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभासः’ इति सम्बन्धः । अनेन

कपिलीथोऽपि चैतन्यसुखाद्योरत्यन्तभेदाभिसन्धि चिन्तित । कुतोऽसौ नैगमाभास ?

इत्यत्राह—‘तादात्म्यम्’ इत्यादि । यतोऽसौ धर्मधर्मिणीस्तदात्म्यं सदपि अविवक्षित्वा 20

स्वदुरागमवासनाविपर्ययसितमते प्रतिपत्तुः प्रवर्त्तते ततोऽसौ नैगमाभास इति ।

धर्मधर्मिणोः इत्युपलक्षणार्थमेतत्, तेन अवयवावयविनो. क्रियाकारकयो जातितद्-

तोश्च ग्रहणम् । धर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे यतः ततोऽत्यन्तभेदविवक्षा

तदाभास इत्यभिप्राय । संप्रहादेरतः कुतो भेदः ? इत्यत्राह—‘संग्रह’ इत्यादि । संग्रहः 25

आदिर्दृश्य व्यवहारादेः स तथोक्त. तत्र एकस्य गुणादेः गुण्यादेर्वा विवक्षा इति

हेतोः भेदः नैगमात् संप्रहादेः इति ।

तत्र संप्रहस्वरूप सप्रतिपक्ष दर्शयन्नाह—

(१) विषय यत्प्रमाण तद्रूपताम् । (२) ‘सुखमांहादनाकार विज्ञान मेयबोधनम् —न्यायवि० ।

द्रष्टव्यम्—अकलङ्कप्र० परि० पृ० ५८ ।

1—गाम ज० वि० । 2—भूतावि—ज० वि० । 3—नित्ये ज० वि० । 4—भिसम्बन्धि आ० ।

5—पद्यते आ०, थ० । 6—आत्मा व० । 7—सम्बन्धि थ० । 8—चेत्यादि आ० । 9—नैगमो यत. व०, थ० ।

सदभेदात् समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तिः ॥६९॥

विवृतिः-सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः

तदभ्युपगमोपायाभावात् । नापि तस्योपेयत्वं खरविपाणवत् ।

समस्तस्य जीवाजीवविशेषप्रपञ्चस्य ऐक्येन संग्रहात् कारणात् संग्रहो

कारिकां - नयः 'प्रवर्तते' इत्युपस्कारः । कुतः समस्तैक्यसंग्रहः इत्याह-सदभे-

दात् । ब्रह्मवादोऽपि सदभेदमाश्रित्य समस्तैक्यं संगृह्णाति इति

सोऽपि संग्रहः स्यादित्यत्राह-'दुर्नय' इत्यादि । दुर्नयः संग्रहाभासो ब्रह्मवादः

स्यात् । कुत एतत् ? इत्याह-'तद्' इत्यादि । तस्य ब्रह्मणः यत्स्वरूपं

निराकृतसकलभेदप्रपञ्चं सत्तामात्रं तस्य अनवाप्तिः प्राप्तेरभावात् ।

कारिकां विवृण्वन्नाह-'सर्वम्' इत्यादि सर्वं चेतनाचेतनरूपं वस्तुजातम् एकं

विवृतिव्याख्यानम्- सदविशेषात् इति एवं संग्रहनयः प्रवर्तते । तदाभासः संग्रहाभासः

ब्रह्मवादः । कुत एतत् ? इत्याह-'तत्' इत्यादि । तदभ्युपगमस्य

ब्रह्मवादस्वीकारस्य उपायाभावात् प्रमाणाभावात् । प्रमाणमूलो हि अभ्युपगमः सत्यः

इत्यभिप्रायः । दोषान्तरमाह-'नापि' इत्यादि । नापि तस्य ब्रह्मणः उपेयत्वं

स्वीकरणीयत्वंम् 'उपायाभावात्' इत्यभिसम्बन्धः । यस्य उपायामावो न तदुपेयम्

यथा खरविपाणम्, उपायाभावश्च ब्रह्मणः इति । यथा चास्य न कश्चिदुपायो घटते

तथा ब्रह्माद्वैतनिषेधावसरे<sup>१</sup> व्यासतः चिन्तितम् ।

व्यवहारनय दर्शयन्नाह-

व्यवहारानुकूल्यात् प्रमाणानां प्रमाणाता ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥ ७० ॥

विवृतिः-प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इति आकुमारं प्रसिद्धम्,

(१) व्याख्या-"...समस्तस्य जीवाजीवविशेषस्य ऐक्येन ऐक्येन संग्रहात् सक्षिप्य संग्रहात् ।

वचननेरुस्य, सक्षेपणमित्याद्यह-मदभेदात्, मत् स्वरूपसामान्यं सत्तासावभेदश्च तमाश्रित्य । नहि

मत्त्वान् विञ्चद् भिन्नमस्तीति वक्तुं युक्तं विरोधात् । दुर्नयं संग्रहाभासं स्यात् । क ? प्रहमवाद सत्ता-

इतम् । कुत ? तत्स्वरूपानवाप्तिः, तस्य परपरिकल्पितप्रहमणः स्वरूप भेदप्रपञ्चग्रन्थं सन्मात्रं तस्यान-

वाप्तिं प्रमाणादाप्राप्तिस्तत्र, न सत् तत् प्रत्यक्षादिप्रमाणात् प्राप्यते तथाऽप्रतीतिः ।"-सूची० ता०

पृ० १० । (२) पृ० १५० । (३) "व्यवहारानुकूल्यात्, मग्रहभेदको व्यवहारः तस्यानुकूल्यमविसंवादा

नस्मादव । बाध्यमानानां मशयादीनां विसंवादिनां ज्ञानानाम् । तत्र प्रमाणेतरव्यवस्थानिबन्धनत्वात्

व्यवहारो नय, अन्यथा तदाभास इत्यर्थः ।"-सूची० ता० पृ० ११ । उदृतोऽयम्-"व्यवहारानुकूल्येन

प्रमाणानां प्रमाणाता । नान्यथा बाध्यमानानां नेत्याञ्च तत्रप्रसङ्गतः ।"-तत्प्रार्थस्तो० पृ० २७१ । तुलना-

"प्रामाण्यं व्यवहारण"-प्रमाणवा० ३५ ।

अन्यथा संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पकं प्रमाणं व्यवहाराविसंवादात् । उत्पादविगमध्रौव्यलणं सत् गुणपर्ययवद्रव्यम् जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्यादि श्रुतज्ञानस्य प्रमाणान्तरावाधन-पूर्वापराविरोधलक्षणसंवादसंभवात् प्रामाण्यम्, अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च । बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रं शून्यवचसां व्यवहारविरोधित्वात् दुर्नयत्वम् ।

प्रमाणानाम् अध्यक्षादीनां या प्रमाणाता सौगतादिभिरिष्यते मा व्यवहारानुकूल्यादेव उपपन्ना नान्यथा, अन्यथा व्यवहारप्राति-  
कारिभार्य-  
कूल्यप्रकारेण न, कुत एतत् ? इत्यत्राह—‘वाध्यमान’ इत्यादि ।  
वाध्यमानानां व्यवहारानधिरूढप्रातीतिकद्विचन्द्रसकलशून्यताद्यर्थविषयज्ञानानां  
तत्प्रसङ्गतः प्रमाणाताप्रसङ्गतः ।

कारिकां व्याख्यातुमाह—‘प्रमाणानाम्’ इत्यादि । प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्यम् अमिध्यात्वम् इष्टानिष्टप्रातिपरिहारलक्षणव्यवहाराविसंवादात्, इत्येतत् आकुमारम् आवालं प्रसिद्धम् । अन्यथा व्यवहाराविसंवादाभावप्रकारेण तत्प्रामाण्ये संशयविपर्यासस्वप्नज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । तदेविसंवादाच्च तत्प्रामाण्ये यत् परेषां निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदप्रमाणं व्यवहाराविसंवादाभावात् इति मन्यमानः प्राहः—‘प्रत्यक्षम्’ इत्यादि । प्रत्यक्षं सविकल्पकम् प्रमाणं ‘स्यात्’ इत्यनेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—व्यवहाराविसंवादात् । न पुनः निर्विकल्पकं तद्विपर्ययात् इति भावः । साम्प्रतं श्रुतस्य तत एव प्रामाण्यं दर्शयन्नाह—‘उत्पाद’ इत्यादि । उत्पादविगमध्रौव्याणि लक्षणं स्वरूपं यस्य तदेतद्व्यलणं जीवादिबस्तु सद् भवति, गुणपर्ययवद्रव्यं जीवश्चैतन्यस्वभावः इत्येवमादिश्रुतज्ञानस्य अस्पष्टतर्कणस्य ‘प्रामाण्यं स्यात्’ इति गतेन सम्बन्धः । कुत एतत् ? इत्यत्राह—‘प्रमाणान्तर’ इत्यादि । श्रुतात् अन्यत् प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरं तेन अवाधनञ्च पूर्वापरयोः श्रुतवाक्ययोः अविरोधञ्च लक्षणं यस्य संवादस्य तस्य तत्र संभवात् । अत्रैवार्थे हेत्यन्तरमाह—‘अर्थ’ इत्यादि । अर्थो जीवादिः अभिधानं जीवादिशब्दः प्रत्ययः तद्विपर्ययो ज्ञानं ते आत्मा यस्य व्यवहारस्य तस्यानुकूल्याच्च

(१) तुलना—‘त्रय पदार्था. अर्थाभिधानप्रत्ययभवात्’—राजवा०पृ०१७ । अष्टसह०पृ०२५१ ।  
(२) व्यवहाराविसंवादात् । (३) सौगतानाम् । (४) द्रष्टव्यम्—पृ० ६०५ टि० ७ । (५) तुलना—  
‘गुणानामासत्रो दब्ब एकदब्बस्सिआ गुणा । लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिआ भवे ॥’—उत्तरा०  
२८।६ । “दब्ब सल्लक्खणिय उप्पादव्वयधुवत्तमजुत् । गुणपज्जयासय वा ज त भणन्ति सव्वण्हू ॥”  
पचास्ति०गा०१० । “गुणपर्ययवद्रव्यम्”—तत्त्वार्थसू०५।३८ । न्यायवि० का० १११ । “त परियाण ह्नु दब्बु  
तुह्णं ज गुणपज्जयजुत् । महभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पज्जउ उत्तु ॥”—परमात्मप्र० गा० ५७ ।

1 श्रुतज्ञानं ज० वि० । 2-मात्रे ह्यन्य-ज० वि० । 3 ‘अन्यथा’ नास्ति आ०, व० ।  
4-मारबाल श्र० । 5 इत्याह व०, श्र० । 6 संवादस्य तत्र आ०, व० ।



हेतोः श्रुतज्ञानस्य 'ग्रामाण्यम्' इति सम्बन्धः । व्यवहारदुर्नयं दर्शयन्नाह—'बहिरर्थ' इत्यादि । बहिरर्थश्च विज्ञप्तिमात्रञ्च ताभ्यां शून्यं तत्प्रतिपादकवचसां दुर्नयत्वम् । बहिरर्थशून्यवचसां विज्ञप्तिमात्राद्यद्वैतप्रतिपादकवचसां तन्मात्रशून्यवचसां सकल-  
शून्यताप्रतिपादकवचसामिति । कुतः तेषां दुर्नयत्वम् ? इत्यत्राह—'व्यवहारविरोधि-  
त्वात्' इति । नहि तद्वचस्सु इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारादिलक्षणव्यवहारस्य अविरोधो युक्तः  
प्रमाणप्रमेयसद्भावे सत्येव अस्याऽविरोधात् । ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह—

भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।

सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

विवृतिः—बहिरणवः संचिताः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं यथा दर्शयन्ति

तद्वत् संचित्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत्  
सक्रमं साधयेत् भेदस्याभेदविरोधात्, अन्यथा क्वचिन्नानात्मेव न स्यात् । सा-  
पेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभे-  
दादभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापाये अर्थस्याऽनुपपत्तेः ।

सर्वस्य सर्वतो भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजु प्राञ्जल वर्त्तमानपर्याय-

मात्रं सूत्रयति प्ररूपयति इति ऋजुसूत्रः नयो मतः । प्रधान-  
शब्दस्यै च सम्बन्धिशब्दत्वात् द्रव्यं तस्य अप्रधानम् । तदाभासमाह—

'सर्वथा' इत्यादि । सर्वथा गुणप्रधानभावाभावप्रकारेण एकत्वविक्षेपी एकत्व-  
निराकारकः तदाभासः ऋजुसूत्राभासः । तुः यस्मादर्थे, यस्मादलौकिकः लोक-  
व्यवहारातिक्रान्तोऽयमीदृशो भेदोऽभ्युपगमः । न सल्लु सर्वथैकत्वप्रतिक्षेपेण स्थासकोश-  
कुशलादौ बालकुमारादौ वा भेदव्यवहारो लोके प्रसिद्धः ।

कारिकां विवृणुन्नाह—'बहिः' इत्यादि । बहिरणवः दर्शयन्ति जनयन्ति स्थूलमे-

काकारप्रत्ययम्, किंविशिष्टम् ? अभूतम् अपरमार्थविषयम् । कथम्भू-  
तास्ते ? सञ्चिताः पुञ्जीभूताः । एवविधास्ते यथा येन प्रकारेण तथा

(१) व्यवहारस्य । (२) "प्राधान्यतः मुख्यत्वेन, अनेन गौणत्वेन द्रव्यमप्यपेक्षत इत्यर्थः ।

तु पुनस्तदाभासो भवति । किं विशिष्ट ? एकत्वविक्षेपी, एतत्त्व द्रव्यं विक्षिपति निराकारोत्पेक्षशील  
एकत्वविक्षेपी । कथम् ? सर्वथा प्राधान्यतोऽप्राधान्यतश्च, पुन किं विशिष्ट ? अलौकिकः लोको  
व्यवहारस्तत्प्रयोजनो लौकिक तद्विपर्ययोऽलौकिक अलौकिकादित्यर्थः । न हि परस्पर सजातीयवि-  
जातीयव्यावृत्ता प्रतिक्षणविशरारव परमाणवो व्यवहियन्त परीक्षकं यतस्तद्व्यपयो नयाभासो न  
स्यात् ।"—लघो० ता० पृ० ९१ । (३) सौगतमते पुञ्जीभूता परमाणव एव स्थूलाकारप्रत्यहेतवः,  
तथाहि—"अर्वांतराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽणरे । उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मन ॥"  
—प्रमाणवा० ३।१९५ । (४) "ऋजु प्रगुण सूत्रयति तन्नयत इति ऋजुसूत्रम् ।"—सर्वाथंसि०, राजवा०  
१।३३ । (५) सर्वथा क्षणिकत्वस्वीकारः ।

विधं प्रत्ययं दर्शयन्ति तद्वत् संवित्परमाणवोऽपि, कथम्भूतम् ? चित्राकारम्, नीलादि-  
 प्राह्याद्यनेकाकारमेकम् अत एव अभूतम् । उपसंहारमाह—‘ततः’ इत्यादि । यस्मादे-  
 काकारप्रत्ययस्य अपरमार्थविषयत्वं ततो नैकमभिन्नस्वभावं तत्त्वं जीवादिवस्तु अक्रमं  
 युगपद् अनेकरूपम् ‘युक्तम्’ इत्युपस्कारः । यत् सक्रमं क्रमयत् सुरादिभेदभिन्नम्  
 आत्मानं साधयेत् । ‘यत्’ इत्याक्षेपे वा नैव साधयेत् । कुत एतत् ? इत्यत्राह—‘भेदस्य’  
 इत्यादि । भेदस्य नानात्वस्य अभेदेन एकत्वेन विरोधात् । विपक्षे बाधकमाह—‘अन्यथा’  
 इत्यादि । अन्यथा अन्येन तदविरोधप्रकारेण क्वचिद् घटपटादौ नानात्वमेव न  
 स्यात् इति । अस्याभिसन्धेर्नयत्व दुर्नयत्वञ्च दर्शयन्नाह—‘सापेक्ष’ इत्यादि । सह  
 प्रत्यनीकधर्मापेक्षया वर्त्तते इति सापेक्षः नयः । अपेक्षातो निष्क्रान्तः निरस्ता वा  
 अपेक्षा येनासौ निरपेक्षः दुर्नयः । न्तु प्रमाणाभावेन अभेदस्य कचिदनुपपत्तेः कथं  
 तदपेक्षो नयः स्यात् ? इत्यत्राह—‘प्रतिभास’ इत्यादि । प्रतिभासस्य प्रत्यक्षादिसंवेद-  
 नाकारस्य भेदात् स्वभावभेदं चेतनेतरस्वरूपनानात्वं व्यवस्थापयन् सौगतः तदभेदात्  
 प्रतिभासाभेदात् अभेदं प्रतिपद्यत एव विशेषाभावात् । एतच्च ‘अर्थक्रिया न युज्येत  
 नित्यक्षणिकपक्षयोः’ [ लघी० का० ८ ] इत्यत्र सप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् । अत्रैवार्थे समर्थ-  
 नान्तरमाह—‘तद्’ इत्यादि । तयोः भेदाभेदयोर्मध्ये अन्यतरस्य भेदस्य अभेदस्य वा अपाये  
 अर्थस्य उत्तरकार्यस्य संवेदनस्यं चाऽनुपपत्तेः, सापेक्षो नयः निरपेक्षो दुर्नय इति ।

अथ सप्तनयेषु मध्ये के अर्थप्रधाना. के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह—

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपश्रयात् ।

त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविधां समाश्रिताः ॥७२॥

विद्युतिः—कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकत् अभूत् भवति भवि-

(१) व्याख्या—‘एते । के ? नैगमादय प्रागुक्ता चत्वारोऽर्थनया अर्थप्रधाना नया । कुत ?  
 जीवाद्यर्थव्यपश्रयात्, जीवाजीवादीनामर्थानां व्यपश्रयाद् आलम्बनात् । त्रयः शेषा शब्दमभिहृद्व-  
 म्भूता. शब्दनया शब्दप्रधाना नया । किं विशिष्टा ? सत्यपदविधा समाश्रिता, सत्यानि प्रमाणान्त-  
 रावाधितानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां विद्या व्याकरणशास्त्र तामाश्रिता आलम्बना  
 व्याकरणाश्रितत्वादित्यर्थं ।’—लघी० ता० पृ० १२ । तुलना—‘चत्वारोऽर्थव्यपश्रया शेषास्त्रय शब्दतः ।’  
 —सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१७ B । ‘तत्र सप्रहृद्व्यवहारजुंमुत्रा अर्थनया शेषा शब्दनया’—राजवा० पृ०  
 १८६ । ‘अत्यप्पवर सहोवसज्जण वत्थुमुज्जुसुत्तता । सद्दप्पहाणमत्तोवसज्जण सेसवा विंति ।’—  
 विशेषा० गा० २७५३ । ‘तत्रजुंमुत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मता । त्रय शब्दनया. शेषा शब्दवाच्या-  
 र्थगोचरा. ॥’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७४ । नयविब० पृ० २६२ । ‘एषु चत्वार. प्रथमेऽर्थनिरूपणप्र-  
 वणत्वादर्शनयाः शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यगोचरतया शब्दनया. ।’—प्रमाणनय० ७।४४, ४५ । जैनतर्कमा०  
 पृ० २३ । नयप्रदीप पृ० १०४ B. । उद्धृतोऽयम्—‘जीवाद्यर्थविनिश्चयात् ।’—आव० वि० मलय० पृ०  
 ३८१ B. । सूत्रकृताग० टी० पृ० ४२६ A. ।

1—विधप्रत्य-थ०, व० । 2 भेदनात् थ० । 3 व्यवस्थापयेत् सौ-आ० । 4 ‘प्रतिभासाभेदात्’  
 नास्ति थ० । 5—स्य चानूप-आ० । 6—विन्यासमाधि-ज० वि० ।

प्यति, करोति क्रियते, देवदत्तो देवदत्ता इति । पर्यायभेदाद् अभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्चृत्वस्य अयोगात् इति । कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिबन्धात् । 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत् प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् । कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोः ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्योदनम्, व्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति, इत्याद्यनागतविषयाणाम् अविसंवादिनाम् आनन्त्यात् । ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धं प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादनस्वाभाव्यात् विज्ञानवदिति । वर्तनालक्षणः कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, स्त्यान प्रसव-तदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्, कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकं तथा-प्रतीतेः । पर्यायोऽपि अर्थभेदकृत् । क्रियाभेदात् एकोऽपि शब्दः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात् तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवन्नेव इन्द्रः नान्यदा, ततः सिद्धः क्रियाभेदः पाचकपाठकादिवत् । नहि वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं वितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत् । व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादार्थादपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन् नयः न मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षस्यैव मिथ्यात्वात् । अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वम् तदनिराकृतेः सापेक्षत्वं नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम् ।

चत्वार एते नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्या व्याख्यातस्वरूपा हि स्फुटम् अर्थनया एव अर्थप्रधाननया अर्थनयाः । कुतः ? इत्याह—  
जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् जीवाद्यर्थसमाश्रयणात् । त्रयः शब्द-समभिरूढैवम्भूताः शब्दनयाः शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः । कुतस्ते तथाविधाः ? इत्याह—'सत्य' इत्यादि । सत्यानि अवितथानि अपशब्दस्वरूपरहितानि यानि पदानि कालकारकादिभेदवाचीनि तेषां विद्या व्याकरण यत्र तानि व्युत्पाद्यन्ते तां समाश्रिताः यतः ततः ते शब्दप्रधानाः ।

कारिकापूर्वार्द्धस्य अनन्तरमेव व्याख्यातत्वात् उत्तरार्द्धं विशृण्वन्नाह—'काल' इत्यादि । शब्दः शब्दनय. अर्थभेदकृत् । कुतः ? कालकारक-  
विवृतिव्याख्यानम्—  
लिङ्गभेदात् । 'यथा' इत्यादिना एतदेव दर्शयति । तत्र कालभेदाद् अभूत् भवति भविष्यति । कारकभेदात् करोति क्रियते । लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति । पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । क्रिया-

श्रयः एवम्भूतः । कुत एतत् ? इत्याह—‘कुर्वतः’ इत्यादि । शचीपतेः इन्दनादिक्रिया कुर्वत एव कारकत्वम्, यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्याऽयोगात् इति । परं ग्राह—  
 ‘कथम्’ इत्यादि । कथम् ? न कथञ्चित्, ‘पुनः’ इत्याक्षेपे, शब्दज्ञानं शब्दस्य कार्यं यदर्थज्ञानं तत् विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं वहिःस्वलक्षणं प्रत्येति विपयीकरोति । सूरिः परं पृच्छति—‘कथञ्च न’ इति । स पृष्टः ग्राह—तदप्रतिबन्धात् । तस्मिन् अर्थे अप्रति-  
 बन्धात् तादात्म्यत्तदुत्पत्तिलक्षणसम्बन्धासम्भवात् शब्दज्ञानस्य । तदप्रतिबन्धेऽपि तत्तं तैमवे(वे)ति इति चेदत्राह—‘नहि’ इत्यादि । हिर्यस्मात् न बुद्धेः अकारणं किन्तु कारणं विषयः इत्येतत् प्रतिव्यूढम् । कुत एतत् ? इत्याह—विज्ञानस्य अनागतनिर्णयात् । अनागतस्य अलब्धात्मलाभतया अकारणभूतस्य अर्थस्य निर्णयात् निर्णयसम्भवात् । तथाहि—कृत्तिकोदयदर्शने शकटोदयो भविष्यति बुद्धिरविसवादिनी, एवम् आदित्यः  
 श्व उदेता, सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो भविष्यति, तन्दुलाः भविष्यन्त्योदनः, व्रीहयः तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्य-  
 नागतविषयाणामविसवादिना ज्ञानानामानन्त्यात् । ‘ततः’ इत्यादिना प्रकृतमर्थमुप-  
 सहरन्नाह—यतः । अनागतविषयत्वज्ञानस्य सिद्धं ततः शब्दज्ञानमपि न केवलं प्रत्यक्षानु-  
 मानज्ञानम् विवक्षाव्यतिरिक्तार्थग्राहि सिद्धम् । ननु शब्दस्य अर्थप्रतिबन्धाभावात्  
 कथं तज्ज्ञानम् अर्थग्राहि ? इत्याह—‘प्रतिबन्ध’ इत्यादि । प्रतिबन्धमन्तरेणापि  
 तादात्म्यतदुत्पत्तिसम्बन्धं विनापि तस्य शब्दस्य यत् प्रतिपादकं स्वाभाव्यं योग्यता-  
 लक्षणं स्वरूपं तस्मात् तत् तद्ग्राहि सिद्धम् । अत्र दृष्टान्तमाह—‘विज्ञानम्’ इति ।  
 शब्दज्ञानस्य दार्ष्टान्तिकत्वात् इह विज्ञानग्रहणेन यत् प्राग् अर्थाचन्यतया समर्थितं  
 प्रत्यक्षं तदेव गृह्यते, तदिव तद्वदिति ।

ननु कालादिभेदात् शब्दनयस्य अर्थभेदकत्वं प्रतिपादितम्, कालादीनां तु लक्षणं नोक्तम्, नैचालक्षितरूपाणाम् अर्थभेदप्रतीतिहेतुत्वं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् इत्या-  
 शङ्क्यं तेषां लक्षणं प्ररूपयन्नाह—‘वर्त्तना’ इत्यादि । सकलपदार्थानां वृत्तिहेतुत्वं वर्त्तना सा लक्षणं यस्य असौ तद्वक्षणः कालः । क्रियया आविष्टं युक्तं द्रव्यं कारकम्, क्रिया कुर्षेद्रव्यं कारकमित्यर्थः । लिङ्गं त्रिविधम् स्त्रीपुनपुसकभेदात् । तत्र स्त्यान-  
 सामान्यलक्षणं स्त्रीलिङ्गम् । प्रसवसामान्यलक्षणम् अपत्यजनकत्प्रमात्रलक्षणं पुल्लिङ्गम् ।  
 तदुभयाभावसामान्यलक्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभावमात्रलक्षणं नपुसकलिङ्गमिति । तदे-

(१) सौगत । (२) शब्दज्ञानम् । (३) अर्थम् । (४) शब्दज्ञानम् । (५) शब्दज्ञानम् ।

1 तत्तत्त्वमेवेति व०, तत्तत्रममेवेति थ० । 2 किन्तु कारणं नास्ति थ० । 3 शकटोदयं भवि-  
 आ०, शकटोदये च भवि-थ० । 4 अर्थे प्रति-व०, थ० । 5 प्रत्यक्षं नास्ति थ० । 6 न चालक्षण-  
 लक्षितरूपा-व० । 7 अर्थे भद-व० । 8 क्रियाया अविशिष्टं थ० । 9 -क्षणं स्त्यानप्रसवोभयाभाव  
 सामान्यलक्षणं स्त्यानप्रस-आ० ।

तदुक्तलक्षण कालादि कथञ्चिद् वस्तुस्वभावभेदकम् तथाप्रतीतेः प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु 'पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्' इत्ययुक्तमुक्तम्, पर्यायस्यार्थाऽभेदकत्वात् इत्याशङ्क्याह—'पर्याय' इत्यादि । न केवलं कालादयः किन्तु पर्यायोऽपि 'इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दरः' इत्यादिरूपः अर्थस्य शचीपत्यादेः भेदकः कथञ्चिद् धैलक्षण्यापादकः 'तथाप्रतीतेः' इत्यनन्तरेणाभिसम्बन्धात् । यदपि 'क्रियाश्रय एवम्भूतः' इत्युक्तम्, तत्रापि कुतोऽस्य एकत्रापि पर्याये क्रियाभेदाद् भेदहेतुत्वम् ? इत्याह—'क्रिया' इत्यादि । क्रियाभेदाद् इन्दनादिभेदात् एकोऽपि शब्दः इन्द्रादिपर्यायरूपः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात् तन्निमित्तकव्युत्पत्तेरभावात् तदर्थम् इन्द्रार्थं नाचष्टे इति हेतोः परमैश्वर्यम् इन्दनक्रिया अनुभवन्नेव इन्द्रः नान्यदा अभिपेचनादिकाले । एवं शकनकाल एव शक्रः पूर्दारणसमय एव पुरन्दरः नान्यदा 'तथाप्रतीतेः' इति गतेन सम्बन्धः । यतो यत्क्रियापरिणतः पदार्थः तत्क्रियानिमित्तव्युत्पत्तिकैः शब्दैः तत्काल एवाभिधीयते नान्यदा । ततः सिद्धः क्रियाभेदो भेदको भावाना पांचकपाठकादिवत् ।

ननु क्रियामाश्रित्य शब्दा व्याकरणेन व्युत्पाद्यन्ते, तच्च मिथ्या इत्येके, वर्णा एव पदमेव वाक्यमेव वा सत्यमित्यन्ये, तन्मतमपाकर्तुमाह—'नहि' इत्यादि । नहि न खलु वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादकं शास्त्रं व्याकरणलक्षणवितथम् परमार्थशब्दप्राप्त्युपायत्वात् । नहि व्याकरणासत्यत्वे अपशब्दव्युदासेन सम्यक्शब्दप्रतीत्युपायः कश्चित् 5 सभवति । ननु वृद्धव्यवहारपरम्परात एव शब्दाऽपशब्दविवेको भविष्यति अतस्तदर्थं व्याकरणसमाश्रयणमयुक्तम्, इत्यप्यविचारितरमणीयम्, व्याकरणानपेक्षाद् वृद्धव्यवहारादेव आनन्देनाऽखिलशब्दानां प्रतिपद तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । व्याकरणाश्रयणेन तु सामान्यविशेषवता लक्षणेन उपलक्षिताना स्वल्पप्रयत्नेनापि तेषां तद्विवेकः कर्तुं सुशकः । 20 तथाहि—“कर्मण्यण्” [ पाणिनि० ३।२।१ ] इत्येकेनैव सूत्रेण कुम्भकार-काण्डलाव-शौस्त्राध्यायादयो बहवः शब्दाः सहस्यन्ते, अतः व्याकरणानुगृहीतात् लोकव्यवहारात् सुखेनैव शब्दपशब्दविवेकायस्व कर्तुं शक्यत्वात् अस्ति व्याकरणसोपधोः । न वास्याऽप्रमाणत्वात् तद्विभागे नोपयोगः इत्यभिधातव्यम्; तदप्रामाण्ये कर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य सम्प्लवप्रसङ्गात् । न च तत्सम्प्लवः अस्ति । अतः अयमेव तदसम्प्लवः स्वसिद्धये व्याकरणं 25 प्रमाणयति, अन्यतः तद्व्यवस्थानुपपत्तेः । व्याकरणत एव हि प्रकृतिप्रत्ययविभागद्वारेण अन्योन्यविभक्तस्य कर्मकर्त्रादिकारकप्रपञ्चस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यतः, तथाप्रतिपत्तिहेतोस्ततोऽन्यस्याऽसंभवात् । ननु वर्णपदवाक्यानां निरशत्वात् किं तेर्न प्रकृत्यादि-

(१) शब्दापशब्दविवेकायम् । (२) इष्टव्यम्—पृ० ७६० टि० १ । (३) कर्त्रादिकारकनैवत्यम् ।

(४) व्याकरणशास्त्रम् ।

१ व्याचष्ट आ० । २ नाम्यथा श्र० । ३ पावकपाचकपाठकादि-आ०, पावकपाठकादि-व० ।

४-पाठादि-ध० । ५-परम्परया त एव ध० । ६ प्रतिपाद ध० । ७-विशयवत्त्व-आ० । ८-शास्त्र-ध्याया-ध० । ९ तत ध० ।

प्रविभागमाश्रित्य व्युत्पाद्येत ? निरशानामपि तेषां तत्प्रविभागं परिकल्प्य व्युत्पादने तच्छास्त्रं वितथमेव स्यात् तैस्त्वरूपाऽसंस्पर्शित्वात् इत्यत्राह—'व्यावहारिक' इत्यादि । व्यवहारे व्यवहारनयभेदप्ररूपके वैयाकरणव्यवहारे वा भवा या प्रकृत्यादिप्रक्रिया तस्याः प्रविभागो भेदः तेन परमार्थः वास्तवो यः शब्दः वर्णपदवाक्यरूपः । वर्णो हि उदात्तादिभेदेन भिन्नः व्यवहारे वास्तवः प्रसिद्धः, पद तु सुप्तिङन्तभेदेन, वाक्यमपि अन्योन्यापेक्षाणां पदानां निरपेक्षः समुदायः इत्यादिभेदेन इति । यथा च नित्यनिरशादिरूपाणां वर्णपदवाक्यानामनुपपत्तिः तथा 'वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान्' [ लघी० का० ६४ ] इत्यत्र प्रपञ्चत. प्ररूपितम् । तस्य प्राप्त्युपायत्वात् स्वरूपावगतिहेतुत्वात् । 'नहि तद्व्युत्पादकं शास्त्रं वितथम्' इति सम्बन्धः । प्रयोगः—यः परमार्थभूतस्य प्राप्त्युपायो नासौ वितथः यथा ज्ञातुरभिप्रायात्मको नय, परमार्थभूतस्य शब्दस्य प्राप्त्युपायश्च वर्णपदवाक्यानां व्युत्पादक शास्त्रमिति । तत्र 'ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्' इत्यसु दृष्टान्त 'यथा' इत्यादिना व्याचष्टे—यथा येन प्रकारेण न मिथ्यात्वमनुभवेत्, कोऽसौ ? नयः ज्ञातुरभिप्रायः । किं कुर्वन् ? प्रकाशयन्, 'किं तत् ? एकान्तम् । कथम्भूतम् ? तदशम् अनेकान्तात्मकार्थकदेशम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? व्यावहारिकम् व्यवहारप्रयोजनम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? तत्प्राप्त्युपायं तस्य अनेकान्तात्मकार्थस्य प्राप्तिः तस्या उपायः सा वा उपायो यस्य । कथं तं प्रकाशयन् ? अपोद्घृत्य वृथक्कृत्य । कस्मात् ? अर्थात् । कथम्भूतात् ? अनेकान्तात्मकात् । किं कल्पनातः तथाविधात्तस्मात् ? इत्यत्राह—पारमार्थिकात् । परमार्थोऽकल्पित रूप तेन संभवात् । कुतोऽयमित्थम्भूतो न मिथ्यात्वमनुभवेत् ? इत्याह—'निरपेक्षस्य' इत्यादि । प्रत्यनीकधर्मे निष्क्रान्ता अपेक्षा यस्यासौ निरपेक्षः तस्यैव नोक्तप्रकारस्य मिथ्यात्वात् । अथ कस्य निरपेक्षत्व कस्य च सापेक्षत्वम् ? इत्याह—अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वं तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम् । एवविधसापेक्षानपेक्षत्वप्रकारेणैव नयानां सम्यक्त्य-मिथ्यात्वे नान्यथा इति स्थितम् ।

युक्तिस्वच्छजल सुवोधकमल सद्भ्रवीचीचीचयम्,

गम्भीर निखिलार्थैर्पाँलिकलितं सत्साधुहसाकुलम् ।

प्रज्ञावीशपटिष्ठपाठकस्वगन्धानप्रतानान्वितम्,

जीयाद् दुर्गेतिर्वापवृद्धिबहनन जैनागमाख्य सरः ॥ छ ॥

'इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे षष्ठं परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥

(१) वर्णपदवाक्यानाम् । (२) वर्णपदवाक्यस्वरूपानवगाहनात् । (३) सापेक्षस्य ।

1-एते व०, -एत् आ० । 2-रूपत्वात्-थ० । 3-एवहा-थ० । 4-शब्दप्रा-आ०, 'शब्दस्य' नास्ति थ० । 5-'किं तत्' नास्ति थ० । 6-'कथम्भूत' नास्ति थ० । 7-एवहा-थ० । 8-पायत्वं त-थ० । 9-'पुष्पकृत्य' नास्ति थ०, व० । 10-भावात् थ० । 11-धर्मो नि-थ० । 12-त्वम् व०, थ० । 13-परिकलि-आ० । 14-तापवृद्धिबहनन थ०, व० । 15-इति धीमत्प्रभाच'ब्राह्मणवि-व० । 16-षष्ठम् व० ।

# तृतीये प्रवचनप्रवेशे

सप्तमः निक्षेपपरिच्छेदः ।



प्रादुर्भूतं निखिलविषयोद्योतिसंघित्सरस्याम्,  
शास्त्राभोजं सकलविषयप्रौढपत्रप्रपञ्चम् ।  
लक्ष्मीक्षेत्रं प्रमितिनयसत्कर्णिकाकेसराह्यम्,  
निक्षेपोरुप्रवरमकरन्दाप्तये सेव्यतां भोः ॥७॥

अयेदानीं शास्त्रविधानाध्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सरं निक्षेपस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

श्रुतादर्धमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।

परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्मनिनेकान् व्यावहारिकान् ॥ ७३ ॥

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।

विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतापितान् ॥७४॥

(१) व्याख्या—“ पुनरपि किञ्चिद्भूतं ? तपोनिर्जोर्णकर्मा, तपसा यथाख्यातचारित्र्यलक्षणैः  
व्युत्पन्नक्रियानिवृत्तिशुक्लव्यानेन निर्जोर्णानि निर्मूलितानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि द्रव्यभावरूपाणि  
येनासौ तथोक्तः । अनेन चारित्र्यतपस्याराधनादयः सूचितम् । भूय किञ्चिद्भूतं ? जीवस्थानगुणस्थान-  
मागंघास्थानतत्त्ववित् अनेन ज्ञानाराधना ज्ञारिता । पुनः किञ्चिद्विशिष्टं ? विवृद्धाभिनिवेदनं, विशेषेण  
वृद्ध क्षाधिकस्वरूपेण परिणतमभिनिवेदानं सम्यग्दर्शनं यस्यासौ तथोक्तः । अनेन दर्शनाराधना निरूपिता ।  
एवमारधनाचतुष्टयस्यैव मोक्षमागंत्वोपपत्तेः । किं कृत्वा विवृद्धाभिनिवेदानं सजात इत्याशङ्क्याह—  
अनुयुज्य पृष्ट्वा । कानि ? द्रव्याणि । किञ्चिद्विशिष्टानि ? जीवादीनि । के ? अनुयोगश्च प्रदर्शयेत् । कि  
विशिष्टं ? निर्देशादिभिदा गर्तः । तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । यथा चेतनालक्षणो  
जीव इति । कस्येत्यनुयोगे स्वस्यैत्याधिपत्यकथनं स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने स्वेनेति करणनिरूपण  
साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे स्वस्मिन्नित्याधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियञ्चिरिति प्रश्ने अनन्त-  
कालमिति कालप्ररूपणं स्थितिः । कतिविध इत्यनुयोगे बन्तन्वसामान्यादेकविध इति प्रकारकथनं विधा-  
नम् । पूर्वं कृत्वा विरचय्य न्यस्य । कान् ? अर्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान्, अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च  
ते आत्मानं स्वभावाद्येपा ते च ते भेदाश्च व्यवहारास्तान् । तत्र अर्थात्मानो भेदो द्रव्यभासो तयोर-  
धर्मत्वात् । आगात्मको नामव्यवहारः । प्रत्ययात्मकश्च स्थापनाव्यवहारः तस्य सकलरूपत्वात् ।  
किञ्चिद्विशिष्टास्तान् ? श्रुतापितान् श्रुतेन अनेकान्तं विकल्पितान् । के ? नयानुगतनिक्षेपं, नयान्  
द्रव्यपर्यायविषयाननुगता अनुवृत्ता निक्षेपाभ्यासास्तः । किंरूपं ? उपायैः कारणैः । ख ? भेदवेदने  
मुख्यामुख्यविशेषनिर्णये कारणभेदरित्यर्थः । आद्यो किं कृत्वा ? परीक्ष्य विचार्यं । के परीक्ष्य ? अभिस-  
न्धिभिः ज्ञानुरभिप्रायै नर्परित्यर्थः । पूर्वं किं कृत्वा ? अधिगम्य ज्ञात्वा । कथंयम् ? जीवादिप्रमेयम् ।  
किञ्चिद्विशिष्टम् ? अनेकान्तात्मकम् । कस्मात् ? श्रुतात् स्याद्भावात् ।”—लघो० ता० पृ० ९५-९७ ।

1-प्रौढमेयप्र-व० । 2-तां नो व०, -ता भो श्र० । 3-मभिग-व० । 4-वेदने आ०, व० ।

5 विधापर्यायवाक्-प्र० । 6-भेदाच्छ्रुता-व० ।

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः ।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिर्निवेशनः ॥७५॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥७६॥ इति ।

विवृतिः—श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणम्—  
त्रिकालगोचरसर्वजीवादपदार्थनिरूपणम्, तदर्थांशपरीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः ।  
ताभ्यामधिगमः परमार्थन्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां  
वाचकेषु भेदोपन्यासः न्यासः । सोऽवरतः चतुर्थो नामस्थापनाद्रव्यभावतः ।  
तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमि-  
त्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भा-  
वात्मना व्यवस्थापना स्थापना । अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं

(१) उद्धृता श्लोके—“तथा चाहुर्भट्टाकलङ्कदेवा—“धुनादयं विवृद्धाभिर्निवेशत”-अतागारथ०  
पृ० १६९। (२) तुलना—“द्रव्यादिसामान्यार्पणात् धुतमनादिनिघनमिष्यते । न हि केनचित्पुरुषेण क्वचि-  
त्कदाचित्कथञ्चिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च सभवतीति मतिपूर्वमित्युच्यते,  
यथाऽङ्कुरो बीजपूर्वकः स च सन्तानापेक्षया अनादिनिघन इति ।”-सर्वार्थसि० १।२०। (३) तुलना—  
“विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थो न्यासो निक्षेप ।”-तत्त्वार्थभा० १।५ । “णिच्छेत् णिष्णत्  
खिवदिति निक्खेवो । सोवि छब्बिहो णामट्ठवणादब्बखेनभावमंगलमिदि ।”-धवलाटी० पृ० १० ।  
“य इह गुणाक्षेप स्यादुपचरित केवल स निक्षेप ।”-पञ्चाध्या० श्लो० ७४१ । “प्रकरणादिवशेना-  
प्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषो निक्षेप ।”-जैनतर्कभा० पृ० २५ ।  
(४) तुलना—“जत्व म ज जाणेज्जा निक्खेव निक्खेवे निरवसेस । जत्ववि अ न जाणेज्जा चउक्कमं  
निक्खेवे तत्थ ॥ आवस्सय चउव्विह पणत्ते । त जहा—नाभावस्सय ठवणावस्सय दव्वावस्सय भावाव-  
स्सय ।”-अनु० सू० ८ । “नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्म्यास ।”-तत्त्वार्थसू० १।४ । “निक्षेपोऽनन्त-  
कल्पश्चतुरवरविध प्रस्तुतव्याक्रियार्थ । तत्त्वार्थज्ञानहेतु नयद्रव्यविषयः सशयच्छेदकारी ॥”-सिद्धिबि०  
परि० १२ । मूलाचारे षड्भावश्रयकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः । नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-  
कालसार्धं पृथिवि उक्त । आवश्यकनिर्घृती (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालवचनभाववि-  
कल्पात् सप्तविधो निक्षेप प्ररूपित । (५) “नाम सज्ञा कर्म इत्यनर्थान्तरम् -”-तत्त्वार्थधि०  
भा० १।५ । “अतद्गुणे वस्तुनि सव्यवहारार्थं पुराकारास्तिगुज्यमानं सज्ञाकर्म नाम ।”-सर्वार्थसि०  
१।५ । राज्यां० पृ० २० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४३ । “यस्य कस्यचिदनिदिष्ट-  
विशयस्य निमित्तान्तरानपेक्ष सज्ञाकर्म नाम ।”-सिद्धिबि०, टी० पृ० ५७४ A. । “पञ्चायाणभिधेयं  
ठिअमणत्थे तयत्थनिरवेक्ख । जाडिच्छिअ च नाम जावदव्व च पाएण ॥”-विशेषा० गा० २५ । जैनतर्क-  
भा० पृ० २५ । “अत्ताभिण्यायकया सज्ञा चेषणमचेषणे वा वि । ठवणादीनिरविकला केवल सज्ञा उ  
नामिदो ॥”-बृहत्कल्पभा० गा० १२ । “तत्थ णाममगल णामणिमित्तरणिरवेक्खा मगलसण्णा । तत्थ  
णिमित्तं चउव्विह जाइ दव्व गुण किरिया चेदि ।”-धवलाटी० पृ० १७ । (६) “य काण्ठपुस्तचिच-



द्रव्यम् । तच्च आगम-नोआगमविकल्पाद् द्वेषा । तथोपयोगलक्षणो भावनिक्षेपः ।  
अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । तेन च निक्षिप्ताः  
पदार्थाः निर्देशादिभिः सैदादिभिश्चानुयोगैः अनुयुज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः

कर्माक्षानिक्षपादिषु स्याप्यत जीव इति स्थापना जीव देवताप्रतिष्ठतिवद इदो रुद्र स्वन्दो विष्णुरिति ।  
-तत्त्वार्थाधि० भा० १।५ । वाष्टपुस्तचित्रकर्माक्षानिक्षपादिषु सोऽयमिति स्याप्यमाना स्थापना ।'-  
सर्वायसि०, राजवा० १।५ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४३ । 'ज पुण तपत्यगुन्न तपभिष्पाएण तारिसा  
गार । कीरइ व निरागार इतरमियर व सा ठवणा । -विशपा० गा० २६ । सन्भावमसन्भावे  
ठवणा पुण इदकेउमाइया । इतरमणिरारा वा ठवणा नाम तु आवकह ॥'-बृहत्कल्पभा० गा० १३ ।  
सदभावस्थापनया नियम असदभावेन वाऽतद्रूपेति स्थूण द्रवत । -नयचक्रव० पू० ३८१A । सिद्धिवि०  
टी० पू० ४७४ B । जनतकभा० पू० २५ । अहिदणामस अणसस सोयमिदिटठवण ठवणा णाम । सा  
दुविहा सन्भावासन्भावटठवणा चेदि । -धवलाटी० पू० १९ । वस्तुन कूनसनस्य प्रतिष्ठा स्थापना  
मता । सदभावेतरभदेन द्विधा तत्त्वाविरोधत । -तत्त्वायश्लो० पू० १११ ।

(१) द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्त प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावमुक्तो जीव  
उच्यते । -तत्त्वार्थाधि० भा० १।५ । गुण द्रोप्यते गुणान द्रोप्यतीति वा द्रव्यम् । -सर्वायसि०  
१।५ । अनागतपरिणामविशेष प्रति गृहीताभिमुख्य द्रव्यम् । अतदभव वा । -राजवा० पू०  
२० । सिद्धिवि० पू० ४७४ । धवलाटी० पू० २० । तत्त्वायश्लो० पू० १११ । पञ्चाध्या० श्लो०  
७४४ । दब्बे पुण तल्लदी अस्सातीता भविससते वा वि । जो वा वि अणुवजुत्तो इदस्स गुणे परिक  
हेई ॥ -बृहत्कल्पभा० गा० १४ । दनए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण सदावो । दब्ब भब्ब  
भावस्स भूअभाव च ज जोग ॥ -विशपा० गा० २८ । जनतकभा० पू० २५ । भूतस्य भाविनो वा  
भावस्य हि कारण तु यल्लोके । तदद्रव्य तत्त्वज्ञ सचेतनाचतन कथितम् ॥ -आव० नि० मलय० पू०  
६ B । (२) वतमानतत्पर्यायोपलक्षित द्रव्य भाव । सर्वायसि० १।५ । राजवा० पू० २१ ।  
सिद्धिवि० पू० ४७४ । धवलाटी० पू० २९ । तत्त्वायश्लो० पू० ११३ । पञ्चाध्या० श्लो० ७४५ ।  
जो पुण जहत्त्यजुत्तो मुद्वनयाण तु एस भाविदो । इदस्स वि अहिगार विद्याणमाणो तदुवउत्तो ।  
-बृहत्कल्पभा० गा० १५ । भावो विवक्षितत्रियानुभूतियुक्तो हि व समाख्यात । सबत्तरिद्रादिवदि  
हेदनादिक्रियानुभवात् ॥ आवनि० मलय० पू० ९ A । (३) तुलना- स किमथ ? अप्रकृतनि  
राकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च । -सर्वायसि० १।५ । तत्त्वायश्लो० पू० ९८ । अथ किमति निक्षप  
त्रियते इति चेत् ? उच्यते-त्रिविधा श्रोतार अब्युत्पन्न अवगताशपविवक्षितपदाय एकदेशतोऽवगत  
विवक्षितपदाय इति । तत्र प्रथमोऽब्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्वतीति विवक्षितपदस्याथम् । द्वितीय सगते  
कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति प्रकृतादर्थादयमथमादाय विषयस्यति वा । द्वितीयवस्तुयोर्ऽपि सगते  
विषयस्यति वा । तत्र यदब्युत्पन्न पर्यायार्थिको भवेत्निक्षपः अब्युत्पन्नब्युत्पादनमूलन अप्रकृतनिराक  
रणाय । अथ द्रव्याधिक तदद्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशपनिक्षपा उच्यन्ते व्यतिरेकधर्मनिषयमन्तरेण  
विधिनिषयानुपपत्त । द्वितीयतृतीययो सशयविनागायाशपनिक्षपकथनम् । तयोरेव विषयस्यतो  
प्रकृतार्थाविधारणाय निक्षप त्रियते । उक्त हि-अवगयणिवारणटठ पयदस्स परूवणाणिमित्त च ।  
ससयविणासणटठ तच्छत्यवधारणटठ च । -धवलाटी० पू० ३० । उदत्तमिद वाक्यम्-जनतकभा०  
पू० २५ । (४) निद्वेसे पुरिसे कारण कर्हि केमु काठ कइविहं । -अनु० सू० १५१ । निदशस्वा  
मित्त्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत । तत्त्वायसू० १।७ । किण कस्य कत्यपि केवचिद कदिविधी  
य भावो य । छहि अणिओगहारे -मूलात्ता० ८।१५ । (५) सतपरूवणा दब्बपमाणुगमो  
सताणुगमो फोसणणुगमो काठाणुगमो अतराणुगमो भावाणुगमो अप्पावहुपाणुगमो चेदि । -छक्कडा०

सर्वे पदार्थाः, तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थान-  
मार्गणास्थानानि । एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुष-  
तत्त्वं जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य प्रवृद्धाभिनिवेशात्मक-  
सम्यग्दर्शनः तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः धाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्त-  
मतीन्द्रियं सुखमृच्छति आत्मा । नंहि गुणविनाशात् जडः गुणगुणविनाशात्  
शून्यः, भोग्यविरहात्तदमोक्ता, तथाधिगमाभावात् तद्वाधासंभवाच्च । शरीरादिकं  
धर्मि ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य तत्सत्यपि ज्ञानोदयसंभवात् ।

अयं शास्त्रस्य कर्ताऽध्येता वा आत्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति । किं-

विशिष्टः सन् ? इत्याह—‘विमुक्तः’ इति । विशेषेण मुक्तः सकल-  
कर्मविवर्जितः । विमुक्तोऽपि कथम्भूतः सन्नसौ स्यात् इत्याह—  
तपोनिर्जीर्णकर्मा इति । तपसा यथाख्यातचारित्रलक्षणेन निर्जीर्णानि निर्मूलो-  
न्मीलितानि कर्माणि येनासौ तथोक्तः । पुनरपि कथम्भूतः सन्नसौ विमुक्तः स्यात्  
इत्याह—‘जीवस्थान’ इत्यादि । प्रत्येकं चतुर्दशभिः जीवस्थानैः गुणस्थानैः  
मार्गणास्थानैश्च तत्त्ववित् जीवादिस्वरूपवित् । पुनरपि किंविशिष्टः सन्नसौ  
विमुक्तः स्यात् ? इत्याह—‘विवृद्ध’ इत्यादि । विशेषेण वृद्धं क्षायिकरूपतया परम-  
प्रकृपं प्राप्तम् अभिनिवेशनं सम्यग्दर्शनं यस्य स तथोक्तः । ‘विवृद्धाभिनिवे-

सू० ७ । ‘मे किं त अपुगम ? नवविहे पणत्ते । त जहा—मतपय पखणया, दब्बपमाण च, खित्त,  
फुसणा य, कालो य, अ तर, भाग, भाव, अप्पावहु चेव ।’—अनु० सू० ८० । ‘सत्सत्त्वाक्षेत्रस्पर्शनका-  
लान्तरभावात्पवहुत्वंश्च ।’—तत्त्वार्थसू० १८।

(१) ‘सुहुमा वादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता । एइदिया दु जीवा जिणोहि कहिया  
चदुवियप्या ॥ पज्जत्तापज्जत्ता विय होति विगल्लिदिया दु छम्भया । पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णी य  
ससा दु ।’—मूला० पर्व्यां गा० १५२-५३ । गो० जी० गा० ७२ । कर्मप्र० ४।२ । (२) मिच्छादिट्ठी  
सासादणो य मिस्सो असजदो चेव । दसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥ एत्तो अपुब्बकरणो  
अणियट्ठी मुहुमसपराओ य । उवसतखीणमोहो सजोगकेवालज्जिणो अजोगी य ॥’—मूला० पर्व्यां  
गा० १५४-५५ । छत्तल्लडा० सू० ९-२३ । गो० जी० गा० ९-१० । कर्मप्र० २।२ । (३) ‘गइ  
इदिए काए जोग वेदे कसाए णाणे सजमे दसण लेस्सा भविय सम्मत सण्णि आहारए चेदि ।’—  
छत्तल्लडा० सू० ४ । ‘गइ इदिये च काय जोगे वेदे कसाय णाणे य । सजम दसण लेस्सा भविया  
सम्मत सण्णि आहारे ॥’—मूलाचारपर्व्यां गा० १५६ । गो० जी० गा० १४१ । कर्मप्र० ४।९ ।  
(४) ‘अव्वावाहमणियमणोवम पुण्णपावणिम्भुवकः । पुणरागमणविरहिय णिच्च अचल अणालम्ब ॥’  
—न्यिम० गा० १७७ । ‘शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाध विणोकभयशकम् । काष्ठागतसुखविद्याविभव  
विमल भजन्ति दर्शनपूता ॥’—रत्नक० इलो० ४० । सर्वार्थसि० पृ० १ । तत्त्वानु० इलो० २४२ ।  
(५) तुलना—‘आत्मलाभ विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभाव नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ॥’  
—सिद्धिवि०, टी० पृ० ३८४ । यश० उ० पृ० २८० । ‘स्वरूपावस्थिति पुसस्तदा प्रदीणकर्मण ।  
नाभावो नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ॥’—तत्त्वानु० इलो० २३४ ।

१—शाब्द गुणगुण-ज० वि० । २ अस्य शा-व० । ३ मुक्तोऽपि श्र० । ४ निर्जीर्णानिर्मूलो-आ० ।

५—रुद्रप्रान्त श्र० ।

शतः' इति क्वचित् पाठः । तत्रायमर्थः—विबृद्धाऽभिनिवेशतोऽयमात्मा जीवादितत्त्वचित् तपोनिर्जीर्णकर्मा च भवति सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वात् सम्यग्ज्ञानचारित्रयोरिति । अनेन च प्रन्थेन विमुक्तेः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मिका सामग्री प्ररूपिता भवति, तदन्यतमस्याप्यपाये तस्या अनुपपद्यमानत्वात् । तदनुपपद्यमानत्वञ्च  
 5 अत्रैव अनन्तरं प्रतिपादयिष्यते । किं कृत्वाऽसौ विबृद्धाभिनिवेशनः तस्यविच्च इत्याह—'अनुयुज्य' इत्यादि । अनुयोगशब्दः प्रश्ने प्रतियचने च प्रवर्त्तते, तद्यथा 'कृतानुयोगोऽपि भवान् किञ्चिद् ब्रवीति तूष्णीमादाय स्थितः' इत्यत्र अनुयोगशब्दः प्रश्ने प्रसिद्धः । 'दत्तानुयोगोऽपि भवान् पुनः पुनः पृच्छति' इत्यत्र तु पृष्ठप्रतियचने इति । तेनायमर्थः स्थितो भवति—अनुयुज्य जीवद्रेव्यादेः स्वरूपादि तज्जिज्ञासया पृष्ट्वा ।  
 10 कै. ? अनुयोगैश्च । अनुयोगैरेव, चकार एवकारार्थे । कियिशिष्टेः ? इत्याह—'निर्देश' इत्यादि । निर्देश आदिर्येषां स्वामित्वादिसदादीनां तद्भिदां गतैः निर्देशादिभेदरूपैः इत्यर्थः ।

निर्देशादौ च प्रश्नं प्रति द्वयी गतिः—नामनि निर्ज्ञाते लक्षणनिर्णयार्थः प्रश्नो भवति लक्षणे वा निर्ज्ञाते नामनिर्ज्ञानार्थे इति । तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे 'किं लक्षणं जीवादि-  
 15 द्रव्यम्' इति प्रश्नः, 'उपयोगादिलक्षणम्' इति प्रतिवचनम् । अपरस्मिन् पक्षे 'उपयोगादिलक्षणः किन्नामा पदार्थः' इति प्रश्नः; 'जीवादिनामा' इत्युत्तरम् । के पुनर्निर्देशादयः इति चेत् ? उच्यते—'किम्' इत्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथन निर्देशः । 'कस्य' इत्यधिपतित्वख्यापनं स्वामित्वम् । 'केन' इति करणप्रकाशनं साधनम् । 'कस्मिन्' इत्याधाराभिधानम् अधिकरणम् । 'कियच्चिरम्' इति कालकृतावस्थान्यवस्थापन  
 20 स्थितिः । 'कतिविधम्' इतिप्रकारकथन विधानम् । अत्र किम्, कस्य, केन, कस्मिन्, कियच्चिरम्, कतिविधम् इति प्रश्नरूपः अनुयोगः । 'वस्तुस्वरूपकथनम्, अधिप- तित्वख्यापनम्' इत्यादिकस्तु प्रतिवचनरूप इति ।

अधिगता निर्देशादयः । सदादयो निरूप्यन्तामिति चेदुच्यते—सकलपदार्थाधि- गतिमूल द्रव्यपर्यायगुणसामान्यविशेषविषयं 'सत्' इत्यभिधानं सत् । सकलादेश-

(१) विमुक्त । (२) 'प्रश्नोऽनुयोग पृच्छा च'—इत्यमर । (३) 'निर्देश स्वरूपाभिधानम्, स्वामित्वमाधिपत्यम्, साधनमुत्पत्तिनिमित्तम्, अधिकरणमधिष्ठानम्, स्थिति कालपरिच्छेद, विधान प्रकार ।'—सर्वाथसि० १।७ । (४) उत्तररूप अनुयोग इति । (५) 'सदित्यस्तित्वनिर्देश । सव्या भदगणना । क्षत्र निवातो वर्तमानकालविषय । तदेव स्पष्टं त्रिकालगोचरम् । कालो द्विविध मुख्यो व्यावहारिकश्च । अन्तर विरहकाल । भाव औपशमिकादिलक्षण । अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्ति ।'—सर्वाथसि० १।८ ।

1 च वत्तते व० । 2 पुन' नास्ति जा० । 3-द्रव्यादि स्व-आ० । 4 पृष्टा थ० । 5 निर्जाते थ० । 6-लक्षण कि-व० । 7 प्रश्ने जीवादीनामित्यु-व० । 8-स्वरूपाख्याप-थ० । 9 किमिति व० । 10-व्यताम थ० ।

त्वान् संप्रहनिमित्तम्, व्यवहारनिमित्तं वा विकलादेशत्वात् । भेदगणनं संख्या । वर्तमाननिवाससामान्यं क्षेत्रम् । तदेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनम् । कालो वर्तमानादिलक्षणः । कस्यचित् सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकालः अन्तरम् । औपशमिकादिः भावः । संख्याताद्यन्तरमनिश्चयेऽपि परस्परं विशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमत्यवहुत्वम् इति । एवमुक्तप्रकारनिर्देशादिरूपैरनुयोगैः किं कृत्वा जीवादिद्रव्याण्यनुयुङ्क्तेऽयमात्मा ? इत्याह—‘विरचय’ इति । विशेषेण रचयित्वा विधाय, कान् ? इत्याह—‘अर्थ’ इत्यादि । अर्थश्च वाक् च प्रत्ययश्च तदात्मकभेदान् । अर्थात्मको हि भेदः—द्रव्यभावरूपः, चागात्मकः नामरूपः, प्रत्ययात्मकश्च स्थापनारूपः इति । किं विशिष्टांस्तान् ? इत्याह—‘श्रुतार्पितान्’ इति । श्रुतेन अर्पितान् विवक्षितान् । कैः कृत्वा तान् विरचय्य ? इत्याह—‘नय’ इत्यादि । नयेषु वस्त्वंशप्ररूपकेषु प्रवृत्तेषु सत्सु अनु पश्चाद् गताः प्रवृत्ता ये निक्षेपाः तैः । किं विशिष्टे ? उपायैः कारणभूतैः । क ? भेदवेदने । नामस्थापनादिस्वभावभिन्नजीवादिद्रव्यवेदने । कुतः पुनरेषा नयानुगतत्वं सिद्धमिति चेत् ? नचनिरूपिते वस्त्वंशे प्रवृत्तेः । एतदेव दर्शयन्नाह—‘परीक्ष्य’ इत्यादि । परीक्ष्य विचार्य तांस्तान् द्रव्यपर्यायादीन्, तद्धर्मान् अनेकान्तात्मकाऽर्थांशान् । ऋथभूतान् ? अनेकान् । पुनरपि किं विशिष्टान् ? व्यावहारिकान् व्यवहारप्रयोजनप्रसाधकान् । कैः परीक्ष्य ? इत्याह—‘अभिसन्धिभिः’ इति । अभिसन्धिभिः ज्ञातुरभिप्रायैः । किं कृत्वा ? अधिगम्य । कम् ? अर्थम् । किं विशिष्टम् ? अनेकान्तम् । कस्मादधिगम्य ? इत्याह—‘श्रुतात्’ इति ।

कारिकाचतुष्टयं यथोदेशं विवृण्वन्नाह—‘श्रुतम्’ इत्यादि । श्रुतम् आप्तवचनम् तत्कथम्भूतम् ? अनादि । कथा ? सन्तानापेक्षया द्रव्यापेक्षया । विवृण्वित्याह्वानम्— कथं पुनर्द्रव्यं सन्तानशब्दवाच्यमिति चेत् ? ‘समीचीनः त्रिकालप्रवृत्तिरित्यलपर्यायानुयायी तानः विस्तारो यस्य’ इति व्युत्पत्तेः । कथं तर्हि तत् सौदि ? इत्याह—‘साधनम्’ इत्यादि । साध्यते निर्वर्त्तते इति साधनो वर्णपदादिपर्यायः, साध्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन इति वा, तं प्रति सादि ‘श्रुतम्’ इति सम्बन्धः । अनेन सर्वथा नित्यमनित्यं वा तत् इति प्रत्याख्यातम् । प्रपञ्चितञ्चैतत् प्रागेव इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । तदेवंविधं श्रुतं प्रमाणम्, कुतः इत्याह—‘त्रिकाल’ इत्यादि । त्रिकालगोचराश्च ते सर्वपर्यायाश्च जीवादिपदार्थाश्च तेषां निरूपणम् यथावस्थितस्वरूपोद्योतनं तत्र प्रवर्णदक्षम् । यत् एवविधं ततस्तत्प्रमाणम् । प्रयोगः—यैत् त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवा-

(१) श्रुतम् । (२) श्रुतम् । (३) श्रुत प्रमाण त्रिकालगोचरसर्वपर्यायजीवादिपदार्थनिरूपणप्रवणत्वात् ।

१ सप्रहव्यवहारा-प्र० । २ सन्तानो न व० । ३-इच्छयोपि थ० । ४ वाक्प्र-थ० । ५ नयानुगत थ० । ६ ‘द्रव्यापेक्षया’ नास्ति थ० । ७-प्रवृत्तिनि-आ० । ८ स्यादित्याह व० । ९ अनित्य नित्यं वा व०, थ० । १०-इव ते जीवा-व० थ० । ११-पर्यायवञ्जीवा-व० ।

दिपदार्थनिरूपणप्रवणं तत् प्रमाणम् यथा सर्ववित्प्रत्यक्षम्, तथाभूतञ्चोक्तप्रकारं ध्रुतमिति । नयः कीदृशः ? इत्याह—‘तदर्थांश’ इत्यादि । नयो भवति । कौऽसौ ? अभिसन्धिः ज्ञात्रभिप्रायः । किंविशिष्टः ? तदर्थांशपरीक्षाप्रवणः, तस्य ध्रुतस्य अर्थो विषयः उक्तप्रकारो जीवादिः तस्य अंशो धर्मः नित्यत्वादिः तस्य परीक्षायां प्रवणो दक्षः । ताभ्यां ध्रुतनयाभ्याम् अधिगमः निश्चयः । केपाम् ? इत्याह—परमार्थव्यावहारिकार्थानाम् द्रव्यपर्यायाणाम् इत्यर्थः ।

अथेदानीं ‘तदधिगत’ इत्यादिना नयानुगतत्वं निक्षेपस्य प्रदर्श्य तत्स्वरूपं व्याचष्टे—तदधिगतानां ध्रुतनयाधिगतानां द्रव्यपर्यायरूपाणां जीवादीनां वाच्यतामापन्नानां साधारणस्वरूपाणाम्, न हि असाधारणस्वरूपा अर्थपर्याया वाच्यतामापद्यन्ते । वाचकेषु जीवादिशब्देषु भेदेन सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण उपन्यासः जीवाद्यर्थानां प्ररूपणं न्यासः निक्षेप इति यावत् । स कति प्रकारो भवति ? इत्याह—‘सः’ इत्यादि । सः प्ररूपितस्वरूपो न्यासः अवरतः सङ्घेपतः चतुर्धा । कथम् ? इत्याह—‘नाम’ इत्यादि । नाम-स्थापना-द्रव्य-भावैः प्रकारैः निक्षेपः चतुर्धा भिद्यते । ‘तत्र’ इत्यादिना तान् व्याचष्टे—तत्र तेषु निक्षेपप्रकारेषु नामादिषु मध्ये किन्नाम ? इत्याह—‘निमित्त’ इत्यादि । किं पुनः नाम्नो निमित्तं किं वा निमित्तान्तरमिति चेत् ? ‘वक्तुरभिप्रायोऽस्य निमित्तम्, जात्यादिकं तु निमित्तान्तरम्’ इति ब्रूमः । तदनपेक्षं यत् संज्ञाकर्म संज्ञाकरणम् इच्छाचशात् तन्नाम । तस्य इयत्ताव्यवच्छेदार्थमाह—‘तच्च’ इत्यादि । तच्च उक्तस्वरूपं नाम अनेकधा अनेकप्रकारं भवति । तर्थाहि—किञ्चिद् एकजीवनाम यथा दित्य इति ।

(१) सर्वेषां युगपत्प्राप्ति सङ्कर, परस्परविषयगमनं व्यतिकर, ताभ्यां व्यतिरेकेण प्रतिनियतस्वरूपस्थितत्वेनेति भावः । (२) तुलना—‘निमित्तान्तर पुनर्जातिद्रव्यगुणत्रिमाः ।’—सिद्धिवि०, टी० पृ० ४७४A । ‘नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् । तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते ॥’—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९ । (३) ‘जस्य ण जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा’—अनु०सू० ९ । ‘व्यस्तसमस्तकानेकजीवाजीवविषयतोपपत्ते—तथा [ व्यस्त ] जीवविषयतोपपत्त अय मासपिण्डो दवदत्तोऽय देवदत्ता इत्यादिवत् । समस्तजीवविषयतोपपत्ते एते सर्वे गणादय इत्यादिवत् । एवजीवविषयतोपपत्ते नामेय पुरुषेव इत्यादिवत् । अनेकजीवविषयतोपपत्ते अय दित्यः अय उवित्यः अय जिनदत्त इति चत्वारो जीवभेदा । तथा व्यस्ताजीवविषयतोपपत्ते स नु त्य वय च इत्यादि । समस्ताजीवविषयतोपपत्ते भूवादयो घुरित्यादिवत् । एकाजीवविषयतोपपत्ते आकाश काल धर्म अधर्म इत्यादिवत् । अनेकाजीवविषयतोपपत्ते तौ सदिव ।’—सिद्धिवि० टी० पृ० ४७४A । ‘तस्स मगलस्स आघारो अट्ठविहो । त जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा व ।’—धवलाटी० पृ० १९ । ‘किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम यथा दित्य इति । किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूय इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा घट इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम

१ ‘ध्रुतनयाधिगतानां’ नास्ति ध० । २—वन् स कति यावत् स कतिप्रका—आ० । ३ ‘नामादिवु’ नास्ति आ० । ४ तदनपेक्षं यत् ६० ।

किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति । किञ्चिदेकाऽजीवनाम यथा घटः इति । किञ्चिदनेकाजीवनाम यथा प्रासाद इति । किञ्चिदेकजीव-एकाजीवनाम यथा प्रतीहार इति । किञ्चिदेकजीव-अनेकाजीवनाम यथा काँहार इति । किञ्चिद् अनेकजीवाऽजीवनाम यथा नगरमिति । इत्याद्यनेकप्रकारं तत् प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् तदनियतप्रकारम् ? इत्याह—जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽनेकत्वात् अनियतत्वात्, जात्यादिनियतनिमित्तापेक्षाणामेव शब्दानां नियतत्वोपपत्तेः । जातिद्वारेण हि ये शब्दाः द्रव्यादिषु प्रवर्तन्ते ते जातिशब्दाः यथा गौः अश्वः इत्यादयः । द्रव्यद्वारेण तु ये वर्तन्ते ते द्रव्यशब्दाः । ते च द्विविधाः—संयोगिद्रव्यशब्दाः, समवायिद्रव्यशब्दाश्च । तत्र संयोगिद्रव्यशब्दाः कुण्डली इत्यादयः, समवायिद्रव्यशब्दाः विपाणी इत्यादयः । गुण-कर्मद्वारेण तु ये द्रव्ये वर्तन्ते ते गुणशब्दाः कर्मशब्दाश्च प्रतिपत्तव्याः, यथा 'शुद्धो नीलः' इत्यादयः, 'गच्छत्यागच्छति' इत्यादयश्च ।

अथ का स्थापना ? इत्याह—'आहित' इत्यादि । स्थाप्यते इति स्थापना प्रतिकृतिः, सा च आहितनामकस्य अध्यारोपितनामकस्य द्रव्यस्य इन्द्रादेः 'सोऽयम्' इत्यभिसन्धानेन व्यवस्थापना । केनात्मना व्यवस्थापना ? इत्याह—'सद्भाव' इत्यादि । तत्र अध्यारोप्यमाणेन मुख्येन्द्रादिना समाना सद्भावस्थापना । मुख्याकारशून्या पुनः असद्भावस्थापना ।

यथा काँहार इति । किञ्चिदेकाजीवानेकजीवनाम यथा मदुरेति । किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम यथा नगरमिति ।"—तत्त्वार्थश्लो० १०९८ ।

(१) दण्डधारको द्वारपाल, तत्र एकोऽजीव दण्ड जीवश्च द्वारपाल इति । (२) एको जीव धीवर, अनेकाश्च अजीवा जलाहरणाय उपयुज्यमाना घटादयः । (३) तुलना—“यदुच्छसब्देषु ताम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते इत्ये इति । जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देन नियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विपाणीति ।”—प्रमाणस० टी० १२ । “तत्त्व जाद्विमित्तं नाम गोमणुस्सघडपडत्यभवेत्तादि । सजोगदव्वणिमिरा नाम दडी छत्ती मीली इच्चेवमादि । समवायणमित्ता नाम गलगडो कण्णो कुडो इच्चेवमादि । गुणणमित्त नाम किण्णो इहिरौ इच्चेवमाइ । किरियाणिमिरा नाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ ।”—धवलाटी० १०० । “जातिद्वारेण शब्दो हि द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतु स विज्ञेय गौरव इति शब्दवत् ॥३॥ गुणप्राधान्यतो वृत्तो द्रव्ये गुणनिमित्ताक । शुक्ल पाटल इत्यादिशब्दवत्सम्प्रतीयते ॥६॥ कर्मप्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुनिबुध्यते । चरति प्लवते यद्वत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥७॥ संयोगिद्रव्यशब्द स्यात्कुण्डलीत्यादिशब्दवत् । समवायिद्रव्यशब्दो विपाणीत्यादिरास्थित ॥९॥”—तत्त्वार्थश्लो० १०९९ । (४) “स्थाप्यत इति स्थापना प्रतिकृतिः । सा चाहितनामकस्य इन्द्रादेर्वास्तवस्य तत्त्वाध्वारोपात् प्रतिपष्टा सोत्यमित्यभिसन्धानान्यस्य व्यवस्थापना स्थापनामान स्थापनेति वचनात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० १११ । (५) तुलना—“जण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गथिमे वा वेडिमे वा पूरिमे वा सप्पाइमे वा अक्खे वा बराडए वा एगो वा अपेगो वा सम्भावट्ठवणा वा असम्भावट्ठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ से तं ठवणावस्सय ।”—अनु० सू० १० । “तत्त्व आगारवत्तए वत्थुम्मि सम्भावट्ठवणा,

अथ किलक्षणं द्रव्यम् ? इत्याह—‘अनागत’ इत्यादि । ननु ‘अनागतपरिणा-  
मविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्’ इति द्रव्यलक्षणमयुक्तम्, “गुणपर्ययद्रव्यम्”  
[ तत्त्वार्थसू० ५।३८ ] इत्यागमविरोधादिति कश्चित् ; सोऽपि सूत्रकाराभिप्रायानभिज्ञः ;  
‘गुणपर्ययद्रव्यम्’ इति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तरक्रमभाविपरिणामाश्रयं  
5 द्रव्यमुक्तम् । तच्च यदा अनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं  
परित्यक्तपूर्वपर्यायञ्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः सरविपा-  
णवत् । केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचने अनागतपरिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामा-  
नुयायिद्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम् । सूत्रकारेण तु परमतव्यवच्छेदेन  
प्रमाणार्पणात् ‘गुणपर्ययद्रव्यम्’ इति सूत्रितम्, क्रमोऽक्रमानेकान्तस्य तथा व्यव-  
10 स्थितेः । तच्चैवंत्रिधलक्षणलक्षितं द्रव्यं द्विधौ भिद्यते आगम-नोआगमविकल्पात् ।  
तत्र आत्मा यो जीवादिप्राभृतं तत्त्वतो जानाति परन्तु चिन्तन-परप्रतिपादनलक्षणोप-  
योगीऽनुपयुक्तः स आगमद्रव्यम् । नोआगमः त्रैधा भिद्यते—ज्ञात्स्वीर-भावि-तद्व्यति-

तद्विचरीया असम्भावदृवणा ।”—धवलाटी० पृ० २० । “काष्ठपुस्तचित्रकर्मादयो ये सद्भावस्थापना-  
रूपा तथाऽज्ञानक्षेपादयोऽसद्भावस्थापनारूपा ।”—तत्त्वार्थभा० ध्या० १।५ । “तत्राध्यारोप्यमाणेन  
भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना, मुख्यदर्जिन स्वय तस्यास्तद्बुद्धिसम्भवात् कथञ्चित्सादृ-  
श्यसद्भावात् । मुख्याकारसून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽप्यमिति  
सप्रत्ययात् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११ ।

(१) सूत्रकार उमास्वाम्याचार्य । तुलना—“सोऽपि मूनार्थानभिज्ञ ; गुणपर्ययद्रव्यमिति हि  
सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तरक्रमभाविपरिणामाश्रय द्रव्यमुक्तम् । तच्च यदाऽनागतपरिणामविशेष  
प्रत्यभिमुख तदा वर्तमानपर्यायान्त परित्यक्तपूर्वपर्यायञ्च निश्चीयते, अन्यथा अनागतपरिणामाभि-  
मुख्यानुपपत्त सरविपाणादिवत् ।”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११२ । (२) क्रमभाविपर्यायापेक्षया त्रमात्रे-  
कान्त सहभाविगुणापेक्षया तु अक्रमानकान्त । (३) “स किं त द्वावस्सय ? दुविह पणत्त त जहा  
आगमओ अ नोआगमओ अ ।”—अनु० सू० १२ । सर्वार्थसि०, राजवा० १।५ । धवलाटी० पृ० २० ।  
(४) “जस ण आवस्सएत्ति पद सिक्खित ठित जितं मित परिजित नामसम घोससम अहीणक्खर  
अणुवक्खर अब्बाइडवक्खर” मे ण तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए नो अणुप्पेहाए,  
कम्हा ? अणुवओगो दब्बमिति कट्ठु ।”—अनु० सू० १३ । “जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी  
वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीव ।”—सर्वार्थसि०, राजवा० १।५ । “आगमओऽणुवउत्तो मगल-  
सहाणुयानिओ वत्ता । तत्राणलद्धिसहिओऽवि नोवउत्तोत्ति तो दव्व ॥”—विज्ञेया० गा० २९ । “तत्थ  
आगमओ दब्बमगलं णाम मगलपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो, मगलपाहुडसद्दरयणा वा, तस्सत्थद्वुवणक्ख-  
ररयणा वा ।”—धवलाटी० पृ० २१ । (५) “सि किं त नो आगमओ द्वावस्सय ? त्तिविह पणत्त, तं  
जहा—जाणयसरीरद व्वावस्सय भविअसरीरदव्वावस्सय जाणयसरीरभविअसरीरवत्तिरित्त द्वावस्सय ।”  
—अनु० सू० १५ । “नो आगमद्रव्यजीवस्त्रेषा व्यवतिष्ठते—ज्ञायकस्वीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् ।  
तत्र ज्ञानुर्वच्छरीर त्रिकालगोचर तन्त्यायकस्वीरम् । सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति जीव-

1-पर्यायव-आ०, ध० । 2-पर्यायव-आ०, ध० । 3-प्रकारेण तथा व० । 4-पर्यायव-  
अ०, ध० । 5-भूत न जाना-थ० । 6-नैनामुपपत्तं स आ०, -घो वानुपयुक्तं स व० ।

तुर्दश भवन्ति । तेः प्ररूपितस्वरूपातिशये जीवद्रव्ये यथावज्ञाते मुमूक्षूणां मुक्त्यङ्गं  
रिपूर्णं रत्नत्रयं भवति नान्यथा । एतदेवाह—‘एवम्’ इत्यादि । एवम् उक्तप्रकारेण  
प्रमाणनयनिज्ञेपानुयोगैः पदार्थप्रतिपत्त्युपायैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं  
तुनः जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरभवयुद्ध्य, इत्यनेन मुमुक्षोः सम्यग्ज्ञानं  
मुक्त्यङ्गं प्ररूपितम् । प्रवृद्धाभिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः इत्यनेन सम्यग्दर्शनम्,  
तपसा निर्जीर्णकर्मा’ इत्यनेन तु सम्यक्चारित्रमिति । तेन च सम्यग्दर्शनादित्रयेण  
निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सन् अयमात्मा सुखमृच्छति सुखमयो भवति ।  
किंविशिष्टं तत्सुखम् ? चाधारहितं विगतबाधम्, अङ्गवच्छिन्नं शाश्वतम्, अनन्तम्  
इत्यन्ताधारणवर्जितम्, अतीन्द्रियम् विशुद्धात्ममात्रोत्थम् । ननु आत्मनो मुक्तौ  
बुद्ध्याद्यशेषविशेषगुणोच्छेदात् कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः । अत्यन्तचित्तसन्ता-  
नोच्छेदतः तस्यैवाऽसंभवादिति सौगताः । अभोक्तृत्वादिति सांख्याः । अत्राह—नहि  
इत्यादि । नहि नैव गुणविनाशाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदात् जडः पापाणकल्पः मुक्तौ  
आत्मा भवति, गुणगुणिविनाशात् शून्यः ‘नहि’ इति सम्बन्धः । गुणाः ज्ञानादयः  
गुणी चित्तसन्तानः तेषां विनाशाद् अत्यन्तोच्छेदान् आत्मा शून्यः सकलस्वरूप-  
विविक्तो भवति ‘नहि’ इति सम्बन्धः । भोग्यविरहात् तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानाद्  
अभोक्ता आत्मा सुखादेः ‘नहि’ इति सम्बन्धः । कुन एतत् ? इत्यत्राह—तथाधिग-  
माभावात् तद्बाधासंभवाच्च । यथा च मुक्तौ तथैविधस्य आत्मस्वरूपस्य कुतश्चिदपि  
प्रमाणादधिगमासंभवः तत्र च बाधासंभवः तथा अग्रे प्रपञ्चतः प्ररूपयिष्यते ।

ननु ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ ‘तपोनिर्जीर्णकर्मा’ इत्यभिधातुं  
आवरणस्वरूपविषये युक्तम् । नच तत्सद्भावः प्रसिद्धः । तद्वि शरीरम्, रागादि, देशका-  
शरणा पूर्वपक्ष - लादिकं वा भवेत् ? तत्र आशयविकल्पद्वयमयुक्तम्; शरीरे रागादौ  
च सत्यपि अर्थज्ञानोदयसंभवात् । यस्मिन् सत्यपि ज्ञानोदयसंभवः न तस्य ज्ञाना-  
वरणादिस्वरूपता यथा चक्षुरादेः, अर्थज्ञानोदयसंभवश्च शरीरादौ सत्यपि, तस्मान्न  
तस्यै ज्ञानावरणादिस्वरूपता इति । तस्य तत्स्वरूपतायां वा काण्डपटादिवन्न तत्सद्भावे  
तदुपलम्भसंभवो भवेत् । तर्हि देशकालादेस्तत्संभावताऽस्तु, सुप्रसिद्धा हि मेवादौ दूरदेश-  
ताया आवरणता रावणादौ दूरकालतायाः परमाण्वादौ सूक्ष्मस्वभावतायाः, मूलेकीलो-

(१) आत्मन एव । (२) मुखादिव्यतिरिक्तस्य शून्यस्य अभोक्तृत्वरूपस्य वा । (३) तुलना-  
“तदि शरीरं रागादयो देशकालादिकं वा स्यात् ।”—प्रमेयक० पृ० २४१ । स्या० २० पृ० ३५६ । (४)  
शरीरं रागादिकं वा नावरणस्वरूपम् तत्सद्भावेऽपि ज्ञानोदयात् । (५) शरीरादेः । (६) शरीरादि-  
सद्भावे । (७) ज्ञानोपलम्भसंभवः । (८) आवरणस्वभावता । (९) भूम्यन्तर्गतस्य सूक्ष्ममूलस्य  
कीलस्य उदकादेर्वा ।

1-रेण नयनि-आ० । 2-ष्ट सुखं थ० । 3 अवच्छिन्न थ० । 4 ‘आत्मा’ नास्ति आ० ।  
5 इत्याह-ब० । 6-द्वौनिर्जीर्ण-थ० । 7 तद्भावः ब० । 8 तस्मात्तस्य ब० । 9 ‘तस्य’ नास्ति थ० ।



दकादौ च भूम्यादेः; इत्यप्यसमीचीनम्; तदभावस्य योगिनोऽप्यशक्यक्रियत्वात् । न खलु सातिशयार्द्धिमताऽपि योगिना देशाद्यभावो विधातुं शक्यः । न चान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते । अस्तु वा तत्, तथापि-अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्, मूर्तिमताऽनेन अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणानुपपत्तेः, अन्यथा शरीरादेरप्यावरणत्व-प्रसङ्गः । आत्मगुणत्वात् कर्मणो न पौद्गलिकत्वमित्येन्ये । भवतु पौद्गलिकत्वम् 5  
अन्यथाभूतत्वं वाऽस्य, तथापि न साकल्येन कचिन्निर्जरासंभवः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्यास्य अनादित्वात्, अनादेश्च आत्मादिवद् विनाशासंभवादित्येपरे ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘ज्ञानावरणादिकर्मणः सद्भावप्रसिद्धौ’  
कर्मणः पौद्गलिकत्व- इत्यादि; तत्र किं कर्ममात्रसद्भावे भवता विप्रतिपत्तिः, ज्ञानावरणादिकर्म-  
प्रसाधनं सवरनि- विशेषे वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, शरीरादिव्यतिरिक्तस्य कर्म- 10  
जस्या सिद्धिश्च- मात्रस्य अनुमानतः सद्भावप्रसिद्धेः । तथाहि—स्वपरप्रमेयबोधैकस्वभा-  
वस्य आत्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयादिषु विशिष्टाभिरतिः आत्मतद्व्यतिरिक्तकारण-  
पूर्विका, तच्चात्, कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्याः तन्त्राद्युपयोगप्रभवविशिष्टा-  
भिरतिवत् । द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः, ज्ञानावरणादिकर्मविशेषस्यापि तद्व्यतिरिक्तस्य

(१) दूरदेशताया दूरकालताया सूक्ष्मस्वभावाया भूम्यादेर्वा अभावस्य । (२) वेदान्तिन ।  
‘अत एवावरणस्य अनिर्वन्धाविद्यास्वरूपस्वमङ्गीकर्तव्यम् । न तु दुर्निरूपत्वमात्रेण तदपलापो युक्त  
अनुमानसिद्धत्वात् । तथाहि—अस्ति तावन्मूढानामेव व्यवहार ‘अशनापाद्यतीत विवेकिप्रसिद्धमात्मतत्त्वं  
नास्ति न प्रकाशते च’ इति योज्य व्यवहार आत्मनि भावरूपावरणनिमित्तो भवितुमर्हति, ‘अस्ति  
प्रकाशते’ इत्यादिव्यवहारपुष्कलकारणे सति तद्विपरीतव्यवहारत्वात्, यत्रैव तत्रैव यथास्ति प्रकाशते  
घट इति व्यवहारः । न च कारणपीष्कल्यमसिद्धम्, नित्यसिद्धस्वप्रकाशचैतन्यातिरेकेणात्रान्यापेक्षाऽ-  
भावात् । न चान्यथासिद्धिः, इतोऽतिरिक्तावरणस्य मूर्तद्रव्यस्य आत्मनि निरवयवे सर्वगते तु सपाद-  
त्वात् ।’—विवरणप्र० पृ० २१ । (३) पौद्गलिककर्मणा । (४) योगा । द्रष्टव्यम्—पृ० ३ टि० ५ ।  
(५) अविद्यादिरूपत्वम् । (६) कर्मणः । (७) जयन्तभट्टादयः । तुलना—‘अन्य तु मिथ्याज्ञानज-  
नितमस्कारस्य महकारिणोऽभावात् विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीरारम्भकाणीनि मन्यन्ते ।’  
—प्रज्ञ० श्लो० पृ० २० ख । ‘सहकारिवैकल्यात् कुमूलावस्थितबीजवत् कर्मणामनारम्भकत्वे सति न  
कश्चिद्दोषः । एष एव च तेषां दाहो यत्कार्यनारम्भकत्वम् । नन्वविनष्टस्वरूपाणि कुसूलबीजवदेव  
कदाचिदारप्स्यन्ते कार्यं तस्माद्भ्रमच्छिद्यन्तामेव, किमिदानीं नित्यमात्मानमप्युच्छेत् यतामहे ?’—  
न्यायम० पृ० ५२३ । (८) पृ० ८०८ पृ० १९ । (९) तुलना—‘चेतनस्य सत सम्बन्ध्यन्तरे मोहोदयकारण  
मदिरादिवत् । तत्कुत सिद्धम् । विवादाध्यासितो जीतस्य मोहोदय सम्बन्ध्यन्तरकारणक मोहोदय-  
त्वात् मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् ।’—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४९ । ‘ससारी बन्धवान्  
परतन्त्रत्वादालानस्तम्भागतहस्तिवत् । परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् कामोदकपरतन्त्रहीनस्था-  
नपरिग्रहवच्चन्द्रोन्मिषाहाणवत् ।’—आप्तप० पृ० १ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (१०) शरीरादिव्यति-  
रिक्तः । (११) शरीरादिभिन्नस्य ।

अनुमानादेव प्रसिद्धेः । तथाहि—यत् सत् तत्सर्वमनेकान्तात्मकमित्यादि व्याप्तिज्ञानं सावरणम्, स्वविषयेऽस्पष्टत्वात्, यत् स्वविषयेऽस्पष्टं तत्सावरणम् यथा रैजोनीहारायन्तरिततरुनिकारादिज्ञानम्, स्वविषयेऽस्पष्टश्चेद ज्ञानमिति । मिथ्यादृशां सर्वत्र अनेकान्तस्वभावे भावे विपरीतज्ञानं सावरणम्, मिथ्याज्ञानत्वात्, धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकलेकाञ्चनज्ञानवदिति ।

यदप्युक्तम्—‘अविद्यारूपं तद् भविष्यति न पौद्गलिकम्’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अमूर्त्तस्य अमूर्त्तेनैव आवरणनियमाऽसभवान्, मूर्त्तेनापि मदिरादिना अमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणदर्शनात् । कथमेवं शरीरादेर्न तदावरणत्वं स्यादिति चेत् ? ‘तदविरुद्धत्वात्’ इति ब्रूमः । मूर्त्तत्वाविशेषेऽपि हि यदेव ज्ञानेन विरुद्धं तदेव तस्य आवरणं युक्तं नान्यत्, अन्यथा अमूर्त्तत्वाविशेषात् अत्रिद्यावत् आकाशादेर्ज्ञानान्तरस्य च आवरणत्वमनुपपद्येत । तस्यै तेन विरोधश्च मदिरादिवत् पौद्गलिककर्मोदये प्रवन्धेन प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानस्य निरोधान्निश्चीयते । तथाहि—आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिवन्धनः, तत्स्वरूपान्यर्थाभावस्वभावत्वात्, उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्याज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेन अनेकान्तः, तस्यापि अपरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव संभवात् अपरापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत् ।

एतेन ‘आत्मगुणत्वात् कर्मणां न पौद्गलिकत्वम्’ इत्यपि प्रत्युक्तम्, तेषामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वानुपपत्तितः सदैव आत्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् । यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तं न भवति यथा पृथिव्यादेः रूपादिः, गुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरिष्टम् इति । न चैतत् युक्तम्, आत्मनः परतन्त्रतया प्रमाणतः प्रतीतेः । तथाहि—

परतन्त्रोऽयमात्मा, हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योत्रेकपरतन्त्राऽशुचिस्थानपरिग्रहवद्वि-

(१) ‘अज्ञानज्ञानस्वभावस्यात्मनः स्वविषयऽप्रवृत्तिं विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता पीतहृत्पूरुपरुपस्वविषयज्ञानाप्रवृत्तिवत् । यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धकं द्रव्यं तद् ज्ञानावरणादि वस्तुसत्त्वं पुद्गलरूपं कर्म ।’—सन्मति० टी० पृ० ७३६ । “यदप्रवृत्तिमत्स्वविषयं तत्सावरणं यथा तैमिरिकस्य लोचनविज्ञानमेकचन्द्रमसि, अप्रवृत्तिमच्च स्वविषये समस्तार्थलक्षणेऽममदादिज्ञानमिति ।”—स्या० २० पृ० ३५७ । “ज्ञान सावरणं विशदयति स्वविषयानवबोधकत्वात् ।”—प्रमेयक० पृ० २४० । (२) “तथा मिथ्यात्वपटलविलुप्तविवेकदृशा यदेतत्सर्वस्मिन्ननेकान्तात्मके वस्तुनि विषयज्ञानं तत्सावरणं मिथ्याज्ञानत्वात् ।”—स्या० २० पृ० ३५७ । प्रमेयक० पृ० २४२ । (३) पृ० ८०९ पृ० ३ । (४) ‘सुराभिभवदसं नात्’—राजवा० पृ० ८१ । प्रमेयक० पृ० २४३ । प्रमेय२० पृ० ५६ । (५) ज्ञानस्य । (६) पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादिकमणः । (७) ज्ञानेन । (८) “आत्मनो मिथ्याज्ञानादि” —प्रमेयक० पृ० २४३ । (९) पृ० ८०९ पृ० ५ । (१०) “तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति, तस्य ससारहेतुत्वानुपपत्तः ।” —सर्वायसि० ८ । २ । “कर्मणां भातगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तात्वायोगात् सवदाऽऽत्मनो बन्धानुपपत्तमुक्तिप्रसङ्गात् ।” —आप्त० १३ । प्रमेयक० पृ० २४३ । स्या० २० पृ० ११०१ । (११) योगः ।

१-जज्ञो-थ० । २-निकारादि-थ० । ३-‘तस्य’ नास्ति जा० । ४-स्य तिरोधानाभिश्ची-थ०, -स्य तिरोधाभिश्ची-थ० । ५-याभावत्वात् उ-थ० । ६-रसवभावे व० । ७-तन्त्रानुचितस्था-थ० ।

शिष्टपुरुषवत् । हीनस्थान हि शरीरम्, आत्मनो दु खहेतुत्वात्, कारागारवत्, तत्परि-  
 ग्रहयाश्च ससारी सर्वेषा सुप्रसिद्ध एव । नच देवशरीरे तदभावात् पक्षाव्याप्ति, तस्यापि  
 मरणे दु खहेतुत्वप्रसिद्धे । यत्परतन्त्रासौ तच्च कर्म, इति सिद्धमस्यै अनात्मगुण-  
 त्वम्, अत पौद्गलिकत्वमेवास्योपपन्नम् । प्रयोगे—पौद्गलिक कर्म, आत्मन पारतन्त्र्य-  
 निमित्तत्वात्, निगलादिवत् । नच क्रोधादिभिर्व्यभिचार, तेषाम् आत्मपरिणामाना पार- 5  
 तन्त्र्यस्वभावत्वात् । क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्य न पुन पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘न साकल्येन कचिन्निर्वासभव’ इत्यादि, तदप्यनल्पतमो-  
 विलसितम् कर्मणा सन्तानपरम्परयाऽनादित्वेपि कचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे साक-  
 ल्येन प्रक्षयोपपत्ते । यस्य कचिद् विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावे तस्य तत्र साकल्येन प्रक्षय  
 यथा शीतस्पर्शस्य, सम्यग्दर्शनादिलक्षणतद्विपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च कचिदात्मनि इति । 10  
 नचाय साध्यधिकलो दृष्टान्त नहि अनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षभूतस्थोष्णस्पर्-  
 शस्य प्रकर्षसद्भावे निर्मूलतल प्रलयमुपैवन्न प्रतीत, कार्यकारणप्रवाहेण बीजाङ्कुरादि-  
 सन्तानो वाऽनादि प्रैतिपक्षभूतदहननिर्दग्धवीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति ।  
 प्रतिपक्षपरमप्रकर्षसद्भावश्च अनुमानत प्रसिद्ध, तथाहि—ज्ञानादय कचित् परमप्रकर्ष  
 प्रतिपद्यन्ते, प्रकृष्यमाणत्वात्, परिमाणवत् । इत्थ वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोग 15

(१) तुलना— मिथ्याज्ञानतदुदभूततदसञ्चेतनावगात् । हीनस्थानगतजन्म—प्रमाणवा०  
 १।२६३ । हीनस्थान गरीरमात्मनो दु खहेतुत्वात् कस्यचि कारागृहवत्—आप्तप० पृ० १। प्रमेयक०  
 पृ० २४३। स्या० २० पृ० ११०१ । (२) दु खहेतुत्वाभावात् । (३) कमण । (४) तानि च पुदगल्प  
 रिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्निगदादिवत् ।—आप्तप० पृ० ६१ । प्रमेयक० पृ० २४३ ।  
 (५) पृ० ८०९प० ६। (६) तुलना— सवया सविपक्षत्वात्निर्हासातिगम्यति । सात्मीभावात्तदभ्यासात् ।  
 हीयरत्नास्रवा क्वचित् ॥ प्रमाणवा० ३।२२०। य चापचयधर्माण प्रतिपक्षस्य सन्निधौ । अत्यन्ता  
 पचयस्तेषा कलधीतमलादिवत् ।—तत्त्वस० का० ३४१६ । सात्मीभावात्प्रतिपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षय ।  
 कर्माप्रलेप प्रवृत्ताना निवृत्ति फलदायिनाम् ।—न्यायवि० का० ४४३ । (७) स कमभूता भला  
 तद्विपक्षप्रकपत । यथा शीतस्य भत्तह कश्चिदुष्णप्रकपत ॥—आप्तप० का० ११० । अष्टसह० प०  
 ५४ । यदुत्कपतारतम्यात् यस्यापचयतारतम्य तत्प्रकपनिष्ठागमन भवति तस्य आत्यन्तिक क्षय यथा  
 उष्णस्पृशतारतम्यात् शीतस्पृशस्य भवति च ज्ञानवराग्यादेहकपतारतम्यात् अज्ञानरागादेरपचयतारत  
 म्यमिति ।—सन्मति० टी० पृ० ७३७ । (८) विपक्षप्रकपगमनात् कमया सन्तानरूपतयाऽनादित्ववपि  
 प्रक्षयप्रसिद्ध । न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्श—आप्तप० का० ११० । प्रमेयक० पृ० २४५ । स्या० २०  
 पृ० ३५७ (९) प्रतिपक्षभूतदहनाग्निदग्धबीजो—आप्तप० पृ० ५९ । प्रतिपक्षभूतदहनन निर्दग्धबीजो  
 —प्रमेयक० पृ० २४५ । (१०) तुलना— अस्ति काष्ठाप्रप्ति सवज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवत् ।  
 —योगभा० १।२५। त प्रकप पुन सिद्ध परम परमात्मनि । तारतम्यप्रकपस्य सिद्धरूपप्रकपवत् ॥ —  
 आप्तप० का० ११२ । अष्टसह० पृ० ५५ । प्रमेयक० पृ० २४५ । स्या० २० पृ० ३५८ । शुद्धि प्रकपमा  
 याति परम क्वचिदात्मनि । प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात् कनकादिवशुद्धिवत् ॥—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३१५ ।

कर्त्तव्यः—ज्ञानावरणादिहानिः कचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षमायाति, प्रकृत्यमाणत्वात्, नभसि परिमाणवत् । न चात्राऽसिद्धं साधनम्; तथाहि—प्रकृत्यमाण आवरणहानिः, आवरणहानित्वात्, माणिक्याद्यावरणहानिवत् । यद्वा, ज्ञानावरणादिकर्म कचिदामूलं प्रक्षीयते, समप्रक्षयहेतुपेतत्वात्, लोचने तिमिरादिवत् । तत्कर्मप्रक्षयस्य हि हेतु संवर-निर्जरे, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायी स तद्धेतुः यथा धूमोऽग्नेः, अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते च तत्प्रक्षयः संवरनिर्जरयोरिति । सति संवरे भाविकर्म नोत्पद्यते “श्रेयपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः” [ तत्त्वार्थसू० १।१ ] इत्यभिधानात् । सञ्चितं पुनः तन्निर्जरातः प्रलीयते—“उपात्तकर्मणां निर्हरणं निर्जरा” [ ] इति वचनात् । सा च निर्जरा द्विविधा—औपक्रमिक-इतरभेदात् । तत्र औपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या, अनौपक्रमिकी तु यथाकालं संसारिणः स्यादिति ।

अत्र सांख्या म्रुवते—सत्यम्; अनात्मगुणोऽदृष्टं प्रकृतिपरिणामत्वात्तस्य “प्रकृति-

श्रद्ध-कर्मण्यदि-  
विषये सांख्याना  
पूर्वपक्षः—

परिणामः शुक्लं कृष्णञ्च कर्म” [ ] इत्यभिधानात् । प्रकृत्या हि कर्म क्रियते अतस्तत् तत्परिणामो नात्मनः तस्याऽकर्तृत्वात् ।

(१) “दोषावरणयोर्हानिः नि.शेषास्त्यतिशयनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥”

आप्तमी० का० ४ । प्रमेयक० पृ० २४५ । (२) “प्रकृत्यमाणा आवरणहानिः आवरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरणहानिवत् ।”—प्रमेयक० पृ० २४६ । स्या० २० पृ० ३५९ । (३) “क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम् । समप्रक्षयहेतुत्वात्लोचने तिमिरादिवत् ॥”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५ । (४) “तेषामागमिना तावद्विपक्षः सवरो भतः । तपसा सञ्चिताना तु निर्जरा कर्मभूभूता ॥”—आप्तप० का० १११ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६ । (५) “आस्रवनिरोधः संवरः”—तत्त्वार्थसू० १।१ । उद्धृतमिदम्—प्रमेयक० पृ० २४५ । (६) “एकदेशकर्मसक्षयलघणा निर्जरा ।”—सर्वार्थसि० १।४ । “उपात्तस्य कर्मणस्तपो-विशेषसन्निधाने सत्येकदेशसक्षयलक्षणा निर्जरा ।”—राजवा० १।४ । “कर्मणा तु विपाकात्तपसा वा यः शाटः सा निर्जरा”—तत्त्वार्थभा० व्या०, तत्त्वार्थहरि० १।४ । “पूर्वोपाजितकर्मपरित्यागो निर्जरा”—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४८३ । (७) “सा द्विप्रकारा—विपाकजेतरा च । तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषा-वर्णते ससारमहाणवे चिर परिभ्रमत. शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्य अनुभवोदया-वल्लोतोऽनुप्रविष्टस्य आरब्धफलस्य या निवृत्ति सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्म अप्राप्तविपाक-कालम् औपक्रमिकस्याविशेषसामर्थ्यादिनुदीर्णं बलादुदीर्णं बलादुदीर्णोदयात्कालं प्रवेश्य वेद्यते आम-पनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा ।”—सर्वार्थसि०, राजवा०, तत्त्वार्थभा० व्या० ८।२३ । “सा द्विविधा—अनुपक्रमोपक्रमिकी च । तत्र पूर्वा यथाकालं संसारिणः स्यात्, उपक्रमिकी तु तपसा द्वादश-विधेन साध्यते ।”—आप्तप० का० १११ । प्रमेयक० पृ० २४४ । स्या० २० पृ० ३५७ । “सोपक्रम निरुपक्रम च कर्म—आमुविपाक कर्म द्विविधम्—सोपक्रम निरुपक्रमश्च । तत्र यथाद्वैवस्व वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण शुष्येदेवं निरुपक्रमम् । यथा यथा चाम्नि. शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेताया सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निः तृणराशौ रुमतोऽज्यवेपु न्यस्ताश्चिरेण दहेताया निरुपक्रमम् ।”—योगसू० व्यासभा० ३।२२ । (८) द्रष्टव्यम्—पृ० ३६० । “तत्कार्यं वर्मादि.”—साख्यसू० २।१४ । (९) तुलना—“चतुष्पात् स्वत्विय कर्मजाति.—दृष्णा, शुकलकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति ।”—योगभा० ४।७ । “अशुक्लाकृष्णकर्म

१-दि क्वचि-श्र० । २-क्षयहेतु-ब०, -क्षयहेतु-आ० ।

साक्षित्वादिकमेव हि स्वरूपमात्मनो न ऋत्तत्वादि । तदुक्तम्—

“तस्माच्च विपर्यासात् सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्य माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकैर्तृभावश्च ॥” [ साध्यका० १९ ]

तस्माच्च तस्मादेव त्रिगुणविपर्यासात् सिद्धमात्मनः साक्षित्वादिस्वरूपम्; तथाहि—  
साक्षित्वं तावदात्मनः गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम् स्वयमस्यै नैर्गुण्यात्, सुखादिभ्यो हि यतोऽयमर्थान्तरभूतः तस्मात् तत्प्रवृत्तौ साक्षी । तथा कैवल्यमप्यस्य सिद्धम् ततो विविक्तत्वात् । यतः सत्त्वय गुणेभ्यः प्रुथग्भूतः तस्मादेव कैवलः, न तैः सह संसर्गेण वर्त्तते । तथा माध्यस्थ्यमप्यस्य विपर्ययत्वात् सिद्धम् । विपर्यासां हि तुल्यत्वत्वात् न्यूनाधिकतोपपत्तेश्च अन्योन्यं बाधानुग्रहौ उपपन्नौ, विपयी चायम्, तस्मान्नास्य न्यूनतादि, अत एव ईतरयोरनुपपत्तिः । तथा द्रष्टृत्वमप्यस्य चेतैत्यस्वरूपत्वासिद्धम् ।

स्यान्मुक्षोर्योगिनो यते । कृष्ण शुक्ल तथा मिथ कर्मान्येषा त्रिधा भवेत् ॥”—योगका० ४।१२ । उद्धृत-  
मिदम्—“प्रधानविवर्तं शुक्ल कृष्णञ्च कर्म ॥”—आप्तप० पृ० ६१ । “प्रधानपरिणाम शुक्ल कृष्णञ्च  
कर्म ॥”—प्रमेयक० पृ० २४४, २८५ । (१०) “प्रकृते क्रियमाणानि गुणं कर्माणि सर्वश । अहङ्कार-  
विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥”—भगवद्गी० ३।२७ ।

(१) “साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च”—श्वेताश्व० ६।११ । “पुरि शयनात् प्रमाणात् पूरणात् पुरुवृत्तता । स चानादि सर्वगतश्चेतनो निर्गुणोऽपर ॥ द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मक । सूक्ष्मो नित्यो ह्यनादिस्त्वमध्यनिधनोऽपि स ॥”—साध्यतत्त्ववि० पृ० १० । (२) “तस्माच्च यथोक्तत्रंगुण्य-  
विपर्यासाद् विपर्ययात् । निर्गुण पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणाना पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तः तस्मात् सत्त्वरजस्तम सु कर्तृभूतेषु साक्षित्व सिद्ध पुरुषस्यति । योऽयमधिकृतो बहुत्व प्रति, गुणा एव कर्तार प्रवर्तन्ते साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तते एव । किञ्चान्यत्, कैवल्यम्—कैवल्यभाव कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थं त्रिगुणेभ्य केवलोऽयः । माध्यस्थ्यभाव, परिव्राजकवन्मध्यस्थ पुरुष । यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामी-  
णेषु वर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थ, पुरुषोऽप्येव गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते तस्मात् द्रष्टृत्वमक-  
र्तृभावश्च । यस्मान्मध्यस्थः तस्माद् द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुषः तेषा कर्मणामिति । सत्त्वरजस्तमासि त्रयो गुणा कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुष । एव पुरुषस्यास्तित्वञ्च सिद्धम् ।”—गीडपा० भा०, माठरव०, साध्यतत्त्वकी०, जयमग, का० १९ । उद्धृतोऽयम्—न्यायवि० वि० पृ० ५४६ A. । विश्वतत्त्वप्र० पृ० १४० A. । (३) “अकर्तृभावश्चेत्यनेन सप्तविधमकर्तृभावमाश्रयति—न ह्यय विषयेषु स्वस्यान्त करण-  
साक्षिभ्योऽप्यवसाय कुरुते । न च सत्त्वादीना प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणधर्मं इतरेतरपकारेणाप्रवर्तमानाना स्वैव चैतन्यलक्षणेन धर्मेण अङ्गभाव प्रतिपद्यते नाप्यङ्गभावम् । एवं सह गुणं कार्यं न कुरुते स्त्रीनुमारवत् । स्थितप्रयोग न कुरुते रथदाकटय-नर्प्रेरकवत्, न स्वात्मनो मृत्पिण्डवत्, न परत कुम्भ-  
कारवत्, नाप्यादेशात् मायाकारवन्, नोभयतो मातृपितृवत् ।”—युक्तिदी० पृ० १०० । (४) “तत्र साक्षित्वमित्यनेन गुणाना प्रवृत्तौ अस्वातन्त्र्य रूपापयति प्रधानस्य तदर्थनिबन्धनत्वात् प्रवृत्ते ।”—युक्तिदी० पृ० १०० । (५) गुणाना सत्त्वरजस्तमसा प्रवृत्ते, गुणस्य वा प्रधानस्य प्रवृत्ते । (६) पुरुषस्य । (७) गुणात् । “कैवल्यमित्यनेन सत्सारिधर्मत्वमात्मनो निवर्तयति । न यथा सत्त्वादीना परस्परैण प्रकाशादिध-  
मपिक्षाणा ससर्गः एव पुरुषस्य तैर्भवति ।”—युक्तिदी० पृ० १०० । (८) ‘ माध्यस्थ्यमित्यनेन अतिशयनि-  
र्हसिानुपपत्ते, पुरुषस्य गुणं सह बाधानुग्रहानुपपत्तिः स्वकार्यप्रवृत्तौ चापक्षपात दर्शयति ।”—युक्तिदी०

(९) बाधानुग्रहयो ।

प्रकृतिविकारभूता हि सत्त्वादयः, अतस्तेभ्यश्चैतन्यमपोद्धृत्य पुरुष एव स्थाप्यते, तस्मात् पुरुष एव चैतन्यस्वरूपत्वात् द्रष्टा । उक्तञ्च—“चैतन्यं स्वरूपं पुरुषस्य” [ योगभा० ११९ ] इति । अत्राऽभेदे पट्टी । चित्तिरेव हि पुरुषः, रूपशब्दः स्वभाववचनः । एतदेव हि आत्मनः स्वम् आत्मीयं रूपं स्वभावः यत् चैतन्यं नाम, तस्य व्यक्ता-  
व्यक्तयोरसंभवात् । तथाऽऽकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्यादस्य सिद्धः, यस्मात् प्रस्पन्दन-  
परिणामौ प्रसवार्थौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता इति ।

ननु सत्त्वादीनां कर्तृत्वे 'पुरुषः पुण्यं करोति' इत्यात्मनि कर्तृत्वप्रतीतिः कथ-  
मुपपन्नेति चेत् ? उपचारात्, यथैव हि स्वयमचेननापि बुद्धिः चेतनाससर्गात् चेतना  
उपचर्यते, तथा कर्तृप्रधानसंसर्गात् स्वयमकर्ताप्यात्मा कर्त्तव्य उपचर्यते । तदुक्तम्—

“तस्मात्तत्ससर्गादचेतन चेतनावदिह (४) लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीनः ॥” [ साध्यका० २० ] इति ।

ततः चित्तवृत्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चाऽभ्युप-

(१) “चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चित्तिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदि-  
श्यते ? भवति च व्यपदेशे वृत्तियथा चैतन्यं गीरिति ।”-योगभा० ११९ । उद्धृतमिदम्-सर्वार्थसि०  
पृ० १ । न्यायवि० वि० पृ० ५४७ A । (२) “तावेतो भोगापवर्गो बुद्धिकृती बुद्धावेव वर्तमानो  
कथं पुरुषे व्यपदिश्यते इति ? यथा विजय पराजयो वा योद्धुं वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते,  
स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एव बन्धमोक्षो बुद्धावेव वर्तमानो पुरुषे व्यपदिश्यते । स हि तत्फलस्य  
भोक्तेति । बुद्धरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्वन्ध तदर्थवसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोद्वापोहतरव-  
ज्ञानाभिनवेशा बुद्धो वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति ।”-योगभा०  
२।१८ । (३) “तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिह लिङ्गम् । यस्माच्चेतनस्वभाव पुरुष तस्मात्  
तत्सयोगादचेतन महदादिलिङ्गम् अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते ।  
यो दृष्टान्त ? तद्यथा अनुष्णाशीतो घटः शीताभिरद्भि सस्पृष्ट शीतो भवति अग्निना समुक्त उष्णो  
भवति, एव महदादि लिङ्गमचेतनमपि भूत्वा चेतनावद् भवति । तस्मात् अध्यवसाय कुर्वन्ति गुणाः  
कार्यादिषु । तद्यथाऽशी अचौरः तत्ससर्गदोषेण चौरतया प्रतीतस्तं तथा सत्त्वादयो गुणा कर्त्तारः  
तैः समुक्त पुरुषोऽपि अकर्ताऽपि कर्ता भवति, कर्तृससर्गात् कर्त्तव्यं, पर परमार्यतया अकर्ता पुरुषः ।”  
-माठरवृ०, गीटपा०, साध्यतत्त्वकी०, जयमङ्ग० का० २० । “तस्मात् कारणस्य ग्रहणरूपता  
पुरुषस्य च कर्तृरूपता सम्बन्धन्तरसम्पर्कात् अन्यगताऽन्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातव्या न  
परमार्यत । उक्तञ्च—चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेन विभाव्यते । कर्तृष्ववस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्त्तव्यं  
लक्ष्यते ॥”-मुक्तिदी० पृ० १०४ । उद्धृतोऽयम्-न्यायम० पृ० ४८९ । “चेतनावदिह”—अटसह० पृ०  
६७ । न्यायवि० वि० पृ० ५९ A । स्या० २० पृ० २३४ । (४) “चित्तवृत्तिरपरिणामिन्यप्रति-  
संक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सुखदुःखमोहात्मकस्वमशुद्धिं मुखमोहावपि विवेकिनः दुःखा-  
दुःखोऽपि दुःखवद् हेयो । तथा चातिमुन्दरमपि अन्तवद् दुनोति तेन तदपि हेयमेव विवेकिनः ।  
सेयमशुद्धिरन्तश्च चित्तवृत्तौ पुरुषे न स्त इत्यत उक्तं शुद्धा चानन्ता चेति । ननु सुखदुःखमोहात्मक-  
शब्दादीनियं चेतयमाना तदाकारापन्ना कथं विद्मः ? तदाकारपरिग्रह-परिवर्जने च कुर्वती कथ-  
मनन्त्येतत् उक्तम्—दर्शितविषया इति । दर्शितो विषय शब्दादिविषयैः सा नवोक्ता । भवेदेतदेवं यदि

गन्तव्या । न च प्रधानस्य कर्तृत्वादिधर्मसद्भावाभ्युपगमे पुरुषकल्पनानर्थक्यमित्यभि-  
धातव्यम्; द्रष्टृत्वात्तस्य । न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यमुपपद्यते पंड्वन्धयोरिवानयोः  
अन्योन्यापेक्षत्वात् । यथैव हि अन्धो दर्शनशक्तिविकलः तच्छक्तियुक्तपङ्कपदेशमन्तरेण  
नेष्ट्रपदेशमुपसर्पति, पङ्कुरपि क्रियाशक्तिशून्यः तच्छक्तियुक्ताऽन्धसंसर्गाद्विना इति, तथा  
प्रधानं नान्तरेण पुरुषं कृतमपि कार्यं द्रष्टुं क्षमम्, पुरुषोऽपि सत्यपि चैतन्ये प्रधानं  
विना दृश्याभावात् द्रष्टा स्यात् ।

ननु चिद्रूपत्वात् पुरुषः कथं संसारप्रवन्धप्रवृत्तिहेतौ प्रधाने स्थितं फलमुपभुङ्क्ते ?  
इत्यप्यचोद्यम्; चिद्रूपस्याप्यस्य अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिस्थमपि सुखादिफलम्  
आत्मस्थं मन्यमानस्य तदुपभोक्तृत्वोपपत्तेः, यदा तु ज्ञानमस्य आविर्भवति 'दुःखहेतु-

बुद्धिबन्धितिशक्तिविषयाकारतामापद्यते, किन्तु बुद्धिरेव विषयाकारेण परिणता सती, अतदाकारार्थं  
चितिशक्त्यै विषयमादर्शयति, ततः पुरुषश्चेतयत इत्युच्यते । ननु विषयाकारा बुद्धिमनारूढायाचित्ति-  
शक्ते कथं विषयवेदनम् ? विषयारोहे वा कथन्न तदाकारापतिरित्यत उक्तम्—अप्रतिसङ्क्रमेति ।  
प्रतिसङ्क्रम सञ्चार, स चितेर्नास्ति इत्यर्थं । स एव कुतोऽस्या नास्तीत्यत उक्तम्—अपरिणामिनी  
इति । न चितेस्त्रिविधोऽपि घर्मलक्षणभावस्थालक्षण परिणामोऽस्ति येन क्रियारूपेण परिणता सती  
बुद्धिसयोगेन पङ्गिमेत चित्तिशक्ति ।"—योगभा०, तत्त्वबै, भास्व० ११२ । "यतोऽपरिणामिनी अत एव  
चितिशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा असञ्चारा । यथा बुद्धिविषयं गच्छति तद्ग्रहणार्थं नैव चिन्तरित्यत्वात् ।  
अथवा नास्ति प्रतिसङ्क्रम सञ्ज्ञो विषयेषु यस्या इत्यप्रतिसङ्क्रमा निलोपेति यावत् । ननु अपरिणा-  
मित्वे चात्मनो विषयाकारत्वाभावात् कथं विषयस्फुरणम्? तत्राह—दर्शितविषया, दर्शितो बुद्ध्या निवेदितो  
विषयो यस्या इति विग्रह, विषयं सह बुद्धिवृत्तिश्चित्तौ प्रविम्बिता सती भासत इति भाव "यतोऽ-  
परिणामिनी अत एव शुद्धा अनन्ता च ।"—योगवा०, पातञ्जलरह० ११२ । तुलना—'तथा चोक्त (पञ्च-  
शिखेन—तत्त्वबै०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव  
तद्वृत्तिमनुपतति ।"—योगभा० २।२० ।

(१) "द्रष्टा दृश्यात् शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य ।"—योगसू० २।२० । (२) "पुरुषस्य दर्शनार्थं  
कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत्तुं सर्गं ॥" तद्वत् पङ्ग्वन्धवत् प्रधान-  
पुरुषो द्रष्टव्यौ । पङ्गुवत् पुरुषो द्रष्टव्य अन्धवत् प्रधानम् । पुरुषस्य दुर्लक्षित, प्रधानस्य क्रियासा-  
मर्थ्यम् ।"—साह्यका० भाठर० २१ । "पङ्ग्वन्धद्रष्टान्तस्तु नान्तरीयकप्रदर्शनार्थम् । यथा पङ्गुर्गुर्ना-  
न्तरेणान्ध दुर्लक्षक्या विशिष्टेनार्थेन अर्थवान् भवति, अन्यच्च नान्तरेण पङ्गु विशिष्टेनार्थेन । एव  
प्रधान नान्तरेण पुरुष कृतमपि कार्यं द्रष्टुं शक्तमनवधिकञ्च प्रवर्तमान विषयोभावाद्देव निवर्तते । तथा  
पुरुष सत्यपि चेतनत्वे नान्तरेण प्रधानम् उपलभ्याभावाद् उपलब्धा भवेदिति प्रधानमपेक्षते ।"—युक्तिबी०  
पृ० १०७ । (३) द्रष्टृदृश्यभूतयो पुरुषप्रधानयो । (४) "पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्  
गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य तदसद्योनिजन्ममु ॥"—भगवद्गी० १३।२१ । "यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य  
स्वबुद्धिसयोग, तस्य हेतुरविद्या"—योगद० २।२४ । "तथा चैतदत्रोक्तम् (पञ्चशिखेन) व्यक्तमव्यक्त  
था मत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुन्दति आत्मसम्पद मन्वानः तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्म-  
व्यापद मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः ।"—योगभा० २।५ ।

रियम् न मम अनया सह संसर्गो युक्तः' इति, तदा विवेकख्यातेर्न तत्सम्पादितं कर्मफलमुपभुङ्क्ते, सौपि च 'विज्ञातविरूपाऽहं न मदीयं कर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति मत्त्वा न तत्सम्पादनाय तं प्रति प्रवर्तते कुण्ठिनीस्त्रीवद् दूरादपसर्पति । अतो गुण-पुरुषान्तरदर्शनाद् अपवर्गप्राप्तिः । अन्ये गुणाः सत्त्वाद्योऽचेतनाः परार्थाः प्रकृति-विकारभूताः, अन्योऽहम् 'नै प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' [ सांख्यका० ३ ] इति भेदप्रत्ययः गुणपुरुषान्तरदर्शनम्, तस्मात् तत्प्राप्तिरिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'प्रकृतिपरिणाम' इत्यादि; तदसमीक्षिता-तत्प्रतिविधानपुरस्सर भिधानम्; यतः सिद्धे धर्मिणि धर्मचिन्ता उपपद्यते । नच प्रकृतिः कर्मण पैदलिकत्वं धर्मिणी कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धा, तत्प्रसाधकरप्रमाणानां प्रकृतिपरीक्षा-प्रसाधनम्—प्रघट्टके प्रपञ्चतः प्रतिक्षिप्तत्वात् । अतः कथं तत्परिणामतया कर्मणां व्यावर्णनमुपपन्नम् ? अस्तु वाऽसौ; तथापि—पुरुषस्थं निमित्तमपेक्ष्य तथा परिणमेत्, अनपेक्ष्य वा ? न तावदनपेक्ष्य; मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तस्याः तथा

(१) प्रकृति । (२) 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः विवेकख्यातिः ।'—योगद०, व्यासभा० २।२६ । 'एव तत्त्वाभ्यासात्प्राप्तिं मे नाहमित्यपरिशेषम् ॥ ' अभ्यासेनैव तत्त्वदर्शनं तस्मादभ्यासात् पुरुषस्य वृद्धिरुपपद्यते—नास्मि तत्त्वानि, न मे तत्त्वानि, नाहं तत्त्वानाम् किन्तु प्रधान-कान्येतानि । तस्माज्ज्ञानभूतपद्यते एवमादि । अपरिशेष निरवशेषमित्यर्थः । किं ज्ञानम् ? गुणपुरुष-पान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः ॥ अत्राह तेन ज्ञानेन पुरुषः किं करोति ? अत्रोच्यते—तेन निवृत्तप्रसवामर्ष-वशात् सत्त्वरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थित स्वस्थ ॥"—सांख्यका० माठर० ६३-६४ । (३) प्रकृतिरपि । "प्रकृते सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टा-स्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ यया काचित् कुलस्त्री साध्वी स्वगृहद्वारि स्थिता पुरुषेण सह-संवागतेन दृष्टा सहसैव व्रीडमाना त्वरित गृहं प्रविष्टा । सा एव मत्वा 'दृष्टाऽहमनेन' इति न पुन-दर्शनमुपैति पुरुषस्य । तस्याञ्च विनिवृत्ताया पुरयो मोक्ष गच्छति ॥"—सांख्यका० माठर० ६१ । तत्त्वमी० पृ० १९४ । सांख्यतत्त्वप्र० पृ० १७७ । सांख्यप्र० ३।६९,७० । "दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरताऽन्या । सति सयोगेऽपि तयो प्रयोजन नास्ति संगस्य ॥ यथेमा रङ्गगता नर्तकी सर्वास्ववस्थामु वर्तमाना दृष्ट्वा विरमति रङ्गात् प्रेक्षक दृष्ट्वा मयेत्युपेक्षक एका केवल शुद्ध. पुरुषः तथा प्रकृतिरपि अनेन अहं दृष्टेति निवृत्ता । एका त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृ-तिरस्ति । नर्तक्यपि अहमनेन दृष्टेत्पुपरमते नृत्यात् एव पुरुषोऽपि दृष्ट्वा मयेव ज्ञानचक्षुषा प्रकृति इति प्रेक्षकवदुपरमते मोक्ष गच्छतीत्यर्थः ।"—सांख्यका० माठर० ६६ । तदुक्त नारदीये—सविकारापि मोक्षयेन चिर भुवता गुणात्मना । प्रकृतिज्ञातदोषेय लज्जयेव निवर्तते ।"—सांख्यप्र० भा० पृ० १११ । (४) भोगसम्पादनाय । (५) "पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वान्न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात् । नैवासी कारण न च कार्यमित्यर्थः ।"—माठर० पृ० । (६) पृ० ८१२ पृ० ११ । (७) पृ० ३५४ । (८) प्रकृति । (९) कर्मरूपतया । (१०) तुलना—'यदि प्रधान पुरुषस्य निमित्तमनपेक्ष्य प्रवर्तते, मुक्ता-त्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय प्रवर्तते अविशेषात् ।"—प्रज्ञा० व्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६ । प्रमेयर० ४।१ । (११) प्रकृते ।



परिणामनप्रसङ्गात् । अथ अपेक्ष्य, किं तदपेक्ष्यम्—विवेकानुपलम्भ, अदृष्ट वा ? न तावद् विवेकानुपलम्भः; तस्य विवेकोपलम्भाभावरूपतया मुक्तात्मन्यपि संभवात् । नच तदनुत्पत्ति प्रध्वंसयोः कश्चिद्विशेषः संभवति, अभावस्वभावत्वाविशेषात् । अदृष्ट-  
पेक्षयास्तु तस्याः तथापरिणामे अन्योन्याश्रयः—सिद्धे हि अदृष्टे तदपेक्षया प्रकृतेः  
शुक्लकृष्णकर्मपरिणामसिद्धिः, तत्सिद्धौ च अदृष्टसिद्धिरिति । अनादित्वात् तत्प्रवाहस्य  
अयमदोष—पूर्वं हि अदृष्टमपेक्ष्य अपरः तस्यैस्तत्परिणामो भवति ततश्च अपरः इति;  
तदप्यनुपपन्नम्, मुक्तात्मन्यपि एवमस्याः शरीरादिसम्पादनाय तथा परिणामप्रसक्तेः ।  
तत्रास्याः निवृत्ताधिकारत्वान्न तत्प्रसक्तिः; इत्यापि वार्त्तम्, अमुक्तात्मन्यपि अस्याः  
तत्सम्पादनाय तथापरिणामाऽभावानुपपन्नात् । तत्र प्रवृत्ताधिकारत्वान्न दोषोऽयम्;  
इत्यपि श्रद्धामात्रम्, सर्वथैकस्याऽनंशस्य प्रधानस्य प्रवृत्त-निवृत्ताधिकारत्वधर्मयोर्युगपद्वि-  
रोधात्, तद्विरोधे वा सर्वथास्यै एकत्वाऽनशस्यानुपपत्तिः ।

किञ्चदेम् अमुक्तात्मन्यस्य प्रवृत्ताधिकारत्वन्नाम—तत्र सम्बद्धत्वम्, शरीरसुरादि-  
सम्पादकत्वं वा ? न तावत् सम्बद्धत्वम्; मुक्तात्मन्यस्य गतत्वात्, प्रधानात्मनो-  
नित्यसर्वगतत्वेन सर्वत्र सर्वदा संभवात् । अथ शरीरसुरादिसम्पादकत्वम्; तर्हि  
इतरेतराश्रय—सिद्धे ह्यमुक्तात्मान प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वे<sup>१३</sup> त प्रत्येव तत्सम्पादकत्वसिद्धिः,  
तत्सिद्धौ च तं प्रति प्रवृत्ताधिकारत्वसिद्धिरिति ।

किञ्च, शरीरादिना तत्सम्पादितेन अस्य कश्चिदुपकारः क्रियते, न वा ? यदि

(१) तुलना—“अथादर्शनापेक्षमिति चेत्, यस्य हि गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनानुपपत्ति त प्रति

प्रधान प्रवर्तते, न चामौ मुक्तात्मनीति, तत्र; मुक्तात्मन्यपि विवेकदर्शनस्य विनाशेन प्रवृत्तिप्रज्ञात् ।

१ चानुत्पत्तिविनाशयो अदशनत्वेन विशेष पश्याम् ।”—प्रश्न० ब्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ०

३१६ । (२) सत्तारावस्थाया विवेकस्यानुत्पत्ति मुक्तदशाया च समुत्पन्नस्यापि विवेकस्य विनाश इति न

अभावत्वेन कश्चिद् भव । (३) प्रकृते । (४) कर्मरूपतया परिणती । (५) प्रकृते शुक्लकृष्णादि-

कर्मपरिणाम । (६) तुलना—“अथादृष्टापेक्ष प्रवर्तते इति चेत्, तदसत्, तस्यापि प्रधाने शक्ति-

रूपतया व्यवस्थितस्य उभयत्राविशापात् ।”—प्रश्न० ब्यो० पृ० २० घ० । प्रमेयक० पृ० ३१६ । (७)

शुक्लकृष्णादिकमरूपेण । (८) “कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्यसाधारणत्वात् ।—कृतार्थमेक पुरुष

प्रति दृश्य नष्टमपि नाश प्राप्तमपि अनष्ट तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशल पुरुष प्रति नाश प्राप्तमपि

अदुशलान् पुरुषान् प्रति अकृतार्थमिति तेषां दृशे कमविषयतामापन्न लभत एव पररूपेण आत्मरूप

मिति ।”—योगसू० भा० २।२२ । (९) शरीरादिसम्पादनाय कर्मरूपपरिणामप्रसङ्ग । (१०) सत्तार्या

त्मनि । (११) तुलना—‘न ह्यकमेव निवृत्ताधिकारत्वं प्रवृत्ताधिकारत्वयोर्युगपदधिकरण युक्त नष्ट-

त्वानष्टत्वयोरिव विरोधात् ।”—आप्तप० पृ० ८३ । (१२) प्रधानस्य । (१३) अमुक्तात्मान प्रत्येव ।

(१४) प्रधानसम्पादितेन । तुलना—“सहि प्रधानस्य विकारो महदादि पुरुषार्थो भवतु(वन्) पुरुषस्य कश्चिदुपकार करोति न वा ? यदि करोति, पुरुषादर्थान्तरभनर्थान्तर वा ?”—पुस्तकानु० टी०

पृ० २९ । (१५) सत्तार्यात्मन ।

१ अदृष्टापेक्षयास्तु आ० । २ तस्य तत्परि-व० । ३ प्रवृद्धविनिवृत्ता-थ० । ४ सम्बन्धत्वं य०,

थ० । ५ नित्यं सर्व-व० ।

न क्रियते, कथं तत् 'तस्य' इति व्यपदिश्येत ? मुक्तात्मनोऽपि तद्व्यपदेशप्रसङ्गात् ।  
 अथ क्रियते, किं ततो भिन्नः, अभिन्नो वा ? यदि अभिन्नः; तदा तत्करणे पुंसोऽपि  
 कार्यत्वानुपपन्नात् नित्यत्वक्षतिः । अथ भिन्नः; तदा पुंसो न किञ्चित्कृतं स्यात्, तस्ये-  
 5 तिव्यपदेशश्च न प्राप्नोति तेन तस्योऽसम्बन्धात्, तेनोप्युपकारान्तरकरणे अनवस्था ।  
 ततः प्रधानस्य स्वरूपेण असत्त्वात्, सतोऽपि वा कर्मपरिणामानुपपत्तेः, द्रव्यरूपस्य  
 कर्मणः पुद्गलपरिणामत्व भावरूपस्य तु आत्मपरिणामत्वमभ्युपगन्तव्यम् । पुद्गलात्मनोः  
 सद्भावस्य विचित्रपरिणामाधारत्वस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात् । न च कर्मणोऽनित्य-  
 त्वादात्मनस्तत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिर्दोषाय; कथञ्चित्तदनित्यत्वस्येष्टत्वात् ।  
 10 सकलभावानां कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकतया अनेकान्तसिद्धौ प्रसाधितत्वात् । प्रधान-  
 स्यापि च तत्परिणामोपगमे अनित्यत्वापत्तिः समाना ।

यदप्युक्तम्—'साक्षित्वं तावत् आत्मनो गुणप्रवृत्तेरधिष्ठातृत्वम्' इत्यादि, तदपि  
 मनोरथमात्रम्; सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणानां प्रवृत्तेः प्रकृतिपरीक्षायां प्रतिक्षिप्तत्वात्,  
 सर्वथा नित्यव्यापित्वादिस्वभावस्य चात्मनः स्वदेहप्रमितौ प्रतिव्यूढत्वात्, अतः किं  
 कस्य अधिष्ठातृ स्यात् ?

15 यदपि 'अकर्तृभावोऽपि अप्रसवधर्मित्वात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्;  
 सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वाभ्युपगमे पुंसोऽवस्तुत्वापत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोगः—भवत्कल्पितः  
 पुरुषो वस्तु न भवति, सर्वथाऽकार्यकारणभूतत्वात्, गगनेन्दीवरवत् ।

यदपि 'यस्मात् प्रस्पन्दनपरिणामौ प्रसवाथौ नात्मनि विद्येते तस्मादकर्ता'  
 इत्यभिहितम्; तदप्यपेशलम्; स्वदेहप्रमितौ आत्मनः प्रस्पन्दनपरिणामयोः प्रसाधितत्वात् ।  
 20 अकर्तृत्वे च आत्मनो भोक्तृत्वविरोधः, यदयं भुज्जिक्रियां कुर्वन् भोक्ता इत्युच्यते यथा  
 गमिक्रियां कुर्वन् गन्ता इति । नहि तथाऽपरिणत तद्व्यपदेशमर्हति अतिप्रज्ञात् । तथा  
 च कर्त्तरि तृचोऽनुत्पत्तेः 'भोक्ता' इत्यात्मनो व्यपदेशो दुर्लभः । ननु भोक्तेति तृचो

(१) ससारिण । (२) शरीरादिना पुंसोऽभिज्ञोपकारकरणे । (३) उपकारेण । (४)  
 पुम । (५) शरीरादिद्विज्ञोपकारेणापि । (६) तत् कर्म परिणाम यस्य । (७) अनित्यकर्मपर्याया-  
 त्मकत्वस्वीकारे । (८) पृ० ८१३ पं० ५ । (९) पृ० ३५४-१ । (१०) पृ० २६६-१ । (११) पृ०  
 ८१४ पं० ६ । (१२) पृ० ८१४ पं० ६ । (१३) तुलना—'अत पुरुषस्य कर्तृत्वे युक्त वास्तव  
 भोक्तृत्वम् । अन्यथा हि भोगक्रियामकुर्वन् कथमुदासीनस्य भोक्तृत्व स्यात्, भोगस्य मुखदुःखवेदना-  
 र्पत्त्वात्, तदाधारता तु भोक्तृत्वम् ।'—प्रश० व्यो० पृ० ५२३ । भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता  
 तदविरोधतः । विरोधे तु तयोर्भोक्तु स्याद भुजो कर्तृता कथम् ॥"—आप्तपं० का० ८१ । "कर्ता  
 आत्मा स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्" साध्यकल्पित पुरुषो वस्तु न भवति अकर्तृत्वात् खपुणवत् । किंच,  
 आत्मा भोक्ता अज्ञीक्रियते, स च भुजक्रिया करोति न वा ? यदि करोति तदाऽपराभि क्रियाभि किम-  
 पराडम् ? अथ भुजक्रियामपि न करोति, तर्हि कथं भोक्तेति नित्यम् ।"—यद्ब० बृह० श्लो० ४९ ।  
 (१४) तृचप्रत्ययस्य ।

दर्शनात् न वास्तव कर्तृत्व सिद्धयति शब्दज्ञानानुपातिन कर्तृत्वविकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात्, इत्यप्यसुन्दरम्, भोक्तृत्वादिधर्माणामप्यात्मनोऽवास्तवत्वोपपत्ते । तथोपगमे च चेतयते इति चेतनः पुरुष, परमार्थतो न सिद्धयेत् चेतनशब्दज्ञानानुपातिनोऽपि विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वाविशेषात् । अथ एतदोपभयाद् भुजौ कर्ता इत्युक्ते, तर्हि अकर्तृत्वविरोधः । क्रियान्तरस्य प्रधानसाध्यस्याऽप्रसाधकत्वादकर्तृत्वे प्रधानस्याप्यकर्तृत्वानुपपन्नं पुरुषसाध्यस्य भुजिलक्षणक्रियान्तरस्य तेनाप्यप्रसाधनात् । ततः पुसोऽकर्तृत्वे भोक्तृत्वाभाव एव । प्रयोग—संसार्थात्मा सुप्ताशुपभोक्ता न भवति, धर्मादीनामकर्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

अकर्तृभोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाऽकृताभ्यागमदोषप्रसङ्गः, प्रकृत्या हि कृत कर्म न च तस्या फलेनाभिसम्बन्ध इति कृतनाशः, पुरुषेण च तन्न कृतम् अथ च तत्फलेन तस्याभिसम्बन्ध इति अकृताभ्यागमः । अकर्तृ फलाभिसम्बन्धे च मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गः । चेतनत्वादात्मनः अकर्तृत्वेपि तदभिसम्बन्ध इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम्, मुक्तात्मनोऽपि अत एव तदभिसम्बन्धानुपपन्नात्, संसार्थात्मनोऽपि वा तद्वदसौ न स्यादविशेषात् । प्रयोग.—संसार्थात्मा फलाभिसम्बन्धवान् न भवति, चेतनत्वात्, मुक्तात्मवत् । तथा प्रधान कर्मणा तत्फलस्य च कर्तृ न भवति, अभोक्तृत्वात्, मुक्तात्मवत् ।

यच्चोक्तम्—‘यथैव हि स्वयमचेतनापि बुद्धि चेतनासर्गात्’ इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम् बुद्धिचेतनयोर्भेदाऽसम्भवात्, विज्ञानस्यैव हि ‘बुद्धि, चेतना, अध्ववसाय’ इति पर्यायाः । तदसम्भवश्च साख्य प्रति स्वसवेदनसिद्धो<sup>१२</sup> प्रपञ्चितः । अतः कथं तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन उपचारादात्मनः कर्तृत्वं स्यात् ? ततः पुरुष ‘पुण्य करोति, ध्यान करोति’ इत्याद्यवाध्यमानप्रतीतिसिद्ध कर्तृत्वमस्य अनुपचरितमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।

(१) ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः—शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तदनु पतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती वस्तुनस्तयात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते ।’—योगसू० भोजवृ० १।९ । (२) तुलना—भोक्तृत्वादिधर्माणामपि पुरुषस्याऽवास्तवत्वापत्तौ तथोपगमे चेतयते इति चेतनः पुरुषो न वस्तुतः सिद्धयति चेतनशब्दज्ञानानुपातिनो विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशब्दज्ञानानुपातिविकल्पवत् ।—आप्तप० का० ८१ । (३) प्रधानेनापि । (४) तुलना—‘संसार्थात्मा भोक्ता न भवति अकर्तृत्वात् मुक्तात्मवत् ।—यद्व० बृह० श्लो० ४८ । (५) तुलना—‘प्रधानस्य बधमोक्षो पुरुषस्तत्फलमनुभवतीति कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । प्रधानेन हि कृतो बधमोक्षो न च तस्य फलानुभवनमिति कृतनाशः, पुरुषेण तु तौ न कृतौ तत्फलानुभवनञ्च तस्येत्यकृताभ्यागमः कथं परिहृतुं शक्यः ?’—आप्तप० का० ११४ । यद्व० बृह० श्लो० ४८, ५२ । (६) मुक्तात्मनोऽपि प्रधानकृतकमफलानुभवानुपपन्नात् ।—आप्तप० का० ११४ । (७) चेतनत्वादेव । (८) मुक्तात्मवत् कमफलाभिसम्बन्धः । (९) तुलना—‘कर्तृ नाम विजानन्ति गृहादीन् सर्वथा गुणाः । भोक्तुं च न विजानन्ति किमयुवतमतः परम् ॥’—चतुःश० १०१६ । कर्तुं नाम प्रजानाति प्रधानं व्यञ्जनादिकम् । भोक्तुञ्च न विजानाति किमयुवतमतः परम् ॥—तत्त्वस० श्लो० ३०० । (१०) पृ० ८१४ प० ८ । (११) द्रष्टव्यम्—पृ० १९३ टि० २ । (१२) पृ० १९३—(१३) बुद्धिदृष्टान्तवत्त्वेन ।

एतेन 'चिच्छक्तिरपरिणामिनी' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, अपरिणामिन कस्य चिद्वस्तुत्वानुपपत्ते सपुष्पवत् । ननु मुक्तस्यात्मन शुद्धस्याऽपरिणामित्वेऽपि वस्तुत्व भवद्विरिष्टम्, इत्यप्यनल्पतमोविलसितम्, तस्यापि प्रतिसमय परिणामित्वप्रतिज्ञानात् प्रतिसमय दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामित्वानुपपत्ते । न च दृश्य वस्तु (वस्तु) परिणाम्येव इत्यभिधातव्यम्, साख्यैस्तस्य परिणामित्वाऽभ्युपगमात् । अथ चिच्छक्ति अप्रतिसङ्क्रमत्वादपरिणामिनीत्युच्यते, तत्र, अस्या प्रतिविषय दर्शितविषयत्वे प्रति-सङ्क्रमोपपत्ते । बुद्धेरेव तथा प्रतिसङ्क्रमो न चिच्छक्ते, इत्यप्युक्तम्, बुद्धेरप्येवम् अप्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात्, 'विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् । बुद्ध्याध्यवसीयमानस्य निषयस्य प्रतिसङ्क्रमसभवे बुद्धे कथं तदसंभव इति चेत् ? तर्हि बुद्धे विषयप्रदर्शिकाया प्रतिसङ्क्रमे तद्विषयपश्यन्त्याश्चिच्छक्तेरपि कथमप्रतिसङ्क्रम ? यथैव हि प्रतिनियत विषय चिच्छक्तये दर्शयन्ती बुद्धि सङ्क्रामति तथा क्रमेण चिच्छक्तिरपि त पश्यन्ती विशेषाभावात् । कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषयाऽसौ स्यात् ?

किञ्च, यदा बुद्ध्या विषय तस्यै प्रदर्श्यते तदा प्राचीनम् अदर्शितस्वरूपमसौ त्यजति न वा ? न त्यजति चेत्, कथं प्रागवत्तदाप्यसौ दर्शितविषया स्यात् ? अथ त्यजति, कथमपरिणामिनी, अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानस्य परिणामित्वाविनाभावित्वात् ? अथ मतम्—चिच्छक्ते एक एवाऽभिन्न स्वभावस्तादृशो येन यो यत्र यदा यथा अर्थो बुद्ध्याऽध्यवसीयते त तत्र तदा तथा पश्यतीत्यतो दर्शितविषयत्वेऽपि अस्या न प्रतिविषय स्वभावभेद यत परिणामित्व स्यादिति, तदप्यसमीचीनम्, बुद्धेरप्येवमेकस्वभावत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्—बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषया

(१) पृ० ८१४ प० १२ । (२) अदर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानादवस्थिताया एव तस्या परिणामित्वसिद्धि ।—युक्तघन० टी० पृ० ३० । (३) मुक्तात्मनोऽपि । स हि सवत् पूर्वोक्त स्वभावत्यागोपादानाभ्यामवस्थितस्वभाव परिणाम्यव सर्वाथान पश्यति नायथा प्रतिसमय दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामानुपपत्त । न चायं दृश्यमथमपरिणामिन वक्तु समर्थ, स्वयं तस्य परिणामित्वोपगमात् सिद्धान्तपरित्यागानुपपत्तात् ।—युक्तघन० टी० पृ० ३० । (४) दृश्यस्य । (५) 'प्रति विषयं दर्शितविषयत्वे सत्रमात् । तथा बुद्धेरेव प्रतिसङ्क्रमो न तु चिच्छक्तेरिति चेत् न बुद्धेरप्यप्रति सङ्क्रमप्रसङ्गात् विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् ।—युक्तघन० टी० पृ० ३० । (६) यथैव हि विषय प्रतिनियत दण्यती बुद्धिश्चित्तागतये सत्रामति तथा क्रमेण चित्तागततरपि पश्यन्ती विगपाभावात् । कथमन्यथा त्रमण दर्शितविषया स्यात् ।—युक्तघन० टी० पृ० ३१ । (७) विषयम् । (८) सत्रामति इति वाक्यगप । (९) चिच्छक्ति । (१०) चिच्छक्तेः । (११) 'तथा बुद्धेरप्येव स्वभावत्व प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तु बुद्धेरेक एव त्रमभाव्यनेकविषयव्यवसायस्वभावो यत्र यथाकाठ यथादेश यथा प्रकारश्च विषयमध्यवस्यतीति न किञ्चिदनेकस्वभाव सिद्धयत् ।—युक्तघन० टी० पृ० ३२ ।

1 तेन थ० । 2—मिथ्वप्रति—आ० । 3 परिणामव थ० । 4 इत्यतदप्ययु—व० । 5 विषयस्यैव प्रतिसङ्क्रमप्रसङ्गात् इति नास्ति व० । 6 प्रतिसङ्क्रमे वृ—य० । 7 प्रतिनियतविषय व० । 8 स्वस्यै व० । 9 अदर्शितस्वरूप—व० ।

ध्यवसायस्वभावो येन यो यत्र यदा यथाऽवस्थितोऽर्थः तं तत्र तदा तथा अध्यवस्यतीति । तथा इन्द्रियमनोऽहङ्कारादीनामपि विषयाऽऽलोचनसङ्कल्पनाऽभिमननाद्येकस्वभावत्व-  
प्रसङ्गात् न कश्चित् स्वभावभेदः सिद्धेत् ।

यदपि—चिच्छक्तेरप्रतिसङ्क्रमसिद्धौ शुद्धत्वादिति साधनमुच्यते; तदप्यसाधु;  
यतः शुद्धात्मनोऽशुद्धपरिणामसङ्क्रम एव विरुध्यते न पुनः शुद्धपरिणामसङ्क्रमः । ननु  
शुद्धपरिणामेनापि चिच्छक्तिरप्रतिसङ्क्रमा अनन्तत्वात्; इत्यप्यचारु; प्रकृत्या अनेका-  
न्तात्, अनन्तत्वेऽपि हि तस्याः महदादिपरिणामसङ्क्रमः सांख्यैरभ्युपगम्यते ।

यदप्युक्तम्—‘पङ्ग्वन्धयोरिव’ इत्यादि; तदतीवाऽसङ्गतम्; दृष्टान्त-दार्ष्टान्ति-  
कयोर्वैषम्यात्, पङ्ग्वन्धयोर्हि चेतनत्वात् इदमित्थमेव अस्मदिष्टं कार्यं सेत्स्यतीति  
सम्प्रधार्य अन्योन्यापेक्षयोः प्रवृत्तिर्युक्ता, ननु प्रकृतिपुरुषयोः विपर्ययात् ।

यत्पुनरुक्तम्—‘चिद्रूपस्यापि अस्य अज्ञानतमश्छन्नतया’ इत्यादि; तत्र किम्  
अज्ञानमेव तमः, उत अज्ञानञ्च तमश्च इति ? प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थमपि  
सुखादिफलं किञ्च आत्मस्थं मन्येत, तदुपभोक्ता च किञ्च स्यात्, तस्यापि ज्ञानाभावतो-  
ऽज्ञानतमश्छन्नत्वाऽविशेषात् ? द्वितीयपक्षे तु किमिदम् अज्ञानादन्यत् तमो नाम ?  
रागादिकमिति चेत् ; न ; तस्य आत्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतया आत्माच्छाद-  
कत्वानुपपत्तेः । तर्थाभूतेनापि तेन तदाच्छादने मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यादविशेषात् ।  
अथ अधिकारिण एव तद् आच्छादकम् न मुक्तात्मा(त्म)नः; ननु किमिदमधिकारित्व  
नाम ? यं प्रति प्रधानं प्रवृत्ताधिकारि सोऽधिकारीति चेत् ; न ; प्रधाने प्रवृत्ताधि-  
कारित्वस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

यदप्युक्तम्—‘विवेकख्यातेः’ इत्यादि; तत्र ‘केयं विवेकख्यातिर्नाम ? प्रकृतिपुरु-  
षयोः स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयोः भेदेन प्रतिभासनमिति चेत् ; सा कस्य—प्रकृतेः;

(१) “शुद्धात्मनोऽपि स्वशुद्धपरिणामप्रतिसङ्क्रमाविरोधात् तत्राशुद्धपरिणामसङ्क्रमस्यैवासम्भ-  
वात् ।”—मुक्तपु० टी० पृ० ३१ । (२) “प्रकृत्या व्यभिचारात् । सापि ह्यनन्ता । सान्तत्वेऽपि नित्य-  
त्वविरोधात् ।”—मुक्तपु० टी० पृ० ३१ । (३) पृ० ८१५ प० २ । (४) तुलना—“अचेतने हि निरिदङ्कुशे  
प्रधाने बन्धुरि मुतरामनिर्माशे. स्यात् । तर्थावदमपि पुमास न बध्नाति प्रकृतिरिति कोऽस्या नियन्ता ?  
पङ्ग्वन्धन्यायेन सयोगस्य तुल्यत्वात् ।”—न्यायम० पृ० ४९१ । (५) पृ० ८१५ प० ८ । (६) “यतः  
विमज्ञानमेव तम. उत अज्ञानञ्च तमश्चेति ।”—पद्द० बृह० श्लो० ५२ । (७) मुक्तात्मनोऽपि ।  
(८) मुक्तिदशाया ज्ञानं विनश्यति अतः तेषामपि ज्ञानप्रध्वसात्मकमज्ञानमस्त्येव । (९) अत्यन्तभिन्न-  
प्रकृतिधर्मात्मकेनापि रागादिना । (१०) रागादिकम् । (११) पृ० ८१६ प० १ । (१२) “तत्र केय  
स्यातिर्नाम—प्रकृतिपुरुषयो. स्वेन स्वेन रूपेणावस्थितयो भेदेन प्रतिभासनमिति चेत् ; सा कस्य—प्रकृते,  
पुरुषस्य वा ?”—पद्द० बृह० श्लो० ५२ ।

१ इदमिच्छमेव आ०, ब० । २ विपर्ययं स्यात् ब० । ३ अधिकारि एव ब० । ४ ‘न मुक्तात्मानः’  
नास्ति आ०, थ० । ५-धिकारी चेत् आ०, थ० । ६ केयां वि-ब० ।

पुरुषस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्यचित् ? न तावत्तद्व्यतिरिक्तस्य, प्रकृति पुरुषव्यतिरे-  
 केण अन्यस्य कस्यचिदपि सारयैरनभ्युपगमात् । नापि प्रकृते, तस्या असवेद्यपर्वणि  
 स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च । नापि पुरुषस्य, तस्याप्यसवेद्यपर्वणि  
 स्थितत्वात् । अतः प्रकृतिपुरुषयो असवेद्यपर्वणि स्थितयो स्वरूपमात्रस्याप्रतिभासे  
 त्रिवेकेन ख्याति<sup>१</sup> अतिदुर्घटा । घटपटादौ हि स्वस्वरूपेण सवेद्यपर्वणि स्थिते कुतश्चि-  
 द्विभ्रमनिमित्तात् त्रिवेकेनाऽप्रतीते यथास्थितवस्तुप्रतिभासिप्रमाणवशाद् विवेकेन  
 ख्यातिर्दृष्टा, न चात्र एतदति ।

स्त्रिभ्र, त्रिवेकेन ख्याति. तत्रिभ्रय, सा च बुद्धिधर्मत्वाद् भवन्मते पुरुषे न  
 सभ्रति । सभवे वा सा ततो भिन्ना, अभिन्ना वा स्यात् ? यद्यभिन्ना, तदा आत्मवत्त्-  
 रापि नित्यत्वानुपपन्नात् न कदाचिदमुक्तप्रसङ्ग । भिन्ना चेत्, अस्तु, तथापि—असौ  
 नित्या, अनित्या वा ? यदि नित्या, किं सम्बद्धा असम्बद्धा वा ? असम्बद्धा चेत्, क्व  
 तस्येति व्यपदिश्येत ? अमम्बद्धाया अपि तस्यै तेन व्यपदेशे सर्वेण सह व्यपदेशप्र-  
 सङ्गात् न कस्यचिदपि ससार स्यात् । अथ सम्बद्धा, न, नित्ययोस्तयो अन्योन्यमनु-  
 पपन्नरूपयो कस्यचिदपि सम्बन्धस्यानुपपत्ते । उपपत्तौ वा तस्यापि नित्यत्वात् सदात्मनो  
 मुक्तिप्रसङ्ग । अथ अनित्या<sup>२</sup> त्रिवेकख्याति., नन्वनित्या सती असौ जन्वा, अजन्वा वा ?  
 तत्र अनित्यायास्तस्या घटादिवदजन्यत्वानुपपत्ति. । जन्यत्वेऽप्यस्या किम् आत्मना,  
 प्रकृत्या, तद्व्यतिरिक्तेन वा केनचिदसौ जन्येत ? न तावत् तद्व्यतिरिक्तेन, प्रकृति-पुरुष-  
 व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि तज्जनकस्याऽनभ्युपगमात् । नाप्यात्मना, तस्य जनकत्वानभ्यु-  
 पगमात् । अभ्युपगमे धा प्रकृतिवियुक्तेन, तत्सहितेन वा तेनासौ जन्येत ? प्रथमपक्षे  
 चक्रप्रसङ्ग—सिद्धे<sup>३</sup> हि विवेकख्यातेर्जन्यत्वे प्रकृतिपुरुषयोर्वियुक्तत्वसिद्धि, तत्सिद्धौ  
 च तद्व्युक्तेन आत्मना विवेकख्यातेर्जन्यत्वसिद्धिरिति । तत्सहितात्मन्यत्वे तु सर्वत्र  
 सर्वदा सर्वत्र मोक्ष<sup>४</sup> स्यात्, तथा सर्वत्र सर्वदाऽविशेषतः तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

यदपि—'विज्ञातविरूपाहम्' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यचर्चिताभिधानम्, प्रकृते-

(१) प्रकृति । (२) जनककोटौ । तस्या असवेद्यपर्वणि स्थितत्वादन्ततत्वादानभ्युपग  
 माच्च. —वृ० २० बह० श्लो० ५२ । (३) ज्ञयकोटौ । (४) विवेकख्यातावपि । (५) विवेकख्यात ।  
 (६) पुरुषस्यपि व्यपदेशः । (७) सम्बन्धस्यापि । (८) आत्मन । (९) विवेकख्याति । (१०)  
 १०० ८१६ १०० २ । (११) तुङ्गा— अचतनत्वान्, तथाहि—अचतनतया प्रपानस्य बहमनन दृष्ट  
 (५७) यथा विज्ञातविरूपाहम् विज्ञानानाव प्रवक्तुं प्रवृत्तिरविगच्छत्यन्मन्त्रिसङ्गत्तन । —प्र० १० व्यो० १०  
 २० १०१ इत्यादिभिः विज्ञानानि चन् भवन्, न ह्यसौ एवतलीज्जनदुपदगृहीता नि सन्त्युपयोगो

१-निरतिरिक्तपटा आ० । २-तीन य-आ० । ३ विवेकस्य ख्याति आ० । ४ तावद्व्यतिरि-  
 क्त । ५-ना जनक-व०, —नास्याजनक-य० । ६ घ आ० । ७ हि नास्ति आ० । ८ तु सर्वदा  
 ९, १० । ९ विज्ञानविक-आ० ।

जडतया इत्थ विज्ञानानुपपत्ते । न सलु जडस्वरूपो घटादि विरूपतकतयाऽहमनेन ज्ञातोऽतो नैतस्मै फल सम्पादयामि' इति स्वयं सवेदगमानो दृष्ट जडानडयो स्वरूप सङ्करप्रसङ्गात् । स्वरूपप्रतिपत्तो हि परमुखप्रेक्षित्व जडस्य स्वरूपम् तन्निरपेक्षत्व तु अजडस्य तदित्य संकीर्येत ।

किञ्च, विज्ञातापि प्रकृति ससारदशात् मोक्षदशायामपि आत्मनो भोगसम्पादनाय स्वभावतो वायुवत् प्रवर्त्तताम् तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात् । नहि प्रवृत्तिस्वभावो वायु विरूपकतया येन ज्ञात त प्रति तैस्वभावाद्दुपरमते, अत कुतो मोक्ष स्यात् ? तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपतानुपपत्ति, पूर्वस्वभावत्यागेन उत्तरस्वभावोपादानस्य तत्र विरोधात्, परिणामिनित्ये एव तदविरोधात् । प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे आत्मनोऽपि तदभ्युपगन्तव्यम्, तस्यापि प्राक्तनसुखाद्युपभोक्तृस्वभावपरिहारेण तदभोक्तृस्वभावरक्षीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तादिस्वभावोपादानाच्च । सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वमस्याऽभ्युपगन्तव्यम्, इति सिद्ध - मोक्षेऽप्यात्मा विशुद्धज्ञानादिस्वभाव इति ॥ छ ॥

ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावताऽऽत्मनोऽनुपपन्ना बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेद विश्वगुणाच्छेदरूपा रूपत्वात्तस्य । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन हि आत्मस्वरूपे प्रतिपन्ने मन प्रणिधाना- 10 मुक्तिरिति वागस्य नपूर्विकाया भावनाया प्रर्कप्रप्राप्ताया परिपाक प्राप्ते तत्त्वज्ञाने नवाना पूर्वपक्ष - मात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वस्वरूपेण आत्मनोऽवस्थान मोक्ष ।

गतीभाष्या पण्यवन्तिव नातो नियमेन व्यवहृतमहतीत्यास्तामेतत् । - यायमं० पृ० ४९२ । प्रकृते जडतयत्थ विज्ञानानुपपत्ते । पडव० बृह० श्लो० ५२ ।

(१) घटादेरपि स्वयं विवेकेन प्रवृत्ती । (२) तुलना- अस्या जचेतनतया विमृश्यकारित्वा भावात् । यद्य कृतेऽपि गन्द्याद्युपलभ्य पुनस्तदथ प्रवर्तते तथा विवकरयाती कृतायामपि पुनस्तदथ प्रवर्तिष्यते स्वभावस्यानपायित्वात् । - प्रश्न० क० द० पृ० ४ । पडव० बृह० श्लो० ५२ । (३) प्रवर्तक स्वभावात् । (४) सिद्ध चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामरपि परिणामित्वमस्याभ्युपगन्तव्यमयथा मोक्षाभावप्रसङ्ग । - पडव० बृह० श्लो० ५२ । (५) नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्माक्ष । - प्रश्न० व्यो० पृ० ६३८ । आत्यन्तिकी दु खव्यावृत्तिरपवर्गो न सावधिका द्विविध दुःखावर्गिणा सवनाम्ना सवपामात्मगुणाना दुःखावर्गाद् अत्यन्तग्रहणन च सर्वात्मना तद्वियोगाभिधानात् नवानामात्मगुणाना बुद्धिमुखदु खच्छाद्वयप्रयत्नघर्माधमसकाराणा निमूलोच्छदोपवग इत्युक्तं भवति । यावदात्मगुणा सर्वे नोच्छिन्ना वासनादय । तावदात्यन्तिकी दु खव्यावृत्तिर्नावकल्पते ॥ - यायमं० पृ० ५०८ । (६) ननु तस्यामवस्थाया कीदगात्मावशिष्यते ? स्वरूपकप्रतिष्ठान परित्यक्तोऽखिलगुण ॥ - यायमं० पृ० ५०८ । समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव । - प्रश्न० क० द० पृ० २८७ । निश्चयस पुनदखनिवृत्तिरात्यन्तिकी - प्रश्न० किर० पृ० ६ । तस्मिन्नेतत् नित्यं सवेद्यम् अनन सुखन विगिष्टा आत्यन्तिकी दु खनिवृत्तिं पुरुषस्य मोक्ष इति । - न्यायसा० पृ० ४१ ।

1 जडस्वरूपो व० । 2-तस्य फल व० । 3 स्वयं वेदय-थ० । 4 सकीर्यते व० । 5 विरूपतया आ०, थ० । 6-स्तुस्वत्वभा-थ० । 7-च्छदस्वरूप-व० ।

तदुच्छेदे च प्रमाणम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तान-  
त्वात्, प्रदीपादिसन्तानत् । नचायमसिद्धो हेतुः, पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात् । नापि विरुद्धः,  
सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात् । नाप्यनैकान्तिक ; पक्षसपक्षद् विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः ।  
नापि कालात्ययापदिष्टः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरत्राऽसम्भवात् । नापि  
सत्यविपक्षः, प्रतिपक्षप्रसाधकानुमानासम्भवात् ।

ननु सन्तानोच्छेदरूपेऽपि मोक्षे रुद्धिद्वेतुर्वक्तव्यः 'निर्हेतुकविनाशाऽनभ्युपगमात्  
इति च न शङ्कनीयम्, तच्चैवज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वात् । तत्सल्लु विपर्ययज्ञानव्यच्छेदकमेण  
नि श्रेयसहेतुः । दृष्टञ्च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम् । निर्वृत्ते  
च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो निवर्त्तन्ते कारणाभावे ऽकार्यानुत्पादात् । रागाद्यभावे  
च तत्कार्या मनोवाक्यायप्रवृत्तिः व्यावर्त्तते । तद्व्यावृत्तो च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः ।  
आरब्धशरीरेन्द्रियविषयकार्ययोस्तु सुरादिफलोपभोगात् प्रक्षयः, अनारब्धतत्कार्ययोर-  
प्यवस्थितयो तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः । तथा चागमः-

“नामुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि” [ इति । ]

(१) 'नवानामात्मगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो य सन्तानं स मोक्षयन्त-  
मुच्छिद्यमानो दृष्टं यथा प्रदीपसन्तानं, तथा चायं सन्तानं, तस्मात् अत्यन्तमुच्छिद्यते ।'-प्रश्न० ध्यो०  
पृ० २० क० । "दु खसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपस ततिवदित्याचार्या ।"-प्रश्न० किर०  
पृ० १ । (२) 'ज्ञानपूर्वकात् वृतादसकल्पितफलाद् विमुद्धे कुत्रे जातस्य दु खविगमोपायजिज्ञासोरा-  
चार्यमुपसङ्गम्य उत्पन्नप्रपट्पदाद्यतत्त्वज्ञानस्य अज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वपाद्यभावात् तज्जयोर्धर्मा-  
धर्मयोरनुत्पत्तौ पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगाद्विरोधे सन्तोपमुख शरीरपरिच्छेदञ्च उत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ  
निवृत्तिलक्षण केवलो धर्म परमायं दशनत्र मुक्त कृत्वा निवर्तते । तदा निरोधाद्विर्जस्य आत्मन  
शरीरादिनिवृत्तिः, पुन शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धग्नानालवद्रुपसामो मोक्ष इति ।'-प्रश्न० भा० पृ० ६४४ ।  
'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविधापसमवायानां पण्णां पदार्थानां साधम्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं नि श्रेयसहेतु ।'-  
प्रश्न० भा० पृ० २० ज० । "तत्त्वज्ञानाप्रिधयसाधिगम -न्यायसू० १।१।१ । (३) 'दुसजन्मप्रवृत्ति-  
दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गं ।'-न्यायसू० १।१।२ । 'त इम मिथ्याज्ञानादयो  
दु गान्ता धर्मा ज्विच्छेदेनैव प्रवर्त्तमाना समा र इति । यदा तु तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा  
मिथ्याज्ञानापाय क्षाया अपयानि दोषापाय प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्तपाय जमापैति, जन्मापाय दु खमपैति,  
दु गाराय चात्यन्तिकागवर्गो निश्च यसमिति ।'-न्यायभा० १।१।२ । तथा ह्युपलब्ध सम्यग्ज्ञानस्य  
मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ सामर्थ्यं शक्तिकादाविति ।'-प्रश्न० ध्यो० पृ० २० क० । (४) 'निवृत्तं च मिथ्याज्ञानं  
न मूलतः सान्नायदयो नश्यति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादादिति । रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्या  
यत्र, तदभावे च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः । आरब्धकाययोश्चोपभोगात् प्रक्षयः ।'-प्रश्न० ध्यो० पृ० २०  
क० । (५) उदशोऽयम्- 'यथोत्तम्-नामुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमनुभोस्तस्य दृढ  
कर्म गुणानुभवः ॥'-प्रश्न० ध्यो० पृ० २० ख० । धर्मसं० सू० पृ० २२५ । प्रमेयक० पृ० ३०८ । समन्ति०  
पृ० १०५ । चिन्मु० पृ० ३५१ । 'अवश्यमव भोक्त -धर्मवि० टी० पृ० १३ ।

१ पदादित-ब० । २ ननु त सन्ता-ब०, थ० । ३ निर्हेतुविना-आ० । ४ न राकनीयम् तत्र  
ज्ञान-आ० । ५ एवदन्वयत पाठो नास्ति जा० । ६-नूपरि० थ०, ब० । ७ 'इति' नास्ति थ० ।



अत्रैवार्थे अनुमानम्—पूर्वकर्माणि उपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरादिकर्मवत् । नच उपभोगात् तत्प्रज्ञये कर्मान्तरस्यावश्यम्भावात् संसारानुच्छेदः, समाधिबलादुत्पन्न- तत्त्वज्ञानस्य अवगतकर्मसामर्थ्यात्पादितयुगपदेशेषशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य उपात्त- कर्मप्रज्ञयात् भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिध्याज्ञानजनिताऽनुसन्धानविकलत्वाच्च संसारो- च्छेदोपपत्तेः । अनुसन्धानं हि रागद्वेषौ, 'अनुसन्धीयते गतं चित्तमाभ्याम्' इति व्युत्पत्तेः । 5

अथ मिध्याज्ञानभावे तत्त्वज्ञानिनः तदुपभोक्तुमभिलाषस्यैवाऽसंभवात् तदुप- भोगानुपपत्तिः; तत्र, तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तितः तस्यैवज्ञानिनः तदुप- भोक्तुमभिलाषाभावेऽपि कर्मक्षयार्थितया तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः वैद्योपदेशेन आतुरवदौषधा- चरणे । यथैव हि आतुरस्य अनभिलषितेऽपि औषधाचरणे व्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः तद्व- तिरेकेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेः, एवमत्रापि । 'विवादापन्नः शरीरादिनिवृत्तौ आत्मा सर्ववैषयि- 10 कमुत्सदुःखशून्यः, समस्तधर्माधर्मशून्यत्वात्, यस्तु वैषयिकमुत्सदुःखवान्नासौ समस्तधर्मा- धर्मशून्यः यथा संसार्यात्मा, समस्तधर्माधर्मशून्यश्च मुक्तात्मा, तस्मात् सर्ववैषयिकमुत्स- दुःखशून्यः' इत्यनुमानात्, "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा सन्त प्रियाप्रिये न स्पृशतः" [ छान्दो० ८।१२।१ ] इत्यागमाच्चासौ तदौ तर्ह्यन्यः सिद्ध इति ॥४॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'सन्तानत्वात्' इत्यादि, तदसमीचीनम्; 15

तत्प्रतिविधानपुरस्सरं यस्माद् आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां सन्तानस्य मादस्य ज्ञानाद्यात्म- उच्छेदः प्रसाध्यते, अथ अभिन्नानाम्, कथञ्चिद्भिन्नानां वा ? तत्रा- क्लवप्रसाधनम्— शपक्षे आश्रयासिद्धौ हेतुः; आत्मनोऽत्यन्तभिन्नानां तद्विशेषगुणानां

(१) "पूर्वकर्मान्युपभोगादेव क्षीयन्ते, कर्मवत्, यद्यत्कर्म तत्तदुपभोगादेव क्षीयते यथाऽऽरब्ध- शरीरं कर्म, तथा चामूनि कर्माणि, तस्मादुपभोगादेव क्षीयन्ते ।"—प्रश्न० ब्यो० पृ० २० ख० । (२) "समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानो हि कर्मणाञ्च साध्यमर्थं विदित्वा युगपच्छरीराणि निर्मायोपभोग" —प्रश्न० ब्यो० पृ० २० ख० । (३) "जानन्नपि हि तदर्थितया प्रवर्तत एव वैद्योपदेशादातुरवदौषधाचरण" —प्रश्न० ब्यो० पृ० २० ख० । (४) "तस्य च न ह वै सशरीरस्य सत प्रियाप्रिययो बाह्यविषयसयो- गवियोगिनमित्तयो बाह्यविषयसयोगवियोगो ममेति मन्यमानस्य अपहतिविनाश उच्छेद सन्ततिरूपयो- नास्तीति । त पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्तिताऽऽविवेकज्ञानमशरीरं सन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत । स्पृशति प्रत्येकं सम्बध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रियं न स्पृशतीति वाच्यद्वयं भवति धर्मा- धर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मयोरसम्भवात्तत्कार्यभावो दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशत ।"—छान्दो० शा० भा० । उद्धृतोऽयम्—न्यायम० पृ० ५०९ । ब्रह्म० शा० भा० १।१।४ । यश० उ० पृ० २५४ । स्या० र० पृ० १११० । प३६० बृह० श्लो० ५२ । स्या० म० पृ० ७२ । न्यायसारटी० पृ० २८३ । चित्तु० पृ० ३५३ । (५) अशरीरावस्थापाम् । (६) वैषयिकमुत्स- दुःखप्रयोजकधर्माधर्मशून्यः । (७) पृ० ८२४ प० १ । (८) तुलना—"यत आत्मन सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानां सन्तानस्योच्छेदं साध्यते, अभिन्नानां वा, कथञ्चिद् भिन्नानां वा ?"—प३६० बृह० श्लो० ५२ । प्रमेयक० पृ० ३१७ ।

प्रागेऽसत्त्वप्रतिपादनतस्तत्सन्तानस्य धर्मिणोऽसिद्धे । तथा तेषां भैषथा अस्यसवि-  
दितत्वोपगमात्, ज्ञानान्तरवेद्यत्वे च अनवस्थादिदोषानुपपन्नात्, अज्ञातानाञ्च सत्त्वा-  
ऽसभवादितोऽप्याश्रयासिद्धत्वम् । आत्मन सर्वथाऽभिन्नाना तु तेषा तत्साधने  
तद्वत्तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्ष स्यात् ? कथञ्चित्तदभेदस्तु परैर्नाभ्युप-  
गम्यते अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तथापि तदभ्युपगमे सर्वथा तदुच्छेदासिद्धि कथ-  
ञ्चित्तदनुच्छेदस्याप्येव प्रसिद्धे ।

सन्तानत्वञ्च साधन सामान्यरूपम्, विशेषरूप वा ? यदि सामान्यरूपम्,  
तदा स्वरूपासिद्धो हेतु, व्यक्तिभ्य सर्वथा भिन्नस्यास्य सामान्यपरीक्षाया प्रतिक्षिप्त-  
त्वात् । अस्तु वा तद्रूप तत्, तथापि परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूप वा स्यात् ?  
प्रथमपक्षे गगनादिनाऽनेकान्त, अत्यन्तोच्छेदाभावेऽपि अत्र सत्तापरपर्यायस्य सन्तान-  
त्वहेतो सद्भावात् । अथ अपरसामान्यरूपम्, विशेषगुणाश्रिता हि जाति सन्तान-  
त्वम्, तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपे तस्यासभवात् साधनविकलो दृष्टान्त ।

अथ विशेषरूपम्, तत्रापि उपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिक्षणलक्षणविशेषरूपम्,  
पूर्वापरसमानतातीयक्षणप्रवाहमात्ररूप वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वम्य असाधारणाऽनेका-  
न्तिकत्वम्, तद्वक्षणस्यास्य अन्यत्र कचिदप्यप्रवृत्ते । अभ्युपगमनिरोधञ्च, बुद्ध्यादि-  
क्षणानाम् उपादानोपादेयभावस्य यौगैरनभ्युपगमात्, अन्यथा तत्सन्तानस्य अत्यन्तो-  
च्छेदो न स्यात् मुक्तावस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणाद् उत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्या-  
दिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु पाकपरमाणुरूपादिना अनेकान्त, तथाविध-

(१) बुद्ध्यादिगुणानाम् । तुलना तथा बुद्ध्यादीना विद्यपगुणाना परेण स्वसविदितत्वेना  
नभ्युपगमान् नानान्तरग्राह्यत्वे वाऽनवस्थादिनेष्वसत्त्वेरवच्छेदमित्यन्तस्य सत्त्वासिद्ध पुनरप्याश्रया  
मिदं सन्तानत्वानिति हेतु । समति० टी० पृ० १५६ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । (२) वयपिक्वण ।  
(३) विद्यपगुणव्यभिचारी । (४) कथञ्चित्तदभेदप्रकारेण । (५) सन्तानत्व हेतुत्वेनोपादीयमान  
यदि सामा यमनिप्रत तत्र बुद्ध्यादिविद्यपगुणेषु प्रदीप च तेजोद्रव्य सत्तासामा यव्यतिरेकेण अपरसामा  
यस्यासभवात् स्वरूपासिद्ध । सत्तासामान्यरूपत्वात् वा सन्तानत्वस्य सत्सिद्धि त्रययहनुत्वमेव न पुन  
सन्तानत्रययहनुत्वम् -समति० टी० पृ० १५६ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । (६) पृ० २८७ । (७) तुलना-  
विद्युत्तापानापात्रभावप्रधान प्रयत्नमानवम सायकारणभावप्रधान प्रवृत्त अपरापरपर्यायत्वानिति  
मात्र वा ? -रत्नाकराव० ७५७ । प्रमेयक० पृ० ३१७ । 'ननु किमिदं सन्तानत्वम्-स्वतन्त्रम्  
अपरापरपर्यायत्वमात्र वा एकात्रयापरापरत्वमात्र वा ? -स्या० मं० पृ० ८३ । किं वायकारण  
भारत प्रवृत्ति, अकारणपरत्वमात्र वा ? -शायत्तारटी० पृ० २८७ । (८) सर्वसपक्षविशेषव्याव  
निरगापारण । -नकसं० अन्० । नत्रव तस्य तथानूनस्यायत्राननुवृत्तरसाधारणानकान्तिवचम  
अभ्युपगमविरोधदत्त । -समति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) मयप । (१०)  
तुलना- पर्यायपरमाणुरूपादिना अनेकान्त । -प्रग० वृ० पृ० ४ । अनकान्तिवदत्त

१ अगुणानाञ्च व० । २ तत्तत्त्वं तथापि व० । ३ अत्र सराभावेभ्यत्र सरापर-जा० ।  
४-वयपिक्वण थ० । ५-मयपमविरो-थ० । ६ उत्तरापादेयवृ-थ० ।

सन्तानत्वस्यात्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदासभवात् ।

विरुद्धाद्यं हेतुः, कार्यकारणक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य नित्यानित्यैकान्तयोर-  
सभवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य अनेकान्त एव प्रतिपादितत्वात् । सौध्यविकलश्च दृष्टान्त,  
प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासभवात्, तस्य स्वरूपान्तरेण अवस्थानात् । न च ध्वस्तस्यापि  
प्रदीपादे रूपान्तरेणावस्थानोपगमे प्रत्यक्षवाधा, वारिस्थिते तेजसि भासुररूपोपगमेऽपि  
तत्प्रसङ्गात् । अथ उष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसभवात् तत्र  
अनुद्भूतस्यास्य परिकल्पनम्, तर्हि प्रदीपादेरपि अनुपादानोर्ध्वोरेव अन्त्यावस्थातोऽ-  
परापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सच्यकृतकत्यादेरनुपपत्तोः, अत्यन्तसन्तत्यनुच्छेदोऽपि  
परिकल्प्यतामविशेषात् । प्रयोगैः—पूर्वापरस्वभावपरिहारावामिस्थितिद्वयपरिणामवान्  
प्रदीपादिः सत्त्वादिभ्यः पेटादिवत् । सत्प्रतिपक्षधाय हेतुः, तथाहि—बुद्ध्यादिसन्तानो  
नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानतयोच्छेदत्वात्, य एवधिध. स न तत्त्वे-  
नोपादेयः यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति ।  
नच प्रस्तुतानुमानादेव सन्तानोच्छेदोपलब्धेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतयोच्छेदत्वमसि-  
द्धमित्यभिधातव्यम्, अस्य अनेकदोषदुष्टतयाऽननुमानत्वप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अतोऽनुमानात् इन्द्रियज्ञाना बुद्ध्यादिविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः साध्येत, 15  
अतीन्द्रियाणा वा ? तत्राद्यविकल्पे सिद्धसाधनम्, अस्माभिरपि तत्र तदुच्छेदाभ्युपगमात् ।  
द्वितीयविकल्पस्त्वनुपपन्नः, अतीन्द्रियाणां तेषामत्यन्तोच्छेदे मुक्तौ कस्यचिदपि प्रद्युच्यनु-  
पाकजपरमाणुरूपादिभिः, तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽपि अत्यन्तोच्छेदाभावात् ।—सन्मति०  
टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराय० ७।५७ । श्या० मं० पृ० ८४ । श्रावसारटी०  
पृ० २८७ । चित्तु० पृ० ३५७ ।

(१) “विरुद्धधाय हेतुः, शब्दबुद्धिप्रदीपादिषु अत्यन्तानुच्छेदवत्त्वेव सन्तानत्वस्य भावात् ।  
—सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । रत्नाकराय० ७।५७ । पद्म० बृह० श्लो० ५२ ।  
(२) पृ० ३७२ । (३) ‘साधनविकलश्च दृष्टान्त, प्रदीपादेरत्यन्तोच्छेदासभवात्, तत्रसपरमाणुना  
भास्वरूपपरित्यागेन ग्रन्थकाररूपतयाऽवस्थानात् ।—पद्म० बृह० श्लो० ५२ । श्रावसारटी० पृ०  
२८७ । रत्नाकराय० ७।५७ । (४) उष्णजलस्थिते तेजोद्रव्ये । (५) भासुररूपस्य । (६) तुटना— तर्हि  
प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तिवध्न सन्ततिविपत्त्यभावमन्तरेण विपत्तिः सभवतीत्यनुमानत विन्न कल्प्यते  
तत्सन्तत्यनुच्छेदः ।—सन्मति० टी० पृ० १५७ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (७) पूर्वापरस्वभावपरिहाराङ्गी

—सन्मति० टी० पृ० १५८ । प्रमेयक० पृ० ३१८ । (९) किञ्चा द्वयज्ञाना बुद्ध्यादिगुणानामुच्छेद  
साध्यमानोऽस्ति उत अतीन्द्रियाणाम् ?—पद्म० बृह० श्लो० ५२ । (१०) तेष्यदृष्टहेतुत्वाना बुद्ध्या-  
दीनामात्मान्त करणसयोगज्ञाना च मुक्तौ निर्वृत्तिं तुवाणा न निवायन्ते, कर्मक्षयहेतुकयोस्तु प्रथममुत्ता-  
नन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमात्रक्षणास्ते न स्वस्था प्रमाणविरोधात् । तत कयञ्चिद् बुद्ध्यादिविगणपगुणाना  
निवृत्तिं कयञ्चिदनिवृत्तिभूक्तौ व्यथतिष्ठते ।—अष्टसह० पृ० ६८ । पद्म० बृह० श्लो० ५२ ।

१—पाठे स्वरूपा—व०, प्र० । २—स्वतरेयान्त्या—व० । ३ पदादिवत् आ० ।

पपत्ते । मोक्षार्थी हि सर्वो निरतिशयसुखज्ञानादिप्राप्त्यभिलाषेणैव प्रवर्तते न पुन सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदाभिलाषेण, अस्य केनचिदप्यनभिलषणीयत्वात् । न हि कश्चित् प्रेक्षावान् आत्मन सदगुणोच्छेदाय यतते तदुत्कर्षणार्थमेवास्य प्रयत्नप्रतीते । यदि हि मोक्षावस्थाया शिलाशकलकल्प अपगतसुखसवेदनलेश पुरुष सम्पद्यते तदा कृत मोक्षेण<sup>१</sup> ससार एव वरमस्तु यत्र सा-तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरस्ति । तच्चिन्त्यतामिदम्- किम् अल्पसुखानुभवो भद्रक, किं वा सकलसुखोच्छेद<sup>२</sup> इति ? अतो न वैशेषिकोपकल्पिते निरिलगुणोच्छेदलक्षणे पापाणकल्पे मोक्षे कस्यचिद् गन्तुमिच्छाप्युपपन्ना । उक्तञ्च-

“वरं वृन्दावन रम्ये शृगालत्व प्रपद्यते ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गतुमिच्छति ॥” [ ] इति ।

विञ्च, मुक्तौ बुद्ध्यादिविशेषगुणानामभाव कारणाभावात्, निष्प्रयोजनत्वात्, विरुद्धत्वाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपक्षे कस्य कारणस्य तत्राऽभाव -चक्षुरादे, तत्प्रतिबन्धकापायस्य वा ? चक्षुरादेञ्चेत्, तर्हि तन्नन्यस्यैव ज्ञानादे तत्राभाव स्यात् नान्यस्य, अत सिद्धसाध्यता । ननु सर्वस्य ज्ञानादे धर्माधर्मशरीरेन्द्रियादिकारणकलापाधीनजन्मत्वात् तदभावे ज्ञानादेरेवाऽसभवात् कथं सिद्धसाध्यता ? इत्यप्यसाधीय, महेश्वरज्ञानाद्यभावानुपपन्नात् । नित्यत्वात् तज्ज्ञानादेरदोषोपयम्, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तन्नित्यत्वस्य ईश्वरनिराकरणप्रचट्टके<sup>३</sup> प्रतिव्यूढत्वात् । तत्र चक्षुराद्यपायेऽपि ईश्वरस्य प्रतिवधनापायप्रभव ज्ञानाद्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वद् अन्यमुक्तात्मनामपि तेषा तत्स्वभावत्वात् । नच स्वभावापाये तद्वतोऽयस्थान युक्तमतिप्रसङ्गात् । अथ मुक्तस्य कृतकृत्यतया ज्ञानादिना प्रयोननाभावात् मुक्तौ तदभाव, तत्र, प्रतिबन्धकापायोपेतस्य आत्मस्वरूपस्यैव एवविधत्वेन निष्प्रयोननचासिद्धे । अनन्तज्ञानादिलक्षणविशिष्टगुणावाप्तिरेव च आत्मन कृतकृत्यतान पुन निरिलगुणोच्छेद, गुणोत्कर्षे एव लोकेऽपि कृतकृत्यशब्दप्रयोगप्रतीते । एतेन विरुद्धत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्त, स्वरूपेण कस्यचिद्विरोधाऽसभवात् । मुक्तौ तेषा विरोधाभ्युपगमे च महेश्वरस्यैषा विरोधतोऽभावानुपपन्नात् लाभमिच्छतो मूलोच्छेद स्यात् ।

विञ्च, बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्यन्तिकोच्छेदस्य मोक्षरूपताया ससारस्वरूप यच्छब्दव्यम-तत्सल्लु तद्विशेषगुणानुच्छेद, भवान्तरावाप्तिर्वा स्यात् ? प्रथमपक्षे महेश्वरस्य ससारित्वप्रसङ्ग । ततोऽन्येषामेव तदनुच्छेद तद्वृक्षणम् अतो नार्थ्य ससारित्वानुपपन्न, इत्यपि भद्रामात्रम्, अर्धनरतीयन्यायानुसरणप्रसङ्गात् । असाधारण हि स्वरूप भावस्य

(१) अत्र वृन्दावने गून्वे गृगालत्व स इच्छति । न तु निधिपर्य मोक्षं वनाचिदापि गौतम । -सम्ब पवा० श्लो० ४२३ । विवरणप्र० प० १३७ । वरं वृन्दावन वाम गृगालत्व सहोपितम् -वचन० बह० श्लो० ५२ । वरं वृन्दावन रम्ये श्रेष्ठत्वमभिलाषिष्ठम् -स्या० मं० प० ८६ । (२) मुक्तौ । (३) प० १०८ । (४) अनन्तज्ञानादिविशिष्टत्वेन । (५) जानानीनाम् । (६) महेश्वरान्तिव्युत्पन्नानाम् । (७) ममारल णम् । (८) महेश्वरस्य । (९) दृष्टव्यम्-प० १६८ टि० ११ । १ कनकरत्नमाल-३० । २ इत्यप्यत्रमा-३० । ३ च नास्ति यः । ४ अतोस्य वा० ।

लक्षणम् । तद्यदि तदनुच्छेदः संसारलक्षणम्, तर्हि यत्रासौ अस्ति तत्र सर्वत्र संसारित्वप्रसङ्गः मुक्तस्वरूपेणास्य विरोधान् । द्वितीयपक्षे तु अस्मिन्नवसिद्धिः, 'स्योपात्तकर्म-पशाद् भवाद् भवान्तरावाप्तिः संसारः' इत्यस्माभिरभ्युपगमात् ।

किञ्च, अत्यन्तं बुद्ध्यादिगुणोच्छेदस्य मोक्षत्वे प्रदीपनिर्वाणवादिर्नः भवेत् को विशेषः स्यात् ? तत्र हि स्वरूपेण आत्मनोऽसत्त्वम्, भवन्मते तु सतोऽप्यस्य सर्वथा तद्विकलस्य ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथाभूतं हि तत्स्वरूपं प्रत्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः; मोक्षावस्थायां तस्यैवाऽसंभवात् । नाप्यनुमानतः; प्रत्यक्षाभावे भवन्मते अनुमानानुदयात्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तस्याभ्युपगमात् ।

यदपि—तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वमुक्तम्; तदुपपन्नम्; असकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदहेतुत्वं तु तस्यैनुपपन्नम्; स्वविरुद्धमिध्याज्ञानसन्तानोच्छेदहेतुत्वस्यैव तत्रोपपत्तेः शुक्तिकादौ तथादर्शनात् । ननु मिध्याज्ञाननिवृत्तौ रागार्थनुत्पत्तेः तत्पूर्वकधर्माप्रादुर्भावतः शरीराद्यसंभवे सिद्ध एव मोक्षदशयां सकलबुद्ध्यादिसन्तानोच्छेदः; इत्यप्यपेशलम्, शरीरादेरभावेपि अनन्तातीन्द्रियाऽऽखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्य उच्छेदासिद्धेः, इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानस्यैव तदभावेऽभावप्रसिद्धेः, तत्र च सिद्धसाधनम् इत्युक्तम् । अतीन्द्रियज्ञानादिसद्भावश्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रसाधितः ।

यत्तुक्तम्—'आरब्ध' इत्यादि; तदपि न सूक्तम्, उपभोगात् कर्मणामालम्बिकप्रक्षयानुपपत्तेः । तदुपभोगसमये हि अपरकर्मोत्पत्तिकारणस्य अभिलाषपूर्वकमनोवाकायव्यापारादेः संभवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवतः कथमालम्बिकप्रक्षयः ?

यदपि 'समाधिवलात्' इत्याद्युक्तम्, तदप्युक्तम्; अभिलाषरूपरागाद्यभावे सात्ति-

(१) ज्ञानाद्यनुच्छेदः । (२) ज्ञानाद्यनुच्छेदस्य । (३) "कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्ति संसार"—सर्वाधिसि० १।७ । "आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्ति संसार ।"—राजवा० २।१० । "यदवष्टम्भेनात्मन संसरणमितश्चेत्तश्च ममन भवति स संसार, अथवा बलवतो मोहस्यास्या संसार, नारकाद्यवस्था वा संसार ।"—तत्त्वार्थभा० व्या० २।१० । (४) बोद्धात् । "यस्मिन्न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाग्निप्रयसप्रयोग । नेच्छाविपत्रप्रियविप्रयोग क्षेमं पद नैष्टिकमश्नुत तत् । दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेत नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चित्त्रिदिश न काञ्चित्त्वेनेहृदयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ एव कृती निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् । दिश न काञ्चित्त्रिदिश न काञ्चित्त्वलेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥"—सौन्दरनन्द० १६।२७-२९ । (५) वैशेषिकस्य । (६) बोद्धमेत । (७) वैशेषिकसिद्धान्ते । (८) 'असत्त्वम्' इति शेषः । (९) सकलबुद्ध्यादिगुणशून्यम् । (१०) प्रत्यक्षास्यैव । (११) 'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्'—न्यायसू० १।१।५ । (१२) पृ० ८२४ प० ७ । (१३) तत्त्वज्ञानस्य । (१४) शरीराभावे । (१५) पृ० ८९-१ । (१६) पृ० ८२४ प० ११ । (१७) "उपभोगात् कर्मण प्रक्षये तदुपभोगसमये"—प्रमेयक० पृ० ३१९ । सन्मति० टी० पृ० १५९ । (१८) समुद्भवतः । (१९) पृ० ८२५ प० २ । (२०) "अभिलाषरूपरागाद्यभावे

१ तत्र संसार-व० । २ अत्यन्तबुद्ध्या-थ० । ३ भवता को आ० । † एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति आ०, व० । ४-अनुपपत्तेः आ० । ५ उच्छेदसिद्धेः आ० । ६ तदभावाभावप्र-व० । ७-समयो हि थ० ।

शयद्विमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि तत्त्वज्ञानादवगतकर्मसामर्थ्यस्य नानाशरीराणि विधाय अङ्गनाद्युपभोगाऽसभवात् । तैस्सभवे वा अवश्यम्भावी नृपत्नादेरिव अतिभोगिनो योगिनोऽपि प्रचुरतरकर्मसभवः ।

यदपि—'वैद्योपदेशेन' इत्याद्यभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्, आतुरस्यापि नीरुग्भावामभिलाषेणैव ओषध्याद्याचरणे प्रवृत्त्युपपत्तेः, अतः कथं तद्दृष्टान्तात् निरभिलापस्यापि तत्त्वज्ञानिनः तत्त्वज्ञानमात्रात् कर्मक्षयार्थितया अङ्गनाद्युपभोगः साधयितुं शक्यः, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् ? तत्र अशेषशरीरद्वाराऽवाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्तिः । किं तर्हि ? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य इत्यत्र विवादेन, जीवन्मुक्तेरिव परममुक्तेरपि त्रितयात्मकादेव कारणानुत्पत्तेः । ससारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकम् अतः तन्नियत्तैकेनापि 'त्रितयात्मकेनैव भवितव्यम्, एकरूपेण सम्यग्ज्ञानादिमात्रेण अस्य निवर्त्तयितुमशक्तेः । सम्यग्ज्ञानं हि विपरीताभिनिवेशविविक्त-ऽऽत्मस्वरूपस्वभावसम्यग्दर्शनोपचितं बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितं त्रितयात्मकमेव आगामिकर्मानुत्पत्तौ सञ्चितकर्मक्षये च समर्थम्, उष्णस्पर्शस्य भ्रूयिशीतस्पर्शानुत्पत्तौ प्रवृत्ततत्स्पर्शप्रध्वसे च सामर्थ्यवत् ।

यदपि—'विवादापन्नं शरीरादिनिवृत्तावात्मा' इत्याद्यनुमानम् 'न ह वै' इत्याद्यागमश्च आत्मनः सर्ववैषयिकसुखादिशून्यताया प्रमाणम्' इत्युक्तम्, तदप्युक्तमेव, सिद्धसाधनान्, शरीरादिनिवृत्तौ हि संस्तधर्मादिनिवृत्तेः तत्प्रभवमेव सुखादि मुक्तात्मनो निवर्त्तत न स्वात्मोत्थम् । यद्धि यत्कार्यं तत् तदभावे न भवति नान्यदतिप्रसङ्गात् । धर्माद्यभावे कुतस्तस्तेदुत्पत्तिः इति चेत् ? 'प्रेतविन्धापायात्' इत्यसकृदावेदितम् । अतः परमकाष्ठाप्राप्तं सम्यग्दर्शनादित्रयं परमप्रकर्षप्राप्तज्ञानादित्यरूपं मोक्षप्रसाधयतीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तैव्यमिति ॥ छ ॥

स्याद्युपभोगसभवात् ।—सन्मति० टो० पृ० १५९ । प्रमेयक० पृ० १३९ ।

(१) स्यादिभोगं क्रियमाणं तु । (२) पृ० ८२५ पं० ८ । (३) 'वचोपदेशप्रवृत्तमानानुदृष्टान्तोभ्यसगतः'—सन्मति० पृ० १६० । प्रमेयक० पृ० ३१९ । (४) योगिनः । (५) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि माहात्म्यानि ।—तत्त्ववाच्यम् १ । १ । 'नार्दसिण्ठस्य नापि नाणणं विद्या न हन्ति परमगुणाः । अगुणस्य च तस्य मोक्षस्यो न तस्य अमोक्षस्य निव्याण ॥'—उत्तरा० २८।३० । (६) संसारस्य । (७) पृ० ८२५ पं० १०, १३ । (८) तुलना— 'नुमा'भाद्युत्पत्तिरिपाकप्रभवेन भवसंभविनी हि त्रियात्रिय परस्परानुपपन्नं अस्त्वयं व्यवस्थितं, सकलादुत्पत्त्यकारणकं पुनरैकान्तिकात्मान्तिकरूपं कश्चनमत्र त्रियं निधयस्यदज्ञापामिष्यत तत्तुत प्रतिपिष्यत ?'—रत्नाकराव० ७।५७ । स्वा० मं० पृ० ८५ । पृ० ६० पृ० ५२ । (९) स्वामोत्थमुत्पादितम् ।

१ भोवपाप्मा-ब०, ५० । २-नुपपत्तिः आ०, ब० । ३-दृष्टान्तचारित्र-ध० । ४ कारणानुत्पत्ति ब०, कारणानुत्पत्ते आ० । ५ त्रयात्मकत्व ब० । ६-रूपस्य भावतामा-आ० । ७ तमस्तकर्मदि-ब० । ८ प्रतिपत्त्यकारण-ध० । ९ परमप्रकर्ष-आ० । १०-सम्यग् आ० ।

ननु परमप्रकर्षप्राप्तसुखस्वभावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादिस्वभावता, आनन्दरूपो मोक्ष तत्र प्रमाणाभावात् । सुखस्वभावतायां तु तत्सद्भावादसौ युक्ता । इति वेदान्तिना तथाहि—आत्मा सुखस्वभावः, अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, अतन्य-पूर्वपक्ष-परतयोपादीयमानत्वाच्च, यद् यदेवविध तत्तत्सुखस्वभावम् यथा वैषयिकं सुखम्, तथा चात्मा, तस्मात्सुखस्वभाव इति । तथा, आत्मा सुखस्वभावः, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेथोबुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकसुखवदिति । इष्टार्थो मुमुक्षुर्प्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादिप्रयत्नवत् इति । परमातिशयप्राप्तता च तत्सुखस्य अतोऽनुमानात्प्रसिद्धा—सुखतारतम्यं कचिद् विश्राम्यति, तारतम्यशब्दवाच्यत्वात्, परिमाणतारतम्यवदिति । तथा आगमोऽपि आत्मनो मोक्षे तैस्त्वभावतायां प्रमाणम्—

“आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते ।” [ ]

“यदा दृष्ट्वा पर ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम् ।

तदा तच्चित्तमानन्द मुक्तः स्वात्मनि विन्दति ॥” [ ] इति

श्रुतिसद्भावात् ।

ननु नित्यानन्दस्य आत्मनि सर्वदा सद्भावाभ्युपगमे संसारदशायामप्युपलम्भप्रस-

- (१) “एष एव ह्यानन्दयति” “आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कदाचन”—तैत्ति० २।७।४, ९ । “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्”—तैत्ति० ३।७ । “विज्ञानमानन्द ब्रह्म”—बृहदा० ३।१।२८ । “आनन्दमयोऽभ्यासात्”—ब्रह्मसू० १।१।१२ । “तस्मादानन्दमय पर एवात्मा”—शा० भा० । “ब्रह्मण्यानन्दशब्दोऽयं प्रयुक्त सुखवाचकः । सर्वे च सुखे लोके आनन्दाख्या प्रयुज्यते ॥”—बृहदा० वा० ३।१।१६६ । विव० प्र० पृ० २१६ । “इत्यनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिरेव स्वतः पुरुषार्थ इत्याहुः ।”—सिद्धान्तले० पृ० ५०९ । (२) “तदेतत्प्रेय पुत्रात्प्रेय अन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा आत्मानमव प्रियमुपासीत ॥”—बृहदा० १।४।८ । “आत्मनः सुखरूपत्वात् आनन्दत्व स्वलक्षणम् । परप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वमात्मनः ॥ सुखहेतुषु सर्वेषां प्रीति सावधिरीक्ष्यते । कदापि नावधि प्रीते स्वात्मनि प्राणिना क्वचित् ॥ आत्माऽत्र परमप्रेमास्पद सर्वेशरीरिणाम् । यस्य शेषतया सर्वमुपादेयत्वमृच्छति ॥ एष एव प्रियतम पुत्रावपि धनादपि । अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्माय परमात्तरः ॥”—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६०३-२७ । “आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात्”—सक्षेपशा० टी० पृ० ३०-३१ । “परमप्रेमास्पदत्वानुपपन्निरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।”—चित्तु० पृ० ३५८ । सिद्धान्तवि० पृ० ४४५ । (३) वित्तस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मार्यमुपादीयन्ते, परञ्चात्मन उपादानं तु नान्यार्यम्, स्वयमात्मा आत्मार्यमेवोपादीयते इत्यर्थः । (४) “प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् । आत्मार्यमेव नान्यार्यं नातः प्रियतम परः ।”—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६३० । (५) सुखस्वभावतायाम् । (६) ‘मोक्षेऽभिव्यज्यते’—प्रज्ञा० श्लो० पृ० २० ख० । “आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।”—वेदान्तसि० पृ० १५१ । तुलना—‘नित्य सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षऽभिव्यज्यते ।’—न्यायभा० १।१।२२ । न्यायमं० पृ० ५०९ । प्रकृतपाठ—सन्मति० टी० पृ० १५१ । पदद० बृह० श्लो० ५२ । (७) उद्धृतोऽयम्—पदद० बृह० श्लो० ५२ ।

ज्ञात् मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः इति च न वाच्यम्; नित्यानन्दस्य नित्यात्मनि सदा सद्भावेपि संसारदशायामावृत्तत्वेन अनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भसंभवाऽविरोधात्, योगाभ्यासादावरणप्रक्षये मोक्षावस्थाया तदभिव्यक्तेरुपलम्भः इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘आत्मा सुखभावः’ इत्यादि; तत्र किमिदं

- 5 मोक्षावस्थाया कथ- सुखभावत्वं नाम—सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्, सुखाधिकरणत्वं वा ?  
 श्रितित्यज्ञानादि- न तावत् सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्; गुणे एव अस्मि सद्भावात् ।§ नहि  
 प्रस्तावनम्— एका काचिज्जातिः द्रव्यगुणयोः आत्मसुखयोः साधारणा उपलभ्यते ।§  
 नापि सुखाधिकरणत्वम्; नित्याऽनित्यविकल्पाऽनतिक्रमात्—यस्य हि सुखस्य अधिकर-  
 णमात्मा तत्सुखं किं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्; आत्मनोऽपि तैत्स्वभा-  
 10 वतयाऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । न खलु स्वभावाभावे तद्वतोऽवस्थानं युक्तम् अतिप्रसङ्गात् ।  
 अथ नित्यम्; किं कथञ्चित्, सर्वथा वा ? यदि कथञ्चित्; जैनमतसिद्धिः, द्रव्यतो  
 नित्यस्य पर्यायतश्च अनित्यस्य कथञ्चिदाविर्भावतिरोभाववतः सुखपर्यायस्य आत्मनि  
 ज्ञानादिपर्यायवत् स्याद्वादिभिरभ्युपगमात् ।

ननु मुक्तौ सुखादिपर्यायस्य अपरापरस्य आविर्भावभ्युपगमे तत्कारणं वक्तव्यम्,

- 15 अकारणकस्य तत्पर्यायस्य आविर्भावानुपपत्तेः इति च न चेतसि निषेयम्; आत्मन  
 एव नत्प्रतिबन्धकापायोपेतस्य तत्र तैत्कारणत्वेन प्राक् प्ररूपितत्वात् । सौख्यादिप्रतिब-  
 न्धकरोहादिकर्मापायोपेतो हि आत्मैव मोक्षावस्थायां तथाभूतसुखज्ञानादिकारणम् घटा-  
 द्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकाऽपरप्रदीपक्षणोत्पत्तौ । किमपेक्षोऽसौ  
 तदा तैज्जनयतीति चेत् ? ‘तत्प्रतिबन्धकापायापेक्ष एव’ इति ब्रूमः । तथाभूतस्यास्यं  
 20 तदुत्पादनस्वभावतया तदाऽन्यापेक्षाऽनुपपत्तेः, यद् यदा यदुत्पादनस्वभावं न तत्तदा  
 तदुत्पादने अन्यापेक्षम् यथा अन्त्यानस्थायाम् अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने,  
 तदुत्पादनस्वभावश्च मोक्षावस्थायाम् अतीन्द्रियमुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मा

(१) ‘तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽप्रविद्यातिरोधानमेव बन्ध, विद्यानिमित्तस्तदस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम् ।’—चित्तु० पृ० ३६१ । ‘प्रत्यगेव परानन्दस्तिरोभूतं स्वमोहृतं । स्वकण्ठवा-  
 मोकरवत् प्राप्तप्राप्य स्वविद्यया ॥’—वे० सि० सू० ४ । १० । ‘यद्यपि संसारदशायामविद्यावृतस्व-  
 रूपत्वादात्मा परमानन्दरूपतया न प्रयत तथापि तत्त्वविद्ययाऽविद्यानिवृत्तौ स्वप्रकाशतया स्वयमेव  
 परमानन्दस्वरूपतया प्रकाशते’—सिद्धान्तवि० पृ० ४५० । (२) पृ० ८३१ प० ५ । (३) ‘तत्र यदि  
 सुखस्वभावत्व मुक्तत्वज्ञानिसम्बन्धित्वम्, तत्र आत्मनि सम्भाव्यते गुणे एवास्योपलम्भात् । न ह्येका-  
 हृद्भारदिवदपरा जातिः द्रव्यगुणयो साधारणोपलब्धति । अथ मुखाधिकरणत्वम्; तत्रास्ति; नित्या-  
 नित्यविकल्पानुपपत्तः ।’—प्रदा० ध्यो० पृ० २० ग० । (४) सुखत्वजातिसम्बन्धित्वस्य । (५) अनि-  
 त्यसुखस्वभावतया । (६) मोक्षे । (७) मुखादिपर्यायाविर्भावकारणत्वन । (८) मोक्षावस्थायाम् ।  
 (९) सुखम् । (१०) आत्मन ।

1 सदास्यभावप्रति आ० । २ एतदन्तर्गत पाठो नास्ति आ०, ध० । 2 श्यावा विभि. व० ।

3 तयान्या—य० । 4—व तदा तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् आ० ।



इति । दृश्यते हि—संसारवस्थायामपि वासीचन्दनकल्पानां सर्वत्र समवृत्तीनां विशिष्ट-  
ध्यानादिव्यवस्थितानां सेन्द्रियशरीरादिव्यापाराजन्यः परमाह्लादरूपोऽनुभवः । स एव  
उत्तरोत्तरभावनाविशेषपर्वशादुत्तरोत्तरामवस्थामासादयन् परमकाष्ठां प्रतिपद्यते इति सर्वं  
सुस्थम् । ततः तद्दशायामपि तत्पर्यायस्य कथञ्चिदाविर्भावनिमित्तसद्भावात् कथञ्चिदेवा-  
नित्यः सुरादिपर्यायोऽभ्युपगन्तव्यः ।

सर्वथा तन्नित्यत्वप्राहिणः कस्यचिदपि प्रमाणस्याऽसंभवाच्च । तस्य हि ग्राहक  
प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा स्यात् ? प्रत्यक्षञ्चेत्, किमैन्द्रियम्, मानसम्,  
स्वसंवेदनं वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; इन्द्रियाणां प्रतिनियतरूपादिगोचरचारितया  
तत्प्रभवप्रत्यक्षस्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । द्वितीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः; बाह्येन्द्रिय-  
निरपेक्षस्य मनसः कचिदपि प्रवृत्त्यसंभवात् । “अस्वतन्त्र वहिर्मनः” [ ]  
इत्यभिधानात् । वहिरेव अर्थे तन्निरपेक्षस्याप्रवृत्तिः नान्तः इति चेत्, न, तत्रापि  
सम्बद्धस्य असम्बद्धस्य वा तस्य स्वसंवेदनसिद्धौ तत्र ज्ञानजनकत्वप्रतिषेधात् । तृतीय-  
विकल्पोऽप्यसुन्दरः, तथा प्रतीत्यभावात् । नहि स्वसंवेदनप्रत्यक्षे अनवच्छिन्नदेशकाल-  
कलाकलापः त्रिकालानुयायी नित्यनिरगः सुखस्वभापोऽनुभूयते प्रतीतिविरोधान् । तत्र  
प्रत्यक्षं सर्वथा नित्यसुरग्राहकम् । नाप्यनुमानम्, सर्वथा तन्नित्यत्वाधिनाभाविनः कस्य-  
चिद्धिग्नस्याऽसंभवात् । नाप्यागमः; सर्वथा सुखनित्यत्वप्रतिपादकस्य तस्याप्यप्रतीतेः ।

अस्तु वा कुतश्चित्तन्नित्यत्वप्रतीतिः; तथापि येतत्प्रतीतिः तत् नित्यम्, अनित्यं  
वा ? न तावदनित्यम्, तदाविधात्तनो नित्यं तत्प्रतीतिविरोधान् । कुतश्चास्य उत्पत्तिः

(१) तुलना—उपलभ्यते च वासीचन्दनकल्पस्य मुमुक्षो सर्वत्र समवृत्तेर्विशिष्टध्यानादिव्यव-  
स्थितस्य सेन्द्रियशरीरव्यापाराजन्य परमाह्लादरूपोऽनुभव, तस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरामवस्थामा-  
सादयतः परमकाष्ठागतिरपि सम्भाव्यते —सन्मति० टी० पृ० १६१ । (२) तुलना—“आत्मनो नित्यमु-  
पसत्ताया प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्ष तावदस्मद्भावीनामन्येषां वा केपाञ्चिदस्मिन्नर्थे न प्रभवतीति केय  
कथा । अनुमानमपि न सम्भवति, लिङ्गलेखानवलोत्तादिति ।”—यापम० पृ० ५०९ । ‘तस्य ग्राहक  
प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा स्यात् ?’—स्या० १० पृ० १११५ । (३) द्रष्टव्यम्—पृ० ४३२ टि० १ । (४)  
मनस । (५) बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य । (६) अन्तःमुखादवपि । (७) मनस । (८) पृ० १८५ ।  
(९) यस्मात्संवेदनात् तन्नित्यमुत्पन्नोऽनुभव तत्संवेदनम् । तुलना—“तदन्तं सुखं मुक्तीं पुंसु संवेद्यस्वभा-  
वमसंवेद्यस्वभाव वा ? संवेद्यञ्चेत्, तत्संवेदनस्य अनन्तस्य सिद्धिः, अन्यथा अनन्तस्य सुखस्य स्वयं  
संवेद्यत्वविरोगात् । यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्, तदा कथं मुच्यते नाम ? मातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीते ।”  
—अष्टसह० पृ० ६९ । “स विमानन्दो मुक्तावनुभूयते न वा ? यदि नानुभूयते, स्थितोऽप्यस्थितात्र  
विशिष्यते जनपभोग्यत्वात् । अनुभूयते चेत्; अनुभवस्य कारणं वाच्यम्”—प्रज्ञ० कण्ठ० पृ० २८६ ।  
‘नित्यं सुखमभिभवत्येते इति कोऽभिप्रेत्यर्थः ? ज्ञानमिति चत्, नित्यमनित्यं वेति कल्पनानुपपत्तिः ।’  
—न्यायवा० पृ० ८५ । “अस्तु वा यत्कञ्चित्तद्ग्राहकं तथापि तन्नित्यमनित्यं वा ?”—स्या० १० पृ०  
१११६ । (१०) अनित्यसंवेदनात् ।

1—व्यापाराजन्यं व० । 2—उत्तरभावना—व० । 3—वशात्तदुत्तरोत्तरं—व० । 4—तत्संवेद्यस्वभावा-  
—आ० । 5—कालकलापं व० । 6—नित्यत्वप्रतीति—व० ।

स्यात्, अनित्यस्य अनुत्पत्तिधर्मकत्वानुपपत्तेः ? इन्द्रियादिभ्यश्च तदुत्पत्त्यभ्युपगमे सुखविषयत्वं न प्राप्नोति इत्युक्तमनन्तरमेव । अथ योगजधर्मापेक्ष आत्ममनःसंयोग एव तज्जनकः, ननु योगजधर्मस्य मुक्तावसंभवात् कथमसौ तत्संयोगेन अपेक्षेत यतस्तत्रैतत्तदुत्पत्तिः स्यात् ? अर्थ आद्यं योगजधर्मापेक्षः तत्संयोगः ज्ञानं जनयति, तच्चापेक्ष्य उत्तरोत्तरं ज्ञानमसौ जनयति इति; तदप्यसाम्प्रतम्; अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । नहि शरीरसम्बन्धानपेक्षं ज्ञानं तत्संयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणमिति भवतां राद्धान्तः, तदपेक्षस्यैव तस्य तदुत्पत्तौ कृतान्ते तत्सहकारिकरणस्वोपवर्णनात् ।

अथ नित्यम्; तदा मुक्तेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गः, सुखतत्संवेदनयोः नित्यत्वेन उभयत्र सद्भावाऽविशेषात् । इन्द्रियजसुखेन चार्थैः संसारावस्थायां साहचर्यानुभवप्रसङ्गात् सुखद्वयोपलम्भः स्यात् । प्रतिबद्धत्वात्तर्दा तस्याऽनुपलम्भ इति चेत्; केनास्यै प्रतिबद्धत्वम्—शरीरेण, अविद्यया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, बाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ? न तावत् शरीरेण, अस्य सुखसाधकत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात् । नहि यद् यदर्थं

(१) "अनित्यत्वे हतुवचनम्"—न्यायभा० १।१।२२। (२) संवेदनोत्पत्तिस्वीकरणे । (३) तुलना—“आत्ममन संयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम् । धर्मस्य कारणवचनम्—यदि धर्मो निमित्तान्तरम्, तस्य हेतुर्वाच्यो यत् उत्पद्यत इति ? योगममाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्ति—यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतु, तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्ततेति ।”—न्यायभा० १।१।२२ । न्यायवा० पृ० ८५ । न्यायवा० ता० पृ० २४० । (४) आत्ममन संयोगेन । (५) मुक्तौ । (६) योगजधर्मापेक्षादात्ममन संयोगात् । (७) ज्ञानोत्पत्ति । (८) तुलना—“अथाद्यसंयोगजधर्मादुपजात विज्ञानमपेक्ष्य उत्तर विज्ञानं तस्माच्चोत्तरमिति सन्तानम्, तत्र; प्रमाणाभावात् । तथा च शरीरसम्बन्धानपेक्ष विज्ञानमेव आत्मान्तं करणसंयोगस्य अपेक्षाकारणमिति न दृष्टम् ।”—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ग० । “अथ आद्यं ज्ञानं योगजधर्मापेक्षास्तत्संयोगो जनयति”—स्या० १० पृ० १११६ । (९) ज्ञानं कर्मभूतम् । (१०) आत्ममन संयोग । (११) आद्यज्ञानम् । (१२) आत्ममन संयोग । (१३) आत्ममन संयोगस्य । (१४) शरीरसम्बन्धापेक्षस्यैव । (१५) आत्ममन संयोगस्य । (१६) तुलना—“मुखवर्त्रित्यमिति चेत्, मसारावस्थस्य मुक्तेनाविशेष, अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलं साहचर्यं योगपद्य गृह्यत—यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभाव योगपद्य गृह्येत । न मुक्ताभाव नानाभिव्यक्तिरस्ति, उभयस्य नित्यत्वात् ।”—न्यायभा०, वा० १।१।२२। “ततश्च धर्माधर्मफलाभ्यां मुखदुःखाभ्यामस्य नित्यस्य सुखस्य साहचर्यमनुभूयते ।”—न्यायभा० पृ० ५१० । स्या० १० पृ० १११६ । (१७) नित्यमुखस्य । (१८) संसारावस्थायाम् । (१९) “केनास्य प्रतिबद्धत्वम्—शरीरेण, अविद्यया, वैषयिकसुखाद्यनुभवेन, बाह्यविषयव्यासङ्गेन वा ?”—स्या० १० पृ० १११६ । (२०) शरीरस्य । तुलना—“शरीरादिसम्बन्ध प्रतिबद्धहेतुरिति चेत्, न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विषयस्य चाननुमानात् । स्वान्तम्—संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकं तेनाविशेषो नास्तीति, एतच्चायुक्तम्; शरीरादय उपभोगार्था हे भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम् । न चास्त्यनुमानम्—अशरीरस्य आत्मनो भोगं कश्चिदस्तीति ।”—न्यायभा० १।१।२२ । न्यायवा० पृ० ८६ । न्यायवा० ता० पृ० २४० । न्यायभा० पृ० ५१० ।

तत् तस्यैव प्रतिबन्धकम् अतिप्रसङ्गात् । प्रतिबन्धकं हि कार्यविघातकमुच्यते । न च शरीरं सुखस्य विघातकम् तस्मिन् सति तस्य आत्मलाभात् । यस्मिन् सति यस्यात्मलाभः न तत् तस्य प्रतिबन्धकम् यथा बीजमङ्कुरस्य, शरीरे सति आत्मलाभश्च सुखस्येति । तस्य तत्प्रतिबन्धकत्वे च तदपहन्तुर्हि साफलं न स्यात्, प्रतिबन्धविघातकस्य उपकारकत्वेन लोके प्रसिद्धेः । नापि अविद्यायाः तस्याः तुच्छरूपतया तत्प्रतिबन्धलक्षणार्थक्रियाकारित्वाऽसंभवात् । यत् तुच्छरूपं न तदर्थक्रियाकारि यथा मृगतृष्णिकाजलम्, तुच्छरूपा च अविद्या भवद्भिरिष्टा इति । प्रतिपिद्वञ्च अविद्यायाः प्रतिबन्धकत्वं ब्रह्माद्वैतप्रघट्टके<sup>१</sup> प्रपञ्चेन इत्यलं पुनः प्रसङ्गेन । नापि वैपथिकमुखाद्यनुभवेन; तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धः अनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्तः; द्वैयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात् । नापि बाह्यविषयव्यासङ्गेन, तेन हि प्रमातुः, इन्द्रियादेर्वा संम्वन्धिना तत्प्रतिबन्धः क्रियते ? पक्षद्वयमप्येतदयुक्तम्, आत्मनो हि प्रमातुर्व्यासङ्गः रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिः, इन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाऽजनकत्वम् । स चात्र असम्भाव्यः; सुखवत् तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात् ।

किञ्च, यथा<sup>२</sup> मुक्तयवस्थायाम् अनित्यं सुखं ज्ञानञ्चाऽतिक्रम्य नित्यं तत्परिकल्प्यते तथा नित्यत्वधर्माधिकरणं देहेन्द्रियादिकमपि परिकल्प्यतामविशेषात् । अथ धर्मादेः कार्यो देहः कथं तदभावे तत्र भवेत् प्रतीतिविरोधात् ? तदन्यत्रापि समानम् । अथ ससार(रि)सुखधिलक्षणं तत्सुखम् तेनायमदोषः; तर्हि देहोऽपि संसारिदेहाद् विलक्षणः तत्र अस्मास्तु विशेषाभावात् ।

किञ्च, सुखवत् ज्ञानस्य मुक्तावभ्युपगमे तर्च्छक्तेः विपरीताभिनिवेशनिवृत्तिल-

(१) "प्रतिबन्धकं कार्यविघातकमुच्यते, न च नित्यमुखस्य अनुत्पत्तिः सम्भवति ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ग० । (२) शरीरस्य । "प्रतिबन्धकत्वेन तदपहन्तुर्हि साफलं न स्यात् । तथा हि प्रतिबन्धविघातकं उपकारकं एवेति दृष्टम् । न हि नित्यसुखसंवेदनस्य प्रतिबन्धकस्य शरीरादेरपहन्तुर्हि साफलस्य अभाव इत्यलम् ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ग० । स्या० २० पृ० १११७ । (३) "प्रकाशस्य तुच्छेनावरीतुमशक्यत्वात् मेधा अपि रवेरन्ये स्वरूपेण च वास्तवा । तत्त्वान्यत्वाद्यचित्या तु नाविद्यावरणक्षमा ॥"—न्यायम० पृ० ५१० । (४) पृ० १४३ । (५) नित्यमुख-तत्संवेदनयोः । (६) "नित्यसुखे हि अनुभवस्यापि नित्यत्वाद् व्यासङ्गानुपपत्तिः । तथा हि आत्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिर्व्यासङ्गः । एवमिन्द्रियस्यापि एकस्मिन् विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानजनकत्वं व्यासङ्गः । न चैवमात्मनो रूपादिविषयकज्ञानोत्पत्तौ नित्यसुखे ज्ञानानुत्पत्ति तज्ज्ञानस्यापि नित्यत्वात् ।"—प्रश्न० व्यो० पृ० २० ग० । (७) तुलना—"दृष्टातिक्रमश्च देहादिपु तुल्य । यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यमुखं कामयते, एव देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा जतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः ।"—न्यायभा०, वा०, ता० टी० १ । १ । २२ । "मुखवज्ज्ञानवच्चास्य काम देहेन्द्रियाद्यपि । नित्यं प्रकल्पयतामित्यं मोक्षो रम्यतरो भवेत् ।"—न्यायम० पृ० ५१० । (८) अनन्तज्ञानधारणाय उपयुज्यमानाया अनन्तशक्तेः ।

१ सम्बन्धेन तत्प्र-व० । २-करणदेहेन्द्रि-व० । ३ तदभावे तत्र आ०, तदभावे तत् प्रसवे तत्र व० ।

क्षणदर्शनस्य च सामर्थ्यसिद्धत्वात् अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणमोक्षप्रसिद्धेः जैनमत-  
सिद्धिः स्यात्, 'ग्रानन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्येकान्तत्यागात् । तत्र सुप्तस्वभावत्वलक्षणं  
साध्यं विचार्यमाणं भवन्मते घटते ।

साधनञ्च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वम् अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्च अनेकान्ति-  
कत्वादसाधनम् ; दुःखाभावेऽपि भावात् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम् ;  
नहि आत्मा अन्यायं नोपादीयते, सुप्ताद्यर्थमस्योपादनात् । अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्व-  
मप्यसिद्धम्, दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात् ।

यदपि 'आत्मा सुप्तस्वभावः वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयोबुद्धिविषयत्वात्' इत्युक्तम् ;  
तदप्येतेन प्रत्युक्तम् ; सुप्तस्वभावत्वे प्रागुक्ताशेषोपादानुपज्ञात् । प्रेयोबुद्धिविषयत्वं  
निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वञ्चाऽसिद्धम् ; कदाचिद् दुःखितायां तदभावात् । अन्य-  
थासिद्धञ्च, आत्मनो हि आत्यन्तिको दुःखाभावो मोक्षे स्यात् इति तत्र तत् साधनद्वयं  
न पुनः सुप्तस्वभाव इति । विरुद्धञ्च, सुप्तस्वभावताविपरीतस्य दुःखाभावस्वभावत्व-  
स्यैव अतः प्रसिद्धेः । तथाहि-दुःखाभावरूपोऽयमात्मा, वस्तुत्वे सति मुख्यप्रेयो-  
बुद्धिविषयत्वात्, निरुपचरितप्रेयःशब्दवाच्यत्वाद्वा, रागिणां वैषयिकदुःखाभाववदिति ।

यदप्युक्तम्- 'इष्टार्थो मुमुक्षूणां प्रयत्नः' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम् ; हेतोरनेकान्तात् ।  
नहि इष्टार्थसाधनायैव प्रेक्षावतां प्रयत्नो भवति, व्याधिविशेषपरिज्ञानां तेषाम् अनिष्टो-  
परमार्थमपि प्रयत्नप्रतीतेः ।

किञ्च, इष्टशब्देनात्र किं सुप्तमभिधीयते, अभिप्रेतप्रयोजनमात्रं वा ? यदि  
अभिप्रेतप्रयोजनमात्रम्, कथमतः पुंसः सुप्तस्वभावता सिद्धयेत् ? परस्परविरुद्धानेका-  
पवर्गसंभिद्धिप्रमद्भ्रं, कपिलादिमतानुसारिणामपि मुमुक्षूणां प्रयत्नस्य तदिष्टापवर्ग-  
लक्षणप्रयोजनप्रसाधकत्वप्रसक्तेः । प्रयत्नस्य प्रेक्षावत्त्वविशेषणात् न अनेकविरुद्धापवर्ग-  
संसिद्धिरिति चेत्, न; तद्विवेकस्य कर्तुमशक्यत्वात् । नहि भ्रमन्मतानुसारिणः प्रेक्षावन्त  
न कपिलादिमतानुसारिणः इति विवेकः कर्तुं शक्यः, प्रमाणप्रनाधितसर्धधानित्यादि-

(१) "दुःखाभावरूपं भावान् । अनन्यपरतयोपादीयमानत्वञ्चासिद्धम्; मुसार्थमुपादानात् ।

अनन्यप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्; दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात् ।"-प्रश्न० ध्यो० पृ० २० ग० ।

(२) पृ० ८३१ पं० ६ । (३) प्रयत्नस्वभावात् । (४) पृ० ८३१ पं० ७ । (५) तुलना-

"इष्टार्थमार्थां प्रवृत्तिरिति चेत्, न, अनिष्टोपरमार्थत्वात् ।"-न्यायभा०, पा० १।१।२२ । "नानि-

ष्टोपरमार्थत्वात्तदनिष्टत्वापि शान्तये । सन् प्रवृत्तमाना हि दुःखन्ते व्याधिमदित्ता ॥ अनिदुर्वहस्वय

मकारदुःखान्तर इति तदुपगमाय व्यवस्थान्तं मन्तो न निष्प्रयाजनप्रयत्ना नवन्तीत्यनेनानिष्टा हन्तु ।"

-न्यायम० पृ० ५०९ ।

१-कालपरिवापान् ५० । २-विदुषितायां २० । ३-सुप्तस्वभावविष-आ० । ४-भाषावदिति  
भा०, -भाषावदिति २० । ५-कनिममुक्षू-आ०, -कनिमिष्टार्थं मुमुक्षू-२० । ६-सादिमतानुसारि-आ० ।  
७-प्रयात्नार्थाप-५० ।

स्वभावतत्त्वाङ्गीकारेण अशेषाणामप्यप्रेक्षावत्त्वप्रसिद्धेः । अथ सुखम् इष्टशब्देन उच्यते, तदा साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । न खलु कृपीवलादीनां कृष्यादिप्रयत्नः साक्षात्सुखार्थो भवति, कृष्यादिफलनिष्पत्त्यर्थत्वात्तस्य । परम्परया तस्य तदर्थत्वे मुमुक्षुप्रयत्नस्यापि तर्था तदर्थत्वमस्तु । ननु मुमुक्षवो यदि साक्षात्सुखार्थप्रयत्ना न भवन्ति तदा ते निष्प्रयोजनप्रयत्ना एव स्युः प्रयोजनान्तरस्य तत्प्रसाध्यस्याऽसभवात्, तदप्यपेशलम्, संसारदुःखोच्छेदलक्षणप्रयोजनस्य तत्प्रयत्नप्रसाध्यस्य सद्भावात् । दुस्सहो हि संसार-दुःखभारोऽयम् अतः तदुच्छित्तये प्रयत्नमानास्ते न निष्प्रयोजनप्रयत्ना भवितुमर्हन्ति ।

यत्पुनः 'सुखतारतम्यं कचिद्विश्राम्यति' इत्याद्याभिहितम्, तदप्यभिधानमात्रम्; परत्वादिना अनेकान्तात् । परापरादिवृद्धिप्रकर्षसमधिगतो हि परत्वादिप्रकर्षः तारत-म्यशब्दवाच्यो न च कचिद्विश्रान्तः ।

किञ्च, दुःखेष्वेवं परमप्रकर्षप्रसङ्गः—दुःखतारतम्यं कचिद्विश्राम्यति तारतम्य-शब्दवाच्यत्वात् परिमाणतारतम्यवत् इति । न च दुःखपरमप्रकर्षो भवद्विरिष्टः इत्यनेनैवापि अनेकान्तः ।

यदपि—'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागमः मोक्षे सुखस्वभावतायायात्मनः प्रमाणम्' इत्याद्युक्तम्, तदतीवाऽसङ्गतम्, तस्य प्रामाण्यासंभवात् । गुणवर्द्धकृत्वत्वेन हि वचनस्य प्रामाण्यम् । न च वेदे भवद्विः तदिष्टम् । अपौरुषेयत्वेनास्य प्रामाण्यम्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तदपौरुषेयत्वस्य प्रागेव प्रतिव्यूढत्वात् । अस्तु वा तस्य तथा प्रामाण्यम्, तैथापि यथासौ मुक्तौ आनन्दरूपताम् आत्मनः प्रतिपादयति तथा तदभाव-मपि "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरेपहतिरस्ति, असरीर वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।" [ छान्दो० ८।१२।१ ] इत्यादिवचनात् । अतः कास्य प्रामाण्यम् इति 20  
व्याघ्रतटीन्यायो भवतः संभायातः । अथ इदमागमवचनम् अन्यथा व्याख्यायते-  
'सशरीरस्य' इति प्रकृमात् सांसारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसभवे मोक्षे

(१) परम्परया । (२) मुमुक्षुप्रयत्नः । (३) पू० ८३१ प० ८ । (४) दुःखपरमप्रकर्षणं । (५) पू० ८३१ प० ११ । (६) पू० ७२४-१ । (७) "स्वादेतदेव यद्येतदेव केवलमागमवचनमथोप्यत, वचनान्तरमपि तु श्रूयते—न ह वै । ननु भवत्पठितमागमवचनमन्यथापि व्याख्यातुं शक्यते—सशरीरस्येति प्रकृमात् सासारिके सुखदुःखे अनुकूलेतरविषयोपलम्भसभवे तदानीमशरीरमात्मानं न स्पृशत इत्यर्थः । हन्त तर्हि त्वदधीतमपि वेदवचनमानन्दं ब्रह्मति संसारदुःखपरिहारक्रमप्रकरणादेव तद्दुःखापगविविषयं व्याख्यास्यते । न खलु व्याख्यानस्य भगवतः काचिदभूमिर्गतिः । दृष्टादृच दुःखोपशमं मुखशब्दप्रयोगा । चिरञ्ज्वरशिरोऽर्वादिभ्यामिदुःखं खदितं । सुखिनो वयमद्येति तदपाये प्रयुञ्जते ॥"—न्यायम० पू० ५०९ । (८) "कुटुम्बमपि मे प्रेयान् प्रेयास्त्वमपि हे सखे । किं करोमि द्विधा चित्तं इतो व्याघ्र इतस्तटी ॥"—परिशि० ३ । १६६ । लौकिक० या० तु० भा० । "इतस्तटीमिती व्याघ्र केनास्तु प्राणिनो गतिः ।"—यज्ञ० उ० पू० १३८ । (९) 'न ह वै' इत्यादि वचनम् ।

1 तस्यास्त-ब० । 2 तदा तद-ब०, थ० । 3 न वचि-आ० । 4 दुःखे तारतम्य आ० । 5-वृत्त्वेन हि आ०, थ० । 6-रपपातिरस्ति थ० । 7 समायात' नास्ति थ० ।

अशरीरमात्मानं न सृशतः' इति; तदपि मनोरथमात्रम्; 'आनन्दं ब्रह्म' इत्यस्यापि अन्यथा व्याख्यातुं सुशकत्वात्, आत्यन्तिकसंसारदुःखाभावविषयो हि अत्र आनन्द-शब्दः न पुनः सुरविषयः । दृष्टञ्च दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः यथा भराक्रान्तस्य चिरं-ज्वरशिरोर्च्यादिव्याधिदुःखितस्य वा तदपाये 'चिरं तद्दुःखेन खिन्नाः सुखिनो वयमद्य'  
5 इति तदात्मनां प्रतिभासप्रतीतेः ।

यच्चोक्तम्—'नित्यानन्दस्य संसारदशायाम् आवृतत्वेनाऽनभिव्यक्तितोऽनुपलम्भः'  
इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; अविद्यादेः तदावारकत्वप्रतिषेधात्, नित्यैकस्वभावस्य  
स्वप्रकाशात्मन आत्रियमाणत्वायोगाच्च, परिणामिन एव हि वस्तुनः केनचिदावरणं  
युक्तम् कथञ्चिदनाश्रितरूपपरित्यागेन आवृतरूपस्वीकारात् । अतः कथञ्चिदेव नित्यज्ञान-  
10 खादिस्वभावो मुक्तौ आत्मा प्रतिपत्तव्य इति ॥ छ ॥

ननु कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण अपरस्य आत्मनोऽसंभवात् कस्य  
नैरात्म्यभावनातो ज्ञानादिस्वभावता मुक्तौ प्रसाध्येत ? मुक्तिश्च आत्मदर्शिनो दूरोत्सा-  
विशुद्धज्ञानोत्पत्तिरपो रिता । यो हि पश्यति आत्मानं स्थिरादिरूपं तस्य आत्मनि स्थैर्या-  
मोक्ष इति बौद्धस्य दिगुणदर्शननिमित्तः स्नेहोऽवश्यम्भावी, आत्मस्नेहाच्च आत्मसुखेषु  
15 पूर्वपक्ष - परितृप्यन् सुखेषु तत्साधनेषु च दोषास्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति,  
गुणदर्शी च परितृप्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते, ततो यावद् आत्मदर्शनं  
तावत्संसार एव । तदुक्तम्—

“यैः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः । स्नेहात्सुखेषु तृप्यति तृष्णा दोषास्तिरस्करते ॥

(१) “आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनाद् आगमेऽपि सत्यविरोध । यद्यपि कश्चि-  
दागम स्याद् मुक्तस्यात्यन्तिके सुखमिति । सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते ।  
दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुल लोके ।”—न्यायभा०, वा० १।१।२२ । “मुक्ते हि वाद्यकोप-  
पत्ते. गीण इति । तथाहि दुःखाभावेऽप्यमानन्दशब्दः प्रयुक्तो दृष्टः । सुखशब्दो दुःखाभावे यथा भारा-  
क्रान्तस्य वाहिकस्य तदपाये इति ।”—प्रश० श्यो० पृ० २० ग० । (२) पृ० ८३२ प० २ । (३) “य-  
पश्यात्मानं तत्रात्मनि अस्य द्रष्टु अहमिति शाश्वत अनपायिस्नेहो भवति । स्नेहात् सुखेषु तृप्यति  
तृष्णावान् भवति, तृष्णा च सुखसाधनत्वेनाध्यवसिताना वस्तूना दोषाननुचित्वादीन् तिरस्तुक्ते  
प्रच्छादयति । दोषतिरस्करणात् गुणदर्शी शुचित्वेऽप्युत्त्वगुणान् पश्यन् परितृप्यन् ममेति ममेद  
सुखमिति गर्दमान तस्य सुखस्य साधनानि गर्भगमनादीन्युपादत्ते । तेन आत्मदर्शनमूलत्वेन जन्मादे-  
रारमाभिनियेषो यावत्तावत् स आत्मदर्शी संसार एव । न केवल जन्मप्रबन्धस्तस्य दोषा अपि  
समस्ता सन्तीत्याह । आत्मनि सति ततोऽप्यस्मिन् परसत्ता परबुद्धिर्भवति, स्वपरयोर्व्याक्रम परि-  
पहोर्प्रभिवृद्ध्य द्वेष पक्षियाग ती भवत । अनयो अनुनयप्रतिषेधयो सप्रतिबद्धा सर्वे दोषा राग-  
मात्सर्वोर्प्यादियः प्रजायन्त ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृता इमे—बोधिचर्या० पृ० पृ० ४९२ । अने-  
कान्तत्रय० पृ० २८ । यश० उ० पृ० २५२ । न्यायवि० वि० पृ० ५८१ A. । पद्म० बृह० श्लो०  
५२ । ज्ञानवि० पृ० १४७ A. । “य पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति”—तिद्धिवि० टी० पृ० ५५  
B. । ‘आत्मनि सति’—अभि० आलोक० पृ० ६७ । प्रश० कन्द० पृ० २७९ ।

१ चिरदुःखेन व०, थ० । २-स्वभावतयास्य प्रकाशा-व० । ३ मुक्तौ थ० । ४-कारकभूत-  
बा० । ५-तृप्यन् आ०, व० । ६-तृप्यन् आ०, व० । ७-तृप्यति आ० ।

गुणदर्शी परितृप्यन् ममेति सुससाधनान्युपादते । तेनात्मभिनिवेशो यावत्तावत् स ससारः ॥  
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयोः सम्प्रतिवद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥”  
[ प्रमाणवा० १२१९-२१ ] इति ।

ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च अनात्मकमनित्यमशुचि दुःख-  
मिति श्रुतमय्या चिन्तामय्या च भावनया भावयितव्यम्, एवं भावयतः तत्र अभि-  
प्वङ्गाभावात् अभ्यासविशेषतो वैराग्यमुपजायते, अतः सास्त्रवचित्तसन्तानलक्षण-  
संसारनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । निरन्वयविनश्वरेषु हि चित्तक्षणेपु एकत्वाध्यारोपेण  
आत्माभिनिवेशात् आत्मप्रेमातुंगतः प्राण्यभिधानः स्कन्धसन्तानः सांसारिकसुखसाधनेपु  
प्रवर्त्तमानः सास्त्रवचित्तसन्तानं सन्तनोति । ततोऽस्य व्यलीकभिनिवेशस्य अपोहार्थं यैन्नः  
नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण असत्यपि आत्मनि नित्यनिरंशादिस्वभावे मोक्तिर इति । उक्तञ्च—

(१) तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्य पर्यानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामा-  
स्कन्दता निर्वृता परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निर्वृता चिन्तमयी  
भावनामारभते ।—आप्तप० का० ८३ । (२) अभिप्वङ्गो राग । (३) “कार्यकारणभूताश्च तत्रा-  
विद्यादयो मता । वक्षस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिनिमलता धिय ॥ यथोक्तम्—चित्तमेव हि ससारी  
रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैविनिर्मुक्त भवान्त इति कथ्यते ।—तत्त्वस०, प० पृ० १८४ । (४)  
“तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकां । उत्खातमूला कुस्त सत्त्वदृष्टि मुमुक्षवः ॥”—प्रमाणवा०  
२।२५६ । किं पुनरिदं नैरात्म्यं नाम यदसत्सु नोपदेष्टव्यं सत्सु चोपदेष्टव्यमित्याह—अद्वितीय शिवद्वार  
कुदृष्टीना भयङ्करम् । विषय सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ।—तत्रात्मा नाम योऽपरायत्त-  
स्वरूप स्वभाव, तदभावो नैरात्म्यम् । तच्च धर्मपुद्गलभेदात् द्वैतं प्रतिपद्यते । धर्मनैरात्म्यं पुद्गल-  
नैरात्म्यञ्च । तत्र पुद्गलो नाम य स्कन्धानुपादाय प्रज्ञप्यते । स च स्कन्धेषु पञ्चधा मृग्यमाणो न  
सभवति । धर्मास्तु स्कन्धायतनघातुसशब्दिता पदार्था तदेतेषा धर्माणां पुद्गलस्य च यथास्व हेतु-  
प्रत्ययाधीनजन्मत्वाद्युपादाय प्रज्ञप्यमानत्वाच्च स्वायत्तमपरात्त निजमकृतक रूप नास्तीति पुद्गलस्य  
धर्माणाञ्च नै स्वाभाव्य व्यवस्थाप्यते । यस्य चार्थस्य स्वरूपसिद्धिर्नास्ति तस्य केनान्येनात्मनास्तु  
सिद्धिरिति । तस्मात्सर्वथाऽसिद्धलक्षणा एव पदार्था मूर्खजनस्य विमवादेकेनात्मना प्रतीत्य बोपादाय  
वा वर्त्तमाना मूढधिया सङ्गात्सव भवन्ति । यथास्वभाव तु सम्पददर्शने प्रतिभाश्यमाना धर्मपुद्गलयो  
सङ्गपरिहायवाहका भवन्ति । सङ्गपरिहायस्य किर्त्तयप्रार्थितकारणम् । किदिल्लनैरात्म्यस्य हि सर्वेषु  
परिक्षीणसङ्गस्य न क्वचित्काचित्प्राथना कुतो वा निमित्तोपलम्भ इत्यद्वितीयमेव शिवद्वारमतनैरा-  
त्म्यम् । (पृ० १५१) तत्त्वतो नैरात्म्यमिति यस्यैव वर्तते मति । तस्य भावात्कुत प्रीतिरभावेन  
कुतो भयम् ॥—चतु शत० पृ० १५१, १५६ । तत्त्वस० पृ० ८६६ । “यतस्ततो वास्तु भय यद्यहं नाम  
किञ्चन । अहमेव न किञ्चिन्त्वेत भयं कस्य भविष्यति ॥”—बोधिस० ९।५७ । “वर नैरात्म्यभावना  
नैरात्म्यस्य पुद्गलादिविरहस्य भावना अभ्यासः वरमुत्तमम्, आत्मदर्शनप्रवृत्ताहङ्कारनिवृत्तिहेतुत्वात् ।  
तथाहि तावद् भावनाप्रकर्षपर्यन्तगमनात् साक्षान्नैरात्म्यदर्शनात् विरोधिन सत्त्वायदर्शनं निवर्तते ।  
तत्रिवृत्ती चकस्यानुगामिनो दर्शनाभावात् पूर्वापररूपविकलस्य क्षणमात्रस्य दर्शनम् । तत पूर्वापरस-  
मारोगाभावात्तानागतमुखसाधन किञ्चिदात्मन पश्यति, ततो न तस्य क्वचिद्विषये रागो जायते नापि  
तत्प्रतिविरोधिन द्वेष आसङ्गाभावादेव । नाप्यपकारिण प्रति अपकारस्थान पश्यति, येन यस्मिन् कृतो-

1-तृप्यन् श्र० । 2 चित्तलक्षणेपु श्र० । 3-नुगम प्रा-व० । 4 प्रामाण्यभि-श्र० । 5 यतोने

-व० । 6-विकलक्षणः श्र० ।

“मिथ्याधारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्षरि” [ प्रमाणवा० १।१९४ ] इति ।

नैरात्म्याभ्यासादिलक्षणयन्त्राभावे तु आत्माभिनिवेशाऽनिवृत्तेः इन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेषु आत्मीयबुद्धेर्निवारयितुमशक्यत्वतो वैराग्यासभवात् मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलि । तदुक्तम्—

‘ उपभोगाश्रयत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु ।

स्वत्वधी केन वायेत वैराग्यं तत्र तत्कुत ॥ ” [ प्रमाणवा० १।२२९ ] इति ।

अथोच्यते—नेन्द्रियादिषु उपभोगाश्रयत्वबुद्धिनिवन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभवोऽयम्

आत्मीयस्नेह येनाथ दोष स्यात् किन्तु गुणदर्शननिवन्धन, अतः तद्विरुद्धदोषदर्शने

तन्निवृत्तितो वैराग्योपपत्ते मुक्तिरूपपत्तेति, तदयुक्तम्, तन्नियन्धनस्त्वबुद्धेरेव अस्या-

विर्भावात्, स्वचक्षुरादिषु गुणदोषपरीक्षाधिकलानामपि बालपशुप्रभृतीनाम् उपभोगा-

श्रयत्वबुद्धिनिवन्धनायाः स्त्वबुद्धेः तत्र स्नेहस्याविर्भावात् । आत्मीयेष्वपि च पिच्छ-

काणकुण्डादिदोषदर्शनेऽपि अर्थे भावात्, परकीयेषु गुणदर्शनेऽप्यभावात् । आत्मीये-

ष्वपि अतीतेषु स्वदेहच्युतेषु च अङ्गावयवेषु गुणदर्शनेऽपि आत्मीयबुद्धित्वागे स्नेहस्या-

भावात् तन्नियन्धनस्वत्वबुद्धिप्रभव एवासौ<sup>६</sup> अभ्युपगन्तव्यः । अत युक्तः तद्वयवच्छे-

दाय नैरात्म्यादिभावनाभ्यास ।

अकार तयोऽयोरपि द्वितीयक्षणाभावतः । न चायन कृतेऽकारे प्रक्षावतोऽन्यत्र वैरानिर्घातनमुचितम्, नापि यस्य वृत्तस्तेनापि । एव रागादिनिवृत्तौ अ यपि तत्प्रभवा कश्चोपपत्तेशा नोत्पद्यन्ते । नापि वस्तुतः कश्चित् कस्यचिदपकारकारी । इदं प्रतीत्यदमुत्पद्यते इति प्रनीत्यममृताददर्शनाद्वा । एव हि पुद्गलशून्यताया सत्कायदाननिवृत्तौ छिन्नमूलत्वात् यल्लक्षणा न समुदाचरन्ति । यथोक्तमायतयामतगुह्यसूत्रे—तद्यथापि नाम गान्तमते बक्षस्य मूलच्छिन्नस्य सबशास्त्रापत्रपलाश गुप्यति । एवमेव शान्तमते सत्कायदृष्टिप्रसमात् सबक्षेशा उपशाम्यन्तीति । तस्माद्द्वयं नैरात्म्यभावना । —बोधिवर्षा० प० पृ० ४९२-९३ । नैरात्म्यपरि० पृ० १२ ।

(१) मिथ्याधारोपस्य सत्सारित्वाध्यवसायस्य हानाय यत्नोऽसत्यपि कस्मिंश्चिदात्मादौ माक्षरि । न हि यथावत्स्वेव व्यवहारं किन्तु यथावसायञ्च । तथाहि रज्जुरपि सर्पाध्यवसायविषयत्वात् परिहारविषयः । एवमहमव बद्धोऽहमेव भोग्यामीत्यध्यारोपा द्रुक्यथ व्यायामः । —प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्—तत्त्वसं० प० पृ० १/३ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । समति० टी० पृ० १६२, ४१८ ।

(२) आत्मीयबुद्धिहायान त्यागो न तु विषयः । उपभोगाश्रयत्वेन आत्मीयबुद्धिहाया तत्राहिदृष्ट्या त्यागो न तु विषय आत्मीयबुद्धिसत्तायाम् । यस्मात् उपभोगस्य आश्रयत्वेन कारणत्वेन गृहीतेष्विन्द्रियादिषु स्वत्वे धी आत्मीयत्वबुद्धि केन हतुना वायत ? क केनचित् । तत्कुतस्तत्र उपभोगसाधन स्वीयावबवे वराग्यं यन त्यज्यते । ततो यत्त्यज्यते आत्मीयबुद्धिहान्या एव । न चैव स्नेहादिप्यात्मीयबुद्धिहानिरस्ति यनेया त्याग स्यात् । —प्रमाणवा० मनोरथ० । उद्धृतोऽयम्—यावद्वि० वि० पृ० ७८१ B । (३) भोगसाधनत्वनिवन्धन । (४) स्नेहस्य । (५) उपभोगाश्रयत्वनिवन्धन । (६) स्नेहः ।

1-ध्यानोप-थ० । 2-गणप्रदत्ता-थ० । 3 जानोयबुद्ध-जा० । 4 खत्वधी व० । 5 इति नास्ति व० । 6-निवन्धनसत्त्वबु-व० । 7 चेदयुक्तम् २० । 8 अस्याभावात् आ० । 9-अयबुद्धि-व० । 10-दशनेप्यस्याभा-थ० ।



अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्षेत्रालक्षणात्तपसः सकलकर्मप्रश्रयान्मोक्षो भविष्यति; तन्न; कायक्षेत्रस्य कर्मफलतया नारकादिकायसन्तापवत् तपस्त्वायोगात् । विचित्रशक्ति-  
कञ्च कर्म विचित्रफलदानाऽन्यथानुपपत्तेः, तच्च कथं कायसन्तापमात्रात् क्षीयेत  
अतिप्रसङ्गात् । अथ तपः कर्मशक्तीनां संक्षरेण क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि  
तपसः चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः; नन्वेवं स्वल्पक्षेत्रेण एकोपवासादिनाऽपि अशेषस्य  
कर्मणः क्षयापत्तिः शक्तिसाङ्कर्यान्यथानुपपत्तेः । उक्तञ्च—

“कर्मज्ञयाद्विमोक्षः स च तपसः तच्च कायसन्तापः ।

कर्मफलत्वात्वारुदुःखमिव कथं तपस्तत्स्यात् ॥

अन्यदपि चैकरूपं तच्चित्रप्रज्ञयनिरन्धनं न स्यात् ।

तच्छक्तिसङ्करज्ञया(य)कारीत्यपि वचनमात्रं तु ॥

अत्रनेशास्तोकेऽपि ज्ञीये सर्वज्ञप्रसङ्गो येत् ।” [ ] इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘कार्यकारण’ इत्यादि, तदसमीक्षिताभि-

सम्बन्धमुद्दिष्टतस-  
न्तिरूपस्य मातृस्य  
सम्बन्धेनम्—

धानम् ; कार्यकारणभूतज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तस्य आत्मनः सन्ता-

ननिषेधावसरे व्यासतः समर्थितत्वात् ।

यत्पुनरुक्तम्—‘यः पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपम्’ इत्यादि, तत्सूक्तमेव; किन्तु

(१) “तपसा निजंरा च”—तरवार्यसू० १।३ । (२) “फलवैधिश्रयदृष्टेश्च शक्तिभेदोज्ज-  
मीयते । कर्मणा तापसंक्लेशात् नैकरूपात्तत क्षय ॥—कर्मणा फलवैधिश्रयस्य नानागत्युपभोग्यानेकविधो-  
पकरणसाध्यविविधमुखदु खोपभोगप्रकारस्य दृष्टेश्च शक्तिभेदे सामर्थ्यनानात्वमनुमीयते, अतो नाना-  
प्रकारफलजननसामर्थ्यात् वारणादेकरूपान् फलात् तापसंक्लेशात् कर्मणा क्षय ।”—प्रमाणवा० १।२७७ ।  
(३) “अथापि तपस शक्त्या शक्तिस्वरस्यार्थं । क्लेशात्कुतश्चित् हीयेताशेषमक्लेशालेसत ॥—अथापि  
तपस शक्त्या शक्तिस्वरस्य तापक्लेशमात्रफलेन तानि हीयन्ते । तप शक्त्या कर्मणा सशयेन वा जन्मा  
भाव । यच्च किञ्चिदवशिष्टं तत् क्लेशात्कुतश्चित् केशोल्लुञ्चनादे क्षीयते । कर्मक्षयाच्च मुक्ति  
अत्राह—हीयेताशेषमक्लेशालेसत । यदि तपसा कर्मक्षयोऽप्यत्र कर्म हीयेत, अक्लेशतो विनैव केशोल्लु-  
ञ्चनादिदु खात् कर्मण क्षीणत्वात् । यथा नारकादिदु खं न भवति तथा अस्त्रीयोपि न स्यात् । शक्ति-  
साक्षर्येण लेसत. सन्तापक्लेशात् केवलात् कर्म हीयेत, न तु खान्तरानुबन्धी ससारप्रबन्ध तपस्त्विन  
स्यात् । यदीष्टमपर क्लेशात् तत्तप क्लेश एव चेत् । तत्कर्मफलमित्यस्मान्न शक्ते स्वरस्यैकम् ॥  
तपस शक्त्या शक्तिस्वरस्यार्थं तदा वक्तुं शक्यो यदि क्लेशादिष्ट क्लेशादपरमन्वत्तपो नान्यथा ।  
क्लेश एव चेत्तपः, तत्क्षेत्रस्य तप कर्मफलमित्यस्मात् कर्मफलभूतात्तपस शक्तिस्वरस्यैकम् न युक्तम् ।  
आदिशब्दात् सक्षयश्च ।”—प्रमाणवा० मनोरथ० १।२७८-७९ । (४) “ क्षयनिमित्तमिह न स्यात् ।  
तच्छक्तिस्वरस्य क्षयकारीत्यपि . .”—पद्म० बृह० श्लो० ५२ । ‘ तच्छक्तिस्वरस्य क्षयकारीत्यपि ’  
—स्या० २० पृ० १११८ । (५) पृ० ८३८ प० ११ । (६) पृ० ९ । (७) पृ० ८३८ प० १८ । (८)  
तुलना—“तत्पुत्रतमेव, किन्त्वन्नो जना दु खानुपवत् मुखसाधनं पश्यन्नात्मस्नेहात् सासारिकेपु दु खानुप-  
वत्मुखसाधनेपु प्रवर्तते अपथ्यादो च मूर्खानुरवत् ।”—पद्म० बृह० श्लो० ५० । स्या० २० पृ० १११८ ।

१ अर्थतद्भाव-प्र० । २-कर्मक्षया-व० । ३ स्वरस्य क्षय-प्र० । ४ तच्चित्र क्षय-आ०,  
व० । ५ वत् प्र० । ६-ज्ञानलक्षणप्रवा-प्र० ।

अज्ञो जनः दुःखानुपक्तमुत्साधनमपश्यन् आत्मस्नेहात् सांसारिकेषु दुःखानुपक्त-  
सुखसाधनेषु प्रवर्त्तते । हिताहितविवेकज्ञस्तु तादात्विकसुखसाधनं स्यादिकं परित्यज्य  
आत्मस्नेहात् आत्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्त्तते । यथा पथ्यापथ्यविवेकमजान-  
न्नातुरः तादात्विकसुखसाधनं व्याधिविवृद्धिनिमित्तं दध्यादिकमुपादत्ते, पथ्यापथ्यविवे-  
कज्ञस्तु तत्परित्यज्य पेयादौ आरोग्यसाधने प्रवर्त्तते । उक्तञ्च—

“तादात्वसुखसंज्ञेषु भाषेध्वज्ञोऽनुरज्यते ।

हितमेवानुरुद्धयन्तं प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥” [ ] इति ।

यदप्युक्तम्—‘ततो मुक्तिमिच्छता स्वरूपं पुत्रकलत्रादिकञ्च’ इत्यादि; तदप्येतेन  
प्रत्युक्तम्; सर्वथाऽनित्याऽनात्मकत्वादिभावनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् सर्वथा  
नित्यादिभावनावन्मुक्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । तन्निर्विषयत्वञ्च आत्मसिद्धेः क्षणभङ्गभङ्गस्य  
च प्रसाधितत्वात् प्रसिद्धम् । न च कालान्तरावस्थायिकानुसन्धानव्यतिरेकेण भावना-  
प्युपपद्यते इत्युक्तं सन्ताननिषेधप्रपट्टके । यो हि निगडादिभिर्बद्धः तस्यैव तन्मुक्ति-  
कारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसन्धिव्यापारे सति मोक्षः इति एकाधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्ष-  
व्यवस्था लोके प्रसिद्धा, इह तु अन्यः क्षणो बद्धः अन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानम्  
अन्यस्य च अनुष्ठानाभिसन्धिः व्यापारश्चेति वैयधिकरण्यान् सर्वमनुपपन्नम् ।

किञ्च, सर्वो बुद्धिपूर्व प्रवर्त्तमानः ‘किञ्चिदिदमतो मम स्यात्’ इत्यनुसन्धानेन  
प्रवर्त्तते । इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्त्तमानः ‘मोक्षो मम स्यात्’ इत्यनुसन्द-  
ध्यात्—क्षणः, सन्तानो वा ? न तावत् क्षणः; तस्य एकक्षणस्थायितया निर्विकल्प-  
कतया च एतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात् । नापि सन्तानः; तस्य सन्तानिव्य-  
तिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात्, सन्ताननिषेधे निषिद्धत्वाच्च ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘निरन्वययिनश्चरेषु’ इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; आत्मनोऽन-

(१) उद्धृतोऽप्यम्—न्यायवि० वि० पृ० ५८१ । स्या० २० पृ० १११९ । (२) पृ० ८३९ पं० ४ ।

(३) तुलना—‘क्षणिकादिभावनाया मिथ्यारूपत्वात्, न च मिथ्याज्ञानस्य निश्चयसकारणत्वमतिप्रस-  
ङ्गात् ।’—प्रज्ञ व्यो० पृ० २० पं० । ‘भावनाया विकल्पात्मिकायाः श्रुतमव्याश्रितान्तामव्याश्रयावस्तु-  
विषयाया वस्तुविषयस्य यागिज्ञानस्य जन्मविरोधात् । कुतश्चिदतत्त्वविषयाद् विकल्पज्ञानात्तत्त्वविष-  
यस्य ज्ञानस्यानुपलब्धे ।’—आप्तप० का० ८३ । तत्त्वायंश्लो० पृ० २१ । षड्व० बृह० श्लो० ५२ ।

(४) ‘न बन्धमोक्षो क्षणिकैकसंस्थो—क्षणिकमेक यच्चित्तं तत्संस्थो बन्धमोक्षो न स्याताम् । यस्य  
चित्तस्य बन्ध तस्य निरन्वयप्रणाशादुत्तरचित्तस्यावबद्धस्यैव मोक्षप्रसङ्गात् । यस्यैव बन्ध तस्यैव मोक्ष  
इति एकचित्तसंस्थो बन्धमोक्षी’—युक्त्यनु०, टी० पृ० ४१ । (५) क्षणिकैकान्तपक्षे । (६) तुलना—  
‘किञ्च, सर्वो बुद्धिपूर्व प्रवर्त्तमान किञ्चिदिदमतो मम स्यादित्यनुसन्धानेन प्रवर्त्तते ।’—षड्व० बृह० श्लो०  
५२ । (७) पृ० ८३९ पं० ७ ।

1—साधन पश्यन् आ० । 2—विवेकस्तु आ० । 3—विवेकस्तु आ० । 4—नित्यादिभावन्मु—आ० ।  
5—अन्यत्रानुष्ठा—व० । 6—सन्धेर्व्यावा—आ० । 7—पूर्वं वर्त्तमान व० । 8—सन्ताननिषिद्ध—थ० ।

भ्युपगमे तथाभूतचित्तक्षणेपु एकत्वाध्यारोपानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च सन्तानभङ्गप्रघट्टके प्रपञ्चिता । निरन्वयविनश्रत्वे च संस्काराणा मोक्षार्थः, प्रयासो व्यर्थः । रागाद्युपर-  
मो हि भयन्मते मोक्षः, तदुपरमश्च विनाशः, तस्य च निर्हेतुकतया अयन्नसिद्धत्वात्  
तदर्थानुष्ठानादिप्रयासो निष्कल एव । तेन हि प्राक्तनस्य रागादिचित्तक्षणस्य नाशः  
क्रियेत, भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः, सन्तानस्य चोच्छेदः अनुत्पादो  
वा, निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? तत्राद्यः पक्षोऽनुपपन्नः, विनाशस्य निर्हे-  
तुकतया भयन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । द्वितीयपक्षोऽप्यत एव अनुपपन्नः,  
उत्पादाभावो हि अनुत्पादः, सोऽभावरूपत्वात् कथं कुतश्चिदुत्पत्तेर अपसिद्धान्तप्रस-  
ङ्गात् ? तच्छक्तिक्षयार्थोऽपि तत्रप्रयासोऽसङ्गतः, तत्क्षयस्याप्यभावरूपतया कुतश्चिदुत्प-  
त्त्याभासभवात् । 'सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्रप्रयासः' इत्यप्येतेन प्रत्युक्तम्,  
क्षणोच्छेदानुत्पादवत् तदुच्छेदानुत्पादयोरभावरूपतया कुतश्चिदुत्पत्त्यनुपपत्तेः ।

किञ्च, सिद्धे वास्तवे सन्ताने तदुच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्रप्रयासो युक्तः,  
न चासौ तथाभूतः सिद्धः, क्षणातिरिक्तस्य तस्य वास्तवस्य भवतानभ्युपगमात्, सन्तान-  
निपेधे निषिद्धत्वाच्च ।

किञ्च, अन्त्यज्ञानस्य ज्ञानान्तराकर्तृत्वे सन्तानोच्छेदो भविष्यति । तच्च कुतो  
न करोति संत्वात् तदुत्पादे शक्तत्वाच्च ? शक्तमपि सहकारिकारणाभावात् नोत्पाद-  
यति, इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्, तदभावावस्य अप्रतिबन्धकत्वात् । तेन हि प्रतिबन्धो  
भावस्योत्पत्तेः, उत्पादकत्वस्य वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः, शैक्यपक्षे हि कारणान्तरा-  
भावः अभावरूपतया सकलशक्तिविरहस्वभावो भावस्य नोत्पत्तिप्रतिबन्धः कर्तुमर्हति ।  
यत् सकलशक्तिविरहस्वभावः न तत् कस्यचिदुत्पत्तिप्रतिबन्धकम् यथा शशविपाणम्,

(१) तुलना—'अहेतुकत्वात्प्राप्तस्य हि साहेतुन हिंसकः । चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाप्याङ्ग-  
हेतुकः ॥'—आप्तमी० का० ५२ । आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो बधकश्च न स्यात् ॥—  
तथा च सकलान्नविनिरोधलक्षणमोक्षस्य चित्तसन्ततिनाशरूपस्य वा शान्तनिर्वाणस्य मार्गो हेतुः नैरात्म्य  
भावनालक्षणो न युक्तः स्यात् नाशकस्य कस्यचिद्विरोधात् । —युक्तपत्र० टी० पृ० ४० । निर्हेतुकतया  
विनाशस्य उपायव्यवस्थम्, अयत्नसाध्यत्वात् । —प्रस०ध्वो० पृ० २० ड । (२) तपोऽनुष्ठानादिना ।  
'किञ्च, तेन मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाशः क्रियते, भाविनो वाऽनुत्पादः, तदुत्पादक  
शक्तेर्वा क्षयः, सन्तानस्योच्छेदोऽनुत्पादो वा, निराश्रयचित्तसन्तत्युत्पादो वा ? —पद् ३० बृह० श्लो०  
५२ । (३) सौगतमते । (४) निर्हेतुकाऽभाववादः विशीयत इत्यर्थः । (५) सन्तानोच्छेदानुत्पादयोः ।  
(६) तुलना—'किञ्च वास्तवस्य सन्तानस्यानभ्युपगमात् किं तदुच्छेदादिप्रयासेन ? नहि मृतस्य मारण  
क्यापि दृष्टम् । —पद् ३० बृह० श्लो० ५२ । (७) सहकारिकारणाभावेऽस्य । (८) सहकारिकारणाभावेन ।

१—रोपानुपपत्तिश्च सन्तान-व० । २ सत्कारिणाम् व०, ध्र० । ३ चोच्छेदः व० । ४ निराश्रयचित्त-  
भा० । ५—वृत्तपद्यते आ० । ६ कुतश्चिद्विनाशलाभासभवात् सन्तानस्योच्छेदार्थोऽनुत्पादार्थो वा तत्रप्रया  
सो युक्तो न चासौ व० । ७—वृत्तपद्यते—ध्र० । ८—तराकर्तृकत्वे व० । ९ सत्त्वाद्युत्पादे आ० । १० तद्भावस्य  
व० । ११ साध्यपक्षे व० । १२—राभावाभावरूपतया व० ।

तथाभूतश्च शार्क्यमते सहकारिकारणाभाव इति । द्वितीयविकल्पोऽप्येतेन प्रतिव्यूढः; उत्पादकत्वस्य हि प्रतिबन्धः कार्योत्पादकपदार्थसत्ताऽपहारः, स च अश्वविपाणप्रख्ये तदभावे दुर्घटः ।

किञ्च, अन्त्यचित्तक्षणस्य अर्थक्रियाकारित्वे अवस्तुत्वं स्यात्, ततः तज्जनकस्य इति, एवमायातमंशेषस्य चित्तसन्तानस्य अवस्तुत्वम् । अथ स्वसन्तानवर्तिनो ज्ञानक्षणस्य अजनकत्वेऽपि सन्तानान्तरवर्तिनो योगिज्ञानस्य जननात् नाऽशेषस्य तत्सन्तानस्याऽवस्तुत्वम्; तदयुक्तम्; रसादेरेककालस्य रूपादेः अव्यभिचार्यनुमानाऽभावानुपपन्नात्, अन्त्यक्षणवत् रूपादेर्विजातीयकार्यजनकत्वेऽपि संजातीयजनकत्वसंभवात् । एकसामग्र्यधीनत्वेन रूपरसयोर्नियमेन कार्यद्वयारम्भकत्वे अन्यत्रापि कार्यद्वयारम्भकत्वस्यात्, योगिज्ञान-अन्त्यक्षणयोरपि एकसामग्र्यधीनत्वाऽविशेषात् । अथ स्वसन्तानवर्तिकार्यजननसामर्थ्यवद् भिन्नसन्तानकार्यजननसामर्थ्यम् अन्त्यक्षणस्य नेष्यते, तर्हि सर्वथा अर्थक्रियासामर्थ्यरहितत्वेन अस्य आकाशकुशेशयवदवस्तुत्वं स्यात् । तथाविधस्यापि वस्तुत्वे सर्वथाऽर्थक्रियारहितस्य अक्षणिकस्यापि वस्तुत्व स्यात्, तथा च सत्त्वादयः क्षणिकत्वत्र साधयेयुः अनैकान्तिकत्वात् । तत्र सन्तानोच्छेदलक्षणा मुक्तिर्त्तकारणानुष्ठानप्रयासेन प्रसाध्या इति पक्षः क्षेमङ्करः ।

निराश्र(स्र)वचित्तसन्तत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयासप्रसाध्या इति पक्षस्तु ज्यायान् । केवल 'सा चित्तसन्ततिः सान्वया, निरन्वया वा' इति वक्तव्यम्? तत्र अस्याः सान्वय-

(१) सहकारिकारणाभावे । (२) अर्थक्रियाकारित्वाभावे । तुलना—“चरमक्षणस्याकिञ्चित्करत्वेन अवस्तुत्वापत्तिं पूर्वपूर्वक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्तं सकलसन्तानाभावप्रसङ्गः । विद्युदादे सजातीयकरणार्थं योगिज्ञानस्य करणाभावस्तुत्वमिति चेत्, न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणार्थं रससहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमानं न स्यात् ।’—सन्मति० टी० पृ० १६१ । स्या० २० पृ० ११२१ । प्रमेयक० पृ० ४९७ । (३) अन्त्यक्षणोत्पादकस्य उपान्त्यक्षणस्य । (४) यदा हि कश्चित्सर्वज्ञो योगी तम् अन्त्यक्षणं जानाति तदा सोऽन्त्यक्षणं योगिज्ञानस्य सहकारितया समुत्पादको भवति नाकारणविषय इति सिद्धान्तात् । अतः सजातीयक्षणानुत्पादकोऽपि अन्त्यक्षणयोगिज्ञानस्य

णवर्तिन रूपजनयित्वं विजातीय द्वितीयक्षणवतिरस सहकारि भवति । यदि हि अन्त्यो ज्ञानक्षणसजातीय ज्ञानक्षणान्तरमनुत्पाद्यापि विजातीये सन्तानान्तरवर्तिनि योगिज्ञाने आलम्बनतया सहकारि स्यात् तदा पूर्वक्षणवतिरूपमपि द्वितीयक्षणवतिसजातीय रूपक्षणान्तरमजनयित्वं विजातीये द्वितीयक्षणवतिरस सहकारि स्यात् । तथा च द्वितीयक्षणवतिरसात् रूपानुमानं न स्यात् इति भावः । (६) रसोत्पादकत्वेऽपि । (७) रूपक्षणान्तरानुत्पादकत्वसंभवात् । (८) योगिज्ञान । (९) अन्त्यक्षणस्य । (१०) चित्तसन्तते ।

१ साध्यमते व० । २ व्युत्पादकस्य हि अ०, उत्पादकत्वे हि व० । ३-मशेषचित्त-आ० । ४ अन्त-आ० । ५ सजातीयजनकत्वासंभ-व० । ६ तत्कारणोऽनुष्ठान-आ०, स्वकारणानुष्ठान-व० । ७ निराश्रयचित्त-आ० । ८-या चेति अ० ।

पक्ष एव युक्तः, तथाभूते एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाऽबद्धः । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः सम्भवति, तत्र हि अन्यो बद्धः अन्यश्च मुच्यते । सन्तानैक्याद् बद्धस्यैव मुक्तिरत्रापि इति चेत्, ननु सन्तानार्थं परमार्थसन्, सवृत्तिसन् वा स्यात् ? यदि परमार्थसन्, तदा आत्मैव नामान्तरेण उक्तः स्यात् ? अथ सवृत्तिसन् ; तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वाद् 'अन्यो बद्ध अन्यश्च मुच्यते' इत्याया- ६ तम्, तथा च बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

अथ अत्यन्तानात्वेऽपि क्षणाना दृढतररूपतया एकत्वाध्यवसायात् 'बद्धमात्मान मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धाय प्रवर्तते, कैथमेवं नैरात्म्यदर्शनम् ? यतस्तद्भावनाभ्या- 10 सान्मुक्तिः स्यात् । अथ शास्त्रसंस्कारप्रभवं तद्दर्शनमस्ति, न तर्हि 'एकत्वाध्यवसायः अस्सत्पलद्रूप, ईत्येक सन्धिस्तोरन्यत्प्रच्यवते । अत कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात् यतो 'मिथ्याध्यारोपहानार्थं यतोऽसत्यपि मोक्षरि' [प्रमाणवा० १।१९४] इत्युक्तं शोभेत ? यत्पुनरुक्तम्—'उपभोगाश्रयत्वेन' इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, 'हेयोपादे- 15 यत्त्वज्ञो हि आत्मन्तिकमुखसाधनम् उपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यते न तादात्विक-सुखसाधनम्, तथाहि'—

“एगो मे सैसदो अप्पा नाणदसण्णलक्खण्णो ।

सेसा मे चाहिरा भावा सव्वे सज्जोगलक्खणा ॥ [भावपाहु० गा० ५९]

सज्जोगमूल जीवण पत्ता दुक्खपरपरा ।

तम्हा सज्जोगसव्व सव्व तिविहेण्ण वोसरे ॥” [मूलाचार० २।४८-४९]

(१) 'चित्ताना तत्त्वतोऽवितत्वसाधनात् सन्तानोच्छेदानुपपत्तश्च'—अष्टसह० पृ० ६९ । प्रमेयक० पृ० ३२० । सन्मति० टी० पृ० १६२ । 'केवल सा चित्तसन्तति सान्वया निरन्वया वेति वक्तव्यम् । अथ सिद्धसाधन तथाभूत एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्त ।—पद्व० बृह० श्लो० ५२ । (२) निरन्वयक्षणापक्षस्यपि । (३) सन्तानस्याप्यवस्तुत्वादव्यथात्मा तथोच्यताम् । कथञ्चिदव्य तादात्म्याद्विना सन्तत्यसम्भवात् ।—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३ । 'यदि सन्तानाथ परमाथसस्तदा आत्मैव सन्तानशब्देनोक्त स्यात् । अथ सवृत्तिसन्, तदा एकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वादन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यत इति बद्धस्य मुक्त्यर्थं न प्रवृत्तिः स्यात् ।—सन्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (४) तर्हि न नैरात्म्यदशनमिति कुतस्तन्निराधना मुक्तिः ?—सन्मति० टी० पृ० १६२ । प्रमेयक० पृ० ३२१ । (५) नैरात्म्यभावनायामस्त्वलद्रूपया हि 'बद्धमेव आत्मान मोचयिष्यामि' इत्येकत्वाध्यवसा 16 यस्य सभावनेव नास्ति । (६) नैरात्म्यदशनस्य समयने त्रियमाण । (७) एकत्वाध्यवसायः । (८) पृ० ८४० पं० ५ । (९) हेयोपादेयत्वज्ञा हि आत्मन्तिकमुखसाधनमुपभोगाश्रयमात्मीयञ्चाभिमन्यन्ते न तादात्विकमुखसाधनम् ।—स्या० १० पृ० १११९ । (१०) 'एको मे सासवो अप्पा—निवमसा० गा० १०२ । एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदशनलक्षण । स्या मे बाह्या भावा सर्वे सयोगलक्षणा । सयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा । तस्मात्सयोसम्बन्धं सर्व त्रिविधन व्युत्सृजामि ।

१ बद्धात्मान व० । २ यद्व्युक्त-व० । ३ उपयोगाध-आ० । ४-गाशयमा-व० । ५ हि उक्तञ्च प्राकृतश्लोक एगो व० । ६ ससवो थ० । ७ सयोग-आ० । ८ सयोग-आ० ।

“द्वाराः परिभ्रकाराः न-धुर्जनो वन्दनं विपं विपयाः ।

ज्ञाय (कोऽय) जनस्य मोहः ये रिपवस्तेषु मुहदाशा ॥” [ ]

इत्येवं भावयतो विवेकिनः संयोगसम्बन्धिषु दुःखहेतुषु भावेषु सुखलेशसाधन-  
त्वस्य सद्भावेऽपि अन्यदा आत्यन्तिकसुखसाधनं रत्नत्रयं पश्यतः कुतस्तेषु आत्मीय-  
बुद्धिः यतस्ततो निवृत्तिर्न स्यात् ? ननु आत्मीयबुद्धेः ततः स्यान्निवृत्तिः यदि एकान्तेन  
तेषां दुःखहेतुत्वमेव स्यात्, न चैवम्, लेशतः सुखहेतुत्वस्याप्यत्र संभवात्, तेन दुःख-  
हेतुत्वेऽपि आत्मीयस्नेहात् चेनाकारेण सुखहेतुता तावतांशेन स्वस्योपकारकान् इन्द्रिया-  
दीन् मन्यमानः तेषु नात्मीयबुद्धिं जहातीति; तदप्यसाम्प्रतम् ; तेषां सुखलेशसाधन-  
त्वेऽपि अन्यैस्य आत्यन्तिकसुखसाधनस्य सद्भावेन 'निर्विपात्रस्य सद्भावेन सविपा-  
नैस्येव त्यागसंभवात् ।

यदप्यभिहितम्—‘पिच्छटकाणकुण्डादिदोषदर्शनेऽपि’ इत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम् ;  
यतो न सौख्यादिगुणदर्शनात् स्नेहो भवतीत्यस्माभिरिष्यते, किन्तु उपभोगाश्रयत्वाख्य-  
गुणदर्शनात् । विवेकिनश्च संयोगसम्बन्धिषु भावेषु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणसंसार-  
दुःखहेतुत्वाख्यम् आत्यन्तिकदोषं पश्यतो न उपभोगाश्रयत्वाख्यस्य गुणस्य दर्शनमस्तीति  
तन्निवर्धनैस्नेहस्य व्यावृत्तेः कथं दोषदर्शनं स्नेहस्य बाधकञ्च स्यात् ।

ननु तदोषं पश्यतो यद्यपि तत्कालेऽनुरागिणी मतिश्चर्लिता, तथापि तत्रासौ  
नैव अत्यन्तं विरक्तो द्रष्टव्यः, पुनस्तद्गुणलेदर्शनादनुरागसंभवात् ; ईत्यप्यसुन्दरम् ;  
अज्ञो हि तादात्विकदुःखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकदोषस्य दर्शनाद् विरक्तः तादात्विक-  
सुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते इति युक्तम्, हेयोपादेय-  
तत्त्वज्ञस्तु जातिजरामरणप्रबन्धलक्षणदुःखहेतुत्वाख्यस्य आत्यन्तिकदोषस्य दर्शनाद्विरक्तो  
न तादात्विकसुखहेतुत्वाख्यस्य तादात्विकगुणस्य दर्शनात् पुनरनुरज्यते, किन्तु आत्य-  
न्तिकसुखहेतुत्वाख्यगुणदर्शनात् । न च संयोगसम्बन्धिषु तद्दर्शनमस्ति इति साकल्ये-  
नासौ तत्र उपेक्षालक्षणं वैराग्यमात्मसात्करोति । ननु यदि तद्व्यवन्धलक्षणदुःखहेतुत्वेन

(१) सगृहीताऽयं श्लोक मुभाषितरत्नभाण्डागारे । (२) “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-  
मार्गं”—तत्त्वार्थसू० ११ । तुलना—“तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि तद्यथा—बुद्धो धर्मं सधश्चेति ।”

—धर्मसू० १ । (३) तात्कालिकसुखसाधनेषु स्यादपि । (४) तादात्विकसुखसाधनस्यादीनाम् ।

(५) रत्नत्रयस्य । (६) पू० ८४०५० ११ । (७) “यद्यप्येकत्र दोषेण तत्क्षणं चिन्ता मतिः । विरक्तो

नैव तत्रापि कामीव धनितान्तरः”—प्रमाणवा० १२४१-४२ । (८) विरागवती जावा । (९)

तत्त्वज्ञ । (१०) संयोगसम्बन्धिषु स्यादपि ।

1—जना ब—ब० । 2—सम्बन्धेषु थ० । 3 दुःखाहेतुषु व०, आ० । 4—त्र भावान व० । 5—

त्वेऽप्यात्मीय—थ० । 6—स्पासद्भा—ब० । 7 निविशेषात्स्य सद्भावेन व० । 8—प्रस्येव त्यागे सभ-

वात् थ० । 9 साहचर्यादि—थ० । 10—सम्बन्ध्याभावेषु थ० । 11 गुणदर्शनमस्तीति व०, आ० । 12—

स्नेहव्यावृ—ब० । 13 स्नेहबाध—ब० । 14 इत्यसु—ब० । 15 अन्यो हि आ० । 16—हेतुत्वाख्यगुणदर्श-

नात् व०, थ० । 17 अपेक्षा—थ० ।



नानयोरविशेष इति चेत्; ननु कोऽय तया ज्ञानस्याऽभिभयो नाम-नाशः, तिरोभावो वा ? यदि नाशः; कथं तत्र तत्सद्भावः तस्य तद्विरोधित्वात् । अथ तिरोभावः; तन्न; स्वपर-प्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यनुपपत्तेः । अतः सुपुत्राद्यवस्थायाम् उपलब्धिदलक्षण-प्राप्तस्य ज्ञानस्यानुपलब्धेः अभाव एव ज्यायानिति ॥६॥

5 अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘किञ्चिदप्यपरिच्छिन्दन्नेव हि’ इत्यादि; तद-मुपुत्राद्यवस्थास्वपि समीचीनम्; सुपुत्राद्यवस्थायां स्वापादिसंवेदनस्य तस्यैतस्य संवेदनस्य च ज्ञानसद्भावप्रसाधनम् सद्भावात् । तत्र हि ज्ञानानभ्युपगमे ‘सुप्तमहमस्वाप्तम्’ इति सुप्तो-त्थितस्य स्वापसुप्तस्मरणस्य ‘एतावत्कालं निरन्तरं सुप्तोऽहम् एतावत्कालञ्च सान्तरम्’ इति स्वार्पस्मरणस्य चाभावानुपपन्नात्, तस्यै ज्ञातयस्तुविषयत्वेन स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावि-  
10 त्वात् । यत् स्मरणं तत् स्वविषयज्ञानान्तराविनाभावि यथा घटादिस्मरणम्, स्मरणञ्च सुप्तोत्थितस्य स्वापसुप्तादिसंवेदनमिति । अस्य स्वविषयज्ञानान्तरमन्तरेणाप्याविर्भावे घटादिस्मरणस्यापि तदन्तरेणाविर्भावः स्यात्, अतः कुतस्तदनुभवादिरपि सिद्धेत् ? ततः सुपुत्राद्यवस्थायां येनानुभवेन स्वापसुप्तादिसंवेदनमाविर्भाव्यते स तद्विषयोऽभ्युपगन्तव्यः ।

15 एतेन मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि ज्ञानसद्भावः प्रसाधितः, तदवस्थायाः प्रच्यु-तस्य ‘तदा मया न किञ्चिदनुभूतम्’ इति स्मरणनिवन्धनेन येनानुभवेन सता आत्मानिखिलानुभवविकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽनुभयोऽभ्युपगन्तव्यः, तमन्तरेण तस्मरणानुपपत्तेः । न च सुपुत्राद्यवस्थायां स्वापसुप्तस्य तत्संवेदनस्य वा ‘इदमित्थम्’ विनाश, न विज्ञानस्य सत्त्व विनाशस्य वा निहंतुक्त्वम् । अथ तिरोभाव, न; विज्ञानस्य सत्त्वेन तत्सत्तवं संवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः ।”-प्रश्न० व्यो० पृ० २० ड ।

(१) निद्रया । (२) नाशस्य । (३) सद्भावविरोधित्वात् । (४, पृ० ८४७ पृ० १८ । (५) ‘ततश्च सुपुत्रावनुभूत आनन्द आत्मा भावरूपाज्ञानञ्चेति त्रयमप्युत्थितेन परामृश्यते सुप्तमहमस्वाप्तम् न किञ्चिदवदिति मिति ।’-विवरणप्र० पृ० ६० । (६) ‘अस्ति चात्र स्वापलक्षणार्थनिरूपणम्-एतावत्कालं निरन्तरमुपुत्राग्रहेतावत्कालं सान्तरमित्यनुस्मरणप्रतीते ।’-प्रमेयक० पृ० ३२३ । (७) स्मरणस्य । (८) अनुभवात्मक । (९) तुलना-“मुप्तमूर्च्छाद्यवस्थायाम् चेतो नेति च ते बुन । निश्चयो वेदनाभावादिति चेत्स कुता गत । यदीत्य भवतस्तासु निश्चयः सप्रवर्तते । न वेद्य चित्तमित्येव सति सिद्धा सचित्तता ॥ यदि च तासु मूर्च्छाद्यवस्थायाम् न वेद्म्यह चित्तमित्येव निश्चयः प्रवर्तते भवत, तदा तर्नैव तथा प्रवृत्तेन निश्चयेन सचित्तता सिद्धा ।”-तत्त्वस०, पृ० ५०५४० । प्रमेयक० पृ० ३२३ । ‘स्वप्नमूर्च्छाद्यवस्थायाम् चित्तं च यदि नेप्यत । मृति स्यात्तत्र चोत्पत्तो मरणाभाव एव वा ।’-तत्त्वस० पृ० ५४१ । (१०) निखिलानुभवविकल्पस्य आत्मनः स्मरणानुपपत्तेः । (११) तुलना-“स्यान्मत यदि विज्ञानं दशास्वास्वस्ति तत्कथम् । न स्मृति प्रतिबुद्धाद तदाकारा भवेदिति ॥ तदकारणमत्यर्थं पाटवादरसम्भवात् । स्मरणं न प्रवर्तते सद्योजातादिचित्तवत् ॥-यदि ह्यनुभूत इत्येतावन्मात्रेणैव स्मरणं स्यात्स्यादतत, यावता सत्यप्यनुभवे पाटवाभ्यासादित्वादिर्विकल्प्यात् स्मरणं न भवति, यथा सद्योजाताद्यवस्थायामनुभूतस्यापि चित्तस्य ।”-तत्त्वस०, पृ० ५४० । प्रमेयक० पृ० ३२५ ।

1 स्वप्नादिस-श्र० । 2 तत्त्वसंवेदनस्य नास्ति श्र० । 3 तत्र विज्ञाना-श्र० । 4-मत्वापन् व० । 5 यत् स्वसंस्मरणं व० । 6-निबन्धनो येना-श्र०, व० । 7 ननु सुपुत्रा-श्र०, न च सुपुत्रा-श्र० ।



इति निरूपणाभावादभावः इत्यभिधातव्यम्, तदहर्जातवालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्यजनित-  
सुखेन तत्संवेदनेन चाऽनेकान्तात् । न खलु तैत्तेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते, अथ च  
अस्ति । नच दुःखाभावात् सुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौणः, अभावस्य प्रतियोगिभावान्तर-  
स्वभावतया अभावविचारावसरे व्यवस्थापितत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'तत्र ज्ञानसद्भावे' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, तत्र ज्ञानस-  
द्भावेऽपि जाग्रत्सुप्तावस्थयोर्भेदोपपत्तेः । यत्र हि अनभिभूत बाह्याध्यात्मिकार्थविचार-  
चतुर ज्ञान सा जाग्रदवस्था, यत्र तु निद्राद्यभिभवशक्तद्विपरीतं सा सुप्ताद्यवस्था ।

यदपि—'कोऽयं निद्रादिना ज्ञानस्याभिभवः' इत्याद्युक्तम्, तत्रास्य तद्वशाद् बाह्या-  
ध्यात्मिकार्थविचारविधुरत्वमेवाऽभिभवः । स्वपरप्रकाशस्वभावत्वात्तस्यै कथं तद्विधुर-  
त्तम् ? इत्यप्यनुपपन्नम्, गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनेन व्यभिचारात्, तस्य तत्स्वभावत्वेऽपि  
तन्निरूपणासामर्थ्यप्रतीतेः । नहि तैत्स्वभावत्वमात्रेणैव ज्ञानस्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्,  
सर्वत्राऽनभिभूतस्यैवास्यै तन्निरूपणसामर्थ्यसंभवात् । यथा च गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनम्  
अन्यमनस्कृतयाऽभिभूतम् तथा ईवप्रादिसंवेदनं निद्रादिना इति युक्तमुत्पश्यामः ।  
कथञ्चैत्रंवादिनो मणिमन्त्रादिना अग्न्यादे शरावादिना च प्रदीपादेः प्रतिबन्धं सिद्धयेत् ?  
नहि 'तेनै तस्यै नाशः' प्रतिबन्धं सभवति, प्रत्यक्षविरोधात् । नापि तिरोभावः, सर्वकार्य-  
जननसमर्थस्यास्य तिरोभावस्याप्यसंभवात् । प्रतीत्यनतिक्रमेणात्र स्वरूपसामर्थ्य-  
प्रतिबन्धाभ्युपगमः अन्यत्रापि समानः ।

किञ्च, सुप्ताद्यवस्थाया ज्ञानाभावः स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा ? यदि  
स एव, किं तत एव ज्ञानात्, तदभावात्, तदनुपलम्भात्, जाग्रत्प्रबोधदशाभाविज्ञान-  
ान्तराद्वा ? न तावत्तत एव, अस्याऽसत्त्वात् । यदसन्नं तत् कस्यचित्प्रतिपत्तिहेतुः

(१) प्रतियोगिन सकाशात् यदाभन्न भावान्तर भूतलादि तत्स्वभावतया । (२) पृ० ८४७ प०  
१९।(३) मिद्धादिसामग्रीविवेकात् विशिष्टं सुपुण्याद्यवस्थाया गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानानुत्पन्नं बाह्याध्यात्मिकरूप  
दार्शनिकधर्मग्रहणविमुखं ज्ञानमस्ति अन्यथा जाग्रत्प्रबुद्धज्ञानप्रवाहयोरेवभावप्रसक्तिरिति ।—सन्मति०  
टी० पृ० १६३ । प्रमेयक० पृ० ३२३ । (४) पृ० ८४० प० १ । (५) ज्ञानस्य । (६) स्वपरप्रकाशनस्व-  
भावत्वमात्रेण (७) ज्ञानस्य । (८) तुलना— 'मणिमन्त्रादिना अग्न्यादिप्रतिबन्धं शरावादिना प्रदीपादि-  
प्रतिबन्धेऽपि च समानत्वात् ।'—प्रमेयक० पृ० ३२२ । (९) मन्त्रादिना शरावादिना वा । (१०)  
अग्न्यादे प्रदीपस्य वा । (११) निद्रया ज्ञानस्याभिभवेऽपि । (१२) तुलना— तदवस्थाया विज्ञानाभा-  
वप्राहकप्रमाणासंभवात् । तथाहि—न तावत्सुप्त एव तदवस्थाया विज्ञानाभाव वेत्ति तदा विज्ञानान-  
भ्युपगमात् । तदवगमे च तस्यैव ज्ञानत्वात् न तदवस्थाया तदभावः । नापि पार्श्वस्थितोऽन्यस्तदभाव  
वेत्ति, कारणव्यापकस्वभावानुपलब्धीना विरुद्धविधेर्वाऽत्र विषयऽव्यापारात्, अयस्य तदभावावभास  
कत्वायोगात् ।"—सन्मति० टी० पृ० ९० । प्रमेयक० पृ० ३२३ ।

१ तत्र तेन थ० । २ सुपुण्यादिसंवेदनं थ० । ३ वेदनतस्य थ० । ४ नाशं सभ-व० ।  
५ स्वकायजनन-व० ।

यथा वन्ध्यास्तन्धय , असच्च सुपुत्राद्यवस्थायामभिप्रेत भवद्भिः ज्ञानमिति । नापि तद-  
भावात्, परिच्छेदकत्वस्य ज्ञानधर्मतया तदभावे सभवाभावात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव  
'अभाव' इति नामकृत स्यात् ।

तदनुपलम्भतोऽपि तत्कालभाविन , अन्यकालभाविनो वा तत्र तदभावप्रतिपत्ति  
स्यात् ? प्रथमपक्षे कथं तत्र सर्वथा ज्ञानाभावः ? तदभावप्राहिणोऽनुपलम्भज्ञानस्य  
तत्र विद्यमानत्वात् । नापि अन्यकालभाविन , तस्य तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वायोगात् । नहि  
अन्यकालोऽनुपलम्भोऽन्यकालस्याभावस्य प्रतिपत्तिहेतु अतिप्रसङ्गात् । अनुपलम्भ  
उपलम्भाभाव , अभावश्च आश्रयग्रहण प्रतियोगिस्मरणसापेक्ष प्रहीतुं शक्य , तत्परत-  
तया तद्ग्रहणस्मरणाभावे प्रहीतुमशक्यत्वात् । अतः अनुपलम्भ तत्रेच्छता तदाश्रय-  
तया तत्र प्रथममात्मा परिच्छेत्तव्य प्रतियोगी च स्मर्त्तव्य , अतः कथं सुपुत्राद्यव-  
स्थाया सर्वथा ज्ञानाभाव सिद्धेत् ? तत्र अनुपलम्भतोऽपि तत्र तदभावसिद्धिः ।

नापि जाग्रदप्रबोधदशाभाविज्ञानान्तरात्, तदपेक्षया सुपुत्रादिज्ञानस्य उपलब्धि-  
क्षणप्राप्तत्वासभवात्, तदज्ञाभाविन तदभावप्राहिण कस्यचिज्ज्ञानान्तरस्थाऽप्रतीतेश्च ।  
'निर्भरसुप्तेन मया न किञ्चिज्ज्ञातम्' इति प्रबोधदशाभाविज्ञान तदभावप्राहकत्वेन  
15 प्रतीयते एव इत्यप्यपेशलम्, एतस्मात् तदा तत्सद्भावस्यैव प्रतीतेः । स्मृतिरूप हि इदम्,  
'स्मृतिश्च तदज्ञाया तदभावप्राहिज्ञानान्तरमन्तरेण नोपपद्यते' इत्युक्तमन्तरमेव, तत्र  
सुपुत्राद्यवस्थाया स एवात्मा ज्ञानाभाव प्रतिपत्तु समर्थः ।

नापि पार्श्वस्थ , कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धे विरुद्धविधेर्वा तदभावाऽविनाभा-  
विनो लिङ्गस्य अत्रासभवात् । न च तत्र तत्सद्भावाऽविनाभाविनोऽप्यस्योऽसभव समान  
20 इत्यभिधातव्यम्, ईवात्मनि तदविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकार-  
विशेषादेः तत्सद्भावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य अत्रोपलब्धे, जाग्रदज्ञायामपि अन्यचेतो  
वृत्ते तद्व्यतिरेकेण अन्यतोऽप्रतिपत्तेः ।

ननु द्विविधोऽत्र प्राणादि -चैतन्यप्रभव , प्राणादिप्रभवश्च । तत्र चतन्यप्रभवो

(१) ज्ञानाभावे । (२) मुपुत्राद्यवस्थायाम् । (३) ज्ञानाभावः । (४) आश्रयभूतस्य  
आत्मनो नानमथ च नानाभावस्य प्रतियोगिना ज्ञानस्य स्मरणमस्त्यवेति भावः । (५) सुपुत्रिदशायाम् ।  
(६) नानाभावः । (७) लिङ्गस्य । (८) तुलना- स्वात्मनि स्वसविदितविज्ञानाविनाभूतत्वेन  
निश्चितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादे तत्त्वस्यायामुपलभ्यमानलिङ्गस्य सदभावेन अनुमान  
प्रतीत्यत्पत्तः । -संमति० टी० प० १० । प्रमेयक० प० ३२४ । (९) ज्ञानाविनाभावित्वेन । (१०)  
प्राणापानशरीरोष्णतादिभ्य एव नान प्रतीयत इत्यथ । (११) ननु द्विविधोऽत्र प्राणादि चतन्य  
प्रभवो जाग्रदज्ञायाम प्राणादिप्रभवश्च मुपुत्राद्यवस्थायामिति । -प्रमेयक० पृ० ३२४ ।

1 तत्प्रतिहेतुत्वा-आ०, व० । 2-कालस्य भावस्य आ० । 3 निर्भरत्वन्त मया न कि-व०  
आ० । 4 मया किञ्चिज्ज्ञानम् थ० । 5 तदभावस्यथ थ० ।

जाग्रदशायाम् प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति । तत्र चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद-  
शयाया चैतन्यानुमान युक्तम् न पुन प्राणादिप्राणादे । न सलु गोपालघटिकादौ धूमप्रभव-  
धूमादन्यनुमान दृष्टम् अग्निप्रभवधूमादेव तद्दर्शनात्, इत्यप्यचारु, सुषुप्तेतरावस्थयोः  
प्राणादेर्विशेषोऽप्रतीते । यथैव हि सुषुप्त प्राणिति तथैव इतरोऽपि, अन्यथा 'किमय  
सुषुप्तः किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न  
स्यु तर्हि जाग्रत परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनाऽवस्थितस्य तादृशमेव तेषा सभवो  
न स्यात् । नहि अग्नेर्जायमानो धूम प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो वा जायते, धूमप्रभवो  
वाऽग्नेः इति । दृश्यन्ते च यादृशा एव सुषुप्तस्य प्राणादय तादृशा एव अस्यापि ।  
तन्नैते भिन्नकारणप्रभवाः । चैतन्येतरप्रभवाश्च प्राणादीन् विवेचयन् वीतरागेतरप्रभवान्  
व्यापारादीनपि विवेचयतु । तथा च "सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते वीतरागाश्च  
सरागवत् अतो वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्य " [ ] इति विप्लवते ।

सुषुप्तादौ च प्रथम प्राणादि कुतो जायताम् ? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणो जाग्र-  
त्प्राणादेः इति चेत्, न, एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानात् अनन्तरर्भावी प्राणादि कालान्तरभावि  
च प्रबोधज्ञानम् इत्यस्याऽसम्भाव्यमानत्वात् । नहि एकस्मात् सामग्रीविशेषात् क्रम-  
भाविकार्यद्वयसभवो युक्त, अन्यथा नित्यादप्यक्रमात् क्रमवत्कार्यद्वयोत्पत्ति स्यात् ।  
तथा च "नाक्रमात् क्रमिणो भावा " [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोध । तस्मात्  
सुषुप्तावस्थाभाविन एव ज्ञानात् तत्कालभाविप्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्य, अतः कथ  
तत्र ज्ञानाभावसिद्धिः ? ततो ज्ञानस्य कदाचिदपि व्यवच्छेदासभवात् सिद्धोऽनवच्छिन्नो  
ज्ञानसन्तान, तस्य च मुक्तिकारणानुष्ठानात् प्रतिबन्धककर्मप्रक्षये अनन्तचतुष्टयस्वरूप-  
लाभो मोक्ष इति ।

तथा च घातिकर्मप्रक्षये समुत्पन्नकेवलज्ञानादेर्भगवतो मुक्तिर्यैरभिप्रेता<sup>१</sup>तैः जीव-  
न्मुक्तये दत्तो जलाञ्जलि अनन्तचतुष्टयासभवात् । कबलाहारो हि जुद्धेदनोदये  
गृह्यते, तदुदये च जुद्धे रसभवात् भगवत कथमनन्त सौख्यम् ? यतोऽनन्तचतुष्टय-  
स्वरूपलाभलक्षणा जीवन्मुक्ति स्यात् । न च तत्र भुक्तरावेदकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति ॥७॥

(१) यथैव हि सुषुप्त प्राणिति तथैतरोऽपि, अन्यथा किमय सुषुप्त किं वा जागर्ति इति  
सन्देहो न स्यात् । यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्यु किन्तु प्राणादिप्रभवा, तर्हि जाग्रत  
परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशमेव तेषा भावो न स्यात् । -प्रमेयक० पृ० ३२४ ।  
(२) प्राणप्रभवाणामेव प्राणादीनाम् । (३) द्रष्टव्यम्-पृ० ६०३ टि० १ । (४) एकस्माज्जाग्रद्विज्ञा  
नादनन्तरर्भावी प्राणादि कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यासम्भाव्यमानत्वात् । -प्रमेयक० पृ० ३२५ ।  
(५) द्रष्टव्यम्-पृ० ६१९ टि० १० । (६) देवताम्बर यापनीयश्च । (७) केवलनि ।

१ सुप्त आ० । २ एव सुप्तस्य व० । ३ विवेचयत थ० । ४ सुप्तादौ च आ० । ५-भाविप्राणादेः  
का-थ० । ६-द्वयस्य सभ-व० । ७-सिद्ध थ० । ८ कथमनन्तसौख्यं आ० । ९-क कञ्चित् व० ।

नन्विदमस्ति—यदा भुक्तिः अविकलकारणा तदाऽसौ भवत्येव यथा लघ्वस्थाव-  
 स्थायाम्, तथाभूता चासौ संयोगिकेत्यवस्थायामिति । <sup>१</sup>द्विविध  
 हि भुक्तेः कारणम्—बाह्यम् आभ्यन्तरञ्च । तत्र बाह्यम्—आहारादि,  
 तत्तावदविकलमास्ते न तत्र विप्रतिपत्तिः । आभ्यन्तरमपि पर्याप्ति-  
 वेद्य-तैजस-दीर्घायुष्कोदयलक्षणऽ भगवति अविकलमेव । यतो हि  
 शरीरेन्द्रियादिनिष्पत्तिः सा पर्याप्तिः । वेद्यं सुखदुःखसाधक कर्म । तैजसम् अन्त-  
 स्तेजः शरीरोष्मा, यतो भुक्ताऽन्नादिपाको भवति इति । दीर्घमायु चिरजीवनकारण  
 कर्म । एतदुदयात् क्षुद्रेदना उपजायते, अस्ति च तदुदयो भगवति अतो भुक्तिसिद्धिः।  
 तदनभ्युपगमे वा तत्र क्षुदभावः प्रमाणात् प्रतिपत्तव्यः । तच्च प्रमाणम्—आगमः,  
 अन्यद्वा स्यात् ? न तावदागमः, सिद्धवत् सयोगिकैवलिनि क्षुदभावप्रतिपादकस्य आग-  
 मस्याऽसंभवात्

प्रमाणान्तरान्च निषेधः स्वभावानुपलम्भात्, अन्यतो वा स्यात् ? न तावत्  
 स्वभावानुपलम्भात्, केवलिनो विप्रकृष्टस्वभावत्वात् । नच विप्रकृष्टस्वभावे भावे  
 स्वभावानुपलम्भो युक्त, एरुज्ञानससर्गिपदार्थान्तरोपलम्भलक्षणत्वात्तस्य । अन्यतोऽपि  
 विधीयमानात्, निषिध्यमानाद्वा तन्निषेधः स्यात् ? यदि विधीयमानात्, तदा तेन विरो-  
 धिना भवितव्यम्, अवरुद्धविधेरभावाऽसाधकत्वात् । न च क्षुद्धिरोधि केवलिनि  
 किञ्चित् प्रतीयते । न च ज्ञानादिगुणा एव तत्र तद्विरोधिन. इत्यभिधातव्यम्, यतो  
 ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोध, तद्विशेषस्य वा ? यदि ज्ञानादिमात्रस्य, तर्हि यथा यथा  
 तद्गुणा विवर्द्धन्ते तथा तथा क्षुधो हानितारतम्येन भवितव्यम् प्रकाशविवृद्धाविव तमसः,  
 न चैवमस्ति । नहि धालादौ ज्ञानाद्यपचये क्षुदुपचय, ततः प्रभृति च ज्ञानाद्युपचये  
 तारतम्येन क्षुदपचयो लक्ष्यते । तत्र ज्ञानादिमात्रस्य क्षुधा विरोधः । अथ ये

(१) अस्ति च केवलिभुक्ति समग्रहेतुयथा पुरा भुक्ते । पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदयो  
 हेतु ॥ नष्टानि न कर्माणि क्षुधो निमित्त विरोधिनो न गुणा । ज्ञानादयो जिने किं सा ससारस्थिति  
 नास्ति ।—केवलिभु० श्लो० १-२ । सम्मति० टी० पृ० ६१२ । स्या० २० पृ० ४७४ । आध्यात्मिक०  
 पृ० ६३ B । अस्ति केवलिना भुक्ति समग्रसामग्रीकत्वात् पूर्वभुक्तिवत् । सामग्री चैव प्रक्षपाहारस्य,  
 तद्यथा पर्याप्तत्व वेदनीयोदय आहारपक्तिनिमित्त तैजसशरीर दीर्घायुष्कत्व चेति ।—सूत्रक० शी०  
 पृ० ३४५ । युक्तिप्र० पृ० १५३ । (२) यत कवलाहारभुक्तेर्द्विधा कारण बाह्यमाभ्यन्तर च । तत्र  
 बाह्यमपानादि तत्तावदस्त्येव न तत्र कस्यापि विवाद । आभ्यन्तर पर्याप्तिवेद्यतैजसदीर्घायुष्कोदय  
 लक्षणम् ।—स्या० २० पृ० ४७५ । (३) तम इव भासो वृद्धी ज्ञानादीना न तारतम्येन । क्षुध  
 हीयते न च तज्ज्ञानादीना विरोधमिति ॥ अविकलकारणभावे तदन्यभावे भवेदभावेन । इदमस्य  
 विरोधीति ज्ञाने न तदस्ति केवलिनः ।—केवलिभु० श्लो० ३-४ । स्या० २० पृ० ४७३ । 'न कवला  
 हारवत्त्वेन तस्यासवज्ञत्व कवलाहारसवज्ञत्वयोरविरोधात् ।—प्रमाणनय० २।२७ ।

1 सयोगिकत्व—ब० । १ एतदन्तगत पाठो नास्ति आ० । 2 भावे नास्ति श्र० । 3—तद्व्यम-  
 विघरभा—आ० । 4 ज्ञानापचये व० ।

केवलिगता ज्ञानादयः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्ताः तेषामेव क्षुधा विरोधः; तन्न; तथाप्रतिप-  
त्तुमशक्तेः । नहि केवलिज्ञानादयः क्षुधं विरुन्धन्ति इति अर्वाग्दृशा प्रतिपत्तुं शक्यम्;  
अतीन्द्रियत्वात्तेषाम् ।

किञ्च, अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति शीतस्पर्शस्येव  
अग्निसन्निधौ । एतच्चत्र दुर्घटम्—केवलिगुणानामतीन्द्रियतया 'एतत्सन्निधौ क्षुन्न भवति'  
इति प्रतीतेरनुपपत्तेः । तत्र विधीयमानात् कुतश्चित् तत्र क्षुधोऽभावसिद्धिः ।

निषिध्यमानश्च भावः तस्याः कार्यम्, कारणम्, व्यापको वा स्यात् ? वैदि  
कार्यम्; तदात्मनिर्वर्त्तनसमर्थाऽविकलकारणस्यैव तत् निवृत्तिमवगमयेत् न कारण-  
मात्रस्य, अस्य कार्याभावेऽपि भावाविरोधात् । कारणमपि निवर्त्तमानं कार्यं निवर्त्तयति  
यथा वह्निर्धूमम्, व्यापकं वा निवर्त्तमानं व्याप्यम् यथा वृक्षः शिंशापाम् । न चात्र  
क्षुधः कारणस्य व्यापकस्य वा कस्यचिन्निवृत्तिरस्ति । नच मोहनीयादिकर्मचतुष्टयाऽभा-  
वात् क्षुधोऽभावः; तस्याः तत्कार्यत्वस्य तत्स्वभावत्वस्य वाऽसंभवात् । नहि क्षुत् तत्कर्म-  
चतुष्टयकार्या; प्राक्प्रतिपादितवाह्याभ्यन्तरकारणप्रभवत्यात्तस्याः । प्रतिपक्षभावनाऽ-  
नियर्त्त्यत्वेन मोहस्वभावत्वाऽसंभवाच्च, यो हि मोहस्वभावः स प्रतिपक्षभावनया निवर्त्त्यते  
यथा क्षमादिभावनया क्रोधादिः, मोहस्वभावा च क्षुद् भवन्निरिष्टा इति । तथा च  
क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं शास्त्रे प्रतिपक्षभावनैव उपदिश्येत न क्लेशभूयिष्ठध्यानाध्ययनविधात-  
कारिणी पिण्डैपणा । शीतोष्णवाधातुल्यत्वाच्च क्षुधो न मोहस्वभावत्वम्, अन्यथा तद्वा-

(१) "अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्बिरोधगतिः ।"—न्यायवि० पृ० ९६ । (२)  
विरोधज्ञानम् । (३) "निषिद्धमानश्च भावस्तस्या कार्यं कारणं व्यापको वा स्यात् ।"—स्या० २० पृ०  
४७३ । "किमेव सति क्वलाहारस्य व्यापकं कारणं कार्यं सहचरादि वा सार्वक्षेपेन विरोधमधिवमेत् ।"—  
रत्नाकराव० २।२७ । आध्यात्मिक० श्लो० ५ । (४) क्षुध । (५) "यदि कार्यम्, तदा तन्निवर्त्त-  
मानम् आत्मनिर्वर्त्तनसमर्थाया एव क्षुधो निवृत्तिमवगमयेन्न तु सर्वथा, कारणमात्रस्य कार्याभावेऽपि  
भावाविरोधात् ।"—स्या० २० पृ० ४७३ । (६) कारणमात्रस्य अनुकूलात्मन । (७) "ज्ञानावरणी-  
यादेर्ज्ञानावरणादिकर्मणं कार्यम् । क्षुत् तद्विलक्षणास्या न तस्य सहकारिभावोऽपि ॥"—केवलिभू० श्लो०  
१० । "न हि क्षुन्मोहनीयकार्या वेदनीयप्रभवत्वात् ।"—स्या० २० पृ० ४७३ । (८) "न क्षुध विमो-  
हपाको यत्प्रतिमख्यानभावननिवर्त्त्या । न भवति, विमोहपाकः सर्वोऽपि हि तेन विनिवर्त्ये ॥"—केव-  
लिभू० श्लो० ७ । स्या० २० पृ० ४७४ । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९३ B. । आध्यात्मिक० पृ० ५९  
B. । "यतो मोहविपाका क्षुन्न भवति तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनया प्रतिपक्षत्वानेन निवर्त्त्यमान-  
त्वात् । तथाहि कृपायाः प्रतिकूलभावनया निवर्त्तन्ते क्षुद्वेदनीय तु रोगशीतोष्णादिवत् जीवपुद्गलवि-  
पाकितया न प्रतीपवासनामात्रेण निवर्त्तते अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति"—सूत्रकृ० शी० पृ० ३४६  
A. । पृथितप्र० पृ० १५० । (९) "शीतोष्णवातगुल्या क्षुत्त् तत्प्रतिविधानकाङ्क्षा तु । मूढस्य  
भवति मोहात् तथा भूर्शं बाध्यमानस्य । शीतोष्णक्षुद्वदन्यादयो हि ननु वेदनीय इति ।"—केवलिभू० श्लो०  
८, १३ । स्या० २० पृ० ४७४ ।

१-यत्वास्तन्निधौ व० । २ भावतीति आ० । ३ तदात्मनिवर्त्तनसमर्थाविकल-श्र० ।  
४-भावे भावा-व० । ५ निवर्त्त्यते व० ।

धाया अपि मोहस्वभावत्न स्यादविशेषात् ।

ननु भगवत क्षुद्भ्युपगमे अशेषज्ञत्वादिविरोध, क्षुदुदये अस्मदादिवत्तत्र ज्ञानदर्शनचेष्टादे प्रक्षयात्, तदसमीचीनम्, ज्ञानावरणादिप्रक्षये जातायामपि क्षुधि ज्ञानादिक्षयाऽयोगात्, तत्क्षयो हि ज्ञानावरणादिकर्मोदयनिवन्धन । अतः अस्मदादौ तदुदयातिशयोक्तं तत्क्षयातिशयो युक्तं भगवति तु तदावरणादेरशेषस्यापगमात् सत्यामपि क्षुधि न ज्ञानादिक्षयः । नहि अग्न्यभावे सत्यपीन्धने धूमो भवति । तत्कर्मचतुष्टय-प्रभवत्वे च क्षुधः “एकादश जिने क्षुत्पिपासादयः परीपहा वदनीयप्रभवाः” [ ] इत्यागमविरोधः । नैच उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरतः सयोगवेचलिनः तावत्काल कायस्थितिः मुक्तिं विना घटते । अथ अनन्तवीर्यत्वात् तत्र विनाप्यस्य तत्स्थितिः, तर्हि आयुष्कर्मणापि विना तत्स्थितिप्रसङ्गात् न वदाचित् शरीराद्यपायः स्यात् इति मोक्षाय दत्तो जलाञ्जलिः । तत्स्थिते. आयुष्कर्मपेक्षणे वा आहारापेक्षणमप्यस्तु उभयस्यापि तत्कारणत्वाऽविशेषात् ।

किञ्च, प्रदीपज्वालाजलधारासमान शरीरम्, तत्र च यथा तैलक्षये न प्रदीपज्वालाऽ-वतिष्ठते जलागमनमन्तरेण वा जलधारा तथा शरीरमपि भुंक्तवभावे न स्थितिर्मास्तिघ्नते । अथ भुंक्तिर्दोष, यदुपवासादिप्रत्याख्यानं त्रियते, निर्दोषे च केवलनि दोषो विरुद्धः, तर्हि निपद्या गमनञ्च अर्हति न प्राप्नोति स्थानयोगादिना निपद्यादेः प्रत्याख्या-नात्, वचनञ्च न प्राप्नोति मौनव्रतिकोपलम्भात् ।

अथ मतम्—अशेषज्ञस्य मासादिक पद्यतः कथं मुक्तिः अन्तरायोपपत्तेः ? तद-

(१) ‘अनन्तं च मुक्तं भवतु ज्ञानादिगुणसंगतम् । क्षुधादयो न बाधन्ते पूर्णं त्वस्ति महोदय ॥’

—इति० ३०।११ । जैनतत्त्वभा० पृ० ८ । (२) ज्ञानावरणोदयात् । (३) ज्ञानक्षयातिशयः । (४) “निरस्तघातिकमचतुष्टय जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादश परीपहा सन्ति अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशप कल्पनीय । —सर्वाथसि० १।११ । (५) ‘दियोनपूर्वकोटीविहरणमव सतीह केवलिन । सूत्रोक्तमुपापादि न मुक्तिश्च न नियतकाला स्यात् । —केवलिभू० श्लो० २४ । समति० टी० पृ० ६१३ । सूत्रह० शी० पृ० ३४६ B । स्या० २० पृ० ४८० । शास्त्रवा० टी० पृ० ३९५ A । (६) भुक्तिम् । (७) ‘आयुरिवाभ्यवहारो जीवनहेतुविनाभ्यवहृते । चेत्तिष्ठत्वनन्तवीर्यं विनायुषा कालमपि तिष्ठत ॥ न ज्ञानवदुपयोगो वीर्यं कमक्षयणं लब्ध्विस्तु । तत्रायुरिवाहारोऽपेक्ष्यत न तत्र बाधास्ति ॥’—केवलिभू० श्लो० २०—२१ । स्या० २० पृ० ४८० । (८) ‘तैलक्षयं न दीपो न जलागमनमन्तरेण जलधारा । तिष्ठति यथा ततो स्थितिरपि न विनाहारयोगेन ॥ —केवलिभू० श्लो० ३१ । स्या० २० पृ० ४८० । (९) ‘भुक्तिर्दोषो यदुपेक्ष्यते न दोषश्च भवति निर्दोषः । इति निगदितो निपद्याहति न स्थानयोगादेः ॥’—केवलिभू० श्लो० २८ । स्या० २० पृ० ४८० । (१०) परमावधयुक्तस्य छत्रस्थस्यैव नान्तरायोऽपि । सर्वाथदक्षानऽपि स्थानं चान्यथा पूर्वमपि भुक्तिः ॥ —केवलिभू० श्लो० ३२ । स्या० २० पृ० ४८० ।

1—याज्ञक्षयाति—व० । 2—वति तदा—थ० । 3 कमचतु—व० । 4 इत्याद्यागम—व० । 5—पूर्वकोटिविह—व० । 6 घटत व० । 7 तत्र यथा आ० । 8 भुक्ताभावे आ० । 9—मास्तिष्ठते व० । 10 भुक्तिर्दोषा यदु—आ० ।

सङ्गतम्, अवधिज्ञानिभिः परमर्षिभिरनेकान्तात्, ते हि सकल त्रैलोक्य पश्यन्ति अथ च भुञ्जते, एवं केवल्यपि । इन्द्रियविषये एव हि अन्तरायो नान्यत्र, अन्यथा छद्मस्था-  
वस्थायामप्यन्तरायः स्यात्, भगवता तदापि अवधिज्ञानेन अशेषवस्तुसाक्षात्करणात् ।

न च भुक्तौ जिह्वारसप्राप्ते. केवलिनो मतिज्ञानानुपङ्गः, यतो न इन्द्रियविषय-  
सम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति । किं तर्हि ? तत्सम्बन्धे मतिज्ञानापरणक्षयोपशमे च  
सति । एतच्च प्रक्षीणाशेषावरणे केवलिनि नास्ति इति न तज्ज्ञानानुपङ्गः, अन्यथा  
श्रोत्रादीन्द्रियाणां दिव्यतूर्यादिरवेण गणधरदेवादिरूपेण सुगन्धिकुसुमधूपवासादिगन्धेन  
मरुत्सिंहासनस्पर्शेन सम्बन्धेऽपि मतिज्ञानमनुपज्येत ।

सं च भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहर धर्मोपदेशनाकाल एव सिंहा-  
सनाधिरूढ आस्ते, शेषदिनं तु दिव्यस्थाने देवच्छन्दकामिधाने गणधरदेवान्विहाय अन्य-  
मनुष्यतिरश्चामगोचरे ईशानदिशाया समवशरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवर्तिनि गत्वा  
पत्यङ्गे आसने वा यथा सुरमास्ते । तत्र च गणधरदेवैरानीतमाहार सकलदोषशुद्ध  
ज्ञात्वा क्षुद्धेदनोदये गृह्णाति । ते च 'आहार तदीयहस्ते निक्षिप्त पश्यन्ति, कथमसौ  
भुङ्क्ते' इत्येतत् न पश्यन्ति, मनुष्यतिरश्चा सर्वज्ञाहारनी(नि)हारणामगोचरत्वात् इति ॥७॥

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्—'आहारवेद्यादिकर्मोदयलक्षणवाह्याभ्यान्तर-

कवलाहारनिरसनपुर कारणसद्भावात् क्षुद्धुदये सति अतिकलकारणा भगवतो भुक्तिर्भ-  
स्सर केवलिन नाक वत्येव' इत्यादि, तदसमीचीनम्, यैत. तैत्सद्भावात्तदुदये केवलिनि  
माहारप्रसाधनम्— आहारमात्र प्रसाध्येत कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्,

(१) 'इन्द्रियविषयप्राप्तौ यदभिनिबोधप्रसञ्जनं भुक्तौ । तच्छब्दगन्धरूपस्पर्शप्राप्त्या प्रति  
व्यूढम् ॥'—केवलिन० इलो० ३३ । स्वा० १० पृ० ४८० । 'रसनं च मतिज्ञानमाहारणं भवच्चदि ।  
प्राणीयं स्यात्तवा पुष्पघ्राणतपणयोगत ॥'—द्वात्रि० ३०।२१ । (२) पूर्वद्वारेण समवसरणं प्रविशत्यथ ।  
प्रदक्षिणीकृत्य पूवसिंहासने नियीदति । पादपीठन्यस्तपाद कृततीथनमस्कृति । विधत्त दशना स्वामी  
गम्भीरमधुरध्वनि । —काललोक० ३०।३१ ३२ । (३) प्राकारस्थ द्वितीयस्थान्तरे चोत्तरपूवतः ।  
देवच्छदं विचक्रुस्त स्वामिविश्रामहेतवे ॥'—त्रिपटि० १।३।४४४ ६७९ । इत्येवलिविधौ पूर्णं जिना  
प्रथमवप्रत । अवतीथ द्वितीयस्य वप्रस्थानकोणके । देवच्छदमागत्य मुखं तिष्ठन्ति नाकिभि । —  
काललोक० ३०।६८ ६९ । तथाहि स भगवान् पूर्वाह्णे अपराह्णे च पादोनप्रहरं यावत् धर्मोपदेशकाल  
एव सिंहासनाधिरूढ आस्ते शप तु दिनं देवच्छन्दकनाम्नि दिव्यस्थानं यथासुखं गमयति । तत्र च गण  
धरदेवैरानीतमाहारं निखिलदोषविगुद्धं विश्राय क्षुद्धेदनोदये गृह्णाति । आहारं च तदीयपाणिपत्यङ्गयस्त  
मासचक्षुषु पश्यन्ति कथमसौ भुङ्क्ते इत्येतत् न पश्यन्ति मवज्ञाहारनिहारयोर्मासचक्षुषामगोचरत्वात् ।  
—स्वा० १० पृ० ४६९ । (४) पृ० ८५२ पृ० १ । (५) अत्र किमाहारमात्रं प्रसाध्येत कवलाहारो  
वा ? —रत्नक० टी० पृ० ५ । प्रमेयक० पृ० ३०० ।

१ परममहर्षिभिरमहर्षिभिर—व० । २-धूमवासादि—व० । ३ पूर्वाह्णे च पादोन—आ०, व० ।

४ अस्ति व० । ५ तत्र गणधर—आ० । ६ तद्भावात्—व० ।

“यासयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः” [ ] इत्यभ्युपगमात् । पञ्चिधो हि आहारः प्रवचने प्रसिद्धः—

“नोकम्म-कम्महारो क्वलाहारो य लेप्पमाहारो ।

उज्ज मणो वि य कमसो आहारो इव्विहो येयो ॥ ’ [ भावस० गा० ११० ]

इत्यभिधानात् । तत्र च क्वलैलाहाराभावेऽपि अन्यस्य कर्म-नोकर्माऽऽदानलक्षणस्य आहारस्य भावात् न आहारित्व भगवतो विरुद्धम् । न च क्वलाहारेणैव आहारित्वं जीवानामित्यभ्युपगमो युक्तः; एकैन्द्रियाण्डजत्रिदशानाम् अभुञ्जानतिर्थिङ्मनुष्याणाञ्च अनाहारित्वप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षे तु त्रिदशैर्दिभिर्व्यभिचारः; तेषां वेद्यादिकर्मोदयात् श्लुदुदये सत्यपि क्वलाहाराभावात् । अथात्र तदुदयः तमसाधयन्नपि केवलिनि प्रसाधयति; तदेतत् केवलिनो महन्माहात्म्यम्—यद्विषयविषमग्रहाभिभूतप्राणिपु

(१) “आहारा एदियप्पहुडि जाव सजागकेवलिस्त-अत्र कवललेपोप्पमन कर्माहारान् परित्यज्य नाकर्माहारो ग्राह्य ।”—छक्ख, टी० पू० ४०९ । “आहारानुवादन आहारकेपु मिथ्यादुष्ट्यादीनि सयोगकवन्वन्तानि ।”—सर्वांसि० १।८ । “वावरकायप्पहुदी सजोगिचरमोत्ति होदि आहारी ।”—जीवका० गा० ६९७ । (२) “नोकम्म कम्महारो क्वलाहारो य लेप्पहारो य । उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छ्विहो णओ ॥ णोकम्मकम्महारो जीवाण होइ चउग्गइययाण । क्वलाहारो णरपमु रक्खमु य लेप्पमाहारो ॥ पत्तीणुज्जाहारा अडयमज्जेमु वट्टमाणाण । देवेषु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवल्लिओ । णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स जायमे णिणओ । ण हु णिच्छएण सो वि हु स वीयराओ परो जम्हा ॥”—भावस० गा० ११०-११३ । भावस० इलो० २२६ । उद्धृतेयम्-प्रमेयक० पू० ३०० । प्रवचनसा० टी० पू० २८ । रत्नक० टी० डि० पू० ५ । श्वेताम्भरागमेपु निविध आहार प्ररूपित—“भावाहारो तिविहा ओए लोम य पक्खेवे । सरीरेणोयाहारो तयाव फामेण लोमआहारो । पस्सेवाहारा पुण नावल्लिओ हाइ नायव्वा । ओपाहारा जीवा सव्व अपज्जत्तगा मुणेयव्वा । पज्जत्तगा य लाम पनगव हाइ नायव्वा ॥ एविदियदवाण नरइयाण च नत्थि पक्खेवो । सेत्ताण पक्खेवो ससारत्थाण ओवाण ॥”—सूयक० नि० गा० १७० ७३ । वीदधमंमग्रहे पचथा आहारा प्ररूपिता—“पचाहारा ध्यानाहारा क्वलीराहारा प्रत्याहारा स्पर्शाहारा सचेतनिकाहाराश्चेति ।”—धम्मस० पू० १५। (३) ‘अरवाहिदुक्खपरिहियं अहारणिहारवज्जिय विमत्त । सिहाण सेलमओ णत्थि दुगळा य दो सो य ।”—बापपा० गा० ३७ । ‘पडिममयं दिव्वतमं जोगो णाकम्मदहूपडिउट्ट । ममयपवड वधादि मल्लदवससा-उमत्तडिरी ॥”—सन्धिस्ता० गा० ६१४ । “लाभान्तरायस्यासोपस्य निरासान् परित्यक्तवक्वलाहारक्रियानां केवलिनो यत मरीचकत्रापानहेतवाज्यमनुजाऽसाधारणा परमगुणा मूढमा अन्ता प्रतिममयं पुद्गला मन्वन्धमर्यान्त्रि स धायिको लग्न ।”—सर्वांसि० २।४ । “नोपमं चर्मनामानमाहार गुत्तनाऽहेन । दहृत्पिनिर्भवं चतदस्माकमरि सम्मतम् ॥”—भावस० इलो० २२८ । “प्रथमपक्षे सिद्धमाधनता; आमयागकवजिन आहारिणा जीवा इत्यभ्युपगमात् ।”—रत्नक० टी० पू० ५ । प्रमेयक० पू० ३०० । ‘तदा नाहमाहाराणां कवलिनामाहारवद्वम् ।’—प्रह० टी० पू० २९ । (४) ‘एकैन्द्रियेषु जीरयु पत्ताण प्रकाश । आहारो मानना दममूर्ख्यगिउप्यपि । इति ह्योत्रिनन्दस्य कर्त्ताहारपूर्विका । दृष्टिपनिर्भवं चतदस्माकमरि सम्मतम् ॥’—भावस० इलो० २३० ३१ । प्रमेयक० पू० ३०० । (५) ‘दवदह्मिपत्या ध्विचार’—रत्नक० टी० पू० ५ । (६) दवादिपु । (७) क्वलाहारम् ।

१ भावस० कम्महारो ध० । २ न क्व-आ० । ३ पद-आ० । ४ यद्विषये विषम-आ० ।



कवलाहारप्रसाधनाऽसमर्थोऽपि तद्दुदयः तत्र समर्थो भवतीति !

किञ्च, 'तत्र तद्दुदयः तैत्साधनसमर्थः' इत्येतत् कुतः प्रतिपन्नम्—अभ्युपगम-  
मात्रान्, प्रमाणतो वा ? यदि अभ्युपगममात्रात्; अतिप्रसङ्गः, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वसिद्धि-  
प्रसङ्गात् । अथ प्रमाणतः; किमत्र प्रमाणम्—प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा ?  
प्रत्यक्षञ्चेत्; किम् ऐन्द्रियम्, अतीन्द्रियं वा ? न तावदैन्द्रियम्; तस्य अशेषज्ञाहार-  
निहाराऽगोचरत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा "आहारा य निहारा केवलियो पञ्चन्ना"  
[ ] ईत्यागमविरोधः । 'अतीन्द्रियं तु तत्रैत्रप्रवर्त्तते' इत्यत्र कोशपान विधेयम् ।

अथानुमानम्; किमत्र लिङ्गम्—तद्दुदय एव, मनुष्यत्वम्, देहस्थितित्वं वा ?  
न तावत्तद्दुदय एव; अस्य त्रिदशादिभिर्व्यभिचारप्ररूपणात् । नापि मनुष्यत्वम्;  
अयोगकेवलिना अनेकान्तात् । अथास्य मनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात् नाऽनेन अनेकान्तः; 10  
तर्हि असिद्धो हेतुः, सयोगकेवलिनोऽपि तद्वत्तदतिक्रान्तत्वात् । तदुक्तम्—

“भानुर्पो प्रकृतिभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ॥”

[ बृहत्स० अनन्त० श्लो० ७५ ] इति ।

नापि देहस्थितित्वम्; तथाहि—'भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थिति-  
त्वात् अस्मदादिदेहस्थितिवत्' इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्वं तस्स्थितेः प्रसाध्येत, 15  
कवलाहारपूर्वकत्वं वा ? प्रथमपक्षे 'सिद्धसाध्यता' इत्युक्तम् । द्वितीयविकल्पे तु त्रिदशा-  
दिभिर्व्यभिचारः, तेषां कवलाहाराभावेऽपि देहस्थितिसंभवात् । अथ 'औदारिकशरीर-  
स्थितित्वात्' इति विशिष्य उच्यते ततो न व्यभिचारः; तन्न, तदीयौदारिकशरीरस्थितेः  
परमौदारिकशरीरस्थितिरूपतया अस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात् । तस्याश्च  
केवल्यवस्थायां केशादिविबुद्धयभाववत् तद्भुक्तयभावोऽविरुद्ध एव । 20

अथ तद्बुद्धयभावो 'देयोपनीतः न घातिकर्मक्षयजः येन तद्वत् केवल्यव-  
स्थायां तद्भुक्तयभावोऽप्यापाद्येत, बालोत्पाटनानन्तरं हि इन्द्रो वज्रं नरपक्षेषु भगवतो  
भ्रामयति अतस्तद्बुद्धयभाव इति; तदुक्तम्; वज्रप्रभावतः तेषां मूलतोऽप्युत्थानाभाव-  
प्रसङ्गात्, सर्वतीर्थकृतामेकादृशकेशादिप्रतीतिप्रसङ्गाच्च, न चैवम्, ऋष्यभादितीर्थ-

(१) वेद्यादिकर्मोदयः । (२) केवलिकवलाहारसाधनसमर्थ । (३) कवलाहारसाधनसमर्थ ।  
(४) "पञ्चमे आहारनीहारे अदिस्मे मसचक्खुणा ।"—समवा० सू० ३४ । (५) प्रत्यक्ष अशेषज्ञाहारसा-  
धात्करणे । (६) अयोगिवन्मनुष्यप्रकृत्यतिक्रान्तत्वात् । (७) "एरिसगुणेहि सव्व अइसयवत् सुपरि-  
मलामोय । ओरालिथं च काय णायव्व अरहपुरिसस ॥"—बोधप्र० गा० ३९ । "तद् भगवतः शरीर-  
मौदारिक न भवति किन्तु परमौदारिकम्—गुद्धस्फटिकसकाश तेजोमूर्तिमय वपु । जायते क्षीणशेषस्य  
सप्तधातुविवर्जितम्"—प्रब० टी० पृ० २८ । (८) परमौदारिकशरीरस्थिते । (९) केशादिवुद्धय-  
भावः । "अवट्टिए केसमसुरोमनहे"—समवा० सू० ३४ ।

1 तु न प्रवर्त्तते व० । 2 नानेकान्त व०, न तेनानेकान्त थ० । 3-कस्थितित्वात् थ० ।  
4 केशादिवुद्धय-थ०, व० । 5 बोधापनीत व० । 6 घातिकषयज व०, थ० । 7 बालोत्पाटनानन्तरं आ०, थ० ।

कृता केशकलापस्य गुरुलघुभावेन विलक्षणस्य उपलब्धेः । ततो घातिकर्मक्षयावस्थाया  
यस्य यावन्तो नरकेशाः तस्य तावन्त एवाऽप्रतिष्ठन्ते इति । केयैत्यवस्थाया घातिक्ष-  
यजो यथा तच्छरीरस्थितो केशादिदृढत्वभावलक्षणोऽतिशयोऽस्ति तथा तद्भुक्त्यभावल-  
क्षणोऽप्यस्तु अविशेषात् । छद्मस्थावस्थावच्चास्यं भुक्त्यभ्युपगमे अक्षिपद्मनिवेशः (मेपः)

6 नखकेशवृद्ध्यादिभ्युपगम्यताम् । तदभावातिशयाभ्युपगमे वा भुक्त्यभावातिशयोऽप्य-  
भ्युपगन्तव्यो विशेषाभावात् । तपोमाहात्म्यात् चतुरास्यत्वादियन्च अभुक्ति-  
पूर्वकत्वेऽपि शरीरस्थितेर्न कश्चिद्विरोधः । दृश्यते हि पञ्चकृत्यो भुञ्जानस्य यादृशी  
शरीरस्थितिः तादृश्येव प्रतिपक्षभावनोपेतस्य चतुरिन्द्रियेकभोजनस्यापि, तथा प्रतिदिनं  
भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येव एकद्वयादिदिनान्तरितभोजिनोऽपि । श्रूयते च  
10 वाहुवलिप्रभृतीना सवत्सरप्रमिताहारवैकल्येऽपि विशिष्टा शरीरस्थितिः । आयु कर्मैव  
हि प्रधान तस्स्थितेर्निमित्तम्, भुक्त्यादिक तु सहायमात्रम् । तच्छरीरोपचयोऽपि  
लाभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमय तदुपचयनिमित्तभूताना दिव्यपरमाणूना लभ्याद् घटते ।

ननु मास वर्ष वा तदभावे तस्स्थितावपि नाशाल तस्स्थितिः पुनः तदाहारे प्रवृत्ति-  
प्रतीतेरिति चेत्, कुतः तस्स्थितेः आकालमप्रतीतिः—प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा ? यदि  
15 प्रत्यक्षतः, सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो जलाञ्जलिः तद्वत् ततः तदप्रतीतेरप्यविशेषात् । अनुमा-  
नात् तत्सिद्धिरन्यत्राप्यविशिष्टा । यथैव हि 'ज्ञानप्रकर्षः दोषावरणापकर्षश्च क्वचित्  
परमप्रकर्षमापद्यते प्रकृष्यमाणत्वान् परिमाणवत्' इत्युच्यते, तथा 'एकद्वयादिदिनान्तरि-  
तभोजिनाम् अभुक्तिपूर्वको देहस्थितिप्रकर्षः क्वचित् परमकाष्ठामापद्यते तत्त्वान् तद्वदेव'

(१) केवलिन । (२) 'तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्चास्याभुक्तिपूर्वकत्वे तस्या को  
विरोध ? —प्रमेयक० पृ० ३०२। (३) द्रष्टव्यम—प० ८५६ टि० ३। लाभान्तरायस्याशेषनिरासन  
परित्यक्तकवलाहारक्रियाणा केवलित्वा यत् शरीरबलाधानहेतवोऽयमनूजासाधारणा परमशुभा  
सूक्ष्मा अनन्ता प्रतिसमय पुदगला सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभ । तस्मादौदारिकशरीरस्य  
किञ्चिन्मन्यूनपूर्वकोटिवपस्थिति कवलाहारमन्तरेण कथं सम्भवतीति यद्वचन तदक्षिप्तकृत विज्ञायते ।  
—राजवा० २।४। लाभान्तरायक्षयात् लाभ परमशुभपुदगलादानलक्षण परमौदारिकशरीरस्थितिहेतु ।  
—तत्त्वावश्लो० पृ० ३१४। प्रमेयक० पृ० ३०२। (४) मास वष वापि च तानि शरीराणि तेन  
भुक्तेन । तिष्ठन्ति न चाकाल नायथा पूर्वमपि भुक्ति ॥ —केवलिभु० श्लो० २२। स्वा० १०  
प० ४८०। (५) 'विपक्षभावनावशात् रागादीना ह्यायतिशयदशनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षसिद्ध  
वीतरागतासभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात् ? तदभावनातो भोजनादावपि ह्याय  
निशयदशनाविज्ञापात् । तथाहि एकस्मिन् दिने यो न कवारान भुङ्क्ते कदाचित् विपक्षभावनावशात्  
पुनरेकवार भुङ्क्ते कश्चित्पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजन अयं पुन पक्षमाससवत्सराद्यन्तरितभोजन  
इति । —रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०२।

1 केवलाव—व० श्र० । 2-घातिश—श्र० । 3-भक्त्युपगमे व० । 4-तिशयोऽभ्युप-आ० ।

5-दिन भोजन भुञ्जा—व० । 6-भोजनोऽपि श्र० । 7-ते श्र० । 8-कुतस्तत्रस्थि—आ० । 9-तत्  
तत्प्रती—आ० ।

इत्युच्यतामविशेषात् । तत्र शरीरस्थितेरपि भगवतो वेद्याशुदयात् क्षुदुदयः कवलाहार-  
प्रसाधनसमर्थः प्रत्येतुं शक्यः ।

असिद्धञ्च अविकलकारणत्व भुक्तेः, मोहनीयसहायं हि वेद्यादिकर्म क्षुदादिकार्ये-  
करणेऽविकलसामर्थ्यं भवति, नान्यथा अतिप्रसङ्गात् । यथैव हि पतिते सैन्यनायके असा-  
मर्थ्यं सैन्यस्य, तथा मोहनीये विनष्टे अघातिकर्मणामिति । यथा च निर्धिपीकृत्य मन्त्रिणा  
उपयुज्यमानमपि विपं न दाहमूर्च्छादि कर्तुं समर्थम् तथा शुद्धध्यानानलनिर्दग्धमोहोदयं  
वेद्यादि क्षुधादिकमिति । प्रयोगः—भगवति बुभुक्षा नास्ति, तत्कारणमोहाभावात्, यत्र  
यत्कारणाभावो न तत्र तत्कार्यम् यथा अनग्निप्रदेशे धूमः, नास्ति च अर्हति मोह इति ।

किञ्च, कर्मणामुदयो यद्यनपेक्षः कार्यमुत्पादयेत्, तर्हि त्रिवेदानां कपायाणां वा  
प्रमत्तादिपु उदयोऽस्ति इति मैथुन भ्रुकृत्यादिकञ्च स्यात्, ततश्च मनसः सङ्गोभात् कथं  
शुद्धध्यानावाप्तिः क्षैपकश्रेण्यारोहणं वा यतः कर्मक्षपणा स्यात्? नन्वेवं नामाशुदयोऽपि  
तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्; इत्युक्तम्; शुभप्रकृतीनां तत्र अप्रतिबद्धत्वेन स्वकार्यकारि-  
त्वोपपत्तेः । यथैव हि बलवताराज्ञा स्वमार्गानुसारिणा लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोऽपि न  
स्वदुष्टाचरणविधातारः सुंजनास्तु अप्रतिहृततया स्वकार्यस्य विधातारः, तथा प्रकृतमपि ।  
कथं पुनरशुभप्रकृतीनामेव अर्हति प्रतिबद्धं सामर्थ्यं न पुनः शुभप्रकृतीनामिति चेत् ?  
उच्यते—अशुभप्रकृतीनामर्हन् अनुभाग घातयति न तु शुभप्रकृतीनाम्, यतो गुणधा-  
तिनां दण्डो नाऽदोषाणाम् ।

यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातावेदनीयं स्वकार्यकारि स्यात् तर्हि दण्डकपा-  
टादिविधानं भगवतो व्यर्थम् । तद्धि यदा न्यूनमायुः वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति  
तदा तेन कर्मणां समस्थित्यर्थं विधीयते । नच अधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म  
उपायशक्तेनापि अन्यथा कर्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्तः स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यात्

(१) “घादि व वेयणीय मोहस्य बलेण घाददे जीव ।”—गो० कर्मका० गा० १९। “मोहनी-  
यकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात् ।”—रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०३।  
“यथैव ब्रीह्यादिवीज जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वैतकर्म मोहनीयसह-  
कारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यं मुत्पादयति ।”—प्रब० टी० पृ० २८। (२) “यदि मोहाभावेऽपि क्षुधा-  
दिपरीपह जनयति तर्हि वधरोगादिपरीपहमपि जनयति, न च तथा ।”—प्रब० टी० पृ० २८। प्रमेयक०  
पृ० ३०३। (३) “शुभप्रकृतीना तत्राप्रतिबद्धत्वेन ..”—प्रमेयक० पृ० ३०३। (४) “हन्तेर्गमि-  
क्रियत्वात् सभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्गमन समुद्घात । .. वेदनीयस्य बहुत्वाद्बलत्वाच्चायुपोनाभोग-  
पूर्वकमायुःसमीकरणार्थं इव्यस्वभावत्वात् मुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां  
बहिः समुद्घातनं केवलिसमुद्घातः ।”—राजवा० पृ० ५३। “मूलसरीरमण्डिय उत्तरदेहस्य जीववि-  
डस्य । जिग्मगण देहादो होदि समुग्घादणाम तु ।”—जीवका० गा० ६६७ ।

1—दृष्टे घातिकर्म—व०, जा० । 2 उपभुज्यमा—व० । 3—मोहसहायं जा०, थ० । 4 च थ० । 5  
क्षपणश्रे—जा० । 6—त्वेन कार्य—व० । 7 मुजना अप्र—व० । 8—बद्धसाम—व० । 9 दण्डप्रतरादिवि—व०, थ० ।

'निर्णीणम् अधिकरित्विक्त्वेन फलदानाऽसमर्थम् आयु कर्मसमानं कर्म क्रियते, तथा  
वेद्यमपि तद्दानासमर्थं क्रियतामविशेषात् । नच कारणमस्ति इत्येतावर्तय कार्योत्पत्तिः,  
अन्यथा इन्द्रियादिकार्यस्याप्यनुपद्नात् भगवतो मतिज्ञानस्य रागादीनाञ्च प्रसङ्गः । अथ  
आवरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहान् नेन्द्रियादि स्वकार्यं कुर्यात्,  
६ अत एव वेदनीयमप्यविशेषात् ।

न चेयं बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम् येन अत्यन्तप्रक्षीणमोहेऽपि  
स्यात्, तथाहि—बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्य कार्यं न भवति इच्छात्वात् रिरसायत् ।  
भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा कथं वेदनीयस्यैव कार्यम् ? अथवा योन्यादिषु रन्तुमि-  
च्छा रिरसापि तत्कार्यं स्यात्, तथा च कत्रलाहारवत् स्त्रियादावपि तत्प्रसङ्गात् नेश्वरा-  
१० दस्य विद्येयः । यथा च रिरसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते तथा बुभुक्षापि । प्रयोगः—  
भोजनाकाङ्क्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते आकाङ्क्षात्वात् स्त्रियाद्याकाङ्क्षायात् । नन्वस्तु  
तद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः तदभावे तु प्रवृत्तिः पुनः स्यात्, इत्येतत् स्त्रियाद्याकाङ्क्षायामपि  
समानम् । यथा चास्या चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वात् अत्यन्तनिवृत्तिः तथा भोजना-  
काङ्क्षायामपि, यथा च निर्मोहत्वेन स्त्रियाद्याकाङ्क्षा विरुद्धा तथा बुभुक्षापि । तथा  
१५ च प्रयोगः—न बुभुक्षायान् केवली, तद्विरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतत्वात्, यो यद्विरोधिस्व-  
भावोपेतः नासौ तद्वान् यथा उष्णस्पर्शस्वभावोपेतः कश्चित् प्रदेशः न शीतस्पर्शवान्,  
क्षुद्धिरोधिनिर्मोहस्वभावोपेतश्च केवलीति ।

एतेन इदमपि प्रत्युक्तम्—'प्रतिपक्षभावनात् क्षुधो निवृत्तौ क्षुद्धेदनाप्रतीकारार्थं  
शास्त्रे सैव उपदिश्येत न पिण्डैपणा' इत्यादि, चेतसो हि प्रतिपक्षभावनामयत्वसिद्धे  
२० प्राक् पिण्डैपणोपदेशान्, सन्मयत्वसिद्धौ तु कामवेदनानिवृत्तिवत् नि शोषक्षुद्धेदनानिवृ-  
त्तिसिद्धे न किञ्चित् तद्वेदनाप्रतीकारार्थं द्रव्यान्तरैपणया ? अथ आकाङ्क्षारूपा क्षुन्न  
भवति तेन धीतमोहेऽपि अस्याः सभवं, कथमेव रिरसाया अपि अनाकाङ्क्षारूपाया तत्र  
सभवो न स्यात् ? अथ अनाकाङ्क्षारूपताऽस्यैः प्रतीतिविरुद्धा, तदेतद् बुभुक्षायामपि  
समानम् । अस्तु वाऽनाकाङ्क्षारूपत्वमस्या, तथापि दुःखरूपत्वात् अनन्तसुखे भगवत्य-  
५ सभवः, यद् दुःखरूपं न तत्र सभवति यथा कामपीडादि, दुःखरूपा च क्षुधिति ।

(१) भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा सा मोहनीयकायत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्  
अन्यथा रिरसाया अपि तत्र प्रसङ्गात् ।—रत्नक० टी० पृ० ६। प्रमेयक० पृ० ३०४। (२) पृ० ८५३  
पृ० १५। (३) आकाङ्क्षारूपत्वाभावात् । (४) केवलीति । (५) रिरसाया । (६) क्षुत्पीडासभवे  
चास्य कथमनन्तधीह्य स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वाभिज्ञाऽस्य ।—रत्नक० टी० पृ० ६। यदि क्षुधा  
वाचास्ति तर्हि क्षुधा क्षीणगक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति तथैव क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति ।—  
प्रव० टी० पृ० २८। प्रमेयक० पृ० २९९ ।

१ निर्णीणस्वित्क—आ०। ० आयु कर्म क्रियते थ०। ३ तत एव २०। ४ मोहनीयनिर्वेस—व०।  
६ तथाहि चादुम्—थ०। ६ प्रवृत्तिः स्यात् थ०। ७ अथ काक्षारूपा आ०। ८ अस्यासभव थ० व०।

यत्र हि अनन्तसुखं न तत्र दुःखलेशोऽप्यस्ति यथा सिद्धेषु, अनन्तसुखञ्च अर्हति इति । ननु सकलवाधानिवृत्त्यात्मकं यदनन्तं सुखं तत्राभिप्रेतं तदसिद्धम्, क्षुद्धाधाभ्युपगमात्, सकलकर्मविप्रमुक्तानां सिद्धानामेव हि तथाविधं तदस्ति नाऽर्हताम् तत्र वेदनीयोदयसंभवादिति, तदसत्, तदुदयस्य तत्र तद्वाधाहेतुत्वाभावप्रतिपादनात् ।

किञ्च, अर्हति अनन्तं सुखं सर्वप्रदेशव्यापि अग्राह्यतास्ते अप्रादेशिकत्वात्तस्य, सुखदुःखयोरेकत्रैकदा विरोधतोऽसंभवाच्च, तत्कथं क्षुद्धदुःखलेशोऽपि तत्र संभाव्यः ? अन्यथा अस्मदादिसुखवत् प्रादेशिकमेव तत्सुखं स्यात् । अतः तथाविधं सुखं भगवति सन्निधीयमानं स्वविरुद्धं दुःखं निवर्त्तयति यथा अग्निं शीतम् । तन्निवृत्तौ च तद्व्याप्याया क्षुद्धो निवृत्तिः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यावश्यं निवृत्ते वृक्षनिवृत्तौ शिशपावत् । प्रयोगः—यत्रैतद्विरोधि बलवदस्ति न तत्र अभ्युदितकारणमपि तद् भवति यथा अत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्धदुःखविरोधि बलवत् केवलिनः अनन्तसुखमिति । तथा, यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्त्यं यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धाऽनिवर्त्त्यं पित्तविकाराक्रान्ते पुरुषे न दध्यादि श्लेष्मादि करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्त्यं सुखञ्च भगवति इति । ततो निराकृतमेतैत्—‘नहि बालादौ ज्ञानायपचये क्षुद्धपचयः’ इत्यादि, अनन्तसुखसदभावनामेव ज्ञानादीनां क्षुद्धिरोधित्वव्यवस्थिते । 15

यदप्युक्तम्—‘नहि केवलिज्ञानादयः क्षुद्धं विरुन्धन्ति इत्यर्वांगदृशा प्रतिपत्तुं शक्यमतीन्द्रियत्वात्तेषाम्’ इत्यादि, तदप्युक्तिमात्रम्, अतीन्द्रियत्वात्तेषां तद्विरोधित्वाऽप्रतिपत्तौ सर्वार्थसाक्षात्कारित्वादेरपि अप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । यथैव हि तेषामतीन्द्रियत्वात् ‘एतत्सन्निधौ क्षुब्धं भवति’ इत्यर्वांगदृशा प्रत्येतुं न शक्यते तथा ‘एते सर्वसाक्षात्कारिणः’ इत्यपि । अथ अनुमानात्तेषां तत्साक्षात्कारित्वं प्रतीयते, तद्विरोधित्वेन किमपराद्धं येन 20 एषामनुमानात् तन्न प्रतीयेत ? प्रतिपादितञ्च क्षुद्धिरोधित्वानुमानं प्राक् इत्यलमतिप्रसङ्गेन । सर्वज्ञत्वाच्च भगवतः क्षुद्धभावः, क्षुद्धभ्युपगमे हि तद्वाधया सर्वज्ञता हीयेत निःशक्तिकत्वञ्च स्यात् । अस्मदादौ हि क्षुद्धप्रपरीडाक्रान्ते ज्ञानादेरभावः सुप्रतीतः ‘क्षुत्पीडितोऽहं न किञ्चिज्जानामि, न किञ्चित्पश्यामि, उत्थानुमपि न शक्नोमि’ इति प्रतीतेः ।

यदप्युक्तम्—‘ज्ञानावरेणादिकर्मोदयनिबन्धनं तत्क्षयः’ इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, 25

(१) वेदनीयोदयस्य । (२) सर्वप्रदेशव्यापि अनन्तसुखम् । (३) नास्ति केवलिनः क्षुद्धदुःखं तदवलवद्विरोध्यनन्तसुखसदभावात् । यत्र यद्विरोधि—प्रमेयक० पृ० ३०५ । (४) केवलिनः वेदनीयं स्वकार्यं क्षुद्धदुःखं न करोति तत्कार्यविरोध्यनिवर्त्त्यं अनन्तसुखसदभावात् । (५) पृ० ८५२ पं० २० । (६) पृ० ८५३ पं० २ । (७) केवलज्ञानादीनाम् । (८) क्षुद्धिरोधित्वम् । (९) पृ० ८५४ पं० ४ ।

1 सिद्धं नन्त—श्र० । 2 यदत्यन्तं सुखं श्र०, यदनन्तं आ० । 3-गमात्कर्मवि-व० । 4-निकमिव आ० । 5-तथाविधमुक्तं व० । 6-यथा आ० व० । 7-प्रतीयते व० । 8-क्षुद्धविरो-आ०, क्षुद्धित्वानुमा-व० ।

प्रक्षीणाशेषावरणस्य भगवतो ज्ञानादिक्षयाभाववत् प्रक्षीणाशेषमोहस्य क्षुत्पीडालेशस्याप्यनुपपत्ते । मोहनीयसहाय वेदनीय क्षुत्करणे प्रभुः' इति प्राक् प्रपञ्चतः समर्थितत्वात् ।

“एकादश जिन” [ तत्त्वार्थसू० ९।११ ] इत्यागमोऽपि क्षुधाशेषादशपरीपहप्रतिपेधपर प्रतिपत्तव्य, ‘एवेन अधिका न दश एकादश’ इति व्युत्पत्तेः । मोहनीयसहायस्य वेदनीयस्य कार्यभूताः क्षुधाशेषादशपरीपहाः, तत्सहायस्य च अर्हति अत्यन्तप्रक्षयात् न वेदनीयोदयोदयमात्रात् तत्र ते सन्ति, अन्यथा रोगादिपरीपहाणामपि तत्र सत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादो तद्दुदये क्षुत्पिपासावद् रोगादीनामप्युपलम्भात् । छद्मस्थजिनेषु भोगभूमिजादिषु च तद्दुदयेऽपि रोगादीनामभावाद् व्यभिचारे क्वलाहारस्यापि व्यभिचारोऽस्तु, देवादिषु तद्दुदयेऽपि तदभावात् ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिं विहरत’ इत्यादि, तदप्यचारु, शरीरस्थिते आयु कर्मण एव नियतनिमित्तप्रतिपादनात्, भुक्तिं विनापि आकाल तत्स्थिते समर्थितत्वाच्च ।

यदप्यभिहितम्—‘भुक्तेर्दोषरूपतया भगवत्सभवे वचनादेरप्यसंभव स्यात्’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, वचनादे तीर्थकरत्वकर्मोदयापादितत्वात् दोषरूपत्वासंभवाच्च, नहि अष्टादशदोषेषु मध्ये क्षुधादिवद् वचनमपि पठ्यते । भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु, इत्यप्यसङ्गतम्, मोहसद्भावसहायस्यैवास्थ तत्सम्पादने सामर्थ्यप्रतिपादनात् । यथैव हि मोहप्रक्षयसहाय तीर्थकरस्य विशिष्टवचनादिविधाने समर्थं तथा मोहसद्भावसहाय वेद्य भुक्त्वादिविधाने इति ।

यदप्युक्तम्—‘अवधिज्ञानिवत् सकलज्ञस्य सकल जगत्पश्यतोऽपि अन्तरायासंभव’

(१) अथवा एकादश जिने न सन्ति इति वाक्यशय कल्पनीय सोपस्कारत्वात्पूजाणाम् । — सर्वायसि० ९।११ अथवा नाय वाक्यशय एकादश जिन कश्चित्कल्प्यत इति किं तर्हि ? एकादश सतीति । कथम् ? उपचारात् यथा निरवशपरिणस्तज्ञानावरण परिपूणज्ञाने एकाग्रचिन्तानिरोषा भावऽपि कमरजोविधूननफलसंभवात् ध्यानोपचार तथा क्षुधादिवेदना भावपरीपहाभावेऽपि वेदनीयकर्मोदय द्व्यपरीपहसदभावात् एकादश जिन सन्तीत्युपचारो युक्तः । —राजवा० ९।११ । ‘शक्तित एव केवलिन्यवादश परीपहा सन्ति न पुनव्यक्तित केवलाद् वेदनीयाद् व्यक्तक्षुधाद्यसंभवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्या । —तत्त्वार्थश्लो० प० ४९२ । ‘तण असादणमित्त परीसहा जिणवरे णत्थि ।’ —कमका० गा० २७५ । क्षुत्पिपासादयो यस्मात् समर्था मोहसहाय । द्व्यकर्माश्रयात्तपामस्तिवमुपचारत । —भावस० श्लो० २३४ । यच्चोपचारतोप्यस्यैकादश परीपहा न सभावन्त्ये तत्र तत्रापद्य परत्वात् सूत्रस्य एकेनाधिका न दश परीपहा जिन एकादश जिन इति व्युत्पत्त । —प्रमेयक० पृ० ३०७ । (२) वेदनीयोदय । (३) पृ० ८५४ प० ८ । (४) पृ० ८५४ प० १ । (५) क्षुत्पिपासाजरात् दूज मान्तकभयस्मया । न रागद्वेषमोहाश्च चसद्वात् चिन्ताऽरतिनिद्राविस्मयमदस्वेदलगा गृह्णन्ते । एते अष्टादश दोषा —रत्नक०, टी० १।६ । (६) पृ० ८५५ प० १ ।

१ तत्र न सन्ति श्र० । २ भुक्तेरपि वेदनीयोदयापादितत्वात् तत्र सत्त्वमस्तु इत्यप्यसंभवाच्च नहि अष्टादश—जा० । ३ दोषोदयत्वा—व० । ४ वेदनीयोपादि—आ० । ५ मोहसहा—व०, श्र० ।

इत्यादि; तदप्यनुपपन्नम्; तैज्ज्ञानस्य सोपयोगतया तैकाल एव स्वविषयाऽशेषार्थसाक्षात्करणसंभवात् । यदैव हि अवधिज्ञानोपयोगमवधिज्ञानी करोति तदैवासौ तद्विषय-भूतमशेषं वस्तु पश्यति नान्यदेति, भोजनकाले यद्यसौ उपयोगं करोति तदाऽन्तरायो भवत्येव, नचायं प्रकारः केवलज्ञाने संभवति तस्यै संदा उपयुक्तत्वात् ।

यदप्युक्तम्—'नेन्द्रियार्थसम्बन्धमात्रेण मतिज्ञानं भवति' इत्यादि; तदप्यसुन्दरम्; विषयविषयिसम्बन्धे समुपजायमानस्य ज्ञानस्य अमतिज्ञानत्वे मतिज्ञानवार्त्तोच्छेदप्रस-ज्ञात् । अथ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य सहकारिणोऽभावात् नेन्द्रियाणि स्वविषय-सम्बन्धेऽपि स्वकार्यमाविर्भावयन्ति, तर्हि मोहनीयस्यापि सहकारिणोऽभावात् वेद्यमपि स्वकार्यं न कुर्यात् इत्युक्तम् ।

किञ्च, किमर्थमसौ भुङ्क्ते—शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानदर्शनवीर्यादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, क्षुद्रेदनाप्रतीकारार्थम्, आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्यापवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्, रसगृह्युपशमार्थम्, लोकानुग्रहार्थं वा ? न तावत् शरीरोपचयार्थम्, लभान्तरायप्रक्षयात् प्रतिसमयं विशिष्ट-परमाणुलाभादेव तत्सिद्धेः । तदर्थं तद्ग्रहणे च कथमसौ निर्ग्रन्थः स्यात् शरीरसम्भू-च्छासंभवात् प्राकृतपुरुषवत् । नापि ज्ञानादिक्षयनिवृत्त्यर्थम्, तत्क्षयनिवन्धनाभावादेव तदक्षयप्रसिद्धेः । ज्ञानादिक्षयस्य हि निवन्धनं ज्ञानावरणादिक्षयोपशमः, तस्मिन् सति भोजनाद्यभावे तत्क्षयप्रतीतिः । स च प्रक्षीणाशेषावरणे भगवति नास्ति इति कथं तत्प्र-क्षयाशङ्काऽपि यतो मुक्तिः स्यात् ? नापि क्षुद्रेदनाप्रतीकारार्थम्, अनन्तमुखवीर्ये भगवति अस्याः संभवाभावस्य उक्तत्वात् । नापि आयुषोऽसाधितमुक्तिकस्य अपवर्त्तननिवृत्त्यर्थम्; चरमोत्तमदेहानामनपवर्त्त्यायुष्कत्वादेव तथाविधस्यास्य अपवर्त्तनानुपपत्तेः । नापि रसगृह्युपशमार्थम्, धीतमोहस्य रसगृह्येवानुपपत्तेः । नापि लोकानुग्रहार्थम्; अनन्त-वीर्यस्य वीर्यक्षयनिवन्धनाभावतो मुक्तिमन्तरेणापि लोकमनुग्रहीतुं समर्थत्वात् ।

यच्चोक्तम्—'देवच्छन्दके गत्वा यथासुरमासे' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम् ; यतः

(१) अवधिज्ञानस्य । (२) उपयोगसमये । (३) केवलज्ञानस्य । (४) पृ० ८५५ प० ४ ।

(५) तुलना—“ण बलाउसाहणदृढ ण शरीरस्स य चयदु तेजदु । णाणदु सजमदु भाणदु वेव भुजति ।”—मूलावा० ६ । ६२। प्रव० टी० पृ० २९ । प्रमेयक० प० ३०६ । (६) शरीरोपचयार्थम् ।

(७) ज्ञानावरणीयकर्मणोऽभावादेव । (८) “ओषपादिकचरगतमदेहान्तयेवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष ।”—तत्त्वार्थसू० २।५३ । “चरम उत्तमो देहो येषां ते चरपोत्तमदेहा विपरीतमसारा तज्जन्मनिर्वाणार्हा इत्यर्थं ।”—सर्वार्थसि० । “चरमदेहा अन्त्यदेहा इत्यर्थं ये तेनैव शरीरेण सिद्धवन्ति, उत्तमपुरुषा तीर्थकरचक्रवर्त्येभ्यश्चवर्तिनः—तत्त्वार्थाधि० । ‘देवा नेरद्वयावि य अस्रवलासाउया य तिरमण्णा । उत्तमपुरिसा य तहा चरममरीरा य निरुवकमा ॥’—ठाणागवि० । (९) “बाह्यप्रत्ययवशादायुषो हासोऽप्रवर्त्त ।”—राजवा० २।५३ । (१०) पृ० ५५८ प० १० ।

1 सत्वोपयुक्त-थ० । 2 आयुषोऽनुदितमुचित-थ० । 3 शरीरमूच्छास-थ० । 4 अपवर्त्तनिवृ-थ०, अपवर्त्तनं निवृ-आ० । 5 मुचितम-थ० ।

समवशरण विहाय भगवान् किमर्थे तत्र गच्छति—मनोविक्षेपपरिहारेण ध्यानसिद्धयर्थम्, निरोधाक्षमत्वतो यथासुरमवस्थानार्थम्, रहस्यकार्यानुष्ठानार्थं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः, अमनस्कतया भगवतो मनोविक्षेपाऽसंभवात्, योगनिरोधसद्भावेन उपचारतः तत्र ध्यानाभिधानाच्च । द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्नः, अनन्तवीर्यस्य निरोधाऽक्षमत्वानुपपत्तेः । अनन्तसुरस्य दुःखलेशस्याप्यभावतो 'यथासुरम्' इत्यस्यापि दुर्घटत्वात् ।

रहस्यकार्यञ्च निन्द्यम्, अनिन्द्यं वा ? न तावन्निन्द्यम्, प्रक्षीणारोपदोषस्य निन्द्यकार्यानुष्ठानविरोधात् । अथ अनिन्द्यम्, तत्किं भोजनम्, कर्मक्षणं वा ? न तावद्भोजनम्, तस्य अमोहे भगवति प्रतिपिद्धत्वात् । अप्रतिपेधे वा कस्मादसौ एकान्ते गत्वा भुङ्क्ते—दृष्टि[दोष]भयात्, यौचकभयात्, अनुचितानुष्ठानत्वाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽनुपपन्नः ; भगवतो दृष्टिदोषानोचरत्वात् । यदीवेन हि नाम्ना अन्येषा दृष्टिदोषादेरुपशमो भवति स कथं तदोषोचर स्यात् ? द्वितीयविकल्पे तु भगवतो महद्दीनत्वं प्रख्यापितम् । न खलु महासत्त्वस्य पृष्टतो ज्ञानं वुमुक्षुषीडितशिष्यान् विहाय पितुरिव पुत्रम् एकान्ते गत्वा भोजनं युक्तम् । अनुचितानुष्ठानत्वे तु न तत्र तत्परिकल्पना त्रेयसी रूपादिसेवनपरिकल्पनावत् ।

कर्मणामपि क्षपणपूर्वोपार्जितानाम्, भुक्तिकालोपार्जितानां वा तत्र अर्हता विधीयते ?

पूर्वोपार्जितानाञ्चेत्, घातिनाम्, अघातिनां वा ? न तावत् घातिनाम् ; तेषां पूर्वमेव क्षपितत्वात् । नाप्यघातिनाम्, तेषां यथाकालं क्षपयिष्यमाणत्वात्, सततं शुक्लध्यानानलतः कर्मन्धननिचयनिर्दहनसमर्थत्वाच्चास्य । नहि 'भगवत् शुक्लध्यानानलो देवच्छन्दके एव प्रज्वलति न तु समवशरणादौ' इत्यभ्युपगमो युक्तः ; तत्रस्थस्यास्य ध्यानान्तरप्रसङ्गात् ।

भुक्तिकालोपार्जितकर्मणा तु कथं क्षपणम् ? प्रतिक्रमणतश्चेत्, अस्तु, परन्तु भगवतो

निर्दोषता दुर्लभा । यः प्रतिक्रमणं करोति नासौ निर्दोषः, यथा अस्मदादि, प्रतिक्रमणं करोति च भगवानिति । कृतदोषनिराकरणं हि प्रतिक्रमणम्, तत्कुर्वतः । कैथमस्य निर्दोषता स्यात् ? अथ ता ('त') न करोति, कथं भुक्तिव्रियात् समुत्पन्नदोषं निराकुर्यात् ? आहारकृत्यामात्रेणापि हि अप्रमत्तोऽपि सन् साधुः प्रमत्तो भवति नाहं भुञ्जानोऽपि इति महच्चित्रम् । दोषवत्त्वे चास्य श्रेणीतः पतितत्वान् केवलभाक्त्व स्यात् ।

(१) निरवशपरिस्तनानावरणं युगपत्सकलपदार्थावभासिकवलज्ञानातिनाय चिन्तानिरोधाभावोऽपि तत्कलकमनिहरणकार्येष्वपि ध्यानोपचारवत् । —सर्वाथसि० १।११। (२) एकात्मन शरीरावस्थिते तत्परिस्पन्दस्य निरोधः । (३) एकान्ते । (४) समवशरणस्वित्तस्य भगवत् । (५) तुलना—'किं चात्रो भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिकं करोति न वा ? —प्रमेयक० पृ० ३०६ । (६) मिथ्या दुष्कृतानिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम् । —सर्वाथसि० १।२२। (७) प्रतिक्रमणम् । (८) 'अप्रमत्तो हि साधुराहारकृत्यामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नाहं भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम् ।' —रत्नक० टी० पृ० ८६४ । प्रमेयक० पृ० ३०६ ।

१ तत्राद्यपक्षो—व० । २ वचकभ—श्र० । ३ प्रज्वलित श्र०, ज्वलति आ० । ४ पर च भग—व० । ५ कल्प व० । ६ भक्ति—श्र० ।



यदप्युक्तम्—‘भुञ्जानोऽसौ गणधरदेवैरपि न दृश्यते’ इत्यदि; तत्रादर्शने किं कारणम्—  
 वहलतमःपेटलाच्छादितत्वम्, काण्डपटाद्यावृतत्वम्, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानम्,  
 अन्यजनातिशायी माहात्म्यविशेषो वा ? तत्राद्यपक्षोऽनुपपन्नः; तदेहदीप्या तमपटलस्य  
 निर्मूलोन्मूलितत्वात् । काण्डपटाद्यावृताय च तस्मै कथं भिक्षा दीयेत ? विद्याविशेषा-  
 भ्युपगमे चास्य विद्याधरादिवत् निर्ग्रन्थताविरोधः । अथ अन्यजनातिशायी माहात्म्य-  
 विशेषः कश्चित्तस्येष्यते येन भुञ्जानो नाऽवलोक्यते इति; ननु अन्यजनातिशायी  
 भोजनाभावलक्षण एवाऽतिशयः अस्य इष्यताम् तस्यैव प्रमाणोपपन्नत्वात् । ततो  
 भगवतोऽनन्तचतुष्टयलाभलक्षणां जीवन्मुक्तिमिच्छता अनन्तसौख्यमेष्टव्यम् । तदिष्टौ च  
 च मुक्त्यभावोऽभ्युपगन्तव्यः तमन्तरेणास्य अनन्तसौख्यानुपपत्तेः प्रतिपादितत्वात्  
 इति ॥ छ ॥

तल्लक्षणा च मुक्तिः पुंस एव न स्त्रियाः; तस्याः नपुंसकवत्तदयोग्यत्वात्,  
 तन्मुक्तिप्रमाधकप्रमाणासंभवाच्च ।

नन्विदमस्ति तत्प्रसाधक प्रमाणम्—अस्ति स्त्रीणां निर्वाणम् अँविकलकारणत्वात्  
 स्त्रीनिर्वाणवाद सितप- पुंवत् । निर्वाणस्य हि कारणं रत्नत्रयम्, “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि  
 याना शाक्ययनस्य मोक्षमार्गः” [ तत्त्वार्थसू० ११ ] इत्यभिधानात् । तच्च स्त्रीषु विद्यते;  
 च पूर्वपक्ष - तथाहि—सर्वज्ञोक्तार्थानाम् ‘इदमित्थमेव’ इति श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्,  
 यथावदवगमः सम्यग्ज्ञानम्, तदुक्तत्रतस्य यथावदनुष्ठानं सम्यक्चारित्रम्, एतद्रत्नत्रयम् ।  
 एतच्च स्त्रीषु सिद्धत्वं सर्वकर्मविप्रमोक्षलक्षणं मोक्षं साधयति । नहि स्त्रीषु रत्नत्रयस्य  
 केनचिद्विरोधोऽस्ति यतोऽविकलकारणत्वासिद्धिः स्यात् ।

(१) पृ० ८५५ प० १३ । (२) “तत्रादर्शनेऽयुक्तसेवित्वादेकान्तमाश्रित्य भुङ्क्ते इति  
 कारणम्, बहलाग्धकारस्थितभोजन वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधान वा ?”—प्रमेयक० पृ० ३०७ ।  
 “तत्र तु प्रच्छन्नमुक्तौ मायास्यान दैन्यवृत्ति अन्येऽपि विण्डशुद्धिकथिता बहवो दोषा ।”—प्रब० टी०  
 पृ० २९ । (३) “तर्हि परमौदारिकमारीरत्वाद् भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशय किन्न भवति ।”—प्रब०  
 टी० पृ० २९ । (४) “अस्ति स्त्रीनिर्वाण पुंवत् यदविकलहेतुक स्त्रीषु । न विष्यति हि रत्नत्रयसपद्  
 निवृत्तेहेतु ॥”—स्त्रीम० श्लो० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२ । एतदर्थम् उत्तराध्ययनस्य पाइयटीकापि  
 विलोचनीया । “इत्थील्लङ्गसिद्धा—सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि-  
 . . . .”—प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A. । नन्दि० मलय० पृ० १३१ B. । रत्नाकराव० ७।५७ । पद्द०  
 बृह० श्लो० ५२ । “यथोक्त मापनीयतन्ने—णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभन्वा, ण यावि दमण-  
 विरोहिणी, णो अमाणुमा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उदमन्त-  
 मोहा, णो ण मुद्धाचारा, णो असुद्धबोदी, णो ववसायवज्जया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुण-  
 ठाणरहिया, णो अजोगा लद्धीए, णो अकल्लाणभायण ति कह न उतमपम्मसाहिगति ।”—ललितवि०  
 पृ० ५७ B । शास्त्रवा० यसो० पृ० ४२९ B. ।

१-पटलसच्छादितत्वम् थ० । २ दीयते व० । ३-दाभ्युपगमाच्चास्य व० । ४ यथार्थावगमः  
 व० । ५ तदुक्तस्य यथावद-आ०, तदुक्तं व्रतस्य - । ६-नित्योत्पन्नं मोक्षं आ० ।

अथोच्यते—स्त्रीयो रत्नत्रयविरुद्धाः पुंसोऽन्यत्वात् देवादिवत् । सुप्रसिद्धो हि देवनारकनिर्द्यग्भोगभूमिजानां पुंसोऽन्येषां देवादित्वेन रत्नत्रयस्य विरोधः, एवं स्त्रीणां स्त्रीत्वेनैव अस्य विरोधः सिद्ध इति; तदसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावात् विरोधगतिर्भवति । स्त्रीत्वसद्भावे च रत्नत्रयाभावः प्रत्यक्षतः, अनुमानात्, आगमाद्वा प्रतीयेत ? न तावत् प्रत्यक्षतः; रत्नत्रयस्य अतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानतः; तदभावाऽविनाभाविनो लिङ्गस्य कस्यचिदभावात् । नाप्यागमात्; तत्र तदभावावेदिनः तस्याप्यसंभवात् । नहि सुरनारकादिवत् तत्र तदभावप्रतिपादकं किञ्चित् प्रवचनवचनं संभवति । नन्वस्तु रत्नत्रयमात्रं तत्र न तदस्माभिर्निर्दिष्यते तस्य मोक्षाऽप्रसाधकत्वात्, यत्तु मोक्षप्रसाधकं प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तम् तस्य तत्राभावात् मोक्षाभावः इति; तदयुक्तम्; अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । न खलु प्रकर्षपर्यन्तं प्राप्तं रत्नत्रयम् अस्माकं दृश्यम्, न चादृश्यस्य विरोधः प्रतिपत्तुं शक्यः अतिप्रसङ्गात् । न चाप्रतिपन्न-विरोधस्य तस्य तत्राभावो ग्रहीतुं शक्यः अतिप्रसङ्गेरेव ।

अथ मतम्—अनुमानतः स्त्रीणां निर्वाणाभावप्रतीतेर्न तत्र तत्सद्भावाभ्युपगमो युक्तः; तथाहि—नास्ति स्त्रीणां निर्वाणम् सप्तमपृथिवीगमनाभावात् सम्मूर्च्छितादिवत् इति; तदसङ्गतम्; विपर्ययव्याप्तेरसिद्धितः तद्गमनाभावस्य निर्वाणाभावेनाऽऽप्याप्तेः । इह यद् यत्र नियम्यते तद्विपर्ययेण तद्विपक्षस्य व्याप्तौ नियमो दृष्टः, यथा अग्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेन अग्न्यभावस्य, शिशापात्रस्य च वृक्षत्वेन व्याप्तौ वृक्षत्वाभावस्य शिशापात्राभावेन व्याप्तिः । न चैवमत्र विपर्ययव्याप्तिरस्ति; तदभावश्च सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाण प्रत्यकारणत्वात् अव्यापकत्वाच्च सिद्धः । नहि सप्तमपृथिवीगमन निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणं सिद्धम् गुणाष्टकवद्वा व्यापकम् येन तदभावे निर्वाणाभावः

(१) "रत्नत्रय विरुद्ध स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन । इति वाऽमात्र नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा ॥ जानीते जिनवचन श्रद्धते चरति चायिका शबलम् । नास्यास्त्वसंभवोऽस्या नादृष्टविरोध-गतिरस्ति ।"—स्त्रीमु० श्लो० ३४ । "अथ स्त्रीत्वादेव न तासा तत्परिक्षयसामर्थ्यम्, न, स्त्रीत्वस्य तत्परिक्षयसामर्थ्येन विरोधासिद्धे । नहि अविकलकारणस्य तत्परिक्षयसामर्थ्यस्य स्त्रीत्वसद्भावादभावः क्वचिदपि निदिशतो येन अग्निशीतयोरिव सहानवस्थानविरोधं तयो सिद्धो भवेत् ।"—सम्मति० टी० पृ० ७५२ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A । नन्दि० मलय० पृ० १३२ B. (२) रत्नत्रयस्य । (३) स्त्रीपृ० । (४) रत्नत्रयस्य । (५) "सप्तमपृथिवीगमनाद्यभावमव्याप्तमेव मन्यन्ते । निर्वाणाभावे-नापश्चिनतनधो न ता यान्ति ॥"—स्त्रीमु० श्लो० ५ । सम्मति० टी० पृ० ७५३ । प्रज्ञा० मलय० पृ० २० B. । नन्दि० मलय० पृ० १३२ B । रत्नाकराव० ७५७ । पद्म० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ A. । यक्तिप्र० पृ० ११५ ।

1 पुंसोऽन्यत्वं तेषां श्र० । 2 प्रतीयेते श्र० । 3—मात्र तन्त्रम् न व०,—मात्र तत्रं न श्र० । 4 मोक्षप्रसा—श्र० । 5 यत्तु प्रमाणकृतप्रसा—व० । 6—युक्तं न दृष्टं विरो—व० । 7 चादृश्ये वि—श्र० । 8—व्याप्तेरिति इह श्र० । 9 गुणाष्टकवदव्याप—श्र० ।

स्यात् । नचाकारणाऽव्यापकस्य निवृत्तौ अकार्यव्याप्यस्य निवृत्ति अतिप्रसङ्गात्, अत  
सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनम् । चरमदेहै निश्चितव्यभिचारश्च, ते हि तेनैव  
जन्मना मुक्तिभाजो न सप्तमपृथिवी गच्छन्ति अथ च मुच्यन्ते ।

किञ्च, विषमगतयोप्यधस्तात् उपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारं गच्छन्ति च तिर्यञ्च  
तदधोगत्तूनताऽहेतु । नहि अधोगतो स्त्रीपुसयोरतुल्य सामर्थ्यमिति सुगतावपि अतु-  
ल्यत्व युक्तम्, अशुभपरिणामस्य शुभपरिणाम प्रत्यहेतुत्वात् । तथाहि—भुजगखगचतु-  
ष्पात्सर्पजलचराणां विषमाऽधोगति—भुजगानां स(नामस)क्षिणा प्रथमायाम्, रगानां  
चृतीयायाम्, चतुष्पदा पञ्चम्याम्, सर्पाणां षष्ठ्याम्, जलचराणां सप्तम्यामधोभूमौ  
उत्पादात्, शुभगतित्तु समा सर्वेषामेवैषा सहस्रारान्तस्योपरि उत्पादस्य सभवात् ।

न च वादादिलब्धभावात्तासा मोक्षाभाव, 'इत्थमेव मोक्ष' इति नियमा-

(१) 'विषमगतयोप्यधस्तादुपरिष्ठात्तुल्यमासहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदधोग  
त्तूनताऽहेतु ॥ —स्त्रीमु० श्लो० ६ । अपि च भुजपरिसर्पा द्वितीयानेव पृथिवी यावद् गच्छन्ति  
न परत परपृथिवीगमनहेतुतयारूपमनोवीयपरिणत्यभावात्, तृतीया यावत् पक्षिण चतुर्थी  
चतुष्पदा पञ्चमीसुरगा अथ च सवप्यूध्वमुत्कपत सहस्रार यावद् गच्छन्ति । तत्राधोगतिविषये  
मनोवीयपरिगतवप्यदशनादुध्वगतावपि च न तद्वप्यम् । —प्रज्ञा० मलय० पृ० २१ A ।  
नदि० मलय० पृ० १३३ A । पद्म० बह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ B ।  
युक्तिप्र० पृ० ११५ । (२) प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते प्रथमद्वितीययो सरीसृपा तिसृषु पक्षिण  
चतसृपूरगा पचसु सिंहा षट्सु स्त्रियां सप्तसु मत्स्यमनुष्या —राजवा० पृ० ११८ । अमण सरिसप  
विहगम फणि सिंहीत्थीण मच्छमणुवाण । पदमादिषु उप्पत्ती अडवारादो दु दोष्णि वारोत्ति ॥ —त्रिलोक  
सा० गा० २०५ । असनी खलु पद्म, दुच्च च सरीसृवा तद्वय पवल्ली । सीहा जति चउत्थि उरगा  
पुण पचमि पुडंवि । छिद्रु च इत्थिआओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुडंवि । एसो परमुववाओ बोधव्वो  
नरयपुडवीसु ॥ —बृहत्स० गा० २८४-८५ । त्रलोकपदी० गा० २५३ । (३) तमग्योनपु असंज्ञिन  
पर्यास्ता पचेद्विया सख्यवपर्षायुष अपशुभपरिणामवचन पुष्यवधमनुभूय भवनवासिषु व्यन्तरेषु  
चोत्पद्यन्ते । त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टय सासादनसम्यग्दृष्यदवासहस्रारादु पचन्ते त एव सम्यग्दृ-  
ष्टय सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु जायन्ते । —राजवा० पृ० १६९ । पचिदियतिरियाण उववाओक्को  
सओ सहस्रारे —बृहत्स० गा० १६४ । (४) वादादिविकृवणत्वादिलब्धिविरहे श्रुते कनीयसि च ।  
जिनकल्पमन पयवविरहेऽपि न सिद्धिविरहोस्ति ॥ वादादिलब्धभाववदभविष्यद् यदि च सिद्धपभा  
वोऽपि । तासांमवारिष्यद् यथव जम्बूयुगादारात् । —स्त्रीमु० श्लो० ७८ । प्रज्ञा० मलय० पृ०  
२१ A । रत्नाकराव० ७ । ५७ । नापि वादादिलब्धिविरहत्वेन मूकनेवलिभिव्यभिचारात् ।  
—पद्म० बह० श्लो० ५२ । 'मापतुपादीना लभिविगेपहेतुसयमाभावेऽपि मोक्षहेतुत्तच्छ्रवणात्,  
क्षायोपशमिकलब्धिविरहेऽपि क्षायिकलब्धेरप्रतिघातात् । —शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२७ B ।

१—व्याप्यनिवृ-ब० । २—गति न ता हेतु ब०,—गति यूनताऽहेतु श्र० । ३—रतुल्यसाम-आ० ।  
४ शुभगतावपि ब०, श्र० । ५ भुजगानां प्रथमायां आ० श्र० भुजगानां सतिनां प्रथमायां ब०, पृ०  
श्रु० । ६ प्रथमायां संज्ञिनां द्वितीयायां खगानां तृतीयायाम् भुजगानां चतुर्थ्यां चतुष्पदानां पञ्चम्याम्  
चृतीयां षष्ठ्यां जलचराणां ब०, प्रथमायां खगानां तृतीयायां चतुष्पदानां पचभ्यां सर्पाणां षष्ठ्याम्  
जलचराणां श्रुतितायां पृ० प्रती । ७ उपपादस्य थ० ।

भावात् । “श्रूयन्ते हि अनन्ताः सामायिकमात्रसंसिद्धाः” [तत्त्वायंभा० सम्बन्धका० २७(?) ] यदि च स्त्रीणां यथा वादाद्यतिशयाः तपोविभवजन्मानो न संभवन्ति तथा मोक्षोपि न स्यात्; तदा आगमे तदतिशयाभाववत् मोक्षाभावोऽप्युच्येत । न ह्यस्य परिशेषणे किञ्चिन्निवन्धन पश्यामः ।

अथ स्त्रीणां वैखलक्षणपरिग्रहसद्भावात् न मोक्षः; तर्हि मोक्षार्थित्वात् किन्न तैव ताभिः परित्यज्यते ? न खलु वस्त्रं प्राणाः, “तेऽपि हि मुक्त्यर्थिना परित्यज्यन्ते किं पुनर्न वस्त्रम् ? अथ “नो कप्यद् ग्निग्ंयीए अचेलीए होत्तए” [ कल्पसू० ५।२० ] इत्यागमविरोधः तस्याः तत्परित्यागे; तर्हि प्रतिलेखनवत् मुक्त्यङ्गमेव तत्स्यात् । यथैव हि सर्वज्ञैः मोक्षमार्गप्रणायकेः उपदिष्टं प्रतिलेखनं मुक्त्यङ्गं भवति न पुनः परिग्रहः तथा वैखलमप्यतिशेषात् । यदि च धर्मसाधनानां सूत्रविहितानां परिग्रहत्वं स्यात् तदा पिण्डौपधि-शय्यादीनामपि वस्त्रवत् परिग्रहत्वं स्यात् § तथा च तदुपायिनां मोक्षाभावः स्यात् § । सत्यपि वस्त्रे मोक्षाभ्युपगमे गृहिणां कुतो न मोक्षः इति चेत् ? ममत्वसद्भावात् । नहि गृही वस्त्रे ममत्वरहितः । ममत्वमेव च परिग्रहः । सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान् भवति । आर्यिकायाश्च ममत्वाभावाद् उपसर्गाद्यासक्तमिव अम्बरमपरिग्रहः । नहि यतेरपि

प्राप्तं गृहं या प्रविशतः कर्म नो कर्म च आददानस्य अपरिग्रहत्वे अममत्वादन्यत् शरणमस्ति ।

अथ वस्त्रे जन्तूपत्तेः हिंसासद्भावतः चारित्रस्यैवाऽसंभवात् कथं मोक्षप्राप्तिः ? तन्न; प्रमादाभावे हिंसाऽनुपपत्तेः । प्रमादो हि हिंसा । “प्रमत्तयागात् प्राणव्यपरोपयां हिमा” [ तत्त्वायंभा० ७।१३ ] इत्यभिधानात् । अन्यथा पिण्डौपधिशय्यादौ यतेरपि हिंसकत्वं स्यात् । ईर्दुष्टेन यत्रेन सञ्चरतोऽस्य प्रमादाभावाद् हिंसकत्वे आर्यिकाया

(१) “श्रूयन्त चानन्ता सामायिकमात्रसंसिद्धाः”—तत्त्वायंभा० । “अनन्ताः सामायिक-  
मात्रसिद्धा इति वचनान्”—रात्रवा० पृ० १० । (२) “यदि वस्त्रादविमुक्तिः; त्वजेतद्, अथ  
न वल्यत हानुम् । उत्सन्नप्रतिरुमनवदन्वया देशको दूष्यत । त्यागे सर्वत्यागो ग्रहणेऽस्यो दोष  
इत्युपादानि । वस्त्रं गृहणाऽऽज्यां परिग्रहाऽऽनोति भूत्वादो । यत्सयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमतदु-  
पररणम् ॥ पमेत्य हि तन्माधनमनाऽन्यदधिकरणमाहाहन् ॥”—ह्योमु० इतो० १०-१२ । रत्ना-  
कराव० ७।५७ । पद० बृह० इतो० ५२ । (३) वस्त्रम् । (४) प्राणा अपि । (५) “नो  
कप्यद् निग्गंयीए अचेलीए होत्तए”—कल्पसू० । न वन्व्यत निर्यंग्या अचेलया भविनुम् । (६)  
‘विहित्य मुए चिचय जना परेज्ज निहि वारणेहि वरथ ति । तेण चिय तदवस्स निरतिस्सएणं परे  
अथ ॥ तिन कणाजगान हीकन्टुपरिग्रहजोऽन्यस्म । हीलज्ज ति व सा मज्जमा तदत्थं विसंसेणा ॥”  
—विशेषा० गा० २६०२ ३ । सम्पत्ति० टी० पृ० ७४८ । (७) “मूर्च्छां परिग्रहः”—तत्त्वायंभा० ७।१७।  
‘मु० ७। परिग्रहो वृत्ता’—रत्ना० ६।२१ । (८) ‘ममत्तो मन्मथि चादित्रयत्नेन परिहरत्यार्या ।  
हिंसासो पुमानिव न ननुमाताहुज्ज तां ॥’—ह्योमु० इतो० १५ । “प्राणानिपातपरिणामाभावात्”  
—सात्वता० यमा० पृ० ४२७ ३ ।

१ धृत्वं हि व०, थ० । २ सामयिकमात्र-जा० । ३ न सति जा०, व० । ४-यो च वस्त्र-  
थ० । ५ पुनश्च वस्त्रं थ० । ६ कर्त्तव्यं व०, थ० । ७ हीनाए व०, थ० । ८ एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति  
थ० । ९ अम्बरपरिग्रहः ना० । १०-या हि वि-थ० । ११ अर्हदुक्तवत्त्वेन थ० । १२ ध्यायिकायामपि भा० ।

अपि अहिंसकत्वं स्यादविशेषात् । तदुक्तम्—

“जियदु व मरुदु अ जीवो अयदाचारस्त शिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्त श्णति बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्त ॥” [ प्रवचनता० ३।१७ ]

न च पुरुषैरवन्यत्वात् स्त्रीणां मोक्षाभावः, गणधरादिभिर्व्यभिचारात्, ते हि नार्हदादिभिर्वन्यन्ते अथ च मुच्यन्ते। ततो रत्नत्रयमेव तत्कारण न वन्यत्वमवन्यत्वं वा । 5

न च मौयाबाहुल्यात्तासां निर्वाणाभावः, पुसामपि तद्बाहुल्यसद्भावात्। मोहोदयो हि तत्कारणम्, स च उभयोरप्यविशिष्टः ।

न च हीनसत्त्वाः स्त्रियः ततो न निर्वाणन्ति इत्यभिधातव्यम्, यतः सत्त्वं तपः-शीलसाधारणम् इह एष्टव्यम् नान्यत्, तस्यै निर्वाण प्रत्यनङ्गत्वात् । तच्च आर्थासु सुप्रसिद्धमेव । उक्तञ्च—

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वा विख्याताः शीलवत्तया जगति ।

सीतादयः कथ तास्तपसि विशीला विसत्त्वाश्च ॥” [ स्त्रीमु० श्लो० ३१ ]

तथा— “श्रद्धैः(दृ)सयमेगसमये पुरुसाणं शिवुदी सम्वसादा ।

धीलिंगेण य वीस सेसा दसकं ति बोधन्वा ॥” [ ]

(१) “मरुदु व जियदु जीवो”-प्रब० । उद्धृतोऽयम्-सर्वायसि० ७।१३। म्रियता वा जीवतु वा जीवो अयताचारस्य निश्चिता हिंसा। प्रयतस्य नास्ति बधो हिंसामात्रेण समितस्य । (२) “अप्रतिबन्धत्वाच्चेत्सवतवर्गेण नार्थिकासिद्धि । वन्दता ता यदि ते नोनत्व कल्प्यते तासाम् ॥ सत्पूना पुरुषभ्यस्ता स्मारणवारणादिकारिभ्य । तीर्थकराऽऽकारिभ्यो न च जिनकल्पादिरिति गणधरादीनाम् । अहंन् न वन्दते न तावताऽसिद्धिरगगते । प्राप्तान्यथा विमुक्ति स्यान् स्त्रीपुंसयोस्तुल्यम् ॥”-स्त्रीमु० श्लो० २४-२६ । “अथ महाव्रतस्थपुरुषावन्यत्वात् न तासा मुक्त्यवाप्ति, तर्हि गणधरादेरपि अहंदवन्धत्वात् न मुक्त्यवाप्ति स्यात् ॥”-सन्मति० टी० पृ० ७५४ । रत्नाकराव० ७।५७। पृ३० बृह० श्लो० ५२ । शास्त्रवा० पशो० पृ० ४२९ A । युक्तिप्र० पृ० ११४ । (३) “मायादि पुरुषाणामपि द्वपादिप्रसिद्धभावश्च । पण्णा सस्थानाना तुत्यो वर्णत्रयस्यापि ॥”-स्त्रीमु० श्लो० २८ । रत्नाकराय० ७।५७ । पृ३० बृह० श्लो० ५२ । “चरमधारीरिणामपि नारदादीना मायादिप्रकपंबत्वधवणात् ॥”-शास्त्रवा० पशो० पृ० ४२७A । (४) “स्त्री नाम मन्दसत्त्वा उत्सङ्गसमयता न तेनात्र । तत्कथमनल्पवृत्तय सन्ति हि शीलाम्बुधेर्वला ॥ ब्राह्मीमुन्दर्यायां राजीमती चन्दना गणधरान्या । अपि देवमनुजमहिता विख्याता शीलसत्त्वाभ्याम् ॥”-स्त्रीमु० श्लो० २९-३० । पृ३० बृह० श्लो० ५२ । (५) तप शीलव्यतिरिक्तस्य । (६) “शीलवतितमा जगति । तपसि विसत्त्वा विशीलाश्च ॥”-स्त्रीमु० । (७) “अत्रैवायं विशपान्तरप्रतिपादिका प्रक्षपगाथा-विसिस्थिगाउ पुरिसा अट्टस्य एगसमयथो सिञ्च । वस चेव नपु सा तह उवरि समएण पडिसेहो । एकस्मिन् समये उत्कर्षंत स्त्रियो विशति मिध्यन्ति । पुरुषा अप्टशतमष्टाधिक शतम् । तथा समयनेकेन नपु सका दशैव सिध्यन्ति । उक्तसख्याया उपरि सर्वत्रापि प्रतिपेध ।”-बृहत्स०, मलय० गा० ३४७ । “अष्टशतमेकसमय पुरुषाणामादिरागम ( माह्वारागमे ) सिद्धि ( सिद्धम् ) । स्त्रीणा न मनुष्ययोग गीणार्थो मुख्यहानिर्वा ।”-स्त्रीमु० श्लो० ३५ ।

1 दोसो व० । 2-मित्तेण व० । 3 अय मुख्य-श्र० । 4 आर्यासु सिद्धमेव व० । 5 अठसमय-श्र०, अट्टसय-व० । 6 समया व०, समखावा आ० । 7-कति श्र० ।

इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम् ।

अथ अत्र स्त्रीशब्देन स्त्रीवेदो गृह्यते; कथमेवमपि स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः? यथैव हि स्त्रीवेदेन पुंसः सिद्धिः तथा स्त्रीणामपि स्यात्, भावो हि सिद्धेः कारणम् ।

किञ्च, द्रव्यतः पुरुषः भावतः स्त्रीरूपो भूत्वा यथा निर्वाति तथा द्रव्यतः स्यपि भावतः पुरुषो भूत्वा किञ्चन निर्वाति अधिशेषात् ? न च सिद्धयतो वेदः संभवति, अनिवृत्तिनादरसाम्पराये एव अस्य परिक्षयात् । अथ भूतपूर्वगत्या क्षपकश्रे-  
ण्यारोहण येन वेदेन करोति तेनासौ मुक्तः इत्युच्यते; ननु किमनेन उपचारेण स्त्रिया एव स्तनप्रजननधर्मादिमत्या निर्वाणमस्तु इति ॥ छ ॥

अत्र प्रतिबिधीयते । यत्तावदुक्तम्—‘अविकलकारणत्वात्’ इत्यादि; तत्र अविकल-  
0 द्रव्यस्त्रीणा तद्भवनि कारणत्वमसिद्धम्; तत्कारणं हि रत्नत्रयम्, तत्किं परमप्रकर्षप्राप्तं  
वैष्णवप्रतिनिरसनम्— सत् तत्कारणं स्यात्, तन्मात्रं वा ? यदि तन्मात्रम्; तदा गृहिणा-  
मपि निर्वाणप्रसङ्गः । अथ परमप्रकर्षप्राप्तम्; तत्र, तत्र तस्य परमप्रकर्षप्राप्तत्वाऽनुपपत्तेः ।  
तथाहि—निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीग-  
मनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षवत् । तथा चेदमयुक्तम्—‘अदृष्टे विरोधप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः’  
15 इत्यादि । प्रत्यक्षतो हि अदृश्यस्यार्थस्य विरोधः प्रतिपत्तुमशक्यो न तु अनुमानादितोऽपि,  
अन्यथा कथं सप्तमपृथिवीगमनकारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षस्यापि तत्र विरोधप्रतिपत्तिः स्यात् ?

यदप्युक्तम्—‘सप्तमपृथिवीगमनभावस्य निर्वाणाभावेनाऽव्याप्तेः’ इत्यादि; तदप्य-  
युक्तम्; अकार्यकारणम्यापि कृत्तिकोदयात् शकटोदयादेः प्रतिपत्तिदर्शनात् । अविना-  
भावो हि गम्यगमकभावे निवन्धनं न कार्यकारणत्वादि, स चात्र अस्त्येव । न खलु  
20 तादात्म्यतदुत्पत्त्योरेव अविनाभावो नियतः; कृत्तिकोदयादेः शकटोदयादिकं प्रत्यगम-  
कत्वप्रसङ्गात् इति । एतच्च सौगतोपकल्पितव्याप्तिविचारावसरे संप्रपञ्चं प्रपञ्चितम् ।  
अतश्च ‘सप्तमपृथिवीगमनादेः निर्वाणं प्रत्यकारणत्वादव्यापकत्वाच्च’ इत्यादि प्रत्यु-  
क्तम् । कथञ्चैववादिनो अर्वाग्भागाभावात् परभागाभावो निश्चीयेत, अनयोः तादा-  
त्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धासम्भवात् ? अथात्र एकैर्धसमवायः सम्बन्धोऽस्ति तस्मा-

(१) “न च पु वेहे स्त्रीवेदोदयभावे प्रमाणमङ्गञ्च । भावः सिद्धो पु वत् पुमा अपि (पु सोऽपि) न सिद्धयतो वेदः ॥ क्षपकश्रेण्यारोहे वेदेनोच्यत पूर्ववेदेन । स्त्रीति नितराममुह्ये मुखेऽर्षे युज्यते नेतराम् ॥”—स्त्रीमु० श्लो० ३९-४० । (२) वेदस्व । (३) पृ० ८६५ प० १३ । (४) स्त्रीषु । (५) “भोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षः”—प्रमेयक० पृ० ३२८ । (६) पृ० ८६६ प० १० । (७) पृ० ८६६ प० १५ । (८) अविनाभाव । (९) पृ० ४४६ । (१०) अर्वाग्भागाभावपरभागाभावयोः । (११) एकस्मिन्नेव भित्त्याख्ये अवयविनि अर्वाग्भागापरभागाख्ययो अवयवयो समवायात् तयो परस्परमेकार्पसमवाय समस्त्येव ।

1 इत्यागम-ध० । 2 -चावरसपराय-आ० । 3 ‘तदा’ नास्ति आ०, ध० । 4 -प्रतिपत्ते-  
रित्यादि आ० । 5 अदृश्यायंस्य व० ।

देव अनयोः गम्यगमकभावो भविष्यति, ननु नैयायिकस्य मतमेतन्न सिताम्बरस्य । न खलु समवायासिद्धौ तस्यै एकार्थसमवायसिद्धिरुपरुपद्यते तत्सिद्धिपूर्वकत्वात्तस्यै । अस्तु वा तत्सिद्धिः, तथापि—अतस्तयोर्गम्यगमकभावे प्रकृतयोरपि सोऽस्तु तत्राप्येकार्थसमवायसद्भावात्, यत्रैव हि आत्मनि सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता संमेवता तत्रैव मुक्तिगमनयोग्यतापि । न च सप्तमपृथिवीगमनाभावात् स्त्रीणां निर्वाणनिषेधः साध- 5 यितुमिष्टं येनोक्तदोषानुपपन्नं स्यात्, किं तर्हि ? परमप्रकर्षत्वाद्देतो. दृष्टान्ते सिद्धसाध्यव्याप्तिकात् निर्वाणकारणाभावः, तत्र साधयितुमिष्टः । तद्वैभावाच्च निर्वाणाभावस्वयमेव तत्र सेत्स्यति । न खलु निर्हेतुंका कार्यस्योत्पत्ति अतिप्रसङ्गात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—‘सप्तमपृथिवीगमनं न निर्वाणस्य रत्नत्रयवत् कारणम्’ इत्यादि ।

यदपि—‘चरमदेहैः निश्चितव्यभिचारम्’ इत्याद्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, यतः सप्तम- 10 पृथिवीगमनाभावः तन्निर्वर्त्तनसमर्थकमार्जनसामर्थ्याभावः । स च स्त्रीष्वेवास्ति न चरमशरीरिषु । श्रूयते हि भरतप्रभृतिचक्रवर्तिनां चरमशरीराणामपि प्रयाणकसमये सप्तमपृथिव्या गमनयोग्यकर्मार्जना, देवार्चनसमये तु सर्वार्थसिद्धाविति । उक्तष्टौ हि शुभोऽशुभश्च परिणामः यथाक्रमम् उक्तष्टायां शुभगते अशुभगतेर्वा हेतुभूतं कर्म आरभते, तत्परिणामप्रारम्भे च पुरुषस्यैव सामर्थ्यं न स्त्रिया । यथैव हि तस्या तीव्रतराशुभ- 15 परिणामे सामर्थ्याभावः तथा उक्तष्टशुभपरिणामेऽपि । उक्तष्टशुभपरिणामेन च मुक्तिः ।

एतेन ‘विपमगतयोऽप्यधस्तात्’ इत्याद्यपि” प्रतिव्यूढम्, प्रकृष्टगतिप्रारम्भहेतुभूत- 20 कर्मोपार्जनसमर्थस्यैव मुक्तियोग्यतोपपत्ते न तद्विपरीतस्य । श्रूयते हि प्रतिनियताऽवा-न्तरगतिप्रारम्भकर्मवशात् प्रतिनियतोत्पादस्थानानामपि नारकाणां क्षपितकर्मणा तिर्य-ग्लोके सर्वेषामपि नियमतः ३‘सन्निपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु चोत्पादः’, देवानाञ्च 20 तथाविधकर्मवशात् प्रतिनियतोपपादस्थानोत्पन्नानां तिर्यग्लोक एव तेषु एकेन्द्रियेषु च

(१) तमते हि अवयवायविनो कयञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमात् । (२) श्वेताम्बरस्य । (३) एकाक्षसमवायमिदं । (४) एकाक्षसमवायात् । (५) मत्स्यमपृथिवीगमनसामर्थ्यं मुक्तिगमनसामर्थ्यं योश्च । (६) स्त्रीषु । (७) निर्वाणकारणाभावाच्च । (८) पृ० ८६६ पं० २० । (९) पृ० ८६७ पं० २ । (१०) दिग्विजयवात्रासमये । (११) पृ० ८६७ पं० ४ । (१२) गिरयादो निस्सरिदो णरतिरि ए कम्मसण्णपज्जत् । गम्भभवे उप्पज्जदि सत्तमपुड्ढवीडु तिरि ए व ॥ —त्रिलोकसा० गा० २०३ । “णरयियाण गमण सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे । चरमचऊ तित्थूणे तेरिच्छेव सत्तमिया ॥ —कमका० गा० ५३८ । (१३) सत्तिपञ्चेन्द्रियेषु तियक्षु मनुष्येषु च । आहारया दु देवे देवाण सण्णिकम्मति रियणरे । पत्तपुड्ढविआऊवादरपज्जत्तग गमण ॥ भवणतियाण एव तित्थूणणरेमु चव उप्पत्ती । ईसाणताणग सदरदुगताणसण्णीसु ॥ —कमका० गा० ५४२-४३ ।

1 समवेता न तत्रैव मुक्तिगमनायोग्यतापि व० । 2 निर्हेतुककार्य-अ० । 3 ततो युक्तमुक्तम् व० । 4-शरीरेषु व०, अ० । 5-नामप्राप्ते च व० । 6 तथाविध-आ० । 7-नियतस्थानो-आ०, नियतोत्पादस्थानो-व० ।

नियमेनोत्पाद् इति । न च तथाविधकर्मोपार्जनसामर्थ्येन मुक्तियोग्यता सभवति इति न मुक्तियोग्यताविचारावसरे किञ्चिदनेन प्रयोजनम् । यस्य तु उपरिष्टात् प्रकृष्टशुभगति-प्रसाधने सामर्थ्यम् तस्य अधस्तात् प्रकृष्टशुभगतिप्रसाधनेऽपि तदस्ति यथा पुस इति स्त्रीणां प्रकृष्टाया शुभगतौ सामर्थ्यभ्युपगच्छता अशुभगतावपि तथाविधाया तदभ्युप-गन्तव्यम् । तथा च “ईत्थी दृष्टीश्रो अहो न उप्यजति” [ ] इत्यादि भवदीयागमविरोधः ।

यच्चान्यदुक्तम्—‘न च वादादिलब्धभावात्तासा मोक्षाभावः’ इत्यादि, तदप्यु-क्तिमात्रम्, यतो यत्र ऐहिकप्रादविक्रियाचारणादिलब्धिनामपि हेतु सयमविशेषो नास्ति तत्र मोक्षहेतुरसौ भविष्यतीति क सुधी श्रद्दधीत ? वादलब्धि रल्ल इन्द्राद्यास्था-नेषु बृहस्पत्यादिष्वपि प्रतिबन्धकेषु सत्सु छलजात्यादिपरिहारेण स्वतत्त्वप्रतिपादनसा-मर्थ्यम् । विक्रियालब्धि इन्द्रादिरूपोपादानशक्तिः । चारणलब्धि गगनगमनसामर्थ्यम् । आदिशब्दात् ऐक्षीणमहानसादिलब्धिपरिग्रहः । तद्धेतुश्च सयमविशेषो न स्त्रीणां प्रवचने प्रतिपाद्यते ।

यदप्यभिहितम्—‘आगमे वादादिलब्धतिशयाभाववत् मोक्षाभावेऽप्युच्येत’ इत्यादि, तदप्यभिधानमात्रम्, सयमविशेषनिषेधादेव आगमे तासां मोक्षाभावप्रतिपा-दनप्रसिद्धे । सुप्रसिद्धो हि आगमे पुसा मोक्षहेतो आचेलक्यादिसयमविशेषस्य विधिः, स्त्रीणां तु निषेधः । न च कारणाभावे कार्योत्पत्तिः अतिप्रसङ्गात् । सयममात्रं तु सद्यपि आसा न मोक्षहेतुः तिर्यग्गृहर्थादिसयमवत् । तथा, नास्ति स्त्रीणां मोक्ष-परिग्रहवत्प्रात् गृहस्थवत् ।

पगते । —प्रमेयक० पृ० ३३० । (३) सयमः । (४) रात्रादिष्वपि प्रतिबन्धेषु सत्सु अप्रतिहततया निरुत्तरानिधानपरत् प्रापेक्षणञ्च वादिस्त्वम् । —राजवा० पृ० १४४ । (५) अभान्तरायक्षयोपगमप्र-रूपान्तरम्यो यन्म्यो यतो भिदा दीपतततो भाजनाच्चप्रचरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जान तद्विषमं नात्र धीयते तत्र लक्ष्मीमहानसा । —राजवा० पृ० १४५ । (६) पृ० ८६८ पं० ३ । (७) त्रिं इच्छीण हृष भुञ्जति त्रिं मु एयकालम् । अत्रिञ्चयवि एकवत्या वत्यावरणण नुजइ । पवि सिञ्जइ वत्यधरो त्रिणमासण जइ वि होइ नित्यपगो । पग्या विमोक्षतमग्या समा उम्मग्या मव्व ॥ त्रिणम्मि य इत्थीण पवतरे पाइरत्तमग्गमु । ननिओ मुट्टमो काओ तास वइ होइ पव्यग्जा ॥ जइ दमणण मुट्टा उता मग्गण गावि म्भूत्ता । पारं चरिय चरित्त इत्थीमु न पावया भणिया ॥ चित्तामाहि ण तंठि इत्थं भावं तथा मग्गावण । विग्गइ मासा तमि इत्थागु पग्गंयया नग्गण ॥ —सूत्रप्रा० पा० २३ २६ । निष्पद्यतो इत्थीण विदो न हि तप ब्रम्पता त्रिं । तग्हा तप्यइरुव विवणिय विपनिपाच ॥ निव यत्तिप्रात् पृथक् इव विवणितं यपिन त्थि प्रावरणमहर्तं त्रिं इत्थाणामिडि । —प्रब० टी० पृ० ३०२ । (८) पृ० ८६८ पं० ८ ।

१—मप्रितापने—आ० । —इत्थां छट्ठीसो अहो न उ—व० । ३ यतो नास्ति व०, ध० ।

४—रपादिषु वा०, व० ।



लेखन तावत् सयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टम्, वन्न तु किमर्थमुपदिष्टमिति ? तदपि तःप्रतिपालनार्थमिति चेत्, तथाहि—अभिभूयन्ते प्रायेण विवृताङ्गोपाङ्गसन्दर्शनजनित-चित्तभेदैः पुरुषैः अङ्गना अकृतप्रावरणाः घोटिकेव घोटकेरिति, तत्र कुतस्तां तैरभिभूयन्ते न पुनस्ते ताभिः अकृतप्रावरणत्रांविशेषेऽपि इति वक्तव्यम् ? तासामल्प-सत्त्वोपेततया अभिभाव्यत्वाच्चेत्, सुप्रसिद्धो ह्ययं विभागः गवाश्चादो स्त्रीप्रकृतिरभिभाव्या पुरुषप्रकृतिरभिभाविका इति, तदेतन्महामोहविवृत्तमित्युक्तम्, यासामतितुच्छ-सत्त्वानां प्राणिसारेणाप्यभिभवः ताः सकलत्रैलोक्याभिभाषककर्मांशप्रक्षयलक्षण मोक्षमहासत्त्वप्रसाध्य प्रसाधयन्तीति ।

यदप्युक्तम्—‘यदि धर्मसाधनानां परिग्रहत्वं स्यात्’ इत्यादि, तत्र कोऽयं धर्मयत्साधनत्वं वक्ष्यस्य स्यात्—पुण्यविशेष, सयमविशेषो वा ? प्रथमपक्षे कथं तन्मुक्तिहेतुः ? आगमविहितविधिना गृह्यमाणस्यास्यै गृहस्थवत् पुण्यस्यैव हेतुत्वात् । पुण्यहेतोश्च मुक्तिहेतुत्वे दानादेरपि तद्वेतुत्वप्रसङ्गः । ‘सयमविशेषहेतुत्वं तु तस्य दुरूपपादम्, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागो हि सयमः, स च याचैनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणादिमत्तं सङ्गोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात् ? प्रत्युत सयमोपघातकमेवैतत् बाह्याभ्यन्तरनेर्ग्रन्ध्यप्रतिपन्थित्वात् ।

नन्वेव पिण्डौपध्यादीनामपि परिग्रहत्वप्रसङ्गात् कथं तदादायिनामपि मोक्षः स्यात् ? इत्यप्यस्यारम्, तेषाम् उद्गमादिदोषपरिहारेण उपादीयमानानां रत्नत्रयोपबृहणहेतुत्वात् । न हि ते सिद्धान्तविहितविधिना उपादीयमाना मोक्षहेतोरपकर्तारः । तदग्रहणे च अपूर्णेऽपि काले विपत्तेरापत्तेः आत्मघातित्वं स्यात्, वस्त्राऽग्रहे तु नाऽयं दोषः । पद्माऽष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभिः पिण्डादिकमपि त्यज्यते, परमनेर्ग्रन्ध्यभागिभिः प्रतिलेखनञ्च, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्वस्त्रम् । नच गृहीतेऽपि वस्त्रे ममेदभावस्य आसामसभवादपरिग्रहत्वं वाच्यम्, विरोधात्, बुद्धिपूर्वं हि पतितं वस्त्रं हस्तेनादाय परिदधानाया मूर्च्छारहितत्वानुपपत्तेः, अद् बुद्धिपूर्वं पतितमन्व्यादीयते न तत्र मूर्च्छाभावः यथा सुवर्णादौ, तथा आदीयते च स्त्रीभिर्वस्त्रमिति ।

(१) स्त्रिय । (२) पुरुषा । (३) ५०८६८ ५० १० । (४) वस्त्रस्य । (५) ‘गण्द्वि व चेलखड भायणमस्त्विति भणिदमिह मुत्त । जदि सो चत्तालवो हवदि कह वा अपारम्भो ॥ वत्य वखड दुदियभायणमण्ण च गण्द्वि णियद । विज्जदि पाणाग्भो विक्खमो तस्स चित्तमि ॥ गण्द्वि विधुणइ धोवइ सोमेइ जद तु आदवे मित्ता । पत्य च चेलखड विभदि परदो य पाअयदि ॥ किध तमिह णत्थि मुच्छा आरभो व असज्जमो तस्स । तध परदव्वमि रदो कधमप्याण पसाधयदि ॥ — प्रव०, टी० ५० २९७ । प्रमेयक० ५० ३३१ । (६) “बुद्धिपूर्वं हि हस्तेन पतितं वस्त्रमादाय — प्रमेयक० ५० ३३३ ।

1-विशेषणेति वक्त-व० । 2-भाष्य पुरुष-श्र० । 3-राशिसय-ध० राशिप्रक्षयलण आ० । 4 सयमादाय-आ० । 5-पूर्वकं हि ध० ।

एतेन 'उपसर्गाद्यासक्तमिव अन्वरमपरिग्रह.' इत्यादि प्रत्याख्यातम्, उपसर्गाद्यासक्ते वस्त्रे पतिते बुद्धिपूर्वप्रहणासंभवात् ।

अथोच्यते—स्त्रीणां वस्त्रत्यागाभ्युपगमे कुलस्त्रीणा लज्जाभूयिष्ठत्वात् दीक्षायहणमेव न स्यात्, वस्त्रे तु सति तत्परिग्रहमात्रं दोषः सकलशीलपरिपालनं तु गुणः इति त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवता वस्त्रमुपदिष्ट तासामिति, तदेतदस्माकमभीष्टमेव, नहि अत्रार्थे वयं विप्रतिपद्यामहे, मोक्षे एव अस्माक विप्रतिपत्तेः । नच तच्छील मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति परिग्रहवदाश्रितत्वात् गृहस्थशीलवत् । नहि गृहस्थशील त्यागोपादानयोः गुणदोषाल्पबहुत्वनिरूपणेन भगवतोपदिष्टमपि मोक्षप्रसाधनाय प्रभवति एव प्रकृतमपि । अथ तच्छील हिंसाशवलितत्वात् न तत्प्रसाधनाय प्रभवति; तदन्यत्रापि समानम् । न खलु स्त्रीसम्बन्धि शील हिंसाशवल न भवति, युं कालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणवस्त्रसमन्वितत्वात् गृहस्थशीलवत् । तत्सम्मूर्च्छनाधिकरणस्य च वस्त्रस्य हिंसानङ्गत्वे मूर्द्धजानामपनयनानर्थक्यं स्यात् ।

यदप्यभिहितम्—'प्रमादाभावे तासा हिंसानुपपत्तेः.' इत्यादि, तदप्यपेशलम्, लोभकपायपरिणतो तासामप्रमत्तत्नानुपपत्तेः, तत्परिणतेरेव प्रमादत्वात् । तदुक्तम्—

“विक्रंहा तहा नसाया इदिय गिहा य तह य पण्णा (यो) य ।

चट्टु चट्टु पण्ण एंगेगे हुति पमादा हु पयण्णरस ॥” [ पचस० १।१५ ] इति ।

लोभकपायपरिणतिश्च स्त्रीणा बुद्धिपूर्वं वस्त्रस्वीकारात् अस्तीत्यवसीयते । अथ वीतरागत्वेऽप्यासा लज्जापनोदार्थं तत्स्वीकारसंभवात् नातस्तासा तत्परिणतिमिद्धिः, नन्वेव कार्मणीडापनोदार्थं कस्मिन्नादिस्वीकारोप्यासा किञ्च स्यादविशेषात् ? अथ तंतीडासद्भावे वीतरागत्वं तासां विरुद्ध्यते, तदेतत् लज्जासद्भावेऽपि समानम् । न खलु वीतरागस्य लज्जा उपपद्यते, सति रागे ग्रीभत्सावयवप्रच्छादनेऽप्यलक्ष्णरूपत्वात्तर्थाः । यो वीतरागो नासौ लज्जान्, यथा शिशु, वीतरागा च भवद्विरभिप्रेता आर्यिका इति ।

(१) 'अर्शोन्नगरादिषु गृहीतचोरो यतिर्न मुच्यत । उपसर्गं वा चोरे ग्दादि सयस्यते चात्ते ॥'—स्त्री०० श्लो० १७ । (२) गृहस्थशीलम् । (३) पु० ८६८ प० १७ । (४) 'पदोऽपि पमादमइया एदासि विति भासिया पमदा । तम्हा ताजो पमदा पमादवहुला ति गिहिट्टा ॥ सति धुवं पमदाण माहरदासा भयं दुगुछा य । वित्त चित्ता माया तम्हा तासि ण गिज्जाण ॥'—प्रब० टी० पु० ३०२ । 'मायापमानपउरा पडिमास तमु होइ पकवलण । णिञ्च जाणिस्सावो दारइड णिय चित्तस्स ॥'—भावस० पा० ९३ । (५) विनयास्तया वपाया इन्द्रियनिष्ठातथैव प्रणयश्च । चतुश्चतुपञ्चकं भवति प्रमादा गन्तु पञ्चदश ॥ गायवं जीवकाण्डेऽपि (३४) वतत । उद्धृतयम्—धवलाटी० पु० १७८ । (६) 'हागातातितिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यत । कामियादिस्तया विप्र कामोडादि मानव ।'—प्रमथक० पु० ३३१ । (७) कामपीडा । (८) लज्जाया ।

१-सर्गाद् व्यासक्त-आ० । २-अत्रार्थेऽपि विप्र-व० । ३-प्रसाधाय व० । ४-नाय भवत्येव प्रकृत-व० । ५-कालि-व० । ६-नामे तासा-व० । ७-एकेऽथ० । ८-बुद्धिपूर्ववस्त्र-आ०, बुद्धिपूर्वकवस्त्र-थ० । ९-कामादि-थ० ।

यदि च पुसाम् अचेलः संयमो मुक्तेर्हेतुः स्त्रीणां तु सचेलः, तदा कारणभेदात् मुक्तेरप्यवश्यमनुपप्येत भेदः । योऽत्यन्तभिन्नसयमसोऽत्यन्तभिन्नकार्यारम्भकयथा यतिगृहिसयमोऽत्यन्तभिन्नस्वर्गाद्यारम्भकः, अत्यन्तभिन्नश्च सचेलाऽचेलरूपो मुक्तिहेतुतयाऽभिप्रेत आर्य-अर्यिकासयम इति । न चानयोः मुक्तिभेदोऽस्ति, सकलकर्मक्षयलक्षणाया मुक्तेः उभयोर्भवद्विस्तृत्यतयाऽभ्युपगमात् ।

किञ्च सचेलसयमस्य मुक्तिहेतुत्वे मुक्त्यर्थिना न वच्चादेस्त्याग कर्त्तव्यतया उपदिश्येत, उपदिश्यते चोसौ तेषां तथा, अतो वच्चादेर्मुक्त्यङ्गत्वानुपपत्तिः । प्रयोगः— वस्त्रमुक्तेरङ्गं न भवति, मुक्त्यर्थिना तत्त्यागस्य कर्त्तव्यतयोपदिश्यमानत्वात्, यत्त्यागो मुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतयोपदिश्यते न तन्मुक्तेरङ्गं यथा मिथ्यादर्शनादि, कर्त्तव्यतयोपदिश्यते च तेषां वच्चात्याग इति । यत्पुनः मुक्तेरङ्गं न तत्त्यागस्तदर्थिना कर्त्तव्यतया उपदिश्यते यथा सम्यग्दर्शनादेरिति ।

यच्चान्यदुक्तम्—'पुरुषैरवन्धत्वस्य गणधरैर्व्यभिचारः' इत्यादि, तदप्यसाम्प्रतम्, यतोऽर्हता तीर्थकरत्वनामपुण्यातिशयवशात् परममहत्त्वपदप्राप्तत्वेन अखिलजनैर्बन्धत्वमेव न वन्दकत्वम् । नहि कश्चित् तत्पदादधिकपदाहो जगत्यस्ति यस्य ते<sup>१</sup> बन्धका भविष्यन्ति, गणधराणां तु तथाविधपुण्याऽभावात् तैत्पदप्राप्तेरभावात् तद्वद्वन्धत्वम् । मुक्तिसामग्री तु तीर्थकरेतेषां सिद्धत्वात् न विशिष्यते । आर्यिकायास्तु सा विशिष्यते, तद्वेत्तुरन्नत्रयाभावात् । तथा, स्त्रीणां न निर्वाणपदप्राप्तिः, यतिगृहिदेवबन्धपदाऽनर्हत्वात्, नपुंसकादिवत् । यतीनां हि बन्धपदद्विविधम्—परम्, अपरञ्च । तत्र परम्—तीर्थकरत्वलक्षणम् । अपरम्—आचार्यादिलक्षणम् । तदुभयमपि पुसामेव उपदिश्यते न स्त्रीणाम् । तथा गृहिणा देवानाञ्च बन्धपदद्विविधम्—पराऽपरभेदात् । तत्र तेषां बन्धपरपदम्—चक्रवर्त्तित्वम् इन्द्रत्वञ्च । अपरम्—महाम(मा)ण्डलिकादि सामानिकादि च । तदपि पुसामेव श्रूयते न स्त्रीणाम् । प्रतिगृहञ्च प्रभुत्वपुसामेव न स्त्रीणाम् । तथा पितरि सत्यसति च पुत्रस्यैव लघो विरूपकस्यापि सर्वत्र कार्येऽधिकारो न पुत्रीणां महतीनां सुरूपणामपि । अतो यासां मासारिकलक्ष्यामपि अधिकारो नास्ति तासां मोक्षलक्ष्यामधिकारो भविष्यति इति किमपि महाद्भुतम् ।

ननु यदि महत्या, श्रियोऽनर्हत्वात्तासाममुक्तिः तदा गणधरादीनामप्यमुक्तिः

(१) 'तर्हि कारणभदा मुक्तेरप्यनुपप्येत भदस्वर्गादिवत् । -प्रमेयक० पृ० ३३० । (२) आय-आधिकयो । (३) वस्त्रत्यागमुक्त्यर्थिना कर्त्तव्यतया । (४) पृ० ८६९ प० ४ । (५) तीर्थकरा । (६) परममहत्त्वपदप्राप्ते । (७) तीर्थकरवत् सकलजगद्बन्धत्वम् ।

१ बन्धका च भवि-श्र० । २-पुण्यानुभावतस्तत्त्व-आ०, -पुण्येभावतस्तत्त्व-व० । ३-भाव-स्तत्त्व-श्र० । ४ तद्वद्वन्धत्वम् व०, श्र० । ५-करे तेषां श्र० । ६ आधिकामु ता व० । ७ व-अपवर्त्त व० । ८ चक्रवर्त्तित्व व० । ९ विपक्षकस्यापि व० ।

स्यात् महत्या. तीर्थकरत्वश्रियः तेषामप्यनर्हत्वाविशेषात्; इत्यप्यसुन्दरम्, व्यक्तिभेद-  
स्यात्र विधिनिषेधयोरनङ्गत्वात् । पुरुषवर्गो हि महत्या श्रियामधिकृतो न स्त्रीवर्गः  
अतस्त्वपरिहारेण तस्यैव मुक्तिरभ्युपगन्तव्या, न पुनः कचिद्व्यक्तौ तथाविधश्रियोऽ-  
सभवेऽपि मुक्त्युपलम्भाद् व्यभिचारमुद्भाव्य मुक्तिं प्रति स्त्रीणा तत्समानताऽऽपादयितु  
6 युक्ता । न खलु एकस्य राजपुत्रस्य राज्यप्राप्तौ अन्यतत्पुत्राणा तद्प्राप्तितः ततो हीन-  
त्वेऽपि पुन्या समत्व युक्तम्, पुत्रवर्गात् पुत्रीवर्गस्य सकलव्यवहारेषु लोके अत्यन्त-  
विलक्षणतया प्रसिद्धे । तत स्त्रीणा न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुसकादिवत् ।  
न च तेभ्यो हीनत्वमासामसिद्धम्, अनन्तरमेव अस्य समर्थितत्वात् ।

इतश्च तत्सिद्धम् यतः सारणैवारणपरिचोदनादीनि स्त्रीणा पुरुषाः कुर्वन्ति न  
10 स्त्रिय. पुरुषाणाम्, तीर्थकराकारधराश्च पुरुषा न स्त्रियः । उक्तञ्च—

“सारणैवारणपरिचोयणाइ पुरिसा करेई गहु ईत्थी” [ ]

ननु न हीनत्वमधिकत्व वा मुक्तेरङ्गम्, किन्तु रत्नत्रय शिष्याचार्यवत्, तथाहि—  
शिष्या आचार्येभ्यो हीनाः तेतु तेभ्योऽधिकाः अथ च उभयेषा मुक्तिः, तद्वद् आर्या-  
णाम् आर्थिकणाञ्च सा भविष्यति, इति च श्रद्धामात्रम्, यतः शिष्याचार्यवत् हीना-  
15 धिकत्वेऽपि स्त्रीपुरुषयोर्मुक्तिः अविशेषतः स्यात् यदि तद्वत् तयोरपि मुक्तिहेतुभूत  
रत्नत्रयमविशेषतः स्यात्, न च स्त्रीषु तदस्ति, तद्वेतुभूतस्यास्य प्रपञ्चत तासु प्रागेव  
प्रतिपिद्धत्वात् । रत्नत्रयमात्र तु तत्र सदपि न तद्वेतु, गृहस्थादेरपि मुक्तिप्रसङ्गात् । नहि  
प्रचण्डमात्तण्डप्रसाध्ये कार्ये प्रदीपस्य स्वप्नेऽपि सामर्थ्यं प्रतीयते ।

यदप्युक्तम्—‘गार्हृद्व्येऽपि मुसत्त्वाः’ इत्यादि, तदप्यविचारितरमणीयम्, नहि  
20 यत्रा अनेकदुर्धरपरीपहसहत्वेन अखिलमर्मनिर्मूलनसमर्थं महासत्त्व्य पुसा प्रसिद्धम्  
तथाविध स्यत्रेऽपि स्त्रीणामस्ति । स्त्रीवर्गापेक्षयैव सीतादीना सत्त्वप्रकर्षसभवात्  
‘महासत्त्वाः’ इत्युच्यन्ते । नहि तासा पुसामिव सत्त्वार्थिक्यमस्ति कापि कार्ये ।  
तथानिधसत्त्वविकलानाञ्च तासा क्व महासत्त्वसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रता स्यात् ।  
तथाहि—न स्त्रीशरीर मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रतोपेताऽऽत्माश्रयः महता पापेन निर्वर्चित-  
25 त्वात् नारराशिरीरवत् ।

निश्च, अखिलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतोस्त्वं तदाश्रयतोपपद्यते । न च स्त्रीशरी-

(१) स्त्रावगपरिहारेण । (२) तीर्थकरत्वश्रिय । (३) सारणा हिंसे प्रवतनलक्षणा इत्य  
स्मारणलक्षणा वा उपभणत्वाद् वारणा अहिनाग्निवारणलक्षणा, चोयणा समययोग्यु स्खित  
सम्प्रभुत्वतद् नराद्वा विधानुमित्यादिवचनन प्ररणा प्रतिचोदना तद्वैव पुन पुन प्ररणा । —गच्छा०  
५० गा० १७ । ओपनि० टी० गा० ४४८ । (४) शिष्याचार्यवत् आर्य-आर्थिकयोरपि । (५)  
पु० ८६९ प० ११ । (६) प्रारस्य । (७) मुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रतापेताऽऽत्माश्रयता ।

१ स्वप्निभर स्यात् विधि—जा० । २ तत्प्राप्तित ४० । ३ सारणचारण—जा० । ४ सारणचारण  
—जा० । ५ इति जा० । ६ आचार्याणांमायि—प्र० । ७—विषयमायि क्त्वावि जा० । ८ नच शरीरस्य जा० ।

रस्य तत्प्रारम्भहेतुतोपपद्यते । तथाहि—न स्त्रीशरीरं सकलकर्मक्षपणाप्रारम्भहेतुः महता पापेन मिथ्यात्वसहायेन उपार्जितत्वात् नारकादिशरीरवत् । स्त्रीनिर्वर्त्तक हि कर्म महत्पापम् न मिथ्यादृष्टेरन्येन उपार्ज्यते । यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टिरपि तदुपार्जयति तथाप्यसौ सम्यग्दर्शनमवसादयन् मिथ्यादृष्टिरेव, मिथ्यादर्शनाभिमुखस्यास्य मिथ्यादर्शनेनैव व्यपदेशात् । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपि हि तत्तावत् नार्जयति, किमङ्ग पुनः सम्यग्दृष्टिः ? स्त्रीत्वेन उत्पद्यमानोऽपि जीवो मिथ्यात्वपरिणत एव उत्पद्यते । तदुक्तम्—

“हेतु हेट्टिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।

वारस (वारस) मिच्छुववीदे सम्माइठ्ठी ण उप्पयदि ॥” [पचस० १।१९३ (?) ]

यासाञ्च उत्कृष्टस्थितिकदेवपदप्राप्तिरपि नास्ति ताः मोक्षपदं प्राप्स्यन्ति इति महत्त्रयायकौशलम् ।

यदप्युक्तम्—‘अट्टसमवेगसमये’ इत्याद्यागमश्च स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणम्’ इत्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्, अस्य आगमस्य अस्मत्प्रत्यप्रमाणत्वात्, तदप्रमाणत्वञ्च प्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकत्वान् सुप्रसिद्धम् । यथा च स्त्रीनिर्वाणलक्षणोऽर्थः प्रमाण-

(१) “चित्तस्तावो तासि सित्थिल्ल अत्तव च पक्खलण । विज्जदि सहसा तामु अउप्पादो सुहममणुआण ॥”—प्रब० टी० पृ० ३०३। “सुहमापज्जत्ताण मणुआण जोणिणाहिकक्खेसु । उप्पती होइ सया अण्णसुय तणुपएसेसु ॥ णट्ठ अत्थि तेण तेसि इत्थीण दुविहसजमोद्धरण । सजमधरणण विणा ण ट्ठ मोवखो तेण जम्मेण ॥”—भावस० गा० ९४-९५ । “सदैवाशुद्धता योनो गलन्मलाश्रयत्वं । रज स्वलनमेतासा मास प्रति प्रजायते ॥ उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणा योनो कक्षादिसन्धिषु । सूक्ष्मापर्याप्तिका मर्त्यास्तद्दृश्य स्वभावत ॥ स्वभाव कुत्सितस्तासा लिंगञ्चात्यन्तकुत्सितम् । तस्मात् प्राप्यते साक्षाद् द्वेषा समयभावना ॥ उत्कृष्टसयम मुक्त्वा शुक्लध्यान न योग्यता । नो मुक्तिस्तद्विना तस्मात्तासा मोक्षोऽतिदूरम् ॥ सप्तम नरक गन्तु शक्तिर्यासा न विद्यते । आशसहननाभावान्मुक्तिस्तासा कुतस्तनी ॥ योपितस्वरूपतीर्थेशा तल्लगस्तनभूषिता । अर्चा प्रतिष्ठिता क्वापि विद्यन्ते चैरप्रकथ्यताम् । न सन्ति चेन्मताभाव सन्ति चेद् भण्डिमास्पदम् । एव दोषद्वयासगान्मोक्षो न घटते स्त्रिय ॥”—भावस० श्लो० २४४-५० । (२) “सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो । पासिय-सम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥”—जीवका० गा० २० । “विपरीताभिवेशतोऽसद्दृष्टित्वात् । तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वय नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत्, न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्धनन्तानुबन्धु-दयोत्पादितविपरीताभिवेशस्य तत्र सत्त्वाद् भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मादयजनितविपरीताभिवेशाभावात् तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेश किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते ॥”—धवलाटी० पृ० १६४ । (३) “ वारसमिच्छोवादे सम्माइठ्ठिस णत्थि उववादो”—पचस० । ‘ णदेसुसमुपज्जइ सम्माइठ्ठी दु जो जीवो’—धवलाटी० पृ० २०९ । “हेट्टिमछप्पुढवीण जोइसि वण भवण सव्व इत्थीण । पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्ण ॥”—जीवका० गा० १२७ । अधस्तनपट्टनरकेषु ज्योतिर्व्यन्तरभवनवासिषु तिर्यङ्मनुष्यदेवस्त्रीषु द्वादशसु मिथ्यात्वोपपादस्थानेषु सम्यग्दृष्टय न समुत्पद्यन्ते इत्यर्थः । (४) पृ० ८६९ पृ० १३ ।

1-वसादयत् मि-आ० । 2-रपि हेतु तावत् थ० । 3 किपुन थ० । 4-णत्थंवेतोत्प-व० । 5 वारसतिमिच्छुववादे आ०, थ० । 6-वादेसम्या इत्थि न उप-थ० । 7 अद्वसप-आ० । 8 अस्मान् प्रत्यप्र-थ० ।

बोधो मे<sup>१</sup> न तथाविधोऽस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वर,  
साहाय्यञ्च न कस्यचिद्वचनतोप्यस्ति प्रैवन्धोर्दये ।  
यत्पुण्य चिननाथभक्तिचनित तेनाथैर्मत्यद्भुत,  
सञ्जातो निखिलार्थबोधनिलय साधुप्रसान्नात्पर ॥ १ ॥

कल्याणावसथ सुवर्णरचित विद्याधरै सेवित,  
तुङ्गाङ्गो विबुधप्रियो बहुविधश्रीमो गिरीन्द्रोपम ।  
भ्राम्यद्भिर्न बृहस्पतिप्रभृतिभि प्राप्त यदीय पदम्,  
न्यायाम्भोधिनिमन्धन चिरमसौ स्थेयात् प्रवैन्ध पर ॥ २ ॥

मूल यस्य समस्तवस्तुविषय ज्ञान पर निर्मलम्,  
बुध्न सव्यवहारसिद्धमखिल सवान्ति मान महत् ।  
शारदा सर्वनया प्रपन्ननिवहो निक्षेपमालामला,  
जीयाञ्जनमत्ताऽग्निपोऽत्र फलित स्वर्गादिभि सत्फलै ॥ ३ ॥

भव्याम्भोचदिवाकरो गुणनिधि योऽभूज्जगद्गुण,  
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रलधि श्रीपद्मनिदिप्रभु ।  
तच्छिष्यादकलङ्कमार्गनिरतात् सङ्गयायमार्गोऽखिल,  
मुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जात प्रभाचन्द्रत ॥ ४ ॥

अभिभूय निचविपक्ष निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधि ।  
सविता नयतु चिनेन्द्र शुभप्रबन्ध प्रभाचन्द्र ॥ ५ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे लघीयस्त्रयालङ्कारे सप्तम परिच्छेद समाप्त ॥६॥

(१) प्रभाचन्द्रस्य । (२) यामकुमुदचन्द्रविरचन । (३) यामकुमुदचन्द्र । (४) न्यायकुमुदचन्द्र ।

१-इयं ध० । --यम० व० । ३ ग्यायाम्भोधिनिबद्धन अ० ग्यायाम्भोधिनिधिमयन थ० ।  
४ तस्याय-थ० । ५ समाप्त । इति श्रीवर्षाभट्टवराभ्ये श्रीमद्भारविवातिना परापरपरमष्टिप्रणामोपा  
त्रिनमस्तपुष्यनिराहृतिनिष्पन्नममकलङ्कन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपरिच्छेदत यामकुमुदचन्द्रो लघीयस्त्रयालङ्कार  
इति इति समाप्तम् । श्रीवर्षाभट्टवराभ्ये नमः । श्रीवर्षाभट्टवराभ्ये नमः । २० ।

श्रीनन्दिसंघकुलमन्दिररत्नदीप(पः), सिद्धान्तिमूर्ध्व(ध्रं), तिलको नन्दिनामा ।  
चूडामणिप्रभृतिसर्वनिमित्तवेदी चूडामणिभैवनिमित्तविदां वभूव ॥ १ ॥

शिष्यस्तस्य तपोनिधिः शमनिधिर्वि [ यानिधि ] धीनिधिः ।  
शीलानन्दितभयलोकहृदयः सौख्यैकनन्दीत्यभूत् ॥

आरुह्य प ( प्र ) तिभागुणप्रवहणं सद्गोधिरत्नो [ द्वहं ] ।

[ सस्ति ] द्वान्तमहोदधेरनवधेः पारं परं दृष्टवान् ॥ २ ॥

अन्तेवासी समजनि मुनेस्तस्य यो देवनन्दी,

दीप्तोत्तमप्रभृतिपसा [ सां धाम यो ] देवनन्दी ।

चातुर्वर्ण्यश्रमणगणिभिर्देवचंद्रं ( द ) नीयो,

देवश्चासावजनि परमानन्दयोगाच्च नन्दी ॥ ३ ॥

एतस्मादुदयाचलाद्धि [ धिचशा ] ह्री [ लो ] दयेनाभितः ।

श्रीमद्भास्कर(न)न्दिना दशदिशस्तेजोभिरुद्योतिताः ॥

विद्वत्तारकचक्रवालमखिलं मिथ्यातमोभे [ दिभि-

रथोद्गा ] सवचोमरीचिनिचयैराच्छादितं सर्वतः ॥ ४ ॥ ४ ॥

त्यक्ता धादकथापि वादिनिवहैर्नाल्पोऽपि जल्पः कृतः ।

जल्पकै [ स्रपया च नो ] निगदितं पादण्डिवेतण्डिकैः ॥

पट्टकोपनिपत्रिशाणनिशितप्रज्ञस्य तैः सेव्यते ।

श्रीमद्भास्कर(न)न्दिपण्डितपतेः [ पादारविन्दद्व ] यी ॥ ४ ॥

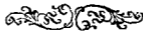
इति न्यायकुमुदचन्द्रवृत्तितर्कः समाप्तः मि ( त्र ३ ) ति ॥ ४ ॥



ग्रन्थाम् १६००० ॥ १५२० ॥ ४ ॥ शुभं भवतु ॥ ४ ॥ श्री ॥

20

## समाप्तोऽयं ग्रन्थः



## न्यायकुसुदचन्द्रसम्पादकप्रशस्तिः ।

भजति सागरमण्डलमुद्गुरे सुकृतिभिः 'खुरई'विकसत्पुरे ।  
सुपरवार'जवाहरलालतः' समजनिष्ट 'महेन्द्रकुमारकः' ॥ १ ॥

कवीनाश्रितवीनाख्यनगरे 'धर्मदासतः' ।  
नामिनन्दनसद्विद्यालये संस्कृतशिक्षणम् ॥ २ ॥

प्रारम्भिकमुपादाय विशेषाधिजिगांसया ।  
विद्वत्सुन्दरमिन्दूरविद्यालयमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

'वंशीधरात्'धर्ममधीत्य 'जीवन्धराच्च' तर्कं श्रमतः सतर्कम् ।  
स्याद्वादनिद्यालयमेत्य तस्मिन्नश्रान्तमश्राम्यमहं चिराय ॥ ४ ॥

न्यायमध्यापयन्नन्तेऽसिनोऽपि निरन्तरम् ।  
अभूवमुत्तमश्रेण्यां न्यायाचार्यस्ततः परम् ॥ ५ ॥

गनेपणापूर्णधिबेह टिप्पणीतिहाससम्यक्तुलना मया श्रमात् ।  
विलिख्य तत्रानवधानदूषणं सुधीजनः शोधयितेत्युपेक्ष्यते ॥ ६ ॥

रसरसयुगनेत्रे वीरनिर्वाणवर्षे,  
प्रथमदलनग्रम्यां भौमवारान्वितायाम् ।  
कृतिरियमगमन्मे पूर्णतां मासि भाद्रे,  
गुरुचरणकृपौघेनान्तरेणान्तरायम् ॥ ७ ॥



न्यायकुमुदचन्द्रस्य

॥ प रि शि ष्टा नि ॥

[ INDEXES. ]

---

“श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्रादामोघलाञ्छनम् ।  
जीयाज्जैनेन्द्रचन्द्रस्य शासनं जिनशासनम् ॥”

—अकलङ्कदेवः

“पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।  
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥”

—हरिभद्रः

“परमागमस्य वीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।  
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥”

—अमृतचन्द्रः

## ३ १. लघीयत्रयस्य कारिकाधीनामकारायनुक्रमः ।



कारिकार्थम्	१०	कारिकार्थम्	१०
अ त्पीर्युम्पित्तानि	१२९	परसारा धेनवा इति	७९३
अ त्पुत्रिणी तर्प	६६०	षांशद वदषांशानि	४५०
अशांशवर्षिमान	६६६	विशेषे गणनार्थं	३९७
अ तायवो मे गता	११५	अनाशांशवर्षात्	९३५
अनु गतरिता	६९२	शोशधानुगुणस्थान	७९९
अन इ वद्विगता	६७५	शोशानावर्षे इति	६०८
अनाशानेन हर्षितम्	५२९	मानमासं यदि गता	४०३
अनुनाशवर्षिरेण	७६	मानं प्रमाणात्	६५६
अनुपु तापुषोऽसि	७९९	तथा तत्रैव त्रयं	६७८
अन्वभासात् प्रवृत्तः	६८७	गर्भेऽपि भिन्नक त्रयं नु	६३८
अन्वया न विहात	६१८	तत्राकारविहातः	६६२
अ यो पगुणभूतः	६२३	तद्गुणभवावर्षमासा	२१३
अ तद्व्यतिरेकात्	६६१	तांशिनः पक्षमार्त्तः	७००
अनुतापति गर्भे	६०१	तयो निराधि बोधः	६६५
अभिच्छेदु त्पना	६३७	तदमासं न च गत	१०२
अतपथ शोशमा	६५८	तत्र तत्रैव तत्रैव	६८२
अतपथो न य वे	३७२	तद्व्यतिरेकं प्रमासं	६८८
अतपथो विहातः	११५	तद्व्यतिरेकं नु	७६
अतिशयपिपा तिव	४६६	तत्र तत्रैव तत्रैव	७९३
अमन्वयगु नेया	६७६	तुलनात्	७९०
अतपथो विहातः	६६६	तद्व्यतिरेकं नु	६१२
आशोकाक्षुतः शोश	६००	तद्व्यतिरेकं नु	६११
इत्येव मद्गुणमास	५०३	तद्व्यतिरेकं नु	७८२
उत्तमानं प्र गता	६८८	तद्व्यतिरेकं नु	६६६
उत्तम गो गुण्यो	६८६	तद्व्यतिरेकं नु	७९९
अनुपुत्रय तत्र	६३५	तद्व्यतिरेकं नु	१
अतपथो विहातः	२	तद्व्यतिरेकं नु	१७२
एकस्तान् कस नगी	६५०	तद्व्यतिरेकं नु	६८७
एकं यथा स्वनिभ वि	६०८	तद्व्यतिरेकं नु	६७१
कसा स्वभासो हेतुः	६८५	तद्व्यतिरेकं नु	७०८
कर्त्तव्यत्वविहातः	६७३	तद्व्यतिरेकं नु	६९६
कारणे कावसावन्	६२६	तद्व्यतिरेकं नु	६९६
कर्त्तव्यं नु विहातः	६०२	तद्व्यतिरेकं नु	७००
कार्यकारणव्यतिरेक	६९३	तद्व्यतिरेकं नु	७१०
कार्यविहातः	६१६	तद्व्यतिरेकं नु	७१०
कार्यकारणव्यतिरेक	६३७	तद्व्यतिरेकं नु	७१०
कार्यविहातः	६६६	तद्व्यतिरेकं नु	७१०
कुर्वन् कं न कुर्वन्	६६६	तद्व्यतिरेकं नु	७१०
कृत्वाकृत्वा भावना	३७५	तद्व्यतिरेकं नु	७१०
गुणानुगतभावना	७८८	तद्व्यतिरेकं नु	७१०
गुणं विहातः	६३६	तद्व्यतिरेकं नु	७१०

कारिकाधर्मम्	५०
पूर्वपूर्वप्रमाणत्व फल	१७३
प्रणिपत्य महावीर	६५५
प्रतिभासभिदेकार्थे	६४०
प्रतिसविदितोत्पत्ति-	५२७
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा	५०२
प्रत्यक्षाभ कथञ्चित्स्वात्	५२१
प्रत्यक्ष बहिरन्तरा-	६११
प्रत्यक्ष विज्ञानं	२०
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्यरन्	५२७
प्रत्येक वा भङ्गन्तीह	६७५
प्रमाणनयनिक्षेपानभि-	६५५
प्रमाण श्रुतमयेंपु	५२९
प्रवचनपदान्यभ्यस्य	८७९
प्राङ्नामयोजनाच्छेष	४०३
प्रामाण्य व्यवहारादि	६२८
प्राय श्रुतेर्विस्वादात्	५९८
बहिरर्थास्ति विज्ञप्ति-	६३१
बह्वाद्यवप्रहायष्टचत्वा-	१७३
ब्रह्मवादस्तादाभास	६२१
भविष्यत्प्रतिपद्येत	४५९
भव्य पच गृह्णु	८७८
भदाना नासदात्मैको	६०९
भेदाभेदात्मके ज्ञेये	६०५
भेद प्राधान्यतोन्वि-	७९२
मलविद्धमार्गश्रवित-	६७३
मिष्येतरात्मक दृश्यादृश्य-	३९७
मिष्येवान्ते विशयो वा	६२८
यर्थैर्क भिन्नदेवार्थानि	६१८
यद्यथैवाविसवादि	५२१
युज्यत क्षणिकेऽर्थे-	६१६
यै तेषुक्षानपेक्षाभ्या	६०५
लक्षणं क्षणिकैकान्ते	६१४
लिगान् साध्याविनाभाव-	४३४
लिगिधीरनुमान	४३४
वचनभिन्नेतमस्य	६९६

कारिकाधर्मम्	५०
वर्णा पदानि वाक्यानि	६९६
वाञ्छिताश्च क्वचिधेति	६९६
विधो निषेधेऽप्यन्यत्र	६९१
विरचय्यार्थवाकप्रत्यया-	७९८
विवक्षा नैगमोऽयन्त-	७८८
वीक्ष्याणुपारिमाण्डल्य-	४८३
व्यपेक्षात समक्षेऽर्थे	५०३
व्यवसायात्मक ज्ञान	६७९
व्यवहारानुकूल्यात्	७९०
व्यवहारविस्वादास्तदा-	५२९
व्यवहारविस्वादी नय	६३१
व्याप्ति साध्येन हेतो	६५२
शुद्ध ब्रह्ममभिप्रेति	६०९
श्रुतभेदा नया सप्त	७८२
श्रुतादर्थमनेकान्तम-	७९८
श्च आदित्य उदेतेति	४५९
पट्टकारकी प्रकल्प्येत	६५०
सग्रह सर्वभेदेक्यमभि-	६२१
सशयादिविदुत्पाद-	६६१
सहृतात्पचिन्ताया	५२५
सदभेदात् समस्तैक्य	७९०
सदसत्त्वार्थैर्निर्भासं	६१२
सत्येतरव्यवस्था का	६००
सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक्-	४
सन्निधेरिन्द्रियार्थानां	६६३
सर्वज्ञाय निरस्तवाचकधिये	६५३
सर्वथैकत्वविक्षपी	७९२
सर्वत्र चेदनाशवास	५९८
स्याद्वाद सकलादेशो	६८६
स्वतोऽर्था सन्तु सत्तावत्	६२४
स्वसविद्विपयाकार-	४६३
स्वसवेष विकल्पाना	५२५
स्वहेतुजनितोप्यर्थं	६७८
स्वेच्छया तापनिऋम्य	६९६



## § २. सविष्टतिलधीयस्त्रयगतानि श्रवतरणानि ।

श्रवतरणम्	५०
इन्द्रियमनसो वारणं विज्ञानस्य	६६१
गुणाना परमं ह्यं न दृष्टि-	६२८
गुणाना वृत्तं चर्न	६२५
तत्राश्रयधमनुमानभ्यतिरिक्तं	६२७
नहि तरवज्ञानमित्यथ	२१

श्रवतरणम्	५०
नहि बुद्धरवारणं विषय	६३८
नाननुश्रुतान्वयव्यतिरेकं	६७४, ७९४
वस्तुवर्तमानं तु वाच मूषयन्ति	६००
वचनभिन्नेतमाश्रय मूषकं वचनं भवति	६९६

## § ३. सविद्युतिलघीयस्त्रयस्य लाक्षणिकानां विशिष्ट-दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

अकलक	६५३	१६,	८७९	५
अकिञ्चित्कर			२१	२
अक्षाययोग			११५	१४
अणुपारिमाण्डल्यक्षणभगाद्यवीक्षण			४८३	६
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष			६८२	६
अथ			२१३	७
अर्थनय			७९३	१८
अर्थसारूप्यभूत्			६७६	२
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मक			६३२	१
अद्भ्ययानुपलब्धि			४६२	१६
अधरोत्तरादिज्ञान			५०४	१
अनागतनिर्णय	६३८	६,	७९४	५
अनिन्द्रियप्रत्यक्ष			६८२	५
अनुमान			४३४	१३
अनुयोग	७९९	१	८०१	२
अयत्र विस्तरेणोक्त			६९६	१९
अयत्रक्षयम्			६४६	१
अयत्रोक्तम्			६८२	९
अन्यध्यानूपपत्तिवित्त			४३५	१
अपभ्रसत			८७८	२४
अपशब्दादिभाषण			६९७	२
अप्रस्तुतार्थपाकरण			८००	२
अभिप्रतमात्रसूचित्व			६९७	६
अभिलाषसंसर्गयोग्यता			६७९	१९
अभिष्टुट			६३७	२०
अलौकिक			६९२	८
अलौकिकप्रतिभान			६५७	३
अवग्रह	११५	१५,	११६	२
अवाय	११५	१५,	११६	३
अविस्रवाद			६३२	३
अविस्रवादस्मृति			४०४	१
अव्यंशद्य			७४	५
असवेद्यकर्माकिचकरमनुपायमनुपेय			६८०	२
आकुल प्रलपन्			६३२	७
आपत्तरव्यवस्था			६००	१५
इत्यम्भूत			६३७	२०
इन्द्रनादिन्द्र			६४६	९

इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष				७४	६
ईहा	११५	१५,	११६	२	
उपमान			४८८	२२	
उपयोग			११५	१८	
उपयोग			६८६	२	
ऋजुसूत्र			६३५	२१	
ऋजुसूत्रनय			७९२	७	
ऋष भा दि म हा वी र			२	१३	
एतस्मात्पूर्वं पश्चिममुत्तर			४०२	१०	
एवम्भूत	६३८	३	७९४	२	
कायकारणलक्षण			६१४	१०	
कारक			७९४	१०	
कारक			६९२	३	
कारण			६१४	१४	
काय			६२४	१४	
कृत्तिकादि			५९८	१८	
कृत्तिकादय	४५९	१२,	७९४	५	
क्षणिकपरिमण्डलादि			४८३	१०	
गुणपययवदद्रव्य	६३२	२	७९१	२	
गुणानां वृत्त चल			६२५	३	
ग्रामधानकमेतन्नामक			५०२	११	
चतुर्धा (निक्षप)			७९९	८	
चतुर्विध (मतिज्ञान)			१७२	२१	
चत्वार (अथनय)			७९३	१८	
चल			६२८	१०	
चित्रनिर्भासिन्			३९८	२३	
चित्रसवित			६३५	२१	
चित्राकारमेक			७९२	१०	
चित्राभिसन्धि			६०२	८	
जलचन्द्र			४५०	१०, ११	
जिन			८७९	२	
जिनश्चरपदप्राप्तिलक्षणस्वाधसपत्ति			८७९	९	
जीवस्थानगुणस्थानमागणास्थान			७९९	३,	
			८०१	१, ३	
जै मि नि			७४	९	
ज्ञानुरभिप्राय	६०६	१,	६५६	९, ७९४	१५
तक			४०४	२, ६५२	२

१ परिशिष्टप्रसिद्धं स्थूलोऽङ्कं पृष्ठसख्या सूचयति सूक्ष्मोऽङ्कश्च पञ्चितसख्याम् । स्थूलाक्षरमुद्रिताश्च शब्दा  
लाक्षणिका ज्ञया ।

तज्जन्म	६७५. १४.
तथाभावसंकरव्यतिकरव्यतिरेक	७८३. ६.
तदत्यन्तभेदाभिसन्धि	७८९. ३.
तदाकृति (नैगमाभास)	७८८. २४.
तदाभास (सग्रहाभास)	६२१. ६; ७९०. ३.
तदाभास (ऋजुसूत्राभास)	७९२. ८.
तदुत्पत्ति	६७८. १८; ६७९. १९.
तदुत्पत्तिसारूप्य	६४०. १४.
तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचार	६४४. ५.
तद्व्यवसिति	६७५. १४.
तमस्	६६५. २२; ६६६. १, २.
तादात्म्यतदुत्पत्ती	४३५. १; ६०२. ११
तामसखगकुल	६७४. ३.
नादप्य	११७. १४

त्रयः (शब्दनय)	७८३ १९.
दुर्नय	६३६. ४, ६५० ५; ७९२. १२.
दुर्नय	६३१. २२, ६३२. ४; ७९०. २; ७९१ ५.
दूरासन्नकार्यप्रत्यक्ष	६४०. १८
दृश्यादृश्यभेदेतरात्मक	३६७. २१.
द्रवति द्रोप्यति अदुद्रवत्	६०७. १.
द्रव्य	६०७ १; ७८२. १४, ७८३. ३
द्रव्य (निक्षेप)	८०० १.
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्तमार्यनिष्ठित	६४६. २.
द्रव्यपर्यायात्मा	२१३ ७
द्रव्यपर्यायाधिक	७८३. ३, १८.
द्रव्यभावेन्द्रिय	११५. १७.
द्रव्याधिक	६०६. १; ६०७. १०.
द्रव्येन्द्रिय	११५. १७.
द्रिधेव (प्रमाण)	६८२. २.
द्रै एव प्रमाणे	५०४. ४.
धर्मतीर्थंकर	२. १२.
धारणा	१७२ २१, २२; ४०४. १.
नपुंसक	६४६. ८.
नय ६०६. १; ६३६. ४, ६५०. ५; ६५६. ९;	
६८९. ३; ६८८. १; ७९२. १२, ७९९. ६.	
नय ६३१. २२; ६३२. ४, ७८२. १३, ७८३.	
१, ७९४. १७.	
नयदुर्नय	६०५. ७.
नहि दृष्टेऽनुपपन्नं	५९९ २.
नाशारणं	६७४. २.
नाम (निक्षेप)	७९९. ९
नामस्धारनाद्रव्यभावनः	७९९. ८.
निक्षेप	८००. २.
निर्देगादि	७९९. १; ८००. ३.
निरपेक्ष	६३६. ८; ७९२. १२.
निरपेक्षत्व	७९४. १८.

निश्चयनय	७८३. ८.
निश्चयपर्याय	७८३. ११.
निश्चयव्यवहारो	७८२. १६.
नैगम	६२२. १०; ७८८. २४.
नैगम	६२२. १२; ६२८. १०; ७८३. १९,
	७८९. ६.
नैगमाभास	६२२. १०; ७८९. ४.
न्यास	६५६. ८; ७९९. ८.
पंचगुरु	८७८. २३.
परमागम	६८६. ८.
परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव	६७८. १७.
परिमण्डलादि	४८३. ९.
परोक्ष	२०. १४; ६०२. २, ८.
परोक्षेऽन्तर्भाव	५०४. ४.
पर्याय	६३५. २१; ६३७. २०; ७८३. ९;
	७९४. १२.
पर्यायाधिक	६०६. १.
पाञ्चकपाठकादिवत्	७९४. १४.
पुमान्	६४६. ८.
पुरन्दर	६३८. ३; ६४६. १०; ७९४. २.
पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे	१७३. १७.
पूर्वापराविरोधलक्षणसवादा	७९१. ३.
पृथक्त्व	७८३. ९.
प्रतिसविदितोत्पन्नव्यय	५२७. १६.
प्रतिसंहारव्युत्थितचित्त	५२५. ६.
प्रतिसंहारैकान्त	५२८. २.
प्रत्यक्ष	२०. १३.
प्रत्यक्ष	४२७. १; ६११. १०; ६४४. १२, १५;
	६८२. २, ४.
प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन	४८४. १६; ६११. १३.
प्रत्यक्षात्म	५२१. १९; ५२५. ७.
प्रभव	४८५. १६.
प्रमाण	६५०. ६, ६५६. ८, १०; ७९९. ६.
प्रमाणनयनिक्षेपानुयोग	८०१. २.
प्रमाणफल	१७४. ११.
प्रमाणफलव्यवस्था	१७३. १८.
प्रवचनपद	८७९. ३.
प्रसिद्धार्थसाधर्म्य	४८८. २२; ४८९. १, ४.
प्रस्तुतार्थव्याकरण	८००. २.
प्राक्नामयोजन	४०३. ७.
प्राज्ञैशिकप्रत्यक्ष	६८२. ४.
बहिरर्थव्यक्तिमात्रानुवचसा	७९१. ५.
बहुबहुविधप्रानिम्तानुक्तध्रुवेतरविकल्प	१७४. ७
बह्नासवप्रहास्यत्त्वारिणत्	१७३. १६.
बालिशगीत	६७४. ३.
बुद्ध	४. १९.
ब्रह्मकद	६२१. ६, १०; ७९०. २, ३.
नट्टाकलंकनासावानुष्मृतप्रवचनप्रवेश	८७९. ११.
भावनिक्षेप	८००. १.

भाषेद्वय	११५	१८
मण्याविसामग्रीप्रभव	६०२	१४
मतिज्ञान	१७२	२१ ७८३ १
मनोमति		७८३ २
म हा नी र		६५५ ८
माया	६२८	१३
मिथ्यकान्त	६२८	५
मरु (प्रत्यक्ष)		७४ ६
मृत्युसव्यवहारत	२०	१३
मत्सप्रतिबिम्बभत्	६७६	४
मलनय	७८३	३
यस्मिन् सत्यव यदभाव	६१४	१४
यावज्जयव्यापिनानरहितसकलपुरुषपरिपत		
परिज्ञान		७४ ७
याग्यतापेक्षानादिसङ्कत	६८७	१
रथ्यापुरुष		७४ १०
रिक्ता वाचोयन्त्रि	६४६	६
लताचूलादि	६०२	१३
लब्धि	११५	१८
लिंग	७९४	११
लोकव्यवहार		६२९ २
वक्त्रभिप्राय	५३०	१ ६९६ १६ १८
धनपदनामव्यव्यक्त्यादकारान्त		७९४ १४
वतनारुभण	६४६	३ ७९४ १०
वागथव्यभिचारकात		६०० १४
वाच्यवानकलक्षणसम्बन्ध		६४४ ८
विकलसकथा		६८६ ३
विक्रिया	१९६	२३
विज्ञप्तिमात्र	६३१	२३
विधिनिपथानुवादातिदेशादिवाक्य		६९२ ३
विप्रकृष्टायन्त्रि रक्त	६१४	१४
विपमोऽप्यमुपयास		६५६ ११
त्रिषय	११५	१६
विपदिन	११५	१७
वी र जि न		६५३ १६
वक्तव्य		६८६ ९
वशद्य		७४ ५
व्यतिरेक	७८३	१०
व्यवहार	६२८	५
व्यवहारनय		७८३ ९
व्यवहारपर्याय		७८३ ११
व्याप्ति	४२७ ४,	६५२ १
शकट	४५९ १२	५९८ १८
शकटोदय		७९४ ५
शब्द (नय)	८३७ १९	७९३ २०
शब्दनय		७९३ १९
शब्दयोजन		४०४ ३
शब्दसमभिरुद्धौ		६३८ ३
शब्दानुयोजन		४०३ ७

शुद्ध गी		६२९ १
श्रुत ४०३ ७	५२९ २४,	६८६ २ ७९८
		६ ९ ७९९ ५
श्रुतज्ञान ४०४ ३	५३० १	६०२ १७
		७९१ ३
श्रुतानतदाभासव्यवस्था		५२९ ९
श्रुतभद		७८२ १३
श्रुति ५९८ १५	६०२ १०	६३२ ३
श्रुतिकल्पनादुष्टादि		५९९ ३
पटकारकी		६४६ ६, ६५० २
पटकारकीसभव		६५० ३
सग्रह ६०० १९	६१० १	६२१ ५ ७९० १ ३
सज्ञाकम		७९९ ९
सज्ञासंज्ञिसप्रतिपत्तिसाधन		५०२ १२
सज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति		४८९ २
सवृत्ति	१७३ १९,	१७४ १
सव्यवहारानुपयोगिन्		२१ २
सगयकान्त		४६२ १६
सहृताद्यपचिन्ता		४२१ ३
सकलवित		६५३ १५
सकलादेश		६८६ ३
सत्तासमवाय		६२४ १९
सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादे		७४ ९
सत्त्वप्रमेयत्वानुसुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादि		६८६ ६
सत्यपदविद्या		७८३ १९
सयानतव्यवस्था		६९७ ४
सयानतव्यवस्था यथानुपपत्ति		६९६ १८
सत्यतरव्यवस्था		६०० १३
सदादि (अनुयोग)		८०० ३
सदापरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्व		७८३ ३
सदशापरापरोत्पत्तिप्रलम्ब		५२८ १
सन्तान		४ १८
सन्निकष		६६४ १
सन्निकर्षादि	२१ १	६६३ २१
सन्निहितविषयबलोत्पत्ति		४२७ २
समात्रदान		११६ १
सप्त (नय)		७८२ १३
मत्तघात्यनयोष		६५२ ४
समवाय	६२९ १ ३	४
समारोपव्यवच्छेदकाकाक्षण		५२२ ३
सम्बन्धप्रतिपत्		५०२ ७
सम्यगकान्त		६८८ १
सहकर्मभाविन		६१३ २
सहकर्मविवात्तिन		६१२ २०
साध्यव्यवहारिक		७४ ६
साकल्य		६८६ ९
साधकतम		२१ ४
साधनदूषणतदाभासवाक्य		६९२ ४
साधनासाधनाङ्गव्यवस्था		६०० १६

सापेक्ष	६३६ ३	७९२ ११	स्यादस्त्यव जीय	६८८ २
सापेक्षत्व		७९४ १८	स्यादवाव	६८६ ३, ४
मु ग ते त र		६०० १५	स्यादवाद	६४६ १३, ६८६ ७, ६९२ ४
मुतुच्छक		६२८ १३	स्याद्वादिन्	६५३ १३
मुनिश्चितामभवदवाधकप्रमाण	७४ ७, ६८२ ७		स्यादवादेक्षणसप्तक	६५५ ८
सूर्याच द्रमसोग्रहण	४५९ १३	७९४ ६	स्वपरविसवादन्यसनीयन	६३२ ७
स्व-घ		७८३ ७	स्वभावनरात्म्य	६३२ ६
स्त्यानप्रसवतदुभयाभ वसामा-यलक्षण	७९४ ११		स्वभावभूतान्यापोहस्वार्थप्रतिपादन	६८७ १
स्त्यायत्यस्या गभ इति स्त्री		६४६ ७	स्वभावहेतु	४८५ १४
स्पापना		७९९ ११	स्वभूतिमात्र	३७२ १५
स्पष्ट		६८२ ४	स्वर्धिविरहितदशनप्रदशनमात्र	६२८ ११
स्मृति	४०४ १, ६४० १०	१५ १५	स्वाथसप्तति	८७९ ९
स्यात्कार	६९१ २२	६९२ १	हानोपादानोपेक्षाप्राप्तपत्तफल	४१९ ६
स्याच्छब्द		६८८ २	हिताहितप्राप्तिपरिहारसमथ	६८२ ४
स्याज्जीव एव		६८८ १	हेतुवाद	६०० १२
स्यात्प्रयोग		६८७ २	हेतुवादरूप	८७९ ८

## § ४. अन्याचार्यैः स्वग्रन्थेषु समुद्धृतानां लघीयस्त्रयकारिकाणां विवृत्यंशानाश्च तुलना ।

### १ वीरसेन

लघी०	यवलाटोका	
का० ५२	पृ० १७	
२ रनिभद्रशिष्य अनन्तवीर्य		
लघी०	सिद्धिविनिश्चय टीका	
का० ७	पृ० १८४ A	
का० ७	प्रमाणरत्रयो	पृ० ९९ B
का० ५६		पृ० १८७ B
का० ५७		पृ० १९३ A
का० ५९		पृ० १० B
का० ६२		पृ० ४ A

### ३ विद्यानन्द

लघी०	प्रमाणपरीक्षा	
का० ३	पृ० ६९	
का० ३	अष्टसहस्री	पृ० १३४
का० २२	त्रिभिराधुनाप्लव-	पृ० २७७
का० ३	परपरीक्षा	पृ० ५

का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता

का० ३७

का० ४ तदस्ति सुनिश्चिता

का० ७

का० १०

का० ३२

का० ५४ द्वित्रयमनसो

का० ७०

का० ३२

आप्तपरीक्षा

पृ० ५६

सत्यज्ञासनपरीक्षा

पृ० १५ B

तत्त्वायश्लोकवार्तिक

पृ० १८५

पृ० ४२४

पृ० २३९

पृ० २७०

पृ० ३३०

पृ० २७१

नयविवरण

दली० ६७

### ४ प्रभाचन्द्र

लघी०	प्रमेयकमलमासष्ट	
का० ३	तन्नातानं प्रमाण	पृ० २५

### ५ अनन्तवीर्य

लघी०	प्रमेयरत्नमाला	
का० १९-२०		३१५



६ वादिराज

लघी०	न्यायविनिश्चयविवरण
का० ३	पृ० ४८ A
का० ५	पृ० ३२ A
का० ५	विषयविषयि
का० १४	पृ० ३२ A
का० ५२	पृ० ५२७ A
का० ५९	पृ० ३२ A
	प्रमाणनिर्णय
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता
	पृ० २९

७ आशाधर

लघी०	अनगारधर्माभूतटीका
का० ७३-७६	पृ० १६९
	इष्टोपवेशटीका
का० ५७	पृ० ३०

८ शीलाङ्गाचार्य

लघी०	सूत्रकृताङ्गटीका
का० ४	पृ० २२७ A
का० ७२	पृ० ३२६ A

९ अभयदेव

लघी०	सम्मतिकटीका
का० ५	विषयस्तावत
का० ५	कथञ्चिदभदेऽपि
का० १०	अविस्वादस्मृते
का० २२	
का० २२	तिमिराद्युपप्लव
का० ३२	
का० ५६	
	पृ० ५५३
	पृ० ५५३
	पृ० ५५३
	पृ० ५९५
	पृ० ५९५
	पृ० २७२
	पृ० ५४४

१० वादि देवसूरि

लघी०	प्रमाणनयतस्वालोकाङ्कार
का० ३	सन्निकयदिरज्ञानस्य
का० ४	अनुमानाद्यतिरेकेण
का० ५	कथञ्चिदभदेऽपि
	१४
	२३
	२१२
	स्याद्वावरत्नाकर
का० ४	पृ० ३१६
का० १९	पृ० ४९८

११ रत्नम

लघी०	रत्नाकरावतारिका
का० १९१२०	३१३

१२ हेमचन्द्र

लघी०	प्रमाणमीमासा
का० ४	तदस्ति सुनिश्चिता
का० ४	यावज्जायव्यापि
का० ४	अत्रानुपलम्भ
का० ५	विषयस्तावत
का० ५	कथञ्चिदभदेऽपि
का० ६	धारणा
का० ७	
का० ८	
का० १९-२०	
	पृ० १४
	पृ० १४
	पृ० १४
	पृ० २१
	पृ० २२
	११२११९
	१११३९
	पृ० १४
	पृ० ३५

१३ मलयगिरि

लघी०	आव० नि० मलयगिरिटीका
का० ३०	पृ० ३७० B
का० ५७	पृ० १७
का० ६३	पृ० ३६९ B
का० ६२	पृ० ३६९ B
का० ७२	पृ० ३८१ B
	नदिसूत्रटीका
का० ५७	पृ० ६६ B

१४ देवेन्द्रसूरि

लघी०	प्रथमकमप्रथटीका
का० ५७	पृ० ८

१५ यशोविजय

लघी०	जैनतकभाषा
का० ७६	अप्रस्तुतार्थापाकरणात्
का० ४	शास्त्रवातटीका
	पृ० २५
	पृ० ३१० B
	गुह्यतस्वविनिश्चय
का० ३०	पृ० १६ B
का० ६३	पृ० १६ A.

## § ५. न्यायकुमुदचन्द्रगतान्यवतरणानि ।



अकर्ता निर्गुण शुद्ध	[	]	११२
अकर्म कर्म	[	]	३०४
अकुर्वन् विहित कर्म [ मनु० ११.४४ ]	[	]	५७५
अक्लेशास्तोकेऽपि	[	]	८४१
अग्निष्टोमेन यजेत [	]	५८६, ५९४	
अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथ-	[	]	६९२
अट्टसयमेगसमये	[	]	८६९
अत इदमिति यत [ बंशो० सू० २।२।१० ]	[	]	२५७
अत एवानुमानानामपश्यन्त	[	]	७०
अतीतानागतौ कालौ	[	]	७२३
अतीतैककालाना गतिर्ना [ प्रमाणवा० स्ववृ० १।१२ ]	[	]	४५९
अथ स्थगितमप्येतदस्त्वये [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	३२-३३ ] ७१५
अथापीन्द्रियसंस्कार [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	६९-७० ] ७१३
अदृष्टसङ्गतित्वेन सर्वेषा [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	२४९ ] ७०३
अधिष्ठानानुजृत्वाच्च [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	१८७ ] ४५३
अनग्निदच कियान् सर्वं [	[	]	७०
अनिवर्तकरूपत्वाद्गीचीवृद्बुद्धे-[	]	]	१४१
अनुमानविरोधो वा [	[	]	७०
अनकान्तोऽप्यनेकान्त [ बहुत्व० इलो० १०३ ]	[	]	३६८
अनैकान्तिक सव्यभिचार [ न्यायसू० १।२।५ ]	[	]	३१९
अनैकान्तिकता तावदेतू [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	१९ ] ७१५
अन्धादयं महानन्ध [ अतमानु० इलो० ३५ ]	[	]	३९३
अन्याकारणे चास्य [ मी० इलो० चोदना० ]	[	]	१५० ] ७२४
अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य [ प्रश० भा० पू० १६ ]	[	]	३०२
अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यथा [	[	]	१५
अन्यथापत्परया तु वेत्ति [ मी० इलो० सम्बन्धा० ]	[	]	१४१ ] ५४५, ५६०
अन्यथांनित्यसम्बन्धा [ वाक्यप० ]	[	]	२।४२५ ] ५५३
अन्यदपि धैरुकरं तच्चित्र-[	[	]	८४१
अन्यदवन्दिप्रपासु-[	[	]	५५३, ५६४
अन्या तावदियमपक्रिया यदुत [	[	]	५

अन्यार्थं प्ररितो वायुर्गैयान्य [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० ८० ] ७०९
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बो [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० १८३ ] ४५२
अपरस्मिन् पर युगपदयुगप-[ बंशो० सू० २।२।६ ]	[	]	२५१
अपरीक्षितभ्युपगमात्ताद्विधेय [ न्यायसू० १।१।३१ ]	[	]	३१३
अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोध सवर [ तत्त्वार्थसू० ]	[	]	१।१।(?) ] ८१२
अपोह शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु [ अणभङ्गाध्याय (?) ]	[	]	५।१.५५७
अपवाभिसम् न्यादाप [ प्रश० भा० पू० ३।५ ]	[	]	२१४
अप्रत्यक्षा नो वृद्धि प्रत्यक्षोऽर्थः [ शाबरभा० १।१।५ ]	[	]	१७६
अप्राप्तकणदेशत्वात् ध्वनेर्न [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० ७० ७१ ] ७१३
अप्यु गन्धो रसश्चाग्नौ [ मी० इलो० अभाव० ]	[	]	इलो० ६ ] ४६८
अप्युर्दक्षिणा नित्य [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० १८६ ] ४५२
अभिधाभावनामाहुरन्यामेव [ तन्त्रवा० २।१।१ ]	[	]	५७६
अभिलापवती प्रतीति [ न्यायवि० पू० ११ (?) ]	[	]	४६
अयोगमपरैर्योगमत्यन्ता-[ प्रमाणवा० ४।१९० ]	[	]	६९३
अर्थग्रहण वृद्धिश्चेतना [ न्यायभा० ३।२।४६ ]	[	]	१८२
अर्थापत्तिर प्रतिपक्षसिद्धे [ न्यायसू० ५।१।२१ ]	[	]	३२७
अर्थापत्तिरिय चोक्त्वा [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० २३७ ] ७०१, ७१९
अर्थापत्त्यावगम्यैव [ मी० इलो० शब्दनि० ]	[	]	इलो० ६ ] ५०८
अर्थादापत्रस्य स्वशब्देन [ न्यायसू० ५।२।१५ ]	[	]	३३३
अर्थेन घटयत्येना न हि [ प्रमाणवा० ३।३।५ ]	[	]	१६६, १६७
अर्थो ह्यर्थं गमयति [	[	]	५३३
अवयवविपर्ययसवचन-[ न्यायसू० ५।२।११ ]	[	]	३३३
अवस्थादेशकालादिभेदाद् [ वाक्यप० १।३२ ]	[	]	६८
अविज्ञातञ्चान्नानम [ न्यायसू० ५।२।१७ ]	[	]	३३४
अविज्ञातस्त्वैर्ष्यं कारणोपपत्ति [ न्यायसू० १।१।४० ]	[	]	३१५
अविद्याऽस्मितारागद्वेषा-[ योगसू० २।३ ]	[	]	१०९
अविभागेऽपि बुद्धधात्मा [ प्रमाणवा० ३।३।५४ ]	[	]	१३३

अविशेषाभिहितेष्वेव क्तुरभि-	[ न्यायसू० १।१।२२ ]	३२१
अविशेषोपेतो हेतो प्रतिपिडे	[ न्यायसू० ५।२।६ ]	३३१
असक्त सर्वम्	[ ]	३९६
असदकरणादुपादानग्रहणात्	[ साध्यका० ९ ]	३५२
अस्ति ह्यालोचनाज्ञान प्रथम	[ मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ११२ ]	७७०
अस्येद कारण कार्य सयोगि	[ वंशे० सू० १।२।३ ]	४६०
अस्वतन्त्र बहिर्गत	[ ]	४३१, ८३३
आकाशमपि नित्य सद्	[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३१ ]	७१५
आख्यातशब्द सन्नातो	[ वाक्यप० २।१ ]	७३९
आतप कटुको रूक्ष	[ राजनिघ० ]	६६९
आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा	[ प्रश० भा० पू० ६९ ]	२१५
आत्मनि सति परसज्ञा	[ प्रमाणवा० १। १९ ]	८३९
आत्मलाभे हि भावाना	[ मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४८ ]	१९५, १९९
आत्मसारीरोन्द्रियार्थबुद्धिमन -	[ न्यायसू० १।१।९ ]	३०९
आत्मा मनसा युज्यते मन	[ न्यायम० पू० ७४ ]	६६५
आदौ ब्रह्मा मुखतो ब्राह्मण ससर्ज	[ ]	७७०
आनन्द ब्रह्म	[ बृहदा० ३।५।२८ ]	८३८
आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च	[ ]	८३१, ८३७
आराम तस्य पश्यन्ति	[ बृहदा० ४।३।१४ ]	१४७
आसयोगकेवलिनो जीवा	[ ]	८५६
आसर्गप्रलयादेका बुद्धि	[ ]	१८९
आहारा या निहारा	[ ]	८५७
आहुर्विधात् प्रत्यक्ष	[ ब्रह्मसि० तर्कपाद श्लो० १ ]	१४९
इत्थो छट्ठीओ अहो	[ ]	८७२
इत्यमिथा स्वय भावा	[ सम्बन्धप० (?) ]	३०९
इन्द्रियार्थसमनन्तरप्रत्यय-	[ ]	४७
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्-	[ न्यायसू० १।१।४ ]	५२३
इय त्वन्येव सर्वोथो	[ तन्त्रवा० २।१।१ ]	५७५
ईश्वरज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षज	[ ]	६८४
उत्क्षेपणमपक्षेणमाकुञ्चन	[ वंशे० सू० १।१।७ ]	२७९
उत्तरस्थाप्रतिपत्तिः	[ न्यायसू० ५।२।१८ ]	३३४
उदाहरणसाधर्म्यत्साध्य-	[ न्यायसू० १।१।३६ ]	३१४
उदाहरणपक्षस्तथैत्युपसहारो	[ न्यायसू० १।१।३८ ]	३१५
उपात्तकर्मणा निर्हरण	[ ]	८१२
उपभोगाश्रयत्वेन गृहीते-	[ प्रमाणवा० १।२।२९ ]	८६०
उपलब्धिसाधनानि	[ न्यायभा० पू० १८ ]	२८
उभयकारणोपपत्तेरप-	[ न्यायसू० ५।१।२५ ]	३२८
उभयसाधर्म्यात्प्रक्रिया-	[ न्यायसू० ५।१।१६ ]	३२७
ऊर्ध्ववृत्तितदेकत्वाद-	[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८९ ]	४५३

एक प्रतिषेधहेतु	[ न्यायवि० पू० ३९ ]	१२०
एवद्रव्यमगुण सयोग-	[ वंशे० सू० १।१।१७ ]	२७९
एकधर्मोपपत्तेरविशेषे	[ न्यायसू० ५।१।२३ ]	३२७
एकसामग्र्यधीनत्वाद्दुपादे	[ प्रमाणवा० १।१० ]	२३६
एजस्मिन्निव दृष्टेऽर्थे	[ मी० श्लो० उपमान० श्लो० ४६ ]	४९२
एकस्यार्थस्वभावस्य	[ प्रमाणवा० ३।४२ ]	५२४
एकत्वसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्य-	[ ]	१८८
एकादश जिने	[ तत्स्वायसू० १।११ ]	८६२
एकादश जिने क्षुत्विपासादय	[ ]	८५४
एगो मे सस्तदो अप्पा	[ भावपाहु० गा० ५९, मुलात्वा० गा० २।४८ ]	८४५
एव धर्मोविना धर्मिणामेव	[ प्रश० भा० पू० १५ ]	३६४
एव प्राग्नतया वृक्ष्या	[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९० ]	४५४
कञ्चित काल स्थिर शब्दः	[ ]	७०१, ७१८
कर्मक्षयाद्दिमोक्ष	[ ]	८४१
कर्मण्यप्य	[ पाणिनि० ३।२।१ ]	७६०, ७९६
कल्पनापोढमभ्रान्तम्	[ न्यायवि० १।४ ]	५२३
कस्यचित्तु यदीष्यत	[ मोमासादश्लो० सू० २ श्लो० ७६ ]	१९६
कामीति ( भीमि )	[ जैनेन्द्रव्या० १।३।३२ ]	६४१
कामी यत्रैव य. कश्चिन्नि-	[ प्रमाणवार्तिकाल० पू० ३० ]	५८४
कार्यव्यासङ्गात् कथा-	[ न्यायसू० ५।२।१९ ]	३३४
कालात्मयापदिष्ट	[ न्यायसू० १।२।९ ]	३२०
कालादे स्वयमभेदात्	[ ]	६४७
किं स्यात् सा चिन्तकस्याम्	[ प्रमाणवा० ३।२।१० ]	१३०, ६१३
क्रियाया प्रवर्तक वचनम्	[ शाबरभा० १।१।२ ]	५७८
क्रियावद् गुणवत् समवायि-	[ वंशे० सू० १।१।१५ ]	२१४
क्रियाविषट्द्रव्य कारकम्	[ लघो० त्ववृ० का० ७२ ]	४२
क्लेशकर्मविपाकाशयैरप-	[ योगसू० १।२४ ]	१०९
क्षणिका हि सा	[ शाबरभा० १।१।५ (?) ]	४३
क्षीरे दधि भवेदेवम्	[ मी० श्लो० अभाव० श्लो० ५ ]	४६८
गमाद्वारे कुशावर्त्ते	[ ]	६३४
गत्वा गत्वा तु तान् देशान् यद्यथो	[ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ८ ]	७२५
गत्वा गत्वापि तान् देशान् नास्य	[ न्यायम० पू० ३८ ]	५१२
गन्ध पृथिव्यामेव	[ ]	२३८
गन्धो प्राणग्राह्य	[ प्रश० भा० पू० १०५ ]	२७३
गवयश्चाप्यसम्बन्धान्	[ मी० श्लो० उप० श्लो० ४५ ]	४९२





प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे [न्यायसू० ५।२।३]	३३०	प्रेरणा हि विना कार्यं [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८४	
प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञान्तर [न्यायसू० ५।२।१]	३३०	प्रणव नियोगोऽत्र [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९]	५८३	
प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोनयनिगमना-[न्यायसू० १।१।३२]	३१४	प्रेर्यते पुरुषो नैव [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८३	
प्रतिज्ञाहेतुविरोध [न्यायसू० ५।२।४]	३३१	यद्गुरुत्वोऽपि वरुत्वात्मा [	७०	
प्रतिद्वन्द्वान्तधर्मानुज्ञा [न्यायसू० ५।२।२]	३३०	वाधनालक्षण दुस्वम् [न्यायसू० १।१।२१]	३१०	
प्रतिनियतदेशा वृत्तिरभि-[	४१	बुद्धिमुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्न-[	१७३	
प्रतिमन्वन्तरञ्चैव श्रुति-[मत्स्यपु० १४५।५८]	७२६	बुद्धमध्यवर्तिसमर्थ [	१९०	
प्रत्यक्षमनुमानञ्च शाब्दञ्चो-[पद्द० समु० श्लो०	७२ (?) ]	५०५	७७०	
प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्त-[न्यायवि० पृ० ११]	४६	भवन्नप्यविनाभाव [	६९	
प्रत्यक्ष कल्पनापोढ प्रत्यक्षणैव [प्रमाणवा० २।१२३]	५२५	भादौ वीकनपुस्क पुवत् [जनेन्द्रव्या० ५।१।५३]	६०४	
प्रत्यक्षमेव प्रमाणमगोणत्वादिति [	७०	भावाभावयोस्तद्वत्ता [न्यायवा० पृ० ६]	२९	
प्रत्यक्षादेरनुत्पत्ति प्रमाणा-[मी० श्लो० अभाव०	श्लो० ११]	४६४	भावा येन निरूप्यन्ते [प्रमाणवा० ३।३६०]	१३२
प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा [न्यायसू० १।१।३]	३०९	भिक्षवोऽहमपि मायोपम [	६८३	
प्रत्यक्षेण हि प्रतिपत्ते प्रतिबन्धे [	५१४	भिन्नकाल कथ ग्राह्य-[प्रमाणवा० ३।२४७]	१६५,	
प्रत्यक्षेणामबुद्धेऽपि सादृश्ये [मी० श्लो० उपमान०	श्लो० ३८]	४९०	१६७, ४०९	
प्रत्यक्षस्य यथा दस्ये [मी० श्लो० उपमान० श्लो०	३९]	४९०	भिन्नविशेषण मुख्यमभिन्न-[	३९९
प्रत्ययार्थो नियोगश्च [प्रमाणवातिकाल० पृ० २९]	५८३	भिन्ने चैकत्वनिरूप्यते [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०	२७२]	७०३
प्रत्ययस्वरूपस्यैवेग्रहणा-[वाचस्प० १।८४]	७४९	भिन्नेष्वभिन्ना नित्या [	७७९	
प्रमत्तयोगान प्राणव्यप-[तत्त्वार्थसू० ७।१।३]	८६८	भूतार्थभावनाप्रकल्पपर्यंतज [न्यायवि० पृ० २०]	४७	
प्रमाणक प्रमाणम् [	२८	भूयोदर्शनगम्यापि न [	७०	
प्रमाणकसाधनोपालम्भ [न्यायसू० १।२।१]	३१६,	भूयोदृष्ट्या च धूमो [	७०	
३३८		भूयोऽवयवसामान्ययोगो [न्यायम० पृ० १४६]	४९६	
प्रमाणनवीरधिमग [तत्त्वार्थसू० १।६]	६५१	भेदाना परिभाषात् [साहयका० १५]	३५०, ३५४	
प्रमाणपञ्चक यत्र [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १]	४६६, ७२५	मणिवत्पाचकबद्धोपाधि-[प्रश० भा० पृ० ६४ (?) ]	२५२	
प्रमाणप्रथममनयप्रयोजन-[न्यायसू० १।१।१]	३०९	मनिपूर्वं श्रुतम् [तत्त्वार्थसू० १।२०]	४०५	
प्रमाणमविमवादिज्ञान-[प्रमाणवा० १।३]	६३३	मदसाक्तिवद्विज्ञानम् [	३४२, ३४८	
प्रमाणपटकविजातो [मी० श्लो० अर्था० श्लो० १]	५०५	मध्यमा प्रतिपत्तैव [	१३१	
प्रमाणभावनिर्णयचैत्रा-[मी० श्लो० अर्था० श्लो०	८]	मनस्त्वाभिसम्बन्धान्मन [प्रश० भा० पृ० ८६]	२१५	
प्रयत्नकार्यनिवृत्तान् [न्यायसू० ५।१।३७]	३२९	मन्त्राद्युपप्लुताधाणा [प्रमाणवा० ३।३५५]	१३३	
प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो०	३१ ३२]	७१५	ममेद कार्यमित्येव ज्ञात [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८३
प्रागुत्पत्त कारणभावा-[न्यायसू० ५।१।१२]	३२६	ममेद भोग्यमित्येव [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८४	
प्राग्भाषो य मुराष्ट्राणा [न्यायम० पृ० १४१ (?) ]	२५९	महत्पनेकद्रव्यत्वाद्रूप-[वंशे० सू० ४।१।६]	३०	
प्राग्निपूर्वविज्ञानाध्यायिनाग [प्रश० भा० पृ० १५१]	७३०	मानुषो प्रष्टुनिमन्थतो-[बृहत्सं० श्लो० ७५]	८५७	
प्रागाम्भ्यं स्वहारेण [प्रमाणवा० २।५]	४८, १६७,	मिथ्याध्यायारापहानार्थ [प्रमाणवा० १।१९४]	८४०,	
प्रेरणाविषय कार [प्रमाणवातिकाल० पृ० ३०]	५८८	८४५	मिथ्योत्तर जाति [न्यायवि० का० ३७१]	३३९
			मुञ्चे हि दृष्ट उपलभ्यते [शाबरभा० १।१।५]	५३५
			मूत्रप्रष्टुतिरिदृति-[साहयका० ३]	३५६
			मृतस्य जीवनी दूरे [न्यायम० पृ० ४३]	५१६

मूढपञ्चमूत्रादि घटो	[ ] १९६	लौकिकपरीक्षकाणाम्	[न्यायसू० १।१।२५]	३१२
य पश्यन्तीमान	[प्रमाणवा० १।२।१९]	वचनविधातोऽर्थविकल्पो-	[न्यायसू० १।२।१०]	३२१
य पूर्वाविगतोऽज्ञोऽत्र	[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० २३३]	वटे वटे वैश्ववप	[ ]	७२८, ७३३
य एव लौकिका शब्दा	[शाबरभा० १।३।३०]	वर वृन्दावने रम्ये	[ ]	८२८
यज्ञार्थं पशव सृष्टा	[मनु० ५।३९]	वर्णक्रमनिर्देशवत्	[न्यायसू० ५।२।८]	३३२
यस्य तदादि गु	[जनेन्द्रव्या० १।२।११४]	वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र	[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ७४]	११९
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ	[वाचस्प० १।३४]	वस्त्वसकरमिद्विश्च	[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २]	४६७
यत्रैव जनयतेना तत्रैवास्य	[ ] २७, ६६, २०६	वायूपता चेदुक्तामेद्	[वाचस्प० १।१२५]	१४०
यत्सिद्धौ अन्यप्रकरण-	[न्यायसू० १।१।३०]	वायुत्वाभिस्त्वन्धात्	[प्रश० भा० पू० ४४]	२१४
यथा घटादेर्दीपादिरभि-	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२]	विकलायोऽन्य शब्दा	[ ]	५३७
यथानुवाकं दलोका वा	[वाचस्प० १।८३]	विकहा तथा कसाया	[यचस० १।१५]	८७४
यथा माया यथा स्वप्नो	[माध्यमिक० संस्कृतप० का० ३४]	विजातीयानामनारम्भ-	[ ]	२६८
यथा विद्युद्दमाकाशम्	[बृहदा० भा० वा० ३।५।४३]	विज्ञातस्य परिपदा	[न्यायसू० ५।२।१६]	३३३
यथैव प्रथम ज्ञानम्	[ ] १९६	विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्त-	[ ]	५७३,
यथैवाऽऽहारकालादे	[प्रमाणवा० ३।३।६९]	विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिप्रकारस्य	[ ]	३३९
यथोक्तोपपन्न छलजाति-	[न्यायसू० १।२।२]	विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च	[न्यायसू० १।२।१९]	३२९
यद् यत्र उपलब्धिलक्षण-	[ ] ४८४	विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्या-	[न्यायसू० १।१।४१]	३१६
यदा वृष्ट्वा पर ब्रह्म	[ ] ८३१	विशिष्टसाधनाभ्यवच्छिन्न-	[विधिवि० पू० २४६]	५९६
यदेवायक्रिमाकारि	[ ] ३८२, ३९६	विशेषऽनुगमाऽन्तावात्	[ ]	६९
यदाऽनुवृत्तिव्यावृत्ति-	[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ६]	विशष्य नाभिधा गच्छेत	[ ]	५६७
यद्विज्ञान स्वविषये	[ ] ६७३	वेदाध्ययन सर्व	[मी० श्लो० वाक्याधि० श्लो० ३६६]	७२२
यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते	[न्यायसू० १।१।२४]	व्यक्तितन्त्यत्वमात्र	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७३]	७०३
यस्मात् प्रकरणचिन्ता	[न्यायसू० १।२।२७]	व्यावृत्तोल्लिङ्गलिङ्गत्वम्	[न्यायसू० ५०।१।७]	४४८
यस्य गुणस्य हि भावात्	[पात० महाभा० ५।१।११२]	दान्त करण कार्यभ	[ ]	३५०
युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तमेन-	[न्यायसू० १।१।१६]	शब्दवृद्धाभिधयानि	[मी० श्लो० सम्बन्ध० १४०]	५४५
युज्यते नासिपथे च	[मी० श्लो० अभाव० श्लो० २४१]	शब्दब्रह्मणि निष्णात	[ब्रह्मवि० रूप० २२]	१३९
ये तु प्रत्यक्षतो विश्व	[ ] ६९	शब्दार्थयो पुनवचन	[न्यायसू० ५।२।१४]	३३३
यो धर्मशील	[ ] ७२९	शब्दे दोषाद्भवस्तावद्	[मी० श्लो० चोदना० श्लो० ६३]	७२३
यो ब्रह्माण विदधाति	[इवेत्तास्य० ६।१८]	शब्दे वाचकसामर्थ्यम्	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३८]	७०२
रसो रसनेन्द्रियग्राह्य	[प्रश० भा० पू० १०५]	शब्दे वाचकसामर्थ्यात्	[मा० श्लो० अर्था० श्लो० ५]	५०८
रूपरसगन्धस्पर्शवन्त	[तत्त्वार्थसू० ५।२३]	शब्दोत्पत्तिनिषिद्धत्वात्	[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २२६]	७११
रूपरसगन्धस्पर्शा सक्या	[वंशे० सू० १।१।६]	शिरसोऽन्यवा निम्ना	[मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४]	४६८
रूपश्लेयो हि सम्बन्ध	[सम्बन्धपरी० (?) ३०६]	श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्	[तत्त्वार्थश्लो० पू० २३७]	४०४
रूपादिमयी मृत्ति	[ ] ७८७	श्रूयन्ते हि अनन्ता	[तत्त्वार्थभा० सम्बन्धका० २७]	८६८
लक्षणहेतुो क्रियाया	[जनेन्द्रव्या० २।२।१०४]	श्वेतमजमालभेत	[ ]	७६३
लिङ् लोटतव्यप्रत्यय-	[ ] ५८२			
लोयायासपदेसे	[द्रव्यस० गा० २२, जीवका० गा० ५८८ (?) ]			

पडेव धमिण [ ] ३६४	साध्यदृष्टान्तयो धर्म- [न्यायसू० ५।१।४] ३२४
पण्णामनन्तराज्जीतम् [अभिध० १।१७] ३९५	साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा [न्यायसू० १।१।३०] ३१४
पण्णामाश्रितत्वम् [प्रश्न० भा० पू० १६] ३०२	साध्यरूपतया येन ममेदमिति [प्रमाणवातिकाल० पू० ३०] ५८४
सजोगमूल जीवेन [मूलाचार० २।४९] ८४५	साध्यसाधर्म्यात्तद्वर्तमानो [न्यायसू० १।१।३६] ३१४
सयोगादिभागात् शब्दाच्च [ब्रह्म० सू० २।२।३१] २४६	साध्याविनिष्ट [न्यायसू० १।२।८] ३२०
सवाइत्याध पूर्वण [ ] १९६	समानानेकधर्मोपपत्ते- [न्यायसू० १।१।२३] ३१०
सत्यपि आनन्त्य [न्यायम० पू० ६२२] ३४९	सामान्यदृष्टान्तयोरिन्द्रिय- [न्यायसू० ५।१।१४] ३२६
सत्सम्प्रयोगे [जैमिनिस्म० १।१।४] ५२३	सामान्यद्वारकोऽप्यस्ति [ ] ७०
सदुक्तात्प्रतीति- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८] ७०३	सामान्यवचन सादृश्यमेकैव [मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३५] ४९३
सधन ब्राह्मण हन्यात् [ ] ७६३	सारणवारणपरिचोपणद्व [ ] ८७६
स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४०] ७०२	साहचर्ये च सम्बन्ध [ ] ६९
सन्निकर्ष अर्थोपलब्धि- [ ] २८	सिद्धमेक यतो ब्रह्म [प्रमाणवातिकाल० पू० ३०] ५८४
स प्रतिपक्षस्थापना- [न्यायसू० १।२।३] ३१९, ३३८	सिद्धरूपं हि यद्भोग्य [प्रमाणवातिकाल० पू० ३०] ५८४
समय प्रतिमत्यं वा [मी० श्लो० सम्बन्ध० श्लो० १३] ५५३	सिद्धान्तमभ्युपेत्य जनिय- [न्यायसू० ५।२।२३] ३३५
समानतन्त्रप्रसिद्ध [न्यायसू० १।१।२९] ३१३	सिद्धान्तमभ्युपेत्य तदि- [न्यायसू० १।२।६] ३१९
सम्बद्ध वतमानञ्च गृह्यते [मी० श्लो० सू० ४ श्लो० ८४] ५३	मिदि. स्वात्मोपलब्धि [स० सिद्धम० श्लो० १] ४
सम्बन्धज्ञानसिद्धिरुद्दे [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४३] ७०२	मुखमाह्लादनाकारण [ ] १२९
सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक [मी० श्लो० पू० ६८०] ५५०	मुखिविहित कार्यं कारण [ ] ६०४
सम्भवतोऽर्थस्य अतिसामान्य- [न्यायसू० १।२।१३] ३२२	स्थिरवाच्यपनीत्या च [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२] ७११
सम्बद्दर्शनज्ञानचारित्राणि [तत्त्वार्थसू० १।१] ८६५	स्पर्शं त्वगिन्द्रियग्राह्य [प्रश्न० भा० पू० १०६] २७३
सरागा अपि वीतरागवच्छेद्यन्ते [ ] ६०३, ८५१	स्याच्छब्दस्य हि सत्कारा- [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२] ७११
सर्वं खल्विद ब्रह्म [छान्दोग्यो० ३।१।४१] १४७	स्वत सर्वप्रमाणाना [मी० श्लो० सू० २ श्लो० ४७] १९५
सर्वं सालम्बन ज्ञानम् [ ] ६६२	स्वपक्ष दोषाऽभ्युपगमात् [न्यायसू० ५।२।२०] ३३४
सर्वचित्तचैतानानात्म- [न्यायवि० पू० १९] ४७	स्वपरावभासमेक ज्ञान [ ] १८७
सर्वतन्त्रप्रतितन्त्र- [न्यायसू० १।१।२७] ३१२	स्वविषयानन्तरविषय- [न्यायवि० पू० २०] ४७
सर्वतन्त्राश्रितरुद्ध तन्त्र [न्यायसू० १।१।२८] ३१२	स्वामिधेयाभिनाभूत- [तन्त्रवा० १।४।२३] ५६८
सर्वस्वोभयरूपत्वे [प्रमाणवा० ३।१।८१] ६२०	स्वामित्वेनाभिमानो हि [प्रमाणवातिकाल० पू० ३०] ५८४
सर्वेषा मगपत्प्राप्ति सङ्कर [ ] ३६०	हिरण्यगर्भं प्रकृत्य [ ] ८७
सवितर्कनिवारण हि [अभिध० १।३२] ३९५	हिरण्यगर्भं सर्वज्ञ [ ] ९५
सव्यभिचारविरुद्ध- [न्यायसू० १।२।४] ३१९	हीनमन्यतमेनापि [न्यायसू० ५।२।१२] ३३३, ४३६
स हि रुद्ध वेदकर्तारम् [ ] ७२६	हेतुमदानित्यमव्यापि [साध्यका० १०] ३५३
साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यव- [न्यायसू० १।२।१८] ३२२	हेतुदाहरणाधिक- [न्यायसू० ५।२।१३] ३३३
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसहारे [न्यायसू० ५।१।२] ३२३	हेतोस्त्रिज्वलि रूपेषु [प्रमाणवा० ३।१।४] ४३९
साधर्म्यवैधर्म्यात्कर्पापिकय- [न्यायसू० ५।१।१] ३२३	हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञाया [न्यायसू० १।१।३९] ३१५
साधर्म्यात्तुल्यधर्मो- [न्यायसू० ५।१।३२] ३२८	हेत्वाभासाश्च यद्योक्त्या [न्यायसू० ५।२।२४] ३३५
साधुभिर्भाषितव्य [ ] ७६१	
साध्यत्वे हेतुव्यापार [ ] ५७९	



## § ६. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा न्यायाः ।

अन्धसर्पबिलप्रवेशन्याय	२४८।२७	लानमिच्छतो मूलोच्छेदः	३०९।२
अन्न वै प्राणा.	३५।६	वीचीतरङ्गन्याय	२४५।६; २४६।२२; २४९।१२
अर्धजस्तीयन्याय	१६८।२०	सरागा अपि वीतिरागवच्चेष्टन्ते	८५।१।१०
इतो व्याघ्र इतस्तटी	८३७।२१	सलिलसमीरणन्याय	५८६।७
गोर्वाहीक	५५९।१७; ५६०।१	सापत्न्यन्याय	६८५।१३
न हि दृष्टेऽनुपपत्तिर्नाम	१९।१०	हस्तिप्रतिहस्तिन्याय	३१९।६
नहि सुशिक्षितोऽपि खड्गः आत्मान छिनत्ति,			
सुशिक्षितोऽपि वा वटु स्वस्वन्धमारोहति	१८२।१५		

## § ७. न्यायकुमुदचन्द्रगतानाम् ऐतिहासिक-भौगोलिकनाम्नां सूचिः ।

ऋषभादि	८५७।२७	मालव	२५९।३
कालासुर	७२६।९	मेर्वादि	८०८।२५
कीशाम्बी	५१२।५	रावणसङ्घ चक्रवर्त्यादि	५३५।६
नन्दिसघ	८८१।१	रावणादि	८०८।२६
नालिकेरद्वीप	१७९।१, ४१०।१२	रुद्र	७२६।२, ९
प्रजापति	७२६।४	वीर	६५३।१६; ६५४।१२
वाहुवलिप्रभृति	८५८।१०	वृन्दावन	८२८।८
बुद्ध	५।८, १२	सत्यभामा	७३९।३
भरतप्रभृतिचित्रवर्तिन्	८७१।१२	सीता	८६९।१२; ८७६।११
महावीर	४९।१४	सुराष्ट्र	२५९।३

## § ८. न्यायकुमुदचन्द्रनिर्दिष्टा ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ।

अकलङ्क	१।२; २।१; ४०२।८; ५२१।११;	कपिलादिवचन	६०१।३
	६०५।२; ६५३।१६; ६५४।११; ८८०।१५	काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादिसाखाभेद	७२६।१०
अकलङ्कदेव	६०४।१७	कादम्बर्यादि	७२७।५, ८
अक्षपाद	३०९।१३	कुमारिल	५०५।१२
अनन्तवीर्य	१।२; ६०५।३	कुमुदेन्दु	६०४।१५
अभिनवनेत्यायिक	४९७।१४	गोतम	८२८।९
आचार्य	२।१०; ६७३।२०	जरभैयायिक	३३७।१
आचार्याय वच.	६७३।१८	जैमिनि	५०५।११
उपनिषद्वाक्य	१४७।६	जैमिन्यादि	१४।२, ३
कणाद	३०९।१२	ठकशास्त्र	५९४।१
कण्वादि	७२६।१३	तत्त्वार्थभाष्यादि	६४६।१५
कपिलमहर्षिप्रभृति	१११।१२	तत्त्वोपप्लववादिन्	३३९।४

नयो वेदा	७२६।४	भास्वरनन्दिन्	८८१।१२, १८
त्रिगन्धानादि	७३७।६	मनु	७२२।१
दिङ्नागादि	६६।१८, १९	मन्यादि	३५२।९; ७३६।१, ९, १३
देवनन्दिन्	८८१।७, ८	माणिरयनन्दिन्	१।७
धर्मकीर्त्यादि	६०२।५	वातिकनार	१९८।१३; ३१०।८
न्यायभाष्य	१५६।३	यूटनेयायित	४९७।९; ५००।१६
पदार्थप्रवेशनग्रन्थ	३६४।५	यदनिहामपुराण	७७०।२
पद्मनन्दिप्रभु	८८०।१४	यद्यवन-न	२७५।१९
परमानन्दनन्दिन्	८८१।१०	वेद्यवशास्त्र	६६९।३
पोराणिक	७२६।६	विशाकार भीमामक	२७९।११
प्रज्ञाकरगुप्त	६१९।९	गूत्र	२७२।२०, २७३।६; ३०९।१६; ३१४।१; ३१६।३, ७; ३१८।६; ३१९।६; ३२१।१; ३२२।१२; ५५०।१९; ५६०।३
प्रभाकर ४२।१५, ५२।१३; ५०५।१२, ५८७।१३		गूत्रहार	३१०।८; ३१२।९; ३१९।९; ३२३।४; ३३०।५; ८०६।३, ४, ८
प्रभाचन्द्र	८८०।१६, १८	गूत्रकारभाष्यवार्यास्तिककारादि	७६१।१६
प्रभन्तु	३।५	गूरि	६६३।१३; ७९५।४
प्रमयकमलमार्तण्ड	३३९।६, ३८०।१	सौम्यनन्दिन्	८८१।४
बृहस्पत्यादि	८७२।१०	स्मृतिपुराणादि	७२६।१०
भट्ट	७२४।१९	स्वप्नाध्याय	१३५।१४
भारतादि	७२२।११, ७२९।१६, ७३१।१६, ७३२।३; ७३३।१२		
भाष्य	५५०।१९		
भाष्यकार	२८।९, ३१।९, ३३९।१४, ३४०।१		

### § ६. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतानां लाक्षणिकशब्दानां सूचिः ।

लाक्षणिकशब्दा	५०	५०	अपार्यक	३३२	१२
अज्ञान	३३४	३	अप्रतिपत्ति	३२९	१४
अज्ञाननिवृत्ति	२०९	१६	अप्रतिभा	३३४	६
अणिमा	११०	१२	अप्रतिसह्यानिरोध	३९२	३
अधिक	३३३	८	अप्राप्तकाल	३३३	३
अधिकरण	८०२	१९	अप्राप्तिसम	३२५	१३
अधिकरणसिद्धान्त	३१३	४	अप्रामाण्य	१९८	७४
अध्यवसाय	६७८	८	अभ्यन्तुज्ञा	५८८	८
अध्ययण	५८८	७	अभ्युपगमसिद्धान्त	३१३	७
अननुभाषण	३३३	१७	अमूर्तत्व	६८९	१५
अनुत्पत्तिसम	३२६	९	अर्थान्तर	३३२	१
अनुपलम्बिसम	३२८	८	अर्थापत्ति	५०५	५
अनुमान	५१८	९	अर्थापत्तिसम	३२७	१०
अनुसन्धान	८२५	५	अल्पबहुत्व	८०३	४
अनित्यसम	३२८	१५	अवयव	३१३	११
अनैकान्तिक	३१९	११	अवर्ण्य	३२४	१९
अनौपक्रमिकी	८१२	१०	अवर्ण्यसमा	३२५	२
अन्तर	८०३	३	अविज्ञप्ति	३९१	६
अपकर्षसमा	३२४	१६	अविज्ञातार्थ	३३२	८
अपक्षेपण	२८७	३	अविद्या	३९३	१०
अपवर्ग	३१०	६	अविद्ययसम	३२७	१३
अपसिद्धान्त	३३५	५	अविस्मय	४१०	५

असत्त्व	१३७	३	दुःख	३१०	४
असमवायिकारण	२१७	१८	दृष्टान्त	३१२	४
अहेतुसम	३२७	५	दोष	३१०	२
आकाश (बोध)	३९१	९	द्रव्य	११७।५, २१४।३	
आकुञ्चन	२८०	८, ६	नामरूप	३९१	५
आगमद्रव्य	८०६	१२	निक्षेप	८०४	११
आगमभाव	८०७	९	निगमन	३१५	७
आत्मा	३०९	२३	निग्रहस्थान	३२९	१२
इन्द्रिय	३०९	२४	नित्यसम	३२९	१
ईशित्व	१११	२	निमित्ताकारण	२१८	१
उत्कर्षसमा	३२४	१२	निरनुयोज्यानुयोग	३३५	३
उत्क्षेपण	२७९	२२	निरर्थक	३३२	३
उदाहरण	३१४	८	निर्वरा	८१२	८
उद्देश	२१	८	निर्णय	३१६	३
उपचारछल	३२२	७	निर्देश	८०२	१७
उपनय	३१५	३	निश्चय	७८४	४
उपपत्तिसम	३२८	१	नंगमनय	६२३	१३
उपमान	४८९	१७	नंगमाभास	६२३	२३
उपलब्धिसम	३२८	४	नोआगमभाव	८०७	१०
उपादान	३९२	६	न्यून	३३३	६
एकदेश	२२४	८	पक्ष	६७।१७; ४३८।२, ४	
ओषक्रीमिकी	८१२	९	पक्षप्रतिपक्ष	३१७	१
करणत्व	३६	१०	पदस्फोट	७५४	१४
कर्तृता	३६	९	परिक्षेप	३०१	१६
कर्म	२८१	९	परीक्षा	२१	१०
कर्मत्व	३६	१०	पर्यनुयोज्योपेक्षण	३३४	१६
कार्यसम	३२९	७	पर्याप्त	८५२	६
काल	८०३	३	पर्याय	११७	६
कालात्ययापदिष्ट	३२०	११	पारतन्त्र्य	३०६।२१, २३	
कुत्स्त	२२४	८	पुनरुक्त	३३३	१०
क्षेत्र	८०३	२	प्रकरण	३२०	१
गन्ध	२७३	७	प्रकरणसम	३१९।१६; ३२७।१	
गमन	२८०	७	प्रतिक्रमण	८६४	२१
चारणलब्धि	८७२	११	प्रतिज्ञा	३१४	२
चेतन	४८	२०	प्रतिज्ञान्तर	३३०	१३
छल	३२१	१	प्रतिज्ञाविरोध	३३१	६
जडत्व	११९	११	प्रतिज्ञासन्न्यास	३३१	९
जन्म	३४८	३	प्रतिज्ञाहानि	३३०	७
जरामरण	३९२	८	प्रतिज्ञान्तरसिद्धान्त	३१३	२
जल्प	३१८	४	प्रतिदृष्टान्तसम	३२६	३
जाग्रदवस्था	८४९	७	प्रतिबन्ध	८३५	९
जाति	३२२।१२, ३९२।७		प्रतिबन्धक	८३५	१
जीवन्मुक्ति	८६५	८	प्रतिभा	५९६	५, ८
ज्ञान	७८९	१५	प्रतिसंख्यानिरोध	३९२	३
तर्क	३१५।९; ४१८।१४		प्रत्यक्ष	२४	१
तादात्म्य	३६४	२०	प्रत्यभिज्ञा	४११	११
तृष्णा	३९२	६	प्रत्यवमर्श	४११	७
लज्जस	८५२	६	प्रमाण	३०९	१९
दक्षिणबन्ध	११०	२	प्रमेय	३०९	२१
दीर्घमायुः	८५२	७	प्रयोजन	३१२	१

प्रवृत्ति	३१०	२	विप्रतिपत्ति	३२९	१३
प्रसङ्गसम	३२६	१	विभाग	२१	११
प्रसारण	२८०	७	विरुद्ध	३१९	१३
प्राकाम्य	१११	१	विशेष	२९२	३
प्राकृतबन्ध	११०	१	विसवाद	६३५	१३
प्राप्ति	१११	१	वेद (लिङ्ग)	८७८	८
प्राप्तिसम	३२५	१२	वेदना	३९२	६
प्रेत्यभाव	३१०	३	वेद्य	८५२	६
प्रेषणा	५८८	७	वैकारिक	११०	२
फल	३१०	४	वैधर्म्यसम	३२४	९
बुद्धि	३०९	२४	व्यतिकर	३६०	१५
भव	३९२	७	व्यभिचार	३१९	१०
भाव	८०३	४	व्याप्ति	४१८१४; ४२२१९	
भाववाक्य	७४२	२	शरीर	३०९	२४
भाविजीव	८०७	२	श्रुत	४०४	४
भाविनोद्भागम	८०७	३	सख्या	८०३	३
भूत	३९१	९	सग्रह	७९०	५
मतानुज्ञा	३३४	१२	सग्रहन य	६१०१५; ६२१११	
मन	३१०११, १३९५	९	सग्रहाभास	६२११५; ७९०१८	
महिमा	११०	१३	सयम	८७३	१३
मुक्ति	८३९	७	सवर	८१२	७
मुख्यप्रत्यक्ष	२५	४	सव्यवहार	५२	२
मूर्तत्व	७८७	२३	सव्यवहार प्रत्यक्ष	२५	५
यत्रकामावसायिता	१११	३	सदाय	५२६; ३१०७	
योग्यता	३११८, १८४१६, ५३८१३		सदायसम	३२६	१४
रस	२७३	६	ससार	८२९	३
रूप	२७३	६	सस्कार	३९१	३
रूपश्लेष	३०७	२१	सञ्चर	३६०	१२
रूपस्कन्ध	३९१	५	सञ्चुत	५३९	३
लक्षण	२१	८	सत्	८०२	२४
लक्षणा	५६८	३	सत्त्व	३६४	१
लघिमा	११०	१३	समवाय	२१५१९; २९४१८	
लज्जा	८७४	२१	समवायिकारण	२१७	१७
वर्ण्य	३२४	१९	समारोप	५२४	३
वर्ण्यसमा	३२५	१	सम्यक्चारित्र	८६५	१७
वसित्व	१११	२	सम्यक्ज्ञान	८६५	१७
वाक् छल	३२१	६	सम्यग्दर्शन	८६५	१६
वाक्य	७३८	१	सर्वतन्त्रसिद्धान्त	३१२	१२
वाक्यस्फोट	७५४	१५	सव्यभिचार	३१९	९
वाद	३१६	७	सादृश्य	७१९	१२
वादलब्धि	८७२	९	साधन	८०२	१८
विकल्पसमा	३२५	९	साधर्म्यसम	३२३	९
विन्नित्यालम्बि	८७२	११	साध्यसम	३२०	७
विक्षप	३३४	८	साध्यसमा	३२५	६
विज्ञान	१२९११५, ३९११४		सामान्यछल	३२२	१
वितण्डा	३१९	४	सिद्धान्त	३१२	८
विद्या	३९१	३	सुख	१२९११५; ७८९११४	
विधान	८०२	२०	सुषुप्त	८४७	१८
विधि	५७३	२१	सुषुप्ताद्यवस्था	८४९	७
विपर्यय	५२	७	स्थिति	८०२	२०

स्पर्श	२७३८; ३९२६	स्वामित्व	८०२	१८
स्पर्शन	८०३	हिंसा	८६८	१७
स्मृति	४०६	हेतु	३१४	४
स्वत	१९५	हेत्वन्तर	३३१	१२
स्वसवेदन	१७४	हेत्वाभास	३१९	८

§ १०. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गताः केचिद्विशिष्टाः शब्दाः ।



अक्षीणमहानसादिलब्धि	८७२१२२	असवेद्यपर्व	१९२१२२; ८२२१२
अग्निष्टोमादि	५७६१४	असत्कार्यवाद	-५६११४
अग्निहोत्र	५४८१४	आकाशकुशाशयवत्	८४४१२२
अङ्गुलिशिक्षराधिकरणकरेणुशतवचस्	५४३१२	आधिका	८६८११४; ८७४१२२
अङ्गुल्यध्रे हस्तियूथशतमास्ते ५३१११०; ५३६१११, १४, ५३७११२, ६९२११२	८२१४, २६३१२६	घ्नन्	८५७१२२
अञ्जनतिलकमन्त्रादि	३४५१८	इन्द्राद्यास्वान	८७२११९
अत्यन्तोपकारकभृत्य	५७११८	ईश्वर	३२१२१, १६३१२२, १७२१७, १३
अद्वैतवादिन	५७१२४	ईश्वरकपिलब्रह्मवत्	५१९, ११
अनपवर्त्यागुणत्व	८६३११९	उत्तमभकमणि	१६२१२२
अनिवृत्तिबादरसाम्पराय	८७०१६	उत्पलपत्रशतच्छेदवत्	१८२१७
अनुग्रहच्छापराभिभवाभिलाषपूजाख्यात्यादि	३३६१२५	उत्पलपत्रशतभ्यतिभेदवत्	७२१२, ८११८
अनुमानानुमेयभावो वा कल्पनाशिल्पकल्पित	४८७१३	उदगमादिवोष	८७३११७
अनेकभावाभावोपाधिखचित	४७८१४	उद्दहिका	१०४११०
अन्तरायोपपत्ति	८५५११८	उन्मत्तवावयवत	२०१६
अपवजम्बूफलादि	४२५११३	उमेश्वरत्व	३६९१९
अपवर्तना	८६३११९	उर्णनाभ	१४८११३, १५३१६
अप्रतिसह्यानिरोध	३९१२२	एकादश (परिपह)	८६२१३
अभिनवर्न्यायिक	४१७११४	ओपपादिक	३५२१११
अभिन्नयोगक्षेमप्रत्यासत्ति	२०८१३	ओशानस्	७५३१२
अय शालाकाकल्पा परमाणव	२३१२२०	कञ्चुकप्रख्य	३९११७
अयोगकेवलिन	८५७११०	कटुर्तलादि	४२५११२
अयोगिचरमसमय	८४७११२	कपिलादिमतानुसारिन्	८३६१२०, २३
अयोगोलकवह्निविवेकवत्	१९०१९	कल्पमहाकल्पादि	१११११२
अरिष्टादिक	६१८१३	कवलहासर	८५११२२
अर्द्धपञ्चमाकार (अपोह)	५५५१३	काककाण्ड्यादिवत्	४४०१६; ४९१११०
अलातचत्रवत्	५२८११४	काकदन्तपरीक्षावत्	२०१८
अवधिज्ञानिन	८५५११, ८६३१२	काचकामलादिवोष	२००११०, ५४०१९
अशक्यविवेचनत्वप्रत्यासत्ति	२०८१२	काचपञ्चप्रसङ्ग	३७३१९
अश्वविपाणप्रख्य	४७६१२	कापिलीय	७८९११९
अश्विन्दुदय	४७१११०	कार्माणसारी	३९४१९
अष्टकाद्यथिनुष्टानाथिन्	७२२११	कुण्डिनीस्त्रीवत्	८१६१३
अष्टद्वयकपरमाणु	३९४११९	कूटद्रम	२०२११२
अष्टविध (ऐश्वर्य)	११०१११	कृत्तिकोदय	४२०१५; ४४०१४, ४६११७; ४६२११०, ८७०११८
अष्टादशवोष	८६२११०	कृत्तिकोदयसकटोदय	४४८१३
		केकामित	१०१५

केगोण्डुकादिज्ञान	१६५।२१, ६६२।२, १०,	तैमिर	५२३।४
	७४३।१३	तैमिरिकोपलब्धि	२३१।२२
कोशपाठ	१८३।१०	तोयशीतस्पर्शव्यञ्जकवाध्यवयविवत्	१५७।१
क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षित	७७८।१०	त्रयोदशविध (करण)	३५०।१३
क्षपकश्रेणी	८७८।२	त्रिकट्टुकादि	४२५।१२
क्षपकश्रेण्यारौहण	८५९।११, ८७०।६	त्रिदण्डदर्शन	४६२।९
क्षीणमाहान्त्यसमय	८४७।१२	त्रिधा (व्युत्पाद्य)	२१।१७
क्षुरमीदकशब्दोच्चारण	५३६।१०	त्रिप्रकारा (वेदना)	३९१।११
क्षुरादिपापापादिशब्दध्वन	१४४।१५	त्रिविध (अप्रमाण)	१९६।१७
खरकद्रम	२०२।१८	त्रिविध (कारण)	२१७।१६
गणधरदवादिरूप	८५५।७	त्रिविध (संस्कार)	२७५।३, २७८।२२; ७११।८
गणधरादि	८६९।४	त्रिविध (फल)	३९८।२
गणभूत्	२।३	त्रिविध (छल)	३२१।५
गुणाष्टकवत्	८६६।२०	त्रिविध (लिङ्ग)	७९५।२५
गोपालघटिकादि	४२५।१, ८५१।०	दण्डकवाटादिविधान	८५९।१८
गौरुता इत्यादिवत्	७६७।७	दर्शणोपमासयज्ञ	५७८।६
घोटिकव घोटकं	८७३।३	दशविध (कार्य)	३५०।१२
चतुरार्यसत्य	३९३।७	दशाननदाह	६१९।११
चतुर्विधसति (गुण)	२१५।६	दिव्यतूर्यादिरव	८५५।७
चन्द्रकान्ताद्यन्तभूतजलादि	२३९।२५	दिव्यपरमाणुलाभ	८५८।१२
चन्द्रोदय समुद्रवृद्धयो	४४८।४	दीर्घशकुलीभक्षणानि	२७०।२२; २७१।७ १३
चरमदेह	८६७।२	दूरस्थविरलकेशदर्शन	६३६।१३
चरमपरीरिन्	८७१।११	दूरस्थनाथोपनिबद्धदृष्टिप्रेक्षकजनवत्	५६५।८
चरमोत्समदेह	८६३।१९	दुष्टिदोषभय	८६४।९
चार्वाक	१९४।२२, ३४१।१५	दवच्छन्दक	८५५।१०; ८६४।१७
चर्वाकमत	१७३।१२, ३४१।१७	देवनारकतियग्भोगभूमिज	८६६।२
चिच्छायाच्युरितवृद्धिवृत्ति	१९२।१६	देशोनपर्वकोटि	८५४।८
चित्रपट्यादि	४१५।१५	द्वादश (मिथ्योपपाद)	८७७।८
चित्रपट्यादिसामग्री	४१४।१६	द्विप्रकार (निरोध)	३९२।१
चौरशब्द	५४७।२	द्विविध (उपदेश)	८८।२
जलकल्लो उवत्	३७०।६	द्विविध (स्वप्न)	१३५।१२
जलबुद्बुदवत्	३४२।११; ३४८।८	द्विविध (ब्रह्म)	१३९।१७
जिन	५२१।११	द्विविध (यक्ति)	१५८।१६
जिनपति	२।४	द्विविध (प्रमाणफल)	२०९।१४
जिनपतिमनामुमारिन्	३०८।२०; ३७१।१७	द्विविध (सामान्य)	२१५।७
जिनेन्द्रपद	२।३	द्विविध (अनेकान्त)	३७२।१
जैन	७१।१९, ७७।१०, २७९।१०; ३०७।१; ४८४।	द्विविध (अभाव)	४६८।७
	१५ ७२६।९	द्विविध (पर्युदास अपोह)	५५५।७
जैनमत	३४८।१९, ७४०।८, ८३२।११	द्विविध (प्राणादि)	८५०।२३।
ज्ञानावरणादिकर्म	८०८।१९	द्विविध (मुक्तिकारण)	८५२।२
ज्योत्स्ना	६६९।५	द्विविध (सतिवन्द्यपद)	८७५।१८
ज्वराद्युच्चाटन	७३१।३	द्विविध (गृहि-देववन्द्यपद)	८७५।२०
तथागतानि	५८७।१३	घत्तूरककोद्रवादि	३४८।६
तदहन्नात्रगालक	३४७।१६	घत्तूरकपुष्पवन	२७०।२०
तरङ्गिणीतीरे पत्रानि सन्ति	५४२।११	घत्तूरकाद्युपयोगिन्	८१०।४
त्रिमिताद्युपप्लवजान	५२३।१३	घनुबद्धरिज्ञानाधिन्	४।१३
वीर्यकस्त्रवर्मादय	८६५।७	घानुष्कवत्	४३७।१०
वीर्यकस्त्रनामपुण्यादिशय	८७५।१३	घुपद्धनादि	२२५।१६, ३६२।२५
वीर्यकस्त्राकारपर	८७६।१०	न कदाचिदनीदुश् जगत्	१०२।२७
वीर्यलान	६३४।१९	नचास्तीरे फलानि सन्ति	५४१।८

नटभटवस्तुचर्मकारादि	७६७।१४	प्रतिलेखन	८६८।८, ८७३।११
नरसिंह	३६९।९, १९	प्रतिसंस्थानिरोध	३९२।१
नर्तकी	२२५।१०	प्रतिस्वहारकान्त	५२८।२०, २४
नव (द्रव्य)	२१४।७	प्रतीत्यसमुत्पाद	३९०।१
नागकणिकाधिर्मदककरतलादिवत्	१५६।६	प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चक	४४४।१६, ४४५।९
नारक	८७१।१९	प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकसाधन	१२।३
नारकादिकायसन्तापवत्	८४१।२	प्रत्यक्षानुपलम्भसाधन	६१८।२
निखिलगुणोच्छेदलक्षण्ये पापाणकल्पे मोक्षे	८२८।२७	प्रदीपज्वालाजलधारासमानशरीर	८५४।१३
निरशैकपरमब्रह्मसिद्धि	१२०।२७	प्रदीपनिर्वाणवादिन्	८२९।४
निर्विपीकरणादि	७३१।३	प्रमाणान्तरसम्प्लव	५०५।२
निपद्या	८५४।१६	प्रमेयानुप्रवेश	५०९।८, ५१६।११
निस्तरङ्गमहोदधिप्रस्य	३५०।७	प्रमाणकसमय	८७१।१२
निहार	८५७।६	प्रसुप्तिकादिरोग	३४६।१८
निहितमन्त्रिताधीतादि	४०९।११	प्राकृतपुरुषवत्	८६३।१४
नैयायिक १८४।९, ४९६।३, ४९९।१२	६२०।१४,	प्राकृतवैकारिकदक्षिणलक्षणबन्धप्रयसदभाव	१०९।१४
६२९।१७, ६३०।२६, ६३३।२०,	६७५।१२, ८७१।१		
नैयायिकादि	४३६।१५, ६३५।१३, ६५७।२४,	प्राकृतशब्दवत्	७६३।२१
	६६५।१२	बन्ध्यासुतभौभाग्यादिव्यावर्णनप्रत्य	३२।१४
नैरात्म्यवाद	१६।६	बलातं आदि	७१३।१२
नैरात्म्यादिभावनाभ्यास	८४०।१५	बुद्धादिवत्	६।२
नोकर्म	८०७।५	ब्रह्मन्	१२१।३, १४३।११, १४
पद्मबन्धवत्	८१५।२, ८२१।९	ब्रह्मवाद	१२७।१६, ७१२।१२
पञ्च (कर्म)	२७५।७	ब्रह्माद्वैत ६२।१४, ३५०।४;	३५७।१७, ५८५।१२
पञ्च (बुद्धीन्द्रिय)	३५२।१	ब्रह्माद्वैतवादिन	१३९।१५
पञ्च (कर्मिन्द्रिय)	३५२।२	ब्रह्माद्वैतवादिसाख्यपरिकल्पित	३५८।२१
पञ्च (हेतु)	४६०।१९	बौद्ध १२।४, १३५।१८, १८६।२१;	३५०।२,
पञ्चधा (अनुमान)	४६०।१६		६३३।१६
पद्मनालतन्तुवत्	२६८।१	बौद्धकल्पितनिरशमुद्धि	४८३।१६
परमनैर्ग्रन्थभाक्	८७३।२०	बौद्धरादान्त	२७९।१
परमब्रह्मण	३८।१६, १४७।३, ६	बौद्धादि	५८२।२
परमशकलध्यान	८४७।१३	ब्राह्मण भोज्य	७६९।५
परमोदारिकशरीर	८५७।१९	ब्राह्मण्यजाति	७७३।१८; ७७३।१
परिमण्डल	४८४।१८	भारताध्ययनवत्	७३२।३
परीपह	८५४।७	भुजगखगचतुष्पदसर्पजलचराणाम्	८६५।६
पशोरिव रज्ज्वा नियन्त्रितस्वापढीकनम्	६५।१२	भूतग्रहव्याधिपरिग्रह	४६३।२
पारिमाण्डल्यादि	२९३।४	भूतसृष्टि	३५२।६, ३५५।६
पिण्डसर्जुरादिशब्द	५३५।२	भूतसृष्टिप्रक्रियावत्	३५८।१७
पिण्डपणा	८५३।१७	भूभवनवद्वितीयित	५३८।१९
पिण्डीपधिशय्यादि	८६८।१०	मणिप्रभाया मणिबुद्धि.	२०२।१२
पिष्टपेयगानुपज्ञ	३७५।२४	मणिमन्त्रादि	८४९।१४
पिष्टोदकमुडघातक्यादिपरिणतत्ववत्	३४३।११	मत्तमूर्च्छिताद्यवस्था	८८८।१४
पुरुषाद्भैत ३९९।८, ६६८।११		मदशक्तिवद् विज्ञानम	३४२।७
पुरुषाद्भैत २०७।२१, ३९६।१४, ४९२।१२	६११।८, ६१२।६	मधुप	४९९।१३
पुरुषाद्भैतवादिन्	६११।८, ६१२।६	मध्यमङ्गलभूत	६५५।६
प्रस्योपाख्याविरहित	६०।२०	मन्त्रवादिन्	७३१।३
प्रस्योपाख्याविहीनत्व	६१७।२३	मन्त्राद्युपप्लवसामर्थ्य	१३२।२०
प्रजापति	७२६।४	मरीचिकातोयनिदर्शन	४८४।१५
प्रतिबन्धकमप्यादि	१६२।२४	मरुत्सिंहासनस्पर्श	८५५।८
प्रतिविम्बोदयवादिन्	४५१।१९	महाप्रलय	५५०।४
प्रतिभासाद्भैतवादिन्	५।११, १३	महामोहान्तान्त करणात् सौगतात्	४९।१४

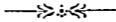
महेश्वर	१८८२	यात्पादि	४२५११
मातृविवाहोपदेवावत्	२०१९	वादविप्रियाचारपादिलम्बि	८७२१८
मायागोलकवत्	६३६१२२	वादायतिनाम	८६८२२
मायाबाहुत्व	८६९१६	वामीधन्दनकला	३४४१३; ८३३११
मायोपम	६८३१२५	याहूकेलि	३१५११
मिथ्यादर्शनादित्रयात्मक	८३०१९	विचित्ररेगानिकरकरभ्रिनामिव	१४११२
मीमांसक १०२१२८; २७९१११; ३२०१९, ५०२१		विनागादैन	६२११४; ११९१६
२, ५०५१६, ७१११८, ७२७१९; ७२८१८; ७७५११		विद्यापरादिवत्	८६५१५
मीमांसकतृतान्त	२७९१८	विप्रुप	७१०११
मीमांसकनैयायिक	५०२१७	विनापा	३९०११
मीमांसकमत	१८४१९, ५३२१९	विवादस्मिपरस्परविच्छलत्वादि	२७५११९
मूलक्रीलवादि	३१११३	विनिष्टाञ्जनादि	५४०१८
मूलक्रीलोदवादि	८०८१२६	विद्वज्जिदादियज	५७६१३
मेचवादि	३६९११४	विपमच्छद	५००११
मेघरूपता	१६६११५	वीचीतरङ्गबुद्बुद्घेनादि	१४११०; १४८१७
यत्तार्थम्	६३४११६	वीचीतरङ्गादि	२४७१९
यथाभ्यान्चारित्र	८०११११	वृत्तिविरत्यादिद्रूपण	२२७१२
यथार्थनामा अवला	८७८११६	यन्मापाटकादिप्रविष्ट	७७९११
यमलकवत्	७१९११२	वैभाषिक	३८९१२४, ३९०११; ३९५११२
याचनसौवनप्रक्षालनपोषणनिक्षेपादानचौरहरणादि-		वैयाकरण	२७५११७; २७९११२; ६४८११८
मनसक्षोभकारिणि वस्त्रे	८७३११३	वैयाकरणव्यवहार	७९७१३
यूकालिक्षायनेकजन्तुसम्मुख्यच्छनाधिकरणवस्त्रस-		वैशेषिक	२३६१२६; ३०९१११; ६२७१७; ८०८११०
मन्वितत्व	८७४११०	वैशेषिकशास्त्र	२८७१२०
योगाचार	११९११०; १६५११४; ३९७११९	वैशेषिकानादि	७८६११
योगाचारमाध्यमिकमत	३८९१२३	वैशेषिकी मुक्ति	८२८१९
योग १०९१७; ११२१८; २२०१११; २२१११४; २२९१		व्याकरण	७६०११; ७९६१२६
८२३३१२५, ३५८१२२; ३९९१११, ४२८१३; ४३२१		व्याकरणप्रामाण्य	७६०११७
१४, ७२६१९, ८२६११६		व्याघ्रादिनेत्रचूर्णाञ्जन	१९८११७
योगसौगत	४८५१३	शब्दपरमब्रह्मविकल्प	१३९११७
योगादि	७२७१३	शब्दब्रह्म	१४२१६
योगाभिमत	११२१२	शब्दविधवादिन्	५७४१६
योगीश्वरल्पितेश्वर	१०९१४	शब्दव्यापारविधवादिन्	५७६१७
रत्नत्रय	८४६१४, ८६५११४	शब्दस्य उत्पत्तिप्रक्रिया	२४२१४
रविकिरणसस्पृष्टनीहारनिकरवत्	१३३१७	शाक्य	५५९१७; ८४४११
रिरसा	८६०१९	शाक्यपक्ष	८४३११८
रोगादिपरीपह	८६२१६	शिशुमारवसाञ्जन	१९८११८
रोहिष्युदय	४२०१५	शिव्याचार्यवत्	८७६११२
लकृत्चपेटादि	३३८१२४	शुक्लध्यानानल	८५९१६; ८६४११६
लतावदवर्षादि	६०३११७	शुक्लध्यानानावाप्ति	८५९१११
लाभान्तरायप्रक्षय	८५८११२	सून्यवादिन्	२३११
लालावत	१५६१८	श्रुगी	८६४१२४
लूनपुनर्जनिनखत्रेसादिवत्	२४५१२०; ४१८१२; ७०३१०; ७१५११४	श्वमास	५४८१५
लोकपालपरिग्रहीतदिक्प्रदेश	२५८१४	श्वो मे भ्राता आगन्ता	५९६१९
लोभकपायपरिणति	८७४११४	पट्टपदार्थ	२१४११
लौकायतिक	१०१८	पट्टपदार्थलक्षण	२१३११९
वज्र	८५७१२२	पट्टप्रकार (सन्निकर्ष)	२८२१०
वट वटे वैश्रवण	७२८१७, ७३३११४	पट्टप्रकार (अर्थापत्ति)	५०६१३
वर्णाश्रमव्यवस्था	७७८१९	पडावतन	३९०१७
वलिपलितादिक	२५११०	पङ्क्ति (आहार)	८५६११
		पङ्क्ति (शब्द)	२४५१२३



पोडशक गण	३५५।२२
पोडशपदाथलक्षण	२१३।२०
पोडा सम्बन्धवादित्व	३०४।१४
सवरनिजरा	८१२।४
सविद्रूपस्यैकस्य ह्यविषादाद्यात्मनत्वम्	१९३।८
सवृत्ति	७।४
संस्कृतसम्बन्धवत्	७६२।१०
सचेः ऋषधम	८७५।१
सत्कायदशनसमाधयण	१९५।१७
सत्कायवाद	३५७।१८
सदृश-अपरापरोत्पत्तिनिबन्धन	२४५।२०
सदृश अपरोत्पत्तिविप्रलम्भ	६३६।११
सदभावस्थापना	८०५।१५
सप्तधा (अनुमिति)	४६२।२
सप्तधातु	३९५।८
सप्तमपृथिवीगमन	८६६।१९
सप्तमपृथिवीगमनकारणापुण्यप्रकप	८७०।१३
सप्तमपृथिवीगमनयोग्यता	८७१।४
सप्तशोभाध्युपकायत्व	२३०।१४
सप्तवशरणादि	१६४।१८
सप्तवशरणीयद्वितीयप्राकाराभ्यन्तरवति	८५५।११
सम्यक्चारित्र्य	८०८।६
सम्पन्नान	८३०।११
सम्यग्दशन	८०८।५
सम्यग्दशानादिनय	८३०।२०
सम्यग्दशमध्यादृष्टि	८७७।५
सम्प्रज्ञातयाग	३५८।१३
सम्बन्धाभिधयशकयानुष्ठानट्टप्रयोजनवन्ति	२०।४
सम्पूर्णच्छमादिवत्	८६६।१४
सयोगिकैवलिन	८५७।११
सवज्ञाहारनिहार	८५५।१४
सवज्वरहरतक्षकचूडारत्नालकारोपदेशवत्	२०।१०
सर्वायसिद्धि	८७१।१३
सहलाराप्त	८६७।९
सात्त्व ४०।८, ४९।१५, १०९।५, ११३।१६, १५७।२०, १६९।१०, २३९।२८, २६५।११, २७५।१९, २७९।८, १२, ३१३।३, ३५०।७, ३९४।२०, ६१८।२, ६२७।७, ६२९।१८, ६३३।१५, ७८७।१३, ८०८।११, ८१२।११, ८१९।१७, ८२०।५, ८२१।७, ८२२।२	
साख्यनैगमाभास	६३०।२६
सारयसौत्रान्तिक	६८३।२३
सामाधिकमानमसिद्ध	८६८।१
सारणवारणपरिचोदनादि	८७६।९
सासादनसम्यग्दृष्टि	८७७।३
सिताम्बर	८७१।१
सुगत	१६८।१३, ३८६।१८

सुगतज्ञान	१२७।१४, ३०९।९
सुगतत्व	१२७।१६
सुगतमतावलम्बिन्	४७६।१०
सुगतवचन	६०१।२, ४
सुगतादि	६५४।१
सुगतेदवरकपिलब्रह्मन	४।१५
सुगि चक्रसुमधुपवासादिग ध	८५५।७
मुरनारकादि	८६६।७
सुराभाण्डमिवाशुचि	६३४।२०
सुयसारिकातडिदादि	४२५।१०
सुर्पादिदक्षिन्	४५२।८
सुष्टि	५५०।४
सुष्टिक्रमकथन	१५१।११
संनावनप्रत्ययवत्	२३५।१
सौगत ११।१२, ३८।१३, ५०।५, ७१।१९, ८१।१६, २०५।७, २०७।२४, २४५।२२, २५, २६६।१०, ३५८।२०, ३७९।४, ३९५।१४, ३९६।१, ४०९।१५, ४१३।५, ४२७।१२, ४३२।१४, ४४४।९, ४४८।१२, ४६०।१५, ४८२।१७, ४८८।१९, ५२४।१९, ५२८।१६, ५३२।९, ५३४।४, ५३८।९, ५८७।१, ५९८।९, ५९९।७, ६११।५, ६१२।६, ६१७।१६, ६१८।२, ६२०।१४, ६२९।२५, ६३३।१८, ६३५।१०, ६३, ६७, ६३९।२४, ६४३।१७, ६७५।१२, ६७७।३, ६८१।१५, ६८५।१७, ६९७।१२, ७८२।९, ७८५।९, ७८६।१२, ७८८।६, ७९१।६, ७९३।१२, ८०८।११, ८४२।२०	
सौगताद्योग	४२४।१३
सौगतादि	६८५।१९, ७२७।९
सौत्रातिक	१६५।११, २७९।१२, ३८९।२२, ३९७।१९
स्त्रीनिर्वाण	८६५।१३, ८७०।११
स्त्रीलिङ्ग	८६९।१४
स्त्रीवेद	८७०।२
स्थाननय	६८५।११
स्याद्वादलाञ्छितप्रमाण	६२४।१३
स्याद्वादिन्	२११।१७, ४१४।११, ८३२।१३
सम्पत्तितादि	१६३।२
स्वकम्बलस्य कुर्दांलिकेति नामकृतम्	७४३।७
स्वप्ने द्रजालगन्धवनगर	११८।७
स्वप्ने द्रजालादिप्रत्यक्षवत्	१३१।६
स्वप्नोपम	६८४।१
स्वात्मनि क्रियाविरोधात्	१८२।१४, १८७।७
हृत्तालकाञ्चननादि	४२५।९
हस्तरेखादि	६१९।१४
हिरण्यगम	८७।३, ९५।१५

## § ११. न्यायकुमुदचन्द्रान्तर्गतदार्शनिकनामसूचिः ।



अगसाब्द	३०८१४	अनेकात्रोवनाम	८०५१२
अकारणगुणपूर्ववत्त्व	२४११८	अन्वधाप्ति	४४१११
अकृष्टप्रभवस्त्वावरादि	१०४११६	अन्वर्थादयन्वय	४४११६
अनमानकाल	३७२१२	अन्वयवर्णवृद्धि	७४५११
अक्षणिवत्त्व	३७६१२१	अन्वयवित्तप	२१५१८; २९२११०
अक्षिपक्ष्म	८५८१४	अन्वयानुपपत्ति	४२३१२३
अस्त्वानि	६०१४	अन्वयानुपपत्तिरूपध्वतिरेकवत्	४४११६
अङ्गहार	२२५११०, ३६२११५; ७०३११०	अन्वयानुपपत्तिरूपध्ववच्छेद	६९४१५
अङ्गहारस्फोट	७५६११४	अन्वयवस्तुविज्ञानपक्ष	४७६१४
अचल	८६८१७	अन्वयसाह	५५६१५
अचलसयम	८७५११	अन्वापोहमात्राभिधायरत्व	५५११८
अनिदसवाच्य	४८९११५	अन्वयान्यव्यवच्छेद	६९३११
अनिप्रमङ्गद्वैवर्ध्वलक्षणबाधप्रसक्ति	४००१३	अन्वयान्वाभाव	४६७१११
अतिसामान्य	३२२१२	अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्य	३४३११
अतीन्द्रियज्ञान	८६११५	अपर	२८३१२२
अतीन्द्रियसाक्षि	१५८११०	अपरत्व	२७६११६
अत्यन्तप्रियवृद्धिविपर्यय	८३११३	अपूर्वानुपूर्वाकरण	७२४१४
अत्यन्तानाव	४६८११	अपसावृद्धि	२७६१७
अत्यन्तानाव्यवच्छेद	६९३१५, ६९४१८	अपोदारव्यवहार	२७७१८
अदृष्टादि	१६३१२१	असाह	५५११९, ५५५१७; ५५६१२, ५५७१५
अद्वयज्ञानकल्पना	२०७११७	अपोहभेद	५६२१५
अद्वैतरूपता	७१९११५	अपोहपेयत्व	७२१११, ५
अद्वैतवादिमतमिद्धि	५४१११	अप्रतिपत्ति	३६०११६
अधिगति	२०५१११	अवाचितविपर्यय	४४२१७
अधिष्ठातानाङ्गजृत्व	४५२१२	अभावदोष	३७११२०
अध्वानपरतयोपादीयमानरत्व	८३११३	अभावपूर्विकार्यापत्ति	५१६१७
अनपवत्स्यायुक्त्व	८६३११९	अभावप्रमाण	४६३१७
अनभ्यासावस्था	२०१११९	अभावार्थापत्ति	५०८११२
अनाद्यविद्योपप्लव	६२११५	अभिज्ञाक्षण	३८२१९
अनाधयाप्रहयातिसय	१४३१८	अभिधा	५६७११२; ५७७११
अनिर्वचनीयार्थस्त्वानि	६३१७	अभिधाश्रीयक्ति	५०८१३
अनुत्पाद्यातादकत्व	२६९१९	अभूत्वाभावित्व	२२०११३; २२१११८
अनुपलब्धि	४४६१११; ४६५१७	अभेद	३६५११९; ३८०१८
अनुमानपूर्विकार्यापत्ति	५०६१५	अयुतसिद्ध	२९४१२४
अनुमानापमानपूर्विकार्यापत्तिद्वय	५१५१११	अयुतसिद्धत्व	२९७१२०
अनुमितानुमान	४५०११	अयुतसिद्धि	२९९१९
अनुयोगशब्द	८०२१६	अयोगव्यवच्छेद	६९३१७; ६९४११
अनुवाकप्रत्यय	७४९११; ७५५१११	अयकार्यता ज्ञानस्य	६५९१११
अनुसंहति	७४२१४	अर्थत्रिन्याकारित्व	३७५१८
अनुस्मरण	३९५१५	अर्थक्रियाज्ञान	२०२१५
अनकजीवनाम	८०५११	अर्थप्रधाननय	७९३११७
अनकजीवाजीवनाम	८०५१३	अर्थप्राकटय	२०१११
अनकाकारचित्रज्ञान	१९३१८	अर्थभावना	५७९१११; ५८२११४

अर्थात्मको व्यवहार	६३४१९	आसन्न	३९१११७
अर्थात्मिका भावना	५७९११०	आहङ्कारिकत्व	१५७१२०
अर्थापत्ति	५०५११४	आहार	५५७१६
अर्थापत्तिरनुमानमेव	५१३११०	आहारकथामात्र	८६४१२३
अर्थापत्तिपूर्वकार्यापत्ति	५०७११०, ५१५११३	आह्लादनाकारत्व	१२९११३
अधपञ्चमाकार (अपोह)	५५५१३	इच्छा	५७४१५
अहदुःखतयत्न	८६८११९	इच्छाप्रयत्नप्रभृतयो विधिप्रकारा	५९८११
अलौकिकपथख्याति	६४११	ई द्वयदोष	१९६११९
अल्पाचतरत्त्व	६१७१२३	इन्द्रियप्रत्यक्ष	४७११२
अवधिज्ञानिन	८५५११, ८६३१२	इन्द्रियवृत्ति	४०१२, ५
अवयविन्	२३११६	इन्द्रियसंस्कार	७१३१६
अविद्या	१४३११	इष्टविधातकृत	६९१४, ७३११८
अविद्यातिमिरोपहृत	१४११४	इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारादिलक्षणव्यवहार	७९२१५
अविद्यारूप	८०९१३	उपदेश	५७४१४, ५९४१४
अविप्लुतत्व	७७२१८	उपदेशो विधि	५९४१२
अविवेकि	३५३१२७	उपभोगाश्रय	८४५११३
अशक्यविवेचनत्व	१२५११९, १२७१११	उपमान	४८९१९, ४९७१९
असत्कायवाद	३५६११४	उपमानपविक्वासापत्ति	५०६१६
असत्ख्याति	६०११५	उपमानस्य प्रत्यभिज्ञानस्वभावत्वम्	४९४११८
असत्प्रतिपक्षत्व	४४३१९	उपलब्धिलक्षणप्राप्तप्रतिपध्यार्वानुपलब्धि भूतलाद्या	
असदभावस्थापना	८०४११६	श्रयोपलब्धि प्रतिपध्वघटादिस्मरणलक्षणसामग्री	
असाधुशब्दप्रयोग	७५८१८	विशय	४६४११
असिद्धविपरीताथव्यभिचारिविपक्षत	४३९१२	उपसर्गाद्यासक्त	८६८११४, ८७४११
अस्मयमाणकतृकत्व	७२४१८	उपादान	३९१११
अहङ्कार	३५१११५	उभयदोष	३६०१११
आकाश	२४२१२	उभयसंस्कार	७१११७, ७१४१७
आकाशप्रदेशश्रुणी	२५८११३, १८	ऊर्ध्वतासामान्य	६४७१२
आख्यातशब्द	७३९१८	ऊर्ध्वो स्थितवशादि	३०५१८
आगमनोआगमरूपता	८०७१७	ऊर्ध्वज्ञान	४४४११५
आगमनोआगमविकल्प	८०६११०	एकजीव-अनवाजीवन म	८०५१३
आचेलनयादिसयमविशय	८७२११६	एकजीव एकाजीवनाम	८०५१२
आतप	६६९१४	एकजीवनाम	८०४११८
आत्मख्याति	६२११	एकत्वाध्यवनाय	४९११७, २८९१११
आत्मगत	१९७१२३	एकद्रव्यत्व	२०४१११
आत्मदर्शन	८३८११२	एकलोलीभाव	३०९१८
आत्मनोप्राप्तक्रियासम्ब धावगम	५७४१३	एकसाधप्रथमीन	२३६१७
आत्मन	२५९१२३	एकाञ्जीवनाम	८०५११
आत्माद्वत	२३९१२१	एकात्मसमवेतानन्तरज्ञान	१८२१५
आदर्शादि	४५१११५	एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानप्राप्त्य	१८८१६
आदित्यादिक्रिया	२५५१११	एकात्मसमवाय	८७०१२४
आनन्द	८३११११	एकोऽनवयव शब्द	७४११३
आनन्दशब्द	८३८१२	एकोपाध्युपकायत्व	२३०११४
आप्तोक्तत्वेनैव	५३६११	एवकार	६९४११
आयतन	३९२१४	ओदन	५४७१७
आरूप्यधानु	३९२११०	कण्टकशाखावरणवत्	३९११२
आवरण	७०८१६	कथञ्चित् विज्ञानाभिन्नहेतुजत्व	१२९११३
आवरणत्व	७०६१९	करण	२२५११०, ३६२११५
आशय	१०९१११	करणस्फोट	७५६११३
आशुभ्रमणादिज्ञान	५२३१४	वतव्यताप्रतिपत्ति	५७४१४
आसगप्रलयस्थापित्	१८९११६	कतृत्वसामग्री	९९१४

कर्म	१०९११०; ५७४१३; ८०७१४	गोपत्व	७१११
कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्व	१७५१२	ग्राह्यग्राहकत्वंप्रभुत्व	१३३११०
कर्मनोकर्म	८६८१५	पटाद्युभाव	४४४११८
कर्मनोकर्मदानलक्षण आहार	८५६१५	चत्रादिव्यापारत्वंपर्यानुपपन्न	७०९११४
कर्मपदार्थ	२७९११३	चक्षुरादिगत	१९७७२१
कर्मशब्द	८०५११०	चिच्छात्रारपरिणामिग्यप्रतिसक्रमा	८१४११२
कर्मव अभिप्रतार्थप्रसाधकत्वाद् विधि	५९११०१	चिच्छायागन्धद्रव्यनि	१९२१५
कल्पना	४७११५	चित्र	१२४११०
कवलाहार	८५११२२	चित्रज्ञान १११८; ५६१२६; १३०१२१; ३८१११२	४१५११५
कामधातु	३९२१९	चित्रज्ञानरूपता	६२०११८
कामपीडाग्नोदार्थ कामुकादिस्वीकार	८७४११९	चित्रज्ञानादि	४१५१६
कारक	४२१२	चित्रप्रतिभासा	१२६११
कारकव्यापार	७०९११२	चित्ररूपप्रतिपत्ति	२२९११४
कारकसाधत्व	३३११०	चित्राकारवैज्ञान	४१४११६
कारणानुमान	४६२१३	चित्राकारवैज्ञानवेदनवत्	३०७१२२
कार्यत्व	३६२१२६	चित्राङ्गनसिद्धि	१२६११३
कार्यप्रेरणयो सम्बन्ध	५८४१४	चित्रैकज्ञान	६१८११०
कार्यसहिता प्रेरणा	५८३११०	चिन्तामयी	८३९१५
कार्यानुपलम्भ	९१११८	चतस्यप्रभव	८५०१०३
कालक्रम	१५११२१, २३	चोदना	५५११३
कालद्रव्य	२५१११	छाया	६६७११०; ६६९१४; ६७२१६
कालाकासादि	४४०१४	छिन्नमूलत्व	७२२१९; ७२९१८
कालानु	२५४१५	जराभरण	३९११२
कृतवत्त्व	३७६१४	जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्व	२३३११७
कृतकृत्यता	८२८१२१	जाग्रदनुपप्लावस्था	८४७१००
कृतनाश अदृताभ्यागमदोष	६११६	जाग्रद्विज्ञान	६१८११२
कृतमिति प्रत्ययविषयत्व	१०११५	जाति	३३९११८; ३९१११
केवलव्यतिरेक्यनुमान	२१४११०	जानिसाध्य	८०५१७
केदादिविबुद्धपभाववत्	८५७१२०	जानि सङ्घातवतिनी	७४०१११
क्रम	१५११२०; ४४५११५	जात्यन्तरत्व	३६९१३
क्रमयोग्यत्व	३५७१८; ३८०१८	जिज्ञाना	३३७११
क्रमयोग्यताभ्यामर्थक्रियाकारित्व	८१३	जिन	५२११११
क्रमाक्रमानेकान्त	८०६१९	जीर्णकूपप्रासादादिवत्त्व १००१७; ७३११५; १३७१२२	१३७१२२
क्रमानेकान्त	३७२१२	ज्ञातृत्वविधिष्टस्यार्थस्य	१७८१२६
क्रमो वाक्यम्	७४११५	ज्ञातृव्यापार	४२१२१
क्रियाविशेषनिबन्धन ब्राह्मणत्व	७७८१२२	ज्ञातृत्व (निग्रह)	३११११५
क्षणक्षयस्वर्गप्रापणसामर्थ्यादि	८८४१२	ज्ञान	१८९११४
गन्धादिस्फोट	७५६१६, १०	ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेक	६६६११६
गवादय शब्दा साधव	७५७१६	ज्ञानान्तरवेद्यत्व	१८१११५, १६
गव्यादि	७५७१७	ज्ञापक	५४११३
गव्यादिशब्द	७६२१३	ज्ञेयस्य (निग्रह)	३११११४
गुण	२७३१२	तज्जन्म	६७७११
गुणपदार्थ	२७२११७	तत्कारणविरुद्धविधि	९२११५
गुणपुरुषान्तरदर्शन	८१६१३	तत्त्वितय	६४५१२
गुणवान् शब्द	२४३१६	तत्त्वज्ञानसरक्षण	३१८११५
गुणशब्द	८०५११०	तत्त्वसृष्टि	३५२१६; ३५५१८
गुणत्व	२७४११७, २७८१३	तत्त्वसृष्टिप्रक्रिया	३५८११७
गौ-भावी-गौणी-गोपोतलिकेत्यादय	७६७१५	तत्त्वाध्यवसायसरक्षणार्थत्व	३३८१२२
गोशब्दलिपिबुद्धि	७१६११७	तत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वसमास	३५९११६
गोण	३९९११३		

तत्समुदायो नियोग	५८४१७	नटभटचरुटचर्मकारादि	७६७११४
तथागततादि	५८७११३	नररचितरचनावशिष्ट	७३७१११
तथोपपत्ति	४२३११३	नानासमवाय	३०२११३
तदतद्रूपहेतुज	१२६११८	नामरूप	३९०१७
तदध्यवसाय	६४५११	निक्षेपमाला	८८०१११
तदाकारार्पणक्षम	१६५११८	निग्रहबुद्धि	३१७११२, ३३८१४
तदित्युल्लेखित्व	४०७१२	नित्यशब्द	७०११४
तदुत्पत्ति	६४४१११	नित्यसम्बन्ध	५४७१४, ५४९१११
तद्वितोत्पत्ति	३६४११५	निमित्तकारणत्रियानुविधान	४५९११
तद्वयवसिति	६७७११	निमित्तान्तर	८०४११६
तद्विधापकविरुद्ध	९२११०	नियोग	५७४११, ५८२११७
तद्विरुद्धकार्यविधि	९२११९	निराकाङ्क्षत्व	७३८१५
तद्विरोध्यन्तरानुमान	४६२१४	निरास्रवचिन्तनतत्पुत्तिलक्षणा	८४४११६
तपस्	८४७१८	निरूपण	३९५१५, ७
तमस्	६२७१३; ६६९१५, ६७२१६	निर्विकल्पक	४५१२३, ४६११
तर्क	४२०११	निर्विकल्पेत राकारैकविकल्पवत्	४१४११७
तात्पर्यशक्ति	५०८१३	निवारणबुद्धि	३१७११३
तावाम्य	३५९११९, ४४६१७	निश्चय आरोपमनसो	२०५१२१
तादात्म्यतदुत्पत्ति	४४४११०	निश्चितत्वभ्यापि रूपान्तरस्य	४४१११४
तादात्विकनिमित्तत्व	७००११०	नैर्घृण्याद्युपालम्भ	१४८११३
तादात्विकमुखसाधन	८४२१२	नैयायिकानुमान	४६०१२०
ताद्रूप्य	६७७११	नैरात्म्यदर्शन	८४५१८
ताप-शोष उपप्लम्भ-उद्वगादि	३५०१२२	नैरात्म्याभ्यासादिलक्षण	८३९११०, ८४०१२
तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्तनमान	५७४१२	पक्ष	४३५१९
तृतीयस्थानसकान्ति	६८५११२	पक्षधर्मत्वसहिता	५१८११३
तृष्णा	३९१११	पक्षधर्मत्वादिलक्षणत्रयान्वितत्व	४३८११२
त्रिगुणत्व	३५३१२६	पक्षप्रतिपक्ष	३१६१५
त्रित्वाविसरूपाज्ञान	५०४११७	पञ्चरूपत्व	४४२११
त्रैलोक्यमान	४४०१२	पटाद्यवयविन्	२२६१२
त्र्यक्षपरिपूर्ण	५७८१५	पद	७९७१५
त्वगस्थिपिण्डितशोणितादिरिणामविशेष	३४३११४	पदादिस्फोट	७५४१११
दाक्षिण्य	५४७१७	पर	२८३१२०
दिक्	२५७११९	परतन्त्र	३५३१२२
दिग्द्रव्य	२५७१२८	परत्व	२७४११६
दु श्रवणत्व	७३०१४	परत्वापरत्व	२७७१२०
दुर्भणत्व	७३०१४	परमाणुत्व	२१५१११
दूरतिमिर	५४०१८	परमात्मस्वभावो नियोग	५८४११०
देशानम	१५११२१, २२	पररागादिवेदन	१६८११०
देशद्रव्य	२५९१९	परलोकाभाव	३४३११६
देशादिविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव	४७११८	परस्परपरिहारस्थिति	३७०१५
देशाद्यविप्रकृष्टार्थसम्बन्धभाव	४७११६	परस्परविरुद्धभावतानियोगादिव्याख्यान	७३५१४
द्रवत्व	२७४११८; २७८११५	परस्परसप्तकपालोत्पाद	४८०१९
द्रव्यत पुरुषवेद	८७०१४, ८७८११३	परापर	२५११६
द्रव्यशब्द	८०५१८	परापरग्योपपादायोगपञ्चचिरक्षिप्रप्रत्यय	२५११५
धर्म	३११	परापरव्यतिरेक	२५२११८
धर्माधर्म	२७९१७	परापेक्षास्वरूप	३०५११२
धर्मानर्भद्रव्य	३४०१४	परिमाण	२७४११
धारावाहिकप्रत्यक्ष	४०५११७	पर्युदासरूपोऽपोह	५५६११३
ध्वनि	७१०१५	पाटनपूरणप्रसङ्ग	५३६११०
नभ्यर्धसवित्तिकल	४६६११४	पादस्फोट	१८०१००

पारतन्त्र्यलक्षण	३०५।१२	प्रवर्तना	५८९।९
पुंवेद वेदन्ता	८७८।२	प्रवर्तनामान	५८८।११
पुंवेदोदय	८७८।६	प्रवृत्त-निवृत्ताधिरास्त्वधर्म	८१७।१०
पुरुष एव नियोगः	५८४।२५	प्रवृत्ताधिकारत्व	८१७।१२
पुरुषेभ्यो हीनत्वात्	८७६।७	प्रवृत्तिनिवृत्तिसद्भाव	२६।१
पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टान्यवर्ण	७५०।२	प्रयत्नादिसामग्री	४७२।२
पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्ट	७५०।६	प्रसङ्गविषयं	१७३।१६
पृथक्त्व	२७४।१२	प्रसङ्गसाधन	२२४।११
पृथग्गतित्व	२९८।८	प्रसङ्गरूप	५५६।१८
प्रकाशगत	१९७।२२	प्रमाद-लाघव-उद्धर्ष-प्रीत्यादि	३५०।२२
प्रकृत्यमाणत्व	२३६।१५, ८११।१५; ८१२।१; ८५८।१७	प्रसिद्धार्थस्याति	६१।१२
प्रतिकर्मव्यवस्था	१६६।११	प्राङ्गण	१९७।८
प्रतिज्ञाप्रयोग	४३६।९	प्राकृत	७६४।६
प्रतिज्ञार्थकदेशत्वप्रसङ्ग	४९१।८	प्राकृतसन्देह	७६३।२१
प्रतिनियतव्यञ्जकव्यञ्जघ	७०९।२	प्रागनाव	४६७।१०
प्रतिनियतावरणाचार्यं	७०९।२	प्रागभावाद्यवान्तरभेद	४८२।६
प्रतिपक्षभावनानिवर्त्यत्व	८५३।१३	प्राकृत्य	४५२।२
प्रतिपक्षप्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीति	७८०।१५	प्राणादिप्राण	८५।११
प्रतिबन्ध	१६३।२६	प्राप्यकारि	७५।१२
प्रतिबिम्ब	४५।१२; ४५४।३, ९	प्रामाण्य	१९५।१३
प्रतिभा	५७४।५, ५९५।१४	प्राशस्त्याभिधान	५७८।१
प्रतियोगिग्रहणमव्यपेक्ष	४२४।१५	प्रेरणा	५८३।५
प्रतियोगिता	४७६।७	प्रेरणासहितं कार्यम्	५८३।७
प्रतीत्यसमुत्पाद	३९०।१	प्रेरणाध्येषणाभ्यनुज्ञालक्षण	५८८।३
प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति	५०६।४; ५१४।१०	प्रेयादि	५७४।१, ५८८।१०
प्रत्यक्षानुपलम्भ	४२६।१	फल	५७४।२; ५८९।९
प्रत्यक्षाभ	५२४।२४	फलका द्वादि	४६०।६
प्रत्यभिज्ञा	८११।८	फलाभिलाष	५७४।३; ५९१।१४
प्रत्ययात्मक	६३६।९	बहिर्व्याप्ति	४४।१२
प्रत्यवनाशिकी	१४०।२	बह्नादिभिः द्वादशप्रभेदैः	१७४।१४
प्रत्यवस्थापन	३२३।१	वाधितविषयत्व	४४२।५
प्रत्यासत्ति	३०६।२४	बाह्याभ्यन्तरनिर्धन्यप्रतिपत्त्यन्त	८७२।१५
प्रत्यासन्नतिमिर	५४०।८	बिम्बरूप	४५१।१३
प्रदीपादिरकोट	७५६।२	बीजप्ररोहणसरक्षण	३१९।२
प्रघ्न	३५०।८	बुद्धिमत्कर्तृपूर्वक	९७।१६
प्रधान-ईश्वरादिकारकनिरपेक्ष	३९०।४	बुद्धिविषयम्	७४।१६
प्रधानपरिणाम	१८९।१३	बुद्धयध्यवसित	१९०।६
प्रध्वसाभावलक्षण	४६७।१०	बुद्ध्यादिविज्ञेयगुणोच्छेदरूपत्व	८२३।१९
प्रदोष	६१८।१२	बुद्ध्यात्	५८६।१९
प्रमात्तादि	८५९।१०	बुभुक्षा	८६०।६
प्रमाण	४८।१०	ब्राह्मण्यजाति	७६७।१८; ७७१।१
प्रमाणत्रयसम्पाद्य	५४५।४	भक्ति	५७४।५; ५९७।३
प्रमाणफलव्यवस्था	१९५।६	भव	३९१।१
प्रमानुदोष	१९६।१९	भक्तिव्यताप्रत्ययरूपता	११६।१२
प्रमोष	५९।९	भावतः वेदवयान्यतमनेवाधिरुद्ध	८७८।१७
प्रयत्न	५७४।५	भावना	५७४।१
प्रयाजादिभ्यारार	५७८।७	भावनाख्यसत्कार	२७५।५
प्रयोजकसन्देश्व्युदासार्थं	४२९।३	भावनाधर्मभेद	५४८।२
प्रयोजन	३३७।२	भावनारूप	२७९।३
		भावितरणादि	६१८।१२

भुक्ति	८५२।१	रूपघातु	३९२।९
भूतकोटि	१३१।११	रूपसंश्लेषस्वभाव	३०५।१२
भूयोदर्शनावगतान्वयव्यतिरेकसहकृतेन्द्रिय- प्रभववा प्रत्यक्षम्	४२८।८	रूपालोकाद्यनेकवारणकलाप	३८४।१४
भेद	३६५।१८; ३८०।८	लक्षणा	५६८।१
भेदव्यवहार	१५४।५	लक्षितलक्षणा	५६८।५
भेदाग्रह	५४।५	लक्ष्यनिर्देश	४३७।१०
भोग्यरूपो नियोग	५८४।१६	लक्ष्यवेधप्रवीणलक्षण	४३७।७
मध्यक्षगस्वभाव	१३०।२२	लिङ्ग	३५३।२०; ४२७।६
मध्यमाप्रतिपत्	१३१।१०	लिङ्गलोटव्यप्रत्ययान्त	५७४।१४
मध्यमाप्रतिपत्ति	१३१।८	वक्तृत्वादि	९३।१
मध्यादिज्ञानपरिग्रह	५०४।१६	वध्यघातानुमान	४६२।७
मनस्	३५२।३	वस्त्वश	३६४।२४
मन प्रत्यक्ष	४७।१३	वस्त्वसकरसिद्धि	४६७।१०
मनोगतदोष	१९७।२२	वाक्य	७९७।५
मनोदोष	१९६।१९	वागुरूपता	१४०।२
मनोद्रव्य	२६८।१८	वाच्यवाचकभाव	२९५।३
मनोवृत्ति	४०।६	वाच्यसवित्यपेक्षण	४९८।१७
महान्	५५०।४	वास्तवासकभावामभव	१८।३
महामत्स्यसाध्यमुक्तिहेतुरत्नत्रयसमप्रता	८७६।२३	विकल्पमात्राधीतजनम	५३७।१५
मातृकास्फोट	७६६।१४	विकल्पानुविद्ध	५२५।१२
मातृपितृज	३५२।११	विकारित्व	१०१।६
मात्रामात्रिक-कार्य-विरोधि-सहचारि-स्वस्वामि- वध्यघातकादि-सप्तविधानुमान	४६२।१	विचार	३९५।४
मात्रामात्रिकानुमान	४६२।२	विजातीयव्यावृत्ति	२८९।५
माध्यमिक	१२७।८; २०६।१६	विज्ञान	३९०।६
मार्ग	३९१।१७	विज्ञानाभिन्नहेतुज	१२६।९
मीमांसकाभिमतार्थापत्ति	५०५।२	वितर्क	३९५।३
मीमांसकाभ्युपगतमुपमानम्	४९६।३	विधि	५७३।२०; ५९५।१४
मीमांसकोपवर्णितापमान	४९७।१६	विधि	६४१।२३
मुख	३९९।१३	विधूतकल्पनाजालता	१६८।१५
मुखकाल	२५३।२५	विपक्षवाधकप्रमाण	४४५।११
मुखत्व	३९९।१२	विपरीतख्याति	६४।१७
मेयरूपता	१६६।१५	विपर्ययानध्यवसत्ययो	३३६।२४
मोक्ष	८२३।१७	विभाग	२७४।१८; २७७।१४
यतिगृहिदेववन्द्यपदानहे	८७५।१७	विभिन्नकर्तृकत्व	२२३।९
यन्त्रारूढनियोगाभिधान	५८५।१४	विभिन्नपरिमाणत्व	२२३।१२
यन्त्रारूढो नियोग	५८४।१३	विभिन्नशक्तिवत्व	२२३।११
याजनाध्यापनप्रतिग्रहग्रहादि	७७३।१६	विरुद्धधर्माध्यास	२२३।७
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्ग	२६९।६	विरुद्धविधि	९२।४
युगपन्निखिलद्रव्यावगाहकार्य	२५०।१	विरुद्धाव्यभिचारिन्	६९।५
योगिप्रत्यक्ष	४७।१४; ४३२।१६	विरोध	३६०।८; ३६९।३; ३७०।३
योग्यता	३१।२०	विरोधगति	८५३।४
योग्यतालक्षणसम्बन्ध	१२१।२४; ५३८।७	विवक्षा	५३१।१०; ५३५।१५; ७८०।२३
योग्यद्य	२२०।११	विवेकख्याति	८१६।१; ८२१।२०
रक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यास	२२८।१८	विवेकाख्याति	५२।१३
रज.	६२७।३	विवेकानुपलम्भ	८१७।१
रज्जुबन्धादि	३६३।७	विशिष्टदण्डधादिप्रत्यय	४३१।१२
राजा	४९९।१३	विशिष्टदण्डधादिप्रत्ययवत्	४२९।८
रिरसा	८६०।९	विशिष्टा सङ्कृतिः	७११।७
		विशेषणभाव	३०४।१
		विशेषणविशेष्यभाव	३०१।५

विशेषपदार्थं	२९२।१	श्रुतज्ञान	५२९।२२
विशेषविच्छिन्नानुमान	२९६।१२	श्रुतमयी	८३९।५
विषमगतय	८६७।८	श्रुतार्थापत्ति	५०७।१२; ५१५।१५
विषय	३५३।२८	श्रेय साधनता	५९३।११
विषयगतदोष	१९७।२१	श्रेय साधनत्वास्वधर्म	५७४।८
विषयदोष	१९६।२०	श्रेय साधनत्वास्वधर्मविगम	५९३।६
विषयविषयिभाव	२९५।४	श्रोत्र	२४८।२६
विषयाकारविवेक	४८४।१	श्रोत्रसंस्कार	७११।७
विषयान्ध	३९३।२५	श्रोत्रसंस्कार	८५।१६
विषयालोचनसङ्कल्पनाभिमननाघनेकस्वभाववत्त्व	८२१।२	पद ( पदार्थ )	२१४।१
विषादद्वैतव्यवीभक्तसगौरव-आवरणादि	३५१।१	पदप्रकार ( सन्निकर्ष )	२८।२०
वीतराग	३१८।१५	पङ्खापत्ति	२३३।१३
वृद्धव्यवहार	७५७।८	सत्या	२७३।१२
वंग गुण	२७५।३; २७९।२	सजानजिसम्बन्धप्रतिपत्ति	५००।२
वेदना	३९०।७	मज्ञासजिसम्बन्धप्रतिपत्तिफल	४९६।१०
वेदाध्ययन	७२२।१७	सयुक्तविशेषणभाव	४६३।१७
वैराग्य	८४६।२३	सयुक्तसयोगात्प्रीयस्त्वलक्षण	७७६।१७
व्यक्त	३५३।१	सयोग	२७४।१४; २७७।१२
व्यतिकर	३६०।१४	सयोगिद्रव्य	८०५।८
व्यतिरेक	२५१।६	सयोगिसमवायिलिङ्ग	४६५।१४
व्यधिकरणासिद्ध	४९१।१०	मवादेवज्ञान	१९६।४
व्यवहार	६३३।८	सशय	३३७।२; ३६०।७; ३६८।२०
व्यवहारकाल	२५३।२५	सशयव्युदास	३३७।२
व्याकरणप्रामाण्य	७६०।१७	सशयादिदोषोपनिषात	३६०।६
व्यापक	४२३।५	सरकार	३९०।६
व्यापकानुपलम्भ	९१।२१	सकलानुन्यता	१३१।८; ३९८।१६
व्याप्य	४२३।५	सङ्कर	२६०।१२
व्यामोह	२११।१०	सङ्कलन	४९४।५
व्युत्पत्तिनिमित्त	२६।२	सङ्कृत	५४७।२
शक्ति	३५०।१४, ५०६।८	सङ्घात	७४०।१
शक्तिसंकरपक्ष	८४७।११	सङ्घवहारांनुदय	४७९।१०; ४८०।१
शक्यप्राप्ति	३३७।२	सन्तानशब्द	६।१५; ८०३।२१
शक्यविवेचन	१२६।१, २	सन्तानोच्छेद	६१६।६
शब्द	५७३।२३	सपक्षविपक्षव्यवस्था	४३८।५
शब्दनित्यत्व	६९८।१	समवायिपदार्थ	२९४।१६
शब्दप्रधान	७९३।१७	समवायिद्रव्य	८०५।८
शब्दभावना	५७९।२	समुदय	३९१।१६
शब्दसंस्कार	७११।७, १३	समुद्राश	३६४।२५
शब्दस्वभावब्रह्मसद्भाव	१३९।१९	समुद्रेकदेश	३६४।२३
शब्दाकारानुस्यूत	१४१।१८	सम्पूर्णचित्तनालाभ	२०२।१८
शब्दात्मक	६३४।१०	सम्बन्ध	३०५।१०
शब्दानुविद्ध	१४०।८	सम्बन्धसम्बन्ध	४३२।९, १०
शब्दार्थसम्बन्ध	५५०।१८	सर्वग्रहणप्रसङ्ग	२३०।१३
शरीरपरिमाणत्व	२६१।६	सर्वधर्मनिरात्मता	१३१।८, १०
शास्त्रेऽनियतकथाया वा	४३८।८	सर्वार्थविज्ञानाहित	७९८।१५
शुद्धपरिणापसङ्क्रम	८२१।५	सर्वविमभापारमक	२।४
शुद्धकार्य ( नियाग )	५८३।३	सर्वज्ञाविनाभूत	८६।२२
श्रावणत्व	४४०।११	सर्वविमसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य	९३।१५, ४४२।१०
श्रुत	५२९।२१, ५३०।६	सर्विकल्पक	४५।२३, ४६।१
		सर्ववदक्षिणविपर्ययसि	४५७।११



सहकारिशक्ति	१५९११	स्नेह	२७५१२
सहचरानुमान	४६२१५	स्नेहगुण	२७८११९
सहानवस्थालक्षण	३७०१५	स्पर्श	३९०१७
सहोपलम्भनियम	११८११६; १२३११	स्फोट	७४५१११, ७५४११३
साकल्य	३४११	स्मृति	४०५११०
साक्षिवादि	८१३१४	स्मृतिप्रमोष	५४१६, १२
सादृश्यविशिष्टस्य गोपिण्डस्य	४९०१९	स्मृत्याभास	४१०१६
सादृश्यव्यवहार	४९३११७	स्याच्छब्द	३१८
साधकतम	२९११०	स्यात्कार	६९४१११
साधनवाक्य	७३८११	स्वकारणसत्तासमवाय	१०११५, २२०११२
सागुतन्त्र	५५०११९	स्वपरिणामादल्पपरिमाणकारणारव्यत्वनियम	
सामग्री	३३१८		२१५११७
सामानाधिकरण्य	५६४१३	स्वदर्शनात् स्वामिनोऽनुमानम्	४६२१६
सामान्य	२८३११७	स्वभावहेतुद्वय	४४५१९
सामान्यमात्रे सङ्केत	५६७१८	स्वभ्यस्ते विषये	२०१११७
सामान्यविशेष	३६९१८	स्वरूपप्रयुक्तस्याव्यभिचारस्य	४२२१९
सारूप्य	१६९११, २०५११०, ६४४२११	स्वरूपशक्ति	१५९११
सावयव	३५३१२२	स्वसवेदन	४७११०
सावयवत्व	१०११५	स्वात्मनि क्रियाविरोधात्	१८२११४, १८७१०
सास्रवचित्तसतान	८३९१९	हस	४९९११३
सास्रवचित्तसतानलक्षणससारनिवृत्तिरूपमोक्ष	८३९१६	हस्तसत्ताद	५४२१६
मुनिश्चितासभद्राधकप्रमाण	८९१८	हस्तस्फोट	७५६११२
सुपुत्ताद्यवस्था	८४७११७, ८४८१६, १७	हिता	५९३११३
सोमराजा	७२६१४	हीनगर्भस्थानशरीरविषयादि	८०९११२
स्त्रीनिर्वाण	८६५११३, ८७०११	हीनसत्त्व	८६९१८
स्थासकोष्कमूलादि	७९२११९	हीनस्थानारिग्रहवत्त्व	८१०१२०
स्थितिस्थापक	२७५१७, २७९१४	हेतुमत्	३५३११०
स्निग्धरूक्षत्वलक्षणप्रकारान्तर	२३३१११		

## §१२. मूल-टिप्परायुपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम् ।

प्रकलजुष० परि०—अकलजुषग्रन्थप्रपारिशिष्टम् [सिधो जैन सीरिज कलकत्ता] ७८९  
 अद्भयवज्रसं०—अद्भयवज्रसग्रह [गायकवाड सीरिज बडोदा] ४०९  
 अद्भयवज्रसं० तत्त्ववर्णा०—अद्भयवज्रसग्रहृतत्ववर्णावली [गायकव सीरिज बडोदा] १२५.  
 अनागारध०—अनागारधर्माभूतम् [माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ० बम्बई] ७९९.  
 अनुयोगद्वारा० } अनुयोगद्वारसूत्रम् [आगमोदयसमिति  
 अनु० सू० } सूत्र] २४२, ६०५, ६०९, ६२२, ६३२,  
 ६३६-६३८, ७८२, ७९९-८०१, ८०४-८०७  
 अनेकान्तवाद० } अनेकान्तवाद प्रवेश [हेमचन्द्राचार्य  
 अनेकान्तप्र० } ग्रन्थावली पाठन] ५३७, ६२०  
 अनेकान्तवादप्र० } द्वि०—अनेकान्तवादप्रवेशटिप्पणम्  
 [हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली पाठन] ३६९.

अनेकान्तजय० } अनेकान्तजयपताका [यशोविजय-  
 अनेकान्त० प० } ग्रन्थमाला काशी] ५१, १४०,  
 ५२६, ५३४, ५३६, ५३७, ५४०, ५४१, ५५३-  
 ५५५, ५५९, ५६०, ५६४, ६२०, ६२१, ६४०, ८३८  
 अन्ययो०—अन्ययोगव्यवच्छेदत्रिंशत्तिका स्याद्वाद-  
 मन्त्रयन्तर्गता [रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई]  
 ५६६  
 अपोहसि०—अपोहसिद्धि [एशियाटिक सोसाइटी  
 कलकत्ता] ५५४  
 अभि० आलोक०—अभिसममालोकालङ्कार [गायक-  
 वाड सीरिज बडोदा] ५, १२४, १२६, ३८२,  
 ३८४, ५२४, ८३८  
 अभि० कोश } अभिधर्मकोश [ज्ञानमण्डल प्रेस  
 अभिध० } काशी] ८३, १२०, २७२, ३९१,  
 ३९२, ३९५, ६०२.

अभिध० व्या०-अभिधर्मकोशस्य नालन्दाख्या व्याख्या  
[ ज्ञानमण्डल प्रेस काशी ] ३१२, ३१४, ३१५.  
अमरको०-अमरकोश. [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ]  
१९९, २०२, ७३८, ८०२.  
अल० चि०-अलङ्कारचिन्तामणिः [ जैनेन्द्र प्रेस  
कोल्हापुर ] १, ५९६.  
अवयवविनिरा०-अवयवविनिराकरणम् [ एशियाटिक  
सोसाइटी कलकत्ता ] २२८, २३१.  
अर्थसं०-अर्थसंग्रहः [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ] ८७,  
५७३, ५७७-५७९.  
अष्टश०-अष्टशती अष्टसहस्र्या मुद्रिता [ निर्णयसागर  
प्रेस बम्बई ] ६, १०, १८, २३, ४९, ८९,  
१०५, १०६, १०९, ११५, ११९, १२३, १२४,  
१३६, १३९, १५५, २३३, २४३, ३६६, ३६७,  
३७१, ३७४, ३८१, ३८८, ४२७, ४३८, ४५४,  
४६२, ४८०, ४८७, ५०३, ५०४, ५२२, ५६५,  
५६८, ६०१, ६०२, ६०४, ६०५, ६१६, ६७६,  
६७७, ६८०-६८२, ७०३, ७०६, ७०८, ७१०,  
७२०, ७३०, ७३१, ७३६, ७३८, ७३९, ८०९.  
अष्टसह०-अष्टसहस्री [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ]  
६, १०, ११, १७, १८, १९, २२, २३, २९,  
४६, ४९, ५३, ७४, ८९, ९७, १०५, १०६,  
१०९, ११५, ११९, १२३, १-४, १२६, १२७,  
१२९-१३६, १३६, १३८, १३९, १४१, १४७,  
१५१, १५५, २१६, २२५, २३०, २३३, २३६,  
२४३, ३०३, ३०५, ३०७, ३५७, ३६६, ३६७,  
३७१, ३७४, ३७५, ३८१, ३८२, ३८८, ३९१,  
३९८, ४००, ४०२, ४१७, ४२७, ४२९, ४३८,  
४५४, ४६२, ४८०, ४८७, ५०३, ५०४, ५२२,  
५३४, ५४०, ५५१, ५५४, ५६५, ५६८, ५७७,  
५७९, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५-५८७, ६०१-  
६०५, ६१६, ६२०, ६२३, ६२८, ६४०, ६७६,  
६७७, ६८०-६८२, ६८५, ७०३, ७०६, ७०८-  
७१०, ७२०, ७२३, ७२६, ७३०, ७३१, ७३६,  
७३८-७४३, ७८०, ७९१, ८०९, ८११, ८१४,  
८२७, ८३३, ८४५.  
अष्टसह० यशो० } अष्टसहस्रीविवरण यशोविजय-  
अष्टसह० वि० } कृतम् [ जैनग्रन्थप्रकाशक सभा  
राजनगर ] ५८३, ५८४, ६८७.  
आत्मत० } आत्मतत्त्वविवेकः [ जीवानन्द विद्या-  
आत्मतत्त्ववि० } सागर कलकत्ता ] ४४३, ८४७.  
आत्मानु०-आत्मानुपासनम् प्रथमगुण्डकान्तर्गतम्  
[ प्र० पन्नालाल जैन भद्रेनी काशी ] ३९३.  
आदिपु०-आदिपुराणम् [ जैनसिद्धान्त प्रकाशिनो सस्था  
कलकत्ता ] ७३८  
आध्यात्मिक०-आध्यात्मिकमत्तपरीक्षा यशोविजय-  
ग्रन्थमालान्तर्गता [ जैनधर्मप्रसारक सभा भाव-  
नगर ] ८५२, ८५३.  
आप्तप०-आप्तपरीक्षा [ जैनसिद्धान्तप्रकाशिनो सस्था  
कलकत्ता ] ४, ५, १९, ८९, ९४, ९७, १०९,

११९, १२४, १३३, १५२, १८२, १८७, १८८,  
१९०, १९१, २३७, २९५, २९७, २९८, ३०२,  
३६४, ३६५, ४९०, ६२४, ६२६, ६४०, ६८२,  
७३४, ७३५, ७७६, ८०९-८१३, ८१७-८१९,  
८३९, ८४२.

आप्तमी०-आप्तमीमांसा [ जैनसिद्धान्त प्रकाशिनो  
सस्था कलकत्ता ] १५, १६, २२, २३, १२४,  
१३९, १५५, २०९, २३६, ३०५, ३५७, ३६६,  
३७४, ३७५, ३८२, ४०१, ५२२, ६००, ६०५,  
६०६, ६२३, ६९७, ८१२, ८४३.

आवश्यकनि०-आवश्यकनिर्युक्तिः [ आगमोदय समिति  
सूरत ] ८२, ११५, १७३, ६०९, ६२२, ६३२;  
६३६, ६३८, ७८२, ७९९.

आव० नि० मलयग०-आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरि-  
टीका [ आगमोदय समिति सूरत ] ६०५, ६०६,  
६७४, ६८६, ६८८, ६९१, ७९३, ८००.

आव० नि० हरि०-आवश्यकनिर्युक्तिहरिभद्रोपटीका  
[ आगमोदय समिति सूरत ] १७३.

आ० वि०-आदर्शोपस्तकान्तर्गता वृद्धिता विवृति. ६३७.  
आर्यरत्नावली-माध्यमिकवृत्तो निर्दिष्टा । ४८४.

आलापपद्धति-देवसेनकृता नयचक्रसंग्रहान्तर्गता  
[ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ] २३, ६०६,  
६०७.

इष्टोप० टी०-इष्टोपदेशटीका [ माणिकचन्द्र ग्रन्थ-  
माला बम्बई ] ६७४.

उत्तरपु०-उत्तरपुराणम् [ जैनसिद्धान्त प्रकाशिनो  
सस्था कलकत्ता ] ७७३.

उत्तरा०-उत्तराध्ययनसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
सूरत ] ६३२, ६४६, ६६९, ७७८, ७९१,  
८३०.

उत्तराध्यय० पाइयटीका-उत्तराध्ययनसूत्रस्य शाल्या-  
चार्यविरचिता टीका [ आगमोदय समिति सूरत ]  
८६५.

उपायहृदय-उपायहृदयम् [ गायकबाड सीरिज् बड़ोदा ]  
३१२, ३२१-३२६, ३२९.

श्रृग० पुरुष०-श्रृगदेवस्य पुरुषसूक्तम् [ आनन्दाश्रम  
सीरिज् पूना ] ७७०.

श्लोघि० टी०-श्लोघनिर्युक्तिटीका [ आगमोदय  
समिति सूरत ] ८७६.

कठोप०-कठोपनिषत् [ निर्णयसागरप्रेस बम्बई ] १४७.  
कर्मप्र०-कर्मग्रन्थाः [ आत्मानन्दसभा भावनगर ] ८०१.  
कर्मप्र० टी०-कर्मग्रन्थटीका [ आत्मानन्दसभा भाव-  
नगर ] ६७४.

कल्पसू०-कल्पसूत्रम् [ जैन साहित्यसंघोषक ग्रन्थमाला  
अहमदाबाद ] ८६८.

कमु०-कमुरोपनिषत् [ निर्णयसागरप्रेस बम्बई ] १४९.  
कात्यायनवार्तिक-कात्यायनप्रणीतं वार्तिकम् ६.

कावम्बरी-[ निर्णयसागरप्रेस बम्बई ] ११३.  
कालसो०-कालसोत्रप्रकाशः [ देवचन्द्र लालभाई  
पंडे सूरत ] ८५५.

मासा [गायकवाड सीरिज बडोदा]

काशः [ बम्बई युनि० सीरिज ]  
६००.

नान्यप्रकाशटीका [ बम्बई युनि०  
१६९३

नान्यनुशासनम् [ निर्णयसागर प्रेस  
१२२, ५६७.

नमि०-रुद्रदकृतकाव्यालङ्कारस्य नमि  
चिंता टीका [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ]

मासाश्लोकवातिकस्य सुचरितमिश्रवि  
काशिका टीका [ त्रिवेन्द्रम् ] ६९८,

७६०.

मंपुराणम् ६३४.

-केवलभूषितप्रकरणम् [ जैनसाहित्य सशो  
त्रे मुद्रितम् ] ८५२-८५५, ८५८

-कौशीतकिब्राह्मणम् १४८

ध्याय-ज्ञानश्रीकृत भिक्षुराहुलसाहृत्यायन-  
५५२

सि०-क्षणभङ्गसिद्धि [ एशियाटिक सो०  
कलकत्ता ] ९, ४४५, ४७६.

१३०-खण्डनखण्डखाद्यम् [ लाजरस क० काशी ]  
१३७, ४१२.

० य०-गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्ति [ आगमोदय  
समिति सूरत ] ८७६

० त्ववि०-गश्तत्त्वविनिश्चय [ आरमानन्द सभा  
भावनगर ] ६०५, ६८६-६८८, ६९१

० सत्र-गुह्यसूत्रम्, बोधिचर्यावतारपञ्जिकायामुद्धृतम्  
८४०

० कर्मका०-गोमटसारकर्मकाण्डम् [ रायचन्द्र  
शास्त्रमाला बम्बई ] ८५९, ८६२, ८७१.

० गो जीव०-गोमटसारजीवकाण्डम् [ रायचन्द्रशास्त्र  
माला बम्बई ] ८०१, ८५६, ८५९, ८७४,  
८७७.

गोडपादभा०-सारयकारिकागोडपादभाष्यम् [ चोखम्बा  
सीरिज काशी ] १८९, १९०, ८१३, ८१४.

चतु० श०-चतु शतकम् [ विश्वभारती ग्रन्थमाला  
शान्तिनिकेतन ] १६८१, ८२, ८६, ८१९, ८३९.

चतुशतकवृ०-चतु शतकवृत्ति [ विश्वभारती ग्रन्थ-  
माला शान्तिनिकेतन ] ७९.

चन्द्रप्रभव०-चन्द्रप्रभवचरितम् [ निर्णयसागर प्रेस  
बम्बई ] १८६.

चरकस०-चरकसंहिता [ निर्णयसागर प्रेस बम्बई ]  
२५, ३०९, ३१०, ३१२-३१४, ३१६, ३१८-  
३२१ ३२५-३२७, ३३०-३३३, ३३७, ५०३.

चित्मुखी-तत्त्वप्रदीपिका चित्मुखी [ निर्णयसागर प्रेस  
बम्बई ] ६३, २३७, २८५, २९२, ४१५,  
४२०, ८२९, ४६६, ५३७, ५७०, ६६८, ६६९,  
८२४, ८२५, ८२७, ८३१, ८३२.

धनखडा-छनखडागमः [ जैनसाहित्योद्धारक फड  
अमरावती ] ८००, ८०१, ८५६.

छन्दोम०-छन्दोमञ्जरी [ जीवानन्द विद्यासागर  
कलकत्ता ] २७८

छान्वोग्यो०-छान्वोग्योपनिषत् [ निर्णयसागर प्रेस  
बम्बई ] १४७, ८२५, ८३०, ८३७

छान्वो० शा० भा०-छान्वोग्योपनिषत् शाङ्करभाष्यम्  
[ गीता प्रेस गोरखपुर ] ८२५.

जयध०-जयधवल्लाटीका, धवल्लाटीकाया प्रस्तावना-  
टिप्पणयो समुद्धृता ६०७, ६२२, ६३८

जयम०-सारयकारिकाया जयमङ्गलाटीका [ कलकत्ता ]  
६२७, ६२८, ८१३, ८१४.

जाबाल०-जाबालोपनिषत् [ निर्णयसागर बम्बई ]  
६३४.

जैनतर्कभा० } जैनतर्कभाषा [ सिधी जैन सीरिज  
जैनतर्कपरि० } कलकत्ता ] २३, ७४, ११६, १५८,  
जैनतर्कप० } ४०७, ४१०, ४११, ४१८, ४२२,  
४३५, ४४०, ४४५, ४५९, ४९०, ४९२ ५००,  
६१०, ६०१, २२२, ६३२, ६३६, ६३८, ६५०,  
६८६, ६८७, ७९३, ७९९, ८००, ८५४.

जैनतर्कवा०-जैनतर्कवातिकम् [ लाजरस क० काशी ]  
२०, २३-२५, ७४, १२६, ४६४, ४८९,  
५१३, ५४३.

जैनतर्कवा० दु०-जैनतर्कवातिकवृत्ति. [ लाजरस क०  
काशी ] ३६९, ४०७, ४०८, ४४०, ४७२.

जैनेन्द्रव्या०-जैनेन्द्रव्याकरणम् [ जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी  
संस्था कलकत्ता ] ४४९, ६०४, ६१७, ६४१, ७६६.

जैनेन्द्रप्र०-जैनेन्द्रप्रक्रिया प० वशीघरकृता [ सोलापुर ]  
६४१

जैमिनि०-जैमिनिसूत्रम् ५-३, ५४५, ५५१, ५६६,  
७०१, ७२२, ७३५, ७७७

जैमिनिव्यासमाला-[ चोखम्बासीरिज काशी ] ५७६,  
५७८, ५७९, ५८२, ७५७.

ज्ञानवि०-ज्ञानविन्दु यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गत  
[ जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर ] ८३८

ज्ञानसि०-ज्ञानसिद्धि चाल्डीपुत्र-यान्तर्गता [ गायक-  
वाड सीरिज बडोदा ] ५४७

ठाणागवि०-ठाणागवित्ति [ आगमोदय समिति सूरत ]  
८६३

तत्त्ववि०-तत्त्वचिन्तामणि. [ एशियाटिक सोसाइटी  
कलकत्ता ] ७१६.

तत्त्ववि० अनु०-तत्त्वचिन्तामणि-अनुमानग्रन्थ  
[ एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता ] ४२८, ५३९.

तत्त्ववि० अव०-तत्त्वचिन्तामणि-अवयवग्रन्थ [ एशि-  
याटिक सोसाइटी कलकत्ता ] २

तत्त्ववि० व्या०-तत्त्वचिन्तामणिव्याप्तिग्रन्थ ४१९

तत्त्ववि० शब्द०-तत्त्वचिन्तामणि शब्दग्रन्थ ७१३,  
७२०, २६, ७३६, ७५८, ७६१.

तत्त्ववि०-तत्त्वविन्दु [ अन्नमलय युनि० सीरिज ]  
६८९.

तत्त्वमी०-तत्त्वमीमासा साख्यसग्रहान्तर्गता [चौखम्बा सीरिज काशी] ८१६.

तत्त्वव्याया०-तत्त्वव्यायाध्यैदीपनम् साख्यसग्रहान्तर्गतम् [चौखम्बा सीरिज काशी] ११०.

तत्त्वसं०-तत्त्वसग्रहः [ गायकवाड सीरिज बड़ौदा ]  
 ७-१०, २०, २३, २५, ४६, ४८, ६८-७०,  
 ७३, ८६, ८७-९०, ९४, ९७, ९८, १०७-  
 १०९, ११२, ११३, ११७, ११८, १२२, १२५,  
 १४२, १४६, १४७, १०३, १५५, १६६, १६८,  
 १९३-१९६, १९८, २०१-२०३, २०५, २०८,  
 २२३-२२८, २३१, २४२, २५१, २५४, २५८,  
 २७५-२७७, २७९-२८१, २८३, २८४, २८७-  
 २८९, २९२-२९४, ३००, ३०१, ३४२, ३४३,  
 ३४६, ३५०, ३५४, ३५८, ३६०, ३६९, ३७३,  
 ३७४, ३७६-३७८, ३८०, ३९८, ४०७, ४३४,  
 ४३६, ४३९, ४४२, ४४४, ४४५, ४५२, ४५३,  
 ४६४, ४६६-४६८, ४८०, ४८९, ४९०, ४९२,  
 ४९३, ४९९, ५०४, ५०५, ५०८, ५१५, ५१६,  
 ५३१, ५३६, ५४३, ५४४, ५४९, ५५२, ५५४,  
 ५५७, ५६३, ६०१, ६२३, ६२६, ६२९, ६३६,  
 ६७५, ६७९, ६८०, ६९८, ७००, ७०२, ७०३,  
 ७०९, ७११, ७१२-७१७, ७२३, ७२९, ७३०,  
 ७३४-७३६, ७४९, ७५०, ७५१, ७५६, ७७०,  
 ७७३, ७७४, ८११, ८१९, ८३९, ८४८.

तत्त्वसं०-तत्त्वसग्रहपञ्जिका [ गायकवाड सीरिज बड़ौदा ] ६, ७, २३, ४६, ८२, ८३, ८६-९२, ९४, ९६, ९८, १०४, १०७, ११३, १२२, १२३, १३१, १४०-१४३, १४५, १४६, १५०, १५३, १८९, २०१-२०३, २१७, २२६, २२९, २३६, २७६, २८४, २८८, ३४१, ३४२, ३४४, ३४६, ३४७, ३५५-३५७, ३६४, ३७७, ३७८, ३८२, ३९०, ३९२, ४१०, ४१३, ४४४, ४५१-४५३, ४६४, ४६६-४६८, ४७५, ४९५, ५०२, ५०५, ५४३-५४५, ५४७, ५५१-५५७, ५९६, ६३३, ६३६, ६५८, ७००, ७०९, ७११, ७१३-७१५, ७३०, ७४९, ७५०, ८३९, ८४०, ८६८.

तत्त्वानु०-तत्त्वानुशामनम् [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ] ८०१.

तत्त्वार्थभा०-तत्त्वार्थार्थिगमभाष्यम् [ आर्ह त्रभाकर-कार्यालय पूना ] ३, २३, ११५, ११६, ११५, १७२, २५०, २५४, ५०४, ६०६, ६०९, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६-६३८, ६४७, ७८३, ७९९, ८००, ८६३, ८६८.

तत्त्वार्थभा० टी० } तत्त्वार्थभाष्यस्य मित्रमेनीय-  
 तत्त्वार्थभा० व्या० } व्याख्या [ देवचन्द्रालभाई  
 तत्त्वार्थमित्र० ] पद्यसूत्र ] ८३, २५४-२५६,  
 ३१९, ६०३, ६११, ४१८, ६५३, ६०६, ६०७,  
 ६१०, ६२२, ६३२, ६३६-६३८, ६०६-६०७,  
 ६८०, ६९६, ६९७, ७५४, ८०९, ८१२, ८२९, ८६८.

तत्त्वार्थराजवा० } तत्त्वार्थराजवातिकम् [ जैनसिद्धा-  
 राजवा० ] न्तप्रकाशिनी सस्था कलकत्ता ]

४, १४, २१-२३, २५-२७, ४६, ५१, ७८,  
 ८१-८३, ८६, ११०, ११५, ११६, १५८,  
 १६५, १७३, २३६, २४७, २५५, २५८, ३०३,  
 ३४१, ३५०, ३६८, ३६९, ३९१, ३९५, ४५७,  
 ६०६, ६०७, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८,  
 ६४७, ६७२, ६८६, ७५३, ७८७, ७९१, ७९३,  
 ७९९, ८००, ८०६, ८०७, ८१०, ८१२, ८२९,  
 ८५८, ८५९, ८६२, ८३, ८६७, ८६८, ८७२,  
 ८७८.

तत्त्वार्थ० श्लो० } तत्त्वार्थश्लोकावतिकम् [ निर्णय-  
 तत्त्वा० श्लो० ] सागर प्रेस बम्बई ] ४-६, ११,

१४, १७-२०, २२, २३, २५, २७, २९, ४०,  
 ४७, ४८, ५०, ५१, ६६, ६७, ७४, ७८-८३,  
 ८६, ८७, ९७, १०४, १०६, १०९, ११५,  
 ११६, १२४, १२७, १३०, १३२, १३३,  
 १३७-१४०, १४२, १४७, १५५, १५८,  
 १७१-१७३, १७६, १७७, १८५-१८७, १८९,  
 १९०, १९८, २०१, २०५, २०९, २१०, २१६,  
 २३९, २४२, २४६, २४७, २५०, २५४, ३०२,  
 ३०३, ३०५-३०८, ३२९, ३३८-३४१, ३४३-  
 ३४५, ३४९, ३६४, ३७१, ३७४, ३७५, ३८४,  
 ३९५, ३९८, ४०४, ४०८, ४१०, ४१८, ४३१,  
 ४३२, ४३४, ४३५, ४३९, ४४०, ४४८, ४४३,  
 ४४८, ४५०, ४६८, ४९९, ५०२, ५०४, ५०५,  
 ५१३, ५२२, ५२४, ५२५, ५५९, ५६०, ५६८,  
 ५७०, ५७७, ५७९, ५८२-५८७, ५९३, ६०३,  
 ६०६, ६१०, ६२१, ६२२, ६३०, ६३२, ६३६,  
 ६३८, ६४०, ६६१, ६६४, ६७४, ६८२, ६८५,  
 ६८६, ६९२, ७०३, ७१२, ७१३, ७२०, ७२६,  
 ७३५, ७३६, ७३९, ७४०, ७५२, ७५४, ७५६,  
 ७६२, ७६५, ७८३, ७९०, ७९३, ७९९, ८००,  
 ८०४-८०७, ८११, ८१२, ८४२, ८४५, ८५८,  
 ८६२, ८६३, ८७८.

तत्त्वार्थसारः-प्रथमगुच्छकान्तर्गतः [ प्र० पद्मालालजी चौधरी भवैनी काशी ] २३, २५, ३२, १५८, १६५, ६०६, ६१०, ६२२, ६३२, ६३६, ६३८.

तत्त्वा० मू०-तत्त्वार्थसूत्रम्-सर्वार्थसिद्धिसम्मतमूत्रपा-  
 ठान्वितम् । ३, २०, २४, १५५, १५८, १७३,  
 २१६, २५०, २५४, ३४०, ४०३, ४०५, ६०५,  
 ६३२, ६४६, ६५१, ६६९, ७८२, ७८७, ७९१,  
 ७९९, ८००, ८०१, ८०६, ८१२, ८३०, ८४१,  
 ८६६, ८६२, ८६३, ८६५, ८६८.

तत्त्वार्थहृत्-तत्त्वार्थार्थिगमभाष्यहृत्भटीया वृत्तिः  
 [ आरमानन्दसभा भावनगर ] ६०९, ६०७,  
 ६१०, ६२२, ६३२, ६३६-६३८, ८१२.

तत्त्वार्थार्थि० मू०-तत्त्वार्थार्थिगममूत्रम्, भाष्यमम्मत-  
 मूत्रपाठान्वितम् । १७३, २५४, ७८२.

तत्त्वोप०—तत्त्वोपप्लवर्षिह [ गायकवाड सीरिज बडौदा ] ८, ४०, ५८, ६९, १२६, २१९, ३००, ३४१, ३६०, ३६९, ३७२, ३७७, ४२०, ५२५, ६२८, ६९६, ६९८, ७२५, ७२६, ७२८, ७६२, ७६४.

तन्त्रवा०—तन्त्रवार्तिकम् [ आनन्दाश्रम सीरिज पूना ] ४०७, ५६६-५६८, ५७६, ५७७, ५७९, ५८०, ७५७, ७५८, ७६०, ७६१, ७६७-७६९.

तन्त्रवा० न्यायमु० } तन्त्रवार्तिकस्य न्यायमुधाव्याख्या  
न्यायमु० } [ चौखम्बा सीरिज काशी ]  
५७४, ५७७, ५७९, ५८२, ५८८, ५९२, ७६८, ७६९

तन्त्ररह०—तन्त्ररहस्यम् [ गायकवाड सीरिज बडौदा ] ४०६, ४०८, ४७९, ४८९, ५०६, ५७७, ५७९, ५८२, ५८३, ५९३, ६६६, ६६७, ६९८ ६९९, ७२०

तर्कभा०—तर्कभाषा केशवमिश्रकृता २१, २४, २५  
तर्कभा० मो०—तर्कभाषा मोक्षाकरगुलकृता [ मुनि-  
पुण्यविजयसत्का लिखिता ] ४१२, ४२३, ४४३,  
५५१, ६०१

तर्कस० अनु०—तर्कसंग्रह अनुमानखण्डम् ८१६.  
तर्कस० बी०—तर्कसंग्रहदीपिका टीका २१, ४९६  
तर्कशा०—तर्कशास्त्रम् प्रोदिङ्गनागबद्धिष्टलौजिकान्त-  
र्गतम् [ गायकवाड सीरिज बडौदा ] ३२३-३३५  
ता० प०—तात्पर्यटीकाया परिसुद्धिटीका [ एशिया  
टिक सोसाइटी कलकत्ता ] ४१९, ४२८  
तैत्ति०—तैत्तिर्युपनिषत् [ निर्णयसागर बम्बई ] १५१,  
८३१

तैत्ति०—तैत्तिरिसहिता । ७६१  
तौता०—तौतातित्तमतितिलकम् [ सरस्वती भवन काशी ]  
५६८, ५९३, ७२०, ७५७, ७५९, ७६१

त्रि० प्रा०—त्रिविक्रमकृत प्राकृतव्याकरणम् [ चौखम्बा  
सीरिज काशी ] ७६४

त्रिलोकसा०—त्रिलोकसार [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला  
बम्बई ] ८६७, ८७१.

त्रिपण्ठि०—त्रिपण्ठिशालाकापुरपचरिन्म् [ जैनधर्म-  
प्रसारकसभा भावनगर ] ८५५.

त्रैलोक्यबी०—त्रैलोक्यदीपकम् ८६७  
दश०—दशार्थकालिकयूत्रम् [ आगमोदय समिति सूरत ]  
८६८

द्रव्यस०—द्रव्यसंग्रह [ रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई ]  
६४६, ६६९.

धम्मप०—धम्मपदम् [ महाबोधि सो० सारनाथ ] ७७८  
द्वात्रिं०—द्वात्रिंशद्व्यात्रिंशतिका यशोविजयकृता [ जैन-  
धर्मप्रसारकसभा भावनगर ] ८५४, ८५५.

द्रव्यान्युयोगत०—द्रव्यान्युयोगतर्कणा [ रायचन्द्रशास्त्र-  
माला बम्बई ] २५४,  
धर्मप०—धर्मपरीक्षा अमितगतिकृता ७७३, ७७८  
धर्मबि० टी०—धर्मबिन्दुटीका [ एशियाटिक सो०  
कलकत्ता ] ८२४.

धर्मसारप्रकरणम्—स्याद्वादरत्नाकरे उद्धृतम् । ४५५  
धर्मस०—धर्मसंग्रहणी [ आगमोदय समिति सूरत ]  
२५४, ६४०, ८२४.

धर्मस०—धर्मसंग्रह [ प्रॉक्सफोर्ड युनि० सीरिज ]  
६००, ८४६, ८५६.

धर्मस० वृ०—धर्मसंग्रहणीवृत्ति [ आगमोदय समिति  
सूरत ] ५५३.

धवला० टी० } धवलाटीका [ जैन साहित्योद्धारकफड  
छवखड० टी० } अमरावती ] ५९९, ६०६, ६०७,  
६२२, ६३२, ६३३, ६३६, ६३८, ६५६, ६५७,  
७३५, ७९, ८००, ८०२, ८०३, ८०६, ८०७,  
८५६, ८७४, ८७७

धवला० टी० वेदनाख०—धवलाटीकायाः वेदनाखड.  
मुद्रितधवलाटीकाया प्रस्तावनायामुल्लिखित  
६०६

ध्वन्या० टी०—ध्वन्यालोकस्य लोचनटीका [ निर्णय-  
सागर प्रेस बम्बई ] ७४९.

नन्दि० मलय०—नन्दिमूत्रमलयगिरिटीका [ आगमोदय  
समिति सूरत ] ४६६, ५४८, ६७४, ८६५-८६७.

नयचक्र० } नयचक्रसंग्रह [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला  
नयचक्रस० } बम्बई ] २३, ६०६, ६१०, ६२२,  
६३२, ६३६, ६३८, ६८६

नयचक्रवृ०—नयचक्रवृत्ति लिखिता [ श्वे० मन्दिर  
रागघाट काशी ] ३६९, ३७१, ४५४, ४६२,  
५३७, ५५३, ६०६, ६०७ ६२८, ६३६, ६३८,  
७३९, ८००

नयप्रदीप—यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गत [ जैनधर्म-  
प्रसारक सभा भावनगर ] ६०६, ६९२, ७९३

नयग्रहस्यम्—यशोविजयग्रन्थमालान्तर्गतम् ६०६  
नवतरव०—नवतरवगाथा ६६९

नयवि० } नयविवरणम् प्रथमगुच्छकात्तर्गतम् [ प्र०  
नयवि० } पन्नालाल चौधरी भवनी काशी ]  
४७९, ४८९, ५०६, ६०६, ६१०, ६२१,  
६२२, ६३२, ६३६, ६३८, ७०१-७०३,  
७२१, ७९३

नयोप० वृ०—नयोपदेशवृत्ति यशोविजयग्रन्थमालान्त-  
र्गता १४०, १४१

नाटघशा०—नाटघशास्त्रम् [ गायकवाड सीरिज  
बडौदा ] ७३७, ७५६, ७६४.

नियम०—नियमसार [ जैनग्रन्थरत्नाकर बम्बई ]  
८०१, ८४५.

नैरात्म्यप०—नैरात्म्यपरिपृच्छा [ विश्वभारती शान्ति-  
निकेतन ] ६३३, ६८४, ८४०.

नैपथ०—नैपथीय नरितम् [ वेङ्कटेश्वर प्रेस बंबई ]  
७७२

नैपथ० टी०—नैपथीयचरितटीका [ वेङ्कटेश्वर प्रेस  
बम्बई ] ७७३

न्यायकलि०—न्यायकलिका [ सरस्वतीभवन काशी ]  
१५७, ३१०, ३१२-३१६, ३१८-३३२, ३३५,  
४१९, ४३१. ४४२. ४४३. ४९६.

न्यायकु०—न्यायकुमुमाञ्जलि [ चौखम्बा सीरिज काशी ] २४, १८, १०३, १५९, २०५, ४०७, ४४४, ४४५, ४८९, ४९६, ४९७, ५१३, ५१६, ५१८, ५३६, ५७७, ५७९, ५८०, ५८८, ६०५, ६७०, ६८६, ७२७

न्यायकु० प्रका०—न्यायकुमुमाञ्जलिप्रकाश [ चौखम्बा सीरिज काशी ] ०

न्यायकुमु०—न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तुत ग्रन्थ ४२०, ६१३, ६३३, ६८२, ६८५

न्यायको०—न्यायकोश [ बम्बई युनि० सीरिज ]

२८२, ६९३

न्यायदो०—न्यायदोषिका [ जैनसिद्धान्त प्र० संस्था कलकत्ता ] २५, ४१०, ४१८, ४३५, ४४०.

न्यायपरि०—न्यायपरिमृदि [ चौखम्बा सीरिज काशी ] ५८२, ७२६

न्यायप्र०—न्यायप्रवेश [ गायकवाड सीरिज बडोदा ]

४६, ६९, ४३४, ४३५, ५८८, ६०१, ६७९,

न्यायप्र० वृ०—न्यायप्रवेशवृत्ति ४६, ३३३, ४३८, ५३६

न्यायप्र० वृत्तिप०—न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका ७, ६, ५३४, ५३६

न्यायबि०—न्यायबिन्दु [ चौखम्बा सीरिज काशी ]

२३, २४, ४६, ४७, ५१, ६९, १२०, १६६,

२०५, ३७०, ३८२, ४३५, ४३९, ४४४, ४५०,

४६२, ५२३, ५२८, ५९८, ५९९, ६२७, ६७९,

६८१, ८५३

न्यायबि० टी०—न्यायबिन्दुटीका [ चौखम्बा काशी ]

२०, २३, २५, २६, ४८, ५०, ४०६, ४१९,

६३६, ६३८, ४८७, ५२३, ६६१, ६८०, ६८२

न्यायबि० टी० टि०—न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी [ विक्लो-यिका दृष्टिका रगिया ] ४६, १४० ५२५

न्यायबो०—तर्कमहत्सव न्यायबोधिनो टीका [ निर्णय मागर बम्बई ] २५

न्यायभा०—न्यायभाष्यम् [ गुजराती प्रेस बम्बई ]

२ ३, १०, १६, १८, १९-२३, २५, २७, २८,

६५, ७३, ७९, ८७, ९७, १०९, १२७, १३९,

१५०, १५६, १८२, १९३, १९६, २०८, २२०,

२२६, २३६, ३०९-३३५, ३३७, ३६७, ३४८,

६११, ४९६, ५०३, ५११, ५३५, ५३६, ५३९,

५६९, ५८८, ६०१, ६६७, ७१५, ७२०, ७५०,

८२८, ८३१, ८३६-८३६, ८३८

न्यायम०—न्यायमञ्जरी [ विजयनगर सीरिज काशी ]

न्यायम० } ६, ७, १५, १६, १८, २०, २१, २६, २८-३०,

३२-३८, ६१-६५, ५१, ५६, ६०-७३, ७७,

७९, ८३, ८६, ९८, १०७, १०९, १२५, १२६,

१२९, १३३, १३९, १६०, १४७, १४९, १५३,

१५५, १६६, १५८, १५९, १६६, १७२, १७७,

१९३-१९६, २०१, २०५, २०८, २२६, २६०,

२५५, २८८-२९०, ३१०, ३१२-३१५, ३१७-

३१९, ३१६-३३७, ३३९, ३६०, ३६७, ३६६,

३४७, ३४९, ३५७, ३७६, ३८०, ३८१, ३८४-३८६, ३८८, ४०१, ४०८, ४११, ४१६, ४१९, ४२२, ४३१, ४३८, ४४२, ४४६-४४८, ४६४, ४६७-४७२, ४७७, ४७८, ४८१, ४८२, ४९१-४९३, ४९५-४९९, ५०९-५१२, ५१४-५२०, ५३१-५३५, ५३७, ५३९-५४२, ५४४-५४८, ५५०, ५५३, ५६१-५६४, ५६९, ५७०, ५७३, ५७४, ५७७, ५८१, ५८३, ५८९, ५९३, ५९६, ५९८, ६६१, ६६४, ६८९, ७०३-७०५, ७०८, ७२३, ७२५, ७२८, ७२९, ७३१, ७३८, ७५०-७५२, ७५५, ७५७, ७५८, ७६१, ७६८, ८०९, ८१४, ८२०, ८२३, ८२५, ८३१ ८३३-८३७

न्याय० मा० } न्यायरत्नामाला [ चौखम्बा सीरिज न्यायरत्नाम० ] ४१९, ४२३, ४२८, ३१, ५७७, ५७८, ५९३, ६९८, ७०१-७०३, ७११, ७१४, ७१५, ७४२

न्यायमूलप्रकरणम्—तत्त्वसंग्रहपञ्जिकायामुद्धतम् ४३५.

न्यायलीला०—न्यायलीलावती [ निर्णयसागर बम्बई ] २, ६०, ९७, १०९, २१४, २२८, २४०, २७८, ४१९, ४४३, ५०१, ५१२, ५३१, ७२९.

न्यायलो० कण्ठ०—न्यायलीलावतीकण्ठभरणम् [ चौखम्बा सीरिज काशी ] २८२.

न्यायली० प्रकाश—न्यायलीलावतीप्रकाश [ चौखम्बा सीरिज काशी ] २४१.

न्यायवा०—न्यायवार्तिकम् [ चौखम्बा काशी ] १६, १८, २१-२३, २५, २८, २९, ३४, ७५-७७, ७९, ८२, ९८, ९९, १०७, १०९, १३९, १५६, १५८ १९४, २०८, २२४, २२९, २६९, २८४, २९५, ३१०-३२५, ३२८, ३३०-३३४, ३४०, ३५७, ३८७, ४०६, ४११, ४२८, ४३४, ४६२, ४६८, ४९६, ५१२, ५३५, ५३६, ५५९, ५६१, ५६२, ५६४, ५६९, ५८८, ६४६, ६६७, ७०३, ७०८, ७२०, ७३०, ७३८, ७५०, ७५७, ७५८, ८३३-८३६, ८३८

न्यायवा० ता० } —न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका

न्यायवा० ता० टी० } [ चौखम्बा सीरिज काशी ] ६, २०, २७, २९, ४०, ४६, ५१, ५४, ५६, ६०-६३, ७५-७७, ८२, ९८, ९९, १०७, १०९, १२१, १३९, १५६, १५८, १९३, १९४, २०५, २२८, २२९, २३६, २९५, ३१०, ३१३, ३१८-३२०, ३२३, ३८०, ४०८, ४०९, ४११, ४१९, ४२७, ४२८, ४३८, ४४२, ४४६, ४४८, ४५०, ४६१, ४६२, ४९६, ५१६, ५१८, ५१९ ५२६, ५३६, ५६०, ५५९, ५६०, ६६७, ७०८, ७१६, ७३८, ७५२, ७५८, ७६१, ८३६, ८३५

न्यायबि०—न्यायबिन्दुसंक्षेप अकलद्रुपग्रन्थव्याख्यानम् [ गियो सीरिज कल्याण ] १७, ६०, ७३, ९३, १२३, १२९, १३९, १६६, १६८, १७१, १७८, १८५, १८६, १८९, २०९, २२७, २२८,







प्रमाणपरी०-प्रमाणपरीक्षा [ जैनसिद्धान्तप्र० मस्या कलकत्ता ] २३-२७, २९, ३०, ४९, ५१, ७१, १३५, १७६, १८३, १८६, १८७, १८९, १९४, २०१-२०५, ४०७, ४१०, ४११, ४१६-६१८ ४३४, ४३५, ४३९-४४२, ४५९, ५६०, ६५७, ७२३

प्रमाणमी०-प्रमाणमीमामा [ मिथी जैन सौरिज कलकत्ता तथा ग्राहृत्प्रभाकर वाप्यांशय पूना ] २३-२५, २७, ७४, ८२, ११५ ११६, १६६, १७३, २०९, ३७१, ४०७, ४०९, ४११, ४१६, ४१८, ४१९, ४२३, ४३४, ४३५, ४३८, ४४०-४४२ ४५०, ४५९, ६६३, ४६४, ४८९, ४९२, ५००, ५०४, ५२०, ६४०, ६५६, ६५७, ६६४, ६७७, ६८२, ६८३.

प्रमाणलक्षण टी०-प्रमाणलक्षणटीका २४

प्रमाणवा०-प्रमाणवातिकम् [ भिक्षुराहुलसाकृत्या यनसत्कम् ] ५, २३, ४८, १०९, ११८, १२४-१२६ १३०-१३३ १४३, १६५-१६८, १६९, २०५, २०९, २२७, २३०, २३१, २३६, २८७, २८९, ३७२, ३७३, ३८२, ४०७, ४०९, ४१०, ४३३-४३५, ४३९, ४४५, ४५०, ४७७, ५१५, ५२४-५२६, ५३०, ५३९, ५४८, ५५१, ५५२, ५५४, ६०१, ६१३, ६२०, ६२८-६३०, ६३२, ६४४, ६७५, ६७६, ६७९, ६८४, ६८५, ६९२, ६९३, ७१२, ७१३, ७३०, ७३३, ७३५, ७३७, ७९०, ७९२, ८११, ८३८-८४१, ८४६, ८५१

प्रमाणवा० अल० } प्रमाणवातिकालङ्कार [ भिक्षुरा प्रमाणवातिकान० ] हुलसाकृत्यायनसत्क लिखित ] ११८, १२५, १२६, १३१, १३३, १६६, ४०८, ४१०, ४१२, ४१९, ४३५, ४६०, ५२२, ५२८, ५८२-५८७, ५९९, ६१८, ६२८, ६३४, ६७५, ७७२-७७४, ७७८, ७७९.

प्रमाणवा० मनोरथ० } प्रमाणवातिकमनोरथनन्दिनी मनोरथ० } वृत्ति [ विहार उडीसा जर्नल ] ४०८, ४०९, ४११, ४२२, ४३३, ४३९, ४४९, ४७६, ४८०, ५२२, ५२५ ५२६, ५६६-५४८, ५५१, ५५२, ५५४, ६०१, ६१३, ६१४, ६१९, ६२०, ६४६, ६७६, ६८४, ६९३, ६९४, ७२६, ७३०, ७३५, ७३८, ८४० ८४१

प्रमाणवा० स्ववृ० टी०-प्रमाणवातिकस्ववृत्तिटीका [ भिक्षुराहुलसाकृत्यायनसत्क प्रकामुक्तम् ] ८१२, ४१९, ४२३, ४२७, ४३९, ४४०, ४४४, ४४९, ४५९, ४६८, ४७३, ४७४, ४७६, ४८०, ४८७, ५२७, ५२८, ५३६, ५३९, ५४३, ५४५-५४९, ५५१, ५५२, ५५४, ५५५, ५६४, ५६८, ५७०, ६०३, ६०९, ६२०, ६६४, ६६५, ६९४, ६९८, ७०३, ७०४, ७०६, ७०७, ७०९-७१२, ७२३, ७२६, ७२८, ७३०-७३२, ७३६, ७३७, ७४९, ७५०, ७५५, ७५७ ७६५, ७७७, ७७९.

प्रमाणस० } प्रमाणसमुच्चय [ मंगूर यून० सौरिज ] प्रमा०स० } २३, २४, ४६, ८२, १६६, २०५, ५२२, ६७५, ६७९,

प्रमाणसमु० टी० } प्रमाणसमुच्चयटीका [ मंगूर प्रमाणस० टी० } यून० ] २३, ४६, ८०५

प्रमाणस०-प्रमाणसग्रह [ सिधी जैन सौरिज कलकत्ता ] ३३९, ३७१, ४१०, ४२७, ४३६, ४४०, ६०३, ६५६, ६८२, ६८४, ६९७.

प्रमाणस० टि०-प्रमाणसग्रहटिप्पणम् अकलङ्कप्रणय-न्यायान्तर्गमम् [ मिथी सौरिज कलकत्ता ] ६८४, ६९७.

प्रमेयक०-प्रमेयकमलमार्तण्डः [ निर्णयसागर बम्बई ]

१, ५, १०, ११, २०, २३, २९, ३१, ३५, ३६, ३८, ३९, ४१-४५, ४७, ६९, ५२, ५५, ५८, ६०-६३, ६६, ६७, ६९, ७१, ७२, ७४, ७७-८३, ८९-९१, ९३, ९४, ९७, ९८, १०१, १०४ १०६, १०७, १०९, ११२, ११३, १२१, १२३, १२४ १२५, १२७, १३०, १३१, १३३, १३९, १४०-१४३, १४५-१४७, १४९, १५३, १५५ १५७, १६२, १६४, १६६, १७१, १७२, १७६-१७८, १८३, १८६-१९०, १९३-१९७, १९८-२०२, २०५, २१६, २१७, २२४-२२७, २३३, २३९, २४२, २४३, २४६, २५०, २५१, २५६-२५९, २६१, २६३-२६८, २७१, २७२, २७६-२७८, २८०, २८१, २८५, २८८, २९३-२९५, २९७, २९८, ३००-३०८, ३३६, ३३८, ३४१-३४९, ३५५, ३५७, ३५८, ३६४, ३६६, ३६७, ३७०-३७२, ३७४, ३८२, ३८७-३८९, ४०५, ४०७, ४०८, ४१०, ४११, ४१५-४१८, ४२९, ४३१-४३३, ४३६, ४३८-४४३, ४५२, ४५३, ४५७, ४५९, ४६४, ४६६, ४६८, ४७२-४७५, ४८५, ४९०, ४९२, ४९३, ४९८, ५०१, ५०५, ५०८, ५१२, ५१३, ५१६, ५२०, ५२४, ५२६, ५३८, ५४७-५४९ ५५१, ५५३, ५५४, ५५७, ५५९-५६५, ५७०, ५७१, ६०६, ६१०, ६१८, ६१९, ६२१, ६२२, ६३०, ६३२, ६३६, ६३८, ६४०, ६५०, ६५७, ६५९, ६६२, ६६३, ६७०, ६७१, ६७६, ६८६, ६९८, ६९९, ७०२, ७०३, ७०६-७१५, ७१६, ७१९, ७२१, ७२३-७२६, ७४९-७५६, ७६२, ७६६, ७७०-७७५, ७७८-७८१, ८०८-८१३, ८१६, ८१७, ८२४-८२७, ८२९, ८३० ८४०, ८४४, ८४५, ८४८-८५१, ८५५, ८५६, ८५८-८६५, ८७०, ८७२, ८७५

प्रमेयक० टि०-प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पणम् [ निर्णय-सागर बम्बई ] ६९

प्रमेयरत्नको०-प्रमेयरत्नकोश [ जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर ] ४६४.

प्रमेयरत्नमा०-प्रमेयरत्नमाला [ ५० फूलचन्द्रजी शास्त्री अमरावती ] ९, २३, ८९, ९१, ९३, ९७, १०१,

बोधिनी-न्यायकुमुदाञ्जलिबोधिनी टीका [ सरस्वती-  
भवन काशी ] २  
ब्रह्मविन्दूपनि०-ब्रह्मविन्दूपनिपत् [ निर्णयसागर  
बम्बई ] १३९  
ब्रह्मसि०-ब्रह्मसिद्धि. [ मद्रास ग० सीरिज ] १४९  
ब्रह्मसू०-ब्रह्मसूत्रम् १६, १४७-१४९, ३४४, ८३१  
ब्रह्मसू० भास्करभा०-ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम् [ चौ-  
खम्बा सीरिज काशी ] १४९.  
ब्रह्मसू० शा० भा०-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् [ निर्णय-  
सागर बम्बई ] १६, १७, ६०, १२४, १४७-  
१४९, १५५, २६१, २२८, ३०५, ३४२, ३४६,  
३५४, ३६०, ३८८, ७५२, ७५४, ८२५  
ब्रह्मसू० शा० भा० आनन्द०-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य  
आनन्दगिरीया टीका [ निर्णयसागर ] १६८  
ब्रह्मसू० शा० भा० भा०० } शाङ्करभाष्यभामनी  
शा० भा० भामती, भामती } टीका [ निर्णयसागर ]  
५४, ६०, ६२, ६३, ६८, १२२, १२४, १४७,  
३४१, ३४४, ३९०, ४२७, ६२८  
ब्रह्मसू० शा० भा० रत्नप्रभा०-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभा-  
ष्यस्य रत्नप्रभा टीका [ निर्णयसागर ] १६८  
ब्रह्म०-ब्रह्मोपनिपत् [ निर्णयसागर बम्बई ] १४८  
भगवतीसू०-भगवतीसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
मूल ] ६३२, ६६९.  
भगवद्गी०-भगवद्गीता [ आनन्दाश्रम पूना ] १४८,  
३५०, ३५२, ३५८, ८१३, ८१५  
भगवद्गी० शा० भा०-भगवद्गीताशाङ्करभाष्यम्  
[ आनन्दाश्रम पूना ] २५२  
भावनावि०-भावनाविवेक. [ सरस्वतीभवन काशी ]  
५७७  
भावनावि० टी०-भावनाविवेकटीका ५७७  
भावषाह्ण०-भावप्रभूतम् पट्टप्रभूतसिद्धप्रह्लादगंतम्  
[ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ] ५९  
भावप्रका०-भावप्रकाश. [ बम्बई ] २७५, ४२५.  
भावस०-भावसग्रह [ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ]  
८५६ ८६२ ८७९ ८७७  
भाट्टवि०-भाट्टचिन्तामणि [ मद्रास ] ६९८, ६९९,  
७२०, ७५९, ७६१  
भाट्टी०-भाट्टटीविका [ चौखम्बा काशी ] ७२१  
भाट्टरह०-भाट्टरहस्यम् [ काञ्चीवक्त्रम् ] ५९८.  
मत्स्यपु०-मत्स्यपुराणम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ७२६  
मध्यान्तवि०-मध्यान्तविभागसूत्रम् [ विन्वमारती  
शान्तिनिबन्धन ] ६६२  
मध्यान्तवि० मू० टी०-मध्यान्तविभागसूत्रटीका १३१,  
१३७, ३९०, ३९२  
मनुस्मृति [ निर्णयसागर बम्बई ] ५७१, ६३४  
७२२, ७३३  
मनुस्मृ० भाष्यं०-मनुस्मृतिभाष्यं मुक्तावलीटीका  
[ निर्णयसागर बम्बई ] ५७१  
महा भा० प्रवीण-महाभाष्यप्रशाखाख्या [ चौखम्बा  
काशी ] १६८, ७६६

महाभार०-महाभारतम् [ निर्णयसागर बम्बई ] ५६०.  
महायानसू० } महायानसूत्रालङ्कार [ परित By  
महायानसूत्राल० } सिल्वन लेवी ] १२२, ६८४,  
महावि०-महाविद्याविडम्बनम् [ गायकवाड सीरिज  
काशी ] १००

सीरिज काशी ] २०

माध्यमिक वृ० } माध्यमिककारिकावृत्ति [ विन्लो-  
माध्यमिकका० } यिका बुद्धिका रशिया ] १०, २०,  
१३२, ३९०, ४८४, ६८४

मानमेयो०-मानमेयोदय [ यियोसिफिकरुल सो०  
अडयार ] ५७७, ५७९, ६६९, ६९७, ६९९, ७२३

मीमांसाव्यास०-मीमांसाव्यासप्रकाश [ चौखम्बा  
काशी ] ५७७-५७९, ५८८, ५९२.

मी० परि०-मीमांसापरिभाषा [ चौखम्बा काशी ]  
५७७, ५८८

मीमांसाबाल०-मीमांसाबालप्रकाश [ चौखम्बा काशी ]  
५७७-५७९

मीमांसाभा०-मीमांसाभाष्यम् [ चौखम्बा काशी ]  
७२२.

मीमांसाव्यं०-मीमांसाव्यं०प्रकाश. [ चौखम्बा काशी ]  
५७७-५७९

मीमांसाद० } मीमांसासूत्रम् २५, १३९

मीमांसासूत्र० }  
मी० श्लो०-मीमांसाश्लोकवार्तिकम् [ चौखम्बा  
काशी ] १६, १५, १७, १८, २०, ४२, ५१,  
५३, ८२, ८६, ९५, ९६, १०५, १०७-१०९,  
१२४, १३९, १४०, १४७, १५३, १५५, १६४,  
१९५-१९७, १९९, २०९, २४६, ३४३, ३४५,  
३६६, ३६९, ४०२, ४०७, ४१९, ४२२, ४२३,  
४२८, ४५२-४५४, ४५९, ४६३-४६८, ४९०,  
४९२, ४९४, ५०५, ५१६, ५२०, ५२२, ५२४,  
५३५, ५४०, ५४४, ५४५, ५५०, ५५३, ५५७,  
५६१-५६६, ५६६, ५७३, ५७५, ५७६, ५९३,  
५९४, ६०६, ६९७-७०३, ७०९, ७११, ७१३-  
७१६, ७१९, ७२१-७२५, ७३५, ७४१-७४३,  
७५१, ७५२, ७५६, ७६७, ७६८.

मीमांसाश्लो० कारिका-मीमांसाश्लोकवार्तिककाशि-  
कावृत्ति [ त्रिवेन्द्रम् ] १२६

मी० श्लो० टी० } मीमांसाश्लोकव्याख्यानम्

मी० श्लो० व्याख्य० } राम्या टीका [ चौखम्बा  
सीरिज काशी ] २६, ८७, १३३, १६६ १७६,  
१९६, ४५३, ४६३, ४६४, ४६६, ४६७, ६९०,  
६९१, ५०६, ५०७, ५०९-५११, ५२० ५४६,  
६६९, ६९७, ६९९, ७२१, ७३९, ७६१, ७६३,  
७५१, ७७०.

मुक्तावली-कारिकावली मुक्तावली [ निर्णयसागर  
बम्बई ] २५, ७६, ८२, १५९, ६७०, ४८२,  
४८३, ४९६, ५६८, ५९३, ७३८, ७५०, ८८७.

वाक्यप० पु० टी०—वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर] ७५०.  
 वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुष्कराजोया प्रका-  
 वाक्यप० पु० टी० } शास्त्रा टीका [चौखम्बा सीरिज  
 वाक्यप० प्र० } काशी ] १८०, ५५०, ५५३,  
 ५८०, ६४६, ७३९-७४१, ७४९, ७५७.  
 वाक्यार्थमा०—वाक्यार्थमातृकावृत्तिः प्रकरणपञ्चि-  
 वान्तर्गता [ चौखम्बा काशी ] ५८१.  
 वाग्भट्टा० टी०—वाग्भट्टालङ्कारटीका [निर्णयमागर  
 वम्बई] ७६४.  
 वाच०—वाचस्पत्यकोश [ कलकत्ता ] ६९३.  
 वादव्याप [ महाबोधि सोसाइटी सारनाय ] ३२९,  
 ३३८, ३४०, ४३५, ४४५, ४६२, ६०२, ७३८,  
 ७६२, ७६५, ७६६.  
 वादन्यायटी०—वादन्यायटीका [ महाबोधि सोसाइटी  
 सारनाय ] ४४२, ४६२, ६२३, ७६२.  
 वित्तस्तिमा० } विद्यार्थिकाविज्ञप्तिमात्रता-  
 विदा० वित्तस्तिमा० } सिद्धिः [ By. सिल्वन  
 रेवी पेरिस ] १२०, २१९, २३१, ६३२.  
 विधिषि०—विधिषिवेक [ लाजरस प्रेस काशी ] १०९,  
 ४३२, ४८०, ५७४, ५७७, ५८०, ५८२, ५८६,  
 ५८७-५९५  
 विधि० वि० टी० } विधिषिवेकन्यायकणिकाटीका  
 विधिषि० व्यापकणि० } [ लाजरस प्रेस काशी ] ११९,  
 १२२, १२४, १३९, १८१, ४०९, ४८०, ५७४-  
 ५७६, ५८०, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ६६९.  
 विवरणप्र० } विवरणप्रमेयसग्रह [ विजयानगर  
 वि० प्रमेयस० } भीरिज काशी ] ६०, ६३, १२६,  
 ८०९, ८२८, ८३१, ८४८.  
 विनोया० } विनोयावचनभाष्यम् [ यशो०  
 विनोयाय० भा० } ग्रन्थमाला काशी ] २५-२७,  
 ११५, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६२२, ६२४,  
 ६३२, ६३६-६३८, ७९३, ७९९, ८००, ८०६,  
 ८०७, ८६८.  
 विद्यापा० भा० ३३०—विनोयावचनभाष्यवृहद्वृत्ति  
 [ यशो० ग्रन्थमाला काशी ] १७३.  
 विश्वतत्त्वप्र०—विश्वतत्त्वप्रकाशकम् ज्योतिषम् [ म्याडाद  
 विद्यालय काशी ] ४६४, ८६६, ७२३.  
 विशातपरि०—वेदान्तपरिभाषा [ निर्णयमागर वम्बई ]  
 २४, २५.  
 विशातति०—वेदान्तमिदान्तमञ्जरी [ अक्षयन ग्रन्थ  
 माला काशी ] ८३१, ८३२  
 विशार्थ०—वेदार्थसंग्रह [ पश्चिमपत्र काशी ] ५०७  
 वितो० उप० } वितोषिकसूत्रोपगार [ चौखम्बा भीरिज  
 उप० } काशी ] २, ११, १६, २६, २८, ७६,  
 ७९, ९७, १०९, १५९, २७९, ३०३, ३०६, ४१९,  
 ५००, ५०१, ५१५, ५१६, ५३१, ६६७, ७०९  
 वितो० सू० } वेदोपनिषद्सूत्रम् । २, २९, ३०, ३१, ७७,  
 वितो० वृ० } १३६, १३९, १५६, २१८, २१९,

२४१, २४२, २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,  
 २६८, २६९, २७२-२७४, २७८-२८०, २८२,  
 २८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४९, ३९९, ४०६,  
 ४६०, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६.  
 वी० सू० वि०—वैशेषिकसूत्रविवृतिः [ गुजराती प्रेस  
 वम्बई ] २४१.  
 वैयाकरणभू०—वैयाकरणभूषणम् [ चौखम्बा काशी ]  
 ५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१.  
 वैयाकरणभू० व०—वैयाकरणभूषणवर्षणटीका [ चौखम्बा  
 काशी ] ५७७, ५७९, ५८२  
 व्या० प्रज्ञ० } व्याख्याप्रज्ञप्ति [ आगमोदय समिति  
 व्या० प्र० } मूरत ] २५०, ३४०, ६०५.  
 व्युत्पत्तिवा० मा०—व्युत्पत्तिवादमादाधारी टीका  
 [ निर्णयसागर वम्बई ] ४८९.  
 शब्दकल्पद्रुम—कोश [ कलकत्ता ] ७४९.  
 शब्दको०—शब्दकोस्तुभम् [ चौखम्बा काशी ] ७५८  
 शब्दश०—शब्दशक्तिप्रकाशिका [ चौखम्बा काशी ]  
 ५६८, ५७३, ७३८.  
 शब्दान्व०—शब्दान्वयचन्द्रिका [ जैनसिद्धान्त प्रकाशनी  
 सस्य कलकत्ता ] ६१७, ७६६.  
 शाबरभा०—शाबरभाष्यम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ४३,  
 ४४, ८२, १२४, १३९, १७५, १७६, १९७,  
 २७९, ३४३, ४०६, ४३६, ४५४, ४६३, ४८९,  
 ५०५, ५१८, ५३५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१,  
 ५७४, ५७६, ५७८, ५९३, ५९४, ६९७, ६९९-  
 ७०२, ७२०-७२३, ७४२, ७५०, ७५७, ७५८.  
 ७७७, ८३१.  
 शाबरभा० प्रभाटी०—शाबरभाष्यप्रभाटीका [ आनन्दा-  
 श्रम पूना ] १७५.  
 शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका मुद्रशीनाचार्यमहोदयटीका-  
 महिता । १६, २०, २४, ८२, ६९, ८६, १०८,  
 १३९, १५५, १६४, १७२, १७६, २७९, ३६५,  
 ३६६, ४०६, ४६५, ४६६, ४८९, ४९१, ५०६,  
 ५१०, ५४५, ५४६, ५६६-५६८, ५७६, ५७७,  
 ५७९, ६८५, ६९८, ६९९, ७०१, ७०२, ७२१-  
 ७२३, ७२७, ७३५, ७४७, ७५७.  
 शास्त्रदी० युक्तिस्नेह० प्र० सि०—शास्त्रदीपिकायुक्ति-  
 स्नेहप्रदर्शनीमिदान्तचन्द्रिका [ निर्णयमागर  
 वम्बई ] १६५, ६६२  
 शास्त्रवार्ता० } शास्त्रवार्तामिमुञ्चय [ देवचन्द्र  
 शास्त्रवा० } लाजमार्ड मूरत ] १८, ८९, ९७,  
 शास्त्रवा० समु० } ३०५, ३२४, ३४१, ३५५, ३४३,  
 ३५५, ३८७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४८, ५५३,  
 ५५४, ५६१, ७३१, ७३५.  
 शास्त्रवा० टी० } शास्त्रवार्तामिमुञ्चयग्रन्थ यशो०-  
 शास्त्रवा० यशो० } विजयवृत्ता टीका [ देव-  
 शास्त्रवा० समु० टी० } चन्द्र लाजमार्ड मूरत ] ५२,  
 ६६, ८७, १०९, १२६, १३२, १३३, १६०,  
 १६१, १६३, १४६, १६७, १५५, १६८, ५२८-

वाक्यप० वृ० टी०—वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर] ७५०.

वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुष्पराजीया प्रका-  
वाक्यप० पु० टी० } शास्त्रा टीका [चौखम्बा सीरिज  
वाक्यप० प्र० } काशी ] १८०, ५५०, ५५३,  
५८०, ६४६, ७३९-७४१, ७४९, ७५७.

वाक्यार्थमा०—वाक्यार्थमातृकावृत्तिः प्रकरणपञ्चि-  
कान्तगता [ चौखम्बा काशी ] ५८१.

वाग्भट्टा० टी०—वाग्भट्टालङ्कारटीका [निर्णयनागर  
बम्बई ] ७६४.

वाच०—वाचस्पत्यकोश. [ कलकत्ता ] ६९३.

वादन्याय [ महाबोधि सोसाइटी सारनाथ ] ३२९,  
३३८, ३४०, ४३५, ४४५, ४६२, ६०२, ७३८,  
७६२, ७६५, ७६६.

वादन्यायटी०—वादन्यायटीका [ महाबोधि सोसाइटी  
सारनाथ ] ४४२, ४६२, ६२३, ७६२.

विज्ञान्तिमा० } विज्ञानिकाविज्ञानिमात्रता-  
विज्ञ० विज्ञान्तिमा० } [ By. सिल्वन  
लेवी पेरिस ] १२०, २१९, २३१, ६३२.

विधिबि०—विधिविधेक [ लाजरस प्रेस काशी ] १०९,  
४३२, ४८०, ५७४, ५७७, ५८०, ५८२, ५८६,  
५८७-५९५.

विधि० बि० टी० } विधिविवेकन्यायवणिकाटीका  
विधिबि० न्यायकणि० } [ लाजरस प्रेम काशी ] ११९,  
१२२, १२४, १३९, १८१, ४०९, ४८०, ५७४-  
५७६, ५८०, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ६६९.

विवरणप्र० } विवरणप्रमेयसग्रह [ विजयानगर  
बि० प्रमेयसं० } सीरिज काशी ] ६०, ६३, १२४,  
८०९, ८२८, ८३१, ८४८.

विशेषा० } विशेषावश्यकभाष्यम् [ यशो०  
विशेषाव० भा० } ग्रन्थमाला काशी ] २५-२७,  
११५, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६२२, ६२४,  
६३२, ६३६-६३८, ७९३, ७९९, ८००, ८०६,  
८०७, ८६८.

विशया० भा० बृह०—विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्ति  
[ यशो० ग्रन्थमाला काशी ] १७३.

विद्वत्तत्त्वप्र०—विद्वत्तत्त्वप्रकाशकम् लिखितम् [ स्यादाय  
विद्यालय काशी ] ४६४, ४६६, ७२३.

वेदान्तपरि०—वेदान्तपरिभाषा [ निर्णयनागर बम्बई ]  
२४, २५.

वेदान्तसि०—वेदान्तमिद्वान्तमञ्जरी [ अच्युत ग्रन्थ-  
माला काशी ] ८३१, ८३२.

वेदार्थ०—वेदार्थसग्रहः [ पण्डितपत्र काशी ] ५९७.

बंदो उप० } वैदोपिकमूत्रोपस्कार. [ चौखम्बा सीरिज  
उप० } काशी ] २, ११, १६, ३०४, २८, ७६,  
७९, ९७, १०९, १५६, २७९, ३०३, ३०४, ४१९,  
५००, ५०१, ५१५, ५१६, ५३१, ६६७, ७२९.

बंदो सू० } वैदोपिकमूत्रम् । ७४, २५, ३०, ३१, ९७,  
बंदो व० } १३६, १३९, १५६, २१४, २१५,

२४१, २४२, २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,  
२६८, २६९, २७२-२७४, २७८-२८०, २८२,  
२८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४९, ३९९, ४०६,  
४६०, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६.

बं० सू० बि०—वैदोपिकमूत्रविवृतिः [ गुजराती प्रेस  
बम्बई ] २४१.

वैयाकरणभू०—वैयाकरणभूषणम् [ चौखम्बा काशी ]  
५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१.

वैयाकरणभू० व०—वैयाकरणभूषणदर्पणटीका [चौखम्बा  
काशी ] ५७७, ५७९, ५८२.

व्या० प्रज्ञ० } व्याख्याप्रज्ञप्ति. [ आगमोद्य समिति  
व्या० प्र० } मुरत ] २५०, ३४०, ६०५.

व्युत्पत्तिवा० भा०—व्युत्पत्तिवादागदाधारी टीका  
[ निर्णयनागर बम्बई ] ४८९.

शब्दकल्पद्रुम.—कोशः [ कलकत्ता ] ७४९.

शब्दको०—शब्दकोस्तुभम् [ चौखम्बा काशी ] ७५८.

शब्दश०—शब्दशक्तिप्रकाशिका [ चौखम्बा काशी ]  
५६८, ५७३, ७३८.

शब्दान्व०—शब्दान्वयचन्द्रिका [ जैनसिद्धान्त प्रकाशनी  
संस्था कलकत्ता ] ६१७, ७६६.

शाबरभा०—शाबरभाष्यम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ४३,  
४४, ८२, १२४, १३९, १७५, १७६, १९७,  
२७९, ३४३, ४०६, ४३४, ४५४, ४६३, ४८९,  
५०५, ५१८, ५३५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१,  
५७४, ५७६, ५७८, ५९३, ५९४, ६९७, ६९९-  
७०२, ७०२-७०३, ७४२, ७५०, ७५७, ७५८,  
७७७, ८३१.

शाबरभा० प्रभाटी०—शाबरभाष्यप्रभाटीका [ आनन्दा-  
श्रम पूना ] १७५.

शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका सुदर्शनाचार्यकृतटीका-  
सहिता । १६, २०, २४, ४२, ६९, ८६, १२४,  
१३९, १५५, १६४, १७२, १७६, २७९, ३६५,  
३६६, ४०६, ४६५, ४६६, ४८९, ४९१, ५०६,  
५१०, ५४५, ५४६, ५६६-५६८, ५७६, ५७७,  
५७९, ६८५, ६९८, ६९९, ७०१, ७०२, ७२१-  
७२३, ७२७, ७३५, ७४२, ७५७.

शास्त्रदी० युक्तिस्नेह० प्र० सि०—शास्त्रदीपिकायुक्ति-  
स्नेहप्रपरिणीसिद्धान्तचन्द्रिका [ निर्णयनागर  
बम्बई ] १६५, ६६२.

शास्त्रवार्ता० } शास्त्रवार्तासमुच्चय [ देवचन्द्र  
शास्त्रवा० } लालभाई मुरत ] १८, ८९, ९७,  
शास्त्रवा० समु० } १०९, १२४, १४१, १५५, ३४३,  
३८५, ३८७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४८, ५५३,  
५५४, ५६१, ७३१, ७३५.

शास्त्रवा० टी० } शास्त्रवार्तासमुच्चयस्य यशो-  
शास्त्रवा० यशो० } विजयकृता टीका [ देव-  
शास्त्रवा० समु० टी० } चन्द्र लालभाई मुरत ] ५२,  
६६, ८७, १०९, १२६, १३२, १३३, १४०,  
१४१, १४३, १४६, १४७, १५५, १६८, ५२४-

वाक्यप० घृ० टी०—वाक्यपदीयस्ववृत्तिटीका [लाहौर] ७५०.  
 वाक्यप० टी० } वाक्यपदीयपुष्कराजीया प्रका-  
 वाक्यप० पु० टी० } शास्त्रा टीका [चौखम्बा मीरिज  
 वाक्यप० प्र० } काशी ] १८०, ५५०, ५५३,  
 ५८०, ६४६, ७३९-७४१, ७४९, ७५७.  
 वाक्यपर्यमा०—वाक्यपर्यमातृकावृत्तिः प्रकरणपञ्चि-  
 कान्तगता [ चौखम्बा काशी ] ५८१.  
 वाग्भट्टा० टी०—वाग्भट्टालङ्कारटीका [निर्णयमागर  
 बम्बई] ७६४.  
 वाच०—वाचस्पत्यकौश [ कलकत्ता ] ६९३.  
 वाद्यवाचः [ महाबोधि सोसाइटी सारनाथ ] ३२९,  
 ३३८, ३४०, ४३५, ४४५, ४६२, ६०२, ७३८,  
 ७६२, ७६५, ७६६.  
 वादन्यायटी०—वादन्यायटीका [ महाबोधि सोसाइटी  
 सारनाथ ] ४४२, ४६२, ६२३, ७६२.  
 विज्ञप्तिमा० } विज्ञप्तिकाविज्ञप्तिमात्रता-  
 विज्ञा० विज्ञप्तिमा० } सिद्धिः [ By. सिल्वन  
 जेवी गेरिस ] १२०, २१९, २३१, ६३२.  
 विधिबि०—विधिबिबेकः [ लाजरस प्रेम काशी ] १०९,  
 ४३२, ४८०, ५७४, ५७७, ५८०, ५८०, ५८६,  
 ५८७-५९५.  
 विधि० वि० टी० } विधिबिबेकन्यायकणिकाटीका  
 विधिबि० न्यायकणि० } [ लाजरस प्रेम काशी ] ११९,  
 १२२, १२४, १३९, १८१, ४०२, ४८०, ५७४-  
 ५७६, ५८०, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ६६९.  
 विवरणप्र० } विवरणप्रमेयसग्रह [ विजयानगर  
 वि० प्रमेयसं० } सीरिज काशी ] ६०, ६३, १२४,  
 ८०९, ८२८, ८३१, ८४८.  
 विशेषा० } विशेषावश्यकभाष्यम् [ यशो०  
 विशेषाव० भा० } ग्रन्थमाला काशी ] २५-२७,  
 ११५, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६२२, ६२४,  
 ६३२, ६३६-६३८, ७९३, ७९९, ८००, ८०६,  
 ८०७, ८६८.  
 विशया० भा० बृह०—विशयावश्यकभाष्यवृहद्बृत्ति  
 [ यशो० ग्रन्थमाला काशी ] १७३.  
 विश्वतत्त्वप्र०—विश्वतत्त्वप्रकाशकम् लिखितम् [ स्यादाद  
 विद्यालय काशी ] ४६४, ४६६, ७२३.  
 वेदान्तपरि०—वेदान्तपरिभाषा [ निर्णयमागर बम्बई ]  
 २४, २५.  
 वेदान्तसि०—वेदान्तमिदान्तमञ्जरी [ अच्युत ग्रन्थ-  
 माला काशी ] ८३१, ८३२.  
 वेदायं०—वेदायंसग्रहः [ पण्डितपत्र काशी ] ५९७.  
 वंश० उप० } वैशेषिकमूत्रोपस्कार [ चौखम्बा मीरिज  
 उप० } काशी ] २, ११, १६, २४, २८, ७६,  
 ७९, ९७, १०९, १५६, २७९, ३०३, ३०४, ४१९,  
 ५००, ५०१, ५१५, ५१६, ५३१, ६६७, ७२९.  
 वंश० सू० } वैशेषिकमूत्रम् । २४, २५, ३०, ३१, ९७.  
 वंश० द० } १३६, १३९, १५६, २१४, २१५,

२४१, २४२, २४६, २४७, २५१, २५७, २५८,  
 २६८, २६९, २७२-२७४, २७८-२८०, २८२,  
 २८३, २९४, ३०३, ३०४, ३४९, ३९९, ४०६,  
 ४६०, ४७२, ६३१, ६६७, ७२९, ७७६.  
 वं० सू० वि०—वैशेषिकमूत्रविवृतिः [ गुजराती प्रेम  
 बम्बई ] २४१.  
 वैयाकरणभू०—वैयाकरणभूषणम् [ चौखम्बा काशी ]  
 ५८८, ६९३, ७४६, ७५७, ७५८, ७६१.  
 वैयाकरणभू० द०—वैयाकरणभूषणवर्षणटीका [ चौखम्बा  
 काशी ] ५७७, ५७९, ५८२.  
 व्या० प्रश्न० } व्याख्याप्रज्ञप्ति [ आगमोदय समिति  
 व्या० प्र० } मूरत ] २५०, ३४०, ६०५.  
 व्युत्पत्तिवा० ग०—व्युत्पत्तिवादगदाधारी टीका  
 [ निर्णयसागर बम्बई ] ४८९.  
 शब्दकल्पद्रुम—कौशाः [ कलकत्ता ] ७४९.  
 शब्दकौ०—शब्दकौस्तुभम् [ चौखम्बा काशी ] ७५८.  
 शब्दज्ञ०—शब्दशक्तिप्रकाशिका [ चौखम्बा काशी ]  
 ५६८, ५७३, ७३८.  
 शब्दार्णव०—शब्दार्णवचन्द्रिका [ जैनसिद्धान्त प्रकाशानी  
 सस्या कलकत्ता ] ६१७, ७६६.  
 शाबरभा०—शाबरभाष्यम् [ आनन्दाश्रम पूना ] ४३,  
 ४४, ८२, १२४, १३९, १७५, १७६, १९७,  
 २७९, ३४३, ४०६, ४३४, ४५४, ४६३, ४८९,  
 ५०५, ५१८, ५३५, ५३६, ५४४, ५४५, ५५१,  
 ५७४, ५७६, ५७८, ५९३, ५९४, ६९७, ६९९-  
 ७०२, ७२०-७२३, ७४२, ७५०, ७५७, ७५८,  
 ७७७, ८३१.  
 शाबरभा० प्रभाटी०—शाबरभाष्यप्रभाटीका [ आनन्दा-  
 श्रम पूना ] १७५.  
 शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका मुदर्शनाचार्यकृतटीका-  
 संहिता । १६, २०, २४, ४२, ६०, ८६, १२४,  
 १३९, १५५, १६४, १७२, १७६, २७९, ३६५,  
 ३६६, ४०६, ४६५, ४६६, ४८९, ४९१, ५०६,  
 ५१०, ५४५, ५४६, ५६६-५६८, ५७६, ५७७,  
 ५७९, ६८५, ६९८, ६९९, ७०१, ७०२, ७२१-  
 ७२३, ७२७, ७३५, ७४२, ७५७.  
 शास्त्रदी० युक्तिस्नेह० प्र० सि०—शास्त्रदीपिकायुक्ति-  
 स्नेहप्रपरिणीसिद्धान्तचन्द्रिका [ निर्णयमागर  
 बम्बई ] १६५, ६६२.  
 शास्त्रवार्ता० } शास्त्रवार्तासमुच्चय. [ देवचन्द्र  
 शास्त्रवा० } लालमार्ड मूरत ] १८, ८९, ९७,  
 शास्त्रवा० समु० } १०९, १२४, १४१, १५५, ३४३,  
 ३६५, ३८७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४८, ५५३,  
 ५५४, ५६१, ७३१, ७३५.  
 शास्त्रवा० टी० } शास्त्रवार्तासमुच्चयस्य यशो-  
 शास्त्रवा० यशो० } विजयकृता टीका [ देव-  
 शास्त्रवा० समु० टी० } चन्द्र लालमार्ड मूरत ] ५२,  
 ६६, ८७, १०९, १२६, १३२, १३३, १४०,  
 १८१, १४३, १४६, १४७, १५५, १६८, ५२४-

साह्यद०—साह्यदशानम् [ चौखम्बा काशी ] २४, २५, ८२.  
 साह्यस०—साह्यसग्रह [ चौखम्बा सीरिज काशी ] ११०, १८९.  
 साह्यप्र० भा० } साह्यप्रवचनभाष्यम् [ चौखम्बा  
 साह्यप्र० } सीरिज काशी ] २८, ४०, १८९,  
 १९०, ८१६.  
 साह्यसू०—साह्यसूत्रम् [ कलकत्ता ] ३५२, ४३४,  
 ८१२.  
 साह्यसूत्रवि०—साह्यसूत्रविवरणम् [ चौखम्बा काशी ]  
 ६२७  
 सा० द०—साहित्यदर्पणम् [ निर्णयसागर बम्बई ]  
 ५६८, ५७०, ७३८  
 सायणभा०—सायणभाष्यम् पुरुषसूक्तस्य [ आनन्दा-  
 श्रम पूना ] ७७०.  
 सि० चन्द्रोदय—सिद्धान्तचन्द्रोदयः न्यायकोश समुद्धृत  
 २४  
 सिद्धान्तवि०—सिद्धान्तविन्दुः [ चौखम्बा काशी ] ८३१,  
 ८३२.  
 सिद्धान्तले०—सिद्धान्तलेशसग्रह [ चौखम्बा काशी ]  
 ८३१  
 सिद्धिवि०—सिद्धिविनिश्चय सिद्धिविनिश्चयटीका  
 समुद्धृतः [ सम्पादकवत्स ] ६६, ४०३, ४२७,  
 ४६८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९२, ६००,  
 ६०५, ६०६ ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२,  
 ६९२, ६९३, ७०८, ७०९, ७१९, ७३०, ७३०,  
 ७९३, ८००, ८०१, ८०४  
 सिद्धिवि० टी०—सिद्धिविनिश्चयटीका [ प० मुखलाल  
 सक्ता ] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६ ४०,  
 ४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२९, १३१-१३३,  
 १५५, १६६, २०९, ३४९, ३८८, ४०२, ४०३,  
 ४१०, ४२७, ४३२, ४५९, ४६४, ५०४, ५२२,  
 ५२५-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५६, ६०५-  
 ६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६,  
 ६४०, ६५६, ६६५, ६७६, ६७६, ६७८, ६८२,  
 ६८५, ६८६, ६९२, ६९३, ६९५, ७०८, ७०९,  
 ७२३, ७३०, ७९३, ७९९-८०१  
 सिद्धिह० } सिद्धिहोमव्याकरणस्य बृहद्वृत्ति  
 हंसानं नृह० } [ अहमदाबाद ] ४, ७६०  
 सुभाषितरत्नभाष्यसागर [ निर्णयसागर बम्बई ] ८४६  
 मृधुत०—मृधुतसहिता [ निर्णयसागर बम्बई ] २७५, ३१०  
 सूत्रक० वि०—सूत्राकृताङ्गनिर्मुक्ति [ आहलप्रभाकर  
 कार्यालय पूना ] ८५६  
 सूत्रक० शी० } सूत्रकृतागशीलाङ्कटीका [ आगमो-  
 सूत्रकृतागशी० } दय समिति मूरत ] ६०३, ६०४,  
 सूत्रकृतागशी० } ७९३, ८५२-८५४  
 सूत्राग०—सूत्रागमृतम् पटप्राभूतादिमहात्मन्तर्गतम्  
 [ मा० घ० बम्बई ] ८७२.  
 सोन्दरनम्ब०—सोन्दरनन्दमहाकाव्यम् [ पञ्जाब यूनि०  
 सीरिज ] ८२९

स्त्रीम०—स्त्रीमन्त्रप्रकरणम् जैनसाहित्यसशोधकपत्रे  
 मुद्रितम् [ अमदाबाद ] ८६५-८७०, ८७६.  
 स्वानाग० } स्वानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
 स्वा० } मूरत ] ६०५, ७८२.  
 स्वानागसू० टी०—स्वानाङ्गसूत्रटीका [ आगमोदय  
 समिति मूरत ] ६२२  
 स्पन्दका० व्या०—स्पन्दकारिवाव्याख्या [ काश्मीर-  
 सीरिज ] १४०.  
 स्प० र०—स्पन्दरत्नम् [ काश्मीर सीरिज ] ७३४.  
 स्फुटार्थ० अभि०—स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या  
 [ विब्लोपिका बुद्धिका रशिया ] ८१, ८२, ८६,  
 १८२, २५०, २७२, ३९०  
 स्फोटसि०—स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७६५-७५०  
 स्फोटसि० टी०—स्फोटसिद्धिटीका [ मद्रास यूनि० ]  
 ४०९, ७४९-७५०.  
 स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धि भारतमिश्रवृत्ता  
 स्फोटसि० भा० } [ त्रिवन्द्रम् ] ७६५, ७४७,  
 ७४८.  
 स्फोट० न्या०—स्फोटसिद्धिन्यायविचार [ त्रिवन्द्रम् ]  
 ७४५-७४८  
 स्फोटच०—स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे उद्धृता  
 ७६५  
 स्फोटतत्त्व } स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे समु  
 स्फोटत० } दृतम् ७६५, ७५०.  
 स्वा० म०—स्वाहादमज्जगी [ रायचन्द्र शास्त्रमाला  
 बम्बई, द्वितीय स० ] ४, १९, २३, १२४, १३३,  
 १३९, १४०, १४४, १४७, १४९, १५५, १६६,  
 १६७, १७२, १८६, १८७, १८९, २६६-२६८,  
 २८८, ३००, ३५८, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१,  
 ६०६, ६१०, ६२२, ६३०, ६३६, ६३८, ६४०,  
 ६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.  
 स्वा० रत्नाकर० } स्वाहादरत्नाकर [ आहलप्रभाकर  
 स्वा० रत्ना० } कार्यालय पूना ] ७, ९, १०,  
 १३-१५, १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-४१,  
 ४४, ४९ ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७८९-  
 ९१, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४,  
 १२१, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १६५-  
 १४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६६,  
 १६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८ १८२-  
 १८५ १८७-१९१, १९३, १९४, १९६, १९८,  
 १९९, २०१, २०५, २१६, २१७, २२४, २२७,  
 २३४, २३७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३,  
 २५८, २५९, २६१, २६३, २६४, २६८, २७०,  
 २७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४,  
 २९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७,  
 ३४१, ३४५, ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४,  
 ३७१, ३८४, ३८५, ३८८, ४०७-४११, ४१४-  
 ४१८, ४२०, ४२२, ४२४-४२६, ४२९-४३०,  
 ४३६-४४१, ४४३, ४४६-४४८, ४५५-६५९,  
 ४६१, ४६४, ४६६-४६८, ४६८, ४७०, ४७२-



साध्यद०-साध्यदर्शनम् [ चौखम्बा काशी ] २४, २५,  
८२.  
साध्यस०-साध्यसग्रह. [ चौखम्बा मीरिज काशी ]  
११०, १८९.  
साध्यप्र० भा० } साध्यप्रवचनभाष्यम् [ चौखम्बा  
साध्यप्र० } सीरिज काशी ] २६, ४०, १८९,  
१९०, ८१६.  
साध्यसूत्र०-साध्यसूत्रम् [ कलकता ] ३५२, ४३४,  
८१२.  
साध्यसूत्रवि०-साध्यसूत्रविवरणम् [ चौखम्बा काशी ]  
६२७  
सा० द०-साहित्यदर्पणम् [ निर्णयसागर बम्बई ]  
५६८, ५७०, ७३८  
सायणभा०-सायणभाष्यम् पुष्टसूत्रतम्य [ ग्रानन्दा-  
श्रम पूना ] ७७०.  
सि० चन्द्रोदय-सिद्धान्तचन्द्रोदय. न्यायकोशे समुद्धृत  
२४  
सिद्धान्तवि०-सिद्धान्तविन्दुः [ चौखम्बा काशी ] ८३१,  
८३२.  
सिद्धान्तले०-सिद्धान्तलेखसग्रह [ चौखम्बा काशी ]  
८३१.  
सिद्धि०-सिद्धिविनिश्चय सिद्धिविनिश्चयटीकात  
समुद्धृतः [ मग्पादकसत्क ] ६६, ४०३, ४२७,  
४६८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९९, ६००,  
६०५, ६०६, ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२,  
६९२, ६९३, ७०८ ७०९, ७१९, ७३०, ७९३,  
७९९, ८००, ८०१, ८०४.  
सिद्धि० टी०-सिद्धिविनिश्चयटीका [ ५० मुखलाल  
सत्का ] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६ ४०,  
४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२९, १३१-१३३,  
१५५, १६६, २०९, ३४९, ३८८, ४०२, ४०३,  
४१०, ४२७, ४३२, ४५९, ४६६, ५०६, ५२२,  
५२५-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५६, ६०५-  
६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६,  
६६०, ६५६, ६६५, ६७६, ६७६, ६७८, ६८२,  
६८५, ६८६, ६९२, ६९३, ६९५, ७०८, ७०९,  
७२३, ७३०, ७९३, ७९९-८०१.  
सिद्धे० } सिद्धहेमव्याकरणस्य वृहद्दत्त  
; . . . . . ] ८४६  
; . . . . . ] ५, ३१०  
; . . . . . ] प्रभाकर  
कार्यालय पूना ] ८५६.  
सूत्रह० शी० } सूत्रहतामशीलाङ्कटीका [ आगमो-  
सूत्रहतामशी० } दय समिति सूरत ] ६०३, ६०४,  
सूत्रहतामशी० } ७९३, ८५२-८५४  
सूत्रभा०-सूत्रभाष्यम् षट्प्राभूतादिमग्रहान्तर्गतम्  
[ मा० य० बम्बई ] ८७२.  
सौन्दर्य०-सौन्दर्यनन्दमहाकाव्यम् [ पञ्जाब यूनि०  
सीरिज ] ८२९

स्त्रीमु०-स्त्रीमुक्तिप्रकरणम् जैनसाहित्यतशोधकपत्रे  
मुद्रितम् [ अमदावाद ] ८६५-८७०, ८७४.  
स्यानाग० } स्यानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
स्या० } सूरत ] ६०५, ७८२.  
स्यानागसू० टी०-स्यानाङ्गसूत्रटीका [ आगमोदय  
समिति सूरत ] ६२२  
स्पन्दका० ध्या०-स्पन्दकारिकाव्याख्या [ काश्मीर-  
सीरिज ] १४०.  
स्प० र०-स्पन्दरत्नम् [ काश्मीर सीरिज ] ७३४.  
स्फुटार्थ० अभि०-स्फुटार्था अभिधर्मकोशव्याख्या  
[ विब्लोथिका बुद्धिका रागिया ] ८१, ८२, ८६,  
१८२, २५०, २७२, ३९०  
स्फोटसि०-स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७६५-७५०  
स्फोटसि० टी०-स्फोटसिद्धिटीका [ मद्रास यूनि० ]  
४०९, ७४९-७५०.  
स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धि भारतमिश्रकृता  
स्फोटसि० भा० } [ त्रिवेन्द्रम् ] ७६५, ७६७,  
७४८.  
स्फोट० ग्या०-स्फोटमिद्विन्यायविचार [ त्रिवेन्द्रम् ]  
७४५-७४८  
स्फोटच०-स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे उद्धृता  
७६५.  
स्फोटतत्त्व } स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे समु  
स्फोटत० } द्रुतम् ७६५, ७५०.  
स्या० म०-स्याद्वादमञ्जरी [ रायचन्द्र शास्त्रमाला  
बम्बई, द्वितीय सं० ] ४, १९, २३, १२४, १३३,  
१३९, १४०, १४४, १४७, १४९, १५५, १६६,  
१६७, १७२, १८६, १८७, १८९, २६६-२६८,  
२८८, ३००, ३५८, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१,  
६०६, ६१०, ६२२, ६३७, ६३६, ६३८, ६४०,  
६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.  
स्या० रत्नाकर० } स्याद्वादरत्नाकर [ अर्हत्प्रभाकर  
स्या० रत्ना० } कार्यालय पूना ] ७, ९, १०,  
१३-१५, १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-६१,  
४४, ४९, ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७८३-  
९१, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४,  
१२१, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १६५-  
१४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६६,  
१६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८ १८२-  
१८५, १८७-१९१, १९३, १९४, १९६, १९८,  
१९९, २०१, २०५, २१६, २१७, २२४, २२७,  
२३४, २३७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३,  
२५८, २५९, २६१, २६३, २६४, २६८, २७०,  
२७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४,  
२९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७,  
३४१, ३४५, ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४,  
३७१, ३८४, ३८५, ३८८, ४०७-४११, ४१४-  
४१८, ४२१, ४२४-४२६, ४२९-४३२,  
४३६-४४१, ४४३, ४४६-४४८, ४५५-६५९,  
४६१, ४६४, ४६६-४६७, ४६८, ४७०, ४७२-



साह्यद०-साह्यदर्शनम् [ चौलम्बा कानी ] २४, २५, ८२.  
 साह्यप्र०-पारथम्यग्रह. [ चौलम्बा सीरिज कानी ] ११०, १८९.  
 साह्यप्र० भा० } साह्यप्रवचनभाष्यम् [ चौलम्बा  
 साह्यप्र० } सीरिज कानी ] २४, ४०, १८९,  
 १९०, ८१६.  
 साह्यसू०-साह्यसूत्रम् [ कलकत्ता ] ३५२, ४३४, ८१२.  
 साह्यसूत्रवि०-साह्यसूत्रविवरणम् [ चौलम्बा कानी ] ६२७  
 सा० द०-साहित्यदर्पणम् [ निर्णयसागर बम्बई ] ५६८, ५७०, ७३८  
 साधनभा०-नायणभाष्यम् पुरुषसूक्तम् [ ध्रानन्दा-  
 थ्रम पूना ] ७७०.  
 सि० चन्द्रोदय-सिद्धान्तचन्द्रोदयः न्यायकोशे समुद्धृत  
 २४  
 सिद्धान्तवि०-सिद्धान्तविन्दुः [ चौलम्बा कानी ] ८३१,  
 ८३२.  
 सिद्धान्तले०-सिद्धान्तशेषग्रह [ चौलम्बा कानी ] ८३१  
 सिद्धिदि०-सिद्धिविनिश्चय सिद्धिविनिश्चयटीकात  
 समुद्धृतः [ सम्पादकसत्क ] ६६, ४०३, ४२७,  
 ४६८, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५९९ ६००,  
 ६०५, ६०६ ६१४, ६१६, ६५६, ६७६, ६८२,  
 ६९२, ६९३, ७०८ ७०९, ७१९, ७३०, ७९३,  
 ७९२, ८००, ८०१, ८०४  
 सिद्धिदि० टो०-सिद्धिविनिश्चयटीका [ प० मुखलाल  
 सत्का ] ५, ६, ११, १८, २०, २३, २४, २६ ४०,  
 ४६, ५१, ५३, ९७, १२६, १२९, १३१-१३३,  
 १५५, १६६, २०९, ३४४, ३८८, ४०२, ४०३,  
 ४१०, ४२७, ४३२, ४५९ ४६४, ५०४, ५२२,  
 ५२५-५२७, ५३४, ५३७, ५५१, ५५६, ६०५-  
 ६०७, ६१८, ६१९, ६२८, ६३०, ६३३, ६३६,  
 ६४०, ६५६, ६६५, ६७४, ६७६, ६७८, ६८२,  
 ६८५, ६८६, ६९२ ६९३, ६९५, ७०८, ७०९,  
 ७२३, ७३०, ७९३, ७९९-८०१  
 सिद्धहे० } सिद्धहेमव्याकरणस्य बृहद्भूति  
 ह्रमश० बृह० } [ अहमदाबाद ] ४, ७६०  
 सुभाषितरत्नभाण्डागार [ निर्णयसागर बम्बई ] ८४६  
 सुधृत०-सुधृतसहिता [ निर्णयसागर बम्बई ] २७५, ३१०  
 सूत्रक० नि०-सूत्राङ्गनाङ्गनिर्मिका [ आर्हतप्रभाकर  
 कार्यालय पूना ] ८५६  
 सूत्रक० शो० } सूत्रवृत्तागनीनाङ्कटीका [ आगमो-  
 सूत्रकृतागनी० } दय समिति मूरत ] ६०३ ६०४,  
 सूत्रकृतागनी० } ७९३, ८५२-८५४  
 सूत्रप्रा०-सूत्रप्राभृतम् पत्रप्रभाषितसप्रहातंगनम्  
 [ मा० प० बम्बई ] ८०२.  
 सौख्यरत्नव०-सौख्यरत्नवमहाकाव्यम् [ पञ्जाब यूनि०  
 सीरिज ] ८२९

स्त्रीमु०-स्त्रीमन्त्रिनप्रकरणम् जैनसाहित्यमनोधकपत्रे  
 मुद्रितम् [ अमदाबाद ] ८६५-८७०, ८७४.  
 स्थानांग० } स्थानाङ्गसूत्रम् [ आगमोदय समिति  
 स्थानांग० } मूरत ] ६०५, ७८२  
 स्थानांगसू० टो०-स्थानाङ्गसूत्रटीका [ आगमोदय  
 समिति मूरत ] ६२२  
 स्पन्दका० श्या०-स्पन्दकारिकाव्याख्या [ वादमीर-  
 सीरिज ] १४०.  
 स्प० र०-स्पन्दरत्नम् [ वादमीर सीरिज ] ७३४.  
 स्फुटार्थ० अभि०-स्फुटार्था अभिप्रमर्शोदाय्याया  
 [ विद्योषिका वृद्धिका रणिया ] ८१, ८२, ८६,  
 १८२, २५०, २७२, ३९०  
 स्फोटसि०-स्फोटसिद्धि [ मद्रास यूनि० ] ७६५-७५०  
 स्फोटसि० टो०-स्फोटसिद्धिटीका [ मद्रास यूनि० ]  
 ४०९, ७४९-७५०.  
 स्फोट० भा० } स्फोटसिद्धि भारतमिश्रवृत्ता  
 स्फोटसि० भा० } [ त्रिवेन्द्रम् ] ७४५, ७४७,  
 ७४८  
 स्फोट० ग्या०-स्फोटसिद्धिन्यायविचार [ त्रिवेन्द्रम् ]  
 ७४५-७४८  
 स्फोटच०-स्फोटचन्द्रिका स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे उद्धृता  
 ७४५  
 स्फोटतत्त्व } स्फोटतत्त्वम् स्फोटसिद्धिपरिशिष्टे समु  
 स्फोटत० } द्धृतम् ७४५, ७५०.  
 स्वा० म०-स्वाङ्गादमञ्जरी [ रायचन्द्र वास्तवमाला  
 बम्बई, द्वितीय स० ] ४, १९, २३, १२४, १३३,  
 १३९, १४०, १४४, १४७, १४९, १५५, १६६,  
 १६७, १७२, १८६, १८७, १८९, २६६-२६८,  
 २८८, ३००, ३५८, ३७१, ५३७, ५४०, ५५१,  
 ६०६, ६१०, ६२२, ६३७, ६३६, ६३८, ६४०,  
 ६७०, ६९२, ७७०, ८२६-८२८, ८३०.  
 स्वा० रत्नाकर० } स्वाङ्गादरत्नाकर [ आर्हतप्रभाकर  
 ग्या० रत्ना० } कार्यालय पूना ] ७, ९, १०,  
 १३-१५, १७-२०, २३, २९, ३१, ३४-४१,  
 ४४, ४९, ५२, ५४-७४, ७७, ७८, ८०-८७८२-  
 ९१, ९४, ९७, १०५, १०७, १०९, १११-११४,  
 १२१, १२३-१३५, १३७, १३९-१४३, १४५-  
 १४७, १४९, १५३, १५५-१५९, १६२, १६६,  
 १६५, १६७, १७२, १७३, १७६, १७८ १८२-  
 १८५ १८७-१९१, १९३, १९४, १९६, १९८,  
 १९९, २०१, २०५, २१६, २१७, २२४, २२७,  
 २३४, २३७, २४६, २४८, २५०, २५१, २५३,  
 २५८, २५९, २६१, २६३, २६४, २६६, २६८, २७०,  
 २७६-२७८, २८१, २८५-२८८, २९३, २९४,  
 २९८, २९९, ३०३, ३०५-३०८, ३३५-३३७,  
 ३४१ ३४५ ३५४, ३५८, ३६१, ३६२, ३६४,  
 ३७१, ३८४ ३८५ ३८८, ४०७-४११, ४१४-  
 ४१८, ४२०, ४२२, ४२४-४२६, ४२९-४३२,  
 ४३६-४४१, ४४३, ४४६-४४८, ४५५-४५९,  
 ४६१ ४६४, ४६६-४६७, ४६८, ४७०, ४७२-

४७५, ४८५ ४८९, ४९०, ४९२, ४९८, ५००,  
५०४, ५०५ ५०८, ५१२, ५१३, ५१५-५१७,  
५२०, ५२४, ५२६, ५३२-५३४, ५३७-५४२,  
५४५, ५४६, ५५३, ५५४, ५६५ ६२०, ६४०,  
६५७, ६६९-६७७, ६८५ ६९२ ६९८-७१८  
७२३-७४२, ७४९ ७५०, ७५३, ७५५, ७७०-  
७७५, ७७७-७७९ ८०८, ८१०-८१२ ८१४  
८२५, ८३३-८३५, ८४१, ८४२ ८४४, ८४५  
८५२-८५५ ८५८

स्वामिकारि-स्वामिकारिकेयानप्रेक्षा [ जैनसिद्धान्त-  
प्रकाशिनो सस्या कलकत्ता ] १९

हेतुविडम्-हेतुविडम्बनोपाय लिखित [ भाण्डारकर  
इस्टीटघट पूना ] ४२०

हेतुविन्दु [ P तारकससक ] २०६ ४३४ ४३५  
४४५

हेतुविन्दुटी-हेतुविन्दुटीका [ प० मुखलालसत्का ]  
७, ८, २० ६० १२६ २०८ ३६० ३६९,  
३७३ ३७६, ३७८, ३८८, ४१९, ४४२-४४५  
४४९, ४५४, ४६२ ४६६ ४६७, ४७६ ४८०,  
४८५, ६०९ ६१४.

हेमप्राक्त-हेमचन्द्राचार्यकृत प्राकृतव्याकरणम् [पूना]  
७६४

हेम-कोष [ भावनगर, काशी ] ७६७

आ० आदर्शत्वेन कल्पिता ईडरभण्डारीया न्याय-  
कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

आ० टि० आदर्शप्रते प्रान्तभागे उपलब्धा टिप्पणी ।

ई० वि० ईडरभण्डारीयनुदितप्रत्यन्तगता स्ववि-  
वृत्तिप्रति ।

ज० वि० जयपुरीया स्वविवृत्तिप्रति ।

ब० बनारसस्थस्याद्वादविद्यालयसत्का न्याय-  
कुमुदचन्द्रस्य लिखिता प्रति ।

मु० लघी० मुद्रित लघीयस्वरूपम् ।

श्र० श्रवणवेगोलस्थ श्री [पण्डिताचार्यषाड-  
कीर्तिभट्टारकसत्का ] न्यायकुमुदचन्द्रस्य  
लिखिता प्रति ।

का० कारिका

गा० गाथा

श्लो० श्लोक



## शुद्धिपत्रम्

पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१४-३	}	प्रयक्	पृथक्	६३४	११	को विसवाद	कोऽविसवाद
४२९-१२				६५४	२८	प्रकान्त-	प्रशान्त-
४६३-१२				६७१	१२	-त्वाप्ति-	-प्राप्ति-
५३८-५				७४९	८	वाक्यय०	वाक्यप०
४१९	१	प्रमाण्यात्	प्रामाण्यात्	७५७	७	गाव्यादीनाम्	गाव्यादीनाम्
४३६	१६	-सङ्कतस्या-	-सङ्केतस्या-	७६७	३	गावोशब्द शब्द	गावोशब्द
४४६	१२	वर्ष-	वर्ष-	७९७	२७	तृद्वि-	तृद्वि-
४६४	४	स्मृत्वा	स्मृत्वा	८०२	१७	-रूपक-	-रूपक-
४६७	१२	(१) अभावस्य	(१) अभावप्रमाणस्य	८०४	३	पक्षसपक्षद्	पक्षसपक्षद्
४६९	१०	रूपित्य	रूपित्य	८२४	७	व्यच्छे-	-व्यच्छे-
४७३	२१	(४) घटधर्मतया	(४) भूतलधर्मतया	८२५	१३	इति	इति
४७३	२१	(५) घटात्	(५) भूतलात्	८३७	८	-तम्	-तम्
४८८	१८	योग्ययोग्यौ	योग्यायोग्यौ	८४६	२	सुहृदाशा	सुहृदाशा
५१५	९	विधिनोव्यते	विधिनोव्यते	८५१	२१	मूवित-	मुक्त-
५७२	१७	-विशिष्ट	-विशिष्ट	८५५	९	पूर्वाहि	पूर्वाहि
५७२	२२	-नियतद्वय-	-नियतद्वय-	८६४	२२	-स्वप्रदोष	-स्वप्र दोष
५७३	२१	विवेर्लक्षण-	विवेर्लक्षण-	प्र० ५	१०	-भूत	-भूत
६१४	१८	कार्यम् इति	कार्यमितरत्				
			कारणम् इति				



## माणिकचन्द्र-जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

१ लघीयस्त्रयादिसग्रह	1=)	२३ मूलाचार सटीक-उत्तरार्द्ध	१॥)
२ सागारधर्मांमृत सटीक (अप्राप्य)		२४ रत्नकरण्डश्रावकाचार सटीक	२)
३ विक्रान्तकौरव (नाटक)	1=)	२५ पचसग्रह	॥1=)
४ पाश्र्वनाथचरित (काव्य)	॥)	२६ लाठीसहिटा	॥)
५ मंथिलीकल्याण (नाटक)	१)	२७ पुरदेवचम्पू	॥॥)
६ आराधनासार सटीक	१)॥	२८ जैन शिला लेखसग्रह	२)
७ जिनदत्तचरित (काव्य)	१)॥	२९ पद्मचरित (पद्य-पुराण) प्रथम खंड	१॥)
८ प्रद्युम्नचरित (काव्य)	॥)	३० " " द्वितीय खंड	२)
९ चारित्रसार (अप्राप्य)		३१ " " तृतीय खंड	२)
१० प्रमाणनिर्णय (अप्राप्य)		३२ हरिवंशपुराण प्रथम खंड	२)
११ आचारसार "		३३ " " द्वितीय खण्ड	१॥)
१२ त्रिलोकसार सटीक (अप्राप्य)		३४ नीतिवाक्यामृत सटीक (परिशिष्ट)	१)
१३ तरवानुशासनादिसग्रह (अप्राप्य)		३५ जम्बूस्वामिचरित (काव्य)	१॥)
१४ अनगारधर्मांमृत सटीक	३॥)	३६ त्रिपण्डित्स्मृतिशास्त्र मराठी टीकासहित	॥)
१५ युक्त्यनुशासन "	॥1=)	३७ महापुराण (प्रथम खंड)	१०)
१६ नयचक्रसग्रह	॥॥)	३८ न्यायकुमुदचन्द्र—भट्टाकलवदवके	
१७ पट्टभ्राम्तादिसग्रह "	३)	लघीयस्त्रय यथपर श्रीमत्प्रभाचन्द्राचार्यकृत	
१८ प्रायश्चित्तसग्रह	१=)	भाष्य (प्रथम खंड)	८)
१९ मूलाचार सटीक-पूर्वार्द्ध	२॥)	३९ न्यायकुमुदचन्द्र (द्वितीय खण्ड)	८॥)
२० भावसग्रहादि	२॥)	४० बराह्मचरित—जटाचार्य (सिहनन्दि)	
२१ सिद्धान्तसारादिसग्रह	१॥)	कृत प्राचीन महाकाव्य	३)
२२ नीतिवाक्यामृत सटीक	१॥॥)	४१ महापुराण (द्वितीय खंड)	१०)

नोट—सभी ग्रन्थ खूब ही सस्ते हैं, लागत मात्र मूल्यमें बँचे जाते हैं ।

मिलनेका पता—नाथूराम प्रेमी

मन्त्री—माणिकचन्द्र-जैनग्रंथमाला

ठि० हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई न० ४